श्रीराधावल्लभो जयति

श्रीहितहरिवंशचन्द्रो जयति

अनन्तश्रीविभूषितः गोस्वामिश्रीहरिवंशमहाप्रभुप्रणीत-

श्रीराधारससुधानिधिस्तवस्य

द्वितीयखण्डः

रसिकवर श्रीहरिलालव्यासमहाकवि

विरचितया रसकुल्याख्यया टीकया सनाथितः

रसकलशनामभाषानुवादेन समलङ्कृतश्च,



भारतशासनदत्तद्रव्यसाहाय्येन प्रकाशितः

प्रकाशक :—
श्री किशोरीचरणरजलिप्सुः
श्रीराधावल्लभीय— बाबा किशोरीशरणः
श्यामाकुञ्ज, वृन्दावन



मुद्रक :—
निरुपमा प्रिंटर्स
५३२९, लड्डूघाटी, पहाड़गंज
नई दिल्ली-११००५५

श्री

प्रकाशकीय वक्तव्य

श्री जी की महती कृपा से श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्तकाचार्य्य, दृढ़रसिक अनन्तनृपतिचक्रचूडामणि, श्रीवृन्दावनरसप्रकाशक, श्रीहरियुतवंश्यवतार, अनन्त-श्रीसम्पन्न, गोस्वामी श्रीहितहरिवंश कृत श्रीराधासुधानिधि की "रसकुल्या" टीका एवं उसके हिन्दी भाषान्तर का उत्तरार्ध भाग प्रकाशित हो रहा है—यह अत्यन्त हर्ष का विषय है। पूर्वार्ध भाग सं० २०२४ वि० में प्रकाशित हो चुका है।

महाप्रभु श्रीहिताचार्य ने अपनी इस रसरीति को "श्रीराधारससुधानिधिस्तव" के रूप में प्रकट किया है। इस ग्रन्थ की अनेक व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं किन्तु श्रीहरिलाल व्यास द्वारा लिखित "रसकुल्या" व्याख्या अब तक प्रकाशित नहीं हुई थी। अब पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध—इन दो भागों में प्रकाशित हो गई है। श्रीराधारससुधानिधि-स्तव की रसकुल्या नामक व्याख्या एक ऐसा नद है जो सुधानिधि में से प्रवाहित किया गया है एवं जो अपने अजस्र प्रवाह के साथ अनन्य रसिकों को रस प्लावित करता चला जा रहा है। श्रीहिताचार्य्य महाप्रभु ने अपनी रसरीति प्रक्रिया के ज्ञान के लिए (२७०) सूत्र प्रकट किये। "रसकुल्या में इन्हीं सूत्रों के अनेकानेक अर्थ किए गये हैं। इतने संक्षिप्त ग्रन्थ पर इतनी विस्तृत श्रीमद्भागवत जैसी व्याख्या ने रसकुल्याकार श्रीहरिलालव्यास का "व्यास" नाम सार्थक कर दिया है। संस्कृत वाङ्मय में इतने थोड़े श्लोकों की संख्या वाले ग्रन्थ की ऐसी बृहत् टीका देखने सुनने में नहीं आई है। यह टीकाकार की प्रतिभा का चमत्कार मात्र नहीं है, अपितु यह श्रीहितहरिवंश महाप्रभु को रसत्तत्व देन है, जिसकी स्फूर्ति श्रीहरिलाल व्यास जी के हृदय में हुई जो रस तत्त्व देन 'इदमित्थं' नहीं कही जा सकती। तात्पर्य यह है कि वह अनुभवगम्य है, अतीव गम्भीर विषय है।।

"श्रीराधारससुधानिधिस्तव रूप में ऐसे असंख्य नद निकल सकते हैं। श्रीमन्महाप्रभु की कृपा ही इस अलौकिक रस रीति के रहस्यमय भाव के प्राकट्य का कारण हुई। तथापि व्याकरण एवं साहित्य शास्त्रों के अनुसार यह व्याख्या व्यास जी के पाण्डित्य की साक्षी तो कही ही जा सकती है। जैसे :—

"या वा राधयतिप्रियं व्रज मणि·········"
श्रीराधा श्रुतिमौलिशेखरलता ········।।६७।।

"दास्य सख्यादि रसोपासना में प्रीति के विषय (आसज्य) श्रीश्यामसुन्दर को आश्रय (आसक्त) के रूप में स्थापित किया, इसी प्रकार रसेतरोपासना में प्रीति के

(आसक्त) आश्रय, श्रीराधा सहित समस्त गोपीगण को, विषय (आसज्य) के रूप में परिनिष्ठित किया ।'

श्रीमन्महाप्रभु के मन्तव्य को रसकुल्याकार ने सम्यक्-प्रकार से व्याख्यात किया है।—रा० सु० नि० ६७—

"तदेवं बहुविधप्रियप्रेमनिष्ठापूर्वकस्वयशःश्रवणस्वनामयाथार्थ्यं" इत्यादि प्रकरणान्तर्गत "श्रीराधा" शब्द की व्याख्या चमत्कार एवं पांण्डित्यपूर्ण है ।

इस लोक में चतुरता से सभी कारकों में नाम का निर्वचन किया गया है । अतः 'वा' अर्थात् 'अथवा' शब्द भिन्न-भिन्न निर्वचनों के विकल्प के अर्थ में प्रयोग किया गया हैं । "प्रौढ़ानुरागोत्सवैः," शब्द में प्रौढ़ का अर्थ बढ़ा हुआ है, जैसा कि पूर्वोक्त चार श्लोकों में वर्णित है । बढ़ा हुआ अनुराग यश फैलाता है । इस प्रकार हर्ष से बढ़े हुए जो अपने अनुराग के उत्सव, उन से ऐसे आनन्दित करती हूँ, ऐसे पोषण करती हूँ । जैसा कि निभृतनिकुञ्ज में गई हुई श्रीप्रियाजी ने प्रियतम के विषय में अनुग्रह या कृपा की विवशता में गीतगोविन्द में भी पद कहा था । वैसे ही विलासों की उत्सुकताओं से विषय और आश्रय के भेद से दुगुने होकर उफन पड़े उत्सुकता रूपी उत्सवों से जो प्रिय की साधना वा आराधना करती हैं । मनोरथपूर्ण करने के द्वारा उन्हें सिद्धार्थ या कृतार्थ करती हैं । यह तात्पर्य है ।

इसी पद की व्याख्या में आगे चल कर :—

और जिस की आराधना निश्चय ही अन्त में एक रसवती है । अथवा यहां नु शब्द वितर्क अर्थ में है, अहो आश्चर्य अर्थ में है । साधनकाल में भी रसवती है ।

'राधा' शब्द की व्युत्पत्ति विशदरूप में की है । राध-साध-संसिद्धौ यह दोनों धातु संसिद्धि अर्थ में हैं, दिवादिगण की अकर्मक धातु हैं, अथवा राधयति यह प्रयोग प्रेरणार्थक (णिजन्त का) है अथवा राध्यति यह रूप भी होता है । इस से पचादि गण में अच् होने से राधा नाम बनता है) अथवा प्रिय के द्वारा 'राध्यते' आराधना की जाती हैं, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस नियम से घञ् प्रत्यय करने पर राधा यह शब्द सिद्ध होता है । राधयति, साधयति, पोषयति, वशीकरोति प्रियतमम्—अर्थात् प्रियतम की आराधना करती हैं, पोषण करती हैं या प्रियतम को वश में करती हैं, इत्यादि राधा नाम के अर्थ हैं ।

यह तो अतीव संक्षिप्त उद्धरण प्रस्तुत किया गया है । श्रीहरिलाल व्यास जी ने श्रीहितमहाप्रभु के हृदय तक पहुंचने की पूर्णरूप से चेष्टा की है, अर्थात् श्रीमन्महाप्रभु के मन्तव्य का विशद वर्णन आपने किया है ।

श्रीराधा तत्त्व अपने आप में अनिर्वचनीय है—इस श्रीमन्महाप्रभु के लक्ष्य को सर्वत्ररस कुल्या में कहा गया है ।

श्रीरा० सु० नि० के "आधाय मूर्धनि......।।४।।" इस श्लोक के व्याख्यान में यदित्यनिर्वचनीयेऽर्थेव्ययम्—यत् यह अनिर्वचनीय अर्थ को बोध कराने वाला अव्यय है। यह श्रीचरणधूलि के लिए इसका प्रयोग है। श्रीप्रियाचरणरेणु का महत्व वाणी का विषय नहीं बन सकता, अर्थात् यह रसरीति, रससिद्धान्त-स्वसंवेद्य और अनिर्वचनीय हैं। श्रीराधाजी का सर्वाराध्यस्वरूप ही महाप्रभु को अभिप्रेत है। यतः जीवमात्र का हित उन्हें अभिप्रेत है।

"भावोत्सवेत भजतां" की व्याख्या में सभी प्रकार के भक्तों को परिलक्षित कराया है।। सर्वाराध्यरूप में श्रीराधातत्व का आख्यान यत्र तत्र स्थापित किया गया है। एवं यत्र तत्र स्वकीया, परकीया, विरह मिलन आदि रूपान्तरों का भी समावेश निर्दिष्ट है। स्वयं श्रीहिताचार्य्य अपने लक्ष्यार्थ में अनन्यतया स्थित रहते हुए भी, अन्यान्य स्थितिपरक रसिकजनों को समन्वयपूर्वक उनके लक्ष्यार्थ को परिलक्षित कराते हुए, सर्वोपरि श्रीराधातत्त्व को ही चरम लक्ष्यार्थ स्थापित करते हैं। यही राधा तत्त्व द्वैधीभावापन्न होकर कालादि प्राकृतिक परिधियों से अछूता रहता हुआ नित्य निकुञ्ज-विहार में मग्न रहता है। यह रहस्यमयी रस स्थिति श्रीहितमहाप्रभु की कृपामात्र से ही अनुभव का विषय हो सकती है, अन्यथा नहीं। श्रीहितहरिवंश जी के उपासना सिद्धांत में श्रीवृषभानुनन्दिनी के युगलचरण समस्त परिकर के लिए सदा वन्दनीय हैं, यथा :—

यस्यास्ते बत किंकरीषु बहुशश्चाटूनि वृन्दाटवी—
कन्दर्पः कुरुते तवैव किमपि प्रेप्सु प्रसादोत्सवम्।
सान्द्रानन्दघनानुरागलहरीनिःस्यन्दि पादाम्बुज-
द्वन्द्वे श्रीवृषभानुनन्दिनी सदा वन्दे तव श्रीपदम्।।९३।।

इस पद की व्याख्या में श्रीहरिलाल व्यास जी लिखते हैं :—

"पुनस्तदेव यशः स्वानुभवसाक्षित्वेन प्रतिभूत्वं ख्यापयन्ती दयितदयनीयता—मुद्बोधयन्त्याह—इत्यादि।"

फिर उसी यश का अपने अनुभव की साक्षी से अपना प्रतिभू (जामिन) होना प्रगट करती हुई श्रीहितसखी कहती हैं......इत्यादि। व्याख्या के मनन से ही यह अनुभव हो सकता है, कि अनिर्वचनीव और स्वसंवेद्य श्रीमन्महाप्रभु प्रतिपादित रसरीति सब प्रकार की उपासनाओं से सर्वथा विलक्षण है।

रसकुल्याकार श्रीहरिलाल व्यासजी गोस्वामी श्रीकिशोरीलालजी के कृपा पात्र थे। इनके पिता गो० श्रीरूपलालजी के कृपा पात्र व्रजसाहित्य सम्राट् चाचा श्रीवृन्दावन दास ने भी श्रीहितमहाप्रभु निर्दिष्ट रस रीति का विशद व्याख्यान किया है। गोस्वामी श्रीकिशोरी लालजी की वंश परम्परा में अब भी छोटी सरकार एवं बड़ी सरकार में

विराजमान आचार्य्यस्वरूप श्रीहितरसोपसना के प्रसार के लिए दीक्षा-शिक्षा आदि के माध्यम से अनेकानेक जीवों को प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं। श्रीहितहरिवंश महाप्रभु का अनुयायी हुए विना कोई भी इस रसकुल्या के रहस्य को पूर्णरूप से अवगत नहीं कर सकता, नाभा जी ने स्पष्ट निर्देश किया है कि—

"श्रीव्यासुवन पथ अनुसरै, सोई भले पहिचानि है,
श्रीहरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोई जानि है।"

स्वसिद्धान्तनिर्देश करते हुए श्रीहितमहाप्रभु ने, "सब सों हित ···· " यह कह कर अपने सिद्धांत की व्यापकता स्पष्ट कर दी है। जीवमात्र हित के पात्र हैं।

रसकुल्या के आरम्भ में व्याख्या करने के लक्ष्य का निर्देश इस प्रकार किया है:- इदानीं कश्चिदपि तत्प्रयोज्यो जनस्तन्निधिद्विशतसप्तति—तरङ्गव्याख्यालेश— सजातीयाशयानन्दार्थ स्वमनोऽनुरञ्जनाय च समारभते-इत्यादि—अत्र उनका ही कोई सेवक (दास) उस सुधानिधि के दो सौ सत्तर पद्य रूपी तरङ्गों की व्याख्या के लव लेश मात्र को, अपने सजातीय आशय (समान भाव) वाले भावुक जनों के आनन्द (अद्‌भुतानन्द) के लिए और अपने मन का अनुरञ्जन करने के लिए प्रारम्भ करता है। इतनी विस्तृत व्याख्या को लव लेशमात्र कहने से इस विषय की व्यापकता-अथवा विशालता का क्या अनुमान किया जा सकता है। इस व्याख्या के मनन करने से यही सिद्ध होता है, कि यह रस निधि असीम एवं अति गम्भीर है।

रसकुल्ला के पूर्व भाग का हन्दी अनुवाद श्रीराधवल्लभीय रसरीतिमर्म के विद्वान कविरत्न श्रीअमीरचन्द्रजी शास्त्री साहित्याचार्य्य ने 'रसकलश' नाम से किया है।

अब इस उत्तरार्धभाग का हिन्दी अनुवाद पं० रामकृष्णदेव गर्ग शास्त्री एम० ए० ने किया है। आप हित पाठशाला के प्रधानाध्यापक श्री सोहनलाल शास्त्री जी के सुपुत्र थे। आँग्ल भाषा के भी सुयोग्य विद्वान् थे। आपने बड़े परिश्रम एवं प्रेम से यह हिन्दी अनुवाद किया। लेखन काल में आप रसकुल्याकार श्रीहरिलाल व्यास जी के पाण्डित्य और रसज्ञता की भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। अपने ही सामने, अपनी ही देख-रेख में इसका प्रकाशन कराने की आप की इच्छा थी, परन्तु कुछ समय पूर्व आपका गोलोकवास हो गया। यद्यपि वे आज हमारे सामने नहीं हैं, किन्तु अपनी इस कृति के कारण सदा अमर रहेंगे।

श्रीजीकी उपासना के मर्मज्ञ, परम विरक्त श्रीबाबा परमानन्द दास जी अनन्य भाव से श्रीश्यामाकुञ्ज में ठाकुर श्रीश्यामावल्लभजी की सेवा में संलग्न रहते हुए, उपरोक्त रसरीति का आनन्द प्राप्त करते थे। कुञ्ज अतीव छोटी थी, फिर भी युगल सरकार की सेवा निर्बाध, चलती रहती थी। इस युग में साधन-हीन सेवा-पद्धति को सुचारु रूप से स्थायी बनाये रखने के लिए किन-किन कठिनाइयों में से निकलना पड़ता

है, यह वे स्वयं ही अनुभव करते थे। उन्हीं श्रीगुरुदेव की अनुकम्पा प्राप्त कर के मुझे भी कुछ साहस प्राप्त हुआ, उन्हीं की भावनाओं ने मूर्तिमान होकर, इस विस्तृत श्यामा कुञ्ज का रूप धारण किया है। मुझे तो श्रीप्रिया जी ने निमित्तमात्र बना दिया है। मेरी ख्याति, प्रसिद्धि, चमत्कार, वैभव आदि सब इन्हीं गुरुदेव का प्रसाद है। जिसने मुझ अयोग्य को भी योग्य एवं जगतमान्य बना दिया, साधु-सेवी बनाकर साधु-पंक्ति में बैठा दिया। इस प्रकाशन में इतना विलम्ब क्यों हुआ, इसकी वास्तविकता तो प्रिया जी जानें, युगल रसरसिकों की लालसा इससे अवश्य पूर्ण होगी। श्रीहितकृपा की लालसा सदा बढ़ती रहे, यही सबका लक्ष्य बने, यही प्रार्थना श्रीप्रियाजी के चरणों में है :—

"हौं हूं मचल परयो या पौरि।
सुख निरखों रहि नेरि॥

श्रीकिशोरीचरणरजोलिप्सुः
बाबा किशोरी शरण

सम्मतित्रयम्

श्रीः

कृष्णः सतृष्णः इव यत्कर दृष्टचित्तो,
नित्यं पिबन्नपि न तृप्यति नान्तमेति ।
राधासुधानिधेरमितस्य तस्य,
कुल्यामतुल्यमुदमाददतीं नमामः ।।

रसकुल्या टीका का आस्वादन करके जो आनन्द आया वह अपूर्व है। प्रसङ्ग की सङ्गति, पदार्थ का विन्यास, विलक्षण रहस्यात्मक भाव, युगल सरकार की रसमयी लीला का इसमें अतुलनीय और गम्भीर निरूपण किया गया है। टीका की शैली युगल-रसरसिकों के लिए तो अपूर्व आल्हाददायिनी है ही, व्याकरण, काव्य, कोष के व्युत्पन्न विद्वानों के लिए भी आदरणीय और मननीय है। गोस्वामी श्रीहितहरिवंशमहाप्रभु-प्रणीत श्रीराधासुधानिधिस्तव की रसकुल्या टीका-अनन्य रसिकों के लिए सुलभ हो गई, इसी से प्रकाशकीय प्रयास यशोभागी हो गया। हिन्दी अनुवाद हो जाने से सर्वसाधारण भी इस रस का आस्वादन कर सकेंगे। अतीव दुर्लभ वस्तु सुलभ कर दी गई है।

अखण्डानन्द सरस्वती
श्रीधाम वृन्दावन

श्रीः

गोस्वामी श्रीहितहरिवंश महाप्रभुप्रणीत "श्रीराधासुधानिधिस्तव" अपने नामानुरूप, रासेश्वरी श्रीराधा के दिव्य रस स्वरूप का एक मधुर तात्विक विवेचन हैं। इसमें साहित्यिक एवं दार्शनिक, द्विविध दृष्टिबिन्दु से श्रीराधा तत्व का प्रतिपादन है।

रसिक वर श्रीहरिलाल व्यास ने अपनी रसकुल्या टीका द्वारा इस 'राधा तत्त्व' के मर्म का बहुत ही सुन्दर रूप में निर्वचन किया है। 'रसकलश' हिन्दी व्याख्या से इस दुरूह विषय को और भी सहजबोधगम्य कर दिया गया है।

प्रकाशक का प्रयास श्लाघ्य एवं अभिनन्दनीय है।

गोस्वामी श्रीब्रजभूषणलाल जी महाराज
कांकरोली (राजस्थान)

श्रीः

अनन्य रसिक मूर्धन्य श्रीहितहरिवंश महाप्रभु-प्रणीत श्रीराधासुधानिधिस्तव के "रसकुल्या" युत प्रकाशन के दर्शन एवं मनन से अद्भुत रसास्वादनप्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ में रस सिद्धान्तों के साथ ही अद्भुत साहित्यचमत्कारों का सचित्र वर्णन है। यह व्याख्यानशैली अश्रुतपूर्व एवं अदृष्टपूर्व है।

प्रकाशक का प्रयास अनन्य रसिकों के लिए असाधारण रसानुभूति का हेतु होगा।

आचार्य स्वामी सीताराम शरण
लक्ष्मण किलाधीश—(अयोध्या)

श्लोकानुक्रमणिका



परमाराध्य आद्यब्रह्म श्री राधावल्लभजी महाराज स्वयंव्यक्त

श्रीराधावल्लभो जयति ।

श्रीराधारससुधानिधिस्तवः



रसकुल्याख्यव्याख्या

पूर्वं प्रेमरसलावण्यादिविशिष्टतया महत्त्वमुद्दिष्टम् । तदेव वाक्यमधुना स्मारं स्मारं ततोऽप्यनिर्वचनीयतास्वरूपे दृष्टा यथा 'तद्धावतोऽन्यानत्येति' इति श्रुतिवत् यद्यल्लोकालोकदृष्ट्या कथयति ततोऽप्यग्रेसरतैवातोऽचिन्त्यप्रभावतामाह । पुनश्च तत्कृपावात्सल्यदृष्ट्यनुभवानन्देन तदितरसर्वमहद्दृष्टश्रुपदार्थतुच्छत्वानुभवमाह—

यस्यास्फूर्जत्पदनखमणिज्योतिरेकच्छटायाः
सान्द्रप्रेमामृतरस-महासिन्धु-कोटिर्विलासः ।
सा चेद्राधा रचयति कृपादृष्टिपातं कदाचि-
न्मुक्ति स्तुच्छीभवति बहुशः प्राकृताप्राकृतश्रीः ।।
।।१३६।।

रसकलश

पूर्व पद्य में प्रेम, रस, लावण्य आदि विशेषताओं से युक्त प्रियाजी का महत्त्व बताया गया। उसी वाक्य को अब बार-बार स्मरण कर, उससे भी कहीं अधिक अनिर्वचनीय रूप में हितसखी ने श्रीराधिका को जैसा देखा है तथा 'वह खड़ा रह कर दौड़ने वालों से आगे निकल जाता है' इस श्रुति में निहित विरोधाभास की तरह लौकिक और पारमार्थिक दृष्टि से जो कुछ कहा है, उन सबसे प्रियाजी का महत्त्व बहुत बढ़कर है और बुद्धि तथा कल्पना के परे है, इसी बात को अग्रिम पद्य में कहते हैं। और फिर उनकी कृपामयी और वात्सल्य से परिपूर्ण दृष्टि का अनुभव कर जो आनन्द होता है उसकी तुलना में उससे भिन्न देखे और सुने गये मुक्ति आदि सब पुरुषार्थ तुच्छ हैं, अपने इसी अनुभव को बताते हुए कहते हैं—

जिनके चरणों के मणि-जैसे नखों से छिटकती हुई केवल एक झलक का विलास—सघन प्रेम और अमृत-रस का कोटि-कोटि विशाल समुद्र बन जाता है, वह राधा यदि कहीं कृपापूर्वक देख लेती हैं तो मुक्ति तुच्छ हो जाती है और लौकिक एवं अलौकिक ऐश्वर्य अनेक बार निस्सार प्रतीत होते हैं ।।१३६।।

यस्याः पूर्वोक्त विशेषणविशिष्टाया अपि यावत् कथितस्मृत-विलक्षणायाः प्रतिक्षणनवनवोद्गच्छत्कान्तिमञ्जर्याः कारणभूताया विलासो लीलाकार्यं, बीजाद्वटवत्, इति कर्ता, सान्द्रो घनीभूतो यः प्रेमामृतश्च रसश्च तयोर्महान्तोऽगाधसिन्धवस्तेषां कोटिर्भवति। एवमचिन्त्यप्रभावा श्रीमती। यथा लोके चिन्तामण्यादावचिन्त्यवीर्यादि स्मर्यते तथात्र। पदनखमणिरेकोऽवयवस्तदा मुख्यावयविन्याः किमुच्यतेतराम्। यन्नख-ज्योतिस्तटस्थशक्तेरेवं प्रभावस्तदा स्वरूपशक्तौ न वाङ्मनोगतिरिति प्रेमरसमयत्वेऽप्यचिन्त्यतैव पर्यवस्यतीति तात्पर्यम्। अर्थात् यच्छटालेशतो भावुकरसिकहृदि प्रेमरससिन्धवः संभ्रियन्ते, यथा च पूर्वमुक्तम्— "यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटाया विस्फूर्जितं किमपि गोपवधूस्वदर्शि, पूर्णानुरागरससागरसारमूर्तिरिति।" यद्विस्फूर्जितप्रभावेण गोप्यः प्रेमध्वजाः ख्याता, एतादृशी परमकारणरूपा श्रीराधा चेद्यदि कदाचिन्महाभाग्योदयेन कृपादृष्टिपातं रचयति—यस्मिन् कृपापात्रे जने, इति शेषः— तदा तस्य मुक्तिस्तुच्छीभवति। मुक्तिरित्यनेन परमार्थावधिः श्रीरित्यनेन

रसकलश

पूर्वोक्त विशेषताओं से युक्त होने पर भी जितना कुछ कहा सुना गया है उन सबसे विलक्षण हैं श्रीराधा। कान्ति की नई-नई छटा मंजरी की भांति उनमें से छूट रही है। यह छटा कारण है और उसका विलास अर्थात् लीला कार्य है, जैसे बीज कारण और वट-वृक्ष कार्य होता है। इस वाक्य में 'विलास' कर्ता है। (पद-नख की एक ही छटा का वह विलास) घने प्रेम-रूपी अमृत और रस के विशाल और अगाध समुद्रों की करोड़ संख्या बन जाता है। श्रीमती का प्रभाव ऐसा ही अचिन्त्य है। जिस प्रकार व्यवहार जगत् में चिन्तामणि आदि की अद्भुत करामातें बताई जाती हैं, वैसे ही प्रस्तुत में भी समझना चाहिए। पदनखमणि प्रियाजी का एकतम अंग है, तब प्रधान अंगिनी का कहना ही क्या ? जिसकी नख-ज्योति जोकि—तटस्थ शक्ति मात्र है—का ऐसा प्रभाव है तब (नख-ज्योति की अपेक्षा में) जो स्वरूप-शक्ति हैं, वहां तक तो मन और वाणी की पहुंच ही नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रेममयी और रसमयी होने पर भी अन्त में बात यहीं आकर ठहरती है कि स्वामिनी जी बुद्धि के परे हैं। अर्थात् जिनके सौन्दर्य की तनिक-सी झलक से भावनाप्रवण रसिक जनों के हृदय में प्रेमरस के समुद्र उमड़ आते हैं—जैसा कि कह आये हैं—'जिनके चरण-कमल के नख-रूपी चन्द्रमणि की छटा का कुछ विलास गोपियों में देखा गया है, वे पूर्ण अनुराग की सारभूत मूर्ति', जिस छटा के प्रभाव से गोपियां 'प्रेमध्वजा' नाम से प्रसिद्ध हुईं—ऐसी परमकारणरूपा श्रीराधा कभी सौभाग्य के उदय होने पर यदि कृपापूर्ण दृष्टि डालती हैं—अपने कृपापात्र जिस किसी व्यक्ति पर—तो उसके लिये मुक्ति तुच्छ हो जाती है।

स्वार्थावधिरिति दर्शितम् ।

अयं भावः—कृपादृष्टिपातं रचयति तदात्युदारतया स्वप्रेमरसं दद्यात्, तेन निजानन्दावलोकनाधिकारः स्यात् । तदा तत्प्रेमरससिन्धु-परिशीलनमग्नमनसां यावदैश्वर्य्यमकिञ्चित्करमेव लगति । किञ्चैश्वर्यं सूर्यप्रभावत् तटस्थमिवास्ति, माधुर्यं स्वरूपगम् । यावत् सूर्यसंभाषणाद्य-परोक्षं न स्यात्, तावदखिलब्रह्माण्डगतमैश्वर्य्यं परमचमत्काराश्चर्यमेव लगति । यदा च साक्षात्तदवलोकनसंभाषणमाधुर्यं प्राप्तं तदा बहिरैश्वर्यं साधारणमेव, नाश्चर्यकरम् स्यात्—इति विवेकः । एवं कृपादृष्टिवृष्टौ मुक्तिश्रियोर्न बहुमन्यता, न चित्रिता च किञ्चित्, सर्वोपरितमस्वरूप-सान्निध्यात्—इति सखीपक्षः । बहिर्लोके रसिकभक्तदृष्टौ कृपादृष्टिस्तद्-भावदानमयी । तदा तया शास्त्रदृष्टश्रुतमुक्तिश्रीरूपमत्याश्चर्यमपि तेषां नाश्चर्यकरम्, सामान्यमनादरणीयमेव स्यात्, इति ।

अत्र श्रीहितहरिवंशप्रभो रूपद्वयानुभव एव । अन्तरंगे सखीरूपा-

रसकलश

'मुक्ति' शब्द से चरम पुरुषार्थ और 'श्री' से लौकिक स्वार्थ की सीमा सूचित की गई है।

भाव यह है—कृपापूर्वक दृष्टिपात करती हैं तो अत्यन्त उदार होने के कारण भक्त को अपना प्रेम-रस देंगी जिससे उसे निज (प्रियानिष्ठ) आनन्द को देखने का अधिकार मिल जायेगा। तब जिनका मन प्रेम-रस-समुद्र में गोता लगाता है, उन्हें समस्त ऐश्वर्य व्यर्थ ही लगता है । दूसरी बात यह है कि लौकिक ऐश्वर्य सूर्य-प्रकाश की भांति तटस्थ-सा है, जबकि माधुर्य स्वरूप में समाया हुआ है । सूर्य-साधक (अपनी साधना के फलस्वरूप) जब तक इस योग्य न हो जाय कि वह प्रकाश की मूलभूत शक्ति का प्रत्यक्ष कर सके और अपने इष्ट के साथ साक्षात् संभाषण आदि कर सके, तब तक (सूर्य के नीचे प्रकाशमान) समस्त ब्रह्माण्ड का ऐश्वर्य उसे अत्यन्त चमत्कारपूर्ण ही लगता है । इसी प्रकार भक्त जब इस कोटि पर पहुंच जाय कि अन्तरंग-सखी रूप में उसे प्रियाजी के दर्शन और उनके संभाषण का माधुर्य प्राप्त हो सके, तब उसके लिये लौकिक वैभव का चाकचक्य साधारण ही हो जायगा और इस पर उसे आश्चर्य नहीं होगा - बस यही समझने की बात है । इस प्रकार स्वामिनी जी की कृपा-दृष्टि की वर्षा होने पर मुक्ति और श्री (भुक्ति) दोनों का महत्त्व घट जाता है और उनमें कोई विलक्षणता नहीं रहती, क्योंकि इन सब से श्रेष्ठ प्रियाजी का स्वरूप जो सामने रहता है । यह हुआ सखी-पक्ष । बाह्य लोक में (जो निकुञ्ज-रस के अधिकारी नहीं हैं, उन) भक्तों की दृष्टि में कृपा-दृष्टि का अर्थ है कि वे (प्रियाजी) अपने प्रति अनुराग का दान दें। तब उस कृपादृष्टि के कारण शास्त्रोक्त मुक्ति और श्री का रूप (औरों के लिए) अत्यन्त चमत्काराधायी होने पर भी रसिकों के लिये आश्चर्य का कारण नहीं होता—

हंकारेणोक्तिः । बहिस्तु तदन्तरंगस्मरणं हृदि न्यस्य लोकोद्देशेन तद्वदुक्तिः । तदोक्तिद्वयमिश्रणं ज्ञेयम् । किञ्च तन्नित्यधामवृन्दावनं सर्वे मुक्त्यादयः सेवन्ते, सदा तत्परिकरदृष्टिप्रसादाकांक्षिण एव । तदा तत्तुच्छतानुभवो नाशक्यः ।

अत्र पूर्वार्द्धे 'सिन्धुकोटिः' इति अन्तरंगबहिरंगरसिकद्वयोपदेशार्थोक्तिः । उत्तरार्द्धे तुच्छतोक्तिर्लोकरसिकजनापेक्षयैव । अन्तरंगाणां तु तुच्छातुच्छत्वभानमपि दृष्टौ नायाति । 'दृष्टिपातं रचयति' इत्यत्र साहजिकदृष्टिपाते तु शरणभजनभावनापरायणता सिद्ध्येदेव । यदा च रचनापूर्वं दत्तदृष्टितया पश्यति तदा मुक्तिश्र्यादेर्विरज्येदेवेति रचनाफलम् ।

अथ मुक्तिश्रीविवरणम् । मुक्तिः पञ्चधा—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।।इति।।

रसकलश

सामान्य का अनादर ही होता है। यहां श्रीहितहरिवंश प्रभु को दोनों ही रूपों का अनुभव है। अन्तरंग पक्ष में सखीरूप के अभिमान के कारण श्रीहितप्रभु की यह उक्ति है। बाहर तो प्रियाजी की मैं अन्तरंगा सखी हूँ, इस बात को मन में रखकर सर्वसाधारण को लक्ष्य कर वैसा कहते हैं। इस तरह दो प्रकार की उक्तियां एक-दूसरे में मिली हुई समझनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि श्रीराधिका के नित्य धाम श्री वृन्दावन का मुक्ति आदि सब सेवन करते हैं और सदा चाहते हैं कि उनके परिकर की कृपा-दृष्टि उन पर पड़े। ऐसे में उन मुक्ति आदि की तुच्छता का अनुभव करना बड़ी बात नहीं है।

इस पद्य के पूर्वार्द्ध में 'करोड़ों समुद्रों' की बात अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के रसिकों को ध्यान में रखकर कही गई है। उत्तरार्द्ध में तुच्छ लगने की बात केवल लौकिक रसिकों के सम्बन्ध में कही गई है। अन्तरंग सखियों के मस्तिष्क में तो तुच्छ होने न होने का भाव आता ही नहीं। 'दृष्टिपात करती हैं' इस वाक्य के संबन्ध में यह ज्ञातव्य है कि यदि प्रियाजी सहजभाव से दृष्टिपात करती हैं तो उसके फलस्वरूप कृपापात्र में शरणागति और भजन-भावना के प्रति लगन पैदा हो ही जायगी। किन्तु जब प्रियाजी कृपापात्र को दृष्टि जमा कर देखती हैं, तब वह मुक्ति, श्री आदि की ओर से विरक्त होकर ही रहेगा—यह है दृष्टिपात की रचना का फल।

अब आते हैं मुक्ति और श्री की व्याख्या पर। मुक्ति पांच प्रकार की है—"सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व—इन पांच प्रकार की मुक्तियों को देने पर भी मेरे भक्त मेरी सेवा के बिना उन्हें स्वीकार नहीं करते।"

श्रीः प्राकृता ब्रह्माण्डगता 'एकपाद्विभूतिस्त्रिपाच्च' इति। अप्राकृता चतुष्टयात् पूर्णा अनपायिनी भगवती वैकुण्ठगता बहुशो बहुवारं तादृशप्रेमरसकृपादृष्ट्यपेक्षया सदैव तुच्छा। यथा च सप्तमे—'मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम्' इत्यादि। तदात्र कैमुत्यमेवेति। यद्वा मुक्तिविशेषणं प्राकृताप्राकृताभ्यां श्रीः शोभना वा। श्रयत इति श्रीः। प्राकृतात् कार्यकारणात्मकमूलप्रकृतेर्मुक्तिः शुद्धात्मतत्वस्थितिः। यथा—"मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" इति। अप्राकृता ब्रह्मह्लदान्मुक्तिः पार्षदस्वरूपता, यथा शांकरभाष्ये—"मुक्ता अपि विग्रहं धृत्वा हरिं भजन्ते" इति। तादृश्यपि प्रस्तुतकृपादृष्टि प्रेमानन्द विशेषा तुच्छैव। अथवा अप्राकृता श्रीः प्राकृता भवतीत्यन्वयः। अथवा प्राकृता पञ्चधा मुक्तिः अप्राकृता। अत्र रसमार्गापेक्षया श्रीहितसखी वक्ति। रसे

रसकलश

ब्रह्माण्ड में व्याप्त श्री प्राकृत कहलाती है। 'एक पैर की विभूति और तीन पैरों की' यह श्रुति प्रमाण है। अप्राकृत श्री (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) चतुर्वर्ग से समृद्ध, अक्षय और ६ प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त वैकुण्ठ में निवास करती है जो कि प्रियाजी की उस प्रकार की प्रेम-रसपूर्ण कृपादृष्टि की तुलना में सदैव तुच्छ है। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में जैसा कहा है—'हे नृसिंह देव ! मुक्ति का भी वे (भगवान् की सेवा के अभिलाषी) आदर नहीं करते। (स्वर्गादि अन्य पुरुषार्थों का तो कहना ही क्या है ?) यहाँ भी यही कहना चाहिये कि श्रीकृष्ण के भक्त ही जब मुक्ति की परवाह नहीं करते तो श्रीराधा के सेवक तो क्योंही करने लगे। अथवा 'प्राकृताप्राकृतश्री' इस पद को मुक्ति का विशेषण मान लिया जाय। तब विग्रह होगा—प्राकृत और अप्राकृत इन द्विविध प्रकारों से सुशोभित होने वाली (मुक्ति)। जो आश्रय ले उसे कहते हैं 'श्रीः'। प्राकृत अर्थात् कार्यकारणरूप मूल प्रकृति से मुक्ति, अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित होना। कहा भी है—'अन्य प्रकार के रूप को त्याग कर आत्म-स्वरूप में स्थिति ही मुक्ति है। अप्राकृत मुक्ति वह है जो ब्रह्मचक्र से छुटकारा दिलाती है। इसमें मुक्त जीव पार्षद रूप में भगवान् की सेवा में उपस्थित रहता है। शांकरभाष्य में लिखा है—"मुक्त आत्मा भी शरीर धारण कर हरि को भजते हैं।" ऐसी मुक्ति भी, यद्यपि उसमें श्रीहरि की कृपादृष्टि के कारण विशेष प्रेम और आनन्द विद्यमान रहता है, तुच्छ ही है। अथवा अप्राकृत श्री (अलौकिक ऐश्वर्य) भी प्राकृत (निम्नश्रेणी की) हो जाती है। अथवा पांच प्रकार की प्राकृत मुक्ति अप्राकृत (महत्त्वहीन) हो जाती है। यहां

विगलितवेद्यान्तरतामज्जनं तदपि तुच्छीभवति। किञ्चान्येषां तु मज्जनमेव वरं, रसाधिष्ठातृसखीनां तु रससिन्धूज्जृम्भणेऽपि सावधानतैव शोभना, न तु मज्जनम्। किञ्च दम्पत्यो रससागरोज्जृंभणं पश्यन्त्यो मज्जन्त्योऽपि सावधाना इति किं भण्यते। अपि च रसाब्धौ मज्जतोस्तयोरपि साहाय्यं कुर्वन्त्य इति। यथा प्रबोधानन्दद्वितीयशतके—

केशान् बध्नन्ति भूषां विदधति वसनं वासयन्त्याशयन्ति,
वीणां वंश्यादि हस्ते निदधति नटनायादराद् वादयन्ते।
वेशाद्यर्द्धि च कर्तुं कथमपि नितरामालयः शक्नुवन्ति,
श्रीराधाकृष्णयोरुन्मदमदनकलोत्कण्ठयोः कुञ्जवीथ्याम् ॥६१॥

यथा च—'विहारनि दास सदा सहायक सोयी कुंजमहल में डेरा' इत्यादि।

अथवा श्रीराधाविशेषणम्। प्राकृता माधुर्य्यमयी लोकवल्लील-त्वात्। अप्राकृता पूर्णैश्वर्या, यथा पूर्वमुक्तम्—

रसकलश

रस-सिद्धान्त की दृष्टि से श्रीहितसखी कह रही हैं। रस की अनुभूति में मग्न व्यक्ति को अन्य विषयों का ज्ञान नहीं रहता, किन्तु रसात्मकता की यह स्थिति भी तुच्छ हो जाती है। एक बात और। अन्य लोगों के लिये तो रसानुभूति में डूबना ठीक है, परन्तु रस की अधिष्ठात्री सखियों को तो रस-समुद्र के उमड़ आने पर भी सावधान ही रहना होता है, न कि डूबना। पुनश्च सखियां युगल-स्वरूप को रस में अवगाहन करते देखकर स्वयं भी उसमें डूब जाती हैं, परन्तु रहती हैं फिर भी सावधान। इस विचित्र स्थिति के बारे में क्या कहा जाय। बल्कि सत्य तो यह है कि दम्पति के विहार-रस में मग्न हो जाने पर सखियाँ सहायता करती हैं, जैसा कि प्रबोधानन्द जी ने 'श्रीवृन्दावन-महिमामृतम्' के द्वितीय शतक में कहा है—

'सखियाँ कुञ्जवीथी में उन्मद मदन-कला में उत्कंठित श्रीराधाकृष्ण के केशों को बाँधती हैं, भूषणों को सजाती हैं, वस्त्र पहिनाती हैं, भोजन कराती हैं, वीणा, वंशी आदि श्रीकरकमलों में धारण कराती हैं, नृत्य कराने के लिये वाद्य-यंत्रों से आदर-पूर्वक तान छेड़ती हैं एवं जैसे बन पड़े वैसे वेष-भूषादि की शोभा-समृद्धि के लिए अतिशय प्रयत्न करती हैं।'

अथवा 'प्राकृताप्राकृतश्रीः' इसे श्रीराधा का विशेषण मान लिया जाय। 'प्राकृता' अर्थात् माधुर्य से परिपूर्ण श्रीराधा; क्योंकि वे लोक में प्रचलित-जैसी लीलाएँ करती हैं। 'अप्राकृता' अर्थात् पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त जैसा कि पहले कह आये हैं—

लक्ष्मीकोटिविलक्ष्यलक्षणलसल्लीलाकिशोरीशतै—
राराध्यं व्रजमण्डलेऽतिमधुरं राधाभिधानं परम् ।
ज्योतिः किञ्चन सिञ्चदुज्ज्वलरसप्राग्भारमाविर्भव-
द्राधे चेतसि भूरिभाग्यविभवैः कस्याप्यहो जृम्भते ।।

इति माधुर्य्यैश्वर्यमरूपवर्णनं द्रष्टव्यम् । एवं माधुर्य्यैश्वर्ये श्रियौ यस्या, वा माधुर्य्यैश्वर्ये श्रयते याम्, इत्येवमचिन्त्यप्रभावमुक्तम् ।।१३६।।

एवं निजान्तरंगदशायां स्वानुभूतश्रीमतीकृपादृष्टि-प्रभावेणांजसा प्रस्तुतेतरस्वार्थपरमार्थविरागमुक्तत्वानन्तरकार्यमाह । किंवा प्राकट्य हेतुकरसिकलोककृपोपदेशनिमित्तक बाह्यदशायां विचारयति—तन्नित्यसेवा-परायणस्य किमन्यत्स्वार्थपरमार्थतुच्छतारतम्ये प्रयोजनं यावत्तदृष्टिपात-रचनाविषयो नैव बहिर्दृष्टिं पातयेत्, इत्यादि स्वमनसि विचार्य तत्पदनख-ज्योतिर्विलासं ध्यायेदिति निजकर्तव्यमाह द्वाभ्याम्—

रसकलश

'कोटि-कोटि लक्ष्मियों द्वारा न देखे गए विलक्षण लक्षणों से सुशोभित शत-शत लीला-किशोरियों द्वारा व्रजमण्डल में आराधनीय राधा नामक अति मधुर कोई अनिर्वचनीय परम ज्योति है जो उज्ज्वल अर्थात् शृंगार रस के बाहुल्य को सींचती रहती है। अहो ! वह ज्योति, राधा का स्वरूप जिसमें आविर्भूत हो रहा है ऐसे किसी के चित्त में बड़े भारी भाग्यरूपी वैभव से ही उल्लसित होती है।'

इस पद्य में माधुर्य और ऐश्वर्य से परिपूर्ण रूप का वर्णन समझना चाहिये। इस प्रकार माधुर्य और ऐश्वर्य हैं शोभा जिसकी, अथवा माधुर्य और ऐश्वर्य जिसका आश्रय लेते हैं, यह विग्रह करना होगा। इस रीति से श्रीराधा के अनिर्वचनीय प्रभाव का वर्णन यहाँ किया गया है ।।१३६।।

इस प्रकार अपनी अन्तरंग स्थिति में स्वयं अनुभूत श्रीमती राधिका की कृपा-दृष्टि के प्रभाव के कारण प्रस्तुत (रसोपासना) से भिन्न जितने भी स्वार्थ और परमार्थ हैं उनके प्रति अपनी उदासीनता बताकर इसके बाद का अपना कर्तव्य बताते हैं। अथवा बाह्यदशा में रसिक जनों को श्रीमती की कृपा का उपदेश देने के लिए जो कि हितप्रभु के प्रकट होने का कारण है, मन में विचारते हैं—श्रीस्वामिनी जी की नित्यसेवा में निरत जन को इससे क्या प्रयोजन कि उनके श्रीचरण की उपासना की तुलना में स्वार्थ-परमार्थ सब तुच्छ हैं। इस प्रकार के तर्क-वितर्क की आवश्यकता तो तभी पड़ती है जबकि श्रीराधिका की कृपादृष्टि का पात्र बाहरी दुनिया पर दृष्टि डाले। इन सब बातों को अपने मन में विचार कर अपना यह कर्तव्य कि श्रीराधिका के चरण-कमलों के नखों की ज्योति की क्रीड़ा का ध्यान करना चाहिए, अग्रिम दो पद्यों द्वारा व्यक्त करते हैं—

कदा वृन्दारण्ये मधुरमधुरानन्दरसदे
प्रियेश्वर्याः केलीभवननवकुञ्जानि मृगये ।
कदा श्रीराधायाः पदकमलमाध्वीकल ,रं।—
परीवाहैश्चेतो मधुकरमधीरं मदयिता ।।१३७।।

मधुरादिविशिष्टे वृन्दारण्ये प्रियेश्वर्याः केलिविशिष्टकुञ्जादि कदाऽहं मृगये, इत्यन्वयः । वृन्दारण्येति ख्यातिः प्रबोधानन्दशतके—

खगवृन्दं पशुवृन्दं द्रुमवल्लीवृन्दमुन्मदप्रेम्णा ।
प्रीणयदमृतरसेन शान्तं वृन्दावनं नमत ।।

एतन्निर्देशेन सकलशब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मसच्चिदानन्दवृन्दा-नामारण्ये, इत्यर्थः.। तदेव विवृणोति—मधुरादपि मधुरे आनन्दरसौ ददातीति चेति । "स्वादुप्रियौ च मधुरौ" इत्यमरः प्रेमास्पदं दंपती मधुरौ, तयोरपि प्रेमास्पदत्वान्मधुरमधुर इति । यद्वा मधुरौ दृष्टिमादकौ तावपि मधु मादकतां रातीति । अथवानन्दरसविशेषणम् । आनन्दो बाह्याभ्यन्तरसुखम् रसोऽप्यानन्द एव, परन्तु पृथक्पदत्वात्तत्र द्रवास्वादौ द्योत्येते । द्रवः प्रेमा ।

रसकलश

कब मैं मधुर से भी मधुर आनन्द और रस को देने वाली स्वामिनी प्रियाजी की उन नई-नई कुञ्जों की खोज करूँगा जिनमें वे केलि-विहार करती हैं। कब मैं श्रीराधिका के चरण-कमल के पराग की तरंगों के प्रवाहों (परंपरा) द्वारा, व्याकुल हृदयरूपी भौंरे को उन्मत्त बना दूँगा ।।१३७।।

मधुर आदि विशेषणों से युक्त वृन्दावन में स्वामिनी प्रियाजी के क्रीड़ायुक्त कुञ्जों को मैं कब खोजूंगा, यह अन्वय है। वृन्दावन की प्रसिद्धि के विषय में प्रबोधा-नन्दशतक में कहा गया है—

उन्मद प्रेमपूर्वक अमृत-रस दान करते हुए जो पक्षी, पशु एवं वृक्ष-लताओं को भी प्रीति प्रदान करता है, उसी शान्त वृन्दावन को नमस्कार करो।

इसके अनुसार समस्त रूप-रस-गन्ध-स्पर्शस्वरूप, सत्-चित्-आनन्द के विग्रह वृन्दा नामक वन में—यह अर्थ है। इसी की व्याख्या करते हैं—जो मधुर से भी मधुर है तथा आनन्द और रस को देने वाला है। अमरकोष के अनुसार 'मधुर' शब्द का अर्थ स्वादिष्ट और प्रिय है। प्रेम के निधान युगलसरकार मधुर हैं, किन्तु वृन्दावन से वे भी प्रेम करते हैं, इस अर्थ को दृष्टि में रखकर कहा है—'मधुरमधुर'। अथवा श्रीराधा कृष्ण स्वयं मधुर अर्थात् दृष्टि में मादकता भरने वाले हैं, किन्तु वृन्दावन उन्हें भी

मधुरत्वे सजातीयविजातीयस्फूर्तिरपि स्यात्, तस्मादपि महामधुरौ, वेद्यान्तरस्फूर्ति शून्यौ आनन्दरसौ ददातीति। दम्पतिमादकत्वं यथा शतके—

आतन्वानौ स्थिरचरमपि प्रेममाध्वीमदान्धं,
राधाकृष्णावपि च लुठतो भूतले यद्रसेन।
बृन्दारण्यं तदिदमतुलप्रोन्मदानन्दसिन्धु—
स्यन्दि द्रावपदमिव ममाचूचुरच्चित्तरत्नम् ॥५२॥

दम्पतिविहारानुकृतिनर्मसूचकत्वं यथा शतके—

श्रीराधाकृष्णनर्मोक्त्यनुसरणपरा बिभ्रतः केऽपि शाखा
भूलग्नाः सूनभारा बहुशतपरितो मण्डपाकाररम्याः।
हस्तग्राह्यं प्रसूनाद्यथ परशिखरस्थं च संधारयन्ति
शाखीन्द्रा यत्र धन्या दिशतु मम शिवं सैव वृन्दाटवीयम् ॥७८॥

रसकलश

मधुमादकता प्रदान करता है। अथवा 'मधुरमधुर' यह आनन्द का विशेषण है। आनन्द बाहरी और भीतरी सुख को कहते हैं। रस भी आनन्द ही है, परन्तु 'रस' शब्द का पृथक उपादान होने से उससे द्रव (तरलता) और आस्वाद की अभिव्यक्ति होती है। द्रव प्रेम है (क्योंकि प्रेमावेश में हृदय द्रवित हो जाता है)। केवल मधुरता की भावना में तो सजातीय पदार्थों का भान भी हो सकता है, अतः उससे भी कहीं अधिक मधुर आनन्द और रस को वृन्दावन प्रदान करता है—उस कोटि का रस और आनन्द जिसमें अपने चारों ओर की पदार्थ-सत्ता की प्रतीति लुप्त हो जाती है। युगलस्वरूप को मादक बना देने वाले वृन्दावन का वर्णन प्रबोधानन्द शतक में देखिये—

"जिसके रस में स्थावर-जंगम भी प्रेम-सुधा-मद से मस्त हो जाते हैं और श्रीराधाकृष्ण स्वयं पृथ्वी पर लेटने लगते हैं, अतुलनीय उमड़ते हुए आनन्द-समुद्र को प्रवाहित करने वाले उस श्री वृन्दावन ने मेरे चित्तरूपी रत्न को हठात् चुरा लिया है।'

दम्पति श्री राधाकृष्ण की विहार-लीला के कौतुक को सूचित करने वाला वृन्दावन का वर्णन प्रबोधानन्द शतक में इस प्रकार किया गया है—

श्रीराधाकृष्ण की कौतुकभरी उक्तियों का अनुसरण करते हुए कुछ वृक्षों ने अपनी शाखों को भूमि तक झुका दिया है, फूलों के भार से वे झुके पड़ते हैं, संख्या में अनेक हैं एवं चारों ओर मण्डप की भाँति छाये हुए हैं। इनमें से किसी वृक्ष के फूल-पत्तों आदि को हाथों से पकड़ा जा सकता है, तो किसी की शाखायें बहुत ऊँची हैं। इस प्रकार के सौभाग्यशाली वृक्ष जहाँ सुशोभित हो रहे हैं वह वृन्दावन मेरा कल्याण करे ॥७८॥

एवं दम्पती विहाररसकौतुकानन्दमिदं ददाति। अथ सखीमधुर-रसानन्ददत्वं यथात्रैव 'किं ब्रूमोऽन्यत्र' इत्यत्र 'वृन्दारण्यस्थलीयं परमरस-सुधामाधुरीणां धुरीणां, तद्द्वन्द्वस्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिकाकिङ्करी-णाम्' इति।

एतादृशे सर्वमाधुर्यानन्दरसदे श्रीवृन्दावने प्रिया चासावीश्वरी च—महाप्रेमास्पदस्वामिन्याः, यद्वा प्रियधनस्य धनिका, तद्गुणत्वेन तत्सहिताया इत्यर्थः। यद्वा प्रियस्येष्टवत् सेव्या, तत्पोषणात्। नियंत्री प्राणव्यापका वा। तस्याः केलीनां भवनं वर्तनं यत्र। अथवा वल्ल्यादि-वेद्यान्तरस्फूर्त्यभावात् केवलं केल्युपादानानि भवनरूपाणि नवकुञ्जानि कदा मृगये। यदा च मनश्चंचलं स्यात् तदा तु तत्तत्केल्युद्दीपनदर्शनार्थं प्रतिकुञ्जमन्वेषये। तत्र किमन्वेषये ? याभिर्विशिष्टं कुञ्जं, तद्विशेषकेली-रित्यर्थत एवायातम्। 'कदा' इति भिन्नवाक्यत्वात् यदा च स्थिरं स्यात्तदा

रसकलश

इस प्रकार यह वृन्दावन युगल-स्वरूप को विहार-रस के कौतुक-भरे आनन्द देता है। श्रीराधा सुधानिधिस्तव के 'किं ब्रूमोऽन्यत्र' से आरंभ होने वाले पद्य में कहा है—'यह वृन्दावनस्थली परम रसरूप सुधा के माधुर्यों का भार वहन करने वाली है। इस स्थली ने ही उस स्वादनीय युगल को पूरा का पूरा राधिका की चरण-सेविकाओं को प्रदान किया है।'

इस प्रकार के, समस्त माधुर्य के आनन्द और रस को प्रदान करने वाले की वृन्दावन में प्रियेश्वरी के केलि-कुंजों को कब खोजूंगा। 'प्रियेश्वरी' का विग्रह होगा—प्रिया जो ईश्वरी : श्रीकृष्ण के अगाध प्रेम की निधान और उनकी स्वामिनी। अथवा प्रिय की ईश्वरी : प्रिय-धन की धनिक, श्रीकृष्ण के सब गुणों से संपन्न। अथवा प्रिय के द्वारा इष्ट की भाँति सेवनीय, प्रिय पर अंकुश रखने वाली या उनके प्राणों में समाई हुई। ऐसी उस राधा की केलियाँ जहाँ होती हों (उन निकुंजों को .....)। 'केलीभवन' का दूसरा अर्थ यह भी संभव है कि भवनरूप नई कुंजें जो केवल केलि के उपादान (साहित्य) प्रस्तुत करती हैं। लता-वल्लरियों में विहार-रस की उस मूर्ति के सिवा अन्य किसी विषय के ज्ञान का उदय ही नहीं होता, अतः वे केवल उपादान कारण-स्वरूप हैं। ऐसी घर के समान उपयोग में आनेवाली नई-नई कुंजों को कब खोजूंगा। जब मेरा मन चंचल होगा तब तो इसलिये प्रत्येक कुंज को खोजूंगा कि अमुक कुंज में अमुक केलि को उद्दीपन कहाँ से मिला। वहाँ क्या खोजूंगा भला ? उन खास-खास लीलाओं का पता लगाऊंगा जिनसे कुंज में विशेषता आई हो—यह उत्तर स्वतः ही मिल जाता है। उत्तरार्द्ध में 'कदा' (कब) से प्रारंभ होने वाला वाक्य

श्रीराधायाः प्राणसख्याः साक्षान्नामोक्त्या कृतविश्रंभाया हृन्निकुञ्जस्था पदकमलयोर्यत् माध्वीकं मकरन्दं तद्रसो ध्यानजमहाद्रवः प्रेमरसः—उपा कार्यकारणाभेदत्वात् तस्य लहर्यः प्रथमप्रोद्भूतभावः वीचयस्तासा परीवाहैस्तत्तद्विवेचनमहानन्दमदैश्चित्तमधुकरं तदेव मधुजीवनं, अ महाक्षुधितं कदा मदयिता मादयिष्ये, यन्मत्ततायां किमप्यन्यद्भानं नास्तीति स्वकृत्यं विवृतम् ।

अत्र पदमाध्वीके छविलावण्यादि ध्यानायनं स्वत एवायातम् । अन्यच्च यदा मार्गणवाक्यैकवाक्यता क्रियते तदा कुञ्जमार्गणे कृते तत्केल्या-दिसद्भावविश्रंभो जातः । तत्र चरणचिन्हानि दृष्ट्वा विचारयति कथं किंकेलिनिमित्तमनया पदं धृतम्, उच्चनीचतिर्यगूर्ध्वपूर्वपश्चिमभागनिमग्ना-निमग्नत्वे स्वप्रियपदसान्निध्ये च का का लीला प्रोद्भूता, कः को रसो

रसकलश

पूर्वार्द्ध के वाक्य से पृथक् है। मतलब यह कि जब मन स्थिर होगा तब प्राणसखी श्री राधा के (पदकमल के मकरन्द को पिलाकर अपने मन-रूपी भ्रमर को मस्त बनाऊँगा) राधा का साक्षात् नामोल्लेख करने से यह व्यंजित होता है कि हितसखी उनकी विश्वासपात्र हैं और राधिका जी उनके हृदय-निकुंजों में वास करती हैं। ऐसी श्रीराधा के चरणरूपी दो कमलों का जो माध्वीक (मकरन्द, पराग) है उसका रस अर्थात् ध्यान करने से अत्यन्त अति तरल तत्त्व प्रेमरस—उपादान में कार्यकारण का भेद नहीं होता।

उस रस की लहरियाँ (तरंगें), यानी पहले-पहल उत्पन्न अनुराग-भाव; उनके भी प्रवाहों से, अर्थात् अनेक प्रकार के चिन्तन-विलोड़न रूपी अत्यन्त आनन्द के नशे से (झूमते हुए) मनरूप मधुकर (भ्रमर) को कब उन्मत्त कर दूँगा। 'मधुकर' शब्द की विशेष व्यंजना यह है कि श्री प्रिया जी प्रदत्त मधु (आनन्द) श्री हित-महाप्रभु का जीवन है। 'अधीर' का अर्थ है—बड़ा भूखा। ऐसे मनरूपी भौंरे को कब उन्मत्त बनाऊँगा—ऐसी उन्मत्तता जिसमें मन सब कुछ भूल जाता है। इस प्रकार श्री हित-महाप्रभु ने अपने आचरण की व्याख्या की है।

यहाँ 'पदकमल के मकरन्द' ऐसा कहने से छवि, लावण्य आदि के ध्यान का आयाम अपने आप हो जाता है। एक बात और भी। यदि पद्य के पूर्वार्द्ध में कही गई केलि-कुंजों को खोजने वाली बात का संबन्ध उत्तरार्द्ध से मिलाकर देखा जाय (तो अर्थ यह होगा कि) कुंजों का पता लगाने के बाद हितसखी को विश्वास हो गया कि उन कुंजों में विहार-लीला होने के चिन्ह भी विद्यमान हैं। अब पैरों के निशान देख विचारते हैं—किस प्रकार और क्या-क्या केलि करने के लिए प्रियाजी ने यहाँ पैर रक्खे हैं, ऊँचा, नीचा, तिरछा, ऊपर होकर कुंज के कभी पूर्व, कभी पश्चिम भाग में, कभी ओझल होकर, कभी प्रकट होकर—जबकि प्रिय श्री कृष्ण भी पास ही में कदम

जातस्तत्तद्भावविवेचनानन्दासव प्रवाहपरंपराभिः पुनः पुनरास्वादैः कदा मादयिष्ये, तत्रैव कुञ्जे घूर्णं घूर्णं विवशो भवामीति भावः। एवं प्रतिकुञ्ज-मेतद्दशा कदा स्यात्, सैव स्फुरेदित्यादिमाध्वीकमधुकरयोर्नित्यसंयोगो ध्वनितः।

'अधीरम्' इत्यनेन अन्यत्र परमसंतोषविरागधैर्य्यं, परन्त्वत्र न। अधैर्य्यं मधुकरप्रकृतिरेव, सहजव्यसनम्, 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति', इतिवत्। एवमत्युत्कण्ठा दर्शिता ॥१३७॥

एवं स्वकर्तव्यतायामुक्तायां ननु भवता यद्वस्तुनि निष्ठा तच्छुद्ध-भावेन प्राप्तं 'लोकः सदा रुष्यतु तुष्यताद्वा' इति न्यायेन। परन्तु उपदेष्टृ-वपुषा कमुपदेश्यं लोकसंग्रहधर्ममाचरसे येनानुगामिनस्तरेयुः, यथा च— 'यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तदीहते, स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते' इत्याशंक्य सर्वोत्तमप्रमाणराद्धमपि विवादानवकाशाद् विलक्षणं निजाचरण-माह—

रसकलश

मिलाकर चल रहे हों, किन-किन लीलाओं का आविर्भाव हुआ, किस-किस रस की सृष्टि हुई—इस प्रकार के विविध भावों का चिन्तन करते हुए आनन्द-मदिरा की धारावाहिकता द्वारा एवं उन भावों का बार-बार चर्वण करते हुए कब चित्तरूपी मधुकर को उन्मद बनाऊँगा—वहीं कुंज में घूमते-झूमते हुए विवश हो जाऊँगा, यह भाव है। इस प्रकार प्रत्येक निकुंज में ऐसी दशा कब होगी—जैसे भी हो, वही हालत सदा बनी रहे।

'अधीरम्' इस शब्द से यह सूचित किया है कि अन्यत्र विराग, सन्तोष का अवलंबन भले ही किया जाय, पर यहाँ नहीं। अधीरता भौंरे का स्वभाव है, सहज वृत्ति है, जैसा कि (गीता में) कहा है—'सब जीव स्वभाव का अनुसरण करते हैं, इन्द्रियों के नियंत्रण से क्या होगा?' इस प्रकार अत्यन्त उत्कण्ठा दिखाई गई है ॥१३७॥

अपने कर्त्तव्य का इस प्रकार निर्देश करने के उपरान्त यहाँ शंका उठती है कि दुनिया कुछ भी कहे, रुष्ट हो या प्रसन्न, आपने उस वस्तु को जिसके लिये आपकी लगन है, प्राप्त कर लिया, परन्तु उपदेशक (आचार्य) के रूप में आप ऐसे किस धर्म का पालन करते हैं जिससे सर्वसाधारण का कल्याण हो और आपके अनुयायियों का उद्धार हो? इस पर श्री हितमहाप्रभु अपना आचरण बताते हैं जो सर्वोपरि प्रमाणों से सिद्ध है, पर लगता है विचित्र, क्योंकि उसमें तर्क-वितर्क के लिये जगह नहीं—

राधाकेलिनिकुंजवीथिषु चरन् राधाभिधामुच्चरन्,
राधाया अनुरूपमेव परमं धर्मं रसेनाचरन् ।
राधायाश्चरणाम्बुजं परिचरन्नानोपचारैर्मुदा,
कर्हि स्यां श्रुतिशेखरोपरि चरन्नाश्चर्यचर्यां चरन्
॥१३८॥

श्रीराधेत्याचरन् सन् आश्चर्यचर्यां चरन् कर्हि स्यामित्यन्वयः । श्रीः सकलश्रेष्ठसौभाग्यादिपूर्णस्वरूपभूतनित्यगुणसंपत् तया विशिष्टा राधा तस्यास्तादृशपूर्वोक्तनवकुञ्जानां वीथिषु तत्केलिसूचनलोभेन विचरन् । श्रीराधासंबन्ध एव मया गृह्यते, न तु केवलकृष्णसंबन्धेन वा रमणीयत्वेनेत्यर्थः । यथाह शतके—

राधावृन्दावनाख्ये वन इति परमो भाति घोषः पुराणे,
तेनास्या न व्रजेऽपि प्रकटमतिमहाश्चर्यपूर्णस्वरूपम् ।

रसकलश

"श्रीराधिका की क्रीड़ा-कुंजों की गलियों में घूमता हुआ, राधानाम का उच्चारण करता हुआ, राधा के अनुकूल ही सर्वश्रेष्ठ धर्म का आनन्द के साथ पालन करता हुआ, भोगराग इत्यादि बहुविध उपचारों से राधा के चरण-कमल की सेवा में निरत रहते हुए अद्‌भुत उपासना-पद्धति में प्रवृत्त कब मैं वेदान्त-प्रतिपादित ज्ञान से भी ऊपर उठ सकूंगा ।" ॥१३८॥

श्रीराधिका से संबन्धित, भ्रमण, नामजप आदि करता हुआ मैं अद्‌भुत प्रकार की उपासना में कब प्रवृत्त हूँगा, यह अन्वय है । 'श्री' का अर्थ है समस्त श्रेष्ठ सौभाग्य आदि से पूर्ण स्थायी गुणरूपी संपत्ति की मूर्ति, उससे युक्त श्रीराधा, उनके जिन नव-कुंजों का उल्लेख किया जा चुका है, उनकी गलियों में, विविध क्रीड़ाओं की जानकारी प्राप्त करने के लोभ से घूमता हुआ । श्रीराधिका के संबन्ध से ही मुझे यह सब करना स्वीकार है, केवल कृष्ण-संबन्ध से नहीं, और न सौन्दर्य की दृष्टि से । प्रबोधानन्द-शतक में कहा है —

पुराणों की घोषणा है कि श्रीराधा वृन्दावन नामक वन में विराजती हैं । अतः राधाजी का महाश्चर्यप्रद पूर्ण स्वरूप व्रज में भी प्रकट नहीं हुआ है । यह सब प्रकार से सिद्ध हो चुका है कि राधा का प्रेम अनुपम और अत्युच्च है और वे श्रीकृष्ण

अस्याः प्रेमासमोर्ध्वः स हि परपुरुषः सर्वभावेन सिद्ध-
स्तस्माद्राधेत्यभिख्या तदतिवशहरिं पश्य वृन्दावनेन्दुम् ॥६।४१॥

तस्या एव पूर्णममत्वविशिष्ट कुञ्जवीथिषु चरन्नित्यनेनान्यत्र विचरण निरस्तम्। श्रीराधेत्यभिधामेवोच्चरन्नत्वन्यवाचमिति। यद्वा राधाया इति वृषभानुनन्दिनीकृष्णवल्लभाकुञ्जविहारिणीनिकुञ्जेश्वरी-त्यादि संबन्धो गृह्यते।

एवं पदवाणीधर्ममुक्त्वा सर्वबाह्यान्तरधर्ममाह—'परमं धर्मम्'। यः परमत्वेन श्रीभागवते ख्यातः 'धर्मः प्रोज्भित' इत्यत्र 'ये वै भगवता प्रोक्ता' इत्यत्र च श्रवणकीर्तनादिनवधाभक्तिरूप एव तम्। 'श्रीराधाया अनुरूपम्' इति तद्योग्यं तन्नामगुणश्रवणं, तत्कीर्तनं, तत्स्मरणं, तत्पादसेवनं, तद्वन्दनं, तद्दास्यं, तत्सख्यं, तदात्मनिवेदनम्। अर्चनन्तु नानोपचारैरित्युक्तमेव। एवं तदनुरूपमेवेत्यवधारणेन, न चाननुरूपं कदाचिदित्यर्थः। न च सर्वोत्तम-

---

रसकलश

ही परम पुरुष हैं। इसलिये 'राधा' यह नाम पड़ा। इनके अत्यन्त वशवर्ती वृन्दावन के तू दर्शन कर ॥६/४१॥

'उसी की पूर्ण ममता से युक्त कुंज-गलियों में घूमता हुआ'—ऐसा कहने से अन्य स्थानों में विचरण करने का निषेध सूचित होता है। और श्रीराधा—यही नाम उच्चारण करता हुआ, न कि और कोई वाणी। अथवा 'राधा' शब्द से वृषभानुनन्दिनी, कृष्णवल्लभा, कुंजविहारिणी, निकुंजेश्वरी आदि सब संबन्धों का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि राधा के अतिरिक्त अन्य पर्यायवाची नामों को भी जपा जा सकता है।

इस प्रकार पैर और वाणी का कर्त्तव्य बता कर कायिक और मानसिक धर्मों के संबन्ध में कहते हैं—'परम धर्म को' जो कि भागवत में परम धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। 'कपट-रहित धर्म' एतदर्थक श्लोक में तथा 'भगवान् के द्वारा जो बताये गये हैं' इस श्लोक में वर्णित श्रवण, कीर्तन आदि सब प्रकार के भक्तिरूप धर्मों का पालन करता हुआ। 'श्रीराधा के अनुरूप' का मतलब है उनके योग्य, जैसे राधानाम के गुणों को सुनना, उनका कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवा, वन्दना, दास्य, सख्य और आत्मार्पण। अर्चना (पूजा) के संबन्ध में तो बता ही दिया है कि उसे अनेक प्रकार के उपचारों से करना चाहिये। इस प्रकार यह निश्चय कर कि राधा-भाव के अनुकूल ही धर्माचरण है—किसी भी प्रकार प्रतिकूल नहीं, यह अर्थ है। ऐसा नहीं कि सर्वश्रेष्ठ परम धर्म के लोभ से राधा-संबन्ध के बिना भी अन्य धर्म का पालन करता हूँ। दूसरी बात यह कि मुझे और सांसारिक ऐश्वर्य की तुच्छता की पहले ही से प्रतीति हो जाने

परमधर्मलोभात् तत्संबन्धं विनाप्याचरामीति। किञ्च मुक्तिश्रीतुच्छतायाः पूर्वमेव भानात् न क्वापि कृतार्थताभीतिः। श्रीकृष्णमपि तत्सेवासंबन्धेन सेवएव, न तु स्वतंत्रतयेति ज्ञेयम्। इत्यनुरूपत्वम्। तत्रापि 'रसेन' केवलानुरागमाधुर्य्यास्वादभावेन लालनरूपेण, न तु देवतार्चनबुद्ध्या कृतार्थीकरणमाहात्म्यज्ञानेनेति। यथा च—

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे॥

इति सम्मोहनतंत्रभियैव युग्मं ध्यायेन्नतु माधुर्यास्वादेनेति तन्न। किञ्च मम दास्याः स्वामिन्येव सेव्येति अहो तत्र किमास्वादसुखमित्यादि। यदि परमो धर्मोऽपि तद्रसमार्गविच्युतः क्वचिद् दृश्यते तन्न ममानुरूपम्। अर्थात् तत्संबन्धं विना आचारोऽप्यनाचरणीय इत्यर्थः। यदि च वैभवरीत्या परिचरणचिकीर्षा स्यात् तदा नानोपचारैः भोगरागशृंगारोत्सवैर्नित्यं मुदा परमहर्षेण वित्तशाठ्यविवर्जितस्तत्पदाम्बुजमेव परिचरन् सैव मम देवतेति, नत्वन्यदेवमर्चये, इति।

रसकलश

के कारण यह डर तो है ही नहीं कि किसी अन्य धर्म का आचरण करने से सफलता मिल जायगी। श्रीकृष्ण की सेवा भी राधा-संबन्ध से ही करता हूँ, न कि स्वतंत्र रूप से, यह समझ लेना चाहिए। यह हुई अनुकूलता। अनुकूलता भी रस के साथ होनी चाहिये; अर्थात् प्रिया जी को लाड़ लड़ाकर प्रेममाधुरी का उपभोग करते ही, न कि इस भाव से कि अन्य देवों की भाँति राधा भी एक देवता हैं और उनकी उपासना का माहात्म्य इतना बड़ा है कि जीवन सफल हो जायगा। संमोहन तंत्र में जो डर दिखाया गया है कि—

'गौर तेज (राधा) के बिना श्याम तेज (श्रीकृष्ण) की जो पूजा करता है, उन्हें जपता है या ध्यान करता है, वह शिव के प्रति पाप का भागी होता है।'

उसके कारण ही युगल-स्वरूप का ध्यान करे, माधुर्य के आस्वाद की भावना से नहीं, यह मत ठीक नहीं। यह भावना भी रसमार्ग के विरुद्ध है कि मैं तो दासी हूँ, वे स्वामिनी हैं, इस रिश्ते में आस्वाद का सुख कैसा? यदि परम धर्म श्री राधा-संबन्धी रसमार्ग से भ्रष्ट दिखाई पड़े तो वह मेरे काम का नहीं। यानी राधा-संबन्ध के बिना लोकविहित, शास्त्रसम्मत आचार भी हेय हैं। यदि कोई ठाठ-बाट से उपासना करना चाहे तो भोग-राग, शृंगार के उत्सव करे, किन्तु करे परम प्रसन्नता के साथ, न कि इस धूर्तता से कि करे थोड़ा और दिखावे ज्यादा। इस रीति से राधिकाजी के चरण-कमलों का ध्यान करे —यह मान कर कि वही मेरा देवता है, उनके सिवा अन्य किसी देव की पूजा नहीं करूंगा। 'संसार में जो वस्तु अत्यन्त स्पृहणीय है, जो

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ।।

इत्यनन्तकरणहेत्वर्थम् । यथा च महाराजविभूतिभिः 'वैतानिकेन विधिना' इत्यादिषु, न तत्संबन्धाभावात् मम धर्मेषु प्रीतिः । एवमन्यदपि ज्ञानतपोयोगादिमिश्रणं परमधर्मवाक्ये दृश्यते, नैव तेभ्यः प्रयोजनमननुरूपत्वात् ।

एवं तदीय परमधर्मं चरन् श्रुतिशेखरो वेदान्तस्तस्याप्युपरि चरन्निति । किंवोपनिषत्प्रतिपाद्यं ज्ञानं ब्रह्म 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इति भगवद्धर्मे च मुक्त्यनादृतिर्बहुशः श्रूयते 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्' इत्यादि । तदा मुक्तौ सत्यां ब्रह्म प्राप्यते, अत्र सेवनानन्देन मुक्तिर्निरस्ता । अतो ब्रह्मसायुज्यं तु नादृतम् । अतो भगवद्धर्मः श्रुतिशेखरोपरिचरः सिद्धः । एवं परमधर्मश्रवणकीर्तनादिकरणेन तु श्रुतिशेखरोपचारी । अथ तत्रापि 'भगवद्धर्मेऽप्यहो निर्ममाः', 'सैकान्तेश्वरभक्तियोगपदवीत्वारोपिता मूर्द्धनि' इति सादरानङ्गीकारस्तेन तस्याप्यभावादाश्चर्यचर्यां प्राप्नुवन्नास्मि ।

रसकलश

अपने को अत्यन्त प्यारी है उसे मेरी भेंट करें तो वह अनन्तमुखी होकर मिलती है,' इस कथन के अनुसार समर्पित वस्तु को अनन्त संख्या में पाने के लोभ से (उपासना) न करे। श्री व्यासदेव ने जो आदेश दिया है कि 'याज्ञिक विधि से' (उपासना करे) इस प्रकार के धर्मों के प्रति मेरा अनुराग नहीं, क्योंकि उनमें राधा-संबन्ध का अभाव है। ऐसे और भी परमधर्मप्रतिपादक शास्त्रीय वचन हैं जिनमें आराधना के साथ ज्ञान, तप, योग आदि भी मिला दिये गए हैं। उनसे मेरा कोई लगाव नहीं, क्योंकि वे सब मेरी भावना के अनुकूल नहीं पड़ते।

इस रीति से परम-राधा-धर्म का पालन करता हुआ श्रुतिशेखर—वेदान्त के भी ऊपर विचरण करने वाला (कब हूँगा)। अथवा उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय ज्ञान है, ज्ञान का लक्ष्य है ब्रह्म—'ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं'। परन्तु भागवत में बहुधा मुक्ति का अनादर सुना जाता है—'भगवान् मुक्ति भले ही दे दें, पर किसी अवस्था में भी भक्ति-योग नहीं देते।' मुक्त होने पर ब्रह्म प्राप्ति होती है। यहां रस-मार्ग में तो सेवा का आनन्द मिल जाने के बाद मुक्ति की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसीलिए ब्रह्मैक्य की स्थिति का आदर नहीं है। परमधर्म में विहित श्रवण, कीर्तन आदि द्वारा भी उपासक वेदान्त-ज्ञान से भी उच्चतर स्थिति में पहुँच सकता है, परन्तु रसधर्म के अधिकारी तो 'भगवद्धर्म के प्रति ममता' नहीं रखते। यह जो कहा है कि 'अनन्यभाव से भक्ति-योग के मार्ग को शिरोधार्य किया है' सो रस-संप्रदाय में उसे भी आदरपूर्वक ठुकरा दिया गया है। अतः उस भागवत धर्म के भी अभाव के कारण मेरी भजन-पद्धति आश्चर्यजनक है।

अहो ! किंमार्गो योऽस्ति, भगवद्धर्मे निठापि न दृश्यते, अथ अवश्यादपि दृश्यते, अथ विष्णुसेवकलक्षणमेकपि न पश्यामः, नैतत्तत्त्वमर्म ज्ञातुं शक्यते, इत्याश्चर्यम्। यथा सेवाश्रीविग्रहोऽपि दृश्यते, तत्र शंखगरुडादि सुनन्दनन्द पार्षद विस्वक्सेनादिभ्यः पूजितेभ्यः शेषां निवेदयेदित्यादि न दृश्यते, वेदमंत्रावाहनविसर्जनाद्यपि नात्र, कीदृग्वैष्णवतेत्यादि चित्रं च।

अथ विचारिते रहस्ये सर्वोपरितमोऽयं मार्गः। किञ्च 'औपनिषदं पुरुषं पृच्छामः' इत्यादिश्रुतिप्रतिपादिते सर्व धर्म परमधर्मादिसिद्धान्तस्थितिरस्ति। ताः श्रुतयो गोप्यो जाता व्रजे। ताभिः श्रीराधाचरणरेण्वाराधनं कृतम्। तत्प्रभावेण पूर्णमनोरथास्तद्दास्यं प्राप्ताः। तदा तादृश श्रीमत्याराधने तदुपरिचरत्वं कथं न स्यादिति विवेकः प्रसिद्ध एव। यथा श्रीराधाराधकस्य सर्वमूर्द्धत्वं शतके—

धन्यो लोके मुमुक्षुर्हरिभजनपरो धन्यधन्यस्ततोऽसौः
धन्यो यः कृष्णपादाम्बुजरतिपरमो रुक्मिणीशप्रियोऽतः।

रसकलश

अब प्रश्न उठता है—अरे ! इसका कौन-सा मार्ग है ? एक ओर तो यहाँ भागवत धर्म के प्रति निष्ठा नहीं दिखाई देती, दूसरी ओर श्रवण, कीर्तन आदि भी करता है, पूर्ण प्रेम से इष्ट देव की पूजा भी करता है, परन्तु विष्णु-सेवक का तो इसमें एक भी लक्षण नहीं देखते। इसके सिद्धान्त का भीतरी भेद नहीं जाना जाता, यह आश्चर्य है, फिर पूजा के लिये भगवान् का श्रीविग्रह भी है, पर श्रीमद्भागवत् में यह जो कहा है कि 'भगवान् के विग्रह की पूजा से अवशिष्ट (गन्धमाल्यादि) को शंख, गरुड़ आदि तथा सुनन्द, नन्द पार्षद, विष्वक्सेन आदि को भेंट करे,' यह सब कुछ भी नहीं दिखाई देता। वेद-मंत्रों द्वारा देवता का आवाहन, विसर्जन आदि भी यहाँ नहीं है। यह कैसी वैष्णवता है ! यह सब तो बहुत ही अद्भुत है।

इसके रहस्य का विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि यह रसमार्ग सब से ऊपर है। दूसरी बात यह कि 'उपनिषत्-प्रतिपाद्य पुरुष के बारे में हम पूछ रहे हैं,' इत्यादि श्रुति-वाक्यों में 'सर्वधर्म', 'परमधर्म' आदि के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। ये श्रुतियाँ भी व्रज में गोपीरूप में अवतरित हुई। उन्होंने श्रीराधा के चरणरज की उपासना की। उसके प्रभाव से उनके मनोरथ पूर्ण हुए और उन्हें दासीरूप में प्रियाजी की सेवा में रहने का अधिकार मिला। फिर ऐसी महिमा से मंडित श्रीमती की आराधना करने पर सेवक वेदान्त-ज्ञान से भी ऊपर क्यों नहीं विचरण करेगा ? यह विवेक तो प्रसिद्ध ही है। श्रीराधा का सेवक सबका शिरोमणि होता है, इस संबन्ध में प्रबोधानन्द ने द्वितीय शतक में कहा है—

'इस संसार में धन्य हैं वे जो मुक्ति की कामना करते हैं। जो हरिभजन-परायण हैं वे धन्य-धन्य हैं। उनसे उत्कृष्ट वे हैं जिनकी श्रीकृष्ण के चरणों में रति है।

याशोदेयप्रियोऽतः सुबलसुहृदतो गोपकान्ताप्रियोऽतः,
श्रीवृन्दावनेश्वर्यतिविवशाराधकः सर्वमूर्ध्नि ॥३४॥

अर्थात् विश्रब्धसंप्रदायिमार्गिणस्तु सर्व एव कश्चिदाश्चर्य-चर्योऽपि विरल एव। अत्र गुरुमंत्रदः श्रीराधेवैति ज्ञापितः। किञ्च सर्वाश्चर्यचारी कोऽपि नास्ति यो गुरुरेवं वदेत्, ततस्तस्यानुगतः स्वयमप्येवं वदेत्, इति श्रीराधानामैव मंत्रः, सैव गुरुस्तस्यैव मङ्गलाचरणमपि कृतम्— 'यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ'—इति। अतोऽत्रैवं श्रीराधैकपरिचर्य्या रसरीतिः सर्वाश्चर्यरूपा कस्यचित् सकृद्गम्येति निजमतं सिद्धान्तितम्। 'राधाकुञ्जविचरणस्तद्धर्माचरणतत्परः सततम्', इत्युभयाचारणेन श्रुतिशेखरशेखरोऽस्मि, चित्रमिदम् ॥१३८॥

एवं द्वाभ्यां निजाश्चर्यचरणमुक्त्वाधुना तदेव सद्यः फलितं स्वस्य बहिरन्तरंगतनू प्राप्य भावापरोक्षाविशेषाश्चर्यं चाह द्वाभ्याम्—

रसकलश

उनसे भी ऊपर रुक्मिणीवल्लभ के उपासक हैं। उनसे भी श्री यशोदानन्दन के भक्त अधिक प्रशंसनीय हैं। उनसे अधिक धन्य सुबलसखा-रूप के उपासक हैं। उनसे भी अधिक भाग्यशाली गोपीवल्लभ के भक्त हैं, परन्तु श्रीमद्वृन्दावनेश्वरी के परम रस-विवश श्रीकृष्ण के आराधक सबके मुकुटमणि हैं ॥ ३४ ॥

अर्थात् रससंप्रदाय के मार्ग में विश्वास रखने वाले के लिये श्री हितप्रभु की जैसी अद्भुत आराधना-पद्धति को अपनाने वाला तो कोई विरला ही है। यहाँ सूचित किया गया है कि दीक्षा-मंत्र देने वाला गुरु श्रीराधिका जी ही हैं। दूसरे, ऐसी अद्भुत रीति से आचरण करने वाला कोई ऐसा नहीं है जो अपने को गुरु मानकर ऐसा कहे (कि मेरी उपासना-पद्धति तो सबसे निराली है) और फिर उसका अनुगत शिष्य भी ऐसा दम भरे। यही कारण है कि इस प्रकार राधानाम ही मंत्र है, वही गुरु हैं और "यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ" इस श्लोक द्वारा प्रारंभ में उसी (गुरु) का मंगलाचरण किया है। एकमात्र राधोपासना द्वारा अपनाई गई रस-रीति सबको अचम्भे में डाल देती है और विरला ही उस तक पहुँच पाता है। श्रीहितप्रभु ने इस प्रकार अपने मत का सिद्धान्त बताया है। 'राधिका के कुंजों में विचरण करने वाला, निरन्तर उन्हीं के अनुकूल धर्म का पालन करने वाला'—इन दोनों प्रकार के आचरणों द्वारा सिद्ध कर दिया कि मैं वेदान्त-सिद्धान्त के भी ऊपर प्रतिष्ठित हूँ। यह एक आश्चर्य ही है ॥ १३८ ॥

इस प्रकार दो पद्यों द्वारा अपना आश्चर्यजनक आचरण बताकर उसके फलस्वरूप बाह्य और अन्तरंग (आचार्य और निकुञ्जसखी) शरीर पाकर अब दो पद्यों द्वारा अनुराग भाव की क्रीड़ा को प्रत्यक्ष देखने के आश्चर्य का वर्णन करते हैं—

यातायातशतेन संगमितयोरन्योन्यवक्त्रोल्लस-
च्चन्द्रालोकमसंप्रभूतबहलानंगाम्बुधिक्षोभयोः ।
अन्तः कुञ्जकुटीरतल्पगतयोर्दिव्याद्भुतक्रीडयो
राधामाधवयोः कदा नु श्रृणुयां मञ्जीर काञ्चीध्वनिम्
॥१३९॥

अहं यातायातेतिक्रमलब्धयोः श्रीराधामाधवयोर्मञ्जीरकाञ्चि-ध्वनिं कदा नु श्रृणुयामित्यन्वयः । ननु तौ कुत्राकस्मात् प्राप्तौ, तत्रोक्त-कुञ्जवीथीविचरणं मनसाभिवाद्य कथयति । कीदृशयोः ? यातायातशतेन कर्त्रा मां प्रति संगमं प्रापितयोः । अतो यातायातस्य स्वस्त्यस्तु । इदमेव मया नित्यमाचरणीयमिति भावः । कुञ्जवीथिषु भ्रामं भ्रामं क्वचित् कुञ्जे यथा मद्रसभावरुचि तथा दर्शनमकरवम्, तदेवाह । कीदृशयोः ? अन्योन्यं वक्त्र एव उल्लसच्चन्द्रौ उदधिकं शोभनौ सहर्षोद्गतौ पूर्णावित्यर्थः । तयोर्यत् परस्परावलोकनं तेन संप्रभूतोऽतिशयेन जातो बहुल उत्तरंगितो वा ।

रसकलश

"सैकड़ों बार कुंजगलियों में आने-जाने से जिनके दर्शन हुए थे, एक-दूसरे के मुखरूपी खिलखिलाते चन्द्रों को देखकर जिनके हृदय में उमड़ते हुए काम-सिन्धु की हलचल मच गई थी, एकान्त कुंजगृह में शय्या पर लेटे हुए अलौकिक विलास में निरत उन राधा-माधव के नूपुर और मेखला की ध्वनि को कब सुनूंगी ?"

मैं आने-जाने के क्रम से प्राप्त (दिखाई दिये) श्रीराधाकृष्ण के मंजीर और मेखला की ध्वनि को कब सुनूंगी -यह अन्वय है। वे दोनों मिल कहाँ गये ? इसके उत्तर में पूर्वोक्त कुंजगलियों में अनेक बार किये गये भ्रमण की वन्दना कर कहते हैं। कैसे वे दोनों ? सैकड़ों बार आवागमन के द्वारा मुझ (कर्ता) से मिलाये गये। अत: कुंजों में मेरे आने-जाने का भला हो। मुझे ऐसा ही नित्यप्रति करना चाहिये, यह भाव है। कुंजगलियों में बार-बार चक्कर काटते हुए किसी कुंज में, रस-भाव में अपनी रुचि के अनुरूप मैंने दर्शन किये—इसी बात को कहते हैं। कैसे राधा-माधव ? एक-दूसरे के मुख ही हुए दो उदीयमान चन्द्र—अत्यन्त सुन्दर और आनन्द से उदित हुए—अर्थात् पूर्ण; उन दोनों का जो एक-दूसरे को देखना; उससे संप्रभूत (अतिशय रूप से उत्पन्न हुआ) है खूब लहराते हुए काम समुद्र का आन्दोलन (उफनना) जिनका (ऐसे उन दोनों की मेखला-मंजीर की ध्वनि को कब सुनूंगी ?)। चन्द्रमा को देखकर जैसे समुद्र उछालें भरता है, वैसे ही एक-दूसरे के मुखचद्र को देख कर परस्पर काम-समुद्र जँभाई लेने लगता है। ऐसा कह कर दोनों की समान अभिलाषा व्यक्त की गई है। कहा भी है—'जिसकी जैसी भावना होती है, वैसी ही सिद्धि होती है'—इस

उत्तरंगतास्यानङ्गाम्बुधेः क्षोभः उत्फणनं ययोस्तौ । यथा चन्द्रदर्शनेन सिन्धुरुद्गच्छति तद्वत् परस्परचन्द्रालोकेन परस्परकामसिन्धूज्जृम्भ इति तुल्याभिलाषः सूचितः । यथा—'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इति न्यायात् कुञ्जवीथिषु सरसाभिलाषदंपत्योरेव दर्शनं कृतम् । ततः कीदृशयोः ? अन्तःकुञ्जकुटीरेति । रहो निभृतनिकुञ्जे यत्तल्पं तत्र प्राप्तयोः । तदपि मया इष्टमिति । तदनन्तरमहं बहिः स्थिता एव तत्र दिव्या, लौकिकी, नतु लौकिकनायकनयिकावत् वैरस्याद्यन्त मध्येति । तत्रान्यदेवादिसाम्यमाशङ्क्याह—अद्भुता यद्दृश्यते श्रूयते ततोऽपि विलक्षणैवेति । तादृशी क्रीडा ययोस्तौ—तत्र तल्पे क्रीडां कृतवन्तौ, इत्यर्थः । क्रीडा कथं ज्ञातेति चेत् तत्रोक्तम्—मञ्जीरः प्रियाया काञ्ची प्रियस्य वा निर्विशेषं तयोर्ध्वनिमिति । तेन क्रियमाणा क्रीडा ज्ञायते । तदपि यत्कृपया दर्शनं दत्तं तयैव श्रवणाधिकारः कृत इति । नु इति विकल्पे । कदा शृणुयामित्यभिलाषोऽपि साधकावस्थायां घटते । यद्वा ध्वनिं श्रूयमाणा एव वदति । तदा नु इति पृच्छायाम् । स्वं मनः संपृच्छति—किमहं शृणोमि, इत्यर्थः । इत्यानन्दसंभ्रमार्थो ज्ञेयः । इत्येवं श्रीहरिवंशवपुष्येवापरोक्षतांतरंगलीलाया

रसकलश

न्याय से कुंजगलियों में विहार-रस की अभिलाषा पाले हुए दंपति का ही दर्शन किया। फिर कैसे (राधामाधव) कि किसी एकान्त कुंज में बिछी हुई शय्या पर लेटे हुए। वह भी मैंने देखा। इसके बाद बाहर ही खड़े रह कर मैंने दिव्य अलौकिक (क्रीड़ायें करते हुए···) 'अलौकिक' से तात्पर्य है कि संसार के साधारण नायक-नायिका की भाँति उनकी क्रीड़ाओं का प्रारंभ, मध्य और अन्त उदासीनता से युक्त न था। यह न समझना चाहिए कि ये क्रीड़ायें अन्य देवी-देवताओं जैसी साधारण थीं, बल्कि जितनी अद्भुत देखी-सुनी जाती हैं उन सबसे विलक्षण। ऐसी क्रीड़ा जिन दोनों की है, अर्थात् पलंग पर क्रीड़ा करते हुए। यदि कोई पूछे कि क्रीड़ा का पता कैसे लगा, (तो उत्तर में कहा गया है कि) प्रियाजी के नूपुर और प्रिय की करधनी दोनों की मिली-जुली ध्वनि सुनकर क्रीड़ा जानी जाती है। वह भी इस तरह कि जिनकी कृपा से दर्शन हुए उन्होंने ही सुनने का अधिकार भी दिया। 'नु' का अर्थ यदि विकल्प (संशय) लगाया जाय, तो 'जाने कब सुन सकूंगी', यह अर्थ होगा। यह अभिलाषा भी साधक की स्थिति में ही ठीक बैठती है। अथवा यह अर्थ कि ध्वनि को सुनते-सुनते ही कहती हैं। तब 'नु' प्रश्नवाचक होगा और अर्थ—होगा कि हितसखी अपने मन को पूछती हैं—'क्या मैं सुन रही हूँ ?' आनन्द के कारण संशय होने पर यह अर्थ निकलता है। इस प्रकार श्रीहितहरिवंश प्रभु के शरीर में ही अंतरंगलीला की प्रत्यक्ष क्रीड़ा दिखाई गई है,

उक्ता, अन्यथा सखीसिद्धदेहं विना न प्राप्यतेऽतोऽविशेषप्रभावाश्चर्यमुक्तं ज्ञेयम् ।

अथवा प्रकटलीलायां श्रीव्रजराज्ञीसदनपक्षे नववधूवरयोरन्योन्यावलोकनमिलनपरमोत्सुकयोरप्यार्यसंघट्टे सपत्रपयोः कुलोचितसमयमिलनार्हयोः । किञ्च व्रजराज्ञी निजप्राणस्नुषास्नेहातिशयेन क्षणक्षणोपलालनसंप्रीणनश्रृङ्गारांकादिना न हातुं शक्नोति, तत्र मया विश्रब्धसचिवया सकलकार्येङ्गितकुशलया अन्यसमयेऽपि प्रियप्रेरणेन कृत बहुगतागतेन कथंचिदुपवनावलोकवक्ष्यमाणमधूत्सवविक्षप्तिच्छलेन संगमं कारितयोः । तत्रानुरागसिन्धुस्तु पूर्वमेव प्रभूतः, परन्तु मिलनसमये दूरादागमललितक्रमे मुखचन्द्रावलोके च क्षोभो जातः, इति सुखं मध्यस्थहितसखी हृदयगम्यमेवेति अग्रे स्पष्टम् ।

अथ केवलकुञ्जस्थपक्षे श्रीवृन्दावने वसन्तनित्यत्वेऽपि नैमित्तिके वसन्तपुष्पपल्लवादि वैभवबाहुल्ये सर्वत्र प्रसृमरे सति किञ्चिद्विलक्षण

रसकलश

नहीं तो जब तक सखी का सिद्ध-शरीर न मिले तब तक ऐसी सिद्धि नहीं मिलती । इस रीति से हितसखी के प्रभाव का आश्चर्य यहाँ दिखाया गया है, यह समझना चाहिये ।

यदि प्रकट लीला का अर्थ लगाया जाय तो व्रजरानी यशोदा के पक्ष में जब कि दोनों का विवाह हुआ ही था और वर-वधू एक-दूसरे को देखने व मिलने के लिये अत्यन्त उत्कंठित होने पर भी संकोच करते थे और कुल मर्यादा के अनुसार किसी खास समय में ही मिल सकते थे,—क्योंकि यशोदाजी प्रतिक्षण वधू राधिका को लाड़-प्यार, प्रसन्न रखने व उसका श्रृंगार करने में लगी रहने के कारण उसे छोड़ती ही नहीं थीं, तब प्रिय श्रीकृष्ण की प्रेरणा से विश्वासपात्र मंत्री की स्थानीय और सब प्रकार के कार्य करने में निपुण मैंने (हितसखी ने) निश्चित समय के अतिरिक्त समय में भी कई बार आ-जा कर बाग-बगीचा देखने तथा वसन्तोत्सव (जिसका कि आगे वर्णन किया गया है) में भाग लेकर मन बहलाने के बहाने बड़ी कठिनाई से जिन दोनों का मिलाप कराया (उनकी मंजीर मेखला की ध्वनि को मैं कब सुनूंगी) । उस समय प्रेम-समुद्र तो पहले ही से काफी उमड़ रहा था, पर मिलन-समय में जब एक ने दूसरे को ललित गति से आते देखा और मुखचन्द्र का अवलोकन किया, तो प्रेम-समुद्र में हलचल मच गई । इस सुख का अनुभव मध्यस्थ हितसखी ही कर सकती हैं, यह आगे स्पष्ट किया गया है ।

अब यदि माना जाय कि केलि-कुंज में ही यह सब घटित हुआ तो यह अर्थ लगेगा कि वैसे तो वसन्त की स्थिति वृन्दावन में नित्यरूप में रहती है, परन्तु इसके साथ ही ऋतु-पर्याय के अनुसार जब वसन्त आता है तो वृन्दावन फूल-पत्तों आदि के

कुञ्जकुटीरतल्पादि स्वहस्तेन रचयितुमुद्यतौ। तत्र परमकौतुकशीलेन पुष्पाणि स्वयमेवावचिनुतः। चित्वा चित्वा सौष्ठवाभिमानसंघर्षेण स्वं स्वं पृथक् भागं रचयतः। तस्मिन् साहसे गतागतं द्वयोर्बहुशो जातम्। तदुभयोर्गतिभंगीचाञ्चल्यं, हास्यं, विविधाङ्गमोटनं, मुखचन्द्रदर्शनं परस्परपरमोद्दीपनमेव सहृदयैर्भावनीयम्। पुनश्च यन्निमित्तं कुञ्जतल्परचनादि, तदपि भावविलासोद्दीपनं परमं मनः क्षोभकम्। एवं यातायातशतेन कर्त्रा संगमं कारितयोः। नित्यसंगतयोरपि गतागतेसु कश्चिद्विलक्षणभावोद्दीपकः संगमोऽत्र जातो ज्ञेयः। न च पूर्वं संगमाभाव इति शङ्कनीयम्, अवरोध हेत्वभावात्। अर्थादत्र वामशीलध्रौव्येऽपि यातायातशतकारि मानकार्कश्यं तु न घटते। जानत्कौतुके तु सर्वं घटते, लाडलात्वाद्यघटहठित्वशीलत्वात्, परिहसनीयसख्यवर्द्धनाच्चेति; अत एवमर्थयितव्यम्। अन्यत् स्पष्टम्। एवं यथाभावुकहृदयोऽर्थः॥१३६॥

रसकलश

वैभव से भर जाता है। तब दंपती कुछ विलक्षण कुंज-गृह, शय्या अपने हाथ से बनाते हैं। अत्यन्त कौतुकी स्वभाव के कारण स्वयं फूल आदि चुनते हैं। चुनते-चुनते दूसरे पक्ष की तुलना में शय्या आदि को अधिक सुन्दर बनाने की होड़ा-होड़ी अपने हिस्सा में आये हुए भाग को पृथक्-पृथक् बनाते हैं। इस साहसपूर्ण कार्यक्रम के प्रसंग में बहुत बार दोनों को बाहर-भीतर आना-जाना पड़ता है। इस स्थिति में दोनों की चंचल चाल-ढाल हँसी-मजाक, अनेक प्रकार से अंगों को घुमाना, चाँद जैसे मुंह को देखना—सब अत्यन्त उद्दीपक हो जाते हैं जिसे कि सहृदय लोग ही अनुभव कर सकते हैं। फिर, जिस संगम के लिये कुंज-गृह, शय्या आदि सजाये जा रहे हैं, वह भी आगे होने वाले विकास के उद्दीपक हो उठते हैं और मन में हलचल मचा देते हैं। इस प्रकार सैंकड़ों बार आ-जाकर जिनका संगम कराया था (उन राधा-माधव के नूपुर और मेखला की ध्वनि को कब सुनूंगी)। प्रिया-प्रियतम तो सदा से मिले हुए हैं, फिर भी आवागमन के द्वारा किसी विलक्षण भाव को जागृत करने वाला संगम यहाँ हुआ है यह समझ लेना चाहिये। इससे पहले दोनों का संगम हुआ ही न था, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि मिलने में रुकावट आने का कोई कारण ही नहीं है। क्योंकि प्रिया जी का प्रियतम के प्रति रुख यद्यपि सहज रूप से प्रतिकूल (अस्वीकारात्मक) होता है, तो भी उनका मन इस हद तक कठोर नहीं हो सकता कि उसके कारण सैंकड़ों बार आने-जाने का द्राविड़ प्राणायाम करना पड़े। यदि जान-बूझ कर यह खेल खेला जा रहा है, तो ऐसे में सब कुछ उचित है। क्योंकि एक तो राधिका जी लाड़ली हैं, दूसरे, हद के दर्जा की हठी हैं, तीसरे यह कि सख्यभाव में हास-परिहास चलता है और उससे कौतुक बढ़ता है। अतः इस प्रकार अर्थ लगाना चाहिये। बाकी स्पष्ट है। यह अर्थ भावुक-हृदय को लक्ष्य कर किया गया है ॥१३६॥

एवं विहारानन्दमनुभूय पुनर्माधवीमण्डपगतमधूत्सवानन्दमाह—

अहो भुवनमोहनं मधुरमाधवीमण्डपे
मधूत्सवसमुत्सुकं किमपि नीलपीतच्छवि ।
विदग्ध मिथुनं मिथो दृढतरानुरागोल्लसन्-
मदं मदयते कदा चिरतरं मदीयं मनः ॥१४०॥

किमप्यनिर्वचनीयं विदग्धयोर्मिथुनं मदीयं मनश्चिरतरं कालानवधि भृशमिति यावत्, अहो इत्याश्चर्ये, कदा मदयते, मादनं कुरुते वा कुर्यात् । कदेति शब्दो सर्वत्र द्व्यार्थको मनोरथो वैचित्यमयश्चेति ज्ञेयः । तन्मादनकारणत्वेन विशिनष्टि—कीदृशं मिथुनम् ? पूर्वकुञ्जकुटीरविहारतल्पस्थानसंलग्नाजिरमण्डपे वासन्तीलतामये निर्गत्य तत्र कुसुमासने स्थित्वा वसन्तागमसंपत्ति सर्वत्र प्रसृतां वीक्ष्य मधूत्सवे सम्यगुत्सुकं परस्परं विचारयति—अहो कीदृग्मनोहरं श्रीवृन्दावनं नमितपुष्पफलपल्लवसंभृतशाखिशाखं, कीदृग्मत्तकोकिलकलकलालंकृत-नूतन-नूतन प्रभूतमञ्जरीकं, यत्र

रसकलश

उपर्युक्त प्रकार से विहार के आनन्द का अनुभव करके अब माधवी-मंडप में होने वाले वसन्तोत्सव के आनन्द का वर्णन करते हैं—

"अहो ! पुष्प-पराग से सुन्दर माधवी लता-मण्डप में संसार को मोहित करने वाली, वसन्तोत्सव के लिये उत्कंठित, अनिर्वचनीय नीली-पीली कान्ति से युक्त और अतिशय अनुराग के कारण मद के उल्लास से भरी हुई श्रीराधाकृष्ण की चतुर जोड़ी अनन्तकाल तक (देखें) मेरे मन को कब उन्मत्त करती है ।"

कोई अनिर्वचनीय चतुर नागर-नागरी की जोड़ी मेरे मन को अनन्तकाल तक, अर्थात् भरपूर, कब मादक बनती है या बनायेगी । 'अहो' शब्द आश्चर्यबोधक है । 'कदा' (कब) शब्द से सर्वत्र दो अर्थों का बोध होता है—मनोरम और वैचित्ति । अब युगल-स्वरूप के मत्त होने का कारण निर्देश करते हुए विशेषण लगाते हैं । कैसी जोड़ी ? पूर्वोक्त कुंज-कुटीर में जहाँ शय्या बिछी थी उससे सटे हुए सामने के आँगन में वासन्ती लता से निर्मित मंडप में निकल आकर और वहाँ फूलों के आसन पर खड़े होकर जब युगल-दंपती ने वसन्त के आगमन के फलस्वरूप चारों ओर बिखरे वैभव को देखते हैं, तो वसन्तोत्सव मनाने के लिये उत्कंठित हो उठते हैं और सोचते हैं—अहो श्री वृन्दावन कैसा सुन्दर है ! पेड़ों की डालियाँ फूल-पत्तों से लदी पड़ी हैं, नई निकली मंजरियाँ मस्त कोयलों के कलरव से किस प्रकार सुशोभित हैं, स्थान-स्थान पर

तत्र प्रतिद्रुमं पुष्पास्तरणमेव कृतं दृश्यते । अहो प्रिये ! त्वदागमं काङ्क्षतेऽयं वसन्तः । इदानीन्तने वसन्तोत्सवे एवं क्रीडिष्यामः, एवं पुष्पकन्दुकान्येवं परागपुञ्जिकाः, एवं मकरन्दरसयंत्रिकाः करिष्यामः, एवं मण्डलं सखीनामेवं स्थितिरेवं शृङ्गाररचनेत्यादिपरमोत्सवमभिमंत्रयति । तदुत्सुकवाक्यकथनसमये हस्तेन हस्तं गृहीत्वा सहर्ष नेत्रमुखस्थितं कौतुकभंगीशोभां हृदि न्यस्य हितसखी वक्ति—'अहो भुवनमोहनम् ।' ममैकस्याः किमु वच्मि ! अस्मिन् मिथुने इयती मोहनता संभृता मया सर्वं भुवनं स्थिरजंगमात्मकं मोहितं स्यात्तदा सहृदयसखीनां तु किमु वाच्यम् । किञ्च तत्रत्यपक्षिकुलान्यपि तद्रूपवाक्यमाधुरीदर्शनश्रवणेन स्थगितान्येव दृश्यन्ते । माधवीलता अपि छत्रादमृतशीकरानिव पुष्पाणि वर्षन्ति, प्रेम्णा मधूनि स्रवन्ति । एवं स्थिरचरधर्मव्यत्ययं मोहनधर्मं दृष्ट्वा 'भुवने' त्युक्तिः । अत एतद्रूपेण कीदृग्मधुरं मण्डपं दृश्यते । अहो इत्याश्चर्यार्थः सर्वत्रानुस्यूतः ।

किमप्यनिर्वचयनीया नीलपीता च छविर्यस्य तत्, किं किमङ्गभङ्गिच्छविरूपं विविच्यते । अनिर्वचनीयत्वान्नीलपीतेत्येव वक्तुं शक्यते

रसकलश

प्रत्येक वृक्ष के नीचे फूलों का तो बिछावन ही बिछ गया है । अहो प्रिये ! यह वसन्त आपके शुभागमन की प्रतीक्षा कर रहा है । इस वसन्तोत्सव में ऐसे क्रीड़ा करेंगे, ऐसे पराग की गेंदें तथा मकरन्द की पिचकारियाँ बनायेंगे, सखियों का मंडल ऐसे बनेगा, ऐसे उन्हें खड़ा किया जायगा, ऐसे अपना शृंगार करेंगे—कुछ इस तरह से वसन्तोत्सव की योजना बनाते हैं । एक-दूसरे के हाथ को हाथ में लेकर जब वे यह सब कह रहे हैं, तब उनके नेत्रों में नाचती प्रसन्नता, मुंह पर खेलती मुस्कान और कौतुक भरी चेष्टाओं को हृदय में रखकर हितसखी कहती है—अहो ! संसार पर जादू डालने वाला कैसा यह रूप है, मुझ अकेली का तो फिर कहना ही क्या ? इस युगलस्वरूप में इतनी मोहनी भरी है कि स्थावर-जंगम समस्त विश्व मोहित हो जाय, तो फिर भावुक सखियों का तो कहना ही क्या ? दूसरे यह कि वृन्दावन के पक्षी भी उनके रूप-माधुर्य को देख और रसमयी वाणी को सुनकर जहाँ के तहाँ स्तब्ध से हो गये लगते हैं । वासन्ती लतायें भी अपने गुंबदों से अमृत की बूंदों जैसे फूल बरसा रही हैं, प्रेम से शहद झरा रही हैं । चराचर को इस प्रकार उलट-पलट कर देने वाली इस मोहनी को देखकर ही कहा गया है—'भुवन-मोहन रूप !' इसी कारण मंडप कैसा सुन्दर दिखता है ! आश्चर्यबोधक 'अहो !' सर्वत्र लगा समझना चाहिये ।

'किमपि नीलपीतच्छवि'—इस पद का विग्रह है—कोई अनिर्वचनीय । नील-पीत है छवि जिस (जोड़ी) की, दंपती की अंगों की चेष्टाओं से छिटकतीं हुई छवि का

किञ्च दृष्टिस्तदाकृतिवर्णरूपैव जाता। अहो ! किमेतस्य मिथुनस्य वैदग्ध्यं विविच्यते। 'विदग्ध' इत्येव निर्देष्टुं शक्यते। यद्यत् क्रियासु, वाचि, मनसि च चातुर्यं संभृत नवनवमुज्जृम्भते तत् किं किमुच्यते वैदग्ध्यसिन्धुरेवेति। पुनश्च केवलं वैदग्ध्यमेव नास्ति। मिथः परस्परं अत्यन्तदृढो योऽनुरागो, रागान्तरानुरागो, लहरीवत् परम्परात्मकोऽविच्छिन्नस्तेन तस्य वा उल्लसन्मदो यस्य तत्। परस्परप्रेमसौभाग्यमदोऽन्योन्यमनसि घूर्णते, तद्दृष्ट्वा मन्मनो मत्ततरं भवतीत्यत आनन्दवैचित्र्येन कदा मदयते चिरतरमिति। 'कदा' इत्येनन शङ्कते स्वित् कस्मिन् क्षणे न शाम्येदिति यथा तयोरनुरागो न शाम्यति तथा ममापि नैरन्तर्यमिति भावः। 'मधूत्सव' इत्यत्र आसवार्थोऽपि लगत्येव। यद्वा तत्रैव कुटीरमण्डपेऽन्योन्याधरपानोत्सुकमित्यपि यथाभावुकगम्योऽर्थः। प्रथमं त्वनुरागमदो दृढतरसमवायिसंयोग एव, ततः स्थानमपि मधुसम्बन्धि माधवीति, तत्रापि मण्डं सारं पिबतीत्यर्थ-

---

रसकलश

कैसे निरूपण किया जाय। चूंकि अनिर्वचनीय है, अतः इतना ही कहा जा सकता है कि छवि नीली-पीली है। और तो और, दृष्टि भी उनके आकार-प्रकार और रूप-रंग में ढल गई है। इस जोड़ी की चातुरी का क्या विवेचन करें ? केवल 'विदग्ध' (चतुर) इतना ही कहा जा सकता है। इनकी क्रियाओं में, वाणी में, मन में भरा हुआ जो जो चातुर्य नए-नए रूपों में उल्लसित होता है उसके संबन्ध में क्या-क्या कहा जाय ! केवल इतना ही यह सब विदग्धता का समुद्र ही है। पारस्परिक दृढ़ अनुराग— राग के बाद उत्पन्न अनुराग, लहरियों की भाँति परंपरा बाँध कर आने वाला अटूट अनुराग, उससे युगल दंपती का मद उल्लसित हो रहा है। पारस्परिक प्रेम के सौभाग्य का मद दोनों के मन में घुमेर खाता रहता है। (श्रीराधिका श्रीकृष्ण के प्रेम के कारण अपने को भाग्यशालिनी मानती हैं और श्रीकृष्ण राधिका के कारण) यह देखकर मेरा (हित-सखी का) मन और भी अधिक मदमत्त हो जाता है। अतः (हितसखी) कहती हैं कि वह विदग्ध जोड़ी विलक्षण आनन्द प्रदान कर मेरे मन को कब अनन्तकाल तक मत्त करेगी ? 'कदा' (कब) शब्द यह प्रकट करता है कि कहीं ऐसा न हो कि किसी समय (नशा उतर जाने पर) मेरा मन शान्त हो जाय। भाव यह है कि जिस प्रकार दंपती का प्रेम-नशा नहीं उतरता है, वैसा ही अविच्छिन्नता मुझमें भी बनी रहे। 'मधूत्सव' शब्द से आसव (मदिरा) का अर्थ भी विहार प्रसङ्ग में लगता है। वहीं कुंज-कुटीर-मंडप में एक-दूसरे की अधर-मदिरा पीने के लिए दंपती उत्कंठित हैं—यह अर्थ भी रसिक जनों की भावना के अनुसार लग सकता है। पहले तो प्रेम का मद अपने आश्रय में अत्यन्त दृढ़ रूप में समवायि संबन्ध से विद्यमान रहता है, फिर स्थान भी माधवी

भानेन महामादकं च। 'मधु राती'ति केवलस्थितिदर्शनकथनमात्रेण मत्तां कुर्यादेवेति। तत्र कालोऽपि मधुर्मादकः कथं न क्षोभयेदिति। तत्राप्युत्सवस्ततोऽप्युत्कंठा तदानीं वर्द्धिता। तयोश्छविरपि नीलपीता। 'किमपि' इत्यनेन मदेनान्येव विभाव्यमाना ज्ञायते। तत्रापि स्वयं तत्तद्दर्शनपानास्वादकुशलत्वेऽत्यन्तमादकता स्यात्। मुग्धं तु स्वापयेदेव। अतो 'विदग्ध' इति। तत्रापि मिथुनं तादृक्समशीलं व्यसनि सहायं दम्पतिरूपं च। तत्र स्वयमनुरागमदं पिबति। तत्रापि 'दृढ' इति जाड्यासवेऽत्यन्तमदः। इत्येवं सर्वमादनहेतौ चिरतरमादकत्वे कः सन्देहः? पूर्वमधीरमधुकरत्वं मनस उक्तमेव, अतो वर्तमानप्रयोगेण नित्यतैव दर्शिता ॥१४०॥

एवं द्वाभ्यामन्तरंगविहारोत्सवालोकनमादकानन्दकथनेन दम्पति-

रसकलश

(मंडप) है। 'माधवी' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ('मधोरियम्' इस विग्रह के अनुसार) मधु-संबन्धी है। उस पर भी (माधवी का) मंडप जिसका अर्थ है मंड (सार) को पीने वाला—अर्थात् अत्यन्त मादक। माधवी-मंडप भी मधुर है। 'मधु' यानी मधु (पराग) को देने वाला – जो केवल स्थिति के दर्शन और वर्णनमात्र से ही मस्त बना दे। उस पर भी समय है मधुमास—मादक बना देने वाला। फिर भला मनमें क्यों न हलचल पैदा करे? । मधु भी अकेला नहीं है। 'मधु' शब्द के साथ 'उत्सव' और जुड़ा हुआ है। फिर उस समय उत्कंठा की भी बाढ़ आई है। दोनों की कान्ति भी नीली-पीली है। 'नीलपीतच्छवि' के विशेषण 'किमपि' (कोई) से सूचित होता है कि मद के कारण युगल-स्वरूप की छांव कुछ और ही तरह की लगती है। उसमें उन-उन वस्तुओं को देखने, उनका पान और आस्वाद लेने में निपुण होने पर मादकता बढ़ेगी ही। गँवार को नशा सुला ही देगा, अतः विशेषण दिया है 'विदग्ध'। साथ ही दूसरी विशेषता यह है कि दोनों की प्रकृति एक जैसी है, प्रेम का उन्हें व्यसन है, वे परस्पर सहायक हैं। इसमें भी विशेषता यह है कि अनुराग की मदिरा को स्वयं पीते हैं। 'दृढ़तरानुराग' में 'दृढ़' शब्द से तात्पर्य यह है कि प्रिया-प्रियतम का अनुराग अत्यन्त स्थिर, अविचल है। अनुराग को मदिरा मान लेने पर धर्मसाम्य के कारण मद को भी अनुराग के अनुपात में ही तेज होना चाहिये—इतना तेज कि पीने वाला जड़ हो जाय, सिर से पैर तक डूब जाय। इस प्रकार मादकता के सब कारण उपस्थित होने पर दम्पती की मादक दशा हितसखी को अनन्त काल तक मादक बनाये रक्खे, तो इसमें सन्देह ही क्या है? पूर्व के एक पद्य (संख्या १३७) में मन को अधीर मधुकर बताया है, अतः 'मद्यते' क्रिया में वर्तमान काल के प्रयोग द्वारा मद का स्थायित्व सूचित किया गया है ॥१४०॥

इस प्रकार दो पद्यों द्वारा निकुंज-विहार के उत्सव को देखने से प्राप्त मादक

विषये निजप्रेमसाम्यमुक्तम् । इदानीं हर्षोच्छलितपरमरसवर्द्धकप्रेमतरङ्ग-विशेषं संबन्धमाधुर्यपक्षं रसभावभेदेनाह त्रिभिः—

राधानामसुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला,
पादौ तत्पदकांकितासु चरतां वृन्दाटवीवीथिषु ।
तत्कर्मैव करः करोतु हृदयं तस्याः पदं ध्यायतां
तद्भावोत्सवतः परं भवतु मे तत्प्राणनाथे रतिः
॥१४१॥

पक्षो यथाह शतके श्रीहितसखीवर्णनप्रकरणे—'मूर्ति कांचन-काञ्चनद्रवरुचिम्' इत्यारभ्य—

प्रोदञ्चत् पुलकावलिं मुहुरतिस्नेहान्निजप्रेष्ठयो—
स्तत्तद्गूढतदिङ्गितानुसरणैः सन्तोषवन्याकरीम् ।
राधापक्षपरिग्रहेण दधतीं नर्मक्रियादक्षतां
श्रीश्वर्याश्चरणैकसङ्गततया नित्यस्थितां तत्पराम् ॥६-६०॥

रसकलश

आनन्द का वर्णन कर श्री हितसखी ने बताया कि किस प्रकार युगल सरकार के प्रति उनका समान प्रेम है । अब रस और भाव का पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए आनन्द से छलछलाते उत्कृष्ट रस को बढ़ानेवाली प्रेम की लहरियों से विशिष्ट माधुर्य भाव के प्रति अपने पक्षपात को अग्रिम तीन पद्यों द्वारा बताते हैं—

मेरी जीभ राधा-नाम के अमृतरस को पीने के लिये व्याकुल रहे, मेरे पैर उनके चरण-कमलों से चिह्नित वृन्दावन की गलियों में घूमते रहें, मेरे हाथ उन्हीं की सेवा से संबन्धित कार्य करें, हृदय उन्हीं के चरणों का ध्यान करे, किन्तु उनके प्राणनाथ श्रीकृष्ण में मेरी रति केवल राधिका के प्रति भक्तिभावरूप उत्सव के ही कारण हो ॥१४१॥

श्रीराधा के प्रति पक्षपात का वर्णन श्री प्रबोधानन्द कृत 'श्रीवृन्दावनमहिमामृतम्' में हितसखी के वर्णन के प्रसंग में देखा जा सकता है । उदाहरण के लिये, मूर्ति-कांचन काञ्चनद्रवरुचिम्'—इस पद्य से लेकर निम्नलिखित पद्य तक—

"हितसखी जी अपने प्रियतम युगल के अति अनुराग में बार-बार पुलकित हो रही हैं, दोनों के गूढ़ इंगितों (इशारों) को जानकर दोनों के लिये संतोषरूपी निर्झरिणी को प्लावित करने वाली हैं, श्रीराधा की पक्षपातिनी होने से परिहासादिक

क्रियाओं में विशेष निपुण हैं, श्री प्राणेश्वरी की सेवा में नियुक्त होने से नित्य तत्परता के भाव से अवस्थित हैं।[1]

१. रसकुल्या के टीकाकार द्वारा उपक्षिप्त श्री हितसखी का वर्णन करने वाले श्रीवृन्दावनमहिमामृतम् के शेष चार पद्य नीचे दिये जाते है।

मूर्ति काञ्चन काञ्चनद्रवरुचिं सौम्यां महासुन्दरीं
प्रत्यङ्गोच्छलदन्तपाररहितस्निग्धाङ्ग गौरच्छटाम्।
कैशोरेण मनोहरामुरसिजस्वर्णाब्जकोशद्वयीं
सवीताम्बरकञ्चुकेन विलसद्धारावलीं बिभ्रतीम् ॥६-५६॥

—पिघले हुए सुवर्ण जैसा उनका वर्ण है, सौम्य और अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है, प्रत्यंग में अनन्त, असीम, निर्मल गौर-छटा प्रस्फुटित हो रही है, किशोर अवस्था होने के कारण देखने में सुन्दर हैं, सोने के कमल की कलियों जैसे दो स्तन वक्षःस्थल पर सुशोभित हैं, बढ़िया चोली, वस्त्र तथा विचित्र हार को धारण किये हैं।

मध्ये केसरिवत् कृशां पृथुकटिं चित्रोर्मिमच्छाटिकां,
दोर्वल्लीविलसन्महाद्भुतमणीकेयूरचूर्णावलिम्।
कर्णोद्ध्वार्द्भुतकर्णपूरविलसत्ताटङ्कदिव्यच्छटां
श्रीनासातिल पुष्प रत्नकनकाबद्धस्फुरन्मौक्तिकाम् ॥६-५७॥

—उनकी कमर सिंह की कमर जैसी पतली है, विशाल नितंब हैं, लहराती हुई विचित्र साड़ी पहिने हैं, बाहुलताओं में अत्यन्त अद्भुत मणि, केयूर, चूड़ा आदि धारण किये हैं, कानों से ऊपर अद्भुत झुमके तथा बालियों की अलौकिक छटा बिखर रही है, तिल के फूल की तरह नाक है जिसमें रत्न तथा सुवर्णजड़ित मोती शोभा दे रहा है।

दीव्यद्दाडिमबीजपंक्तिदशनां माधुर्यवन्यावहद्—
बिम्बोष्ठीं मदखञ्जरीतनयनां कन्दर्पचापभ्रुवम्।
भ्राजत्काञ्चनपद्मकोशवदनानन्तेन्दुकोटिच्छविं
भङ्गीकोटिमहामनोहरनवस्वर्णैकवल्लीतनुम्।

दाँतों की पंक्ति चमकते अनार के दानों की भाँति है, बिम्बफल के समान ओठों से माधुर्य का झरना फूट रहा है, मतवाले खंजन के से दोनों नेत्र हैं, कामदेव के धनुष के समान भौहें हैं, मुख-कमल से प्रकाशमान सुवर्ण-कमल की सी करोड़ों झलकें फूट रही हैं तथा सारा शरीर ऐसा है जैसे मनोहर, नवीन सोने की लता हो।

कूजन्नूपुरकिङ्किणीगणझनत्कारैर्महामञ्जुलां
प्रेयः कर्मसु संभ्रमेण प्रणयाद् यान्तीं मदेतस्ततः।
आलोलाञ्चलगुच्छनील सुतनून्मीलन्निचोलावृतां
व्रीडाभङ्गिममन्दहासकुटिलेक्षादिस्वभावाद्भुताम् ॥६-५९॥

—शब्द करते हुए नूपुर तथा किङ्किणियों की झंकार से वह अन्यन्त सुन्दर हैं, दिखती प्रियतम युगल-किशोर के कार्य-गौरव के मद में प्रेमवश प्रतिक्षण इधर-उधर

तदेवैकनिजनिष्ठामाह । तादृग्मनोमत्ततायां सर्वेन्द्रियाणामपि तदेकप्रवणता जाता। तां दृष्ट्वाचार्यवपुषि वर्तमानामपि साधकानुशासनार्थं वाञ्छति ।

राधेति नामामृतं रसयितुमास्वादयितुं मे जिह्वा सदा मधुर-प्रियाविह्वला भवतु, आस्वादं कारं कारं तद्रसविवशैवास्तु, न तदितरास्वाद-स्मृतिरस्तु । वैह्वल्यं प्रेमव्याकुलत्वम् । तत्र द्रवेण क्षामाक्षरता ज्ञायतेति । जिह्वेत्यत्र लिह् आस्वादने जिह्वेति साधुरित्यमररामाश्रमीटीकायाम् । तेनास्वादनधर्मः सुष्ठु संपन्नः। अमृतेत्यनेन दिव्यतोक्ता। न च रकारधकारौ प्राकृतवर्णौ । तयोश्च रसात्मकत्वस्य मन्मनोरसनं च साक्षिणीति । अतो रसात्मकाया नामापि रसमयमेवेति । एवं वक्तृधर्मस्तत्र लग्नः ।

अथ पदोर्गतिर्धर्मस्तस्यापि सुगतिरत्र वन एवास्त्वित्याह तस्याः

रसकलश

अपनी वही अनन्य निष्ठा यहाँ बताई गई है। मन की वैसी उन्मत्त दशा में सब इन्द्रियाँ केवल श्रीराधिका ही के प्रति आसक्त हो गई हैं। यह देखकर, यद्यपि आचार्य-रूप में वह निष्ठा पहले ही से उनमें विद्यमान है, तथापि साधकों को शिक्षा देने के उद्देश्य से यहाँ उनका निर्देश करना चाहते हैं—

राधानाम के अमृत-रस का अस्वादन करने के लिये मधुर रस की चटखार मेरी जीभ सदा लालायित रहे, बार-बार नामामृत को चखकर उसके रस के लिए विवश हो जाय, उससे भिन्न अन्य किसी (नाम या पदार्थ) के स्वाद की याद ही भूल जाय। 'विह्वलता' का अर्थ है प्रेम की व्याकुलता। इस अवस्था में आनन्दानुभूति में हृदय के द्रवित हो जाने के कारण जिह्वा से अक्षरों का यथावत् उच्चारण नहीं होता। अमर-कोष की रामाश्रमी टीका के अनुसार 'जिह्वा' शब्द आस्वादनार्थक लिह् धातु से निष्पन्न है और इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिह्वा द्वारा आस्वादन का कार्य भली भाँति सिद्ध है। 'अमृत' से अभिप्राय अलौकिकता का है। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि 'राधा' नाम के दोनों अक्षर—रकार और धकार मुख्यतः प्राकृत भाषा[२] में ही प्रयुक्त होते हैं। इन दो वर्णों में से जो सरस ध्वनि निकलती है उसके साक्षी मेरा मन और जीभ है। अतः कहना होगा कि रसस्वरूपा राधा का नाम भी रसमय है। वक्ता की भावना उस शब्द में निहित है।

अब पैरों का धर्म है गमन चलना फिरना। उस गमनरूप क्रिया की सार्थकता यहाँ वृन्दावन में ही है। श्रीमती राधा के परम कोमल चरणों से चिन्हित

जाती-आती रहती हैं, हिलते हुए अंचल के गुच्छों से नील आभावाली उनकी सुन्दर देह से चोली झाँकती रहती है।

२. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं च प्राकृतम्—हेमचन्द्र। 'तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः।—काव्यादर्शः १–३३

श्रीमत्याः पदकौ परमसुकुमारौ चरणौ, ताभ्यामङ्किताासु । अङ्काः यवच्छत्र-कमलध्वजपताकांकुशाः सप्त वामपदस्थाः, अथ शंखमत्स्यवेदिरथशैलकुण्डल-गदाशक्तयः, इत्यष्टौ दक्षिणपदस्था उज्ज्वले प्रोक्ता एव । तैश्चिन्हितासु वृन्दाटवीवीथिषु विचरतामिति । अत्रापि सप्रेमविचरणं ज्ञेयम् । किञ्च तत्र तत्र चिन्हदर्शनान्देन कथं प्रेम नोदियात् । एवं पद् गतौ धात्वर्थएतत्पदत्व-मुक्तम् ।

करस्तत्कर्मैव करोत्वित्यत्र डुकृञ् करणे करणार्थेन श्रीमत्या एव सेवाकर्म यावत् तत्संबन्ध्येव करोतु न चेतरसंबन्धम् ।

हृदयं दृष्टश्रुतपदार्थं हरतीति, ह्रियतेऽनेन वा—तस्याः पदं चरणं ध्यायतां, न चान्यत् । अत्राप्येवकारः हृदपि तदेव हरतामित्यर्थः ।

एवं कायवाङ्मनोधर्मप्रवणतायामुक्तायां रतिरपि स्थायिनी तत्रैवार्थत उक्ता ज्ञेया ।

अहो तत्कान्ते कथं न प्रवणता यत्र तत्र युगलास्वादे कृते । अधु-नैवकारेण तदितरव्यावृत्तौ । स्वित् कान्तोऽपि किं व्यावृत्तस्तत्राह—

रसकलश

श्रीवृन्दावन की गलियों में मेरे पैर विचरण करें। राधाजी के 'उज्ज्वलनीलमणि' के अनुसार जौ, छत्र, कमल, ध्वज, पताका, अंकुश—ये सात चिह्न बाँए पैर में और शंख, मछली, वेदी, रथ, पर्वत, कुंडल, गदा, शक्ति—ये आठ दाँये पैर में पाये जाते हैं। उनसे चिह्नित वृन्दावन की गलियों में मेरे पैर घूमें'। यह समझ लेना चाहिए कि घूमने का अर्थ यहाँ,प्रेम-सहित घूमना है। फिर स्थान-स्थान पर जब श्रीराधा के पदचिन्ह दिखाई देते हों और तब आनन्द आए, तो प्रेम क्यों नहीं उत्पन्न होगा? इस प्रकार गमनार्थक पद् धातु से बने 'पाद' शब्द के द्वारा पैरों के राधापरक होने का अभिप्राय सूचित किया गया है।

'हाथ उन्हीं का काम करें' इस वाक्य में 'करोतु' क्रिया कारणार्थक डुकृञ् धातु से निष्पन्न है जिससे यह अभिप्राय अभीष्ठ है कि श्रीमती के सेवारूप जितने भी कार्य हैं उन्हें राधा-सम्बन्ध से ही करें, न कि अन्य किसी सम्बन्ध से।

'हृदय' शब्द का व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है—जो देखे या सुने हुए पदार्थ को हरण करे अपने में स्थान दें। अथवा (कर्मवाच्य में) जिसके द्वारा हरण किया जाए। तो हृदय उन्हीं के चरणों का ध्यान करे, न कि और किसी का। यहाँ भी 'एवं' (ही) लगा हुआ समझना चाहिए। तब अर्थ होगा—हृदय भी उनके ही चरण कमल का ध्यान करे। इस प्रकार शरीर, वाणी, मन से श्रीराधिका के प्रति तत्परता का कथन करने के उपरान्त यह भी बता दिया कि स्थायी रति उनमें ही हो सकती है।

यहाँ शंका उठती है कि कई स्थानों पर जब कि युगल-स्वरूप के ध्यान का आस्वादन किया गया है, तो राधिका के प्रति श्रीकृष्ण के प्रति तत्परता क्यों नहीं है?

परं केवलं तस्याः श्रीराधाया भावो भक्तिः प्रेमास्पदता तस्यौत्सुक्येन, तत्संबन्धेन तत्प्राणनाथे पत्यौ रतिः प्रीतिरस्तु, न तु स्वातंत्र्येण, तां पृथक्कृत्येत्यर्थः। मत्स्वामिन्या वरोऽयं, प्राणप्रियोऽयं, यदस्याः प्रियस्तन्मम परमप्रिय इति। यद्वा यथा पूर्वमादौ परिभाषायामुक्तम्—'रसोपसर्जनीभूतोभावो मुख्यो रसः स्मृतः' इति। यथा च 'न जानीते' इति पद्ये "रसं राधायामामाभजति किल भावं व्रजमणौ" इत्यनेन स्वदास्यसख्यरसः श्रीमत्यामेव पूर्णममत्वविशिष्टः। अथ श्रीकृष्णे तत्संबन्धेन भाव इति, रसस्तु सखीरूपे एव। आचार्यवपुषि तु भावो, यथा— 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते।' इत्येवं रीत्या सेव्येष्टमिदम् यथा च पूर्वं 'राधायाश्चरणाम्बुजं परिचरन् नानोपचारैर्मुदा' इत्युक्तमेव। अत्रापि 'तस्याः पदं ध्यायताम्' इत्यनेनाराधनीयतैवोक्ता। अन्यच्च लोकेऽपि यदा यदुत्सव आरभ्यते तदा तन्मुख्यसंबन्ध्यायनं विना नैवसिद्धयेदेवं तत्प्राणनाथं विना

रसकलश

अब उपकर 'एव' (ही) शब्द के द्वारा जब राधा पर ही सब जोर दे दिया है, तथा उनके सिवा अन्य पदार्थों की तरफ से उदासीन रहने की बात कही गई है, तो (उपासना-क्षेत्र में) स्वामी श्रीकृष्ण का एक प्रकार से प्रत्याख्यान ही हो गया। इस पर कहते हैं—

किन्तु केवल राधिका के भाव की, भक्ति की, या कहिये कि उनके प्रेमाश्रय होने की उत्कंठा के कारण, उसी (राधा-) सम्बन्ध से उनके प्राणनाथ पति में रति, प्रीति हो, न कि स्वतन्त्रता पूर्वक—अर्थात् राधा से उन्हें पृथक् मान कर। इस भाव से श्रीकृष्ण से प्रेम करे कि यह मेरी स्वामिनी के वर हैं, उन्हें प्राणों से भी प्यारे हैं और यह कि जो इनके प्यारे हैं वे मेरे भी प्यारे हैं। अथवा, जैसा कि परिभाषा करते समय पहले कह आए हैं, भाव तो गौण रूप से रस का सहायक होता है, मुख्य तो रस ही है। 'जो संसार को नहीं जानता···' " एतदर्थक पद्य में आगे कहा गया है कि 'जिसे राधा में रस मिलता है और व्रजशेखर श्रीकृष्ण में भाव, जिसके अन्तरतम में यह भावना घर कर गई है उसकी गति साधारण जन से भिन्न होती है'। यह कह कर हितमहाप्रभु ने यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि श्रीमती राधा में ही उनके दास्य और सख्य रस की निष्पत्ति ममता की समस्त विशेषता लेकर होती है, यह कि राधा के संबन्ध से श्रीकृष्ण में भाव होता है, रस तो सखीरूप में ही संभव है। आचार्य रूप में तो भाव ही है। इस रीति से इष्ट स्वामिनी ही आराधनीया हैं। इससे पहले भी कह आये हैं—'अनेक प्रकार के उपचारों से प्रसन्नता पूर्वक राधा के चरण-कमल की

---

१. रा० सु० पद्य १४६।

कथं सा प्रसीदेत्, कथं च प्रसादं विना परिजनानन्दः, इति कृत्वा भावानन्द-वृद्ध्याशंसनेन तत्कान्ते रतिरिति, न चात्रान्यार्थभ्रान्तिः। यथा च कुन्ती-वाक्यम् 'रतिमुद्वहतादद्धा गंगेवौघमुदन्वति' इतिवत्। एवं पक्षविशेषमाधुर्य-मुक्तम्। आशीः प्रेरणाद्येन साधकता स्पष्टैव। सिद्धपक्षे वर्तमानानुभवा-नन्देन तदेवाशंसते इति ज्ञेयम् ॥१४॥

ननु रत्याशंसने रतिरागमिष्यत्येव ततः कृष्णपदाराधनं पूर्णभावेन स्यात्, ततस्तदसाधारणानन्दाकर्षणशक्तेर्मनः सर्वथैव पूर्णभावात् संचारि भवितैव, कथं श्रीराधायां पूर्णरतिः स्थायिनी तव तिष्ठेत्? इति चेत्तत्राह—

मन्दीकृत्यमुकुन्दसुन्दरपदद्वन्द्वारविन्दामल
प्रेमानन्द ममन्दमिन्दुतिलकाद्युन्मादकन्दं परम् ॥

रसकलश

सेवा करता हुआ मैं (वेदान्त-सिद्धान्त से भी ऊपर कब उठूंगा)[२]। प्रस्तुत पद्य में भी 'मेरा हृदय उन्हीं के चरणों का ध्यान करे' यह कह कर सिद्ध कर दिया है कि राधा ही आराधना के योग्य हैं। संसार में भी यही देखा जाता है कि जब जिसका उत्सव किया जाता है उसके मुख्य संबन्धियों को बुलाये बिना काम नहीं चलता। इसी प्रकार अपने प्राणनाथ के बिना राधा कैसे प्रसन्न होंगीं, और यदि प्रसन्न नहीं होतीं तो उनके परिकर (सहचरी वर्ग) को कैसे आनन्द मिलेगा? यह मान कर, इस आशा से कि यदि प्रिया जी की श्रीकृष्ण में रति होगी, तो हम सखियों के प्रेमानन्द में भी वृद्धि होगी सखियाँ अपने स्वामी श्रीकृष्ण में प्रीति रखती हैं। इसके सिवा भ्रमवश और कोई अर्थ लगाना ठीक नहीं होगा।

कुन्ती ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा—'हे मधुपते! मेरी बुद्धि एकान्त भाव से निरन्तर आपके प्रेम को उसी प्रकार धारण करे जैसे गंगा अपने प्रवाह को समुद्र में ले जाती है।' इस प्रकार यहाँ राधिका के प्रति अपने पक्षपात से उत्पन्न विशेष प्रकार के माधुर्य का निर्देश किया गया है। पद्य की क्रियाओं में लोट् लकार के प्रयोग द्वारा अभिलाषा-संवलित अनुरोध के द्वारा साधकावस्था सूचित की गई है। सिद्धा-वस्था के पक्ष में नित्य-नित्य अनुभव किये जाने वाले आनन्द को ध्यान में रख कर पुनरपि वैसे ही आनन्द का आस्वादन करते रहने की कामना प्रकट की गई है ॥१४१॥

शंका होती है कि श्रीकृष्ण में रति-भाव की इच्छा रखने से रति पैदा होगी ही और तब उनकी आराधना भी पूर्ण भाव से होगी। उसके बाद श्रीकृष्ण की आकर्षण शक्ति के बल से साधक का मन राधा-भाव से हट कर श्रीकृष्ण की तरफ चला जाएगा। ऐसी स्थिति में राधा में पूर्ण रति कैसे संभव है? इस पर कहते हैं—

२ रा० सु० पद्य १३८।

राधाकेलिकथारसाम्बुधिचलद्वीचिभिरान्दोलितं
वृन्दारण्यनिकुञ्जमन्दिरवरालिन्दे मनो नन्दतु।।१४२।।

अमन्दं इन्दुतिलकाद्युन्मादकत्वं मुकुन्देत्यादिविशिष्टप्रेमानन्दं मन्दीकृत्य परं केवलं राधेत्यादि विशिष्टवीचीभिरान्दोलितं मे मनो वृन्दारण्येत्यादिविशिष्टालिन्दे नन्दतु, इत्यन्वयः।

मुकं मोक्षं ददातीत्यनेन मूलप्रकृतिपर्यन्तक्लेशनिवारकत्वेन कस्य प्रेमास्पदं नस्यादित्यपि जाने। 'अंशानां परमांश्येव ध्येयः' इत्यपि प्रेमास्पदतां जाने। तत्रापि 'सुन्दरे' इति कोटिकन्दर्पलावण्यस्य पदसौन्दर्यं कंजवत्, कंजादपि च सौकुमार्याद्यलौकिकगुणानपि च। तस्य द्वन्द्वस्येति वामदक्षिणांकवृन्दसौष्ठवध्यानानुभवादुक्तिः। अमलो निष्कामः। अथ सकामोऽपि यत्र प्रेमा निष्कामपर्य्यवसाय्येव। यथा दशमे श्रीकृष्णवाक्यम्—

रसकलश

'मेरा मन शिव आदि (शुद्ध-बुद्ध आत्माओं) को भी अत्यन्त मत्त बना देने वाले श्रीकृष्ण के सुन्दर चरण-कमलों (की आराधना से प्राप्त होने वाले) प्रबल प्रेमानन्द को शिथिल कर राधा की विहार-क्रीड़ा-विषयक चर्चारूपी रस-समुद्र की बल खाती हुई तरंगों से झोका खाता हुआ वृन्दावन स्थित निकुंज-गृहों के भव्य प्रांगणों में आनन्द का अनुभव करता रहे' ।।१४२।।

शिव आदि के उन्माद के कारणभूत मुकुन्द आदि विशेषणों से युक्त प्रेमानन्द को मन्दकर केवल राधा आदि से विशिष्ट तरंगों से आन्दोलित मेरा मन वृन्दावन आदि विशेषणों से युक्त प्रांगण में प्रसन्न रहे—यह हुआ अन्वयार्थ।

'मुकुन्द' का अर्थ है—जो 'मुकु' अर्थात् मोक्ष को दे। इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकृति की अविकृत अवस्था पर्यन्त जीव का क्लेश निवारण करने के कारण श्रीकृष्ण को कौन प्रेम नहीं करेगा—यह भी मैं जानता हूँ। 'अंशावतरों में सर्वोपरिस्थित अंशी श्रीकृष्ण का ही ध्यान करना चाहिये'—इत्यादि वचनों के अनुसार यह भी जानता हूँ कि श्रीकृष्ण प्रेमपात्र हैं। उस पर भी वह सुन्दर हैं। करोड़ों कामदेवों के समान वे सुन्दर हैं और उनके चरणों का सौन्दर्य कमल की भाँति है, बल्कि कमल से भी बढ़कर। इस प्रकार यह भी मुझे मालूम है कि उनके श्री चरणों में सुकुमारता आदि अनेक गुण हैं। 'पदद्वन्द्व' में द्वन्द्व (जोड़ा) शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि चरण-युगल के सम्बन्ध में कहते समय हितसखी को बाएँ पैर के शंख, कमल आदि चिन्हों की शोभा का ध्यान हो आया था। 'अमल' से तात्पर्य निष्काम प्रेमानन्द का है। जहाँ प्रेम कामना सहित होता है वहाँ भी अन्त तक पहुँच कर वह निष्काम हो जाता है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण की उक्ति है—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिताः क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेष्यते ।

इति । पुनश्च गीतायाम्—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।

इति निर्देशेन (यदि) तद्धर्मस्यैवं, तदा शुद्धप्रीतेः कैमुत्यमेवायातम् । तादृश-प्रेमस्वरूपं तदानन्दमपि जाने । तत्र 'अमन्दम्' इति सदा चिरकालावधि-तमखण्डमिति च पुनश्च इन्दुस्तिलकं यस्येति शिवः नित्यामृतासवास्वादी वा । (अनेन) ऐश्वर्यविशिष्टता गृहीता । तदादित्वात् तादृशा एव शेषविधि-सनकनारदाद्याः पूर्णैश्वर्यानुभविनश्च । तदैश्वर्यभावमप्युन्मर्द्य तेषामुन्माद-कारणम्, यथा 'संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः' इति निर्देशेन पूर्णतम-श्रीकृष्णसौन्दर्ये किमु वाच्यम् । किञ्चैश्वर्यपर्यवसायिदृष्टया-माधुर्यमोहनादि

रसकलश

'जिसकी बुद्धि मुझ में लगी रहती है उसकी कामनाएँ अन्त में समाप्त हो जाती हैं । भुने अथवा उबले हुए अन्न के दाने बीज के काम नहीं आते ।'

गीता में भी ऐसा ही कहा है—

'यहां प्रारंभ किये गए धर्म कार्य का नाश नहीं होता और न विघ्नों का डर रहता है । इस धर्म का थोड़ा-सा अंश भी बड़े भारी भय से मनुष्य की रक्षा करता है ।'

इन कथनों के अनुसार यदि भागवत धर्म की ऐसी महिमा है तो शुद्ध प्रेम का तो फिर कहना ही क्या । इस प्रकार के प्रेमानन्द को भी मैं जानता हूँ ।

प्रेमानन्द को 'अमन्द' (तीव्र) इसलिये कहा गया है कि वह काल की सीमाओं में बँधा नहीं है और अखंड है । फिर चन्द्रमा जिनके मस्तक का भूषण है उन शिवजी को भी श्रीकृष्ण विषयक प्रेमानन्द उन्मत्त बना देता है । अथवा मस्तक पर चन्द्रमा के होने से शिव अमृतरूपी मदिरा का पान करते रहते हैं । 'इन्दुतिलक के इस अर्थ से शिव के ऐश्वर्य-संपन्न होने का बोध होता है । 'इन्दुतिलक' के बाद 'आदि' शब्द का जो प्रयोग किया गया है उससे शिव के समकक्ष शेष, ब्रह्मा, सनक, नारद आदि भी उसी गणना में आ जाते हैं जो कि ऐश्वर्य का भोग करते हैं । उन सब के ऐश्वर्य का भी मर्दन करने वाला श्रीकृष्ण का प्रेम है । भागवत में कहा भी है—'अक्षर ब्रह्म का जो सेवन करते हैं उन ऋषि-मुनियों के भी मन और देह को आन्दोलित करने वाला (श्रीकृष्ण प्रेम है) । इस कथन के अनुसार पूर्णकलावतार श्रीकृष्ण के सौन्दर्य के बारे में तो कहा ही क्या जाय ? यह सब मैं जानता हूँ । दूसरे, उनके दृष्टिकोण से

तेषां सामान्यमेव लगति । तादृशानामप्युन्मादकं, तदा मोहनमात्रं किमु वाच्यम् । तदपि जाने, इति भावः ।

तमेतादृशममन्दमपि केनचित् प्रेमानन्दबलेन मन्दीकृत्य, सापेक्षत्वेनाव लोकयेत्यर्थः । किञ्च 'राधादास्य' मिति पद्ये', किंच 'श्यामरति प्रवाहलहरी बीजं न ये तां विदुः' इत्युक्त्वा-सर्वप्रेमास्पदस्यापि प्रेमास्पदानिरपेक्षेत्या-यातम् ।

'राधे' ति । तादृशमुकुन्दस्यापि प्रेमसंसिद्धिरूपा-तस्या-प्रसादजकेलि स्तस्याः कथा-सजातीय समाजकृतकथनं, तदेव रस आस्वाद्यस्तस्या-म्बुधिरपारपारावारस्तस्य चलन्तीभिर्वीचिभिः प्रेमानन्दघूर्णनैर्यत्र तत्र संकीर्तितैस्तरंगैरान्दोलितं मन्मनः । किं वा नित्यकेलिः श्रूयते, अहो उत्सव-

रसकलश

माधुर्य, मोहकता आदि गुण अन्त में ऐश्वर्य में समाप्त होते हैं । अतः उन्हें वे साधारण ही प्रतीत होते हैं । उन शिव, ब्रह्मा आदि जैसे देवों को भी श्रीकृष्ण-प्रेमानन्द उन्मत्त बना देता है, तो केवल उन्हें मोहित करने की तो बात ही क्या है । यह सब मैं जानता हूँ, यह भाव है ।

इस प्रकार के श्रीकृष्ण विषयक आनन्द को भी किसी अनिर्वचनीय प्रेमानन्द के बल से मन्द करके—अर्थात् यह विचार कर कि श्रीकृष्ण की आराधना से प्राप्य प्रेमानन्द अपनी पूर्णता के लिए राधा-दास्य की अपेक्षा रखता है । मेरा मन किसी निकुंज-मन्दिर के आँगन में रमता रहे । दूसरे यह कि 'राधादास्यमपास्य'' इस पद्य में कहा गया है कि 'राधा की दासता से दूर रह कर जो व्यक्ति गोविन्द के प्रेम को प्राप्त करने का प्रयास करता है और श्यामविषयक प्रीति के प्रवाह की मूल कारण-भूत राधिका को नहीं जानता, वह बिना पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र से परिचित होना चाहता है ।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि पूर्णप्रेम के पात्र श्रीकृष्ण को भी राधाप्रेम की अपेक्षा है ।

पद्य के तृतीय चरण की व्याख्या करते हुए कहते हैं—उस प्रकार के मुकुन्द का प्रेम जहाँ सफल होता है उस राधा की प्रसन्नतासूचक विहार-केलि की अपने जैसे समाज में की गई चर्चा का जो आस्वाद करने योग्य रस, उसके अपार समुद्र की आगे बढ़ती हुई तरंगों से मेरा मन चंचल हो उठा है । प्रेमानन्द में तरंगों-जैसी घुमेर आती हैं । तरंगें जिस प्रकार झूलती हुई आगे बढ़ती हैं वैसे ही राधा के प्रेम में झूमने का भी सखी-समाज में संकीर्तन होता है और इस तरह वे फैलती ही जाती हैं । फिर ये विहार-क्रीड़ाएँ भी विविध प्रकार की होती हैं । किसी कुंज में नित्य-केलि है, तो कहीं उत्सव-केलि, रास-केलि, कुंजशय्या-केलि की चर्चा सुनी जाती है ।

केलिः श्रूयते, रासकेलिः कुंजशय्या-केलिर्वेति सर्वत्रास्वादातिशयलोभेनास्थिरमिति ।

'वृन्दारण्ये' ति—प्रख्यातबहुप्रभावस्य वनस्य वनस्पतिकुञ्जमन्दिराणि तत्केलिविशिष्टानि विश्रुतान्येव । तेषां वरे श्रेष्ठे, पदचिन्हदर्शनकेलिसूचक शब्दश्रवणसान्निध्यात् परमरमणीये अलिन्दे अंगणे नन्दतु, अत्र स्थायिभावानन्दं प्राप्नोतु, नान्यत्रानन्दबुद्धया तिष्ठतु । किंच 'कालिन्दीतटकुञ्जमन्दिरगत' इत्यत्र 'यत्पदज्योतिर्ध्यानपरः सदा जपति मां प्रेमाश्रुपूर्णो हरिः' इति, 'निजप्रियतमापदे रसमये दधद्यः शिरः' इति, 'यत्-किंकरीषु बहुशः खलु काकुवाणी' इत्यादिभ्यः पूर्वोक्त प्रशस्योऽपि प्रियो यन्निकुञ्जाजिरेऽञ्जसेश्वैश्वर्यं विस्मृत्य प्रियानुगतो रमते दृष्टिपथमेष्यति, अहो तदानन्दमहिमा-किमु वाच्यः, इति भावः । न च स्वप्रेमानन्दमन्दीकरणे तत्क्षोभ इति

रसकलश

इसके दर्शन करके अधिकाधिक रस पाने के लोभ को संवरण न कर सकने के कारण मेरा मन स्थिर नहीं रह पाता ।

वृन्दावन नाम से प्रसिद्ध प्रभावशाली वन में लता-पत्ता के बने जो निकुंज मन्दिर अर्थात् राधा की क्रीड़ाओं से विशिष्ट विख्यात स्थल हैं, उनमें सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त सुन्दर, क्योंकि वहां राधा के पद-चिह्न दिखाई देते हैं और विहार-क्रीड़ा की प्रतीति कराने वाले शब्द बिलकुल पास से सुने जा सकते हैं—किसी कुंज के आँगन में मेरा मन प्रसन्न रहे—स्थायी प्रेम-भाव का आनन्द प्राप्त करे, न कि उसको पाने की इच्छा से और कहीं ठहरे । दूसरी बात यह है कि 'कालिन्दी तट कुंज मन्दिर गतो···' इस पद्य में[1] कहा गया है कि 'राधा की चरण ज्योति के ध्यान में डूबे हुए हरि प्रेम के आंसुओं से भीगकर उसके नाम का ही जाप करते हैं; यह कि श्री कृष्ण राधा के रसमय चरणों में सिर धरे रहते हैं;[2] और वे प्रायः राधिका की सेविकाओं की खुशामद करते रहते हैं ।[3] इन उक्तियों के अनुसार शिव, ब्रह्मादि से प्रशंसित भी प्रिय जिसके निकुंज मन्दिर के आँगनों में अपने ऐश्वर्य को एक बारगी भूलकर प्रिया का अनुगमन करते हुए रमण करते देखे जाते हैं, अहो! उस आनन्द की महिमा का क्या वर्णन किया जाय, यह भाव है । यह नहीं समझना चाहिए कि राधिका के प्रेमानन्द की तुलना में अपने प्रेमानन्द को कमजोर पड़ते देख श्री कृष्णा के मन में किसी प्रकार की झुंझलाहट होती है । पुनश्च 'अनुल्लिख्यानन्तानपि'[4] इस पद्य में कहा गया है कि 'हे राधे! केवल आप का नाम लेने वाले सत्पुरुषों के अनन्त अपराधों पर बिना ध्यान दिए, आपके प्रेम-रस में मग्न श्रीकृष्ण यह सोचते हैं कि इन्हें देने के लिये मेरे पास क्या है ।

१. रा० प्र० ९५, २. रा० प्र०—१११, ३. रा० प्र० ७,

वाच्यम्। किञ्च 'अनुल्लिख्य' इत्यत्र पद्ये 'न चैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरसं। महिम्नः कः सीमां स्पृशति तव दास्यैकमनसाम्' इति स्वभजनादपि तद् भजने परमप्रीतो भवतीति ज्ञेयं, तदेव श्रेष्ठत्वात्।

'आन्दोलित' मिति। यथा किञ्चिद् वस्तु प्रवाहपतितं तत्पुलिनाङ्गणे लुठद्भवति, तादृशलुंठन एवानन्दंमन्येन च परमैश्वर्यानन्दसाम्राज्यलाभ इतिभावः। एवं स्वपूर्णरतिस्थितिरुक्ता ॥१४२॥

ननु तत्पूर्णतालाभोऽस्तु, परन्तु सर्वैश्वर्यसुखानादरे को वा सर्वोत्कृष्टोऽर्थः सेत्स्यति, किंवा साधनं साध्यं च येनार्थसिद्धिः सुखपर्य्यवसायिका-स्यात्, 'सर्वा क्रिया फलान्ता' इति न्यायात्। तत्राह—

राधानामैव कार्यं ह्यनुदिनमिलितं साधनाधीशकोटि-
स्त्याज्यो नीराज्य राधापदकमलसुधां सत्पुमर्थाग्रकोटिः।
राधापादाब्जलीला भुवि जयति सदामन्दमन्दारकोटिः,
श्रीराधाकिंकरीणां लुठति चरणयोरद्भुता सिद्धिकोटिः
॥१४३॥

रसकलश

आपकी सेवा में अनन्य भाव से तत्पर भक्तों की महिमा की सीमा-रेखा-तक भी कोई फटकने नहीं पाता।' इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि श्री कृष्ण एक बार अपने भजन से इतना प्रसन्न नहीं होते जितना कि राधिका के भजन से, क्योंकि वही श्रेष्ठ है।

'आन्दोलितम्' का आशय यह है कि धारा में पड़ी कोई चीज जैसे नदी के पुलिनरूपी आंगन में लुढकती रहती है, कुछ उसी प्रकार किसी लता-मन्दिर के आँगन में लोटते हुए मुझे आनन्द मिलता है। वैसा आनन्द विशाल ऐश्वर्य के भोग में अथवा साम्राज्य मिलने पर भी नहीं होगा। इस प्रकार ग्रन्थकार ने राधास्थित पूर्ण रति का यहाँ वर्णन किया है ॥१४२॥

अग्रिम पद्य की उत्थानिका के रूप में ग्रन्थकार शंका करते हैं—माना कि राधा में रति की पूर्णता मिलती है, परन्तु उसके लिये ऐश्वर्य के समस्त भोगों को ठुकराने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? क्या कोई ऐसा-साधन और साध्य है जिससे प्रयोजन भी सिद्ध हो जाय और अन्त में सुख भी मिले, क्योंकि सामान्य धारणा यही है कि सब कार्यों का एक फल अवश्य होता है। इस पर कहते हैं—

नियम से राधा नाम लेना मेरा प्रति दिन का आवश्यक कर्म होना चाहिए। ज्ञान वैराग्यादि करोड़ों श्रेष्ठ साधनों एवं मुक्ति आदि से भी अधिक मान्य वैकुण्ठ-धाम आदि पुरुषार्थों को छोड़ देना चाहिए। करोड़ों कल्पवृक्षों को भी तुच्छ सिद्ध करने वाली राधिका के चरण-कमलों की लीला ही पृथ्वी पर अपने समस्त उत्कर्ष के थसा

विद्यमान रहती है। आश्चर्यजनक करोड़ों सिद्धियाँ श्रीराधा की दासियों के चरणों में लेटती रहती हैं ॥१४३॥*

*श्री राधासुधानिधिस्तोत्रम् (श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई में मुद्रित, संवत् १६६४, पृष्ठ-संख्या ६६ पर) के टीकाकार श्रीमद्गोस्वामी कृपालाल ने इस पद्य का अर्थ भिन्न रीति से किया है जिसे समझने के लिए, उनके अनुसार पद्य का अन्वय लिख देना उचित होगा—

"हि राधानामैव अनुदिनं मिलितं (चेत्) कार्यं (संपन्नम्) श्री राधापदकमलसुधां नीराज्य सत्पुमर्थाग्रकोटिस्त्याज्यः (भवति)। अमन्दमन्दार कोटिः राधापदाब्जलीला-भुवि सदा जयति। श्री राधाकिंकरीणां चरणयोः अद्भुतासिद्धिकोटिः लुठति।

अर्थ— यह निश्चित है कि यदि राधा नाम ही प्रतिदिन लेने को मिल जाय तो समझो कि काम बन गया। (राधा पद कमल सुधा की आरती उतार कर कोटि-कोटि श्रेष्ठ पुरुषार्थ त्याज्य हो जाते हैं। करोड़ों कल्पवृक्षों को श्री हीन कर देने वाली श्री राधाचरण-कमल की लीला की पृथ्वी पर जय हो। कोटि-कोटि अद्भुत सिद्धियाँ भी राधा की सेविकाओं के पैरों में लोटती रहती हैं।

रसकुल्याकार ने जो अर्थ किया है उसके अनुसार अन्वय इस प्रकार होगा—

अनुदिनमिलितं राधानामैव कार्यं, साधनाधीशकोटिः नीराज्यत्याज्यः। श्री राधापदकमलसुधां (प्रति) सत्पुमर्थकोटिः नीराज्यत्याज्यः···इत्यादि।

भिन्न-भिन्न अर्थों का कारण 'नीराज्य' पद है जिसकी संगति रसकुल्या में नहीं मिलती। 'सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया' के अनुसार संगति बिठानी ही है तो रसकुल्यानुसार 'नीराज्यत्याज्यः' को एक समासान्त पद मानना होगा जिसका विग्रह होगा—'पूर्वं नीराज्यः पश्चात् त्याज्यः'। तब अर्थ होगा—करोड़ों श्रेय साधनों को पहले मान्यता देकर बाद में (राधा पद कमल सुधा के आस्वाद की अनुभूति हो जाने पर) उन्हें त्याग देना चाहिए।

गोस्वामी कृपालाल जी ने 'नीराज्य' को ल्यप्-प्रत्ययान्त मानकर और 'राधापदकमल सुधाम्' को उसका कर्म बनाकर अपना रास्ता निकाल लिया है। रस कुल्याकार ने उसे प्रति के योग में (तुलनार्थ में, जैसे 'सहस्राणि प्रति', अथवा विरुद्ध अर्थ में, जैसे 'तदा यायाद्रिपुं प्रति) द्वितीया मान कर उक्त अर्थ किया है।

यह आश्चर्य है कि ऐसे भ्रामक पद की व्याख्या किये बिना ही रसकुल्याकार आगे बढ़ गए। बहुत सम्भव है, उनका मनोनीत अर्थ वह न हो जो हमने 'नीराज्यत्याज्यः' को समासान्त पद मानकर किया है। प्रतिलिपिकारों की असावधानी के कारण भी यह उलझन उपस्थित हो सकती है।

एक बात और। पद्य के प्रथम चरण में 'कोटिः' शब्द का प्रयोग पुंलिंग में किया गया है और चतुर्थ चरण में स्त्रीलिंग में। इसका समाधान 'लिंगमशिष्यं' लोकाश्रयत्वात् कह कर किया जा सकता है। पर 'कोटिः' शब्द का प्रयोग प्रायः होता पुंल्लिग में ही है, जैसे 'परां कोटिमानन्दस्याध्यगच्छम्' (कादम्बरी)।

'अनुदिनमिलितम्'—यथा द्विजस्याहरहः सन्ध्यामुपासीत, इत्यादि कार्यं प्रतिदिननियतमेव; यदारभ्य द्विजत्वं तदारभ्यैव वेदाज्ञया-सन्ध्योपास्त्यादि-दायप्राप्तमिव मिलितं, अन्यथा प्रत्यवायी स्यात्, तथैव मे प्रतिदिननियतं राधानामैवेति कार्यमावश्यको नित्यविधिरिति । तदितरत् सर्वमकार्यं निषेधः ।

अथ नैमित्तिकसाधनाशङ्कां दूरीकरोति—तन्नाम प्रत्येव साधनाधीश-कोटिर्नीराज्यत्याज्य इति । साधनानि यथा—'न साधयति-मां योग' इत्युक्तानि सर्वश्रेयसाधनानि तेषामधीशा ज्ञानवैराग्यमुक्त्यन्ता स्तेषामपि कोटिरिति । अर्थात् कोटिसाधनश्रेष्ठमिदमेवेति, फलरूपत्वात् । यथा—

यज्जप्तं सकृदेव गोकुलपतेराकर्षकं तत्क्षणात्,
यत्र प्रेमवतां समस्तपुरुषार्थेषु स्फुरेत्तुच्छता ।
यन्नामाङ्कित मंत्रजापनपरः प्रीत्या स्वयं माधवः
श्रीकृष्णोऽपि तदद्भुतं स्फुरतु मे राधेति वर्णद्वयम् ।।

रसकलश

'अनुदिनमिलितम्' का अर्थ यह है कि जिस प्रकार प्रतिदिन सन्ध्योपासन का विधान ब्राह्मण के लिये निश्चित कर दिया गया है—यज्ञोपवीत होने के बाद जिस क्षण से उसकी ब्राह्मण संज्ञा होती है, तब से ही लेकर वेदों की आज्ञानुसार सन्ध्योपासनादि कर्म उसे मानों उत्तराधिकार में प्राप्त होते है, अन्यथा विघ्नों का भय रहता है—उसी प्रकार नियमित रूप से राधा नाम लेना-मेरी आवश्यक नित्य विधि है। उसके अतिरिक्त और कार्य निषिद्ध हैं । यह तो हुआ नित्य साधन के सम्बन्ध में ।

अब नैमित्तिक साधन-सम्बन्धी शंका का निवारण करते हैं । राधा नाम के पक्ष में ही करोड़ों श्रेष्ठ साधनों को त्याग देना चाहिए । साधनों से अभिप्राय 'योग द्वारा मेरी सिद्धि नहीं मिलती' इत्यादि उक्तियों के अनुसार कल्याण के सब साधनों से है । ज्ञान, वैराग्य, भक्ति उन साधनों के स्वामी हैं । उन-जैसे भी कोटि-कोटि साधन हेय हैं । अर्थात् करोड़ों साधनों में राधानाम ही श्रेष्ठ साधन है, क्योंकि वह अन्य सब साधनों का फल है । कहा भी है—

'एक ही बार जपे जाने पर भी जो गोकुलपति को तत्काल आकर्षित कर लेता है, जिसमें प्रेम रखने वालों को समस्त पुरुषार्थों में तुच्छता प्रतीत होती है, जिस नाम से अंकित (द्वादशाक्षर) मंत्र का जाप करने में स्वयं माधव श्री कृष्ण भी प्रीति से तत्पर रहते हैं, वे 'राधा' इस नाम के दो अक्षर मेरे हृदय में स्फुरित हों ।'[1]

इत्यत्र भक्तिविषयोऽपि कृष्णो यां भजते तदा तन्नीराजने कः सन्देहः। भक्तिर्नीराजने स्वभाग्यं मनुते यदहं तन्नामारात्रिक सफला जातेति न भक्तैः क्षुभितव्यम्।

अथ साध्यपुरुषार्थान्तराशङ्कां दूरीकरोति—श्रीराधायाः पदकमलयोः सुधां कथामृतं प्रति सत्पुरुषार्थं मुक्त्यादयः—अन्ये भुक्त्यादयोऽसन्त इत्यर्थादागतम्—तुच्छा एव। तेषां मुक्त्यादीनामग्रा मुख्या ये सच्चिदानन्दघनविग्रहलोकादयस्तेषां कोटिर्नीराज्यत्याज्यो नतु ग्राह्य इति। अन्ये गृह्णन्त्वित्यर्थः। मम तु तत्पदसुधाकथैव सर्वपुरुषार्थ शिरोमणिरिति भावः। यया तद्भावोदयसिद्धिस्तया-तत्साक्षात्कार इति। अतएव यथा भागवते—'किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथामृतस्य', यथा नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादम्' इति। यथा च—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्,
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मुक्तानां किमुताशिषः।

इति यदा राधारसकथायाः कैमुत्यमेवायातं कथमन्ये पुरुषार्थास्तत्कल्पा

रसकलश

इस कथन के अनुसार जिसकी सब भक्ति करते हैं वह श्री कृष्ण भी राधा का भजन करते हैं, तो राधा-नाम की आरती उतारने में क्या सन्देह है? उनके नाम की आरती करने में भक्ति अपने को धन्य मानती है कि मैं उनके नाम की आरती कर सफल हो गई। श्री कृष्ण के भक्तों को इस पर कोई झुंझलाहट नहीं होनी चाहिये।

अब राधा-नाम के अतिरिक्त कोई अन्य पुरुषार्थ भी हो सकता है, इस शंका-को दूर करते हैं—श्री राधा के चरणकमलों के कथामृत की तुलना में मुक्ति आदि उच्च पुरुषार्थ तुच्छ ही हैं। और जब मुक्ति भी तुच्छ तो सांसारिक भोग आदि की पुरुषार्थ के रूप में कोई सत्ता ही नहीं रह जाती, यह स्वतः समझ लेना चाहिये। उन मुक्ति आदि पुरुषार्थों में भी वैकुण्ठधाम आदि मुख्य हैं जहां भगवान सत्-चित्-आनन्द स्वरूप में विराजमान रहते हैं। ऐसे लोक यदि करोड़ों की तादाद में मिलें, तो भी उन्हें छोड़ देना चाहिये, न कि ग्रहण कर लेना चाहिये। और लोग उन्हें अपनायें, मेरे लिये तो राधिका की महिमा का संकीर्तन सब पुरुषार्थों से ऊपर है, यह भाव है। जिस नाम-संकीर्तन से हृदय में राधा-भाव उदित होता है, उसी (नाम के) द्वारा उनके प्रत्यक्ष दर्शन भी होते हैं। इसीलिये श्रीमद्भागवत में कहा है—

इसके अतिरिक्त यह भी कि—'न तो स्वर्ग और न मोक्ष भगवद्भक्त की लेशमात्र संगति की तुलना नहीं कर सकते, फिर मर्त्यलोक में रहने वालों के आशीर्वाद का भी क्या मूल्य है?'

भगवद्-भक्ति की जब यह महिमा है तो राधिका की आनन्दमय कथा-वार्ता के विषय में तो कहना ही क्या? अन्य पुरुषार्थ उसकी तुलना कर ही नहीं सकते, यह भाव है।

स्युरिति भावः। एवं पूर्वार्द्धेन नामकथे व्याहृते । यद्वा प्रेमरसमूर्तेर्यत्रतत्र व्याख्यातत्वात् तत्पदसुधा प्रेमैवेति । यत्र तत्र मुक्तिमनादृत्य चरणरतिरेव याचितास्ति, अतस्तन्नामैव साधनं साधननीराजनीयत्वात्, तत्पदरतिलाभ एव पुमर्थस्तं प्रति पुमर्थनीराजनीयत्वात् ।

अथ केचित् कल्पतरुं पुरुषार्थावाप्तिं वदन्ति, तत्राह—श्रीराधापादाब्जयोर्लीला-गज हंसादिगतिः, सलीलझंकार नूपुरादिविशिष्टसाकूत-भङ्गिका-भुवि श्रीवृन्दावनभूमौ सदा नित्यमेव जयति सर्वोत्कर्षेण-वर्तते । कीदृगुत्कर्षः सः तदेवाह—मन्दमन्दाराणां कल्पतरुणां कोटिर्यस्या सा । यदुत्कर्षापेक्षया-मन्दारकोटिरपि मन्दैव लगति, किञ्च यद्यद्भावोदयानन्दलाभो लीलायां दृश्यते तन्मन्दा रङ्का मन्दाराः कथं दातुं शक्नुवन्तीति भावः । 'भुवि' इत्यनेन साम्बन्धिकमाधुर्यं द्योतितम् । यल्लीलास्वादो भुवि जातस्तन्मन्दारकोटिभिरपि न प्राप्यते । अत्रापि निर्मर्द्दनसमानार्थ एव ।

रसकलश

इस प्रकार पद्य के पूर्वार्ध द्वारा नाम और कथा की व्याख्या की । (यह व्याख्या 'राधापदकमल सुधा' में 'शुद्ध' शब्द का अर्थ 'कथामृत लगाकर की गई है । 'सुधा' का दूसरा अर्थ राधानिष्ठ प्रेम भी हो सकता है) अर्थात् राधाविषयक प्रेम ही उनके चरणों का अमृत (मकरन्द) है, क्योंकि कई एक स्थानों पर राधा की व्याख्या प्रेमरस की मूर्ति के रूप में की गई है और मुक्ति का अनादर कर उनके चरणों में रति होने की ही प्रार्थना की है । अतः राधा-नाम ही साधन है, क्योंकि योग, आदि सब साधन उसकी आरती उतारते हैं, उनके चरणों में प्रीति करना ही परम पुरुषार्थ हैं, क्योंकि मुक्ति आदि सब पुरुषार्थ उसकी आरती करते हैं ।

कुछ लोग कल्प-वृक्ष को ही पुरुषार्थ-प्राप्ति मानते हैं । इस पर कहते हैं—राधा के चरणकमल की लीला-अर्थात् हाथी-हंस जैसी चाल और उस विलास-क्रिया में झनकते हुए नूपुरों की सहगामिनी सरस, साभिप्राय चेष्टा में पृथ्वी, यानी श्रीवृन्दावन की भूमि पर नित्य ही समस्त उत्कर्ष के साथ विराजमान रहती है । उस लीला का उत्कर्ष क्या है, यह बताते हैं—'मन्दमन्दारकोटिः'—करोड़ों कल्पवृक्ष उसके सामने फीके पड़ जाते हैं । राधा के उत्कर्ष की तुलना में कोटि-कोटि कल्पवृक्षों का वैभव या कान्ति मलिन हो जाती है । दूसरे, उनकी लीला द्वारा विविध भावों का उद्रेक होने से जिस आनन्द की प्राप्ति होती है उसे कंगाल कल्पवृक्ष कैसे दे सकते हैं, यह भाव है। 'भुवि' (पृथ्वी पर) शब्द के द्वारा वृन्दावन भूमि के माधुर्य को प्रकट किया है । लीला के जिस रस का आस्वादन पृथ्वी पर किया जा सकता है वह स्वर्ग में करोड़ों कल्पवृक्षों से भी नहीं मिलता ।

अन्यथा पक्षे अमन्दा अबाधिताः कल्पान्तादिस्वपि ये नित्य-मन्दाराः। किञ्च कल्पस्थायित्वात् कल्पतरूणामिति। अग्रे तदभाव एवातो अमन्दपदं दत्तम्। वैकुण्ठादिनित्यधामस्था इत्यर्थः। तेषां कोटिरूपैवेत्यर्थः सखीनां सर्ववाञ्छितार्थ-पूरकत्वात् प्रियस्याप्यनेकभावोदयलाभात्। यथा— 'पादाङ्गुली' त्यत्र 'वीक्ष्ये चलत्पदगतिं चरिताभिरामां झङ्कारनूपुरवतीं बत कर्हि राधाम्' इत्यादि।

ननु श्रीराधाया-नामपदसुधालीला-यथोक्तप्रभावा-एव, परं तद्दास्यस्तु तं तं पुरुषार्थं गृह्णन्तु। अथवा वैकुण्ठादिष्वपि सेवार्थे सुनन्दाद्यष्टानां सिद्धिरूपाः श्रूयन्तेऽतः साधुसिद्धीरेव गृह्णन्तु, इति चेत्तत्राह—श्रीराधायाः किङ्करीणां चरणयोः अद्भुता सिद्धिकोटिर्लुंठति यदस्मान् गृह्णीत, तथापि ताः पतिता अपि नाद्रियन्ते इति षड्धा कैङ्कर्यं तदेवास्माकं परमसिद्धिर्न यूयमस्मद्रससाधनोपयोगिन्यस्ततोऽकिञ्चित्करत्वादुपेक्ष्यन्ते इति। यत्र 'अहो रसिकशेखर' इत्यत्र 'सखीप्रकटपूर्णनत्युत्सवः' इत्येवं रीत्युत्कर्षस्तदा सिद्धयः

रसकलश

'सदामन्दमन्दारकोटिः' इस पद में यदि सदा+अमन्दमन्दारकोटिः—यह सन्धि-विच्छेद किया जाय और उसे 'राधापादाब्ज लीला' का विशेषण मान लिया जाय तो पूर्वोक्त अर्थ से बिलकुल विपरीत अर्थात् मन्दारस्तुतिपरक यह अर्थ होगा—अमन्द अर्थात् काल की सीमा से परे होने के कारण जिनकी सत्ता कल्प के अन्त तक नित्यरूप से स्थायी रहती है, ऐसे करोड़ों कल्पवृक्ष राधिका में निहित रहते हैं। कल्पपर्यन्त स्थित रहने के कारण ही उन्हें अमन्द कहा गया है। तात्पर्य यह है कि वैकुण्ठ आदि नित्य धामों में स्थित। राधा के चरण कमल की लीला उन कोटिशः कल्पवृक्षों के समान है, क्योंकि कल्पवृक्ष की भांति लीला भी सखियों के सब मनोरथों को पूर्ण करती है और प्रियतम में अनेक भावों का उद्रेक करती है। 'पादाङ्गुली' से प्रारंभ होने वाले पद्य में कहा गया है कि 'चंचल गति वाली, प्रीतिप्रधान चरित्र के कारण रमणीय, झनकारते हुए नूपुरों को धारण किये हुए श्रीराधा को कब देखूंगी।' इत्यादि।

शंका उठती है कि राधा के नाम और चरणामृत की लीला का प्रभाव जैसा कि वर्णन किया है, वैसा ही है, परन्तु उनकी दासियाँ (शास्त्रोक्त) किसी एक पुरुषार्थ को अपना लें (तो क्या हानि है?) अथवा वैकुण्ठ आदि में भी सिद्धिस्वरूप सुनन्द आदि आठ पार्षद भगवान् की सेवा में उपस्थित रहते हैं, ऐसा सुना जाता है, अतः सखियां उन सुन्दर सिद्धियों को ही स्वीकार कर लें। इस पर कहते हैं—करोड़ों आश्चर्यजनक सिद्धियाँ राधा की सेविकाओं के चरणों में लोटती रहती हैं—इस कामना

किमतिशयं कर्तुं शक्नुवन्ति, न किमपीति भावः। 'अद्भुता' इत्यत्र यथैका-दशेऽष्टसिद्धसिद्ध्यो महत्योऽपि भक्त्यन्तराया एवोक्ता-स्तदात्र प्रेमैक प्राज्यराज्ये दृष्टिकोणेनापि ता न पश्यन्ति। अथ ततोऽप्यद्भुता भगवल्लो-कैश्वर्यप्रापका अपि चेत् तदपि लुठन्तु, परं तु न तासां कैंकर्यानन्दे तद्दर्शना-वकाशः। यथा—

त्रिभुवनविभवहेतवेप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्र्यः॥

अत्र कैमुत्यं यथा च सूर्यलोकस्थानां दीपदर्शनमिति। सिद्ध्योऽपि यथा—

पद्मपुराणोक्तभागवतमाहात्म्ये—सुराः सर्वे स्वर्गामृतकलशेन कथामृत-विनिमयं कर्तुमागतास्तत्रादरं न प्राप्ता स्तद्वत् स्वैश्वर्योपहारेण कैंकर्य-प्रसादं भिक्षितुमागताः, इति लुठनहेतुः स्वार्थसाधकदैन्यता च दर्शिता।

रसकलश

से कि वे हमें अपना लें, पर पैरों में पड़े रहने पर भी सखियां यह कहकर उनका तिरस्कार कर देती हैं कि हमारे लिये तो छः प्रकार की सेवावृत्ति ही सबसे बड़ी सिद्धि है, यह कि हमारी रस-साधना में आपका कोई उपयोग नहीं। 'अहो रसिक शेखरः' इस पद्य में कहा गया है कि श्रीकृष्ण राधा की कृपा प्राप्त करने के लिये बिना किसी संकोच के सखियों की वन्दना करते हैं और प्रेयसी के चरणों में सिर रखते हैं। जहां राधा के श्री चरणों की ऐसी महिमा है वहां सिद्धियां इससे भी बढ़कर क्या करके दिखलायेंगी ? अर्थात् कुछ नहीं। सिद्धिकोटि अद्भुत कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में श्रेष्ठ आठ सिद्धियों को भी भक्ति-साधना में विघ्नरूप बताया है, उसी प्रकार प्रेम के प्रशंसनीय राज्य में निगाह उठाकर भी सखियाँ उनकी ओर नहीं देखतीं। उनसे भी बड़ी यदि कोई ऐसी सिद्धियाँ हों जो वैकुण्ठ के ऐश्वर्य धाम में पहुँचा दें, तो वे भी पैरों में लोटा करें। परन्तु सखियों को प्रियाजी की सेवा में जो आनन्द मिलता है उसमें उनकी तरफ देखने की फुर्सत कहाँ ? कहा भी है—

'अपनी स्मृति को यथावत् रखे हुए जो भक्त तीनों लोकों के ऐश्वर्य के मिलने पर भी अजितेन्द्रिय देवता आदि के द्वारा स्पृहणीय भगवान् के चरणारविन्द से आधे पल के लिये भी इधर-उधर नहीं डिगते, वे ही वैष्णवों में सर्वश्रेष्ठ वैष्णव हैं॥'

जब भगवच्चरणारविन्द की ऐसी महिमा है तो राधा के चरणकमल की लीला के विषय में तो कहना ही क्या ! उसकी तुलना में अष्टसिद्धियों को रखना ऐसा है जैसे सूर्य लोक के निवासियों को दीपक दिखाना। पद्मपुराण में भगवद्भक्तों की महिमा के प्रसंग में सिद्धियों के सम्बन्ध में कहा है—एक बार सब देवता स्वर्ग से अमृत-कलश लेकर उसके बदले में कथामृत लेने आये, किन्तु वहां उनका आदर नहीं हुआ। इसी प्रकार सिद्धियाँ भी अपने ऐश्वर्य की भेंट लेकर दासीत्व की कृपा की भीख मांगने आईं। राधा की किंकरियों के चरणों में उनके लोटने का यही कारण यहाँ दर्शाया

एवं श्रीराधैकनामलीलाकैंकर्यपरमानन्दोत्कर्षो दर्शितः। उत्थानिकायामादौ कोऽर्थः सेत्स्यतीत्युक्तं, तदत्र स्वरूपानन्दसुखेन तटस्थपुरुषार्थानादृतिरुक्ता, 'यथा कल्पतरुं प्राप्य सारंगोऽन्यन्न सेवते' इतिवत् ॥१४३॥

एवं त्रिभिः सर्वपुरुषार्थानुभवपूर्वकस्वगौरतेजनिष्ठोपदेशेन सजातीय-रसिकजनान् रसाभिमुखीकृत्येतरस्मृतिमुदस्य 'शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्ये' तिवत् पुनरन्तरंगदशायां स्वस्थायिदम्पत्यनुरागविलासमाह—

मिथो भंगीकोटिप्रवहदनुरागामृतरसो-
त्तरंगद्भ्रूभंगक्षुभितबहिरभ्यन्तरमहो ।
सदा घूर्णन्नेत्रं रचयति विचित्रं रतिकला-
विलासं तत्कुञ्जे जयति नवकैशोरमिथुनम् ॥१४४॥

तन्नवकैशोरमिथुनं जयति। तत् किम्? यत् कुञ्जे विचित्रं रतिकला विलासं रचयति। तदेव रचनं क्रमेणाह। कीदृशं तत्? मिथ इति परस्परं

रसकलश

गया है, साथ ही यह भी कि अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए उन्हें कितना दीन बनना पड़ा। इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में केवल राधानाम, उनके चरण-कमल की लीला तथा किंकरी वृत्ति के परम आनन्द को बताया गया है। उत्थानिका में जो पूछा गया था कि क्या फल सिद्ध होगा, उसके उत्तर में यहाँ यही कहा गया है कि स्वरूपानन्द सुख के सामने तटस्थ पुरुषार्थों का कोई आदर नहीं है। कहा भी है—'कल्पवृक्ष को पाकर भौंरा और किसी वृक्ष पर नहीं जाता' ॥१४२॥

इस प्रकार तीन पद्यों द्वारा यह उपदेश देकर कि सब पुरुषार्थों का अनुभव करने के उपरान्त मेरी निष्ठा तो गौर तेज (श्रीराधा) में ही है, और उस उपदेश के द्वारा अपने जैसी मान्यता रखने वाले लोगों को रस की ओर उन्मुख करके अन्य सब बातों की स्मृति को भुलाकर 'जो शीतलता है वही जल का स्वभाव है।' इस उक्ति के अनुसार अन्तरंग अवस्था में (निकुंजसखी-रूप में) अपने अन्तर में स्थायी रूप से घटित होने वाली युगलस्वरूप की प्रेम-क्रीड़ा का वर्णन करते हैं—

'पारस्परिक (रूप-लावण्य की) कोटि-कोटि भंगियों से प्रवाह की भाँति झरते अनुराग रूप अमृत रस से तरंगायित भौंहों के उतार-चढ़ाव से जिसका बाह्य और आभ्यन्तर विक्षुब्ध हो उठा है और नेत्र मद से घूम रहे हैं ऐसी नई किशोर अवस्था वाली प्रिया प्रियतम की जो जोड़ी कुंज में रति विलास की विचित्र सृष्टि करती है, उसकी जय हो'॥१४४॥

नई किशोर अवस्था वाले उस युगलस्वरूप की जय हो। वह कौन? जो कुंज में अद्भुत रति-संबन्धिनी कलापूर्ण क्रीड़ा की रचना करता है। इसी रचना का क्रमिक विवरण देते हैं। कैसा वह युगल स्वरूप? परस्पर में दोनों की ही करोड़ों भंगियां—

उभयोरेव भङ्गीनां कोटयः—प्रत्यवयवं किमुच्यते, प्रतिरोमं भंग्यः संभृता इति । यथा—

किञ्चिन्निर्दिश्यते दानकेलौ प्रियवाक्यम्—

वाचिकचेभ्रु विदृष्टौस्मितेप्रयाणेऽवगुण्ठनेहृदिच ।
त्वामित्यष्टसु वक्रामष्टावक्रायितां वन्दे ।।

इत्यनन्तरं प्रियावाक्यम्—

वक्रस्त्रिधा त्वमादौ मध्ये चान्ते च वंशिकारसिक ।
कलकृतजगतीप्रलयो वक्रेश्वर एव देवोऽसि ।।

इत्यादि कोटिकोटिलावण्यरूपच्छविभंग्यो द्रष्टृदृग्मनोभंजकघूर्णकास्ताभ्यः प्रवहन् प्रवाहवत् द्रवमयोऽनुरागामृतरसः संप्रयोगविषयात्मकरतिरूपस्तेनोत्तरंगन् कटाक्षवत्तां प्राप्नुवत् यो भ्रूभङ्गस्तेन क्षुभितं बहिरभ्यन्तरं च यस्य तत् । किंच भ्रूभङ्ग उत्तरंगता यथा कीटभृंगन्यायेन । यथायथा यन्नत्याभंगी इष्टा तदा तदा तथैव भंगिमोद्गमः स्यादिति भंगिशीलत्वात् । यथा व्यसनिनः स्वव्यसनवस्तुदृष्टौ किमु वाच्यं, तद्वार्ताश्रवणेनैव घूर्णनाङ्ग-

---

रसकलश

प्रत्येक अंग में ही नहीं, प्रत्येक रोम में भरी हुई हैं। उदाहरणार्थ यहाँ उसका कुछ निर्देश किया जाता है। दानलीला के प्रसंग में प्रियतम कहते हैं—

'हे राधिके ! आप आठ जगह से टेढ़ी हैं'—बोलचाल में, बालों में, भौंहों में, दृष्टि में, मुस्कराहट में, गति में, घूंघट में और मन में ऐसी अष्टावक्रस्वरूप आपको नमस्कार है।'

इस पर प्रिया जी कहती हैं—

'हे वंशीरसिक ! आप तीन जगह से टेढ़े हैं—आदि में, मध्य में और अन्त में। बाँसुरी के मधुर स्वर से आपने संसार में प्रलय मचा दी है। आप तो साक्षात् वक्रेश्वर हैं।' इस प्रकार की रूप, लावण्य और छवि की करोड़ों भंगियाँ (झिलमिलाते रेखा-चित्र) देखने वाले की दृष्टि और मन को बेध डालते हैं। उनसे अनुराग-रूप अमृत-रस—अर्थात् संयोग विषयक रति-आनन्द प्रवाह की भांति द्रवित होता है। उस अमृत-रस से तरंगों की उठान की तरह भ्रकुटियों में उतार-चढ़ाव पैदा होता है जोकि कटाक्षों का रूप धारण कर लेता है। फल यह होता है कि दम्पति के शरीर और मन आन्दोलित हो जाते हैं। भौंहों की भंगिमा में तरंगों का आरोप 'कीटभृङ्ग न्याय' से समझना चाहिए। एक विशेष प्रकार का कीड़ा जिस तरह मधुमक्खी को पकड़कर कालान्तर में उसे अपने आकार की बना लेता है। इसी प्रकार एक ने जिस अंग में छवि की भंगिमा को दूसरे में देखा वैसी ही उसके अपने उसी अंग में प्रकट हो गई।

मोटनादि स्यात्, तथा परस्परभङ्गीदर्शनेन रागोदयः। तदनन्तरं भूयो रागोदयो येनानुराग इति ख्यातः भंग्यानन्त्या प्रतिभंगि रागस्याप्यानन्त्यत्वाच्चानुरागप्रवाहो जातस्तस्याविच्छिन्नोद्गमेन तरंगपरम्परा वर्द्धिता। तदा कुत्र सूच्यते, इत्यपेक्षायां भंगिमाधिकारनैयत्वाद् भ्रुवि सूचिता। अतो भ्रुव उत्तरंगता, बहिः क्षोभो रोमाञ्चकम्पादिसात्विकाः,आभ्यन्तरश्चित्त-विकारस्तदितरपूर्वकसर्वविस्मृतिलयः। यद्वा भंगीकोटिं प्रकर्षेण वहन् धारयन् योऽनुरागस्तेनोत्तरंगद् भ्रूभंग इति्। किञ्चानुरागान्तर्गता एव भंगीकोटयः ईदृक् परम्परानुरागो येनांजसाऽज्ञात्वैव कोटिभंग्य उद्भवन्तीति। तादृशानुरागमयभंगीभिः पुनरद्भुतानुराग उद्गच्छतीत्येवमुत्तरंगता इति भंगीकोटिमनुराग एव शिक्षयतीत्यर्थः। अत्र ानुराग निर्विशेषेऽपि प्रियस्याभिलाषमयः प्रियाया, कृपामय इति ज्ञेयम्। अहो इत्याश्चर्यार्थे।

रसकलश

प्रिया प्रियतम दोनों का ऐसा स्वभाव बन गया है। जिस प्रकार नशा करने का अभ्यासी व्यक्ति अपने व्यवहार में आने वाले नशीले पदार्थ का देखना सुनना तो दूर, उसकी चर्चा मात्र से उसे घुमेर आने लगती है और अंग-अंग अंगड़ाई लेने लगते हैं, वैसे ही एक-दूसरे की छवि-भंगिमा को देखकर अनुराग उदय हो आता है। इसके बाद शुरू होता है दूसरा दौर। 'राग' के पूर्व लगे हुए 'अनु' उपसर्ग से यही अर्थ निकलता है। चूंकि रूप और लावण्य की भंगिमा अनन्त हैं। अतः उनके जवाब में दूसरी ओर भी वे अनन्त राग के रूप में प्रकट होती हैं और अनुराग की एक धारा-सी बहने लगती है। अनुराग-प्रवाह के लगातार उदय होने से तरंगों का सिलसिला बढ़ जाता है। अनुराग का पता किस अंग से लगता है इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि भंगिमा द्वारा अनुराग को व्यक्त करने का अधिकार तो निश्चित रूप से भौंहों का ही है, अतः उनमें ही तरंगों जैसा उतार चढ़ाव होता है। रोमांच होना, कांपना आदि सात्विक भावों द्वारा शारीरिक हलचल जानी जाती है और चित्त-विकार के द्वारा मानसिक आन्दोलन व्यक्त होता है। इस दशा में प्रेमपात्र के अतिरिक्त और सब कुछ भुलाकर तल्लीनता आ जाती है। 'भंगीकोटिप्रवहत्' का दूसरा अर्थ यह भी संभव है कि 'कोटि-कोटि लावण्य-भंगियों को प्र—अतिशय रूप से 'वहन्' धारण करता हुआ जो अनुराग उससे तरंगायित होता हुआ भ्रूभंग। एक बात यह भी है कि अनुराग को प्रकट करने वाली चेष्टाएँ अनुराग के अन्तर्गत ही हैं। दंपती का पारस्परिक अनुराग ऐसा है कि अनजाने ही अनन्त चेष्टाएँ उदित होती रहती हैं। अनुरागपूर्ण उन चेष्टाओं से फिर एक विलक्षण अनुराग पैदा होने लगता है और वे झूलती हुई तरंगों का रूप ले लेती हैं, तो यह कहना चाहिये कि अनुराग ही अनन्त अनुभावों को सिखाता है। यद्यपि प्रिया-प्रियतम का अनुराग समान है, फिर भी इतना अन्तर अवश्य है कि प्रिय का अनुराग कामना-प्रधान है, तो प्रिया

अनुरागेऽपि क्षोभ इति विरोधाभासः। यद्वा 'अहो' इत्यस्योत्तरार्द्धेन संबन्धः । मदाघूर्णनवैवश्येऽपि कलावैचित्र्यरचनमित्याश्चर्यम् । तदनुरागासवमदेनाघूर्णती नेत्रे यस्य तत् । अहो कीदृशी प्रियातितृषता ! अहो कीदृशी प्रसादजवदान्यता ! इति द्वयोर्हृदि मदः। तदनन्तरं विचित्ररतिकलारचनं रतेः। कला वात्स्यायनाद्युक्तबन्धाद्याः; भाषायां कोककला इति। तासां प्रत्येकविलासं विचित्रमनिर्वचनीयमेव, मद्धृदयसाक्षिकमेवेत्यर्थः। सर्वत्राद्भुतमिश्रणम्। यद्वा विशेषेण चित्रं यस्मादिति। नचात्रत्यो लौकिकै रतिविलासेति प्रसिद्धयानुभवैकसाक्षिकविषयो मन्तव्यः, इति भावः। एवं प्रतिक्षणनवनवानुरागपूर्वापरभागपरंपराक्रमवृद्धया नित्यतद्रसरीतिः कुञ्जे समरसवैचित्री चोक्ता । नचात्रत्य नायिकानायकवद् दृष्टश्रुतपूर्वानुरागो ज्ञेयो, विच्छेदाभावात् संयोगेऽप्यनन्ततृषितत्वाच्चेति ॥१४४॥

रसकलश

जी का दया-माया से परिपूर्ण। 'अहो शब्द आश्चर्य बोधक है। आश्चर्य यह कि अनुराग और क्षोभ—इन दो विरुद्ध गुणों की स्थिति एक काल में सम्भव बन पड़ी है। अथवा 'अहो' का सम्बन्ध पद्य के उत्तरार्ध से मान लिया जाय। एक ओर मद में झूमने की लाचारी है, दूसरी ओर रति-विलास में कलाओं की विविध उद्भावनाएँ भी की जा रही हैं, यह आश्चर्यजनक बात ही रही। अब 'मदाघूर्णन्नेत्रम्' का विग्रह करते हैं—जिस दंपती के नेत्र प्रेम-मदिरा की झोंक में घुमेर खा रहे हैं। दोनों के मन पर मद छाया हुआ है—प्रिया जी को इसका मद कि प्रियतम की प्यास कितनी तीव्र है और प्रियतम को इसका कि प्रियतमा कितनी उदार हैं, मुझ पर कितनी प्रसन्न हैं। इसके अनन्तर होती है रति के प्रसंग में विचित्र कलाओं की सृष्टि। 'कला' से तात्पर्य वात्स्यायन कृत कामसूत्र में उल्लिखित विविध आसनों से है। भाषा में इसे 'कोक कला' कहते हैं। उन कलाओं में से प्रत्येक की रचना विलक्षण और अनिर्वचनीय है जिसका साक्षी मेरा हृदय ही है, क्योंकि उसमें सर्वत्र उज्ज्वल शृंगार के साथ अद्भुत रस भी मिला रहता है। 'विचित्र' शब्द में बहुव्रीहि समास मानकर विग्रह करने पर अर्थ होगा—लौकिक भोग कला से जिस (निकुंज रति-कला) में विचित्रता है। आशय यह है कि लोक में जो रति-विलास कहा जाता है वह तो केवल ऐन्द्रिक अनुभूति के प्रमाण पर आधारित है, जबकि निकुंज रति अपनी आध्यात्मिक उदात्तता के कारण राधिका के हृदय की भावना को साक्षी मानकर चलती है। इसलिए 'ब्रह्मेश्वरादिसुदुरूहपदारविन्द'—पद्य में कहा गया है कि श्री राधा के पदारविन्द के पराग की महिमा ब्रह्मा, ईश्वर आदि के लिये भी दुर्लभ है। नूतन, विलक्षण किशोर अवस्था में वर्तमान दंपती समस्त उत्कर्ष के साथ विराजमान रहते हैं। भाव यह है कि उन जैसी महिमा न किसी की हुई है, न होगी। इस प्रकार यहाँ बताया गया है कि दंपती

इदानीं तद्विलाससामयिकमेव कृपामयतातया श्रीस्वामिन्यनुरागविशेषं वर्णयति । याचजदात्र्युत्कर्षे द्वये प्राप्ते दात्र्युत्कर्ष एवातिरिच्यते, तस्यैव सर्वप्रशंसनीभत्वात् । 'समेऽपि रसवैचित्र्ये गौरं पुष्णाति पक्षकम्' इत्यादौ परिभाषितमेवेति । तदेवाह—

काचिद् वृन्दावननवलतामन्दिरे नन्दसूनो-
र्दृप्यद्दोष्कलदृढपरीरंभनिष्यन्दगात्री ।
दिव्यानन्ताद्भुतकलाः कल्पयन्त्याविरास्ते
सान्द्रानन्दामृतरसघनप्रेममर्मूतिः किशोरी।।१४५।।

काचित् किशोरी वृन्दावननवलतामन्दिरे आविरास्ते । विश्रब्धप्रस्तुत वर्ण्यमानेऽपि काचिदत्यज्ञातवद् वचनं वक्तृनिष्ठं वाच्यनिष्ठं चेति द्वैधं ज्ञेयम् । आद्यं तदनुरागमदाघूर्णनजकलावैचित्र्यदर्शनासवघूर्णनवैवश्यात् । द्वितीयं अत्यपूर्वाचरणजान्यादृशत्वविभावना विषयत्वात् । एवं वृन्दावनेति

रसकलश

में परस्पर प्रतिक्षण-अनुराग की लहरें एक के बाद दूसरी आती रहती हैं और उनकी परंपरा में क्रमिक वृद्धि के द्वारा निकुंजचर्या में अक्षय रस-रीति की प्रतिष्ठा होती है। यह कि दास्य और स्वामिनी भाव रहने पर भी उनके बीच अनुराग की समान स्थिति रहती है जोकि एक विचित्र बात है। यह न समझना चाहिये कि साधारण नायक नायिका की भाँति उनका अनुराग भी वैसा ही है जैसा कि लोक में देखा सुना जाता है। कारण यह है कि उनमें वियोग तो होता ही नहीं और संयोगावस्था में वे प्रेम के अत्यन्त प्यासे रहते हैं ।।१४४।।

अब विलास के समय स्वामिनी के कृपालु होने के कारण प्रियतम के प्रति उनके विशेष अनुराग का वर्णन करते हैं। यह प्रश्न उपस्थित होने पर कि याचक और दाता में किसका उत्कर्ष अधिक है, दाता ही ऊँचा माना जाता है, क्योंकि सब उसी की प्रशंसा करते हैं। 'रस की विचित्रता समान होने पर भी गौर तेज श्याम तेज का पोषण करता है'—इत्यादि वाक्यों द्वारा इसी पक्ष का समर्थन होता है। इसी बात को कहते हैं—

कोई किशोर अवस्था वाली वृन्दावन के नीवन लता-गृह में प्रकट हो रही है। श्री राधा का वर्णन प्रस्तुत होने पर भी 'काचित्' (कोई) कहना दो प्रकार के अज्ञानों को सूचित करता है-वक्ता का अज्ञान और वाच्य विषयक अज्ञान (यह वक्ता श्री हितसखी हैं और वाच्य श्री राधिका, वक्ता को अज्ञान इसलिये हुआ कि प्रेम मद में झूमते हुए श्री राधा ने जिस विचित्र रति-कला की सृष्टि की उसे देखकर हितसखी

प्रस्तुतभूयोऽभ्यासात् पूर्वोक्त माधुर्येङ्गितज्ञत्वादि गुणोत्कर्षोऽत्र परामृश्यते। ते एव कुञ्जोक्तावपि नवलतामन्दिरोक्त्या दम्पतिरसविलासानुभवाल्हादज नित्यनवप्ररोहोद्गमेन, कुञ्जेऽप्यन्यनिभृतकुञ्जप्रोद्भवो मन्दिरवद्द्वार-भित्तिगवाक्षावकाशादि सौष्ठवविशिष्टो ज्ञेयः। एवं श्री वृन्दावनानुरागातिशय उक्तः। 'राधा वृन्दावने वने' इति स्वस्वामिनीवदान्यरसोत्कर्ष-प्रादुर्भावानन्दश्चेति। अत्र 'मन्दिरे आविरास्ते' इत्यनेन विलक्षणकलानिधिं दृष्ट्वा कश्चिद् यथा वदति 'अहो कोऽयमपूर्वकश्चन्द्रः प्राचीमन्दिर आविर्भूत इति पूर्वोक्तमिथुनविजयसाम्येऽप्याविर्भावोक्त्या वीरायितादिकलावत्व-विशेषो ध्वन्यते, तदेव विचित्रातृप्तचकोरसंसर्गजप्रसादद्रवपूर्वक कला-कल्पनमाह, याचकदर्शनद्रुतिपूर्वक वदान्यशीलध्रौव्यात्।

रसकलश

भी मादकता से घूमने लगीं और राधा जी को पहिचानने में असमर्थ हो गईं। वाच्य विषयक अज्ञान का कारण यह है कि श्रीराधा के विलक्षण (विरोधाभासपूर्ण) आचरण के कारण उनके सम्बन्ध में हितसखी को यह धारणा बंध गई कि वे तो और कोई जैसी लगती हैं। इसी प्रकार वृन्दावन के नाम लेने का जो भारी अभ्यास पड़ गया है उसके द्वारा वृन्दावन के पूर्वोक्त माधुर्य और मिलन-संकेतों को समझने की योग्यता आदि गुणों का उत्कर्ष ग्रहण किया गया है। कुंज शब्द के प्रयोग में भी कुछ ऐसा ही समझ लेना चाहिये। 'नवलतामन्दिर' कहने से यह बोध होता है कि दंपती के रस और रति-क्रीड़ा की अनुभूति कुंज को भी होती है जिसके कारण उसकी लताओं में नई कौपलें निकल आती हैं और कुंज के अन्दर एक नई कुंज और बन जाती है जिसमें कि घर की भाँति दीवारें, झरोखे, खुली जगह आदि की सुघराई विद्यमान रहती है। इस प्रकार यहां प्रिया के प्रति वृन्दावन के अनुराग का आधिक्य दिखाया गया है और 'राधा का निवास वृन्दावन में ही है'। इस आम्नायतंत्र की उक्ति के अनुसार वृन्दावन की उस प्रसन्नता को भी सूचित किया गया है जिसका अनुभव उसे अपनी स्वामिनी में उदार भाव को पैदा करने के कारण होता है। यहाँ किशोरी जी 'मन्दिर में प्रकट हो रहीं हैं, यह कहना वैसा ही है जैसा कि विचित्र चन्द्रोदय देखकर कोई कहे 'अहो! पूर्व दिशा के मन्दिर में यह कैसा अपूर्व चन्द्रमा निकल रहा है। पूर्व पद्यों में रति-केलि में प्रिय-प्रियतम दोनों की विजय का उल्लेख हुआ है। फिर भी इस पद्य में किशोरी जी के आविर्भाव की बात करने से यह ध्वनि निकलती है कि सुरत-क्रीड़ा में प्रिया ने पुरुषायित होकर विशिष्ट कला का प्रदर्शन किया। प्यासे चकोर (श्रीकृष्ण) के विलक्षण संपर्क के फलस्वरूप प्रिया जी के अन्तर में आह्लाद जो बह निकला उसी के आवेग में उनके द्वारा कला की सृष्टि हुई, यह ज्ञातव्य है, क्योंकि दाता का स्वभाव है कि याचक को देखते ही निश्चित रूप से उसकी दानशीलता उमड़ आती है।

कीदृशी ? नन्दसूनोरित्यादि । अत्र रूढ्या राजकुमारयुवराजपूर्ण-प्रेमास्पदपरममोहननिरंकुशविलासप्रभावो ध्वनितः, यौगिक्या च नन्दयतीति नन्द इति तस्य 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इति बीजाद् वट इव प्राप्तपूर्ण-वैभवरूपः पुत्र इति । तस्यानन्दघनस्यापि दृप्यन्तौ दोष्कन्दलौ । दर्पोऽत्र भूषणभूषिताङ्गत्वेऽपि तादृशनिजमोहनप्रेमरसमूर्तिकिशोरीधनभुजाङ्कप्राप्ते-र्ज्ञेयः । 'कन्दल' इति—यथा नवपुष्टकदलीगर्भो मृदुलो रसभरित एवमत्र सपुलकतापि ज्ञेया । तयोर्दृढः परीरम्भो रंकधनवत् परमदौर्लभ्यस्नेहा-भ्यन्तरेण हृदयज्ञतया निष्यन्दो द्रवो यत्र तादृशं गात्रं यस्याःससात्विकेत्यर्थः । एवं पोषणकृपोज्जृम्भ उक्तः ।

ततो दिव्येत्यादि ऐश्वर्यार्थे । अप्राकृतत्वं स्पष्टमेव माधुर्ये । दिवः क्रीडाद्या दशार्थाः । दिव्याः क्रीडनीयाः (१) कलाः, तत्र विजिगीषार्हाः (२), परस्परव्यवहरणीयाः (३), द्योतनात्मिकाश्चमत्कारातिशयाः हास्याद्भुतवीरादिसाहसमयत्वात् (४), परमास्वादेन प्रियस्तुत्यास्तदनु-सखीश्लाघ्याः (५), मोदनात्मिकाः सर्वहर्षदत्वात् (६) स्वस्य प्रियस्य

रसकलश

अब किशोरी का विशेषण देते हैं—जिनके अंग नन्दकुमार के गाढ आलिंगन से पसीज-से गये थे । यहाँ 'नन्दसूनुः' का यदि रूढ़िगत अर्थ लिया जाय तो यह ध्वनि निकलती है कि श्रीकृष्ण युवराज हैं, राजकुमार हैं, पूर्ण प्रेम के पात्र हैं, परम सुन्दर हैं और उनकी स्वच्छन्द विलास क्रीड़ा का प्रभाव चारों ओर छाया हुआ है। यौगिक अर्थ के लिए विग्रह होगा—जो आनन्दित करे उसे कहते हैं 'नन्द', उसका पुत्र। बीज से पल्लवित होने वाले वटवृक्ष की भाँति 'आत्मा ही पुत्र रूप में पैदा होती है।' अतः 'नन्द-सूनुः' का अर्थ हुआ – जिसे कि पूर्ण ऐश्वर्य और सौन्दर्य प्राप्त है। आनन्दमय होने पर भी श्रीकृष्ण की केला-सरीखी भुजाएँ गर्वीली हैं। गर्व इसका कि अंगों के भूषणों से विभूषित होने पर भी स्वयं को मोहित करने वाली प्रेम-रस की मूर्ति किशोरी-जैसा धन भुजाओं में भरने को मिल गया है। 'कन्दल' से तात्पर्य है कि जैसे नये पुष्ट केला के अन्दर का भाग कोमल और रस भरा होता है। इस कथन से यह भी जान लेना चाहिये कि भुजाएँ रोमांचित थीं, उन भुजाओं द्वारा, जैसे कंगाल धन समेंटता है इस रीति से किया गया जो आलिंगन उससे जिसके अंग पसीज गये थे। प्रिया जी का हृदय परम दुर्लभ स्नेह से भरपूर है और वे प्रिय के हार्दिक भावों को भी जानती हैं, फिर भला वे आलिंगन से द्रवित-क्यों न होतीं। तात्पर्य यह है कि उनके श्री अंगों में सात्विक भाव उमड़ आये। इस प्रकार प्रियाजी की सहज पोषण वृत्ति भी सूचित की गई है।

अब 'दिव्य' की व्याख्या करते हैं। दिव्य आदि शब्दों का प्रयोग ऐश्वर्य के अर्थ में होता है। माधुर्य तो स्पष्ट ही अलौकिक होता है। 'दिव्' धातु के क्रीड़ा विजिगीषा, व्यवहार द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति-ये दस अर्थ हैं। (१) दिव्य

सखीनां च मादकाः (७), तदनु वैवश्येन स्वापकाः (८), तत्रापि कान्ति-मत्याजकाः (?) परमरमणीया अदीनलीलत्वात् (९), एवं तत्तद्भोग-लालसेन कर्तव्यतयागम्याश्चेति (१०) सहृदयगम्या अनन्ताः प्रत्येकमनवधय इति। 'अद्भुता' इति दिव्यसखीनां तादृशप्रियस्य च दिव्यव्यवहारत्वात्। साधारणा इति चेदाशंकां निराकरोति—तासामपि चित्रोत्पादिकाः। एता-दृश्यो रसस्य शृंगारस्य कलाः हावभाव विलासाद्यास्ताः कल्पयन्ती नवा नवा रचयन्तीति प्रियस्येत्यर्थः। एवं कल्पयन्ती सती 'सान्द्र' इत्यादि। सान्द्रश्चासावानन्दश्च स एवामृतं अखण्डनिरतिशयास्वाद्यत्वात्। रसश्च घनश्चासौ प्रेमा च तेषां मूर्तिर्घनीभूता किशोरीति व्यक्तिराविरास्ते।

अत्र त्रयाणामेवामृतत्वं ज्ञेयं, कलाकल्पकचन्द्ररूपकनिर्देशगर्भि-तार्थत्वात्। 'नन्दसूनोदृप्यत्' इत्यत्रानन्दस्याप्यानन्ददत्वादानन्दः। 'निष्यन्द' इत्यत्र प्रेमा, 'रसकलश' इत्यत्र रस इति यद्यप्येकैकस्यापि किञ्चिन्निर्देश-विशेषो ज्ञेयः। 'नन्दसूनो' रिति सापेक्षपदसान्निध्याद्दृप्यदित्यादेः समा-

रसकलश

अर्थात् क्रीड़ा के उपयोग में आने वाली कलायें, (२) क्रीड़ा में प्रतिपक्ष से जीतने की इच्छा रहती है अतः कलायें इस योग्य हैं, (३) परस्पर व्यवहार में आने योग्य, (४) द्योतन स्वरूपा, अन्यन्त चमत्काराधायक, क्योंकि कलाओं में हास्य, अद्भुत, वीर, साहस आदि का योग रहता है, (५) अत्यन्त आस्वादयोग्य होने से प्रिय उनकी प्रशंसा करते हैं और तदनन्तर सखियाँ भी (६) सबको आनन्दित करने के कारण मोहन-स्वरूपा हैं, (७) स्वयं को, प्रिय को और सखियों को मादक बनाती हैं, (८) इसके बाद सोने को बाध्य करती हैं, (९) कान्ति से युक्त, परम रमणीय हैं, क्योंकि उन कलाओं के विलास में कहीं दीनता नहीं है, (१०) विविध भोग-लालसा की पूर्ति के निमित्त एवं कर्त्तव्य रूप में स्वीकार्य हैं। रसिक जन ही उनके मर्म को समझ सकते हैं। प्रत्येक कला अन्तहीन और निरवधि है। कलाओं को अद्भुत कहने का आशय यह है कि अलौकिक व्यवहार के कारण प्रियाजी की कलायें दिव्य सखियों एवं दिव्य प्रियतम को अद्भुत लगती हैं। यह शंका नहीं करनी चाहिए कि कलायें साधारण हैं, क्योंकि उन सखियों को भी (जोकि स्वयं अलौकिक हैं) वे आश्चर्य में डाल देती हैं। शृंगार रस की ऐसी हाव-भाव-विलास से परिपूर्ण कलाओं की नए-नये प्रकार से रचना करती हुई—प्रिय के उद्देश्य से—किशोरी कुंज में प्रकट हो रही हैं। किशोरी का विशेषण देते हैं—सान्द्र इत्यादि। घना जो आनन्द हुआ वही हुआ अमृत, क्योंकि वह अखंड और अत्यन्त आस्वादन करने के योग्य है, तथा रस और निबिड़ प्रेम उनकी घनीभूत मूर्ति किशोरी व्यक्ति प्रकट हो रही है।

यहाँ आनन्द, रस और प्रेम तीनों में अमृतत्व समझना चाहिए, क्योंकि कला की सृष्टि करने वाले उपमान चन्द्र के साथ रूपक अलंकार की ओर छुपा हुआ संकेत है।

सादोषोऽपि, यथा 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्।' स एवात्र दर्शितः । एवं हितसख्याः स्वस्थायिनिष्ठारसो वर्णितः ।।१४५।।

अधुनैतादृशरसपक्षभावनापरायणसजातीयेषु दृष्टिर्गता। किञ्चैतद्दुर्लभानन्दरसप्रेमामृतास्वादाधिकारिणो विरलाः सन्तीति तदर्थं बाह्यदशायां तत्स्वरूपलक्षणं वर्णयति 'न जानीते' इति त्रिभिः—

न जानीते लोकं न च निगमजातं कुलपर-
म्परांवा नो जानात्यहह न सतां चापि चरितम्।
रसं राधायामाभजति किल भावं व्रजमणौ
रहस्येतद्यस्य स्थितिरपि न साधारणगतिः ।।१४६।।

रसकलश

(तात्पर्य यह है कि 'कला' शब्द के वाच्यार्थ से यहाँ रूपक अलंकार की व्यंजना की गई है। रूपक के निर्वाह के लिये किशोरी को उपमेय, चन्द्र को उपमान और कलावत्व को साधारण धर्म मानना होगा। उपमान पक्ष में कला का अर्थ किरण और उपमेय पक्ष में रति-कलायें हैं। किशोरी और चन्द्र दोनों ही कला सृष्टि करते हैं।)

'नन्दसूनोः' पद में (नन्द) आनन्द को भी आनन्द देने के कारण आनन्द का 'निष्यन्द' में प्रेम का और 'रसकलाः' में रस का उल्लेख हुआ है। ये तीनों एक ही अर्थ के बोधक हैं, पर यहाँ जो उनका पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है उससे तीनों में से प्रत्येक की अपनी-अपनी कोई विलक्षण विशेषता प्रकट की गई है। पद्य के पूर्वार्द्ध में 'नन्दसूनोः! पृथक् पद है और उसके बाद 'दृप्यत्' से लेकर 'गात्री' तक समासान्त पद है, जबकि 'नन्दसूनोः' का सीधा सम्बन्ध 'दृप्यत्' आदि से हैं। किन्तु ऐसे प्रयोग चलते हैं, जैसे देवदत्तस्य गुरुकुलम् (देवदत्त का गुरुकुल) इस उदाहरण में फलतः यहाँ समास-दोष की आपत्ति नहीं उठानी चाहिए। वही यहाँ दिखाया गया है। इस प्रकार हितसखी ने अपने अविचल निष्ठा-भाव का यहाँ वर्णन किया है।।१४५।।

अबतक इस प्रकार के रस-पक्ष के अनुकूल भावना का निर्वाह करने वाले अपने जैसे लोगों पर ही दृष्टि गई है (अर्थात् उन्हीं को ध्यान में रखकर सब कुछ कहा गया है)। बात यह है कि दुर्लभ आनन्द, रस और प्रेमामृत के अधिकारी बिरले ही व्यक्ति हैं, अतः उनके लिये बाह्यदशा में रसमार्गी के स्वरूप के लक्षणों का 'न जानीते' इन तीन पद्योंद्वारा वर्णन करते है—

जो इस लोक अथवा परलोक को नहीं जानता, न वेद समूह को, न वंश-मर्यादा को, और आश्चर्य का विषय यह है कि भागवतों के चरित्र को भी नहीं जानता, (बल्कि) राधा में रस की उपासना करता है और व्रजशेखर श्री कृष्ण में भाव (प्रीति)

रखता है, जिसकी एकान्त में (अथवा हृदय में) यह स्थिति है उसकी सांसारिक जीवन-पद्धति को समझने में साधारण लोगों की गति नहीं होती ॥१४६॥

विशेष:—यह अर्थ 'रसकुल्या' के अनुसार है। श्री गोस्वामी कृपालाल जी ने इससे भिन्न अर्थ किया है जिसके अनुसार पद्य का अन्वय निम्नलिखित प्रकार से होगा—

(यः) किल रहसि व्रजमणौ राधायां भावं रसं आभजति (स) लोकं न जानीते, न च निगमजातं कुलपरंपरां वा, न चापि अहह सतां चरितं जानाति। यस्य एतत् (तस्य) लोकस्थितिः अपि साधारणगतिर्न भवति।

अर्थ—जो निश्चित रूप से एकान्त में व्रज की मणि स्वरूपा राधा की, आत्मा को भावनिष्ठ बनाने वाले रस के द्वारा उपासना करता है, वह न लोक को, न वेदों को, न कुलपरंपरा को और न भागवतों के चरित्र को जानता है। जिसके अन्तर का यह आचरण है उसका लौकिक व्यवहार भी साधारण नहीं होता।

यह अर्थ शुद्ध रूप से श्रीराधापरक है। 'व्रजमणौ' को राधा का और 'भावम्' को 'रसम्' का विशेषण मानकर श्रीकृष्ण के लिये कोई जगह नहीं छोड़ी गई है।

'रहस्येतन्' में दोनों ही टीकाकारों ने 'रहसि+एतत्' यह सन्धि-विच्छेद किया है। रसकुल्याकार ने 'रहस्ये' और 'तत्' को पृथक् मानकर अर्थान्तर करने की चेष्टा भी की है, पर वह विकल्प मात्र है। दोनों ही टीकाकारों को 'तस्य' के अन्वयी शब्द 'यस्य' का अध्याहार करने की आवश्यकता पड़ी है। ऐसा ही अध्याहार प्रारम्भ में भी करना पड़ा है—'यः लोकं न जानीते' इत्यादि।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, रस कुल्याकार ने दूसरा अर्थ 'रहस्ये' और 'तत्' को पृथक् मानकर किया है और अन्वय किया है—'यस्य रहस्ये स्थितिः तत्—(स्थितिः) अपि न साधारणगतिः।' टीकाकार के पक्ष की दृष्टि से इस अन्वय के अनुसार अर्थ-गांभीर्य तो आ जाता है, पर सर्वनाम 'तत्' का विशेष्य खोजे नहीं मिलता। 'तत्' और 'स्थितिः' के बीच में 'यस्य' का व्यवधान होने से 'तत्स्थिति' को समासान्त पद नहीं माना जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि 'रहस्येतत्' की अर्थ-संगति के ठीक-ठीक न बैठ सकने के कारण ही टीकाकार को अन्त में कहना पड़ा है—'रहस्ये यस्तस्येति पाठश्चेत् सुगमः।' जो कुछ भी हो, यत्तत् के नित्य-सम्बन्ध का निर्वाह न हो सकने पर भी पद्यार्थ की स्पष्टता में कोई बाधा नहीं पड़ती।

अब गोस्वामी श्री कृपालाल जी के दृष्टिकोण पर विचार कर लें। 'व्रजमणौ' श्रीराधाकृष्ण दोनों में से किसी का भी विशेषण माना जा सकता है, क्योंकि दोनों ही व्रज के भूषण हैं। उत्तरपद के रूप 'मणि' शब्द का प्रयोग राधासुधानिधिस्तव के पद्य संख्या २६, ४६, ५०, ७७, ६१, १५६ और २०३ में हुआ है। इन स्थलों पर सर्वत्र मण्यन्त विशेषण राधा-वाचक है, पर पद्य-संख्या ६७ (या वाराधयति प्रियं व्रजमणिम्,) में 'व्रजमणि' शब्द श्री कृष्णपरक ही है। 'व्रजमणि' का प्रयोग प्रस्तुत पद्य तथा पद्य ६७ के सिवा अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है, अतः 'व्रजमणौ' का अर्थ यहाँ कृष्णपरक ही लगाना उचित है।

यो लोकमैहिकामुष्मिकं च न जानीते च पुनः निगमजातम् । जातः समूहार्थे । वेदसमूहं, चतुर्वेदसाङ्गोपनिषदं वा तज्जातं कर्म धर्मं च न जानीते वा । अथवा कुलपरम्परां, गोत्रवेदप्रवरशाखादिनिबद्धचरतपरिपाटीं नो जानाति । 'अहह' इत्याश्चर्ये । अन्यत् किं ब्रूमः सतां भागवतानां चरितम् पूर्वे कथं भगवद्धर्ममचरन्निति सम्प्रदायमार्गं चापि नो जानाति । किञ्च 'त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे' रिति, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजे' दिति, 'देवर्षिभूता से' त्यत्र, 'सर्वात्मना यः शरणं शरण्य' मित्युक्त्या लोकवेदकुलत्यागानन्तरं भगबद्धर्मः सेव्यः स्यादिति श्रीभागवतगीतादौ प्रसिद्धस्तन्न जाने । अहो! तदा किमपि जानाति चेत्तत्राह । किलेति निश्चयेन राधायां रसं आभजति, व्रजमणौ कृष्णे भावं आभजति, आ समन्तात् सम्यगित्यर्थः । यस्य रहसि एकान्ते हार्द्देवा एतदिति वृत्तमित्यर्थः । तस्य स्थितिरपि लोकस्थितिः साधारणानामितरलौकिकजनानामिव लोकवेदकुलसदाचाराज्ञानदृष्ट्या सामान्या गतिर्नास्ति, किन्त्वसाधारणैव ज्ञेया ।

रसकलश

जो इहलोक और परलोक को नहीं जानता, अङ्गों सहित चारों वेद और उपनिषदों को नहीं जानता और न उनके द्वारा प्रतिपादित कर्म-धर्म को जानता है, अथवा गोत्र, वेद, प्रवर, शाखा आदि में बंधी आचार पद्धति को नहीं जानता और, आश्चर्य तो यह है—ज्यादा क्या कहें—भागवतों के चरित्र को नहीं जानता कि पूर्वजों ने भगवद्धर्म का—जो कि एक विशिष्ट संप्रदाय मार्ग है—कैसे पालन किया, और यह कि 'अपना धर्म छोड़कर इसके चरणारविन्द का ध्यान करे', वह देव-ऋषि स्वरूप है,' सब धर्मों को छोड़कर केवल एक मेरी शरण में आ जाना चाहिए; 'जो संपूर्ण हृदय से शरणागत-वत्सल भगवान् की शरण में जाता है' इन उक्तियों के अनुसार लोक, वेद, कुल का परित्याग कर भगवद्धर्म का सेवन करना चाहिए, यह जो श्रीमद्भागवत, गीता आदि में प्रसिद्ध है, उसे भी नहीं जानता ··· अरे ! तो कुछ जानता भी है ? इस पर कहते हैं--निश्चय ही जो राधा में रस और व्रज में मणि तुल्य श्रीकृष्ण में भाव (प्रीति) की दृष्टि से उनकी उपासना करता है—'आ-भजति' में आङ् उपसर्ग का अर्थ है सम्यक् रूप से—जिसके एकान्त में अथवा अन्तरतम में इस प्रकार का आचरण प्रतिष्ठित हो गया है (अथवा जिसके भावना जगत् में ऐसी घटना घटी है) उसकी सांसारिक स्थिति अन्य साधारण दुनियाबी व्यक्तियों की तरह केवल इस आधार पर सामान्य नहीं कही जा सकती कि उसे लोक, वेद, कुल, सदाचार आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं है, प्रत्युत उसकी लौकिक स्थिति (लोक, वेद आदि का ज्ञान रखने वालों

किञ्चेदृग्वासना बहुभजन पूर्वसंस्कारेण प्राप्यते। यद्वा स्थितिरुत्तरभूमिकानारोहोऽपि केवलरसभावमात्रज्ञानं, न च विवेचनभजनास्वादप्रेमदृशा-वृद्धिः। साप्यसाधारणैव, नान्या ज्ञेया, इत्यर्थः। तदोत्तरावस्थावतां किमु-वाच्यमित्यर्थः। तदपेक्षया प्रारंभतोऽयं 'रहस्ये यस्तस्येति' पाठश्चेत् सुगमः।

अथ रसभावविवरणम्। भावो भक्तिः, सर्वोत्तममाहात्म्यज्ञानपूर्वक-पूर्णभजनीयता। यथा 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय' मित्यादेः। यथा च शतके—'धन्यो लोके मुमुक्षु 'रित्यत्र' श्रीमद्वृन्दावनेश्वर्यतिविवशाराधकः सर्वमूर्द्धा' इत्यादिनातः परं भजनीयो नास्तीति भावः। सा तु व्रजमणौ नन्दयुवराजे व्रजेतिविख्यात शुद्धप्रेमिणां व्रजजनानां प्रेमास्पदे परिपूर्णतम इत्यर्थः।

अथ रसम्। रस आस्वादने। आस्वादनं पूर्णमाधुर्यमयम्। नातः परं रसोऽस्तीति तादृशपरात्पररसधनस्यापि रसानन्ददत्वात्। एवमुभयोः रस-भावविषयरूपेण सर्वोत्तमता साधकहृद्युक्ता। यद्यपि दस्यत्योर्माधुर्यभजनी-

---

रसकलश

की तुलना में) असाधारण ही समझनी चाहिए। रसोपासना की यह भावना तो बहुत भजन करने के उपरान्त और पूर्व जन्म के संस्कार से ही मिलती है।

(उपरोक्त व्याख्या 'स्थिति' का अर्थ लौकिक स्थिति लगाकर की गई है। अब दूसरा अर्थ बताते हैं)

अथवा वह स्थिति जो साधना की उच्चतम भूमि पर पहुँचने की है। जिसमें साधक को रस और भाव का केवल सैद्धान्तिक ज्ञान होता है। इस स्थिति में भागवत धर्म और रस-पद्धति के तुलनात्मक विवेचन की क्षमता नहीं होती, और न भजन में स्वाद पैदा होता है और न प्रेम-दशा में वृद्धि। रस संप्रदायी की इस निम्न कोटि की स्थिति को भी समझना औरों के लिये टेढ़ी खीर है—यह अर्थ है। ऐसे में जो साधक रसनिष्ठा की उच्चतर भूमि पर स्थित हैं उन्हें समझना तो बहुत दूर की बात है। यह अर्थ और भी ठीक बैठता यदि प्रारम्भ में ही 'रहस्ये यस्तस्य' यह पाठ होता।

अब रस और भाव की पृथक्-पृथक् व्याख्या करते हैं। 'भाव' का अर्थ है भक्ति-अपने उपास्य के सर्वोत्तम माहात्म्य को जानकर यह निश्चय कर लेना कि वही भजन करने के योग्य है। जैसे—'कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं, इत्यादि वाक्यों से प्रमाणित है। श्री वृन्दावन शतक में कहा है—'संसार में मुक्ति की कामना करने वाला धन्य है', इसी मेंआगे लिखा है, 'किन्तु श्री वृन्दावनेश्वरी परम रस विवश श्रीकृष्ण की आराधना सबकी मुकुटमणि हैं।' भाव यह है कि उनसे ऊपर भजनीय कोई नहीं है, ऐसा विश्वास होना चाहिये। वह भजनीयता व्रजशेखर, नन्दकुमार, व्रज नाम से प्रसिद्ध शुद्ध प्रेमी व्रजवासियों के प्रेमपात्र अत्यन्त परिपूर्ण श्रीकृष्ण में है, (यह आशय है श्री प्रबोधानन्द जी का)।

यतासाम्यमेव, तथाप्येकस्य मुख्यतयोदयाद् भेदः। अन्यथा विपरीतोदये सखीभाववतः साधकस्य स्वातंत्र्येण कृष्णे रसोदयाद् गोपीभाव आगच्छेत्, श्रीराधायां स्वातंत्र्येण माहात्म्यभजनीयतोदयाच्छक्तिवाद आपतेत्। अतो माधुर्यास्वादरीत्या-भजनं तस्याः। तत्संबन्धसंवलितमाहात्म्यरीत्या भजनीयता तस्येति। राधायां रसोऽत्र साधकस्य सख्यरसः। वक्ष्यते चात्रैव 'तयोर्दासीभूत्वा' इत्यत्र हरिहरिदृशोर्गोचरयितु' मिति, 'श्रोष्ये कदा मञ्जीरकाञ्चीध्वनिमित्यादि शृंगारस्तु दंपत्योरेव परंतु तदानन्ददर्शनास्वादाधिकारित्वेन रसभजनम्। यथात्रैवोक्तम्—श्रीराधाया अनुरूपमेव परमं धर्मं रसेनाचरन्नित्यत्र, नतु माहात्म्येनेत्यर्थः कृत एव। किञ्च माहात्म्यं शास्त्रोपदेशापेक्षं, रसस्तु स्वहृदयोल्लासापेक्षश्चेति। यद्वा अलंकार कौस्तुभे—'चित्तद्रवः स्थायिभावः प्रेमाख्यः प्रथमो रसः', शृंगार इत्यर्थः। प्रेम्णश्चप्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते, 'भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते', भरतश्च—'भावा एवाभिसंपन्नाः प्रयान्तिः रसरूपताम्', 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते,' इत्यादि। अयं भावः—

रसकलश

अब रस को लीजिए। यह शब्द आस्वादनार्थक रस् धातु से निष्पन्न है। आस्वादन पूर्ण माधुर्यभाव से परिपूर्ण होता है। विश्वास यह होना चाहिए कि इनसे (श्री राधा से) बढ़कर रस अन्यत्र नहीं है, क्योंकि वे (श्रीराधा) परात्पर और सघन रस की मूर्ति श्रीकृष्ण को भी रस (आनन्द) प्रदान करती हैं। इस प्रकार श्री राधिका को रस का और श्री कृष्ण को भाव का विषय बताकर साधक के हृदय में श्रीराधा की सर्वोत्कृष्टता का प्रतिपादन किया है। यद्यपि माधुर्य और भजनीयता दंपती में समान रूप से है, तथापि दोनों भावों में से एक भाव प्रधानरूप से (श्रीराधा में माधुर्य और श्रीकृष्ण में भजनीयता) रहता है, यही भेद है। नहीं तो रस और भाव के विपरीत क्रम से उदय होने पर यदि सखीभाव के साधक को स्वतंत्र रूप से श्री कृष्ण में रस की अनुभूति होने लगे तो उसमें गोपी-भाव आ जायेगा, और श्री राधा का माहात्म्य जान कर स्वतंत्र रूप से उनके प्रति भक्ति पैदा हो गई तो श्रीराधा शक्ति होकर रह जायेंगी। अतः श्रीराधा के प्रति भक्ति माधुर्य और आस्वाद्यता की भावना को लेकर और श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति श्रीराधा का प्रियतम होने के नाते उनका माहात्म्य जानकर होनी चाहिये। साधक के लिये श्रीराधा में सख्य रस है। यहीं आगे चलकर कहेंगे –'श्रीराधा की दासी बनकर उनके बढ़े हुए केलि-रस को आँखों से देखने की आशा मुझे बेचैन किये रहती है', तथा 'राधा-माधव के नूपुर और मेखला की ध्वनि को कब सुनूंगी।' इन पद्यों में वर्णित श्रृंगार तो दंपती का ही है, पर सहचरियाँ उनका आनन्द देखने की अधिकारिणी हैं, अतः उनकी उपासना रसोपासना है। अभी कह आये हैं—'राधा-

देवत्वमत्र सेव्यत्वं नेश्वरत्वं, रसक्षतेः। रसोद्बोधकोभावः। रससहचरत्वेन कृष्णे भावम्। यथा 'तद्भवोत्सवतः परं भवतु मे तत्प्राणनाथे रति, रिति। एतदेव परिभाषितम्—'रसोपसर्जनीभूतो भावो मुख्यो रसः स्मृत' इति। रसं राधायामित्यत्र श्रृंगारःश्रृंगारस्तु दंपत्योर्मिथ एव। दासीनान्तु तद्रसदर्शनपरिचर्यानन्दात्मकः सख्यरस एव। ततस्तस्यां विगलितवेद्यन्तरता। स्वमनसो दास्यसख्यरतिस्थायिनिष्ठात्मको रसः स्वातंत्र्यममत्वेन पूर्णावस्थः, तदनुगत्वेन पारतंत्र्याद्भाव इति। एतादृशतारम्यभजनं रहस्येव कार्यं, परमगोप्यत्वान्नतु प्रकटे। किञ्च कथमपूर्णरसत्वं कृष्णे, कथं वा पारतंत्र्यमित्याद्यनभिज्ञविवादग्रस्तता स्यादतः प्रकटे भजनीयतासाम्यमेव वाच्यं, नच रसभावतारतम्यम्। अत एवासाधारण्यमुक्तम्। तथैव तारतम्यं परमरसाधायकं श्री प्रबोधानन्देनोक्तं शतके—

रसकलश

सम्बन्ध के अनुकूल परम धर्म की रस-भाव से उपासना करता हुआ।' इस पद्य के अर्थ में स्पष्ट कर दिया गया है कि रसमार्गीय की उपासना श्रीराधा को रसाधिष्ठात्री मानकर होनी चाहिये, न कि उनके माहात्म्य ज्ञान से प्रेरित होकर। दूसरे यह कि माहात्म्य ज्ञान शास्त्रों के उपदेश से होता है जबकि रसानुभूति के लिये यह आवश्यक है कि अपने हृदय में आनन्द का उद्रेक हो। 'चित्त की वह तरलता (द्रवण) जो प्रेम नामक स्थायिभाव के उद्रेक से पैदा होती है, प्रधान रस अर्थात् शृंगार कहलाती है', 'प्रेम की प्रथम अवस्था भाव कहलाती है', 'भाव ही सघन होकर पंडितों द्वारा प्रेमा कहलाता है।' भरत कहते हैं—'भाव ही (विभाव, अनुभाव, संचारी से) समृद्ध होकर रस रूप को प्राप्त होते हैं।' 'देव (माता-पिता, राजा, गुरु) विषयक रति को भाव कहते हैं', इत्यादि। तात्पर्य यह है कि रस-मार्ग में देवत्व का अर्थ सेवा करने योग्य है, न कि ईश्वरत्व, क्योंकि ऐश्वर्य रस के उद्रेक में बाधक होता है। भाव रस को जागृत करता है। रस का सहगामी होने के कारण कृष्ण में भाव की ही स्थिति है। कहा भी है—'श्रीराधा में उत्सव के समान आल्हादकारी भाव (रति) होने से उनके प्राणनाथ में प्रीति हो।' परिभाषा में भी यही कहा गया है—'भाव तो रस का सहायक है, मुख्य तो रस ही है।' प्रस्तुत में जो कहा है 'रसं राधायाम्' (राधा में रस), सो उसका अभिप्राय यह है कि युगल स्वरूप को परस्पर में तो शृंगार रस की अनुभूति होती है, परन्तु दासियों का तो सख्य रस ही है जिसका स्वरूप है दंपती का रस-दर्शन, उनकी परिचर्या तथा तज्जन्य आनन्द का भोग। इस की रस अनुभूति में अन्य किसी ज्ञेय सत्ता का भान नहीं रहता। अपने मन में स्थित साक्ष्य और सख्य रति में अचल निष्ठा ही रसका स्वरूप है। स्वतंत्र और ममतापूर्ण होने के कारण वह स्वसंपूर्ण है, जबकि भाव,

राधाकृष्णाविह भगवतो रूपसारैकतत्वे,
तद्धामस्त्वद्भुत रह इदं श्रीलवृन्दावनाख्यम् ।
आस्तां वार्तात्विह धृतवती तारतम्यं ममान्या-
स्वाद्य प्रेमोत्सव रस चमत्कारिणी स्यात् परं धीः ॥

व्याख्या—इहेत्यत्र राधाकृष्णयोर्मिथो रतिविषयाश्रयभेदेनासक्तासज्य-तारतम्यं, सख्यपेक्षया रसभावभेदेन स्वातंत्र्यपारतंत्र्यतारतम्यम्, वृन्दावने च व्रजनिकुञ्जादिबहिरन्तरंगतारतम्यम् । यदीदृक् तारतम्यं धृतवती मम धीः स्यात्तदैवान्येत्यादिचमत्कारिणी परं केवलं स्यात् । अन्यो विलक्षणः प्रसिद्धरसादित्यर्थः । अत एवेदृग्रसेनात्र रसिकार्द्रदृग्भावेनैव भावुका अस्मिन् मार्गे उपासका ज्ञेया, नान्यादृशा इति । एवं लोकवेदकुलसदाचारचतुष्टय-ज्ञानविस्मृतिपूर्वकराधाकृष्णरसभावरहोभजनकर्तृ स्थितिसाधारणागम्यत्वो-क्त्या स्वमार्गसिद्धान्त उक्तः ।

रसकलश

रस का अनुगामी होने के कारण परतंत्र है । रस और भाव में ऐसी सापेक्ष महत्त्व-बुद्धि (भेद दृष्टि) रखकर यदि भजन करना है, तो एकान्त में ही करना चाहिए, प्रकट में नहीं, क्योंकि इस प्रकार की भावना को गुप्त ही रखना चाहिए । दूसरे, जो रसमर्मज्ञ नहीं है उन्हें यह बताना कि कृष्ण में रस पूर्णरूप से निष्पन्न क्यों नहीं होता अथवा भाव अपनी सत्ता में परतंत्र क्यों है, विवाद को आमंत्रित करना है । अतः सबके सामने तो यही कहना चाहिए कि श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों में एक जैसा भाव रखकर उपासना करनी चाहिये, यह कि रस और भाव में कोई अन्तर नहीं है । इसी लिये रसात्मक सेवा-पद्धति को असाधारण (विलक्षण) कहा है । श्री प्रबोधानन्द ने वृन्दावन शतक में तारतम्य की भावना को जिस प्रकार रसोद्रेक का कारण बताया है, उसे देखिये—

'श्रीराधा और कृष्ण यहाँ भगवान् के एक रूप-सार के दो तत्व हैं । उनका धाम श्री वृन्दावन भी अति-अद्भुत रहस्य की वस्तु है । यह सब ठीक है, पर मेरी बुद्धि राधा कृष्ण के (भजनीयता विषयक) तारतम्य को जब ग्रहण कर लेगी तभी उसमें केवल विलक्षण प्रेम-रस के आस्वादन का चमत्कार पदा होगा'।

व्याख्या—यहाँ (रसोपासना के क्षेत्र में) राधा और कृष्ण में सेव्यता विषयक भेद यह है कि श्रीराधा रति का विषय हैं और श्रीकृष्ण उसके आश्रय हैं, इसीलिए श्रीकृष्ण आसक्त और श्री राधा आसज्य हैं । सखियों के दृष्टिकोण से रस और भाव का भेद होने के कारण स्वतंत्र और परतंत्र का भेद है । वृन्दावन के सम्बन्ध में व्रज और निकुंज के भेद से बाह्य और अन्तरंग का भेद है । मेरी बुद्धि जब इस तारतम्य को ग्रहण कर सकेगी तभी उसमें केवल विलक्षण प्रेम-रस के आस्वादन का चमत्कार पैदा होगा । "अन्यास्वाद्य प्रेमरस' में 'अन्य' शब्द का अर्थ है प्रसिद्ध रस से विलक्षण । अतः इस

भूयोऽवशेषव्याख्यामाख्यायते—'व्रजमणौ' इति श्रीवृषभानुश्रीनन्दयोः पूर्ण-संबन्धो द्योत्यतेऽतः पितृकुलदत्तदास्याः स्वामिन्यां रसः, तत्पतित्वेन कृष्णे भाव इति। किञ्च देवादिविषयरतेर्भावोक्तित्वात् अप्राप्ये दुर्लभे या प्रीतिः सा भावः स्यात्, एकतः प्रीतिर्द्वितीयतोऽभावात्। उभयोर्मिथः प्रीतौ रसो भवति। किञ्च प्रथमतो रसो रस्यमानपदार्थो निर्विशेषः। स एवाधिष्ठानभेदेन वात्सल्यादिविशेषं भजते। अत्र साधकस्य हास्यसख्यात्मकः। अतो राधां स्वस्वामिनीं सखीं वा प्रेम्णा मनुते। सा च तामन्तरंग-सखीं मनुते, इति मिथः सख्यरसो दास्यरसश्च तत्र। तत्प्रीत्या कृष्णेऽपि प्रीतिं कुरुते। सा तु दास्यरसं प्रियायामेव साध्यत्वेन मनुते। प्रियाप्रीत्यर्थं प्रियदास्यमपि कुरुते, परन्तु मुख्यममत्वं तस्यामेव। प्रियदास्यं च साधनं मनुते। यथोक्तम्—'यद्गोविन्दकथासुधारसह्रदे चेतो मयोज्जृंभितम्, इत्यत्र 'गोपेन्द्रात्मजजीवनप्रणयिनी श्रीराधिका तुष्यतु' इत्यादिः अत-स्तस्मिन् भावः।

रसकलश

मार्ग में वही भावुक लोग उपासक माने जायें जिनकी दृष्टि इस प्रकार रस से भीग चुकी है, अन्य प्रकार से नहीं। इस तरह लोक, वेद, कुल, सदाचार, इन चारों से संबन्धित ज्ञान को तिलांजलि देकर रस और भाव की भूमि पर राधाकृष्ण के भजन करने वाले की स्थिति को सामान्य जन की पहुंच के परे बताकर अपने मार्ग का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

पद्य के शेष अंश की अब फिर व्याख्या करते हैं—'व्रजमणि' शब्द से श्री वृषभानु और नन्दजी का पूर्ण सम्बन्ध प्रकट होता है, इसलिए नैहर से आई हुई दासी का अपनी स्वामिनी के प्रति रसात्मक दृष्टिकोण है और श्रीकृष्ण के प्रति भावात्मक। दूसरी बात यह कि देव (राज-पुत्र) आदि में रति भाव कहलाती है। अप्राप्य या दुर्लभ वस्तु या व्यक्ति के लिये जो प्रेम होता है वह भाव-कोटि में ही आता है, क्योंकि इसमें इकतरफा रति रहती है, विषय में प्रीति का अभाव ही रहता है। रस की निष्पत्ति तभी होती है जबकि दोनों ओर से प्रेम हो। दूसरी बात यह कि रस-पदार्थ जिसका कि चर्वण किया जाता है, सिद्धान्त रूप में एक सामान्य (निर्विशेष) तत्व है। आश्रय का भेद होने से इसकी वात्सल्य रस, सख्य रस आदि संज्ञा होती है। रस-मार्ग में साधक को रसानुभव दास्य और सख्यभाव से होता है, अतः साधक श्रीराधा को स्वामिनी या सखी मानता है और श्रीराधा उसे अपनी अन्तरंग सखी मानती हैं। इस प्रकार परस्पर सख्य और दास्य रस हैं। श्रीराधा में प्रीति के कारण साधक श्रीकृष्ण से भी प्रेम करता है, अतः उसकी ममता प्रधान रूप से प्रियाजी में ही है। प्रिय—श्री कृष्ण की दासता को तो वह राधापद प्राप्ति का साधन मात्र मानता है। कहा भी है—'गोविन्द कथामृत रस रूपी झील की सतह पर जो मेरा मन छा गया

एवमाभजतोऽन्यलोकाद्यनभिज्ञतया लोकस्थितिरपि साधारणगम्या-नास्ति। तत्स्थितिं कोऽपि विरलो जानाति, तद्धार्दस्य तेषां वासाधारणत्वे कैमुत्यम्। किञ्च लोकस्थितिरवताराणामपि साधारणैव प्रतीयते 'नृलोक-मनुशीलयन्' इत्यादौ। अतो हार्दस्य कैमुत्यम्।

अथवा स्थितिर्यस्यैवं स्थायिनिष्ठा, साच साधारणानां सर्वेषां प्राप्या नास्ति। अर्थात् तेऽन्तरंगप्राप्तौ प्रियप्रसादे जाते तस्मिन् रसोदयः स्यादेव, स्वदास्यस्थायिनिष्ठां न रक्षितुं शक्नुवन्ति, यथात्र श्रुतिमुन्यादिगोप्य एव प्रमाणम्। अतः स्थायिनिष्ठानान्यगम्या। यथात्रैवोक्ता—'यदि स्नेहाद्राधे दिशसि रतिलाम्पटचपदवीम्' इत्यत्र 'तदपि मम निष्ठां शृणु यथा' इति। पुनश्च 'सुरतमाध्व्या मदयति विचित्रां स्नेहर्द्धिं रचयति तथाप्यद्भुतगतेस्त-वैव श्रीराधे पदरसविलासे मम मनः' इत्यादि। अत एव 'रहस्ये' इत्युक्तम्।

रसकलश

है······उससे नन्दकुमार की जीवनाधार श्रीराधिका प्रसन्न हों', इत्यादि। इसलिए श्रीकृष्ण में भाव है।

इस रीति से, लोक, वेद, कुलाचार आदि से अनभिज्ञ रहकर, जो भजन करता है उसकी स्थिति को ठीक-ठीक आँकना साधारण व्यक्तियों के लिए कठिन है। उसकी स्थिति को कोई बिरला ही जानता है। जब बाह्य स्थिति की ही पहिचान कठिन है तो उसके हृद्गत भाव अथवा इसके असाधारण होने के बारे में तो कहा ही क्या जाय?

अथवा 'स्थिति' का अर्थ स्थायी निष्ठा भी हो सकता है। श्रीराधिका में जिसकी निष्ठा ऐसी एकरस और अविचल है, वैसी निष्ठा साधारण श्रेणी के सब मनुष्यों को अप्राप्य है। अर्थात् जब उन्हें अन्तरंग सखी होने का अधिकार मिल जायगा, तो प्रियतम की उन पर कृपा होगी और उन्हें लेकर प्रियतम के हृदय में प्रेम का उन्मेष होगा ही। तब इस स्थिति में, हो सकता है, कि वे राधा-दास्य के प्रति अपनी निष्ठा को अक्षुण्ण न रख सकें। श्रुति और मुनियों के रूप में अवतरित गोपियाँ इसका प्रमाण हैं। अतः स्थायी निष्ठा रखना साधारण लोगों के वश की बात नहीं है। श्री राधासुधानिधिस्तव में ही कहा है—'हे श्रीराधे! स्नेह वश आप मुझे कभी रति लंपटता के मार्ग पर पहुँचे हुए अपने प्रियतम का दान या निर्देश भी देती हैं ······तो भी मेरी निष्ठा को सुनो।' पुनश्च एक स्थान पर हितसखी कहती हैं—'श्री श्यामसुन्दर सुरत की मदिरा या माधुरी से मुझे मदमत्त भी करते हैं तथा मेरे प्रति विचित्र स्नेह-समृद्धि के अनुकूल व्यवहार करते हैं, तथापि हे श्रीराधे! मेरा मन तो अद्भुत गति वाली तुम्हारे ही श्री चरणों के रस-विलास में संलग्न है। प्रस्तुत पद्य में उपात्त 'रहस्ये'

किञ्च तत्र कोटिकन्दर्पलावण्यमोहनस्याग्रे स्थितिर्दुर्घटैवेति, प्रियादास्यप्रभावाभावात्। 'अपीत्यस्य 'न' इत्यनेन सम्बन्धः। 'अपिसंभावनाप्रश्नशंकागर्हासमुच्चये, तथा युक्तपदार्थे च कामाचारक्रियासु च' इति विश्वः। अत्र युक्तपदार्थो गृहीतव्यः। तत्स्थितिर्नापि साधारणगतिरित्येवं युक्तैवेत्यर्थः ॥१४६॥

नन्वेवं श्रीराधारसभजने साक्षात् स्वयं भगवतः पूर्णतयानन्दघनकान्तादपि कमुत्कृष्टरसचमत्कारविशेषं लभते, इति चेत्तत्राह—

ब्रह्मानन्दैकवादाः कतिचन भगवद्वन्दनानन्दमत्ताः,
केचिद्गोविन्दसख्याद्यनुपमपरमानन्दमन्ये स्वदन्ते।
श्रीराधा किंकरीणां त्वखिलसुखचमत्कारसारैकसीमा
तत्पादाम्भोजराजन्नखमणिविलसज्ज्योतिरेकच्छटापि ॥१४७॥

रसकलश

(रहस्य में) का यही तात्पर्य है कि प्रियाजी की लीला, गति-विधि, स्नेह दया-माया— सब कुछ अपरिभाष्य है, क्योंकि यदि कोई सखी कभी-कभी अपनी दास्य मर्यादा से च्युत भी हो जाय, तो भी उनके प्रेम में कोई कमी नहीं आती। दूसरी बात यह कि कच्ची निष्ठा वाला व्यक्ति तो करोड़ों कामदेवों के लावण्य से संसार को मोहित करने वाले श्रीकृष्ण के आगे टिक नहीं सकता, क्योंकि ऐसे साधक को प्रियाजी की दासता का बल तो रहता ही नहीं और वह श्री कृष्ण के जादू से खिचकर उधर चला जाता है। 'अपि' (भी) का संबन्ध 'न' से है। विश्वकोष के अनुसार 'अपि' का प्रयोग संभावना, प्रश्न, शंका, निन्दा, समुच्चय तथा उचित अर्थों में होता है। यहाँ 'उचित' अर्थ लगाना ठीक होगा। तब अर्थ होगा—'उसकी स्थिति साधारण लोगों की समझ के बाहर है, यह उचित ही है ॥१४६॥

(अग्रिम पद्य की उत्थानिका के रूप में शंका उठाते हैं—) इस प्रकार श्रीराधारस की उपासना करने में साक्षात् स्वयं भगवान्, पूर्णतम सघन आनन्द स्वरूप, सुन्दर श्रीकृष्ण के भजन से भी बढ़कर उत्कृष्ट रस का कौन-सा चमत्कार मिलता है। इस पर कहते हैं—

कुछ लोग ब्रह्मानन्द को ही एक मात्र सिद्धान्त मानते हैं, कई एक भगवान् की वन्दना (अर्चना, श्रवण-कीर्तन आदि) से प्राप्त होने वाले आनन्द में ही मस्त रहते हैं, कुछ गोविन्द को सखा-भाव से भजकर अनुपम परमानन्द का आस्वाद लेते हैं, किन्तु श्रीमती राधा की दासियों के लिये तो श्रीराधा के चरण कमलों में शोभा

कतिचन वेदान्तपरिशीलननिष्पन्नमतयो ब्रह्मानन्दस्यैको मुख्यो वादो येषां ते तादृशास्तमेव निर्विशेषानन्दं मुख्यं वदन्तीत्यर्थः । 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा', 'विज्ञानमानन्दम्', 'ब्रह्म परात्परः', 'रसो वै सः' इत्यादेः । केचित् सविशेषोपासकाः शाश्वतभगवतो वैकुण्ठनाथस्य वन्दनानन्दे मत्ताः—वन्दनोपलक्षेन श्रवणादिभगवद्धर्मोऽपि गृह्यते—दास्यानन्देन स्वात्मानं कृतार्थं मन्यमाना नान्योऽस्मत्समोऽस्ति लोके, इति मादनम् । यथा—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिता ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ॥

इत्यादिमदोऽलौकिक एव । अत्र वन्दनादिसाधकावस्थावतां मदस्तदोद्धवादिसिद्धानांकैमुत्यं ज्ञेयम् । एवं ब्रह्मानन्दवादिमात्रास्तदानन्दं मुख्यतया निष्कर्षयन्ति, तदा प्राप्तानन्दानां कैमुत्यं चेति । अन्ये लीलामाधुर्योपासका गोविन्दस्य कृतसकलव्रजजनयोगक्षेमस्य सकललोचनपानपात्रमुखस्य परम-

रसकलश

देने वाली मणि जैसे नखों से छिटक कर क्रीड़ा करती हुई एक छटा (झलक) ही समस्त सुखों के चमत्कार के सार की एक मात्र सीमा है ॥१४७॥

कुछ लोग जिन्होंने वेदान्त का अनुशीलन करने के बाद अपने विचार स्थिर किये हैं ब्रह्मानन्द को ही मुख्य सिद्धान्त मानकर उसी निर्विशेष आनन्द को सर्वोत्तम बताते हैं, यह अर्थ है। (इस सिद्धान्त के समर्थन में वे वक्ष्यमाण वाक्यों को प्रमाण स्वरूप उपस्थित करते है—) "आनन्दमय पुरुष का ब्रह्म ही आश्रय स्थान (पुच्छ) है,' 'विज्ञान आनन्द स्वरूप है', 'ब्रह्म परात्पर है', 'वही ब्रह्म रस है,' इत्यादि । सगुण ईश्वर के उपासक कुछ भक्त नित्यभाव से स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित भगवान् वैकुण्ठनाथ की वन्दना के आनन्द में मस्त होकर—वन्दना में श्रवण कीर्तन आदि भगवद्धर्म भी आ जाते हैं—दास्यभाव से प्राप्त होने वाले आनन्द से अपने को धन्य मानते हैं (और सोचते हैं कि) हमारे-जैसा भाग्यशाली यहाँ कोई और नहीं है। 'मस्त रहने' का यही अभिप्राय है, जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा है—

'आपकी सेवा के उपयोग में आये हुए, माला, सुगन्धित पदार्थ, वस्त्र, आभूषणों को सम्मानपूर्वक प्रसादरूप में ग्रहण करके आपकी जूठन खाने वाले हम आपके दास आपकी माया पर विजय प्राप्त कर लेंगे।'

इस प्रकार का मद अलौकिक ही है। वन्दना आदि की साधक अवस्था में से गुजरते हुए भक्तों को जब ऐसा मद है तो सिद्धावस्था को प्राप्त उद्धव आदि के मद का तो कहना ही क्या ! इसी प्रकार ब्रह्मानन्द के सिद्धान्त का केवल बखान करने वाले

१. तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्मानन्दवल्ली के पंचम अनुवाक से आनन्दमय पुरुष के देहवर्णन से उद्धृत । पूरा उद्धरण इस प्रकार है :—
'एतस्मात् विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर-आत्मानन्दमयः तेनैव पूर्णः । सवा एष पुरुषविध एव । तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोदो उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।'

प्रेमास्पदस्य सख्यमादिशब्देन दास्यवात्सल्यादि वा—सख्यं मैत्रीं सौहृदं चेति तस्यैव सूक्ष्मभेदः—तदेवानुपमं सजातीयभेदशून्यं परमं सर्वोत्कृष्टं विजातीय-भेदशून्यमानन्दं स्वदन्ते, आस्वादं कुर्वते। यथा श्रीदामसुबलाद्याः। अत्रापि लोके साधकास्तादृशभावममत्वा अनुपमपरमेति मत्वानन्दास्वादकास्तदा सिद्धानां कैमुत्यमिति।

'तु' इति पूर्वार्द्धव्यवच्छेदः। श्रीराधायाः प्रस्तुतप्रभावायाः किंकरीणां तस्याः श्रीमत्याः पदावेवांभोजौ परमसुकुमारौ तयो राजन्ति नखान्येव मणयस्तेषां विशेषेण लसतो ज्योतिष अनेकासां प्रतिक्षणनवोद्‌गतानां छटानां मध्य एकच्छटापि, सर्वासां कैमुत्यमित्यर्थः, अखिलानामुक्तानुक्तब्रह्मानन्दा-दिसुखानां ये चमत्कारास्तेषामपि सारस्यैका मुख्या सीमा वर्तते। अत्रैक-च्छटायां सर्वसुखसारा अन्तर्भवन्तीत्यर्थः। तदा भण्यतां कीदृग्विधोऽयमानन्द इति। किञ्च सर्वोपरितन सुखं तु गोविन्दसख्यादौ यत्र प्रेम निरावृतं भवति। अन्यत्रैश्वर्यांशेनावृतमस्तीति। तत एवानुपमपरमेत्युक्तिः। तादृश-गोविन्दो निकुञ्जे यथा—

रसकलश

जब ब्रह्मानन्द को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं, तो जिन्हें साक्षात् आनन्द मिल गया है उन जीव-न्मुक्तों का तो कहना ही क्या! लीला-माधुर्य के उपासक दूसरे लोग समस्त व्रजवासियों का योग-क्षेम वहन करने वाले, तथा जिनका मुख दुनिया की प्यासी आँखों के लिये चषक (प्याला) का काम देता है (जिसमें भरकर उपासकगण आनन्दमदिरा का पान करते हैं), ऐसे परमप्रेम के अधिष्ठान गोविन्द के सखा-भाव के अनुपम और सजातीय विजातीय के भेद से रहित (अर्थात् न तो जिसका कोई समकक्ष है और न विरुद्ध-धर्मा है) सर्वोच्च आनन्द का आस्वादन करते हैं। सख्य आदि कहने से दास्य और वत्सल्य भी समझ लेने चाहिए। मैत्री और सौहार्द भी उसी सख्यभाव के सूक्ष्म भेद हैं। श्रीदाम, सुबल आदि सख्य भाव के उपासक भक्तों के उदाहरण हैं। संसार में कुछ ऐसे भी साधक हैं जो सख्यभाव को न मानकर केवल अनुपम, परमानन्द का भोग करते हैं। फिर सिद्धावस्था में पहुँचे हुए भक्तों की तो बात ही क्या कही जाय।

पद्य के तृतीय चरण में प्रयुक्त 'तु' (तो) शब्द-पूर्वार्द्ध से सम्बन्ध तोड़ता है। जिनके प्रभाव का वर्णन चल रहा है उन श्रीमती राधा की दासियों के लिये तो उनके कमल के समान कोमल चरणों में शोभा देने वाली नखरूपी मणियों से सुशोभित होकर छिटकती हुई ज्योति की प्रतिक्षण नई-नई निकलने वाली अनेक छटाओं में से एक छटा भी—सबकी सब का तो कहना ही क्या है—समस्त कहे-अनकहे ब्रह्मानन्द से प्राप्त होने वाले सुखों के सार की मुख्य सीमा है। तात्पर्य यह कि यहाँ एक ही छटा के अन्दर सब सुखों के सार समाये हुए हैं। तब बताइए कि यह आनन्द कैसा है। दूसरे, सबसे बड़ा सुख तो गोविन्द के सख्य आदि भावों में है जहाँ कि प्रेम बिना किसी आवरण के रहता

अहो रसिकशेखरः स्फुरति कोऽपि वृन्दाटवी-
निकुञ्जनवनागरीकुचकिशोरकेलिप्रियः ।
करोतु स कृपां सखीप्रकटपूर्णनत्युत्सवो
निजप्रियतमापदे रसमये दधद्यः शिरः ॥

इतिरूपः । निजप्रियतमापदशिरोऽऽधानं त्वास्तां, परन्तु सखीप्रकट पूर्ण-नत्युत्सवस्तदा कीदृशोऽयमानन्दोत्कर्षः, सखीनां पूर्वोक्तानन्दवृन्दानि क्व कक्षायां स्थास्यन्तीति विचार्य शिरोऽऽधानादेव यन्नखच्छटोक्तिः । यथैव गोविन्दाभिधानसामयिककौतुकश्लोकः—

गोवर्द्धने धृते कृष्णमिन्द्राद्यैश्वर्यसेवितम् ।
वीक्ष्य राधा रसमयी निदधे स्वपदे दृशम् ॥

रसकलश

है, अन्यत्र वह ऐश्वर्य आदि से ढका रहता है। इसीलिये उसे अनुपम और परम कहा गया है। ऐसे गोविन्द की निकुंज में जो हालत होती है उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

'अहो ! वृन्दाटवी के निकुंज में नवनागरी के कुचों के साथ किशोर केलि जिसे प्रिय है ऐसे कोई रसिक शेखर स्फुरित होते हैं। बिना किसी संकोच के सखियों को पूर्णरूप से नमस्कार करना जिनके लिये उत्सव है और जो प्रियतमा (श्रीराधा) के रसमय चरणों में सिर रख देते हैं, ऐसे वे मुझ पर कृपा करें।' यह रूप है श्रीकृष्ण का। निकुंज में अपनी प्रियतमा के चरणों में सिर रखने की बात छोड़िये, वह तो (इससे भी दो कदम आगे बढ़ कर) सखियों को पूर्णरूप से नमस्कार करने को उत्सव मानते हैं। तब (बताइए) आनन्द का यह कैसा उत्कर्ष है, तथा जिनका उल्लेख किया जा चुका है सखियों के वे समूह किस श्रेणी में आयेंगे ? (अर्थात् किसी में भी नहीं) यह विचार कर श्री राधा के चरणों में श्री कृष्ण के सिर रखने का कारण ही यह कहा है कि 'जिन (राधा) के चरण कमलों की नखों की ज्योति की एक छटा ही किंकरियों के लिए परम सुखाधायक है। (कहने का अभिप्राय यह है कि यह सुख परिगणित सुखों में सबसे उत्कृष्ट है, क्योंकि ब्रह्मानन्द, वन्दनानन्द, सख्यानन्द के मूल स्रोत श्रीकृष्ण भी श्री राधा के चरणों में ही केवल नतमस्तक नहीं होते, वरन् वे किंकरियों की भी वन्दना करते हैं। ऐसे ही एक श्लोक में गोविन्द संबन्धी एक घटना के समय का कौतुक वर्णन किया गया है—

'इन्द्रादि के ऐश्वर्य से सेवित श्रीकृष्ण को गोवर्धन धारण करते देख श्रीराधा ने आनन्दित होकर अपने पैरों पर दृष्टि डाली।

इत्यत्र । अर्थात् तादृशोऽपि मत्पदपतिष्णुरेवेति वैदग्ध्यम् । छटास्तु प्रेमरस-मूर्त्यास्तस्याः प्रेमरसमय्य एव । 'यस्याः स्फूर्जत्पदनखे'त्यत्र 'सान्द्रप्रेमामृत-महासिन्धुकोटिविलास' इति । तादृशछटाया यः प्रेमानन्दः सः सर्वेषां परमांशीत्यर्थः । एतत्तटस्थशक्ति-प्रभावेण सूर्यादातपेन इव ब्रह्मपर्यन्तेष्वा-नन्दो यथोत्तरविलासोभवति । यथाह शतके—

धन्यो लोकेमुमुक्षुर्हरिभजनपरो धन्य धन्यस्ततोऽसौ
धन्यो यः कृष्णपादाम्बुजरतिपरमो रुक्मिणीशप्रियोऽतः ।
याशोदेयप्रियोऽतः सुबलसुहृदतो गोपकान्ताप्रियोऽतः
श्रीमद्वृन्दावनेश्वर्यतिविवशाराधकः सर्वमूर्द्धा ॥

पुनश्च स्वायंभुवागमे शिववाक्यम्—

ब्रह्मानन्दरसादनन्तगुणितो रम्यो रसो वैष्णव :
स्तस्मात् कोटिगुणोज्ज्वलश्च मधुरः श्रीगोकुलेन्द्रो रस ।
तच्चानन्तचमत्कृतिप्रति मुहुर्वर्षद् रसानां परं
श्रीराधापदपद्ममेव परमं सर्वस्वभूतं मम ॥ इत्यादि ।

रसकलश

श्री राधा का आशय यह था कि ऐसे पूर्ण ऐश्वर्यशाली श्रीकृष्ण भी मेरे पैरों पर सिर रगड़ते हैं। इससे श्रीराधा की विदग्धता प्रकट होती है। प्रेमरस की मूर्ति उन श्री राधा की छटायें भी प्रेम से परिपूर्ण ही हैं। कहा भी है— 'जिसके चरण कमलों के मणि जैसे नखों से छिटकती हुई छटाओं का विलास निबिड़ प्रेम के अद्भुत रस के कोटि विशाल समूह बन जाते हैं'। अर्थ यह है कि उस प्रकार की छटा में जो प्रेमानन्द है वह सब आनन्दों का परमांशी है, (ब्रह्मानन्द आदि सब उस छटाजन्य आनन्द के अंशमात्र हैं। नख एक तटस्थ शक्ति है जिसके प्रकाश से सूर्य से निकलने वाली धूप की तरह, ब्रह्मानन्द से लेकर—बाद के आनन्दों का उत्तरोत्तर अधिक विलास होता हैं। श्री वृन्दावन शतक में कहा है—

इस संसार में वह धन्य है जो मुक्ति की कामना करता है। जो हरिभजन परायण है वह धन्य धन्य है। उससे उत्कृष्ट वह है जिसकी प्रीति श्रीकृष्ण के चरणों में है। उससे भी ऊपर रुक्मणी वल्लभ का उपासक है। उससे भी अधिक प्रशंसनीय श्री यशोदानन्दन का भक्त है, उससे अधिक धन्य वह है जो श्रीकृष्ण की सुबल के सखा के रूप में उपासना करता है, उससे भी अधिक भाग्यशाली गोपीवल्लभ रूप का उपासक है, परन्तु श्रीमती वृन्दावनेश्वरी के परम रस-विवश श्रीकृष्ण का आराधक तो सबका मुकुटमणि है।

इसके अतिरिक्त स्वायंभुव आगम में-शिवजी की उक्ति है—

'ब्रह्मानन्द से असंख्य गुना सुन्दर वैष्णव रस है, उससे करोड़ों गुना उज्ज्वल और मधुर श्री गोकुलचन्द्र का रस है, उससे भी अनन्त चमत्कारी, बार-बार बरसता हुआ, रसों में श्रेष्ठ श्रीराधा के चरण-कमल का रस है। वही मेरा सर्वस्व है।'

अत्र प्रस्तुते किञ्चिल्लोकदृष्टयापि दृष्टान्तो दृश्यः । ब्रह्मानन्दादिषु क्रमेण । यथा राज्ञः (१) सर्वदेशाकुण्ठनियमनः प्रतापः (२) सचामरच्छत्रसभास्थितिः, (३) सनर्मसचिवैकान्तस्थितिः, (४) अन्तर्हर्म्ये सप्रियपर्यङ्कःस्थितिः, इत्यादि चतुष्टयानन्दवैशिष्टयं तत्तदधिकारिवैशिष्टयञ्च ज्ञेयम् । यदा च (१) वीणावंश्यादिर्निविशेषध्वन्यात्मकः, (२) ततः सस्वरावर्तकृतरागाविर्भावानन्दः, (३) ततश्च रसभावार्थालंकारविशिष्टाक्षरच्छन्दपदानन्दः, ततोऽपि यदा भावाभिनयादीङ्गितनाट्यरसप्रकाशानन्दस्तदा अपरोक्षातिशय एवेति क्रमेण दृश्यः । अन्यच्च आद्यास्तु आनन्दवादमात्रा एव, द्वितीया दूरतः प्रणत्यानन्द एव मत्तास्तृतीयानामानन्दास्वाद उक्तश्चतुर्थानां तु क्षणश आनन्दाब्धिस्तरंगितो वर्तते किमानन्दास्वादमहिमोच्यते, इति भावः । अत्र पादाम्भोजेति लम्बमानसमासः प्रत्येकपूर्वपूर्वावयवेष्वानन्दसारावधिकैमुत्यज्ञापको हितसखीहृदयपूर्णप्रेमोपलालनलालित्यमयश्चेति ज्ञेयो, नतु शब्दाडम्बर, इति सहृदयगम्यः । अखिलेत्याद्यपि गुडशर्करासिताकन्दवत् सारचमत्कारास्वादज्ञापकमिति ॥१४७॥

रसकलश

लौकिक दृष्टि से ब्रह्मानन्द आदि में रस के उत्तरोत्तर उत्कर्ष को समझने के लिये एक दृष्टान्त देख लेना चाहिये। (१) राजा का अपने शासित प्रदेश पर बिना किसी रोक-टोक के प्रभावशाली नियंत्रण रहता है, (२) राजा का दूसरा स्वरूप वह है जिसमें वह चमर छत्र धारण कर राज-सभा में बैठता है, (३) तीसरा वह रूप है जबकि वह एकान्त में मनोरंजन करने वाले विदूषक आदि क्रीड़ा-मंत्रियों के बीच में रहता है और (४) चौथा रूप वह है जिसमें वह अपनी रानी के साथ पलंग पर उठता बैठता है। अपनी-अपनी विशेषता लिये हुए राजा के ये चार आनन्द हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न समय पर इन विशिष्ट अधिकारों को भोगने वाला व्यक्तित्व भी विशिष्ट ही समझना चाहिए। एक दूसरा उदाहरण और—(१) वीणा, वंशी आदि से निकली हुई ध्वनि का सामान्य आनन्द, (२) उसके बाद स्वरों के आरोह-अवरोहों से रूपायित किसी राग की प्रतीति का आनन्द, (३) फिर गेय वस्तु के रस, भाव, अर्थ, अलंकार की व्यंजना करने वाला वर्ण-समुदाय, छन्द, तथा शब्दावली का आनन्द, (४) उससे भी अधिक भावों को व्यक्त करने के लिये किये गये अभिनय चेष्टाओं से अनुभूयमान नाट्य रस के प्रकाश का आनन्द तो बिलकुल प्रत्यक्ष और चरम सीमा का होता है। ये सब आनन्द क्रमशः होते हैं, यह ज्ञातव्य है। दूसरी बात यह है कि जिनका सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है उनका आनन्द तो केवल सिद्धान्त-ज्ञान तक सीमित है, दूसरे लोग दूर से ही प्रणाम आदि कर आनन्द में मग्न रहते हैं, (३) तीसरे वर्ग (सख्यभाव के उपासक) के भक्तों के आनन्द के विषय में ऊपर बता ही दिया है, चतुर्थ वर्ग में आने वालों का आनन्द-सागर तो प्रतिक्षण लहरें मारता रहता है। इस आनन्द के

एवं तत्वैक्येऽप्यानन्दास्वादातिशयतारतम्यमुक्तम् । इदानीं ननु वेदब्रह्मशिवनारदभक्तसुहृदाद्या अपरोक्षीकृतपरतत्वाः सर्वरसवेत्तारः कथं प्रस्तुतोत्कृष्टं रहो रसं न ज्ञातुमर्हन्ति, ज्ञानार्हे च कथमुद्यम्य न प्राप्ता, इति चेत् तत्राह—

न वेदैर्ब्रह्माद्यैर्न खलु न च भक्तैर्न सुहृदा-
दिभिर्यद्वै राधामधुपतिरहस्यं सुविदितम् ।
तयोर्दासीभूत्वा तदुपचितकेलीरसमये
दुरन्ता प्रत्याशा हरिहरि दृशोर्गोचरयितुम् ।।१४८।।

यद्राधामधुपतिरहस्यं तद्वेदाद्यैर्न सुतरां विदितं ज्ञातम् । प्रत्येकं नकारो निश्चयज्ञापकः । पद्यादावपि नकारः प्रथममेवाशंकां निराकरोति ।

आस्वाद की महिमा का कहाँ तक वर्णन किया जाय, यह भाव है। पद्य में 'पादाम्भोज' से प्रारंभ होने वाला समासान्त पद काफी लम्बा है। इससे यह सूचित किया गया है कि नखों से पूर्व के, फिर उससे पूर्व के अवयवों के आनन्द-सार की सीमा का तो कहना ही क्या है।

अर्थात् प्रियाजी के नखों की ज्योति की एक छटा में ही जब इतना सुख निहित है, तो उस ज्योति के मूलाधार स्वयं नाखूनों की आनन्ददायक शक्ति का तो कहना ही क्या है ! नाखूनों से पूर्व का अवयव प्रियाजी के चरणों की अंगुलियाँ है, अंगुलियों से पूर्व चरण हैं। उन सबके प्रभाव के सम्बन्ध में उत्तरवर्ती अवयवों की अपेक्षा पूर्ववर्ती अवयवों के आन्ददायित्व की अकथनीयता समझ लेनी चाहिए।

दूसरी ध्वनि यह भी निकलती है कि श्रीहितसखी के हृदय में स्वामिनी के चरणारविन्दों के प्रति पूर्ण प्रेम है और इस प्रेम के साथ ही वे श्रीराधा को लाड लड़ाती है। इस प्रेम और लाड के प्रभाव के कारण ही समासान्त पद इतना ललित बन पड़ा है (कि उसके पदविन्यास की माधुरी से हितसखी के हृदय का लाड-प्यार फूटा पड़ता है।) सुतरां लंबा समास कोरा शब्दाडंबर नहीं है—यह सब भावुकजनों के समझने का विषय है। 'अखिल सुख चमत्कार सारैक सीमा' में भी सुख, चमत्कार, सार, एक सीमा ये शब्द नगण्य अन्तर के साथ पर्यायवाची ही प्रतीत होते हैं, पर बात ऐसी नहीं है कहने को गुड़, शक्कर, खांड, कन्द सबका स्वाद मीठा है, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उन सबका स्वाद भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार 'सुख' शब्द सामान्य सुख को सूचित करता है, पर चमत्कारी होकर वह मानों अधिक कारगर हो जाता है; फिर उसका सार तो अत्यन्त सूक्ष्म, पर तीव्र और आस्वादन के योग्य होना चाहिए, इत्यादि।

किञ्च वेदास्त्रैगुण्यविषयाः स्वशेखरोपनिषदोऽभिमुखीकृत्य निश्चिन्ताः। तास्तुनिःशेषशेषं सूचयित्वा परावृत्ताः– 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', इत्यादेः एवं श्रुतयोऽपि ब्रह्मावधय एव। ननु ब्रह्माशिवाद्यास्तपोबलेन वाधिकारबलेन, किन्न विद्यु-तत्र 'नेति'। 'खलु' इति वाक्यालंकारे। भगवन्तम-परोक्षं कुर्वन्तु, प्रस्तुतरहस्याधिकारो नास्ति। अत्र कृपा चेत् किं किं न भवेत्। तत्रापि वक्ष्यमाणदासीत्वोक्तिरेव कारणं, यथा शिवोऽपि गोपीभूत्वा रास-दर्शनं चकार। अतएव सुतरामित्युक्तम्। राधेति, मधुपतिरित्येवं जानन्तु, परन्तु तद्रहस्यं स्वाधिकारबलेन न ज्ञातुं शक्नुवन्ति। रहस्यमित्येकान्त-रमणमिति, यद्वा गूढतत्वं याथार्थ्यम्। तदज्ञाने कारणद्वयम्—निजकृतं हरिकृतञ्च। आद्यं स्वेषामैश्वर्याधिकारित्वेन पूर्णैश्वर्यदर्शनानुपपत्या माधुर्यं साधारणमिव लगति, तेन यथार्थपूर्णतमस्वरूपं न दृष्टिमेति। श्री राधां गोपीसामान्यां कृष्णं विष्णवंशं चेति। द्वितीयं प्रभुकृतमायाजवनिकया

रसकलश

इस प्रकार श्री राधा कृष्ण के एक तत्त्व होने पर भी एक के सम्बन्ध में आनन्द के आस्वाद की अधिकता और दूसरे के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत कमी बताई। अब शंका यह उठती है कि वेद, ब्रह्मा, शिव नारद, भक्त (उद्धवादि) तथा मित्र (श्रीदाम सुबलादि) को तो परतत्व का साक्षात्कार हो गया था, सब प्रकार के रस के वे ज्ञाता थे, फिर भी राधा रहस्य को जानने में क्यों असमर्थ रहे और यदि जान सकते थे तो प्रयास करके भी उन्हें क्यों नहीं प्राप्त हुआ? इस पर कहते हैं :—

न वेद, न ब्रह्मादि (देवता), न भक्त, न मित्र आदि जिन राधाकृष्ण के रहस्य को नहीं जान पाये, उनकी दासी बनकर उनके बढ़े हुए केली-रस को, हाय! इन आंखों से देखने की असीम अभिलाषा है, यह कैसा आश्चर्य है ॥१४८॥

श्री राधा और मधुपति (श्रीकृष्ण) का जो गूढ़ तत्त्व है वह वेद आदि को भी ज्ञात नहीं है। वेद आदि प्रत्येक के पूर्व 'न' (नहीं) के प्रयोग से निश्चय सूचित होता है। श्लोक के प्रारम्भ में भी निषेधवाचक नकार पहले ही शंका को दूर कर देता है। दूसरे, वेदों का प्रतिपाद्य विषय त्रिगुणात्मक है और वे अपने मूर्धन्य उपनिषदों को सामने रखकर निश्चिन्त हो जाते हैं, और उपनिषद् 'नेति नेति' से जो कुछ बच जाता है उसे ब्रह्म का स्वरूप बताकर लौट जाते हैं। कहा भी है—'जहाँ से वाणी मन के साथ खाली हाथ लौट आती है' इत्यादि। इसी प्रकार श्रुतियों की पहुँच भी ब्रह्म तक ही है। प्रश्न उठता है—क्या ब्रह्मा, शिव आदि भी तपस्या या अधिकार के बल से न जान सके? उत्तर है—'नहीं।' पद्य में 'खलु' का प्रयोग वाक्य की शोभा को बढ़ाने के लिये किया गया है। वे भगवान् का साक्षात्कार भले ही कर लें, राधा-रहस्य को जानने का उन्हें अधिकार नहीं है। कृपा होने पर तो क्या कुछ सम्भव नहीं है, पर वहाँ भी जिस दासीभाव की आगे चर्चा की जायगी, वही कारण है। जैसे कि शिवजी ने भी गोपी बनकर रास का दर्शन किया था। इसीलिये 'सुतराम्' का प्रयोग

निजाचिन्त्यैश्वर्यशक्त्या अवरवेदाद्याः कथमग्रसरं जानीयुरिति तत्त्वम् । यथाह शतके—

श्रीराधाख्यं रूपं परमं रमादेव्याः ।
श्रीभगवतश्च परमं चरमं रूपं प्रियस्तस्याः ।। इति ।

अत्र च 'लक्ष्मीकोटिविलक्षे'ति नन्वाधुनोक्तिः कथं प्रमीयते यद्वेदाद्य-गम्यत्वात्, तत्र शुकोक्तिरेव प्रमाणम्—

यदंध्र्यनुध्यानसमाधिधौतया धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः ।।
वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ।

इति शुद्धबुद्धचपरोक्षीकृतपरतत्वानां सर्वेषामेव यथारुचिकथनमपि कथम-न्यथा प्रतीयते, तेनाप्यत्र तथैवोक्तं सर्वपरत्वम् ।

रसकलश

किया है । 'राधा', 'मधुपति' करके भले ही जान लें परन्तु अपने अधिकार के बल से उनके रहस्य को नहीं जान पाते । 'रहस्यम्' का अर्थ है एकान्त में रमण करना, अथवा गूढ़ तत्त्व या वास्तविकता । न जानने के कारण दो प्रकार के हैं—अपने द्वारा पैदा किया गया और श्रीकृष्ण के द्वारा । निजकृत कारण का तात्पर्य यह है कि अपने ऐश्वर्य के अधिकारी होने के कारण पूर्ण ऐश्वर्य के दर्शन तो उन्हें हो नहीं पाते, फलतः राधा कृष्ण विषयक माधुर्य उन्हें साधारण-सा लगता है । इससे होता यह है कि यथार्थ पूर्णतम स्वरूप उनके दृष्टिगोचर नहीं होता । वे श्री राधा को साधारण गोपी और श्री कृष्ण को महज विष्णु का अवतार मानकर रह जाते हैं । दूसरे प्रकार का कारण यह है कि प्रभु उनके सामने माया का पर्दा खड़ा कर देते हैं । (अथवा यह समझिये कि) श्रीराधाकृष्ण अपनी अचिन्त्य शक्ति का प्रयोग कर उन्हें अज्ञान में पड़ा रहने देते हैं । अपेक्षाकृत निम्न कोटि के वेद आदि जिन श्री राधाकृष्ण की सत्ता उनसे बहुत पहले की है, उन्हें कैसे जान सकते हैं, यहाँ यही तत्त्व की बात है । श्री वृन्दावन शतक में कहा है—'लक्ष्मी का परतम स्वरूप श्री राधा और भगवान् का अन्तिम से भी अन्तिम स्वरूप उनके प्रियतम हैं ।

यहां शंका उठती है कि जो राधाकृष्ण-तत्त्व वेद आदि के लिये भी अज्ञेय है, उसके सम्बन्ध में 'लक्ष्मीकोटिविलक्ष'—इस आधुनिक उक्ति को कैसे प्रमाणभूत माना जा सकता है ? (इस पद्य में कहा गया है कि कोटि-कोटि लक्ष्मियों के लिये विस्मयजनक लक्षणों से युक्त सैंकड़ों किशोरियों द्वारा आराध्य श्रीराधा नामक कोई तत्त्व है । भावार्थ यह है कि किशोरियां उनके महत्त्व को जानती हैं, पर वेद आदि नहीं ।) इस पर कहते हैं कि इस विषय पर तो श्री शुकदेव जी की ही यह उक्ति प्रमाण है—

'जिन चरणों के निरन्तर ध्यान और समाधि से शुद्ध हुई बुद्धि के द्वारा भावुक कविगण भी अपनी रुचि के अनुसार जिसके संबन्ध में ऐसी ही हैं । (यथार्थ है) कहते

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां सुदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेनराधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥
इति निरस्तसाम्यातिशयेनैव परत्वं चरमत्वं चायातं श्रीराधायाः । 'सात्वता' मिति गोपार्थत्वेन ऋषभः कृष्ण इति ।

ननु भक्तान् प्रति भगवानप्यात्मदो भवति यथोद्धवं प्रति—'न श्रीर्न शिवो न शेषो ब्रह्मा वा नैवात्मा च यथा भवान्' इत्यादौ किमपि न गोपितं, तदा तैर्भक्तैः कथं न ज्ञायते ? तत्रापि नेत्याह, दंपतिरहस्ये दासत्वानधिकारात् । किञ्च पार्षदाः प्रह्लादनारदाद्याश्च स्वभजनानन्दे मग्ना-अतो नैतादृशमाधुर्य वासनां विना दासित्वेश्रद्दधाना भवन्ति । अहो ! सुहृदादयस्तु अर्जुनोद्धवाद्या वा श्रीदामसुबलाद्या नर्मसखायः किन्न विद्युर्नैरन्तर्यातिशयात्, तत्रापि नेत्याह । यादृशी श्रीकृष्णस्य हृदयरतिनिष्ठा प्रियासमीपेऽस्ति तादृशी कुत्रापि नास्तीति परमरहस्यस्याकथनीयत्वात् तदपि नकारात् ते सुहृदादयो न विन्दन्ति निर्देशमात्रं जानन्तु । परन्तु सुतरां

रसकलश

हैं, वह भगवान् मुकुन्द मुझ पर प्रसन्न हों।' तो शुद्ध बुद्धि से परतत्व का साक्षात्कार करने वाले सभी ऋषि एवं मुनियों का अपनी-अपनी रुचि के अनुसार राधाकृष्ण के सम्बन्ध में उक्त रूप से कहने का उलटा अर्थ कैसे लगाया जा सकता है ? जैसा उन्होंने कहा है, प्रस्तुत में भी इसी प्रकार श्री राधा कृष्ण को सबसे परे का तत्त्व बताया है।

'निन्दनीय योगियों के लिये जिनकी दिशा भी बहुत दूर है और बड़ी से बड़ी समतओं को दूर करने वाली श्रीराधा के साथ अपने ब्रह्मस्वरूप (श्री वृन्दावन) में जो क्रीड़ा करते हैं, उन गोपों में श्रेष्ठ आपको नमस्कार है।'

तो समस्त उपमानों का तिरस्कार करने के कारण श्रीराधा का परम अन्तिम तत्त्व होना निष्कर्ष से सिद्ध होता है। 'सात्त्वताम्' का अर्थ गोप होने के कारण 'ऋषभ' का अर्थ हुआ श्रीकृष्ण।

शंका होती है कि भगवान् भी तो भक्तों को अपने आपको सौंप देते हैं, जैसा भगवान् उद्धव से कहते हैं—'(हे उद्धव !) जैसे मेरे लिये तुम हो वैसी न तो लक्ष्मी है, न शिव हैं, न ब्रह्मा और न मैं स्वयम्।' ऐसा कहकर भगवान् ने कुछ भी छुपाकर नहीं रक्खा है। तब वे भक्त भला उन्हें क्यों न जानेंगे ? इसका भी उत्तर 'नहीं' में ही है, क्योंकि दम्पती की रासलीला को देखने के लिये जिस दास्य भाव की अपेक्षा है वह उनमें है ही नहीं। रही प्रह्लाद, नारद आदि पार्षदों की, सो वे तो अपने भजन में ही मस्त रहते हैं, अतः इस प्रकार की माधुर्य भावना के बिना दासीभाव में उनकी श्रद्धा ही नहीं होती। अहो ! अर्जुन, उद्धव आदि मित्र अथवा श्रीदाम, सुबल आदि मनोरंजन करने वाले सखागण भला क्यों नहीं जान सकते, वे तो निरन्तर श्री कृष्ण के संपर्क में रहते हैं ? इसका भी जवाब वही 'नहीं' है। क्योंकि श्रीकृष्ण के हृदय की रति-निष्ठा जैसी प्रिया जी सान्निध्य में रहती है, वैसी अन्यत्र नहीं। कारण

सखीवन्नेत्यर्थः । तदा कथं ज्ञायते, तदुपायमाह—तयोः राधामधुपत्योर्दासी भूत्वा । यथोक्तम्—'दूकूलं बिभ्राणामथ कुचतटे कञ्चुकपटम्' इत्याद्यन्ते 'किशोरीमात्मानं किमिह सुकुमारीं नु कलये',इत्यादि । मधुर्मधुरसः शृंगार एव, तस्य पतिः स्वामी वा । राधापदसन्निधानेन तस्या एव मधुरधरा-सवस्तस्य पतिर्वा स एव पतिः पालको यस्येति । यद्वा मधुरं वृन्दावनं तत्पतिरिति सहृदयगम्योऽर्थः । तयोरेवोपचितमुल्लासितं वर्द्धितं केलीरसम् । 'अये' इति कोमलामंत्रणे हे । सजातीयाशयदृशोर्गोचरीकर्तुं दुरन्ता निःसीमा प्रत्याशा वाञ्छा वर्तते । तदहो 'हरि हरि' इत्याश्चर्यं । यद्वेदागोचरं तस्य मम गोचरीचिकीर्षा कथं सेत्स्यतीति पश्य मत्साहसमितिभाव, साध-कार्थे स्फुटएव । अर्थादहमेवमेवोपदिशामि दासीभावं विना सर्वथैतत् रहस्याप्राप्तिरिति 'दुरन्ता' इत्यत्र । यथा मुमुक्षा मुक्तिप्राप्तौ शाम्यति भोगप्राप्तौ च भुक्त्याशा च, तद्वन्नात्र । किञ्च सिद्धस्वरूपेऽपि केलीरस एव प्रत्याशा भवति । पुनः पुनः स एव तासां भोगस्तदा साधकस्य तु स्यादेव, तद्वासनाभावं विना तदप्राप्तेरित्यत उभयत्रापि प्रत्याशान्तो नास्तीत्यर्थः । अत्र श्री हितस्य तु दृग्गोचरीकृतयुगलरसस्य सत एवोक्ति

रसकलश

यह है कि अत्यन्त रहस्य की बात पहले तो श्रीदाम आदि को बताई नहीं जा सकती, दूसरे उसमें उनका अधिकार भी नहीं है, इसलिये वे मित्र आदि उनके रहस्य से अनभिज्ञ रहते हैं । यों उन्हें उसका आभास भले ही हो जाय, परन्तु किसी भी प्रकार उन्हें सखियों का-सा अनुभव नहीं होता । तब उन्हें ज्ञान कैसे कराया जाय ? इसका उपाय बताते हैं—श्रीराधाकृष्ण की दासी बनकर । कहा भी है--'प्रियाजी के द्वारा प्रसाद रूप में दिया गया दुकूल और कुचों के किनारों पर चोली पहिने हुए' से प्रारंभ कर अन्त में कहती हैं—'क्या मैं श्री वृन्दावन में चतुर किशोरी के रूप में अपने आपको पाऊँगी, इत्यादि । मधु यानी मधुर रस शृंगार उसके पति अथवा स्वामी (मधुपति) । अथवा श्रीराधा के चरणों के निकट रहने के कारण उसी राधा का मधु नयी अधर-मदिरा, उसका पति । अथवा वही अधरामृत जिसका पति यानी पोषक है । अथवा मधुर अर्थात् वृन्दावन के स्वामी—इत्यादि अर्थ रसिकजनों के समझने के हैं । उन राधा कृष्ण का उल्लास को पहुँचाया गया या बढ़ाया गया केलीरस । 'अय' यह कोमल संबोधन है –हे ! उस केलीरस को समान भावना रखने वाली आँखों से प्रत्यक्ष करने के लिये मेरी असीम आकांक्षा है 'हरि हरि !' यह आश्चर्य बोधक प्रयोग है । तात्पर्य यह है कि जो रहस्य वेद आदि के लिये भी अगोचर है उसे दृष्टिगोचर करने की मेरी इच्छा कैसे पूर्ण होगी ? लेकिन मेरे साहस को तो देखो—यह भाव साधक के पक्ष में स्पष्ट ही है । अर्थात् मैं तो यही उपदेश देता हूँ कि बिना दासी बने इस रहस्य की

र्वा ज्ञेयाः उभयदेहसेवनाविशेषात् । एवं त्रिभिः पद्यैः श्रीराधारसोत्कर्षोपासकसिद्धसाधकाधिकारिस्वरूपमुक्तम् ॥१४८॥

तदेवं दासीदृग्गोचरकेलिरसे स्मृते पुनरन्तरङ्गदशायां तमेव रसं विविक्षुः परस्परवाग्वैदग्धीं स्मृत्यागतामाह—

त्वयि श्यामे नित्यप्रणयिनि विदग्धे रसनिधौ
प्रिये भूयो भूयः सुदृढमनुरागो भवतु मे ।
इति प्रेष्ठेनोक्ता रमण मम चित्ते तव वचो
वदन्तीति स्मेरा मम मनसि राधा विलसतु॥१४९॥

त्वयीत्यादि प्रेष्ठेनोक्तानन्तरं रमणेत्यादि वदन्ती सती स्मेरा राधा मम मनसि विलसतु, इति संबन्धः । प्रेष्ठौक्तिमाह– हे श्यामे ! नवयौवने ! 'श्यामा षोडशवार्षिकी' इत्यनेन किशोरयौवनसन्धिरुक्तः । तत्रानेककला-

---

रसकलश

प्राप्ति हो ही नहीं सकती । इसलिये इस प्रकार की अभिलाषा को 'दुरन्त' कहा गया है । मोक्ष प्राप्त हो जाने पर जिस प्रकार मोक्ष की इच्छा शान्त हो जाती है और भोग भोग चुकने के बाद भोग की, वैसा यहाँ कुछ भी नहीं है, बल्कि सिद्ध-स्थिति में पहुँच जाने के अनन्तर भी केलीरस के प्रति कामना बनी ही रहती है वही सखियों का बार-बार का योग्य भाव है । जव सखियों की यह स्थिति है, तो साधक की तो होगी ही, उस वासना के बिना रहस्य की प्राप्ति जो नहीं होगी । अतः (सिद्ध और साधक की) दोनों स्थितियों में अभिलाषा और आशा का अन्त नहीं है—यह अर्थ है । यहाँ श्री हितसखी की उक्ति को इस रूप में समझना चाहिए कि उन्हें युगल रस का साक्षात्कार हो गया है, क्योंकि वह तो दोनों शरीरों से उस रस का समान रूप से सेवन करती हैं । इस प्रकार तीन पद्यों द्वारा श्री राधा सम्बन्धी उत्कृष्ट रस के उपासक सिद्ध और साधक का अधिकारी स्वरूप बताया है ॥१४८॥

इस प्रकार सहचरियों द्वारा नेत्रों से प्रत्यक्ष किये गये विहार रस का वर्णन करने के उपरान्त उसी रस को पुनः व्याख्या करने की इच्छा से स्मृति-पटल पर अकस्मात् अंकित हुए राधाकृष्ण के पारस्परिक वाणी-विलास का वर्णन करते हैं—

'हे श्यामे ! अविच्छिन्नरूप से अनुरागिणि, हे समस्त कला कुशल । हे प्रिये ! रस की आगार आप में मेरा बार-बार दृढ़ अनुराग हो, इस प्रकार प्रियतम के कहने पर 'हे रमण ! आपकी जैसी बात मेरे मन में भी है', यह कहती हुई मुस्कराती राधा मेरे हृदय में विलास करें' ॥१४९॥

प्रिय के द्वारा यह कहने पर कि आप में मेरा दृढ़ अनुराग हो, उत्तर में रमण ! आदि कहती तथा मुस्कराती हुई श्रीराधा मेरे मन में विलसित हो, यह केन्द्रीय भाव

नामागमः पूर्वमौग्ध्यानां संकोचश्च । पूर्वावरभावमिश्रणे सांकर्यात् भावशाबल्यानन्दः सहृदयगम्य एव तमानन्दं हृदि निधायाह—'श्यामे' इति । हे नित्यप्रणयिनि निरतिशयाबाधितानुरागवति ! नित्ययोगार्थे इन् प्रत्ययः । किञ्च भावशाबल्ये कदाचित् कोपाद्यपि स्यात्, तत् स्वप्नेऽपि नास्तीत्यर्थः । न च केवलानुरागजाड्यतया मौग्ध्य एवात आह—'विदग्धे !' सर्वकलाकुशले ! यथा सितामृते वा रसालायां कर्पूरैलालवंगसौगन्ध्यतिक्ताम्लादि मिश्रणेन क्रियासौष्ठवेन च केवलमधुररसस्यापि स्वादवैशिष्ट्यं स्यात् तथैवानुरागरसे वैदग्ध्यम् । तत्रापि न च केवलगुणापेक्षित्वमेवास्ति मम, इत्याह—'प्रिय' इति पूर्णप्रेमास्पदत्वेऽपि लीलार्थं पृथक्-प्राणमूर्ते ! अन्यथा एकरसविग्रहे त्वत्शब्दो नोपयुज्यते । 'रसनिधौ' मन्मनोमहामीनाश्रये सुदृढं यथास्यात्तथा ममातिरागो भवतु, इत्याशासे । रागस्तु नित्यस्थाय्येव, स्नेहातिशयेन तृषाधिक्यादति शब्दः । निजप्राणोक्तौ दाढर्च-

---

रसकलश

है । प्रिय की उक्ति बताते हैं—हे श्यामे अर्थात् नवयुवति ! सोलह वर्ष की अवस्था वाली को श्यामा कहते हैं । 'श्यामा' कहने से प्रियाजी में किशोर और यौवन अवस्थाओं का सन्धिकाल सूचित होता है । इस वयःसन्धि में अनेक कलाओं से पहले पहल परिचय होता है और पूर्वावस्था की मुग्धता शिथिल होने लगती है । सहृदय जन ही इसे समझ सकते हैं कि पहले की किशोर अवस्था तथा बाद के प्रारंभिक यौवन के भावों का एक आनन्ददायक मेला सा लग जाता है । उसी आनन्द को हृदय में रखकर कहते हैं—हे श्यामे ! नित्यप्रणयिनी, अर्थात् बिना विश्राम या बाधा के अनुराग करने वाली हो—इस अर्थ में 'प्रणय' शब्द से 'इन्' प्रत्यय होकर 'प्रणयिनी' बना है । एक भाव यह भी है कि भिन्न-भिन्न या विरोधी भाव जब एक स्थल पर आकर मिलते हैं (जिसे कि भावशबलता कहा जाता है) तो कभी क्रोध आदि भी हो जाता है, किन्तु यहाँ ऐसी कोई बात स्वप्न में भी नहीं होती । यह भी नहीं कि प्रेम में जो एक प्रकार की जड़ता आ जाती है उसके कारण निरा भोलापन ही हो । इसीलिये संबोधन दिया है—'विदग्धे' ! अर्थात् सब कलाओं में निपुण । जैसे चीनी के योग से तैयार किये गये शर्बत या दही की लस्सी में कपूर, इलायची, लौंग की सुगन्ध तथा खट्टी-तीखी वस्तुओं के योग से और पेय को प्रस्तुत करने की निपुणता से मीठे रस में एक स्वाद आ जाता है, वैसी ही विदग्धता प्रेमरस में भी होती है । एक बात यह और कि मुझे केवल गुणों की ही अपेक्षा नहीं है, यह सूचित करने के लिये कहते हैं—'प्रिये !' भावार्थ यह कि पूर्ण प्रेमाश्रय होने पर भी लीला के लिये आपने पृथक् प्राणदायी शरीर धारण

मस्त्येव, परन्तु स्वत्वमप्यनादृत्य तदीयोऽस्मि, विक्रीतोऽस्मीति स्वारस्य-मननात् दृढामिति। यत्रतत्र धूर्तेन्द्रेति कितवेत्युक्ति श्रुत्वा विचारयामि परिहासेऽपि मदविश्रम्भो मास्त्वनुरागे। स्वामिन्याः सकाशादेवानुरागमाशासे तद्वरं देहीत्यर्थः। अर्थात्त्वदत्तवस्तुनि न मम दर्प इति। अनेन परमासक्तभक्तत्वं ज्ञापयति।

एवं रागोज्जृम्भणे प्रेष्ठेनोक्ता सती तदुक्तिजकृपोज्जृम्भं स्तंभितुमशक्नुवती प्रिया इति वदन्तीति किं हे रमण! प्रेमविहारातृप्त! तव वच एतदेव ममचित्तेऽस्तीत्युक्त्वा पश्चादर्थस्मरणजरसोद्रेकजशीलध्रौव्यश्लथलज्जया मन्दहसिता। तत्र हितसख्या मनस्युक्तं दातृमनोद्रुतिकरशब्दार्थालंकृतिवाक्यपटुत्वं याचकस्य युक्तमेव। श्रीमत्यापि यदिङ्गितेनैव वक्तव्ये तच्छ्रीमुखेन किञ्चिदुक्तं तत् व्यंग्यकाव्ये जीवितं जातं युक्तमेवेति ज्ञेयम्।

'त्वद्वचो मच्चित्ते' इत्यनेनाह—मयि त्वदुक्तं पूर्वार्द्धमेव वच्मीति। तदा संबोधनं यत्तदेव सप्तम्यन्तमभूत्, इति हितसखी विवृणोति। प्रिया

रसकलश

किया है, नहीं तो प्रेमरस से ओतप्रोत दोनों का यदि एक ही शरीर होता तो 'तुम में' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं बैठता। 'रसनिधि' कहने का तात्पर्य यह है कि मेरे मनरूपी विशाल मच्छ के लिये आप समुद्र हैं। ऐसी आप में मेरी अतिशय प्रीति हो, यह आशा करती हूँ। प्रेम तो नित्यरूप से वहाँ स्थायी रहता ही है, किन्तु जब स्नेह की अधिकता होती है, तो प्यास भी अधिक होती है, यह जताने के लिये 'अतिरागः' में 'अति' उपसर्ग लगा है। 'दृढ़' शब्द में अन्तर्निहित भाव को स्पष्ट करते हैं—जब स्वामिनी जी को अपना प्राण कह दिया, तो अनुराग में दृढ़ता का भाव तो स्वतः ही आ गया, पर अपनापा हारकर मैं उन्हीं (प्रिया जी का) हूँ, उनके हाथों बिक चुका हूँ, अपने मन का यह भाव जानकर दृढ़ कहा है। (अब प्रियतम अपने मन में सोचते हैं—) इससे पूर्व प्रियाजी यदा-कदा मुझे धूर्तेन्द्र और छलिया कह चुकी हैं, अतः सोचता हूँ कि कहीं ऐसा न हो कि हँसी-मजाक में भी मेरे प्रेम के सम्बन्ध में उन्हें अविश्वास हो जाय। वास्तविक बात तो यह है कि मैं स्वामिनी जी से ही अनुराग का वर माँगता हूँ कि उसे मुझे दीजिये। अर्थात् आपके द्वारा दी गई वस्तु में मुझे कोई अभिमान नहीं है।

(प्रियतम के कहने का आशय यह है कि जिस वस्तु को मैं अपनी कहूँ उसके सम्बन्ध में तो घटा-बढ़ी की संभावना की जा सकती है, पर जो श्रीमती जी ने ही दिया है उसके बारे में तो वे ही जानें। यदि अनुराग कम दिया है, तो ज्यादा की भीख माँगता हूँ। रही ज्यादा देने की, सो उसका तो प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि प्रेम की प्यास कभी बुझती ही नहीं है।)

तु स्मित्वैव स्थिता। त्वयि दक्षिणाङ्गेऽपरप्राणमूर्तौ श्यामे कृष्णे चित्ता-कर्षके शृंगाररूपे नवयौवने रूपगभीरे इति नित्यप्रणयिनि अखण्डस्नेहाश्रये, विदग्धे, सकलमोहनकलानिपुणे, रसनिधौ अगाधरसे प्रिये कान्ते ममापि सुदृढमतिरागो भवत्विति भवते वरदानं दत्तं, तत् गृह्णीस्व, इत्याशयः। एवं परस्परवाग्वैदग्ध्यमुक्तम्।

अथवा अहो प्राणप्रिये त्वयि श्यामे इति। अर्थात् श्यामायामिति वक्तव्ये श्याम इति कथनं त्वं श्यामःस्या इत्यर्थः। एवं नित्यप्रणयिनि, विदग्धे, रसनिधौ, प्रिये इत्यादावपि स्वविशेषणान्येव तस्यां वाञ्छितानि। यदैवं तदाहमपि त्वं स्याम्, इत्थं मे सुदृढानुरोगो भवत्वित्याशासे। किञ्च यावत् त्वमहं पृथक् तावदनुरागदाढर्चं मम न भासते। अतएव मद्रूपस्त्वं त्वद्रूपोऽहमिति विनिमये सुदाढर्चं मन्ये। पश्चात् युष्मदस्मद्प्रयोगोऽपि न स्यात्। तदा प्रियाप्याह—एवमेव ममापि चित्तेऽस्तीति, तदा कोऽपि संकोचो न तिष्ठेत्, इति। यथालंकारकौस्तुभे—

रसकलश

इससे प्रियतम अपनी परम आसक्ति प्रकट करते हैं।

प्रियतम ने प्रेम के आवेश में आकर जब ऐसा कहा, तो सुनकर प्रियाजी के मन में इतनी कृपा उमड़ी कि उसे रोक न सकीं और बोलीं—हे रमण!—प्रेमविहार से कभी तृप्त न होने वाले!-'आपने जो वचन कहे हैं वही ज्यों के त्यो मेरे मन में भी हैं'। कह तो दिया यह स्वामिनी ने, पर तुरन्त जो उन्होंने इस पर ध्यान दिया कि अभी-अभी जो मैंने कहा है उसका अर्थ क्या है, तभी हृदय में आनन्द की बाढ़ सी आ गई, अनुरागशीलता दृढ़ हो गई, लज्जा शिथिल पड़ गई और जरा-सा मुस्कराकर चुप हो गईं। तब श्रीहितसखी ने सोचा—याचक की बतवनी ऐसी ही होनी चाहिये कि दाता का मन द्रवित हो जाय और शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों के प्रयोग से उक्ति में चमत्कार आ जाय। श्रीमतीजी ने भी, जो कुछ उन्हें संकेत से ही कह देना चाहिए था, उसे बहुत थोड़े शब्दों में जो कहा, तो वह उक्ति ध्वनि, काव्य का प्राण बन गई और यह ठीक भी है (कि श्रीराधा के शील और स्वरूप को देखते हुए उनके श्रीमुख से परिमित परन्तु साभिप्राय वाणी निकले।)

'आपकी बात मेरे मन में है'—इसका आशय यह है कि आपने पूर्वार्ध में जो कुछ कहा है, उसी को मैं भी दुहराती हूँ। तब प्रियतम ने जिन विशेषणों का संबोधन के रूप में प्रयोग किया था वही विशेषण (श्रीराधा के उत्तर पक्ष में) सप्तमी विभक्ति में बदल कर आगए—यह श्रीहितसखी की व्याख्या है। प्रियाजी तो मुस्कराकर रह गईं।

प्रयांस्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवाद-
स्त्वं मे प्राणा अहमपि तवास्मीति हन्त ! प्रलापः ।
त्वं मे ते स्यामहमिति च यत्तच्च नो साधु राधे !
व्याहारे नौ नहि समुचितो युष्मदस्मत्प्रयोगः । इति ।

अत्र स्मिते व्यंग्यम् । कथं मद्वाम्यशीले गृहीतेऽनुरागप्राखर्यं करिष्यत्ययं, कथं वाहमपि महाभिलाषिशीले गृहीते लज्जादि त्यक्ष्ये, इत्याद्यपि गूढम् । अन्यच्च अत्र तु प्रिया साध्वी रसावेशे कृपातिशयेन तदुक्त्यनुसारेण वा उवाच, परन्तु प्रेष्ठः किमाशयेनाह । तत्रैवं ज्ञेयम् । बहुचटुलचाटुवाक्येङ्गितानुसरणहास्यादिपूर्वक कृपार्द्रुतिं वीक्ष्य स्वलालसाऽधैर्येण तच्चित्ते स्वशीलं कर्तुं कटाक्षोक्तिः । अर्थात् त्वं परदुःखं न जानासि । यदाहमेवं

रसकलश

उनका आशय यह था कि आप तो मेरे दाहिने अंग हैं, मेरे प्राणों की दूसरी मूर्ति हैं, श्याम हैं, चित्त को आकर्षित करने के कारण कृष्ण हैं, श्रृंगार मूर्ति हैं, नवयुवा हैं; अतिशय रूपवान हैं, अखंड प्रेम के आश्रय हैं, मोहने की सब कलाओं में निपुण होने से विदग्ध हैं, रस के अगाध समुद्र हैं, प्रिय अर्थात् सुन्दर हैं, (पति हैं)—ऐसे आप में मेरा भी सुदृढ़ प्रेम हो, यह वर मैंने आपको दिया, उसे ग्रहण करिये । इस पर युगलस्वरूप के पारस्परिक वाणी-विलास का यहां वर्णन किया ।

(अब 'प्राणप्रिये' आदि को संबोधन नहीं, बल्कि सप्तम्यन्त प्रयोग मानकर श्रीराधाविषयक अर्थ करते हैं—)

अथवा प्राणप्रिय, श्याम आप (श्रीराधा) में मेरा सुदृढ़ अनुराग हो (जब श्रीकृष्ण श्रीराधा से यह कहते हैं तो प्राणप्रिय आदि सब विशेषण स्त्रीलिङ्ग सप्तप्यन्त होने चाहिए । परन्तु कठिनाई यह है कि 'श्यामा' का स्त्रीलिङ्ग सप्तम्यन्त रूप 'श्यामायाम्' बनेगा, न कि 'श्यामे' । इसका समाधान उपस्थित करते हुए टिकाकार कहते हैं-) 'श्यामायाम्' न कहकर पुलिङ्गान्त 'श्यामे कहने में प्रिय का आशय यह है कि आप (श्रीराधा) श्याम बन जायँ । इस अर्थ के अनुसार 'नित्यप्रणयिनि' (यह भी पुंल्लिङ्ग का रूप है, स्त्रीलिङ्ग में 'नित्यप्रणयिन्याम्' बनेगा) 'विदग्धे', 'प्रिये' इत्यादि को भी बजाय अपना विशेषण मानने के प्रियाजी के ही विशेषण समझे जाने की इच्छा प्रकट की है । जब ऐसा होगा (कि आप श्याम बन जायँगी) तो मैं भी आप (श्रीराधा) बन जाऊंगा, और इस प्रकार आप में मेरा दृढ़ अनुराग हो, यह आशा करता हूँ । दूसरी यह कि जब आप पृथक् (सत्तायुक्त) हैं तब तक मुझे लगता है कि अनुराग में दृढ़ता आवेगी ही नहीं । अतः आप मेरा-रूप हो और मैं आप-रूप । यह अदला-बदली हो जाने पर, मेरी समझ में, दृढ़ता आ सकेगी । बाद में 'तू' और 'मैं' का प्रयोग भी हट

गुणाढ्या प्रियाभविष्यं तदा पश्य कीदृग्रसप्रवाहैराप्लावयिष्यामिति । अतस्त्वमहं भूत्वा प्रियं तर्पयिष्ये यथेष्टमिति । यथा रन्तिदेवो परदुःखं दृष्ट्वान्तःस्थितेश्वराकौशलमुपालभ्य स्वस्यान्तर्यामित्वमिच्छति । यथा नवमे—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।

आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥

इतिवत् विनोदः । प्रणयिनि विदग्धे रसनिधौ प्रिये, इत्यनेन निजदयनीयोत्पादिता—हा! हा ! एतादृशेऽपि काठिन्यम् । प्रियापक्षे च निधावपि किं रसस्य स्वल्पता, वैदग्ध्यं च कीदृशमिति कार्पण्यमकौशलं ध्वनितम्, ततः

रसकलश

जायेगा। इस पर प्रियाजी कहती हैं—'मुझे भी यही अच्छा लगता है', क्योंकि तब हम दोनों के बीच संकोच नहीं रहेगा। अलंकार कौस्तुभ में भी कहा है—

'मैं तुम्हारा प्यारा हूँ और तुम मेरी प्यारी हो, यह तो लोगों के कहने की बात है। तुम मेरी प्राण हो, और मैं तुम्हारे प्राण, यह कहना भी बकवास है। उचित तो यही है कि तुम मेरी हो जाओ और मैं तुम्हारा। इन दोनों की आपसी बोलचाल में 'तू' और 'मैं' का प्रयोग अच्छा नहीं लगता।'

यहाँ श्रीराधा के मुस्कराने में गहरा व्यंग्य है। (प्रियाजी सोचती हैं कि हम दोनों में व्यक्तित्व का विनिमय हो जाने पर) इनका (प्रिय का) स्वभाव जब मेरी तरह हर बात के लिये इनकार करने का हो जायगा तो इनके अनुराग में अब जैसी तीव्रता कैसे रह पायेगी, और मेरे द्वारा इनकी अभिलाषा-वृत्ति अपना लिए जाने पर मैं अपना लजालु स्वभाव कैसे छोड़ दूंगी—यह व्यंग्य है। एक बात और भी दृष्टव्य है। यह कि प्रियाजी ने शुद्ध हृदय से भावावेश में आकर या कृपा के आधिक्य के कारण अथवा यूं कहिये कि प्रियतम के कहने के अनुसार स्वयं भी वैसा कह दिया, पर प्रियतम ने वैसा क्यों कहा ? इसमें जानने की बात यह है कि अनेक चुटीली और खुशामद भरी बातें कहने के बाद जब प्रियतम ने देखा कि प्रिया जी कुछ हँसी और हृदय में कृपा के उमड़ आने पर उनका चित्त द्रवित हो गया, तो इधर भी मिलन की लालसा तीव्र हो उठी और धैर्य्य जाता रहा। तब प्रियाजी के चित्त में अपनी अभिलाषात्मक वृत्ति भरने के लिये उन्होंने कटाक्ष-सा करते हुए कहा—आप पराये दुख को नहीं जानतीं। यदि मैं आप जैसी गुणसंपन्न प्रिया होता, तब देखतीं कि किस प्रकार रस का प्रवाह-सा बहाकर उसमें आपको तैरा देता। अतः मैं आपका स्थान ग्रहण कर (प्रिया बनकर) प्रियतम को भरपूर तृप्त कर दूंगा। जिस प्रकार राजा रन्तिदेव ने दूसरों का दुःख देखकर अपने हृदय देश में स्थित ईश्वर को (प्रकारान्तर से) उलाहना देते हुए स्वयं अन्तर्यामी होना चाहा था—(ताकि वे स्वयं दूसरों के दुख को जान सकें), वैसे

प्रियोक्तिमङ्गीकृत्य पश्चाद्व्यंग्ये ज्ञाते स्मितमुखी जातेति वीक्ष्य हितसखी सर्वेङ्गितविदग्धा वक्ति तादृग्वाक्स्मेरविशिष्टा मम मनसि सदा विलसतु इति ॥१४६॥

एवं स्मेरानन्तरं द्रुतानुरागभराद्वरदानादिव तच्छीलविनिमयभियेव झटिति प्रियमेकीकृत्य विहाराभिलाषमपूरयत् । तदा तादात्विक विलासि-युगलं वर्णयन् स्वस्यापि तद्विलसितचिरादर्शनार्तिशमनमिच्छति—

सदानन्दंवृन्दावननवलतामन्दिरवरे-
स्वमन्दैः कन्दर्पोन्मदरतिकलाकौतुकरसं ।
किशोरं तज्ज्योतिर्युगलमतिघोरं मम भव-
ज्ज्वलज्ज्वालं शीतैः स्वमकरन्दैःशमयतु ॥१५०॥

रसकलश

ही यहां भी श्रीकृष्ण ने विनोदपूर्वक उक्त बात प्रिया जी से कही । श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में रन्तिदेव कहते हैं—

'मैं भगवान् से न तो आठ सिद्धियों से युक्त परम गति माँगता हूँ और न मोक्ष । मेरी तो केवल यही अभिलाषा है कि सब देहधारियों के अन्दर पैठकर उनके दुःख को जान लूं जिससे कि मेरे द्वारा उनके दुःखों का निराकरण किया जा सके ।'

अपने को प्रणयी, विदग्ध, रसनिधि और प्रिय कहकर श्रीकृष्ण स्वामिनी के हृदय में अपने प्रति दया पैदा करना चाहते हैं—प्रकारान्तर से यह कहकर कि—बड़े खेद का विषय है कि ऐसे व्यक्ति के साथ ऐसा कठोर व्यवहार ! इन विशेषणों को प्रियाजी का विशेषण मानने पर यह अर्थ होगा कि—आप तो रस का समुद्र हैं, फिर भी मेरे लिये रस की इतनी कोताई ! और आपकी यह चतुराई भी कैसी है ! ध्वनि यह कि आप बड़ी कृपण हैं और विदग्धता तो आप में बिलकुल ही नहीं है । उसके बाद प्रियतम की उक्ति को स्वीकार कर लेने पर जब अन्तर्गत गूढ़ अर्थ की उन्हें प्रतीति हुई तो वे मुस्करा गईं । यह देखकर सब प्रकार की चेष्टाओं को समझने में कुशल श्रीहितसखी कहती हैं कि वैसी वाणी और मुस्कराहट से युक्त प्रियाजी मेरे मन में सदा विलास करती रहें ॥१४६॥

इस प्रकार प्रियाजी ने मुस्कराने के बाद कृपा से द्रवित होकर अनुराग का जो वर दिया था मानों उसके कारण अथवा इस डर से कि स्वभाव की अदला-बदली कहीं हो ही न जाय, प्रियतम को भुजाओं में भरकर उनकी विहार-अभिलाषा को पूर्ण

तत् किशोरं ज्योतिर्युगलं गौरश्यामं कर्तृ मम भवेत्येकपदं ममतास्पदबाह्यदशान्तरायजं यदग्निवत् प्रज्ज्वलज्ज्वालं शीतैः स्वपदकमलगतिरूपलावण्यामृतकृपामकरन्दैः शमयत्विति संबन्धः । अहंतास्पदं तु मम हितसखीरूपं नित्यसन्निहितमेवेति, ममतास्पदं भगवदिच्छाजनितमाचार्यरूपम् । ततः कादाचित्कबाह्यदशायां मम विलासदर्शनान्तरायेण महातापो भवति । 'अतिघोरम्' यथा—त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्' इति । यत् अत्रापि वक्ष्यत्येव—

अदृष्ट्वा राधाङ्के निमिषमपि तं नागरमणिं
तया वा खेलन्तं ललितललितानङ्गकलया,
कदाहं दुःखाब्धौ सपदि पतिता मूर्छितवती
न तामाश्वास्यार्तां सुचिरमनुशोचे निजदशाम् ।। इति ।

रसकलश

किया । तब युगल स्वरूप के तत्कालीन विलास का वर्णन करती हुई श्रीहितसखी कामना करती हैं कि बहुत दिनों से प्रिया-प्रियतम के विहार का दर्शन न होने से उन्हें जिस सन्ताप का अनुभव हो रहा था वह शान्त हो जाय ।

"सदा आनन्द से परिपूर्ण और वृन्दावन की नवीन लताओं से निर्मित कुंजों में कामावेश में रति-कला का आस्वाद करने वाली किशोर अवस्था में विद्यमान वह युगल ज्योति अपने चरण-कमलों के प्रचुर, शीतल मकरन्दों से मेरे जलते हुए भौतिक संताप की लपटों को बुझा दें" ।।१५०।।

किशोर अवस्था में वर्तमान गौरश्याम दो ज्योति (कर्ता) मेरे 'भवज्ज्वलज्ज्वालम्'—यह एक समासान्तपद है—ममता से परिपूर्ण और विहार दर्शन बाधा उपस्थित करने वाली बाह्यदशा से उत्पन्न आग की जलती ज्वाला को अपने में चरण कमलों के शीतल मकरन्दों से शान्त कर दे । आग को बुझाने के लिए क्रिया की जाती है । कमल-सुकुमार चरणों का विलास हेतु कुंजों में संचरण ही वह क्रिया होगी जोकि इस कार्य को संपन्न करेगी । गति का सौन्दर्य ही अमृत रस होगा और मकरन्द बनेगी वह कृपा जिससे वह आग बुझाई जायेगी । अहंता का पात्र श्रीहितसखी रूप तो प्रिया-प्रियतम के सदा निकट ही रहता है, अतः उसमें वियोग के लिये अवकाश नहीं । किन्तु भगवान् की इच्छा से प्राप्त यह आचार्य-स्वरूप ही ममता से छिदा हुआ है । सखी रूप में युगलस्वरूप की सेवा में प्रायः उपस्थित रहते हुए भी कभी-कभी बाह्यदशा (भौतिक अस्तित्व) में भी लौटना पड़ता है और वहां ममता (प्रकृति) के वशवर्ती होकर सब

तत्रापि वृन्दावननवलतामन्दिरे प्राप्तसान्निध्ये अत्यधीरतया क्षणशः प्रज्वलनं तात्कालिकं वर्तमानम् । किञ्च यथा यथा नैरन्तर्यं तथा तथाल्पेतरतातिशय, इति विवेकः । जाड्यांशाभावात् हा हा अत्राप्येतावानन्तराय इत्यादि । अत अपरोक्षीकृतचरणदर्शनानन्दप्रेमद्रवबाहुल्यं विना न तापः शान्तिमेष्यतीति । द्रवातिशये पारमित्याशंकां निराकरोति । कीदृशं मिथुनम् ? 'सदानन्दम् ।' नित्याव्ययानन्दरूपावयविन अवयवान्यपि तादृशनित्यानन्दमयान्येवेति भावः । अत एव कीदृशै मकरन्दैः? 'अमन्दैः' । तत्रापि श्रीवृन्दावनपरमहितेन कामधुगिव प्रस्रवमाणै, अतएव वृन्दावनेति देहलीदीपकवदुभयनिष्ठता युगलविशेषणसंबन्धि च । पुनः कीदृशम् ? कन्दर्पो निजनिजाभिलाषप्रेमा तेनोन्मदं च रतिकलासु कौतुकरस आस्वादो यस्य

रसकलश

काम करने पड़ते हैं । यह बाह्यदशा ही विलास-दर्शन में सबसे बड़ा विघ्न है और यही घोर सन्ताप का कारण है । 'अतिघोरम्' का यही अर्थ है । श्रीमद्भागवत में भी कहा है—'हे भगवन् ! आपको बिना देखे एक-एक पल युग के समान व्यतीत होता है ।' आगे चलकर यह भी कहेंगे—

"श्रीराधा की भुजाओं में उस नागरमणि को क्षणभर के लिये भी न देखकर या उनके साथ सुन्दर ललित कलाओं से क्रीड़ा करते हुए न पाकर कब मैं दुःख के महासमुद्र में गिर कर मूर्छित हो जाऊँगी और उन श्रीराधा को धैर्य्य न बँधा कर अपनी ही हालत पर तरस खाती रहूँगी ।"

उसमें भी वृन्दावन की किसी नवलताकुंज के बिलकुल निकट पहुँच कर जो बेचैनी बढ़ती है उसके कारण तो प्रतिक्षण जलता ही रहना होता है । दूसरे, जैसे-जैसे कुंज निकट आती जाती है वैसे ही वैसे दर्शन का व्यवधान ज्यादा बढ़ता प्रतीत होता है, यह ज्ञातव्य है दर्शन की उत्कंठा के कारण इन्द्रियों के पूरी तौर से सजग रहने के कारण जड़ता तो आ ही नहीं सकती, अतः रह-रह कर यही विचार आता है कि हाय रे ! अब भी वह व्यवधान क्यों बना हुआ है । अतः यह निश्चित है कि जब तक चरणों के साक्षात् दर्शन के आनन्द से अन्तर का प्रेम तरल होकर बह न निकले तब तक संताप मिटने का नहीं । प्रेमानन्द का प्रवाह कहीं सीमित तो नहीं होगा, इस शंका को दूर करने के लिये 'ज्योतिर्युगलम्' का विशेषण 'सदानन्दम्' दिया है । नित्य और अक्षय आनन्दरूप अवयवी (ज्योतिर्युगल) के अवयव (चरणकमल) भी तो वैसे ही नित्य आनन्दमय होंगे, यह भाव है । अर्थात् युगलस्वरूप में जब आनन्द की कमी नही चरणकमलमकरन्द (कृपा) में ही वह क्यों होगी ? इसी भाव को व्यक्त करने के लिये

तच्च । वा उन्मदानां कलानामिति । अथोद्दीपनविभावश्रैष्ठ्यं वृन्दावनेत्युक्तम्, आलम्बनविभावश्रेष्ठ्यं कैशोरज्योतिर्युगलमुक्तम् । तत्र विषयालम्बनं प्रिया आश्रयालम्बनं प्रिय इति तद्गत एव भेदः । कौतुकरसेत्यनेन स्थायिसंचारिभावानुभावाद्यैः पूर्णरसत्व परिकरो ज्ञेयः । यथाह शतके—

श्रीवृन्दावनतत्वमस्तु हृदये शश्वन्महामाधुरी-
पूरं पूर्णविशुद्धमन्मथरसैकोद्दीपकं मोहनम् ।
श्रीराधावनचन्द्रतत्त्वमपि मे कन्दर्पलीलारसै-
कात्मस्फूर्तिमुपैतु साद्य विमला राधापि पूर्णा रतिः ।।

पूर्णांशिरूपौ तु कन्दर्परत्योरुभावेव, परन्तु पृथक् स्थितयोरपि तयौत्सुक्यकरणकौतुकास्वादोऽपि घटते । यथा चक्रवर्तिनोऽन्तःपुरे हट्टपण्यादि-

रसकलश

'मकरन्दः'' का विशेषण दिया है—'अमन्दैः' (प्रचुर) । श्रीचरणों से कृपारूप मकरन्द का अजस्र प्रवाह योंही निरबाध बहता है, उसमें भी श्रीवृन्दावन से स्वामिनीजी का परम हित है, अतः कामधेनु के दूध की तरह कृपारूप मकरन्द बरसते ही रहते हैं। इसीलिये देहली दीपक न्याय सदानन्दता युगलस्वरूप और श्री वृन्दावन दोनों में विद्यमान है । 'ज्योतिर्युगलम्' का विशेषण है—'कन्दर्पोन्मदरतिकलाकौतुकरसम्'—कामदेव से अर्थात् अपनी-अपनी अभिलाषा के प्रेम से जो उन्मत्त रहते हैं और रतिकलाओं में जिन्हें कौतुकभरा रस मिलता है (ऐसा ज्योतिर्युगल) । अथवा 'उन्मद' को रतिकलाओं का विशेषण मानकर यह अर्थ भी संभव है कि उन्मत्त (मादकतापूर्ण) रतिकलाओं में कौतुक रस लेने वाला । यहाँ श्रीवृन्दावन को सर्वोत्तम उद्दीपन विभाव और किशोर ज्योति को सर्वश्रेष्ठ आलंबन हैं, प्रियतम आश्रयालंबन –यही स्वरूपगत भेद है। ''कौतुक रस' के अन्तर्गत-स्थायीभाव, संचारीभाव और अनुभाव आ जाते हैं। इस प्रकार रस-तत्व निष्पन्न करने वाले सब उपादानों का जमघट यहाँ विद्यमान समझना चाहिए। श्री वृन्दावन शतक में भी कहा है—

'मेरे हृदय में अविनश्वर, निरन्तर माधुर्यप्रवाही, पूर्णरूप से विशुद्ध शृंगार रस का उद्दीपक, मनोहर श्रीवृन्दावन तत्त्व प्रतिभासित हो तथा एकमात्र कन्दर्पलीला-रस की स्फूर्ति देने वाला श्रीवृन्दावन चन्द्र तत्त्व (श्रीकृष्ण) तथा परिपूर्ण रतिस्वरूपिणी विमला श्रीराधा भी मेरे मन में उदित हों।

श्रीकृष्ण और श्रीराधा दोनों ही कामदेव और रति के पूर्णांशीरूप हैं, परन्तु पृथक् स्थिति में लीलाजन्य कौतुकरस का भोग करते हैं। जैसे चक्रवर्ती के रनिवास में भी बाजार में बिकने वाली वस्तुओं की खरीद फरोक्त चलती है, ठीक वैसे ही। देखो

व्यवहारः । पश्य कन्दर्पोन्मत्ताया रतेः कथं कला भवन्तीति मिथः समयानुकृतिकौतुकमित्यर्थः । मुग्धां प्रियां मोहयित्वा स्वाभिलषित-लीलाकरणे तात्पर्यम् । 'मन्दिरवरेष्विति बहुत्वं त्रिकालान्वयि विहाराणां कदा कुत्रैव, कदा कुत्रैवेति सर्वेषां विहारानवच्छेदात् सर्वाण्यपि तद्विलास-योग्यान्येवेति ध्वनितम् । 'ज्योति' रिति प्रसंगलावण्यच्छविकान्तिप्रसारेण सर्वलतामन्दिरप्रतिपन्नप्रतिस्थलरंजितत्वात् । अत्र रतिकलोक्तौ षोडशकला-विशिष्टचन्द्रज्योतिरिव स्वामृतरसैः । पदशब्देन पादाः किरणा एव मकरन्दा-स्तद्द्वारा स्रवितैः शीतैरिति ख्यातैरेव । घर्मदाहशान्तिस्तद्धर्म एव । चन्द्रे कन्दर्पोद्दीपकतापि प्रख्यातैव । 'लतामन्दिरे' त्यौषधिनाथत्वेन तासु लतास्व-मन्दस्रवणमपि युक्तमेव । आनन्दोऽपि ख्यातः । एवं चन्द्ररूपकं ज्ञेयम् । ततोऽपि सदानन्दत्वेनास्यातिरेकोऽपि दर्शितः । 'वृन्दावनलते' त्यनेन वृन्दा-

रसकलश

रति जब काम के आवेश में उन्मन्त हो जाती है, तो उसकी कलाएँ कैसी होती हैं, इस प्रकार परस्पर में काम-कला का अनुकरण कर कौतुक रस का आनन्द लेते हैं। भोली भाली प्रिया पर जादू डालकर श्रीकृष्ण अपनी इच्छापूर्ति करते हैं, यह तात्पर्य है। 'मन्दिरवरेषु' (श्रेष्ठ मन्दिरों में) में बहुवचन के प्रयोग से यह ध्वनि निकलती है कि दंपती का विहार अनवरत रूप से तीनों कालों में चलता रहता है, और कभी कहीं, कभी कहीं, इस प्रकार सब कुंजों में बिना भेद के विहार प्रसंग के चलतें रहने के कारण सभी कुंजों का विहार के उपयुक्त होना सिद्ध होता है। 'ज्योति' कहने का तात्पर्य यह है कि विहार-प्रसंग में सौन्दर्य और कान्ति की छटा जो चारों ओर फैलती है उससे सब लताकुंजों का पत्ता-पत्ता और इंच-इंच जगह अनुराग में रंग जाती है। 'रतिकला' कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने सोलह कला विशिष्ट प्रकाश से अमृत रस बरसाकर संसार को शीतल कर देता है (उसी प्रकार किशोर ज्योति मेरे मन के संताप को शान्त करे)। 'स्वपदमकरन्दैः' में जो 'पद' शब्द है उससे (श्लेष द्वारा) किरणों का भी बोध होता है, अतः अर्थ हुआ—किरणरूपी मकरन्दों से झरते हुए शीतल अर्थात् गर्मी की जलन को शान्त करने वाले (अमृतरस से)। यह सर्वविदित ही है कि चन्द्रमा कामोद्दीपक होता है। चन्द्रमा को ओषधों का स्वामी कहा गया है, अतः उन लताओं से रस का झरना भी उचित है। चन्द्रज्योति आनन्द दायक होती है, यह भी प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार चन्द्ररूपक (अलंकार) का निर्वाह होता है। किशोर ज्योति के नित्यरूप से आनन्ददायक होने के कारण चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक आनन्ददायकता प्रदर्शित की है। 'वृन्दावन नवलता' द्वारा वृन्दावन चन्द्र

वनचन्द्रस्य विशेषता, सामान्यचन्द्रस्य अल्पव्यापकमाधुर्यात् । अल्पव्यापको विशेषो बहुव्यापकः सामान्य इति न्यायात् । यथोक्तमेव प्रियाविशिष्टं पूर्णत्वं 'राधादास्यमपास्ये' त्यत्र 'पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना काङ्क्षति' । अतोऽत्र ज्योतिषि युगलवैशिष्टये पूर्णरसत्वमुक्तम् । तस्मात् प्रियाविशिष्टमेव मत्तापं शमयत्विति । ज्योतिर्यथा केषाञ्चित् ब्रह्मज्योतिर्ध्येयं तथा ममेदं 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इत्यनेन कालमायादिपरत्वमुक्तं तत्त्वस्त्येव ।

अथवा पूर्वं यत्र तत्र रसभावभेदेन पक्षपात उक्तस्तत्र पूर्णममतास्पदप्रेमा सख्या निजस्वामिन्यामुक्तः । एवं स्थिते यदा प्रियया प्रियाय चैक्यवरो दत्तः कौतुकेन तदा हितसख्यास्तापो जातः । अहो! शीलविनिमये म ममतायां

रसकलश

की विशेषता प्रकट होती है, क्योंकि साधारण चन्द्रमा के माधुर्य का क्षेत्र सीमित है । विशेष कुछ ही पदार्थों में व्याप्त रहता है, जबकि सामान्य का दायरा विस्तृत होता है, यह न्याय है । प्रियविशिष्ट श्रीकृष्ण में ही पूर्णता है । "राधादास्यमपास्य"—इस श्लोक में कह आये हैं कि जो व्यक्ति राधा के प्रति अपनी दास्य भावना को दूर रखकर गोविन्द संग की आशा से प्रयत्न करता है, वह विना पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र से परिचित होना चाहता है । अतः यहां युगलविशिष्ट ज्योति में ही पूर्णरस बताया है । अतः प्रियाविशिष्ट ही ज्योति मेरे संताप को दूर करे, यह अर्थ है । 'ज्योति' के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि कुछ लोग जैसे ब्रह्मज्योति का ध्यान करते हैं, उसी प्रकार मेरे लिये यह ज्योति है । ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहा है कि 'सूर्य जैसा-उसका वर्ण है और वह तमस् के परे है', अर्थात् काल, माया आदि उसे स्पर्श नहीं करते । श्रीराधाकृष्ण ज्योति के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है ।

अथवा इससे पूर्व कई स्थलों पर रस और भाव के भेद से प्रियाजी के प्रति पक्षपात प्रकट किया गया है । इन स्थलों पर श्रीहितसखी ने बताया है कि स्वामिनी जी में ही पूर्णममता विशिष्ट प्रेम संभव है । इस स्थिति में जब प्रियाजी ने कौतुक से प्रियतम को एकता का वर दे दिया, तब हितसखी के मन को बड़ा दुःख हुआ । वे सोचने लगीं—अहो ! दोनों में स्वभाव का विनिमय हो जाने पर मेरी ममता श्रीकृष्णस्वरूप प्रियाजी में यदि शिथिल हो गई तो स्थान भ्रष्ट मेरे प्रेम को कहाँ जगह मिलेगी ? यह सोचकर स्वयं ही कौतुक से कहती हैं—'सदानन्दम् ।' प्रेम के आवेश में सुध-बुध खोकर आपने विनिमय का जो खेल-खेल डालो है, उसी के चक्कर में मुझे

श्लथायां कथं प्रेमा स्थानविच्युतः स्थितिं प्राप्स्यतीति विचार्य स्वयमपि कौतुकेनाह—'सदानन्दम्' इति । भवतः प्रेमोन्मादकौतुके ममाप्यैकताप कौतुकं श्रुत्वा शमयतु । अतएव 'ज्योतिर्युगलम्' इति । मम तु गौरो गौर एव, श्यामः श्याम एवेत्यस्मिन् नित्यपरिशीलितप्रकृतिनैयत्यं स्यात्तदैवानन्दः स्यादिति । वयं तु पक्षपातजीविनः कथं वाग्विलासकौतुकानन्दं प्राप्स्याम इति । अतएव ममतास्पदभवं प्रेमतापमिति । घोरेत्युग्रतापम् । अतिशब्देन कदाचिद्विनिमय एव रज्येत, तद्दीर्घशुचातिघोरमति, शमयतु, इति कथमैक्यं निर्वहिष्यामः, आहोस्विन्ममता त्रुटयैदित्यादि संशयमपनुदतु । अतस्तच्चरणकमलैरिति । अस्मन्मनसां पृथक् पृथगास्वादाभिज्ञमधुपरूपाणां स्वस्वाभिमतास्वादैरेवानन्दं करोतु । युवामैकमनसौ भवतां, परन्तु पदसेवनास्वादस्तु स्वाभिमत एवास्तु, अत एव स्वपदेत्युक्तिः। अन्यथा मकरन्दमिश्रणं कृत्वा कथं स्वादभेदं जानीमः । अतो रसभावभेदेन विषयाश्रय रूपात्मकैरेवेति ।

रसकलश

एक संताप पैदा हो गया है । आपके लिये तो यह एक कौतुक है, पर मेरे लिए तो यह संताप का कारण बन गया है । इसे सुनिये और सुनकर शान्त करिये । इसी भाव को दृष्टि में रखकर कहा है 'ज्योतिर्युगलम् ।' (अर्थात् आप दोनों भले ही एक होकर रहें) मेरे लिये तो गौर तेज गौर ही रहेगा और श्याम श्याम ही । इस प्रकार मुझे तो तभी आनन्द मिलेगा जब कि जिस ममतापूर्ण स्वभाव का मैं सदा से परिशीलन (अनुभव) करती आई हूँ उसमें स्थायित्व बना रहे (वह न बदले) । हम लोग (रसमार्गीय) तो पक्षपात पर जीवित रहने वाले हैं, अतः आप लोगों को रसपूर्ण खेल खेलने में जो रस आता है, वह हमें कैसे मिल सकता है । अतः 'ममभवज्ज्वलज्जालम्' का अर्थ है—ममता की आश्रय श्रीराधा के शीलविनिमय के कारण उत्पन्न संताप । (इस अर्थ में 'मम' का अर्थ होगा 'ममतारूप' और 'भव' का अर्थ संसार न होकर शतृप्रत्ययान्त 'भवत्' के अनुसार होता हुआ—पैदा होता हुआ (संताप) और विग्रह होगा—'मम (ममत्वेन) भवन् यो ज्वलन् ज्वालस्तम्) घोर का अर्थ है तीव्र सन्ताप । 'घोरम्' से पूर्व के 'अति' उपसर्ग की व्यंजना यह है—यदि कहीं श्रीराधा विनिमय में ही रम जायँ तो उसके लंबे शोक से संताप घोर (उग्र) हो जायगा । 'शमयतु' का मतलब है कि हम सहचरियाँ विनिमयजन्य एकता का निर्वाह कैसे कर सकेंगीं । कहीं हमारी ममता नष्ट न हो जाय, इस संशय को मिटाइए । इसीलिये कहा है—'चरण कमलों के मकरन्दों से ।' हमारे मन तो भौंरे हैं और भिन्न-भिन्न रसों के स्वाद के मर्मज्ञ हैं, अतः जो स्वाद

ननु दंपत्योरेव यदैक्यमभितं तदा भवतीनामनुचरीणां का क्षतिः? यूयमपि भेदतापं कथं न शमयितुमिच्छथ। तत्रैवं ज्ञेयम्। तयोर्वैवश्ये ऐक्यधर्म एव न्याय्यः। स च नास्माकमर्हः। किञ्च तदानीं सावधानीकरणात् भेद एवेति। यथाह शतके—

क्व यानं क्व स्थानं किमशनमहो किन्नु वसनं,
किमुक्तं किं भुक्तं किमिव च गृहीतं न किमपि।
मिथः कामक्रीडारसविवशतामेत्य कलयन्
किशोरद्वन्द्वं तत् परिचरत वृन्दावनवने ॥२।८६।
केशान् बध्नन्ति भूषां विदधति वसनं वासयन्त्याशयन्ति
वीणावंश्यादि हस्ते निदधति नटनायादराद्वादयन्ते।
वेशार्द्धि च कर्तुं कथमपि नितरामालयः शक्नुवन्ति
श्रीराधाकृष्णयोरुन्मदमदनकलोत्कण्ठयोः कुञ्जवीथ्याम्॥२।६

अतः अस्मन्मनोगतं महादुर्घटम्, अतो विगलितवेद्येतरता सर्वेष्टमपि बहुयत्नप्राप्तसाधनसिद्धीनां महती नास्माकं रसकोशाधिकारिणामिति।

रसकलश

हमें अच्छा लगता है उसी को देकर हमें आनन्दित करिये। आप दोनों एक हो जायँ, पर चरणसेवन का आस्वाद तो हमारा मन चाहा हो। इसीलिए 'स्वपद' कहा है। नहीं तो यदि दो प्रकार के मकरन्द मिल गए, तो स्वाद के भेद को कैसे पहिचानेंगे? अतः रस और भाव के भेद के आधार पर विषय और आश्रय रूप भेद विशिष्ट (चरण कमलों से)।

शंका उठाते हैं कि यदि युगलस्वरूप को ही एकता अभीष्ट है, तो आप लोग तो दासियाँ है, आपकी क्या हानि है? भेद भावना जनित सन्ताप को तुम क्यों नहीं मिटाना चाहतीं? इस शंका का समाधान यह है कि वे दोनों तो विवश हैं, अतः उनका तो एक होकर ही रहना ठीक है, पर हम लोगों के लिये तो यह उचित नहीं है। दूसरे, विलास के समय दोनों को सावधान भी तो सखियां ही रखती हैं, अतः भेद है ही। श्रीवृन्दावन शतक में कहा है—

'कहाँ जाना है, कहाँ ठहरना है, क्या पहिनना है, क्या कहा, क्या खाया, क्या लिया—इस सबसे निरपेक्ष रहकर पारस्परिक कामक्रीड़ा के आनन्द में विवश श्रीयुगलकिशोर की वृन्दावन में सेवा कर।'

'सखियाँ कुंजवीथी में आनन्द मदन कला में उत्कंठित श्रीराधाकृष्ण के केशों को बांधती हैं। भूषणों को सजाती हैं, वस्त्र पहिनाती हैं, भोजन कराती हैं, वीणा-वंशी आदि हस्तकमलों में धारण करती हैं। नृत्य करने के लिये वाद्य-यंत्रों को छेड़ती हैं और जैसे बने तैसे वेश-भूषा आदि की शोभा-समृद्धि के लिये प्रयत्न करती हैं।'

अतो 'मुक्तिस्तुच्छीभवति' इत्यत्र रससिद्धान्तार्थान्तरो द्रष्टव्यः । ऐक्य-सिद्धान्तश्लोको यथा शतके—

एकप्राणं तदतिमधुरं द्वन्द्वमेकात्मभाव—
मेकक्रीडं निरवधि समुन्मीलदेकस्मरार्ति ।
एकानन्दप्रणयसुषमाद्येकसर्वेन्द्रियेऽहं
वृन्दारण्येऽद्भुतरसमयं गौरनीलं नमामि ।।१६।४०

इत्याद्यर्थः सहृदयगम्य एव ।।१५०।।

एवं शृङ्गाररसकलाविशिष्टयुगलज्योतिः स्वाभिमतमुक्त्वा स्वस्य च द्वैतसिद्धान्तं कृत्वेदानी निजनिष्ठाधिकरणस्वामिनीविलाससामयिकशोभा-माह 'उन्मीलन्नवमल्लिके'ति द्वाभ्याम्—

उन्मीलन्नवमल्लिदामविलसद्धम्मिल्लभारेबृह-
च्छ्रोणीमण्डलमेखलाकलरवे शिञ्जानमञ्जीरिणी!

रसकलश

इसलिये हमारा मन चाहा होना तो बहुत ही कठिन है । इसीलिये अन्य ज्ञेय पदार्थों को विस्मृत कर केवल महानन्द में लीन हो जाना, सब प्रकार से वाञ्छनीय होने पर भी, हमारे लिए कोई बड़ी चीज नहीं है । क्योंकि बहुत चेष्टा करने के उपरान्त हमें साधन और सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं और फिर रस-कोश को सुरक्षित रखने का अधिकार भी तो हमारे ही पास है । अतः 'मुक्तिस्तुच्छभवति' इन पद्यों का रस सिद्धान्त के आधार पर जो दूसरा अर्थ किया गया है, उसे देख लेना चाहिए । ऐक्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला श्लोक श्रीवृन्दावन शतक में इस प्रकार है—

"अतिशय मधुर वह युगल एक प्राण है एक ही आत्मीयता से युक्त है, एक ही प्रकार की क्रीड़ा में परायण रहता है, और उनमें एक जैसी ही काम-पीड़ा उदित होती रहती है । उन दोनों के आनन्द, प्रेमपद्धति और शोभा एक ही है और सब इन्द्रियों की चेष्टायें भी समान हैं । वृन्दावन स्थित इस प्रकार के अद्भुत गौर-नीलयुगल को मैं प्रणाम करता हूँ ।"

इस प्रकार के सब अर्थों को सहृदय व्यक्ति ही समझ सकते हैं ।।१५०।।

इस प्रकार शृंगार रस की कला से विशिष्ट ज्योतिर्मय युगलस्वरूप ही मुझे मान्य है । यह कहकर और अपना द्वैतसिद्धान्त प्रतिपादन कर अब अपनी श्रद्धास्पद स्वामिनी के विलास के समय की शोभा का वर्णन अग्रिम दो पद्यों द्वारा करते हैं—

जिनके केशपाश में ताजा खिले हुए मल्लिका के फूलों की माला शोभा दे रही है, विपुल नितम्ब-मंडल पर करधनी का मधुर शब्द सुनाई दे रहा है, पैरों में नूपुर बज

केयूराङ्गदकंकणावलि ! सदा दोर्वल्लिदीप्तिच्छटे !
हेमाम्भोरुहकुड्मलस्तनि ! कदा राधे दृशा पीयसे
॥ १५१ ॥

हे राधे सकलरससंसिद्धिरूपे ! आबाल्यतो विश्रब्धसखीप्रणये ! लालनाभ्यस्तनाम्नि ! उन्मीलदित्यादिनित्यमत्परिधापितशृङ्गारविशिष्टा त्वं कदा मया अतृप्तया दृशा पीयसे सादरमवलोक्यसे । तत्तद्दर्शनानन्देन संबोधयन् विशिनष्टि—'हे उन्मीलन्नवमल्लिदामविलसद्धम्मिल्लभारे ! उन्मीलनं कलिकायां प्रथमं किञ्चिद्‌विकसनं मानसोल्लाससूचकं च, नवं तात्कालिकत्वं, नवीनोप्तप्रथमोद्‌गतत्वं वा । नवेति वैलक्षण्यं, यथा शतके—

या राधाया वरतनु ! नटेत्युक्तिमात्रेण नृत्यद्—
गायेत्युक्ता मधुकरशतैर्विज्ञगानं करोति ।
क्रन्देत्युक्ता विसृजति मधूत्फुल्लिता स्याद्धसेति,
प्रोक्ता श्लिष द्रुममिति गिरा सस्वजे घृष्टगुष्टा ॥५।३७

रसकलश

रहे हैं, भुजाओं में केयूर और अंगद और कलाइयों में कई-कई कड़े धारण किये हैं, जिनकी लता जैसी बाहों से गुराई की झलक फूट रही है और स्तन ऐसे हैं जैसे सोने के कमल की कलियाँ—ऐसी शोभा से युक्त श्रीराधा की सौन्दर्य-छवि को मैं अपने नेत्रों से कब पान करूंगी" ॥१५१॥

समस्त रसात्मक सिद्धियों की मूर्ति बालकपन से लेकर विश्वासपात्र सहेलियों से प्रेम करने वाली, बोलचाल में जिन्हें 'लाडली' नाम से पुकारा जाता है, ऐसी हे श्रीराधे ! मेरे द्वारा धारण कराये गए माला आदि के शृंगार से विशिष्ट आपकी शोभा को मैं अपनी दृष्टि से कब पिऊँगी ? अर्थात् आदरपूर्वक कब अवलोकन करूंगी । अब श्रीमती के प्रत्येक अवयव की शोभा को देखकर जो आनन्द हुआ है उसी को हृदय में भरकर संबोधन करते हुए विशेषण लगाते हैं—'उन्मीलन्नवमल्लिदामविलसद्धम्मिल्लभारे ! कली का फूटना, अर्थात् पहले पहल किञ्चित् खुलना जिससे (श्रीराधा-पक्ष में) आन्तरिक उल्लास का बोध होता है । 'नई' यानी तत्काल खिली, अथवा नये बोये गये बीज का पहले पहल पौधा के रूप में, फिर कलियों के रूप में निकलना । 'नई' का अर्थ विलक्षणता भी है, जैसा कि शतक में कहा है—

जो लता हे वराङ्गिणी ! 'नृत्य कर' श्रीराधा के यह कहते ही नाचने लगती है, 'गान कर', ऐसा कहने पर भौरों की गुंजार द्वारा कुशल गान करने लगती है, 'रो दे' यह कहने पर मकरन्द बरसाने लगती है, एवं "हँस दे' इस वाक्य से खिल उठती

मत्प्राणेशं नम निगदितैवापतत्येव भूमा—
विर्त्थं तत्तद्वचनवशया स्यामहं कापि वल्ली ।
श्रीराधाया स्वकरविहितस्वम्बुसेकादिपुष्टा,
वृन्दारण्ये मुदितहरिणा दत्तकान्तावराशीः ॥५।३६

कान्तावरौ जीव्यास्तां स्वाभिमतं प्राप्नुतामित्याशीः । इत्यादिनिर्देशेन स्वप्रेमपरायणतया प्रियया तन्नवमल्लीपुष्पाण्येवाङ्गीकृतानि, प्रेम्णा शिरसि धारितानि, इत्यपि नवरीतिकामल्ली ज्ञेया । तस्या दामभिर्मालाभिर्विशेषेण लसन् धम्मिलेति संयतकचानां भारो यस्याः, तादृशभूषणभूषणांग्या कचलसनं किं वाच्यं, स्वाभाविकमेव, परन्तु प्रेम्णांगीकारेण सर्वसखीदृष्टौ स्नेहार्द्रत्वात् विशेषत्वम् । अथवा सौभाग्यवत्याः श्रृङ्गारः प्रियेऽङ्कप्राप्तौ पूर्णनिष्ठामाप्नोतीत्यग्रपद्ये प्रेयोऽङ्कवर्णनेनापि विशेषः इति, सखीकृत सौष्ठवरचनन्यासाच्चेति । 'भारम्' इति गौरवपूर्णपद्मिन्या लक्षणं यथा—श्रोणीस्तनगौरवं सूक्ष्मतरस्निग्धसघनलम्बतरत्वादिवर्णनीयत्वात् । अन्यच्च

रसकलश

है 'वृक्ष को आलिंगन कर' इस उक्ति से पुलकितगुच्छ होकर वृक्ष को आलिंगन कर लेती है ।'

'मेरे प्राणनाथ को प्रणाम कर' यह कहते ही भूमि पर आ पड़ती है, इस प्रकार श्रीराधा की आज्ञा की वशवर्तिनी होकर मैं वृन्दावन की कोई लता बनूं ताकि श्रीराधा के अपने हाथों सुन्दर जल से सींची जाकर पुष्टि-लाभ करूं और श्रीहरि प्रसन्न होकर मुझे यह आशीर्वाद दें कि वर-वधू बहुत समय तक जीओ' ।

उक्त श्लोक के अन्तिम चरण का अर्थ है—'वर-वधु दोनों जियें—उनका मनोरथ पूर्ण हो ।' इन उदाहरणों के अनुसार अपनी प्रेमपरायणा होने के कारण प्रियाजी ने उसी लता के ताजे मल्लिका के फूलों को स्वीकार किया, प्रेम से सिर पर धारण किया । इसे भी एक अनोखी-मल्लिका-लता समझना चाहिए। उस मल्लिका के फूलों की माला से 'धम्मिल्ल' अर्थात् बाँधा गया केशपाश विशेषरूप से सुशोभित हो रहा था । जिसके सब अंगों में भूषण सुशोभित हों उसके बालों की शोभा का क्या कहना ! उनका सुन्दर दिखना स्वाभाविक ही है, पर उनमें विशेषता इस कारण भी आ गई थी कि सब सखियों के देखते हुए स्नेह से भीनी होकर प्रेम से उन्हें अंगीकार किया था । अथवा सुहागिन का श्रृंगार तो प्रिय की भुजाओं में पहुँच जाने पर ही पूर्ण होता है और, जैसा कि अग्रिम पद्य में वर्णन किया जाने वाला है, इस साज-सज्जा का लक्ष्य प्रिय की गोद में जाना ही था । कुछ इसलिये भी उसमें विशेषता आ गई थी कि सखियों ने बड़ी कुशलता से केश सजाए थे । 'धम्मिलभार' में 'भार' की व्याख्या करते हैं—गौरवशालनी पद्मिनी नायिका के लक्षण इस प्रकार हैं—

श्यामवर्णेऽपि गौरपुष्पवर्णशोभनं युक्तमेवेति दर्शितम्, इत्यादिविलसनस्य हितसखीहृदयसाक्षित्वम्। मुक्तकपक्षे सर्वसंबोधनानि सहजश्रृङ्गारवर्णनमयान्येव ज्ञेयानि। विहारसंबन्धाकाङ्क्षा चेत् वर्ण्यत एव। अत्र विलाससमये स्वस्वामिन्याः सौकुमार्यस्मरणेन श्रमदृष्टचा 'भारोक्तिः। आलिङ्गनांगसंकोचेन स्थानत उच्चोद्गत्या 'उन्मीलन्' इत्युक्तिः सहृदयविवरणीया। तत्र पृष्ठलंबमानान्दोलितगुच्छशोभनाग्रेण संगात् प्रियाभिमुखस्थायाः पृष्ठशोभां सौष्ठवदृष्टचा वर्णयति। बृहति विपुले श्रोणीमण्डले मेखलायाः कलरवो यस्याः। कबरभारस्य तत्र सावकाशलुठनात् बृहदित्युक्तिः। मंडले यथा नटी नृत्यगीतादि सहर्षतया करोति तद्वत् मेखला मनः प्रसादयत्येव। कलेति स्वाभाविककिङ्किणीनां रणत्कारस्तत्रापि प्रियसंगविलासेन, तत्रापि प्रियाकर्तृक विलासेनेति ज्ञेयम्। कलेति च सखीमनोऽ

रसकलश

नितंब और स्तन विपुल (मांसल) हों और बाल खूब पतले, चिकने, घने और लम्बे हों। दूसरी बात यह कि बालों के श्याम वर्ण में सफेद फूलों का शोभा देना उचित ही है, यह प्रदर्शित किया है। श्रीहितसखी का हृदय इस सब शोभा का साक्षी है। इस वर्णन को यदि फुटकर माना जाय तो सब संबोधनों द्वारा स्वाभाविक श्रृंगार का ही वर्णन किया गया है, ऐसा मानना चाहिए। यदि विहार प्रसंग की ओर अर्थ लगाना हो, तो उसका तो वर्णन चल ही रहा है। यहाँ विलास के समय अपनी स्वामिनी की सुकुमारता का ख्याल कर बालों के भार से थकान ही आवेगी—इस भाव को व्यक्त करने के लिए 'भार' कहा है। आलिंगन आदि में अंगों के सिमटने के कारण जूड़ा अपने स्थान से ऊँचा उठ जाता है, इसलिए विशेषण दिया है—'उन्मीलत्' (खिलते हुए। और 'विलसत्' (सुशोभित होते हुए)। इस प्रकार की उक्ति का मर्म सहृदय ही समझ सकते हैं। अब पीठ पर लटकती, लहराती वेणी के सुन्दर अग्रभाग से उदित हुई, प्रियतम की ओर मुंह करके खड़ी श्रीराधा के पीछे के भाग की शोभा को सुन्दरता की दृष्टि से वर्णन करते हैं—उनके विशाल नितंब-प्रदेश पर करधनी मधुर शब्द से बज रही थी। नितंब प्रदेश को विपुल यह बताने के लिए कहा गया है कि वेणी को इधर-उधर स्वच्छन्दता पूर्वक फिरने के लिये वहां पर्याप्त स्थान है। 'श्रोणी मण्डल' में 'मण्डल' शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि जिस प्रकार नटी गोल दायरे में प्रसन्नता से नाचती गाती है, वैसे ही करधनी भी मानसिक भावों को मानो ध्वन्यात्मकता प्रदान करती है। 'कल' का अर्थ है किंकणियों की स्वाभाविक झंकार, विशेषकर प्रियतम के साथ विलास करते समय, और प्रियाजी जब स्वयं विलास करें तब तो झंकार और भी अधिक निकलती है। 'कल शब्द की दूसरी व्यंजना यह भी है कि मेखला की

भिमतपूरणोक्तिः । शिञ्जानौ मञ्जीरौ यस्याः । अत्रापि स्वकर्तृकक्रीडा-विशेषः सहृदयगम्य एव । केयूरौ चाङ्गदौ च, कंकणानां वलयानामावली च यस्या इति । केयूराङ्गदौ भुजाभूषणौ अङ्गदः पादकटकोऽपि ज्ञेयश्च । कंकणावली प्रकोष्ठस्था इति । अत्र विलाससमयेऽङ्गमोटनैक्यप्राप्त्या समूहोक्तिः । द्रोर्वल्लिविषये दीप्तिच्छटा-छवि चमत्कारातिशयो यस्याः । 'प्रिय-कृतकरस्पर्शौत्सुक्यातिशयवारणव्यग्रेतस्ततश्चालनमपि ज्ञेयं, तेन सहृदय-सख्यानावृतिशोभा झटिति किरणप्रसारोक्तिः, तद्धेतुसूचनेन संबोधयति—हेमाम्भोरुहकुड्मलाविव स्तनौ यस्याः। अत्रापि प्रियसंगरजातकञ्चुक्यपावरणं दर्शितम् । तादात्विक शोभाधिक्यात् हेमाम्भोरुहेत्युक्तिः । एवं शोभाविशिष्ट-दर्शनेन मे दृक् तृप्यति, अतः सदेति, विलाससामयिकैव मम बहुप्रिया इति । मद्दृश इयमेव परमाप्यायनजीवनभुक्तिरिति भावः ॥१५१॥

एवं परमसौभाग्यश्रीमत्याः शृङ्गारं विलासं च निर्वण्य प्रियाङ्कस्थ-विहार वैवश्यशोभां वर्णयति—

रसकलश

झंकार सखियों के मन के मनोरथ को पूरा करती है । 'शिञ्जान मञ्जीरिणि' का विग्रह के अनुसार अर्थ होगा—जिनके दोनों चरणों में दो विछिया रुनझुन कर रहे हैं । यहाँ भी विलास करने वाली जब स्वयं प्रियाजी हों तो ध्वनि की विशेषता सहृदयों के समझने की है । केयूर और अंगद के जोड़े और कड़ों की पंक्ति-यथास्थान सुशोभित हो रही थी । केयूर और अंगद बाहों में पहिने जाते हैं पैरों के कड़े भी अंगद कहलाते हैं—और कड़ों की पंक्तियां कलाइयों में विराजती थीं । अंगों को मोड़ने और घुमाने में अंगों की शोभा का प्रदर्शन होने के कारण सब आभूषण यहाँ गिना दिये गये हैं । लता जैसी भुजाओं से छिटकने वाली कान्ति की छटा का चमत्कार उनके अतिशयरूप से होता है। उत्कंठा बढ़ जाने से प्रियतम के हाथ जब राधिका जी के श्री अंगों का स्पर्श करने लगते, तो प्रिया जी के हाथ उन्हें हटाने में लग जाते । ऐसा करने में हाथों को इधर-उधर चलाना पड़ता । श्रीहितसखी ने यही देखकर कहा है कि भुजाओं के निर्वसन हो जाने के कारण उनमें से किरणें छिटक कर फैल रही थीं । 'हेमाम्भोरुहकुड्मलस्तनि' संबोधन द्वारा किरणों के छिटककर फैलने का एक दूसरा कारण भी बताया है । अर्थ है—स्वर्ण कमल की कलियों के समान स्तन वाली । यहाँ भी यह दिखाया गया है कि प्रिय के सुरत-संग्राम में कंचुकी खुलकर अपने स्थान से हट गई थी । इस विशेष प्रकार की शोभा को देखकर मेरी आँखें तृप्त होती हैं, इसीभाव से कहा है—'दृशा' । अर्थात् विलासकालीन शोभा से युक्त ही श्रीराधा मुझे अत्यन्त प्यारी हैं, मेरी आँखों को परम तृप्ति प्रदान करने वाला यही भोग है—यह भाव है ॥१५१॥

अमर्यादोन्मीलत् सुरतरसपीयूषजलधे-
स्तरङ्गैरुत्तुङ्गैरिव किमपि दोलायिततनुः ।
स्फुरन्ती प्रेयोऽङ्के स्फुटकनकपङ्केरुहमुखी,
सखीनां नो राधे नयनसुखमाधास्यासि कदा
॥१५२॥

प्रेयसः अङ्के स्फुरन्ती चमत्कुर्वती चंचलेव सौत्सुक्यगाढालिङ्गनावेशेन कदाचिदङ्कलीना चन्द्ररेखेव दृश्यमाना, कदाचित् तत्साहसभिया पार्थक्येन घनात् इव सहासं सहसोद्गत्य पूर्णचन्द्र इव दीप्यमाना, अतएव 'स्फुटेति' । प्रफुल्लकनककमलमुखी यथेष्ट प्रियोत्कलिकापूरणस्वजयरसमनोगतहर्षाधिक्यबहिरुच्छलनं स्फुटेत्यनेन लक्ष्यते । तत्र मुखकमलवृत्तमुक्त्वा स्फुरणनालवृत्तमाह—'अमर्यादेत्यादि । मर्यादाभंजनपूर्वकोद्गच्छत् सुरतानन्दविग-

रसकलश

इस प्रकार परम सौभाग्य शालिनी श्रीमती के श्रृंगार और विलास का वर्णन कर, विहार विवश हो प्रियतम की गोद में लेटी हुई श्रीराधा की शोभा का वर्णन करते हैं—

"मर्यादा को तोड़कर उमड़ते हुए सुरतानन्दरूपी अमृत समुद्र की उछलती हुई तरंगों से जिनका शरीर मानों झकोरे खा रहा है, प्रियतम की गोद में दमकती हुई, खिले हुए स्वर्णकमल के समान मुखवाली हे श्रीराधे । आप इन सखियों के नेत्रों को कब आनन्द प्रदान करेंगी ॥१५२॥

प्रिय की गोद में बिजली की भाँति चमकती-दमकती हुई, प्रिय के द्वारा उत्कंठा-पूर्वक किये गए गाढ़ आलिंगन के आवेश के कारण कभी (बादल की) गोद में समाई हुई चन्द्ररेखा की तरह दिखाई देने वाली, तो कभी प्रियतम के साहस से सशंक होकर हँसते हुए एकाएक गोद से छिटककर, बादल से बचकर निकले हुए पूर्णचन्द्रमा की तरह पृथक् चमकती हुई, अतएव खिले हुए स्वर्णकमल के समान मुखवाली (श्रीराधा) । 'स्फुट' शब्द से यह लक्षित होता है कि प्रियतम की उत्कंठा को यथेष्ट पूर्ण करने के कारण प्रिया जी को विजय रस का अनुभव हो रहा था और उनके अन्तर की विशाल प्रसन्नता छलक कर बाहर आ रही थी । मुखकमल का विवरण देने के बाद कमल की नाल के फकने का वृत्तान्त कहते हैं—'अमर्यादोन्मूलन्···' । मर्यादा तोड़कर उमड़ते हुए बाह्य पदार्थ-सत्ता के ज्ञान को नष्ट कर सुरतानन्द के आस्वाद-समुद्र की अत्यन्त उत्कट तरंगों में प्रियाजी का शरीर मानों भूल रहा था । श्रीहित चतुराशी में कहा

लितवेद्यान्तरास्वादामृतसमुद्रस्यात्युग्रतरंगैरिव किमप्यनिर्वचनीयं यथास्यात्त-थान्दोलायिता तनुर्यस्याः। यथा—'सुरतहिंडोरे झूली सुरतसमुद्रझकोरी' इति चतुरशीतिपदेषु। प्रियांक एव पादावष्टंभपट्टिका, प्रियभुजावेव रश्मी, उक्तसिन्धुतरंगा एव प्रियसखीकृतान्दोलनानि, आनन्दसात्विका एव प्रावृट्, कुञ्जा एव हरितवनराजिः, इत्यादि सहृदयभाव्यम्, 'अमर्यादे' त्यत्र किञ्चिदाह—प्रियकृतसुरतो मर्यादा, वीरायितं चामर्यादा, तत्रापि प्रियात्वं विस्मृत्य प्रियंमन्यमानता, तथा च तद्वत् सुरतयाचनकाकुचटुलता, इति शीलत्यागवैवश्यमुन्मीलनमुद्वेलत्वम्। तरंगाः प्रतिरोम बहिरन्तर्विविध-भावाङ्कुरहर्षप्रागल्भ्यगतागतपरम्परेत्यस्थिरता। उत्तुङ्गता उद्भटता, दुर्ललितलीलात्वं, निरङ्कुशेच्छाक्रियावाक्प्राखर्यमिति। यथाह शतके—

कदाचिदचिरप्रभाघन इव क्षणोद्घाटिता—
खिलस्मरवशाकृतिः प्रियतमोरसा खेलति।

रसकलश

है—'सुरत हिंडोरे झूली, सुरत समुद्र झकोरी।' (इस उद्धरण के अनुसार हिंडोले का रूपक बाँधते हैं) प्रियतम की गोद ही पैर रखने की झूला की पटरी है, प्रियतम की भुजायें ही झूला की डोर हैं, सुरत समुद्र की तरंगें ही सखियों द्वारा दिए गए झोटे हैं, आनन्द के कारण शरीर में प्रकट हुए सात्विक भाव ही वर्षा ऋतु है, कुंज ही हरे-भरे वनों की पंक्तियाँ हैं—इत्यादि रूपक सहृदय अपने मन में समझ सकते हैं। अब 'अमर्या-दोन्मीलित' आदि के संबन्ध में कुछ कहते हैं—प्रियतम के द्वारा किया गया सुरत मर्यादाबद्ध है, पुरुषायित विलास मर्यादा के बाहर होता है, उसमें भी प्रियाभाव को भूल कर अपने आपको प्रियतम मान लेना और उन्हीं तरह सुरत के लिए प्रार्थना करना, भिन्नतें करना, मीठी-मीठी बातें बनाना—यह है लज्जाशीलता को त्याग कर काम के वश हो जाना 'उन्मीलन्' की यही व्यंजना है—अर्थात् किनारे तोड़कर उमड़ना, रोम-रोम में, बाहर-भीतर अनेक प्रकार के के भावों के अंकुरों का फूटना और लज्जा-राहित्य के आने-जाने की परंपरा ही तरंगों की चंचलता है। सुरतसंग्राम में वीरता का प्रदर्शन, ऊटपटांग चेष्टाएँ, अनियंत्रित भोगेच्छा तथा क्रिया और वाणी में अस्निग्धता—ये ही तरंगों का उछाल है। श्रीवृन्दावन शतक में भी कहा है—

'कभी तो श्रीराधा मेघ की गोद में बिजली की तरह क्षणभर के लिये बाहर निकलकर कामाधीनता की मुद्रा में प्रियतम के वक्षःस्थल पर क्रीड़ा करती हैं, कभी गौरकान्ति से सुशोभित अपने शरीर से श्रीहरि से ऐसे लिपट जाती हैं जैसे तमाल से कोई लता।''

''बाएँ हस्तकमल से, मोरपंखी मुकुट से सुशोभित श्रीहरि के सिर को झुकाकर तथा दाहिने हाथ से उनकी ठोड़ी पकड़कर रोमाञ्च से भरे उनके कपोलों को आवेश से चूमकर अधरामृत को खींचती हैं''॥१६।१५४

कदा च नवकांचनव्रततिवत्तमालायितं
हरिं वलयते लसत्स्ववपुषा सुगौरत्विषा ॥१६।५१॥
अदक्षिणकराम्बुजान्नमितबर्हचूडं हरेः
प्रगृह्य चिबुकं मनोहरमवामहस्तेन तु ।
कदापि पुलकावलीवलितचारुगण्डस्थलं
महारभसचुम्बनैरधरसीधु निष्कर्षति ॥१६।५४
कदापि हरिकण्ठगस्त्रजमसौ स्वकण्ठेऽर्पय—
त्यमुष्य च सुकण्ठगां रचयति स्वकण्ठस्त्रजम् ।
कदापि बहु निन्दति प्रणयते कदाचित् स्तुतिं
कदापि रुषिता कदाप्यतिगभीरधीस्तुष्यति ॥१६।५६
कदाचिदतिकामुकी मदनमोहनोरस्तटे
पृथोत्रुटितकञ्चुकां कुचतटीं मुहुर्घृष्यति ।
स्मरार्तिरतिकातरं प्रियमुखं मुखे संजय-
त्युदारपुलकावलीवलितमोहनांगी मुहुः ॥१६।५७

रसकलश

"कभी श्रीराधिका श्रीकृष्ण के गले की माला को अपने गले में पहिन लेती हैं और कभी उनके सुन्दर गले में पड़ी माला को अपने कंठ में धारण कर लेती हैं, कभी अपनी बहुत बुराई करती हैं, तो कभी प्रशंसा करते नहीं थकतीं, कभी रुष्ट हो जाती हैं और कभी अत्यन्त गंभीरभाव से प्रसन्न हो उठती हैं ॥१६।१५६

"कभी अत्यन्त कामातुर हो मदनमोहन के विशाल वक्षःस्थल पर फटी चोली वाले अपने स्तनों के अग्रभाग को बार-बार रगड़ती हैं और सर्वत्र व्याप्त रोमांचों से परिपूर्ण अंगवाली कामातुर प्रियतम के मुख से अपना मुख मिलाती हैं ॥१६।१५७

क्रिया और वाणी की यह तीव्रता ही सुरत समुद्र की उछलती तरंगें हैं। इन तरंगों के आघातों से प्रिया जी का लता जैसा शरीर ऐसे हिलता डुलता था जैसे विशाल जल राशि में कमल की नाल। परन्तु कमल तो जल के ऊपर ही रहकर सुशोभित होता है। वहाँ आन्दोलन या मुरझाना जैसी कोई चीज नहीं होती, क्योंकि वह तो अपने आन्तरिक आनन्द से ही खिलता है। इस प्रकार हे श्रीराधे ! आपने प्रारंभ में प्रिय को जिस सुदृढ़ प्रेम का वर देने की प्रतिज्ञा की थी उसका पालन कर आपने अपने को दानवीर सिद्ध कर दिया। आप समस्त प्रिय पुरुषार्थों की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि हैं। आपकी हम परम विश्वासपात्र सखियां हैं। गोपनीय से गोपनीय बात को आप हमसे छुपती नहीं हैं। हमारे इन नेत्रों ने हमें बड़े-बड़े सुख दिये हैं। अब इन नेत्रों को

इत्यादिक्रियावाक्प्राखर्यमेवोत्तुंगसुरताब्धितरङ्गाः । आन्दोलनं तु तनुलताया यथा महाजले कमलनालस्य, परन्तु कमलं तु तत्रोपरिस्थमेव सहर्षं शोभते, न तत्रान्दोलनम्लानता शंक्या, तदमितानन्दविकसनहेतुत्वात् । एवं पूर्वप्रतिश्रुत सुदृढात्यनुराग वरदानसत्यप्रतिपालनसंपादनदानवीरस्त्वविशिष्टा त्वं हे श्रीराधे ! प्रियसर्वपुरुषार्थसिद्धिशिरोमणे नस्त्वदेकजीवनाभिमानिनां सखीनां परमगोप्यविश्रम्भसुहृदामेवं प्रस्तुतं नयनयोरस्मत्तत्तत्सुखप्रदायकयोः सुखं कदा आसमन्तात् धास्यसि । यथाद्य सुखाधानं कृतं तथैव पुनः पुनः आधेहि, इत्याशंसनम् ।।१५२।।

एवं त्रिभिर्विलासवैवश्यानन्दं नयनगोचरीकृत्य हितसखीदानीं तदन्ते मिथो रहःकथनीयसख्यरसात् पृष्टा स्विदेतदेवाज्ञातामिव मां कया रीत्या प्राणप्रिया वर्णयेदिति श्रीमुखोक्तिश्रवणानन्दमाशंसते—

क्षरन्तीव प्रत्यक्षरमनुपमप्रेमजलधिं
सुधाधारावृष्टीरिव विदधती नेत्रपुटयोः ।
रसार्द्रा सन्मृद्वी परमसुखदा शीतलतराभवित्री
किं राधे तव सह मया कापि सुकथा ।।१५३।।

रसकलश

आप उपर्युक्त रति-विलास के दर्शन के आनन्द को कब प्रदान करेंगी ? जैसा सुख आज दिया है वैसा ही बार-बार दीजिये, यह हमारी आकांक्षा है ।।१५२।।

इस प्रकार तीन श्लोकों द्वारा रति-विलास की बेबसी का नेत्रों से साक्षात्कार कर श्रीहितसखी यह आंकांक्षा करती हैं कि संभोग के अन्त में दो सहेलियों को एकान्त में बात करने में जो रस मिलता है उससे प्रेरित होकर यदि मैं अजान की भांति सब वृत्तान्त पूछूं, तो देखें प्रियाजी किस रीति से उसका वर्णन करती हैं । उनके श्रीमुख से ही उसे सुनने में बड़ा आनन्द मिलेगा । इसी मनोरथ को अग्रिम पद्य द्वारा व्यक्त किया गया है—

हे श्रीराधे ! प्रत्येक अक्षर से अनुपम प्रेम-समुद्र को मानों झराती हुई, नेत्रों में मानों अमृत की धार बरसाती हुई, रस से भीनी, अत्यन्त कोमल, परम सुखदायिनी, हृदय को शीतल कर देने वाली क्या आपकी सुन्दर बातचीत कभी मेरे साथ होगी ? १५३।।

समस्त मनोरथों को सिद्ध करने वाली हे श्रीराधे ! प्रियतम के साथ विभिन्न प्रकार के अवर्णनीय विलास से सुशोभित आपके रति-क्रीड़ा संबन्धी विविध वृत्तान्त तथा आपकी बातों को सुनने की मैं प्रतीक्षा कर रही हूँ । क्या हृदय को द्रवित करने

हे राधे! सखीसर्वाभिलाषसाधिके तव तत्तदनिर्वचनीयकान्तविलासविलासिताया मया तत्तदुदन्तत्वत्कृतसंलापप्रतीक्षमाणया सह कापि हृदयद्राविणी विशिष्याकथनीया सुकथा प्रियगोष्ठी किं भवित्री भविष्यत्कालोऽभिलाषज्ञापकः साधकसंग्रहः। गोष्ठी तु स्वानुभूयमानैव ज्ञेया। विशिष्याकथनीयाया-अपि किञ्चित् सौष्ठवं निर्दिशति। कीदृशी कथा? प्रत्यक्षरं, प्रत्येकवाक्यपदाक्षरं अनुपमप्रेमसिन्धुं स्रवन्तीव। यद्यप्यक्षराणि महागोप्यतमवृत्ताकथनीयात्मकानीत्यपि नियमो सख्यविश्रम्भप्रेमातिशयेन भग्न, इत्यक्षरेष्वपि क्षरणं ज्ञापयति। 'गुह्यमाख्याति पृच्छति' इति मैत्रीलक्षणम्। सर्वसखीसमष्टचभिन्नासाधारणनर्मसाचिव्यसख्याधिकरणात्मनिरौपम्यात् स्वामिन्याअपि प्रेमा तादृश एव निरुपमानन्दनिदर्शकः। यथा मयि सख्यप्रेमा तथा न क्वापीति 'सिन्धु' रित्यत्रयादृगिङ्गितेन, लीलाविलासेन, लाडिलात्वेन च यादृक्स्वरेण हास्यहस्तग्रहादिना लज्जयाच व्यंग्येन चोक्तं तस्य तस्य कथनरीतिसौष्ठवं शब्दार्थसौष्ठवं च ध्वनिप्रतिध्वन्यनुध्वनिवैदग्ध्यं विचारकौशलेन विचारितं

रसकलश

वाली, जिसकी विशेषतः किसी से चर्चा नहीं की जा सकती, अत्यन्त प्रशंसनीय आपकी प्रेमपूर्ण गोष्ठी मेरे साथ होगी? वाक्य की क्रिया का भविष्यत् काल उस अभिलाषा को सूचित करता है जिसे भक्त अपने हृदय में पाले रखता है। गोष्ठी में तो अपने अनुभव ही कहे जाते हैं, और वे अकथनीय होते हैं। फिर भी उनका अपना सौन्दर्य होता है जिसका संकेत आगे के विशेषणों द्वारा करते है। कैसी कथा? ऐसी कि जिसके प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक वाक्य, वाक्य के प्रत्येक पद और उनके प्रत्येक अक्षर से अनुपम प्रेम समुद्र मानों झर-झर कर बहता रहता है। यद्यपि विलास-चर्चा के अक्षर अत्यन्त गोपनीय, अकथनीय, वृत्तान्त को प्रकट करते हैं, तथापि श्रीहितसखी के परम विश्वासपात्र होने के कारण तथा प्रियाजी का उन पर विशिष्ट प्रेम होने से, यह नियम भी तोड़ दिया गया। इसी प्रेम के कारण विलास-कथा के अक्षर रस को झराते हुए से लगते हैं। मित्रता का लक्षण है कि मित्र वह जो गुप्त बातों को पूछे और बतावे। श्रीहितसखी का स्थान सहचरी समूह में विशिष्ट है और उन्हें इसका अभिमान है कि प्रियाजी का मनोविनोद करने तथा उनकी आन्तरिक बातें जानने का उन्हें असाधारण अधिकार है। इसीलिए वे सब सखियों में अपने को निरुपम (असाधारण) मानती हैं। दूसरी ओर स्वामिनी जी का प्रेम भी श्रीहितसखी के प्रति उसी कोटि का है और उसी प्रकार के आनन्द का सूचक है। श्रीहितसखी अनुभव करती हैं कि प्रियाजी का जैसा प्रेम मुझ पर है, वैसा अन्यत्र नहीं। 'सिन्धु' शब्द का गूढार्थ यह है कि जिस प्रकार की चेष्टाओं (हावभाव) से, विनोदपूर्ण विलास-से, लाड़लेपन से, जैसे स्वर से हँसी से, हाथ पकड़ने

सत् प्रत्यक्षरं प्रेमागाधतामेव दर्शयति, न च तदानीमेव, किन्तु यदा स्मृतिमायाति तदैव तादृक्प्रेमोद्भवाविच्छेदात् 'सिन्धु'रित्युक्तिः। प्रेमासिन्धुकारण मयव्यक्तौ तस्यां सत्यामपि तदुक्तवर्णानां तथात्वदर्शनादिवेत्युत्प्रेक्षोक्तिः।

एवं प्रियावचनप्रेमरूपमुक्तास्वादानन्दमाह—'श्रोत्रपुटयोः'। तत्समसमयसादरातिशयाल्हादपानप्रयत्नविपुलीकृतयोर्दिगाकाशात्मप्रेमदैवतकृतावकाशाधिक्यासंतोषधर्मयोश्च। 'सुधे'ति चिरानभिमुखदर्शनसंलापहास्याद्यत्यहितरुजापहरणसंजीवनमहामाधुर्यलोकोत्तरचमत्कारस्वादामृतस्य धाराणामविच्छिन्नौघपरंपराणं वृष्टीरिति क्षणशोऽनेकजातीयानन्दत्वात् प्रतिरोमप्लाव्यमानतयानेकसात्विकभावशस्यांकुरोद्भवहेतुभूताः विधानं कुर्वतीवेति। यथार्हभोगदानं विधिः। अत्रैवमेवं विधेयो हि। मुख्यं विधानकर्तृत्वममृतधनरूपायाः प्रियाया एव, तथापि तादात्विककथायां तादृशत्वविधानादिवेत्युक्तिः। एवमाप्यायनोक्तौ न केवलं प्रीत्या स्वादमय्येव, किन्तु

रसकलश

से, लज्जा से व्यंग्य से, उस प्रसंग में जो कुछ कहा गया, उसके कहने के ढंग का सौन्दर्य (खूबी), शब्दों और अर्थों की रमणीयता, उनकी व्यंजना, प्रतिव्यंजना तथा व्यंजना से भी निकलने वाली व्यंजना--इस सबकी चातुरी को निपुणतापूर्वक विचार करके देखा जाय तो प्रत्येक अक्षर में अगाध प्रेम से परिपूर्ण ही मिलेगा। उसी समय ही नहीं, बल्कि जब-जब यह रस-प्रसंग याद आवेगा, तब-तब, यह असंभव है कि वैसा ही प्रेम फिर न उमड़ आए। इसी आन्तरिक अभिप्राय से 'सिन्धु' कहा गया है। प्रियाजी स्वयं प्रेम सिन्धु का कारण हैं, तो भी उनके श्री मुख से निकले हुए शब्द प्रेम समुद्र को बहाते हुए से प्रतीत होते हैं—इस अर्थ में उत्प्रेक्षालंकार होने से तद्वाचक 'इव' का प्रयोग हुआ है।

अब प्रियाजी के प्रेम भरे वचनों के आस्वाद के आनन्द का वर्णन करते हैं—'श्रोत्रपुटयोः।" केलि-प्रसंग के वर्णन की प्रार्थना करते समय आदरपूर्ण उल्लास के साथ श्रीहितसखी ने कथा-रस को पान करने का जो प्रयत्न किया उससे कान विशाल हो गये। प्रेम के देवता दिशा और आकाश ने कानों के अन्दर की खाली जगह को चौड़ा कर दिया, फिर भी कथामृत को पीते-पीते वे तृप्त नहीं होतीं। 'सुधाधारावृष्टी रिव' का अर्थ करते हैं—बहुत समय से प्रिया-प्रियतम का जो आमने-सामने दर्शन नहीं किया, उनकी बातचीत, हँसी आदि नहीं सुनी, तो श्रीहितसखी के लिये यह एक भयानक मानसिक रोग बन गया जिसे दूर करने के लिये संजीवनी औषधरूप, अलौकिक चमत्कार से युक्त, अमृत की धाराओं के समूहों की अविरल परम्पराओं की वृष्टि के समान वह कथा है। यह कथा प्रत्येक क्षण अनेक प्रकार के आनन्दों को प्रदान करती है और रोम-रोम को

रसेन निजकान्तसंगश्रृंगाररससमुद्दीपनविगलितवेद्यान्तरतापादकेनार्द्रा, वक्त्र्या अपि कथनसमसमये भाववैवश्यप्रतिपादका, श्रोत्र्याश्च तत्तदास्वाद-दर्शनानन्देन स्वप्राणसख्याः परमसौभाग्यानन्दे मग्नता। अनेन प्रेमामृतवर्षायामपि रसमिश्रणमुक्तम्। नचैव सख्यर्थं नवीनकृत्रिमनिबन्धनात्मिका, अतः सती श्रेष्ठा सत्या च, निष्कापटयेन सखीप्रणयवशयथार्थोक्त्या तत एव यथास्वदृष्टार्थज्ञानात् सत्यमुक्तवती प्रिये त्वमिति हितसखी हृदयसाक्षिका। तत्रापि सत्यत्वे हितप्रियाकथनकाठिन्यशङ्कापि स्यात्तत्राह—'मृद्वि'। सखि! किं कुर्यां, प्राणप्रियानुरागातिशयभानुना मद्धृदयं स्वासज्यलज्जाद्यवरोध दृढमपि द्रावितं, तत् किं क्रियते। मय्यपि कृतज्ञता सद्यः प्रसादद्रुतिरोगस्तेन तदात्मदानानुवशगया सर्वं कृतम्, इति श्रुत्वा निजहृदयद्रवेण 'मृद्वी'

रसकलश

आप्लावित करने के कारण विविध सात्विक भावों के अंकुरों को पैदा करती है। 'विदधती' का अर्थ है विधान करती हुई। (किसी विधि का विधान किया जाता है।) पात्रता के अनुसार भोग का दान करना ही विधि है। प्रस्तुत में यही विधान किया किया गया है (कि प्रियाजी अपनी केलि-कथा सुनाकर श्री हितसखी को आनन्दित करें) विधान करने वाली मुख्यरूप से प्रियाजी ही हैं जो अमृत बरसाने वाले मेघों के समान हैं। तथापि उस समय की कथा के सम्बन्ध में उस प्रकार का विधान मानों विशेषरूप से किया गया था, इसी भाव को व्यक्त करने के लिये 'इव' का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यह कह देने से कि कथा कानों को तृप्त करती है, यह स्वतः सिद्ध है कि उसमें केवल चसक ही नहीं है, बल्कि अपने प्रिय के साथ श्रृंगार रस (रति स्थायी भाव) का जो उद्दीपन होता है और फलस्वरूप, रस की अनुभूति होने पर, इतर पदार्थ-सत्ता के विस्मृत हो जाने की जो स्थिति होती है, उसी स्थिति को वह कथा पुनः प्राप्त कराती है, अतएव वह 'आर्द्रा' अर्थात् रसभीनी है। कथा कहते समय कहने वाली को भी एक बार फिर सुरतकालीन विवशता का अनुभव होने लगता है और सुनने वाली श्रीहितसखी जब देखती हैं कि कथा के प्रसंग में स्वामिनी जी स्वयं रस ले रही हैं, तो उन्हें भी आनन्द होता है और तब अपनी जीवनमूल सखी (प्रियाजी) के सौभाग्य को सराहती हुई एक भिन्न प्रकार के आनन्द में डूब जाती है। इससे यह सूचित किया गया है कि प्रेमामृत की वर्षा में भी अनेक रस मिले रहते हैं। यह न समझना चाहिये कि श्रीहितसखी के लिये प्रियाजी ने बनावटी बन्दिश बाँधी है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये कहा है—'सन्मृद्वी'=सती+मृद्वी। 'सती' अर्थात् श्रेष्ठ और सत्य। श्रीहितसखी के प्रेम के कारण प्रियाजी ने निष्कपट भाव से जो कुछ यथार्थ है वही कहा। श्रीहितसखी ने सब कुछ अपनी आँखों से देखकर पहले ही वास्तविकता

इत्युक्तिः। अत एव परगुणज्ञतया 'परमे'ति। सुखदत्वं तु तादृशस्वामिनी कथायां स्वत एव। एवं शीतलत्वमप्यमृतवार्तायां स्वत एव। परन्तु तरत्वं नित्यवयस्याया मौग्ध्यकोपमानादिनिवेदनशङ्कानिरासेन श्रीमति! कोटि-प्राणनिर्मंहनीय प्रत्यक्षरे ललने! एवमेव प्राणनाथमनोरथपूरणं वदान्या-यायुक्तमेव, मद्धृदयसूक्ष्मतापोऽपि निरस्त, इति सखीहृदयसाक्षिकम्।

अत्र यादृक्कथनेन यथायथा प्रेमामृतरससन्मृदुता, परमसौख्यशीतल-त्वादि यथार्थस्फोटकवार्तिकं तत्तादृशसहृदयगम्यमेव, नैवास्माकं मनोगति-रनुकरणलेशोऽपीति। तत्कृपा चेत् किं किं न भवेदिति तत्साध्यं स्मरणीयम्।

रसकलश

को जान रक्खा था अतः उन्होंने कहा—'प्रिये! आपने सत्य ही कहा।' श्रीहितसखी का हृदय ही इन अनुभूतियों का साक्षी है। सत्य प्रायः कठोर होता है, अतः यह शंका होती है कि प्रियाजी की कथन-शैली में रूक्षता होगी। इस शंका के निवारण के लिये कहा है—'मृद्वी' (मधुर)। 'सखि! क्या करूं? प्राणप्यारे के अनुरागाधिक्य रूपी सूर्य ने मेरी आसज्यविषयक लज्जा आदि के प्रतिबन्ध (बर्फ की तरह) से कड़े किये गये भी मेरे हृदय को पिघला दिया। ऐसे में क्या किया जाय? मुझे भी यह रोग है कि मैं कृतज्ञता देखकर जल्दी द्रवित हो जाती हूं, इसीलिये जब प्रियतम ने अपने आप को सौंप दिया, तो मैंने भी उनके वश में पड़कर सब कुछ कर डाला।' यह सुनकर श्री-हितसखी का हृदय भी द्रवित हो गया। इस अर्थ को व्यक्त करने के लिये कथा का विशेषण दिया है—'मृद्वी'। इसीलिये गुणज्ञ होने के कारण 'परम' कहा है। रही कथा के सुखद (आनन्ददायक) होने की बात, सो आनन्ददायकता तो स्वामिनी जी की कथा में स्वभाव से ही रहती है, इसी प्रकार अमृत सरीखी बातों में शीतलता भी रहती ही है। अब 'शीतलतरा' में अतिशय अर्थ में 'तरप्' प्रत्यय लगा है। उसके द्वारा इस शंका का निवारण किया गया है कि नित्यरूप से मैत्री भाव में स्थित प्रियाजी सुरत-प्रसंग में मुग्धता का प्रदर्शन करती होंगी, या बीच-बीच में क्रोध या मान भी करती होंगी। इस प्रकार साङ्गोपाङ्ग रूप से कथा के रसमय होने के कारण श्रीहितसखी के हृदय से बरबस ये उद्गार निकलते हैं—हे श्रीमति! आपके श्रीमुख से निकला अक्षर-अक्षर इस योग्य है कि उस पर कोटि-कोटि प्राण न्यौछावर कर दिये जायँ। हे ललने! आप स्वभाव से उदार हैं, आपको यह उचित ही है कि आप प्राणनाथ के मनोरथों को पूरा करें। अपनी इस वृत्ति से आपने मेरे हृदय के अलक्ष्य संताप को दूर कर दिया। इसकी यथार्थता के विषय में श्रीहितसखी का हृदय ही प्रमाण है। यहाँ जिस ढंग से कहने से, जिस जिस प्रकार प्रेमामृत रस के श्रेष्ठ माधुर्य और परम सुखदायक शीतलता आदि को सत्य रूप में प्रकट-करने वाली बातचीत हुई होगी, उसे सहृदय ही समझ सकते हैं। उस

प्रियासख्योर्मिथः संलापः श्रीचतुरशीतिपदद्वयानुकृतिमयोऽपि किञ्चिल्लिख्यते—'आजु तौ जुवति तेरौ वदन'......., 'जोई जोई प्यारो करै....'। अनयोः क्रमेण प्रत्येकं श्लोकचतुष्टयम्—

युवति तेऽद्यमुखंसुखसंभृतं प्रियसमागमनिर्वृतिसूचकं,
अलसवागरुणांककपोलकौ, स्थगितनिद्रकषायितलोचने ॥१॥
तिलकलेशकिरत्कुसुमं शिरो ननु विभूषितमेव न ते प्रिये !
करुणयाधरसारसुधादिकं वितरितं दयिताय वदान्यया ॥२॥
विनिमिताम्बरपीतनिगूहनक्रृतिरियं भवदीय जने कथम्
निजमनोजवशीकृतकान्तया, गलितदाम कटिश्लथभूषया ॥३॥

रसकलश

वार्ता के एक अंश का भी अनुकरण करने की हमारी सामर्थ्य नहीं है, सच तो यह है कि स्वामिनी जी की यदि कृपा हो, तो क्या कुछ संभव नही है। अतः वह कृपा ही साध्य है, यह नहीं भूलना चाहिए।

प्रियाजी और श्रीहितसखी के पारस्पारिक वार्तालाप का जो वर्णन श्रीहितचतुरासी के दो पदों में किया गया है, उसीका एक अपूर्ण-सा अनुवाद यहाँ दिया जाता है। इनमें एक है "आजु तौ जुवति तेरौ वदन ....", दूसरा है—"जोई जोई प्यारौ करै.... "।

इसी क्रम से प्रत्येक पर चार-चार श्लोक दिये जाते हैं—

'हे युवति श्रीराधिके ! आज तो आनन्द से भरा हुआ यह तेरा मुख प्रियतम के साथ विहारजन्य चैन को सूचित कर रहा है। आलस्य से भरे तेरे बोल हैं, कपोल लाल रंग से अंकित हैं, तेरे ये दोनों नेत्र थके-थके से, उनीदें और लाल हो रहे हैं। तेरे मस्तक पर का तिलक चुम्बन और श्रमस्वेद से पुंछा जाकर थोड़ा सा रह गया है। वेणी में के फूल झर रहे हैं, सिर भी माँग से विभूषित नहीं है। ऐसा लगता है कि तूने करुणा कर प्रियतम को अधरामृत का सार उदारतापूर्वक लुटाया है। मैं तो तेरी निज प्राणसखी हूँ, तूने बदलकर यह जो प्रियतम का पीताम्बर पहिन रखा है, उसे छुपाने से क्या बनेगा? कामदेव को अपना बना कर तूने प्रियतम को वश में कर लिया है। देख, तेरे गले की माला टूटी हुई है, और कमर पर पहिनी हुई करधनी भी ढीली हो गई है। ये सब चिन्ह बता रहे हैं कि हे भामिनि ! तू सुरत-संग्राम के प्रसंग में प्रिय के साथ किसी लता-मन्दिर में सोई है। बता तो सही इस बराबर के युद्ध में जीता कौन? तूने जो सुख लूटा है उसे सुना तो सही।'

श्रीहितचतुरासी का पद इस प्रकार है—

आजु तौ जुवति तेरौ वदन आनन्द भर्‌यौ।
प्रिय के संगम के सूचत सुख चैन ॥

शयितमित्थमनोभवसंगरे वनलतावरसद्मनि भामिनि !
विजयितं वद केन समानयोः श्रुतिषु देहि सुखं किमु लुण्ठितम् ।।४।।

इत्यनन्तरं प्रियावाक्याम्—

काव्यं करोषि किं शीले ऽनिद्रिते किमु चित्रकम् ।
सत्यं ब्रवीमि यद्वृत्तमगोप्यं सखि मे त्वयि ।।१।।
यद्यत्कुर्यात् प्रियस्तत्तद्रोचते मे सखिर्मम ।
तदेव कुरुते प्रेष्ठस्तन्नेत्रे मे रुचिस्थले ।।२।।
मत्तारकीयति प्रेयान् मन्मनस्तन्वसुप्रियः ।
हारितात्मप्राणकोटिः किं किं प्रेम वदे सखि ।।३।।

रसकलश

आलसबलित बोल सुरंग रंगे कपोल ।
विथकित उंनीदे दोऊ नैन ।।
रुचिर तिलक लेश किरत कुसुम केस ।
सिर सीमन्त भूषित मानौं तैं न ।।
करुणा करि उदार राखत कछु न सार ।
दसन-बसन लागत जब दैन ।।
काहे कौ दुरत भीरु पलटे पीतम चीर ।
बस किये श्याम सिखै सत मैन ।।
ललित उरसि माल सिथिल किंकनी जाल ।
जै श्रीहितहरिवंश लता गृह सैन ।।४।।

इस पर प्रियाजी कहती हैं—

हे सुन्दर स्वभाव वाली सखि ! ऐसे बढ़ा-चढ़ा कर बात क्यों करती हो जैसे कि काव्य रचना कर रही हो । यदि मैं उनीदीं हूँ तो आश्चर्य ही क्या है । अब मैं सही-सही बता दूँ कि क्या हुआ । तुमसे भला क्या छिपा है ? (१) मेरे प्रियतम जो जो करते हैं वही मुझे अच्छा लगता है, प्रिय भी वही करते हैं जो मुझे भाता है । (२) प्यारे मेरी आँखों के तारे हैं और मेरे मन, शरीर और प्राणों से भी अधिक वे मुझे प्यारे हैं । प्रिय भी अपने कोटि-कोटि प्राण मुझ से हार चुके हैं । उनके प्रेम की क्या-क्या बात तुझसे कहूँ ! (३) यह सुनकर श्रीहितसखी कहती हैं—मैंने सब कुछ सुन लिया, हे सखि ! तू ठीक ही कहती है । गौर-श्याम वर्ण की तुम दोनों की जोड़ी हंस-हंसिनी जैसी है । जल और तरंग की भाँति मिले हुए तुम दोनों को कौन अलग कर सकता है । (४) यह संलापाष्टक है ।।१५३।।

श्रुतेत्याह हितः सत्यं गौरश्याममरालयोः ।
प्रेमैक्यमद्वयाभेद्यं तरङ्गजलयोरिव ॥४॥

इति संलापाष्टकम् ॥१५३॥

एवं प्रियप्रेमातिशयं श्रीमुखतः श्रुत्वा अपि प्राणप्रिये ! एवमेव तत्प्रेम, किमहं ब्रुये । त्वदासक्त्यावेशेन निजभक्तेभ्योऽपि त्वन्नाममात्राश्रितस्य बह्वादरं करोतीति सख्याचार्यनिर्विशेषोक्त्याह—

अनुल्लिख्यानन्तानपि तदपराधान् मधुपति-
र्महाप्रेमाविष्टस्तव परमदेयं विमृशति ।
तवैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरसम्
महिम्नः कः सीमां स्पृशतु तव दास्यैकमनसाम्
॥१५४॥

रसकलश

श्रीहितचतुरासी का पद इस प्रकार है—

जोई जोई प्यारौ करै सोई सोई मोहि भावै ।
भावै मोहि जोई सोई सोई करै प्यारौ ॥
मोकों तो भावतो ठौर प्यारे के नैननि में ।
प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननि के तारे ॥
मेरे तन मन प्रान हूँ तैं प्रीतम प्रिय ।
अपने कोटिक प्रान प्रीतम मौसौं हारे ॥
जै श्रीहितहरिवंश हंस हंसिनी श्यामल गौर ।
कहौ कौन करै जल तरंगनि न्यारे ॥३॥

प्रियतम के प्रगाढ़ प्रेम के बारे में श्रीराधिका के श्रीमुख से इस प्रकार सुनकर भी 'प्राणप्यारी ! उनका प्रेम ऐसा ही है । मैं क्या कहूँ ? आपके प्रति दास्यभाव से आसक्त होने के कारण श्रीकृष्ण अपने भक्तों से अधिक उसका आदर करते हैं जो आपके नाम मात्र पर आश्रित है ।' इस बात को अन्तरंग सखी और आचार्य रूप दोनों दशाओं में सामान्य भाव से कहते हैं—

'हे श्रीराधे ! श्रीकृष्ण आपके प्रेम के उत्कट आवेश में, केवल आपके नामामृत को ग्रहण करने वाले व्यक्ति के अनन्त अपराधों का भी लेखा-जोखा न रखकर इस विचार में पड़ जाते हैं कि इसको क्या दिया जाय ? जिन लोगों का मन केवल आपकी दासता में अनुरक्त है उनकी महिमा की सीमा को भी कौन छू सकता है ? ॥१५४॥

तव मधुपतिर्भवदधरसीधुपतिर्वा सीधुरेव पालको यस्येति तदेकजीवनंमन्योऽनन्यभ्रमरस्तवैव च महाप्रेमाविष्टो—महांश्चासौ प्रेमाविष्टश्च—आवेशे महत्वम्। क्वचित् 'अभीष्ट' इति पाठस्तदपि तदेव तात्पर्यम्। यः प्रेमविषयस्तस्य किमपि संबन्धमात्रं कुत्रापि पश्यतु तमेव प्राणं मनुते, इति प्रेमस्वरूपमभीष्ठं यस्य। 'महत्' इति विगलितवेद्यान्तरभावस्तत्रैव स्यादिति। तदेवाह—हे श्रीराधे ! तादृशप्रियप्रेमावेशसाधिके, वा तत्साधनश्रीयुते, तव परमासक्तिविषयायाः श्रीमत्या एकं राधेति नाम इहलोके गृणतः कस्यचिज्जनस्य, वा गृणते तस्मै। कीदृशं नाम ? अमृतं दिव्यसंजीवनोपायं रसमाधुर्यमास्वाद्यं चेति प्रियस्य सख्याश्च तादात्विकहृदयसाक्षिकम्। तदानन्दोद्दीपनेन तस्य अनन्तानपि 'सतां निन्दा' इत्यादि दश भक्तापराधादीन्, स्वापराधादपि तेषामपरिहार्यत्वमहिम्नोऽप्यनुल्लिख्य,

रसकलश

आपके मधुपति—आपकी अधर-मदिरा के स्वामी, अथवा जिनका पोषण आपके अधरासव से होता है, जो उसको अपना जीवन मानते है और उसी (मधु) के अनन्य भ्रमर हैं—आपके महाप्रेमाविष्ट होकर—महान् जो 'प्रेमाविष्ट'—इस समास के अनुसार 'महान्' शब्द 'आवेश' का विशेषण है। कहीं-कहीं 'प्रेमाभीष्ट' भी पाठ है, उसका भी यही तात्पर्य है। तो मधुपति (श्रीकृष्ण) अपने प्रेम के विषय (श्रीराधा) का लेशमात्र भी सम्बन्ध जहाँ कहीं देखते हैं, उसी व्यक्ति को अपना प्राण मान लेते हैं। यही प्रेम-सम्बन्ध उन्हें अभीष्ट है। 'महाप्रेमाविष्टः' में 'महत्' से यह तात्पर्य है कि प्रेमावेश की तीव्रता के कारण अन्य पदार्थ—सत्ता की स्मृति का विलय उस स्थिति में हो जाता है। इसी बात को कहते हैं—हे श्रीराधे !—अर्थात् उस प्रकार की प्रेमावेश रूपी संपत्ति की सिद्धि में साधकभूत, अथवा उसकी साधनरूप संपत्ति से युक्त—परम आसक्ति का विषय आप-श्रीमती के केवल 'राधा' इस नाम को इस संसार में लेने वाले किसी व्यक्ति को, अथवा जो नाम लेता है उसके लिए, (क्या सर्वोत्तम वस्तु दी जाय, यह सोचते हैं)। नाम की विशेषता बताते हैं—अमृत, अर्थात् जीवन का साधनस्वरूप अलौकिक रस जोकि मधुर है और साथ ही आस्वाद्य है। नाम के आस्वादनीय होने के संबन्ध में प्रिय का एवं श्रीहितसखी का तत्कालीन हृदय साक्षी है। 'राधा' नाम लेते (या सुनते) ही जो आनन्द उमड़ता है, उसमें भक्तों के 'सज्जन-निन्दा' आदि जो दस अपराध बताये गये हैं उनकी (अनन्त संख्या को भी ध्यान में नहीं लाते)। भक्तों के दस अपराध इतने गंभीर हैं कि वे श्रीकृष्ण के अपने अपराधों से भी अधिक अक्षम्य हैं। ऐसे अपराधों को भी कोई महत्त्व न देकर—अर्थात् राधा नाम के, प्रेम के कारण अपने ही द्वारा विहित नियमों को भंग कर, मुक्ति आदि पुरुषार्थों से नहीं बल्कि मुक्ति-फल से भी श्रेष्ठ, दिये जाने योग्य पदार्थ के सम्बन्ध में विचारते हैं कि अहो ! इसे क्या लोकोत्तर वस्तु दूं। दूसरी बात यह कि अपने प्रेमवालों को जो मैं देता

प्रेम्णा स्वोक्तिनियमपरिहृतिपूर्वकमगणय्य, परमं सर्वेभ्योऽपि मुक्तयादिभ्यः किमु भक्तिफलेभ्योऽपि श्रेष्ठं, देयं वस्तुपदार्थं विमृशति विचारयति, 'अहो ! किमस्मै लोकोत्तरं दद्याम् । किञ्च मत्प्रेमपात्रदेयदानेऽस्य साधारण्यदृष्टौ प्रेमसाधारण्यं स्यात्, अतो यथा प्रियाप्रेम मम निरतिशयं मत्तोऽपि लगति, तथैव तन्नाम गृणते देयम् । तदैव मनस्तोषः स्यात्, इति परमदेयविचारः । अथवा तादृशविचारेऽप्यप्राप्तौ, परं केवलं अदेयं विचारयति—नैतदर्हं किमपि देयमस्तीति । अथवा परमन्यत् प्रस्तुतत्वदीय प्रेम विनेति इदमेव देयमित्यर्थः । कथं प्रियासामीप्यसेवाधिकारं दद्यां, सतु तत्कृपादानेनैव प्राप्यते, नतु तद्दाने मत्स्वाम्यम् । अतोऽन्योऽप्यर्थश्च । तव स्वामिन्या अदेयं विमृशति स्वहृदयसाक्षित्वेन—अहो ! किमस्मै प्रिया दास्यति यदेवं मद्विगलितवेद्येतरापादकं नामामृतं मज्जवीनं जयतीति विचारयति । सर्वपुरुषार्थशिरोमणि नाम तु प्राप्तमेव, अतोऽग्रे किं फलमिति चिन्त्यम् ।

रसकलश

हूँ वे सब पदार्थ तो इस राधा-भक्त की दृष्टि में बिलकुल साधारण हैं। उन्हें देने पर तो इसके राधा-प्रेम में भी साधारणता आ जायगी। अतः जिस प्रकार प्रियाजी का प्रेम मुझे अपने आप से भी अधिक मूल्यवान् लगता है, उसी प्रकार उनका नाम लेने वाले को भी यदि वही दिया जाय, तभी मन को संतोष होगा। यह विचार परमोत्तम वस्तु देने के सम्बन्ध में हुआ। अथवा यह विचार भी उन्हें न आवे, तो श्रीकृष्ण यह सोचते हैं कि उसके लिये तो कोई वस्तु देने योग्य है ही नहीं। अथवा आपके (श्रीराधा के) प्रस्तुत प्रेम के सिवा और कुछ इसके योग्य है ही नहीं—अर्थात् वही दिया जा सकता है, यह अर्थ है। अब प्रियतम के मन में शंका उठती है कि प्रिया के निकट रह कर उनकी सेवा के अधिकार को कैसे दे दूं, वह तो श्रीमती के कृपादान से ही मिल सकता है, उसे देने का मालिक मैं तो नहीं हूँ। इसलिये दूसरा अर्थ और है। श्रीकृष्ण अपने हृदय को साक्षी बनाकर सोचते हैं कि श्रीराधा के द्वारा इसे तो कुछ दिया ही नहीं जा सकता। अहो ! प्रियाजी इसे क्या देगीं ? क्योंकि यह तो मुझे अन्य समस्त पदार्थ-जात का ज्ञान विस्मृत करा देने वाले, मेरे जीवनाधार नामामृत को इस प्रकार जपता है। सब पुरुषार्थों में श्रेष्ठ नाम को तो इसने पा ही लिया। इससे भी आगे फल कौन सा है, यह सोचने की बात है।

'अनुल्लिख्य' पद से 'उल्लेख' नामक अर्थालंकार की तरफ भी संकेत है। एक ही वस्तु या व्यक्ति का जब कई प्रकार से उल्लेख किया जाय, तब उल्लेख अलंकार होता है। उदाहरण—श्रीकृष्ण को स्त्रियों ने कामदेव समझा, याचकों ने कल्पवृक्ष और शत्रुओं ने मृत्यु। इस उदाहरण की तरह अनन्त भक्तजनों में से किसी ने, अपनी-अपनी

उल्लेख इत्यत्रालंकारार्थोऽपि । यथा—

बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते ।
स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः स्वर्द्रुः कालः शत्रुभिरैक्षत ।।

इत्युक्तिवदनन्तभक्तैर्जनैर्वा केनचित् कामी, केनचित् क्रोधी, लोभी, पाखण्डीतिसमशीलानुभूत्या पृथक् पृथक् लक्षितानन्तापाराधमप्यनुल्लिख्य, उल्लेखालंकारं दूरीकृत्यानन्वयमाश्रित्येति । 'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभय-वर्जितः' इति स्वोक्तिमाश्रित्य परमोत्तमसकलसद्गुणालंकृतो मधुपतिर्या-वन्तो दोषास्तावत एवोत्तमगुणान् गणयित्वा—यथा सतीवाक्यम्—'दोषान् परेषां हि गुणेषु साधवः' इत्यत्र (१) दोषग्रहणं गुणाग्रहः, (२) गुणग्रहणं दोषाग्रहः, (३) गुणं गुणं दोषं दोषमिति, (४) गुणान् दोषरूपेण, (५) दोषान् गुणरूपेण—इत्येषु पञ्चमी भूमिका परमोत्तमा नामेति ज्ञेया । स्वत एव ग्रहणदृक्शीलस्य यदा पुनस्त्वन्नामप्रेमावेशस्तदा किमु वाच्यमिति । अतएव मधुपतिर्नतु विरसनापतिरिति । यथैव गीत-गोविन्दे—

रसकलश

मनोवृत्ति के अनुसार, कामी, किसी ने क्रोधी, लोभी या पाखण्डी आदि पृथक्-पृथक् भाव से राधा नाम लेने वाले में अनन्त दोष निकाले । इन पर कोई ध्यान न देकर उल्लेखा लंकार की संभावना को दूर किया और 'अनन्वय' अलंकार का आश्रय लेकर अपनी इस उक्ति के अनुसार कि 'गुणदोष देखने वाले की दृष्टि में दोष भी गुण हो जाते हैं', अत्यन्त उत्तम गुणों से विभूषित मधुपति अपने भक्त में जितने दोष होते हैं, उतने ही उत्तम गुण उसमें देखते हैं । दोष और गुणों के प्रति स्वभाव के अनुसार व्यक्ति के पांच प्रकार के दृष्टिकोण होते हैं—१- दोषों को ग्रहण करना, गुणों को नहीं, २- गुणों को ग्रहण करना, दोषों को नहीं, ३- गुण को गुण मानना, दोष को दोष, ४- गुणों को दोष करके मानना और ५- दोषों को गुण मानना । इनमें पाँचवीं भूमिका परमोत्तम है, यह समझ लेना चाहिये । जिसका स्वभाव ही गुणों को देखना है उसे यदि आपके (श्री-राधा के) प्रेम का नशा चढ़ जाय, तब तो कहना ही क्या है ? इसीलिए श्रीकृष्ण 'मधुपति' हैं, नीरसता के पति नहीं । गीतगोविन्द में कहा है—

(श्रीकृष्ण) गुणों के समूह को ही देखते हैं, अपराध का तो भूल में भी विचार नहीं करते । सदा प्रसन्न रहते हैं और दोष को दूर से ही त्याग देते हैं ।'

इसीलिये नाम में जैसा रस है उसके आस्वाद का साक्षी नाम लेने वाले का हृदय ही है, यह ज्ञातव्य है ।

गणयति गुणग्रामं भ्रामं भ्रमादपि नेहते ।
वहति च परितोषं दोषं विमुञ्चति दूरतः । इति ।

अत एवामृतरसो यादृग्नाम्नि तादृगास्वादस्य तद्धृदयमेव साक्षीति ज्ञेयम् ।

प्रस्तुतमाह—यदैवं तदा तव परमनिजजीवनाया दास्ये एकं मुख्यं केवलं शुद्धं वा मनो येषां तेषां महिम्नः परमादेयामौल्यप्रभावग्रामस्य सीमां कः स्पृशत्विति प्रेरणार्थेन उच्यतामित्यन्येषु दृष्टिं कृत्वैतन्महिमवाक्यस्पर्शानर्हान् ज्ञात्वा न कोऽपीत्यर्थः इत्युक्तः । तदा त्वद्दासस्त्वद्दास एवेत्यनन्वय एवेति । यदा सीमस्पर्शोऽपि दुर्लभस्तदा ग्रामं कः प्रविशेदित्यर्थत एवायातम् । नाम्ना तु प्रियस्य वश्यता जाता, दास्यं च तस्य हार्दमेवातस्तत्र कोऽन्यः प्रविशेदिति । किञ्च 'यत् किंकरीषु बहुशः खलु काकुवाणी' इत्यादि भाव्यं स्यात् । एवं प्रियस्त्वद्दास्यैकनिष्ठः एव, तदा किं तत्प्रेमाधिक्यमहिमानुवर्णनं शक्यमिति भावः ।।१५४।।

एवं लतान्तरसन्निधावेव स्वप्रेमश्लाघातिशयश्रुतिजप्रसादोज्जृम्भवशप्रियदत्तसार्द्धखण्डितताम्बूलसस्मितकटाक्षशिरोधुवन-पूर्वकसख्यग्रहदर्शनज्ञात-

---

रसकलश

जब ऐसी बात है, तो जिसका मन जीवनाधार आपकी दासता में मुख्य रूप से शुद्ध और अनन्य निष्ठा से लगा है उनकी महिमा—अर्थात् उनके अमूल्य प्रभाव समूह की सीमा को कौन छू सकता है। 'स्पृशतु' क्रिया में यदि प्रेरणार्थ को अंतर्निहित माना जाय, तो अर्थ होगा—तो बताइए (उनकी महिमा को कौन छू सकता है)। भाव यह है कि औरों पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि उनकी (राधानामियों की) महिमा का वर्णन करने वाली वाणी द्वारा वे सर्वथा अस्पृश्य हैं। तब आपका दास आपके दास के समान ही है, यह अनन्वयालंकार ही बनता है। जब सीमा को छूना भी असंभव है, तो गांव में कैसे प्रवेश करेगा, यह निष्कर्ष स्वतः ही निकल आता है। नाम से तो प्रियतम वश में हो गए, रही दासता, सो तो उनके हृदय में पहले ही से है, अतः अब वहां कौन प्रवेश कर सकता है। दूसरे, 'यत् किंकरीषु बहुशः खलु काकुवाणी' इत्यादि उक्तियों पर भी विचार कर लेना चाहिए। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि प्रियतम की एकमात्र निष्ठा आप में ही है। ऐसी स्थिति में उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है, यह भाव है।।१५४।।

इस प्रकार दूसरी लता के निकट ही श्रीहितसखी द्वारा की गई अपने प्रेम की अत्यन्त प्रशंसा को सुनकर प्रियाजी का कृपाभाव उमड़ आया और उसके वश में होकर उन्होंने प्रियतम द्वारा दिये गए आधे खंडित पान को मुस्कराकर कटाक्ष करते हुए तथा

स्वप्रसादानन्यतया सहाससाहसेन प्रियहस्तादाच्छिद्य स्वमुखप्रसादीकृत्य पुनस्तदाच्छेदभिया शीघ्रं दत्तवत्याः प्रियाया वात्सल्यपात्रदास्यमहिमानमाह—

लुलितनवलवंगोदारकर्पूरपूरम्,
प्रियतममुखचन्द्रोद्गीर्णताम्बूलखण्डम्।
घनपुलककपोलास्वादयन्ती मदास्ये-
ऽर्पयतु किमपि दासीवत्सला कर्हि राधा ।।१५५।।

घनेत्यादिविशिष्टा राधा लुलितेत्यादिविशिष्टं ताम्बूलखण्डं मदास्ये कर्हि किमप्यर्पयतु, इत्यत्र प्रसादवैशिष्ट्यमाशंसितम् । तदेवाह लुलितौ खण्डितौ नवलवंगश्चोदारश्चासौ कर्पूरस्य पूरश्च यस्मिंस्तत् । 'नव' इति तत्कालमेव तल्लतातोऽवचित इति सौरभ्यादिगुणानामयातयामत्वं ध्वनित-

रसकलश

सिर हिलाते हुए—यह देखकर कि श्रीहितसखी को मेरे प्रसाद में अनन्य निष्ठा के कारण सख्य भाव से उनका प्रसाद के प्रति आग्रह है—उस कुतरे हुए पान को हँसकर और साहसपूर्वक प्रियतम के हाथ से छीनकर और श्रीमुख से उसे प्रसादी कर, कहीं प्रियतम फिर उसे छीन न लें, इस डर से श्रीहितसखी को तुरंत उसे दे दिया । प्रिया के वात्सल्य पात्र की इस दास्य-महिमा का अब वर्णन करते हैं—

"टुकड़ा की गई ताजा लौंग और उदार कपूर से युक्त, प्रियतम के मुखचन्द्र से उगले हुए पान के आधे भाग का स्वाद लेती हुई, सघन रोमाञ्चों से भरे कपोलों से युक्त, दासियों से स्नेह करने वाली श्रीराधा क्या कभी उसे मेरे मुंह में देंगीं ?"

सघन रोमांच आदि विशेषणों से युक्त श्रीराधा टुकड़े की गई लौंग आदि से विशिष्ट पान के टुकड़े को क्या कभी मेरे मुंह में देंगीं—यह कहकर विशिष्ट प्रसाद प्राप्त करने की अभिलाषा प्रकट की है । उसी का वर्णन करते हैं—जिसमें टुकड़ा की गई ताजा लौंग तथा कपूर की भरमार है, ऐसा पान । 'नव' का अर्थ है लता से तत्काल चुनी गई । इससे सुगन्ध आदि गुणों का यथावत् रहना पाया जाता है । 'उदार' कहते हैं दाता और महान् को । तो भाव यह हुआ कि कपूर में अनेक महान् गुण थे और वह स्वाति नक्षत्र में केला के योग से पैदा हुआ था । कुछ लोगों के मत में पूर्ण चन्द्रमा से झरे हुए अमृत से यह कपूर बना था । कपूर का दूसरा नाम 'चन्द्र' है भी । इस प्रकार के कपूर को भी ताजा ग्रहण किया हुआ समझना चाहिये । यह हुआ शब्दार्थ । पान में

मिति। 'उदारो दातृमहतोः' इत्यनेन महद्गुणवैशिष्टचं स्वातिकदली-योगजमिति। केचित् पूर्णचन्द्रामृतस्रुतिजमित्यनेन चन्द्रख्यात्या च वदन्ति, सोऽपि तात्कालिकोद्धृत एव ज्ञेयः, इति शब्दार्थः। अन्योऽपि क्वाथचूर्णलाजात्यादिरपि ज्ञेयः। विलासिप्रभूणां कौतुकोद्दीपनसंकेतपदान्यपि संभवन्ततीति पक्षेण वैलक्षण्यमाह। यथा—

लवंगलतिकामध्ये वीरायितविहारिणि।
गिरिद्वयगरिम्णान्तःशङ्के श्रोणिभरेण च ॥१॥
कदाचिन्मदनावेशात् पुलकं वीक्ष्य सीत्कृतम्।
चन्द्रचन्दनपूरैः किं कम्प इत्यहसत् प्रियः ॥२॥
लिपितं चन्दनं तेऽङ्के चन्द्रास्ये बहुचन्द्रकम्।
ताम्बूलमालिभिर्दत्तमिति श्रुत्वा स्मिता प्रिया ॥३॥
तद्वद्विपञ्चितं सख्या बहिर्दम्पतिभाषणम्।
कदाचदालिसंलापेषूक्तं तत्स्यात् कुतूहलम् ॥४॥

रसकलश

कपूर के अतिरिक्त कत्था का चूना, इलायची, सुपारी आदि का योग भी समझ लेना चाहिए। लौंग और कपूर शब्दों का प्रयोग विलासी प्रभुओं के काम-कौतुक के उद्दीपनार्थ एवं संकेत स्थल को सूचित करने के लिये भी किया जा सकता है। इस पक्ष की विलक्षणता बताने के लिये उदाहरण देते हैं—

"लौंग की लताओं की ओट में पुरुषायित विहार करने वाली तू अपने पर्वताकार स्तनों की विशालता और नितंबों के भार से सशंक जान पड़ती है।" ॥१॥

"प्रिया को किसी समय कामावेश के कारण रोमांचित और सी-सी करती देखकर पति यह कहकर हँस दिये कि कहीं कपूर और चन्दन लगाने से तो नहीं काँप रही हो?" ॥२॥

"तुम्हारे अंगों में चन्दन लगा है, चांद जैसे मुख में सखियों ने कपूर-भरा पान दिया है। यह सुनकर प्रिया मुस्करा दी।" ॥३॥

"पति-पत्नी के इस वार्तालाप को बाहर बैठी सखियों ने वीणा पर गाया और फिर सखियों की आपसी बातचीत में उसकी चर्चा हुई। इसीको कुतूहल कहते हैं ॥४॥

इस प्रकार कपूर आदि द्वारा कुतूहल का संकेत किया जाता है। "हे नवीन लौंग की लता! तू मेरी आँखों में कपूर आँजकर उन्हें शीतल कर देती है," इस उक्ति

इत्यादिकुतूहलसंकेते । 'लवङ्गलतिके बाले कर्पूरन्ती दृशोर्मम' इति सख्योद्दीपनसंबोधनख्यातिर्वर्द्धितास्ति । तत्स्मारणार्थं हितसखी ताम्बूले लवंगाद्यपूर्वत्वाभावेऽप्यनुवदति लवंगेति नवरीतित्वम् । एवमेव तत्तदुद्दीपीनानन्ददानादौदार्यं कर्पूरे, इति च । लवंगौग्र्यहेतुका सीत्कृतिः कर्पूरहेतुका पुलकावलीति ज्ञेया इति । घनपुलकसहायीभूते मुख्यं तु प्रियतममुखचन्द्रादुद्गीर्णमिति तन्मुखचुम्बनविषयाश्रयतोद्दीप्तिः कपोले प्रतिफलिता, अतएवान्यत्र पुलकत्वेऽपि तदानीं तस्यैवाधिकारमुख्यत्वात् कपोलोक्तिः । यद्यत्तांबूलदानादानच्छलयुगपदेकखादनपारस्परिकोच्छिष्टाच्छितिपरिहाससौरतसामयिकप्रसाददानादितत्तदपिमुखकपोलाधिकृतमेवेतिसहृदयगम्यम् ।

अत्र प्रियशब्देन तमत्वं नापूर्वमेव, परन्तु दासीवात्सल्यानुगतार्थोऽपि लक्ष्यते । प्रियस्तु स्वत एवेति, तरत्वञ्च स्वात्मनोऽप्यधिकत्वात् । अथ तादात्विक निजसखीविषयकप्रसाददर्शनजात्यन्तश्लाघनीयप्रियाहृदयहारि-

रसकलश

द्वारा सखी ने लौंग और कपूर के संबोधन के रूप में प्रयुक्त होने की प्रसिद्धि को पक्का किया है। उसी की याद दिलाने के लिये श्रीहितसखी ने इलायची, लौंग आदि के साधारणतया रहने पर भी उनका नामोल्लेख किया है। यह एक नई रीति है। इस तरह विभिन्न प्रकार के उद्दीपनजन्य आनन्द को प्रदान करने के कारण कपूर में उदारता बताई गई है। लौंग की उग्रता से सीत्कार और कपूर के कारण रोमांच समझना चाहिए, असल में कपूर आदि रोमांच में सहायक मात्र हैं, प्रधान कारण तो प्रियतम के मुख चन्द्र से उगला हुआ पान ही है, इसलिए प्रियतम द्वारा मुख चुंबन की विषय और आश्रयरूप चमक कपोल पर उतर आई। रोमांच तो शरीर के अन्य भागों में भी हुआ था, पर उस समय कपोलों को ही रोमांचित होने का अधिकार अधिक था, अतः उनका ही उल्लेख किया गया है। पान के लेन-देन का छल, एक साथ पान खाना, आपस में जूठन की छीना-झपटी, हास-परिहास, सुरत समय का पुरस्कार-वितरण— इस सबका यथावत् निर्वाह करना-मुख और कपोलों के ही अधिकार-क्षेत्र में आता है, यह सहृदयों के समझने की बात है।

'प्रिय' में 'तमप्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न 'प्रियतम' शब्द प्रयोग कोई नया नहीं है, परन्तु उससे दासी के प्रति वात्सल्य से संगति रखने वाला अर्थ भी निकलता है। श्रीकृष्ण प्रिय तो स्वतः ही हैं, यदि 'तरप्' प्रत्यय लगा दिया जाय, तो अर्थ होगा कि अपने से भी अधिक प्रिय हैं। इसके बाद श्रीकृष्ण ने जब देखा कि श्रीराधा अपनी प्रिय सखी पर इतनी दयालु हैं, तो उनमें एक ऐसी प्रशंसनीय प्रियता उदित हुई कि उसे देखकर प्रियाजी का हृदय भी उधर खिंच गया। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये

प्रियतोदयात् प्रियतमेत्युक्तिः। अतएव तदानीं दर्शनीयत्वाह्लाददत्त्वाच्च चन्द्रेति। शीतांशुरपि पुलककृद्भवतीति तदुद्गीर्णकौतुकाच्छिन्नं तयैवेति ज्ञेयम्, अन्यथा रसिकशेखरस्य दास्यव्याहृतिः स्यात्, इति।

'घनेति' शृंगारदास्यसख्यप्रसादसमुदयात् सान्द्रत्वम्। कृपावेशादास्वादयन्ती, नतु खादन्त्येवेति निजास्वादेन प्रियमानसमप्यासयन्ती नानाभावानिति सखीमनश्चेति णिजर्थोऽपि ज्ञेयः। 'किमपि' इत्यनिर्वचनीयानन्दस्य मद्धृदयमेव साक्षीति। स्वास्वादानन्तरावशेषदानं चेति स्वल्पत्वमपि। इमां नित्यमदानन्दप्रसादाकांक्षिणीं मदनुभूतप्रसादमिमामप्यास्वादयामियोग्याधिकार्यर्पणात् सादरपात्रदानमप्यर्पणं, न तु निक्षिपन्तीति मदर्थाच्छितिपूर्वकसमास्वादन समये तत्प्राप्त्यायतिकस्वार्थज्ञानेनादानसमुल्लसिते

रसकलश

'प्रियतम' कहा है। (टीकाकार का आशय यह है कि श्रीकृष्ण अपनी निजी विशेषताओं के कारण श्रीहितसखी को प्रिय नहीं है, बल्कि यदि वे श्रीराधा की दृष्टि में प्रिय हैं, तभी प्रिय, प्रियतर अथवा प्रियतम कहलाने के अधिकारी हैं।) इसी कारण उस समय वे (श्रीकृष्ण) अधिक दर्शनीय और आनन्दप्रद हो गए। इस भाव को व्यक्त करने के लिए ही उनके मुख की उपमा चन्द्रमा से दी गई है। 'शीतांशु' चन्द्रमा का दूसरा नाम है। किरणों की शीतलता के कारण ही चन्द्रमा रोमांचकारी हो जाता है। प्रियतम के द्वारा उगले गए पान को प्रियाजी ने कौतुक से झपट लिया, यह ज्ञातव्य है, नहीं तो (यदि श्रीकृष्ण सीधा श्री हितसखी को पान दे देते।) रसिकशेखर उनके दास्यभाव में क्षति पहुंचने की संभावना थी।

'घनपुलक' में 'घन' का अर्थ है सान्द्र। रोमांच में सघनता शृंगार, दास्य, सख्य और कृपाभाव के उदय से आई है। इस प्रकार कृपा के आवेश में पान का स्वाद ही लेती हुई, न कि खाती हुई। 'आस्वादयन्ती' को प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय से निष्पन्न रूप मानने पर अर्थ होगा—अपने आस्वादन द्वारा प्रिय के तथा सखियों के मन को अनेक प्रकार के भावों का आस्वादन कराती हुई। 'किमपि' से तात्पर्य अकथनीय आनन्द का है, जिसका साक्षी मेरा हृदय है। 'किमपि' से यह भी अर्थ निकलता है कि प्रिय के द्वारा उगले गए पान का स्वयं आनन्द लेने के बाद थोड़ा-सा जो बच रहा उसे यह सोचकर श्रीहितसखी को दिया कि इस बेचारी की सदा मेरा प्रसाद लेने की इच्छा रहती है, सो अपने द्वारा अनुभूत प्रसाद को इसे भी दे दें। इस प्रकार योग्य अधिकारी होने के कारण आदर सहित सत्पात्र में दान अर्पित किया, न कि फेंक दिया (कि यह लो)। और उसे अर्पित किया मेरे मुख में जो कि इस आनन्द से खिल रहा था कि प्रियाजी ने पहले मेरे ही लिये इसे प्रियतम से छीना है और फिर स्वयं आस्वादन किया है। उनके ऐसा करते समय ही मुझे मालूम हो गया था कि प्रियतम से पान को हथियाने में मेरा

मदास्ये। अत एवास्यन्दते अम्लादिना प्रस्रवति, वा आस्यंद्यते, अन्नादिना द्रवीक्रियते, इत्यास्यमिति स्यन्दू प्रस्रवणे अन्यार्थेपीति डः ।'मुखं मुखान्तरालञ्च द्वयमास्यमितीरितम्' इति शाश्वतः। अनेनान्तरालार्थेन 'सखि ! व्यादेहि' इत्युक्ते व्यादत्ते आस्ये, इतिज्ञेयम् ।

दासृ दाने घञ्, दासी स्वामिदत्तान्यथा तत्प्राप्त्यभावाद्दास्यां मयि मदीयपोषणानन्यजीवनेयमित्युपलालनवात्सल्यात् किं किं न दद्यादिति महादुर्लभं वस्तु मया प्राप्यते, तत्राप्युभयकौतुकरसोद्दीपनविशिष्टं, अतो यथार्थमेव संसिद्धचर्थकराधानामेति, किं वच्मि तदत्युदारमहिमानमिति भावः ।

यद्वा अन्याप्युत्थानिकानुगता व्याख्या—स्वनाममात्रप्रणयारंभितदास्यनिष्ठविषयकनीराजितात्मतारूपप्रियप्रेमातिशयश्रुतिज वीररसवत् स्वप्रेमा-

रसकलश

ही स्वार्थ है, अतः पान लेते ही मेरा मुंह आनन्द से उल्लसित हो गया। अभीष्ट वस्तु पा लेने पर मुख में जो रासायनिक प्रतिक्रिया होती है उसी के कारण मुख को 'आस्य' कहते हैं। खट्टे-मीठे स्वाद से जो पनीला हो जाय अथवा अन्न आदि से जिसमें पनीलापन आ जाय उसे कहते हैं—'आस्य'। प्रस्रवणार्थक 'स्यन्द्' धातु से अन्यार्थक उ प्रत्यय लगाकर यह शब्द बना है। शाश्वत कोष के अनुसार मुख शब्द से बाह्य मुख और उसके आन्तरिक भाग दोनों का बोध होता है। मुख के भीतरी भाग से यहाँ यह तात्पर्य निकलता है कि प्रियाजी ने श्रीहितसखी से कहा—'मुंह तो खोलो'। यह कहकर खुले हुए मुंह में पान दे दिया।

अब आइये 'दासीवत्सला' पर। दानार्थक 'दासृ' (दा) धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर 'दासी' शब्द बनता है जिसका अर्थ है—स्वामी के द्वारा दी गई, क्योंकि और किसी प्रकार वह मिल ही नहीं सकती। मैं इसका पोषण करती हूँ, मेरे सिवा इसके जीवन का आधार और कोई नहीं है, इस स्नेह में भरकर प्रियाजी मुझ दासी को क्या नहीं दे देंगीं। जो कुछ भी हो, मुझे तो महत्वपूर्ण वस्तु मिल गई—ऐसी कि प्रिया प्रियतम दोनों के कौतुक रस का उद्दीपन करने वाली। अतः मनोरथों को सिद्ध करने के कारण 'राधा' नाम बिलकुल सार्थक है। उनकी उदारता की महिमा का कहाँ तक वर्णन करूं, यह भाव है।

उत्थानिक के अनुसार एक दूसरी व्याख्या भी है—श्रीराधा में श्रीकृष्ण की दास्यनिष्ठा का प्रारंभ केवल नाम महिमा के प्रति आसक्ति से हुआ। इस दास्यनिष्ठा द्वारा ही प्रिय के प्रेमस्वरूप का निर्धारण किया गया और वह आरती उतारने योग्य हो गया। प्रिय के इस प्रेमाधिक्य को सुनकर ठीक उसी प्रकार प्रियाजी का प्रेम समुद्र

ब्धितरंगोज्जृभान्दोलिता 'अहो ! मत्संबन्धमात्र एवं नीराजितो वर्तते' क्वैतादृशो मयि प्रेमा गुणगर्वितायां कथं वा प्रत्युपकारितां भजे। यदि सर्वात्मदा स्यां तत्तु आदावेव समर्पितं, न किञ्चित् स्वत्वमवशिष्टं, अतो वैलक्षण्यं किं भवेत्' इति विचारयन्ती तस्य च स्वस्वाम्यविस्मृतिपूर्वकमत्प्रभुत्वभावोऽस्ति। यद्यद् शृंगारभोगादि तत्तन्मत्प्रसादीकृत्यैव गृह्णाति, मयि चेदानीं प्रेमोत्फणनानिरोधो, यदा तत्प्रसादमेव गृह्णीयां तदैव मनस्तोषः स्यादिति स्मृत्वा केनचिद्व्याजेन प्रियं प्रेमाधिराज! मादृशप्रभुरजोऽभिमानिनीद्रावितस्वत्वसौधं त्वन्मुखपंकजमिति किञ्चिन्मामपि प्रेमानन्दप्रसादं देहीति सोल्लसनालिङ्ग्य चूम्बनव्याजेन तादात्विकसंभ्रभावेशत्वावशोद्गीर्णं ताम्बूलं स्वयमास्वाद्य सपुलका जाता। तदा प्रियस्तु स्वं परं च न वेद, इत्थं विवशः। सा चापि तथैव। परंतु 'नैको मिष्टमश्नीयात्' इति स्वाम्यभिया तत्प्रेमदायभाजं तदुच्छलनहेतुभूतां पार्श्वगां हितसखीं वीक्ष्य 'सखि !

रसकलश

उमड़ आया जैसे वीरता की बातें सुनकर वीर रस उदय हो आता है। वे सोचने लगीं-अहो ! मेरे संबन्धमात्र से ही दूसरे लोग प्रिय की दृष्टि में इतने आदरणीय हो जाते हैं। प्रिय के प्रेम की अभिमानिनी मुझ में भला ऐसा प्रेम कहाँ है ? इसका बदला मैं कैसे चुकाऊँ ? यदि सर्वतोभावेन अपने को सौंप दूं, तो वह तो पहले ही कर चुकी। अब तो मेरा अपना कहने लायक कुछ भी नहीं बचा। अब क्या विलक्षणता पैदा की जाय ? प्रियतम तो यह भी भूले बैठे हैं कि वे मेरे स्वामी हैं, और उल्टा मुझे ही प्रभु मानते हैं। भोगराग आदि सब मेरे प्रसाद रूप में ही ग्रहण करते हैं। इस समय मैं अपने अन्दर के प्रेम के उफान को नहीं रोक पा रही हूँ, अतः सोच लिया है कि मेरे मन को संतोष तभी मिलेगा जबकि मैं उनका प्रसाद ग्रहण करूँगी। यह सोचकर उन्होंने एक तरकीब निकाली। प्रियतम से कहने लगीं—आपका मुखकमल कितना सुन्दर है। इसके कारण मुझ जैसी प्रेम की सम्राज्ञी के राजसप्रधान प्रभुत्व के अभिमान के महल को ढहा दिया है। आइये, कुछ मुझे भी प्रेम का प्रसाद दीजिये। यह कहकर अत्यन्त उल्लास के साथ प्रिय का आलिंगन कर उन्हें चूमने के बहाने से—चूमते ही उस समय की विवशता और हड़बड़ी के आवेश में प्रिय ने अपने मुख का पान उगल दिया— उसे स्वयं खा लिया और रोमांचित हो उठीं। प्रिय को तो अपने पराये की सुध बुध ही जाती रही। प्रियाजी का भी यही हाल हो गया। परन्तु 'अकेला मिठाई न खावे', इस उक्ति के अनुसार अपने स्वामित्व के डर से अपने प्रेम की भागीदार श्री हितसखी को, जोकि, सच पूछा जाय तो, प्रियाजी की उत्कट आनन्दानुभति की मूलकारण थीं, (क्योंकि हितसखी स्वामिनी जी के प्रसाद की आकांक्षा न करतीं तो यह खेल कैसे बनता ?) पास में खड़ी देखकर बोली—सखि! इस अपूर्व वस्तु को तुम भी लो, मुंह खोलो, नहीं तो

इदमपूर्वं त्वमपि गृहाण, आस्यं व्यादेहीति, नैर्ताहि कुरु करविश्वासं, दुर्लभतमप्राप्तौ कस्य मनो न चलेत्' इति भंग्यास्ये समर्पणं कृतमिति किमहमहह मुखैकेन वदे वात्सल्यानन्दमितिभाव इति अयमेव रक्षयेदिति ॥१५५॥

एवं ताम्बूलदानकौतुकपरममोदमज्जनानन्तरं तत्रैव मिथो विविधहास-विलासरसकेलिकटाक्षवैचित्र्यानन्दबोभूयमानं वर्णयन्ती तादात्विकव्यत्य-स्तवसनाभरणमाल्यसमीकरणादिसेवामाशंसते—

सौन्दर्यामृतराशिरद्भुतमहालावण्यलीलाकला,
कालिन्दीवरवीचिडम्बरपरिस्फूर्जत्कटाक्षच्छविः।
सा कापि स्मरकेलिकोमलकलावैचित्र्यकोटिः स्फुरत्
प्रेमानन्दघनाकृतिर्दिशतु मे दास्यं किशोरीमणिः
॥१५६॥

रसकलश

इस हाथ का विश्वास नहीं है, दुर्लभ वस्तु को पाने के लिये किसका मन नहीं चलता ? यह कह कर सुन्दर हाव-भाव के साथ मुझे दे दिया। अहो ! इस एक मुंह से वात्सल्य के उस आनन्द का कैसे वर्णन करूं ? यह भाव है और यही रक्षा करेगा ॥१५५॥

इस प्रकार पान देने के कौतुक से उत्पन्न अपार आनन्द में अवगाहन करने के उपरान्त वहीं निकुंजगृह में बार-बार घटित होने वाले पारस्परिक हास-विलास, रसपूर्ण विहार-क्रीड़ा तथा विचित्र प्रकार के कटाक्षपात का वर्णन करती हुई श्री हितसखी यह अभिलाषा प्रकट करती हैं कि इस सब प्रसंग में श्रीराधिका के वस्त्र, आभूषण और माला जो अस्तव्यस्त हो गये थे उन्हें यथास्थान धारण कराने की सेवा का आदेश मिल जाय—

"सौन्दर्यरूप अमृत का समूह, प्रभूत लावण्य और लीला-संबन्धी विलास-कलाओं से युक्त (अथवा लावण्यविशिष्ट लीला-संबन्धी विलासकलाओं से युक्त), यमुना की निर्मल तरंगों के घटाटोप की तरह जिनमें कटाक्षों की छवि छिटक रही है, कामदेव की क्रीड़ा-संबन्धी कोटि-कोटि कोमल कलाओं की विचित्रता जहां विद्यमान है और जो चमक कर उमड़ते हुए प्रेमानन्द की सघन मूर्ति हैं, ऐसी कोई अनिर्वचनीय, किशोरियों की मुकुटमणि श्रीराधा मुझ दासी को उपयुक्त सेवा करने की आज्ञा प्रदान करें ॥१५६॥

सा कापि किशोरीमणि दास्यं दिशतु इति। यथा चिन्तामणिश्चन्द्र मणिरिति तद्वदियं किशोरीशतेषु तत्स्वामिनीत्वेन चूडामणिरिव विभूषमाना सकलमच्चिन्तितपूरिका मह्यं पूर्वोक्तवात्सल्यविषयायै नित्यसन्निहितायै स्वदास्यं वर्तमानविलाससामयिकं कर्तुमाज्ञापयतु। तदेव मणित्वे सनातनरूपप्रागल्भ्यलावण्यच्छविवैचित्र्यादिगुणवृन्दविशिष्टस्वरूपं निर्दिशति। सौन्दर्यं सुन्दरशब्दप्रवृत्तिनिमित्तकं सारधर्मो रूपसौष्ठवम्। लोके तेजसस्तन्मात्रोच्यते। अत्राप्राकृतस्वरूपधर्म एव अमृतम्। एकदैव सकृद्विभागमात्रपानाच्चन्द्रेऽमृतमयत्वं श्रूयते, स्वचन्द्रिकया सकलब्रह्माण्डप्रकाशकत्वं दृश्यते, तदप्यनित्यं प्राकृतकल्यावधित्वाच्चेत्यतोऽमृतकामनिर्देशोऽत्र शाखाचन्द्रन्यायेन यदमृतेन सर्वेशोऽपि स्वाप्यायनं मन्यते। तादृशानिर्वचनीयसौन्दर्यामृतस्य राशिरेव रूपोदार्यं यत्रेति। एवमेवाद्भुता, महालावण्यं लीलाया कलाश्च यत्र। अद्भुतं लोकोत्तरानिर्वचनीयचमत्कारित्वं

रसकलश

वह कोई (अनिर्वचनीय) किशोरीमणि मुझे दासता प्रदान करें। जिस प्रकार चिन्तामणि और चन्द्रकान्तमणि अपनी श्रेष्ठता के लिये विख्यात हैं, उसी प्रकार श्री राधा भी सैकड़ों किशोरियों की स्वामिनी होने के कारण उनकी मुकटमणि के समान सुशोभित हैं। मेरे विचारे हुए समस्त मनोरथों को वे पूर्ण करती हैं। मैं उनकी वात्सल्यपात्र हूँ, सदा उनके निकट रहती हूँ, अतः वर्तमान विलास के प्रसंग में जो कुछ मेरे योग्य सेवा हो, उसे करने का आदेश प्रदान करें। श्रीराधा को मणि मानकर उनके अनादिकालीन रूप, प्रगल्भता, लावण्य की विलक्षण छवि, आदि गुणसमूह से विशिष्ट स्वरूप का वर्णन करते हैं—'सौन्दर्य' शब्द का वाच्यार्थ यह है जिसकी ओर 'सुन्दर' शब्द का संकेत है। सुन्दर का सारधर्म (भाव) ही सौन्दर्य है—रूप की सुघराई। जैसे दृश्यमान तेजस् तत्त्व की तन्मात्रा होती है, उसी प्रकार सुन्दरता के निचोड़ को सौन्दर्य कहा जाता है। वह अलौकिक स्वरूपधर्म (सौन्दर्य) ही अमृत है। सुनते हैं, केवल एक बार अपने हिस्से में आए अमृत के भाग को पी लेने के कारण चन्द्रमा में अमृतत्व पैदा हो गया। वह अपनी चांदनी से समस्त ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता हुआ भी दिखता है, किन्तु उसका अमृतत्व और प्रकाशकत्व दोनों ही अनित्य हैं। केवल कल्प के अन्त तक उनकी सत्ता है। अतः अमृत लाभ लेने का अर्थ यहां शाखाचन्द्रन्याय से वह अमृत है जिससे सर्वेश्वर श्रीकृष्ण भी अपनी तृप्ति मानते हैं। श्रीराधा उस प्रकार के अवर्णनीय सौन्दर्यामृत की राशि हैं। रूपराशि से तात्पर्य रूप की उदारता का है। इसी प्रकार श्रीराधा में आश्चर्यजनक महालावण्य और लीला की कलायें विद्यमान हैं। 'अद्भुत' का अर्थ है अलौकिक, अवर्णनीय चमत्कार का गुण। लावण्य का महत्व

लावण्यमहत्वमनर्घ्यजलत्वम् । चन्द्रे यथा पूर्णकलास्तथात्र लीलेति स्वाङ्ग-भङ्गिमयी, निकुञ्जादिपुष्पावचयनिलयनकन्दुकान्दोलरासादिमयी वा, तस्या अपि प्रत्येककलानन्त्यं ज्ञेयम् अथवा सौन्दर्यामृतेऽङ्गलावण्यमायातमेव, तदा लावण्यविशिष्टा लीलाकलाइति लीलायाः लावण्यंकरणरीतिर्भिन्नैव भवतीति तादृक्कलानिधिप्रियदृक्मनोमादकरोचकतास्यात्तादृशं ज्ञेयम् ।

अत्र पूर्वपद्यस्थ ताम्बूलादानसमयापेक्षया प्रेयोऽनुकरणं लीलेत्यपि लक्षणं संपन्नम् । किञ्चासक्त इव प्रियोद्गीर्णं गृहीतं, तदानीं तदावेशो जात इति तादात्विकसखीहृदयसाक्षितया दर्शनीयत्वेन सौन्दर्येत्युक्तम् । प्रेमावेशेनानिर्वचनीयाङ्गभङ्ग्या सह प्रियपरिरंभः कृत इति तल्लीलालावण्यस्यापि मद्धृदयमेव साक्षीति । तदानीं नानाभावोदधितरङ्गावेगेन कटाक्षतारल्यमाह—

कालिन्दीस्वच्छाविरलतरङ्गपरम्परासौष्ठवाटोपवत् परितः स्फूर्जन्ती तडिदिव चमत्कुर्वन्ती कटाक्षानां छविर्यस्याः । 'स्फूर्जथुर्वज्रनिर्घोषः', इत्यस्य

रसकलश

(महान् होना) उसके पानिप की अमूल्यता से आंका जाता है। चन्द्रमा में सोलह कलायें होती हैं। वही स्थान यहाँ लीलाओं का है। अंगों की हाव-भावपूर्ण चेष्टायें, निकुंज आदि स्थानों में फूल चुनना, लुका-छिपी के खेल, गेंद उछालना, रास आदि इन लीलाओं के स्वरूप हैं। इस कला की भी फिर अनन्त कलायें होती हैं। यदि कोई सोचे कि सौन्दर्यामृत में ही अंगलावण्य का अन्तर्भाव हो जाता है, तो लावण्य विशिष्ट लीला और कला—यह अर्थ करना होगा। लीला को लावण्यमय बनाने की रीति ही भिन्न होती है। लीला में लावण्य तभी आएगा जबकि वे श्रीकृष्ण जैसे कलामर्मज्ञ को प्रिय लगें और उनकी दृष्टि और मन में मादकता भरने वाली उनकी रोचकता हो।

यहाँ पूर्व पद्य में पान लेने का जो वर्णन किया गया है, उस प्रसंग को दृष्टि में रखते हुए प्रिय का अनुकरण भी लीला का लक्षण माना जा सकता है। दूसरे श्रीराधा ने आसक्त की भांति जब प्रिय के द्वारा उगला हुआ पान ग्रहण किया, तब प्रियाजी को उसका आवेश हो गया। श्रीहितसखी का हृदय इसका साक्षी है कि उस आवेश के कारण वे अत्यन्त दर्शनीय हो उठीं। इसी भाव से 'सौन्दर्य' यह कहा है। उसी प्रेमावेश में किसी अवर्णनीय हाव-भाव के साथ प्रियाजी ने प्रियतम का आलिंगन कर लिया। इस लीला के सौन्दर्य का साक्षी भी मेरा हृदय है। उस समय अनेक प्रकार के भावों के समुद्र में तरंगों की जो हलचल हुई, उससे प्रियाजी के कटाक्षों में भी तरलता आ गई। अब इसी की व्याख्या करते हैं—

यमुना की निर्मल, अनवरत लहरों की शृंखला के सुन्दर घटाटोप की तरह, चारों ओर से कड़कड़ाहट के साथ चमकती हुई बिजली की भाँति श्रीराधा के कटाक्षों

दृष्टिचमत्कारावर्तपरावर्तनलाघवस्फूर्तौ मनसः स्थानातिक्रमचकितत्व-हेतुकाश्चर्यं च तात्पर्यम्। कालिन्दीत्यनेन कटाक्षश्यामता रसशास्त्रप्रसिद्धा चोक्ता। निरवधिपारम्पर्योद्भवाविच्छेदात् वीचिरिति। तत्रापि वातसंयोगस्तु प्रियसान्निध्य एवेति ज्ञेयः। डम्बरस्तादात्विकरसानन्दविविधाकूतोच्छलन-यौगपद्याहमहमिकाजातसंघट्टस्तेन नवकैशोरवयस्त्वात् कदाचित्तदानीं भार आपतीति ज्ञेयः। सहजाञ्जनायितेन्दीवरदलायमानायतलोचन-दृष्ट्या सर्वदिगिन्दीवरमय्येव भातीति नदीविशालतोक्तिः।

तदानीं प्रियसंगमे तदावेशे च विहारो जात इति निर्दिशति। 'स्मर' इति परस्परनित्यस्मरणात्मकलालसामय प्रेमा ज्ञेयः, शृंगारात्मक इति तत्र भेदः। मुख्यं तु प्रेमैवाखण्डाप्राकृतत्वात्। यद्वा तदेकपरस्परस्मरणा-

---

रसकलश

की छवि थी। (अमरकोष के अनुसार) 'स्फूर्जथुः' का अर्थ है बिजली की कड़कड़ाहट। बिजली के कड़कते समय देखने वाले की आँखों में अत्यन्त तेजी के साथ चकाचोंध लौट-लौटकर आती जाती है और उसकी रेखायें जो एक स्थान को छोड़कर (कभी कहीं, कभी कहीं) चमककर मन को चकित कर देती हैं, वही तात्पर्य है 'स्फूर्जत्' शब्द का। (श्रीराधा के कटाक्षों की क्रीड़ा भी इसी प्रकार की समझनी चाहिये।)

'कालिन्दी' शब्द से तात्पर्य रसशास्त्र में प्रसिद्ध कटाक्षों की श्यामता से है। वे कटाक्ष अनन्तरूप से, एक के बाद दूसरे, लगातार जो उत्पन्न होते रहते हैं, उसी कारण उनकी तुलना तरंगों से की गई है। नदी में तरंगें वायु के संयोग से उठती हैं; यहाँ कटाक्ष प्रिय के निकट बने रहने से पैदा होते हैं। 'डंबर' का अर्थ है जमघट-भीड़-भाड़। उस समय रसजन्य आनन्द के कारण अनेक प्रकार की साभिप्राय शृंगार-चेष्टायें एक साथ उछलकर 'मैं पहले, मैं पहले' की होड़ लगाकर प्रकट होना चाहती हैं, और तब उनका जमघट-सा हो जाता है। नई किशोर अवस्था के कारण प्रियाजी को कभी-कभी ये बोझा सा लगती है, यह भी ज्ञातव्य है। प्रियाजी के नेत्र स्वभाव से ही अंजन लगे-से रहते हैं और नीलकमल के पत्तों की तरह लंबे, अतः उनके नेत्रों से सारी दिशायें मानो नील-कमलों से फूट पड़ती हैं। नदी की विशालता का भी इससे पता लगता है।

उस समय प्रिय के साथ संयोग होने पर उसके आवेश में विहार हुआ—यह निर्देश करते हुए कहते हैं—'स्मरकेलिकोमलकलावैचित्र्यकोटिः'। 'स्मर' का अर्थ प्रेम समझना चाहिये, क्योंकि प्रिया-प्रियतम दोनों नित्य एक दूसरे का स्मरण करते हैं और संगम की लालसा रखते हैं। भेद इतना ही है कि यह प्रेम शृंगार रस-प्रधान है। मुख्य तो फिर भी प्रेम ही है, क्योंकि वह अखण्ड और अलौकिक है। 'स्मर' का दूसरा अर्थ 'प्रिय' भी हो सकता है, क्योंकि प्रियाजी असाधारण रूप से उन्हीं का स्मरण करती हैं।

साधारण्यात् स्मर इति प्रिय एव । अतः 'प्रेमानन्दे' त्यग्रे रतिरूपा प्रियैवेति ज्ञेया । यथाह शतके—

रतिः साक्षाद्राधा सकलजडचिल्लोक परमा,
रमाद्यत्याश्चर्याम्बुजदृगनिशं प्रार्थ्यदृगणुः ।
स्मरः साक्षात् कृष्णोऽनवधिरतितृप्तोऽखिलपरः,
परेशः प्रोन्मीलद्रुचिजलधिदद्ध्येकरुगणुः ॥११-४६॥

अतस्तत्केलीनां परिरंभादीनां कोमला कलास्तासां वैचित्र्याणि तत्कोटिर्यत्रेति । कोमलत्वं महास्मरोज्जृम्भेऽपि रामणीयकसाहजिकत्वं तत्सुखमयत्वात् । सुकुमार्या यत्तत्सौकुमार्यमेवेति किं चित्रम् । कला लोके वात्स्यायनाद्युक्त्या प्रसिद्धाः । अत्र तु ततो वैलक्षण्यातिशयत्वात् वैचित्र्यकोटीति-सहृदयसूक्ष्मभावदृशावधेयम् ।

एवं रोचकतद्गुणकलातरङ्गानाख्याय मुख्यस्वरूपमाह—'स्फुरत्' इति । सर्वलोकालोकप्रतिबाधान्तरशून्यः, सदाखण्डं चमत्कुर्वन् यः प्रेमा-

रसकलश

इसीलिए 'प्रेमानन्द' इस अग्रिम पद्य में रतिरूप प्रियाजी का ही अर्थ समझना चाहिये । श्री प्रबोधानन्द ने श्रीवृन्दावन शतक में कहा भी है—

'समस्त प्राकृत और दिव्यलोकों में सर्वश्रेष्ठ श्रीराधा ही साक्षात् रति हैं । अत्यन्त आश्चर्यजनक कमल-जैसे नेत्र वाली लक्ष्मी आदि देवियां उनकी थोड़ी-सी कृपा-दृष्टि के लिये प्रार्थना करती रहती हैं । श्रीकृष्ण ही साक्षात् कामदेव हैं । श्रीराधा के साथ रमण करने की उनकी लालसा असीम है । वे अखंड हैं, परात्पर हैं और परमेश्वर के कान्ति-समूह को अपनी थोड़ी-सी द्युति-किरण देकर उसे तरंगायित कर देते हैं ॥११—४६॥

अतः उस कामदेव की आलिंगन आदि कोमल कलाओं की करोड़ों विचित्रताएँ भी श्रीराधा में विद्यमान हैं । कोमलता का आशय यह है कि काम के घनघोर आवेश में भी कलायें रमणीय और स्वाभाविक ही बनी रहती हैं, क्योंकि इस स्थिति में वे सुखदायक होती हैं । सुकुमारी श्रीराधा से संबन्धित सब कुछ सुकुमार ही हो तो कलाओं के सुकुमार होने में क्या आश्चर्य है ? साधारणतः कामकला से वात्स्यायनकृत कामसूत्र में वर्णित कलायें ही समझी जाती हैं । यहाँ उन कलाओं में एक खास विचित्रता है, अतः उन्हें 'वैचित्र्यकोटिः' कहा गया है जोकि सहृदयों के सूक्ष्म दृष्टि से समझने की बात है ।

इस प्रकार उनके रोचक गुणरूपी कला-तरंगों का वर्णन कर मुख्य स्वरूप का वर्णन करते हैं—'स्फुरत्प्रेमानन्दघनाकृतिः ।' समस्त लौकिक व अलौकिक प्रतिबन्धों से

नन्दस्तस्य घनीभूता आकृतिर्यस्याः। अनेनान्दघनस्यापि हार्दप्रेमानन्दसार-मूर्तित्वयुक्तं, शक्तिशक्तिमत्वादिभेदाः, भिन्नाभिन्नभावा अपि निरस्ताः। एवं सजातीयानुपदिशति एतत्तत्वमेव ध्येयं नचान्यादृशश्रुतमिति भावः। अतएव 'सा' इति, 'कापि' इति अन्योक्तानुक्त विलक्षणा ज्ञेया।

अत्र प्रियार्थपक्षे 'कोटिस्फुरत्' इत्येकमेव पदम्। कोटिभिः स्फुरंश्चासौ प्रेमानन्दश्च। किञ्च सा तु कारणरूपप्रेमाकृतिरेव, परन्तु प्रियसम्बन्धे केलिवैचित्र्यकोटिभिः कार्यावस्थां प्राप्तः प्रेमा भवति, यथा बीजात्तरुरिव। इत्यतो यथा बीजस्तथा तरुरित्येकप्रेमैवेति। 'घन' इति—यथा सूर्यस्तेजो-घनस्तस्मात् सर्वे प्रकाशन्ते, तद्वदस्मादेव निजप्रेमप्रकाशोमुख्यं प्रिये, तत्प्रकाशो वैकुण्ठादिषु। यथा शतके—

राधाप्रेममहर्द्धिभूषिततनुर्नित्यं तया श्यामल-
श्चन्द्रो भूषितविग्रहो विलसिता तेनापि कुञ्जावली।

रसकलश

रहित, अखंड रूप से चमत्कृत करने वाला जो प्रेमानन्द, उसकी सघन (ठोस) मूर्ति हैं श्रीराधा। तात्पर्य यह कि आनन्दघन श्रीकृष्ण के हार्दिक प्रेमानन्द के सार की वे साकार प्रतिमा हैं। ऐसा कहकर शक्ति और शक्तिमान् के भेद तथा द्वैत एवं अद्वैत के सिद्धान्तों का खण्डन कर दिया। अपने समानधर्मा उपासकों से श्रीहितप्रभु का उपदेश है कि श्रीराधा तत्व का यही स्वरूप है और इसी रीति से उनका ध्यान करना चाहिये, न कि जैसा और प्रकार से सुना है, यह भाव है। इसी अभिप्राय से श्रीराधा को 'सा' (वह) और 'कापि' (कोई) कहा है, अर्थात् अन्यसंप्रदायमार्गियों ने जैसा कुछ कहा या नहीं कहा है, उस सबसे विलक्षण हैं वे।

यहां (जैसा कि ऊपर कहा है) 'स्मर' का अर्थ यदि प्रियतम लगाया जाय, तो 'स्मर केलि' से लेकर 'घनाकृतिः' तक एक ही समासान्त पद मानकर अर्थ होगा—प्रियतम की क्रीड़ा सम्बन्धी कोटि-कोटि लीला-कलाओं से उमड़ता हुआ प्रेमानन्द। कारण रूप प्रेम की मूर्ति तो श्रीराधा ही हैं, पर तत्स्वरूप प्रेम ही प्रिय से संबन्धित केलि की कोटि-कोटि विचित्रताओं में परिणत होकर कार्य रूप प्रेम हो जाता है, जैसे बीज से वृक्ष। जैसा बीज, वैसा वृक्ष—अर्थात् बीज और वृक्ष में अभेद है। इसी प्रकार कारणरूप और कार्यरूप प्रेम भी एक है। 'घनाकृतिः' में 'घन' शब्द की व्याख्या यह है कि जिस प्रकार सूर्य तेजों की समष्टि है, उसी से समस्त वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, इसी प्रकार राधात्मक प्रेम का प्रकाश मुख्यरूप से प्रियतम में होता है और प्रियतमनिष्ठ प्रेम के द्वारा वैकुंठ आदि धाम प्रकाशित होते हैं। श्रीवृन्दावन शतक में भी यही कहा गया है—

वृन्दाटव्यनया तया विलसितं श्रीमाथुरं मण्डलम्,
तेन श्रीलविकुण्ठधाम सुभगस्तेनापि सर्वेश्वरः ।।११-५८।।

एवं यथायथा सौन्दर्यादि कलादि च दृष्टं तथैवानुभूय वर्णितम् तादात्विकार्हसहृदयभावनीयसेवां कुर्वन्त्येव हितसख्यास्ते, बाह्यदशायां तदभिलषतीति ज्ञेयम् ।।१५६।।

एवं पूर्वपद्ये लीलाकलेतिस्मरकलेति कलाद्वयमुपक्षिप्तम् । तत्र स्मरकलासु कतिचिन्निर्दिश्येदानीं संप्रयोगाख्य विहारभरं विशिष्याकथनीयत्वादेकैकवसनभूषणमाल्यकथनव्यंग्येन सूचयन्ती तादात्विकापावृतरूपामृतं रसावनन्दं च निपीयमानात्यतृप्ततया प्रेमावेशदौर्लभ्यतरङ्गेण पुनः पुनस्तदेव समभिलषति—

दुकूलमतिकोमलं कलयदेव कौसुम्भकम्,
निबद्धमधुमल्लिकाललितमाल्यधम्मिल्लकम् ।

रसकलश

श्रीराधा का शरीर नित्य ही प्रेम की समृद्धि से सुशोभित है, उससे श्रीकृष्ण चन्द्र का श्रीविग्रह विभूषित होता है, उससे वृन्दावन के कुंजों की शोभा का विस्तार होता है, कुंजों की शोभा से वृन्दावन, उससे मथुरा-मंडल, उससे वैभवशाली वैकुण्ठ धाम और उससे परमेश्वर की शोभा है ।।११—५८।।

इस प्रकार सौन्दर्य आदि तथा कला आदि को जैसा देखा वैसा ही अनुभव कर वर्णन किया । श्रीहितसखी तो रसिकजनों द्वारा चिन्तनीय विहार कालीन सेवा में सदा तत्पर रहती ही हैं । अतः यहाँ आचार्य रूप से ही उन्होंने अपनी अभिलाषा व्यक्त की है ।।१५६।।

इस प्रकार पूर्व पद्य में लीला-कला और काम-कला—इस तरह दो प्रकार की कलायें बताईं । उनमें स्मर कलाओं में कुछ-एक का निर्देश कर अब श्रीहितसखी संयोगात्मक विहार को व्यंजना द्वारा सूचित करती हैं—व्यंजना द्वारा इसलिये कि अभिधा द्वारा उसे इदंत्वेन नहीं बताया जा सकता, केवल वस्त्र, आभूषण और माला के सम्बन्ध में एक-एक करके कहकर उसकी व्यंजना द्वारा ही प्रतीति कराई जा सकती है । श्रीहितसखी विहार कालीन निर्वसन सौन्दर्यामृत और मधुर आनन्द को पीकर भी जो तृप्त नहीं हुई तो प्रेमावेश की दुर्लभ उमंग में बार-बार उसी दृश्य को देखने की कामना करती हुई कहती हैं—

अत्यन्त कोमल कुंसुभी रंग के झीने वस्त्र को धारण किये, वेणी में वसन्त कालीन मल्लिका के फूलों की मालायें बाँधे, विशाल कटिप्रदेश पर दमकती हुई, शब्दायमान

बृहत्कटितटस्फुरन्मधुरमेखलालंकृतम्
कदा नु कलयामि तत्कनकचम्पकाभं महः ।।१५७।।

तत्कनकचंपकाभं महः कदाहमनुकलयामीत्यन्वयः। तदिति यत्पूर्वं-नित्यानुभूतप्रतीयमानमपीदानीमन्यदिव प्रत्यभिज्ञायमानम्। तदेवेति परोक्षार्थः। कनकवत्भास्वच्चंपकस्याभेवाभा शाखाचन्द्रवल्लोकप्रतीत्यर्थका यस्याः। वा कनकचंपकं आभावर्णज्ञापकमात्रा यस्या इति। प्रत्यंगप्रसृमरकिरणशीलत्वात्तेज इति। मह पूजायामिति स्वस्य ध्येयपूज्यसेव्यत्वात्। अन्विति भूयो भूयः। सेवाभिमानदुकूलादिदृष्टया रूपप्राबल्याकर्षणेन तद्दृष्टया च कदेत्यभिलाषायां विचारयामीति किं किमानन्दविलासावस्थिकमिति। तदेव विचारमाह—कीदृशं महः? अतिकोमलं कौसुंभदुकूलं कलयत् परिदधत् एव। कोमलं तु श्रीसुकुमार्य्यर्हं स्वत एव, परन्तु तदानीं विहारवशस्वावेगेन प्रियाङ्गविरहभियातिशयेन पटोऽपि मृदुहृदयो जात

रसकलश

मेखला से सुशोभित, सोने के चंपा के फूल-जैसी कान्ति से युक्त उस गौर तेज के मैं कब दर्शन करूँगी? ।।१५७।।

सोने के चंपक की आभावाले तेज का मैं कब दर्शन करूंगी—यह अन्वय है। 'तत्' (वह) से अभिप्राय उस गौर तेज का है जोकि दैनन्दिन अनुभव और प्रतीति का विषय है, फिर भी जो और (बदले हुए) की तरह जान पड़ता है। 'तत्' यहां परोक्ष अर्थ का बोधक है। सुवर्ण की भांति चमकते हुए चंपक की कान्ति के समान जिसकी कान्ति है (ऐसा वह गौर तेज है)। वृक्ष की डालियों में दिखाकर जैसे किसी को सर्वप्रथम चन्द्रमा की पहिचान कराई जाय और बाद में उसे आकाश में दिखाकर उसके व्यापक रूप का ज्ञान कराया जाय, वैसे ही श्रीराधा के वर्ण की प्रतीति कराने के लिये चंपक की उपमा का यहाँ आश्रय मात्र लिया गया है अथवा कनक चंपक वर्ण की प्रतीति कराने वाला एक माप है। 'महः' का अर्थ तेज है—इसलिये कि अंग-अंग से निकलकर छिटकती हुई किरणों का स्वभावतः मंडल बन जाता है। पूजार्थक 'मह्' धातु से 'महः' शब्द निष्पन्न हुआ है, अतः श्रीहितसखी गौर तेज का ध्यान करती हैं, पूजा करती हैं और उसकी उपासना करती हैं। 'अनुकलयामि' में 'अनु' उपसर्ग का अर्थ है बार-बार। श्री हितसखी तो एक तो अपनी सेवा का अभिमान, दूसरे दुकूल आदि की दृष्टि से प्रियाजी के रूप में प्रबल आकर्षण है, अतः यह अभिलाषा जागृत होती है कि—कदा? (कब देखूंगी?) तब मैं (श्रीहितसखी) सोचती हूँ कि प्रिया-प्रियतम का आनन्दमय विलास किन-किन अवस्थाओं में होता होगा। उसी विचार को अब प्रकट करती हैं। 'अति-

इवेति सखीहृदयान्तर्गर्भितोत्प्रेक्षा। किञ्चातिसूक्ष्मतयाङ्गलग्नत्वात्तत्रापि कान्तसंगमज सात्विकार्द्रतया विशेषेणाङ्गतन्मयतामापन्न इति। तदानीमतिसूक्ष्मत्वे कौसुंभकज्ञानं कुत्राप्येकत्रीभवनेन ज्ञायते, स्वामिशीलाग्रे सरत्वं सेवकस्यार्हमिति च। दुकूलेति कोमलत्वेन सूचितं मृद्वङ्ग्या संगेऽतिमार्दवेनैव निर्वाहः स्यात्, अन्यथा विहारसमरे का तस्य स्थितिः स्यात्? नीलाम्बरनित्यवर्णनीयेऽपि सखीभिरुत्सवसौभाग्यश्रीविशेषानन्देन निजानुरागातिशयोपहारोत्प्रेक्षणीयकौसुंभकरागः समर्पितः। तदपदेशेन वा परस्परानुरागवर्द्धनविलासोऽस्त्वित्याशीर्वादसूचकः। कौ पृथिव्यां सुंभते शोभते, इत्यर्थेन गौरारुणयोस्तादात्विकदर्शनीयतोक्ता। एवेति परिदधत्यामपि केवलाङ्गगौरवर्णप्रकाशे दृश्यमाने स्वसेवाभिमानेन किमहं दुकूलं समीकुर्यामित्यादौ विचार्य चित्ते, तत्र गन्तुमुल्लसिते पश्चात् सूक्ष्मदृष्ट्या तस्यैवाङ्गलग्नतया

रसकलश

कोमलं कलयदेव कौसुंभकम्' 'महः' का विशेषण है। अत्यन्त कोमल कुसुंभी रंग के झीने वस्त्र को धारण करने वाला ही (वह तेज है)। सुकुमारी प्रियाजी के धारण करने योग्य वस्त्र तो स्वतः कोमल होगा ही, किन्तु उस समय विहार की दशा में वस्त्र का कोई ध्यान ही नहीं रखा जाता, अतः प्रियाजी के अंग से बिछुड़ जाने के डर से भी अंग पर का वस्त्र मानो और भी कोमल हो गया। यह उत्प्रेक्षा (संभावना) श्रीहितसखी के अन्तरतम की है। दूसरे, वस्त्र तो पहले ही अत्यन्त महीन था, इतना कि प्रियाजी के भी अंग से चिपक कर रह गया था, फिर प्रियतम के संपर्क से जो सात्विक भाव (स्वेद) उदित हुआ था, उससे तो वह भीग ही गया और श्री अंग से मिलकर एकाकार हो गया। ऐसी स्थिति में अत्यन्त महीन होने के कारण वस्त्र के कुसुंभी रंग का ज्ञान उसके एक जगह इकट्ठा होने पर ही होता था। सेवक का कर्तव्य है कि स्वामी के स्वभाव को जानकर पहले ही किसी काम को पूरा करके रक्खे। दुकूल की कोमलता यह सूचित करती है कि कोमलांगी के साथ कोमलता का व्यवहार करने पर ही निबाह हो सकता है, नहीं तो विहार के समय वस्त्र की क्या स्थिति बनती? श्रीराधिका के वर्णन में प्रायः उन्हें नील वस्त्र धारण किए हुए ही दिखाया जाता है, फिर भी सखियों ने उत्सव कालीन सौभाग्य के विशेष आनन्द में मग्न होकर अपने महान् प्रेम के अनुकूल उपहार देने के लिये कुसुंभी रंग को ही ठीक मानकर उसी रंग का दूकूल अर्पण किया। अथवा कुसुंभी रंग के बहाने से सखियों ने यह आशीर्वाद दिया कि विलास के फलस्वरूप प्रिया-प्रियतम का पारस्परिक अनुराग और भी ज्यादा बढ़े। 'कुसुंभ' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जो पृथ्वी पर सुशोभित हो। इसके अनुसार यह सूचित किया गया है कि उस समय प्रियाजी के श्री अंग पर गौर और लाल वर्ण

दृश्यमानत्वान्निश्चिनोति—परिदधत्येवेयम् । पुनश्च भ्रमे जाते वैवश्यानन्तरं किं मया परिधापितं वा नेति पश्चात् कुत्रचित् पुञ्जीभूतदर्शनेन निश्चित्य परिदधत्येवेत्यवधारणार्थः सखीहृत्साक्षिको ज्ञेयः । अन्यच्च दुकूलस्य कोमलत्वं तादृशस्पर्शज्ञापकताप्रतीतिः, तादृशाङ्गैक्यसमये स्वस्पर्शज्ञानस्यापि कार्कश्यभानात् स्पर्शज्ञानप्रच्छादनमिव कृतमित्युत्प्रेक्षागर्भितोऽप्यर्थः । यथा हि श्रीगीतगोविन्दे—

प्रत्यूहः पुलकाङ्कुरेण निबिडाश्लेषे निमेषेण च,
क्रीडाकूतविलोकितेऽधरसुधापाने कथानर्मभिः ।
आनन्दाभिगमेन मन्मथकलायुद्धेऽपि यस्मिन्नभूत्,
उद्भूतः स तयोर्बभूव सुरतारम्भः प्रियंभावुकः ।।

रसकलश

खूब फब रहे थे । 'कलयत+एव' में 'एव' (ही) शब्द से निश्चय का बोध होता है । वह इस तरह कि यद्यपि प्रियाजी ने वस्त्र धारण कर रखा था, तथापि केवल अंगों की गौर कान्ति ही परिलक्षित होती थी । श्रीहितसखी ने, अपने सेवाभिमान के कारण पहले मन में सोचा कि प्रियाजी को वस्त्र धारण करा दूँ और बड़े उल्लास के साथ उधर जाने को हुईं ही थीं कि ध्यान से देखा तो पता लगा कि वस्त्र तो श्री अंग से चिपका हुआ है । तब उन्हें यह निश्चय हुआ कि वह तो पहने ही हुए हैं । इसके बाद श्रीहितसखी फिर धोखा खा गईं और आनन्द में विवश होने के कारण उन्हें सन्देह हो गया कि जाने पहिना है या नहीं । यही 'एव' का निश्चयसूचक अर्थ समझना चाहिये । वस्त्र की कोमलता का भाव इससे भी होता है कि उसके अस्तित्व की प्रतीति स्पर्श करने के बाद होती थी, किन्तु जब अंग उस प्रकार वस्त्र से मिलकर एकाकार हो गये तो उनकी कोमलता के विचार से पहिचान के लिये हाथ से छूने में भी कठोरता आ जाती है, अतः स्पर्शजन्य ज्ञान पर ('एव' कहकर) मानों पर्दा डाल दिया । इस प्रकार मूल अर्थ के अन्दर से उत्प्रेक्षा की भी ध्वनि निकलती है । श्री गीत-गोविन्द का एक वर्णन देखिए—

'उन दोनों (श्रीराधा कृष्ण) का ऐसा प्यारा सुरत हुआ कि सघन आलिंगन में रोमांच भी व्यवधान बन गया विलासमय साभिप्राय देखने में क्षण का विलम्ब भी असह्य हो उठा, अधरामृत पान करने में हास-परिहास की बातें विघ्न मालूम पड़ने लगीं और कलापूर्ण कामसंग्राम में आनन्द का अनुभव भी बाधक बन गया ।' १२—१

उक्त पद्य में प्रत्येक अंग द्वारा सुरत को अनवरत रूप से चालू रखने की पराकाष्ठा बताई गई है, क्योंकि उस अवस्था में अन्य सब ज्ञान लुप्त प्राय हो जाते हैं ।

इति प्रत्यङ्गनैरन्तर्यपराकाष्ठोक्ता, वेद्येतराभावावस्थत्वात् ।

दुकूलस्य शिर आरभ्य धार्यत्वात् तद्दृष्टया धम्मिल्लं वर्णयति— निबद्धानि मधुमल्लिकाया ललितमाल्यानि यत्र, तादृशो धम्मिल्लो यस्य तत् । 'मधु' इति वसन्तोत्सवसूचिनी दृग्मनोमादकानिर्वचनीयमतल्लिका मल्लिका । तस्या अपि ललितेति अतिकोमलोक्तिवदेषामपि मार्दवसौष्ठव दर्शनीयता ज्ञेया । तदानीं परिरम्भाद्यत्यावेगसाहसेऽप्यत्यजनात् प्रशंसा-करणञ्च सखीहृदयेन सूच्यते । कठिनसमये सेवामैत्रीच परीक्ष्येते, इति साधु-ललितानि यूयमिति । 'निबद्धा' इति भूतकालीनोक्त्या मया पूर्वं कौशल-दार्ढ्येन श्रृंगारसमये यद्बद्धं तदेव किञ्चित् किञ्चित् दृश्यत्वेनत्विदानीं निबध्यमानतेति श्लथता सूच्यते, अत एवाल्पत्वद्योतकः कप्रत्ययः । अत्र न प्रियाया बध्यमानतास्मृतिरित्यज्ञातार्थज्ञापकश्च । अत्रैषामेव लालित्यमर्हं यदिदानीं स्वाटोपाभावं दर्शयन्ति ।

रसकलश

वस्त्र सिर से लेकर पहिना जाता है, अतः उस दृष्टि से अब केशपाश का वर्णन करते हैं—प्रियाजी की वेणी में वसन्तकालीन मल्लिका के फूलों की सुन्दर मालायें लिपटी हुई थीं। 'मधु' शब्द वसन्तोत्सव को सूचित करता है, अतः मल्लिका अनिर्वच-नीय रूप से दृष्टि और मन में मादकता भरती थी। जैसे मल्लिका को अत्यन्त ललित अर्थात् कोमल बताया गया है, वही बात मालाओं के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिये कि वे भी कोमल थीं और सुन्दर ढंग से पिरोई हुई और दर्शनीय थीं। श्रीहितसखी की हृद्गत भावनाओं के अनुसार मालाओं के ललित होने में प्रशंसा का भाव भी निकलता है कि सुरत-प्रसंग में अत्यन्त आवेग और साहस के साथ जब आलिंगन आदि किये गये तब मालायें (किसी योद्धा की भाँति) मैदान से हटी नहीं। आपत्तिकाल में ही सेवावृत्ति और मित्रता की परीक्षा होती है, अतः मालाओं के बारे में यही कहना पड़ता है कि शाबास ! तुम सब बड़ी ललित हो ! 'निबद्ध' (बाँधी गई) में भूतकाल के द्वारा यह आशय व्यक्त किया गया है कि मैंने (श्रीहितसखी ने) श्रृंगार करते समय बड़ी निपुणता से जूड़ा (या वेणी) को जैसा कसकर बाँधा था, कुछ-कुछ उसी रूप में है वह, पर फिर भी अब बाँधने की जरूरत आ पड़ी है। इससे विदित होता है कि जूड़ा ढीला पड़ गया था। 'धम्मिलकम्' में अल्पार्थक प्रत्यय से यही ध्वनित होता है। दूसरा भाव यह भी है कि प्रियाजी को स्मरण ही नहीं है कि वेणी किसीने बाँधी भी कि नहीं। इस अर्थ में 'क' प्रत्यय किसी अज्ञात बात को बताने में समझना चाहिये। असल में इन मालाओं को ही लालित्य शोभा देता है, क्योंकि वे बेचारी अपनी शान नहीं दिखातीं।

पुनश्च तद्वेणीगुच्छलुठनसंगदृष्टया कटितटं वर्णयति—सावकाशलुण्ठनाच्छोभाकृत्योर्महत्वात् 'बृहत्' इति। 'कटितट' इति, न तु कटौ इति। तस्या मेखलाया अपि स्थानातिक्रमशैथिल्यम्। तटेति तदवागिति। अग्रे सरप्रियाशूरस्य पार्ष्णिग्राहत्वात्, स्फुरन्ती'ति। निष्कण्टकराज्यवद् भूषणवसनान्तरायाभावात् साम्राज्यमाप्तमिव प्रकाशमाना, अतएव सर्वविगणनाद्राजसेन मुखरा, निरङ्कुशशब्दायमाना या मेखला। अमितः कृतापवरणतयालंकृतमिदानीं दर्शनीयमेव।

अत्र प्रेयोऽनुकरणमेव व्यज्यते। तेन मुख्यव्यवहरणात् पृष्ठे शोभादर्शनात् तत्तत्सौष्ठवदर्शनवर्णनशक्यत्वात्। अन्यावयवानामैक्यापत्तिनिमग्नतया न तदुक्तिरित्यलं विस्तरेण, सहृदयगम्यमेव।

अलंकारेष्वेकालंकृतिर्मेखलैवेतिन्नामालंकृतमित्युक्तम्। स्मरसमरजयडिंडिमनादवीरत्वकौतुकावेशदानात् तदानीं तस्या एव शोभनात्। अन्ययोः कोमलललितेत्येवमुक्तम् किञ्च द्वन्द्वाभिमुख्ये प्रखराणामेव कार्यं शोभनं, न च साधूनामिति कौतुकं ज्ञापयति। एवं स्मरकेलि कोमलकला

रसकशल

अब, इस दृष्टि से कि वेणी के सिरे का गुच्छा नितंब प्रदेश पर लोटता है और दोनों साथ-साथ रहते हैं, कटितट का वर्णन करते हैं। नितंबों को वृहत् (विशाल) इसलिए कहा गया है कि वहाँ पर वेणी के लोटने के लिये काफी जगह है। शोभा और आकार की दृष्टि से नितंबों का महत्त्व उनके विशाल होने में ही है। 'कटि' न कहकर 'कटितट' कहने का अभिप्राय है कि वह मेखला भी अपने स्थान से हटकर ढीली पड़ गई थी। 'तट' से यह भी ध्वनित होता है कि (मेखला की तरह) उसमें वाणी नहीं थी। आगे के मोर्चे पर डटी हुई प्रियाजी रूपी योद्धा की पृष्ठ रक्षक होने के कारण मेखला का विशेषण दिया गया है—'स्फुरन्ती', अर्थात् चमकती हुई। भूषण वस्त्र के व्यवधान के बिना मेखला को मानों निष्कंटक साम्राज्य मिल गया था, अतः वह चमक रही थी और किसी की परवाह न कर राजस भाव आ जाने के कारण निरंकुश होकर शब्द कर रही थी। पूरी तरह वस्त्रहीन होने से मेखला से विभूषित प्रियाजो इस समय दर्शनीय हो रही थीं।

यहां प्रियतम के अनुकरण की भी व्यंजना निकलती है। विपरीत रति में प्रियाजी के प्रधान रूप से क्रियाशील होने के कारण उनके शरीर के पिछले भाग की शोभा देखी जा सकती थी और उसके विविध सौन्दर्य का वर्णन करना भी संभव था। अन्य

निर्दिष्टा । 'त्वयि श्यामे' इत्यारभ्याष्टश्लोक्या दंपतिसंलापविलाससखीसंलापप्रियप्रेमाधिक्यताम्बूलप्रसाददानलीलाकलासौरतादि च यथावदुपवर्णितम् ॥१५७॥

अधुनैकदा पूर्वोपक्षिप्तलीलाकलामध्यगतदृष्ट्या तत्र स्वसेवां स्वामिनीनित्यपार्श्वगतां वर्णयन्ती रासोत्सवलीलामाह—

कदा रासे प्रेमोन्मदरसविलासेऽद्भुतमये,
दिशोर्मध्ये भ्राजन्मधुपतिसखीवृन्दवलये ।
मुदान्तः कान्तेन स्वरचितमहालास्यकलया,
निषेवे नृत्यन्तीं व्यजनवरताम्बूलशकलैः ॥१५८॥

रसकलश

अंग एक होकर अपने कार्य में निरत थे, अतः उनका कोई उल्लेख यहां नहीं किया गया है । बस, विस्तार से इतना ही वर्णन पर्याप्त है । शेष रसिकजन स्वयं अनुभव से जान सकते हैं ।

सब भूषणों में मेखला ही एक नाम लेने लायक अलंकार है, इसलिए गौर तेज को मेखला से ही अलंकृत बताया है । सुरत-संग्राम में मेखला ही विजय का ढिंढोरा पीटती है और समर-कौतुक में जोश भरती है, अतः सारी शोभा उसी की है । अन्य दो भूषण—दुकूल और वेणी के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा है कि वे ललित और कोमल थे । दूसरे, द्वन्द्वयुद्ध में कठोर व्यक्तियों का ही काम पड़ता है, सज्जनों का नहीं—यह मजेदार बात भी बताई है । इस प्रकार काम-क्रीड़ा और कोमल कला का यहाँ निर्देश किया गया है । 'त्वयि श्यामे' पद्य से आरंभ कर आठ श्लोकों द्वारा दंपति का पारस्परिक वार्तालाप-कौतुक, सखियों की बातचीत, प्रियतम का महान् प्रेम, प्रसादी पान का दान, लीला और कामकला तथा सुरत-विहार आदि का वर्णन वास्तविक रूप में किया ॥१५७॥

अब एक दिन पूर्व पद्य (१५६) में वर्णित प्रियतम की लीला और प्रियाजी की कला के मध्यस्थ दर्शिका के रूप में स्वामिनी जी के नित्य पास में रहकर की गई सेवा का वर्णन करती हुई श्रीहितसखी रासोत्सव-लीला का वर्णन करती हैं—

प्रेम के उत्कट मद से भरे रस के विलास से युक्त, अत्यन्त अद्भुत, दोनों ओर श्रीकृष्ण और मंडलाकार खड़ी सखियों के समूह से सुशोभित रास के बीचों-बीच स्वयं उद्भावित नृत्यकला द्वारा प्रियतम के साथ हर्ष से नाचती हुई श्रीराधा की, सुन्दर पंखा झलकर और पान की छोटी-छोटी गिलौरियां देकर, कब सेवा करूँगी ॥१५८॥

अत्र महाराससिद्धान्तः। रासस्तु रासेश्वर्या एव नियतः। किञ्च 'राधा वृन्दावने वने', इति तदीयत्वेनैव ख्याते वने परमानुकूले रसिकशेखरे च नान्यभावगन्धोऽपि, परन्तु श्रुतिमुनिगोपीनां भक्तानां भुजस्पर्शमनोरथ-पूरणार्थम्। यथा—'स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदंडविषक्तधियः' इत्युक्तेः, व्रजप्राकटचलीलायां 'याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः' इत्यनेन मुख्यगौणद्वयं कार्यं संगतम्। यथा 'विहर्तुकामस्तानाह' इति देवान्प्रति भगवतोक्तं क्षीरोदमन्थनसमये, तद्विजिहीर्षाज्ञानं श्रीशुकेन स्वस्योक्तं, कथं तद्धृदयं ज्ञातं चेत् तत्रैवं ज्ञेयम्, 'साधुभिर्ग्रस्तहृदयो', 'मयि निर्बद्धहृदयाः' इति हृदयविनिमये किं चित्रमिति अन्यथा विहर्तुकामं विना देवकार्यकरणे किमशक्यं भगवतोऽस्ति। अतो मुख्य स्वविजिहीर्षोद्देशेन गौणोद्घोषः

रसकलश

यहाँ महारास के सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। रास तो निश्चित रूप से रासेश्वरी का ही था। दूसरे, 'वृन्दावन के वन में श्रीराधा ही प्रधान रूप से प्रतिष्ठित हैं', इस उक्ति के अनुसार श्रीराधा के निजी वन वृन्दावन में तथा श्रीराधा की इच्छा के अनुकूल चलने वाले श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में परकोया भाव की गन्ध तक नहीं आ पाती, फिर भी वेद और मुनियों के अवतार भक्त गोपियों की कामना को पूर्ण करने के लिये महारास का आयोजन हुआ था। श्रीमद्भागवत में कहा है—शेषनाग के शरीर के समान श्रीकृष्ण की भुजाओं में जिनका मन आसक्त था, उन गोपियों ने भी भगवान् को पा लिया।[1] तथा व्रज में की गई प्रकट लीला (चीरहरण) के प्रसंग में गोपबधुओं के प्रति भगवान् की उक्ति है—'हे अबलाओं! अब तुम व्रज को लौट जाओ, तुम्हारा (कात्यायनी-पूजा) व्रत सफल हुआ। तुम इन रात्रियों में मेरे साथ रमण करोगी।[2] इसके अनुसार भगवान् ने एक ही रास रचकर दो प्रयोजन सिद्ध किये। इनमें एक मुख्य था, दूसरा गौण। क्षीर-समुद्र मन्थन के समय श्री शुकदेव ने कहा—'विहार (लीला) करने की इच्छा से भगवान् ने उन देवताओं से कहा (कि दानवों के साथ सन्धिकर समुद्र को मथो)। इसका मतलब यह हुआ कि श्रीशुकदेव को भगवान् की विहार करने की इच्छा का पहले ही से ज्ञान था। यहाँ शंका होती है कि ऐसा किस तरह संभव हुआ, तो उत्तर यह है कि भक्त और भगवान् के हृदयों का यदि

१. पूरे श्लोक इस प्रकार हैं—निभृन्मरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदियन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्, स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो, वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोज सुधा०।१०।८७।२३

२. याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः॥१०।२२।२६

कृतः। मुख्यं तु गोपितम्। एवं रासेच्छा तु दंपत्योरेवास्ति, अन्यभक्तानाम प्यानुषंगेन कार्यसिद्धिः कृतेति ज्ञेयम्। तदा तासां मध्ये 'द्वयोर्द्वयोः प्रविष्टेनेति' बाह्यवलयं कृतं, मध्ये चाष्टसखीवलये युग्मरासः। स तु न कस्या अपि विविक्तः, राससंभ्रमस्वानन्दमग्नत्वात्। अत्र 'साक्षात् मन्मथ-मन्मथः' इति 'निर्दोषगुणविग्रहः', 'आत्मतंत्रः' इति, 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' इति वाक्यैः रासविहारिणः स्वानुकूल्यौचित्यैव व्यवहृतिः, दांपत्योचितदंपत्योरेव, दास्यसख्यवतीनांतदुचितमेवेति 'निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि रंस्यते' इति न स्वप्नेऽप्यन्यकात्वभ्रम इति प्रकटनैमित्तिकरास-प्रक्रिया।

प्रस्तुतमाह—नित्यलीलायां रहोनिकुञ्जे विलासिप्रभुणा निजप्राण-प्रियाप्रसादनेच्छाकौतुकेनैकदा रासे तदेवानुकरणं वर्तितम्। तत्रान्यभाव-

---

रशकलश

आदान-प्रदान हो तो आश्चर्य ही क्या है? कहा भी है—'भगवान् के हृदय पर सज्जनों का अधिकार होता है', तथा 'भक्तों का हृदय मुझसे (श्री कृष्ण में) बँधा रहता है।' यदि ऐसा नहीं है, तो विहार की इच्छा किये बिना ही क्या भगवान् देवताओं के कार्य सिद्ध नहीं कर सकते थे? अतः भगवान् का मुख्य उद्देश्य तो स्वयं विहार करना था। उन्होंने विहार की जो घोषणा की थी वह तो गौण थी। मुख्य उद्देश्य को तो उन्होंने छिपा कर ही रखा। इसी प्रकार रास करने की इच्छा तो दंपति की ही है, उसके साथ ही में अन्य भक्तों के कार्य भी आनुषंगिक रूप से कर दिये। तब रास आरंभ होने पर उन गोपियों के मध्य में दो दो के बीच में एक-एक ने प्रवेश कर बाहरी मंडल बनाया, यह जानना चाहिए। मध्य में आठ सखियों का एक भीतरी मंडल था जिसमें युगल स्वरूप ने रास किया। उसे किसी ने नहीं देखा, क्योंकि सब सखियां रास की उत्तेजना में अपने-अपने आनन्द में मग्न थीं। श्रीकृष्ण 'कामदेवों के भी साक्षात् कामदेव हैं', 'भगवान् का गुणात्मक शरीर निर्विकार है', वे अपने में स्वतंत्र हैं, उन्होंने कामवासना को नियंत्रित कर रखा है'। श्रीमद्भागवत की इन उक्तियों के अनुसार रासेश्वर का व्यवहार अपने स्वरूप के अनुकूल और उचित था। दंपती का व्यवहार दांपत्य धर्म के अनुकूल ही था दास्य एवं सख्यभाव से उपासना करने वाली सखियों का व्यवहार जैसा उनके योग्य था वैसा ही हुआ। श्रीकृष्ण तो 'समस्त तुलनाओं से परे राधा तेज के साथ अपने धाम श्रीवृन्दावन में रमण करते हैं।' अतः स्वप्न में भी यह संभावना नहीं है कि श्रीकृष्ण ने परकीयाओं के साथ विहार किया। यह है किसी कारणवश रखी गई रासलीला की विधि।

अब मूल प्रसंग पर आते हैं। एक दिन निभृत निकुंज में नित्य विहार के प्रसंग में रमणशील प्रभु ने अपनी प्राणेश्वरी को प्रसन्न करने की इच्छा से कौतुक से रासलीला

वतीनां तु प्रप्तिर्नास्ति निजदाम्पत्य परमानन्द प्रेमोन्मादविशेषात् । पृथक्-स्वरूपानंत्येनानुबुभूषुणा सखीवृन्दवलये स्वप्रकाशानंत्यं वर्तितं, प्रकाशी कान्तस्तु कान्तया नृत्यन्नेवास्ते । तदेवाह—'कदा' इति । कादाचित्कसमये प्रेम्णोत्कटो मदो यस्यैतादृशो रसस्तस्य विलासो यत्र, वा तद्विलासरूपे । किञ्च किमहमेकरूपेण नेत्रद्वयेन प्रियारूपामृततृप्तः स्यामिति । यथा—'विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः' इति । यथा च शतके—

त्वं जानासि सखिद्वयं मम दृशोः कः सृष्टवांस्तं पदा,
हन्मि क्षोणितले विलिख्य यदहं नेत्रैरनन्तैरपि ।
वृन्दारण्यमथान्यदेवमनघं नो वीक्ष्य तृप्याम्यहो,
सत्यं श्रीश्वरि राधिके ! वयमितोऽप्यन्यैकलुब्धेक्षणाः ।१३।३०

इत्यादिलालसार्तिविशेषतापोदयात् परिभाषायामुष्णकिरणत्वमुक्तं प्रेम्णः । अथ रसश्च संयोगानन्द आस्वाद इति शीतरश्मी रसो ज्ञेय इति ।

रसकलश

का अनुकरण किया । उस रास में अन्य प्रकार का भाव रखने वाली स्त्रियों का तो प्रवेश ही नहीं, क्योंकि अपने दांपत्यभाव के उत्कट आवेश में प्रेम की जो विह्वलता होती है, वह अन्यत्र प्राप्य नही । हाँ, अपने पृथक्-पृथक् अन्य रूपों में रास-रस का आस्वाद लेने की इच्छा से सखी-समूह के चक्राकार मंडल में अपने को अनन्त प्रकाशों में विकसित कर व्यवहार किया । श्रीकृष्ण का मूल प्रकाशी स्वरूप तो अपनी कान्ता श्रीराधा के साथ ही नृत्य करता है । इसी बात को कहते हैं—'कदा' अर्थात् किसी समय प्रेमजन्य उत्कट मादकता से युक्त रस का विकास जहाँ हो रहा था, ऐसे रास में (अथवा रस विलासात्मक रास में) दंपति विहार में प्रेम की मादकता इतनी तीव्र थी कि प्रियतम सोचते थे कि क्या मैं एक रूप से दो नेत्रों के द्वारा प्रिया के सौन्दर्यामृत को पीकर तृप्त हो सकूंगा ? जैसे कि कहा गया है—'मेरे हजारों-लाखों कान हो जायँ, यही मेरी वरयाचना है । श्री वृन्दावन शतक में भी कहा है—

वृन्दावन तथा अपने प्रियतम-संबन्धी प्रेम की उमंग में प्रियाजी कहती हैं—

सखि ! क्या तुझे मालूम है कि इन मेरी दो आँखों को किसने बनाया ? (यदि वह मिल जाय तो) मैं उसे जमीन पर पटक कर ठोकर लगाऊँ, क्योंकि मैं अनन्त नेत्रों से श्री वृन्दावन धाम तथा किसी अन्य पवित्र देव (श्रीकृष्ण) को देखकर भी तृप्त नहीं होती । इस पर सखी कहती है—शोभा की स्वामिनी हे श्रीराधे ! आप सत्य कहती हैं । यहां हमारे नेत्र भी उसी अन्य देव के दर्शन के लिये लालायित हैं ।।१३—३०

प्रेम में इस प्रकार की एक खास पीड़ा होती है, इसलिये परिभाषा में प्रेम की किरणों को गरम बताया है । परन्तु रस तो संयोगानन्द का आस्वाद है अतः उसकी किरणें ठंडी होती हैं । यहाँ रास-रस के आस्वाद में प्रेम के कारण

अत्र रसास्वादः प्रेम्णोन्मत्तो जात, स्तत्राप्यद्भुतमये । अद्भुतत्वं विस्मयोत्पादकत्वं, अनेकरूपत्वादिति । शृंगाररसरूपस्तु प्रिय एवात्र। तत्प्रेम्णा एव मुख्यत्वात्तन्मत्तत्वनिदेशः । मूर्तिमत्प्रेमासवोन्मत्ताद्भुतशृंगार-नृत्याक्रीड इवेत्युत्प्रेक्षार्गाभते रास इति । बहुवादकगायकनर्तकविशिष्ट-लक्षणे दिशोर्वामदक्षिणयोर्मध्ये भ्राजन्मधुपतिश्च सखीवृन्दञ्च ताभ्यां वलये कंकणाकारे, वा तयोर्वलयं यत्र । सखीवृन्दे मधुपतिप्रकाशवैविध्येन तस्यापि वृन्दमेव ज्ञेयम् ।

एवं प्रियहर्षोल्लासमुक्त्वा तत्कारणं मध्यरासमाह । 'मुदा' इत्यत्र प्रियतममनोरथपूरकहर्षेण अन्तस्तद्वलयमध्ये कान्तेन तादृगतृप्ति निजेच्छा-कृतरूपानन्त्यहेतुभूतकामुकेन सह स्वेन रचितया प्रियप्रसिद्धचापि विलक्षणया, तादात्विकनवनिर्मितया महालास्यस्य कलया । ताण्डवं पुरुषार्हं, लास्यं तु

रसकलश

उन्मत्तता आ गई है। फिर यदि वह रस अद्भुत हो तो कहना ही क्या ! अद्भुत का अर्थ आश्चर्यजनक है, क्योंकि उस रस के अनेक रूप हैं। शृंगार रस की मूर्ति तो यहाँ श्रीकृष्ण ही हैं, अतः उन्हीं के प्रेम के मुख्य होने के कारण उनका उन्मत्त होना कहा गया है। रास में प्रेम-मदिरा का पानकर उन्मत्त शृंगार रस ही मानो श्रीकृष्ण की मूर्ति धारण कर नृत्य-क्रीड़ा करता है, यह उत्प्रेक्षा भी यहाँ छिपी है। फिर रास के लिये बाद्य यंत्र बजाने में, गाने में, नाचने में निपुण सखियाँ भी वहाँ उपस्थित थीं, अतः रास का स्वरूप विलक्षण हो गया था। बाईं और दाईं ओर सुशोभित मधुपति और सखी-समूह के द्वारा कंकण के आकार का मंडल बनाया गया था (अथवा उनका मंडल बना था, यह समास भी हो सकता है)। सखियों के समूह में श्रीकृष्ण अपने विभिन्न प्रकाशात्मक रूप में उपस्थित थे, अतः सखियों के समूह की तरह श्रीकृष्ण का भी समूह समझना चाहिए।

इस प्रकार प्रियतम की प्रसन्नता और उल्लास का वर्णन कर उसके मूल कारण भूत मध्य में होने वाले दम्पति-रास को बताते हैं—'मुदा' का अर्थ है, प्रियतम के मनोरथों को पूर्ण करने वाले हर्ष के साथ 'अन्तः'—उस मंडल के बीचों बीच, अपनी अतृप्तिजन्य इच्छा के कारण धारण किये गए अनन्त रूपों के कारणस्वरूप,कामी प्रियतम के साथ अपने द्वारा रची गई (यद्यपि कलाओं की रचना के लिए श्रीकृष्ण ही प्रसिद्ध हैं) विलक्षण और उसी समय जिनकी नई-नई उद्भावना की गई थी, ऐसी नृत्यकला से नाचती हुई (प्रियाजी की मैं कब सेवा करूँगी ?) पुरुषों का नृत्य 'ताण्डव' कहा जाता है। प्रिया योग्य नृत्य तो 'लास्य' ही कहा जाता है, क्योंकि उसमें कोमलता और लालित्य होता है। 'लास्य' के विशेषण 'महा' का अभिप्राय है कि श्रीराधा का

मार्दवलालित्येन प्रियार्हम् । महत्त्वमनेकहावभावाभिनयतालचमत्कारादि-गुणगौरवं, तादृग्गुणालंकृतप्रियस्यापि चित्रोत्पादकत्वात्, साधु साध्विति वन्दिजनस्तूयमानत्वाच्चेति ।

'कलया' इत्येकत्वं जातित्वात्, वा एकयैव तादृग्बहुरूपवृन्दवलयेभ्रमण-विलम्बातिशयिते, तत्संगीतदैर्घ्यपूर्तिमानतालैक्यपतनसाम्यादेकैव महत्प्रस्तारवती लास्यकलेदृगारब्धा येन महावलयवृत्याभिनयानन्दानुभूयमानमतौ कलैक्यानन्दोऽतिरिच्यते, अतएव महालास्येति ।

एवं नृत्यन्तीं प्रियां व्यजनवरतांबूलशकलैर्निषेवेऽहमिति । 'वर' इति तादात्विकेङ्गितार्हगुणवत्वश्रैष्ठ्यं श्रमनिवारकव्यजनताम्बूलयोर्देहली-दीपकन्यायेन ज्ञेयम् । 'शकलैः' इति दलस्यापि खण्डं सौकुमार्यात्, बहुत्वं पुनः पुनर्दानात् ।

रसकलश

नृत्य अनेक हाव-भाव, अभिनय, ताल-चमत्कार आदि गुणों की महिमा से मंडित था। उधर प्रियतम भी अनेक गुणों से विभूषित थे, किन्तु प्रियाजी के नृत्य-कौशल को देख कर वह भी आश्चर्य में रह गये। सूत-मागधों द्वारा 'साधु ! साधु !!' कहकर प्रशंसा किये जाने के कारण ही नृत्य का महत्त्व प्रत्यक्ष था।

प्रियाजी की कलाओं का एक वचन द्वारा निर्देश कलाओं को एक जाति मान कर किया गया है। अथवा कला को यदि एक ही माना जाय तो अनेक प्रकार के रूप-समूहों से बने उस प्रकार के रास-मंडल में, जिसमें नृत्य का एक ही चक्कर पूरा होने में बहुत देरी लग जाती थी और लंबे संगीत को साधने के लिये जहाँ ताल एक साथ और एक ही समय में पड़ती थी, एक ही नृत्यकला का विशद विस्तार हो जाता था। इस नृत्यकला का संपादन इस प्रकार होता था कि विशाल मंडल के विविध व्यापारों के कारण अभिनय का आस्वादन करने वालों की बुद्धि में समस्त कलायें एक ही नृत्य-कला के रूप में आनन्द की वृद्धि करती थीं। इसी अभिप्राय से कहा है—'महालास्य'।

इस प्रकार नृत्य करती हुई प्रियाजी को पंखा झलकर तथा बढ़िया किस्म की छोटी-छोटी पान की गिलौरियाँ देकर मैं कब सेवा करूँगी ? 'वर' का अर्थ है—उस समय की नृत्य-भंगियों के अनुरूप गुणों से श्रेष्ठ (पान)। देहलीदीपक न्याय से थकावट को दूर करने वाला पंखा तथा पान-दोनों ही की उत्तमता अभिप्रेत है।'शकल'—टुकड़ों से तात्पर्य है पान का टुकड़ा। प्रियाजी की सुकमारता की दृष्टि से एक टुकड़ा ही पर्याप्त होता था। 'शकलैः' में बहुवचन का प्रयोग यह सूचित करता है कि पान के टुकड़े एक-एक कर कई बार दिये जाते थे।

एवं वलये तादृग्घनचक्रचंचलावृन्दचाकचिक्याश्चर्यानन्दचंचुरेऽपि मध्यगत निजरासलास्यविलासिनीस्वामिनीसेवारुचिलोभनिष्ठोक्ता, न च बहुरूपसेवायामिति ।

अत्र द्वयोर्द्वयोर्मध्यगतमधुपतितात्पर्यं निजदांपत्यानन्ददर्शनजप्रेमोच्छलनासवघूर्णितवैवश्यस्तंभकम् । किञ्च साधारणभावुका अपि लोके रासदर्शनप्रेमवैकल्यत्यक्तदेहस्मृतय स्तदा प्रेममूर्तीनां किमु वाच्यम् । एवमेव सख्योऽपि, परन्तु तासां सावधानत्वं तथैव प्रेम्णैव दत्ताधिकारात् तांबूलाद्यपि तयोर्वैवश्यसाधनार्थमेव । तत्रापि शकलानि च क्षणशोवैवश्यसमये पूर्णवीटिकादानेषु घर्मातिशयशंकया प्रमादनिवारकान्येवेति । प्रियस्य तांबूलदानं व्यंग्ये रसाधायकत्वाद्रक्षितम् । किञ्च स तु प्रसादं मुखस्पर्शेन ग्रहीस्यत्येवेति अग्रे कपोलकपोलव्यवहारो संवलद्बाहुपाशत्वेन वक्ष्यत्येवेति ज्ञेयम् ।

रसकलश

इस प्रकार मेघाडंबर में कौंधते हुए बिजलियों के भुंड (सखी वृन्द) के चकाचौंध द्वारा आश्चर्य और आनन्द प्रदान करने वाले उस प्रकार के रासमंडल के मध्य में स्थित, रास-नृत्य और विलास की अधिष्ठात्री स्वामिनी जी की सेवा सम्बन्धी रुचि और लोभ के प्रति अपनी निष्ठा श्रीहितसखी ने यहां प्रकट की है। उनके अन्य विविध रूपों में उनकी ऐसी आस्था नहीं है।

यहां दो-दो सखियों के बीच में स्थित मधुपति से तात्पर्य यह है कि सखी मंडल में भ्रमण करते समय बाहरी मंडल के मध्य में बने आठ सखियों के दूसरे निजी मंडल में केवल दंपति का जो रास चल रहा था उसके आनन्द को देखकर श्रीकृष्ण में प्रेम की ऐसी उमंग उठी कि उसमें मदिरा की मादकता आ गई जिसे पीकर वह अपने को जड़ीभूत-सा अनुभव करने लगे। इस संसार में मानव प्रवण साधारण व्यक्ति रास करते हुए युगल स्वरूप के दर्शन कर प्रेम से व्याकुल हो जाते हैं और देहानुसन्धान खो देते हैं, तो प्रेममूर्तियों का तो कहना ही क्या? सखियों का भी यही हाल था, परन्तु प्रेम की विवशता के बीच भी उन्हें सावधान रहना पड़ता था। इसी प्रकार प्रेम के ही कारण पान आदि देने का जो अधिकार उन सखियों को प्राप्त था, उसका उपयोग भी सखियां विवशता को साधने के लिए ही करती थीं। उसमें भी पान के टुकड़े! जिसका मतलब यह है कि विवशता के क्षणों में पान का पूरा बीड़ा देने से गर्मी बढ़ जाने की संभावना थी, अतः असावधानी को दूर रखने के लिए पान के टुकड़े ही दिये जाते थे, न कि पूरा पान। प्रियतम को पान देने का उल्लेख इसलिये नहीं किया गया कि उसकी व्यंग्य से प्रतीति होने पर ही रसवत्ता आवेगी, अतः उसे बचाया है। दूसरे, प्रियाजी का मुख स्पर्श करते समय उन्हें तो प्रसादी मिल ही जायगी। आगे के पद्य में बाहुपाश में बांधने की बात कहकर दोनों के कपोलों के व्यवहार के सम्बन्ध में कहा ही जायेगा।

एवं महारासनिजसेवाप्रक्रियोक्ता ।।१५८।।

एवमद्भुतप्रेमोन्मद्रसाख्यमहारासमुक्त्वा केवल युगलकर्तृकत्वाद-तिललिताख्यरासमाह—

प्रसृमरपटवासे प्रेमसीमाविकाशे,
मधुरमधुरहासे दिव्यभूषाविलासे ।
पुलकितदयितांसे संवलद्बाहुपाशे,
तदतिललितरासे र्काह राधामुपासे ।।१५६।।

अहं तस्मादुन्मत्तमहारासादपि अत्यधिकलालित्यगुणविशिष्टे रासे र्काह राधां प्राणसर्वस्वसखीं मणिवदविस्मर्यमाणमद्धृदयसाक्षिकनाम्नीं उपासे, उपासनां करोमि । प्रियसंबन्धेऽपि तदेकस्फुरणात्तस्या एवोक्तिः । लालित्यमाह—कीदृशे ? प्रसृमरः पटवासः पुष्पराग एव सुगन्धचूर्णो यत्र । उभयचरणलास्यगतिवशेन तदानीं अतिसूक्ष्मत्वात् प्रसरणशीलत्वात् सर्वत्र

रसकलश

इस प्रकार प्रस्तुत पद्य द्वारा महारास और निज सेवा की पद्धति का वर्णन किया गया है ।।१५८।।

इस प्रकार अद्भुत प्रेम की मादकता से परिपूर्ण रसप्रधान महारास का वर्णन करने के उपरान्त अब केवल युगलस्वरूप द्वारा रचे जाने के कारण अत्यन्त ललित रास का वर्णन करते हैं—

'जहाँ सुगन्धित चूर्ण बिखरा हुआ है, प्रेम अपनी पूर्ण सीमा तक विकसित हो चुका है, मीठी-मीठी हँसी जहां चल रही है, देदीप्यमान आभूषण क्रीड़ा कर रहे हैं, प्रिया-प्रियतम के कन्धे रोमांचित हो गए हैं और भुजाएँ एक-दूसरे के चारों ओर लिपट रही है, ऐसे उस सुन्दर रास में (नृत्य करती हुई) श्रीराधा की मैं कब उपासना करूँगी ?''

उस उन्मत्त (मादकतापूर्ण) महारास से भी अत्यधिक मात्रा में सौन्दर्य गुण से विशिष्ट रास में, सखियाँ जिनकी प्राणसर्वस्व हैं, सर्प की मणि के समान जिन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता और जिनके नाम का साक्षी मेरा हृदय है, ऐसी श्रीराधा की मैं कब उपासना करूँगी ? श्रीहितसखी का प्रियतम के साथ (द्वारद्वारिभाव से) सम्बन्ध होने पर भी श्रीराधा का ही हृदय में स्फुरण होने के कारण उन्हीं के सम्बन्ध में यहाँ कहा गया है । रास के लालित्य का विशेषण देते हैं—जिसमें सुगन्धित चूर्ण फूलों के पराग के रूप में फैला हुआ था । नृत्यक्रियाओं में गति के कारण पराग अत्यन्त महीन होकर सब ओर फैल गया था । पराग मानों सुगन्धित चूर्ण था, यह उत्प्रेक्षा

प्रसृतम्। पिष्टातकचूर्ण इवेत्युत्प्रेक्षागर्भितोऽर्थः। यद्वा मधुमल्लिकेत्युक्तत्वात् वसन्तोत्सवोऽपि घटते, यथा सहृदयैर्भावनीयः तत्पटवासोऽपि तत्र मदनसैन्यखुरक्षुण्णरज इव सर्वत्र रञ्जितता दर्शनीयैव। पुनश्च प्रेमसीमाविकाशो यत्र। अन्यत्र रासे चन्द्रज्योस्नाविकाशः, अत्र प्रेम्ण एवेति। सीमेत्यत्र पूर्वं तु प्रियायाप्रेमोज्जृम्भ उन्मत्तस्तेन प्रेमविकासः। इदानीं तस्यापि प्रेमास्पदायाः प्रियाया हृद्गतकृपोच्छलनोद्घाटनं भवति स्वसीमत्वात् यत्र तत्र प्रेमसीमेति ख्याते। यथा 'राधाप्रेममहर्द्धिभूषिततनुर्नित्यं तथा श्यामलश्चन्द्र' इत्यनेनावधिभूता तु प्रियैव तस्याः सकाशात् प्रियप्राप्तिक्रमेण सर्वरञ्जनविकाशश्चेति। अतएव प्रियाप्रेमविकाशत्वात् 'सीमे'ति। यत्र दृष्टायां तादृक्प्रेममत्तोऽपि प्रियः स्थगित इव चित्रीयते। अतएव 'मधुरेति'। मधुरादपि मधुरः प्रियः स्वादुर्वा हासो यत्र। प्रियोऽतृप्ततया नेत्राभ्यां पश्यति, प्राणनीराजनं क्षणशः करोति। तदा सा तदिष्टकटाक्षदानेन हसति, तादत्विकसाकूतत्वात्मधुरः। तद्धासमाधुर्यं प्राप्य प्रभु-

रसकलश

भी अर्थ के अन्दर निहित है। अथवा पूर्व पद्य में ही मधुमल्लिका की चर्चा की जा चुकी है, अतः वसन्तोत्सव का प्रसंग भी माना जा सकता है जोकि सहृदयों की भावना पर निर्भर है। सुगन्धित चूर्ण ऐसा लगता था मानों कामदेव की सेना के हाथी-घोड़ों के खुरों से पिसी हुई धूल हो। उससे सब कुछ रंग गया था और देखते ही बनता था। फिर उस रास में प्रेम की सीमा का विकास था। अन्य रासों में चाँदनी का ही फैलाव रहता है, यहां केवल प्रेम का। 'सीमा' की बात यह है कि रास में पहले तो प्रियतम का प्रेम ही उन्मत्त होकर अंगड़ाइयां लेता है, फिर उस समय तो उनके भी प्रेम का आश्रय प्रियाजी की आन्तरिक कृपा बाहर आ जाती है, क्योंकि वही स्वयं प्रेम की सीमा हैं और जहां-तहां इसी रूप में उनका वर्णन हुआ है। उदाहरण के लिए वृन्दावन शतक के इस श्लोक में—'राधाप्रेममहर्द्धिभूषिततनुर्नित्यं' तथा 'श्यामलश्चन्द्रः' इत्यादि। इस के अनुसार प्रेम की अवधि तो श्रीराधा ही हैं। उन्हीं से प्रियतम को प्रेम की प्राप्ति होती है और क्रमशः उसमें सब (परमेश्वर तक) रंग जाते हैं और इस प्रकार वह विकसित होता है। अतएव प्रिया के प्रेम के विकसित हो जाने के कारण रास में वह प्रेम अपनी सीमा तक पहुँच गया था। रास की छटा में उस प्रकार से प्रेम-मत्त प्रियतम जड़वत् चित्रांकित से लगते हैं। इसी कारण रास में मधुर से मधुर, अर्थात् प्रिय अथवा आस्वाद्य हँसी चल रही थी। प्रिय अतृप्ति के भाव से प्रियाजी को निहारते हैं, प्रत्येक क्षण नेत्रों से उनकी आरती उतारते हैं। इस पर वह कटाक्षपात करती हुइ हँसती हैं जोकि लालजी को इष्ट था। भावगर्भित होने के कारण उनकी वह हँसी मधुर थी। उस मधुर हँसी को पाकर प्रियतम की हँसी में भी माधुर्य्य संक्रान्त हो जाता है। उससे

दितप्रियहसिते माधुर्यम् । तेन हृष्टा प्रिया हसतीति महामाधुर्यम् । 'किमिदानीं' तृप्तो वा न ? इत्युक्ते पुनर्दाने च नेत्युक्तिः, इति भंगिभिरेव । इत्येवं हसितोत्तरप्रश्नपरम्परायां प्रत्येकाभिप्रायस्य सहृदय सखीजनश्लाघनीयत्वेन । शिरोघूर्णनेन च महामाधुर्यम् । ततो द्विरुक्ति मधुरमधुरेति । सोऽपि मधुरः, सापि, ततो मधुरेति । एवं मिथः कटाक्षहासे हासस्तु बहुवादकनर्तकगायकविशिष्टो भवति ।

सोऽत्र दिव्यानां भूषणानां विलासोऽत्र, नत्वन्येषाम् । अथ दिवुक्रीडनादिदशार्थं योग्यानामिति । क्रीडनं नर्तनं वा दंपतिवद्दंपतिभूषणानां खेलनं यथास्वरूपं पृथक् पृथक् नूपुरादिकिंकिणी-हारपदिककेयूराङ्गद-कंकणकुण्डललर्लतिकाः नासामुक्ताचन्द्रिकान्तानां वेण्यग्रगुच्छस्य चेति । विजिगीषाप्रियसाभिलाषभूषणानां प्रियाभूषणानाञ्च कृपाहमहमिका । किञ्च प्रियाया मुख्यतया नृत्यलाघवात् । प्रियस्य तद्रूपासववैवश्यात् व्यवहारोऽपि तदानीमेकतद्ध्वनेरेव । वा मुकुटचान्द्रिका व्यवहारो दानादानं संघट्टनमिलनं च

रसकलश

प्रसन्न होकर प्रियाजी हँसती हैं । इस हँसी में महामाधुर्य है । प्रियाजी लालजी से पूछती हैं—तृप्त हुए या नहीं ? और फिर हँसने से इन्कार कर देती हैं । यह सब कार्यक्रम हाव-भाव की भंगियों में ही चलता है । हँसने के बाद पूछना, फिर हँसने से मना कर देना, फिर हँसना और फिर पूछना इस सब परंपरा में अन्तर्निहित अभिप्राय की प्रशंसा भक्त और सहचरियां ही सिर हिलाकर कर सकती हैं । यही महामाधुर्य है । फिर 'मधुर' शब्द को दुहराया गया है, उसका आशय यह है कि श्रीकृष्ण भी मधुर हैं और श्रीराधा भी । इसी भाव को व्यक्त करने के लिए 'मधुर' की आवृत्ति हुई है । इस प्रकार परस्पर में हँसी और कटाक्षों के चलते हुए अनेक वादक, नर्तक और गायकों से रास में विशेषता आ जाती है ।

उस रास में दिव्य भूषणों का विलास है, और किन्हीं वस्तुओं का नहीं । इन भूषणों में 'दिवु' धातु द्वारा निर्दिष्ट दस अर्थों की संगति देखी जा सकती है । भूषणों की क्रीड़ा अथवा नृत्य का अर्थ है दम्पति के भूषणों का अपने स्वरूप के अनुसार पृथक्-पृथक् खेलना । भूषण ये हैं—बिछुआ, किंकिणी, हार, पदिक (छोटा हार), केयूर, अंगद, कड़े, कुण्डल, लम्बा हार, मोती का वेसर और चन्द्रिका वेणी के गुच्छे का सिरा । 'विजिगीषा (जीतने की इच्छा) का भाव यह है कि अभिलाषा भरे प्रियतम के भूषण तथा प्रियाजी के भूषणों के बीच स्वामिनी की कृपा प्राप्त करने की होड़ सी लग जाती है । एक कहता है—मैं पहिले, दूसरा कहता है—पहले मैं । प्रियाजी में नृत्य-कौशल है और प्रियतम उनके रूप की मदिरा में छके हुए हैं । इस अवस्था में भूषणों की ध्वनि दोनों ओर आ जा रही है । यह हुआ व्यवहार । अथवा मुकुट और चन्द्रिका की अदला ,बदली, उनका आपस में टकराना और मिलना । उसी प्रकार कुण्डल और झूमक का

किंजातीयं, तथैव कुण्डलतत्टंकालकालकापाङ्गापाङ्गकपोलकपोलस्मित-चुम्बनवीटिकादानभुजकेयूराङ्गदहारमालास्तनपार्श्वघट्टनरसनाकिंकिणी मञ्जीरनूपुरादीनां किं किंजातीयमादानं दानञ्च पारस्परिकं सहृदय-भाव्यम्। यथा च—

मिलितकपोलसुभुजभुजवल्लीस्मितस्मित कटाक्षहार—
स्रग्रसनावलिनूपरसंघट्टनं द्वयं नृत्यति ॥

द्युतिश्चाकचक्यं मिथः प्रतिबिम्बवर्तनञ्च। स्तुतिः श्लाघा स्वप्रियसखीनाम् परस्परमोदो हर्षश्च। वैवश्योत्पादकतया स्वप्नम्। कान्तिरिच्छा तस्यैवसमाभिलाषोदयः। गतिश्चाञ्चल्यं प्रकटमेव। इत्याद्यर्थानां भूषणेसु नर्तकवादकगायकमाधुर्याभिनयादितत्तद् विलासः सहृदयैर्भावनीयः।

यद्वा दिव्येति चिद्घनत्वात् शोभनन्तु तेषां यथेष्टमेव। श्रीअंगमिलने नान्यभूषणवज्जाड्यांशो ज्ञायेत, अङ्गमिलनान्तरायं न किमपि भवतीत्येव

रसकलश

केशों और केशों का, चितवन और चितवन का, कपोलों और कपोलों का, मुस्कराहट और मुस्कराहट का, चुंबन और पान देने का, केयूर, अंगद, हार और माला का स्तनों की बगली से रगड़ खाना तथा करधनी, किंकिणी, मंजीर, नूपुर आदि का पारस्परिक लेन-देन किस प्रकार का था, इसे तो सहृदय ही समझ सकते हैं। कहा भी है—

'श्रीराधाकृष्ण इस प्रकार नृत्य कर रहे हैं कि कपोल कपोलों से, बाहें लता जैसी भुजाओं से, मुस्कराहट-मुस्कराहट से, कटाक्ष कटाक्षों से मिल-मिल जाते हैं और हार, माला, मेखला के घुंघरुओं की पंक्तियां एक-दूसरे से टकरा जाते हैं।

'द्युति' से चकाचौंध अथवा भूषणों की चमक का परस्पर मिलना है। 'स्तुति' अर्थात् प्रिय सखियों द्वारा की गई प्रशंसा। पारस्परिक प्रसन्नता 'मोद' कहलाती है। प्रेम के विवश होकर उनींदा होना 'स्वप्न' है। प्रिय की अभिलाषा के समान अपने में अभिलाषा का उदय होना 'कान्ति' (इच्छा) है। 'गति' का अर्थ चंचलता स्पष्ट ही है। इन अर्थ वाले भूषणों के नर्तक, गायक वादक आदि के माधुर्यपूर्ण अभिनय से विशिष्ट, विशिष्ट विलास को सहृदय लोग ही हृदयंगम कर सकते हैं।

अथवा चैतन्य घन होने के कारण भूषणों की शोभा तो यथेष्ट है ही। अन्य भूषण तो जड़ होते हैं, पर प्रियाजी के अंगों के संपर्क के कारण इनकी जड़ता प्रतीत नहीं होती और न अंगों के पारस्परिक मिलन में ये व्यवधान ही बनते हैं। यही भूषणों की दिव्यता है। उन्हीं के कारण रास को 'ललित' कहा गया है,क्योंकि उनका एकमात्र लक्ष्य प्रियाजी के स्वरूप को मोहक बनाना है।

रास के आनन्द में प्रियतम और प्रियाजी के कन्धे रोमांचित हो गए हैं, यह कह कर परम कृपापात्र होने के कारण प्रियतम की तात्कालिक दयनीयता सूचित की गई है। प्रिया जैसी उल्लास से भरी निधि जब गोद में हो, तो श्रीकृष्ण परम प्रसन्न हो

तेषां दिव्यत्वम् । तत एव 'अतिललित' इत्युक्तं प्रियास्वरूपैकनिष्ठदृष्टित्वात् । तदानन्देन पुलकितौ दयितस्यांसौ यत्रेति पूर्णकृपास्पदत्वात् तादात्विकदयनीयता प्रियस्योक्ता । अङ्कगततादृगुल्लसितनिधिहर्षातिशयेन धन्यातिधन्यतामननम् । ततो वैवश्यज्ञानेन प्रियायाः सावधानीकरणधारणभंग्या प्रियस्य च तदाश्रयग्रहणभंग्येव संवलन्तौ दृढवेष्टनतां प्राप्नुवन्तौ वाहुपाशौ यत्र । संवलद्बाहुपाशतया तु तदानीं नर्तमानावेव, परन्तु पुलकान्तरावस्थायां धारणाश्रयणार्थो ज्ञेयः अत्रैकहस्तोऽभिनयकरणे चेष्टायाञ्च लग्नो, द्वितीयेन परस्परसंवलनं स्फुटमेव ।

अत्रोच्यताम्—प्रेमा तु पूर्वाचरपद्ययोरेव, परं त्वत्रत्यातिलालित्यस्य मद्धृदयमेव साक्षीति भावः । अत एव निषेवणमपि स्वकृतमेवोक्तम् । उपासनञ्चापि स्वकृतमेव, परन्तु स्वारस्य एव भेदो, यथा माधुर्येऽपि माधुर्यमिति । पूर्वत्र व्यजनादिस्मृतिः, अत्र तु उपसमीपस्थितिरेव, स्वस्यापि तद्रूपानन्दस्थितत्वात् ॥१५९॥

एवं रासे प्रेमविकासमधुरहासविलासितसौन्दर्यंगत दृष्टयाऽभूतोपमामपि निरस्यन्ती श्रीमत्या मुखं वर्णयति द्वाभ्याम्—

रसकलश

अपने को धन्य मानते हैं । तब प्रियतम को प्रेमविह्वल जानकर प्रियाजी उन्हें सावधान करने के लिये भुजाओं का सहारा देकर संभालती हैं और प्रियतम भी उनका सहारा ले लेते हैं । बाहुपाशों में दोनों के जकड़े जाने पर भी नृत्य तो चलता ही रहता है, परन्तु आनन्द के कारण रोमांच होने की विह्वल दशा में प्रियाजी द्वारा प्रियतम को सँभालना और प्रिय के द्वारा उनका आश्रय लेना समझना चाहिये । यह तो स्पष्ट ही है कि दोनों का एक-एक हाथ नृत्य के अभिनय तथा विलास-चेष्टाओं में लगा रहता है । दूसरे हाथ से एक दूसरे का पारस्परिक आलिंगन होता है ।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि प्रेम का वर्णन तो इससे पूर्व के (१५८) तथा उससे पहले के (१५६) पद्यों द्वारा किया जा चुका है, परन्तु प्रस्तुत पद्य में वर्णित लालित्य का साक्षी तो मेरा हृदय ही है, यह भाव है । प्रियाजी की सेवा करने (निषेवे नृत्यन्तीम्) की अभिलाषा तो श्रीहितसखी की अपनी है तथा उपासना (कर्हि राधामुपासे) भी अपनी है, परन्तु भेद केवल आस्वाद के सौन्दर्य का है, जैसे कोई कहे कि माधुर्य में भी माधुर्य । पूर्व पद्य में तो पंखा झलने और पान खाने की याद आई, प्रस्तुत पद्य के अनुसार श्रीहितसखी पास में ही स्थित (उप+आसे) रहना चाहती हैं, क्योंकि दम्पती की आनन्दजन्य जड़ता के साथ-साथ वह स्वयं भी अपने को जड़वत् अनुभव कर रही हैं ॥१५९॥

इस प्रकार रास में प्रेम के विकास और मधुर हास से सुशोभित सौन्दर्य की दृष्टि से काल्पनिक उपमा की संभावना का भी निराकरण करती हुई श्रीहितसखी अब दो श्लोकों द्वारा श्रीमती राधा के मुख का वर्णन करती हैं—

यदि कनकसरोजं कोटिचन्द्रांशुपूर्णम्,
नवनवमकरस्यन्दि सौन्दर्यधाम ।
भवति लसितचञ्चत्खञ्जनद्वन्द्वमास्यम्,
तदपि मधुरहास्यं दत्तदास्यं न तस्याः ॥१६०॥

यदिकोटीत्यादिविशिष्टं कनकसरोजं भवति तदपि मधुरहास्यैकयुक्तास्य दत्तदास्यं तादृशकंजायेति न भवतीत्यन्वयः । कदाचित् सखीहृद्युपमादानोल्लासः स्यात्तदा तादृशकञ्जमुपमीयेतेत्येदुपमानीकरणैकदास्यार्थं तिष्ठेत् तदप्यनर्हत्वान्न कदाचिदप्यादित एवाददात्, तदेदानीं कथमस्माभिर्दीयते । तदेव विशिनष्टि । 'कनके'ति अनर्घ्यगौरवर्णतानिर्देशः । 'सरोजे'ति तादृगानन्दसरस्थनियतकृपोद्गमप्रफुल्लनम् । 'चन्द्रे'त्याल्हादामृताप्यायनधर्मत्वम् । 'कोटी' त्यनिर्वचनीयमानन्त्यं च तद्धर्मस्य । 'अंशु' इति प्रभामण्डलप्रसरण-

रसकलश

'यदि कमल सोने का हो सके, करोड़ों चन्द्रमाओं की किरणों से पूर्ण हो और प्रत्येक क्षण ताजा झरते हुए मकरन्द से वह अत्यन्त सुन्दर दिखाई देता हो, तथा ऊपर मंडराते हुए दो खञ्जन पक्षियों से सुशोभित हो, तो भी मधुर-मधुर हँसते हुए श्रीमती के मुख की दासता के भी वह योग्य नहीं होगा ॥१६०॥

यदि सोने का कमल 'कोटि' इत्यादि विशेषणों से युक्त हो, तो भी श्रीराधा का मधुर हास्य से युक्त मुख उस प्रकार के कमल को अपना दास नहीं बनायेगा यह हुआ अन्वय । सखियों के हृदय में (अथवा श्रीहितसखी के हृदय में) यदि कभी श्रीमती के मुख की उपमा देने की उमंग उठे, तो संभवतः उस प्रकार के कमल से उनके मुख की उपमा दे सकें—यह सोचकर कि चलो, उपमान बनने की दासता करने के लिए क्या बुरा है—तो भी अयोग्यता के आधार पर यह स्वीकार न होगा । क्योंकि प्रारम्भ से ही कभी अब तक ऐसी उपमा नहीं दी, तो हम ही क्यों कर दें ? उसी सुवर्ण कमल के विशेषण देते हैं—कमल को सोने का कहकर यह सूचित करना चाहते हैं कि प्रियाजी का वर्ण अमूल्य रूप से गौर है । 'सरोज' से अभिप्राय यह है कि जैसे कमल जलाशय में खिलता है, वैसे ही प्रियाजी का मुख भी आनन्द के सरोवर में निश्चित कृपाभाव के आविर्भाव से खिलता रहता है, अर्थात् कृपा ही उनके मुखकमल की खिलावट है। 'चन्द्र' से तात्पर्य प्रसन्नतादायक होनेतथा अमृत द्वारा तृप्त करने के गुण से है । 'कोटि'

शीलत्वं, सर्वप्रियसखीमण्डलवनराजिरञ्जनादिप्रभूतप्रभावत्वम् 'पूर्णे'ति सदाकालं तादृशत्वेनैव स्थितिः। अनेन कान्तिमण्डलसाम्येऽपि तादात्विक-हासोज्वलधर्मो निर्दिष्टः। 'नवनवे'ति 'मकरन्दे'ति प्रतिक्षणमाधुर्यातिशयः मुखहास्ये माधुर्यं कञ्जे च 'मकरन्द' इति, स्यन्दू प्रस्रवणे इति स्पन्दनं सखी-हृदयार्द्रीकरणसाक्षिकं हृन्मनोमधुपरसनालाम्पट्योत्पादकत्वात्। सौन्दर्या-स्पदं तदपि तदास्यं चेति तन्नित्यस्थितत्वेऽपि तदानीं हास्यान्वय्येव ज्ञेयम्।

खञ्जनद्वन्द्वं नेत्रोपमानम्। तदुक्तमात्रेणैव चाञ्चल्यमागतं, परन्तु 'चञ्चत्' इति तदानीं हास्ये साकूतकटाक्षत्वेनेति। लसितत्वेऽपि लसनं मुखहास्यान्वयित्वमेव नेत्रहसितस्येति। 'द्वन्द्वे'ति विशिष्यकथनं एकतः प्रियाभियोगोऽस्त्येव, द्वितीयतः परावृत्य हितसखी 'तत्तदधिगतप्रियाकतस्य णी' करोतीति द्वयोरेव चाञ्चल्यं, अन्यथा द्वयोरैक्यमेव युगपच्छीलं,

रसकलश

का मतलब यह है कि चन्द्रमा के आल्हादकत्व और अमृतत्व गुण अनिर्वचनीय और अनन्त रूप में प्रियाजी में विद्यमान हैं। 'अंशु' का भावार्थ, चन्द्रमा के पक्ष में, स्वभाव से ही प्रकाश-मंडल का फैलना है। प्रियाजी के पक्ष में यह कि समस्त सखी-वृन्द व वन की पंक्तियां उनके सौन्दर्य की प्रभा से रंगी रहती हैं। 'पूर्ण' से तात्पर्य है कि प्रियाजी का मुखचन्द्र सदा अपनी अपरिवर्तनीय स्थिति में रहता है। चन्द्र और प्रियाजी का मुख दोनों ही प्रभा-मंडल से युक्त हैं, किन्तु इस समता के होते हुए भी तत्कालीन उज्ज्वल हास्य का गुण प्रियाजी के मुख में विशेष रूप से विद्यमान है। 'नवनवमकरन्द' कहकर प्रत्येक क्षण माधुर्य का आधिक्य सूचित किया है। मधुरता दोनों में है—मुख की हँसी में और कमल में भी। 'मकरन्दस्यन्दि' पदमें 'स्यन्दिन्' बना है 'स्यन्द्' धातु से, जिसका अर्थ है झरना, चुचाना। कमल से मकरन्द झरता है (और मकरन्द होता है कुछ-कुछ नम)। प्रियाजी के सौन्दर्य प्रेम के कारण सखियों के हृदय भी भाव-भीने (आर्द्र) रहते हैं और उनका सौन्दर्य दृष्टि और मनरूपी भौंरे की जीभ को चटखोरा कर देता है। सुन्दरता का आश्रय भी सरोज और मुख दोनों हैं, पर प्रिया मुख का सौन्दर्य नित्यस्थायी है और हास्य उसका सदा का साथी है।

नेत्रों की उपमा दो खंजन पक्षियों से ही है। खंजन का नाम लेते ही चंचलता का बोध हो जाता है, फिर भी 'चञ्चत्' (घूमते हुए) जो विशेषण लगाया है उससे हँसते समय अर्थगर्भित कटाक्षों के संयोग का भी बोध होता है। नेत्रों के पहले से सुन्दर होते हुए भी उस समय उनमें अतिरिक्त सौन्दर्य आ जाता है जबकि वे मुख की हँसी के साथ तालमेल बिठाकर हँसते हैं। 'खंजन द्वन्द्वम्' में 'द्वन्द्व' का विशिष्ट रूप से उल्लेख एक विशेष बात को सूचित करता है। प्रियाजी के दो नेत्रों में से एक तो प्रियतम की भक्ति को साधे रहता है, दूसरा उधर से लौटकर श्रीहितसखी का प्रियतम की नई-नई अर्थ

ततः कथनानर्थकापत्तेः । एवं साम्यदृष्टचा हितसख्या भूयो भूयो विचारितमपि यादृङ्मधुरहास्यमाधुर्यं तस्या आस्ये संपन्नं हृदयसंतोषकं तादृक् तत्र न दृष्टम् । तेन तादृग्लोकालोकानुपमेयत्वालोचनेन प्रत्याख्यातम् ।

पुनश्च मनस्यागतं साधु, तद्दासीष्वेव देयम् । तदपि तादृगानन्दभोक्तृणां किमेतत्साम्यमित्यतोऽपि प्रत्याख्यातम् । साधु, वृन्दावनसरस्येव तदुपमार्थं तिष्ठतु, तत्र सरसि न कापि शङ्का, परन्तु तदुपमानरूपसेवाशया न स्थातुं शक्यमिति ।

अयं भावः । उपरितनरूपसौन्दर्यलावण्यचाकचिक्यं विचारयेदपि, परन्तु तादृक् प्रतिक्षणभावानन्द वैशिष्टयं मनस्यपि कस्य विचारे न शक्यं स्यात्, अत एतन्मुखमेतन्मुखमेवेति किमहं वच्मि । प्रतिपदप्रत्याख्यानापेक्षा चेदुच्यते—प्रेमा पीतवर्ण इति । पीतसौष्ठवन्तु कञ्जेन गृहीतं, परन्तु स्फुरत्प्रेमघनाकृतित्वं कुत्र ? एवं सरोजेन मार्दवं फुल्लत्वं गृहीतं, परन्तु

रसकलश

गर्भित अभिलाषा की साक्षी बनाता है (अथवा दूसरा नेत्र प्रियाजी के नए-नए अर्थ गर्भित भावों की साक्षिणी बनाता है)। अतः दोनों ही नेत्र समान रूप से चंचल हैं, नहीं तो यदि दोनों एक काल में एक ही भाव को व्यक्त करते, तो 'द्वन्द्व' कहना व्यर्थ हो जाता। इसलिए श्रीहितसखी बार-बार विमर्श करने के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि हास्य की जो मिठास प्रियाजी के मुख पर आकर उतरती है, हृदय को संतोष देने वाला वह हास्य उक्त प्रकार के कमल में नहीं देखा जाता। अतः इस लोक या दूसरे लोकों में जिस मुख का सादृश्य ढूंढे नहीं मिलता उसके समक्ष कनक-सरोज को भी उठाकर दूर फेंक दिया गया।

श्रीहितसखी के मन में अब दूसरा विचार आया कि अच्छा (न सही प्रियाजी के मुख से तुलना) उनकी दासियों के मुख के साथ तो दी जा सकती है, किन्तु यह भी उन्हें नहीं जँचा। भला, वैसा आनन्द भोगने वालियों के साथ इसकी क्या तुलना। अतः इस संभावना का भी निराकरण कर दिया। वृन्दावन रूपी सरोवर में ही प्रियाजी के मुख की समता के लिये ही कनक-कमल रहता आये, इसमें तो कोई आपत्ति न होगी ? पर नहीं। वहाँ वह इस आशा से न रहे कि वृन्दावन-सरोवर में रहने के कारण उससे उपमा दी जा सकेगी।

तात्पर्य यह है कि बाह्य रूप, सौन्दर्य और लावण्य को स्वीकार कर लेने पर प्रतिक्षण उदय होते हुए अनेक प्रकार के भावों से जो आनन्द मिलता है उसकी विशेषता कभी कनक-कमल में मिलेगी। अतः प्रियाजी का मुख प्रियाजी के मुख के ही समान है। अधिक क्या कहें ! यदि कोई चाहे कि प्रत्येक पहलू से (अथवा प्रत्येक शब्द को लेकर उसके हिसाब से) कनक सरोज को उपमा के अयोग्य ठहराया जाय, तो लीजिए। प्रेम का रंग पीला (गौर) होता है। अब पीले रंग के सौन्दर्य को तो कमल ने ले लिया, परन्तु चमचमाता हुआ सघन प्रेम वह कहां से लायेगा ? इसी प्रकार सरोज ने कोमलता

आनन्दप्रकृतित्वं कुतः ? कोटिचन्द्रांशुप्रकाशैश्वर्यमप्यायातं, परन्तु सर्वांशिपूर्णतम कृष्णस्य कथमानन्दः स्यात् । नवनवमकरन्दोऽप्यात्तः, मुखमाधुर्यं कुतः ? इदं सौन्दर्यस्य विषयं मुखं तु सौन्दर्यप्रवर्तकान्तर्यामिरूपम् । तदाश्रयं खञ्जनद्वन्द्वं अज्ञपशुप्रायं कथं श्रीमन्नेत्रमुपमीयते, इत्याद्यपि ज्ञेयम् ॥१६०॥

एवं मुखशोभां श्रुत्वा रासादप्युपरस्य केवलप्रियामुखमेव चकोरवत् पेपीयमाने प्रिये यथार्थचन्द्रं प्रियास्यमेवमुपवर्णयति—

सुधाकरमुधाकरं प्रतिपदस्फुरन्माधुरी-
धुरीणनवचन्द्रिकाजलधितुन्दिलं राधिके ।
अतृप्तहरिलोचनद्वयचकोरपेयं कदा
रसाम्बुधिसमुन्नतं वदनचन्द्रमीक्षे तव ॥१६१॥

हे श्रीराधिके ! सकलसिद्धिनाम्नि प्रियाप्यायनयकर्त्रि वा । अनुकम्पार्थक क प्रत्ययेन उपमानतिरस्कारमप्यसहमानहृदयता द्योत्यते । कारुण्यसागरे !

रसकलश

और खिलावट तो ले ली, पर उस खिलावट में सहज आनन्दमयता तो नहीं है। करोड़ों चन्द्रमाओं की किरणों के प्रकाश का ऐश्वर्य कमल में हो सकता है, परन्तु सोलहकलावतार पूर्णतम श्रीकृष्ण का आनन्द कहां से आयेगा ? नया-नया मकरन्द भी मान लिया, पर मुख का माधुर्य तो वहाँ नहीं है । सौन्दर्य के आश्रय इस मुख का रूप तो सौन्दर्य की सृष्टि करने वाले आन्तरिक स्वरूप की ही बाह्य अभिव्यक्ति है । कमल का आश्रय लेने वाले दो खंजन निपट तिर्यक् योनि के होने के कारण श्रीमती के नेत्रों के उपमान भला कैसे बन सकते हैं ? ॥१६०॥

इस प्रकार प्रियाजी के मुख की शोभा का वर्णन सुनकर प्रियतम ने रास से उपराम ले लिया और लगे चकोर की तरह उन्हीं की मुख-शोभा का बार-बार पान करने। उस समय श्रीहितसखी वास्तविक चन्द्रमा के ही रूप में प्रियाजी के मुख का वर्णन करती हैं—

'चन्द्रमा को व्यर्थ सिद्ध करने वाले, प्रतिक्षण उमड़ते माधुर्य को धारण करने वाली नवीन चांदनी के समुद्र से पुष्ट या सघन किये गये, श्रीकृष्ण के दोनों नेत्र चकोरों की भाँति जिसका पान करते हैं, ऐसे रस-समुद्र के उद्गमस्रोत (अथवा रस-समुद्र से निकले हुए) आपके मुख-चन्द्र को मैं कब देखूंगी ? ॥१६१॥

प्रिय के सब मनोरथों को सिद्ध कर उन्हें तृप्त करने वाली हे श्रीराधिके ! 'राधिका' शब्द में दयाशीलता के अर्थ में 'क' प्रत्यय है जिससे यह व्यंजित होता है कि श्रीहितसखी के हृदय को इतना भी सह्य नहीं कि पहले श्रीराधिका के मुख की कमल

शृणु, यथार्थं चन्द्रता तवैव वदनस्येति प्रसादयित्वा तव वदनचन्द्रमहमीक्षे। 'कदा' इति साधकसंग्रहः स्पष्ट एव । तदेवोभयं श्रावयन्ती विशिनष्टि— कीदृशम् ? सुधाकरेति प्रसिद्धचन्द्रं मुधा अयथार्थं करोतीति । किञ्च स तु करमात्रसुधः । इदं मुखं तु प्रतिपदेत्यादिविशिष्टम् । अथवा 'सुधाकरकरं मुहुः' इति पाठे सुधाकराः करा यस्येति तेषां त्वन्मुखचन्द्रस्य किरणमात्रत्वे 'चदि आल्हादे दीप्तौ च' इति धात्वर्थः अत्रैवनिष्पन्नः । अतएव' अतृप्त-हरिलोचनद्वयचकोरपेयम् ।' तदा क्व चकोरचन्द्रौ प्रसिद्धौ कृपणौ, क्वेमौ प्रस्तुतौ चेति भावः । हरति सकलमनांसीति हरिः सोऽप्यत्रातृप्त चकोरः । यथा—

'सकलघोषचकोरसुधाकरः स तव वक्त्रसुधांशुचकोरकः ।'

इति चकोरमनांस्यनन्तानि हृत्वा मृगाङ्केण मृग इव स्वस्मिन्निहितानि । ततस्तावत्येवातृप्ततास्त्यस्मिन्निति 'द्वये'ति विशिष्यकथनेन, पश्य, कीदृगे-

रसकलश

आदि से उपमा देने की संभावना पर विचार किया जाय और फिर उपमान को अयोग्य ठहराकर उसका प्रत्याख्यान कर दिया जाय। हे करुणा के सागर ! सुनिये ! वास्तविक चन्द्र तो आपका श्रीमुख ही है—यह कहकर उन्हें प्रसन्न करके कहती हैं—मैं कब आपके मुखचन्द्र का दर्शन करूँगी ? इस अभिलाषा में साधकस्वरूप भी स्पष्ट है। इन्हीं दोनों बातों से प्रिय-मुख की वास्तविक चन्द्रता तथा अपनी दर्शनाभिलाषा को सुनाती हुई 'वदनचन्द्र' की विशेषता बताती हैं—प्रसिद्ध चन्द्र को अवास्तविक ठहराने वाला मुख। दूसरी बात यह कि प्रसिद्ध चन्द्र की तो किरणों में ही अमृत है, पर यह मुख तो प्रत्येक क्षण उमड़ती हुई माधुरी इत्यादि विशेषताओं से युक्त है। 'सुधाकर-मुधाकरम्' के स्थान पर कहीं-कहीं 'सुधाकरकरं मुहुः यह पाठ भी मिलता है। तदनुसार अर्थ होगा—अनेक चन्द्रमा जिसकी किरण हैं, अर्थात् वे चन्द्रमा आपके मुख की किरणमात्र हैं 'वदनचन्द्र' में 'चन्द्र' शब्द आल्हादनार्थक 'चदि' धातु से निष्पन्न है (जिसके अनुसार 'चन्द्र' का अर्थ है 'आल्हादन' करने वाला)। यह अर्थ प्रियाजी के मुखचन्द्र के सम्बन्ध में ही सटीक बैठता है। आल्हादक होने ही के कारण श्रीकृष्ण के अतृप्त दोनों नेत्र चकोर की भाँति उसका पान करते हैं। भाव यह है कि कहाँ तो बेचारे प्रसिद्ध चकोर और चन्द्र, और कहाँ प्रस्तुत चकोर-चन्द्र (श्रीकृष्ण और श्रीराधा)! 'हरि' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—सबके मनों को हरण करने वाला। उस प्रकार के हरि भी यहां अतृप्त चकोर बन जाते हैं। कहा भी है—'समस्त गोपरूपी चकोरों के लिये जो चन्द्रमा है वही आपके मुखचन्द्र का चकोर है।" हरिण के चिन्ह से लाञ्छित चन्द्रमा ने चकोरों के अनन्त मनों को छीनकर अपने में रख लिया है। तो जितने चकोरों के मन का उसने हरण किया है उतनी ही प्यास इस श्रीकृष्ण में है। 'द्वयचकोर' में द्वित्व के विशेष कथन से यह कटाक्ष किया गया है कि देखो, प्रियतम से

काग्रता ! लोकेऽपि पेयपानमेकपात्रेण करोति। अयं तु द्वयेन युगपत् पिबतीति। कटाक्षः अतृप्ताधिक्यसूचकः। प्रसिद्धचकोरस्तु मिथो भाव-शून्यावलोकनमात्रकारी। अयं तु तद्भावस्मिताकूतानन्दं पिबति। 'पातुं योग्यः 'पेयः' इति निरुक्त्या तदभिलाषयथेष्टभावानुबन्धं व्यनक्ति।

नन्वेवमतृप्तपात्रद्वयपाने व्ययश्चेत्तत्राह—प्रतिपदं प्रतिक्षणं वा प्रति-किरणं स्फुरन्त्याः प्रकाशमानायास्त्रिकालाबाधितत्वात् सदैकरसाया माधुर्याः प्रियतोद्दीप्तेर्धुरीणा धारका या चन्द्रिका तस्या जलधिरगाध-सघनत्वसाम्यात्, तेन तुन्दिलं पुष्टं घनीभूतम्। सिन्धुमध्यस्थस्य यथा अपारावारः सिन्धुरेवोज्जृम्भितो दृश्यते, नत्वन्यत्, एवं त्वन्मुखचन्द्रिका-जलधिरेव दृश्यते। प्रतिपदमाधुरीपानस्य प्रियहृदयमेव साक्षि, किं वा त्वत्कृपास्पदाया मम चेति। यथा नायं तृप्तस्तथा त्वमपि माधुरीजलधि-कारणमेव।

रसकलश

कितनी एकाग्रता है। संसारी लोग एक पात्र से ही पेय पदार्थ को पीते हैं, पर यह तो एक साथ दो नेत्रों से पीते हैं। इससे अतृप्ति की अधिकता प्रदर्शित की है। प्रसिद्ध चकोर तो केवल टकटकी लगाता है, उसके देखने में कोई भाव निहित नहीं होता और न उधर चन्द्रमा में ही कृपा जैसा कोई भाव रहता है। परन्तु यह श्रीकृष्ण चकोर तो प्रियाजी की भावपूर्ण मुस्कराहट में निहित गूढ़ार्थ के आनन्द का पान करते हैं और स्वयं श्रीराधिका भी। 'पेय' शब्द का निर्वचनानुसार अर्थ है 'पीने के योग्य'। इससे प्रिय के अभिलाषानिष्ठ प्रेम की प्रचुर परंपरा व्यंजित होती है।

यहाँ शंका उठती है कि प्यासा यदि दो पात्रों में पेय पदार्थ को भर-भर कर पियेगा, तो वह ज्यादा खर्च हो जायगा। इस पर कहते हैं—'प्रतिपदस्फुरन्माधुरी' इत्यादि। प्रतिक्षण या प्रत्येक किरण से फूटती अर्थात् प्रकाशित होती हुई और तीनों कालों में अबाधित होने के कारण, समान रस की अवस्था में रहने वाली माधुरी को धारण करने वाली—क्योंकि वह प्रियतम के भाव को उद्दीप्त करती है—जो चांदनी, उसके समुद्र से प्रियाजी का मुखचन्द्र पुष्ट अर्थात् घनीभूत है। समुद्र के बीचों-बीच स्थित व्यक्ति को अपने चारों ओर बिना कूल-कगार का समुद्र ही दहाड़ें मारता हुआ दिखता है, अन्य कोई चीज नहीं। इसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र को आपके (श्रीराधा के) मुखचन्द्र की चांदनी का सिन्धु ही दिखाई देता है। प्रियतम ही जानते हैं कि प्रत्येक क्षण माधुरी का पान कैसे किया जाता है, या फिर जानता है आपकी कृपाकापात्र मेरा हृदय। जैसे यह प्रियतम कभी तृप्त नहीं होते, वैसे ही माधुर्य-सागर का कारण आप भी हैं।

एवं चकोरविलक्षणपेयधर्ममुक्त्वा सिन्धूज्जृम्भणवैलक्षण्यमाह—रसाम्बुधिः समुन्नत उद्गतो यस्मात्। पश्य, प्रियहृदयेङ्गितम्! किमास्वाद्य शृंगाररसानन्दसिन्धुः सम्यगिति क्रमेण रासावलोकपर्यायेणोद्गतो वर्तते। यावत् पिबति तावानेवानन्तगुणितो वर्द्धते। प्रसिद्धसिन्धुस्तु वर्धमानोऽपि चन्द्रं न स्पृशति अस्माच्छङ्के त्वामप्लावयेदिति। अधुना त्वच्छङ्कितः पानमेव करोति, सिन्धुरप्यस्य हृदये गर्जति, ततो भवत्यैव समाधेयमिति भावः।

अथवा समुद्रोद्भवतामाह—'रसाम्बुधेः समुद्गतम्' इति। रससिन्धुसारामृतमित्यर्थः। धन्यौ चकोरौ ययोरिदं पेयमिति। किं वच्मि भोक्तृभाग्यमहिमानमिति भावः। समित्युपसर्गेणोन्नतशब्दस्य उद्गमनार्थः क्रियते ॥१६१॥

एवं द्वाभ्यां मुखवर्णनेन प्रियसान्निध्ये प्रियाद्रुतिकरणेन तत्साहाय्यार्थं तदेकदृष्टित्वलालसातिशयं दर्शयित्वानन्तरकेल्यानन्ददानानुग्रहार्थं यशस्विस्वरूपतां वर्णयन्ती स्वाभिलाषमाह—

रसकलश

इस प्रकार चकोर के विचित्र पीने के धर्म (आदत) को बताकर समुद्र के उमड़ने की विशेषता बताते हुए कहते हैं—रस-समुद्र श्रीराधा के मुखचन्द्र से पैदा हुआ है। प्रियतम के हृदय की भावना को देखो, किस प्रकार आस्वादनीय (मधुर) शृंगार रस के आनन्द का समुद्र, रास करती हुई प्रियाजी की शोभा को तथा उनके मुखचन्द्र की माधुरी को (स्वतंत्र रूप) में देखकर, क्रम-क्रम से उमड़ा है। श्रीकृष्ण जितना ही उसकी रूप माधुरी का पान करते हैं, उतना ही असंख्य गुना वह बढ़ता है। साधारण समुद्र तो उमड़ कर बढ़ने पर भी चन्द्रमा को नहीं छूता, अतः मुझे शंका यह है कि वह आपको (श्रीराधा) को भी तैरा न दे। अभी तो आप से डरकर वे केवल पीते ही हैं। इनके हृदय में भी समुद्र गरज रहा है, अतः यह सब आपको ही संभालना है, यह भाव है।

अथवा 'रसाम्बुधिसमुद्गतम्' का यह अर्थ लगाया जा सकता है कि रस समुद्र से पैदा हुआ (मुख+चन्द्र), यानी रस-समुद्र का सारभूत अमृत। वे दोनों चकोर धन्य हैं जो इसे पीते हैं। उसका भोग करने वाले (श्रीकृष्ण) की महिमा का क्या वर्णन करूँ! 'समुन्नतम्' में 'सम्' उपसर्ग के संयोग से 'उन्नत' का अर्थ बाहर निकलना किया गया है ॥१६१॥

इस प्रकार दो श्लोकों द्वारा प्रियतम की उपस्थिति में ही प्रियाजी के मुख का वर्णन कर, प्रियाजी के हृदय को द्रवित करने के उद्देश्य से, पहले यह बतलाकर कि प्रियतम एकटक उनकी ओर ही निहारते रहते हैं तथा उनकी संगमलालसा अत्यन्त

अंगप्रत्यंगरिंगन्मधुरतरमहाकीर्तिपीयूषसिन्धो-
रिन्दोः कोटीर्विनिन्दद्वदनमतिमदालोलनेत्रं दधत्याः ।
राधायाः सौकुमार्याद्भुतललिततनोः केलिकल्लोलि-
नीनामानन्दस्यन्दिनीनां प्रणयरसमयान् किं विगाहे
प्रवाहान् ।।१६२।।

अहं प्रस्तुताभिलाषवती राधायाः निजसखीवागनुल्लंघनसख्यरसायाः सिन्धुरूपायाः केलीति 'महत्सूल्लोलकल्लोलौ' इत्यमरः, विविधप्रेमोच्छलन प्राप्तमहत्वतरङ्गवन्नदीनां केलिरूपाणां प्रवाहान् किं विगाहे । 'किम्' इति हर्षेण प्रेमवैचित्र्यज्ञापकम् । कीदृशान्? प्रणयो मिथोऽनुरागः, रसो दम्पतिस्मरविहारो रस्यमानपदार्थस्तन्मयानिति । प्रेममूर्तेःक्रीडास्तन्मटयेवेति किं चित्रम् । स्वरूपार्थेमयट्, प्राचुर्याद्यपि यथा सहृदयसमर्थनीयम् ।

रसकलश

प्रबल है, बाद में विहार-क्रीड़ा का आनन्द प्रदान कर उन्हें अनुगृहीत करने के लिए प्रियाजी के यशस्वी स्वरूप का वर्णन करती हुई श्रीहितसखी, साथ ही में, अपनी अभिलाषा भी प्रकट करती हुई कहती हैं—

'जिनके अंग-प्रत्यंग से अत्यन्त मधुर, विशाल कीर्ति के अमृत-समुद्र चलते रहते हैं, जो करोड़ों चन्द्रमाओं का तिरस्कार करने वाले अपने श्रीमुख पर मद-भरे चंचल नेत्र धारण किये हुए हैं, जिनका शरीर सुकुमारता के कारण आश्चर्यजनक रूप से सुन्दर है, ऐसी श्रीराधा की विलासरूपी नदियों की, आनन्द को प्रवाहित करने-वाली तथा प्रेमरस से परिपूर्ण धाराओं में कब स्नान करूंगी ? ।।१६।।

प्रसंगागत अभिलाषा से युक्त मैं (श्रीहितसखी) सख्य रस के कारण अपनी सखियों की प्रार्थना को कभी अस्वीकार न करने वाली समुद्र रूपी श्रीराधा की विहार-केलि रूप नदियों में (क्या कभी अवगाहन करूंगी ?) 'केलिकल्लोलिनीनाम्' की व्याख्या करते हैं —अमर कोष के अनुसार 'कल्लोल' बड़ी-बड़ी तरंगों को कहते हैं। प्रेम की विविध उमंगों के कारण तरंगें महत्वपूर्ण हो उठी हैं। इन विशाल तरंगों से युक्त नदियों की केलिरूप धाराओं में क्या कभी स्नान करूंगी। 'किम्' (क्या) से प्रेम की रंगीली प्रकृति सूचित होती है। 'प्रवाहान्' का विशेषण देते हैं—प्रणय अर्थात् पारस्परिक अनुराग, 'रस' से अभिप्राय उस पदार्थ का है जिसका युगलस्वरूप की काम-केली के प्रसंग में चर्वण कर आस्वाद किया जाता है। इस प्रकार केली रूप नदियों के प्रवाह रसमय हैं। ऐसे में प्रेममूर्ति दम्पती की क्रीड़ा भी रसमयी हो, तो क्या आश्चर्य है ? 'रसमय' शब्द स्वरूपाथ में 'मयट्' प्रत्यय लगाकर बना है। प्रचुरता (आधिक्य) के अर्थ में भी यह प्रत्यय होता है। सहृदय अपनी भावनानुसार कोई अर्थ लगा लें।

एवं नीरस्वरूपं निर्वर्ण्यनिर्झरस्वरूपमाह—कीदृशीनाम् ? आनन्दं प्रियसखीहृदयानारभ्य सकलवृन्दावनस्थिरचरेषु स्यन्दितुं शीलं यासां तासामिति । यथा च शतके परस्परावगाहवश्लोकः—

श्यामानन्दरसैकसिन्धुबुडितां वृन्दावनाधीश्वरीं,
तत्स्वानन्दरसाम्बुधौ निरवधौ मग्नं च तच्छ्यामलम् ।
तादृक्प्राणपरार्द्धवल्लभयुगक्रीडावलोकोन्मदा-
नन्दैकाब्धिरसभ्रमत्तनुधियो ध्यायामि तास्तत्पराः ।।८२।।

केलिकर्त्र्याः स्वरूपमाह । कीदृश्याः ! 'अङ्गे'ति । अङ्गानिकरचरणादीनि, प्रत्यङ्गानि तेषामपि सूक्ष्मप्रदेशपूर्वापरोर्द्ध्वाधोविभागानि, तेषु सर्वतः शिखनख पर्यन्तेषु प्रतिरोमस्वित्यर्थः, रिङ्गन्तः, स्वेच्छया लाल्यमानतया प्रचरन्तः खेलन्तः प्रवहन्त इति यावत् 'मधुरतरे'ति महामधुररसविशिष्टाः, केवलमाधुर्यमया महाकीर्तिपीयूषानां सिन्धवो यस्यामिति ।

रसकलश

इस प्रकार जल के स्वरूप का वर्णन करने के उपरान्त नदियों के स्वरूप का वर्णन करने के लिये विशेषण देते हैं—'आनन्दस्यन्दिनीनाम्।' प्रिय सखियों के हृदयों से लेकर वृन्दावन के सब चर-अचर पदार्थों में प्रवहण करने वाली। प्रिया-प्रियतम के पारस्परिक आनन्द में अवगाहन करने का वर्णन निम्नलिखित पद्य में देखिए—

'श्रीकृष्ण के आनन्द रस के अद्वितीय समुद्र में डूबी हुई वृन्दावन की स्वामिनी का, उनके स्वसंपूर्ण आनन्द के अपार समुद्र में मग्न श्यामलविग्रह श्रीकृष्ण का, तथा असंख्य प्राणों के प्यारे दम्पती की क्रीड़ा को देखकर मदभरे आनन्द के अनुपम समुद्र में, रसानुभूति के कारण, जिनके शरीर और बुद्धि भूलते रहते हैं, ऐसी, श्रीराधाकृष्ण की सेवा में तत्पर सखियों का मैं ध्यान करता हूँ।'

केलि करने वाली श्रीराधा के स्वरूप का वर्णन करते हैं—जिसके हाथ-पैर आदि अंगों में तथा आगे-पीछे, ऊपर-नीचे विभागों में विभक्त छोटे-छोटे व सूक्ष्म प्रत्यंगों में—अर्थात् प्रत्येक रोम में महामाधुर्य रस से युक्त, अर्थात् केवल माधुर्य से परिपूर्ण महाकीर्ति रूपी अमृत के समुद्र, लाडले होने के कारण अपनी इच्छा से, चलते रहते हैं, या खेलते रहते हैं, अर्थात् बहते रहते हैं। जिसके अंगों में माधुर्य रूपी यश के समुद्र खुलकर छलकते, उमड़ते रहते हैं, यह अर्थ है। उसके माधुर्य को देखकर सब प्रिय सखियाँ सिर हिला-हिलाकर वाह ! वाह ! कहती हुई और उनके प्राणों की (जीवन की) आरती उतारती हुई प्रशंसा करती हैं। मधुर कीर्ति तो

यदङ्गेषु माधुर्ययशःसिन्धवः सावकाशं प्रोच्छलन्तीत्यर्थः। यन्माधुर्यं दृष्ट्वा सर्वाः सप्रियसख्यः सशिरोधुवनपूर्वकसाधुसाध्विति सप्राणनीराजनं च प्रतिक्षणं प्रशंसन्तीति। मधुरकीर्तिस्तु प्रियेऽपि वर्तते, परन्तु क्वचिदैश्वर्यप्रकाशाद्वा आसक्तपदविषयत्वात् तरत्वं महत्वं नोपपन्नं, ततोऽस्यां महामाधुर्यं, तत एव 'महाकीर्ति'रिति, 'पीयूषे' त्यलुप्तानन्दमहिमत्वम्।

ननु रोमसु वा लघ्वङ्गेषु कथं सिन्धवो रिङ्गन्तीति तत्रैवं ज्ञेयम्। ऐश्वर्यार्थिषु घटत एव सर्वं, परन्तु माधुर्यार्थे दत्तदृष्टयः सख्य एव जानन्ति, माधुर्यलावण्यकीर्तिपारावारराहित्यमेव तत्र वर्तत इति तादृक्प्रत्यङ्गसंघसमुद्रोन्नतो वदनचन्द्रोऽपि तादृगेव वर्ण्यते।

'इन्दोः' इति—'इदि ऐश्वर्ये दीप्तौ च'। तादृक्सकलब्रह्माण्डप्रकाशैश्वर्यस्यापि चन्द्रस्य कोटिरानन्त्यं विशेषेण निन्दत्, स्वमाधुर्यकान्त्या तिरस्कुर्वदिति। तादृशं वदनं दधत्याः। निन्दनमवगणनम्, किमेकमाधुर्य्यकणिका पुरतः ऐश्वर्यानन्त्यमिति विशेषोऽत्र। कोटिचन्द्रवर्णनन्तु प्रिय-

रसकलश

प्रियतम की भी है, परन्तु कभी ऐश्वर्य के प्रकाश के कारण, अथवा 'आसक्त' कहे जाने के कारण उनमें वह गौरव नहीं आ पाता। इसीलिए इन श्रीराधा में महामाधुर्य है और उसीके कारण वे महाकीर्ति से विशिष्ट हैं। कीर्ति को अमृत बताने का तात्पर्य यह है कि उनकी कीर्ति कभी क्षीण नहीं होती।

यदि कोई कहे कि रोमों में या छोटे-छोटे अंगों में समुद्र कैसे लहरा सकते हैं, तो उसका समाधान यह है—ऐश्वर्यपूर्ण व्यक्तियों के सम्बध में तो यह सब ठीक बैठता है, परन्तु माधुर्य की ओर ही जिनकी दृष्टि लगी रहती है, वे सखियां तो भली भांति जानती हैं कि जहां ऐश्वर्य का दौरदौरा है, वहाँ, माधुर्य और लावण्य की कीर्ति का समुद्र नहीं बहता। अतः जिसके अंग-प्रत्यंग के समूहों में उस प्रकार माधुर्य के समुद्र बहते हों उसके मुखचन्द्र का वर्णन भी उसी प्रकार किया जाता है।

ऐश्वर्य और प्रकाशार्थक 'इन्दि' धातु से 'इन्दु' शब्द निष्पन्न हुआ है। चन्द्रमा अपने ऐश्वर्य से समस्त ब्रह्मांड को प्रकाशित करता है, परन्तु श्रीराधा का मुख उस चन्द्रमा की भी अनन्त करोड़ों संख्याओं को निन्दनीय बना देता है, अपने माधुर्य की कान्ति से उनका तिरस्कार कर देता है। ऐसे मुख को धारण करने वाली श्रीराधा के प्रेम रस के प्रवाहों में कब स्नान करूँगी। निन्दा का अर्थ है उपेक्षा। अर्थात् श्रीराधिका के माधुर्य के एक क्षण की भी तुलना में अनन्त ऐश्वर्य नहीं ठहर पाते, यह विशेषता है यहाँ। करोड़ों चन्द्रों द्वारा वर्णन तो प्रियतम के मुख का भी किया जाता है, परन्तु वह भी

मुखेऽपि वर्तते, परन्तु तस्यापि तत्र चकोरायमाणत्वात्। 'वि' इति पदं दधत्या, इति विशिष्यकथनहेतुमाह—कीदृशं वदनम्? अतिमदेनालोले नेत्रे यस्मिस्तत्। रूपादिगुणगर्विताया मदः स्वत एव घटते। तत्रापि प्रियविषयिकस्वानुरागौत्सुक्यमदः। तत्र सख्युक्तचकोरायमाणत्वजसौभाग्य मदानन्तरतदार्तिपोषणहेतुकस्वदानवीरत्वादतिमदः। तेन कृपोज्जृम्भानुन्मानेन लोलत्वमस्थिरत्वं सत्वरतयेति। 'आ' इति समन्तात्। सहृदयमर्मज्ञ-सखीशङ्कया पश्ये, किमद्यैता मद्भावं जानन्तीति लज्जाशीलत्वादिति तादृशं कृपोच्छलनसामयिकं लोलनेत्रमुखं दधत्याः। तदुत्साहस्यापि धारणा-सहत्वसौकुमार्यमाह—सुकुमारशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं सारमार्दवधर्मः, तद्वती तनु-रिति किं वाच्यं तद्रूपयैवेति। 'अद्भुत' इति तत्राप्यनन्यसाधारणरूप-लावण्य कान्त्यादिभावानुभावादिगुणवैशिष्टयात् वैचित्र्यम्। 'ललित' इति

रसकलश

वहाँ चकोर बन कर रहता है। 'वि+निन्दन्' में 'वि' उपसर्ग द्वारा विशेष प्रकार से की गई निन्दा का बोध होता है। मुख के विशेषण द्वारा उसका कारण बताते हैं—प्रियाजी के मुख पर उत्कट मद से चंचल दो नेत्र हैं। रूप आदि गुणों से गर्वीली को वैसे ही मद होता है। उस पर प्रियाजी को तो इस बात का भी अभिमान है कि प्रियतम के प्रति अपने अनुराग के कारण वे उत्कंठित रहती हैं। इसके बाद अपने इस सौभाग्य का मद यह है कि सखियों के कथनानुसार प्रियतम चकोर की भांति उन्हें निहारते रहते हैं। इसका तो उन्हें सबसे अधिक गर्व है कि प्रियतम की (संगमेच्छाजन्य) पीड़ा को दूर करने के लिए अपना अनुग्रह दिखाकर वे दानवीर बन जाती हैं। कृपा की जब उनमें यह बाढ़ आती है, तो इच्छा पूर्ति की जल्दी में उनके नेत्र चंचल या अस्थिर हो जाते हैं। 'आ+लोल' में 'आ' उपसर्ग का अर्थ है—सब तरफ से। कृपा-भाव के उमड़ते समय प्रियाजी सोचती हैं—'देखती हूँ कि ये सखियाँ शायद मेरे हृदय के इतने से भाव को भी समझ लेती हैं,' सो सहृदय और मन की गूढ़ बातों को भांपने वाली सखियों की शंका से भी उनके नेत्र चंचल हो जाते हैं। प्रियाजी इतनी सुकुमार हैं कि मिलन की उत्कंठा को भी वे सहन नहीं कर पातीं। इसी भाव को सूचित करते हुए कहते हैं—'सौकुमार्याद्भुतललिततनोः' 'सुकुमार' शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है उसकी सारभूत कोमलता का भाव ही 'सौकुमार्य' है। इसी सौकुमार्य से ओतप्रोत श्रीराधा का शरीर है, बल्कि तद्रूप है, यह कहना चाहिये। शरीर को अद्भुत इस दृष्टि से कहा गया है कि प्रियाजी का रूप और लावण्य असाधारण हैं और तदनुकूल भाव, अनुभाव आदि गुणों से विशिष्ट होने के कारण उसमें एक प्रकार की विचित्रता आ गई है। 'ललित' का अर्थ है अत्यन्त रमणीय, न कि केवल आश्चर्यजनक। ऐसा है प्रियाजी का

महामनोहरा, नच केवलविस्मयोत्पादकतैवेति तादृशी तनुर्यस्याः। 'अद्-भुत' इति तदानीमुत्साहासहनेन पुलकवत्वं, ततः प्रियमिलनसान्निध्यात् 'लल् विलासे' इत्यनेन विलासवत्वं तनोरितिप्रियाङ्कभुजगतपरिरंभ भावनया तन्वंगीत्वं व्यंग्यम्। ततः केलिकल्लोलाजाताः। प्रतिकेलिसुखपारम्पर्यानन्त्यान्नदीत्वं केलीनाम्। तत्रानन्दश्रवस्तूक्तमेव। प्रणयत्वेन तत्सुखमयत्वं केलीनाम्। 'रस' इति तत्संयोगानन्दे विगलितवेद्येतरता, इति। एवं प्रवाहान् कदावगाहनं करोमीति विज्ञप्तौ कृतायामेव श्रीमत्याः केलिकल्लोलिन्यः प्रवर्तिता एवेति ज्ञेयम्। तदुन्मज्योन्मज्यैव प्रेमहर्षवैचित्र्येन किमिति वदति हितसखीति ज्ञेयम्। पूर्वपद्ये चन्द्रत्ववर्णनं प्रियविज्ञप्ते समुत्साहवर्धनमयम्। इदानी चानुगृह्यमाणसामयिकमिति भेदः ॥१६२॥

एवमभिलाषोपदेशेन बोभूयमानकेलिं निर्वण्य कुञ्जरन्ध्रानु कलितरसा-

रसकलश

शरीर। 'अद्‌भुत' की एक व्यंजना यह भी है कि उस समय संगम की उत्कंठा को न सह सकने के कारण रोमोद्‌गम हो गया और तब मिलन के निकट होने के विचार से शरीर में विलास-भावनायें भर गईं। विलासार्थक 'लल्' धातु से 'ललित' शब्द बना है और तदनुसार ही 'ललित' से यहाँ विलास की व्यंजना होती है। 'तनु' शब्द से पतले, छरहरे शरीर की भी व्यंजना निकलती है, क्योंकि आलिंगन में प्रियतम की भुजाओं में बंधने के लिए तन्वंगी होना जरूरी है। इसके बाद उठी केलि की तरंगें। प्रत्येक केलि में सुख की अनन्त परंपराएँ चलती थीं, अतः इन केलियों को रूप दिया गया नदियों का। आनन्द से सुनने की बात तो कही जा चुकी ही है। केलियों के प्रेमपूर्ण होने से वे सुखमय हैं। 'रस' का तात्पर्य यह है कि मिलन के आनन्द में प्रियाजी को अन्य किसी विषय का ज्ञान नहीं रहा। इस प्रकार के प्रवाहों में मैं कब अवगाहन करूँगी। श्री हितसखी के इस प्रकार निवेदन करने पर श्रीमती की केलि की नदियां प्रारंभ हो गई, यह ज्ञातव्य है। उन नदियों में बार-बार डूबते-उतराते हुए प्रेम और हर्ष के जो भाव उठे उन्हें ध्यान में रखकर श्रीहितसखी ने 'किम्' (क्या) यह कहा है। पूर्व पद्य में प्रियाजी के मुख का चन्द्रमा के रूप में वर्णन इस दृष्टि से किया गया है कि अपनी प्रार्थना करने के लिए प्रिय का उत्साह और भी बढ़े। प्रस्तुत पद्य में मुख को चन्द्रमा कहकर वर्णन उस समय का है जबकि प्रियाजी प्रियतम को अनुगृहीत करने जा रही हैं। यही भेद है ॥१६२॥

इस प्रकार अभिलाषा के बहाने से बार-बार अनुभव की गई केलि का वर्णन करके निकुंज के लतापत्तों के छेदों में से देखी गई केलि के रस-प्रवाह में स्नान करने तथा डुबकियाँ लेने के कारण श्रीहितसखी अपने आपे में नहीं रहीं, अतः वहाँ से उठ आईं। प्रातः काल होने पर उन्होंने सुना कि कुछ तोते प्रिया-प्रियतम के पारस्परिक

वगाहनमज्जनवैवश्यादुत्थाय प्रातः किञ्चित् परस्परपरिहाससूचककीरोक्ति श्रवणानन्दमाह—

मत्कण्ठे किं नखरशिखया दैत्यराजोऽस्मि नाहं,
मैवं पीडां कुरु कुचतटे पूतना नाहमस्मि ।
इत्थं कीरैरनुकृतवचः प्रेयसा संगतायाः
प्रातः श्रोष्ये तव सखि कदा केलिकुञ्जे मृजन्ती ।
।।१६३।।

अत्र कैश्चिद्रसिकै दैत्यराजपूतनानामकार्कश्यं तादृशरहोविलाससमयानर्हमित्युच्यते । तत्र किञ्चिद्यथामति समाधीयते स्थितस्य गतिश्चिन्तनीयेति । किञ्च

साधारणकवीनाञ्च वागर्थमनुधावति ।[1]
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ।।

रसकलश

हास-विलास को लेकर कुछ कह रहे हैं, तो उन्हें बड़ा आनन्द हुआ । उसी आनन्द का वर्णन करती हुई कहती हैं—

"(प्रिया जी श्रीकृष्ण से कहती हैं) 'मेरे गले में नाखूनों के अग्रभाग को गड़ाने से क्या फायदा ? आपने क्या मुझे दैत्यराज (तृणावर्त) समझ रक्खा है ? मेरे स्तनों को इस प्रकार मत दुखाइए, मैं पूतना तो नहीं हूँ' । प्रिय के साथ सुरत-संगम में लीन आपके, तोतों द्वारा ज्यों के त्यों दुहराये गये, इन वाक्यों को प्रातः केलि कुंज को बुहारती हुई मैं कब सुनूंगी ?"

यहाँ पर कुछ रसिकों को यह आपत्ति है कि दैत्यराज और पूतना के कठोर नाम लेना उस प्रकार के एकान्त विलास के समय को देखते हुए, अनुपयुक्त हैं । इस आपत्ति का अपनी बुद्धि के अनुसार समाधान किया जाता है । जो कुछ लिखा या कहा जा चुका है उसका समर्थन कैसे किया जाय, यह सोचना चाहिये । दूसरी बात यह कि—

'साधारण कवियों की वाणी अर्थ के अनुसार चलती है, किन्तु प्राचीन ऋषियों की वाणी के अनुसार अर्थ लगाया जाता है ।'

अतः साधक जनों को महापुरुषों के वचनों में इसलिये दोष नहीं निकालना चाहिये कि उन्हें अपने अनुभव के अर्थ की संगति बिठाने की युक्ति

१. रसकुल्याकि प्रस्तुत पांडुलिपि में यही पाठ है । किन्तु उत्तर रामचरित के इस श्लोक के पूर्वार्ध का शुद्ध पाठ है—

'लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुगच्छति' —सम्पादक

इति साधकजनैर्महद्वचस्तु स्वानुभवयुक्त्यलाभासंतोषान्न दूषणीयम्, स्वाज्ञानमेव पर्यवसायितव्यं तत्कृपा च माननीया, तया सर्वं सेत्स्यतीति। किञ्च पूर्वैस्तु 'यदंघ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया' इति स्वानन्दानुभवेन यथारुच्युक्तं तद्युक्तमेव। संशय निरासो यथा—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इति। यथा च 'ब्रह्मा नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुद्ध्य तुष्टात्' इति, 'मुह्यन्ति यत् सूरयः' इत्यादिना तत्कृपैव मननीया, भक्तभगवतोरेकरूपत्वात्, इत्यलं विस्तरेण।

प्रस्तुतमाह—मुख्यं तु तत्समये नखदाननैर्घृण्यं दैत्यारिनाम्ना द्योत्यते, अत एकदेशग्रहणे तात्पर्यं न तु सर्वांशे, तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्वादुपमानस्य, इत्यालंकारिकाः। यथा 'परमसुकुमार्यास्तडिच्छविः' रित्यत्र कथं वज्रोपमा घटते 'गिरीन्द्रस्तनी' इत्यत्र तादृङ्माधुर्यरूपे गिरिधारणं च रोमाञ्च करे च खरनालकोपमानञ्च। इत्येषु यद्यत्रोच्यते चाञ्चल्यस्फुरणमौन्नत्य परमोत्थानाद्येकदेशएव कविभिर्गृह्यते, तदात्र किन्न गृह्यते?

रसकलश

नहीं मिली और संतोष नहीं हुआ। अन्त में, न समझ सकने का कारण अपना अज्ञान ही मानना चाहिये और ईश्वर की कृपा पर ही भरोसा रखना चाहिये। इससे सब ठीक हो जायगा। पूर्ववर्ती विद्वानों ने यदंध्र्यनुध्यानसमाधिधौतया'—इस पद्य में अपने आनन्द के अनुभव के आधार पर कहा है कि कविगण अपनी रुचि के अनुसार उस आत्मतत्व (हित-तत्व) का वर्णन करते हैं, सो उचित ही है। सन्देह का तो निराकरण कर देना ही ठीक है। कहा भी है—'उस परम तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की गाँठ खुल जाती हैं, सब सन्देह मिट जाते हैं, और कर्म क्षीण हो जाते हैं।' और यह भी कि 'उस परम तत्व को समझने में विद्वान् भी मोहग्रस्त हो जाते हैं।' इन उक्तियों से यही निष्कर्ष निकलता है कि उसकी कृपा का ही आश्रय लेना चाहिये, भक्त और भगवान् दोनों एकरूप हैं। अब इस विषय पर अधिक विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं।

अब विषय पर आते हैं। मुख्य आपत्ति तो यह है कि दैत्यराज और पूतना का नाम लेने से यह सूचित होता है कि उस समय बड़ी ही निर्दयतापूर्वक नखाघात किया जा रहा था, परन्तु यहाँ दैत्यराज अथवा पूतना से सबन्धित घटना के एक अंश से ही तात्पर्य है, न कि पूरी कथा से। अलंकार-शास्त्रियों के अनुसार उपमान उपमेय से भिन्न भी होता है और उपमेय के धर्म (विशेषताएँ) भी उसमें होती हैं। उदाहरणार्थ 'परम सुकुमारी की बिजली-जैसी शोभा,' इस उक्ति में सुकुमारी की वज्र के साथ उपमा

यथा च सौरतवीरत्ववर्णने नख कटाक्षादयः शरा इत्यनेन शरनाममात्रेणैव दूष्यते, तत्तु न घटते। एवं हास्यैकयुक्तिलब्धदैत्यनाम्ना न तत्पूर्वापर-समाख्यायिका ग्राह्या आदितो, विवेकिभिस्तत्र तत्रैकदेश एव गृह्यते इति। ग्रहणे च अन्धवकन्यायेन दुग्धोऽपि प्रत्याख्याय्यते। तत्रापि रसवर्णने यद्येवं कविभिः कार्कश्यं न विचार्यते, तदा परिहासवाक्ये तु यथेष्टं घटते। असंबद्धोक्तिप्राखर्यान्यथा हास्यानुपपत्तेः। यदि व्रजलीलासंबन्धोऽपि न मन्यते तदादित एव ग्रन्थो दुष्येत। श्रीवृषभानुनन्दिनीनन्दनन्दननामादि कथ-मुच्यते? अतो रसिकैः रसोद्भटभावनया स्वरूपान्तरं, प्रकाशान्तरं, स्वभावान्तरं, समयान्तरं वा मन्यतां, परन्तु सर्वथा प्रकट-लीलासंबन्धाभावस्त्वघिटित एव। तत्रापि तत्तल्लीलास्मृतिज्ञानमपि तयोर्नास्तीत्येदप्यधिगतम्। ननु विहारावस्थाविरामे भवतु न च रसानन्दे, चेत्तत्रैवं ज्ञेयम्। तयोर्विलासः शुद्धप्रेमरसमय एव, परन्तु पूर्वापरविभाग

रसकलश

की संगति कैसे बैठेगी? इसी प्रकार 'गिरीन्द्रस्तनी' (पर्वत के समान स्तनवाली) इस उपमा में एक सुकुमारी का अपने माधुर्य्यपूर्ण शरीर पर पर्वतों को ढोते हुए फिरना, अथवा रोमाँचयुक्त हाथ की कंटकित कमल-नाल से उपमा देना कैसे संगत होगा? इसका उत्तर यही दिया जायगा कि प्रथम उदाहरण में बिजली से उपमा नायिका की चंचल छटा को, दूसरे में स्तनों के उभार को तथा तीसरे में रोमांचों के खड़ा रहने को सूचित करने के लिये दी गई है। यदि उक्त उदाहरणों में कवि का तात्पर्य उपमानगत किसी एक अंश (गुण) से है, तो प्रस्तुत में भी वैसा क्यों न मान लिया जाय? पुरुषा-यित सुरत-वर्णन में नख, कटाक्ष आदि का बाणों के रूप में वर्णन किया जाता है। वहाँ 'बाण' का नाम लेना ही दोष है, यह बात तो जँचती नहीं। इसी प्रकार परिहास के प्रसंग में केवल दैत्य का नाम लेने से तत्संबन्धित आगे-पीछे की सारी कहानी को नहीं घसीटना चाहिये। विचारशील व्यक्ति ऐसे स्थलों पर घटना या वस्तुस्थिति के किसी एक अंग को ही लेते हैं। इसके विपरीत घटना को यदि सर्वांश में लिया जाय तो, अन्धा बगुला जैसे भ्रम में पड़कर दूध को त्याग देता है, उसी प्रकार जिस गुण को दृष्टि में रखकर उपमा दी गई है, उससे भी हाथ धोना पड़ेगा। फिर रसाधायक प्रसंगों का वर्णन करते समय कविगण यदि उपमानों की कर्कशता का विचार नहीं करते, तो परिहास में कही गई बात का विचार तो सर्वथा करना ही नहीं चाहिए। कोई उक्ति जब तक असंगत न हो और जब तक उसमें मर्मस्पर्शी कठोरता न हो, तब तक हास्य पैदा ही नहीं होता। यदि कहा जाय कि कुंज केलि के वर्णन में श्रीकृष्ण द्वारा की गई

आरम्भितलीलायां भवत्येव तत्राभिलाषसंगमास्वादानन्दमग्नतेत्यवस्थाच-तुष्टयम् । अत्र कामप्रेमरसविगलितवेद्यान्तरत्वाख्यानि क्रमेण ज्ञेयानि । तत्र संगमे तु वार्तावैचित्र्यमपि घटते, आस्वादे च वार्तानवकाशेऽपि किञ्चिन्भणिताद्यवकाशो वा भोक्तृभोग्यस्मृतिरपि स्यात् । वैवश्ये तु न स्मृत्यन्तरावकाशः । इति स्थिते यदा च 'मत्कण्ठे'ति, 'नाह'मितियुष्मदस्म त्प्रयोगावकाशान्नात्र विगलितवेद्यान्तरावस्थत्वम् अत्र संगमपदेन संभोगः ।

अनुरक्तौ निषेवेतां यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।
दर्शनस्पर्शनादीनि संभोगोऽयमुदाहृतः ॥

इत्यत्र आदिशब्दात् वचनादीन्यपि ग्राह्याणि । अतिसंगमानन्दे नखदानेन कादाचित्कव्रजलीलानुभूततृणावर्तविषयक निजकृतनखदानमात्रैक देशस्मृत्या

रसकलश

व्रज लीलाओं का सम्बन्ध ही हम नहीं मानते, तब तो यह ग्रन्थ प्रारंभ से ही दोषग्रस्त कहा जायगा । यदि व्रजलीला से कोई सम्बन्ध ही नहीं है,तो निभृत विलास के प्रसंग में श्रीवृषभानुनन्दिनी, नन्दनन्दन आदि नाम क्यों लिये जाते हैं ? अतः रसिकजन (अनन्योपासक) अपनी तीव्र रस-भावना के अनुसार भले ही यह मानते रहें कि रहस्य-केलि करने वाले प्रिया-प्रियतम का स्वरूप व्रजलीला के कर्णधार श्रीकृष्ण-राधा से भिन्न है, यह कि उनका प्रकाश ऐश्वर्यात्मक था, इनका शुद्ध रसात्मक, कि दोनों को चारि-त्रिक विशेषताओं में अन्तर है, और यह कि व्रज और महाभारत वाले श्रीकृष्ण का समय तो द्वापर के अन्त में समाप्त हो गया, जबकि निकुंज-लीला त्रिकालाबाधित है—यह सब वे माना करें, परन्तु एतावतापि यह कहना कि व्रजलीला से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, तथ्य का अपलाप मात्र है । यह कहना भी ठीक नहीं है कि प्रिया-प्रियतम को व्रजलीला की स्मृति भी नहीं रहती । इस पर यह कहा जा सकता है कि विहार-प्रसंग समाप्त हो जाने पर उन्हें व्रजलीलाओं की स्मृति भले ही हो जाय, पर रसमग्न होने की स्थिति में तो यह संभव नहीं है । इसका उत्तर यह है कि प्रिया-प्रियतम का विलास शुद्ध रूप से रसप्रधान ही है, परन्तु निकुंजलीला की भी तो कई अवस्थायें हैं, जैसे—भूमिका, प्रारंभ, मध्य और अन्त । इनमें क्रमशः अभिलाषा, संगम, आस्वाद और आनन्दमग्नता—ये चार स्थितियां रहती हैं । काम, प्रेम, रस और आत्म-विस्मृति, इनके क्रमशः नाम हैं । संगम-दशा में विचित्र प्रकार की बातें भी संभव हैं । आस्वाद की दशा में वार्तालाप के लिये अवकाश न रहने पर भी कुछ कहने की जगह तो रहती ही है और भोक्ता-भोग्य का ज्ञान भी रहता है । आत्म-विस्मृति की विवशतापूर्ण स्थिति

मनसि हासोच्छलनानिरोधात् तस्या वीरायितविहारात् कृष्णत्वमुद्दिश्य स्वस्य दैत्यराजत्वाभावोक्तिः। यथा गीतगोविन्दे—

'प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग क्रुधा किमु धावसि।' इति।

तथैव प्रिययापि पूर्वतत्कृतस्वकुचनखदानं स्मृत्वा वैदग्ध्येन 'शठं प्रति शठं कुर्यात् चादरं प्रति चादरम्' इति न्यायवत् तादृशसमयुक्तिलब्धेन तस्यैव बाल्यशिक्षितनैर्घृण्यसूचक कटाक्षेण 'पूतना नाह' मित्युक्तिः, अन्यथा मार्दवोक्तौ मृदूक्तिरभविष्यत्, मैत्रीपरिहासविवादादिचारुत्वे साम्यान्यथानुपपत्तेः।

ततः परं मिथो हास्यानन्दो जात इति। तच्छ्रुत्वैव निपुणशुकैः शिक्षितमिति। तच्छ्रुत्वा कीदृगुक्तिविचारकौतुकहास्यानन्दो हितसखी हृदि जात, इत्येवानन्दयितव्यं, न च नाममात्रेण संशयितव्यम्।

रसकलश

में तो किसी अन्य विषय की स्मृति रहती ही नहीं। ऐसी स्थिति में 'मेरे कंठ में नाखून क्यों गड़ाते हो, मैं दैत्यराज तो नहीं हूँ'—इस कथन में 'तू' और 'मैं' के प्रयोग के लिए यदि जगह है, तो स्पष्ट है कि प्रिया-प्रियतम आत्म-विस्मृति की अवस्था में नहीं हैं। उपर्युक्त वर्गीकरण में 'संगम' का अर्थ संभोग है।

'जहाँ परस्पर में अनुराग रखने वाले दो विलासी (स्त्री-पुरुष) दर्शन, स्पर्श आदि का आनन्द लेते हैं, वह संभोग की अवस्था कही जाती है।'

इस परिभाषा के अन्तर्गत 'आदि' शब्द के बल पर बातचीत भी आ जाती है। अतः संगमानन्द में जब (प्रियाजी ने श्रीकृष्ण के गले में) नखाघात किया, तो किसी समय व्रजलीला के प्रसंग में तृणावर्त के गले में नाखून गड़ाकर दमघोंट कर जो उसे मार डाला था, उस घटना के केवल एक अंश (नाखून गड़ाना मात्र) का ही श्रीकृष्ण को स्मरण हो आया। इस पर मन में आई हुई परिहास की भावना को वे न रोक सके और पुरुषायित विहार करती हुई श्रीराधा को कृष्ण मानकर (और अपने को राधिका) उन्होंने कहा—"मैं दैत्यराज तो नहीं हूँ (जो इस तरह नाखून गड़ाते हो। गीतगोविन्द में श्रीराधा की उक्ति है—

'अरे कामदेव! गलती से मुझे शिव समझ कर प्रहार न कर। तू क्रोध से मेरी तरफ क्यों झपटता है?"

श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर प्रियाजी को स्मरण हो आया कि इससे पूर्व भी श्रीकृष्ण ने उनके स्तनों को नखों से क्षत-विक्षत किया था, और तब चतुराई के साथ "शठ के प्रति शठ-जैसा और आदर करने वाले के साथ आदरपूर्ण व्यवहार करना चाहिये", इस रीति के अनुसार उन्हें यह कहना ही युक्तियुक्त जान पड़ा कि "मैं पूतना तो नहीं हूँ।" यह कहकर प्रियाजी ने यह कटाक्ष किया कि आपने बालकपन में ही

अथवा 'गालिगीत परीहासाः संगच्छन्ते स्नुषारसे' इति परिभाषो-पक्षिप्तत्वात् प्रियापक्षस्थाभिः पारिवर्हसंगिनीभिः सख्यहास्यगानप्रखरत-राभिरसंबद्धोक्तिविडम्बनापरिहार्यहोलिकाद्युत्स्वगीते व्रजलीलागतदाक्षिण्यै-कदेशमुद्दिश्यान्यगोपीसंगपरिकल्पितपरस्परोदन्तनिर्बद्धमर्द्धपद्यं गीतं, तदनुकृतं वचः शुकैः शिक्षितम् । वा अन्तर्भूतणिजर्थात्ताभिरनुकारितमि-त्यर्थः । तदेव श्रीमत्यापि हास्येन रतानन्दसमये चोक्तम् । तत्स्मारणात् प्रातश्चटकाद्या रविष्णूषसि समये तदेवोद्घोषितवन्तः कीराः । इत्येवं सखी कृतानुकृतपरम्परोक्तिर्ज्ञेया । अत्र न तावद्दंपत्यनुकृतमिति समाधानं, परकल्पितोक्तित्वादिति पूर्वतो विशेषः ।

रसकलश

(पूतना-वध के प्रसंग में) नखाघात करना सीख लिया था (सो कृपा कर उस शिक्षा का प्रयोग मुझ पर तो मत कीजिये)। ऐसी कठोर बात न कहकर यदि कोई नरम बात प्रियाजी कहतीं, तो वह समय के अनुकूल नहीं होती, क्योंकि मैत्री-संबन्ध में, हास-परिहास में और विवाह आदि में दोनों पक्ष समान न हों, तो बात नहीं बनती ।

इस प्रश्नोत्तर के बाद दोनों ने हास-परिहास का आनन्द लिया । नकल करने में निपुण तोतों ने उस सब वार्तालाप को पकड़ लिया । तोतों द्वारा दुहराई गई उक्तियों को सुनकर और उन पर विचार करके श्रीहितसखी का हृदय जिस प्रकार आनन्दित हुआ उसी प्रकार हमें भी आनन्दित होना चाहिए, न कि दैत्यराज और पूतना के नाम लेने के कारण ही किसी प्रकार का सन्देह करना चाहिये ।

अथवा एक दिन ऐसा हुआ कि 'पुत्र-वधू से संबन्धित विवाहोपरान्त के उत्सवों गाली-गीत, हँसी-मजाक सब अच्छे लगते हैं, इस परिभाषा के अनुसार होली-जैसे किसी त्यौहार पर उपहार लेकर आई हुई प्रियापक्ष की स्त्रियों ने मैत्रीपूर्ण रवैया को अपनाकर गीत ही गीत में कुछ बे लगते, चुभने वाले तथा विडंबनापूर्ण मजाक किये। इन त्यौहारों पर ऐसे गीतों की छूट होती है । इन गीतों में व्रजलीला-सम्बन्धी श्री कृष्ण की उदार भावना के किसी एक अंश को लक्ष्य कर एक ऐसा गीत गढ़ कर उसका पूर्वार्द्ध गाया जिसमें संभोग के सन्दर्भ में, किसी अन्य गोपी के साथ श्री कृष्ण का वार्तालाप उद्धृत किया गया था । उसे तोतों ने सीख लिया, अथवा 'अनुकृतम्' के अन्दर यदि प्रेरणार्थ को निहित मान लिया जाय, तो यूँ समझिये कि गानेवालियों ने तोतों को उसे सिखला दिया । उसे ही श्रीमती ने हँसी-हँसी में संभोगानन्द के समय प्रियतम से कह दिया । प्रातःकाल जब चिड़ियाँ चहचहाने लगती हैं, तो याद दिलाने पर तोतों ने उसे जोर-जोर से कहा । इस प्रकार सखियों द्वारा किये गये अनुकरण की एक लड़ी-सी बँध गई । चूंकि कही गई बात सब मनगढ़न्त थी, अतः यह नहीं समझना चाहिये कि

प्रस्तुतो व्याख्यायते। पूर्वपद्ये 'केलिकल्लोलिनीनाम्' इति बहुत्वादेका नद्यत्र परिहासमय्यपि ज्ञेया। यथोक्तम् 'द्रवकेलिपरीहासाः' इत्यमरेण। तेन केलिशब्देन तव परिहासोऽत्र। तव विविध केलिनदीहेतुभूतप्रत्यङ्ग-माधुर्यसिन्धोः केलिकुञ्जे तादृक्प्राखर्यपरिहासादि प्रकृतिकारयिष्णुलतागृहे। 'मृजन्ती' इत्यत्रान्तर्भावितण्यर्थात् मार्जयन्तीत्यर्थः। तन्मार्जने तत्तदानन्द-प्राप्त्या निजशुद्धि मन्यमाना स्वयं शुद्धयन्तीत्यर्थः। शुद्धिरत्र जालरन्ध्रा-वलोकनानन्दमज्जनप्रेमवैवश्योत्थानानन्तरजतादात्विकलीलावलोकनधनाला-भविषादोपशमककीरोक्तिमयीति। इत्थं पूर्वार्द्धे कीरैरनुकृतवचः प्रातः कदा श्रोष्ये साधकाभिलाषः स्पष्ट एव। स्वयं तु श्रूयमाणैवेति।

'सखी' ति आदित एवागोपनीयरहस्ये कथं तत्तत्केलिज्ञाने मद्वैवश्या-न्तरायं सहसे इति। ननु क्व तेऽवरोधोऽङ्गसंगिन्या, प्रियसख्या स्तत्राह—प्रेय-

---

रसकलश

दंपती के वार्तालाप का ही तोतों ने सीधा अनुकरण किया। इस अर्थ में पहले की अपेक्षा यही भेद है।

अब फिर प्रस्तुत विषय की व्याख्या करते हैं। पूर्व पद्य में केलियों का बहुत-सी नदियों के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है। प्रस्तुत पद्य में भी परिहासपूर्ण एक नदी को बहते हुए समझना चाहिये। अमरकोष के अनुसार 'केलि' शब्द का प्रयोग परिहास के अर्थ में भी होता है। अतः अब अर्थ हुआ—अनेक प्रकार की केलियों के कारण जिसके प्रत्येक अंग में माधुर्य का समुद्र लहराता है ऐसी आपके केलि-कुंज में—अर्थात् उस लतागृह में जो स्वभाव से ही इस प्रकार के तीव्र हास्य-परिहास की सृष्टि करता रहता है—सफाई करती हुई मैं (प्रातःकाल आपके वचनों को कब सुनूंगी)। 'मृजन्ती' में प्रेरणा का अर्थ अन्तर्निहित होने के कारण यह अर्थ भी निकलता है कि कुंजगृह की सफाई करते हुए जो आनन्द मिला था, उसके द्वारा भी हितसखी ने अपने आप को शुद्ध हुआ मान लिया। श्रीहितसखी की आत्म-शुद्धि का प्रकार यह समझना चाहिये कि लता-पत्तों के छेदों में से प्रिया-प्रियतम के केलि-विलास को देखते हुए आनन्द के समुद्र में डूबती-उतराती श्रीहितसखी इतनी प्रेम विवश हो गई कि उन्हें वहां से उठना पड़ा जिसके कारण-तत्कालीन लीला-दर्शन के धन-लाभ से वे वंचित हो गईं। इस वैवश्यजन्य व्यवधान के कारण-उन्हें बड़ा खेद हुआ जोकि, अन्त में, प्रातः काल तोतों की उक्ति सुनकर ही दूर हुआ (और मन में से दुःख का विकार निकल जाने के कारण वह शुद्ध हो गई)। इस प्रकार पद्य के पूर्वार्द्ध में तोतों द्वारा अनुकरण कर कहे गए वार्तालाप को मैं प्रातःकाल होने पर कब सुनूंगी? इसमें साधक की अभिलाषा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। श्रीहितसखी तो सब सुन ही रही थीं।

सास्मत्तोऽपि प्राणप्रेष्ठेन संगताया मिलितायाः । तत्रास्मान् कः स्मरेतेति हितसखी कटाक्षः । इत्थं कथमिति प्रियप्रियावाक्यद्वयमुक्तमेव ।

अथवा-'तवैव वचः' इति पूर्वार्द्धं सर्वमेवेत्यर्थः । प्रियकृतनखदान-प्राखर्ये स्वरसशास्त्रोक्त कलावैदग्ध्याभिमानेन तदवैदग्ध्यं द्योतयन्ती शिक्ष-यन्ती वक्ति—'मत्कण्ठे नखरशिखया किमिति,' न किमपि प्रयोजनम् । 'कथम् ?' इति चेत् 'नाहं दैत्यराजोऽस्मि' । तदा तेन विहस्य नखं कुचे दत्तम् । तत आह—'एवं पीडां कुचतटे मा कुरु' इति । एवं कथमितिचेत् 'नाहं पूतनास्मि' इति अत्र किं व्यक्तं तदुच्यते । प्रणयोपहासगर्भितं भर्त्सनानु-करणं दैत्यपूतनेति कठोरं वाक्यम् । प्रणयस्तु स्थाय्येव । उपहासो कौशल-ज्ञापकः । यथा—

अकोविदाः कोविदवादवादान् वदन्त्यथो नतिविदां वरिष्ठाः ।
न सूरयो हि व्यवहारमेनं तत्वावमर्शेण सहामनन्ति ॥

रसकलश

'सखि' संबोधन से श्रीहितसखी का यह उलाहना व्यक्त होता है कि आप तो प्रारंभ से ही मुझ से कुछ छिपाकर नहीं रखतीं, फिर आपको यह कैसे सहन होता है कि अपनी बेबसी के कारण आपके केलि-दर्शन में मुझे बाधा पड़े । यहाँ पर पूछा जा सकता है कि श्रीराधा तो आपकी अभिन्न सखी हैं, फिर आपके केलि-दर्शन में रुकावट कैसी ? इस पर श्रीहितसखी कटाक्ष करती हुई कहती हैं कि प्रियतम तो प्रियाजी को हमसे कहीं अधिक प्यारे हैं । उनके साथ संगम होने की अवस्था में हमारी कौन याद रक्खे ? यह कैसे संभव है, इसके उत्तर में प्रिया और प्रियतम के बीच वार्तालाप के दो वाक्य बता ही दिये हैं । (तात्पर्य यह है कि सुरत-प्रसंग में जब इस प्रकार का वार्तालाप चल रहा हो, तो अन्य सब विषयों की स्मृति लुप्त हो जाती है अतः श्रीहितसखी का उलाहना अपनी ठीक जगह पर है ।)

अथवा पद्य का पूरा पूर्वार्द्ध श्रीराधा की ही उक्ति है । प्रियाजी को तो रसशास्त्र में प्रतिपादित काम-कला के अपने ज्ञान के कारण अपनी चातुरी का अभिमान है जिसके आधार पर प्रियतम के द्वारा कठोर नखाघात करना विदग्धता का द्योतक नहीं है । इसी बात को जताकर मानों शिक्षा देती हुई प्रियाजी कहती हैं—"मैं दैत्यराज नहीं हूँ ।" इस पर प्रियतम हँस देते है और फिर कुचों पर नखाघात करते हैं। इस पर प्रियाजी कहती हैं– "मैं पूतना तो नहीं हूँ ।"इससे जो व्यंजना निकलती है उसे बताते हैं । दैत्य-पूतना वाला वाक्य दर असल कठोर है, पर उसमें प्रेम-भरा उपहास और हल्की फटकार-जैसा कोई भाव छिपा है । इसका प्रेम-संबन्ध पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह तो स्थायी तत्त्व है । हाँ, उपहास द्वारा प्रियाजी की विदग्धता जरूर सिद्ध होती है । कहा भी है—

'अल्पज्ञ लोग पंडितों-जैसी बात बघारते हैं, किन्तु शास्त्र में पारंगत लोग ऐसा नहीं करते । विद्वान् पुरुष तत्व पर विचार-विमर्श करते समय इस प्रकार के व्यवहार

इतिवत् कथनभङ्गी । यथा च 'पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ', इत्यकौशलत्वं, तथात्र तावत्तत्तद्रसक्रियेच्छुना तत्तदाचार्यैः शिक्षयित्वैव कार्यम् । ननु कथं न जानामीतिचेत् तत्र साधुज्ञातं, सत्यमिति सोत्प्रासभङ्गिकमनसाह— 'यावत् सर्वव्रजलीलासु नखदानशिक्षणं द्विस्थल एव कृतं मया संख्यया तोलितम् । एकं तृणावर्तगले, तत्पूर्वमपरं पूतनास्तने, इति ।' 'भवानपि स्पष्टं विज्ञोऽस्ति, धन्यो नखदानरसिकोऽस्ति । कथं तदभ्यासबलेनात्र रसयते ?' इति सूक्ष्ममनोगतध्वनिर्नामिद्वये च द्योत्यते । न चात्र दैत्यपूतनात्वज्ञानपूर्विकोक्तिः, यत्कार्यस्य पूर्वं यत्संबन्धि तदेवानूद्यते, न च तत्त्यक्त्वान्यदसंबद्धं श्रेष्ठं मृग्यते, यथा न्यायनगरीकृशचौरत्यागपूर्वक पुष्टसाधुग्रहणन्यायवत् । ततोऽत्र बाल्ये पूर्वं यत्र, नखदानमनुभूतं श्रुतं, तदेव परिहासे स्मृतम्, इति न विरोधः । अतोऽस्मत्संगेनैव शिक्षणीयं कथं दीयते कथं न

रसकलश

को कोई महत्त्व नहीं देते ।' प्रियाजी के कहने का ढंग कुछ ऐसा ही है। इसी प्रकार की एक दूसरी उक्ति यह है—'पुस्तकों को ही सब कुछ समझकर अध्ययन किया, गुरुओं की सेवा में रहकर कुछ नहीं सीखा ।' इसके अनुसार प्रियाजी का यह संकेत है कि इन कामों में आप कुशल नहीं हैं । सुरत-कला के क्षेत्र में तो विविध रसात्मक कार्यों का ज्ञानार्जन करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को तो रसशास्त्र के आचार्यों से सीखकर ही व्यावहारिक क्षेत्र में उतरना चाहिए ।

"आपने कैसे जाना कि मैं नहीं जानता हूँ ?"

"खूब जानते हैं आप ! आपने सच ही कहा", प्रियाजी ने मन ही मन व्यंग्यात्मक टिप्पणी करते हुए कहा ।

"व्रजलीला के प्रसंग में मैंने दो जगहों पर गिनकर नखाघात करना सीखा था, एक तो तृणावर्त के गले में, दूसरा पूतना के स्तनों पर ।"

"तब तो निस्सन्देह जानते हैं । धन्य हैं आप ! नखाघात करने में रसिक हैं, पर (एक बात तो बताइये) क्या उसी अभ्यास के बल पर रस का आस्वादन लेते हैं ?

दैत्यराज और पूतना के नाम लेने से उपर्युक्त (मानसिक संवाद द्वारा निर्दिष्ट) सूक्ष्म ध्वनि निकलती है । यह न समझना चाहिए कि यह उक्ति दैत्यराज और पूतना के बारे में पहले सोच-विचार कर की गई थी,क्योंकि जिस कार्य का पहले से जिस कार्य के साथ सम्बन्ध रहता है, उसी को फिर कहा जाता है उसे एक तरफ रखकर कोई बढ़ियासी पर बेलगती बात नहीं कही जाती, नहीं तो फिर उसी बेबूझ राजा में गिनती होने लगती है जिसने पतला होने और फाँसी के फन्दे में ठीक न बैठने के कारण, उसके स्थान पर एक मोटे-ताजे साधु को मौत के घाट उतार दिया था। अतः प्रस्तुत में बालकपन में जहां-जहां नख-दान का अनुभव किया था अथवा अपनी उन-उन कहानियों

वेति । 'राज' पदेन नखदानकृतसाधुलोकप्रशंसनतच्छोभा द्योत्यते, तद्वन्नखं नात्र राजते, इत्यनुध्वनिः ।

अथ प्रतिपद विशिष्य कथनहेतुमाह—'कण्ठ' इत्यनेनैव चरितार्थत्वात् मदिति पूर्वपद्योक्त 'सौकुमार्याद्भुतललिततनो' रिति स्मारकम् । तत एव 'पदं सहेत भ्रमरस्य कोमलं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः' इति हेतोर्यदि चेदुचितरीत्यैव नखदानं करोमीति भवत्पौरुषे सत्यं मधुरमेव, परन्तु पूर्वं मधुरतरेत्युक्तेर्मधुरादपि मधुरतरेण भवितव्यम् । अतएवोक्तम्—'प्रियस्तु मधुरः प्रिया च मधुरतरा इति यल्लोकख्यातं माधुर्यं तदत्र महाकार्कश्यमेव भासते, अत एव 'दैत्य' इत्युक्तिः । एवं 'मम सुकुमार्याः कण्ठे' इति चुंबना

रसकलश

को सुना था, वही परिहास के समय याद हो आया। अतः विरोध नहीं माना जा सकता । प्रियाजी का अभिप्राय यह है कि पहले हमारे साथ रहकर सीखो कि नखदान कैसे किया जाता है, कैसे नहीं । "दैत्यराज' के 'राज' शब्द से दूसरी ध्वनि यह निकलती है कि तृणावर्त के वध के उपरान्त सज्जनों ने श्रीकृष्ण की प्रशंसा की थी और नाखूनों ने भी खूब वाहवाही लूटी थी । पर यहां नख वैसी शोभा नहीं पाते ।

अब पद्य के प्रत्येक शब्द का विशिष्ट रूप से उल्लेख करने का कारण बताते हैं— 'कंठ' इतना ही कह देने से काम चल जाता, फिर भी मत् (मेरा) यह शब्द पूर्वोक्त पद्य में उल्लिखित सुकुमारी श्रीराधा और उनके अद्भुत सुन्दर शरीर की याद दिलाता है।(कालिदासकृत 'कुमारसंभवम्' नामक काव्य में पर्वतराज की पत्नी मेना तपस्या के लिये उद्यत अपनी पुत्री पार्वती से कहती हैं) "सिरस का फूल भौंरे के पैर के भार को सह सकता है, किसी पक्षी के भार को नहीं ।" यदि प्रियतम कहें कि प्रियतमा की सुकुमारता का मुझे ध्यान है, अतः मैं उचित रीति से ही नखदान करता हूँ, तो यह कहा जा सकता है कि आपके बल-विक्रम के हिसाब से आपका नखदान मधुर ही होगा, पर पहले प्रियाजी के वर्णन में कह आये हैं कि वे 'मधुर-तर' हैं, तो आपके केवल मधुर होने से काम नहीं चलेगा, आपको और भी मधुर होना होगा । कहा भी है कि 'प्रियतम तो मधुर हैं, पर प्रियाजी उनसे भी ज्यादा मधुर हैं ।" तो आपकी यह लोकप्रसिद्ध मधुरता प्रियाजी के संबन्ध में तो कठोरता ही मानी जायगी। "दैत्य" कहने का आशय यही है । 'मुझ सुकुमारी के कंठ में' कहने से यह बोध होता है कि कंठ एक मर्मस्थान है और चुंबन के आवेश में उसे तनिक भी कसकर पकड़ने में प्रियाजी को कठोर व्यवहार का भान होता है। 'शिखा' से तात्पर्य नखों के अग्रभाग का है । 'दीपशिखा' शब्द में 'शिखा' से जिस प्रकार गर्मी देने का बोध होता है, वैसे ही 'नखरशिखा' द्वारा संताप पहुँचाने वाली वस्तु का ज्ञान

वेशसामयिकग्रहणं मर्मस्थानज्ञापकं, काठिन्यभानात् 'शिखया' इत्यग्रेण, तत्रापि दीपशिखावत्तापयितृत्वद्योतनम् । 'अस्मि' इत्यनेनैव चरितार्थत्वात् 'अहम्' इति तत्सुखरसार्हत्वाभिमानेन । एवं तत्सत्वे च 'अस्मि' इति पदं 'वर्तमानसमयं पश्य' इति द्योतकम् । 'तट' इत्यत्र 'मैवम्' इति निषेधिते 'नाहं पीडये' 'इति चेत्तत्राह—तटसम्बन्धेन कथं तटिनी न दूष्येत' इति । ननु 'मैवम्' इति स्थाने 'किम्रिति' शब्दः पूर्ववदत्रापि कथं न दत्तः, तत्राह— पूर्वत्र तु 'किमि'त्युक्त्यैव निष्प्रयोजनत्वेन प्रत्याख्यानम्, पश्चादुक्तकारिणैव कुचे नखं दत्तम् तत्र विचारितम्—'यद्यत्रापि किमिति' वक्ष्ये, तदापि न जेष्ये, तत्तदुक्त्यामप्येव तत्तत्करिष्णुरित्यनेन प्रत्याख्यानमेव वरम्' इति निषेधः । 'एवम्' इत्यनेन सूक्ष्मदृशा पूर्वकृतसुखदत्वं परामृश्यते । 'पीडय'

रसकशल

होता है। 'अहम्' से सूचित होता है कि मैं नखदानजन्य सुखानन्द की भी अधिकारिणी हूं (यदि वह उचित रीति से किया जाय)। इसी प्रकार 'अस्मि' (हूँ) क्रिया से यह प्रतीति कराई गई है कि वर्तमान समय को देखिये (और तदनुसार व्यवहार करिये। इस समय कोई पूतना नहीं मारी जा रही है)। 'मैवम्' (मा+एवम्) कहकर निषेध किया गया है। यदि कहें कि मैं (श्रीकृष्ण) तुम्हें कब सता रहा हूँ, मेरी क्रिया का विषय तो 'तट' है, तो कहना होगा कि किनारे (तट) के खराब हो जाने पर तटिनी (नदी) क्या खराब नहीं होती? अच्छा, 'मैवम्' के स्थान पर पद्य के प्रथम चरण की भांति 'किमिति' (क्यों) किस लिये नहीं कहा? इस पर कहते हैं कि पहले 'किमिति' कहने का अभिप्राय यह था कि 'क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?' और यह कहकर नखदान को व्यर्थ बताकर उसे त्याज्य ठहरा दिया। इतना कहने के उपरान्त कंठ में नखाघात करने वाले ने जब कुचों पर प्रहार किया, तो प्रियाजी ने सोचा कि यदि अब भी 'किमिति' कहती हूँ, तो इनसे जीत नहीं सकूंगी, क्योंकि सब कुछ कहने के बाद भी ये मुझ पर ही जोर आजमा रहे हैं, अतः साफ-साफ मना कर देने से ही बनेगा। 'एवम्' (इस प्रकार) शब्द से सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह भाव निकलता है कि इससे पूर्व भी प्रियतम रति-क्रीड़ा द्वारा सुख दे चुके हैं। 'पीडय' कह देने से जब अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति हो सकती थी, तब 'कुरु' (करो) कहने का तात्पर्य यह है कि कुचों का मर्दन करना तो उचित ही है, पर दुखाने की मनाही है। 'पूतना' का नाम इसलिये लिया गया है हास्य की सृष्टि करके प्रियतम के नखाघात करने के साहस को शिथिल कर दिया जाय, क्योंकि इस प्रकार की निर्दयतापूर्ण रति से प्रियतम को भले ही सुख मिलता हो, पर प्रियाजी के लिए तो वह भय और संकोच का ही कारण है। 'दैत्यराज' से भी ऐसा ही तात्पर्य समझना चाहिये। 'कीरैः' यह

इत्यनेनैव चरितार्थे 'कुरु' इति पीडनं मर्दनार्थकमर्हमेव, परन्तु पीडाकरणं निषिध्यते। 'पूतना' इति हास्यजननेन तत्सुखित्वरतिभीतिसंकोचेन नखदानसाहसाहस शैथिल्यकरणार्थम्। एवमेव 'दैत्यराज' इति ज्ञेयम्। 'कीरैः' इति बहुत्वं यत्रतत्रोत्पत्यस्थितैः केनचिदाद्यं वाक्यमुपशिक्ष्य पठितं, केनाप्यपरं चेति, केनचिदुभयंवेति तत्तदर्थस्मरणात्वाद्वह्वानन्दो जातः। अत एव सख्यवात्सल्येन च पूर्वानुभूतलालनीयमौग्ध्येन चतुरवरसङ्गे कथं संलापसौष्ठवं जयन्ती स्यादिति साध्वेवं नागरमपि पराजयमाना श्रुता; धन्येयं घटिकेति सूक्ष्माधिनाशेन स्वशुद्धिमन्यमाना, इति 'मृजन्ती'—पदध्वनिः। अन्यथा सखीति संबोधनकर्त्र्याः का शुद्धिरिति ज्ञेयम्।

अत्र केषांचिन्नाममात्रेणैव संकोचो जायते, तदत्र विचार्य्यम्। यदत्र पूर्वपद्योक्तकेलिनदीप्रणयरसप्रवाहावगाहने स्वस्य वा दम्पत्योरानन्दस्यन्दोजातःस्तत्तादृशसहृदयवेद्यमेव, नान्यमनोगम्यम्। यथा—

रसकलश

बहुवचनान्त प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि प्रातःकाल होने पर तोते उड़कर इधर-उधर बैठ गये थे। उनमें से किसी ने आधा सीखा हुआ वाक्य कहा, तो दूसरे ने बाद का वाक्य और किसी ने एक साथ दोनों ही वाक्य पढ़ दिये। इन वाक्यों के भिन्न-भिन्न अर्थों का मनन करने पर बड़ा ही आनन्द हुआ इसीलिये सखी-स्नेह के कारण और प्रियाजी के लड़ैती तथा भोलीभाली होने का श्रीहितसखी को जो अब तक का अनुभव था, उसके आधार पर उन्हें यह डर था कि श्रीकृष्ण-जैसे विदग्ध दूलह के साथ वार्तालाप में प्रियाजी जाने खरी उतरेंगी या नहीं, किन्तु तोतों की बातें सुनकर जब उन्हें मालूम हुआ कि प्रियाजी ने प्रियतम को हरा दिया है, तो मन ही मन उन्हें खूब शाबासी दी। श्रीहितसखी के लिये यह घड़ी धन्य सिद्ध हुई। प्रेम-वैवश्य की अवस्था में वहां से चले आने के कारण थोड़ी-सी उनकी हानि अवश्य हुई थी, पर अब उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया—यह ध्वनि 'मृजन्ती' से निकलती है। नहीं तो जो प्रियाजी को 'सखि' कह कर संबोधित करती हैं, उनकी शुद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता।

कुछ लोगों को यदि दैत्यराज आदि नाम लेने मात्र से संकोच होता हो, तो तो उन्हें विचार-शक्ति से काम लेना चाहिये। इससे पूर्व के पद्य में सुरत-केलि की नदी के प्रेमामृत के प्रवाह में अवगाहन करने पर श्रीहितसखी अथवा युगल-स्वरूप के हृदय में आनन्द की जो तरंगें लहराई हैं,उनका मूल्यांकन सहृदय जन ही करेंगे। अन्य लोगों के तो मन की गति भी वहाँ तक नहीं है। कहा भी है—

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।
योऽमायया संततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ।।[1]

इत्यनेन सर्वं समाधेयम् । एवं कीरोक्तिश्रवणानन्द उपवर्णितः ।।१६३।।

एवं केलिकुञ्जाङ्गणमार्जनानन्दमुपभुज्य निजोपदेशाधिकारवशेन 'न चैको मिष्टमश्नीयात्' इति कृपया तदानन्ददायभाक्सजातीयाशयतद्दान-स्मृत्या बहिरंगदशायां लोकालोकान्यनिष्ठया श्रीराधिकैकस्फूर्तिश्रीवृन्दावन कुञ्जाजिरमनोगतिमेवाशास्ते—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुरतु मे राधापदाब्जच्छटा,
वैकुण्ठे नरकेऽथवा मम गतिर्नान्यास्तु राधां विना ।
राधाकेलिकथासुधाम्बुधिमहावीचिभिरान्दोलितं
कालिन्दीतटकुञ्जमन्दिरवरालिन्दे मनो विन्दतु
।।१६४।।

रसकलश

"अनन्त पराक्रमशाली चक्रपाणि,ब्रह्मा से भी परे स्थित श्रीकृष्ण के मार्ग को वही भक्त जानता है जो कपट-रहित होकर और निरन्तर अनुकूल रहकर उनके चरण-कमल के सौरभ को पान करता है ।"

इस उक्ति से सब शंकाओं का समाधान हो जाता है । इस प्रकार तोतों की उक्ति को सुनकर प्राप्त हुए आनन्द का वर्णन किया ।।१६३।।

इस प्रकार केलिकुंज के आंगन को बुहारने के आनन्द का उपभोग करने के उपरान्त, श्रीहितसखी को उपदेश देने का जो अधिकार प्राप्त है उसके कारण, 'अकेला मिठाई न खावे; इस सिद्धान्त के अनुसार कृपाभाव से प्रेरित होकर तथा यह याद कर कि अन्य भक्त भी उस आनन्द के भागीदार हैं, आचार्य-स्वरूप की स्थिति में, लोक-परलोक से विलक्षण अनन्य निष्ठा के साथ, केवल श्रीराधा की स्फूर्ति पैदा करने वाले श्रीवृन्दावन की निकुञ्जों के आंगन के प्रति अपनी मानसिक आसक्ति की आशा का वर्णन करते हैं—

'जागते, सोते तथा सुषुप्ति की दशा में श्रीराधा के चरणकमलों की छटा का ही मेरे हृदय में स्फुरण हो । श्रीराधा के बिना वैकुण्ठ अथवा नरक में भी मेरी गति न हो । श्रीराधा के केलि-कथा रूपी समुद्र में झकोरे लेता हुआ मेरा मन श्री यमुना के तट पर स्थित कुंज-गृहों के प्रशस्त आंगन में आनन्द प्राप्त करे ।।१६४।।

१. श्रीमद्भागवत

मे तदेकाश्रिताया जाग्रदाद्यवस्थात्रये राधायाः पदाब्जयोश्छटा छवि-रेव स्फुरत्विति नान्येत्यर्थः । यथान्यस्फुरणं लोके दृश्यते जाग्रति पाञ्च-भौतिकलोकविलासः, स्वप्ने च तत्संस्कारजभ्रमविडम्बनं, सुषुप्तौ चाहं-कारादिलये शून्यं लयो वा निद्रा वा सुखावशेष आत्मेति । यथा च —

'सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते कूटस्थ आशय मृते तदनुस्मृतिर्न ।' इत्यादि । तत्र 'तुरीयं त्रिषु संततम्' इत्युक्त्या ज्ञानिनां समाधिवतां च सर्वा-वस्थासु तुरीय स्फूर्तिर्मुख्योपादेयास्ति । तत्स्फूर्तिसिद्धान्तापरिहार्यतर्क-मुद्दिश्य सर्वावस्थासु मम तु तच्छटैव स्फुरत्विति नात्मब्रह्मस्फूर्तिरपेक्ष्या । अनात्मवादित्वं यथेष्टं वदन्तु, मम तु तच्छटैवात्मा परमात्मा च । तदत्र मुख्यसिद्धान्ते सखीस्वरूपं तादृशं सत्यमेवेति । यथा चैतन्निर्दिष्टं शतके—

रसकलश

एकमात्र श्रीराधा पर अवलंबित मेरे मन में जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में उनके चरणकमलों की छवि का स्फुरण हो, अन्य किसी का नहीं। इन तीनों अवस्थाओं में संसारी लोगों के मन में अन्य ही प्रकार के विषय फुरते हैं। जब वे जागते रहते है, तब पंचभूतात्मक सृष्टि के भोग की आकांक्षायें उनमें उठती रहती हैं और स्वप्नावस्था में जागृत अवस्था के संस्कारों से उत्पन्न भ्रम और मिथ्या आशा में वे लिप्त रहते हैं। सुषुप्ति (गहरी नींद) में अहंकार का लय हो जाने के कारण जीवात्मा अनुभव रहित शून्य की स्थिति में पहुँच जाता है, या शुद्ध निद्रा में लीन हो जाता है, अथवा आत्मा की सुखपूर्ण स्थिति ही शेष रह जाती है। चौथी स्थिति तुरीय अवस्था है।

ज्ञानियों तथा समाधि लगाने वालों के लिये तुरीय अवस्था की स्फूर्ति ही मुख्यरूप से उपयोगी है। वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार यह अखंड आनन्दात्मक स्थिति ही ज्ञानी का परम लक्ष्य है, इस तर्क को लक्ष्य कर (उसका परिहार करती हुई) श्रीहितसखी कहती हैं कि मेरे हृदय में उसी श्रीराधिका की ही छटा चमकती रहे, मुझे ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द की स्फूर्ति की आवश्यकता नहीं है। लोग भले ही कहें कि अरे ! यह तो आत्मा को परतत्व मानता ही नहीं, किन्तु मेरे लिये तो श्री-राधिका की छवि ही आत्मा या परमात्मा है। इसीलिये यहाँ के मुख्य सिद्धान्त के अनुसार सखी का वैसा स्वरूप सत्य ही है। श्रीवृन्दावन शतक में भी वह इसी प्रकार का बताया गया है—

श्रीराधापादपद्मच्छविमधुरतरप्रेमचिज्ज्योतिरेकां-
भोधेरुद्भूतफेनस्तवकमयतनूः सर्ववैदग्ध्यपूर्णः ।
कैशोरव्यञ्जितास्तद् घनरुगपघनश्रीचमत्कारभाजो
दिव्यालङ्कारवस्त्रा अनुसरत सखे राधिकाकिङ्करीस्ताः ।।२।८७

अनेन यादृग्वास्तवं यदंशं यदुपादेयं वस्तु तदेवात्मस्वरूपं स्फुरणं चापेक्ष्यं सर्वविवेकवदहं तदेव मद्वाञ्छितमिति भावः । अत एवांशांशि-भावेन 'राधापदाब्ज' इत्युक्तम् ।

एवं लोकवर्तनमुक्त्वा अलौकिकमाह—परतत्ववस्तुध्यानेन भजनेन च वैकुण्ठं प्राप्यते, इति यत्र तत्र प्रसिद्धमेव किमुदाह्रियते, इत्यपरिहार्य्यसद्-गतितर्कमुद्दिश्य वक्ति—वैकुण्ठेऽपि राधां विना नान्यगतिरस्तु, इति न तत्र सुखरूपान्तरापेक्षा । 'अथवे'ति । यदि च केचिद् वदन्ति भवादृशामशास्त्री-

रसकलश

'हे मित्र ! श्रीराधा के चरण कमलों की शोभा के प्रति प्रेम के चिन्मय प्रकाश-रूप एकमात्र समुद्र से उत्पन्न फेनों के समूहों से जिनके शरीर का निर्माण हुआ है, जो सब प्रकार की चतुराई में पूर्ण हैं, व्यक्त किशोर अवस्था एवं तरुणाई की छटा के द्वारा जिनके सब अंग-प्रत्यंग चमत्कार से परिपूर्ण हैं, उन्हीं दिव्य आभूषण एवं वस्त्रों से मंडित श्रीराधा की सेविकाओं का अनुसरण कर' ।।२।८७.

इससे यह भाव निकलता है कि जिस वस्तु का यथार्थ में जो अंश ग्रहण करने के योग्य है, वही आत्मस्वरूप है और हृदय में उसके ही प्रतिभासित होने की आवश्यकता है । सब विचारशील व्यक्तियों की यही मान्यता होनी चाहिये और यही मुझे अभीष्ट है । इसीलिये अंश और अंशी की दृष्टि से (वृन्दावनशतक के उपर्युक्त उद्धरण में) 'राधापदाब्ज' कहा गया है ।

इस प्रकार लौकिक व्यवहार के संबन्ध में बताकर अलौकिक चर्चा का निर्देश करते हैं—परतत्व के भजन और ध्यान द्वारा वैकुंठ मिलता है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है । उदाहरण देकर इसे विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं । सद्गति प्राप्त करने के लिये इस तर्क को अखंडनीय समझा जाता है, परन्तु श्रीहितसखी इसी तर्क को दृष्टि में रखकर कहती हैं कि वैकुण्ठ में श्रीराधा के सिवा मेरी और कोई गति न हो वहाँ और किसी प्रकार के सुख की मुझे अपेक्षा नहीं है । 'अथवा' शब्द की व्याख्या करते हैं—यदि कुछ लोग कहें कि आप जैसों का आचरण तो शास्त्र-विधि से प्रतिकूल है, अतः न तो आपको आत्मतत्व की स्फूर्ति हो सकती है और न वैकुण्ठ ही मिल सकता है । इस शंका के समाधान में कहते हैं कि हम जैसों का आचरण अशास्त्रीय है, तो हमें नरक में

याचरणान्नात्मस्फूर्ति वैकुण्ठप्राप्तिरित्याशंक्य निषिद्धाच्चरणा-तृतीया नरके गतिरस्तु। तत्रापि सैव गतिरस्तु। न केषामपि तर्कादि्वभेमि। यथा च षष्ठे श्रीशिववाक्यम्—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥ इति।

तदात्र कैमुत्यमायातमेव। अर्थात्तच्छटानन्दस्फूर्त्या वैकुण्ठनरकादिश्रेष्ठतयाधमतमं सुखदुःखं न चैव दृष्टिमायाति। तादृशतल्लयात्मका गतिरस्तु।

ननु वैकुण्ठे क्व तद्रूपं क्व तद्गतिरित्यत आह—मे मनः कालिन्दीतटकुञ्जमन्दिरवरालिन्दे विन्दतु प्राप्नोतु। 'या मतिः सा गतिः' इति न्यायेन वृन्दावन एव मनोऽस्तु। श्रीराधात्रानायासेन प्राप्या स्यादिति। अत्र मादृशानां तत्प्राप्त्यापरिहार्यत्वमस्ति। नन्वत्राप्यनेकभावलीलास्थलं वर्तत, इत्याशंक्याह—राधाकेलिकथैव सुधाम्बुधिस्तस्य महावीचिभिरान्दोलितमाप्लावितम्। तेन समुद्रवीच्यान्दोलनेनान्यवस्त्वन्तरावकशः स्यात्।

रसकलश

ही जगह मिले, पर वहां भी एकमात्र श्रीराधा ही हमारी गति (सेव्या) हों। किसी के तर्क से हम डरने वाले नहीं हैं। (श्रीमद्भागवत के) षष्ठ स्कन्ध में श्रीशिव की उक्ति है--

'नारायण की भक्ति करने वाले सब लोग किसी से भी डरते नहीं हैं। स्वर्ग हो, मोक्ष हो, या नरक, सर्वत्र वे समान भाव से एकमात्र भगवान को ही देखते हैं।' जब नारायण की भक्ति के सम्बन्ध में यह बात है, तो श्रीराधा के भक्तों का तो कहना ही क्या! अर्थात् श्रीराधा के चरणकमलों की छटा से उद्भूत आनन्द की स्फूर्ति होने पर वैकुण्ठ आदि सर्वश्रेष्ठ लोकों के सुख तथा नरक आदि निम्नतम स्थानों के दुःख भी दृष्टि में नहीं आते। इसी प्रकार की गति वांछित है जिसमें उपासक श्रीराधा की छवि में ही लीन हो जाता है।

यदि कोई पूछे कि वैकुण्ठ में वह रूप कहां देखने को मिलेगा और कहां वह गति प्राप्त होगी, तो कहते हैं—मेरा मन श्रीयमुना के तटवर्ती निकुंज-गृहों के प्रशस्त आंगन में ही पहुँच जाय। "जैसी बुद्धि होती है वैसी ही गति होती है', इस सिद्धान्त के अनुसार श्रीवृन्दावन में ही मेरा मन रमता रहे। श्रीराधा वहां बिना किसी आयास के मिल सकती हैं। मुझ-जैसे का बिना उनके दर्शन किये निबाह होगा ही नहीं। यहां यह शंका हो सकती है कि श्रीवृन्दावन में भी तो लीलाओं के अनेक स्थान हैं। इस पर कहते हैं—मेरा मन श्रीराधा की केलि-कथा रूपी अमृत के समुद्र की विशाल तरंगों में झकोरा लेता रहे। उस समुद्र की तरंगों द्वारा आन्दोलित होने के कारण अन्य किसी

तत्रापि निकुञ्जमन्दिरवरेति एकान्तलीलास्थलं श्रीमत्या एव। यथा च नानास्थानस्वरूपं शतके—

गोवत्सैः परिपण्डितं क्वचिदहो हुंवारवाडम्बरं
कुर्वद्भिर्मुहुरम्बरं क्वचिदतिक्रीडाविलोलार्भकम्।
कुत्राप्युन्मदनव्यगोपतरुणीयूथोत्सवं कुत्रचि-
द्राधाकृष्णविलासमोहनमहं ध्यायामि वृन्दावनम् ॥१।२५

अन्यथा तत्कथा तु सर्वव्रजसंजीविन्येव नेष्टा, परन्तु विलासार्हं-निकुञ्जवरमन्दिराङ्गणमिति। अत एव वीचीनां महत्वम्। तत्र न वहित्रादेरप्यवकाशः। किञ्च केवलं मीनास्तु यथेष्टं कल्लोलयन्तु। तत्र मन्मनोमीनप्राप्तौ पश्ये किमन्या गति स्यादिति सर्वथैव न शंक्यम्।

एवं वाक्यत्रये सर्वकृत्यमुद्दिष्टम्। आद्ये तु लोकदेहव्यवहारस्थितौ तदेकभावनास्फुरणमेव कार्यं, नान्यच्छास्त्रनिर्गुणसगुणोपासनवाक्यभ्रमणमर्हम्। द्वितीये स्वनिष्ठादार्ढ्यबलेन न क्वापि भेतव्यम्, सदसद्गतिभ्रमो

रसकलश

वस्तु के लिये स्थान ही नहीं रहता। श्रीवृन्दावन-स्थित अनेक स्थानों का वर्णन श्रीवृन्दावन शतक में निम्नलिखित रीति से किया गया है—

'कहीं' गाय के बछड़ों से श्रीवृन्दावन सुशोभित है, कही रंभाती हुई गायों की हुंकारों से आकाश गुंजायमान है, कहीं खेलते हुए चंचल बालक दिखाई पड़ते हैं तो कहीं मदभरी गोप-वधुओं के उत्सव चलते रहते हैं। श्रीराधा-कृष्ण की विहार-लीला की मोहनी से परिपूर्ण ऐसे श्रीवृन्दावन का मैं ध्यान करता हूँ॥१।२५

यूं तो श्रीराधा-कृष्ण की लीला-कथा सारे ब्रजमंडल में प्राणों का संचार करती रहती है, परन्तु विलास के उपयुक्त निकुंज-गृहों के आंगन ही मेरे सेव्य हैं। तरंगों का महत्व यही है। वहां अन्य बाह्य विषयों के लिये स्थान ही नहीं है। वहां तो भक्त-रूपी मछलियाँ ही इच्छानुसार विहार कर सकती हैं। यह शंका नहीं करनी चाहिए कि मेरा मन-मीन जब उस समुद्र में पहुंचेगा तब उसकी हालत और ही प्रकार की हो जायगी।

इस प्रकार पद्य के तीन वाक्यों द्वारा समस्त कर्त्तव्य बता दिया। प्रथम चरण में कहा गया है कि संसार में रहते समय शारीरिक व्यवहार (आचरण) करने में केवल उन्हीं श्रीराधा की भावना की स्फूर्ति को हृदय में स्थान देना चाहिये, शास्त्रों में प्रतिपादित निर्गुण अथवा सगुणोपासना के सिद्धान्तों में नहीं भटकना चाहिये। दूसरे चरण में कहा गया है कि अपनी अनन्य निष्ठा के बल पर कहीं डरना नहीं चाहिये, अच्छी गति होगी या बुरी, इस चक्कर में नहीं पड़ना चाहिये, बल्कि यह धारणा रखनी

न कार्यः । स्वेष्ट एव साध्यो विचारणीयः । दुःखादौ च नरकपर्यन्तेऽपि तदुद्धारणार्थं प्रार्थनीयं, नान्यस्मरणीयं, नान्यसाधनञ्च कार्यम् । तृतीये श्री वृन्दावनवास एव परमलाभत्वेन माननीयः । उषित्वा च तत्कथाश्रवणाब्धिपतित एव सदा स्यात्, नान्यकथनश्रवणस्मृतिरित्यादि यथासहृदयगम्यम् । अत्र यत्र तत्र सैव स्फुरतु । यथात्रैवोक्तम्—

राधाकरावचितपल्लववल्लरीके,
राधापदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीके ।
राधायशोमुखरमत्तखगावलीके,
राधाविहारविपिने रमतां मनो मे ॥ इत्यादि ।

अथवा तादृशानां जाग्रत्हितसखीस्वरूपम् । किञ्च मुख्यं जागरणम् । तत्रैव स्वप्नं तदिच्छा कृतलोकप्राकटचम् । तत्रापि जाग्रत्संस्कारवत्वमेवेति । तद्वत् सर्वत्रोपदेशः । अत एव विरहार्त्यभिलाषोऽपि सर्वग्रन्थेऽस्ति ।

रसकलश

चाहिये कि इष्ट प्राप्ति ही एक मात्र लक्ष्य है । दुःख आ पड़ने पर, यहां तक कि नरकगामी होने पर भी अपने उद्धार की प्रार्थना अपने इष्ट से ही करनी चाहिये, अन्य किसी देवी-देवता को याद करने की जरूरत नहीं । किसी छोटे-मोटे साधन का आश्रय न ले । तीसरे चरण में कहा गया है कि श्रीवृन्दावन-वास को ही सर्वश्रेष्ट लाभ मानना चाहिये और वहां रहकर श्रीराधा-कृष्ण की कथा-वार्ता रूपी समुद्र में ही पड़े-पड़े मग्न रहना चाहिये, अन्य किसी देवता की कथा न सुने, न याद करे । यह सब सहृदयों के समझने की बातें हैं । श्रीवृन्दावन में रहते हुए सर्वत्र श्रीराधा की ही स्फूर्ति हो । श्रीराधासुधानिधि में कहा है—

"श्रीराधा की विहार स्थली श्रीवृन्दावन में मेरा मन रमा करे जहाँ कि श्रीराधा स्वयं अपने हाथों से लताओं से पत्ते चुनती हैं, जिसके सुन्दर स्थान श्रीराधा के चरण चिन्हों से सुशोभित हैं और जहाँ मस्त पक्षियों के समूह श्रीराधा का यशोगान करते रहते हैं[1] ।"

अथवा अनन्य राधा-भक्तों का स्वरूप सदा जागती हुई श्रीहितसखी का ही है । जागते रहना ही मुख्य है । स्वप्नावस्था का अन्तर्भाव भी यहाँ जागरण-अवस्था में समझना चाहिये, क्योंकि स्वप्न में अपनी (अपूर्ण) अभिलाषा के अनुसार ही दृश्य प्रकट होते हैं । जागृत अवस्था के ही संस्कार स्वप्न में उतरते हैं । इसीलिये कहा गया है कि जागृत् अवस्था की भांति ही अन्य सब अवस्थाओं में भी श्रीराधा नाम का स्फुरण हो । इसीलिये सारे ग्रन्थ में विरह-पीड़ा की अभिलाषा पाई जाती है ।

ननु देहभृतां गुणसम्बन्धे कथं स्वप्नेऽन्यभ्रमो न स्यात्तत्राह। यथोज्ज्वले—

व्यतीत्य तुर्यामपि संश्रितानां तां पञ्चमीं प्रेममयीमवस्थाम्।
न संभवत्येव हरिप्रियाणां स्वप्नो रजोवृत्तिविजृम्भितो यः॥

इत्यनेन तदेकस्फूर्तौ भ्रमनिरासः। सुषुप्तिर्वैवश्यम्। अत्र प्रेमवैवश्यं भजन-भावनादौ साक्षाद्दर्शनानन्देन वा। तत्रान्तरङ्गे च जालरन्ध्राप्तदर्शनानन्देन तत्र जाग्रत्स्वप्नयोस्तु स्फुरणमस्त्येव। सुषुप्तौ च छटास्फूर्तिं वाञ्छति। तदन्तरायमप्यसहमाना, इत्याभ्यन्तरोऽर्थः। वैकुण्ठनरकनामात्र 'यदि शेषो धरणीं न धारयेत्' इतिवत् धारणावश्यकवत् स्वस्य तत्र गमनाभावावश्य-कत्वं दर्शितम्। स्वनिष्ठां लोकसंग्रहार्थं दर्शयति। तादृशस्फूर्तौ वैकुण्ठनर-

---

रसकलश

शंका होती है कि जब शरीरधारी जीवों का त्रिगुणात्मक प्रकृति से सम्बन्ध है, तो स्वप्न में अन्य लौकिक पदार्थों की स्फूर्ति क्यों कर न होगी? इसके उत्तर में उज्ज्वल नीलमणि का उद्धरण द्रष्टव्य है—

'तुरीय अवस्था को पार कर प्रेममयी पंचम अवस्था में पहुँच जाने पर भी हरि-भक्तों को स्वप्नावस्थाजन्य वह विक्षेप नहीं होता जोकि रजोगुण का ही विकास है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि केवल श्रीराधा की स्फूर्ति शेष रहने पर स्वप्ना-वस्था के भ्रम दूर हो जाते हैं। सुषुप्ति में विवशता होती है। यहाँ भजन-भावना में उपासक प्रेमाधीन हो जाता है, अथवा जब उसे इष्ट के साक्षात् दर्शन का आनन्द मिलता है, तब वह आत्मानुसन्धान खोकर विवशता की स्थिति में पहुँच जाता है। अन्तरंग दशा में लता-पत्तों के छेदों में से श्रीराधा-कृष्ण की विहार-लीला के दर्शनजन्य आनन्द में बेसुधी आ जाता है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था में तो श्रीराधा की स्फूर्ति होती ही है। सुषुप्ति दशा में भी उन्हीं की छटा प्रतिभासित होती रहे, यह कामना की गई है। आन्तरिक अभिप्राय यह है कि श्रीहितसखी को यह असह्य है कि सुषुप्ति दशा के कारण युगलस्वरूप के दर्शन में किसी प्रकार की बाधा हो। वैकुंठ और नरक नाम यहाँ उसी प्रकार लिया गया जैसे कि कहने में आता है कि 'यदि शेष भगवान् पृथ्वी को धारण न करें।' (शेष तो पृथ्वी को धारण करते हो करते हैं, अतः विरुद्ध संभावना अलंकार मात्र है।) उसी प्रकार श्रीहितसखी को वैकुंठ या नरक जाने की जरूरत ही नहीं। यह तो केवल कहने का एक प्रकार है। ऐसा कहकर वे लौकिक जनों के कल्याण के लिए केवल अपनी निष्ठा ही प्रकट करते हैं। उस प्रकार की स्फूर्ति होने पर वैकुण्ठ और नरक एक समान हैं। अतः यह निकुंज-गृह का आंगन ही मेरे मन में रहे। श्रीहितसखी

कादिसामान्यतैव । अत एतदलिन्दमेव मन्मनोगतमस्तु, इति तादृग्वर्तमानत्वेऽपि लालसातिस्वरूपं दर्शयतीति दिक् ।

अत्र 'श्रीराधापदाब्जच्छटा' इत्युक्तम् । तद्ध्यानं सहृदयैरपेक्ष्यते चेल्लिख्यते तावदत्रैव—

कामं तूलिकया करेण हरिणा यालक्तकैरङ्किता,
नानाकेलिविदग्धगोपरमणीवृन्दे तथा वन्दिता ।
या संगुप्ततया तथोपनिषदां हृद्येव विद्योतते,
सा राधाचरणद्वयी मम गतिर्लास्यैकलीलामयी
॥२०५॥

यथा च शतके—

मधुरणन्मणिनूपुरराधापदारविन्दसौन्दर्यम् ।
वृन्दावनभुवि संततमनुचिन्तयतो मम क्षणा यान्तु ॥६।२४

× × ×

रसकलश

तो वहां रहती ही हैं, फिर भी इस अभिलाषा के द्वारा उन्होंने अपनी लालसा प्रकट की है, थोड़े-से में यही समझना चाहिये ।

यहाँ 'श्रीराधा के चरण-कमलों की छटा' ऐसा कहा है। सहृदय भक्त यदि उस छटा का ध्यान करना चाहें, तो तदर्थ श्रीराधासुधानिधि का ही एक उद्धरण यहाँ दिया जाता है—

'जिन्हें श्रीकृष्ण ने मन भरकर अपने हाथ से महावर से चित्रित किया है, अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं में निपुण गोपवधुओं के समूहों के देखते हुए जिनकी उन्होंने वन्दना की है तथा जो गुप्तरूप से सब उपनिषदों के हृदय में प्रतिभासित है, केवल नृत्य-लीला से परिपूर्ण श्रीराधा के वे दोनों चरण मेरी गति हों ।'

श्री वृन्दावन शतक में कहा है—

'मधुर मधुर शब्द करते हुए रत्नजटित नूपुरों से विभूषित श्रीराधा के चरण-कमल के सौन्दर्य का निरन्तर चिन्तन करते हुए श्रीवृन्दावन की भूमि पर मेरा समय-व्यतीत हो ।' ६।२४

× × ×

सुस्निग्ध कान्तिधारा परिमलसौन्दर्यसौकुमार्याद्यैः ।
तदमेयचरणकमलं राधायाः सुकलनूपुरं स्फुरतु ॥६।२५

× × ×

अरुणतलमुपरि गौरं मधुरैर्लसितैर्हरेर्मनश्चौरम् ।
राधायास्त्वतिसुन्दरचरणसरोजं मनो जपतु ॥६।२६

× × ×

पादाङ्गुलीयपादाङ्गदनूपुररत्न रोचिषां वीचीः ।
राधापदाब्ज ईक्षे नखमणिचन्द्रोच्छलच्छटाच्छुरिताः ॥६।२७

× × ×

कृष्णेन्दीन्दिरलोभ्यं पुरुसौरभ्यं न हीन्दिरालभ्यम् ।
सान्द्रानन्दमरन्दं पदारविन्दं स्मरामि राधायाः ॥६।२८

× × ×

रसकलश

'कान्ति की स्निग्ध धारा, सुगन्ध, सौन्दर्य, सुकुमारता आदि गुणों से युक्त, नूपुरों की ललित झंकार से युक्त श्रीराधा के अनुपम चरण-कमलों की मेरे हृदय में स्फूर्ति हो।' ६।२५,

× × ×

जिनके तलवे लाल हैं, ऊपर का भाग गौर है, जो मनोहर नृत्य द्वारा श्रीहरि के मन को आकर्षित करते हैं, ऐसे श्रीराधा के सुन्दर चरण कमलों को मेरा मन जपता रहे॥६।२६.

× × ×

मणि-जैसे तथा चन्द्रमा के समान नखों से फूटती हुई ज्योति से उद्भासित चरण की अंगुलियों की, उनमें धारण किये हुए कड़ों की तथा रत्नजटित नूपुरों की कान्ति की तरंगों को मैं श्रीराधा के चरण-कमल में देखना चाहता हूँ ॥६।२७.

× × ×

श्रीकृष्ण रूपी भौंरे को लुभाने वाले, अत्यन्त सौरभशाली, लक्ष्मी के लिए दुर्लभ तथा सघन आनन्द से परिपूर्ण श्रीराधा के चरण-कमलों का मैं स्मरण करता हूँ ॥६।२८.

× × ×

अतिमृदुलाङ्गुलिपल्लवविलसन्नखचन्द्रमण्डलं मधुरम् ।
मणिमञ्जीरमनोहरचरणयुगं मे चकास्तु राधायाः ॥६।२६

× × ×

राधाचरणरणन्मणिनूपुरमूकीकृतां हरेर्मुरलीम् ।
विफलिततत्फूत्कृतिमखिलसखीसार्थहासिनीं स्मरत ॥६।३०,

× × ×

स्पर्शयदाननलोचनहृदये जिघ्रन् मुहुर्मुहुः किमपि ।
राधासुरभिसुशीतलपदकमलं धाम शोभते श्यामम् ॥६।३१,

× × ×

राधापदारविन्दोच्छलदतिमाधुर्यसिन्धुनिष्यन्दैः ।
मम हृदयं लयमयतां वृन्दारण्ये कदोन्मदप्रणयम् ॥६।३२
नष्टा ते खलु बुद्धिरुन्मद ! न हि त्वं तामहार्षीर्धृता—
क्व स्वाङ्गे वद यत्र किं मम करं चोल्यन्तरे न्यक्षिपः ।

रसकलश

'पत्ते की तरह कोमल अंगुलियों में शोभा देने वाले चन्द्रमण्डल सरीखे नखों से विभूषित और रत्नजटित नूपुरों से सुन्दर दिखाई देने वाले श्रीराधा के चरणयुगल मेरे हृदय में प्रकाशित हों' ॥६।२६.

× × ×

श्रीराधा के चरणों के नूपुरों के शब्द से श्रीकृष्ण की मुरली जब मूक हो गई और बार-बार फूंक भरने पर भी सब मनोरथ व्यर्थ हो गए, तब समस्त सखियां हँसने लगीं। श्रीराधा की इस लीला का स्मरण करो ॥६।३०.

× × ×

'श्रीराधा के सुगन्धित, परम शीतल चरणकमलों को अपने मुख, नेत्र तथा हृदय से स्पर्श करते हुए तथा उन्हें बार-बार सूंघते हुए कोई अनिर्वचनीय श्यामसुन्दर सुशोभित हो रहे हैं' ॥६।३१.

× × ×

श्रीराधा के चरण कमलों से छिटक कर छलछलाते हुए माधुर्य-समुद्र की बूंदों से प्रेमोन्मत्त मेरा हृदय कब श्रीवृन्दावन में लीन होगा ?॥६।३२.

"हे उन्मत्त ! तुम्हारी बुद्धि नष्ट हो गई है क्या !" (उत्तर)—"नहीं, तुमने उसे चुरा लिया है।"—"तो मैंने वह कहां रख दी है ?" (उत्तर)—"अपने अंगों में।"

अत्रैवेति शुकार्भकान् निगदतो हुंकारपुष्पाहतैः
स्मित्वोपालि निवारयन्त्यवतु मां राधात्र वृन्दावने ॥१३।९

एवं यत्र तत्र पक्षिणोऽपि केलिकथां पठन्त्यनायासेन तदानन्दः प्राप्यते इति ॥१६४॥

एवं केलिकथेति निर्वर्णयतः स्वस्य शीघ्रं तत्केलिगतदृष्टचा किमहं कथां शृणोमि, केलिमेव पश्यामि, इति तदेवानुभूयमानैव केलिसमयसन्निधाना स्वसेवां वर्णयति—

अलिन्दे कालिन्दीतटनवलतामन्दिरगते
रतामर्दोद्भूतश्रमजलभरापूर्णवपुषोः ।
सुखस्पर्शेनामीलितनयनयोः शीतमतुलं
कदा कुर्यां संवीजनमहह राधामुरभिदोः॥१६५॥

रसकलश

(प्रश्न)—क्या उसी जगह जहां मेरा हाथ है ?" (उत्तर)—"चोली के अन्दर डाल दी है।" तब तोतों के बच्चों ने कहा—"यहाँ ही है।"—इन वाक्यों को सुनकर सखियों के समक्ष हँसती हुई एवं हुंकार तथा फूलों के प्रहार से निवारण करती हुई श्रीराधा इस वृन्दावन में मेरी रक्षा करें ॥१३।९.

इस प्रकार श्रीवृन्दावन में पक्षी भी जगह-जगह श्रीराधाकृष्ण की विलास-कथा को दुहराते हैं जिसे सुनकर सहज ही आनन्द मिलता है ॥१६४॥

इस प्रकार केलि-कथा का वर्णन करते-करते श्रीहितसखी ने युगलस्वरूप की केलि को ध्यान में रखते हुए सोचा कि क्या इस कथा को ही सुनती रहूँ, फिर निर्णय किया कि केलि को ही देखें। यह विचारते ही उन्हें केलि का साक्षात् अनुभव-सा होने लगा और अपने को केलि के समय उपस्थित मानकर वह अपनी सेवा का वर्णन करती हैं—

"श्रीयमुना के किनारे स्थित नवीन लता-गृह के आंगन में जिनके शरीर सुरत-संग्राम के कारण निकले हुए पसीने से लथपथ हो रहे हैं, परस्पर अंगों के आनन्ददायक स्पर्श से जिनके दोनों नेत्र मुंदे हैं, ऐसे श्रीराधाकृष्ण को पंखा झलकर शीतल वायु द्वारा मैं कब सेवा करूँगी ?" १६५॥

अहं प्रस्तुतकेलितत्सुखसंप्रतीक्षका राधामुरभिदोः संवीजनं कदा कुर्याम् । 'अहहे'ति निजानन्दातुलभाग्यमहिमोद्दीपकाश्चर्ये । कीदृशयोः ? कालिन्दी परमामृतवाहिनी तत्तटे । यथा 'कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृतवाहिनी', इति गोपालतापनीयश्रुत्युक्त्यादिमहिमसूचनमेव विशिष्यकथनहेतुः, अन्यथा पूर्वपद्येऽपीदमेव नामास्ति ।

'तटे'ति—तत्तदमृतमयसरसता, त्रिविधसमीरनिस्तापनवनवीरुल्लतोल्लसनविलासिदंपति हृदयोल्लासकता, जलकेलिनौकादि रमणसान्निध्यादिसूचनार्थम् । तत्र नवलतामन्दिराण्यपि तदाप्यायितानि । तद्गते ऽलिन्देऽङ्गणे, इति । अत्र पूर्वपद्योक्तं तु बहिरङ्गणमिदन्तु मन्दिरमध्यस्थं रहोरतिविलासस्थलम् । तत्र रतामर्दः सुरतसमरस्तेनोद्भूतेन श्रमजलभरेणापूर्णे ऽतिव्याप्ते वपुषी ययोस्तौ । एवं विहारविरामे मिथोऽङ्गसुखस्पर्शेनामीलिते प्रत्यङ्गैक्याप्तिविश्रम्भेण द्रष्टृदृश्य दर्शनप्रतीत्यनवकाशेन कैवल्यानन्देनासम-

रसकलश

युगल-स्वरूप की जिस विहार-लीला का वर्णन चल रहा है उसके प्रसंग में उनकी आनन्ददायिनी सेवा की प्रतीक्षा में बैठी हुई मैं कब श्रीराधा को पंखा झलूंगी ? 'अहह !' इस आश्चर्य बोधक अव्यय द्वारा अपने आनन्द तथा अतुल भाग्य के गौरव को सूचित किया गया है। श्रीराधाकृष्ण का विशेषण देते हैं—सर्वोत्तम अमृत के समान जल-प्रवाह को धारण करने वाली जो श्रीयमुना, उसके तट पर स्थित (नवीन लता-गृह में रमण करते हुए)। 'श्रीगोपालतापनीयोपनिषद् की इस उक्ति के अनुसार कि 'सुषुम्णा नामक श्रीयमुना परम अमृत-जैसे जल से प्रवाहित है" तथा अन्य श्रुतियों के अनुसार श्रीयमुना के महत्व को सूचित करने के उद्देश्य से ही यहां श्रीयमुना का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है, नहीं तो इससे पूर्व के पद्य (कालिन्दीतटकुञ्जमन्दिरवरालिन्दे मनो विन्दतु)में भी यही नाम आया है। 'तट' शब्द का प्रयोग श्रीयमुना की अमृतमय सरसता तथा तीन प्रकार की (शीतल-मन्द-सुगन्ध) वायु से ताप रहित की गई लताओं के उल्लास को देखकर विलासी दम्पती के आनन्दपूर्ण उत्साह को सूचित करने के लिये किया गया है। इससे यह भी सूचित होता है कि जल-क्रीड़ा एवं नौका-विहार की सुविधा भी निकटवर्ती थी। तट पर बने नवीन लता-मन्दिर भी श्रीयमुना के शैत्य-पावत्वादि प्रभाव से संपन्न थे। उन लता-गृहों के आँगन में (विहार करते हुए श्रीराधाकृष्ण)। इससे पूर्व के पद्य में भी यही कहा गया है कि 'श्रीयमुना के तटवर्ती कुंज-गृहों के प्रशस्त आंगन में मेरा मन पहुँच जाय,' किन्तु वहाँ 'आंगन' से अभिप्राय बाहरी आँगन का है। यहां का आंगन तो लतामन्दिर के बीचों-बीच स्थित है और एकान्त विलास का स्थल है। वहां सुरत-संग्राम के प्रसंग में निकले हुए पसीना

न्तादितिनिद्रित इव मीलिते नयने तत्तद्रूपप्रापकेऽपि ययोस्तौ तादृशश्रमेऽपि प्रेमातिशयेन हातुमशक्नुवतोर्विगलितवेद्येतरावस्थाप्राप्त्या विस्मृतश्रान्ताभिमानयोरिति। तदानीमहमप्रमत्ता प्रतीक्षमाणैव तत्र गत्वा अतुलं शीतं यथास्यात्तथा संवीजनं करोमि। 'शीत'मिति विशिष्योक्तिः कमलदलरचितवीजनं घनसारकञ्जसार पाटीरतुषारवर्षीति ज्ञेयम्। अत्र किञ्चिन्मत्कृतसमीरसुखस्पर्शोऽपि पूर्वसुखस्पर्शे मिलित इति ज्ञेयम्। अत एव 'अतुल' इति। यावान् सुकुमारदम्पतिश्रमस्तावन्तमतिक्रम्याधिकबलेन कृतं शीघ्रं तन्निवारणार्थमिति।

ननु तादृक्कालिन्दीतट त्रिविधसमीरामृतवर्षिकल्पलतादि तत्सुखासक्तत्वे कथं तच्छ्रमः, इत्याशङ्कायां तादृगनिर्वचनीय प्रेमरसानन्द क्रीडाविर्भावे भूषणरणितकण्ठमणितत्तन्मिथोभणिताद्यगणितजनितप्रेमवैवश्य

रसकलश

के प्रवाह से श्रीराधाकृष्ण दोनों के शरीर पूरी तरह भरे हुए थे। विहार समाप्त हो जाने पर एक दूसरे के अंगों के स्पर्शजन्य आनन्द से दोनों के नेत्र कुछ-कुछ मुंद गये थे। इस स्थिति में जबकि दोनों के अंग मिलकर एकाकार हो गये हों, तब कौन देख रहा है, क्या देख रहा है और देख रहा है भी कि नहीं—इस प्रकार की प्रतीति के लिये अवकाश ही नहीं रहता। एकमात्र आनन्द की इस दशा में विभिन्न रूपों के देखने की शक्ति रखते हुए भी नेत्र पूरी तरह निद्रालस-से हो रहे थे। यह है 'मीलित' के पूर्व लगे हुए 'आङ्' उपसर्ग का अर्थ। नेत्र बन्द होने की दूसरी व्यंजना यह भी है कि उस प्रकार थक जाने पर भी प्रेम की अधिकता के कारण दोनों एक-दूसरे को छोड़ नहीं सकते थे। प्रेम की इस स्थिति में अन्य विषयों की स्मृति लुप्त हो गई थी और प्रिया-प्रियतम यह भी भूल गए थे कि हम थक गए हैं। श्रीहितसखी कहती हैं कि उस समय मैं सावधान रह कर प्रतीक्षा कर रही थी। (उपयुक्त समय आने पर मैंने सोचा कि) अब वहाँ जाकर पंखा से अनुपम ठंडी हवा करूँगी। पंखा झलने को जो यहाँ शीतल कहा गया है उसका एक विशेष तात्पर्य है। यह कि पंखा कमल के पत्तों से बना था और उसकी हवा से कपूर, कमलसत्व, चन्दन के योग के कारण शीतलता बरस रही थी। यह भी ज्ञातव्य है कि एक-दूसरे के अंगों के स्पर्श से प्रिया-प्रियतम को सुख का तो पहले ही अनुभव हो रहा था, उसी में मेरी पंखे की वायु का आनन्ददायक स्पर्श और मिल गया। इसीलिये 'संवीजनम्' का विशेषण 'अतुल' दिया गया है। सुकुमार दम्पती को जिस अनुपात में थकावट हुई थी उससे भी बढ़-चढ़ कर, बड़ा जोर लगा कर, थकावट को दूर करने के लिये जल्दी-जल्दी पंखा झला।

यहाँ शंका उठती है कि जब युगलस्वरूप के सुख में आसक्त होकर वन की कल्पलताएँ यमुना के किनारे पर तीन प्रकार की वायु द्वारा अमृत बरसा रहीं थीं, तो

विह्वलीकृतं स्थिरचरसत्वकदम्बेष्वेका हितसख्येव तादृगधिकारप्रभावेण कथंचित् सावधाना स्थिता सेवां कृतवती। अतएव 'अहह !' इति स्वस्याप्याश्चर्यम्। यत्र समीरादेरपि स्थगनं तत्र कान्याशक्तिरिति। अत एव प्रेमानन्दसात्विकेन सर्वानाप्लाव्य तदधिकनिजाप्लावनेनापूर्णेत्यत्राङ्। किञ्च 'वनं मे देहरूपकम्' इति स्ववैवश्येन सर्ववैवश्ये किं चित्रम् !

मुरं वेष्टनं भिनत्तीति 'मुरभित्' इत्यत्र प्रसंगवसनाभरणावरणभङ्ग-पूर्वकं मिथोऽन्तर्लज्जाभीतिसंकोचादेरपि भङ्गाद्द्वयोरेव वीररससाहसित्वं ध्वनितम्। यथा चात्रत्यमत्तवैवश्यशीलत्वं शतके—

"माद्यच्छ्रीकृष्णराधं मदकलसकलं स्थास्नुसंचारिसत्वं
माद्यत्कंदर्पदर्पप्रतिपदगरिमोन्मत्तभूषाम्बरादि।

रसकलश

दंपती को थकावट क्योंकर हुई ? इसका समाधान यह है कि प्रेम-रस से परिपूर्ण आनन्दमयी सुरत-केलि का जब प्रारम्भ हुआ, तो आभूषणों की झंकार, कंठ-हारों के आन्दोलन, पारस्परिक प्रेमालाप आदि अनगिनत कार्यकलाप द्वारा प्रेम की वह विवशता पैदा कर दी गई कि समस्त स्थावर-जंगम सृष्टि समुदाय बेसुध और जड़ीभूत-सा हो गया। अपने अधिकार के प्रभाव से केवल श्रीहितसखी ही सावधान रह कर सेवा में तत्पर थीं। यह श्रीहितसखी के लिए एक आश्चर्य का विषय था जिसे 'अहह!' द्वारा व्यक्त किया गया है। आश्चर्य इसका कि विह्वल होने के कारण जहाँ पवन का संचार भी रुक गया था, वहां दूसरी कौन शक्ति सम्भव हो सकती थी ? इसीलिए प्रेमानन्द की अनुभूति के कारण प्रिया-प्रियतम के शरीर में जो सात्विक भाव (श्रम-स्वेद आदि) उदित हुए उनमें सबको डुबाकर स्वयं भी डूब गये। 'आमीलित' में 'आङ्' उपसर्ग द्वारा इसी भाव की व्यंजना की गई है। दूसरी बात यह कि 'वन मेरे शरीर का रूपक है,' इस कथन के अनुसार जब कोई स्वयं विवशता का अनुभव करता है, तो उसकी दृष्टि में आस-पास के सब दृश्य विवशतापूर्ण दिखाई दें, तो कोई आश्चर्य नहीं।

('मुरभित् शब्द का प्रचलित अर्थ है—मुर नामक दैत्य का वध करने वाले श्रीकृष्ण किन्तु यहां टीकाकार ने प्रसंग से संगति रखता हुआ भिन्न अर्थ किया है—) 'मुरम्' अर्थात् घेरा को (प्रस्तुत में वस्त्रादि के आवेरण को) तोड़नेवाला। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सुरत-प्रसंग में वस्त्र-आभूषण आदि परिधानों को हटाने के साथ-साथ पारस्परिक लज्जा, भय, संकोच आदि भी टूट गये जिससे दोनों के वीर-रस में साहसी होने की ध्वनि निकलती है। सुरत-मद में मत्त तथा विवश होने का वणन श्रीवन्दावन शतक में इस प्रकार किया गया है—

माद्यत्कालेन्दुताराद्युतिमदविवशस्निग्धलीलोत्कबाला-
वृन्दं वृन्दावनं तत् स्वयमपि समदं भाति भूयो रसोघैः"।।६।९८

यथा च—

"अहो ! पतितमुत्तरोत्तरविवर्द्धमानभ्रमौ
महारयमहोज्ज्वलप्रणयवाहिनीश्रोतसि ।
किशोरमिथुनं मिथोऽवशविचित्रकामेहितं
करोत्यहह ! विस्मयस्थगितमेव वृन्दावनम्" ।।६।८९

विवर्द्धमाना भ्रमिर्यत्र ।

"क्व यानं क्व स्थानं किमशनमहो किन्नु वसनं,
किमुक्तं किं भुक्तं किमिव च गृहीतं न किमपि ।
मिथ कामक्रीडारसविवशतामेत्य कलयत्
किशोरद्वन्द्वं तत्परिचरत वृन्दावनवने ।।"२।८९

किमपि न कलयद् विचारयदित्यर्थः। इत्यादिभिः कृतः शङ्कापरिहारः। अत्र शयनमनुत्थानं सालसवसनसमीकरणादि यथासहृदयगम्यमनुक्तमपि भावनीयम् ।।१६५।।

रसकलश

'श्रीराधाकृष्ण जहाँ उन्मत्त रहते हैं, जहाँ चर-अचर जीवमात्र उत्पन्न होकर मधुर ध्वनि करते हैं, जहां गोपियों के भूषण-वस्त्र आदि सब मदभरे कामदेव की गरिमा से प्रत्येक पग पर उन्मत्त रहते हैं, जहाँ तत्कालीन चन्द्रमा और तारों के प्रकाश भी मद से परिपूर्ण रहते हैं और जो स्नेही, मद से विह्वल गोप-बालाओं से सुशोभित एवं स्वयं भी विह्वल रहता है, ऐसा वह श्रीवृन्दावन रसधारा के समूहों से पुनः पुनः सुशोभित हो रहा है ।।"६।९८

और भी—

"अहो ! जहाँ लगातार भँवरें बढ़ रही हैं ऐसी उज्ज्वल प्रेम-नदी की धारा में पड़े हुए किशोर-किशोरी प्रेम से विह्वल होकर आपस में विचित्र काम-क्रीड़ायें करते हैं जिसके कारण समस्त वृन्दावन जड़ीभूत-सा हो गया है ।।"६।२९

उक्त श्लोक में प्रयुक्त 'विवर्द्धमानभ्रमौ' का अर्थ है—जहाँ भँवरें बढ़ रही हैं ।

"कहां जाना है, कहाँ ठहरना है, क्या खाना है, क्या पहिनना है, क्या कहा,क्या खाया, क्या लिया—इन सब में किसी के प्रति कुछ भी लक्ष्य न रख कर परस्पर काम-क्रीड़ा-रस में ही जो युगल किशोर विवश हो रहे हैं, उन्हीं की श्रीवृन्दावन में परिचर्या कर।"२।८९.

श्रीवृन्दावन शतक के उक्त पद्य में 'किमपि कलयत्' का अर्थ है—कुछ भी नहीं सोचते हुए (किसी बात का भी लक्ष्य न करते हुए)। ऊपर के उद्धरणों द्वारा शंका

एवं सर्ववैवश्ये स्वसेवानन्तरं कौतुकिविलासिप्रभुदम्पत्योरन्योन्यलीलानन्दं प्रतिक्षणमनुभूयमानं कृपापात्रसखीं प्रत्याह—

क्षणं मधुरगानतः क्षणममन्दहिन्दोलतः
क्षणं कुसुमवायुतः सुरतकेलिशिल्पैः क्षणम् ।
अहो मधुरसद्रसप्रणयकेलि वृन्दावने
विदग्धवरनागरीरसिकशेखरौ खेलतः ॥१६६॥

'अहो' इति तत्तत्केल्यानन्दवैचित्र्यं पश्येति सखीं संबोधयति, वा स्वमन इति । वृन्दावने विदग्धश्रेष्ठौ च तौ नागरीरसिकशेखरौ मधुरसद्रसप्रणयकेलि यथा स्यात्तथा खेलत इति । सकलकलावैदग्ध्येन प्रियमनो हृत्वापि स्वयं प्रसद्य स्वमनोदानं श्रैष्ठ्यं, नतु परप्रसादनमेव । नागरी प्रिय

रसकलश

का निराकरण कर दिया गया। इसी पद्य में जो कुछ कहा गया है उसके अतिरिक्त सोना, पड़े रहना, आलस्य में भर कर वस्त्रों को सँभालना आदि भी सहृदयों द्वारा समझ लेने चाहिएँ ॥१६५॥

इस प्रकार चारों ओर विवशता छा जाने पर अपनी सेवा करने के उपरान्त प्रतिक्षण अनुभव किये गये, कौतुकभरे विलासी दम्पती प्रभु की पारस्परिक लीला के आनन्द का वर्णन अपनी कृपापात्र सखी से करती हैं—

"अहो ! वृन्दावन में मधुर, श्रेष्ठ श्रृंगार रस तथा प्रेम से विशिष्ट क्रीड़ा करते हुए अत्यन्त चतुर नागरी तथा रसिकशिरोमणि श्रीकृष्ण किसी क्षण मधुर गान कर, कभी वेग के साथ हिंडोरे झूल कर, कभी फूलों की हवा से और कभी सुरति-केलि की कला प्रदर्शित करते हुए खेलते हैं। (अथवा मधुर, श्रेष्ठ श्रृंगार रस और प्रेमपूर्ण केलियाँ जहाँ होती रहती हैं, ऐसे श्रीवृन्दावन में खेलते हैं) ।"

श्रीहितसखी अपनी किसी सखी को या अपने मन को ही संबोधित करते हुए कहती हैं कि श्रीराधाकृष्ण की क्रीड़ा के विचित्र आनन्द को देखो ! वृन्दावन में, चतुर जनों में श्रेष्ठ नागरी राधा और रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण मधुर, श्रेष्ठ श्रृंगार रस और प्रेम से विशिष्ट केलियाँ करते हुए खेलते हैं। सब कलाओं में कुशल होने के कारण प्रियतम श्रीकृष्ण के मन को हरण कर लेने पर भी स्वयं प्रसन्न होकर अपना मन दे देना ही श्रेष्ठ है न कि दूसरे के द्वारा मिन्नत और चिरौरियाँ करने पर प्रसन्न

प्रेमासक्तिज्ञाननिपुणा। तथैव रसिकशेखरः। यथात्रैव "निजप्रियतमापदे रसमये दधत् यच्छिरः" इति।

मधुरश्चासौ सत् श्रेष्ठो रसश्च शृंगार इति। प्रणयः प्रेमा, तन्मयी केलिरिति रसप्रेमविशिष्टं खेलनम्। रसेन पूर्णानन्दत्वं,प्रेम्णा तत्सुखित्वम्। यद्वा केलिवृन्दावनं तन्नामैव, मधुरेति विशेषणचतुष्टयम्। किञ्च दंपती तु रसप्रेममयावेव, तत्केलयोऽपि तन्मय्य एवेति सर्वज्ञातम्। श्रीवृन्दावन-स्वरूपन्तु कस्यचिद्गम्यं, यत्तयोरसाधारणमिति। अतस्तद्रूपं तादृशमेव ज्ञेयम्।

'मधुर' इति प्रियतास्पदं, 'सत्' इति सर्वश्रेष्ठ्यं नित्यत्वं, 'रस' इति आस्वादनीयानन्दत्वं, 'प्रणय' इति जाड्यांशेऽपि प्रेमत्वज्ञापकम्। आद्यं 'किं ब्रूम' इति पद्ये 'वृन्दारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा,' इति किमुच्यते। यथा च शतके—

रसकलश

होना। श्रीराधा को 'नागरी' इसलिये कहा है कि वह यह पहिचानने में निपुण हैं कि प्रियतम मुझ में प्रेमासक्त हैं। श्रीकृष्ण को भी इसी प्रकार इसी अर्थ में 'रसिक शेखर' कहा गया है। इसी श्रीराधासुधानिधिस्तव (पद्य-१११) में कहा है—'जो श्रीकृष्ण आनन्द से परिपूर्ण अपनी प्रियतमा के चरणों में सिर रखते हैं।'

मधुर जो श्रेष्ठ रस—शृंगार, प्रणय—प्रेम से परिपूर्ण केलियाँ, अर्थात् रस और प्रेम से विशिष्ट क्रीड़ायें। रस से पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है और प्रेम से तत्सुखित्व भाव। अथवा श्रीवृन्दावन का ही दूसरा नाम 'केलिवृन्दावन' है। इस अर्थ में मधुर, सत्, रस और प्रणय—ये चारों केलिवृन्दावन के विशेषण माने जाएँगे। युगलस्वरूप तो रस और प्रेम से परिपूर्ण हैं ही'। उनकी क्रीड़ायें भी प्रेमरसपूर्ण हैं, यह सर्वविदित है। किन्तु श्रीवृन्दावन का स्वरूप तो बिरले ही जानते हैं जोकि उन के रस का आधार है। अत: श्रीवृन्दावन का स्वरूप युगलस्वरूप के जैसा ही है, यह समझ लेना चाहिए।

'मधुर' का अर्थ है प्रियता का स्थान (प्रिय लगने वाला), 'सत्' का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ और नित्यस्वरूप में प्रतिष्ठित, 'रस्' का अर्थ है आस्वद करने योग्य आनन्द का भाव, और 'प्रणय' से तात्पर्य यह है कि श्रीवृन्दावन में जड़ता का अंश विद्यमान होने पर भी उसमें प्रेम में प्रकाश है'। प्रथम 'मधुर' तत्त्व का वर्णन इसी ग्रन्थ के 'किं ब्रूमो-ऽन्यत्र' इस पद्य (१७२) में इस प्रकार किया है—'श्रीवृन्दावन की यह भूमि उच्चकोटि के आनन्दामृत की मधुरताओं में अग्रगण्य है। इससे अधिक और क्या कहा जाय? श्रीवृन्दावन शतक में कहा है—

मधुरमधुरकृष्णाकूलवृन्दावनान्तर्मधुरमधुररूपेणाखिलं मोहयन्तौ ।
मधुरमधुरराधामाधवौ केलिमूर्ती मधुरमधुरभावेनानिशं भावयामि ।।
१२।२६

× × ×

मधुरमधुरनानारत्नबद्धस्थलीकं, मधुरमधुरनानावल्लिवृक्षस्थलीकम् ।
मधुरमधुरखेलद्दिव्यनानाविहंगम्, मधुरमधुरनानारङ्गनृत्यन्मयूरम् ।।
१२।२७.

× × ×

मधुरमधुरनानापुष्पसौरभ्यलुभ्यन्मधुरमधुरभृंगश्रेणिझंकाररम्यम् ।
मधुरमधुरगायत्कोकिलं सारिकीरैर्मधुरमधुरघुष्टप्राणबन्धुप्रबन्धम् ।।
१२।२८.

× × ×

मधुरमधुरराधाकिङ्करीक्लृप्तशय्यं, मधुरमधुरराधाकृष्णकेलीनिकुञ्जम् ।
मधुरमधुरतत्प्रेमोन्मदान्धालिवृन्दं, मधुरमधुरवृन्दारण्यमेवाश्रितोऽस्मि ।।
१२।२९.

रसकलश

"अत्यन्त मधुर श्रीयमुना के तट पर स्थित श्रीवृन्दावन के आन्तरिक प्रदेश में अपने मधुर सौन्दर्य से सब को मोहित करनेवाले, केलि के स्वरूप मधुर श्रीराधा माधव का मधुर-मधुर भाव से चिन्तन करता हूँ।"१२।२६.

× × ×

"श्रीवृन्दावन की भूमि अनेक प्रकार के मधुर (सुन्दर) रत्नों से जड़ी है, उसमें विविध-प्रकार की मधुर लता एवं वृक्षों की पंक्तियाँ हैं, भाँति-भाँति के दिव्य पक्षी मधुर भाव से वहां क्रीड़ा करते हैं और रंग बिरंगे मधुर मोर नाचते हैं।"१२।२७.

× × ×

श्रीवृन्दावन अनेक प्रकार के फूलों की मधुर-मधुर सुगन्ध से मन को लुभाता है, मधुर-मधुर भौंरों की झंकार में वह रमणीय है, कोयलें वहाँ मधुर-मधुर गाती है तथा तोता और मैना पक्षी अपने सुमधुर स्वर में प्राणबन्धु श्रीयुगलकिशोर का यशोगान करनेवाले प्रबन्ध-काव्यों का पाठ करते हैं।१२।२८

"श्रीवृन्दावन में राधा की सुन्दर परिचारिकायें उनकी शय्या सजाती हैं, उसमें श्रीराधाकृष्ण की केलि के निमित्त मधुर-मधुर कुंज बने हैं, युगलकिशोर के प्रेम में उन्मत्त मधुर-मधुर सखियों के समूह वहाँ विराजते हैं। ऐसे मधुर वृन्दावन का मैं आश्रय लेता हूँ।"१२।२९.

सद्रूपता यथा—
उपर्युपरिसंभवन्नवविचित्रवल्लीद्रुमा-
मुपर्युपरि संप्रफुल्लितविचित्रपुष्पोत्कराम् ।
उपर्य्युपरि राधिकाहरिविचित्रकामोत्सवा-
मुपर्य्युपरि सच्चमत्कृतिमुपास्व वृन्दाटवीम् ॥१५।३४
रसान्धहरिराधिकं रसप्रफुल्लवल्लीद्रुमम्,
रसप्रसरखेलितोत्कलकलैः, खगैराकुलम् ।
रसोल्लसितबल्लवीगणमहो रसोद्यत्स्मरं
स्मरामि रसविह्वलं सकलमेव वृन्दावनम् ॥१५।३५
यथा शतके—
श्रीराधामाधवयोर्यथा कदाचिन्न संभवी विरहः ।
तद्रसवृन्दावनयोस्तथैव परमोऽविनाभावः ॥११।२
प्रणयरूपता यथा—
राधाकृष्णानुरागान्मुकुलपुलकिनो माकरन्दौघवाष्पा-
स्तत्तादृग्वातचंचत्किसलयकरतो दिव्यनृत्यं दधानाः ।

रसकलश

श्रेष्ठ रूप का उदाहरण—

"श्रीवृन्दावन में ऊपर-ऊपर (सर्वश्रेष्ठ) विचित्र लताएँ और वृक्ष नये-नये उगते रहते हैं, सर्वोत्कृष्ट और विलक्षण फूलों के समूह खिलते हैं और श्रीराधाकृष्ण के विलक्षण मदनमहोत्सव चलते रहते हैं। ऐसे चमत्कारपूर्ण सर्वोपरिस्थित श्रीवृन्दावन की उपासना कर।"१५।३४

× × ×

श्रीवृन्दावन में हरि एवं राधिका रस से अन्धे बने रहते हैं, वृक्ष तथा लतायें वहाँ रस से प्रफुल्लित रहती हैं, रस के प्रसार के कारण मधुर चहचहाते हुए पक्षी क्रीड़ा करते रहते हैं और रस की उमंग में भरी गोपिकायें रसराजश्रृंगार की आराधना कर काम-भावनाओं को उद्दीप्त रखती हैं। इस प्रकार सारा वृन्दावन रस से विह्वल रहता है। उसी वृन्दावन की मैं उपासना करता हूँ ॥१५।३५.

शतक का एक और उदाहरण—

"जिस प्रकार श्रीराधाकृष्ण का विरह असंभव है, उसी प्रकार राधाकृष्णात्मक रस और वृन्दावन का ऐसा घनिष्ठ संबन्ध है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती ।११।२.

श्रीवृन्दावन के प्रेमस्वरूप होने का उद्धरण—

श्रीवृन्दावन के वृक्ष राधाकृष्ण के अनुरागवश होकर मञ्जरियों के रूप में पुलकित हो रहे हैं, मकरन्द-प्रवाह के मिस वे आनन्द के आँसू बहा रहे हैं, मन्द-मन्द

सत्पुष्पश्रेणिहासाः खगकुलविरुतैः संस्तुवन्तः फलादे-

र्भारैर्नम्रा द्रुमास्ते मम परममुदे सन्तु वृन्दावनीयाः ॥६।१३॥

इत्यादिचतुष्टयविशिष्टे केलिवृन्दावने क्षणं यथास्यात्तथा मधुरगानतः खेलतः, इति गानमेव तदानीं खेलनम् । यथा शतके—

विपञ्ची किञ्चिन्न ध्वनति मुरली रौति न मना—

गसम्यञ्चं प्रोदञ्चयति न पिकः पञ्चमरसम् ।

सखीवृन्दं मौन्युज्झति प्रणयगोष्ठीमपि हरि—

र्यदा राधा वृन्दावनगुणगणान् गायति मुदा ॥१४।५०

एतन्निर्देशेनोभयोर्गानमाधुर्यं ज्ञेयम् । क्षणं च रागजतानान्दोलनस्मृति-हृदयोल्लासेनामन्दहिन्दोलत इति । अमन्दत्वं यथा—

रश्मिप्रग्रहिणौ कदापि सहसा संबद्धबाहू मिथ—

स्त्यक्त्वा दाम नितान्तभायनपरौ दुर्लीलहास्यौ सखीः ।

रसकलश

वायु से हिल रहे पत्तों रूपी-हाथों से वे दिव्य नृत्य कर रहे हैं, उत्तम पुष्पों के विकास के बहाने हँस रहे हैं, पक्षि-समूह के शब्दों से राधाकृष्ण की स्तुति कर रहे हैं, फल-पुष्प के भार से झुके हुए श्रीवृन्दावन के ऐसे वृक्ष मुझे परम आनन्द प्रदान करें।"६।१३

मधुर, सत्, रस, और प्रणय—इन चार विशेषणों से विशिष्ट केलि वृन्दावन में किसी समय मीठा-मीठा गान करते हुए खेलते हैं। यह गान ही एक प्रकार का खेल है। श्रीवृन्दावन शतक में कहा है—

"जब श्रीराधा आनन्द से श्रीवृन्दावन के गुणगान करने लगती हैं तब श्रीराधा की वीणा बजने से बन्द हो जाती है, मुरली तो एकदम नीरव हो जाती है, कोयल भी पञ्चम स्वर में आलाप नहीं करती, सखी-वृन्द मौन हो जाता है और श्रीहरि प्रेमालाप करना बन्द कर देते हैं।"१४।५०

इन उदाहरणों से गान के माधुर्य को समझ लेना चाहिये। किसी क्षण श्रीराधा-कृष्ण राग के अनुसार लगाई गई तान के स्पन्दन का स्मरण कर हृदय में उल्लासित होते हुए बड़े वेग से झोटा लेने लगते हैं। झोटाओं के वेग का उदाहरण देखिए—

"कभी श्रीराधाकृष्ण झूला की डोर पकड़कर झूलते हैं, तो कभी एकाएक सखियों को डराने के लिये रस्सी छोड़ कर आपस में हाथ बाँध लेते हैं और फिर शैतानी से खूब हँसते हैं। होड़ा होड़ी झोटे देने और लंबी-डांगें भरने से उनके भूषण खनखनाने लगते हैं और सुन्दर वस्त्र ऊपर उठ जाते हैं। इस प्रकार श्रीराधा और रसिक शिरो-मणि श्रीकृष्ण सुन्दर झूला झूलते हैं।

प्रेङ्खस्पर्द्धनदीर्घचालनरणद्भूषोद्गतस्वस्वरौ
श्रीराधारसिकेश्वरौ मुदयुतौ हिन्दोल आन्दोलतः ।।

किञ्चित् 'क्षणं कुसुमवायुतः' इति हिन्दोलानन्तरं पुष्पाणां तत्तत्सौरभ्याघ्राणं श्रमापनोदनञ्च ज्ञेयम् । यद्वा कुसुमैः पवने च खेलनम् । यथा—

यतो वातस्तत्रोच्चलति कुसुमं तत्र हि जयो,
मिथश्चेतश्चेतो-भ्रमति सुमनांस्युत्क्षिपति च ।
हसद्धावज्जित्वाधरदशनसंख्यापणकृतैः
स्मराम्येतद्युग्मं कुसुमपवनैः खेलितमहम् ।।

यद्वा कुसुमसंबन्धिवायुत इति । यथा—

कुसुमवायुपरीक्षणतत्परं ह्ययमयं न नवेति विवादकृत् ।
कुतुकितालिजनैर्नतिचम्बितैः कृतनयं जयति द्वयमुत्स्मितम् ।।

रशकलश

कुछ क्षणों के लिये वे फूल और हवा से खेलते हैं । फूलों की तरह-तरह की गन्धों को सूँघने से झूलने के बाद की थकावट दूर हो जाती है, यह भाव है । अथवा फूल और हवा दोनों से खेलते हैं । जैसे—

"जिधर से हवा चलती है उधर ही फूल हिलते हैं । जो उन्हें खोज लेता है उसकी जीत मानी जाती है । इसके लिये दोनों इधर-उधर घूमते हैं और फूलों को फेंकते हैं । इस प्रकार हंसते हुए, दौड़ लगाकर जीतते हुए और अधर-चुंबन की किसी संख्या का दांव लगाकर फूल और हवा का खेल खेलते हुए युगलस्वरूप का मैं ध्यान करता हूँ ।"

अथवा कुसुम-संबन्धी वायु से खेलते हैं । जैसे—

"यह हवा किस फूल के गन्ध की है, इसकी परीक्षा में लगे हुए दम्पति में से जब एक इस प्रकार का दावा करता था कि अमुक गन्ध अमुक फूल की ही है और दूसरा यह मानने से इन्कार करता था, तो कौतुकभरी सखियां झुककर फूलों को चूमती थीं और विवाद का निर्णय करती थीं । इस समस्त प्रसंग में मुस्कराते हुए प्रिया-प्रियतम के जोड़े की जय हो ।"

इस प्रकार फूल और हवा के खेल के समाप्त होने के कुछ क्षण बाद कामोद्दीपन के क्रीड़ा संबन्धी-विविध कला-कौशल का वर्णन कर प्रेमानन्द में विह्वल श्रीहितसखी को जब इतने मात्र से संतोष नहीं हुआ, तो उसी सुरत-केलि के कौशल का स्वतंत्र पद्य द्वारा वर्णन करते हैं—

किञ्चित्क्षणं, तदनन्तरं निजानङ्गोद्दीपनापरिहार्यत्वेन कुसुमशयनमुपविश्य सुरतकेलीनां शिल्पैः स्थापत्यवद्रचनै रसशास्त्रक्रमेण रतिक्रीडाकौशलैरिति सहृदयवेद्यम्। एवं दंपती खेलत इति ॥१६६॥

एवं नानाखेलनवैदग्ध्यमुक्त्वा प्रेमानन्दविवशा तावन्मात्रोक्त्यतृप्ता तदेव सुरतकेलिशिल्पं पृथगनुवदति—

अद्य श्यामकिशोरमौलिरहह ! प्राप्तो रजन्या मुखे,
नीत्वा तां करयोः प्रगृह्य सहसा नीपाटवीं प्राविशत्।
श्रोष्ये तल्पमिलन्महारतिभरे प्राप्तेऽपि शीत्कारितं,
तद्वाचासुखतर्जनं किमु हरे ! स्वश्रोत्ररन्ध्राश्रितः
॥१६७॥

'अहह' ! इत्याश्चर्ये, किमु साक्षात् स्वप्नो वेति प्रेमवैचित्र्योक्तिः सखीं प्रति। अतएव 'अद्य' इति साक्षाद्बोभूयमानत्वेऽपि मत्तवदपूर्वतावचनम्। श्यामश्चासौ किशोराणां मौलिश्चेति। एतन्नित्यकिशोरच्छटया यत्र तत्र

रसकलश

"कैसे आश्चर्य की बात है कि आज किशोरशिरोमणि श्याम रात्रि के प्रारंभ होते ही श्रीराधा के हाथ पकड़कर उन्हें जबरन् कदंबखंडी में लेकर चले गये। हे भगवन् ! अब मैं अपने कर्णकुहरों का आश्रय लेकर शय्या पर मिले हुए दोनों के सुरत-आनन्द के उत्कट आवेश की स्थिति में पहुंच जाने पर भी श्रीराधा के शीत्कार तथा उन्हीं के द्वारा दी गई मधुर फटकार को क्या सुनूंगी ?" ॥१६७॥

'अहह' कह कर आश्चर्य प्रकट किया गया है कि यह घटना वास्तव में घटित हुई या निरा स्वप्न ही था ! प्रेम में आत्मानुसान्धन न रहने पर सखी से यह कहा जा रहा है इसीलिये घटना का वर्णन 'आज' कहकर प्रारंभ किया गया है। अर्थात् यह जानते हुए भी कि ऐसा तो प्रायः नित्य ही होता रहता है, उन्मत्त की तरह इस तरह कहा जा रहा है कि मानों आज से पहले ऐसी घटना कभी घटी न हो। 'श्यामकिशोरमौलिः'—श्याम जो किशोरों के शिरोमणि (यह समास है)। श्रीकृष्ण की किशोर अवस्था की स्थायी शोभा ही के कारण लोक-परलोकों में उनकी किशोरता प्रसिद्ध है। कहा भी है—'किशोर अवस्था का ध्यान करना चाहिए, यही सर्वप्रथम तथा परात्पर रस है।' लोक में सर्वत्र विवाह-विधि संपन्न होते समय वर वरनी के सिरों का ही मुख्य स्थान होता है। 'किशोरमौलिः' में 'किशोर' शब्द से यही अर्थ अभिप्रेत है कि श्रीकृष्ण परम मंगल स्वरूप हैं। इससे यही ध्वनि निकलती है। वे नित्य ही नवीन

लोकालोकेषु कैशोरं विश्रुतमिति । यथा—"वयः कैशोरकं ध्येयमाद्य एव परो रसः" इत्युक्तेः । सर्वत्र वैवाहिकमङ्गलं वरवर्णिन्यो मौलिनैव सिद्धयति । तादृशः परममङ्गलात्मकः, इत्यनेन नित्यनवनवरतौत्सुकत्वं ध्वनितम् । कामोत्सुक्यमूर्तिरेवेत्यर्थः । तदेव दर्शयति । 'अहह' इत्यत्रान्वेतव्यम् । उत्प्रेक्षां करोति—किमयं रजन्या मुखे प्राप्त, इत्यनेन तत्र स्थितावपि पश्य सखि ! स्थानान्तरित इव, समयान्तरित इव परमोत्कण्ठितः कामीव प्राप्तः प्रदोषारंभएवेति कथं कथंचित् पूर्वसमयोऽनेनातिक्रान्त, इत्येतत् सर्वं वैचित्र्य एव घटते । यद्वा परिभाषायामुक्तम्—'रसोदयस्तदा रात्रिव्यवहारो न रात्रिता' । इत्यनेन पूर्वमपि दिनरात्रिप्रस्तुतं नास्ति, तदाधुनैव रात्रिकथनमकस्मादघिटतम् । अतः प्रियः श्रृङ्गाररसोदयं तदौत्सुक्यं वा प्राप्त इत्येव समंजसम् । पूर्वं तु गानहिन्दोलादिक्रीडौत्सुक्यमासीत्, अधुना रसौत्सुक्यमिति स्पष्टमेव ।

'तां' प्रियामिति साक्षात् स्थिताया अपि परत्वनिर्देशो वैचित्र्यमेव । 'करयोः' इति स्वकरविषये प्रगृह्य परमप्रेमावेशेन गाढमालिंग्येत्यर्थः ।

रसकलश

रति के लिये उत्कंठित रहते हैं । अर्थात् काम-संबन्धी उत्कंठा की मूर्ति हैं । इसी भाव को प्रकट किया गया है । 'अहह !' इस आश्चर्य का इसी से सम्बन्ध है । अब उत्प्रेक्षा करते हैं—क्या ये रात्रि के प्रारंभ होते ही आ पहुँचे हैं ? इससे यह व्यक्त करना चाहते हैं कि सखी देख ! श्रीकृष्ण कहीं गये नहीं थे, यहीं तो बराबर हैं, पर लगता ऐसा है मानों किसी दूसरे स्थान से, दूसरे समय में अत्यन्त अधीर कामी की तरह सन्ध्या होते ही आ गए हैं । अब तक का समय इन्होंने जैसे-तैसे काटा है ! यह सब तभी होता है जव प्रेम के कारण मन अपने नियंत्रण में न हो । अथवा रात्रि की परिभाषा करते हुए कहा गया है—'जब हृदय में रति-रस का आविर्भाव हो तभी रात आ जाती है, रात आने पर ही रात नहीं होती ।' इससे पूर्व के वर्णनों में कभी दिन या रात का उल्लेख नहीं हुआ, तब इसी स्थल पर रात के समय का निर्देश करना संगत नहीं बैठता । अतः उपयुक्त अर्थ यही है कि प्रियतम श्रृंगार-रस के भावना के उदित होते ही, अथवा उसकी उत्कंठा में भरकर यहाँ आ पहुँचे हैं । यह तो स्पष्ट ही है कि इससे पूर्व गाने, झूलने आदि के प्रति उत्कंठा थी, अब संभावित रत्यानन्द के प्रति उत्कंठा है ।

'ताम्'—अर्थात् उस प्रिया (के हाथों को पकड़कर) । प्रियाजी तो सामने ही विद्यमान थीं, फिर 'उसे' कहने से यह भ्रम होता है कि जैसे वह कोई अन्य नायिका हों । किन्तु इस कथन के मूल में भी चित्त की विह्वल अवस्था ही है । 'करयोः' का अर्थ

सहसा शीघ्रमत्यातुरतयेति नीत्वा नीपाटवीं प्राविशत् । यद्वा तस्याः करयो-रिति तावदेकहस्तं गृहीतम् । समानबलेन द्वितीयकरत उन्मोचयन्तीमवेक्ष्य साहसेन द्वयमेव तेन प्रकर्षेण गृहीतमिति पश्य दुलितत्वम् नास्मत्तः संकुचितोऽयं चौर इवास्मदीयं वस्तु गृहीत्वा वनान्तरे प्रच्छन्नः । चौरोऽपि-रजन्या मुख एवायाति । अतएव स्वयमपि श्याम एव । ततः सादृश्यादेव वयमनिमिषन्त्य एवातिष्ठाम । करद्वयगृहणमपि साहसित्वमेव, अटव्यपि निर्जनत्वसूचिका । ननु पदचिन्हमन्वेषणीयं, कथं स्वनिधिर्न मृग्यत इति ? तत्राह—तल्पे मिलितयोर्द्वयोर्महति रतिभरे शीत्कारितं प्राप्ते सत्यपि । तेन शीत्कारितं तया कृतमित्यर्थः । एतच्चौर्यचिन्हप्राप्तावपि ममत्वन्योऽप्य-भिलाषोऽस्तीत्याह—'तद्वाचा' । यां नीत्वा प्राविशत्तस्याः प्रस्तुतायाः स्ववस्तु-नो वाचा वाण्या किञ्चित्सुखरूपं तर्जनं वाक्यं, तत्प्रग्रहणदण्डरूपं किमु

रसकलश

है—अपने हाथों में पकड़कर–अर्थात् प्रेम के आवेश में जोर से आलिंगन कर। 'सहसा'-शीघ्र ही, अत्यन्त अधीरता के साथ लेकर कदंबखंडी में प्रवेश कर गये । अथवा उसके हाथों को पकड़कर । पहले तो एक हाथ पकड़ा, किन्तु श्रीराधा में बल कम नहीं था, अत: जब वह दूसरे हाथ से अपना हाथ छुड़ाने लगीं, तो यह देखकर साहस के साथ श्रीकृष्ण ने उनके दोनों हाथ कसकर पकड़ लिये । सखी ! इस लाड़भरी शैतानी को तो देख ! हमारी उपस्थिति के कारण भी उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ और चोर की भांति हमारी चीज लेकर दूसरे वन में छिप गये । चोर भी रात के प्रारंभ होते ही आता है । चोर होने के कारण ही वह 'श्याम' (काले) हैं। अत: चोर जैसे दिखाई देने के कारण हम सब सखियाँ तो पलक टकटकाते ही रह गई । दोनों हाथ पकड़ लेना भीं साहस का काम है (जोकि चोर में ही होता है) फिर और 'अटवी' (वनी) कहने से भी निर्जनता प्रकट होती है । अच्छा, तो चोर के पैरों के निशान ही खोजने चाहिएँ । फिर आप अपनी अमूल्य वस्तु को क्यों नहीं खोजतीं ? इस पर कहते हैं – शय्या पर दोनों का मिलन होने पर सुरतानन्द के प्रगाढ़ आवेश में सीत्कार की अवस्था में पहुँच जाने पर भी (श्रीकृष्ण को फटकार खाता हुआ कब सुनूंगी ?) । ऐसा कहने से स्पष्ट है कि सीत्कार श्रीराधा ने ही किया । चोरी के इस चिन्ह के मिल जाने पर भी मेरी तो एक दूसरी अभिलाषा और है । उसे ही बताते हैं—'तद्वाचा' (श्रीराधा की वाणी में) । जिसे लेकर श्रीकृष्ण कदंबखंडी में चले गए उसी अपनी वस्तु (श्रीराधा) की वाणी से सुखदायी फटकार को कब सुनूंगी ? यह फटकार श्रीराधा को पकड़कर ले जाने के अपराध के लिए दण्डस्वरूप होगी । ऐसी तर्जना को क्या मैं सुनूंगी ? जैसे किसी धन को अपने धन के चिन्ह देखने के बाद यह निश्चय हो जाने पर भी कि माल मिल ग

श्रोष्ये ? यथा धनिनः स्वधनचिन्हनिश्चयेऽपि किञ्चित् साक्षाद्दर्शनं विना हृत्तापो न शाम्यति, तद्वत् तर्जनश्रवणम्। यदस्मद् हृदयाग्रतो बलादाच्छिनदिति तर्जनस्यैव तात्पर्यम्। कोपवाक्यम् कदापि न श्रुतं, पश्यामि कथं कोपे भंग्या वदेदिति बाल्यसंगित्वहेतुकोऽभिलाषः।

'हरे' ! इति परमाभिलाषार्त्या दैव संबोधनम्। पश्यामीष्टबलाच्चेत् प्राप्यते, अन्यथाटवीं प्रविष्टात् स्तेनात् कः प्राप्येत। ननु मार्गणकुशलाश्चराः के सन्तीति तत्राह—स्वश्रोत्ररन्ध्रेएव श्रितोऽस्मि। एते मे शरणम्। एतत्कृपयैव तच्छ्रवणधनं प्राप्स्येऽत एव तदेकप्रवणतया तिष्ठामि, न तु जालरध्रान्ते मद्गतिः। न जाने स सखीसंकोचभीत्येवाग्रतो गच्छेदिति धीरत्वेन भाव्यम्। स्तेनग्रहणमपि धैर्य्येण स्यादिति।

तत्तर्जनं यथा—'मत्कण्ठे किं नखरशिखया दैत्यराजोऽस्मि नाहम्', इत्याद्यपि घटते इति। कार्कश्योक्तिरपि तादृशप्रत्युपकारकैव। यद्वा तर्जनमन्यत् सहृदयवेद्यम्।

रसकलश

है, जब तक वह उसे अपनी आंखों से नहीं देख लेता तब तक उसके हृदय का संताप शान्त नहीं होता, वैसे ही प्रस्तुत में भी श्रीराधा के द्वारा दी जाने वाली फटकार सुनने का तात्पर्य है। यह (श्रीकृष्ण) हमारे देखते-देखते जबरन उन्हें हमसे छीन ले गए, इसके लिये उन्हें फटकार मिलनी चाहिए—यह तात्पर्य है। श्रीराधा को कुपित होकर कभी कुछ कहते नहीं सुना, तो अब देखना है कि क्रोध आने पर वह कहने का क्या ढंग अपनाती हैं। इस अभिलाषा के मूल में सखियों के बालकपन से लेकर श्रीराधा के साथ रहना ही है।

'हरे' इस संबोधन के अन्दर अपनी तीव्र अभिलाषा के कारण दैव की पुकार छिपी हुई है। अर्थात् इष्ट की दुहाई देने पर मिल जाय तो मिल ही जाय, नहीं तो जंगल में गायब हुए चोर से किसकी पार पड़ती है। अच्छा, ऐसे आपके पास कौन-से गुप्तचर हैं जो खोज लगाने में कुशल हों, तो इस पर कहती हैं—मेरा सहारा तो मेरे कानों के छेद मात्र हैं। यही मेरे रक्षक हैं। इनकी कृपा से ही श्रीराधा के तर्जनात्मक वचनरूपी धन मुझे मिलेगा, अतः उधर ही ध्यान लगाकर बैठी हूँ। लताओं के जाल के छेदों में से तो मैं अन्दर प्रवेश कर ही नहीं सकती। न मालूम सखियों की उपस्थिति से झिझककर वह कब आगे से भाग निकले, अतः धैर्य्य से काम लेना होगा। चोर भी धैर्य्य रखने से ही पकड़ा जायगा।

'तर्जन' (फटकार) उसी प्रकार का समझना चाहिये जैसा कि 'मत्कण्ठे किं नखरशिखया दैत्यराजोऽस्मि नाहम्' इस पद्य (१६३) में वर्णित है। यदि कड़ी बात कही जाती है, तो वह श्रीकृष्ण के हित में ही होगी। अथवा फटकार का और किसी प्रकार का अर्थ भी सहृदय जन लगा सकते हैं।

अत्र क्वचित् 'वीची' इति पाठः सिन्धुनद्यादिसंबन्धाभावाच्चिन्त्यः । 'श्रितः' इति पुंस्त्वं अहं सखीजन इति तदानीं निजोपेक्षया साधारणमननोक्तिः कटाक्षः । रजन्यागमग्रहणरहःशय्याप्रापणरतिभरशीत्कारतर्जनादिक्रमोऽपि पूर्वपद्योपक्षिप्तो दर्शितः ॥१६७॥

रसकलश

इस पद्य में कहीं-कहीं 'तद्वीची सुखतर्जनम्' यह पाठान्तर भी देखा जाता है किन्तु प्रस्तुत पद्य के वर्ण्य विषय का न तो समुद्र से कोई संबन्ध है और न नदी से, अतः उसे असंगत ही मानना चाहिए ।

'स्वश्रोत्ररन्ध्राश्रितः' में 'आश्रित' शब्द पुंलिग में प्रयुक्त है (जबकि श्रीहितसखी का विशेषण होने के कारण स्त्रीलिङ्गान्त 'आश्रिता' पाठ होना चाहिए था । इसके समाधान के लिये 'आश्रितः' के विशेष्य 'सखीजनः' का अध्याहार करना होगा । पुंलिङ्ग में अपना निर्देश कर श्रीहितसखी ने यह कटाक्ष किया है कि आपने जब मेरी उपेक्षा कर दी तो अपना विशिष्ट स्थान खोकर मैं तो एक सामान्य सखीजन ही रह गई, (नहीं तो भला मुझे इतनी देर तक—इतना दूर रहकर आपकी वाणी सुनने की अधीरता क्यों सहन करनी पड़ती ? इस पद्य में वर्णित रात्रि का आगमन, हाथ पकड़ना, एकान्त शय्या पर मिलन, सुरत, शीत्कार फटकार आदि सब, पूर्व पद्य में जो कुछ कहा जा चुका है उसके बाद की स्वाभाविक और क्रमिक परिणति के रूप में ही दिखाया गया है ॥१६७॥

टिप्पणी—जैसा कि रसकुल्याकार ने निर्देश किया है, प्रस्तुत पद्य के चतुर्थ चरण में पाठ भेद मिलता है । श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करण में यह पाठ मिलता है—'तद्वीचीसुखतर्जनम् ।' किन्तु पद्य की टीका 'तद्वीचीमुखतर्जनम्' पाठ मान कर की गई है । दूसरे, रसकुल्याकार ने इसी चरण में 'हरे' को संबोधन का रूप माना है जबकि श्रीवेंकटेश्वर प्रेस के संस्करण में 'हरे', (षष्ठ्यन्त) पाठ मिलता है । इन पाठ-भेदों के कारण मूल आशय के चमत्कार में कोई अन्तर नहीं आता, परन्तु अर्थ की दृष्टि से तो वे विचारणीय हैं ही ।

रसकुल्याकार का कथन है कि पद्य के वर्ण्य विषय का समुद्र अथवा नदी से कोई संबन्ध न होने के कारण 'वीची' पाठ चिन्त्य है । बात सही है, परन्तु क्लिष्ट कल्पना द्वारा साध्यवसाना लक्षणा का आश्रय लेकर 'वीची' का अर्थ भ्रकुटि-तरंग लगाया जा सकता है । तर्जन का भाव भ्रकुटियों को तरेर कर व्यक्त किया ही जाता है । 'भ्रूभङ्ग' आदि कवि-शब्दावली में 'भङ्ग' का अर्थ तरंग ही है । 'भ्रूवीची' में आरोप्यमाण के द्वारा यदि विषय (भ्रूकुटि) का निगीर्णन कर लिया जाय, तो विषय (वीची) मात्र शेष रह जाता है ।

किन्तु श्रीकृपालाल गोस्वामी ने 'तद्वीचीसुखतर्जनम्' के स्थान पर 'तद्वीचीमुखतर्जनम्' पाठ माना है और उसे 'शीत्कार' का विशेषण मानकर 'तदारम्भस्य भयदर्शकम्—

एवं श्यामकिशोरमौलिरिति प्रियस्य नववरत्वोद्देशेन रसौत्सुक्य-कारणकैशोरं वैदग्ध्यं च सकार्यद्वारकमनुवर्ण्य स्ववस्तुनोऽपि तादृशवर वर्णिनीगतदृष्टिर्जाता । पश्चाद्बाल्यसङ्गानुभूतस्मृतिसंतोषामृततृप्ता किमहं तद्वैदग्ध्यभ्रान्तेति तन्नित्यकैशोरमाह । अत्रैव प्रकटाप्रकट नित्य-लीलासिद्धान्तो दृश्यः ।

श्रीमद्राधे त्वमथमधुरं श्रीयशोदा कुमारे,
प्राप्ते कैशोरकमतिरसादर्हती साधुयोगम् ।

रसकलश

इस प्रकार 'अद्य श्यामकिशोरमौलिः' इस पूर्व पद्य के द्वारा नवीन वर की दृष्टि से प्रियतम की रसोत्कंठा की कारणभूत किशोर-अवस्था तथा विदग्धता का उसके कार्य-कलापद्वारा वर्णन करने के उपरान्त अपनी वस्तु श्रीराधा के प्रति भी श्रीहितसखी की भावना उसी प्रकार की किसी सुन्दरी-जैसी हो गई। बाद में, बालकपन में एक साथ रहकर उन्होंने जो मधुर अनुभव किये थे उनकी याद आते ही उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ मानों वे अमृत पीकर तृप्त हो गई हों, और अब वह सोचने लगीं कि कहीं मैं भ्रम से श्रीराधा को निरी भोली (अविदग्ध) तो नहीं समझ बैठी हूँ, अतः उनकी नित्य किशोर-अवस्था का वर्णन करती है। इसी स्थल पर प्रकट लीला तथा अप्रकट लीला के सिद्धान्त पर भी विचार करना ठीक होगा।

"हे श्रीराधे ! तुम किशोर-अवस्था को प्राप्त हुए श्रीयशोदानन्दन के साथ, उनके प्रति अत्यधिक अनुराग के कारण, विवाह-संबन्ध द्वारा) मधुर मिलन के योग्य हो गई

यह अर्थ किया है। यह भाव अपने में बड़ा सुन्दर है । रति के आरंभ में नायिका द्वारा शीत्कार संभाव्य भय को व्यक्त करता है, पर नायक-नायिका जब सुरतावेश की मध्य स्थिति में हों, तो 'आरंभस्य भयदर्शकम्' की संगति नहीं बैठती । रति के मध्य में भी शीत्कार द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, पर उस अवस्था में, जैसा कि श्रीहितसखी का अभिप्रेत है, शीत्कार और तर्जन रति-विलासमात्र होते हैं। अतः श्रीकृपालाल गोस्वामी का अर्थ सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है। दूसरे, उनके अर्थ में 'वीची' शब्द के भाग्य का निपटारा तो किया ही नहीं गया।

रसकुल्याकार का यह कथन कि सिन्धु आदि का सम्बन्ध न होने के कारण 'तद्वीचीसुखतर्जनम्' पाठ चिन्त्य है, स्वयं चिन्त्यता से परे नहीं है। पद्य में सिन्धु या नदी शब्दों द्वारा उपात्त भले ही न हो, पर 'रतिभरे' में 'भर' शब्द का अर्थ स्पष्टतः 'प्रवाह' है। 'मनोरंजन के लिए समुद्र में तैरते हुए व्यक्ति को तरंगों की हल्की-हल्की थपड़ें सुन्दर प्रतीत होती हैं। उसी प्रकार सुरत-मध्य में भी सीत्कार, शुष्क रुदन, तर्जनादि अनुभाव रसनिष्पत्ति को चरम बिन्दु तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से 'वीची' की व्यंजना भी कम अनूठी नहीं है।

इत्थं बाले महसि कथया नित्यलीलावयः श्री-
जातावेशा प्रकटसहजा किन्नु दृश्या किशोरी
॥१६८॥

इत्थं श्रीमदित्यादिप्रकारकथया मम तस्याश्च मिथो गोष्ठचा बाले महसि तेजसि 'कनकचम्पकाभं महः' इत्यादि तेजसो यत्र तत्र बहुश उक्तत्वात् नित्यलीलावयः कैशोरं तस्य श्रियः परमसुषमाया जात आवेशो यस्याः। श्रुतमात्रेणावेशोजातस्तदनन्तरं प्रकटं सहजं स्वरूपं प्रकृतं धर्मि नित्यकैशोरं यस्याः। अनेनान्या बाल्यादयो धर्मा इत्युक्ताः। 'नु' इति वितर्के। तदानीं संभ्रमेण र्तकितं किं किशोरी दृश्यास्ति ? कौमारेऽपि मयैवं दृष्टचरम्। तदानीमेव कुमारी पृच्छ्यमाना प्रत्युत्तरदानमिव किशोरी जातेति। 'दृश्या' दर्शनीयैव आदित एवं, तदाद्यतनस्य किमु वाच्यमिति भावः। इत्थं कथमिति ? हे श्रीमद्राधे ! परम संसिद्धिमूर्ते, वृषभानुनन्दिनि ! त्वम्। 'अथ' इति समुच्चये च पुनस्तादृशश्रीयुक्ते यशोदाकुमारे

रसकलश

हो'। बाल्यावस्था में इतना कहने मात्र से जिन्हें नित्यलीला के लिए उपयुक्त किशोरावस्था की शोभा का आवेश हो आया और जिनका सहजरूप प्रकट हो गया, ऐसी किशोरी जी क्या कभी मुझे दिखाई दे सकेंगी ?"॥१६८॥

इस प्रकार (कि हे श्रीमती राधे ! यशोदाकुमार अब किशोर हो गए हैं, इसलिये तुम्हारा उनके साथ विवाह-संबन्ध हो जाना चाहिये), यह कहने के उपरान्त, अर्थात् आपस की विश्रंभ गोष्ठी में तुम्हारे सम्बन्ध में हम लोगों ने जो कुछ कहा, उसके बाद ही बाल्यतेज (अवस्था) में ही—कई स्थलों पर श्रीराधा का वर्णन यह कह कर किया गया है कि उनका तेज(वर्ण) सोने के चम्पा-पुष्प जैसा है (कदानु कलयामि तत् कनकचम्पकाभं महः (१५७)—तुम्हारे शरीर में नित्यलीला के उपयुक्त किशोरावस्था की शोभा का आवेश भर गया। ('तुम्हारा अब विवाह हो जाना चाहिए') इतना सुनने मात्र से ही आवेश हो गया। उसके बाद यह हुआ कि तुम्हारा सहज रूप प्रकट हो गया, अर्थात् प्रकृतिसिद्ध नित्य किशोरावस्था प्रकट हो गई। इससे सूचित किया गया है कि यह कैशोर रूप आपका नित्य है तथा धर्मी है और बाल्य आदि अवस्था में उसके धर्म हैं। 'नु' से यहाँ शंका प्रकट की गई है। उस समय भ्रमवश हो मैंने तर्क किया था कि क्या अब किशोरी का व्यक्तित्व दर्शनीय हो गया है ? कुमार अवस्था में भी मैंने यही देखा था (कि जब-जब मैंने उनसे ऐसा पूछा कि क्या तुम अभी बाल्या-

मधुरं परमप्रियं कैशोरकं प्राप्ते सति। अथवा 'अथेति शब्दोऽत्र योजनीयः, कैशोरकप्राप्त्यनन्तरमिति। 'अतिरसात्' इत्यद्यतनलालनादिरसात् तदानीं निरतिशयास्वादात् 'साधुयोगम्' समीचीनं यथार्हंयोगं कनकरत्नखचनमर्हती भविष्यतीति पूर्वमुक्तम् 'कार्यो विवाहोत्सवः' इत्यभिलाषो मनसि निहिततर एव। अतो योगस्य साधुत्वं, उभयकुलसानकघोषविवाहोत्सवपूर्वकं सर्व-भावैरनुकूलत्वम्। इदानीं त्वमपि कुमारी, तथैवायमपीति। एवंमल्लाल-सहार्दं ज्ञात्वा मत्संदेहं सुचिरविलम्बितसिद्धिमयं निवारयन्तीव किशोरी जाता। अर्थान्माशोचस्त्वदर्थमेवास्मीति भावः।

अयं भावः। किशोरलीला नित्या धर्मिणी। अन्ये बाल्याद्यवस्थाधर्मा नैमित्तिकास्तत्तद्वात्सल्यादिरसपोषार्थं लौकिकजातान् स्वरसार्हजीवान्

रसकलश

वस्था में ही हो ?) तो मानों उसके उत्तर में वे किशोरी हो गईं। तो जब सदा से ही श्रीराधा ऐसी किशोरी हैं, तो आज के संबन्ध में तो कहा ही क्या जाय ? यह भाव है। यह कैसे ?—इसका व्याख्यात्मक उत्तर देते हैं—परमसिद्धिरूपिणी हे श्रीराधे ! वृषभानुनन्दिनी ! तुम ·····। 'अथ' यहाँ समुच्चय (और) का बोधक है जिससे यह अर्थ निकलता है कि तुम्हारे और तुम्हारी ही तरह शोभासंपन्न यशोदाकुमार के मधुर अर्थात् बड़ी प्यारी किशोरावस्था में पहुँच जाने पर ·····। अथवा 'अथ' शब्द को यहां जोड़ दिया जाय। तब अर्थ होगा—यशोदाकुमार के किशोर-अवस्था को प्राप्त करने के बाद अत्यन्त रस के कारण, अर्थात् प्रबल रसोन्मेष के कारण वर्तमान में लाड़-प्यार के रस से और पहले अत्यन्त आस्वाद से—विवाह सम्बन्ध के योग्य हो जाओगी। यह संबन्ध ऐसा सटीक बैठेगा जैसे सोने में नगीना। इससे पूर्व (पद्य ५६) में कहा जा चुका है—'बच्चों के खेल ही खेल में चुपचाप दोनों का विवाहोत्सव कब संपन्न कराया जायगा ? उसी अभिलाषा को श्रीहितसखी अब भी मन में पाले हुए हैं। इसीलिए यह विवाह-संबन्ध उनकी दृष्टि से अत्यन्त समीचीन है। इस विवाह के कारण सानक और घोष दो वंशों के बीच नाता कायम होगा, अतः सब प्रकार से यह अनुकूल है। इस समय तुम भी कुंवारी हो, इसी प्रकार वह भी कुंवारे हैं। इस प्रकार श्रीराधा ने मेरे हृदय की अभिलाषा को जानकर, कार्यसिद्धि में अनावश्यक विलंब के कारण मुझे जो सन्देह हो गया था, उसे मानों दूर करने के लिये कुमारी राधा किशोर बन गईं। अर्थात् मुझे ढाँढस बंधाते हुए उन्होंने कहा—चिन्ता न करो, तुम्हारे लिए ही मैं ऐसी (विवाहयोग्य) किशोरी ही हूँ।

भाव यह है—किशोर-लीला शाश्वत है, धर्मिणी है। बाल्य आदि अन्य अवस्था के धर्म नैमित्तिक (कारण जन्य) हैं। वात्सल्य आदि रसों के पोषण के लिए तथा

स्वलीलारसावेशार्थं च प्रकटिताः । किञ्च माधुर्यपुष्टिर्मातृपितृसंबन्धं विना न स्यात्, 'लोकवल्लीलाकैवल्यम्' इत्यादि श्रीव्यासाद्युक्तेः । स्वस्य हितसख्या अपि पारिवर्हानुगमनानन्दो न स्यादिति । यदा वृषभानुनन्दिन्या विर्भावस्तदा नित्याङ्गसङ्गिनीनां प्राणसखीनां कथं विच्छेदः स्यादिति हितसख्याविर्भावः तत एतदुक्तिर्घटते । यथा च परिभाषितम्—

बाल्यकौमारलीलासु नित्यलीलावयः श्रिया ।
जातावेशेत्यकस्माच्च कैशोरकसमुद्भवः ॥१०६॥
इत्यादौ नित्यलीलस्य किशोरमिथुनस्य च ।
नैमित्तिकान्या संप्रोक्ता ह्यनित्या नैव कथ्यते ॥१०७॥
तयोः सर्वापि सल्लीला नित्या सद्भिर्निषेविता ।
अपि मद्रुचिरेवात्र कैशोर इति दर्शितम् ॥१०८॥

रसकलश

माधुर्य्य रस के पात्र संसारी जीवों को अपने रस की भावना भरने के लिए वे प्रकट हुए हैं । दूसरी बात यह है कि बिना कोई माता-पिता हुए माधुर्य रस निष्पन्न ही नहीं होगा । श्रीव्यासदेव ने ब्रह्मसूत्र में कहा है—'लोक-व्यवहार के निर्वाप के लिए लीलाएँ होती हैं ।' यदि व्यवहार में श्रीराधाकृष्ण को नित्य, अजन्मा माना जाय, तो श्रीहित-सखी को भी वह आनन्द नहीं मिलेगा जो दहेज लेकर श्रीराधा के श्वसुर-गृह को जाने में होता है । अतः जब श्रीराधा तत्व श्रीवृषभानुनन्दिनी के रूप में प्रकट हुआ, तो उनका अपनी प्यारी सखियों से विछोह कैसे संभव होता ? अतः श्रीहितसखी का भी प्राकटय हुआ । इसी आधार पर श्रीहितसखी की विवाह-सम्बन्धिनी उक्ति की संगति बैठती है । इसी दृष्टि से परिभाषा-प्रकरण में कहा है—

"प्रस्तुत पद्य तथा 'अकस्मात् कौमारे प्रकटनवकैशोरविभवौ' (६५) के अनुसार बाल्य और कौमार-अवस्था की लीलाओं में नित्य लीला की अवस्था, किशोरवस्था की शोभा द्वारा अकस्मात् (कौमार्य-अवस्था में ही) कैशोर का आविर्भाव हो जाता है ।" १०६

"इन पद्यों में नित्यलीला करने वाले किशोर और किशोरी (युगल) की नैमि-त्तिकी तथा नित्या-दोनों लीलायें एक साथ कही गई हैं, किन्तु अनित्य लीला कहीं नहीं कही गई ।" १०७

श्यामा-श्याम की सभी लीलायें सत्स्वरूपा हैं, अतः सत्पुरुष उन्हें नित्य मानकर ही उनका सेवन करते हैं, किन्तु मेरी रुचि तो कैशोर रूप में ही है, यह श्रीहित प्रभु ने दिखाया है ।" १०८.

स्वेनापि बहुधा प्रोक्तं विचित्रानन्दलाभतः।
पारिवर्हानुगमनसंबन्धास्वादनाय हि ॥१०६॥
वात्सल्यरसमूर्त्येककीर्तिः श्रीवृषभानुजा।
नन्दनन्दजीवातु व्रजेशमहिषी स्नुषा ॥११०॥
इत्येवोभयवंशीयनित्यनैमित्तिकोत्सवैः।
उदेति कीदृगानन्दास्वादमाधुर्यवैभवः ॥१११॥
अन्तर्लीलानिकुञ्जैकरहोभावरसान्विता।
प्रकटा चैव श्रीभानुनन्दसम्बन्धिकान्वया। ११२

इत्यादि। अचिन्त्यलीलाशक्त्या बहिर्व्रजलीलापि प्रकाशते। अन्तरंगे निकुञ्जादिषु नित्यानवरतास्त्येवेति बाह्याभ्यन्तरविरोधः परिहृतः। यथोपक्रम एव—

व्रजबहुदलपरिपूर्णं वृन्दावनकर्णिकाधाम।
सच्चित्सौख्यसरोजं मधुपतिलीलं सदा वन्दे। इति।

रसकलश

विचित्र आनन्द की प्राप्ति तथा वैवाहिक सम्बन्ध के आनन्द के आस्वादनार्थ स्वयं भी उन्होंने (श्रीहितसखी ने) दहेज के उपहार लेकर श्रीराधिका के साथ उनके श्वसुर-गृह जाने की बात कही है।" १०६.

वात्सल्य रस की मूर्ति, अनुपम कीर्ति से विशिष्ट श्रीवृषभानुनन्दिनी नन्दनन्दन की प्राणाधार और नन्द-यशोदा की पुत्रवधू हैं। ११०.

अतएव दोनों (पिता और पति) के वंशों के नित्य-नैमित्तिक उत्सवों से कैसे अलौकिक आनन्द के आस्वाद के माधुर्य का वैभव उदय होता है। १११.

अन्तरंगलीला निकुञ्ज के एकमात्र एकान्तभाव से संबन्धित हैं और बहिरंग-लीला श्रीवृषभानुजी और श्रीनन्द के सम्बन्ध से संबन्धित है। ११२, इत्यादि।

अचिन्त्य नित्यलीला की शक्ति से व्रज की बाह्यलीला प्रकाशित होती है। अन्तरंगलीला के स्थान निकुञ्ज आदि में नित्य लीला अविच्छिन्न रूप से होती ही रहती है, अतः बाह्य और आभ्यन्तर लीलाओं में कोई विरोध नहीं है।

रसकुल्या टीका के मंगलाचरण में कहा है—

व्रजरूपी अनेक प्रकार के दलों से परिपूर्ण, वृन्दावनधामरूपी कर्णिका से युक्त सच्चिदानन्द-कमल को मैं नमस्कार करता हूँ जिसमें मधुपति (श्यामसुन्दर) भ्रमर बनकर नित्य लीला करते हैं।

यत्र तत्र महानुभावैरेवमेव सिद्धान्तितम् । तदुक्तमादिपुराणे—

नित्यक्रीडानिकुञ्जेषु कदाचिद्विरमेन्नहि ।
अनन्तलीलस्य हरेस्त्रिधा लीलास्ति नित्यदा ॥
घोषे च सखिभिः सार्द्धं नन्दयन् व्रजवासिनः ।
क्रीडतेऽहर्निशं गाः स्वाः पालयन् विपिनान्तरे ॥
तथा वने व्रजस्त्रीभिः कोटिभिस्तिसृभिः सदा ।
क्रीडते रासलीलायां नोपरामः कदाचन ॥ इति ॥

श्रीमद्भागवते च—

वृन्दावनं गोवर्द्धनं यमुनापुलिनानि च ॥ इति ॥

कृष्णयामले—

स्थानं नित्यविहारस्य ख्यातं वृन्दावनं वनम् ।
यत्र नित्यं विहरति कृष्णो राधिकया सह । इति ॥

कृष्णोपनिषदि च—

पञ्चयोजनविस्तीर्णं वनं मे देहरूपकम् ।
कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृतवाहिनी ॥ इति ॥

पुनश्च—

रसकलश

अनेल स्थानों पर भक्त महानुभावों ने यही बात सिद्धान्तरूप में कही है । आदि पुराण में कहा है—

"निकुंजों में नित्य लीला करते हुए श्रीकृष्ण-राधा कभी विश्राम नहीं लेते । भगवान् की लीलायें अनन्त हैं, किन्तु (मुख्य रूप से) वे तीन प्रकार की हैं । इनमें एक नित्यलीला है, दूसरी वह जिसमें वे अपने गाँव में व्रजवासियों को आनन्दित करते हुए मित्रों के साथ खेलते हैं और वृन्दावन में गायें चराते हैं । तीसरे प्रकार की लीला में तीन करोड़ व्रजगोपियों के साथ रासक्रीड़ा करते हुए कभी विश्राम नहीं लेते ।"

श्रीमद्भागवत में कहा है—

"वृन्दावन, गोवर्द्धन और यमुना-पुलिनानि च ।"

कृष्णयामल में कहा है—

"वृन्दावन नामक वन नित्यविहार के लिये प्रसिद्ध है जहाँ श्रीकृष्ण राधिका के साथ विहार करते हैं ।"

कृष्णोपनिषद् में लिखा है—

वृन्दावनं परित्यज्य पदमेकं न गच्छति ।
गोप्येकया युतस्तत्र परिक्रीडति नित्यशः । इति ।

तत्र श्रीमल्लीलाधिष्ठात्र्या यथोचितं समन्वय एव । एवं परिकराणामपि दम्पत्योरैक्यं नित्यसंयोगश्च सर्वदैव । यथा ऋक्परिशिष्टे श्रुतौ—

राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका । इति ।

आदिपुराणे श्रीनारायणः—

अस्ति मे परमं रूपं यदंशात् संभवो मम ।
स नित्यं क्रीडते कुञ्जे बल्लवीगणवेष्टितः ।।
कृष्णः किशोरवेषेण किशोर्य्या राधया सह ।। इति ।।

श्रीमद्भागवते च—

निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ।

यथा च शतके—

रसकलश

पांच योजनों में फैला हुआ वृन्दावन मेरे शरीर की प्रतिमूर्ति है, (जहाँ) सुषुम्णा नाम से प्रसिद्ध श्रीयमुना अमृत के समान जल में बहती है।"

और भी—

"श्रीकृष्ण वृन्दावन से एक पग भी बाहर नहीं जाते। वहां एक गोपी के साथ वे नित्यलीला करते हैं।"

इन उक्तियों में लीला की स्वामिनी श्रीराधा की बाह्य और आभ्यन्तर-लीलाओं का सम्यक् समन्वय प्रदर्शित किया गया है। ऋक्परिशिष्टश्रुति में कहा है—

"श्रीराधा से माधव और माधव से श्रीराधा (परिपूर्णता को प्राप्त होते हैं)।"

आदि पुराण में श्रीनारायण की उक्ति है—

"मेरा एक परम (अन्तिम) रूप है जिसके अंश से मेरी उत्पत्ति हुई है। वह अंशी (श्रीकृष्ण) किशोर अवस्था में स्थित होकर गोपियों से परिवृत होकर किशोरी श्रीराधा के साथ वृन्दावन की कुंज में विहार करते हैं।"

श्रीमद्भागवत में कहा है—

"जिसकी कहीं भी समता नहीं मिलती ऐसे राधास्वरूप तेज के साथ श्रीवृन्दावन धाम में रमण करने वाले श्रीकृष्ण को मैं नमस्कार करता हूँ।"

श्रीवृन्दावन शतक में लिखा है—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिनित्यमिलतौ नित्यानुरागोन्नतौ,
नित्याश्चर्यनवीनदिव्यवयसौ नित्यस्मरोन्मादिनौ ।
नित्यान्योन्यविचित्रकेलिकलनौ नित्यालिवृन्दान्वितौ,
श्रीवृन्दावननागरौ भजमनस्तावेव नित्योज्ज्वलौ ।।

एवं नित्यलीलावयःसिद्धान्तस्य किञ्चिद्दिङ्निर्दिष्टा ।

प्रस्तुतमाह—एवं प्रकटाप्रकटे मदनुभूतचरा मम स्वामिनी नित्यकिशोरमौलिना विहरतीति तात्पर्यार्थपर्यवसानं, स्वस्य च नित्याङ्गसङ्गिनीत्वं निर्दिष्टम् । बहिरभिलाषेण 'किन्नु दृश्या' इति वाक्यं साधकानां व्रजलीलायां नित्यलीलाविच्छेदभ्रमनिरासार्थं च ज्ञेयम् ।।१६८।।

एवं नित्यकैशोरमनुवर्ण्य निकुञ्जजालरन्ध्रगतदृष्टिः समैकरसविग्रहे-

रसकलश

"हे मेरे मन ! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की दशाओं में भी जिनका नित्य मिलन बना रहता है, जिनका अनुराग नित्य बढ़ता है, जिनकी अवस्था आश्चर्यजनक रूप से नित्य नवीन और अलौकिक रहती है, जो नित्य कामावेश में उन्मत्त रहते हैं, परस्पर में नित्य विचित्र क्रीड़ायें करते हैं, नित्य ही सखी-समूहों से परिवेष्ठित रहते हैं, ऐसे नित्यस्वरूप में प्रतिष्ठित उज्ज्वल रस (शृंगार) के आधार श्रीवृन्दावनस्थित नागरी (श्रीराधा) और नागर (श्रीकृष्ण) को भज।"

इस प्रकार नित्य लीला की किशोर अवस्था के सिद्धान्त को सूक्ष्मरूप से प्रतिपादित किया।

अब प्रासंगिक विषय पर आते हैं—अन्त में तात्पर्य यह निकलता है कि मेरे आनन्दानुभव की आश्रय मेरी स्वामिनी प्रकट तथा अप्रकट लीला करती हुई नित्य भाव से किशोरशेखर बने श्रीकृष्ण के साथ विहार करती हैं। साथ ही में श्रीहितसखी ने यह भी बताया कि वे सदा अपनी स्वामिनी की अंग संगिनी होकर रहती हैं।

पद्य के अन्त में 'किन्नु दृश्या किशोरी' (हे किशोरी जी ! क्या आप देखी जा सकेंगी ?) यह अभिलाषा बहिरंग सखी के रूप में प्रकट की गई है और उसका उद्देश्य साधकों के इस भ्रम को दूर करना है कि जब श्रीराधा-कृष्ण व्रजलीला करते हैं तो उनकी नित्यलीला बन्द हो जाती है।।१६८।।

इस प्रकार नित्य किशोर अवस्था का वर्णन करने के उपरान्त निकुंज-मन्दिर के लता-पत्तों के छेदों में से झांकती हुई श्रीहितसखी अपनी कृपापात्र सखी को कहती हैं कि यद्यपि युगल के शरीरों में समान रूप से एक ही रस का संचार होता रहता है,

ऽपि माधुर्य्यवैचित्र्यास्वादहेतुकदम्पतियथार्हं शीलवैलक्षण्यध्रुवतां कृपापात्र-सखीं प्रत्याह—

एकं काञ्चनचम्पकच्छवि परं नीलाम्बुदश्यामलम्,
कन्दर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं बहिः ।
किञ्चैकं बहुमानभंगिरसवच्चाटूनि कुर्वत् परम्,
पश्य क्रीडति कुञ्जसीम्नि तदहो द्वन्द्वं महामोहनम्
॥१६६॥

हे सखीति सम्बोधनानुक्तिर्द्वन्द्वगुणरूपशीलविवेचनावेशवशविस्मृति-मयी । त्वं पश्य, यत्प्रस्तुतं तन्महामोहनं द्वन्द्वम्, अहो आश्चर्ये किमद्भुतं कुञ्जसीम्नि क्रीडति । 'सीम्नि' इति तन्मर्यादामनुल्लंघ्येत्यर्थः । यथात्रैव—'मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते' । यथा च—"वृन्दावनं परित्यज्य पाद-मेकं न गच्छति" इत्यादिवत् । अहह ! कुञ्जे किमासक्तत्वं प्रेम चैत-

रसकलश

तथापि माधुर्य के विचित्र आस्वाद के लिये अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुरूप उनके स्वभाव में एक प्रकार की निश्चित विलक्षणता है—

एक की कान्ति सोने के चंपा के फूल जैसी है, तो दूसरे का वर्ण नीले बादल के समान श्याम है, एक कामावेश के कारण चंचल रहता है, तो दूसरा ऊपर से प्रति-कूल बना रहता है, एक अनेक प्रकार मान-चेष्टायें करता हैं, तो दूसरा रसीली, मीठी, चिकनी-चुपड़ी बातें बनाता है। सखी देख ! महामोहक वह युगल कुंज की सीमा के अन्दर कैसी आश्चर्यजनक क्रीड़ायें करता है ॥१६६॥

इस पद्य में 'सखि !' शब्द के प्रयोग न करने का कारण यह है कि दंपती के गुण, रूप और शील के मनन के आवेश में श्रीहितसखी सखी को संबोधित करना ही भूल गई। (वैसे वे कहना यही चाहती हैं कि) हे सखि ! देख, इस जोड़ी में कितनी मोहनी है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि किस अद्भुत रूप से वे निकुंज की सीमा के अन्दर क्रीड़ा करते हैं। 'सीमा' का तात्पर्य यह है कि दंपती निकुंज की सीमा से बाहर पैर नहीं रखते। इसी ग्रन्थ में कहा भी है—'मधुपति रात-दिन कुंजगली की उपासना करते हैं[1]।' यह कि 'श्रीकृष्ण वृन्दावन को छोड़कर एक पैर भी कहीं नहीं रखते।' अहा ! युगलस्वरूप की कुंज में कैसी आसक्ति और प्रेम है ! ऐसा प्रेम-विहार यहीं

१. श्रीराधासुधानिधि पद्य—२३५.

स्येति । किञ्चात्रैवेदृक् प्रेमविहारो दृश्यो नान्यत्रेति भावः मोहनं तु मूर्तिवदेव, परन्तु महत्वं तत्र काञ्चनेत्याद्युत्तरोतर वैशिष्टय च सूक्ष्मदृष्टिक्रमेण सहृदयज्ञेयरूपगुणस्वभावादीनां विशेषमोहनत्वात् । सहृदयदृष्टौ यथा—'तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम्' इति ।

तदेव द्वन्द्वे प्रत्येकलक्षणमाह—एकं तु काञ्चनचम्पकच्छवि । अत्र प्रियागौरवर्णो निर्दिष्टः । परं द्वितीयं नीलाम्बुदो वर्षोन्मुखमेघस्तद्वच्छ्यामलम् । अत्र प्रियश्यामवर्णश्च, इत्येवं दूरतो दृष्टिग्रहणप्राथम्योक्तिः । पूर्वं तु वर्णमात्रमेव दृष्टया गृह्यते, ततः पश्येति पुनः सखीं प्रत्युक्तिर्ज्ञेया । तथा एकं कन्दर्पेण परमरमणाभिलाषेणोत्तरलमतिचञ्चलमिति कान्तस्वभावः । अपरं द्वितीयं बहिर्नैवानुकूलम्, अन्तस्त्वनुकूलमेव । यथा—
'सभ्रू विभङ्गमतिरङ्गनिधेः कदा ते, श्रीराधिके नहि नहीति गिरः श्रृणोमि ।'
अन्तर्यथा— "जोई जोई प्यारौ करै" इति । तदनन्तरं 'किञ्च'

रसकलश

देखने को मिलेगा, अन्यत्र नहीं, यह भाव है । मोहकता की दोनों मूर्ति हैं ही, परन्तु उस मोहनी का महत्त्व तो, जैसा कि प्रस्तुत पद्य में सुवर्णमय चंपक की छवि' आदि कहकर बताया गया है, किसी सहृदय व्यक्ति को तभी मालूम हो सकता है जबकि वह सूक्ष्म दृष्टि की एक के बाद दूसरी कोटि पार करता हुआ उनके रूप, स्वभाव आदि का विवेचन करे । सहृदय की दृष्टि के संबन्ध में कहा है—'अंजन लगी हुई आँख की तरह वह वैसे ही सूक्ष्म वस्तु को देखता है' ।[२]

उसी युगल-विग्रह के प्रत्येक लक्षण का निर्देश करते हैं । उनमें से एक की छवि सोने की चंपा के फूल जैसी है । इससे प्रियाजी के गौर वर्ण का निर्देश किया गया है । दूसरा ऐसा श्याम जैसा नीला बरसाऊ बादल । दूसरे प्रिय का वर्ण श्याम बताया गया है । दूर से सरसरी नजर डालने पर पहले तो इतना ही ज्ञात होता है कि प्रियाजी का वर्ण गौर है और प्रियतम का श्याम । अर्थात् पहली बार दृष्टि का परिचय केवल सामान्य वर्ण से ही होता है । जब इतना हो गया तो सखी से कहती हैं 'अब की फिर देख !' एक विहार की अभिलाषा से अधीर है। यह है प्रियतम का स्वभाव। दूसरा (श्रीराधा) बाहर अनुकूल नहीं है, पर हृदय से अनुकूल है । जैसा कि कहा है—'रस के समुद्र आपके द्वारा भौंहें तरेर कर कही गई 'नहीं ! नहीं !' इस वाणी को मैं कब सुनूंगी ?[३] आन्तरिक अनुकूलता का प्रमाण—'जोई जोई प्यारौ करै सोई सोई मोहि भावे ।'[४] उसके अनन्तर श्रीराधिका फिर अनेक प्रकार की मान की भंगियों से युक्त

---

२. श्रीमद्भागवत— ११।१४।२६. ३. श्रीराधासु. ० ४. श्रीहितचतुरासी—१

इति पुनश्चेत्यर्थः । बह्वी मानस्य भङ्गी यस्य तत् । 'मानश्चित्तसमुन्नतिः' इति प्रभुत्वधर्मो निर्दिष्टः । यथा—

भ्रमद्भ्रकुटिसुन्दरं स्फुरितचारुबिम्बाधरं,
ग्रहे मधुरहुंकृतं प्रणयकेलिकोपाकुलम् ।
महारसिकमौलिना समयकौतुकं वीक्षितं,
स्मरामि तव राधिके! रतिकलासुखं श्रीमुखम् ।। इति ।

परं रसवच्चाटूनि प्रियतरवाक्यानि कुर्वत् । 'रसवत्' इति प्रियहृद्द्रव कारकमित्यासक्तधर्मः । एवमुत्तरोत्तरमुभयोः सूक्ष्मदृष्टिज्ञेयधर्मनैयत्येप्य-न्तरङ्गार्थमाह—प्रियस्य वर्षोन्मुखत्वेन साभिलाषातिशयोक्तौ सत्यां तस्या अननुकूलत्वेन सहृदयाभावत्वम् । यथा धातुमय्यां न किञ्चिद्भावोदयः स्यादिति निस्पृहत्वं, परन्त्वन्तरानुकूल्योक्त्या चम्पकवत्सचेतनत्वं, तत्तदा-र्तिज्ञत्वं, रोमाञ्चोद्गमेन प्रफुल्लितत्वमपि किञ्चित् ।

रसकलश

हैं।' मन की गौरव-भावना को मान कहते हैं। श्रीराधा के मान करने के स्वभाव से इस बात की तरफ भी संकेत किया गया है कि उनमें स्वामित्व भी विद्यमान है। श्रीराधासुधानिधि में कहा है—

"घूमती हुई भ्रकुटियों से सुन्दर, बिंबफल के समान सुन्दर होठ जिस पर फड़क रहे हैं, प्रियतम द्वारा हाथ पकड़ने पर जिसमें से मीठी-हुंकार निकलती है, प्रेमपूर्ण विहार-क्रीड़ा में कोप से भरे तथा जिसको रसिकशेखर श्रीकृष्ण भय और कौतुक के साथ देखते हैं, रति-कला में आनन्ददायक ऐसे आपके मुख का मैं ध्यान करती हूँ।"

दूसरी बात यह है कि श्रीकृष्ण रसीली, चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं। 'रसवत्, का अर्थ है प्रिया के हृदय को द्रवित करने वाली (बातें)। इससे प्रिय का आसक्ति-भाव प्रकट होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यद्यपि दोनों के शील-स्वभाव निश्चित प्रतीत होते हैं, फिर भी अन्तरंग गूढ़ अभिप्राय को बताते हैं—'श्यामल' विशेषण द्वारा प्रिय को बरसाऊ बादल कहकर जब उनकी तीव्र अभिलाषा बता दी, तो श्रीराधा की वाम प्रकृति को व्यक्त करने के लिये उनकी उपमा सोने के चंपा के फूल से दी जिसका आशय यह है कि श्रीराधा में सहृदयता नहीं है। जैसे धातु की बनी प्रतिमा में किसी प्रकार का भाव-संचार नहीं होता (उसी प्रकार श्रीकृष्ण की प्रबल उत्कंठा का प्रियाजी पर कोई असर नहीं होता)। इससे उनकी निस्पृहता बताई गई है। परन्तु चंपा के फूल की उपमा द्वारा उनकी हार्दिक अनुकूलता भी व्यंजित कर दी गई है। चम्पा के फूल में चेतनता भी तो रहती है। उसी प्रकार (ऊपर से निस्पृह दिखती हुई भी) प्रियाजी प्रियतम की उत्कंठा का मर्म समझती हैं, उनकी व्यथा को पहिचानती हैं और चंपा की तरह ही रोमांचित होकर कुछ-कुछ खिल भी पड़ती हैं।

एवमन्तर्भावोदयानन्तरं बहिः प्रकाशमाह—'कन्दर्प' इत्यनेन प्रत्यङ्ग-चाञ्चल्यं, तदास्याः 'नेति नेति', 'मुञ्च मुञ्च' इति प्रातिकूल्या वाक्, पदावगुण्ठनं च। ततोऽपि बहिः प्रकाशे मानभङ्गी, ततस्तस्य रसिकेशस्य चाटूनीति। यथा—'निजप्रियतमापदे रसमये दधद्यः शिरः' इत्यादि पूर्वपूर्वसूक्ष्मक्रमोऽपि वक्तृहितरूपान्तरङ्गमर्मज्ञत्वज्ञापकः। पुनश्च पूर्वोक्तसुरतकेलिशिल्पक्रमोऽप्युक्तः अत एवाग्रे वक्ष्यति—'अनुक्रमादाकुलं महामदनवेगतः' इति।

एवं शीलवर्णनेन मानवाम्यभङ्गीदैन्याद्याः रसप्रक्रियोक्ताः सर्वसम्मताः स्युः, अन्यथा रसिकैस्तर्क्यते—अहो! तत्रैकरसविग्रहे कथं मानवाम्यादि-संभाव्यते। तत एवं ज्ञेयम्—मृदुत्वग्रहणं कार्कश्यत्याग इति तु घटत एव। यथा—'पदं सहेत भ्रमरस्य कोमलं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः' इति। अतः सर्वथा शीलत्यागस्तु रसावस्थायां घटते यत्र विगलितवेद्येतरत्वं स्यादिति। सर्वदैवेदृशत्वेऽन्यलीलाकुञ्जजलपुष्पहिन्दोलरासादीनां सर्वथैवाभावे शिष्टोक्तिरलग्नास्यादतो मार्दवग्रहणं सर्वरसिकानुकूलमेव। तस्य रसिके-

रसकलश

इस प्रकार हृदय में रसपूर्ण भाव पैदा हो जाने पर श्रीकृष्ण पर जो बाह्य प्रभाव परिलक्षित होता है, उसे बताते हैं—यह कि कामावेश के कारण उनका अंग-अंग चंचल हो उठता है। उस अवस्था में जब वे कुछ चेष्टा करते हैं, तब प्रियाजी 'नहीं! नहीं' कह कर वैसा करने से मना करती हैं, पकड़ लेने पर 'छोड़ दो! छोड़ दो!' कहती हैं। प्रियतम की इच्छा के विरुद्ध एक-दो बात भी कहती हैं और अन्त में अपना मुंह ढाँप लेती हैं। इससे भी आगे बढ़कर वह ऊपर से दिखाने के लिये मान करके बैठ जाती हैं। तब रसिक-शिरोमणि मीठी-मीठी बातें कह कर उन्हें रिझाते हैं। कहा भी है—'जो अपनी प्रियतमा के आनन्ददायक पैरों में सिर रख देते हैं।" क्रमशः पूर्व की, फिर उससे पूर्व की यह सूक्ष्मता वर्णन करने वाली श्रीहितसखी अन्तरंग मर्मज्ञता को सूचित करती है। इसके अतिरिक्त इससे पूर्व के पद्य (१९६) में उल्लिखित केलि-कौशल के क्रम का भी निर्देश कर दिया है। इसीलिए आगे के पद्य में कहेंगे—'कामवासना के प्रबल वेग से क्रम-क्रम से विकल हुए (श्रीराधाकृष्ण)।'

इस प्रकार स्वभाव के वर्णन द्वारा मान, वामता, दीनता आदि सर्वसम्मत रसोद्बोधन की क्रमिक प्रक्रिया का श्रीहितसखी ने निर्देश किया है। नहीं तो शुष्क जन तर्क कर सकते हैं—अरे! जब युगल विग्रह में एक ही रस का संचार होता है, तो मान, प्रतिकूलता आदि कैसे सम्भव है? इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि कोमलता का अर्थ

१. श्रीराधासुधानिधि—१११

श्वरद्वन्द्वस्य सर्वकुञ्जजलविहारादिलीलामयी रसमय्येवेति, 'वनं मे देहरूपकम्' इत्युक्तेर्नात्मभिन्नत्वं ज्ञेयमिति दिक्। अत एवात्रादौ परिभाषितम्—

एकं काञ्चनचम्पेतिस्वभावध्रुवतोदिता।
अन्यथा मानवाम्यादौ न स्यात् वाक्यसमन्वयः॥ इति।

प्रस्तुतमाह—ततश्चाटूक्त्यानन्तरमन्तरानुकूल्ये पूर्णकृपोदयेन दयिता-भिलाषपूर्णं क्रीडनं, ततः 'पश्य क्रीडति' इत्युक्तिः। अत एव मोहनयोस्त्वयो-स्तत्तच्छीलभावादि ततोऽपि महामोहनं, सखि! किमुच्यते? अत्र सर्वत्र तत्तदुक्तिहृदयद्वारित्वे सवासनं मन एव कारणम्। तादृग्वासनां विना नानुभूयते। यथोक्तम्—'नाट्यरसमपेक्ष्य साहित्ये, न जायते रसास्वादो विना रत्यादिवासनाम्' इति। यथा च—

रसकलश

है कठोरता का त्याग। यह बात प्रियाजी में घटती ही है। कहा भी है। 'शिरीष का फूल भौंरे के पैर के भार को सहन कर सकता है, पक्षी के पैर के भार को नहीं।' (तात्पर्य यह है कि प्रकृति से नितान्त कोमल होने के कारण श्रीराधा मान, वामता आदि के दबाव को बहुत दूर तक सहन नहीं कर सकतीं और शीघ्र ही मृदु व्यवहार पर उतर आती हैं।) अपने स्वभाव को सर्वथा छोड़ने की बात तो रस की उस स्थिति में ही संभव है जब कि देहानुसन्धान नहीं रहता। यदि श्रीराधा सर्वदा मानिनी या वाम ही बनी रहें, तो विविध प्रकार की लीलायें, जैसे निकुंजलीला, जल-विहार, पुष्पावचयन, झूलन, रास आदि तो कभी सम्पन्न ही न हो सकेंगी और शिष्ट महानुभावों की उक्तियाँ बेलगती मान ली जायँगीं। अतः मान आदि के बाद कोमलता को अपनाना सब रसिकों की भावना के अनुरूप ही है। अतः 'वृन्दावन मेरी देह का प्रतीक है,' इस कथन के अनुसार युगल दंपती को एक-दूसरे से भिन्न नहीं समझना चाहिये। इसीलिए इस टीका के परिभाषा-प्रकरण के प्रारंभ में कहा है—

'एकं काञ्चनचम्पकच्छवि' इस पद्य के द्वारा दोनों के स्वभाव का निर्धारण किया गया है, नहीं तो मान होने पर, प्रतिकूलता आदि का वर्णन करने वाले वाक्यों का अनकूलता-प्रतिपादक वाक्यों ('जोई जोई प्यारौ करै आदि) के साथ समन्वय नहीं होगा।'

अब मुख्य विषय पर आते हैं—इसके बाद चिकनी-चुपड़ी बातें करने से जब प्रियाजी अनुकूल हो जाती हैं, तो उनके हृदय में पूर्ण कृपा का भाव उदय हो आता है और तब वे विहार-केलि द्वारा प्रिया की अभिलाषा को पूर्ण करती हैं। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर कहा गया है—देख, (कुंज की सीमा में मोहन युगल) खेलता है। इसीलिए मोहने वाले इन दोनों के अपने-अपने शील-स्वभाव आदि उन दोनों से भी ज्यादा मुग्ध करने वाले हैं, सखि! इस सबका वर्णन कहां तक किया जाय? इस

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः ।। इत्यादि ।
शीलवैचित्र्यं विना माधुर्यवैचित्र्यानन्दो न स्यादितिसूत्रनिर्देशोऽत्र ज्ञेयः । मुख्यन्तु क्रीडावर्णनम् ।।१६९।।

तदनन्तरानुकूल्यक्रीडनमेवाह—

विचित्ररतिविक्रमं दधदनुक्रमादाकुलं
महामदनवेगतो निभृतमञ्जुकुञ्जोदरे ।
अहो विनिमयन्नवं किमपि नीलपीतं पटं
मिथो मिलितमद्भुतं जयति पीतनीलं महः ।।१७०।।

अद्भुतं पीतनीलं महो जयतीति । कीदृशम् ? 'निभृत' इति भिन्न-दिनलीलात्वे स्पष्टमेव, एकसमयवर्णने तु वनलताः सच्चिदानन्दमय्य एव

रसकलश

विषय पर इस ग्रन्थ में सर्वत्र हृदय को मुग्ध करने वाली जो उक्तियां कही गई हैं उसका कारण मन का वासना युक्त होना (रसानुभूतिप्रवणता) ही है। कहा भी है—'नाट्य रस की दृष्टि से रीति आदि स्थायी भावों की वासना के विना साहित्य में रस का आस्वादन ही नहीं होता।' और यह कि—

"रस के संस्कार से सम्पन्न सामाजिकों को ही रसास्वाद होता है। वासना रहित दर्शकों की स्थिति तो नाट्य शाला में वैसी ही है जैसी कि वहाँ की लकड़ी, दीवार और पत्थरों की होती है।"

जब तक स्वभाव में निजी विलक्षणता नहीं होगी, तब तक माधुर्य से सम्बन्धित चमत्कार का आनन्द ही नहीं मिलेगा, इन सब तथ्यों की ओर यहाँ संक्षिप्त रीति से संकेत किया है। मुख्यरूप से वर्णनीय विषय तो श्रीराधा-कृष्ण का विहार ही है ।।१६९।।

इसके बाद की अनुकूल क्रीड़ा का अब वर्णन करते हैं—

कुंज के एकान्त मनोहर प्रदेश के भीतरी भाग में, काम के प्रखर वेग के कारण रति क्रीड़ा के प्रसंग में अहो ! विचित्र वीरता प्रदर्शित करते हुए, क्रम-क्रम से व्याकुल हुए तथा अनोखे ढंग से नीले-पीले परिधानों की अदल-बदल करने वाले, अद्भुतरूप में मिलकर एकाकार हुए पीले-नीले तेज की जय हो।१७०

अद्भुत पीले-नीले तेज की जय हो ! कैसा तेज ? 'एकान्त' (रमणीय कुंज में रति-सम्बन्धी विचित्र शूरता को धारण करने वाला)। इस श्लोक में वर्णित लीला

यथासमयं प्रकाशं घनीभावं रहस्यं च भजन्त्येव। मंजुत्वं तत्तद्वेष्टनवलनादित्वदर्शनेन तत्तद्रतिकलोद्दीपनम्। तादृशकुञ्जमध्ये, द्वन्द्वयुद्धार्हे रणतीर्थे विचित्रमनेकबन्धादिनाऽश्चर्योत्पादकम्। वा सखी हृदि कुत एतत् वैदग्ध्यं शिक्षितमिति विस्मयदर्शकं 'रतिविक्रम' सुरतशूरत्वं स्पष्टमेव वा रतेः संप्रयोगात्मिकाया विक्रमं, बलात्कारेण सर्वावरणभङ्गपूर्वक प्रत्यङ्गैकीभवनं, पूर्वद्वयीभावस्य नखरदादित्तद्दण्डदानं, अद्वैतस्थापनमिति रससिद्धान्तरूपं विक्रमं दधत्। अथवा विविधं क्रममिति सहृदयवेद्यम्।

ननु पूर्वं रतिविक्रमो नासीदिति तत्राह—'महामदनवेगतः।' मदन आद्यन्तयुतो महान्निरवधिः प्रेमा, तस्य वेगत इति। वेगस्तु इच्छानुकूलं

रसकलश

को किसी भिन्न दिन में घटित हुई यदि माना जाय, तब तो अर्थ स्पष्ट ही है। किन्तु यदि उसे एक ही समय में घटी माना जाय, तो यह ज्ञातव्य है कि बन की लतायें तो सत्, चित् और आनन्दमयी हैं और समय-समय की आवश्यकतानुसार उनमें प्रकाश भी होताहै। वे सघन भी हो जाती हैं और रहस्यात्मक वातावरण भी वहां छा जाता है 'निभृतमंजुकुंजोदरे' में 'मञ्जु' का अर्थ है—मनोहर। कुंजे इस अर्थ में मनोहर हैं। उनकी लपेट और मंडलकारिता को देखने से विविध काम-कलाओं का उद्दीपन होता है। द्वन्द्व-युद्ध के लिये उपयुक्त इस प्रकार की कुंज के मध्य में—जिसे कि पवित्र रणतीर्थ कहना चाहिये—विचित्र अर्थात् अनेक प्रकार के आसनों के प्रयोग द्वारा आश्चर्यजनक पराक्रम को धारण करते हुए। अथवा सखियों को आश्चर्य में डाल देने वाले कि इन्होंने रति-कला का यह कौशल सखी कहाँ से लिया? 'रतिविक्रम' का अर्थ सुरत-काल में शूरता स्पष्ट ही है अथवा प्रयोगात्मक रति के प्रसंग में प्रदर्शित किया गया पराक्रम। इस पराक्रम का स्वरूप यह है कि शरीर पर के सब आवरणों को जबरन् हटाकर श्रीराधाकृष्ण के प्रत्येक अंग का एकाकार हो जाना। तथा इससे पूर्व शारीरिक भेद के कारण जो द्वित्वभाव था उसे मिटाकर अद्वैत की स्थापना। द्वित्व-जन्य भेदभाव रीति के लिये अनिवार्य होने पर भी एक प्रकार का अपराध है जिसके दंडस्वरूप युगल-विग्रह को नखाघात, दन्तक्षत आदि सहने पड़ते हैं। कामशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार नख-दन्त द्वारा किये गए आघात ही वह पराक्रम है जिसका प्रदर्शन दोनों ने किया था। 'विक्रम' का अर्थ विशिष्ट क्रम न लगाकर विविध प्रकार के क्रम (कार्य कलाप) भी लगाया जा सकता है जिसके सौन्दर्य को सहृदय ही समझ सकते हैं।

यह पूछा जा सकता है कि क्या इससे पूर्व (वर्णित लीलाओं में) पराक्रम के लिये कोई अवकाश नहीं था, तो इसके उत्तर में कहते हैं—'महामदनवेगतः' (काम के

समयं प्राप्य भवति। वेगाप्राप्तौ द्वयं स्ववशमेव। तत्प्राप्तौ स्वयं परतंत्रंक्रीडतीति। उभौ वीरौ तद्बलसहायं प्राप्य कं कं विक्रमं न कुर्याताम्। यद्वा रतिविक्रमस्तु स्थाय्येव, परन्तु वेगवशात् कार्यरूपो भवतीति तदानीं तादृशत्वधारणम्। यथा समुद्रद्रवतरङ्गस्तद्वदत्राप्यवकाशः। अवकाशेऽन्यलीलाः। तद्वेगे तद्विक्रमधारणमिति रतिक्रीडाधारणं सौकुमार्येण निस्सहत्वेऽपि विक्रमत्वसूचकम्।

पुनश्च 'अनुक्रमादाकुलम्।' अत्रापि देहलीदीपन्यायेन संबध्यते तद्वेगः। पूर्वोक्तं कन्दर्पोत्तरलत्वमनुकूलत्वं च संगतम्। पूर्वं श्यामश्चाञ्चल्येन क्षोभयति, पश्चाद् गौरी नेत्यादि प्रातिकूल्यं करोति।

रसकलश

प्रबल वेग से)। काम आदि और अन्त से युक्त होता है, जबकि प्रेम की कोई अवधि नहीं होती। उस काम के वेग से। वेग तो इच्छा में अनुकूल समय को पाकर होता है। यदि वेग न हो तो दोनों अपने वश में रहते हैं। वेग के आने पर स्वयं पराधीन से होकर क्रीड़ा करते हैं। कामदेव के बल का सहारा पाकर दोनों वीर क्या-क्या पराक्रम नहीं कर दिखाते! अथवा रति के लिए अपेक्षित पराक्रम की भावना तो दोनों में स्थायी रूप में रहती ही है, वेग को पाकर वह केवल क्रियात्मक हो जाती है। तो इस प्रकार के रति-विक्रम को युगलस्वरूप धारण करता है। जिस प्रकार समुद्र के जल में समय-समय पर ज्वार आता है, वैसे ही यहाँ भी काम का आवेश अन्तरंग क्रीड़ा के अवसर पर ही होता है। बीच के खाली समय में अन्य लीलायें होती हैं। उन (आनुषंगिक) लीलाओं का भी अपना एक वेग होता है जिसके प्रभाव में युगल उस विशिष्ट लीला के लिये अपेक्षित पराक्रम को अपनाते हैं। सुरत-क्रीड़ा को धारण करने का मतलब यह है कि युगल इतने सुकुमार हैं कि सुरत के श्रम को सहन नहीं कर पाते। फिर भी वे जो सहन करते हैं, यह उनका पराक्रम ही समझिये।

अब 'अनुक्रमादाकुलम्' की व्याख्या करते हैं—देहलीदीपन्याय से मदन वेग का सम्बन्ध यहां भी जुड़ता है। पूर्व (पद्य १६६) में कहा है कि श्रीकृष्ण कामावेश से चंचल होते हैं, तो श्रीराधा का रुख उनके विरुद्ध हो जाता है। इस कथन की संगति यहां ठीक बैठती है। पहले श्याम अपनी चंचलता प्रकट कर प्रियाजी के मन को क्षुब्ध कर देते हैं, परिणामस्वरूप गौरी निषेध द्वारा अपना विरोध प्रकट करती हैं। इस पर प्रियतम फिर चंचलता दिखाते हैं, तो प्रियाजी विरोधी रुख अपना लेती हैं। तब श्रीकृष्ण-चिकनी चुपड़ी बातें करते हैं, और प्रियाजी मुस्करा देती हैं। फिर प्रेमालाप, अनुनय विनय, विश्वास, कौतुक, स्पर्श, चुंबन, आलिंगन और आवेशपूर्ण रति-क्रिया द्वारा काम-समुद्र में ज्वार आ जाता है। यह है व्याकुलता की वह स्थिति जो क्रम-क्रम से रूपायित होती है। अतः 'आकुलम्' का अर्थ है—विविध प्रकार के काम-वेगों को

पुनर्लौल्यं ततो वाम्यं ततश्चाटूक्तिसस्मितम् ।
वार्तानुनयविश्रम्भ कौतुकस्पर्शचुम्बनैः ।।
परिरम्भरतामर्दैर्मिथः कामाब्धिवर्द्धनम् ।

'आकुलम्' इति तद्वेगधारणपारवश्यात्तत्द्वैवश्यान्तनयनम् । यद्वा प्रतिरोमानन्दसंग्रहणं अनुन्मानं भजति, अतः संभृतगृहचौरवत् किं किं संगृह्णामीत्याकुलत्वम् ।

'अनुक्रिया' इति पाठे परस्परानुकरणे नवौत्सुक्यानन्दातृप्तिव्याकुलमिति । अथवा 'अनुक्रमाद्दधत्' इति विशेषणं, 'मदनवेगत आकुलम्' इति चेति पूर्वपाठे संगतिर्ज्ञेया । आकुलत्वेऽपि रतिवैचित्र्यधारणं महाविक्रमित्वमेव द्योतयति । अतएव 'अहो !' आश्चर्ये । अथवा वेगबाहुल्ये वैचित्र्यं, क्रमनिर्वाहः कथं स्यात् ? अत्रोभयोरपि रतिमदनत्वं बोध्यं, पूर्वं शतके प्रोक्तमेव ।

ततश्च किमपि नवं यथा स्यात्तथा नीलपीतं पटं विनिमयत् । अनिर्वचनीयरीत्यापरविनिमयः, किंचित्तस्यां, किञ्चित्तस्मिन्निति, द्वयोर्वा, नैववेत्य निरुक्तदर्शनादेवमपि न वक्तुं शक्यते,एवं चापि न वक्तुं शक्यते, इति नवत्वम् ।

रसकलश

झेलने की लाचारी और उसे चरम बिन्दु तक ले जाना । आकुल होने का दूसरा अर्थ यह कि रोम-रोम में आनन्द का इतना इकट्ठा हो जाना है कि कोई उसका माप ही न हो । अतः भरे-पूरे घर में चोर जिस तरह इस असमंजस में पड़ जाता है कि क्या-क्या बटोरूँ, इसी प्रकार का उद्वेग युगल में भी उत्पन्न हो जाता है ।

'अनुक्रमाकुलम्' के स्थान पर दूसरा पाठ 'अनुक्रियाव्याकुलम्' भी देखा जाता है । उसका अर्थ यह होगा कि एक-दूसरे का अनुकरण करने में दोनों में नई-नई उत्कंठा और अतृप्त आनन्द के कारण व्याकुलता बनी ही रहती है। अथवा 'अनुक्रमात् दधत्' और 'मदनवेगतः आकुलम्' इन दोनों को 'विचित्ररतिविक्रमम्' का विशेषण मान लिया जाय । इस अन्वय की संगति पहले पाठ में ही बैठ सकेगी, न कि 'अनुक्रियाव्याकुलम्' इस पाठान्तर में । बेचैन रहने पर भी रति में विचित्रता का निर्वाह करना शूरता को ही प्रकट करता है, इसलिये 'अहो !' द्वारा आश्चर्य व्यक्त किया गया है, नहीं तो वेग की भरमार में विचित्रता के क्रम का निर्वाह कैसे हो सकता है ? इस प्रसंग में दोनों को रति और काम का प्रतीक समझना चाहिए । श्रीवृन्दावन शतक में ऐसा वर्णन किया ही गया है ।

इसके बाद 'एक नये ढंग से नीले और पीले वस्त्रों की अदल-बदल करते हुए'—इसकी व्याख्या करते हैं—वस्त्रों की अदल-बदल अनिर्वचनीय रीति से की जाती

अत्रापि 'अहो' इति संबद्धयते। किञ्च यदैतादृशवेगेऽपि विक्रमित्वं तदापर-विनिमयोव्याकुलत्वसूचक एव दृश्यते। 'अपि नवरीतिकं सखि! पश्य' इति। तत्राप्यास्तां पटविनिमयः। अधुना अद्‌भुतं यथास्यात्तथा मिथः परस्परं मिलितम्, न गौरश्यामौ विवेक्तुं शक्यते, इति अहो आश्चर्यमुभयविनिमयो जातः। अतः कस्य जयो, कस्य नेति विवेकाभावात् वयं वन्दिनः किमेकजयं वदामः। तत उभयमेव नीलपीतं महो जयति, सर्वोत्कर्षेण वर्तते। तत्राप्यद्‌भुतं मिश्रितम्! प्रत्येकमङ्गेषु प्रत्येकपीतमहोमिश्रणं, तेषु च तन्मिश्रणमिति सशिरोधुवनपूर्वकचित्रीकरणम्। यदा च निर्विशेष-जयवादे प्रिया कुप्येत् तदानीमद्‌भुतजयोऽस्माभिरुक्तः, इत्युत्तरं दास्याम इति। तत्रापि 'पीतेति' प्राथम्यमुक्तवत्यश्चेति कौतुकं सहृदयसखीवेद्यम् ॥१७०॥

एवं कामप्रेमरसविलासवैवश्यानन्तरं तथैव परिमर्दितस्रग्विनिर्मित परि-हितवसनमण्डलसालसशयनोत्थानस्खलद्‌गत्यादिसुरतचिन्हजनित परिजन-

रसकलश

है—कुछ श्रीराधा में, कुछ श्रीकृष्ण में, अथवा दोनों में या फिर दोनों में नहीं। अनिर्व-चनीय दृश्य होने के कारण इदमित्थं रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यही नवीनतम है। 'अहो' का सम्बन्ध यहां भी जुड़ेगा। एक और बात यह है कि संभोगेच्छा के उस वेग में भी जब पराक्रम दिखाया जाता है, तो वस्त्रों की अदल-बदल से व्याकुलता ही प्रकट होती है। (आश्चर्य प्रकट करती हुई श्रीहितसखी कहती हैं—) 'सखी इस नए ढंग को देख तो सही। वस्त्र बदलने की बात छोड़। अब श्याम और गौर (तेज) आपस में ऐसे घुल-मिल गये हैं कि अलग करके पहिचाने नहीं जाते! कैसा आश्चर्य है कि दोनों की अदला-बदली हो गई! अतः किसकी जय बोली जाय, किसकी नहीं, इस परिच्छेदात्मक बुद्धि के अभाव में वन्दना करने वाली हम सखियां दोनों में से किस एक की जय बोलें? अतः हमें यही कहना पड़ेगा कि दोनों ही की, नीले-पीले तेज अपने-अपने उत्कर्ष की चरम कोटि पर विराजते हैं (अर्थात् दोनों की जय हो)। तेजों के मिलावट में भी एक अद्‌भुतता है। प्रत्येक अंग में प्रत्येक पीले तेज का मिश्रण और फिर उनमें अंगों की कान्ति का मिश्रण। इस प्रकार सखियों द्वारा सिर हिलाकर प्रशंसित यह मिश्रण है। यदि सामान्यरूप से जय बोलने में प्रियाजी नाराज हों तो उत्तर में हम कह देंगीं कि हमने तो अद्‌भुत जय बोली है और उस जय-जयकार में भी पीत वर्ण को प्रथम स्थान दिया है। इस सब कौतुक का मूल्य सहृदय सखियां ही जान सकती हैं ॥१७०॥

इस प्रकार काम और प्रेमरस से भरी क्रीड़ा की विवशता के बाद वैसी ही मसली हुई मालायें अदल-बदल कर पहिने हुए वस्त्र, अलसौंहे भाव से पलंग से उठना,

मनोनयनानन्दकदम्बवनशोभावलोकनकौतुकहेतुकनिभृतकुञ्जनिर्गतपरस्परां-सैकैकवलद्बाहुवर्णव्यत्ययपूर्वकविविधविनोदभंगिकनीलपीतकमलप्रत्येककरो-पहारेणाभिवाद्य परिमलाकृष्टमधुपराजिपरिवालितालिवृन्दमभिसम्बोध्य तद्गतिसुषमां वर्णयति—

करे कमलमद्भुतं भ्रमयतोर्मिथोऽसार्पित-
स्फुरत्पुलकदोर्लतायुगलयोः स्मरोन्मत्तयोः ।
सहासरसपेशलं मदकरीन्द्रभङ्गीशतै
र्गतिं रसिकयोर्द्वयोः स्मरत चारुवृन्दावने
॥१७१॥

हे रसिकाः सख्यः ! यूयं चारुवृन्दावने द्वयो रसिकयोः सहासरसपेशलं यथास्यात्तथा गतिं स्मरत । 'रसिकयोः 'इति रसास्वादनविवेचनकुशला-

रसकलश

लटपटाते हुए चलना—संभोग के इन चिन्हों को देखकर सखी-परिकर के हृदय और नेत्रों को बड़ा आनन्द मिला । इसी बीच श्रीराधाकृष्ण-कदंब-वन की शोभा को निहारने के कुतूहल से एकान्त कुंज से निकलकर बाहर आए । उनकी एक-एक बाँह एक-दूसरे के कन्धे को इस तरह लपेटे हुई थी कि एक का रंग दूसरे पर संक्रान्त हो गया था । अनेक प्रकार के हास-परिहास भी दोनों के बीच चल रहे थे । श्रीहितसखी ने इसी समय दोनों के एक-एक हाथ में उपहार स्वरूप एक-एक नीला और पीला कमल अर्पण कर नमस्कार किया । इसी अवसर पर सुगन्ध से खिचकर इकठ्ठा हुए भौरों की पंक्तियों से घिरे सखी-समूह को संबोधित करती हुई श्रीहितसखी दोनों की चाल-ढाल की शोभा का वर्णन करती हैं—

"हाथ में अनोखे ढंग से कमल को हिलाते हुए, एक-दूसरे के कन्धे पर, खिलते हुए रोमांचों से युक्त लता के समान भुजा को रक्खे हुए, कामावेश से उन्मत्त, रसीली हँसी से सुन्दर दिखते हुए दोनों (श्रीराधाकृष्ण) की सुन्दर वृन्दावन में, मस्त गजराज के रंगढंग से उपलक्षित चाल का स्मरण करो"॥१७१॥

हे रसिक सखियां ! तुम सब सुन्दर वृन्दावन में, रसीली हँसी से सुन्दर दिखते हुए दोनों रसिकों की चाल-ढाल का स्मरण करो । रसिक कहकर उन्हें रस के आस्वाद तथा उसकी विवेचना में असाधारण रूप से निपुण बताया गया है । श्रीवन्दावन को सुन्दर कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमा से रात सुशोभित होती है और रात से चन्द्रमा, उसी प्रकार दम्पती की गति-भंगी से वृन्दावन की सुन्दरता बढ़ती है,

नन्यत्वमुक्तम् । 'चारुवृन्दावने' इति यथा रजनी शशिना भाति, शशी भाति तथा निशयेतिवत् गतिवनयोः परस्परशोभायमानत्वात् । कीदृशयोः? अद्भुतं निरुपमसुन्दरं खरदण्डत्वरहितं कमलं करे भ्रमयतोः । नीलं प्रिया-हस्ते,पीतं प्रियहस्ते, इति तदानीं सख्युपहृतं ज्ञेयम् । तादात्विकसहृदयाल्हा-दकरसविशेषोद्दीपकं मिथो विनिमयस्मारकत्वमद्भुतत्वम् । भ्रामणमिदम-स्मत्कौतुकमेवेति भङ्गिकम् । वा अन्तरद्वैतत्वमेवावयोर्बहिर्द्वैतविनिमयहास्यं भवद्भ्रामणमेवेति भङ्गिकमिति ।

एवमेकैकवामदक्षिणकरमुभयोर्निर्वण्य द्वितीयमाह—मिथोंऽसार्पितमत एव स्फुरत्पुलकदोर्लतायुगलं ययोस्तौ । सन्निहितसुरतान्ते विस्फुरत्पुलकत्वेन निःसीमाभिलाषि प्रेमित्वसूचनं, मिथो वेष्टनधर्मेण लतात्वं,अर्पणं तदीयत्वेन स्वत्वाभावभङ्गिकम् । 'मिथ इत्यनेनात्रापि बाहुविनिमयभङ्गी स्पष्टैव । दोर्लतयोरित्यनेनैव चरितार्थत्वाद्युगलोक्तिस्तदानीमुभयतो गौरश्यामभुजो-

---

रसकलश

और वृन्दावन की सुन्दरता से युगलस्वरूप की गति में चार चाँद लगते हैं । कैसे दोनों ? कि अद्भुत अर्थात् अनुपम रूप से सुन्दर, खरखरी दण्डी से रहित कमल को हाथ में हिलाते हुए । श्रीहितसखी ने नीला कमल प्रियाजी को भेंट किया था और पीला प्रियतम को । उस समय की यह शोभा रसिकों के हृदय को आनन्द से भर देती थी और प्रिया-प्रियतम के लिये भी वे कमल एक विलक्षण रस के परिपोष निमित्त उद्दीपन का कार्य कर रहे थे । साथ ही वे दोनों को यह भी याद दिला रहे थे कि किस प्रकार उन्होंने एक-दूसरे के वस्त्र धारण कर रक्खे हैं । कमल को अद्भुत कहने का यही तात्पर्य है । कमलों को वे इस ढंग से घुमा रहे थे मानों कि कह रहे हों कि यह तो हमारा कौतुक मात्र है । अथवा वे यह व्यंजित कर रहे थे कि हृदय से हम दोनों एक हैं और वस्त्रों की यह अदल-बदल तो दिखाने भर का मजाक है, बल्कि यूं कहना चाहिये कि कमल को घुमाना आप लोगों को घुमाना (अद्वैत के चक्कर में डालना) है ।

इस प्रकार दोनों के एक-एक बाएँ और दाएँ हाथ का वर्णन कर दूसरे हाथ की बात बताते हैं—दूसरा हाथ एक-दूसरे के कन्धे पर रक्खा था जिसे दोनों की लता-जैसी भुजायें रोमांचित हो रही थीं । सुरत-क्रीड़ा अभी-अभी तो समाप्त हुई थी, फिर भी जो रोंगटे भड़क रहे थे उससे यही सूचित होता है कि उनकी अभिलाषा और प्रेम असीम हैं । बाहों को लता इसलिये कहा गया है कि वे लता की तरह ही तो एक-दूसरे को लपेटे हुई थीं । अर्पण करने से यह अभिप्राय है कि इस बांह पर हमारा कोई स्वत्व नहीं रहा । (वह तो जिसके लिपटी हुई है उसी की हो गई ।) 'मिथः' (परस्पर) से बाहों की अदल-बदल स्पष्ट ही है । 'जिनको दोनों भुजायें' न कहकर 'जिनके भुजलता-

द्वेष्टनस्यैव दृश्यमानत्वात् । स्मरेण स्मर्यमाणत्वेनैव क्षोभकेन प्रेम्णा तत्तदनुभूतचरलीलास्मरणानन्दासवेन च मत्तयोः । अत्र मिथोऽपाङ्गभङ्गीजनितविविधमादकवत्ता ज्ञेया। पुनश्च कमलाद्भुतदर्शनात् स्वविनिमयस्मृतिजनितहासरसेन पेशलं महामनोहरं, मिथः सखीश्च दृष्ट्वा दृष्ट्वा नेत्रनमनम् । यद्वा हासश्च रस उद्दीपनास्वादश्च ताभ्यां सुन्दरं तत् । पेशलत्ववैशिष्ट्यं गतिस्मरणे ध्येयम्—कथं कथं हसित्वा नेत्राद्यङ्गरसभङ्गीः सूचयित्वा च गच्छत इति । तदानीं कथं वृन्दावनस्यापि चारुता, कथं च तादृश मधुरस्थल्या पदगतिशोभातिशयो दृश्यते, इतीदानीं स्मरत; अर्थाद्दर्शं दर्शं हृदि निधायानन्दास्वादं कुरुतेति ।

कीदृशीं गतिम् ? 'मद' इत्यर्शादित्वादच् । मदवत्करीन्द्रस्यैव भङ्गीनां शतैरूपलक्षिताम् । करकमलभ्रामणादिलीलासाम्येनोपमानस्यापि करिणी-

रसकलश

युगल' कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों ओर गौर और श्याम भुजायें ही लिपटी दिखाई देती थीं। दोनों मद के आवेश में थे। 'स्मरोन्मत्त' का विग्रहानुसारी अर्थ है— स्मर (कामदेव) से उन्मत्त। 'स्मर' से अभिप्राय उस प्रेम का है जो स्मरणमात्र से मन को चलायमान कर देता है, (अतः अर्थ हुआ—प्रेम से उन्मत्त)। (स्मरणार्थक 'स्मृ' धातु से निष्पन्न 'स्मर' शब्द का दूसरा अर्थ लगाते हैं—) अथवा अब तक अनुभव की गई लीलाओं के स्मरण से जो आनन्द होता है तद्रूप मदिरा का सेवन कर उन्मत्त हुए। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि श्रीराधाकृष्ण चितवनों से एक-दूसरे को देखते हुए अनेक प्रकार के भाव भी व्यक्त कर रहे थे। फिर अद्भुत कमल को देखकर अपने वस्त्रों की अदल-बदल का जो स्मरण हुआ उसके कारण उन्हें हँसी आई और फलतः वे बड़े ही सुन्दर दिखने लगे। हँसते हुए दोनों कभी एक-दूसरे को देखते, तो कभी सखियों को देखकर आंखें झुका लेते थे। अथवा श्रीराधाकृष्ण हास और रस से मनोहर दिखते थे। 'रस' का अर्थ यहां उद्दीपन का आस्वाद है। श्रीराधाकृष्ण की मनोहरता का ध्यान उनके गति-सौन्दर्य को स्मरण कर करना चाहिये—अर्थात् इस प्रसंग में दोनों एक विशेष प्रकार से सुन्दर लगते हैं और इस प्रतीति का आधार है उनके चलने की रीति। कैसे हँस-हँसकर नेत्र आदि अंगों से रसभीनी चेष्टायें करते हैं, गमन करते हैं। उस समय वृन्दावन भी कैसा सुन्दर दिखाई देता है और उस जैसे मधुर स्थान के प्रभाव से दम्पती की चाल की शोभा भी कैसी बढ़ जाती है। यह उस समय याद करो और बार-बार उस शोभा के दर्शन कर और उसे अपने हृदय में स्थान देकर आनन्द का उपभोग करो।

कैसी गति को (स्मरण करो) ?—'मदकरीन्द्रभङ्गीशतैः (उपलक्षिताम्) मदमाते गजराज की सैकड़ों भंगियों (तर्ज-अन्दाज) से उपलक्षित। 'मदकरीन्द्र' में

संगशुण्डोपक्षेपादिक्रियाकारित्वेन करित्वमुक्तम्। 'इन्द्रे'ति निरंकुशैश्वर्य-सूचकम्। तस्यापि वने गतिः सुभगा भवति। इत्यनेन वृन्दावनेऽतिचारुत्वं तस्येन्द्रत्वार्हमेव। स्मरोन्मत्तत्वमपि तस्याधिकं विश्रूयते 'कुरंगमातङ्गपतङ्ग-भृङ्ग'त्यादि श्लोके मदश्रुतेः। पुलकसाम्यञ्च ज्ञेयम्। कमलोद्धरणमपि तस्य सरसो घटते—इत्यादि रूपकम्। मिथः स्खलद्गत्याधारत्वकौतुक-साकूतकूणनस्मरावेशवशेतस्ततोगमनविस्मृतगम्यगतित्वगांभीर्यौदार्यमदवैवि-ध्यहासादिसक्रान्तत्वेन गतिभेदवैविध्यं ज्ञेयम्। तस्यापि भंगीशतत्वमुक्तमेव। मदनिर्भरालकत्वं तस्य ख्यातम्। अत्रोरस्थललम्बमानसुमनस्नेहार्द्रश्लथाल-कवत्वं ज्ञेयम्। तस्यालिवृन्दावृतगण्डत्वमत्र चूर्णकुन्तलावृतत्वम्। अथवा सखीवृन्दावरणं ज्ञेयम्। इत्यादि तत्तद्भावाः सहृदयवेद्या एव ॥१७१॥

रसकलश

'मद' शब्द का अर्थ मतवाला हाथी है। 'मद' शब्द में 'अर्शादित्वादच्' इस सूत्र के अनुसार अच् प्रत्यय लगने से यह शब्द निष्पन्न होता है। (युगल और गजराज के बीच समानता (साधारण धर्म) का निर्देश करते हुए कहते हैं—), जैसे दम्पती हाथ में कमल को घुमाते हैं, वैसे ही उपमान हाथी भी हथिनी के साथ विचरता हुआ सूंड को इधर-उधर फेंकते चलता है। इसीलिये उसे 'करी' कहते हैं। ('कर' के दो अर्थ हैं—हाथ और सूंड।) 'इन्द्र' शब्द द्वारा निरबाध ऐश्वर्य और माधुर्य को सूचित किया गया है (जोकि उपमान और उपमेय दोनों पक्षों में समानभाव से विद्यमान है)। वन में विचरण करने वाले हाथी की चाल भी सुन्दर होती है। इससे यह भाव निकलता है कि श्रीराधाकृष्ण-जैसे गजराज युगल के विचरण के लिये श्रीवृन्दावन-जैसा सुन्दर स्थान होना ही चाहिये। प्रसिद्ध है कि हाथी में काम-वासना प्रबल होती है। एक प्रमाण के अनुसार हरिण, हाथी, पक्षी और भौंरों में कामेच्छा अपेक्षाकृत अधिक होती है। दम्पती और हाथी में रोमांच की भी समानता है। हाथी सरोवर में से कमल उखाड़ कर ले ही आता है। इस प्रकार यहाँ रूपक-अलंकार बनता है। लटपटाती गति के कई कारण थे—जैसे कौतुक पूर्वक साभिप्राय चितवन, कामावेश के कारण इधर-उधर लुढकना, कैसे चलना चाहिए, इस बात को भूल जाना, गंभीरता, उदारता, मस्ती, विविध हास-परिहास। इस सबका प्रभाव गति पर पड़ा था और फलतः उसमें विविधता आ गई थी, यह ज्ञातव्य है। उस गति की सैकड़ों भंगियां थीं, यह कह आये हैं। हाथी के बालों से मद का झरना प्रसिद्ध है। प्रकृत में भी वक्षः स्थल पर माला-रूप में लटकते हुए फूलों के पराग से खुले हुए बाल ढीले हो गये थे। हाथी के गंडस्थल पर भौंरे मंडराते रहते हैं। यहां युगल का मुख बालों से घिरा था, अथवा सखियां उन्हें घेरे खड़ी थीं। इस प्रकार के विविध भावों को सहृदय ही जान सकते हैं ॥१७१॥

एवं भावाविष्ट दम्पतिनिभृतकुञ्जनिर्गमनशोभां निरूप्य स्वाधिकाराप्रमादोद्दीप्ततादात्विकस्वामिनीचरणपरिचरणमाशास्ते—

खेलन्मुग्धाक्षिमीनस्फुरदधरमणीविद्रुमश्रोणिभार-
द्वीपायामोत्तरङ्गस्मरकलभकटाटोपवक्षोरुहायाः ।
गम्भीरावर्तनाभेर्बहलहरिमहाप्रेमपीयूषसिन्धोः
राधायाः सत्पदाम्भोरुहपरिचरणे योग्यतामेव मृग्ये
॥१७२॥

अहं श्रीराधाया उक्तगतिशोभाश्रीयुतायाः सकलसखीजनमनोनयनानन्दसंसिद्धेः पदकमलपरिचर्याया योग्यतामेव मृग्ये । परिचरणे तु वयमप्रमत्ता एव, परन्तु चारुवनशोभेक्षणाद्युपरतौ विज्ञप्त्यवकाशः स्यादितियोग्यतामितीङ्गितानुसरणेनोचितसमयसेवनोरीकरणम् एवेत्यनेन न केवलं स्वार्थंपरा तत्सुखित्वात् । यथा च शतके—

रसकलश

इस प्रकार प्रेम-भाव से भरे युगलस्वरूप की एकान्त कुंज में से बाहर निकलने की शोभा का वर्णन करने के उपरान्त बिना किसी चूक के अपने अधिकार का प्रयोग करने की उमंग में उस समय की जाने वाली स्वामिनी जी की चरण-सेवा की आकांक्षा प्रकट करती हैं—

"भोली-भाली आंख-रूपी मछलियाँ जहां खेल रही हैं, अधररूपी मूंगामणि चमचमा रहे हैं, भारी नितंब-मंडलरूपी द्वीप-विस्तार से जो युक्त है, उमंग भरे कामदेव-रूपी हाथी के बच्चे के गंडस्थलों के समान जिसके स्तनों का उभार है और गहरी भँवर के समान जिसकी नाभि है, ऐसी श्रीकृष्ण के सघन, असीम प्रेमामृत के समुद्र श्रीराधा के चरण-कमलों की सेवा करने की योग्यता (अवसर) को मैं खोजती हूँ ॥१७२॥

पूर्व-वर्णित गति की शोभा और कान्ति से युक्त, सब सखियों को मन और नेत्रों को आनन्द प्रदान कर उनकी कामना पूर्ण करने वाली श्रीराधा के चरण-कमल की सेवा करने की योग्यता को ही मैं खोजती हूँ । सेवा में हम सखियों से कभी चूक नहीं होती, पर हम इस योग्य होना चाहती हैं कि सुन्दर वृन्दावन की शोभा को जब प्रिया-प्रियतम देख चुकें, तब हमें कुछ निवेदन करने का अवसर मिल जाय । योग्यता से यहाँ यह तात्पर्य है कि दम्पती के आशय को जानकर उपयुक्त समय में सेवा की जाय और युगल उसे स्वीकार कर लें । इस अभिलाषा से यह सूचित होता है कि श्रीहितसखी अपने ही मतलब की बात नहीं सोचतीं, क्योंकि उनका अपना सुख तो प्रिया-प्रियतम के सुख में है । श्रीवृन्दावन शतक में कहा है—

अत्यानन्दाद्विवशविवशौ राधिकाकृष्णचन्द्रौ
हासं हासं प्रतिमुहुरहो संपतन्तौ मिथोऽङ्गे ।
वृन्दाटव्यामशनवसनस्त्रग्विभूषादिसेवां
नारीवृन्दैरवसरकृतां न स्मरन्तौ स्मरामि ॥१५।१४०

अत एव मार्गणम् । नन्विदानीं कथं न योग्यतास्तीत्याह—बहल उत्त-रङ्गितो हरिर्मनोहरेतिख्यातस्य सकलप्रेमास्पदस्य वर्षिष्णुघनस्य महाप्रेमपी-यूषं उज्जृम्भितप्रेमामृतस्य सिन्धोः सागरवदाधारभूतायाः परमप्रेमास्पदाया इत्यर्थः । अत्र यथा मेघात् सिन्धुः संभ्रियते तद्वत् कस्मिन् काले सिन्धोर्घनः संभ्रियत इति ज्ञेयम् । इदानीं यद्यत्प्रियप्रेमामृतं नेत्राद्यङ्गभङ्गीभिः साभि-प्रायाभिरुद्गच्छति तत्तत्प्रियाङ्गीकरोति । अहो ! कीदृगानन्दसमयोऽयम् । अनेन प्रेमासक्तिविषयत्वं प्रोक्तं प्रियस्व चाश्रयत्वमुक्तं द्वयोरव्ययागाधत्व-मुक्तञ्चं ।

नन्वेवं तु सदैव स्थायित्वं, कथं सेवावकाशमार्गणं सेत्स्यति ? तत्रैवं

रसकलश

"उत्कट आनन्द में विवश हुए, हँस-हँस कर बार-बार एक-दूसरे के अंगों पर गिरते-पड़ते और अवसर देखकर, श्रीवृन्दावन में, सखियों द्वारा की गई भोग लगाने, वस्त्र-आभूषण धारण कराने आदि सेवाओं को भी याद न रखने वाले श्रीराधाकृष्ण का मैं स्मरण करता हूँ।" १५।४.

इसीलिये खोजने की बात कही गई है। शंका होती है कि वह योग्यता इस समय क्यों नहीं है ? इसका उत्तर देते हैं सघन उमंग में लहराते हुए, हृदय को हरण करने के कारण 'हरि' नाम से विख्यात, श्रीराधा के अखंड प्रेम-पात्र, बरसने वाले बादल के समान श्रीकृष्ण के महाप्रेमपीयूष, अर्थात्, उमड़ते हुए प्रेमामृत के समुद्रस्वरूप (श्रीराधा की चरण-सेवा की योग्यता को खोजती हूँ) । समुद्र जैसे जल का आधार-स्थल है, उसी प्रकार श्रीराधा श्रीकृष्ण के परम प्रेम का विषय हैं, यह अर्थ है । यहां यह समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार मेघ से समुद्र भरता है, उसी प्रकार एक समय ऐसा आता है कि जबकि समुद्र से बादल भरा जाता है । इस समय नेत्र-आदि अंगों की अर्थभरी चेष्टाओं से प्रियतम का जो-जो प्रेमामृत निकलकर आता है, प्रियाजी उसे अंगीकार करती हैं । अहो ! यह कैसे आनन्द की बेला है ! इससे यह सूचित किया है कि श्रीराधा प्रिय की प्रेमासक्ति का विषय हैं और प्रियतम आश्रय हैं । यह भी बताया गया है कि प्रिय का प्रेम अघट और अगाध है ।

शंका हो सकती है कि प्रेम की अगाधता की स्थिति तो दोनों की सदा बनी रहती है, फिर सेवा के लिये समुचित अवसर खोजने का कार्य कैसे पूरा होगा ? इस

ज्ञेयम् । बहलप्रेमत्वेनावकाशः पूर्वतरङ्गोपरामे आगमिष्यमाण तरङ्गादौ कथञ्चित् सेत्स्यतीति प्रयत्नः । यद्वा नद्यानन्त्यं हरिप्रेम । तदागमने प्रवेशे सिन्धुसंमुखागमनम् । तत्क्षणे संगमे तु न कस्यापि पादस्थितिः स्यात् । अथ नदीप्रवाहं नीत्वा तरङ्गे प्रत्यागते सत्यवकाशः । एवं चात्र प्रियाभिलाषपोषिते द्वितीयाभिलाषे आगमिष्यमाणे तत्क्षणं सख्यो भजन्तीति । यद्वा वर्षाविरामे भाविद्वितीयवर्षादाविति सूक्ष्मदृशा सहृदयैर्वेद्यम् । तदेव तादात्विक प्रियप्रेमोत्तरङ्गाधारत्वं निर्दिशति सिन्धुरूपकेण—

खेलती मुग्धाक्षिण्येव मीनौ यस्याम् । तदानीं परस्परं सखीवृन्दे नेत्रसंज्ञास्मितगोष्ठीं क्रियमाणे सति समवयस्कस्यकौतुकाल्लोलनेत्रत्वम् । इतः प्रियापाङ्गगोष्ठी, इतश्च सखीदिक्प्रेक्षणं, तेन मीनवदुद्वेल्लनभ्रमणं

रसकलश

संबन्ध में यह ज्ञातव्य है कि चूंकि प्रेम सघन है, इसलिये उसके बीच से ही अवकाश खोज निकाला जायगा। प्रेम का ज्वार आता है और ठहर-ठहर कर आता है। पहले ज्वार के आ चुकने पर और आने वाले ज्वार के पूर्व किसी तरह अवकाश मिल ही जायगा। अथवा श्रीहरि का प्रेम अनन्त नदियाँ हैं। आते समय और प्रवेश करते समय नदियों को समुद्र के मुहानों तक आना पड़ता है। यदि उस समय नदी का समुद्र के साथ संगम हो जाय, तो जिस स्थान पर यह संगम होगा—वहां किसी का पैर नहीं टिक सकेगा। किन्तु समुद्र की तरंगें नदी के प्रवाह को आगे धकेल कर जब लौटेंगीं तो यही समय अवकाश का होगा। इसी प्रकार प्रस्तुत में भी प्रियतम की अभिलाषा से संबन्धित दूसरी अभिलाषा के प्रियाजी में जागने से पूर्व के खाली समय में सखियां उनकी सेवा कर सकती हैं। अथवा प्रेम की वर्षा के एक बार हो चुकने पर और दूसरी वर्षा के प्रारंभ से पूर्व के समय में अवकाश मिलेगा। यह सब सहृदयों द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से जानने का विषय है। अब समुद्र का रूपक बाँधकर प्रियतम के प्रेम की उमंग के उसी आधार को बताते हैं—

प्रिय के प्रेमामृतरूपी समुद्र श्रीराधा में दो भोली-भाली नेत्ररूपी मछलियाँ क्रीड़ा कर रही हैं। सखियाँ जब आंखों के इशारों से और मुस्कराते हुए एक-दूसरी को भावों के संदेश भेज रही थीं, तो समवयस्क उनके इस कौतुक को देखकर श्रीराधा के नेत्र भी चंचल हो गए। इधर तो चितवन ही चितवन में प्रियतम के साथ भाव-विनिमय करना, उधर बीच-बीच में एक नजर सखियों पर भी डाल लेना—इस व्यस्त कार्यक्रम के कारण आँखों का मछली की भांति लहराना, चक्कर काटना तथा तत्कालीन भोलापन और सौन्दर्य देखते ही बनता था। इस स्थिति में प्रियाजी कुछ कहना

तादात्विकं मौग्ध्यं सौन्दर्यञ्च दर्शनीयमेव। ततः किञ्चिद्वचनाभिलाषे निरुद्धे सत्याह—स्फुरन्नधरोष्ठ एव मणिमणीविद्रुमा यस्याम्। अधरोपलक्षणेनोष्ठमपि गृह्यते। मणीति दीर्घो द्विरूपकोशोक्तः। छन्दोऽनुरोधेन मणिपूर्वनिपातः। यद्वा मणिशब्दः श्रेष्ठार्थवाचकः। श्रेष्ठाधर एव विद्रुमा यस्याम्। यद्वा मणिः शाणोल्लीढः परिष्कृतश्चासौ विद्रुमश्चेति। अन्यथा विद्रुमखण्डस्त्वपरिष्कृतो न तादृक् शोभते। सख्येन किञ्चिद्वक्तुमभिप्रैति, पश्चाद्गाम्भीर्यौदार्येण समयानुरोधवाक्रोधनाच्च स्फुरणमेव लक्ष्यते। विद्रुमाणामपि कान्तिबाहुल्यात् स्फुरणं घटते। (एतेन) सचमत्कृतारुणत्वं निर्दिष्टम्।

सालसमन्दगमनमुपलक्ष्याह—श्रोणिभार एव द्वीपायामो यस्याम्। समुद्रे यथा द्वीपो भवति तथात्र श्रोणीमण्डलम्। प्रेमजलनिर्विशेषदर्शनेन तस्यैवो-

रसकलश

चाहती थीं, पर आँखों के गोरखधन्धे में फँस जाने के कारण वाणी को स्थगित करना पड़ा। इस पर क्या हुआ? यह कि श्रीराधारूपी समुद्र में अधररूपी मूंगा-मणि दुलकने लगे। यद्यपि यहाँ नीचे के होंठ का फड़कना बताया गया है, किन्तु उससे ऊपर के होठ का भी ग्रहण हो जाता है (क्योंकि कुछ कहने के लिये दोनों होठों में क्रिया का होना आवश्यक है)। 'मणी' शब्द यहाँ दीर्घ ईकारान्त रूप में प्रयुक्त हुआ है (जबकि प्रायः 'मणिः' का ही प्रयोग अधिकतर होता है), किन्तु कोष में दोनों प्रकार के शब्दों का उल्लेख है। छन्द-निर्वाह के लिये 'मणी' शब्द को 'विद्रुम' से पूर्व रखना पड़ा है (अन्यथा कर्मधारय-समास की औचिती को देखते हुए 'विद्रुममणिः' पाठ होना चाहिए था)। अथवा 'मणी' शब्द का अर्थ 'श्रेष्ठ' लगाना चाहिये। तब विग्रहानुसारी अर्थ होगा—श्रेष्ठ अधर ही हैं विद्रुम जिसमें। अथवा मूल्यवान् पत्थर जब शान पर चढ़ाया जाता है तभी उसकी 'मणि'—संज्ञा होती है। इस व्याख्या में 'मणी' का अर्थ होगा—परिष्कृत (तराशा हुआ) जो विद्रुम। बगैर तराशा गया मूँगा वैसा सुन्दर नहीं दिखता। (प्रसंग पर आते हैं—) तो सहेली के नाते श्रीराधा कुछ कहना चाहती हैं, किन्तु गंभीर और उदार प्रकृति की होने के कारण तथा समय को देखते हुए और वाणी के रुक जाने के कारण भी केवल होठों का फड़कना-भर दिखाई देता है। मूँगा में से छिटकती हुई कान्ति में भी स्पन्दन होता है। होठ की मूँगा से उपमा देकर होठो की चमक तथा लालिमा का निर्देश किया गया है।

आलसभरी धीमी चाल को लक्ष्य कर कहते हैं—विशाल नितंब ही वहाँ द्वीप विस्तार हैं। समुद्र में जैसे द्वीप होता है, वैसे ही यहाँ नितंब-मंडल है। रूप और प्रेम की जलराशि के बीच वे नितंब ही ऊपर उठे हुए दिखाई देते हैं। द्वीप की भाँति नितंब-

न्तयप्रतीतेर्द्वीपत्वम् । एतस्यापि जलरूपाभावेऽपि प्रेमपीयूषाधारत्वाद्भिन्नत्वं न ज्ञेयम् । प्रियाभिलाषधारणस्य सुकुमार्यां भारत्वनिर्देशः । तथैव वक्षोरुहौन्नत्यं भारञ्च दृष्ट्वाह—उत्तरङ्ग अनन्ताभिलाषोच्छलितकल्लोलोद्धतः स्मर एव कलभस्तस्य कटौ गण्डस्थलौ तद्वदाटोपयुक्तौ वक्षोरुहौ यस्याम् । प्रेमसमुद्रे कामकलभो निमज्योन्मज्जति, न पारमेतीतिज्ञापकः स्मरशब्दः । अयं प्रियमनो ज्ञेयः । सर्वाङ्गानि तु मज्जितान्येव, एकं गण्डस्थलं बहिर्निसृतम्, तदोन्नतिदर्शनेन वक्षोरुहोक्तिः । तदानीं प्रियस्यालिङ्गनाभिलाषेण शिर उत्थापितमितिभङ्गिकः कटिशब्दः ।

अथवा 'द्वीपाया' इत्यन्तं पृथक्पदम् । 'मा' शब्देन परमा शोभारूप-

---

रसकलश

मंडल भी सौन्दर्यरूप जल का अधिष्ठान नहीं है, तथापि प्रेमामृत का आधार होने के कारण वह (श्रीराधा-रूप समुद्र से) पृथक् नहीं है। प्रिय की अभिलाषा के विषय ये नितंब सुकुमारी श्रीराधा के लिये तो एक प्रकार का भार ही हैं, इसीलिये 'श्रोणीभार कहा गया है। (तात्पर्य यह है कि प्रियाजी इतनी सुकुमार हैं कि प्रियतम की भावात्मक अभिलाषा का भार ही उनसे धारण करते नहीं बनता, तो नितंबों के अतिरिक्त भार को वहन करना तो उनके लिए और भी अधिक आयासकर है।) नितंबों की तरह स्तनों की ऊँचाई और भार को लक्ष्य कर कहते हैं—असीम अभिलाषा की उछलती हुई तरंगों से युक्त अतएव निरंकुश कामदेवरूपी हाथी के बच्चे के गण्डस्थलों के उभार के समान श्रीराधा के दोनों स्तन हैं। 'स्मर' शब्द से यह सूचित किया गया है कि प्रेम-समुद्र में कामदेवरूपी शिशु-हाथी डूबता उतराता है, पर पार नहीं पाता। प्रियतम के मन को शिशु-हाथी समझना चाहिये। सब अंग तो डूब ही गये, केवल एक गंडस्थल ही बाहर निकला हुआ दिखता है। उसकी ऊँचाई को लक्ष्य कर ही 'वक्षोरुह' (छाती में से उभरने वाले) शब्द का प्रयोग किया गया है। (स्तनों को 'कट' (गंडस्थल) कहने में यह भाव निहित है कि उस समय प्रिय के आलिंगन की कामना से प्रिया जी ने अपने मस्तक को ऊँचा किया था और सिर को ऊँचा करने पर स्तन भी ऊपर उठते ही हैं)।

अथवा 'श्रोणीभारद्वीपायाम' को आगे से संबद्ध समासान्त पद न मान कर 'श्रोणीभारद्वीपायाः' तक ही समस्त पद माना जाय और फिर 'मोत्तरङ्ग' से लेकर 'वक्षोरुहायाः' तक दूसरा समासान्त पद। इस विच्छेद के अनुसार 'मा' का अर्थ है लक्ष्मी अर्थात् कान्ति। अब पूरे पद का अर्थ हुआ—जिस समुद्र में परम शोभारूप सौन्दर्य की कान्तिरूपी तरंगें बढ़ बढ़कर उछल रही हैं। शेष अर्थ स्पष्ट ही है। इस प्रकार 'खेलत्' से लेकर 'वक्षोरुहायाः' पर्यन्त पूरे समासान्त पद का विग्रह इस तरह

लावण्यकान्तिरेव उदधिकं तरङ्गा यस्याम् । अग्रेस्पष्ट एव । एवं बहुव्रीहि-विशेषण चतुष्टयस्य मिथः सा चासौ साचेति कर्मधारयः कर्तव्यः ।

गम्भीरश्चासावावर्तश्च तद्वन्नाभिर्यस्याः । अत्र प्रियस्य प्रेम्ण्यपि कश्चिदनिर्वचनीयगम्भीरभावविशेषः, स एव भ्रमररूपतया निर्दिष्टः । एवं प्रियासकलाङ्गानिप्रियप्रेम्णैव निर्मितानीत्युक्तम् । तेन यद्यद्प्रियाभिलाषः स्यात्तत्तदर्हाङ्गेषु तदेव निमित्ततया सूच्यते । नेत्रापाङ्गकटाक्षभोगलालसस्य प्रियमनस्युदयमात्रेण नेत्रखेलनं स्यात् । एवमेवाधरपानकामे स्फुरणं तत्र सूच्यते । एवमेव स्मरसमराभिलाषे सुकुमार्य्यां तदीङ्गकृतिमात्रभारः स्यात् । मर्दनेनालिङ्गने चाटोपः स्यात् । वीरायितादिकारयित्वादिभावे स्वरूपव्य-त्ययजतदभिलाषोच्छलनेन गंभीरपरिवर्तोऽन्तश्चेष्टा स्यात् । एवं हितान्तरङ्गमूर्त्यभिमानेन सर्वभावोदयानवलोक्योपमानेनापन्हुतवतीव वक्ति ।

रसकलश

करना होगा कि पहले तो चार बहुव्रीहि समास किये जायँ और तब बहुव्रीहि समास से निष्पन्न चारों विशेषणों का परस्पर कर्मधारय समास किया जाय । कर्मधारय का स्वरूप यह होगा—खेलन्मुग्धाक्षिमीना चासौ स्फुरदधरमणीविद्रुमा च, श्रोणीभारद्वीपा-यामा च, उत्तरङ्ग······वक्षोरुहा च तस्याम् ।)

गहरी भँवर के समान नाभिवाली । यहाँ पर बताया गया है कि प्रिय के प्रेम में कोई गंभीर विलक्षणता है जिसका कि निर्देश भँवर के रूप में किया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रिया जी के सब अंगों का निर्माण प्रिय के प्रेम से ही हुआ है। इस कारण प्रियतम के हृदय में जो जो अभिलाषा उठती है उसकी पूर्ति के लिए उपयुक्त प्रिया जी के उन-उन अंगों में तदनुसार ही चेष्टाएँ होती हैं। अमुक-अमुक चेष्टायें इसीलिये होती हैं कि प्रियतम वैसा चाहते हैं । प्रियतम की लालसा जब चितवन और कटाक्षों के सौन्दर्य का उपभोग करने की हो, तो, प्रिय के मन में उस इच्छा के उदय होते ही, श्रीराधा के नेत्रों की क्रीडा आरंभ हो जाती है, अधर-पान करने की कामना होने पर होठ फड़कने लगते हैं, काम-संग्राम (सुरत-लीला) की आकांक्षा होने पर तो, अत्यन्त सुकुमार होने के कारण, उस इच्छा की स्वीकृति-भर ही उनके लिये भार बन जायगी, अंगों को मसलने, दबाने की कामना होने पर वक्ष-स्थल फूल उठेगा और यह चाहने पर कि प्रिया जी विपरीत रति में प्रवृत्त हों, तो नारीस्वरूप के पलट जाने की उस अभिलाषा की उछाल में अन्तःकरण में चक्करदार उथल-पुथल पैदा होगी। इस प्रकार इस अभिमान से कि मैं प्रिया जी की हार्दिक भावनाओं की साकारमूर्ति हूँ (अर्थात् उनके इंगितों को पहिचानती हूँ), श्रीहितसखी ने प्रिया जी के श्रीअंगों द्वारा व्यक्त होने वाले सब भावों का भलीभाँति अध्ययन कर उन्हें मीन, मूँगा, द्वीप और कलभ) उपमानों में छुपा कर कहा है। (टीकाकार के अनुसार, इस प्रकार, प्रस्तुत

नन्वन्यैः कथं ज्ञायते चेत् तत्कृपाच्छयैव बहलहरिमहाप्रेमपीयूषसिन्धोरित्यत्र ज्ञायते ।

एवं भावोदयविचारावर्तपतिता परिचरणयोग्यतां मृग्य इति । प्रिया तु प्रियैकीभावापन्नैव वर्तते, कथं स्वामिनीत्वममत्वेन सेवां करिष्य, इति महाप्रेमानन्दमग्ना हितसखी जातेति ॥१७२॥

एवमैक्यविचारापन्ने मनसि स्वयं तदन्तरज्ञ मर्मज्ञान्वयविचारे व्यतिरेकापरिहार्यत्वादनिष्टशङ्कीनि बन्धुहृदयानीति न्यायवत् संयोगवियोगसिद्धान्तं विचारयति—

विच्छेदाभासमानादहह निमिषतो गात्रविस्रंसनादौ,
दीप्यत्कल्पाग्निकोटिज्वलितमिव भवेद्बाह्यमभ्यन्तरं च

रसकलश

पद्य में अलंकार से वस्तु की व्यंजना है।) यदि कोई कहे कि छिपा हुआ यह गूढ़ आशय औरों को कैसे प्रकट हो, तो उत्तर है कि श्रीराधा को अब श्रीकृष्ण के सघन प्रेमामृत का समुद्र कह दिया, (तो समन्वय की प्रक्रिया द्वारा सब स्पष्ट हो जायगा।)

इस प्रकार विचारों के इस भँवर-जाल में चक्कर खाती हुई मैं कि प्रियाजी के हृदय में उठने वाले कौन-कौन-से भाव उनके श्री अंगो में प्रतिबिंबित हो रहे हैं, इस खोज में हूँ कि उनकी सेवा का अवसर कब और कैसे मिले। प्रियाजी तो प्रियतम की भावनाओं से एंकाकार हो गई हैं, ऐसी स्थिति में स्वामिनीभाव के प्रति ममता से प्रेरित होकर मैं कैसे सेवा कर सकूँगी, यह सोच-सोच कर श्रीहितसखी आनन्द के समुद्र में डूब गईं ॥१७२॥

इस प्रकार श्रीराधाकृष्ण की एकता से परिपूर्ण मनमें, स्वयं दोनों के आन्तरिक जानकार श्रीहितसखी, पक्ष का विचार करते समय विपक्ष पर भी अवश्य विचार करना होता है—इस दृष्टि से तथा बन्धुओं के हृदय में प्रियजन के संबन्ध में अनिष्ट की शंका हो जाती है, इस न्याय के अनुसार संयोग और वियोग के सिद्धान्त पर विचार करती हैं—

अहो ! शरीर के पृथक् होने पर क्षण-भर के लिये भी वियोग की संभावना के विचार से जिनके बाहर और भीतर प्रलयकाल में चमकने वाली करोड़ों अग्नियाँ

गाढ़स्नेहानुबन्धग्रथितमिव तयोरद्भुतप्रेममूर्त्योः
श्रीराधामाधवाख्यं परमिह मधुरं तद्द्वयं धाम जाने
॥१७३॥

अहमिह श्रीवृन्दावने तद्राधामाधवाख्यं द्वयं धाम परं मधुरं जाने। राधेति प्रसिद्धमेव। मधुक्रीडाकुशलो माधवस्तत्पानरतो वा, अथवा आख्येत्युक्त्यारूढिर्तैव नाम्नो ग्राह्या। यथा च पाद्मे—

माशब्देनोच्यते राधा तया सहकृतो हरिः।
सदा तद्वशवर्ती च सम इत्यभिधीयते॥ इति॥

यथात्रैव 'लक्ष्मीकोटिविलक्षलक्षणे'त्यादिभिर्मुख्यो माशब्दः श्रीराधापर एव। तेन माया धवो माधव इति तदा ख्यातिः। पश्चात् सर्वप्रतीयमानशब्दो राधेति धामद्वयग्रहणाद्राधा च माधवश्चेत्याख्या यस्य तत् अथ परं मधुरं

रसकशल

मानों धधक उठती हैं, स्नेह के प्रगाढ़ सूत्र में बँधी, प्रेम की अद्भुत मूर्ति उन श्रीराधा-माधव के युगल तेज को मैं परात्पर एवं मधुर करके मानती हूँ ॥१७३॥

मैं इस श्रीधाम वृन्दावन में श्रीराधामाधव नामक उस युगल तेज को परात्पर एवं मधुर करके मानती हूँ। 'राधा' शब्द की व्याख्या प्रसिद्ध ही है। वासन्ती क्रीड़ा में जो निपुण है वह 'माधव' कहलाता है, या जो अधररूपी मदिरा का पान करने में निरत रहता है, अथवा पद्य में 'माधवाख्यम्' जो कहा है, उसके अनुसार माधव का रूढ़ि प्रसिद्ध अर्थ (श्रीकृष्ण) ही ग्रहण करना चाहिये। पद्मपुराण में कहा है—

'मा' शब्द से राधा का बोध होता है, उसके साथ रहने वाले श्रीहरि सदा उनके वश में रहते हैं, अतः उनका नाम माधव है। श्री राधासुधानिधिस्तव में ही 'लक्ष्मीकोटिविलक्षलक्षण शतैराराध्यमानम्' (कोटि-कोटि लक्ष्मियों द्वारा नहीं देखे गये विलक्षण लक्षणों से सुशोभित शत-शत लीला-किशोरियों द्वारा व्रजमंडल में आराधनीय अति मधुर राधानामक अनिर्वचनीय ज्योति है), इत्यादि पद्यों द्वारा यह सिद्ध कर दिया गया है कि 'माधव' शब्द में प्रधानता 'मा' की है और उसका अर्थ है 'श्रीराधा'। इसी कारण मा (राधा) के स्वामी—इस अर्थ में 'माधव' शब्द प्रसिद्ध हुआ। बाद में सब लोगों द्वारा राधा के महत्व को जान लेने पर श्रीराधा की स्वतंत्र सत्ता प्रकाश में आ गई और राधा-माधव का नाम साथ-साथ लिया जाने लगा। इसी अभिप्राय से कहा है—'श्रीराधामाधवाख्यम्', अर्थात् राधा-माधव है नाम जिसका ऐसा युगल

चेति। केवलमाधुर्य्ये लौकिकत्वे च परतत्वसिद्धान्तव्याहतिः स्यादतः परात्परतमं मधुरमित्याचार्यवक्तृकोऽर्थः सिद्धान्तोपदेष्टृत्वात्। सखीवक्तृत्वे तु 'स्वादुप्रियौ च मधुरौ' इति परमप्रियामिति। अर्थादिदानीमहह! कथं राजते, दर्शनीयमेव। यद्वा मधु मद्यं नेत्रयोर्ददातीति अद्य परममादकमिदं द्वयं जाने, परस्परप्रेमोज्जृम्भत्वादिति। 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि, इत्यमरः। द्वयं धाम गौरश्यामं तेज इति।

परममाधुर्यमेव दर्शयति। तत्किम्? ययोरद्भुतप्रेममूर्त्योर्बाह्यं च पुनराभ्यन्तरं कर्तृ, गात्रयोर्विस्रंसनं विश्लेषः—आदिशब्दात् कुञ्जजलादि विहरणम्—तत्र विच्छेदस्य पृथग्भावस्याभासो न तु वास्तवं, हस्तवितस्त्या-

रसकलश

तेज। वह युगलस्वरूप ज्योति परात्पर एवं मधुर है। केवल मधुर कहने से तत्त्व में लौकिकता आजाती और श्रीराधा-कृष्ण के परात्पर तत्त्व होने का सिद्धान्त क्षतिग्रस्त हो जाता, और यदि उस तत्त्व को केवल 'पर' कहा जाता, तो ऐश्वर्य-भाव आजाने के कारण माधुर्य की हानि हो जाती, अतः वह तत्त्व परात्परतम एवं मधुर है। आचार्य की हैसियत से श्री हितमहाप्रभु का यह कहना है, क्योंकि सिद्धान्त का उपदेश वे इसी रूप में दे सकते हैं। यदि श्री हितसखी को वक्ता माना जाए 'मधुर शब्द स्वादिष्ट और प्रिय के अर्थ में प्रयुक्त होता है', इस कोश-प्रमाण के अनुसार 'परं मधुरम्' का अर्थ होगा—परम प्रिय। अर्थात्—'अहा! युगल तेज कैसा सुशोभित हो रहा है! कैसा दर्शनीय है! अथवा (मधु राति) इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'मधुर' का अर्थ होगा—नेत्रों में मादकता भरने वाला। अर्थात् आज मैं इस युगल स्वरूप को परम मादक रूप में जानती हूँ, क्योंकि आज दोनों में प्रेम अँगड़ाइयाँ ले रहा है। 'धाम' का यहाँ अर्थ है—तेज। अमरकोश के अनुसार 'धाम' शब्द घर, देह, तेज और प्रभाव के अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः 'द्वयं धाम' का अर्थ हुआ—गौर-श्याम युगल तेज।

परम माधुर्य की व्याख्या करते हैं—वह कैसा तेज? कि प्रेम की विलक्षण मूर्ति-स्वरूप जिन दोनों का बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप (यह कर्ता है और इसकी क्रिया है 'भवेत्) शरीरों के पृथक् आदि होने की दशा में—'आदि' शब्द से कुंज-विचरण, जल-विहार आदि समझ लेने चाहिये—तो उस स्थिति में विच्छेद अर्थात् पार्थक्य का आभास होने से—यह पार्थक्य वास्तविक नहीं होता, क्योंकि दोनों के बीच एक हाथ बालिश्त-भर की नाममात्र की दूरी रहती है—उस आभास के भान से, अर्थात् क्या हम दोनों एक-दूसरे से अलग हैं—इस भ्रम का भी विचार करने से……। आश्चर्य यह है कि यह धोखा भी पल भर के लिये होता है, किन्तु इतने मात्र से ही प्रलयकाल में चमकती हुई कोटि-कोटि अग्नियों से (बाहर और भीतर) दोनों जलने से लगते हैं। ऐसे में वियोग

द्यन्तरत्वात्, तस्य मानम्—किं वियुक्तौ स्व, इति भ्रमस्यापि मनसि माननं तस्मात्। तत्रापि 'अहह!' इत्याश्चर्ये। निमिषमात्रत अपि दीप्यन्त्या कल्पाग्निकोट्या ज्वलितमिव भवेत्, तदा कुत्र विच्छेदः संभाव्यते ? आभासस्वरूपस्यावास्तवं यथा सप्तमे—'आबाधितोऽपि ह्याभासः'[1] इत्यस्वामिभिः सर्वतो युक्तिबलेन बाधित इति। अग्रे च दुर्घटत्वात्, विचारे सति स्थातुमशक्यत्वादिति। अत्र तादृशदुःसहता सुकुमारयोः स्यादिति माधुर्यपराकाष्ठोक्ता, अन्यथैश्वर्ये पूर्णज्ञानाद्दूरदेशान्तरविच्छेदोऽपि न मन्यते। अन्यच्च व्रजभक्तानां यथा—'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्' इति। तदात्र कैमुत्यं स्वत एवायातं, अद्भुतप्रेममूर्तित्वात् अद्भुतमत्र मिलनमप्यमिलनमननमिति प्रतिक्षणं रुचिनूतनतैव नित्यस्थायिनी, न तु 'न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमर्हति' इति द्विदलात्मकरसावश्यकत्वं लौकिकवद् ज्ञेयम्, यत्रैवं

रसकलश

की संभावना कैसे हो सकती है ? मिथ्या प्रतीति को आभास कहते हैं, जैसा कि श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में कहा है—'मिथ्या प्रतीति का सब प्रकार से निराकरण कर दिये जाने पर भी जैसे वस्तु के विकल्प को ही वास्तविक मान लिया जाता है, वैसे ही इन्द्रियों द्वारा उपस्थित विकल्प को सत्य समझ लिया जाता है किन्तु यह ज्ञान होता है असंगत।' इस उद्धरण का आशय स्पष्ट करते हैं—जो इन्द्रियों के स्वामी नहीं है ऐसे लोग तर्क के बल पर आभास का खंडन कर दिये जाने पर भी (वस्तु के विकल्प को सत्य मान बैठते हैं)। किन्तु आगे चल कर विचार करने पर (इन्द्रियजन्य ज्ञान) टिक नहीं पाता। यहाँ पलभर का वियोग सुकुमार दम्पति के लिए इतना असह्य हो सकता है—इस कथन से उनके प्रेम की पराकाष्ठा प्रदर्शित की है। नहीं तो ऐश्वर्यप्रधान जीवन में तो वियोग का पूर्ण ज्ञान होने पर भी दूर देश में भी लोग विछोह को विछोह करके नहीं मानते। ब्रज के भक्तों को भी जब श्रीकृष्ण के वियोग की अनुभूति असह्य हो उठती है—जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा है—'आप को बिना देखे एक पल युग के समान बीतता है'—तो युगल स्वरूप की बिछोह-व्यथा का तो कहना ही क्या ? क्योंकि वे प्रेम की अद्भूत मूर्ति हैं। अद्भुतता यहाँ इस बात में है कि मिलन में भी न मिलने की भवना विद्यमान रहती है। अभिलाष की प्रतिक्षण नूतनता ही यहाँ नित्यरूप से स्थायी होती है। लोक में रसानुभूति के लिए दो पक्षों (स्त्री-पुरुष) का होना आवश्यक है, अतः साहित्य शास्त्र का यह सिद्धान्त कि 'बिना वियोग से संभोग-रस का पूर्ण परिपाक नहीं होता' यहाँ मान्य नही है, क्योंकि इस रसमार्ग में तो वियोग का भ्रम ही असह्य हो जाता

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है—अबाधितोऽप्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः, दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थंविकल्पितम्। श्रीमद्भागवत—७/१५/५८।

प्रस्तुतविप्रलम्भाभासदुःसहत्वात् । यदि च क्वचिद् दृश्यते तदनुकरण-कौतुकं, न च वास्तवं स्वरूपगतम् । यदि रसक्षयः स्यात्तदा तद्वर्धनार्थं विप्रलंभो मन्येत । अत्रैकप्रेममूर्तित्वमेव । यथा च शतके—

श्रीराधामाधवयोः कदाचिन्नसंभवी विरहः ।
तद्रसवृन्दावनयो स्तथैव परमोऽविनाभावः ॥१२।२

× × ×

आयातं न कुतश्चन क्वचन नो गन्तृ स्मरैकाम्बुधौ,
पारावारविवर्जितेऽतिविषमे नाद्यन्तकालं लुठत् ।
गौरश्यामलदिव्यकान्तिसहजात्याश्चर्यकैशोरकम्
यत्रास्ते मिथुनं मिथोऽङ्गमिलनाजीवं नुमस्तद्वनम् ॥९।६८

अतो गात्रविश्लेषं निमिषमात्रमपि न सहत इति तादृशदुःसहत्वा-दुत्प्रेक्ष्यते—कीदृशम् ? बाह्याभ्यन्तरं गाढस्नेहानुबन्धेन ग्रथितमिव । 'इव'

रसकलश

है । यदि कहीं ऐसा वर्णन मिलता भी हो तो यह समझ लेना चाहिए कि कुतूहलवश लौकिक परिपाटी का वह अनुकरणमात्र है । उनमें न तो वास्तविकता है और न युगल के प्रेम का स्वरूप ही ऐसा है कि उसकी पूर्णता के लिये वियोग की आवश्यकता हो । यदि रस में कमी आती दिखाई दे तो उसे बढ़ाने के लिए वियोग की आवश्यकता स्वीकार की जाय । यहाँ तो दोनों तत्त्व प्रेम की एक ही मूर्ति हैं । इसका वर्णन श्रीवृन्दावन शतक में इस प्रकार किया गया है ।

'श्रीराधा-माधव का पारस्परिक वियोग कभी संभव नहीं है । इसी प्रकार श्रीराधा-कृष्ण रस और श्रीवृन्दावन भी एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते ॥१२।६

× × ×

न कहीं से आते हैं, न कहीं जाते हैं, अनादि-अनन्त समय से जो अपार, अति विषम काम-रस-सागर में अवगाहन कर रहे हैं, ऐसे, स्वाभाविक रूप अत्यन्त आश्चर्य जनक, युगल और श्याम छटा से युक्त युगलकिशोर जहाँ मिलित विग्रह से प्राणस्वरूप होकर विराजते हैं, उस श्रीवृन्दावन को मैं नमस्कार करता हूँ ।' ।९।६८

अतः प्रिया-प्रियतम को एक-दूसरे के अंगों से पृथक् होना क्षण-भर के लिये भी सहन नहीं होता । उत्प्रेक्षा द्वारा इस प्रकार की असहनीयता का कारण बताते हैं—कि युगलस्वरूप प्रगाढ़ स्नेहसूत्र में बाहर भीतर से मानों गुँथे हुए हैं । जल और तरंग की भाँति एक होने के कारण परस्पर गुँथे हुए रहने की उत्प्रेक्षा (काल्पनिक संभावना) मात्र है, क्योंकि पृथक् सत्तावाली वस्तुएँ ही गूँथी जाती हैं । यहां, यदि गुंथना है, तो वह

इत्यनेन जलतरङ्गवदैक्यात् ग्रथितोत्प्रेक्षा । ग्रथनं भिन्न-भिन्नवस्तुनो भवति । एतद्ग्रथनं न केनापि भेत्तुं शक्यते ।

अत्र संयोगविरहसिद्धान्त एतन्मार्गगतो विवृतः । परिभाषितं चात्र यथा—

विच्छेदाभासमात्रेति संयोगविरहान्वयः ।
विचार्यो भावरसिकैः प्रतिपद्यं न मुह्यताम् ।। इति ।।

अत्र बाह्याभ्यन्तरग्रथनं तनुमनसोरिति, तनुतन्वोर्मनमनसोरित्येकरुचेः स्पष्टमेव । मनसा तनुमिलनं प्रत्यङ्गरूपविलासभावनं तनोः, मनोमिलनं तन्मननमनुस्फुरणमिति ।

ननु दीप्यदिति कल्पेत्यग्नीति कोटीत्यादीनामत्युक्तावेव तात्पर्यं भासते तादृगननुभवात् ? तत्रैवं ज्ञेयम् । तादृशसहृदयसखीवेद्यमेवेदं, न लोकगम्यम् । लोके च प्रेमाभासस्याप्यदृश्यमानत्वात् । अतो यावत् प्रेम तावदेव वियोगसौक्ष्म्येऽपि तापातिशय्यमिति विचार्यम् । तत्रैव संयोगानन्दरसस्यापि स्थायित्वमस्ति । तेन तत्तत्पलकान्तरतापोऽपि न घटते । 'शीतरश्मिरसो ज्ञेयः प्रेमोष्णकिरणस्तथा' इति द्वयोरेकत्रस्थितिप्रभावा-

---

रसकलश

इस प्रकार का है कि गुँथे हुए सूत्रों को कोई अलहदा कर ही नहीं सकता । इस प्रकार यहाँ रस-मार्ग से संबन्धित संयोग-वियोग के सिद्धान्त की व्याख्या की गई है । इस टीका के परिभाषाप्रकरण में कहा है—

'विच्छेदाभासमानात्' इस पद्य द्वारा संयोग और वियोग को परस्पर अनुस्यूत प्रतिपादित किया गया है जिस पर कि भावुक रसिकों को विचार करना चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि किसी एक पद्य को पढ़कर वे भ्रम में पड़ जाएँ ।।६३।।

यहाँ भीतर-बाहर से गुँथे रहने का अभिप्राय है—मन से शरीर का, शरीर से शरीर का और मन से मन का मिलन । मन से शरीर के मिलने का अर्थ है प्रत्येक अंग की सौन्दर्यछटा का मन से चिन्तन करना, मन से मन के मिलने का अर्थ है, दूसरे की मन की इच्छाओं का मनन करना और उसके बाद तदनुकूल स्फूर्ति अनुभव करना ।

यहाँ प्रश्न होता है कि यह कहना कि 'चमकती हुई', 'प्रलयकालीन' तथा—'कोटि-कोटि' अग्नियाँ–इस सब का तात्पर्य बात को बढ़ा चढ़ा कर कहना मात्र है, क्योंकि यथार्थ में तो ऐसा अनुभव किसी को होता नहीं । इसका समाधान यह है कि इसका अनुभव तो सखियों के हृदय ही कर सकते हैं, क्योंकि यह अनुभव उस प्रकार का नहीं

सम्भाव्यौ चेदत्र विरुद्धधर्माश्रयत्वमनिर्वचनीयमेव, अन्यथा तादृशनिमेषापरिहार्य्ये तापएवावशिष्यत, इत्यत एवाद्भुतत्वं प्रेम्णो यन्निमेष एवं तापातिशय, उन्मेषे च रसातिशय, स्तत्राप्यमिलनमिलनं, तत्र संयोगभावनं, तत्रापि दौर्ल्लभ्यमनने पुनर्विरहाभासः, इत्याश्चर्यचर्यकं दर्पणद्वयन्यायकं प्रेम जलयन्त्रघटीवत् प्रेमरसतरङ्गपारम्पर्यानन्दरूपमेव । यथा च—

विरहाभासमात्रस्याप्यभावः प्रकृतः स्मृतः ।
निजैच्छिकविकल्पे तु न भेदमननं तयोः ॥

× × ×

चक्रवर्त्यवरोधस्थहट्टपण्यादि कौतुकात् ।
न नृपत्वहतिस्तद्वत् संयोगस्यापि न क्षतिः ॥

रसकलश

है जैसा कि संसार में देखा जाता है । संसार में तो प्रेम दूर रहा, प्रेम की छाया भी दिखाई नहीं देती । अतः जिस अनुपात में वियोग की अनुभूति होती है उसी अनुपात में किंचित् वियोग होने पर भी संताप चरम शिखर पर पहुँच जाता है, यह विचार करने की बात है । ऐसे प्रेम में ही संयोगानन्द की अनुभूति स्थायी होती है और इसी कारण पलभर का व्यवधान भी सह्य नहीं होता ।

यदि कोई कहे कि 'रस की किरणें शीतल शीतल होती हैं और प्रेम की गरम'—इस कथन के अनुसार रस और प्रेम दोनों की श्री युगल में एकत्र स्थिति असंभव है, तो इस संबन्ध में कहना यह है कि यहाँ यही तो विलक्षणता है कि दो विरोधी धर्म एक स्थान पर रहते हैं, अन्यथा उस स्थिति में जहाँ पलक मारने में भी वियोग का डर रहता है, केवल संताप ही भोगने के लिए बचेगा । इसीलिए युगल के प्रेम की यह विलक्षणता है कि पलक बंद करते ही ऐसी घोर व्यथा और खोलते ही रस की प्रचुरता। उसमें भी (दूसरी विलक्षणता यह कि) न मिलने-जैसा मिलन, उसमें संयोग की भावना, उसमें भी यह विचार आने पर कि मिलन कितना दुर्लभ है, फिर वही वियोग का भ्रम ! इस रीति से दो दर्पणों के मध्य में खड़े होकर देखे गये एक आकार की तरह युगल-प्रेम की चर्या (प्रकार) आश्चर्यजनक ही है । जल निकालने वाले रहट के पात्रों में से प्रवाहित होने वाली जलधारा की तरह प्रेम-रस की तरंगें यहाँ परंपरा में उमड़ती हुई आनन्दमय ही होती हैं । जैसा कि कहा गया है—

'यहाँ विरह के आभास का भी अभाव स्वाभाविक है । अपनी इच्छा से भी यदि वे पृथक् होना चाहें, तो भी उन दोनों में पार्थक्य का विचार नहीं है ।'

'चक्रवर्ती सम्राट के अन्तःपुर में जैसे वस्तुओं की खरीद-फरोख्त चलती रहती है, किन्तु उससे चक्रवर्ती का अधिकार कम नहीं होता, उसी प्रकार बाल्य-लीला, जल-विहार आदि में भी संयोग की कोई हानि नहीं होती ।'

अतएव जलनिलयनपुष्पावचयकुञ्जरचनाद्यपि घटते । प्रस्तुते चैवं मिथ, प्रेमासक्तिपराकाष्ठा वर्णिता ॥१७३॥

एवं कुञ्जनिर्गतसविलासचिन्हितोभयगतिशोभावलोकनपूर्वक प्रेमैक्यवर्णनं निज सख्यै कृत्वा कस्मिंश्चिदुक्ततरङ्गाद्यवकाशक्षणे योग्यतां विचार्य सेवां कुर्वत्यनुवदति, साधकपक्षगताशंसनं च ज्ञेयम्—

कदा रत्युन्मुक्तं कचभरमहं संयमयिता
कदा वा संधास्ये त्रुटितनवमुक्तावलिमपि ।
कदा वा कस्तूर्यास्तिलकमपि भूयोरचयिता,
निकुञ्जान्तर्वृत्ते नवरतिरणे यौवतमणेः ॥१७४॥

निकुञ्जस्यान्तर्मध्ये नवरतिरणे वृत्ते सति यौवतमणेः रत्युन्मुक्तं कचभारं कदाहं संयमित्तेन्वयः । युवतीनां समूहो यौवतं, श्रीमल्ललितादि-

---

रसकलश

इसी लिये जल-विहार, लुका-छिपी का खेल, फूल चुनना, कुंजों का निर्माण आदि लीलाएँ संयोग के अन्तर्गत ही आती हैं ॥१७३॥

इस प्रकार कुंज से बाहर निकले हुए और विलास के चिन्हों से युक्त श्रीराधा-कृष्ण दोनों की चाल-ढाल की शोभा को देखते हुए उनके एक ही प्रेमस्वरूप होने का वर्णन अपनी प्रियसखी से करने के उपरान्त उपर्युक्त रति-अभिलाष की तरंगों के बीच खाली क्षण में अपनी योग्यता का विचार कर सेवा करती हुए श्रीहितसखी अपनी सेवा का विवरण देती हैं । साधक पक्ष में इस कथन द्वारा अभिलाषा प्रकट की गई है—

"निकुंज-मन्दिर के मध्य में सुरत-संग्राम के समाप्त हो जाने पर युवति-शेखर श्रीराधा के रति-क्रीड़ा के प्रसंग में खुल कर छुटे हुए केश-भार को मैं कब बाँधूंगी, अथवा कब मोतियों की टूटी लड़ को फिर पिरोऊँगी और कब फिर कस्तूरी का तिलक दूँगी ?" ॥१७४॥

निकुंज-गृह के मध्य में नवीन रति-संग्राम के समाप्त हो जाने पर रति के प्रसंग में खुल कर छुटे हुए युवतिशिरोमणि श्रीराधा के केश-पाश को बाँधूगीं ? —यह अन्वय है । युवतियों के समूह को 'यौवत' कहते हैं । ये युवतियाँ थीं ललितादिक सखियाँ । उस समूह के सब प्रकार के मनचाहे आनन्दों को चिन्तामणि की भाँति पूर्ण करने वाली श्री-मती । 'श्रीमती' शब्द की आन्तरिक व्यंजना यह है कि विलास का समय निकट आने

सखीवृन्दस्तस्य सर्वानन्दचिन्तितपूरकसेव्यमणेः श्रीमत्याः। आभ्यन्तरोऽर्थस्तु विलाससमयसन्निधाद्यौवनवतीनां शिखामणेरिति तत्तद्विलासशक्तायाः। नवत्वं रतिरणस्य तदानीमतृप्ततया परमौत्सुक्यज्ञापकम्। मणित्वेनास्या एव जयप्राप्तिः सूचिता, अतएव बद्धानां मोक्षणमेव पुण्यजयजनकं भवतीति रत्या स्वामिनीजयार्थमुन्मोचितः कचभर इति। अन्यथा रतिशब्दः पुनरुक्तः स्यात्। प्रतिद्वन्द्विनस्तु मोचनं न घटते, अनया बद्धत्वात्। अत्र युद्धे महावेशो ज्ञापितः। तत्र रतिमुक्तानां विकीर्णतयानावृतश्रीमदङ्गप्रत्यङ्गलावण्यास्वादनमेव परममुक्तिफलप्राप्तिर्जाता। तत्रापि मया मुक्तिनामासंतोषेण तत्सुकुमार्य्यङ्गेसु भारं वीक्ष्य संयमनं कृतम्। अत्र तन्मुक्तबन्धनात् परमसचिवप्राखर्यं ध्वनितम्। अत्र हिताल्या संयमनसमये किं किं विलासवर्तितक्रीडानन्दोऽनुभूत इति रसिकजनवेद्यम्।

'कदा' इति प्रेमानन्दवैचित्यपरः। संयमानन्दवैचित्यान्ते स्मृतौ त्रुटितां नवमुक्तावलिमपि संधास्ये, सूत्रसन्धानं करिष्ये, नतु नवीनामिति। किञ्च

रसकलश

के कारण वे यौवन-संपन्न सखियों में सर्वश्रेष्ठ दिखती थीं—अर्थात् रति-संबन्धी विविध क्रीड़ाओं के लिए सर्वथा सक्षम थीं। रति-संग्राम इस अर्थ में नूतन है कि उस समय अतृप्त होने के कारण वे परम उत्कंठित थीं। श्रीराधा को मणि बताकर यह सूचित किया गया है कि सुरत-संग्राम में उनकी विजय निश्चित है। इसलिए बन्दियों को छोड़ देने से पवित्र विजय-लाभ होता है इस प्रेमपूर्ण भावना से बालों को खोल दिया था। ऐसा अर्थ न करने से, पद्य में 'रति' शब्द का दो बार प्रयोग होने के कारण पुनरुक्ति दोष आ जाता।

('रति-रणे' का सीधा-सादा अर्थ है—रति-संग्राम में, किन्तु चूँकि पद्य के प्रथम चरण में 'रत्युन्मुक्तम्' में रति शब्द का प्रयोग हो चुका है, अतः 'रतिरणे' का टीकाकार ने दूसरा अर्थ लगाया है—'रत्या रणे उन्मुक्तं कचभारम्,' अर्थात् पवित्र विजय-लाभ के प्रति प्रेम के कारण स्वामिनी की विजय के लिए बालों को खोल दिया गया था। इस व्याख्या में हेतुसूचक तृतीयान्त 'रत्या' का 'उन्मुक्तम्' के साथ अन्वय होने के कारण उसका 'रण' के साथ समास कैसे संभव है, यह विद्वज्जन ही जानें।)

जब स्वामिनी जी ने बालों को बाँधा है, तब श्रीहितसखी को यह उचित न था कि

तदानीं तादृशमालाछविर्दर्शनीयैव। नवत्वं प्रियविनिर्मितत्वं वा। तादृश-विलासरणे शस्त्रक्षतानां नवत्वं संभावितत्वं चैव नेतरसाधारण्यम्। तदास्वकीयैर्वीराङ्गसन्धानं कार्यमेवेति 'अपि' इत्यनेन मनसि तु तादात्विक त्रुटितशोभापरिहार्य्यैव, परन्तु दास्यधर्मभीत्या किं क्रियते ? सन्धानं

रसकलश

वे उन्हें खोलदें, क्योंकि बंदी किए गए शत्रु को छोड़ देना ठीक नहीं हैं।' बालों के खुल जाने से सूचित होता है कि युद्ध पूरे आवेश के साथ लड़ा गया था। बालों के खुल कर बिखर जाने के कारण उधड़े हुए श्रीमती के अंग-प्रत्यंगों के सौन्दर्य का आस्वाद करने में मुक्ति का सबसे बड़ा लाभ मिल गया; किन्तु मुक्ति के नाम से तो मुझे संतोष नहीं होता, अतः यह देख कर कि ये बाल सुकुमारी प्रिया जी के लिए भार हैं, मैंने उन्हें बाँध दिया। प्रियाजी ने जिन बंदियों को छोड़ दिया था उन्हीं को श्रीहितसखी ने फिर बंधन में डाल दिया - इससे यह ध्वनि निकलती है कि श्रीहितसखी अपने मंत्रि पद के उत्तर-दायित्व के संबन्ध में दूर की दृष्टि रखती थीं। इस अवसर पर बालों को बाँधते समय रति-विलास के प्रसंग में घटी हुई विविध क्रीड़ाओं की कल्पना कर श्रीहितसखी को जो-जो आनन्द मिले, उन्हें सहृदय ही समझ सकते हैं।

'कदा' (कब) से यह सूचित किया गया है तात्कालिक आनन्द में मग्न हो जाने के कारण श्रीहितसखी का चित्त ठिकाने न रहा। अब केश के बांधने के आनन्द से उन्हें छुट्टी मिली, तो स्मरण हो आया कि टूटे हुए मोतियों की लड़ को भी पिरोदूँ। यह न समझना चाहिए कि टूटी हुई लड़ के स्थान पर दूसरी नई लड़ धारण कराई जायगी। 'नवमुक्तावलिम्' का अर्थ यहाँ दूसरा है। बात यह है कि टूटी हुई माला जिस हालत में उसमें उसकी शोभा देखते ही बनती (अतः नई लड़ धारण कराने का प्रश्न ही नहीं उठता था)। ऐसे में मुक्तावली के नूतन होने का अर्थ यह है कि प्रियतम की मुक्तावली के साथ वह पहले ही बदल गई थी (और प्रियतम के अंगों से संबद्ध वस्तु कभी पुरानी नहीं पड़ती)। अथवा वह नई इस अर्थ में है कि घनघोर संग्राम में शस्त्र

१. इस प्रसग में निम्नलिखित कवित्त द्रष्टव्य है—

रतिरण विषै जे रहे हैं पतिसनमुख
तिन्हें बखसीस बकसी है मैं विहँसि कै,
कानन कौं कुंडल उरोजन कौं चन्द्रहार
कटि माँहि किंकणी बसी है कटि लसकैं।
'कालिदास' आदर सौं आनन को दियो पान
मन की उमंग सो रही है मन बसिकैं,
एरी ! बौरी बार ये रहे हैं पीठ पीछ यातें
बार-बार बाँधति हौं बार-बार कसि कैं॥

कृतमेव । अत्रापि त्रुटितसन्धानात् साचिव्यप्राखर्यम् । अत्रापि मुक्तानामपि प्रियाङ्गसेवनासक्तानां त्रुटितत्वदयया सन्धानमिव ज्ञेयम् । किञ्च अतोऽपि भ्रंश्येरंस्तदा क्वचैतेषां गतिः स्यादिति । तादात्विकसन्धानसमयजो-भयालिङ्गनपरिमर्दनकरपरादृत्यादिविलासानन्दस्तद्धृदयवेद्यएव । अन्या-भरणानुक्तिर्विहारसमयोपयोगौचित्यसूचनमयी वा । तदानीं तानि विकी-र्णानि व्यत्यस्तानि चेति ।

पुनश्च कस्तूर्यास्तिलकं भूयो रचयितेति । पूर्वं जय प्रारंभे रचित-मिदानीमुपसंहारजयघोषार्थं । वा लोकेऽपि पराजितप्रतिद्वन्द्विनो वर्णचिन्हं स्वध्वजायां निदधाति, इदं मया जितमिति सूचनार्थं श्यामवर्णं भूयासं

रसकलश

की चोट खाई हुई वस्तु के संबन्ध में पुरानेपन की भावना होती ही नहीं। उसकी तुलना में अन्य वस्तुएँ बिलकुल साधारण हो जाती हैं। अब रहा यह कि घायलों की मरहम-पट्टी कौन करे, तो यह काम तो निजी लोगों को ही सौंपा जाता है, (अतः श्रीहितसखी ही इसकी अधिकारिणी थीं)। 'अपि' (भी) इसलिये कहा गया है कि माला के टूटने के बाद की श्री अंगों की शोभा को छोड़ते नहीं बनता था। किन्तु किया क्या जाय ? सेवक-धर्म का तकाजा यह था कि उन्हें बाँध दिया जाय। अतः बाँध दिया। यहाँ भी टूटे हुए को जोड़ने में श्रीहितसखी की प्रखर मंत्रि-बुद्धि का पता लगता है। (चतुर मंत्री का यह काम है कि वह पड़ौसी राष्ट्रों के साथ टूटे हुए संबन्धों को फिर जोड़े। कभी-कभी किसी देश से अन्तरराष्ट्रीय संबन्ध तोड़ना अनिवार्य हो जाता है। अपने राष्ट्र की सम्मानरक्षा का जब प्रश्न हो तो ऐसा करने से अपने राष्ट्र का गौरव बढ़ता है, तथापि कूटनीतिज्ञ मंत्री यही प्रयत्न करता है कि यथासंभव संबन्ध न टूटें।) टूट कर मोती बिखर गए और प्रिया जी के श्री अंगों की सेवा से वंचित हो गये, अतः श्रीहितसखी ने मानों दया कर उन्हें फिर पिरो दिया। (ध्वनि यह निकलती है कि मुक्त आत्माएँ मोक्ष-प्राप्ति के मोह में फँस कर प्रियाजी के श्री अंगों की सेवा से विरत हो-जाते हैं तो वे दया के पात्र हैं और रस-मार्गियों का यह कर्त्तव्य है कि उन्हें फिर उचित मार्ग पर प्रतिष्ठित करें।) क्योंकि यदि मोती (और मुक्तजन) श्रीअंग की सेवा से भ्रष्ट हो गए तो उनका क्या ठिकाना रहेगा ? मोती की लड़ियों को पिरोते समय श्रीहितसखी के मन में कुछ इसी प्रकार के भाव उदित हो रहे थे। इसके अतिरिक्त यह कल्पना करके भी उन्हें परम आनन्द मिल रहा था कि प्रिया-प्रियतम दोनों परस्पर आलिंगन, प्रिय के द्वारा अंग-मर्दन और इस पर प्रिया जी द्वारा उनके हाथ को झटक देना, आदि-आदि विलास-क्रीड़ायें किस प्रकार हुईं। उनके इस आनन्द को सहृदय ही जान सकते हैं। मोतियों की लड़ के सिवा यहाँ अन्य आभूषणों की जो चर्चा नहीं की गई

तिलकरीत्या जयाशिषाभिषिक्तवती । 'अपि' शब्दः पूर्ववत्, अन्यथा तादृशप्रसृततिलकत्वं गौरभाले किं किमुद्दीपकं स्यात् तदनिर्मेयमेव । अत्रापि स्वामिनी विग्लापितरचनमेव सचिवमुख्यत्वम् । तदानीं रचनसमये श्रीमत्याः साहसेन वीरायितादिश्रमाम्बुसंमार्जनानन्दस्तद्धृदयभावनीयएव, किमेकरसनया वर्णनीयः स्यात् । एवं पूर्वपद्ये परममाधुर्यमुभयोरुपक्षिप्तम् । तदेव स्वसेवाद्वारानुभूय वर्णितम् ॥१७४॥

एवमन्तरङ्गमाधुर्यसेवनास्वादपरमानन्दमग्ना तदन्यज्ञातृकसर्वोत्कर्ष-विचारगतदृष्टया तन्माधुरीं प्रस्तौति—

उसका कारण यह है कि विलास के समय केवल एक-दो आभूषणों की ही उपयोगिता है ।[1] अथवा यह समझिये कि जिस समय श्रीहितसखी मोतियों की लड़ें पिरो रही थीं, उस समय अन्य आभूषण बिखर कर इधर-उधर पड़े हुए थे ।

दूसरी अभिलाषा श्रीहितसखी की यह है कि मैं कब प्रिया जी के मस्तक पर दूसरी बार कस्तूरी की बिन्दी लगाऊँगी । पहले विजय-संग्राम के प्रारंभ होने पर टीका किया था, अब वह टीका संग्राम के उपसंहार के रूप में विजय की घोषणा करेगा। संसार में भी हारे हुए प्रतिपक्षी की ध्वजा का रंग अपनी ध्वजा पर लगा दिया जाता है । प्रस्तुत में भी श्रीहितसखी ने श्रीकृष्ण के श्याम रंग से प्रचुर मात्रा में तिलक के रूप में विजय का आशीर्वाद देते हुए (कि इसी प्रकार आपकी सदा विजय हो) प्रिया जी के भाल का अभिषेक किया । 'अपि' (भी) का मतलब है कि पहले की तरह, उसी सौष्ठव के साथ फिर लगाना चाहती हैं, नहीं तो सुरत-संग्राम के समाप्त होने पर प्रिया जी के गौरवर्ण ललाट पर पुँछ कर फैला हुआ वह तिलक कितना आनन्दोद्दीपक होता, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती । तिलक-रचना करते समय यह विचार कर कि रति-क्रीडा में श्रीमती ने साहसपूर्वक किस प्रकार पुरुषायित वैदग्धी का प्रदर्शन किया होगा तथा श्रमजन्य पसीना पौंछते हुए श्रीहितसखी को जो आनन्द हुआ था, उसका वर्णन एक जिह्व द्वारा कैसे किया जाये ? इस प्रकार पूर्व पद्य में श्रीराधाकृष्ण दोनों के माधुर्य का जैसा वर्णन किया था उसी का अनुभव कर यहाँ वर्णन किया ॥१७४॥

इस प्रकार अन्तरंग लीला के माधुर्य का सेवन करने के आस्वाद से प्राप्त परम आनन्द में मग्न श्रीहितसखी इस विचार से कि श्रीराधाकृष्ण की महिमा महान् है जिसे कि उनके सिवा अन्य कोई नहीं जानता, उनकी माधुरी को प्रस्तुत करती हैं—

---

१. रतिसमये रमणीनां भूषाहानिस्तु भूषणं भवति ।

किं ब्रूमोन्यत्र कुण्ठीकृतकजनपदे धाम्न्यपि श्रीविकुण्ठे
राधामाधुर्य्यवेत्ता मधुपतिरथ तन्माधुरीं वेत्ति राधा ।
वृन्दारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा
तद्द्वन्द्वं स्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिकाकिंकरीभ्यः
॥१७५॥

या राधामाधुर्यता तां मधुपतिर्वेत्ति । अथ किं वा तन्माधुरीं राधा वेत्ति, अन्यन्नेत्यर्थदिवायातम् । तदा अन्यत्र श्रीविकुण्ठे धाम्न्यपि किं ब्रूमः । नन्वत्र तद्वेत्ता नास्तीत्येव किन्नोक्तम् ? कथं 'किं ब्रूमः' इति गूढतया निषेधो हृदि निहितवान् ? इति चेत् सत्यम् । तत्रैवं कथनोद्यमेऽपि मधुरवाक्पटुत्वशीलेन सादरानङ्गीकारोक्त्या 'किं ब्रूमः'

रसकलश

'क्या कहें ? ब्रह्मा आदि भक्तों के भी पैर जहाँ पहुँचने में कुंठित हो जाते हैं (अथवा ब्रह्मा आदि भक्तों का आत्म-विश्वास जहाँ डगमगा जाता है । उस श्री वैकुण्ठ-धाम में श्रीराधा-संबन्धी माधुर्य को श्रीकृष्ण ही जानते हैं और श्रीकृष्ण की माधुरी को श्रीराधा ही जानती हैं । पर श्रीवृन्दाबनधाम परम रसामृत की माधुरियों में सबसे आगे है । इसने युगलस्वरूप में जो भी आस्वाद करने योग्य (माधुर्य या रस) है वह सब का सब श्रीराधा की परिचारिकाओं को दे दिया ॥१७५॥

श्रीराधा का जो माधुर्य है उसे मधुपति (श्रीकृष्ण) ही समझते हैं, किं वा उनकी माधुरी को श्रीराधा ही जानती हैं । दूसरा कोई नहीं जानता, यह तात्पर्यार्थ स्वतः ही निकल आता हैं । तब अन्यत्र श्रीवैकुंठधाम के संवन्ध में तो कहें ही क्या ? यहां शंका होती है कि यह न कह कर कि 'यहाँ (श्रीवैकुण्ठधाम में) उसे कोई नहीं जानता' यह क्यों कहा कि 'क्या बतायें ? निषेध को इस प्रकार हृदय में गहरा छिपा रखने से क्या मतलब है ? यह शंका सत्य है । बात यह है कि श्रीहितसखी कहना तो यही चाहती थीं, परन्तु उनकी वाणी में सहज माधुर्य और विदग्धता है, अतः (जहाँ तक माधुर्य-ज्ञान का संबन्ध है) उन्होंने शिष्टतापूर्वक वैकुण्ठ की क्षमता को अस्वीकार करते हुए 'क्या बतायें ? इतना ही कहा है । इसी स्तोत्र में अन्यत्र (७७) कहा गया है —धर्म, अर्थ आदि चतुर्वर्ग के उत्कर्ष को लोग माना करें, यहाँ उनकी क्या चर्चा करना ? हमने एकान्त भाव से ईश्वर के प्रति भक्ति-योग के मार्ग को भी शिरोधार्य किया है ।' (इस पद्य में चतुर्वर्ग को स्पष्ट शब्दों में नकारा नहीं गया है ।) प्रस्तुत में आदर्श शिष्टिता के स्वभाव को अपनाते हुए विशेषण (कुण्ठीकृतकजनपदे; के प्रयोग द्वारा वैकुण्ठ की महिमा का ही बखान किया है और निषेध (प्रत्याख्यान) को व्यंग्य में छिपा दिया है ।

इत्येवावदत् । यथोक्तम्—'धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद्वृथावार्तया, सैकान्तेश्वरभक्तियोगपदवीत्वारोपिता मूर्द्धनि', इत्यादि । अत्र निषेधो महच्छीलेन व्यंग्ये रक्षितो, विशेषणदानेन महिमैवोक्तः । तदेव विशिनष्टि—कुण्ठीकृतौ कजनानां ब्रह्मादिभक्तानामपि पदौ येन । कुंठितगतित्वमिति । अथवा पदं व्यवसितिः[1], 'यथा यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति कुण्ठितात्मव्यवसायित्वं तेषामपि कृपयैव गम्यं, न स्वतः । यथा 'तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः सन्दर्शयामास' इति । अनेन सत्यलोकादिषु स्वत एव कैमुत्यमागतं, तेषां वैकुण्ठ एव कुण्ठितत्वात् । ततः प्रस्तुतमाधुर्या अनन्यज्ञातृत्वमेवोक्तमिति ।

मधुर एव माधुर्यं, तद्भावो माधुर्यता । अथवा विकुण्ठे धाम्नि राधा-माधुर्यतायाः सकाशादन्यत्रेतीतरस्मिन्सतीत्यर्थः । तत्रापीयं माधुरी नास्ति, तदा किं ब्रूमः, तूष्णीमेव स्थेयम् । यथा 'अवचनेनैव प्रोवाच' इतिवत् कथनविषयः कुत्रापि नास्तीत्यर्थः ।

रसकलश

वैकुंठ धाम के उसी विशेषण को देते हैं—'कुण्ठीकृतकजनपदे' । अर्थात् 'क' यानी ब्रह्मादि भक्तों के पद जहाँ रुक जाते हैं—अर्थात् उनकी गति प्रभावहीन हो जाती है। अथवा 'पद' का अर्थ है—व्यवसाय' (दृढ़ निश्चय) । कहा भी है—जहाँ से वाणी मन को साथ लेकर लौट आती है । तात्पर्य यह है कि ब्रह्मादिक का भी आत्म-विश्वास जहाँ मन्द पड़ जाता है । श्रीकृष्ण की कृपा से ही ब्रह्मादिक वहाँ पहुँच सकते हैं, अपने बूते पर नहीं । श्रीमद्भागवत में कहा है—'भगवान् ने कृपा करके उसे अपने लोक के दर्शन कराये' । जब वैकुण्ठ तक ही पहुँच नहीं है, तो सत्य आदि लोगों के संबन्ध में तो कहना ही क्या ? क्योंकि ब्रह्मादिक की गति तो वैकुंठ तक पहुँच कर ही कुंठित हो जाती है । ऐसी स्थिति में श्रीराधाकृष्ण के माधुर्य को तो अन्य कोई जान ही नहीं सकता, यही कहा है ।

('माधुर्यता' शब्द के संबन्ध में यह आपत्ति हो सकती है कि उसमें ष्यञ् और ता दो भाववाचक प्रत्ययें लगे हैं, अतः व्याकरण की दृष्टि से यह प्रयोग अशुद्ध है। इस आपत्ति का निराकरण करने के लिए उसकी व्युत्पत्ति बताते हैं—) मधुर ही माधुर्य है, उसका भाव है 'माधुर्यता । (अब विकुंठे धाम्नि राधामाधुर्यतायाः सकाशात् अन्यत्र यह अन्वय लगा कर अर्थ करते हैं—) अथवा वैकुंठ धाम को राधा-माधुरी का धाम होने की अपेक्षा और कुछ होने पर—यह अर्थ है । वहाँ भी यह माधुरी नहीं है तो क्या कहें ? चुप ही रहना ठीक है, जैसा कि मुहाविरा है—'बिना कहे ही सब कुछ कह दिया । तात्पर्य यह है कि कहीं भी कुछ कहने का आधार नहीं है ।

१. पदं व्यवसितिकारणस्थानसूक्ष्मांघ्रिवस्तुपु—इत्यमरः ।

अथवा मधुपतिर्या राधामाधुर्यता तां विकुण्ठे धाम्न्यपि किं वेत्ति? नैव वेत्ति, इति वयं ब्रूमः ; वस्तुयाथार्थ्यकत्वान्नैव संकोचं कुर्मः । किञ्चाभेदतत्व-सिद्धान्तेन यदि श्रीकृष्णो वैकुण्ठस्थः, किं तन्माधुरी वेत्ति ? नैवेति । यदा श्रीवृन्दावनस्थस्तदैव वेत्तीत्यर्थः तदा अन्यत्र कुण्ठीकृतकञ्च तज्जनपदञ्च—जनलोकादिस्थानं, तत्राभाव कैमुत्यमेव । स्वार्थे कः प्रत्ययः । कुण्ठीकृतत्वं यथा—

'चस्कन्द यः स्वरहस्खलतात्रिपृष्टं यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पमानम्।
इति श्रीवामनपदावष्टब्धलोकानां कुण्ठितत्वमेव । वैकुण्ठस्य तु 'सत्यज्ञाना-नन्तानन्दमात्रैकमूर्तयः' इति, 'यन्नेति नेति' इति, 'अतद्वुत्सिसूक्षवः' इति, 'न तद्भासयते सूर्यो' इत्यादिना अकुण्ठव्यापकत्वञ्च श्रूयते । 'अपि' इत्यकुण्ठनादरे कुण्ठकैमुत्यार्थम् । अतः पद्यादावेव 'किं ब्रूमः इत्युक्तम्,

---

रसकलश

अथवा क्या मधुपति राधा की माधुरी को वैकुंठधाम में भी जानते हैं ? अर्थात् नहीं जानते—यह हमारा कहना है । वास्तविक बात को कहने में हमें संकोच नहीं है । दूसरी बात यह कि श्रीराधाकृष्ण अद्वय तत्त्व है, इस अभेद सिद्धान्त के अनुसार यदि श्रीकृष्ण वैकुंठ में रहते हैं तो क्या उनकी माधुरी को जानते हैं ? नहीं जानते अर्थात् श्रीवृन्दावन में रह कर ही जानते हैं । ऐसी स्थिति में (कुण्ठीकृतकजनपदे' का दूसरा अर्थ लगाते हैं—) कुंठीकृत जो जनपद उसमें—अर्थात् जिन मर्त्यलोक आदि स्थानों में जहाँ कि भगवत्तत्व को साक्षात्कार करने में जीवों की गति स्वभावतः अवरुद्ध रहती है, वहाँ यदि राधामाधुरी का कोई ज्ञाता न हो तो आश्चर्य ही क्या है ?

'कुण्ठीकृतक' में स्वार्थ में 'क' प्रत्यय है, अतः 'कुण्ठीकृतक' का वही अर्थ है जो 'कुण्ठीकृत' का होता । कुंठित होने का उदाहरण—'चस्कन्द यः' इत्यादि

उक्ति के अनुसार श्रीवामन भगवान् के पैरों से नापे गए लोकों को तो कुंठित ही मानना चाहिये । 'सत्य, ज्ञान, विशुद्ध अखंड आनन्द और एकरसता—ये वैकुंठ के स्वरूप हैं,' 'यह भी नहीं, यह भी नहीं,' 'न उसे सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा, न अग्नि', इत्यादि प्रमाणों द्वारा वैकुण्ठधाम को निरबाध रूप से सर्वत्र व्यापक कहा गया है । 'धाम्नि+अपि' में 'अपि' शब्द द्वारा यह सूचित किया गया है कि वैकुण्ठ धाम की उक्त अकुण्ठा-प्रशस्ति को भी यहाँ आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता, तो उसके कुंठाग्रस्त होने की दशा में तो कहा ही क्या जाय ? इसीलिए इस पद्य के प्रारम्भ में कह दिया है—'किं ब्रूमः' (क्या कहें ?) । अपने मन की प्रसन्नता के आवेग को रोक

स्वमनोगतहर्षोज्जृम्भं निरुद्धच सिरश्चालनोक्ति । तदा को वेत्तीत्य-पेक्षायामाह—

मधुपतिः सकलमाधुर्यसाररूपत्वान्मधुरूपमेवेति श्रीवृन्दावनं, तत्पतिः । यद्वा प्रियाधरमधुभोक्तृत्वेन पतिः । अत एव तन्माधुरी ज्ञानम् । पानाभावे ज्ञानाभावः स्यात्, इति तस्या माधुरीं वेत्ति अथ तस्य माधुरीं राधावेत्तीति देहलीदीपन्यायेन तस्याः तस्येति द्वयार्थः कर्तव्यः । द्वयैकमिथो गम्यमिति सिद्धम् । यद्वा राधासंबन्धिमाधुर्यता एव मुख्यत्वं मधुपतिर्वेत्ति । अथ च तन्माधुरीं उक्तपरामर्श्य स्वमाधुरीं राधैव वेत्ति कथं वेत्तीत्यपेक्षायां यथो-द्धवाम्नायतंत्रे शिवेनोक्तम्—

पद्मोत्करद्रोहिमुखारविन्दं स्मितामृताक्षालितचारुशोभम् ।
स्मरामि राधे ! मणिदर्पणं यज्जयत्यशेषं विमलं तवैतत् ॥

तद्दर्पणं स्मरामीति । तत्किम् ? यन्मुखारविन्दं अशेषं विमलं जयति । किञ्च त्वं तु स्वप्रियसखीमनांसि हरसे, तवापि मनः इदं दर्पणं हरति इदमेव स्मरामीति । तस्मादेवं दर्पणद्वारा स्वमाधुरीज्ञानम् ।

रसकलश

कर सिर हिला कर केवल इतना ही कहा है । तब जानता कौन है, यह जिज्ञासा होने पर कहते हैं—

मधुपति । समस्त माधुर्य के सार (रस) की मूर्ति होने के करण श्रीवृन्दावन साकार मधु (मधुररस) है । श्रीकृष्ण उस वृन्दावन के पति-स्वामी हैं । अथवा प्रियाजी के अधर-मधु का भोग करने के कारण उसके स्वामी हैं । अत एव उन्हें श्रीराधा की माधुरी का ज्ञान है । अधर-मधु का पान किये विना उन्हें राधा-संवन्धी माधुर्य का ज्ञान ही नहीं हो पाता । अतः वे उनकी माधुरी को जानते हैं । और उनकी माधुरी को श्रीराधा जानती हैं । यह अर्थ करने के लिये देहलीदीप न्याय से 'वेत्ति' क्रिया का संवन्ध (कर्तारूप में) राधा और माधव दोनों से लगेगा । 'तन्माधुरीम्' में भी (एकशेष द्वन्द्व द्वारा) दोनों का ग्रहण करना चाहिये । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि दोनों का माधुर्य एक-दूसरे के द्वारा ज्ञेय है । अथवा राधा-संबन्धि माधुर्य को ही मुख्य रूप से मधुपति जानते हैं और 'वैकुंठ को भी कुंठित करने वाली आदि उपर्युक्त विशेषण-विशिष्ट अपनी माधुरी को श्रीराधा ही जानती हैं । (इस अर्थ में 'तन्माधुरीम्' का विग्रह होगा– सा चासौ माधुरी ताम् ।) यदि कोई कहे कि अपनी माधुरी श्रीराधा आप कैसे जानती हैं, तो इस संबन्ध में आम्नाय तंत्र का प्रमाण है जिसमें दर्पण की स्तुति करते हुए श्रीशिव कहते हैं—

हे श्रीराधे ! मैं मणि के बने उस दर्पण का स्मरण करता हूँ जो कमलों के समूह के विरोधी मुस्कान रूपी अमृत से धोये जाने से निखरी हुई शोभा वाले आपके समग्र निर्मल मुखारविन्द को जीत लेता है ।'

तदित्थं द्वन्द्वेनास्वादनीयमिति तन्माधुर्यास्पदधामाह — अत इयं वृन्दारण्यस्थली परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा। परमत्वं रसस्योक्तमेव। बहुत्वं माधुर्यवैविध्यानन्त्यात्। धुरीणा धुर्या, अनन्याधारा। तयोर्माधुरीं वेत्तीत्यपि चार्थः। तादृशीयं तद्द्वन्द्वस्य स्वादनीयं सकलमपि निजास्वाद्य-सहितं समस्तमपि राधिकाकिङ्करीणां ददौ। कर्मणि षष्ठी परोक्षेण पूर्वमेव दानसिद्धत्वं ललितादीनां नित्यसेव्यत्वात्। आगन्तुकानां साधनसिद्धानां च भाविकाले साधकावस्थायामेव दानात्, तेनैव तादृशकिङ्करीत्वप्राप्तेः। एतादृशी परमवदान्यमहिम्नीयं स्थली। यथात्रैव वक्ष्यते—'यत्तन्नाम स्फुरति

रसकलश

व्याख्या—उस दर्पण का मैं स्मरण करता हूँ। वह कौन-सा दर्पण? जो समग्र निर्मल मुखारविन्द को जीत लेता है। दूसरी बात यह है कि आप तो अपनी प्रिय-सखियों के मनों को हरण करती हो, किन्तु यह दर्पण तो आपके मन को भी हरण कर लेता है, अतः इसी का स्मरण करता हूँ।' इस प्रकार दर्पण द्वारा अपनी मधुरता का ज्ञान होता है।

इस प्रकार युगलस्वरूप द्वारा आस्वादन करने योग्य उस माधुर्य के निधान धाम (श्रीवृन्दावन) का वर्णन करते हैं—अतः यह वृन्दावन-भूमि जोकि अत्यन्त उत्तम कोटि के रसामृत की मधुरिमाओं में अग्रगण्य है। उसके सर्वोत्कृष्ट होने के संबन्ध में कहा जा चुका है। 'माधुरीणाम्' में बहुबचन का प्रयोग यह सूचित करने के लिये किया गया है कि माधुर्य्य के अनन्त प्रकार हैं। 'धुरीणा' का अर्थ है—भार वहन करने वाली—अर्थात् माधुर्यों का एकमात्र आधार। ऐसी श्रीवृन्दावन स्थली उन दोनों राधाकृष्ण की माधुरी को जानती है—यह भी एक अर्थ है। उस प्रकार की इस वृन्दावन-भूमि ने उस युगल में जो कुछ आस्वादन योग्य है वह सब का सब, अपनी माधुरी की आस्वादनीयता सहित श्रीराधिका की परिचारिकाओं को दे दिया। संप्रदान में चतुर्थी विभक्ति के नियमानुसार 'किंकरीभ्यः' होना चाहिए था, किन्तु यहाँ कर्म के अर्थ में (?) षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। 'ददौ' परोक्षार्थक लिट् लकार का प्रयोग है, जिससे यह ध्वनित होता है कि ललिता आदि सखियां तो नित्यभाव से श्रीवृन्दावन का सदा से सेवन करती हैं, अतः इन्हें तो किसी अतीत काल में दान मिल गया, रही साधकावस्थापन्न सिद्धों की बात, सो उन्हें भविष्यत् में किसी समय साधक होने की अवस्था में दान दिया जायगा। तब कहीं उन्हें किंकरी होने का अधिकार मिलेगा। यह वृन्दावन भूमि ऐसी ही उदार है। इस स्तोत्र में ही आगे चलकर कहेंगे—'मुझ अधम के हृदय में श्रीराधा नाम की जो स्फूर्ति होती है, यह उसी वृन्दावन की महिमा है।'(२६०) अतः साध्य जो दासीभाव है, उसके संबन्ध में क्या कहा जाय?

महिमा ह्येष वृन्दावनस्य' इति। अतः साध्ये किमु वक्तव्यम्। तस्मात् प्रथममेव ददातीदम् यथा च शतके—

भजन्नुच्चैरुच्चैः प्रतिमुहुरहो वृद्धिमतुलां
स्मरोन्मादो राधामुरलिधरयोः कोऽपि सहजः।
महासौख्याम्भोधिः प्रसरति सखीनाञ्च परमो
यदेष श्रीवृन्दावन तव महानेष महिमा ॥१४।४७

एवं सकलरसाधारत्वं श्री वृन्दावनस्योक्तम्। तत्र तत्कोशाधिकारित्वं किङ्करीणामुक्तम्, तद्भावं विना तदप्राप्तेः। कृपापात्रसखीं प्रति तन्माधुरी-प्राप्त्युल्लासोपवर्णनेन तद्भाग्यं प्रस्तुतम्। मुक्तक पक्षे साधकसजातीयानां श्रीवृन्दावनमहिमदर्शनेन तद्भावाधिक्यं वासनिष्ठात्वं चोपदिष्टम्, चतुष्टयैकगम्यं माधुर्यं चोक्तम्॥१७५॥

रसकलश

श्रीवृन्दावन को किंकरीभाव की प्राप्ति श्रीवृन्दावनशतक में कहा है से पूर्व ही माधुर्य का दान दे देता है।

'अहो! श्रीराधा-मुरलीधर को प्रतिक्षण अत्यन्त उन्नत और असीम रूप से बढ़ता हुआ कोई एक अनिर्वचनीय कामोन्माद हो रहा है और सखियों के हृदयों में भी यही महासुख का सागर लहरा रहा है। हे श्रीवृन्दावन! यह सब तुम्हारी ही महिमा है! ॥१४।४७

इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में श्रीवृन्दावन को समस्त माधुर्य्य रस का आधार बताया गया है। और किंकरियों को उसके रस-कोश का आधिकारी, क्योंकि जब तक श्रीवृन्दावन के प्रति अनुराग न हो, तब तक कैंकर्य पद नहीं मिल सकता। श्रीवृन्दावन की माधुरी के प्राप्त होने से श्रीहितसखी को जो उल्लास हुआ है उसका वर्णन अपनी कृपापात्र सखी से करके उसके भाग्य को सराहनीय वताया है। यदि प्रस्तुत पद्य को फुटकर माना जाय तो उसके द्वारा श्रहित प्रभु ने अपने समानधर्मा साधकों को श्रीवृन्दावन की महिमा का साक्षात्कार करा कर यह उपदेश दिया है कि श्रीवृन्दावन के प्रति उन्हें अधिकाधिक अनुराग रखना चाहिए और उनकी निष्ठा श्रीवृन्दावन-वास में ही होनी चाहिए। इस प्रकार, श्रीकृष्णगत, श्रीराधागत, किंकरीगत तथा श्रीवृन्दावनगत, चार प्रकार के माधुर्य्य का प्रतिपादन किया ॥ १७५ ॥

टिप्पणी—यहाँ इस पद्य के द्वितीय चरण में यही शुद्ध पाठ दिया गया है।

राधामाधुर्यवेत्ता मधुपतिरथ तन्माधुरी वेत्ति राधा।

एतदनुसार पद्य का अन्वय इस प्रकार होगा—श्रीविकुण्ठे धाम्नि अपि कुण्ठीकृत जनपदे (सति) राधामाधुर्यवेत्ता मधुपतिः, अथ तन्माधुरीं राधा वेत्ति। (श्रीवैकुंठ धाम के (बिना राधा (के) एक तुच्छ जनपद हो जाने पर मधुपति (ही) श्रीराधा के माधुर्य के ज्ञाता हैं और उन (मधुपति)

इदानीं पूर्वोक्तरससुधारूपमाधुरीकथनेन द्रवरूपभावनया विच्छिन्न धाराधारत्वं विविक्षुः श्रीमत्या महानदीरूपकं वर्णयन्ती प्रियसंगमोन्मुखतामाह। तत्र चतुश्लोक्या क्रमेणोपक्षिप्तचतुष्टयवर्णनं ज्ञेयम्—

रसकलश

अब पूर्वपद्य में उल्लिखित रसामृतरूप माधुरी के संबन्ध में तरलता की कल्पना करके श्री हितसखी उस माधुरी की निरन्तर प्रवहमान धारा के आधार को बताने की इच्छा से श्रीमती का वर्णन एक विशाल नदी के रूप में करती हुई बताती हैं कि वे प्रियतम के साथ संगम के लिये किस प्रकार उद्यत हैं। आगे के चार पद्यों द्वारा क्रमशः चार प्रकार की माधुरी के आश्रयों (श्रीराधा, श्रीकृष्ण, श्रीवृन्दावन और किंकरीवर्ग) का वर्णन किया जायगा।

के माधुर्य को श्रीराधा जानती हैं।) किन्तु रसकुल्याकार ने इसके स्थान पर 'राधामाधुर्यताया मधुपतिरथतन्माधुरीं वेत्ति राधा' यह पाठ स्वीकार किया है। शुद्ध पाठ तो 'राधामाधुर्यवेत्ता' ही है। रसकुल्याकार को जो हस्तलिखित प्रति मिली होगी उसमें लेखक के प्रमाद से 'वेत्ता' के स्थान पर 'ताया' हो गया। और उसीके आधार पर 'सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया' के अनुसार खींच-तान कर अर्थ बैठाने का प्रयत्न किया। किन्तु हमने यहां शुद्ध पाठ ही देना उचित समझा। क्योंकि 'राधामाधुर्यताया' यह पद यूँ भी अशुद्ध है और फिर इसका अर्थ भी तो ठीक नहीं बैठता। —सम्पादक

रसकुल्यानुसार अन्वय इस प्रकार होगा—या राधामाधुर्यता तां मधुपतिर्वेत्ति, अथ तन्माधुरीं राधा वेत्ति। (तदा) अन्यत्र कुण्ठीकृतकजनपदे श्रीविकुण्ठे धाम्न्यपि किं ब्रूमः। (राधा का जो माधुर्य है उसे मधुपति जानते हैं और उनके माधुर्य को श्रीराधा जानती हैं। ऐसी स्थिति में अन्यत्र श्री वैकुण्ठ (आदि) धाम के सम्बन्ध में क्या कहा जाय?

एक अन्य पाठ-भेद चतुर्थ चरण में भी मिलता है—

'तद्द्वन्द्वस्वादनीयम्' और 'तद्द्वन्द्वं स्वादनीयम्।' पूर्व पाठ को रसकुल्याकार ने स्वीकृत किया है जिसके अनुसार अर्थ होगा—श्रीवृन्दावन ने युगल में जो कुछ आस्वाद करने योग्य है वह सब का सब राधा किंकरियों को दे दिया। इस अर्थ के अनुसार श्रीवृन्दावन ने आस्वादनीय को दिया, जबकि उत्तर पाठ के अनुसार आस्वाद्य युगल को ही दे दिया। जो कुछ भी हो, इससे मूल अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं आता।

लसद्वदनपंकजा नवगभीरनाभिभ्रमा,
नितम्बपुलिनोल्लसन्मुखरकाञ्चिकादम्बिनी ।
विशुद्धरसवाहिनी रसिकसिन्धुसंगोन्मदा
सदा सुरतरङ्गिणी जयति कापि वृन्दावने
॥१७६॥

कापि सुरतरङ्गिणी वृन्दावने सदा जयति । 'सुर' शब्देन दिव्यनदीत्वं गौरवर्णत्वं चापि सूच्यते। अत्रैव सुरतशब्दश्लेषोऽपि धृतः । तेन सुरतस्य रङ्गो यस्याम् । रङ्ग आस्वाद आनन्द इति । तदेव 'रत्युन्मुक्तम्' इति पद्ये सुरतान्तचिन्हं वर्णितम् । यद्वा इदानीं तदौत्सुक्यं द्योतयन् विशिनष्टि— लसद्वदनमेव पंकजं यस्याम् । भूतभाविविलासस्मरणानन्दौत्सुक्येन प्रफुल्लत्वं ज्ञेयम् । ततो मिलनाभिलाष कामरसो मध्य एवावर्तता

रसकलश

मुखरूपी कमल से सुशोभित, नई गहरी नाभि के रूप में जिसमें भँवरे पड़ रही हैं, जिसके नितम्बरूपी पुलिन पर हँसों की पंक्ति शब्दायमान है, विशुद्ध प्रेम-रस (अकलुषित जलराशि) को धारण करने वाली, (श्रीकृष्णरूपी) समुद्र से मिलने के मद से भरी हुई श्रीराधा रूपिणी अनिर्वचनीय गंगा श्रीवृन्दावन में अपने समस्त उत्कर्ष सहित विराजती हैं ॥१७६॥

एक अनिर्वचनीय सुरतरंगिणी (गंगा) श्रीवृन्दावन में समस्त उत्कर्ष के साथ विराजती हैं । 'सुरतरङ्गिणी' में 'सुर' शब्द द्वारा यह भी सूचित किया है कि नदी अलौकिक है और उसका वर्ण सफेद है । यहाँ सुरतरङ्गिणी' में सभङ्गश्लेष भी छिपा हुआ है— सुरत+रङ्गिणी, जिससे अर्थ निकलता है—जिसमें सुरत का रंग आस्वाद, आनन्द विद्यमान हैं । पूर्व के 'कदा रत्युन्मुक्तम्' इस पद्य में इसी रंग का सुरत-समाप्ति पर देखे गये चिन्हों के रूप में वर्णन किया गया है । अथवा इस समय श्रीराधा रूपी नदी की उत्कंठा को प्रकट करते हुए विशेषण द्वारा उसका वर्णन करते है- 'लसद्वदनपङ्कजा' । इसका अर्थ है -जिस नदी में मुखरूपी कमल शोभा दे रहा है । मुख-कमल के खिलने का कारण यह है कि प्रियाजी की बीते हुए तथा भविष्य में घटित होने वाले विलास का स्मरण हो आया और वे आनन्द से उत्कंठित हो रही हैं ।

प्राप्नोति। सुकुमार्यास्तस्यापि भारासहत्वम्। तेन भ्रमित्वं निर्दिशति—नवरीत्या गभीरा नाभिरेव भ्रमो यस्याम् गमनेन च श्रोण्यां किङ्किणीनादं शृण्वन्त्याह—नितम्बमेव पुलिनं यस्याम्। यद्वा पदैक्यम्। तस्मिन्नुल्लसन्ती शोभना वा। णिजन्तर्भावादुल्लासयन्ती प्रियसखीश्रवणानिति। मुखरा चासौ काञ्ची च, सैव कादम्बिनी हंसमाला यस्याम्। काञ्चीति ह्रस्वो द्विरूपकोशः। गतौ च प्रियविषयिक कृपारसावेशं दृष्ट्वाह—विशुद्धं रसं तत्सुखं वहतीति तादृशप्रेमप्रवाहस्थायिस्वरूपमुक्तम्। तत्रापि तादात्विकोत्कण्ठातिशयं दृष्ट्वाह—रसिकस्तादृशरसविशारदः प्रियः, स एव सिन्धुस्तस्य सङ्गे संगमे उन्मदा। यथा गंगादेः सागरसंगमे औद्धत्यं प्रवाहाटोपो दृश्यते, तद्वत्तदानीं तनोरुन्मत्तता सहृदयैकवेद्या। तदत्यभिलाषातुर्यपोषणे निजवदान्यतातिशयत्वमदः, ततः संगमानन्तरं सुरतस्य रङ्गः क्रीडनानन्दो यस्याम्।

रसकलश

इसी बीच में मिलन की अभिलाषा प्रत्याशित संभोगानन्द में परिणत होकर भँवर का रूप धारण कर लेती है। इस अभिलाषा का भार भी सुकुमारी श्रीराधा से सहन करते नहीं बनता जिसके फलस्वरूप वे भँवर की तरह चकराने लगती हैं। इसी घुमेर को बताती हैं—नई रीति से प्रियाजी गहरी नाभि ही उस नदी की भँवर है। चलने में नितंब-मंडल पर मेखला के घुँघरुओं का शब्द सुनती हुई श्रीहितसखी कहती हैं—नितम्ब ही उस नदी का पुलिन है। यह भी संभव है कि 'नितम्बपुलिना' को स्वतंत्र विशेषण न मान कर उसे आगे के समासान्तपद से संबद्ध मान लिया जाय। तब अर्थ होगा—नितंबरूपी शब्दायमान मेखलारूपी कादंबिनी-हँसों की पंक्ति सुशोभित हो रही है। 'उल्लसत्' का अर्थ है हर्षित होती हुई (मेखलारूपी हंसमाला)। 'उल्लसन्ती' में यदि प्रेरणार्थ को अन्तर्निहित मान लिया जाय तो अर्थ होगा—प्रियसखियों के कानों को (मधुर ध्वनि द्वारा) उल्लसित करती हुई। 'काञ्ची' शब्द का ह्रस्व इकारान्त रूप भी कोश द्वारा प्रमाणित है। प्रियाजी की गति में प्रियतम पर की जाने वाली कृपा से उत्पन्न आनन्द के आवेश को लक्ष्य कर कहती हैं—'विशुद्ध रसवाहिनी'। विशुद्ध रस (सुख और जल) को धारण करने वाली (नदी पक्ष में-सुखदायक जल से बहने वाली)। इस प्रकार के प्रेम-प्रवाह का स्वरूप स्थायी होता है—यह कहा जा चुका है। फिर भी श्रीराधा की तत्कालोन प्रबल उत्कंठा को देखकर श्रीहितसखी कहती हैं—'रसिकसिन्धु सङ्गोन्मदा।' रसिक अर्थात् उस प्रकार के रस-विदग्ध प्रियतम रूपी समुद्र से मिलने के लिए मदमाती गंगा आदि नदियाँ जब समुद्र में पड़ती हैं तब उनके प्रवाह में आवेग का जैसा बवंडर देखा, उसी प्रकार की उन्मत्तता प्रियाजी में थी, जिसे कि सहृदय समझ सकते हैं। 'उन्मद' का अर्थ है—उत्कट मद से

एतादृशी काप्यनिर्वचनीया रसनदी जयति, सर्वोत्कर्षेण वर्तते। अत्र सिन्धोरपि परमानन्ददानात् परमोत्कर्षः। यद्वा सिन्धुसम्मुखागतमहाकल्लोलोद्वेलनमपि स्ववेगेन जयतीत्यर्थः। पूर्वं तु प्रियस्य परमातुरत्वं, तस्याः संगमे च संभ्रमानन्दात्मविस्मृत्या स्थगितवदालेख्यस्थितिरिति जयः।

'सिन्धुसंगोन्मदा' इत्यत्र केवलासज्यत्व परदुःखानभिज्ञताद्येव तत्र नास्ति, तन्मर्मेङ्गितासक्तिपरावधिज्ञानपूर्वककृपानुसरणनेन परमप्रसादाश्रयत्वमस्तीति सूचितम्, पूर्वोक्तप्रियमाधुरीज्ञातृत्वञ्च विवृतम्, प्रियस्य विषयत्वेन तन्माधुर्याधारत्वं चोक्तम्, लसद्वदनपङ्कजाद्युक्तौ प्रियज्ञेयमाधुरी निर्दिष्टा, कादम्बिन्युक्तौ स्वागमहर्षज्ञापकता, विशेषशुद्धरसस्वरूपे भ्रमित्वं लज्जावाम्यादि शीलध्रौव्यकृतम्। अन्यथा तत्र शुद्धाकुण्ठगमन एव

रसकलश

युक्त। संभोग के लिये आतुर प्रियतम की अभिलाषा का पोषण वे अत्यन्त उदारता के साथ करती हैं, इसी बात का प्रिया जी को मद है। श्लेष की दृष्टि से 'सदा सुरतरङ्गिणी' का अर्थ करते हैं--जिन श्रीराधा संग्राम की समाप्ति के बाद सुरत का आनन्द—अर्थात् विलास-क्रीडाजन्य आनन्द लहरा रहा है, ऐसी कोई अनिर्वचनीय रस-नदी में अपने समस्त उत्कर्ष के साथ सुशोभित है।

'जयति' का अर्थ है विजय प्राप्त करना—अर्थात् समस्त उत्कर्ष के साथ स्थित रहना। प्रस्तुत में श्रीराधारूपी नदी का सबसे बड़ा उत्कर्ष यह है कि वे श्रीकृष्ण रूपी समुद्र को भी परम आनन्द प्रदान करती हैं। अथवा उनकी विजय इसमें है कि जब वे समुद्र के मुँहाने पर पहुँचती हैं, तो अपनी कृपा के आवेग से प्रियतमरूपी समुद्र की उमड़ती हुई अभिलाषामयी तरंगों को भी जहाँ का तहाँ ठहरा देती हैं। पहले तो प्रियतम बड़े अधीर रहते हैं, परन्तु प्रियाजी के साथ संगम होते ही हड़बड़ी के आनन्द में अपने आप को भूल जाते हैं और चित्रलिखित की भाँति जहाँ के तहाँ जड़ हो जाते हैं।[1] 'सिन्धु से मिलने के लिए उन्मद'—कहकर केवल यही नहीं सूचित किया है कि श्रीराधा श्रीकृष्ण का आसक्ति का विषय हैं तथा दूसरे के दुःख से बेखबर नहीं है, बल्कि यह भी कि वे प्रियतम के हार्दिक भावों को जानती हैं और उनकी आसक्ति की पराकाष्ठा को समझते हुए कृपापूर्वक उन पर परम अनुग्रह भी करती हैं। इसके अतिरिक्त इस पद्य में प्रियसंबन्धी जिस माधुरी का उल्लेख किया जा चुका है उसका स्पष्टीकरण भी किया है कि प्रियतम जिस माधुरी का विषय है उसका आधार स्वयं श्रीराधा ही हैं। 'श्रीराधा का मुख-कमल खिला हुआ है, इत्यादि द्वारा यह सूचित किया है कि उनके माधुर्य को प्रियतम जाने बिना रह नहीं सकते; मेखला की उपमा हंस-पंक्ति से देकर श्रीकृष्ण रूपी समुद्र के पास पहुँचने का हर्ष सूचित किया गया है, और रस के विशुद्ध स्वरूप में भँवर पड़ने का कारण प्रियाजी का लजालु

१. तुलना करिए—"शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।" कुमारसंभवम्, सर्ग-४

निश्चिते कथं रसे परावृत्तिः। तस्मात्तादृशभ्रम्यादिरपि तच्छोभैव। नदी-रूपोक्त्या वृन्दावनमहास्थानप्लाव्यमानतोक्ता। तेनैव वनसरसत्वं नवनवत्वञ्च। महन्महतैव प्लाव्यते इति। एव वनस्थल्या सकलमाधुरीधुरीणत्व मुपदिष्टम् ॥१७६॥

एवं प्रियामाधुर्याधारत्वं सिन्धुत्वेन प्रियस्योक्त्वा, इदानीं तस्याः प्रियमाधुर्याधारत्वं विविक्षुस्तदभिलाषातिशयसंभृत्यर्हसिन्धुरूपकेणाह—

अनङ्गनवरङ्गिणी रसतरङ्गिणी सङ्गता
दधत्सुखसुधामयस्वतनुनीरधौ राधिका।
अहो मधुपकाकलीमधुरमाधवीमण्डपे
स्मरक्षुभितमेधते सुरतसीधुमत्तं महः ॥१७७॥

रसकलश

स्वभाव तथा प्रतिकूलता की ओर सहज रुझान बताया गया है। नहीं तो यदि उन्होंने बिना किसी मानसिक उथल-पुथल के, सरल भाव से प्रिय के पास गमन किया होता तो चकराने की (जल में भँवर पड़ने की) ज़रूरत ही क्या थी? यह हड़बड़ाहट उनकी शोभा ही है। श्रीराधा को नदी के रूपक द्वारा प्रस्तुत करने का भाव यह है कि श्रीवृन्दावन जैसी महत्वपूर्ण भूमि को वे रस से आप्लावित कर देती हैं; इसीलिए वह हरी-भरी रहती हैं, सदा नई-नई दिखाई देती हैं। विशाल भू-खंड को जलमय बनाने के लिये किसी महान् तत्व की आवश्यकता होती है। इस प्रकार यहाँ श्रीवृन्दावन-भूमि को समस्त माधुर्यों में श्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है ॥१७६॥

पूर्व पद्य में समुद्र का रूपक बाँधकर प्रियतम को प्रियाजी के माधुर्य का आधार बताया था। अब यह कहना चाहते हैं कि प्रियतम के माधुर्य का आधार प्रियाजी हैं, अतः प्रिय की अभिलाषा का पोषण करने में समर्थ प्रियाजी को समुद्र बनाकर उसी बात को कहते हैं—

"आनन्दामृत से परिपूर्ण अपने शरीर रूपी समुद्र में काम-भावना के नए-नए रंगों से युक्त रस की नदियों को धारण करने वाला श्रीराधा रूपी तेज भौरों की गुंजार

टिप्पणी—श्री गोस्वामी कृपालाल जी ने अपनी टीका में 'कादम्बिनी' का अर्थ मेघमाला किया है, जबकि रसकुल्याकार ने किया है—हंसों की पंक्ति।' कोष के अनुसार 'कादम्बिनी' का अर्थ केवल मेघमाला है। यदि मेघमाला को मेखला का उपमान माना जाय तो वर्ण की दृष्टि से रूपक-अलंकार दोषग्रस्त हो जाता है, क्योंकि काँची का रंग सफ़ेद और (सुवर्ण की हो तो पीला) होता है और मेघमाला होती है श्याम। इस आपत्ति के कारण हंसमाला का अर्थ संगत अवश्य है, पर कठिनाई यह है कि कोश के अनुसार उसका अर्थ मेघमाला ही है, ना कि हंसपंक्ति। किन्तु 'कादम्ब' का अर्थ कलहंस है, अतः कादम्बिनी का अर्थ हंस-पंक्ति भी ठीक ही है। —सम्पादक

अहो इत्याश्चर्यं, याधारा सैवाधेया जातेदानीं दर्शनीयैवेति। राधिका-महः मधुपकाकलीमधुरे माधवीमंडपे स्मरक्षुभितं सुरतसीधुमत्तं सत् एधते। अत्र रसिकसिन्धुसङ्गे महाप्रेमोज्जृम्भेण क्षुभितं, यथा पयसोऽग्निक्षोभेनोत्सेकः। अत्र प्रेम्ण उष्णकिरणत्वं स्मरितं, तत एव वृद्धिरिति। तदानन्तरं रतिक्रीडासवमत्तता। अत एव यथास्थितस्य वस्तुनोऽन्यादृशविभाव्यमानतया ज्ञातार्थे कः। 'राधिके'ति पश्य सखिः किं वा सैवेयमिति ज्ञापकः। सुकुमार्या अङ्गानि तु यथास्थितान्येव, परन्तु रूपलावण्यविशिष्टच्छवेरुज्जृम्भणान्'मह' इत्युक्तं तस्यैव वर्द्धनञ्च। तेजसोऽत्र रसमयत्वं ज्ञेयम्। प्रेम्णस्तदानीं स्मरवत् क्षोभकतेति। यद्वा 'मह' इत्युत्सवसूचकोऽपि द्वितीयोऽर्थः। प्रियसङ्गमे यथोत्सववृद्धि स्तत्र गायका गायन्ति, तदेव स्थान-

---

रसकलश

से मधुर वासन्ती-मंडप में कामावेश से आन्दोलित और सुरत-मदिरा से उन्मत्त होकर बढ़ रहा है।" ।।१७७।।

रसकुल्या के अनुसार है यह अर्थ। अन्य संस्करणों में इस पद्य का जो पाठान्तर मिलता है वह इस प्रकार है—

"अनंगनवरंगिणी रसतरंगिणी संगतां
दधत् सुखसुधामये स्वतनुनीरधौ राधिकाम्।
अहो मधुपकाकलीमधुरमाधवी मंडपे
स्मरक्षुभितमेधते सुरतसीधुमत्तं महः ।।"

इस पाठ के अनुसार निम्नलिखित अर्थ होगा —

सुख रूपी अमृत से परिपूर्ण अपने शरीर रूपी समुद्र में, कामदेव को नए-नए रंगों से रंगने वाली रस-नदी के रूप में मिली श्रीराधिका को धारण करने वाला तेज भौंरों की धीमी-धीमी गुंजार से युक्त वासन्ती—मंडप में कामावेश से आन्दोलित और सुरत-मदिरा से उन्मत्त होकर बढ़ रहा है।)

अहो! कैसे आश्चर्य की बात है कि जो (श्रीराधा) आधार थीं; वही अब आधेय हो गईं, अतः इस दशा में उनकी शोभा देखते ही बनती है। (अन्वय करते हैं—) श्रीराधिका रूपी तेज भौंरों की धीमी-मीठी ध्वनि से मधुर माधवी लता के मंडप में कामावेश से आन्दोलित तथा सुरत-मदिरा से उन्मत्त होकर बढ़ रहा है। रसिक श्रीकृष्ण रूपी समुद्र से संगम होने पर महाप्रेम में ज्वर आया और फलतः तेज क्षुभित हो गया—वैसे ही जैसे अग्नि के क्षोभ से पानी में उबाल आता है। इस स्थान पर यह स्मरण कराया है कि प्रेम की किरणें गरम होती हैं, इस कारण तेज में उछाल आया। उसके बाद संभोग-मदिरा का पान करने से मादकता आगई। इसी कारण वस्तु

सौष्ठवं निर्दिशति—मधुरध्वनिस्तेन मधुरेऽतिप्रिये वा मादकत्वदायके माधवीनां वासन्तीनामपि। मधुशब्देन मद्यसंभवानामित्युत्प्रेक्षा गर्भितार्थ-सूचकानां मण्डपे, वितानार्थेऽपि माधुर्यं मण्डं पिवतीवेत्यर्थरहस्यसूचके, यं दृष्ट्वोभयो मादकतैवेधेत। सूक्ष्मकलशब्दोक्तिस्तु सुकुमारी किङ्किणीमणिताादि श्रवणास्वाददानार्थकत्वसूचका। एवं परमोद्दीपके वसन्तोत्सवे तादृशमण्डपे स्वयमपि सुरतासवमत्तेत्यनेन सधर्मिसमाजे वर्द्धनं साधूक्तम्।

प्रस्तुते प्रक्रान्तं सिन्धुरूपकमाह—कीदृशं महः? सुखसुधामयस्वतनु-नीरधौ संगता मिलिताः अनङ्गनवरङ्गिणीः रसतरङ्गिणीर्दधदिति।

रसकलश

जैसी थी उससे भिन्न प्रकार की प्रतीत होने लगी। (नशा चढ़ने पर पीने वाले का रूप रंग कुछ और ही तरह का हो जाता है।) इसी भाव को व्यक्त करने के लिए अज्ञातार्थक 'क' प्रत्ययान्त 'राधिका' शब्द का प्रयोग किया गया है, मानो श्रीहितसखी अपनी प्रिय सखी से कह रही हों—देख तो सही; क्या यह वही पहली राधिका है? कोमलांगी प्रिया के अंग तो अपनी-अपनी जगह पर ठीक हैं, परन्तु सौन्दर्य और लावण्य से युक्त छवि अंगड़ाइयाँ ले रही हैं। 'महः' द्वारा यही भाव व्यक्त किया गया है। उसी रूप लावण्यमय तेज में वृद्धि हुई है। प्रियाजी के तेज को यहाँ रसमय (सिन्धु-पक्ष में द्रव रूप) समझना चाहिए। प्रेम में इस समय काम की भाँति हलचल पैदा करने की शक्ति आगई है। अथवा 'महः' का दूसरा अर्थ उत्सव भी है। प्रिय के साथ संगम होने पर उत्सव में जो वृद्धि हुई है—गाने वाले गा रहे हैं और स्थान भी बड़ा रमणीय है, उसी को बताते हैं—मधुर ध्वनि से वह स्थान मधुर बन गया है—अर्थात् अत्यन्त प्यारा अथवा मादकता भरने वाला है। ऐसे माधवी अर्थात् वासन्ती (मंडप में)। 'माधवी' शब्द 'मधु' से बना है और 'मधु' का अर्थ मदिरा भी होता है। अतः 'माधवी' का दूसरा अर्थ यह भी हुआ कि मद्य से उत्पन्न। उत्प्रेक्षा को यहाँ अन्तर्निहित मानने पर यह अर्थ निकलेगा। तो ऐसे माधवी-मंडप में। 'मंडप' का अर्थ चँदोवा है परन्तु व्युत्पत्ति (मंडं सारं पिबति) के अनुसार 'माधुर्य के सार को पीने वाला'—यह अर्थ होगा—जिससे कि मंडप का रहस्यात्मक होना सूचित होता है। इस प्रकार के मंडप को देखकर दोनों की मादकता बढ़ती है। 'काकली' का अर्थ है—धीमा-धीमा मधुर शब्द। यह मधुर शब्द भौंरों की गुंजार है, किन्तु ध्वनि यह भी निकलती है कि सुरत-प्रसंग में सुकुमारी श्रीराधा के नूपुरों की ध्वनि और रति-कूजति सुनने का आस्वाद भी मंडप प्रदान करता है। ऐसे वसन्तोत्सव में प्रियाजी स्वयं भी सुरत-मदिरा को पीकर उन्मत्त हो गई हैं। इससे यह सूचित किया गया है अपने-जैसे (सजातीय) समाज में बढ़ना (फलना-फूलना) ठीक होता है।

तनावेव नीरधाविति तनुसुकुमारत्वेऽपि चिन्तामण्यादाविवाचिन्त्यप्रभावत्वेन नद्यानन्त्यं सावकाशं दधदिति । अनङ्गो व्यापक प्रेमा । यथा—'अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इतिवत् । तस्य नवरीतिको रङ्गो यासु । प्रियकृतप्रेरणस्यैव तदानीं नदीषु मुख्यन्नवत्वम् । यद्वा 'स्मरः साक्षात्कृष्णोऽनवधिरतितृष्णः' इत्यनेन तद्रूपस्य प्रियस्यैव नवास्वादो यासु । किञ्च 'स्मरे'त्यग्रे वक्ष्यत्येव, ततोऽपुनरुक्तिः ।

रसः शृङ्गाररूपस्तस्य तरङ्गिणीः, स्थायिसंचार्यनुभावविभावादिपरिकरतरङ्गवतीः । प्रियस्य यद्यदभिलाषप्रवाहाः प्रवहन्ति तांस्तानेव स्वप्रत्यङ्गेषु धारयति, याचकचाटुविज्ञप्तिमङ्गीकरोति, तद्वस्तुदानसमयत्वात् । ननु प्रवाहकर्तृकं दानं चिन्त्यम् । किञ्च स्वसुखसुधामयत्वात्तनोरिति ते प्रवाहा

रसकलश

अब समुद्र का रूपक वताते हैं—कैसा तेज ? कि जो आनन्दामृत से छलछलाते अपने शरीररूपी समुद्र में मिलने वाली, कामदेव के अनोखे रंग में रंगी हुई रस (समुद्र पक्ष में जल) की नदियों को धारण करता है। 'तनुनीरधौ'' का अर्थ हैं— तनु (शरीर) ही जो समुद्र उसमें। प्रियाजी का शरीर सुकुमार है, पर चिन्तामणि आदि की भाँति उसका प्रभाव असीम है, अतः अनन्त नदियों के समाने के लिए उसमें पर्याप्त अवकाश है। 'अनंग' से अभिप्राय है व्यापक प्रेम का'। कहा भी है—'बिना हाथ के वह पकड़ लेता है, बिना पैर के जोर से भागता है, बिना आँखों के देखता है और बिना कानों के सुनता है।' इस प्रकार के कामदेव के अनोखे रंग जिनमें हैं (ऐसी रस की नदियों को श्रीराधा अपने शरीर रूपी समुद्र में धारण करती हैं)। नदियों में कामदेव के रंगों की नवीनता इस अर्थ में है कि प्रियतम द्वारा की गई प्रेरणा की ही नदियों में प्रधानता है। अथवा 'श्रीकृष्ण साक्षात् कामदेव हैं और उनमें अनन्त भाव से रति की प्यास बनी रहती है; इस उक्ति के अनुसार प्रियतम कामदेव रूप ही हैं और रस की नदियों में उन्हीं का चिरनवीन आस्वाद विद्यमान रहता है। इस पद्य के चतुर्थ चरण में कहा भी है—'स्मरक्षुभितम्', अतः संगति बिठाने के लिए भी यहाँ भी उल्लेख कर दिया है।

'रस तरङ्गिणी' में रस से तात्पर्य श्रृंगार रस का है। इस अर्थ के अनुसार श्रीराधा अपने शरीर में श्रृंगार रस की नदियों को धारण किये हुए हैं। यदि नदियों को श्रृंगार रस का प्रतीक माना जाय तो उस नदी की तरंगें ही श्रृंगार रस के विभाव, अनुभाव और संचारी हैं। प्रियतम की अभिलाषा के जो-जो प्रवाह बहते हैं

---

१. यही भाव इस शेर में भी व्यक्त किया गया है—

इस लफ़्जे मुहब्बत का बस एक फ़साना है,
सिमटे तो दिले आशिक, फैले तो जमाना है।

अभिलाषमयाः। नीरधिस्तु स्वसुखसुधाभिस्तान् पोषयतीति ज्ञेयम्। अत एव परमसंसिद्धिनाम्नी। मधुसमयोऽप्यभिलाषमय एव दानकालः, माधवीमण्डपो दानतीर्थः, क्षोभोदानवीरत्वं, सुरतसीधुमत्तता यथा दानफलस्य सद्यः प्राप्तिः सुधासीधुपानं ततो मत्तेति। यद्वा समुद्ररूपकेणान्यार्थोऽपि दृश्यते। स्मररूपप्रियमन्थनकर्त्रा क्षुभिते सुधातनौ सुरतवारुणी समुद्भूता, तया मत्तं महः अङ्गिरूपं तेजः एधते। यथा 'सुधापीतयैधिता' इति। माधवीमण्डपं यथा धूपामोदित यज्ञशालायामिति दिक् ॥१७७॥

रसकलश

केवल उन्हीं को श्रीराधा अपने प्रत्येक अङ्ग में धारण करती हैं और श्रीकृष्ण की मिन्नत भरी प्रार्थनाओं को स्वीकार करती हैं—इसलिये कि उन अभिलाषा रूपी वस्तुओं के दान करने का यही उचित समय है, अतः प्रवाह के द्वारा दिये जाने वाले दान के संबन्ध में कोई आपत्ति नहीं उठानी चाहिये। दूसरी बात यह है कि श्रीराधा का स्वरूप भी आनन्दामृतमय है, अतः वे प्रवाह भी अभिलाषा रूप ही हैं। समुद्र तो अपने सुख रूपी अमृत से उनका पोषण करता है। इसीलिये समस्त अभिलाषाओं की पूर्ति करने के कारण 'राधा' नाम सार्थक है। उधर वसन्त भी दान करने के लिये उपयुक्त समय है, माधवी-मंडप वह तीर्थ है जिस पर दान दिया जाता है, कामावेश से उत्पन्न आन्दोलन ही दानवीरता है, सुरत-मदिरा को पीकर उन्मत्त होना ही दान-फल की तत्काल प्राप्ति है और मदिरा ही अमृत है जिसे पीकर मद चढ़ आता है।

समुद्र रूपक से एक दूसरा अर्थ भी ध्वनित होता है—कामदेव रूपी प्रियतम मंथन करने वाले हैं। उन्होंने श्रीराधा के आन्दोलित अमृत-समुद्र को मथा, उसमें से सुरत-वारुणी निकली जिसे पीकर श्रीराधा रूप अंगी मादकता से भरकर वृद्धि को प्राप्त हो गया जैसे कि देवता अमृत पीकर बढ़े थे। यदि सुरत को एक यज्ञ माना जाय जिसके प्रसंग में दान भी दिया जता है, यज्ञ के फलस्वरूप प्राप्त आत्मोत्कर्ष का अमृत भी पिया जाता है, तो माधवी-मंडप भी एक यज्ञशाला है जो उज्ज्वल प्रेम रूपी धूप के गन्ध से सुवासित रहती है ॥१७७॥

टिप्पणी—रसकुल्यानुसार प्रस्तुत पद्य विशुद्ध रूप से श्रीराधा परक है। श्रीराधा ही समुद्र हैं। अपनी ही उठने वाली रस की नदियों को वे अपने शरीर में धारण करती हैं। वे स्वयं ही कामावेश से समुद्र की भाँति आन्दोलित रहती हैं। वे सुरतमत्त भी हैं। जो कुछ हैं वे ही हैं। समुद्र भी वे ही हैं, तरंग के रूप में प्रवाहित होने वाली नदियाँ भी कहीं बाहर से नहीं आतीं। श्रीकृष्ण इस रूपक का कोई अंग बनकर नहीं आते।

दूसरे पाठ के अनुसार यह पद्य श्रीकृष्ण-परक है। श्रीकृष्ण-तेज समुद्र है। रस-नदी के रूप में उनसे मिली हुई श्रीराधिका को वे अपने शरीर में धारण करते हैं। वही कामावेश से आन्दोलित होते हैं और सुरत-मदिरा से मत्त भी।

एवं परस्परमाधुर्याधारत्वमनुवर्ण्य परमरससुधामाधुरीधुरीणत्वं वृन्दाटव्या उपक्षिप्तम् । तद्वर्णनावसरे प्राप्ते तत्कथं धुरीणत्वं वर्णये, मम तु तद्रूपैव दृश्यते, इत्याशयेन प्रियां वृन्दाटवीरूपेण वर्णयन्ती विलाससामयिक प्रियमनोहारित्वमाह—

रसकलश

इस प्रकार श्रीराधाकृष्ण को एक-दूसरे के माधुर्य का आधार बताकर जिस श्रीवृन्दावन को उच्चकोटि के रसामृत की माधुरी का आधार कह आये हैं, उसके वर्णन का अवसर आने पर सोचते हैं कि श्रीवृन्दावन के सर्वाग्रणी होने का वर्णन कैसे करूँ ? मुझे तो वह श्रीराधा रूप ही दिखाई देता है। इसी आशय को हृदय में रखकर प्रियाजी का वर्णन श्रीवृन्दावन के रूप में करती हुई श्रीहितसखी प्रियाजी के विलास के समय की शोभा का वर्णन करती हैं—

श्रीराधा मेरे मन को इस प्रकार आकर्षित करती हैं जैसे वह दूसरा वृन्दावन हों। श्रीराधा की रोमावली ही उस वृन्दावन में बहने वाली यमुना है, सुन्दर सब अंगों में बन्धूक के पुष्प जैसी तथा खिले हुए चंपक-जैसी कान्ति है, नाभिरूपी सरोवर वहाँ शोभा दे रहा है, स्तन ही फूलों के गुच्छे हैं, भुजारूपी सुन्दर लतायें हैं और पक्षियों की झंकार ही नूपुरों की ध्वनि है।

पाठक देखेंगे कि केन्द्रीय भावना की दृष्टि से एक पाठ के अनुसार श्रीराधा समुद्र हैं, तो दूसरे के अनुसार श्रीकृष्ण। रसकुल्याकार के समर्थन में कहा जा सकता है कि श्रीराधा सुधानिधिस्तवम् में श्रीकृष्ण को कहीं भी प्रधानता नहीं दी गई है। 'ध्यायंस्तं शिखिमौलिपिच्छ-मनिशम्' (पद्य संख्या २५८) में श्रीकृष्ण का ध्यान करने की बात कही गई है, पर उस ध्यान का पर्यवसान होता है राधा की अभिलाषा में ही।

किन्तु रसकुल्याकार के पाठान्तर और अर्थ-भेद को गले से नीचे उतारने में कुछ कठिनाइयाँ सामने आती हैं। पहली यह कि पद्य १७६ की उत्थानिका में वे कहते हैं—'तत्र चतुश्लोक्या क्रमेणोपक्षिप्त चतुष्टयवर्णनं ज्ञेयम् ।' (यहाँ चार श्लोकों द्वारा क्रमशः चार प्रकार के माधुर्य का वर्णन जानना चाहिए।) चार प्रकार की माधुरी का आधार है—श्रीराधा, श्रीकृष्ण, श्रीवृन्दावन और किंकरी गण। इसके अनुसार पद्य १७६ (लसद्वदनपंकजा···) में श्रीराधागत माधुर्य का वर्णन किया गया है। उसके बाद विचाराधीन पद्य (१७७) का वर्ण्य विषय श्रीकृष्ण होना चाहिए। पद्य १७८ में श्रीवृन्दाटवी-गत माधुर्य का वर्णन है ही और उससे आगे के पद्य में किंकरी श्रीहितसखी की कर्तव्य-माधुरी का। प्रस्तुत पद्य को श्रीराधागत मानने से रसकुल्याकार द्वारा प्रतिज्ञात क्रम के निर्वाह में बाधा पड़ती है।

दूसरी अड़चन है व्याकरण-संबन्धी। रसकुल्या सम्मत पाठानुसार श्रीराधा रूपी तेज-समुद्र बढ़ रहा है। यह अर्थ करने के लिये पद्य के द्वितीय चरण में प्रयुक्त 'राधिका' शब्द का महः' के साथ कर्मधारय समास करने पर ही 'राधारूपी तेज' यह आपेक्षित अर्थ संभव है। किन्तु ये दोनों शब्द भिन्न-भिन्न चरणों में इतनी दूर पड़े हैं कि उनके समासान्त पद होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

रोमालीमिहिरात्मजा सुललिते बन्धूकबन्धुप्रभा
सर्वाङ्गेस्फुटचम्पकच्छविरहो नाभीसरःशोभना।
वक्षोजस्तवका लसद्भुजलता शिञ्जापतज्झंकृतिः
श्रीराधा हरते मनोमधुपतेरन्येव वृन्दाटवी।।१७८।।

श्रीराधा मधुपतेर्मनः अन्या वृन्दाटवीव हरते। यथा वृन्दाटवी प्रियतमा तथैव श्रीराधेत्यहो आश्चर्ये। अत्र प्राणप्रियासाम्येकृतेऽभेदतत्वमेवागतम्, अत एव 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति' इति। तत एव च 'वनं मे देहरूपकम्' इति। तस्माद्द्वयमाधुरीधुरीणेयमेव। कथं वनरूपेण प्रियाङ्गसाम्यं चेत्तत्राह—रोमाली मिहिरात्मजा यमुना यस्यां, सुललिते सर्वाङ्गे बन्धूको बन्धुजीवस्तस्य सदृशी प्रभा यस्याम्। स्फुटो वि कसि चंपकस्तद्वच्छविर्यस्याम्। अत्र 'कान्तिभात्विट्प्रभाच्छविः' इत्यमरे छवि-

---

रसकलश

यह अर्थ हुआ श्रीराधा को वृन्दाटवी का स्वरूप मान कर। अब श्रीवृन्दावन को श्रीराधा मानकर जो अर्थ होगा वह इस प्रकार है—

वृन्दाटवी मेरे मन को ऐसे खींचती है जैसे वह कोई दूसरी श्रीराधा हो। श्रीवृन्दावन में बहती हुई यमुना ही राधारूपी वृन्दावन की रोमावलि है, वृन्दावन में खिलते हुए बन्धूक के फूलों की कान्ति ही उसके होठ की प्रभा है। सब अंगों से प्रकट होने वाली गौर कान्ति की तरह उसमें चंपा के फूलों की शोभा है। नाभि के समान सुन्दर सरोवर हैं, स्तनों की भाँति फूलों के गुच्छे हैं, भुजा-जैसी लतायें हैं और नूपुरों की ध्वनि के समान पक्षियों की झंकार है ।।१७८।।

श्रीराधा प्रियतम के मन को दूसरी वृन्दावन-स्थली की भाँति आकर्षित करती हैं। कैसा आश्चर्य है कि जैसी वृन्दाटवी प्यारी है वैसी ही श्रीराधा हैं। यहाँ श्रीवृन्दावन की तुलना प्रियाजी के साथ करने से दोनों का अभेद स्वतः सिद्ध हो जाता है, इसीलिये कहा है—'श्रीवृन्दावन को छोड़कर एक पैर भी बाहर नहीं रखते।' इसीलिये वृन्दावन को श्रीकृष्ण का स्वरूप बताया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीराधाकृष्ण दोनों की माधुरी से श्रीवृन्दावन की माधुरी बढ़कर है। अब बताते हैं कि प्रियाजी के अंगों के साथ श्रीवृन्दावन की समता का आधार क्या है—प्रियाजी की रोमावली ही उस वृन्दावन की यमुना है। सब अंगों में लालित्य से परिपूर्ण बन्धूक के फूल जैसी कान्ति है, खिले हुए चंपक के समान उन अंगों की प्रभा है। यहाँ 'कान्ति, त्विट्, प्रभा, छवि'—इस कोष-प्रमाण के अनुसार छवि और प्रभा का

प्रभयोरेकार्थत्वात् क्वचिदङ्गेऽधरोष्ठहस्तपादादौ बन्धूकवदरुणकान्तिरन्यत्र चंपककान्तिरिति ज्ञेयम् । पुनरुक्तेर्हेतोर्नामान्तरोक्तिः । बन्धुशब्दः सादृश्यार्थे, यथा गीतगोविन्दे—'मंगलकलशसहोदरे' इति । बन्धुत्वं यथा तत्रैव 'बन्धूकद्युतिबान्धवोऽयमधरः' इति । नाभिरेव सरस्तेन शोभना । दीर्घो द्विरूपको कोशात् । वक्षोजावेव स्तबकाः पुष्पगुच्छा यस्याम् । लसन्तौ भुजावेव लता यस्याम् । 'शिञ्जा' इति भूषणानां नूपुरकिङ्किण्यादीनां शिञ्जितमेव पततां पक्षिणां झंकृतिः । संघशब्दानुकरणम् । पुष्पवनोक्तित्वात्, मधुपतेर्भ्रमरार्थत्वं तत्तन्मध्वास्वादित्वात् । यथा मधुपस्य वनं तथा भोग्या परमाश्रया च श्रीराधैवास्येति । अत्र सर्वत्रैव चंपकच्छविकथने केशरोमादिश्यामताव्याहतिः, अधराद्यरुणताक्षतिश्च स्यादतो रोमव्यपदेशेन

रसकलश

एक ही अर्थ है, अतः ऐसा समझना चाहिये कि होठ हाथ पैर आदि की कान्ति बंधूक के समान है, शेष अंगों की छवि चंपक-जैसी है। पुनरुक्ति के दोष को बचाने के लिये एक ही अर्थ वाले दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'बन्धूक-बन्धु' पद में 'बन्धु' शब्द का अर्थ समानता है। श्रीगीतगोविन्द में कहा है—'हे यदुनन्दन ! कामदेव के मंगल-कलश के सगे भाई इन स्तनों पर अपने हाथ से पत्रावली की रचना करिये।'' गीतगोविन्द का ही एक दूसरा उद्धरण इस प्रकार है—'यह तुम्हारा अधर बन्धूक की कान्ति का सहोदर है।'

नाभिरूपी सरोवर से सुशोभित हैं श्रीराधा। 'नाभिः' शब्द का ह्रस्व इकारान्त रूप भी कोश के आधार पर प्रमाणित है। स्तनरूपी फूलों के वहाँ गुच्छे हैं, भुजा ही लताएँ हैं, किंकिणी आदि की ध्वनि ही पंखियों की झंकार है। उड़ते हुए पक्षियों के समूह की ध्वनि के अनुकरण पर 'झंकार' शब्द की रचना हुई है। चूँकि श्रीवृन्दावन फूलों का वन है, अतः उसके साहचर्य से (श्लेष द्वारा) 'मधुपति' का अर्थ भौंरा है, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न फूलों के रस को चखता है। जैसा भौंरे का भोग्य वन है, वैसे

१. पूरा पद इस प्रकार है—
कुरु यदुनन्दन चन्दनशिशिरतरेण करेण पयोधरे,
मृगमदपत्रकमत्र मनोभवमङ्गलकलशसहोदरे ॥१२/२४/१

२. बन्धूकद्युतिबान्धवोऽयमधरः स्निग्धो मधूकच्छवि,
गण्डश्चण्डि चकास्ति नीलनलिनश्रीमोचनं लोचनम् ।
नासाभ्येति तिलप्रसूनपदवीं कुन्दाभदन्ति प्रिये !
प्रायस्त्वन्मुखसेवया विजयते विश्वं स पुष्पायुधः ॥१०/५

यमुना, बन्धूकेनारुण्यमधुरादेः, एतदुपलक्षणेन दन्तानां कुन्दाद्युपमानत्वं च ज्ञेयम् । अन्यत्र चंपकोक्तिररिति । अथवा 'बन्धुवन्धूकपुष्पे स्याद्वन्धुर्भ्रातरि बान्धवाः' इति विश्वः । बन्धूकोऽधर एव बन्धुप्रभा यस्यामिति । अत्रो-पमानेनोपमेयो निगीर्णः । यथा 'पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निस्सरन्ति शिताः शराः' इतिवदेकस्मिन् बन्धूकशब्देऽधरोष्ठार्थः कर्तव्यः, द्वितीये बन्धुशब्दे पुष्पार्थं इति ।

अथवा वृन्दाटवी मनो हरतेऽन्याराधेवेति । रोमालीवन्मिहिरात्मजा यस्याम्, बन्धूक एव बन्धोरधरस्य प्रभा यस्याम् । सर्वाङ्गे प्रियाया इति स्फुटा प्रकटा या गौरी कान्तिस्तद्वच्चंपकच्छविर्यत्र । नाभिवत् सरसा शोभना । वक्षोजवत्स्तवका यस्याम् । लसद्भुजवल्लताः यस्याम् शिञ्जा-

रसकलश

ही श्रीकृष्ण की भोग्या केवल श्रीराधा हैं । यहाँ सब अंगों की छवि को चंपक के समान बताया गया है, किन्तु केश, रोम आदि होते हैं काले और होठ होते हैं लाल, तो इनके रंगों के साथ संगति नहीं बैठेगी, अतः यमुना से श्याम वर्ण का तथा बंधूक से होठों की लालिमा का बोध होता है, ऐसा समझना चाहिये । इतना कहने से यह भी जान लेना चाहिये कि प्रियाजी के दाँत कुन्द पुष्प के समान सुशोभित हैं । इन अंगों के सिवा अन्य सब अंगों की छवि चंपक के समान है । अथवा 'बन्धु' का अर्थ बन्धूक का फूल और भाई-बन्धु है, इस विश्वकोश के अनुसार इस प्रकार अर्थ करना चाहिए—बन्धूक अर्थात् अधर ही है बन्धूक पुष्प की कान्ति जिसमें । इस व्याख्या के अनुसार यहाँ बन्धूक उपमान उपमेय अधर को को निगल गया है—अर्थात् (निगीर्याध्यवसानरूपा अति-शयोक्ति द्वारा) उपमान द्वारा ही उपमेय की अभिव्यक्ति की गई है । उदाहरण के लिये—'देखो ! दो नील कमलों से पैने बाण छूट रहे हैं ।' (इस उदाहरण में उपमान नीलकमल द्वारा उपमेय आँखों का निगीर्णन हुआ है ।) इसी प्रकार प्रस्तुत में 'बन्धूक' शब्द का अर्थ निचला होठ करना होगा और दूसरे 'बन्धु' शब्द को पुष्पवाचक मानना होगा ।

(उपर्युक्त व्याख्या में श्रीराधा को ही वृन्दाटवी मान कर वर्णन किया गया है । वहाँ श्रीराधा उपमेय थीं और श्रीवृन्दावन उपमान, और वन्दिश थी रूपक अलंकार की । अब उपमा अलंकार के अनुसार श्रीवृन्दावन को उपमेय तथा श्रीराधा को उपमान बनाकर वर्णन करते हैं—)

अथवा वृन्दाटवी दूसरी राधा की तरह मन को आकर्षित करती हैं । वहाँ यमुना रोमावली के समान है, बन्धूक के पुष्प होठ के समान कान्ति से युक्त हैं । प्रियाजी के सब अंगों की स्पष्ट गौर कान्ति के समान वहाँ चम्पकों की छवि है, नाभि

वत्पतज्झंकृतिर्यस्याम्, इत्यादि प्रियाङ्गच्छविवैशिष्ट्यं वृन्दाटव्यामिति प्रियासादृश्यात्तदुद्दीपकत्वान्मनो हरते । मधुपतिमनोहरणं यथा च शतके—

बर्होल्लासे वसति शिखिनां केशभारः सुकेश्याः
पश्याम्येतामलकविततिं चारुभृङ्गावलीषु ।
स्मेरास्येन्दोरुदयति कला फुल्लहेमाब्जकोशे
नेत्राञ्चल्याश्चकितहरिणीचातुरीमाधुरीभूः ॥११।१६

× × ×

श्रीमन्नासासुतिलकुसुमे बन्धुजीवाधरश्रीः
कुन्दे दंतावलिविलसितं कैरवे चारुहास्यम् ।
वल्लीवृन्दे तनुरनुपमागुच्छसत्कुड्मलादौ
लक्ष्मीर्वक्षोरुहमुकुलयोर्बाहुवल्ली मृणाले ॥११।१७

× × ×

रसकलश

के समान सरोवर सुशोभित हैं, स्तनों के समान वहाँ फूलों के गुच्छे हैं । सुशोभित होती हुई भुजाओं के समान लतायें हैं और नूपुरों के शब्द के समान पक्षियों की झंकार है । वृन्दाटवी इस प्रकार प्रियाजी की अंग-छवि से संपन्न है । प्रियाजी से साम्य होने के कारण वृन्दाटवी उद्दीपक है और मन को अपनी ओर खींचती है । श्रीकृष्ण के मन को हरण करने का वर्णन श्रीवृन्दावन शतके में निम्नलिखित रीति से किया गया है—

सुन्दर केशों वाली श्रीराधा के केशपाश की सुन्दरता मोरों की लंबी पूँछ में विद्यमान है, उनके बालों के विस्तार को मैं भौरों की पंक्तियों में देखता हूँ, मुस्कान युक्त उनके सुन्दर मुखचन्द्र की छटा ही प्रस्फुटित स्वर्ण-कमलों के कोश में विराजमान है और उनके नयनों की कोर चकित हरिणी के नेत्र-चातुर्य्य एवं माधुर्य को जन्म देती है ।११।१६

× × ×

श्रीराधा की सुन्दर नासिका-तिल के मनोहर फूल में, अधरों की शोभा बन्धूक के फूल में, दन्त-पंक्तियों की आभा कुन्द की कलियों में तथा सुन्दर हास्य श्वेत कमल में प्रतिभासित हो रहा है । उनकी अनुपम देह-छवि लतावृन्द में, स्तन, मुकुलों की शोभा स्तवकित पुष्प-कलियों में एवं बाहु-वल्ली मृणालों में विकसित हो रही हैं ।११।१७

× × ×

पीनश्रोणीविपुलपुलिने कोमलोरू कदल्यो
रक्ताम्भोजे करचरणयोः कापि शोभा विभाति।
वृन्दारण्य! त्वयि निवसति व्यस्तरूपा प्रिया मे
सामस्त्येनोल्लसति तु ममात्रातिधन्याङ्कदेशे ॥११।१८

इत्यादि रूपकमुक्त्वान्यमुपकारं च मनुते, इत्याह—

यदा प्राणेश्वर्यतिनिकट एवातिकुतुका-
न्निलीना पश्यन्ती विकलविकलं सा स्थितवती।
तदा वल्ली वृन्दावन ! तव ससंज्ञं किसलयं
करं धुन्वन्त्यासूचयदिदमहो मे महदृणम् ॥११।१६

इत्यादिषोडशश्लोकी दृष्टव्या।

अथ प्रस्तुते सुरतसीधुमत्तेत्युक्तौ विलाससमयार्थे रूपकालंकारेणावरणरूपेण रसार्थमाच्छाद्य कृपापात्रसखीं प्रति युगलं श्रावयन्ती व्यंग्येन तादात्विकापावृताङ्गशोभामाह—रोमालीत्यनेन स्थानातिगवसनता सूच्यते,

रसकलश

उनका पुष्ट कटि-प्रदेश विशाल पुलिनों में, कोमल जंघाएँ केला के वृक्षों में और हाथ-पैरों की अनिर्वचनीय शोभा रक्त कमलों में प्रकाशित हो रही है। हे श्रीवृन्दावन ! मेरी प्रिया (श्रीराधा) पृथक्-पृथक् रूपों में तुम में निवास कर रही हैं और समस्त रूप से मेरी इस धन्य गोद में वह उल्लसित हो रही हैं ॥११।१८

इस प्रकार के कई रूपक बाँधने के बाद निम्नलिखित पद्य में वर्णन किया गया है कि श्रीकृष्ण किस प्रकार वृन्दावन का उपकार मानते हैं—

"जब मेरी प्राणेश्वरी अत्यन्त कौतुक वश पास में ही कहीं छिप जाती हैं तब मैं अत्यन्त व्याकुल हो जाता हूँ। जब वह मुझे इस अवस्था में देखती रहती हैं तब हे वृन्दावन ! तुम्हारी कोई लता संकेत करती हुई अपने किसलय रूपी हाथ को हिलाकर उनके छिपने के स्थान को मुझे बता देती है। मेरे ऊपर श्रीवृन्दावन का यह बड़ा भारी ऋण है ॥११।१६

इस प्रकार श्रीवृन्दावन शतक में १६ श्लोकों द्वारा श्रीराधा और वृन्दावन का संश्लिष्ट वर्णन किया गया है।

पूर्व पद्य में 'सुरतसीधुमत्तं महः' कह कर यह सूचित किया गया है कि यह सब वर्णन विलास के समय का है। अतः प्रस्तुत पद्य में रूपक अलंकार के आवरण में सुरत रस के पोषक अर्थ को गूढ़ रखकर अपनी कृपापात्र सखी को संबोधन करती हुई श्रीहितसखी ने श्रीराधाकृष्ण को सुनाकर व्यंजना द्वारा वस्त्र-विहीन श्रीअंगों की शोभा का वर्णन किया है। अब उसे ही बताते हैं—रोमावली द्वारा सूचित होता है कि वस्त्र

तथाधरपानादौ बन्धूकेति, रसावेशविस्मृतपटत्वेन सर्वाङ्गसुलालित्यमुक्तं स्फुटेति चंपकेति च । एवं नाभीति भानुजासान्निध्यात् तत्संभृतं सर इवेति तत्र प्रियमनोमज्जनं ज्ञात्वोक्तम् । तथैव तदानीं तन्मधुपतिस्पर्शानन्दं ज्ञात्वा वक्षोजेति रसावेशवशगाढ़तरः । प्रियवेष्टनं ज्ञात्वा भुजलतेति । तादात्विकभूषणशिञ्जितज्ञानेन पतज्झंकृतिरिति, इत्यादिसहृदयवेद्यं यथा-यथमूह्यम् । अत्र तनुस्वरूपे वनविशालतादर्शने को हेतुस्तत्रैवं ज्ञेयम्—यद्यदङ्गे सखी मनोगतं तन्मनस्तन्मयतामापन्नमेव जातं, तेन मनने सूक्ष्ममप्यायतमभूदिति ।।१७८।।

एवमुपक्षिप्तवृन्दाटवीरसधुरीणत्ववर्णनानन्तरं किङ्करीणां वर्णना-वसरप्राप्तौ द्वन्द्वस्वादनीयास्वादकतां वर्णयन्ती तत्प्रसादपात्रमात्मानमाह—

रसकलश

अपने स्थान से हट गये हैं । बन्धूक-प्रभा द्वारा अधर-पान की तरफ संकेत है । रसानु-भूति के आवेश में वस्त्रों को भुला दिये जाने से श्रीहितसखी के समक्ष श्रीअंगों का सौन्दर्य स्पष्टरूप से प्रतिभासित हो गया था जिसका संकेत 'स्फुट' और 'चंपक' शब्दों द्वारा किया गया है । इसी प्रकार 'नाभिरूपी सरोवर से सुशोभित' कहकर सूचित किया है कि नाभि को रोमावली रूपी यमुना के निकटवर्ती होने के कारण तद्रूप सरोवर यमुना के पानी से सदा भरा रहता है । और भरा रहता है, इसीलिये प्रियतम का मन उसमें डुबकियाँ लेता रहता है । इसी प्रकार यह जानकर कि श्रीकृष्ण श्रीराधा के अंगों के स्पर्शजनित आनन्द का अनुभव कर रहे हैं, 'वक्षोज' कहने से विदित होता है कि रति के आवेश के कारण वह आनन्द अत्यन्त प्रगाढ़ था । प्रियाजी के अंगों के चारों ओर प्रियतम की भुजाओं को लिपटा हुआ देखकर 'भुजलता' कहा गया है । उस समय विलास के प्रसंग में भूषणों की जो झनकार आ रही थी उसे सुनकर 'पक्षियों की झंकार' से उसकी उपमा दी गई है । ये सब सहृदयों के जानने की बातें हैं और उन्हें स्वयं उनकी कल्पना कर लेनी चाहिये । अब यदि कोई जानना चाहे कि प्रियाजी के शरीर में वन की विशालता को देखने का कारण क्या है, तो इस संबन्ध में ज्ञातव्य यह है कि प्रियाजी के जिस-जिस अंग पर श्रीहितसखी का मन ठहर गया, तो वह तदाकार हो गया जिसके फलस्वरूप छोटे-छोटे अंग भी विशाल होकर दिखने लगे थे ।।१७८।।

इस प्रकार उपर्युक्त वृन्दावन-रस की श्रेष्ठता का वर्णन करने के उपरान्त किंकरियों के वर्णन का अवसर आने पर युगलस्वरूप जिस रस का उपभोग करते हैं उसकी सरसता का वर्णन करती हुई श्रीहितसखी अपने को कृपापात्र समझकर अपने संबन्ध में कहती हैं—

राधामाधवयोर्विचित्रसुरतारम्भे निकुञ्जोदर-
स्रस्तप्रस्तरसङ्गतैर्वपुरलं कुर्वेङ्गरागैः कदा ।
तत्रैव त्रुटिताः स्रजो निपतिताः संधाय भूयः कदा,
कण्ठे धारयितास्मि मार्जनकृते प्रातःप्रविष्टास्म्यहम्
॥१७६॥

पूर्वतरपद्ये माधवीमण्डपेन वसन्तः सूचितः तत्र तदुत्सवावेशेन तन्मयतापन्नत्वाद्राधामाधवयोः स्वयं वसन्तरूपयोरिव । किञ्च 'वैशाखे माधवो राधः' इत्यमरः । अत एव प्रियाया अपि वनरूपकोक्तिः, वन-वसन्तयोरन्योन्याश्रयत्वात् । तदानीं पूर्णाभिलाष उज्जृम्भितः । कुसुम-शृङ्गारोऽपि सखीभिः कृतः, शय्यापि तन्मय्येव रचिता, तत्र कस्तूरीकुंकुमघ-नसारपाटीरागुर्वादि पृथङ्मिश्रादिभेदसंघृष्ठालेपसंभृतरत्नपात्रनिचयो यथार्ह-

---

रसकलश

'श्रीराधा-माधव की विलक्षण सुरत-लीला के प्रारंभ में प्रातःकाल सफाई करने के लिये घुसी हुई मैं, निकुञ्ज के अन्दर गिरकर पत्थरों पर पड़े हुए लेपन-द्रव्यों से अपने शरीर को कब सुशोभित करूँगी और कब वहीं टूटकर गिरी हुईं मालाओं को फिर गूँथकर अपने कण्ठ में पहनूँगी ? ॥१७६॥

इससे पूर्व से पूर्व के पद्य में 'माधवी-मंडप' कह कर वसन्त की स्थिति सूचित की थी। वहाँ वसन्तोत्सव के आवेश में तन्मय होने के कारण राधा-माधव स्वयं वसन्तरूप हो गये थे। अमरकोश के अनुसार वैशाख, माधव और राधः—ये तीन वसन्तवाचक शब्द हैं। इसीलिये प्रियाजी का भी वर्णन वन के रूप में किया है, क्योंकि वन और वसन्त एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं। उस समय सखियों ने भरपूर अभिलाषा से उमड़कर युगल का फूलों से शृंगार भी किया, सेज भी फूलों से सजाई, कस्तूरी, कुंकुम, कपूर, चन्दन और धूप को आवश्यकतानुसार पृथक्-पृथक् रखकर तथा मिलाकर घिसकर सुगन्धित लेप तैयार किया तथा रत्नजटित पात्रों को चारों तरफ से साफकर उनमें लेप को रक्खा। उस युगल के शय्या पर विराजमान होने पर होने वाले सुरत की भूमिका के रूप में जो विचित्र क्रीड़ायें हुईं उनका अब वर्णन करते हैं। प्रियतम के मन में एक अभिलाषा उदित हुई और बोले—श्रीमति ! कस्तूरी आदि के संयोग से मिलाकर बनाये गये आलेप से आपके स्तनों पर चोली चित्रित कर अपने हाथ की करामात दिखाऊँ तो कैसा हो ? प्रियाजी प्रेम की मदिरा पीकर छकी हुई बैठी थीं, सो उनसे यह प्रस्ताव स्वीकृत करा लिया। अब आप खुले हुए कुचों पर

मभितः परिष्कृत्य धृतः। तत्तल्पाधिष्ठितयोरागमिष्यमाणसुरतस्योपक्रमे तावत् क्रीडनवैचित्र्यमाह। प्रियमनोरथोजातः—'श्रीमति! स्वकरकौशलेन कस्तूर्यादिमिश्रितालेपेन त्वदुरसि कञ्चुकीं रचय' इति विज्ञप्तिं सीधुमत्ततायामुररीकारयित्वापावृतकुचयोश्चित्रं कुर्वति प्रिये यद्यन्नखरतत्तदाकारसौष्ठवरचनम्, असौष्ठवे च भूयः परिमर्द्य नवनिर्माणम्, तत्र तस्याः कौतुकशीत्कारकोपादि, प्रियस्य च सात्विककम्पादिवशेनालेपपात्रपतनम् अङ्गुल्यादिनिर्माज्यालेपोत्क्षेपणं, 'तिष्ठ कितव! जाने कौशलच्छद्म' इति, पुनश्चाटुभिर्नवीकरणं, चतुरशिरोमणिकृते प्रसादावश्यंभावित्वात्। तच्चित्रे प्रसन्नां शोभमानां दृष्ट्वा मृदुलपुष्पमालाः परिधापयित्वा प्रियः स्वकृतश्लाघां करोति—'कियन्मत्कौशलम्! तदपि त्वदुरोजानुगृहीतोऽस्मि, आभ्यां मत्सेवाङ्गीकृता। अहो! कीदृशीयं कञ्चुकी शोभते। तदा हितसख्योक्तम्—किमपि प्रसादं देहि प्रिये, इति श्रुत्वा यद्येन श्लाघ्यते तदेव

रसकलश

नाखूनों से विभिन्न प्रकार के चित्र बनाते हैं, तो कभी तो कोई ठीक बन जाता है और कभी ग़लत। तब उसे पोंछकर फिर नये सिरे से प्रयत्न करते हैं। प्रियाजी कभी कौतुक से यह सब देखती रहती हैं, तो कभी कठोर स्पर्श से सिहर कर सी-सी करने लग जाती हैं, यहाँ तक कि गुस्सा में भी आ जाती हैं। इसी बीच यह होता है कि सात्विक भावों के उदय होने के कारण प्रियतम का हाथ काँप जाता है और आलेप का पात्र नीचे पत्थर पर गिर पड़ता है। आलेप फैल गया। अब प्रियतम हैं कि अँगुलियों से पोंछ-पोंछ कर उसे उठा रहे हैं और पात्र में रख रहे हैं। प्रियाजी से असली बात छिपी नहीं रहती। कहती हैं—हो गया! अब रहने दीजिये। मैं जान गई कि आप कितने मक्कार हैं! यह हस्त-कौशल आपका बहाना-भर है। अब प्रियतम मिन्नत-खुशामद कर उन्हें फिर तैयार करते हैं--विदग्धशिरोमणि प्रियतम पर कृपा किये बिना गति भी तो नहीं है—और फिर चित्रांकन काम प्रारंभ होता है। अबकी चित्र पूरा उतरता है। चित्र देखकर प्रियाजी की मुख-मुद्रा आनन्द से भर जाती है। यह देखकर प्रियतम उन्हें कोमल फूलों की मालायें पहिनाते हैं और कहते हैं—यूँ तो यह मेरा हस्तकौशल है कि इतनी सुन्दर कंचुकी बन गई, पर इन कुचों का भी मैं कम आभारी नहीं हूँ कि इन्होंने मेरी सेवा को अंगीकार किया। देखिये न, चन्दनलेप की चोली कैसी खिल रही है! अब श्रीहितसखी ने प्रियाजी से कहा-प्रियतम को पुरस्कार-स्वरूप कुछ प्रसाद तो दीजिये। यह सुनकर प्रियाजी ने कहा—जो जिस चीज की प्रशंसा करता है उसे वही दी जानी चाहिये, अतः आप इस चोली को ही ले लें और पहिन लें। इस पर प्रियतम मुस्करा दिये जान गये कि स्तनों पर चित्रित चोली को तो उतारा नहीं जा सकता,

देयं स्यात् इत्यत इमां भवानेव गृह्णातु परिदधातु चेति तदुद्धरणाशक्यता ज्ञापककौतुकतदुक्तिं श्रुत्वा प्रियः स्मितः। कथमियं ग्राह्या स्यादिति मिथ आकुलतायां सख्यैव नीतिः कृता। सत्यसन्धया त्वया द्रढमुद्रावदुरसि दातुमर्हा स्यात्। इत्येवं वाग्बन्धेन मिथः परिहासे अवाङ्मुखीमनुक्तवतीमपि मानसोल्लासमभिमृश्य तदेव दृढालिङ्गनेन मुद्रितं तेन कृतमिति। तदनन्तरं तत्तद्विलासादि सहृदयगम्यमेव।

इत्येवं विचित्रसुरतारम्भे हितालीहृदयचित्रीकरणशीले पश्चाद्विहारभरे तदसंकोचार्थं सखी बहिः स्थिता तत्तदुभयप्रेमविहारविलोकनहर्षविशेषवशविवशा स्थगिता च। तदनु तत्तदासवपानकालेपपात्रतांबूलमाल्यादि समीकरणशोधनार्थं स्वयं सेवावहिता प्रविष्टा मानसीं सखी प्रत्याह— 'निकुञ्जोदरे'ति। तत्तदास्वादरहस्यादेयानन्दाभेददायित्वेनानुदरभेदियशः

रसकलश

अतः यह उक्ति परिहास के निमित्त ही कही गई है। अब दोनों तरफ यह असमंजस था कि चोली कैसे दी जाय और कैसे ली जाय। फैसला सखी ने किया। प्रियाजी से बोलीं—आप तो अपनी बात पर सदा अटल रहने वाली हैं, इसलिये ऐसा करिये कि प्रियतम के वक्षःस्थल पर इस चोली को मुहर की तरह लगा दीजिये। चूँकि दोनों ही अपनी-अपनी बात पर अड़े हुए थे, इस विषय को लेकर खासा हास-परिहास चलता रहा। आखिर प्रियाजी ने सिर झुका लिया और चुप कर गईं। इतने पर भी उनके हृदय का उल्लास प्रियतम से छिपा नहीं रहा और उन्होंने उन्हें अपनी भुजाओं में कसकर अपने वक्षःस्थल पर मुद्रा अंकित कर ही तो ली। इसके उपरान्त जो-जो विलास-क्रीड़ायें हुईं उनकी भावना रसिकजन स्वयं करलें।

इस प्रकार श्रीहितसखी के हृदय को विस्मित करने वाली सुरत-क्रीड़ा प्रारंभ हुई और क्रमशः विहार पूर्णता की ओर जा रहा था कि, अपनी उपस्थिति से युगल को संकोच न हो, अतः वे बाहर आकर खड़ी हो गईं। बाद में प्रिया-प्रियतम के मादक पेय, लेप-पात्र, पान, माला को यथावत् रखने, पोंछने तथा सँभालने के लिये श्रीहितसखी ने सावधान होकर निकुंज-मन्दिर में प्रवेश किया और अपने मन को सखी मान कर कहती हैं—निकुंज के उदर में, अर्थात् अन्दर। निकुंज के भीतर न कहकर निकुंज के उदर में कहने का तात्पर्य यह है कि निकुंज विविध रहस्यात्मक आनन्द को बिना किसी भेद-बुद्धि के, बाँट में मिले भाग की तरह सखियों को भी प्रदान करता है। यह आनन्द निकुंज की सीमा से बाहर नहीं जा पाता, यह उसके लिये महान् गौरव का विषय है। इस गौरव को प्रसिद्धि प्रदान करने के लिये कुंज की सराहना करती हुई श्रीहितसखी कहती है—(निकुंज के अन्दर) 'गिर कर फैले हुए'। प्रियतम के हाथ

ख्यापनार्थं तदानीं कुञ्जं श्लाघयति—'स्रस्ते'ति प्रियकम्पितकरादधःपतनमङ्गुलीमार्जनोपक्षेपणछटायतनम् । 'प्रस्तरे'ति स्फुटमेव । यद्वा घर्षणार्थकानि तेषु संगतैरिति सम्यक् गतैः प्राप्तैरिति तादात्विकपातनसूचकाकृति दर्शनोद्दीप्तानन्दतः सम्यगिति । अङ्गरागैरङ्गसंपर्कितैर्नतु नवैरिति तादृशाङ्गभुक्तस्पर्शसौगन्ध्यप्रसादज्ञानस्य तद्धृदयमेव साक्षि । तैः 'वपुः' इति तदानीं तत्प्रेमावेशरोमाङ्कुरोत्पत्तिसार्थकं कदालंकुर्वे ।

'तत्रैव' इति तत्पूर्वोवतारम्भसमसमयमेवोभयगात्रसंघट्टनात्यावेशपरिमर्दिताः स्रजः, स्वत एवेतस्ततो गात्रक्रीडनात् पतिताः, तत्रापि नितरामिति निःशेषरसीकृतास्तदेव मम हृत्परमसौरभ्यदम्, इति सन्धाय भूयः कण्ठे धारयितास्मि । 'भूयः' इति सूत्रस्य तासु बहुशस्त्रुटनात् सन्धानेऽपि न

रसकलश

के काँप जाने से लेप-पात्र नीचे गिर गया, फिर उसे प्रियतम ने अँगुलियों से पौंछ-पौंछ कर उठाया—इस कृत्य के विस्तार की शोभा को सूचित करने के लिये 'स्रस्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'प्रस्तर' का अर्थ पत्थर स्पष्ट ही है। यह अर्थ भी लग सकता है कि ये पत्थर चन्दन आदि घिसने के काम में आते थे। इन पत्थरों पर गिर कर पहुंचे हुए (लेपन-द्रव्यों से)—यह अर्थ है 'संगतैः' (सम्+गतैः) सम् उपसर्ग का अर्थ है भलीभाँति . कोई वस्तु भलीभाँति तो गिरती नहीं है, विशेषकर जबकि लाचारी से गिरी हो। तो 'भलीभाँति' कहने का तात्पर्य यह समझना चाहिए कि आलेप द्रव्य उस समय इस खूबी से गिरे कि देखते ही बनता था। इस दृश्य के कारण रस में कोई क्षति नहीं हुई, प्रत्युत उसका उद्दीपन ही हुआ। तो इस प्रकार पत्थर पर गिरकर फैले हुए अंगरागों से (मैं अपने आप को कब सजाऊँगीं।) आलेप को 'अंगराग' कहने से यह ध्वनि निकलती है कि इस लेप का प्रियाजी के श्रीअंगों से संपर्क हो चुका था और इस अर्थ में वे नये नहीं थे। प्रियाजी के अंगों से उनका स्पर्श हो चुका था और परिणामस्वरूप एक अलौकिक महक उनमें आ गई थी। प्रसाद रूप में मिली ऐसी वस्तु के महत्व के साक्षी-सहृदयों के हृदय ही हैं। ऐसे अंगरागों से अपने शरीर को…। 'शरीर' इसलिये कहा कि प्रसादी अंगराग के प्रति प्रेम का आवेश जो श्रीहितसखी में हुआ, तो हर्ष से उन्हें रोमांच हो आया, मानो शरीर को 'शरीर' होने का फल आज ही मिला।

(अब पद्य के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करने के उद्देश्य से उसके प्रथम शब्द को लेते है) 'तत्रैव' (वहीं टूटी हुई मालाएँ) अर्थात् सुरत के प्रसंग में ही रस के आवेश में दोनों के शरीर जब मिले तभी वे मसल गईं और फिर शरीर पर इधर-उधर क्रीड़ा करने (हिलने-डुलने) के कारण स्वतः ही गिर गईं। मालायें केवल 'पतित' नहीं हुईं,

कण्ठे तिष्ठन्ति । किं वा प्रेमावेशव्याकुलतया भूयो भूयः करात् पतिता धारयामीति । तदानीमहंकारविस्मृत्यास्मच्छब्दाप्रयुज्यमानतया 'अस्मि' इत्येवोक्तिः । पश्चात् स्मृतौ किं प्रातः प्रविष्टास्म्यहमित्यत्र ज्ञाने जाते 'अस्मि' इति प्रयोगः । तत्रापि 'अहम्' इति आत्मानं प्रविष्टं तत्र स्थितं निश्चिनोति 'अहमस्मि' इति । अन्यथा एकवाक्ये 'अस्मी'त्येकवारेणैव चरितार्थत्वात् 'अहम्' इति पुनरुक्तिरसंभवा स्यादिति प्रेमावेशोद्दीपनं ज्ञेयम् ।

'प्रातः' इति स्पष्टमेव । यद्वा वर्णिष्यमाण प्रेमवैचित्यत्वादिदानीमरुणोदयवद्वैचित्यारम्भः प्रियायां ज्ञेयः । यथोक्तं परिभाषायाम्—

प्रेम्णः सूर्यपरीभाषा वैचित्यं दिनमुच्यते ।
यत्र क्षणं युगशतं दिनैको किमु संभ्रमः ।। इति ।।

रसकलश

बल्कि 'निपतित' हुईं । मतलब यह कि तब गिरीं जब उनका रस पारस्परिक मर्दन के फलस्वरूप बिलकुल निचुड़ चुका था । ऐसी मालायें ही मेरे हृदय को अत्यन्त सुखदायक प्रतीत होती हैं, इसलिये उन्हें पिरोकर कंठ में कब पहिनूँगी । 'भूयः' (फिर) इसलिये कहा है कि मालाओं के धागे जगह जगह टूट गये थे और उन्हे जोड़ने पर भी मालायें गले में ठहरती नहीं थीं अथवा प्रेम के आवेश में विह्वल होने के कारण श्रीहितसखी के हाथ से वे बार-बार गिर पड़ती थीं और उन्हें फिर फिर पहनना होता था । प्रेमावेश में अहंकार का विलय हो जाने के कारण अस्मत् (अहम्) शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता था, अतः केवल 'अस्मि' (देखें, कब पहिनती हूँ) इतना ही कहा । यह भी तव कहा जब होश में आने पर उन्होंने अपने आप से पूछा—क्या मैं यहाँ प्रातःकाल ही आगई थी ? और यह ज्ञान होगया । केवल 'अस्मि' का प्रयोग श्रीहितसखी ने कुछ-कुछ संज्ञा हीनता की ही अवस्था में किया था । बाद में जब उन्हें निश्चय हो गया कि कुंज में प्रवेश करने वाली मैं ही हूँ, तब कहती हैं—अहम् । यदि कोई कहे कि यह तो बाल की खाल खींचना है, तो उत्तर यह है कि जब 'अस्मि' क्रिया द्वारा कर्ता 'अहम्' का अध्याहार हो सकता था तो एक ही वाक्य में दोनों के उपादान का आशय ही वह है जो कि ऊपर बताया जा चुका है, अन्यथा पद्य पुनरुक्ति-दोष ग्रस्त हो जाता । इससे यही सूचित होता है कि प्रेमावेश के उद्दीपन के कारण श्रीहितसखी को आत्मानुसन्धान नहीं रहा था ।

'प्रातः' का अर्थ स्पष्ट ही है । अथवा यह समझना चाहिये कि अग्रिम पद्य में प्रेम की जिस विस्मृतिपूर्ण अवस्था का वर्णन किया जाने वाला है उसका आरंभ सूर्योदय की भाँति प्रियाजी में हो गया । परिभाषा-प्रकरण में कहा गया है—

अत्र तु प्रियमुख्यतयोरुभयोरेव समविहारो राधामाधवयोरित्युक्तत्वात् अग्रे प्रियामुख्यत्ववर्णनं भावीति । मुक्तकपक्षे साधकार्थे मार्जनाभिलाषः स्पष्ट एव । अन्तरङ्गे च 'मृजूष् शुद्धौ' इति तत्तत्पात्रचषकमाल्यादिसमीकरणमाभूषणशोधनञ्चेति यथासंभवं योज्यम् ।।१७९।।

एवमारब्धसुरतप्रयोगानन्तरं प्रियप्रेमक्रीडनमाध्वीकप्रसादमादनात्यावेशविस्मृतवाम्यासज्यलज्जादिशीलप्रियसान्निध्यवैकल्येन तस्यामुदिततरप्रेमवैचित्यं दृष्ट्वाह—

श्लोकान्प्रेष्ठयशोऽङ्कितान् गृहशुकानध्यापयेत्कर्हिचिद्
गुञ्जामञ्जुलहारबर्हमुकुटं निर्माति काले क्वचित् ।
आलिख्य प्रियमूर्त्तिमाकुलकुचौ सङ्घट्टयेद्वा कदा-
प्येवं व्यापृतिभिर्दिनं नयति मे राधा प्रियस्वामिनी
।।१८०।।

रसकलश

'श्रीहितहरिवंश महाप्रभु की वाणी में सूर्य शब्द का अर्थ प्रेम है और उस प्रेम के उद्वेग में प्रिया-प्रियतम के वैचित्य या बेमना स्थिति-विशेष का हो जाना ही दिन है । जहाँ वियोग का एक क्षण ही सौ युगों के समान बीतता है, वहाँ एक दिन में तो न जाने कैसी हालत हो जायगी ।'

प्रस्तुत पद्य में तो प्रियतम की ही मुख्यता है, किन्तु जैसा कि कहा है—'राधा-माधव दोनों का विहार समान है,' आगे के पद्य में प्रियाजी को प्रधानता दी गई है । इस पद्य को यदि फुटकर माना जाय, तो साधक पक्ष में निकुंज को बुहारने की अभिलाषा स्पष्ट ही है । अन्तरंग पक्ष में शुद्धयर्थक 'मृजूष्' धातु से निष्पन्न 'क्षंमार्जन' से अभिप्राय भिन्न-भिन्न पात्र, सुरा-पात्र की सफाई, माला आदि कासं जोना तथा आभूषण वगैरा का साफ करना है । ये सब गूढ़ अर्थ यथासंभव निकाल लेने चाहिएँ ।।१७९।।

इस प्रकार प्रारंभ किये गये सुरत के बाद प्रियतम की प्रेम-क्रीड़ारूपी मदिरा को पीकर जो प्रसन्नता और मादकता पैदा हुई उसके आवेश में प्रियाजी अपनी सहज प्रतिकूल शीलता और लज्जा भूल गईं और प्रियतम के निकट ही में रहने के कारण उन्हें फिर बेकली का अनुभव होने लगा । यह देखकर श्रीहितसखी कहती हैं—

किसी समय घर के तोतों से प्रियतम के यश को गाने वाले श्लोक पढ़वाती हैं, कभी घुँघचियों से सुन्दर हार और मोरपंख से मुकुट बनाती हैं, कभी प्रियतम का

मे प्रियस्वामिनी राधा एवमुच्यमानप्रकाराभिर्व्यापृतिभिर्दिनं प्रेमवैचित्यं नयति व्यत्यापयति। तदेव प्रकारमाह—तदानीं शुकसारिकादिस्वगीतकल-वाक्यं श्रुत्वा प्रियविषयकप्रसादोज्जृम्भेण कर्हिचित् क्षणे प्रेमतरङ्गोदये शुकाध्यापने सखीं प्रेरयति, वा स्वयमेव मत्ता पूर्वाभ्यस्तश्लोकान् स्मार-यति, तममुकं श्लोकं ब्रूतेति शुकान् प्रेष्ठस्य परमप्राणातिप्रियस्य यश-साङ्कितान् श्लोकान् अध्यापनं कारयेदिति कारयतीत्यर्थः। किञ्च निर्मातीतिवदेव कर्हिचित् क्वचिदित्यादि वाक्यकथने संभावनोक्तेरेव भासमानत्वात्।

'प्रेष्ठ' इत्यनेन तदानीं प्रियतातिशयो द्योत्यते। मत्प्राणातिप्रियस्य, रसिकशेखरस्य, मन्मोहनगुणालङ्कृतस्य, निकुञ्जराजस्य सुरतनाथस्य यशो

रसकलश

चित्र बनाकर उसे अपने व्याकुल स्तनों से सटाती हैं, इस प्रकार व्यस्त रह कर मेरी प्रिय स्वामिनी राधा दिन बिताती हैं ॥१८०॥

मेरी प्रियस्वामिनी राधा, पद्य में वर्णित किये गये कार्यों में अपने को व्यस्त रख कर प्रेम के कारण पैदा हुई अपनी बेसुधी की हालत को बिताती हैं। जिस ढंग से बिताती हैं उसे बताते हैं—उस समय तोता, मैना आदि के द्वारा कहे गये अपने से संबन्धित किसी मधुर वाक्य को सुनकर प्रिय पर कृपा करने की भावना के उमड़ आने से जब उनमें किसी क्षण प्रेम की तरंग उठती होती है तो अपनी सखी से तोता को पढ़ाने के लिये कहती हैं, अथवा स्वयं ही मस्त होकर पहले रटे हुए श्लोकों की उन्हें याद दिलाती हैं कि अमुक श्लोक को पढ़ो। इस प्रकार प्राणों से भी अधिक प्यारे प्रियतम के यश का जिनमें गान किया गया है, उन पद्यों को पढ़ने के लिये कहती हैं। 'अध्यापयेत्' में संभावनार्थक लिङ्लकार होने पर भी अर्थ वर्तमान काल का ही करना होगा—पढ़ाती हैं। दूसरी बात यह है कि पद्य के दूसरे चरण में 'निर्माति' क्रिया यद्यपि वर्तमान काल की है, तथापि 'कर्हिचित्, क्वचित्' (कभी, जब कभी) कहने से संभावना का ही अर्थ निकलता है (अतः दोनों लकारों का प्रयोग ठीक मानना चाहिये।

'प्रेष्ठ' (अत्यन्त प्रिय) शब्द से सूचित होता है कि उस समय श्रीराधा को स्वामी अत्यन्त प्रिय लगने लगे थे। वह तोतों से बार-बार कहती थीं कि प्राणातिप्रिय रसिकशिरोमणि, मेरे मन को मोहित करने वाले सब गुणों से सुशोभित, निकुंज के राजा, सुरतनाथ के गुण गाओ। यह कहती हुई वे प्रिय को कसकर आलिंगन करती हैं, और चूमती हैं। श्लोक में इस सब का उल्लेख नहीं किया है, तथापि यह समझ लेना चाहिये कि मादकता की दशा में ये सब कार्य होते हैं। अब 'गृहशकान' में के

गायध्वमिति वाचं वाचं प्रियं गाढमालिङ्गति,चुम्बतीत्यादि मादनं ज्ञेयं श्लोकानुक्तमात्रेण । गृह्णन्ति ते गृहास्ते च ते शुकाश्च, वा कुञ्जगृहस्थाः, पञ्जरे स्वगृहे तिष्ठन्ति वा । तानेव निर्दिशति । यथा च शतके—

श्री वृन्दावनकुञ्जभूषण ! सदा वृन्दावनाविष्टधीः !
श्रीवृन्दावननागरोन्मद ! महाप्रेमान्ध ! राधाङ्कग !
श्रीवृन्दावनमोहनं स्मर ! सदा वृन्दाटवीजीवन !
श्रीवृन्दावनचन्द्र! खेल मम हृद्व्यञ्जन् निकुञ्जेऽनिशम् ।।१५।१३

यथात्रैवाग्रे—

कर्णालम्बिलसत्कदम्बमुकुलः कादम्बिनीश्यामलो
दिव्यः कोऽपि किशोर उज्ज्वलतड़ित्कोटिच्छटां कामपि ।
दिव्यामेककिशोरिकां रसमयीमङ्के सुपङ्केरुहो-
न्मीलित्पत्रविलोचनां दधदहो वृन्दावने नन्दति ।।१५।२२

रसकलश

'गृह' शब्द की व्याख्या करते हैं—जो पकड़कर बैठ जाय उस कहते हैं—गृह । अपनी वाणी से श्रोता को वहीं का वहीं जो ठहरा लेते हैं ऐसे तोतों को (पढ़ाती हैं) । या कुंजरूपी घर में रहने वाले, या पिंजड़ा ही उनका घर है, उसमें रहने वाले । तोतों को जिस प्रकार के श्लोक पढ़ाए जाते हैं उन्हीं के कुछ नमूने श्रीवृन्दावनशतक से उद्धरण के रूप में यहाँ दिये जाते हैं—

'हे वृन्दावन की कुंजों को सुशोभित करने वाले । मानसिक वृत्तियों को श्रीवृन्दावन के प्रति ही सदा लगाये रखने वाले ! वृन्दावन के रसिक शेखर ! अगाध प्रेम में उन्मद और विवश ! श्रीराधा की गोद में शयन करने वाले ! वृन्दावन को मोहित करने वाले कामदेव ! वृन्दावन को अपना सर्वस्व मानने वाले, श्रीवृन्दावन में चन्द्रमा की तरह खिलने वाले ! मेरे हृदय की गूढ़ निकुंज में सदा खेलते रहो' ।।१५।१३

और आगे देखिये—

'दोनों कानों में लटकती हुई कदंब की कलियाँ धारण किये, मेघमाला की भाँति श्यामवर्ण कोई एक किशोर करोड़ों बिजलियों की उज्ज्वल छटा से विशिष्ट, सुन्दर कमल में से खिलती हुई पंखुड़ी जैसे नेत्र वाली, रसमयी किशोरी को गोद में रखकर श्रीवृन्दावन में आनन्द ले रहा है ।।१५।२२

यथा च—

स्मरकृष्णसारमेकं श्रीराधाप्रेमवागुराबद्धम् ।
वृन्दावनैकगोचरमनिशं सा येन खेलनं कुरुते ॥१२।३४

यथात्रैव—

प्रेमोदारगुणैरनन्यकलितं बन्दीकृतं सुन्दरं
श्यामं स्वपदपञ्जरे नियमितं चित्रैः स्वयं राधया ।
प्रोत्तुङ्गोपनिषद्रसालवरशाखास्थं परैदुर्ग्रहं
वन्दे नन्दिततत्सखीसमुदयं दिव्यैकपुंस्कोकिलम् ॥१२।३६

× × ×

श्याममनोहरं कीरं वृन्दारण्येऽद्भुतं स्मराधीरम् ।
राधाधरं दशन्तं बिम्बफलशङ्कया मधुरतरम् ॥१२।३७॥

× × ×

कांचन काञ्चनलतिकां रतिकामामवशमालिङ्ग्य ।
वृन्दावनभुवि जङ्गमतमालतरुमेकमालम्बे ॥१२।३८

× × ×

रसकलश

श्री राधा के प्रेम-पाश में बँधे हुए, एकमात्र श्रीवृन्दावन में दृष्टिगोचर होने वाले श्रीकृष्णरूपी काले रंग के हरिण का स्मरण कर जिससे श्रीराधिकाजी खेलती रहती हैं ॥१२।३४

इसी प्रसंग में अन्य उदाहरण देखिए—

'जो और किसी की पकड़ में नहीं आते, बल्कि श्रीराधा ने ही प्रेम की उदार रस्सी से बाँधकर अपने चरण रूपी पिंजड़े में जिन्हें बन्द कर रक्खा है, उपनिषद् रूपी आम्र-वृक्ष की ऊँची शाखा पर बैठने वाले साधारण जनों की पहुँच से परे होते हुए भी श्रीराधा के सखी-समूह को आनन्दित करने वाले दिव्य, श्यामवर्ण नर-कोकिल को मैं नमस्कार करता हूँ' ॥१२।३६

× × ×

'काम के आवेश से व्याकुल, बिम्बफल के धोखे में श्रीराधा के ओठ का देशन करते हुए श्यामवर्ण के किसी तोते का मैं स्मरण करता हूँ ॥'१२।३७

× × ×

'श्रीवृन्दावन-भूमि पर रति की अभिलाषिणी किसी सुवर्ण की लता को बेवसी से आलिगन करने वाले विचरणशील एक तमाल के वृक्ष का ही मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥'१२।३८

× × ×

वृन्दावनगहनवने राधे ! मम हारितं मनोरत्नम् ।
लब्धं त्वयैव नूनं स्मितमधुरं देहि दासोऽस्मि ॥१२।३९

यथा च—

प्रेष्ठचित्तनन्दनेन चन्दनेन कल्पितम्,
चित्रकं स्वचारुभालचन्द्रसीम्नि बिभ्रता ।
प्रेयसीप्रसाददत्तकुन्ददामहारिणा
राधिका चकास्ति कुञ्जवीथिकाविहारिणा ॥१२।६८

इत्यादि परस्परश्रवणास्वाददायिनः श्लोकांस्तत्प्रेरितशुकाः पठन्तीति ज्ञेयम् । अत्र प्रतिश्लोकं 'पुनर्ब्रूहि' इति स्वोक्त्यनन्तरं तैः पठितमित्यानन्दो ज्ञेयः ॥

अथ क्वचित्क्षणे प्रेमतरङ्गे तत्तदुक्तिसमुद्दीपितभूयो विहारावेशसंभुज्यमानानन्दविवशप्रियव्यत्यस्तहारमुकुटादि स्वकरेण रचयति, इत्याह ।

रसकलश

हे श्रीराधे ! श्रीवृन्दावन के गहन वन में मेरा मनरूपी रत्न कहीं खो गया है। निश्चय वह तुम्हें मिल गया है, सो अपने कोमल, मधुर हास्य रूपी अमृत को प्रदान करो । मैं तो तुम्हारा ही दास हूँ ॥१२।३९

और भी—

चन्द्रमा के समान सुन्दर अपने मस्तक पर प्रियतमा के चित्त को आनन्दित करने वाले तिलक को धारण किये हुए तथा प्रेयसी ही द्वारा प्रदत्त कुन्द-पुष्पों के हार को पहिने हुए कुंजबिहारी के साथ में श्रीराधा सुशोभित हो रही हैं ॥१२।६८

श्रीराधा की प्रेरणा से परस्पर सुनने में प्रिय लगने वाले इस प्रकार के श्लोकों को तोते पढ़ते हैं, यह ज्ञातव्य है । एक श्लोक के समाप्त हो जाने पर उसी को तोते से फिर पढ़ने के लिये कहा जाता है और ऐसा करने से बड़ा आनन्द मिलता है ।

अब आगे बताते हैं कि किस प्रकार किसी क्षण प्रेम की तरंग में तोतों की उक्तियाँ सुनकर श्रीराधा में विहार का अभिलाष भड़क उठता है और उसके आवेश में उपभोग किये जाने वाले आनन्द में विवश होकर प्रियतम के अस्तव्यस्त हार, मुकुट आदि को अपने हाथों सँभालती हैं—

उसी समय तोड़ी गईं घुँघचियों के कोमल मनोहर हार को (बनाती हैं) । अथवा 'गुंजाहार' का मतलब है—घुँघचियों के सफेद और श्यामवर्ण के पुष्पों के संयोग से बने मनोहर, अर्थात् विहार समय पर फबने वाले अतएव देखने में सुन्दर हार । प्रियतम

गुञ्जानां तत्कालोद्धृतमृदुलानां मञ्जुलं हारं, यद्वा गुञ्जावद्गौरश्यामल-संयोजितवर्णपुष्पै रचितं मनोहरं विहारसमयानुकूलं, अत एव मञ्जुलम् । प्रियोऽपि गुञ्जां बर्हं च स्वासक्तिचिन्हत्वेन धारयति, अहं प्रियानन्यासक्तोऽस्मीति कङ्कणबद्धत्वं ख्यापयति । बर्हेण मयूरस्य शुद्धासक्तिः, गुञ्जया स्वासज्यरूपेण घनसारप्राणरक्षणं 'अनयैवाहं जीवामि' इत्यासज्यासक्तत्वं चिन्हे इयं ज्ञेयम् । एवं बर्हैरचितं मुकुटं शिरोभूषणं श्लथं चन्द्रिकादिव्यत्ययं समीकरोति । अत्र यादृशप्रेमातिशयेन प्रिया निर्माति तत्सखीवेद्यमेव ।

पुनः कदापि क्षणे प्रेमावेशतरङ्गे रसविवशजडीभूतस्तब्धां प्रियस्य मूर्तिम् 'आलिख्य' इत्यनेन नखरदैः यथार्हाङ्गेषु प्रबोध्य 'कथं विवशोऽसि ?' इतिभङ्गिकमाकृष्य आकुलकुचौ प्रतिसंघट्टयेदिति । वा शब्देन तस्योरसि स्वयं चेति । एवं प्रकारेण स्वावेशविहारेण प्रेमवैवश्यं नयतीति ।

रसकलश

भी मोरपंख और घुँघचियों को प्रियाजी के प्रति अपनी आसक्ति का प्रतीक मानकर श्रीकृष्ण धारण करते हैं । मानों यह घोषणा करते हों कि 'देखो ! मैं अपनी प्रिया में अनन्य-भाव से आसक्त हूँ और इसका प्रमाण है यह घुँघची जिसे मैंने कंकण बनाकर रक्खा है । मोरपंख से प्रिय की शुद्ध आसक्ति का बोध होता है और घुँघची से आसज्य प्रियाजी का जो कि प्रियतम के प्राणों की रक्षिका है । उस घुँघची को प्रतीकरूप में धारण कर प्रियतम मानों यह ज्ञापित करते हैं कि मैं इसी के बल पर जीवित रह रहा हूँ । (यह ज्ञातव्य है कि सफेद घुँघची का औषध के रूप में प्रयोग किया जाता है ।) इस प्रकार मयूरपिच्छ और गुंजा, ये दोनों क्रमशः आसक्ति और आसज्यता के प्रतीक हैं । इस प्रकार श्रीराधा मोरपंख से निर्मित शिरोभूषण मुकुट को, जो कि सुरत-प्रसंग में शिथिल होकर इधर-उधर हट गया है और जिसका चन्द्रचिन्ह उलटा-पुलटा हो गया है, यथा-स्थान रखती हैं । यहां जिस महान् प्रेम से श्रीराधा हार और मुकुट को बनाती हैं या पुनः सजाती हैं, वह सखियों के जानने की बात है ।

फिर किसी क्षण प्रेमावेश की लहर में जड़-सी होकर प्रियतम की निश्चल मूर्ति का आलेखन करती हैं । 'आलेखन' का अर्थ यहाँ चित्रांकन नहीं है, बल्कि यह कि पास में बैठे प्रिय को नाखून और दातों से तदुपयुक्त अंगों में कुरेदने लगती हैं और कहती हैं—'क्यों इतने बदहोश हो गए क्या !' और तब उन्हें अपने पास तक खींच कर अपने तड़पते हुए स्तनों को उनसे टकराती हैं । 'संघट्टयेत् वा' में 'वा' अव्यय से यह भी ध्वनित होता है कि कभी तो अपने कुचों से प्रियतम को टकराती हैं और कभी उनके वक्षःस्थल को अपनी ओर खींच लेती हैं । इस प्रकार आवेश में भरकर क्रीड़ा करती हुई प्रेम-वैवश्य की अवस्था को बिताती हैं ।

अत्र वैचित्यं स्वलज्जात्यागपूर्वकरमणम्, इत्येव ज्ञेयम्। विश्लेषार्तिमयं नात्र विवृतम्। विगतं चित्तं स्वयथार्हसंज्ञानलक्षणं, तस्य भावो वैचित्यमिति। अथवा व्रजसम्बन्धिकोऽर्थोऽपेक्ष्यते चेत् स्नुषारसेतु स्पष्टमेव। श्रीव्रजराज्ञीगृहे स्ववासमन्दिरे कुटुम्बसंकोचेन क्वचित् कर्हिचित् कदेतिशब्दैर्न सदेत्यर्थः। ततोऽप्येकक्षणं दिनमिव जातमिति ज्ञेयम्। तत्रापि प्रियसम्बन्धिव्यापारैरिति। 'आलिख्य' इति चित्रं ज्ञेयम्। इत्यत्र चित्रचातुर्यगुणयुक्तशुकसारिकापाठो, गुञ्जादिहारमुकुटनिर्माणादिगुणोपलक्षणेन प्रियसंबन्धि सर्वकलाकौशलं निर्दिष्टम्। 'गृह' इत्यनेन युवराजवधूनिवासनिलयः पृथगेव निर्दिष्टो ज्ञेयः। तत्र किंचिदावश्यककार्यार्थं प्रियस्यासमीपस्थितिरिति तत्क्षणमिति बाह्यलीलापेक्षयेदं यथासहृदयवेद्यम् ॥१८०॥

एवं विहारावेशं निर्वण्य कुञ्जरन्ध्रनिहितनयना वर्तमानलीलाविरुदं प्रस्तुवन्ती गायति द्वाभ्याम्—

रसकलश

यहाँ प्रेम के आवेश में 'वैचित्य' (बेभान होने) का मतलब लज्जा त्याग कर रमण करना समझना चाहिये। प्रेम के आवेश में आत्मानुसन्धान खोने का अर्थ यह नहीं है कि किसी प्रकार की विरह-व्यथा का अनुभव होता है। 'वैचित्य' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—चित्त का अपने नियमित व्यापार से संबन्ध छूट जाना (जिस वस्तु का जैसा ज्ञान होना चाहिए वैसा न होना।) यदि व्रज-लीला संबन्धी अर्थ करने की इच्छा हो, तो पुत्रवधू-रस-पक्ष में अर्थ स्पष्ट ही है। व्रजरानी के भवन में श्रीराधा कृष्ण के रहने का जो कक्ष था, उसमें कुटुंबियों के संकोच से कभी-कभी—सदा नहीं—एक-एक क्षण दिन की तरह बीतता था। उन क्षणों में भी प्रियाजी प्रिय-संबन्धी ही किसी कार्य में अपने को व्यस्त रखती थीं।' 'आलिख्य' का अर्थ चित्र समझना चाहिये। 'चित्र' अर्थात् विचित्र कौशल पूर्वक शुक-सारिका को पढ़ाना, गुंजा आदि से हार-मुकुट बनाना। ये दोनों कार्य तो उपलक्षण मात्र हैं। असल में अभिप्राय उन सब कार्यों से है जिनमें प्रिय से संबन्धित कला कौशल अपेक्षित होता है। 'गृह' कहने का तात्पर्य यह है कि राजानन्द के विशाल भवन में युवराज श्रीकृष्ण के रहने का कक्ष पृथक् ही बना था। उस कक्ष में किसी आवश्यक कार्यवश प्रियतम पास में नहीं रहे। तब श्रीराधा अपने उन क्षणों को कैसे बिताती थीं, यह बताया गया है। यह व्याख्या बाह्य-लीला के पक्ष की है। अन्तरंग-लीला में तो विच्छेद तो दूर, उसका आभास भी फटकने नहीं पाता। इस प्रकार सहृदयों को अपनी भावनानुसार अर्थ लगा लेना चाहिए ॥१८०॥

इस प्रकार विहार के आवेश का वर्णन करने के उपरान्त कुंज के छिद्रों में से झाँकती हुई श्रीहितसखी वर्तमान में घटित होने वाली लीला का गान दो श्लोकों द्वारा करती हैं—

प्रेयः संगसुधासदानुभवनी भूयो भवद्भाविनी,
लीलापञ्चमरागिणी रतिकलाभंगीशतोद्भाविनी ।
कारुण्यद्रवभाविनी कटितटे काञ्चीकलाराविणी
श्रीराधैव गतिर्ममास्तु पदयोः प्रेमामृतस्राविणी
॥१८१॥

प्रेयः सङ्गेत्यादिविशिष्टा श्रीराधैव मम गतिरस्तु । तद्विशेषणमाह—प्रियतातिशयस्य दयितस्य सङ्गः संयोग एव सुधा परमाप्यायनरसस्तस्याः सदा नित्यं त्रिकालाबाधितमनुभवो यस्या इति । अत्र पूर्वोक्त व्यत्यय-भ्रमनाशार्थं, 'सदा' इत्युक्तिः । 'सदा' इत्यव्ययस्य 'सुप्सुपा' इति समासः । किञ्च 'श्रीराधामाधवयोः कदाचिन्न संभवी विरहः' इति 'राधया

रसकलश

सदा प्रियतम के संयोग का अनुभव करने वाली, बार-बार जिनमें प्रचुरता के साथ प्रेम का उदय होता रहता है, लीला करते हुए पंचम स्वर में गाने वाली, रति के प्रसंग में अंगों की चेष्टाओं द्वारा सैकड़ों भंगियों को प्रकट करने वाली, करुणा के कारण द्रवित होने वाली, जिनके कटि-प्रदेश पर मधुर मेखला बजती रहती है और श्रीचरणों का प्रेमामृत बहता रहता है, ऐसी श्रीराधा ही मेरी एकमात्र गति हों ॥१८१॥*

'प्रिय के साथ' इत्यादि वर्ण्यमान विशेषणों से युक्त श्रीराधा ही मेरी एकमात्र गति हों । अब श्रीराधा के विशेषण देती हैं—परम प्रियता के निधान, अत्यन्त प्यारे प्रियतम का संयोग ही सुधा अर्थात् परम तृप्तिदायक रस है, उसका सदा अनुभव करने वाली । 'सदा' का अर्थ है नित्य, अर्थात् तीनों कालों में जिसकी स्थिति एकरस रहती है । इससे पूर्व यह कह चुके हैं कि प्रेम की विवशता के कारण श्रीराधा की मानसिक स्थिति अस्तव्यस्त हो जाती थी । इससे कोई यह न समझ ले कि उस स्थिति में प्रियाजी किसी अंश में विरह से अभिभूत हो जाती थीं । इसी भ्रम को दूर करने के लिये कहा है—'सदा' (प्रियतम के साथ रहने वाली) । 'सदा' इस अव्यय का 'अनुभविनी' के साथ समास 'सुप्सुपा' इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार हुआ है । इस स्थल

*टिप्पणी—गोस्वामी कृपालाल जी की व्याख्यानुसार 'भूयो भवद्भाविनी' का अर्थ है—जो कुछ भविष्य में होने वाला है उसकी बार-बार भावना (चिन्तन) करने वाली, अर्थात् अमुक कार्य करना है, इस प्रकार के संकल्प में दृढ़ रहने वाली । 'लीला पञ्चमरागिणी' की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—'लीलायां यत् पञ्चमं तस्मिन् रागोऽस्याः अस्ति इति । अत्र पञ्चमकार संकेतः ।' इन पंक्तियों का आशय क्या है, यह हम विद्वज्जनों पर ही छोड़े देते हैं ।

माधवो देवो माधवेनैव राधिका' इत्यादिनानित्याविच्छेदे प्रेम-वैचित्यभ्रममननेऽप्यनुभवस्तु कदाचिन्न बाध्येतेति जिज्ञासु संशयनिरासार्थम्। तत्रापि यथास्थितैकरसे साधारण्यसंशये च वृद्धिमाह—भूयः पुनरिति। यद्वा भूयान् बहुलोभवदुद्भवद्भावः प्रेमा यस्याम्। दिने दिने नवनवप्रेमवृद्धिरेव दृश्यते, नतु साधारण्यमिति पूर्वोक्तावेशदृष्टयुक्तिः। तत्र प्रेमावेशवृद्धिप्रेरितप्रत्यङ्ग-लीलाविशेषः स्यात्तया विशिष्टः पञ्चमरागो यस्याः। किञ्च भावोदये हर्षवशेन गायमाना भवति। प्रियस्य निजसौभाग्यं परमासक्तिप्रशंसाविशेषं लीलायामेव गायति। यद्वा पञ्चमः स्वरो वसन्ते प्रसिद्धकोकिलकूजने भवति। तदानीं विहारसमये तद्वत् कूजनं मणिते

रसकलश

पर कोई जिज्ञासु पूछ सकता है कि 'राधा-माधव का विरह तो कभी संभव ही नहीं है,' तथा 'राधा से माधव और माधव से राधा संपूर्णता को प्राप्त होती हैं'—इत्यादि वचनों के आधार पर यह मान लेने पर भी कि श्रीराधा-कृष्ण का संयोग नित्य है, यह कि दोनों कभी एक-दूसरे से वियुक्त नहीं होते और यह कि प्रेमावेश में वैचित्य की स्थिति में विरह का भ्रम मात्र होता है, वास्तविक विच्छेद नहीं, - यह सब होते हुए भी विरह की अनुभूति का अपलाप कैसे किया जा सकता है ? तो इस प्रकार के सन्देहों को दूर करने के लिये ही 'सदा' कहा गया है। यह भी सन्देह हो सकता है कि विरह जन्य उद्दीप्ति के अभाव में, सदा एकरस की स्थिति में रहने वाला प्रेम साधारण होकर रह जायगा। इसके उत्तर में यह बताने के लिये कि प्रेम साधारण नहीं हो जाता, बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है, कहते हैं—'भूयो भवद्भाविनी'। 'भूयः' बार-बार, अर्थात् प्रचुर मात्रा में 'भवत्' उत्पन्न होने वाला है प्रेम जिनमें, ऐसी श्रीराधा हैं। दिन-ब-दिन नवीन रूप से प्रेम में वृद्धि ही दिखाई देती है, न कि वह साधारण हो जाता है। इससे पूर्व प्रेम के जिस आवेश का निर्देश किया गया है, उसे दृष्टि में रखकर ही यह बात कही गई है कि श्रीराधा का प्रेम एकरस होने के कारण पुराना नहीं पड़ता, बल्कि उलटे बढ़ता है। प्रेम का आवेश जब बढ़ेगा तब उसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक अंग की लीला (विलास-चेष्टा) द्वारा होगी ही होगी। प्रियाजी का पंचम राग उस प्रकार की लीलाओं से विशिष्ट है। दूसरी बात यह कि प्रेम का आवेश होने पर हर्ष में भरकर प्रियाजी गाने लगती हैं। इन गीतों का विषय होता है अपना सौभाग्य और श्रीकृष्ण की परम आसक्ति की प्रशंसा। 'पञ्चमरागिणी' का दूसरा अर्थ भी हो सकता है। वसन्त ऋतु में प्रसिद्ध पंचम स्वर कोयल की कूक में सुनाई पड़ता है। प्रस्तुत में विहार का समय वसन्त है। उस विहार के प्रसंग में प्रियाजी कोयल की भाँति ही रति-कूजित करती हैं। उसी को सुनकर उनके लिये

श्रुत्वा 'पञ्चम' इत्युक्तिः। यथा हि गीतगोविन्दे—'कोकिलकलरवकूजितया जितमनसिजतंत्रविचारम्' इति। यदा च गानं कृतमित्येव गृह्यते तदा पूर्वोक्त—'मधुपकाकलीमधुरमाधवीमण्डपे' इत्यनेन वसन्तसमयस्तूद्दीपकोऽस्त्येव, कोकिला अपि कूजन्ति, तदा स्वकण्ठगुणक्षोभेण तत्पराजेतुमिव पञ्चमो गीतः। यथा च किं गीतमित्यपेक्षायामाह। यथा च शतके—

भृङ्गीसंगीतरंगं त्यजति पिकवधूः पञ्चमं निर्धुनीते
कीरः कांचिन्न गाथां वदति नटशिखी नैव केकां करोति।
वीणा ह्रीणा मनाग्न ध्वनति न मुरली रौति राधा यदाश्री-
वृन्दारण्यस्य निर्वर्णयति गुणगणानुल्लसद्रोमराजिः ॥१३।४०

अनेन वसन्ताश्रयत्वान्नानाभावानन्द दानहेतुत्वाद्वृन्दावनयशोवर्णनमेव गायतीति ज्ञेयम्। तत्र विरहिजनदुरन्ततासंयोग्युन्मादकतास्मरप्राबल्यकारितादिधर्माः पञ्चमस्वरे सूच्यन्ते। तत्र प्रियस्य तु पूर्णाभिलाषो जातः।

रसकलश

'पञ्चमरागिणी' यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है। श्री जयदेव कवि ने भी गाया है–'इधर मैं (राधा) कोकिल के कलरव की तरह रति-प्रसंग में कूजन करती हूँ, तो उधर श्रीकृष्ण ने भी अपनी काम-कला से मदन-महीपति के शासन को जीत लिया है'[1]। यदि केवल यही अर्थ करना हो कि श्रीराधा ने गान किया, तो पूर्व (पद्य १७७) में जो वर्णन कर आये हैं कि 'भौंरों की गुंजार से मधुर माधवी-मंडप में सुरत-मदिरा को पीकर उन्मत्त राधारूपी तेज बढ़ रहा है', उसके अनुसार वसन्त ऋतु तो उद्दीपक होती ही है, और कोयलें भी उस समय गाती हैं, तो अपने कंठ-स्वर से उन कोयलों को मानो पराजित करने के लिये श्रीराधा ने गान किया। क्या गाया ? यह जिज्ञासा होने पर श्रीवृन्दावन शतक का वर्णन देखिये —

'श्रीराधा आनन्द से रोमांचित होकर जब श्रीवृन्दावन का गुण-गान करने लगती हैं तो भौंरी संगीत के रंग को छोड़ देती है, कोयल फिर पंचम स्वर में नहीं अलापती, तोता कोई गाना नहीं गाता, नाचते हुए मोर भी केका-ध्वनि नहीं करते वीणा लज्जित होकर चुप हो जाती है और मुरली कोई शोर नहीं करती।' ॥१३/४०

इस वर्णन से यह जान लेना चाहिए कि श्रीराधा वृन्दावन का ही यशोगान करती हैं, क्योंकि श्रीवृन्दावन वसन्त का आश्रय है और अनेक प्रकार के भावों को हृदय में जगाकर आनन्द प्रदान करता है। पंचम स्वर वियोगियों के लिये दुखदायी

१. श्री गीतगोविन्द सर्ग २

किञ्च श्रुतचरतद्धर्मदुरन्ततभयेनेव प्रियेण गृहीतम्। तद्दैन्यचाटुरीतिकसुधानुभवं कृत्वा स्वदानवीरत्वेन समादधन्तीवोत्साहेन भूयो भवद्भाविनी जाता। तेन लीलयैव तद्भीतिनिवारणार्थं पञ्चमो गीतः। यथा शूरतरेण शूरोत्साहवर्द्धनार्थं सैन्धवरोगो गीयते, अर्थान्मा भैषीरिति, शूरोभव, सर्वं सेत्स्यतीतिभङ्गिकः। तदनन्तरं रतिकलानां भङ्गीशतमुद्भावयितुंशीला जाता प्रत्यङ्गेषु। मनसि यद्यद्रतिकलाकूतोद्भवस्तत्तदनुसारेणाङ्गेषु भङ्ग्च उद्भवन्ति, तस्य प्रिय एवानुभवी यद्वा सखीति। तत्र हेतुमाह—न चात्र कामवशतैव, किञ्च कारुण्यं प्रियविषयकं तेन द्रवभावो द्रवत्वमस्ति यस्या इति। समर्थाया अपि दयित एवं दीन इति सद्यो द्रुताभूत्।

रसकलश

और संयोगियों के लिए मादक एवं कामोद्दीपक होता है। प्रस्तुत में वसन्त के दुखदायी होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि प्रियतम की सब अभिलाषायें पूर्ण हो चुकी हैं। हाँ, यह संभव है कि वसन्त के संबन्ध में यह जो प्रवाद प्रचलित है कि वह संतापजनक है, उससे डर कर ही प्रियतम प्रियाजी की शरण में चले गये और लगे अपनी दीनता दिखाने तथा चापलूसी करने। प्रियाजी को यह सब अमृत के समान सरस लगा और तब दानवीर होने के कारण उस भय का समाधान करने के लिये उत्साह में भरकर फिर 'भवद्भाविनी' हो गईं—अर्थात् उनमें प्रेमोदय हो गया। तब लीला के द्वारा प्रिय के भय को दूर करने के लिये पंचम स्वर में गाने लगीं। जैसे कोई बड़ा शूर अन्य शूरों के उत्साहवर्धन के लिये मारू राग गाता है—अर्थात् कहता है कि 'डरो मत', सब ठीक हो जायगा,' उसी प्रकार श्रीराधा ने गान किया। उसके बाद अपने सहज स्वभाव के अनुसार रति-कला-संबन्धी सैकड़ों भाव-भंगियों की उद्भावना करने लगीं। मन में रति-कला-संबन्धी जो जो गूढ़ भावनायें उठती हैं, तदनुसार ही अंगों में क्रिया होती है जिसका अनुभव या तो प्रिय को होता है या फिर सखियों को। इसका कारण बताते हैं—प्रियाजी की ये चेष्टायें केवल कामवश ही नहीं होतीं; बल्कि इसलिये भी कि प्रियतम के प्रति करुणा जागृत होने से उनके हृदय में द्रवता (तरलता) आ जाती है। यह द्रवता इसलिये कि कोई यह न सोचे कि अरे! जब प्रियाजी इतनी समर्थ हैं तो प्रिय इतने दीन क्यों हैं? बस, यही सोचकर एकदम पिघल जाती हैं। अथवा 'द्रव, केलि, परिहास—ये समानार्थक हैं' इस कोश-प्रमाण के आधार पर 'कारुण्यद्रवभाविनी' में 'द्रव' का अर्थ क्रीड़ा भी हो सकता है। तब अर्थ होगा—करुणा के कारण जिनके हृदय में क्रीड़ा का भाव विद्यमान है (ऐसी श्रीराधा) क्रीड़ा के उसी भाव को उन्होंने अंग-प्रत्यंग द्वारा प्रकट किया - यह अर्थ है। उस समय की क्रीड़ा में कटि-प्रदेश पर विराजमान मेखला का सुन्दर, श्रवणीय, मनोहर शब्द भी हो रहा है। इस दृश्य को देख कर हितालि-परिकर प्रेम के आँसुओं के उमड़ आने

अथवा 'द्रवकेलिपरीहासाः' इत्यमरः। कारुण्येन तदभिलषितद्रवस्य क्रीडनस्य भावो विद्यमानता यस्याः। तदेव प्रकटितमित्यर्थः। तत्क्रीडायाञ्च कटितटे काञ्च्याः कलस्तदानीं श्रवणीयो मनोहरः आरावो यस्याः। तदाहितालिपरिकरस्य परमप्रेमाश्रुगद्गदकंपादिजन्मानन्ददृष्टयाह—पदयोः प्रेमामृतं श्रावयन्तीति दासीजनानामङ्गिशरणेऽपि यदङ्गशरणं तस्यैव प्रशंसासमये स्मरणोक्तिः। इमौ चरणावेवास्माकं प्रेमश्रावकाविति। एवं तत्र तत्कौतुकदर्शनानुसारेण तत्तदुक्तिर्णेया। मुक्तकपक्षे विशेषणसप्तके नित्यानुभवरीतिः, स्थायिप्रेमवृद्धि, गुणकलानन्त्यशोभा च प्रियाया अनुर्वणिता ॥१८१॥

पुनस्तदेव क्रीडनवृत्तमाह—

कोटीन्दुच्छविहासिनी नवसुधासंभारसंभाषिणी
वक्षोजद्वितयेन हेमकलशश्रीगर्वनिर्वासिनी।

रसकलश

के कारण गद्‌गद हो गया और कंपन आदि सात्विक भाव उदय हो आये। इसी आनन्द को दृष्टि में रखकर श्रीहितसखी कहती हैं—'पदयोः प्रेमामृतश्राविणी।' श्रीराधा अपने चरणों पर आश्रित प्रेम को सखियों के लिये बहाती रहती हैं। यों तो दासियों का एकमात्र आश्रय अंगिनी श्रीराधा ही हैं, परन्तु दासियां तो उसी अंग के गुण गाती हैं जो उनकी रक्षा करता है। अतः प्रियाजी की प्रशंसा करते समय उन्हीं चरणों का स्मरण होता है। अतः तत्संबन्धी ही यह उक्ति है। अर्थात् (सखियाँ कहती हैं कि) हमारे लिये तो प्रेम की धारा ये चरण ही बहाते हैं।

इस प्रकार श्रीहितसखी ने प्रियाजी के जो-जो कौतुक देखे उसी के अनुसार यहाँ वर्णन किया गया है। पद्य को फुटकर मानने पर यह समझना चाहिये कि इस पद्य के सात विशेषणों द्वारा प्रियाजी की नित्य लीला-अनुभव करने की रीति, उनके स्थायी प्रेम की वृद्धि एवं अनन्त गुण और कलाओं का वर्णन किया गया है ॥१८१॥

फिर उसी क्रीड़ा का विवरण देते हैं—

करोड़ों चन्द्रमाओं की शोभा का उपहास करनेवाली, नवीन अमृत की राशि के समान वार्तालाप करने वाली (संभाषण के माधुर्य द्वारा ढेरों अमृत बरसाने वाली), दोनों स्तनों से सुवर्ण के कलशों की छवि का तिरस्कार करने वाली, चित्रग्राम में रहने वाली, नए-नए प्रेम के उत्सवों में उत्साह प्रदर्शित करने वाली श्रीवृन्दावन में

चित्रग्रामनिवासिनी नवनवप्रेमोत्सवोल्लासिनी
वृन्दारण्यविलासिनी किमुरहो भूयाद्धृदुल्लासिनी
॥१८२॥

तदानीं किङ्किणीमुखरताधाष्टर्च मधिक्षिप्य हसन्तीं वीक्ष्य कोटीन्दूनां छविवद्धासो यस्याः । प्रकाशेऽप्याल्हादाधिक्यज्ञानात् 'कोटी'त्युक्तिः । यद्वा प्रेमोत्फणनेन छविविजृम्भं दृष्ट्वोक्तिः कोटिचन्द्रच्छविं हसति तिरस्करोतीति । तदनन्तरं किञ्चित् संभाषणं च श्रुत्वात्यन्तास्वाद ज्ञानेनाह— नवसुधासंभार एव संभाषणं यस्याः । संभाषणं यथा शतके—

कान्ते मन्मतिहृत्सुमञ्जुलकुचाद्युच्छ्रीरियं सेव्यतां
सैव त्वं यदि सुप्रसीदसि मम प्रीतिं परा गम्यताम् ।

विहार करने वाली (श्रीराधा) एकान्त में मेरे हृदय को कब उल्लासित करेंगी ?* ॥१८२॥

उस समय किङ्किणियों के वाचाल होने की ढिठाई की निन्दा करके हँसती हुई प्रिया जी को देखकर (श्रीहितसखी) कहती हैं—करोड़ों चन्द्रमाओं की कान्ति के समान उनकी हँसी है । चन्द्रमा में प्रकाश होने पर भी श्रीराधा की हँसी में आनन्द प्रदान करने की क्षमता उससे कहीं अधिक है, यह जानकर 'कोटि' (करोड़) शब्द का प्रयोग किया है । अथवा प्रेम का उफान आने पर छवि का जो प्रसार प्रियाजी के श्रीमुख पर होता है उसे देखकर इस आशय से 'कोटि' कहा गया है कि प्रियाजी की छवि करोड़ों चन्द्रमाओं का उपहास, तिरस्कार करती है । उसके बाद प्रियाजी का कुछ वार्तालाप जो कानों में पड़ा, तो उसके माधुर्य का अनुभव कर श्रीहितसखी कहती हैं—'नवसुधासम्भारसंभाषिणी ।' प्रियाजी की बोली ऐसी है जैसे नवीन अमृत की राशि हो । संभाषण का वर्णन श्रीवृन्दावन शतक में इस प्रकार किया गया है—

'हे प्रिये ! आपके मनोहर कुचों की शोभा मेरे मन को हरण करती है, (आप आज्ञा दें तो) मैं इसका उपभोग करूँ । श्रीराधा —'इसी का सेवन करिये । श्रीकृष्ण—

*अन्य टीकाकारों ने 'चित्रग्राम का अर्थ बरसाना किया है, परन्तु श्रीवृन्दावन से एक पैर भी बाहर न रखनेवाली अपनी इष्ट प्रियाजी के इस प्रकार की कल्पना करना कि वे रहती थीं बरसाना में और विहार करती थीं वृन्दावन में, रसकुल्याकार जैसे अनन्य सेवक को कैसे स्वीकार्य हो सकती थी । बरसाना में रह कर वृन्दावन में विहार करने की भावना में परकीयात्व का भी आभास मिलता है, अतः स्वनामधन्य श्री हरलाल जी ने 'चित्रग्राम' का दूसरा ही अर्थ लगाया है जिसे कि पाठकगण व्याख्या में देखेंगे ।

तत्कुञ्जे निमिषं त्वया तु न विना जीवाम्यहो व्याहृति-
वृन्दाटव्यनुगा इति स्मरकथा श्रीराधिकाकृष्णयोः ॥१४१४२

अपावृतस्तनक्रीडनं दृष्ट्वाह—वक्षोजद्वितयेन हेमकलशश्रीगर्वं निर्वासयति तिरस्करोतीति । ततश्चाङ्गरागादिनखदशनपदादिविशिष्टरूपलावण्यवैचित्र्यं दृष्ट्वाह—चित्रग्रामे निवसतीति । गात्रमेव रूपग्रामः । कथं चित्रमिति तत्राह—नवनवप्रेमोत्सवे उल्लास उत्साहो यस्याः । अत एवोत्सवे बहुवैचित्र्यम् । प्रत्यङ्गे जातम् । यद्वाङ्गरागादिविचित्रे प्रियहृदि ग्रामे इति । एतादृशी वृन्दारण्ये विलसतीत्येवंप्रकारक नित्यविलासेन वृन्दारण्यविलासिनीति नामैव ख्यातं यस्याः । रहः क्रीडाकुञ्जे एव प्रियसङ्गे वर्तमाना ममोल्लासिनी भूयात् किम् इति । अर्थात् सुरतान्ते बहिरागत्य हास्यहस्तग्रहवृत्तान्तकथनस्नेहविश्रम्भादि सख्यास्वादसखीभिर्वाञ्छनीया

रसकलश

'यदि आप प्रसन्न हों तभी' । श्रीराधा—'मेरी तो आप में अतिशय प्रीति है । श्रीकृष्ण — 'तो कुञ्ज में पधारिये, मैं तो आपके बिना क्षण-भर भी नहीं जी सकता ।' श्रीवृन्दावन के अनुरूप श्रीराधाकृष्ण की उक्ति के इस वार्तालाप को स्मरण कर ।

निर्वसन स्तनों की क्रीड़ा देख कर कहती हैं—श्रीराधा दोनों स्तनों से सुवर्ण के कलशों की शोभा का तिरस्कार करती हैं । इसके अनन्तर अंगराग, नाखून, दाँत, चरण आदि के अनुपम रूप-लावण्य को देख कर कहती हैं—'चित्रग्रामनिवासिनी ।' चित्रग्राम में निवास करनेवाली । श्रीमती राधा का शरीर ही रूपग्राम (रूप का समूह) है । वह विचित्र कैसे है ? इस पर कहते हैं—'नवनवप्रेमोत्सवोल्लासिनी ।' प्रेम के नये-नये उत्सवों के प्रति उनका उल्लास-उत्साह है । इसीलिये उत्सव के अवसर पर प्रत्येक अंग में विचित्रता पैदा हो जाती है । दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि अंगराग आदि से चित्रित प्रियतम के हृदयरूपी ग्राम में उनका निवास है । इस प्रकार की श्रीराधा वृन्दावन में निवास करती हैं । इस प्रकार के नित्य विलास के कारण ही उनका 'वृन्दारण्यनिवासिनी' नाम प्रसिद्ध हो गया है । ऐसी श्रीराधा एकान्त क्रीड़ा कुञ्ज में प्रिय के साथ स्थित होकर क्या मुझे उल्लास प्रदान करने वाली होंगी ? अर्थात् सखियाँ यह चाहें कि सुरत-क्रीड़ा के समाप्त हो जाने के बाद प्रियाजी कुंज से बाहर आवेंगी और हम सखियों के हाथ पकड़ कर रति क्रीड़ा का सब विवरण सुनावेंगीं और हम सब इस आनन्द का आस्वाद करती हुई कहेंगी कि अहो ! प्रिया जी हम से कैसा स्नेह करती हैं, किस प्रकार हम से कुछ भी छिपा कर नहीं रखतीं और हमें अपनी सहेलियाँ मानती हैं । वर्तमान आनन्द के उल्लास में भर कर ही में

स्यात्। तत्राधुनिकानन्दोल्लासमासाद्यैवमाशंसे किमु रह उल्लासिनी भूयात्। अत रहःस्थैवोल्लासदा भूयादित्यर्थः। यद्वा स्वानुभूतक्रीडनवृत्तं रह एकान्ते मां श्रावयित्वोल्लासिनी किमु स्यादिति यथाभावुकगम्योऽर्थः।

अथवा पञ्चमरागानुगतवसन्तरूपकोऽपि किञ्चिद् दृश्यते। वृन्दारण्येति वसन्तराज्ये चित्रग्रामो निकुञ्जकुञ्जादिराजधानी यत्र कोकिलभ्रमरकीरादिवल्लीवृक्षपुष्पपल्लवादि सर्वं सर्वतो विलक्षणमेवात आश्चर्यकारकत्वाच्चित्रम्। तत्र वक्षोजेति कनककलशः, तत्पूजनार्थं तदुपरि हासो मञ्जरी, सुधामयसंभारः पूजनसामग्री संभाषणं, तत्र प्रेम्णो नवनवोत्सव, इत्येवं मूर्तिमद्वसन्तश्रीरूपा चर्चिता च वृन्दारण्यविलासिनी ममोल्लासिनीति।

यद्वा विलासस्तु वृन्दावने। अत्र चित्रग्रामो यथा 'वाग्देवताचरितचित्रितचारुसद्मा' इतिवत् सखीहृदयग्रामः शृङ्गारहासप्रेमानुरागरूपादिमयैः श्यामश्वेतपीतरक्तविशदादिवर्णरङ्गैः प्रियाचरित्रैश्चित्रितः, अतोऽत्रैवतेषां

रसकलश

हितसखी यह आकांक्षा करती हूँ कि क्या प्रियाजी मुझे एकान्त में उल्लास प्रदान करेंगी? 'रह' का अभिप्राय यह है कि यहीं एकान्त कुंज में बैठे-बैठे—कुंज से बाहर निकले बिना ही। अथवा अपने द्वारा अनुभूत विलास के वृत्तान्त को किसी एकान्त स्थान में मुझे सुना कर क्या आनन्दित करेंगी? इत्यादि प्रकार से भावुकजन 'रहः' का अर्थ लगा लें।

अथवा इस पद्य में, पंचम स्वर के अनुकूल वसन्त-रूपक की झाँकी भी कुछ-कुछ देखने को मिल सकती है। श्रीवृन्दावन ही वह प्रदेश है जहाँ वसन्त राज्य करता है। विचित्र विभूतियों के संगम-स्थल कुंज-निकुंज आदि उसकी राजधानी हैं, जहाँ कोयल, भौंरे, तोते आदि तथा वृक्ष, फूल, पत्ता आदि सब वस्तुएँ जिधर देखो उधर ही बड़ी आश्चर्यजनक लगती हैं। दोनों स्तन मानों उस राजधानी के प्रवेश-द्वार पर रक्खे हुए दो मंगल-घट हैं। उनके पूजन के लिये प्रस्तुत प्रियाजी की हँसी ही मंजरियाँ हैं। प्रियाजी का संभाषण ही अमृततुल्य पूजन-सामग्री है। इस राजधानी में प्रेम के नित नये उत्सव चलते रहते हैं। इस प्रकार मूर्तिमती वसन्त-श्री की तरह पूजित होकर श्रीवृन्दावनविहारिणी मुझे उल्लास प्रदान करें।

अथवा 'चित्रग्राम' का अर्थ है—चित्रित निवास-स्थान। विलास तो श्रीवृन्दावन में होता है, परन्तु चित्रग्राम है सखियों का हृदय। श्रीगीतगोविन्दम् में श्रीजयदेव कवि

प्रेम्णा नितरां वासः । यथा 'नाहं वसामि वैकुण्ठे' इत्यत्र 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति' इतिवन्मुख्यप्रीतिवासो निर्दिष्टः ॥१८२॥

एवं द्वाभ्यां यथादृष्टप्रियाविरुदमनुवर्ण्य तादात्विकोल्लासिनीत्वाकर्णन-जातप्रसादपात्रमात्मानमाह—

कदा गोविन्दाराधनगलितताम्बूलशकलं
मुदा स्वादं स्वादं पुलकिततनुर्मे प्रियसखी ।
दुकूलेनोन्मीलन्नवकमलकिञ्जल्करुचिना
निवीताङ्गी सङ्गीतकनिजकलाः शिक्षयति माम्
॥१८३॥

रसकलश

अपने संबन्ध में कहते हैं—सरस्वती के चरितों से चित्तरूपी घर चित्रमय हो रहा है ।* इसी प्रकार प्रस्तुत में भी शृंगार, हास्य, प्रेम, अनुराग, रूप आदि के श्याम, श्वेत, पीले, लाल, निर्मल वर्णों से रंगीले प्रियाजी के चरित्रों से सखियों के हृदय-ग्राम चित्रमय हो रहे हैं । अतः सखियों के हृदय ही प्रियाजी के चरित्रों के निवास-स्थल हैं । यहीं वे प्रेम से रहते हैं । कहा भी है—'हे नारद ! न तो मैं वैकुंठ में रहता हूँ और न योगियों के हृदय में जहाँ मेरे भक्त मेरा गुण-गान करते हैं, वहीं मैं रहता हूँ । इसी रीति से प्रेम के मुख्य निवास-स्थान का निर्देश किया गया है ॥१८२॥

इस प्रकार दो श्लोकों द्वारा, जैसा देखा था उस रीति से प्रियाजी के यश का वर्णन कर, विहार की समाप्ति पर प्रियाजी ने उल्लासपूर्वक जो रति-वृत्तान्त कहा था उसे सुन कर श्रीहितसखी ने अपने आपको अत्यन्त कृपापात्र माना । उसी का अब वर्णन करती हैं—

'श्रीगोविन्द द्वारा की जाने वाली आराधना के प्रसंग में नीचे गिरे हुए पान के टुकड़े को स्वाद ले-लेकर खाती हुई, हर्ष से रोमांचित शरीर वाली और खिलते हुए कमल के केसर सरीखी कान्ति से युक्त झीने वस्त्र से अंगों को ढके हुए मेरी प्रियसखी श्रीराधा मुझे अपनी संगीत-कला कब सिखावेंगी ?'

वाग्देवताचरितचित्रितचित्तसद्मा
पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती ।
श्रीवासुदेवरतिकेलिकथासमेत-
मेतं करोति जयदेवकविः प्रबन्धम् ।

—सर्ग-१, पद्य-२

मे प्रियसखी मां सङ्गीतकनिजकलाः कदा शिक्षयति । तत्प्रकारमाह— गाः दृष्टीर्विविधहावभावकटाक्षरसमयीर्विन्दति प्राप्नोतीति गोविन्दः प्रियाया यद्यत्प्रेमकृपामयकटाक्षादि तदेव परमलाभं मनुते, प्रसादपात्र-त्वात् । येन कृतमाराधनं विविधविनयेन सौरभ्याङ्गरागसीधुताम्बूलाद्यर्प-णम् । तत्र तत्तदाराधने प्रियादृष्टौ यद्यद्भावोदयोद्भवदर्शनं तेन रूप-वैदग्ध्येन भावान्दोलितमति र्विह्वलो जातः । तदानीं तद्दृष्टितन्मयतापन्नो वीटिकां श्रीमुखे निदधाति । तदरुणाधरस्मितसुषमारसावेशजनितकम्पश्लथ-करगलितं यत्ताम्बूलखण्डं मुदा तत्तादृशभावरसज्ञदशादर्शनजातप्रेमहर्षेण प्रसह्य स्वयं नीत्वा स्वादं स्वादं मे प्रियसखीति पूर्णसख्याभिमानेनोक्तिरियं प्रतिसमयदास्यकृतज्ञतादिस्वानुभवं द्योतयति ।

रसकलश

मेरी प्रियसखी मुझे अपनी संगीत-कला कब सिखावेंगी ? सिखाने के प्रकार का वर्णन करती हैं—'गोविन्दाराधनगलितताम्बूलशकलम्' इत्यादि । अनेक प्रकार के हाव-भाव और कटाक्षों के रस से परिपूर्ण (प्रियाजी की) दृष्टि को जो प्राप्त करता है, उसे कहते हैं—'गोविन्द' प्राप्त करने का मतलब है कि प्रेम और कृपा से परिपूर्ण प्रियाजी के जो-जो कटाक्ष होते हैं, उन्हीं को श्रीकृस्ण अपना परम लाभ मानते हैं, क्योंकि वे स्वयं कृपापात्र हैं । ऐसे गोविन्द प्रियाजी की आराधना करने लगे जिसका कि स्वरूप यह था कि अत्यन्त विनम्र भाव से इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य, अंगराग, आसव, पान आदि प्रियाजी को भेंट किये । आराधना के प्रसंग में प्रियतम ने उन सब भावों को देखा जोकि प्रियाजी के नेत्रों से प्रकट हो रहे थे । भावों के उदय होने के कारण प्रियाजी की जैसी लावण्य-छवि बनी और जो चातुरी प्रकट हुई उससे प्रियतम की बुद्धि डाँवाडोल हो गई और वे विह्वल हो गये । अब प्रियाजी की दृष्टि के साथ एकाकार होकर श्रीकृष्ण पान की बीड़ी को श्रीमुख में देते हैं । उस मुख के लाल होंठ, मुस्कराहट और शोभा को देख कर रस के आवेश में मग्न प्रियतम का हाथ काँप उठा और शिथिल हो जाने के कारण उसमें से पान का टुकड़ा (बीड़ी) नीचे गिर पड़ा । अब प्रेम-रस के मर्मज्ञ प्रियतम की वैसी हालत देख कर प्रियाजी ने प्रेम-भरी प्रसन्नता से उस बीड़ी को स्वयं उठा लिया । श्रीहितसखी कहती हैं कि उसे स्वाद ले लेकर खाती हुई मेरी प्रियसखी मुझे संगीतकला की शिक्षा कब देंगी ? प्रियाजी को 'प्रियसखी' कहने में श्रीहितसखी का यह अभिमान सूचित होता है कि प्रिया जी उन्हें अपनी पक्की सखी मानती हैं और यह अनुभव करती हैं कि अपने दास्य-भाव के लिये वे प्रियाजी के प्रति सदा कृतज्ञ हैं ।

'पुलकिततनुः' इति । अहह ! प्रेमासक्त्यवधिः प्रिय इति सर्वाङ्गरोमाञ्चिता प्रसादोज्जृम्भविवशा किमस्मै सर्वस्वं दधामिति भंग्या स्वनीलाम्बरं तस्मै दत्वा तत्पीतपटं स्वयं परिहितवती । तत एवोन्मीलद्विकसन्नवरीतिककमलकिञ्जल्कवद्रुचिर्यस्य, तादृशेन दुकूलेन निवीताङ्गा । तत्र पटे केशरवद्रोमाञ्चः स्वयं स्फुट एव सहृदयसूक्ष्मदृष्ट्या लक्ष्यते । तत्र निवीतोक्तिस्त्वत्प्रेमा मयोरीकृत्य सर्वाङ्गे गाढमालिङ्गित इतिभंगिका । ततो रसावेशवशजद्रवापरिहार्य्यत्वाद्धर्षेण प्रियप्रेमगानमहं गायेयमिति प्रेमोज्जृम्भितगानव्यसनं मच्छिक्षाद्वारा पोषितवतीत्याह—सङ्गीतकनिजकलाः मां कदा शिक्षयति । अहमपि तदिङ्गितं ज्ञात्वान्तरङ्गमर्मज्ञान्तः प्रविष्टेति ज्ञया रहो ममोल्लासिनी भूयादिति । पूर्वोक्तविज्ञप्तिमङ्गीकृत्येव सखि ! गृहाण रह उल्लासमिति कृपा-भंग्या कश्चिदज्ञातसङ्गीतस्तस्य

रसकलश

'पुलकित तनुः' की व्याख्या करते हैं—अहो ! प्रियतम तो प्रेमासक्ति की सीमा हैं, यह सोचकर प्रियाजी के सब अंगों में रोमांच हो आया और कृपा-भाव के उमड़ आने से वे विह्वल हो गई, और फिर इस ढंग से कि मानों सर्वस्व दे डालेंगी,' अपना नीलांबर तो प्रियतम को दे दिया और उनके पीतपट को स्वयं धारण कर लिया। ऐसा करने पर कली—कली चटकते और खिलते हुए किसी अनोखे कमल के किंजल्क की भाँति आभा वाले उस वस्त्र से उनके श्रीअंग ढँक गये। अब तो उस पीतांम्बर में से केशर की भाँति प्रियाजी के अंगों का रोमांच स्पष्ट रूप से झलकने लगा, किन्तु उसे देखने की शक्ति केवल भावुक जनों को ही मिली है। पीत-पट से शरीर को ढकने का भाव यह है कि मैंने आपके प्रेम को स्वीकार कर प्रत्येक अंग द्वारा उसका दृढ़ आलिगन किया है। तंब यह हो नहीं सकता था कि हर्ष के आवेश से प्रियाजी द्रवीभूत न हो जायँ। तो इस प्रकार कृपा से द्रवित होकर परम हर्ष के साथ प्रियाजी बोलीं—"मैं प्रियतम के प्रेम का गान करूँगी।" तब प्रेम से उमड़कर गान गाने के अपने व्यसन को प्रियाजी ने मुझे संगीत की शिक्षा देने के माध्यम से पूरा किया। इसी आशय को व्यक्त करती हुई श्रीहितसखी कहती हैं—संगीत की अपनी कला को मुझे कब सिखावेंगी ? मैं भी प्रियाजी के आशय को जानती हूँ, उनके हृदय की गूढ़ बातों को पहिचानती हूँ, सो मैं निकुंज में घुस गई। 'श्रीराधा एकान्त में मुझे कब उल्लास प्रदान करेंगी' यह अभिलाषा मैं पहले ही (पद्य १८२) में व्यक्त कर चुकी थी। मेरे उस निवेदन को स्वीकार कर ही कृपापूर्ण चेष्टा सहित, मानों यह कहती हुई—'यह लो एकान्त उल्लास जिसे तुम चाहती थीं; किसी अभूतपूर्व संगीत की उन कलाओं को मुझे सिखाया जो उनकी 'निज' थीं, अर्थात् जिनकी उद्भावना स्वयं उन्होंने की थी। प्रिय-प्रेम में विह्वल होने के कारण प्रियाजी

निजकलास्तदानीं प्रेमवैवश्येन मत्ततया नवीनीकृताः गायस्व सखि ! ताने-नानेन, ग्रामेण स्वरेण चेदमित्थमिदं नेतिरीतिकं तादात्विकस्वावेशगान-पूर्वकशिक्षणं दर्शनीयमेव किं रसनया वच्मीति ।

यद्वा 'कारीषोऽग्निरध्यापयति' इति वद्रहसि प्रियसङ्गे एवं ताम्बूलं स्वादयन्ती तत्पटनिवीताङ्गी मां सङ्गीतकलाः कदा शिक्षयेदिति । तादृशीं त्वां दर्शं दर्शं मम गानावेश उत्पद्यत एव, तत एवाग्रे वदनमण्डलवर्णन-श्लोकद्वयेन शोभां गास्यतीति ज्ञेयम् ।

अथवा भक्तान् भजस्वे'ति वद्भजनीयकृतभवताराधनं तदभिलषित-पूरणं प्रियया कृतमित्यर्थः । तत्र गलितं ताम्बूलशकलं परस्परछद्मकौतुक-

रसकलश

उस समय उन्मत्त-सी हो गई थीं, अतः अपनी कलाओं का प्रदर्शन उन्होंने और भी नये ढंग से किया। गाती हुई बीच-बीच में मुझ से कहती थीं—'सखि ! इस ग्राम से, गाओ, यह स्वर लगाओ, यूँ नहीं, ऐसे गाओ', तो आवेश में भरकर गाती हुई प्रियाजी के द्वारा इस प्रकार मुझे सिखाना देखते ही बनता था, वाणी से उसका वर्णन कैसे किया जाय ?

अथवा 'कंडों की आग स्वयं पढ़ा देती है'—इस श्रुति के अनुसार एकान्त में प्रिय के साथ पूर्वोक्त प्रकार से पान का आस्वादन करती हुई, उन्हीं के वस्त्र को अपने अंगो पर धारण करती हुई प्रियाजी मुझे संगीत की कला कब सिखावेंगी ? (इस व्याख्या के अनुसार प्रियाजी संगीत की शिक्षा नहीं देतीं, बल्कि) इस प्रकार की शोभा से युक्त आपको (प्रियाजी को) देख-देखकर मुझ में स्वयं गाने की उमंग उठती है। (भाव यह है कि प्रियाजी की तत्कालीन छवि के दर्शन से मिलने वाली प्रेरणा ही शिक्षिका का काम करती है।) इसीलिये अग्रिम दो श्लोकों में प्रियाजी के मुख-मंडल की शोभा का गान किया गया है।

अथवा, जैसा कि कहा गया है—'हे भगवन् ! आप भक्तों का भजन करिए'—इसी अर्थ में प्रियाजी ने अपनी भक्त श्रीहितसखी की अभिलाषा पूरी करदी और इस रूप में आराध्य के द्वारा आराधक की सेवा की गई। गाते ही गाते में यह हुआ कि दिखावे के लिये खेल खेलते हुए दोनों के आदान-प्रदान में पान के दो टुकड़े हो गये और प्रियतम द्वारा प्रियाजी के और प्रियाजी द्वारा प्रियतम के मुख में एक ही समय में पान देने की भावना के फलस्वरूप आवेश के कारण एक टुकड़ा गिर पड़ा। 'यह तो मेरे लिये है'—यह कहते हुए श्रीहितसखी ने आगे बढ़कर उसे ले लिया और स्वाद से खाने लगीं। प्रसाद मिल जाने के आनन्द से उनके रोमोद्गम हो गया और उन्हें अपना शरीर ऐसा प्यारा लगने लगा जैसे वह कोई प्रियसखी हो। (इस अर्थ में श्रीहितसखी का अपना शरीर ही 'मे प्रियसखी' हो गया।) अपने शरीर को 'मे' (मेरा) इसलिये

दानादानार्द्धखण्डितोभयमुखस्पर्शयौगपद्यादिभावनीयं हास्यावेशवशपतितं मदर्थमिदमेवेति भंग्यागत्य प्रसादं मुदा स्वादं स्वादं मे पुलकिततनुरूपा प्रियसखी ममतास्पदा, तादृशनित्यप्रसादास्पदत्वात् प्रियत्वं, नित्यसङ्गिनीत्वविश्रब्धत्वागोपनीयत्वादिधर्मैः सख्यं च। तदानीमुल्लासविज्ञप्तिश्रुतिज प्रसादेन स्वावेशवशाद् विनिर्मितमज्ञातमेव पीतपटं श्रीमत्या दत्तम्। पश्चाद् ज्ञात्वा मिथोजातहासकौतुकेन तनुरपि तदानन्दमग्ना। तेन पीताम्बरेण निवीताङ्गी सङ्गीतकानिर्वचनीयप्रेमासाधारणनृत्यगानकलाः मामहंकारास्पदं हितरूपं कदा शिक्षयति, अर्थादियं तनुरन्तरात्मानं कदा नर्तयेद्-विह्वलीकुर्यादित्यर्थः।

यद्वा सङ्गीतस्य कं सुखं हर्षस्तत्संबन्धिन्यो निजास्तन्मया एव तालतानाधनपेक्षिताः कला इति तदनुसारेणैव। यथा च शतके—

रसकलश

कहा है कि उसमें श्रीहितसखी की अब ममता बढ़ गई, 'प्रिय' इसलिये कि वह (शरीर) प्रियाजी द्वारा नित्य प्रदान किये जाने वाले प्रसाद का पात्र है, और 'सखी' इस अर्थ में कि सदा प्रियाजी के साथ रहता है, उनका विश्वासपात्र है और प्रियाजी उस से कुछ छिपाकर नहीं रखतीं। (इस अर्थ में श्रीहितसखी के समस्त मानसिक धर्मों का आरोप उनके शरीर में ही कर दिया गया है।) इसी समय एक और घटना यह हुई कि श्रीहितसखी ने यह जो अभिलाषा प्रकट की थी कि प्रियाजी मुझे उल्लासित करें (भूयान्ममोल्लासिनी), सो उस निवेदन को सुनकर प्रियाजी बड़ी प्रसन्न हुईं और प्रेम के आवेश में बदल कर जो प्रियतम का पीतपट ले लिया था, उसे अनजाने में श्रीमती जी ने मुझे (श्रीहितसखी को) दे दिया। बाद में जब उन्हें इसका ज्ञान हुआ, तो इसी बात को लेकर दोनों में खूब हास-परिहास चला और उस आनन्द में मेरा शरीर भी मग्न हो गया। इस प्रकार (प्रसादी रूप में दिये गये) उस पीतांबर को श्रीहितसखी ने अपने शरीर पर धारण कर लिया। तो इस रीति से पीतपट पहने हुए, हर्ष से रोमांचित मेरी प्रियसखी-रूपी देह अनिर्वचनीय प्रेम से विशिष्ट नृत्य और गान की असाधारण कला को मुझे कब सिखायेगी ? अर्थात् यह मेरी देह मेरी अन्तरात्मा को प्रेम से कब नचायेगी, कब विह्वल बनायेगी ? यह अर्थ है।

अथवा (संगीतक' शब्द में संगीत और क—ये दो शब्द मानकर) संगीत का जो क यानी सुख अथवा हर्ष उससे संबन्धित अपनी कला। यहाँ 'निज' से अभिप्राय उन कलाओं का है जो श्रीराधा का स्वरूप बन चुकी हैं, अतः जिन्हें लोक-प्रचलित संगीत पद्धति के अनुसार ताल, तान आदि पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। उस अपनी कला के अनुसार मुझे संगीत की कब शिक्षा देंगी ? श्रीवन्दावनशतक में कहा है—

श्रीराधाचरणच्छटाम्बुधिघनं तद्भक्तिभावोदय-
द्रोमाञ्चं तत एव शिक्षितमभिव्यञ्जत् सुसङ्गीतकम् ।
चित्रं तत्प्रियतत्प्रसाद वसनालङ्कारहारस्रजं
श्रीवृन्दाविपिने कदानुभवाम्यात्मेष्टतत्वं परम् ॥३।८१

देहद्वयभावनं यथा श्रीचतुरशीतिपदेषु—'बारि फेरि देति प्रान देह सौं दुरी,' इत्यादि सहृदयवेद्यम् । यद्यद्ताम्बूलास्वादरोमाञ्चपीतपरिधान सङ्गीतकलाशिक्षणमुभयार्थेऽपि किं किं जातं चेति भावनीयम् ॥१८३॥

तदानीं हर्षस्मित प्रियसङ्गजकौतुकानन्दोल्लसिततादात्विक श्रीवदन-सुषमां भावयन्त्याह—

रसकलश

'श्रीराधा के चरणों की शोभा के सघन समुद्र रूप, उनके प्रति भक्ति-भाव के उदय होने के कारण रोमांचित, उन्हीं से सीखी हुई सुन्दर संगीत-कला को प्रकट करता हुआ तथा प्रियतम श्यामसुन्दर तथा उनके अपने विचित्र, प्रसादी रूप में प्राप्त वस्त्र, भूषण, हार और माला को पहिनता हुआ मैं आत्मस्वरूप इष्ट-तत्व का कब अनुभव करूँगा' ॥३/८१

श्रीराधा-कृष्ण को दो शरीर मानकर तदनुकूल भावना का उदाहरण श्रीहित-चतुरासी के एक पद में इस प्रकार है—'बारि फेरि देति प्राण देह सौं दुरी'।' यह सब सहृदयों के ही जानने की बातें हैं । उपर्युक्त दोनों अर्थों में, पान का आस्वाद, रोमाञ्च, पीत-पट का पहिनना, संगीत-कला की शिक्षा देना आदि जो-जो कार्य हुए वह सब अनुभव का विषय हैं ।

उस समय हर्ष से मुस्कराते हुए तथा प्रिय-संगम की उत्कंठा के आनन्द से प्रफुल्लित श्रीराधा की तत्कालीन मुख-शोभा का ध्यान करती हुई श्रीहितसखी कहती हैं—

१. श्रीहितचतुरासी का यह पद इस प्रकार है—

आजु नागरी किशोर भावती विचित्र जोरि,
कहा कहौं अंग अंग परम माधुरी ॥
करत केलि कंठ मेलि बाहु दंड गंड गंड,
परस सरस लास रास मंडली जुरी ॥
श्यामसुन्दरी बिहार बांसुरी मृदंग तार,
मधुर घोस नूपुरादि किंकिनी चुरी ॥
देखत हरिवंश आँलि निर्तनी सुधंग चालि,
बारि फेर देत प्रान देह सौं दुरी ॥१०॥

लसद्दशनमौक्तिकप्रवरकान्तिपूरस्फुरन्,
मनोज्ञनवपल्लवाधरमणिच्छटासुन्दरम् ।
चरन्मकरकुण्डलं चकितचारुनेत्राञ्चलं
स्मरामि तव राधिके वदनमण्डलं निर्मलम्
॥१८४॥

हे श्रीराधिकेति पूर्णसख्यममत्वोक्तिः। तव सप्रियसखी चिन्तामणे र्निर्मलं वदनमण्डलं भावये । सदा निर्दोषत्वेऽप्यदीनलीलत्वेऽपि 'निर्मले'ति विशिष्यकथनं वाम्याभासराहित्यादिदानीं केवलप्रसादमयमिति ज्ञापकम् । 'मण्डलम्' इति चन्द्रबिम्बवदभितो मण्डलीकृतकान्तिकिरणावलीकत्वम् ।

रसकलश

'हे श्रीराधिके !'—इस संबोधन में पूर्ण सखी-भाव तथा ममता निहित है। आप अपनी-जैसी प्रिय सखियों के लिये चिन्तामणि के समान हैं। आपके निर्मल मुख-मंडल का मैं ध्यान करती हूँ। प्रियाजी का श्रीमुख तो सदा निर्मल रहता है तथा उनकी लीलाओं में भी दैन्य का लेश तक नहीं होता, फिर भी खासतौर पर यहाँ जो 'निर्मल' विशेषण दिया है उससे सूचित होता है कि जिस समय का यह वर्णन है उस समय प्रियाजी के हृदय में प्रियतम-संबन्धी प्रतिकूलता की क्षीण-सी आभा भी नहीं थी। उस समय मुख-मंडल शुद्ध रूप में प्रसन्न तथा अकलुष था। चन्द्र-बिंब के चारों तरफ प्रकाश का एक मंडल (घेरा) रहता है, उसी तरह प्रियाजी के मुख के चारों ओर भी कान्ति का मंडल बना हुआ था और उसमें से किरणें छूट रही थीं। पहली नजर में रूप, लावण्य और प्रकाशमानता की साधारण छाप हृदय पर पड़ती थी; बाद में ध्यान से देखने पर भावना में जिस विशिष्ट रूप का स्फुरण होता था, उसका वर्णन करते हैं—

सुशोभित होते हुए दाँत ही श्रेष्ठ मोती हैं जिनकी कान्ति के प्रवाह से प्रकाशित और मनोहर, नये कौंपलों की तरह सुकुमार अधररूपी दो[1] मूँगों से अंकुरों की तरह फूटती हुई किरणों की छटा से प्रियाजी का मुख-मंडल अत्यन्त सुशोभित हो रहा है। उसके दर्शन कर सुख और विस्मय के जो भाव प्रबल वेग से उठते हैं, उन्हें मेरा मन ही जानता है, वाणी उसे नहीं बता सकती। यहाँ यह सूचित किया गया है कि श्रीहितसखी

१. भारतीय साहित्य की परंपरा के अनुसार नायिका के निचले होठ का ही वर्णन किया जाता है, पर प्रियाजी के अलौकिक सौन्दर्य को दृष्टि में रख कर टीकाकार ने प्रायः सर्बथा दोनों अधरों का वर्णन किया है।

प्रथमं रूपलावण्यभास्वरतानिर्विशेषे ततो दत्तदृष्टितया भावनया विशेष-माह—लसन्तो दशना एव मौक्तिकश्रेष्ठा स्तेषां कान्तिपूरेण स्फुरतोः प्रकाशमानयो र्मनोहरयोश्च नवपल्लववत् सुकुमाराधरविद्रुमयोश्छटाभिरं शुप्ररोहैः सुन्दरं मनोज्ञत्वमिति मन्मनसैव ज्ञेयम् । यद्यत्सुखं चमत्कारमुद्दीपयति तन्न वचसा वक्तुं शक्यमिति । अत्र सङ्गीतकलाशिक्षणसमये गानेन हास्येन च दशनाधरयोर्वर्णसंक्रमितज्योतिषानिर्वचनीयशोभा सूचिता । अधरमण्यारुणकान्तावपि दशनप्रकाशेनाग्रे प्रसारितत्वम् । एतदपि वदन-मण्डलकिरणप्रसरस्फारकम् । तत्समयचाञ्चल्येन चरन्ती चञ्चले मकर-कुण्डले यस्मिस्तत् । एतयोर्मणिमययो र्ज्योतिश्चाञ्चल्यं मण्डलप्रान्त-प्रसारबहुलीकारकम् । मकराकृती ते प्रियाया अपि नासंभाव्ये । यद्वा यथा वसनव्यत्ययो विहारे भवेत्तथैव भूषणानामपि । तदा कुण्डलयो-र्मकराकृतित्वं प्रियस्य प्रसिद्धत्वात्त एव तया परिहिते, इत्यनेन सखीनां

रसकलश

को संगीत की शिक्षा देते समय गाते हुए तथा हर्ष के साथ हँसते हुए, दाँत और अधर दोनों के अपने-अपने चमकते रंग एक-दूसरे पर पड़ रहे थे जिसके कारण मुख की शोभा अनिर्वचनीय लगती थी। मणि-जैसे निचले होठ की कान्ति यद्यपि अरुण थी, किन्तु दाँतों के बिखरते हुए प्रकाश से मिल कर वह भी आगे-आगे छिटक रही थी। इन दोनों अंगों की मिली-जुली कान्ति जब मुख मंडल से टकराती थी तो उसकी अपनी किरणें भी बढ़ कर फैल जाती थीं। उस समय चंचलता के कारण मुख-मंडल पर के मकराकृति कुंडल भी हिलने लगते थे। ये कुंडल रत्नजटित थे। उनसे फूटती हुई चंचल ज्योति से मुख का परिवेश और भी विस्तृत हो जाता था। यह कोई अनहोनी बात नहीं है कि प्रियाजी के कुंडल मछली की आकृति के थे। अथवा विहार के प्रसंग में जैसे एक के वस्त्र दूसरा धारण कर लेता था, वैसे ही भूषणों की भी अदल-बदल हो जाती थी। इसलिए मकराकृति कुंडल जिन्हें प्रसिद्धि के अनुसार प्रियतम ही पहिनते हैं, उन्हें भी प्रियाजी ने धारण कर लिया। यह देख कर सखियों के हृदय को परम आनन्द हुआ होगा, यह सूचित किया गया है। उस समय सखियों और प्रियतम को आपस में मुस्कराते, इशारे करते और एक-दूसरे की ओर सैंना-बैनी करते देख कर प्रियाजी कुछ सकपका गईं और उन्हें यह भ्रम हो गया कि मैं कुछ विलक्षण तो नहीं लग रही हूँ। इस भाव के उदय होते ही उनके नेत्रों की सुन्दर कोरें भूली-भटकी-सी हो गईं। मुख-मंडल को 'निर्मल' कह कर प्रियाजी की इस शंका का एक प्रकार से समाधान किया गया है, जैसे सखियाँ उनसे कहती हों—'इस तरह भौंचक्की क्यों होती हैं आप ? इस समय आपके मुख-मंडल की निर्मलता दर्शनीय ही है। 'स्मरामि' (याद

हृदि परमानन्दो द्योत्यते। तदानीं सखीनां प्रियस्य च मिथः स्मितसंज्ञा-कटाक्षज्ञानेन प्रिया किञ्चिदात्मनि भ्रान्तिवैलक्षण्यं ज्ञातवती। तेन चकिते चारुणी नेत्रप्रान्ते यस्मिंस्तत्। 'निर्मलम्' इति प्रियासमाधायिकोक्तिः— किमर्थं चकिता भवसि, इदानीं नैर्मल्यं दर्शनीयमेवेति। 'स्मरामि' इत्यनेन विश्रब्धसखीस्मरणीयत्वान्न चकितव्यमित्यपि ज्ञेयम्।

स्वीयकुण्डलपक्षे च चकितत्वं चारुत्वञ्च मृगमीनवत् स्वाभाविकमपि किञ्चित्तात्कालिकसहृदयवेद्य मिथोऽभिप्रायहेतुके ज्ञेयम्। 'अचलम्' इत्यनेन आकर्णायतगमनशीलत्वेऽप्येकतः प्रियादिक्साचीप्रेक्षणं, द्वितीयतः शिक्षणीयसखीदिक्शिक्षासंभ्रान्तेक्षणञ्चेति। पल्लवमार्दवकथनेऽपि मणित्वं कान्तिमत्वात्। मौक्तिकविद्रुमसम्बन्धस्तदानीं दर्शनीय एवेति। चिदानन्द-

---

रसकलश

करती हूँ) के द्वारा प्रियाजी से यह कहा गया है कि 'आपको इस तरह चकित होने की आवश्यकता नहीं है। याद रखिये, मैं आपकी अत्यन्त विश्वस्त सखी हूँ, (मैं विश्वास दिलाती हूँ कि कोई खास बात नहीं हुई है)।

यदि यह माना जाय कि कुंडलों का अदल-बदल नहीं हुआ था, बल्कि प्रियाजी के कुंडलों की बनावट ही मछली के आकार की थी, तो कुंडलों को नेत्रों की चंचलता का कारण नहीं मानना होगा। नेत्र तो हरिण और मछली की तरह स्वभाव से ही चंचल हैं। फिर भी उस समय उनके चंचल होने का कारण यह है कि चितवन ही चितवनों में प्रिया-प्रियतम के मध्य कुछ चल रहा था जिसे कि सहृदय ही समझ सकते हैं। तो यह चंचलता किसी रहस्यपूर्ण अभिप्रायों के कारण ही हुई थी—ऐसा समझना चाहिये। 'नेत्राञ्चलम्' में 'अंचल' शब्द भी किसी खास अर्थ को सूचित करता है। चंचल होने के कारण नेत्रों की कोरें कानों को छू-छू कर लौट आती थीं जो कि स्वाभाविक है, पर अपाङ्गों के चंचल होने का एक अन्य कारण यह भी था कि एक ओर तो प्रियतम को तिरछी नजर से निहारते रहना था और दूसरी ओर संगीत की शिक्षा प्राप्त करती हुई सखी की तरफ भी व्यस्त दृष्टि से देखना था (कि गाने में कोई गलती तो नहीं कर रही है। अतः इस दोहरे कर्तव्य का निर्वाह करने में प्रियाजी के नेत्र-प्रान्त चकरा-से गये थे। ओठों को पल्लव की तरह सुकुमार कह देने के बाद उनका (कठोर) मणि के रूप में वर्णन इस दृष्टि से किया गया है कि मणि की भाँति ओठों से भी कान्ति छिटकती थी। दूसरे, दाँतों के रूप में मोतियों और अधर के रूप में मूँगाओं का संबन्ध भी देखते ही बनता था। प्रियाजी के चिन्मय और आनन्दघन विग्रह का उपमान बनने के लिये मणि आदि निर्जीव पत्थर सर्वथा अयोग्य हैं, फिर भी लौकिक जनों की धारणा को श्रीमती के सौन्दर्य के संबन्ध में एक सुपरिचित

घनरूपेऽन्य मण्यादिनिरूपमत्वेऽपि किमपि लोके प्रत्यायकत्वाद्रूपस्य कथनम्। यथा च प्रसिद्धरत्नखचनशोभावत् प्रियाङ्गवर्णनं शतके—

उरः पुरटसंपुटद्वितययुक् पुटं लक्ष्यते
व्यनक्ति मुखमध्यतः शिखरपंक्तिमीषत्स्मितम्।
स्फुरत्यधरविद्रुमः करपदोर्मणिश्रेणयो
वपुः सकलमेव ते कनकसारसारैः कृतम् ॥१६।२६.

इति पाठोऽत्र ॥१८४॥

भूयस्तदेव वदनमण्डलवर्णनीय वैशिष्टचमवशिष्टं व्याचष्टे—

चलत्कुटिलकुन्तलं तिलकशोभिभालस्थलं
तिलप्रसवनासिकापुटविराजिमुक्ताफलम्।
कलङ्करहितामृतच्छविसमुज्ज्वलं राधिके,
तवातिरतिपेशलं वदनमण्डलं भावये ॥१८५॥

तव प्रियसखीप्रियतोदधिवर्द्धनचन्द्राया अतिशयेन रत्या विहारेण पेशलं मनोहरं वदनमण्डलं भावये। मण्डलं पूर्ववत्। साक्षाद्दर्शनेऽपि भावना

रसकलश

आधार देने के लिये इन वस्तुओं से उपमा दी गई है। श्रीवृन्दावन शतक के यहाँ उद्धृत पद्य में प्रिया जी के अंगों का वर्णन इस प्रकार किया गया है जैसे उनकी शोभा रत्नों से जटित हो—

'आपके वक्षःस्थल पर दो सोने की पेटियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही हैं, किंचित् मुस्कराने से मुख के बीच से दाँतों के अग्रभाग की पंक्तियाँ प्रकट हो रही हैं, मूँगा जैसा अधर कुछ-कुछ फड़क रहा है, हाथों और चरणों में नख-मणियाँ चमक रही हैं, आपका समस्त शरीर ही सुवर्ण के महासार से रचा हुआ है ॥१६।२६.

यह पाठ है यहाँ ॥१८४॥

'हे श्रीराधे! टेढ़े बाल जिस पर लहरा रहे हैं, मस्तक तिलक से सुशोभित है, तिल के फूल के समान नासापुट में मोती शोभा दे रहा है, निष्कलंक अमृत की छवि से जो उज्ज्वल है, सुरतान्त में मनोहर दिखने वाले ऐसे मुख-मंडल की मैं भावना (चिन्तन) करती हूँ' ॥१८५॥

प्रिय सखियों के प्रेम-समुद्र में उछाल लाने के लिये चन्द्रमा-स्वरूप, अत्यन्त विहार के कारण आपके मुख-मंडल की मैं भावना (चिन्तन) करती हूँ। प्रियाजी के साक्षात् दर्शन होते हुए भी उनकी भावना करने का अभिप्राय यह है कि श्रीहितसखी

तत्तद्रतिविलसितवैशिष्ट्यस्मरणमयी। यद्वा रतिः प्रीतिरिति पक्षे रतेरेकरसस्थायित्वेऽपि अतिशयवर्णनं पूर्वोक्तप्रियविषयिककृपातिशयोज्जृम्भद्योतकम्। तेन सर्वविशेषणानि प्रसादमयान्येव ज्ञेयानि। रतिविहारपक्षे तत्सूचिकात्याह—

चलन्तः कुटिलाः कुन्तला यस्मिंस्तत्। सौगन्ध्यस्नेहसारस्निग्धवक्रालकत्वं तु शृङ्गारादौ स्थितम्। इदानीं विहारशयनाद्युपमर्दनगतस्निग्धतया मन्दवातेन चलत्वम्। 'कुटिले'ति वक्रोक्त्या शैथिल्यमेषां ज्ञापयति। कौटिल्यमेषां रतिविहारसूचकत्वदोषः।

पुनस्तिलकेन शोभनशीलं भालस्थलं यस्मिंस्तत्। अत्रापि वक्रोक्त्या। यथा चतुरशीतौ—'तिलकलेशकिरत्कुसुमं शिरः' इति। अहह! कथं कीदृशस्तिलकः शोभते। ईदृक्त्वमेव शोभनम्+श्रीमत्याः। यथा 'मणिः

रसकलश

प्रियाजी की विविध रति-क्रीड़ाओं की विशेषताओं का स्मरण कर आनन्दित होना चाहती हैं। (इस व्याख्या में 'रति' का अर्थ विहार लगाया गया है।) यदि 'रति' का अर्थ प्रीति मानना हो, तो अर्थ होगा—अतिशय प्रीति के कारण मनोहर दिखनेवाली। रति स्थायीरूप से एकरस होती है—उसमें उतार-चढ़ाव नहीं होता—फिर भी 'अतिरति' (रति का आधिक्य) कहने से यह सूचित होता है कि प्रियतम पर प्रियाजी की कृपा उमड़ पड़ी है। इस प्रकार पद्य में प्रयुक्त 'वदन-मण्डल' के सब विशेषण प्रियाजी की कृपा को व्यंजित करने वाले ही समझने चाहिये। 'रति' का अर्थ विहार लगाने पर सब विशेषण विहार की ओर ही संकेत करते हैं, यह समझना चाहिये। उन्हीं का अब वर्णन करते हैं—

उस मुख-मंडल पर टेड़े-बाल लहरा रहे हैं। विहार के आरंभ में जब शृंगार किया गया था, तब सुगन्धित द्रव्य और इत्रों के संयोग से बाल चिकने और टेढ़े थे, किन्तु अब (सुरतान्त में) विहार प्रसंग में एक-साथ सोने में मसल जाने के कारण वे चिकने हैं और मन्द वायु से हिल भी रहे हैं। इस स्थिति में वक्रोक्ति अलंकार के अर्थ में ही उन्हें कुटिल कहा गया है। वास्तविक अर्थ यह है कि मर्दन के कारण बाल ढीले-ढाले हो गये हैं। कुटिलता तो उनका दोष है, क्योंकि इस हालत में वे रति की सूचना देते हैं। (कुटिल व्यक्ति ही दूसरे का रहस्य खोलते हैं।)

इसके उपरान्त वर्णन करते हैं—प्रियाजी का मस्तक तिलक से सुशोभित है। यहाँ भी जो कहना अभीष्ट है उससे बिल्कुल उलटी बात कही गई है। श्रीहितचतुरासी में वर्णन किया गया है—'रुचिर तिलक लेश किरत कुसुमकेश।' अहा! तिलक कैसी शोभा दे रहा है। श्रीमती की यही स्थिति अच्छी लगती है। एक सूक्ति है—शान पर

शाणोल्लीढः' इत्यत्र 'सुरतमृदिता बालवनिता' इतिवत् 'तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः' इति प्रियमर्थिनं प्रति पूर्णानुग्रहार्थो वर्णितः। अतस्तिलकलेशो वा तत्प्रसरणमपि शोभते।

तिलस्य प्रसवः पुष्पं तद्वत् सुभगाकृति नासिकापुटं, तस्मिन् विशेषेण-राजनशीलं मुक्ताफलं यत्र। राजनं तु स्वत एव। विशेषस्तु यथार्हस्थित्य-भाव इति। अत्र तिलप्रसव इत्युपमार्थेऽपि चुम्बनस्वेदादिवशकज्जलस्वल्प-बिन्दुस्तिलाकारस्तत्र लग्नस्तेन तत्कथनं प्रच्छाद्योपमानोक्तिरेव स्फुटीकृता 'तिले'ति।

कलङ्केन रहिता चासावमृतच्छविश्च तया सम्यगुज्ज्वलम्। अत्र कज्जलप्रसरणमपि ताम्बूलरागाद्यपि दृश्यते तेन वक्रोक्त्या। यथा चन्द्रमसि श्यामता दृश्यते तथास्ति त्वय्यपि। मम त्विदानीमहह! कीदृक् समुज्ज्वलं भासत, इदं मद्धृदयमेव साक्षि। इत्यादि सुरतान्तचिन्हानि वक्रोक्त्या सूचितानि। इतरथा शुद्धं प्रियामुखच्छविवर्णनं वर्तत इति ज्ञेयम्।

रसकलश

खरादा गया रत्न, सुरत में मीड़ी गई बाला और याचकों को वैभव लुटा कर निर्धन हुए मनुष्य अपनी क्षीणता से ही सुशोभित होते हैं।' प्रस्तुत में प्रियतम ही याचक हैं। उन पर प्रियाजी ने अनुग्रह की पूर्ण वर्षा की है, इसलिए पुछने से बाकी बचा थोड़ा-सा तिलक अथवा उसका फैल जाना भी शोभा देता है।

'तिलप्रसवनासिका' इत्यादि—तिलक का प्रसव अर्थात् फूल, उसकी तरह सुन्दर आकृति वाले नासापुट में मोती विशेषरूप से सुशोभित है। सुशोभित तो मोती स्वतः ही होता है, किन्तु यहाँ उसका सुशोभित होना इसलिये कहा गया है कि मोती के लिये उपयुक्त स्थान तो स्वर्ण के आभूषण हैं, किन्तु वहाँ न जड़ा जाकर वह जो यहाँ आ गया है, उससे उसकी शोभा और भी बढ़ गई है। यहाँ नासिका की उपमा तिल के फूल से दी गई है, किन्तु साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि चुंबन, पसीना आदि के कारण आँखों में के काजल की एक छोटी-सी बूँद-तिल के बराबर-नाक पर लगी रह गई है। इस बात को साफ-साफ न कह कर उपमान के रूप में तिल का नाम ले दिया है (जबकि अन्तर्निहित भाव उपर्युक्त ही है)।

'कलङ्करहितामृतच्छविसमुज्ज्वलम्'—निष्कलंक जो अमृत की छवि उससे मुख-मंडल पूर्ण उज्ज्वल है। श्रीमुख पर काजल के धब्बे हैं और पान की पीक की लालिमा भी दिखाई दे रही है, फिर भी वक्रोक्ति द्वारा मुख को कलंक-रहित कहा गया है।

अमृतेत्याद्युक्तौ चन्द्रे प्रकाशोऽमृतस्यैवास्ति। अत्र मुखे रूपलावण्यच्छविबाहुल्यं ज्ञेयम्। वक्रोक्त्या अधरामृतं प्रियेण गृहीतं, तत्र स्थाने नेत्रचुम्बनानन्तरचुम्बत्वेन प्रियाधराञ्जनश्यामता निहिता दृश्यते। तेन कलङ्करहितामृतच्छविसमुज्ज्वलेति कथनम्। एवं विशेषणचतुष्टये रतिपेशलत्वं कुटिलशोभिविराजिसमुज्ज्वलशब्देषु विभक्तं ज्ञेयम्।

इत्येवं श्लोकद्वयेन हितात्या सख्यरसपुरस्कारेण श्रीवदनशोभानुर्वर्णिता ॥१८५॥

इदानीं प्रातस्त्रिविधसमीरविकसितनीरजकोशनिःसृतमत्तमधुपभङ्कारद्विजकुलारावप्रियासकाशनृत्यगानाध्ययनप्रतीक्षकलद्युपक्षिसमाकुलकुञ्जा-

---

रसकलश

(श्रीहितसखी कहती हैं—) चन्द्रमा में जैसे काले धब्बे दिखाई देते हैं, वैसे ही आपके श्रीमुख पर भी हैं, परन्तु अहा ! मुझे तो यह जैसा उज्ज्वल दिख रहा है, उसका साक्षी तो मेरा हृदय ही है। वक्रोक्ति द्वारा 'रति' शब्द से सुरत-समाप्ति के बाद के ये चिन्ह सूचित किये गये हैं। विहार-पक्ष का अर्थ न लगाने पर इसे प्रियाजी की शुद्ध मुख-शोभा का ही वर्णन समझना चाहिये। श्रीराधा के मुख-मंडल को अमृत की छवि से उज्ज्वल कहा गया है। चन्द्रमा में अमृत का ही प्रकाश है, यहाँ रूप और लावण्य की शोभा की प्रचुरता है। चन्द्रमा में काले धब्बे हैं, यहाँ प्रियाजी का श्रीमुख भी यत्र-तत्र कज्जल-रेख से सुशोभित है। ये रेखाएँ इस तरह लगीं कि प्रियतम ने अधरामृत का पान किया। चूँकि नेत्रों को चूमने के बाद अधर का चुंबन किया, अतः प्रियाजी के अधरों पर काजल की कालिख आ गई। (अथवा प्रिय के द्वारा पहले अधरामृत पीने और तदनन्तर नेत्रों को चूमने के कारण प्रियतम के अधर पर श्यामलता आगई। उस अधर से उन्होंने अन्य स्थानों का चुंबन किया तो उन पर भी काजल के धब्बे लग गये।) कज्जल से श्यामल होने पर भी मुख-मंडल को जो कलंक-रहित अमृत की छवि से युक्त कहा गया है, वह केवल वक्रोक्ति द्वारा मुख को कज्जल की रेखाओं से विशिष्ट बताने के लिये ही। इस प्रकार रति की मनोहर शोभा बालों की कुटिलता, तिलक की शोभा, मोती का फबना और मुख की उज्ज्वलता में विभक्त कर दी गई है। (अभिप्राय यह है कि केश आदि का व्यष्टिगत सौन्दर्य रति-मनोज्ञ मुख-मंडल के समष्टिगत सौन्दर्य का आधायक है और मुख की रति-पेशलता भिन्न-भिन्न अंगों की शोभा का जीवातु है।

इस प्रकार दो श्लोकों द्वारा श्रीहितसखी ने सख्य-रस के पुरस्कार-स्वरूप प्रियाजी के श्रीमुख की शोभा का वर्णन किया ॥१८५॥

अब प्रातःकाल शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन, प्रफुल्लित कमलों के संपुटों में से बाहर निकलते हुए मस्त भौंरों की गुंजार, पक्षियों की चहचहाहट, प्रियाजी से नाचना, गाना

जिरादिविविधविलाससमवलोकन समुत्साहेन रतितल्पादुत्थाय संवलन्मिथोभुजग्रीवौ गजेन्द्रगतया कस्मिंश्चित्कुञ्जे पृथगुभयतः प्रफुल्लितेन्दीवरकलकमले मध्यगतसुपेशलनवकिसलयासन आगत्य स्थितौ तत्कालीनशोभां निरीक्षन्तौ पक्षिकौतुकं चापि कुर्वन्तौ आसाते। तत्र हितसखी किञ्चित्सख्येन तच्छोभां वर्णयति—

पूर्णप्रेमामृतरससमुल्लाससौभाग्यसारं
कुञ्जे कुञ्जे नवरतिकलाकौतुकेनात्तकेलि।
उत्फुल्लेन्दीवरकनकयोः कान्तिचोरं किशोरम्
ज्योतिर्द्वन्द्वं किमपि परमानन्दकन्दं चकास्ति
॥१८६॥

किमप्यनिर्वचनीयं किशोरं ज्योतिर्द्वन्द्वं गौरश्यामं चकास्ति। कीदृशम्? परमानन्दस्य कन्दं मूलकारणं यत्र तत्र बहुशः प्रमितमेव। यद्वानिर्वचनीयपरमानन्दमिति 'तद्धावतोऽन्यानत्येति' इतिवद्यत्प्रशस्यते तस्मात् परतर

रसकलश

सीखने की प्रतीक्षा में बैठे हुए छोटे छोटे पक्षियों से व्याप्त कुंज और उनके आँगन—आदि-आदि की विविध क्रीड़ा को देखने के उत्साह से विहार-शय्या से उठ कर, भुजाओं से एक-दूसरे को लपेटे तथा गर्दन से गर्दन मिला ये श्रीराधा-कृष्ण मस्त हाथी की चाल से, किसी कुंज में दोनों ओर अलग-अलग खिले हुए नीले तथा पीले कमलों के बीच में सुन्दर स्निग्ध तथा नवीन पत्तों से बनाए गये आसन पर बैठकर उस समय की शोभा को देखते हुए तथा पक्षियों के साथ खिलवाड़ करते हुए वहीं विराजे रहे। श्रीहितसखी कुछ-कुछ सख्य भाव से उसी समय की शोभा का वर्णन करती हैं--

'पूर्ण प्रेमामृत और पूर्ण प्रेम-रस के उछाह के सौभाग्य की साररूप, कुंज-कुंज में उत्साहपूर्वक रति-क्रीड़ा करने वाली, खिले हुए नीले और पीले कमलों की शोभा का अपहरण करने वाली, परम आनन्द की आदिकारण कोई अनिर्वचनीय युगल ज्योति सुशोभित हो रही है॥१८६॥

कोई अनिर्वचनीय, किशोर अवस्था में स्थित गौर-श्याम युगल तेज सुशोभित हो रहा है। कैसा तेज? कि परमानन्द का कन्द अर्थात् मूलकारण जिसकी कि कई स्थानों पर कई बार समीक्षा की जा चुकी है। अथवा 'खड़ा रहकर भी भागते हुओं से आगे निकल जता है,' इस उक्ति की भाँति, उसकी जैसी स्तुति की जाती है उससे

तममेवेति। परस्परप्रेमरसाधिक्ये दृष्ट्वातन्मूलकारणत्वमाह—पूर्णप्रेमामृतं च पूर्णोरसश्च तयोर्यः समुल्लास उज्जृम्भणावस्थापत्तिस्तत्र यत् सौभाग्यं सौन्दर्यं स्वैश्वर्यं सुमाधुर्यञ्चेति समुल्लासे दृश्यते तत्सर्वं नवनीतवदेकीकृत्य निष्कृष्टं सारघृतवत् स्थिरांश, यतः परमन्यसारो न कार्यः स्यात्तादृशमिति उभयोरेव प्रेमरसामृतसारत्वं निर्दिष्टम्। प्रेमरसामृतरूपत्वं ब्रह्मभगवदादिष्वपि दृश्यते श्रूयते च। ततोऽत्र विशेषः समुल्लाससौभाग्यसारपूर्णपदैर्विवेकिभिर्विवेचनीयः।

अथवा क्रमेण प्रेमरसयोः समुल्लाससौभाग्ये प्रेम्णोऽभिलाषार्तिरूपत्वं रसस्यास्वदरूपत्वं च प्रियस्य प्रियायाश्च स्वरूपम्। तत्र प्रेमसमुल्लाससारं श्यामतेजः, रस सौभाग्यसारं गौरतेजः, इति प्रेम्णः समुल्लास एव घटते, लालसातिशयरूपत्वात्, रसस्य सौभाग्यमेवेति श्रीमत्याआसज्यत्वेन परमसौभाग्यवतीत्वात्। यदि च रसः शृङ्गारार्थः श्यामवर्णइत्येव गृह्यते प्रेमा पीतवर्णश्च, तदा अभिलाषे संयोगः पर्यवसानत्वात् सारः, आस्वादेऽभिलाषः पर्यवसानत्वात् सारः, तस्मात् सा तद्वस्तुनः स च तद्वस्तुनः सार इति मिथ

रसकलश

भी कहीं परे का तत्व है। वह युगल-स्वरूप का एक-दूसरे के प्रति अत्यन्त प्रेम और रसावेश देखकर उनके मूलकारण होने की व्याख्या करते हैं—'पूर्णप्रेमामृत…' इत्यादि। पूर्ण जो प्रेमामृत और पूर्ण जो रस, उनका जो समुल्लास उमड़ने की हालत में आना, उसमें जो सौभाग्य—अर्थात् उस उल्लास में दिखाई देने वाला ऐश्वर्य और माधुर्य—उस सब को मक्खन की तरह इकट्ठा करके घी की भाँति निकाला गया सार अर्थात् स्थिर अंश। घी में से जैसे दूसरा घी नहीं निकाला जा सकता, उसी प्रकार उनसे बढ़कर कोई दूसरा सार नहीं हो सकता। ऐसी है वह युगल-ज्योति। इससे यह सूचित किया गया है कि श्रीराधा-कृष्ण दोनों ही प्रेमरसामृत का सार हैं। यूँ तो ब्रह्म और भगवान को भी प्रेम-रसामृत-स्वरूप कहा गया है, और सुना गया है, किन्तु यहाँ, समुल्लास, सार और सौभाग्य पदों द्वारा जो विशेषता निर्दिष्ट की गई है, उस पर विद्वानों को मनन करना चाहिये।

अथवा श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों क्रमशः प्रेम और रस के उल्लासपूर्ण सौन्दर्य के प्रतीक हैं। प्रेम में अभिलाषाजन्य व्यथा (अधीरता) होती है और रस में होती है आस्वादनीयता। इस प्रकार प्रियतम का स्वरूप प्रेममय है और प्रियाजी का रसात्मक। वहाँ श्याम तेज प्रेम के उल्लास का सार हैं और गौर तेज रस-सौभाग्य का सार है। निष्कर्ष यह है कि प्रेम की सहज परिणति उल्लास में होती है, क्योंकि उसमें लालसा का आधिक्य होता है और रस सौभाग्य का अनुभव कराता है, क्योंकि श्रीकृष्ण की आसक्ति का विषय होने से प्रियाजी सौभाग्यशालिनी हैं। यदि रस का अर्थ

उभयान्यथानुपपत्त्या विवेचनीयः। एवं परमानन्दमूलज्योतिर्वर्णनेऽपरिहार्य-निर्विशेषाभासो किशोरपदेन दूरीकृतो ज्ञेयः।'

रसकलश

यहाँ श्रृंगार-रस लिया जाय जिसका कि वर्ण श्याम होता है और प्रेम का होता है पीला, तो अभिलाषा का सार संयोग है, क्योंकि अभिलाषा की चरम परिणति संयोग में ही होती है, और आस्वाद का सार है अभिलाषा, क्योंकि आस्वाद से पुनः अभिलाषा ही जागृत होती है, अतः प्रियाजी प्रेम का सार हैं और प्रियतम रस का। और इन इन तत्वों की उपपत्ति एक-दूसरे के बिना नहीं हो सकती, यही विचारने की बात है।

*पहली स्थापना यह थी कि श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रेमात्मक है और श्रीराधा का रसात्मक, क्योंकि श्रीकृष्ण की वृत्ति अभिलाषा-प्रधान है और प्रियाजी की आस्वाद-प्रधान। दूसरी व्याख्या में यह क्रम बिलकुल उलट जाता है। श्यामवर्ण श्रीकृष्ण रस-स्वरूप हैं और पीत (गौर) वर्ण प्रियाजी प्रेम-स्वरूपा हैं। किन्तु यह अन्तर कहने भर का है, क्योंकि रस अभिलाषमय होता है और रस-स्थिति तक पहुँचने के लिये अभिलाषा का परिपाक संयोग में होना जरूरी है। संयोग स्वयं में स्वतंत्र नहीं है। उसे दूसरे पक्ष की अनुकूल प्रतिक्रिया की आवश्यकता है। यह दूसरा पक्ष (नारी) कर्तृत्व-प्रधान न होकर भोक्तृत्व-प्रधान है—आस्वाद-स्वरूप है। किन्तु नारी की आस्वाद-प्रधान प्रकृति सर्वथा कर्तृत्व शून्य हो, ऐसी बात नहीं है। आस्वाद-वृत्ति भी अभिलाषा को जन्म देती है और इस प्रकार रस और प्रेम-वृत्तियों की प्रतीपमान भिन्नता अपरिच्छेद्य हो जाती है। किन्तु जहां तक प्रस्तुत का संबन्ध है, इस कथन से यह न समझ लेना चाहिये कि परमानन्द की मूल ज्योति होने पर भी श्रीराधाकृष्ण की रसपर्यवसायिनी वृत्तियाँ अपने-अपने वैशिष्ट्य से रहित हैं। सिद्धान्त रूप में प्रेम किंवा हित-तत्व अद्वैत का साधक होने पर भी द्वैतता का प्रत्याख्यान नहीं करता, अन्यथा लीला-तत्व मात्र एक वन्ध्य-कल्पना होकर रह जायगी। लीला ही वह तत्व है जो प्रेम को अभिव्यक्ति देता है और सौन्दर्य से उसका अभिषेक करता है। लीला-द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यंजना मात्र होती है। सौन्दर्य की सृष्टि करने वाली तो अन्तर की वे वृत्तियाँ हैं जो अपने ताने-बाने से सौन्दर्य-पट को बुनती हैं। इन वृत्तियों की क्रियायें होती हैं और अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रतिक्रियायें भी। इन क्रिया-प्रतिक्रियाओं की समष्टि श्रीकृष्ण हैं, तो दूसरी श्रीराधा। एक नर है, दूसरी नारी है; एक कर्मी है, दूसरी भोक्त्री है, एक प्रकृति ही से अनुकूल है, दूसरी बाहर से वाम (एकं काञ्चन चम्पकच्छवि ·· कन्दर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं बहिः।१६६) दोनों ही दो छोरों पर खड़े हैं: इसीलिये तो उनके मिलन में रस है, परमानन्द है। और विचित्रता यह है कि वृत्ति-भेद-जन्य यह स्वरूपगत भेद भी अमिट नहीं है। श्रीराधा पीत-पट पहिन लेती हैं, भूषणों को बदल लेती हैं और इस प्रकार 'विश्वमोहन महासारूप्य माचिन्वती' (२४·२२५) हैं। वाम रहने का उनका स्वभाव है, पर वह स्थिति भी तो आजाती है कि श्याम-श्यामेत्यमृत रससंस्राविवर्णान् जयन्ती (२५४)। ऐसी स्थिति में आसक्त और आसज्य कौन है, प्रेम किसकी थाती है और रस किसका स्वरूप, यह इदमित्थं कहना कठिन हो जाता है। पता नहीं, जल और तरंग दोनों सत्य हैं या सत्य के ही ये दोनों स्वरूप हैं। जो कुछ भी हो, युगल स्वरूप के कृती साधक के लिये तो 'अहो! द्वैधीकर्तुम् (२५०) ही, उचित है।

ततः किशोरक्रीडामाह । कुञ्जे कुञ्जे नवरतिकलाहेतुककौतुकेन समुत्साहेन आत्ता तत्तकेलिर्येन तत् । सर्वकेलिषु रतिकलानन्द एव पर्यवसायित्वात् । तत्र केलिनिदर्शनं यथा शतके—

अक्षैः कुत्रापि खेलत् क्वचन निलयनैः कुत्रचिच्चोरिकाभि-
र्वल्लीवृक्षानुकृत्या क्वचन ननु मिथः क्वापि हिन्दोलनेन ।
क्वाप्याश्चर्यप्रहेल्या क्वचन खगमृगादीहितैः क्वेन्द्रजालै-
र्वृन्दारण्येति दिव्यं किमपि विजयते गौरनीलं द्विधाम ।।६।४४

यथा च—

कदाचित् कालिन्दीतटभुवि कदाचित्तरुतले
कदाचित् कुञ्जान्तर्गहनविपिने कर्हिचिदहो !

रसकलश

इस प्रकार 'किशोर शब्द के प्रयोग से इस अनिवार्य संभावना का निराकरण कर दिया गया है कि श्रीराधाकृष्णात्मक मूल परमानन्द ज्योति में ब्रह्म और भगवान् की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। (तात्पर्य यह है कि युगलस्वरूप का परम किशोर होना ही उसे ज्ञानानन्द और भक्ति विषयक आनन्द से पृथक् कर देता है। इन दोनों प्रकार के आनन्दों में डुबा देने वाली एकरसता है, क्योंकि इनके मूल स्रोत ब्रह्म और भगवान् के पास रस की रहस्यात्मक प्रकृति को व्यक्त करने के लिये रत्यात्मक लीला का अभाव है। भागवत धर्म के उपास्य श्रीकृष्ण का प्रेमस्वरूप गोपियों की रति से जीवन ग्रहण करता अवश्य है, पर गोपियों के स्वकीया न होने के कारण प्रीति की विविध भंगियों का दर्शन वहाँ नहीं होता। उसकी प्रकृति, इसीलिए, सुनिश्चित है, एक प्रकार की इयत्ता उसमें हैं। उसमें किशोरावस्था का मौग्ध्य नहीं, बल्कि एक प्रौढ़ि है जो कि प्रेम को विवेक से संचालित कर उसके स्वरूप को विशुद्ध नहीं रहने देती।)

अब कुंज-क्रीड़ा के विषय में कहते हैं—वह ज्योति कुंज-कुंज में रति-कला के कारणभूत कौतुक अर्थात् उत्साह से विविध केलियाँ करती है। सब प्रकार की केलियों की परिणति अन्त में रति-केलि में ही होती है। श्रीवृन्दावन शतक में केलियों का वर्णन देखिए—

'कहीं चौसर खेलते हैं, कही आँख-मिचौनी, कहीं चोरी-चारी, कहीं लता वृक्ष आदि का अनुकरण करते हैं और हिंडारे झूलते हैं। एक स्थल पर पहेलियाँ बुझाते हैं, दूसरे पर पशु-पक्षियों जैसी चेष्टा करते हैं, तो कहीं जादूगर का तमाशा करते हैं। इस प्रकार अति दिव्य गौर-नील युगलकिशोर श्रीवृन्दावन में उत्कर्ष को प्राप्त हो रहे हैं' ।।४६/४४.

एक उदाहरण और—

अभङ्गैः सङ्गीतोत्तरमधुरकन्दर्पललितैः
सदा वृन्दारण्ये मम हृदयबन्धू विहरतः ॥१६।३१

अत्रैव मुरलीचोरणम् । यथा—

क्वचिन्नवनिकुञ्जके कपटसुप्तकृष्णोरसि
स्फुरन्मुरलिकाहृतिं निजसखीं गिरा कुर्वती ।
विधृत्य रमितारुदत्यधिबलात् कलाशालिना
समेत्यहसदालिनिर्धुतशुगस्तु राधाहृदि ॥१६।२८

इत्यादि यथासमयं सहृदयभावनीयाः केलयो ज्ञेयाः ।

एवं केलीः कृत्वात्रागतौ वा करिष्यत इति वा कृतवर्णनं ज्ञेयम् । प्रस्तुतोभयदिग्विषयिककमलशोभां निरीक्षितोस्तयोश्छविप्रकाशेन प्रियदिशि नीलकमलभां मन्दीभूतां, प्रियादिशि कनकपद्मच्छविं मन्दां वीक्ष्य सखी हसति—'उत्फुल्लेन्दीवरकनकयोः कान्तिचौरमिति ।' पश्यत महदाश्चर्यम् !

रसकलश

कभी श्री यमुना के तट पर, कभी किसी वृक्ष के नीचे, कभी कुंजों में, कभी घने वन में, कभी अविच्छिन्न संगीत-प्रधान मधुर काम-विलास द्वारा मेरे प्राणबन्धु युगलकिशोर सदा ही श्रीवृन्दावन में विहार करते हैं ॥१६/३१

इसी प्रसंग में मुरली की चोरी करने पर क्या हुआ, उसे भी देखिए—

'श्रीकृष्ण किसी नव-निकुंज में सोने का बहाना कर पड़े हुए थे कि किसी सखी के कहने में आकर उनके वक्षःस्थल पर रक्खी हुई मुरली को चुराने के लिए श्रीराधिका ज्यों ही उनके निकट गई, त्यों ही कला-विदग्ध श्रीकृष्ण ने ज़बरन् उन्हें पकड़ लिया और विहार करने लगे। इस पर श्रीराधा जब रोने लगी तो हँसती हुई सखियों ने आकर उनका दुःख दूर किया। ऐसी श्रीराधा मेरे मानस में उदित हों ॥१६/२८

समय-समय पर की जाने वाली इस प्रकार की केलियों की भावना सहृदयगम्य ही है।

इस प्रकार 'आत्तकेलिः' का मतलब यह समझना चाहिये कि प्रिया-प्रियतम केलि करके यहाँ आये हैं, अथवा भविष्य में करेंगे या कर चुके हैं।

प्रस्तुत वर्णन में प्रिया-प्रियतम के दोनों ओर कमलों की शोभा का विस्तार है। दोनों ने ज्यों ही उनका निरीक्षण किया, त्यों ही प्रियतम के तरफ के नीलकमलों की शोभा फीकी पड़ गई और प्रियाजी की दिशा में कनक-कमल मुरझाए से हो गये। सखी यह देखती हैं और कहती हैं—'फुल्लेन्दीवरकनकयोः कान्तिचौरम् !' 'देखो, कैसा आश्चर्य है ! ये दोनों ही सौन्दर्य का आधार हैं, फिर भी इन्हें इतना असंतोष कि

निधिमतोरप्यसन्तोषः। इति श्रुत्वा कर्णौ पिधाय, सखि ! मा संशेष्व नावाभ्यां कस्यापि किञ्चिद्धृतं, त्वत्सङ्ग एवागतावित्यवदताम् तदा सखी कमलदिशि करं कृत्वा सूचितवती—केनेदानीमेवानयोः पद्मवृन्दयोः शोभा हृतेति। तदान्या ललिताद्या अपि पृष्टाः। ता अपि मिथः स्मिताः। तदौभौ संविदं कृतवन्तौ—किं क्रियते, साक्षिभिरपि स्मितायते। तदा किं कर्तव्यमिति पृष्टाभिः प्रतिभुभिः सखीभिः—न भवतोश्चौर्य्यं, परन्तु फुल्लतादिपरोत्कर्षमसहन्त्या युष्मत्किशोरकान्त्या कृतं दृश्यते तत्प्रत्यर्थिनार्थिप्रोक्तमेवकर्तव्यमिति नये कृते, किमेतानि प्रत्यभिलषन्तीत्यपेक्षायां ताभिरुक्तं यद्वयं केनापि गुणाधिक्येन नोपमानार्हास्तत उपमानमात्रतां वाञ्छाम, इत्यनेनैव पूर्णा भवामः। किञ्चान्यथा यदि 'कनकसरोजम्' इत्यत्र दत्तदास्यं न तस्याः' इत्यनेन तादृशपद्मस्यापि दास्यानर्हत्वं कृतं, तदा क्वास्मत्

रसकलश

कमलों का वैभव लूट लिया !' इस पर युगल उत्तर देते हैं—'सखि ! सन्देह मत करो, हमने किसी का कुछ नहीं लिया है, तुम्हारे साथ ही साथ तो हम यहाँ आये हैं।' इस पर सखी ने हाथ से कमलों को दिखाते हुए पूछा—'तो फिर किसने इन दोनों कमल-समूहों की शोभा का अपहरण किया है ? जब श्रीराधा-कृष्ण ने ललिता आदि सखियों से पूछा, तो वे भी आपस में मुस्करा कर रह गईं। अब दोनों सलाह करते हैं—'क्या किया जाय ? हमारे तो गवाह भी मुस्करा कर रह गए।' फिर युगल सरकार ने सखियों से पूछा—'आप ही बताइए, क्या किया जाय ?' जमानती के तौर पर स्थित सखियों ने कहा—'आप दोनों ने कोई चोरी नहीं की। बात यह है कि दूसरों के उत्कर्ष—अर्थात् कमलों की खिलावट को न सह कर आपकी किशोर-कान्ति ने यह सब कौतुक किया है।' अतः सखियों ने यह फैसला दिया कि अभियुक्त को अभियोगी की माँग स्वीकार कर लेनी चाहिए। यह पूछे जाने पर कि 'ये कमल आखिर चाहते क्या हैं ? सखियों ने कहा 'इन कमलों का कहना है कि हम इस योग्य तो हैं नहीं कि जो गुणों में हम से बड़ा है उससे हमारी उपमा दी जाय, फिर भी हमारी अभिलाषा यह अवश्य है कि हमारे उपमान मात्र बनने की सेवा को स्वीकार किया जाय। हम इतने मात्र से ही अपने को पूर्ण समझ लेंगे। दूसरे यह कि यदि सुवर्ण के कमल में भी इतनी योग्यता नहीं कि प्रिया के मुख की दासता उसे मिल जाय (देखिए, पद्य-१६०), तो सेवा के लिये हमारा प्रवेश तो हो ही कैसे सकता है ? तो हमारी इस प्रार्थना को सफल करिए। यह सुन प्रिया-प्रियतम दोनों मुस्कराये। सखियों की विश्वासपात्रता के बल पर उन्होंने अपनी चोरी स्वीकार की और 'तथास्तु'—यह वर दिया। इसी घटना की ओर संकेत कर सखियाँ उन्हें कौतुक से 'कान्तिचौर'

प्रवेशः सेवायामिति प्रार्थितं सफलीकुरुतमिति समभिलषामः। इति श्रुत्वा मिथः स्मितौ सख्यविश्रम्भेण चौर्यमङ्गीकृत्य तथास्त्वित्युक्तवन्तौ। तत एतत्संकेतेन 'कान्तिचौरम्' इति कौतुकेन सख्यो वदन्ति, इति रसार्थेनालंकारमपि गौणीकृत्य मुख्यतया स्वयं स्थितमिति तात्पर्यार्थः।

अत्रेन्दीवरसान्निध्यात् कनकेत्यस्य पीतकञ्जत्वमेव ग्राह्यम्। कनकशब्दोऽत्र भास्वरपीतवर्णसूचकः। एवं कौतुकेन केलिकलामिश्र परमानन्दं चकास्ति, सखि ! पश्य किमनिर्वचनीयं वर्तते, इति ॥१८६॥

एवमुभयप्रेमरससारैकविग्रहसमशीलकेल्यानुवर्ण्येदानीं किञ्चिदासज्यासक्तपक्षं विना सख्यविनोदजसन्तोषाभावात् तदेव प्रेमविषयाश्रयत्वं विवेचयन्ती साधारण्यशैथिलमाशास्ते—

यथोन्मीलत्केलीविलसितकटाक्षैककलया
कृतो वन्दी वृन्दाविपिनकलभेन्द्रो मदकलः।

रसकलश

कहती हैं। 'कान्तिचौरम्' इस पद में वस्तु से व्यतिरेक अलंकार की व्यंजना है, पर 'कान्तिचौर' कहने से जिस कोटि की रसानुभूति होती है, उसकी तुलना में व्यंग्य का चमत्कार गौण पड़ जाता है, यह तात्पर्य है।

'इन्दीवर' नीलकमल को कहते हैं, अतः उसके साहचर्य से 'कनक' का अर्थ चमकता हुआ पीला (सफेद) कमल लगाना चाहिये।

इस प्रकार कौतुक और केलि करता हुआ परमानन्दस्वरूप युगल विग्रह सुशोभित हो रहा है। सखि ! देखो, इसका सौन्दर्य कैसा निराला है ! ॥१८६॥

इस प्रकार प्रेम और रस के सारस्वरूप, एकदेह, समान स्वभाव और आचरण वाले श्रीराधा-कृष्ण की केलि आदि का वर्णन कर अब, आसज्य और आसक्त के संबन्ध में थोड़ी-सी पक्षपात-भावना रक्खे बिना सख्य-भाव के अनुकूल विनोद से प्राप्त होने वाला सन्तोष नहीं होता, अतः प्रेम के विषय और आश्रय संबन्ध का विवेचन करती हुई श्रीहितसखी यह आकांक्षा करती हैं कि श्रीराधा के संबन्ध में उनकी आस्था अन्य भक्तों की तरह सामान्य न हो—

केलियों के विविध विलासों की उद्भावना करने वाले अपने कटाक्षों की एक ही कला से जिसने श्रीवृन्दावन में विचरण करने वाले (श्रीकृष्ण रूपी) मस्त किशोर

जडीभूतः क्रीडामृगइव यदाज्ञालवकृते
कृती नः सा राधा शिथिलयतु साधारणगतिम् ॥
॥१८७॥

सा राधा न अस्माकं साधारणगतिं शिथिलयतु । 'सा' इति सर्वप्रेमास्पदस्यापि परमप्रेमास्पदा सेव्या चात्मत्स्वामिनीति निजपक्षपातविषयत्वरूप पूर्वार्थपरामर्शः । 'नः' इति साचिव्याभिमानत्वम् । 'साधारण' इति पूर्णप्रेमरसैकतत्वं याथार्थ्यंचापि जानीमः । अपि च यदास्वादः पक्षविनोदे, यन्न साधारण्ये । येषां प्रेमोल्लासवैचित्र्यानुभवो नास्ति ते तु केवलदास्यैकप्रीत्या सख्याभावाद्भेदभावभीत्या समत्वेनैव सेवन्ते । यदा च किञ्चिद्भेदप्राखर्यं हास्य कौतुकं च करिष्यामस्तदा दोष आपतेदिति तेषां तदेवास्तु, न सर्वानिवोपदिशामः । किञ्च समसख्योऽपि तु सन्त्येव । वयं तु न भेद-

---

रसकलश

गजराज को अपने वश में कर लिया है, जिसकी ज़रा-सी आज्ञा के लिए वह पुण्यशाली तमाशा करने वाले हरिण की तरह जड़ बन जाता है, वह श्रीराधा हमारी साधारण गति को शिथिल करें ॥१८७॥

वह श्रीराधा हमारी साधारण गति को शिथिल करें। 'सा' (वह) से यह सूचित किया है कि जो सबके प्रेम के लक्ष्य हैं उन श्रीकृष्ण के भी प्रेम का विषय हमारी स्वामिनी हैं और वे उसकी आराधना करते हैं। इससे श्रीहितसखी ने श्रीराधा के प्रति अपने उसी पक्षपात को फिर दुहराया है जिसका कि उल्लेख वे इससे पूर्व कर चुके हैं। 'नः' (हमारी) कहने से श्रीहितसखी का यह अभिमान प्रकट होता है कि वे प्रियाजी की अन्तरंग सखी और मंत्रिणी हैं। 'साधारण' कहने का अभिप्राय यह है कि हमें मालूम है कि युगलस्वरूप पूर्ण प्रेम-रस के अद्वय तत्व हैं और यथार्थ बात भी यही है, किन्तु जिस रस की अनुभूति पक्षपात-भावना को रखकर हास-परिहास करने में होती है, वह दोनों स्वरूपों के संबन्ध में समानता की भावना रखने में नहीं होती। जिन्हें प्रेम के उल्लास की विचित्रता का अनुभव नहीं है, वे तो केवल अनन्य हास्य-निष्ठा के साथ ही प्रीति करते हुए, बिना सख्यभाव के, दोनों में समान बुद्धि रखकर आराधना करते हैं, क्योंकि भेद-भावना से वे डरते हैं—सोचते हैं कि हमारी भेद-बुद्धि यदि ज़रा सी प्रखर हुई, या हमारी आराधना में परिहास या कौतुक का कोई अंश आगया, तो हम सेवापराध के भागी हो जायँगे। वे इसमें ही प्रसन्न रहें। हम भी सब को उपदेश देने नही निकले हैं। दूसरे, ऐसे भक्त भी मिलते हैं जो श्रीराधा और

भावाद्बिभेमः। किंच यादृगत्र स्वादस्तादृशस्यास्मद्हृदयमेव साक्षीति। अतो 'नः' अस्माकमिति निजोक्तशीलसजातीयसंग्रहोद्देशोक्तिः। अन्यथा चौरमिति कः स्वामिसम्मुखे ब्रूयादिति। अग्रे च वक्ष्यति—किं रे धूर्तप्रवर! इति। पुनश्च 'या वाराधयति' इत्यत्र 'संसिद्ध्यन्ति यदाश्रयेण हि परं गोविन्दसख्योत्सुकाः' इति। अत इदं सख्यमेव यदा न सिद्ध्येत्तदा स्वामिन्याश्रये को विशेषः अत एव वैलक्षण्यमुक्तमेव 'एकं काञ्चन' इत्यत्र। अतो अद्वैतत्वे रसास्वादवैचित्र्यानन्दार्थमेव, तस्मादेव 'शिथिलयतु' इत्युक्तं, न तु दूरीकरोत्विति। 'गतिम्' इति रीतिम्—क्रीडननवनवानन्दप्रवर्तन-साहाय्यनिजधर्मगमने साधारणतया गमनमिति। तच्छैथिल्ये विनोदवैचित्र्यं सिद्ध्येदित्याशंसनम्।

रसकलश

श्रीकृष्ण दोनों में समान सखाभाव रखते हैं (अथवा अपने आपको समान रूप से दोनों को सखी मानते हैं)। परन्तु हम तो भेद-भावना से डरने वाले नहीं हैं। दूसरे, जैसा स्वाद इस पक्षपात में हैं उसे तो हमारा हृदय ही जानता है। अतः 'नः' (हम लोगों की) यह कहा है, और ऐसा कहने से श्रीहितसखी का अभिप्राय उन सबसे है जिनके शील, व्यवहार और भावनायें उनके अपनी-जैसी हैं। यदि ऐसा नहीं है तो अपने आराध्य के सामने खड़ा होकर उन्हें भला 'चोर' कौन कहेगा? आगे भी (पद्य ९०) श्रीकृष्ण को 'धूर्तशिरोमणि' कह कर संबोधित किया गया है। फिर 'या वाराधयति'—इस पद्य (९७) में कहा है—'जो प्रौढ़ प्रेमोत्सवों द्वारा अपने श्रेष्ठ प्रियतम की आराधना करती हैं और जिसका आश्रय लेकर गोविन्द की सख्य भाव से सेवा करने के लिये उत्कंठित भक्त सफल होते हैं।' अतः जब यह सख्य-भाव ही नहीं प्राप्त होगा, तो स्वामिनी जी के आश्रय में जाने से लाभ ही क्या हुआ? इसीलिए 'एकं काञ्चन-चम्पकच्छवि परं नीलाम्बुदश्यामलम्' इस पद्य में प्रिया-प्रियतम की स्वभावगत विलक्षणता को बताया है। अतः अद्वैत तत्व में रस के विचित्र आस्वाद का आनन्द प्राप्त करने के लिये ही यह अभिलाषा प्रकट की गई है कि—हमारी साधारण गति को शिथिल करें। इसका अर्थ यह नहीं कि अद्वैत-भावना से दूर पटक दें। 'गति' का अर्थ है—रीति, प्रकार। हमारी द्वैत-भावना ही हमारा अपना धर्म है जो कि युगल की क्रीड़ाओं के नित्य नवीन आनन्द को जन्म देने में सहायता करता है। अपने इस धर्म के संबन्ध में साधारण बुद्धि नहीं होनी चाहिये। क्योंकि साधारणता की भावना के शिथिल हो जाने पर ही, जैसा कि अभीष्ट है, विचित्र-विचित्र विनोद संभव होंगे। यही अभिलाषा है।

नन्वेकतत्वे कथं तारतम्यमुत्पादयामीति, तत्र सख्येन । किं निजजनेषु गोपयसि, सर्वं विद्मः । यद्यपेक्ष्यते चेत् स्फुटमेव वदामः, इत्यनेन प्रियमपि साक्षितया श्रावयति । सा का इति यत्तदोः संबन्धः । यया उन्मीलन्त्युद्भवन्ति केलीनां विलसितानि, विविधविलासाः प्रियमनसि येभ्यस्तेषां कटाक्षानामेकया कलया छटया । 'विपिन' इति वनगजराजः । 'मद' इति महादानशौण्डोऽपि वन्दीति स्वायत्तः कृतो, वशीकृत इत्यर्थः । वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तय इत्यपि । यथेङ्गितज्ञतया चाटुकारपटुरिति । पुनश्च न केवलं वश्य एव । यस्यास्तव परमोत्कर्षाया आज्ञालवमात्रनिमित्तं क्रीडामृग इव जडीभूतः । यथा श्रीमुखान्निदेशो निस्सरति, तत्पूर्वं चिन्तित-

रसकलश

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि मैं (श्रीहितसखी) एक ही तत्व में तारतम्य क्यों कर पैदा कर सकती हूं, तो उत्तर है—सख्य भाव द्वारा । अब श्रीहितसखी समर्थन के लिए प्रियतम की ओर समर्थन की आशा से देखती हैं, मानो कह रही हों कि हम सखियाँ तो आपकी अपनी हैं; फिर हम से क्यों छुपाते हैं ? यदि चाहते हो, तो साफ-साफ कहती हैं । लो सुन लो । इस प्रकार प्रियतम को साक्षी बनाकर सुनाती हैं—'सा राधा' (वह श्रीराधा) । कैसी वह ? यत् और तत् का नित्य संबन्ध होता है, अतः 'सा के उत्तर में 'यया' का प्रयोग अवश्यंभावी था । 'उन्मीलितकेली विगलित कटाक्षैः' की व्याख्या करते हैं—जिन कटाक्षों से प्रियतम के मन में विविध विलास उत्पन्न होते हैं, उन कटाक्षों की केवल एक ही छटा से वृन्दावन में विचरने वाले मस्त हाथी को कैद कर लिया है । 'विपिन वनराज'—अर्थात् जंगली हाथी । 'मदकलः'—मद से सुन्दर दिखाई देने वाला । मद से गर्वीला । उसे भी वन्दी बना लिया, अपने अधीन कर लिया, वशीभूत कर लिया । 'वन्दी' शब्द अभिवादनार्थक 'वदि' धातु से निष्पन्न है जिसके अनुसार अर्थ होता है—अभिवादन, स्तुति करने वाला । सूत, मागध, बन्दी लोग राजाओं के गुण-गान किया करते हैं । उनकी बुद्धि अत्यन्त परिष्कृत होती है और वे अवसर देखकर बातें करते हैं । प्रस्तुत में 'श्रीकृष्ण को वन्दी बना रक्खा है । इसका तात्पर्य यह है कि बन्दियों की तरह वे प्रियाजी के हार्दिक आशय को जानते हैं, अतएव खुशामद करने में निपुण हैं । फिर न केवल वशवर्ती ही है, बल्कि परम उत्कर्ष से सुशोभित आपकी जरा-सी आज्ञा के लिये तमाशा करने वाले हरिण की तरह जड़ बने रहते हैं । श्रीमुख से ज्यों ही आज्ञा निकलती है उससे पूर्व ही—सोचते ही—उसका पालन कर देते हैं । उसी प्रकार जैसे मदारी के कहने के अनुसार हरिण नाचता है । यदि यह झूठ है, तो पूछ लो साक्षी से । यह सुनकर प्रियतम मुस्करा देते हैं और बीच-बीच में इस प्रकार हास्य-विनोद चलता रहता है । 'जडीभूत' का (च्वि प्रत्यय के अनुसार) अर्थ है कि प्रियतम वास्तव में जड़ नहीं हैं, पर अब हो गये हैं । अपनी बुद्धि

मात्रमेव करोति । यथा नर्तककथानुसारेण मृगो नृत्येत् तद्वत् इति । यद्य-सत्यं चेत् साक्षिणं पृच्छस्वेति मध्ये प्रियस्मितकौतुकमपि स्मरणीयम् । 'जडीभूत' इत्यनेन अजडोऽपि जड़ीभूत इति स्वबुद्धिपूर्वकं किञ्चिदपि न प्रयतते । केवलं तत्सुखपर एवायम् । तत्रापि नैतन्मात्र एव ।

किञ्च 'कृती' सर्वक्रियाकेलिविदग्धो येन कृतेन भवत्यपि प्रसीदेदिति । यद्वा कृतज्ञः । यच्छ्रीमत्या उपकृतं कन्दर्पशरमूर्च्छनसंजीवनादि, तत्सर्वं जानात्यतस्तदविस्मरणात् कृतयस्त्यस्मिन्निति विद्यमानार्थेनायातयामत्वं त्वत्कृतस्यास्मिंस्तिष्ठतीति । अनयोक्त्या प्रियस्यापि साहाय्यं कृतं यदेताद्-शोक्तशीले स्वायत्ते कदापि वाम्यं न कार्य्यम् । भवत्यपि कृतज्ञतयैव स्थित्यर्हेति ज्ञापयति । यद्वा कृती अद्भुतसुकृतवानिति । एषा त्वदायत्तता महाभाग्येन प्राप्ता । किं वर्ण्यते सुकृतयार्हमेति । न चेयं जडमृगवन्दि-शब्दोक्तिः कनिष्ठपदपरा । किञ्च प्रेमरसपत्तने विलक्षणरीतिरेव शोभते,

---

रसकलश

से तो कुछ करते ही नहीं; केवल प्रियतमा के सुख में सुखी रहते हैं । इतना ही नहीं, वे 'कृती' भी हैं—अर्थात् उन सब कार्यों और केलियों को, जिनसे आप प्रसन्न होती हैं, सुरुचि और कौशल के साथ करते हैं । अथवा 'कृती' का अर्थ है—कृतज्ञ । कामदेव के बाणों के आघात से मूर्छित प्रियतम को प्राण दान आदि जो-जो उपकार आपने किये हैं, उन सब को श्रीकृष्ण जानते हैं । उन्हें न भूलने के कारण वे आपके कृती हैं । 'जिसके सम्बन्ध में कुछ किया गया है' इस विग्रह के अनुसार यह अर्थ निकलता है कि जो कुछ उनके लिए किया जा चुका है उसकी स्मृति उनमें विद्यमान है । अर्थात् आपके एहसान इनमें ताजा हैं । ऐसा कहकर प्रियतम की भी सहायता की है कि जैसा कि उनके शील का वर्णन किया जा चुका है, उसे दृष्टि में रखते हुए और इसलिए कि वे प्रिया के वशवर्ती होकर रहते हैं उनसे कभी आपको प्रतिकूल नहीं होना चाहिये । आपको भी यह जानकर व्यवहार करना चाहिये कि प्रियतम कितने कृतज्ञ हैं । ये सब भाव 'कृती' शब्द द्वारा सूचित किये गये हैं । अथवा 'कृती' का अर्थ है—आश्चर्यजनक रूप से प्रणयशील । आपकी यह अधीनता प्रियतम को बड़े भाग्य से मिली है । उनके अपने प्रणय की महिमा का क्या बखान किया जाय ! श्रीकृष्ण के संबन्ध में जड़, मृग, बन्दी जैसे क्षुद्र शब्दों का प्रयोग अखरना नहीं चाहिये, क्योंकि प्रेम-रस के नगर में अद्भुत परंपरायें शोभा ही देती हैं । इसीलिए तो मैं (श्रीहितसखी) कहती हूँ कि मेरे साधारण भाव को ढीला करिये । कहा भी है—'श्रीराधा ने एक ग्वाले को अपना दास बनाकर अनुगृहीत किया ।' जयदेव नामक सखी ने भी कहा है—'दास की तरह खरीदे गये और

असाधारण्यात् । अत एवाहं ब्रुवे—साधारणत्वशैथिल्यं कुर्विति । यथा च गोवर्द्धनः दासेत्यनुग्रहो यत्रेति । यथा च जयदेवाख्यसख्या—'क्रीते दास इवोपसेवितपदाम्भोजे कुतः सम्भ्रमः' इति । कटाक्षप्रभावो यथात्रैव—'लीलापाङ्गतरङ्गितैरुदभवन्नैकेकशः कोटिशः कन्दर्पाः' इति । अत एव केलिविलसितोन्मीलकत्वम् । अस्य मदकला सर्वकलभेन्द्रत्वकैशोरसाररूपा, तव कटाक्षकलैकेति कियान् विशेषः । अथवा केलिसमये विलसितमात्रेणैव कटाक्षकला जाता, नतु कृतप्रयत्नतया । एतदप्यन्तरम् । 'विपिन' इति निरङ्कुशत्वम् । त्वं तु सलज्जा, अतः कलाधारिण्या किं काम्यकं कृतं, तन्न विद्मः । उच्यतां स्विद् किमस्ति तारतम्यमिति सख्यभङ्ग्यपि ज्ञेया ।

अथवान्यक्रमोऽपि । पूर्वोक्त कुञ्जनवरतिकलाकेलौ किञ्चिल्लौल्य-

रसकलश

चरण-कमलों की सेवा में निरत श्रीकृष्ण के संवन्ध में संकोच कैसा ?' *इसी स्तव में श्रीराधा के कटाक्षों के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है—'श्रीराधा के यौवन की देहली पर कदम रखते ही विलास भरी चितवनों की एक-एक तरंग से कोटि-कोटि कामदेव पैदा हो गये'। इसी दृष्टि से प्रस्तुत पद्य में कहा है—'उमगती हुई विलासपूर्ण केलियों के प्रसंग में किये गये कटाक्षों की एक-एक कला से श्रीराधा ने प्रियतम को बन्दी बना लिया है।' श्रीकृष्ण की गर्वीली कलायें समस्त हाथियों की किशोर-सुलभ रस का स्वरूप हैं, किन्तु आपकी तो एक ही कला उतनी ही प्रभावशालिनी है, यह कितना बड़ा अन्तर है ! अथवा केलि करते समय हाव-भाव मात्र से ही कटाक्ष-कला पैदा हो गई; उसके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा—यह भी एक अन्तर है। 'विपिन' शब्द से सूचित किया गया है कि उसमें विचरण करने वाला हाथी निरंकुश होता है। आप (श्रीराधा) तो लजीली हैं, अतः न मालूम आपने क्या जादू कर दिया कि (निरंकुश हाथी भी पालतू हो गया)। अब बताइए, कोई तारतम्य आप में और श्रीकृष्ण में है कि नहीं;— सखी के कहने का आशय यही है, यह ज्ञातव्य है।

अब, इस पद्य को दूसरे प्रसंग में घटित किया जा सकता है। पूर्व पद्य में कहा गया है कि युगल ज्योति कुंज-कुंज में नवीन रति-कला की उत्कंठा से केलि करती है।

*पूरा पद्य इस प्रकार है—

त्वां चित्तेन चिरं वहन्नयमति श्रान्तो भृशं तापित,
कन्दर्पेण च पातुमिच्छति सुधासम्बाधविम्बाधरम् ।
अस्याङ्कं तदलंकुरु क्षणमिह भ्रूक्षेपलक्ष्मीलव—
क्रीते दास इवोपसेवितपदांभोजे कुतः सम्भ्रमः ॥

श्री गीतगोविन्द सर्ग–११

साहसापरिहार्येण प्रियाया मानभङ्गी जाता। सप्रियसखीचाटुकारामनने हितसख्याह—एवं प्रियस्ते वशीभूतः, कथमस्य कृतं न मन्यसे। साधु, मादृशीनामन्तरङ्गाणां तु वाक्यं मन्यस्व, कथं साधारणं कुरुषे। यद्वा प्रिय-साहित्ये च 'न' इति बहुत्वं, तेन सामान्यद्योतकम्। अथ भवत्यापि तु कटाक्षैककलया पूर्वं निरङ्कुशोऽपि साङ्कुशीकृतो, नास्य दोषः। अत एव-मसाधारणकर्मणि कथं साधारण्यमहम्? कथममुपेक्षसे, इति भावः।

अथ मुक्तकपक्षे साधकसंग्रहार्थे यदेवमीदृगसाधारणप्रभावा मत्स्वामि-नी स्वीयानां नस्तदनन्यशरणानां साधारणगतिं शिथिलयतु। तावत्तु त्वत्प्रभावान्नास्त्येव साधारण्यं, परन्तु कदाचित् स्यादिति। 'साधारणम्' माहात्म्यज्ञानिभक्तभक्तिवर्तनम्। 'गतिम्' इति यथात्रैव वाञ्छितम् 'लिखन्ति भुजमूलयोः' इति, 'कैशोराद्भुत' इति। एवं त्वच्चरणप्रेमातिशय-

---

रसकलश

उक्त केलि के प्रसंग में यह हुआ कि प्रियतम ने कुछ चंचलता और साहस कर डाला, जो कि स्वाभाविक है। बस, प्रियाजी इस पर मान करके बैठ गई। साथ की प्रिय सखियों ने बहुत समझाया, पर उन्होंने एक न मानी। तब श्रीहितसखी कहती हैं—अब प्रियतम तुम्हारे इतने वश में हैं तो फिर इनकी बात क्यों नहीं 'मानती'? अच्छा, उनकी न मानो, तो मुझ-जैसी अन्तरंगा सखियों का कहना मानो। मुझे इतना साधारण क्यों समझती हो? अथवा प्रेम-साहित्य में 'नः' (हमारा)—यह बहुवचनान्त प्रयोग सामान्यता का सूचक है। फिर, आपने भी तो कटाक्ष की एक ही कला से जो निरंकुश था उसे अंकुश का अभ्यासी बना दिया। तो अब उन प्रियतम का क्या अपराध है? अतः जब आपने ऐसा असाधारण काम कर दिखाया, तो अब साधारण व्यवहार कहाँ तक उचित है? अर्थात् प्रियतम की उपेक्षा आप क्यों करती हैं?

पद्य को यदि फुटकर माना जाय, तो साधकों के हित में यह अर्थ होगा—मेरी स्वामिनी का जब ऐसा असाधारण प्रभाव है, तो वे निज जनों की—जिनकी उनके सिवाय और कोई गति नहीं—साधारण गति को शिथिल करें। वैसे तो आपके प्रभाव के कारण हमारी भावनाओं में कोई साधारणता नहीं, पर कदाचित् आ जाय। यहाँ 'साधारण' का अर्थ होगा—आराध्य के महात्म्य को जानकर भक्त का भक्ति में प्रवृत्त होना। 'गति' से जो अभिप्राय है उसका विवरण 'लिखन्ति भुजमूलयोः' (८१) तथा 'कैशोराद्भुत' (८०) में किया गया है। (इन पद्यों के अनुसार मुद्राचिन्ह धारण करना, तिलक लगाना, तुलसी-माला धारण करना, भगवद्धर्म तथा विशिष्ट अर्चा-पद्धति में ही आस्था रखना, आदि साधारण गतियाँ हैं—अर्थात् वे प्रपंच हैं जो साधारणतया भक्तों में पाये जाते हैं।) अतः आपके चरणों में अतिशय प्रेम के कारण

वशत सर्वं विलक्षणमेवास्तु। त्वादृशसमर्थशरणानां न साधारण्यमर्हमिति। अत्र यत्र तत्र दैन्योक्तिर्जिज्ञासुमुखवादनरूपा। यथा—'प्रचेतः प्रार्थनी-योक्तिं शिवं स्वास्यादुपादिशत्।' जिज्ञास्वर्थं निजदैन्यं श्रीहितस्तथोक्तवा-निति दिक् ॥१८७॥

इत्येवं विज्ञप्तिश्रुतद्रुताकूतां किञ्चिद् ज्ञात्वा तत्तदनुभावं प्रस्तु-वन्त्याह—

श्रीगोपेन्द्रकुमारमोहनमहाविद्ये स्फुरन्माधुरी-
सारस्फाररसाम्बुराशि सहजप्रस्यन्दिनेत्राञ्चले।
कारुण्यार्द्रकटाक्षभङ्गिमधुरस्मेराननांभोरुहे
हा हा स्वामिनि राधिके मयि कृपादृष्टिं मनाङ्निक्षिप
॥१८८॥

रसकलश

सब कुछ विलक्षण ही होना चाहिये। आप-जैसे समर्थ इष्ट जिनके रक्षक हैं उन्हें साधारण होना उचित नहीं है। यहाँ, जहाँ, तहाँ श्रीहितसखी के मुख से दीनता भरी उक्तियाँ जो कहीं गई हैं, उनके संबन्ध में यह समझना चाहिए कि श्रीहितसखी यह चाहती हैं कि जिज्ञासु लोग ऐसी ही बातें कहें। जैसे कि 'वरुण ने अपने मुख से कह कर शिवजी को यह बताया कि आराध्य को क्या कहना चाहिए।" इसी प्रकार श्रीहितसखी ने जिज्ञासु को सिखाने के लिए अपनी दैन्य-भरी बातें कही हैं, (अन्यथा बराबरी का दावा रखनेवाली अन्तरंगा सखी को गिड़गिड़ाने की क्या जरूरत है)। ॥१८७॥

इस प्रकार की प्रार्थना को सुन कर श्रीराधा की भाव-भंगी से ऐसा लगा कि वे कुछ पिघल गई हैं। यह देखकर श्रीहितसखी उनके विविध अनुभावों (कटाक्ष, स्मित आदि) का वर्णन करती हैं—

श्रीनन्दनन्दन को मोहने की विद्या जिनके पास है, जिनके नेत्रों की कोरों से उमगती हुई महामाधुरी के सार का उछलता हुआ रस-समुद्र स्वतः ही झर-झर कर प्रवाहित होता रहता है, जिनका मुख-कमल करुणा से भीगे कटाक्षों की भंगिमाओं के साथ मधुर-मधुर मुस्कराता रहता है, ऐसी हे स्वामिनि राधिके! मुझ पर थोड़ी-सी कृपादृष्टि तो करिए। मैं महान् कष्ट में हूँ ॥१८८॥

प्रथमार्थे तारतम्यं वर्णयन्ती संबोधयति। 'सत्यं ब्रवीषि, धर्मज्ञे!' इति सस्मिताङ्गीकृतिभङ्गिकं साक्षिणं साञ्जलि प्रियानिरीक्षकं प्रियं दृष्ट्वाह—हे गोपेन्द्रकुमारस्य मोहनरूपमहाविद्ये! अन्यथा गजेन्द्रः कटाक्षकलाल्पतन्तुना क्व बध्यते? 'गोपेन्द्र' इत्यनेन स्नुषायां त्वयि श्रीमन्नन्दस्य पुत्रादपि कियत् वात्सल्यं निस्सीमं वर्तते। तस्य कुमारो विश्रुतप्रभावः कन्दर्पकोटिलावण्येति ख्यातः। तस्यापि रूपगर्वितस्य मदकलां निरस्य मोहनं कृतम्। अतो विद्यास्तु प्रसिद्धाः सर्वा मया दृष्टचराएव। तत्र तु नैष मंत्रः। अतः काचिद्विलक्षणलोकातीता महती विद्येवावतीर्णा किमिति। अत्र विद्या तु सर्वमोहनास्यस्मिन्नस्ति। त्वं तु तन्मोहनान्महतीति तारतम्यं, इत्यधीनत्वं तादात्विकं दृष्ट्वोक्तम्।

रसकशल

इस पद्य के दो अर्थों में से प्रथम अर्थ के अनुसार श्रीराधाकृष्ण की पारस्परिक तुलना करती हुई श्रीहितसखी संबोधन करती हैं—'श्रीगोपेन्द्रकुमारमोहनमहाविद्ये!' पूर्व पद्य में प्रियाजी के एक ही कटाक्ष द्वारा श्रीकृष्णरूपी मत्त गजराज को बन्दी बनाने की बात कही जा चुकी है। श्रीहितसखी ने देखा कि प्रियतम हाथ जोड़ कर प्रियाजी को निहार रहे हैं, मानो मुस्कराकर श्रीहितसखी से कह रहे हों कि रस-मार्ग की मर्मज्ञ होने के कारण आप ठीक ही कहती हैं, मैं आपके कथन से सहमत हूँ और साक्षी के रूप में स्वीकार करता हूँ कि आपका कहना सर्वथा सत्य है। तो प्रियतम को इस अवस्था में देखकर श्रीहितसखी उपर्युक्त संबोधन करती हैं। अर्थ यह है—हे श्रीराधे! आपके पास गोपों के स्वामी श्रीनन्द के कुमार को मोहित करने की महाविद्या है; नहीं तो, सोचिये, कटाक्ष-कला के एक पतले-से धागे से कहीं मत्त गजेन्द्र को बाँधा जाता है? 'गोपेन्द्र' कहने का अभिप्राय यह है कि आप ब्रज के राजा श्रीमान् नन्द की पुत्र-वधू हैं, अतः उनका आप में पुत्र से भी अधिक असीम स्नेह है। उन श्रीनन्द के कुमार का प्रभाव जगत्-प्रसिद्ध है। सब जानते हैं कि उनमें कोटि-कोटि कामदेवों का सौन्दर्य है। आपने अपने रूप के अभिमानी उन श्रीकृष्ण के गर्व को दूर कर उन्हें मोह लिया है। जितनी भी एतत्संबन्धी विद्याएँ प्रसिद्ध हैं, उन सब का मैंने अध्ययन किया है, पर वहाँ ऐसा तो कोई मंत्र नहीं मिला। अतः आप एक विलक्षण और अलौकिक महाविद्या के रूप में यहाँ अवतीर्ण हुई हैं। सब को मोहित करने वाली विद्या तो श्रीकृष्ण के पास भी है, किन्तु उनको भी मोह लेने के कारण आप तो 'महती विद्या' हैं। यही अन्तर है। श्रीकृष्ण की उस समय की वशवर्तिता को देख कर श्रीहितसखी ने प्रिया जी को 'मोहनमहाविद्ये' कहा है।

पुनर्नेत्राञ्चलकूणनेन किमायत्तक्रियोऽयमिति प्रियप्रेक्षिणीं तदनुगतरस-सिन्धूज्जृम्भणं च दृष्ट्वाह—स्फुरन्त्या माधुर्याः प्रियताया यः सारः परम-माधुर्यं, तस्य स्फारो वृद्धिः कल्लोलितं यत्र, तादृशो रससिन्धुस्तं सहज-मञ्जसा प्रस्यन्दयितुं शीले नेत्राञ्चले यस्याः। अर्थात् भवत्या अपि रसो-ज्जृम्भो दृश्यते, इति। अस्मिन् माधुरीवर्षणं त्वयि सार इति। अस्मिन् प्रयत्नजरसस्रवो, भवत्यां सहज, इति तारतम्यम्।

तदा यथोक्तायत्ततादर्शनद्रुतां दृष्ट्वा—'हे कारुण्यार्द्रकटाक्षभङ्गि'। 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ कटाक्षोपाङ्गदर्शने' इत्यमरः। अञ्चलशब्देनापाङ्गः। तत्र तु कर्णान्तविशालदर्शनेन द्रष्टुर्हृदि रससिन्धुमेव श्रावयति सहजोक्तेः। कटाक्षो नेत्रत्रिभागवीक्षणं बुद्धिपूर्वकं भवति। तत्तु यत्र कारुण्यं तत्रैव प्रेक्षणं स्यादिति विवेकः। तदा तत्कथनसाहसपारवश्यजप्रियदिक् स्मितां

रसकलश

फिर यह देख कर कि प्रियाजी तिरछी चितवन से प्रियतम की ओर यह जानने को देख रही हैं कि क्या इनके आचरण वास्तव में किसी अधीन जन जैसे हैं, और उसके बाद ही प्रियाजी में रस-समुद्र को उलहता हुआ देख कर कहती हैं—'स्फुरन् माधुरी····· नेत्राञ्चले उमगती हुई माधुरी अर्थात् प्रियता की जो सार हैं, अर्थात् परम माधुर्य, उसकी तरंगें जहाँ उठ रही हों ऐसे रस-समुद्र को प्रियाजी के नेत्रों के अंचल (कोर) सहजभाव से प्रवहणशील बना देते हैं। अर्थात् रस की उमंग आप (प्रियाजी) में भी उठती हुई दिखती हैं। अथवा आपके नेत्रांचल अपने उमड़ते हुए परम माधुर्य (माधुरी-सार) से प्रियतम के हृदय में रस का समुद्र बहा देते हैं। प्रियतम में माधुरी का बरसाना आप में सार है। श्रीकृष्ण में तो चेष्टा करने से ही रस का उद्गम होता है, किन्तु आपकी तो वह सहज वृत्ति है — यह तारतम्य है।

तब प्रियतम की उक्त प्रकार की अधीनता को देखकर प्रियाजी को द्रवित देख कर श्रीहितसखी कहती हैं—'कारुण्यार्द्रकटाक्षभङ्गि।' अमरकोष में कहा है—'नेत्रों के छोरों को अपांग कहते हैं और नेत्रों के कोण भागों से देखना कटाक्ष कहलाता है।' 'अंचल' शब्द का अर्थ यहाँ अपांग है। कानों तक विस्तृत इन अपांगों को देख कर देखने वाले के हृदय में रस का समुद्र बरवस उमड़ आता है—इस अर्थ में अपाँगों को 'सहज' कहा गया है। किन्तु कटाक्ष चीज इससे भिन्न है। सोच-विचार कर नेत्र के तीन भागों से देखने को 'कटाक्ष मारना' कहते हैं। प्रियाजी उधर ही कटाक्ष करेंगी जिधर उन्हें करुणा करनी हो। अपांग और कटाक्ष का यही अन्तर ज्ञातव्य है। श्रीहितसखी ने साहस के साथ करुणापूर्ण कटाक्ष करने की बात जो कही तो प्रियाजी

दृष्ट्वाह—मधुरस्मेरमाननकमलं यस्याः। एवमुक्तकारिणि मम स्वामिनि राधिके ! कथं दासीप्रेक्षणं न कुरुषे, इति। 'हा ! हा !' इति कष्टानुकरणकौतुके। मयि कृपादृष्टि मनागीषन्निक्षिप। स्मितकारुण्य प्रेक्षणं तु साधु प्रियदिश्येवास्तु, परन्तु ईषन्निक्षेपमात्रं तु मय्यपि कुरु, इति सख्यकौतुकम्। अर्थात् पूर्वं प्रियदिशि मनाङ्निक्षेपो नासीत्, इदानीमेव किं जातम् ? अस्मासु तन्नास्तीति।

द्वितीयेऽर्थे मानमोचनार्थं स्पष्टमेव। गोपेन्द्रेति, कुमारेति दयोत्पादनार्थं, रसाम्बुराशीति एवं सम्पद्वत्या एतत्कार्पण्यमर्हम् ? कारुण्येत्यनेन तादृशकरुणापराया एवं निर्घृणत्वम् ! 'स्मेर' इत्यनेन सहजस्मिते ! कथमिदानीं न स्मयसे ? अतो हा ! हा ! मय्येव मनाग् दृष्टिनिक्षेपं कुरु, इति।

रसकलश

परवश-सी होकर प्रियतम की ओर देख कर मुस्कराई। इस पर श्रीहितसखी कहती हैं—मधुरस्मेराननाम्भोरु हे।' मधुर भाव से मुस्कराते हुए मुख-कमल से युक्त। इस प्रकार मुस्करानेवाली हे स्वामिनी राधिके ! दासी की ओर आप क्यों नहीं देखतीं ? 'हा हा' यह शब्द उस समय मुंह से निकलता है जबकि कोई महान् कष्ट आ पड़ा हो। ऐसे ही कष्ट का अनुभव मैं कर रही हूँ। तो मुझ पर थोड़ी-सी कृपादृष्टि कीजिये ना ! मुस्कराते हुए आप प्रियतम की ओर भले ही देखें, परन्तु एक हलकी-सी नजर इधर भी डालिये। यह सब श्रीहितसखी ने सखी-भाव के चाव से कहा। अर्थात् इससे पहले तो प्रियतम की तरफ नजर भी नहीं डाली थी, अभी-अभी अचानक यह क्या हो गया कि उधर की तरफ तो मुस्करा रही हैं, कृपापूर्वक देख भी रही हैं, और इधर हमें एक चलती-फिरती नजर के भी लाले पड़ गये हैं।

दूसरा अर्थ मान के प्रसंग में घटेगा। प्रियाजी का मान छुड़ाने के लिए श्रीहितसखी श्रीकृष्ण को 'गोपेन्द्र' और 'कुमार' शब्दों द्वारा अभिहित करती हैं। ताकि उनके हृदय में दया की भावना पैदा हो जाय। 'रस का समुद्र' बता कर यह जताना चाहती हैं आप इतनी संपत्तिशालिनी हैं, फिर भी यह कृपणता ! 'कारुण्य' शब्द से यह सूचित करती हैं कि एक ओर तो आप इतनी दयालु हैं, और दूसरी ओर इतनी निर्दय ! 'स्मेर' का गूढ़ अर्थ यह है कि मुस्कराते रहना आपका स्वभाव है, फिर अब क्यों नहीं मुस्करातीं ? अतः हा हा! थोड़ा-सा दृष्टिपात मुझ पर ही करिये।

अत्र प्रियाधिक्यवर्णनपर्यवसानं प्रथमार्थसम्बन्धः। आधिक्यवर्णनेन कृपाद्रावणं,वाम्यमोचनं द्वितीयार्थसम्बन्धः, इत्येव भेदः। मुक्तकपक्षः साधक-संग्रहः स्पष्ट एव ॥१८८॥

प्रथमार्थे पूर्वं साधारण्यशैथिल्यकृपादृष्टिनिक्षेपाशंसनमुपक्षिप्तम्। ततो नावयोस्तारतम्यमितिभङ्ग्यादि प्रेयसा मिलिता द्रुता च। यदि त्वम-पेक्षसे चेद्वितरामीति भङ्ग्या मनाग् दृष्टिं स्मित्वा निहितवती, पश्यामि कीदृक् सख्यकौतुकं कुर्यादित्यौत्सुक्येन। तत उक्तमहाविद्याप्रभावेणैव सख्यवक्रोक्तिभङ्ग्यस्फुरत्। तामेव वक्ति। इत्यर्थश्रृङ्खलायां तत्र प्रियसङ्गजद्रवत्यक्तलज्जावाम्यशीलां नियतां ज्ञात्वापि तत्तत्प्रियानुसृतमार्गा-नुगमनं लवमप्यपरित्यजन्तं प्रियं प्रत्याक्षेपभङ्गीकौतुकवर्द्धनार्थमाह—

रसकलश

यहाँ प्रथम अर्थ का उद्देश्य तुलना की दृष्टि से प्रियाजी की महत्ता का निर्देश करना है। दूसरे अर्थ का संबन्ध प्रियाजी का उत्कर्ष दिखाकर उन्हें कृपा से पिघलाना और उनकी प्रतिकूलता को दूर करना है। मुक्तक पक्ष में साधकों के कल्याण का उद्देश्य स्पष्ट ही है ॥१८८॥

इससे पूर्व के पद्य (१८७) के प्रथम अर्थ के अनुसार साधारण भाव की शिथि-लता और (पद्य १८८ में) कृपा-दृष्टि डालने की प्रार्थना की थी। उसके उपरान्त (पद्य १८९ में) यह जताते हुए कि हम दोनों में कोई तारतम्य नहीं है, श्रीराधा प्रियतम से मिलीं और द्रवित हो गईं। फिर श्री हितसखी से मानों यह कहती हुई कि यदि तुम चाहती हो, तो कृपा-दृष्टि प्रदान करती हूँ, प्रियाजी ने मुस्कराते हुए उत्कंठापूर्वक हलका-सा दृष्टिपात किया। प्रियाजी का हार्दिक आशय यह था कि देखें सखी सख्य-भाव के अनुकूल अब क्या क्या कौतुक रचती है। तव पूर्व पद्य (१८०) में वर्णित महाविद्या के प्रभाव से ही श्रीहितसखी के हृदय में, सखी होने के नाते, वक्रोक्ति का एक ढंग (प्रकार) स्फुरित हुआ जिसे कि प्रस्तुत पद्य में शब्दबद्ध किया गया है। पूर्व वर्णनों के अनुसार भावों की जो श्रृंखला चल रही है, उसकी आगे की कड़ी यह है कि प्रियतम के संगम के परिणामस्वरूप प्रियाजी द्रवित हो गईं और निश्चित रूप से उनकी सहज लज्जा और वामता दूर हो गई। यह जानते हुए भी जिन मार्गों से प्रियाजी जा रही थीं उन्हीं पर पीछे-पीछे चलते हुए और क्षण भर के लिए भी वहाँ से न हटते हुए प्रियतम को देख कर श्रीहितसखी कौतुक बढ़ाने के लिये प्रियतम पर आक्षेप करती हुई कहती हैं—

किं रे धूर्त्तप्रवर निकटं यासि नः प्राणसख्या
नूनं बाला कुचतटकरस्पर्शमात्राद्विमुह्येत् ।
इत्थं राधे पथि-पथि रसान्नागरं तेऽनुलग्नं
क्षिप्त्वा भङ्ग्या हृदयमुभयोः कर्हि सम्मोहयिष्ये
॥१६०॥

'रे' इति नीचसम्बोधनम्, तत्कृपादृष्टिजपूर्णसख्यावेशवैह्वल्योक्तिः सहृदयगम्या । धूर्तेषु प्रवर ! श्रेष्ठ ! किं प्रतारणं कृतं चेत् तत्र स्वैश्वर्य-विस्मृतिपूर्वकमनोऽनुकूलेङ्गितानुसरणविद्ययास्मद् धनं संभुनक्षि । तत एव त्वयि कश्चिन्मादकताविशेषोऽस्ति । त्वद्दर्शनमात्रवैकल्येनास्माकं सख्यमेव स्फुरेदतः श्रेष्ठधत्तूर इति नामान्तरश्लेषः । तदेव परिभाषितम्—'धूर्तेति कितवेत्यत्र वाम्यसख्यैकपोषकः' इति ।

रसकलश

'रे धूर्तशिरोमणि ! हमारी प्राणसखी के निकट क्यों जाते हो ? निश्चय ही वह बाला है और हाथ से स्तनों को छूने मात्र से ही घबड़ा जायगी । हे श्रीराधे ! प्रत्येक मार्ग में, रस के कारण, तुम्हारे पीछे लगे हुए श्रीकृष्ण की इस प्रकार प्रताड़ना कर मैं दोनों के हृदयों को कब मोहित करूँगी ? ॥१६०॥

'किं रे धूर्त ! में 'रे' यह संबोधन तिरस्कारपूर्ण है और यह उक्ति इस आवेश में की गई है कि प्रियाजी की मुझ पर पूर्ण कृपादृष्टि है और मैं उनकी सखी हूँ । इस प्रकार की भावना को सहृदय ही समझ सकते हैं । तुम धूर्तों में श्रेष्ठ हो, तभी तो ऐसी ठगई का जाल फैलाया है कि अपने ऐश्वर्य को भूलकर, प्रियाजी के हार्दिक आशय का आभास मात्र पाकर तदनुसार कार्य करने की कला से हमारे धन का उपभोग कर रहे हो । इसीलिये तुम में एक विशेष प्रकार की मादकता आ गई है जिसकी खूबी यह है कि तुम्हारे देखने भर से हम सखियाँ विकल हो जाती हैं और तुम्हारे प्रति हमारी सख्य भावना उमड़ पड़ती है । अतः तुम श्रेष्ठ धतूरा हो । ('धूर्त' शब्द श्लेष द्वारा यह अर्थ निकाला गया है) । परिभाषा-प्रकरण में कहा है—'धूर्त', 'कितव' आदि संबोधनों से रसमार्ग में वामता और सख्य भाव का ही पोषण होता है ।' यह भी कहा है —'जब मन अभिलाष के समुद्र में तरंगायित हो रहा हो, तो 'क्यों रे धूर्त !' इस संबोधन से श्रीहितसखी दोनों के मन में मादकता का ही संचार कराती हैं ।' 'धूर्त' कहने का

पुनश्च 'यदाभिलाषवैचित्रीसिन्धुकल्लोलितं मनः, किं रे धूर्तेति सरसं मादयन्तीद्वयोर्मनः' इति।

आन्तरेऽर्थे परममोहन इति। 'नः' इति पूर्णममत्वोक्ति। 'प्राणसख्याः' इत्यनेन स्वस्य परमान्तरङ्गत्वं नित्यसम्बन्धश्च द्योतितः। 'किं निकटं यासि,' अस्मानपृष्ट्वैवेत्यर्थः। इयं बाला मुग्धा कुचतटे करस्पर्शमात्राद्विमुह्येत्। वा किमपूर्वं जातमिति भ्रमं प्राप्नुयात् इति। अत्र पुलकमण्डितां प्रियां प्रत्यपि प्राखर्येण ज्ञातं भवन्मौग्ध्यमिति कटाक्षः, प्रियं प्रति तत्स्पर्शानन्दस्मारकत्वमान्तरङ्गोऽर्थः। अन्यच्चास्मद्दत्तमेवार्थं चाटुफलं प्राप्तवानसि, कृतं मा विस्मर चेति भावं 'नः प्राण' इति सूचयति। अत एव 'किं रे ?' इति स्वविश्रब्धरक्षकत्ववाक्प्राखर्यं चापि।

इत्थंप्रकारकथा भङ्ग्या वक्रोक्त्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिमय्या वा पथि पथि ते त्वामनुलग्नमिति यद्यन्मार्गं भवती गृह्णीयाद्वाम्यं वानुकूल्यं

रसकलश

आन्तरिक आशय यह है कि तुम अत्यन्त मोहक हो। 'नः' (हमारी) कहने से श्रीहितसखी की पूर्ण ममता प्रकट होती है और 'प्राणसखी' कहने का आन्तरिक अभिप्राय यह है कि मैं प्रियाजी की परम अन्तरंगा सखी हूँ और मेरा उनसे स्थायी संबन्ध है। तो रे धूर्तशिरोमणे ! तुम हमारी सखी के पास क्यों जाते हो ?—अर्थात् हम से बिना पूछे ही। क्या उसे भी मोहित करने का इरादा है ? तब तो दूर ही रहो। श्रीराधा अभी बाला हैं, भोली-भाली हैं। बहुत संभव है कि कुचों को छूते ही वे घबड़ा जायँ; दूषित हो जायँ, अथवा इस चक्कर में पड़ जायँ कि यह हुआ तो क्या हुआ ? श्रीहितसखी का कटाक्ष यह है कि तुम्हारे साथ मिलन के आनन्द में सराबोर होकर प्रियाजी तो पहले ही रोमांचित थीं, फिर भी (सुरत के प्रसंग में) तुमने उनके साथ कठोरता बरती, तो तुम हो निरे बुद्धू ही। श्रीहितसखी प्रकारान्तर से प्रियतम को उस आनन्द की याद दिवाना चाहती हैं जो प्रियाजी के श्रीअंगों को स्पर्श कर उन्हें हुआ है। दूसरे यह कि हम सखियों ने मिन्नत करके प्रियाजी को तुम्हारे अनुकूल किया और इस प्रकार हमारे द्वारा दिये गए फल को तुमने खाया है। हमारे इस अहसान को भूल न जाना—यह भाव 'नः प्राणसख्याः' से सूचित होता है। इसीलिये 'किं रे !' यह तीखा संबोधन किया है। श्रीहितसखी इससे यह जताना चाहती हैं कि हम सखियाँ प्रियाजी की विश्वासपात्र हैं और उनकी रक्षा करना हमारा उत्तरदायित्व है।

इस प्रकार की वक्रोक्ति के द्वारा अथवा वाच्य (संकेतित अर्थ) को दबा कर उभरनेवाली व्यंजना द्वारा डगर-डगर में तुम्हारा पीछा करने वाले (विदग्ध श्रीकृष्ण

वा तत्तदनुसृतमप्रमत्तमत एव 'नागरम्' येन केन प्रकारेण निजकार्यं प्रसाधयेदिति कटाक्षः। 'रसात्' अत्यन्तास्वादेन मद्धृदयसाक्षिकादेवेत्यर्थः। 'क्षिप्त्वा', 'किं रे !' इत्युक्तप्रकारेण तिरस्कृत्य उभयोरेव हृदयं संमोहयिष्ये। न केवलं भवत्या एव, न च तस्येति किञ्च नागरत्वात्तादृशाक्षेपवाक्यमाधुर्यास्वादं स एव जानाति नान्यः। यथा—

नाथेति परुषवाक् प्रियेति साधारणं दासेत्यनुग्रहो यत्र।
तद्दाम्पत्यमतोऽन्यन्नारी रज्जुः पशुः पुरुषः॥इति॥

त्वमपि प्राणसख्यविश्रम्भान्मदन्तरं यदास्वादजनकं तज्जानासीति। तत्र संमोहनं किञ्चित् सहृदयवेद्यं ज्ञेयम्। पश्य प्रिये ! किमेतद्वाक्यरसो मद्धृदयं विलोडयति, द्रुततरं करोति। आक्षेपापदेशेन स्नेहदार्ढ्यं, मदानुकूल्यतत्सुखित्वत्वत्प्रसादास्पदतादि च व्यनक्ति। तव मौग्ध्यापदेशेन वैदग्ध्यं कृपाश्रयतासज्यत्वादि चेति स्वस्य परमान्तरङ्गित्वं चेत्यादि। किमस्या वैदग्ध्यं ब्रवीमीति प्रिय उच्यमाने मदुक्ति भवानेवाब्रवीदेवमेव, किमहं वच्मीति प्रियाप्युवाचेत्यादि संमोहनमिति दिक्।

रसकलश

को फटकार लगाकर दोनों के मन को कब मोहित करूँगी ?) 'अनुलग्नम्' (पीछे लगे हुए) की व्याख्या यह है कि जिस जिस रास्ते को आप पकड़ें—उलटा या सीधा—उसी का अनुसरण करते हैं। श्रीकृष्ण को 'नागर' कहने में यह कटाक्ष है कि श्रीराधा के लिये पागल रहने पर भी चतुर इतने हैं कि सावधान रह कर, जैसे बने तैसे, अपना मतलब गाँठ लेते हैं। 'रसात्' (रस से) का अर्थ यह है कि प्रियाजी के पीछे लगने में उन्हें बड़ा रस मिलता है जिसका कि साक्षी मेरा हृदय ही है। तो ऐसे नागर को 'क्षिप्त्वा', प्रताड़ित कर, तिरस्कार कर दोनों के ही हृदयों को कब मोहित करूँगी ? न केवल आपके ही, न केवल उनके ही (बल्कि दोनों के)। दूसरे यह कि नागर होने के कारण इस प्रतारणा के माधुर्य के आस्वाद को वे ही जानते हैं, दूसरा नहीं। कहा भी है—

पति को यदि 'नाथ' कह कर संबोधित किया जाय, तो इस शब्द में एक प्रकार की कठोरता है, 'प्रिय' कहने में साधारणता है, और 'दास' कहने से अनुग्रह का बोध होता है। जहाँ ऐसी भावनायें हैं, वहीं सच्चा दांपत्य है, नहीं तो यही कहना पड़ेगा कि नारी रस्सी है और पुरुष पशु है।'

अब प्रियाजी श्रीहितसखी से कहती हैं। मेरी प्राणप्यारी सखी और विश्वासपात्र होने के कारण तुम भी यह जानती हो कि मेरे हृदय को क्या अच्छा लगता है।

द्वितीयमानशृंखलायां तत्प्रार्थनकृपादृष्टयङ्गीकारभङ्ग्या मिलितां प्रेयःपार्श्वे सपुलकां तदिङ्गितमार्गानुसृतं तादात्विक चंचलकरशालिनं च प्रियं दृष्ट्वापूर्वमानप्रयत्नविवादहठं हृदि निधाय प्रियां श्रावयन्ती प्रियमधिक्षिपति—'किं रे धूर्त !' इति । किञ्च सेवकनिर्दोषेऽपि प्रभुप्रत्यक्षं तदाक्षेप एवानुग्रहकारी । तेन सोऽपि साचिव्येन परमं प्रसीदेत्, तथा स्तुत्या न चेति । सापि स्ववाम्यशीलं मनस्येव स्तुत्यपदेशेन जानीयात्, ततोऽर्थिनं निर्दोषं प्रति कृपामेव कुर्यादिति साचिव्यवेद्यो धर्मः । प्रियाविषयिककटाक्षः पूर्ववत् । पूर्वं मानसमये कथं लौल्याद्बिभेषि, कथमधुनैवास्मदुद्घोषितास्वादः प्राप्तः ? क्वगतं वाम्यम् ? किञ्चिदुक्तं सत्यं जातम् । अस्माभिस्तु पूर्वमेवोक्तं यदयं त्वन्मार्गानुकूल एव, त्वत्सुखपरोऽत एव तवापि परमानन्दपुलकदर्शनम् । ततः स्वजनानामपि किञ्चिद्वाक्यं माननीयमद्य प्रभृतीति ज्ञातव्यम्—इत्यान्तरार्थव्यञ्जनम् ?

रसकलश

(अर्थात् 'धूर्त' कहना यदि नागर प्रिय को अच्छा लगता है, तो मुझे भी) । इस प्रकार के संमोहन को सहृदय ही जान सकते हैं । (अब प्रियतम अपनी बात कहते हैं) देखो प्रिये ! श्रीहितसखी की यह फटकार मेरे हृदय को भी किस प्रकार मथे डालती है, उसमें हलचल पैदा कर देती है ! आक्षेप के बहाने से श्रीहितसखी ने तो हम दोनों के स्नेह की दृढ़ता, मेरा आपके अनुकूल रहना, आपके सुख में श्रीहितसखी का अपने को सुखी मानना, आदि-आदि भाव सूचित किये हैं और आपको 'मुग्धा' कह कर आपका चातुर्य, मेरा आपकी कृपा पर निर्भर रहना, आपका आसज्यत्व और स्वयं का परम अन्तरंगा सखी होना—यह सब बताया है । इस हितसखी की विदग्धता का मैं क्या वर्णन करूँ ! प्रियतम के ऐसा कहने पर प्रियाजी ने कहा—जो कुछ मैं कहना चाहती थी, वह सब आपने ही कह दिया, अब मैं क्या कहूं ? 'संमोहन' से अभिप्राय यहाँ इस प्रकार के भावों का विनिमय ही है ।

इस पद्य को मान-पक्ष में भी घटाया जा सकता है । मान का यह दूसरा चरण इस प्रकार प्रारंभ हुआ कि श्रीहितसखी की प्रार्थना पर प्रियाजी ने प्रियतम पर कृपापूर्ण दृष्टिपात करना स्वीकार कर लिया और उनसे मिलीं । श्रीहितसखी ने देखा कि प्रियतम की बगल में प्रियाजी रोमांचित हो गई हैं । उसके बाद प्रियाजी जब चल दीं, तो प्रियतम भी उसी रास्ते उनके पीछे हो लिये और उस समय हाथों से छेड़छाड़ करने लगे । श्रीहितसखी ने सोचा कि इससे पूर्व किस प्रकार प्रियाजी मान करने पर अड़ गई थीं और उन्हें सँभालने में क्या-क्या प्रयत्न करने पड़े थे; अतः प्रियाजी को सुनाती हुई प्रियतम पर आक्षेप करती हैं—'क्यों रे धूर्त !' एक और बात यह है कि सेवक का

'बाला' इति । अर्थात् कथं त्वं बालासीति, कथं चायं धूर्त इति । सखि! धूर्तोऽस्ति, न विश्वसनीयोऽयम्, तत्तच्छलेन स्वार्थमेव साधयति, न परेङ्गितं जानासीति त्वदुक्ति श्रुत्वा वयमप्येनमिदानीं त्वत्प्रसादार्थं तथैवोक्तवत्यो 'धूर्ते'ति । तत्रापि प्रवरेत्याधिक्यम् । अस्मत् साहाय्यं जानीहीति । यत्र त्वदानन्दस्तत्रैवास्माकमितिभङ्गिकं सहृदयवेद्यम् । तदा संमोहनम् । प्रियस्तु अहह ! कथं दुर्घटं साहाय्यमाचरितम् ! अत्रेत्थमेव भङ्ग्युक्तिरर्हा येन प्रियापि प्रसन्नाहमपि परमानुग्राह्यो जात इति मनसि प्रसन्नः । प्रिया च— अहो प्राणप्रिय ! किमस्या निन्हवे, क्व प्रच्छन्ना भवामीति प्राणानामेव साहचर्य्यादस्याः । किमुक्तिकौतुकं कृतम् ! मद्दोषोक्तावपि न दोषार्थं गणयति, मन्मनः प्रसादमेवोज्जृम्भयतीतिभङ्गिकप्रसादमयं संमोहयति ।

रसकलश

कोई दोष न होने पर भी स्वामी के समक्ष उसे डाँट बताने से स्वामी से भलाई मिलती है । स्वामी प्रशंसा से उतना प्रसन्न नहीं होता जितना यह सोच कर कि अमुक व्यक्ति हमारे लिए कितना पचता है । प्रियाजी भी सोचेंगी कि हितसखी तो मेरी प्रशंसा कर रही हैं, पर मेरा मन तो अब भी प्रियतम की तरफ से वाम ही है (जोकि उचित नहीं है) । तब निर्दोष प्रार्थी पर वे कृपा ही करेंगीं । इन सब बातों का ध्यान मंत्री को रखना पड़ता है—यही उसका धर्म है । पहले की तरह यहाँ प्रियाजी पर भी कटाक्ष किया गया है । पहले मान करते समय प्रियतम की चंचलता से कैसा घबड़ाती थीं । जिस रस के बारे में हम पुकार-पुकार कर कह रही थीं वह क्या इसी समय मिल गया? कहाँ गई तुम्हारी वामता ? हमने जो कहा था सो ठीक निकला न ? हमने तो पहले ही कहा था कि यह (प्रियतम) आपके बताये हुए मार्ग पर ही चल रहे हैं, तुम्हारे ही सुख का ध्यान रखते हैं । इसीलिये तुम्हारे भी रोमांच हो आया था । जब बात ऐसी है तो आज से अपनों की भी बात माना करो—इस गूढ़ अभिप्राय की ही यहाँ व्यंजना की गई है ।

'बाला' कहने से मतलब यह है कि जितनी तुम बाला हो उतने ही यह धूर्त हैं । आपने ही तो कहा था—सखि ! ये धूर्त हैं, विश्वास के योग्य नहीं है । तरह-तरह के बहाने बना कर अपना उल्लू सीधा करते हैं, दूसरों के मन की बात जानते ही नहीं हैं । आपकी यह बात सुन कर आपको प्रसन्न करने के लिये हमने भी कह दिया—'धूर्त !' बल्कि आप से भी एक पैर आगे बढ़ कर उन्हें 'धूर्तश्रेष्ठ' बता दिया । आप हमें अपनी सहायक समझें । जिसमें आपको सुख है उसमें हमको भी है । प्रकारान्तर से श्रीहितसखी का आशय इन्हीं सब बातों को कहने का है जिन्हें कि सहृदय ही जानते हैं । इसके बाद आती है संमोहन की स्थिति । प्रियतम तो यह सोच कर मन में प्रसन्न हैं कि हितसखी ने कैसे कठिन समय में मेरी सहायता की है । ऐसे अवसर पर कहने का यही तरीका अपनाना चाहिये । जिससे प्रियाजी भी प्रसन्न हो जायँ और मैं भी उनके अनुग्रह का

मुक्तकपक्षार्थस्तु सखीप्रार्थनया नवीनकुञ्जकौतुकदर्शनायोभयचलनं ज्ञेयम् । तत्र सखीं वञ्चयित्वाग्रपश्चाद्गमनं, तत्र करलौल्यं, तेन प्रियावाम्यं, तन्मानशंकया प्रियं प्रत्युक्तिः । यद्वा पथि पथि, कुञ्जकुञ्जमार्गे त्वच्छ-विमाधुर्यविवशं प्रियमप्रमादीकरणाय किञ्चिद्धास्यजनककौतुकवाक्यं 'धूर्ते'ति', किं यासी'ति कथये । ननु कथमकस्मादेवैवं हिताली ब्रवीसि बालेयम्, त्वं च कुचलोलकरः । इति श्रुत्वा किञ्चिद् वैवश्याच्चेतन्ये जाते ततः प्रियाहसत् । ततः कौतुकेन प्रियोऽपि किमिदमिति चेति तदानन्देनो-भयोहृत्संमोहनम् । पश्य प्रिये ! किं चातुर्येण मद्वैवश्यं दूरीकृतम् । अन्यथा प्राखर्योक्ति विना कथं स्यादिति, कथं चेदानीन्तनान्यान्यकेल्यानन्दं प्राप्नुयाम्, इत्यादि भावुकगम्योऽर्थः ॥१६०॥

रसकलश

पात्र बन जाऊँ। (अब प्रियाजी प्रियतम से कहती हैं—) प्राणप्रिय ! इस हितसखी से क्या छिपाऊँ ? इससे बच कर कहाँ जा सकती हूँ, क्योंकि इसका और मेरा तो प्राणों का साथ है। क्या चतुराई की बतबनी की है ! मेरे द्वारा दोष बताने पर भी उधर ध्यान नहीं देती, बल्कि वह काम करती है जिससे मैं प्रसन्न रहूँ। इस प्रकार की प्रसन्नता की स्थिति पैदाकर ये हम दोनों का संमोहन करती हैं।

पद्य को फुटकर मानने पर यह सन्दर्भ होगा—सखी के प्रार्थना करने पर नवीन कुंज के कौतुक को देखने के लिये दोनों चल पड़े। तब सखी को धोखा देकर प्रियतम कभी आगे हो लेते हैं, तो कभी पीछे-पीछे चलने लग जाते हैं। इसी बीच उन्होंने कुछ छेड़ छाड़ कर दी तो प्रियाजी वाम हो गईं। श्रीहितसखी डरीं कि कहीं मान न कर बैठें, अतः प्रिय से 'क्यों रे 'धूर्त !' इत्यादि कहती हैं। अथवा सोचती हैं कि मार्ग-मार्ग में, कुंज-कुंज में प्रियाजी की छवि के माधुर्य से परवश हुए प्रियतम को सावधान करने के लिये कुछ ऐसी बात कही जाय कि सुन कर हँसी भी आये और कौतुक भी पैदा हो—जैसे—'धूर्त ! उधर क्यों जाते हो ? किन्तु प्रश्न यह है कि अचानक ही श्री हितसखी यह कैसे कह बैठीं कि यह बाला है और तुम्हें आदत है स्तनों से छेड़छाड़ करने की। उत्तर यह है कि उक्त वाक्यों को सुनते ही प्रियतम चैतन्य हो गये और तब प्रिया जी हँस दी। तब मामले को ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण प्रियतम ने जिज्ञासा-पूर्ण कुतूहल से पूछा—यह सब क्या है ? इस पर आनन्द से दोनों मुग्ध हो गये। प्रियतम कहते हैं—देखो प्रिये ! कैसी चतुराई से हितसखी ने मुझे होश में ला दिया ! कोई तीखी बात न कही जाती तो यह कैसे संभव होता ? और यदि मैं पहले की तरह विह्वल ही रहता आता, तो इन विभिन्न केलियों का आनन्द मुझे कैसे मिलता ? ॥१६०॥

एवं हितालीभङ्ग्युक्तिपरमानन्दसंमोहितोभयेन शयनसमयसेवार्थं शय्यानिकट एव रक्षिता। श्रीमत्या तु सखि! किमपि मा ब्रूहि। किञ्च पिशुनं सर्वोऽप्युत्कोचेन साधयेदिति किञ्चिदुक्तिभंग्या, प्रियेण साधु सखि! त्वामृते कः सहायी स्यादिति किमद्य दद्यां यत् गोपनीयसमयोऽपि त्वदगोप्योऽस्त्विति भंग्या प्रसादद्वयेन तल्पपार्श्वस्थितिं प्राप्य प्रेमाल्हादवैचित्येन कदा वेति तमेवानन्दं मानसीं सखिं प्रति वदति—

कदा वा राधायाः पदकमलमायोज्य हृदये-
दयेशं निःशेषं नियतमिह जह्यामुपविधिम्।
कदा वा गोविन्दः सकलसुखदः प्रेमकरणा-
दनन्ये धन्ये वै स्वयमुपनयेत स्मरकलाम्
॥१६१॥

रसकलश

इस प्रकार श्रीहितसखी के कहने के अनोखे ढंग से परम आनन्द से मुग्ध होकर दोनों ने शयन-समय की सेवा के लिये श्रीहितसखी को अपने पास ही रख लिया। तब श्रीमती जी ने एक विशेष प्रकार से कहा—सखि! कुछ मत कहो। बात यह है कि दुष्टों को रिश्वत देकर अपने अनुकूल बनाये रखना ही उचित होता है। प्रिय ने श्रीहितसखी से कहा—सखि! आपको अनेक धन्यवाद। तुम्हारे बिना मेरा और सहायक हो ही कौन सकता है। इसके लिये सिवाय इसके और तुम्हें क्या दूँ कि जो समय सबसे छिपाने का है, उसमें तुम्हारे लिये दरवाजा खुला रहे। इन दोनों कृपासूचक उक्तियों द्वारा युगल के निकट रहने की स्थिति को प्राप्त कर प्रेमानन्द में विह्वल होकर श्रीहितसखी कह बैठीं—'कदा वा।' उसी आनन्द का वर्णन अपनी मानसी सखी से (अपने आप से) करती हैं—

अथवा कब श्रीराधा के, दया के नियामक चरण-कमल को भावना द्वारा अपने हृदय में स्थापित कर (तथा उन्हें अपने वक्षस्थल पर रख कर पलोटती हुई) साम्प्रदायिक गौण विधियों को त्याग दूंगी? अथवा कब सम्पूर्ण सुखों को देनेवाले श्रीगोविन्द स्वामिनी से प्रेम करने के कारण उनमें अनन्य निष्ठा रखने वाले अत एव धन्य मुझे स्वयं कामभावना की उद्दीपक गायन, वादन आदि कला की शिक्षा देंगे? ॥१६१॥

'वा' इत्यभिलाषविकल्पे वा पादपूरणे वाक्यालंकारे च। दयाया ईशं नियामकं, तत्कर्तारं, दयितं, नाथमिति। अहमपि तस्यैव दयां वाञ्छामि, नान्यस्येति। अत्रैवोक्तासाधारण्यमुक्तम्। तादृशं श्रीमत्याः पदकमलं हृदये आयोज्य शयने चरणं संवाहयन्ती करादपि वक्ष्यमाणप्रेमकरणद्रवमृदुलं हृदयं ज्ञात्वा, तत्र निधाय, तत्प्रभावात् सर्वविस्मृतिमाह—नियतमावश्यकं स्रक्ताम्बूलव्यजनालेपभृङ्गारपतद्ग्रहा विविधं कर्तव्यं 'उपे'ति समीपाहं विधिं कदा वेति विस्मयमाह—जह्यां किमु ! किञ्च पदकमलहृदयायोजनमेव तदानीं नियततमविधिर्गृहीतस्तदाऽन्ये उपविधय एवेति नियतत्वस्यापि तरतमप्राप्तौ गौणत्वं जातम्। विहारश्रमनिवारणार्थहृदयकृतसंवाहनस्या-

---

रसकलश

'कदा वा' में 'वा' शब्द से अतिरिक्त अभिलाषा का बोध होता है। अथवा इसे पाद का पूरक और वाक्य को सुन्दर बनाने वाला मान लिया जाय। 'दयेशम्'—दया के स्वामी, नियन्ता, उसके करने वाले, प्रिय, नाथ (चरण-कमल को हृदय में रख कर)। मैं भी उसी की दया चाहती हूँ, अन्य किसी की नहीं। यहाँ एक बार फिर अपनी अनन्य असाधारण निष्ठा व्यक्त की है। ऐसे श्रीमती के चरण-कमल को हृदय में रख कर सोने के समय चरण-सेवा करती हुई, प्रेम करने से अपने हृदय को नरम और कोमल जान कर (क्योंकि किसी कठोर जगह पर प्रियाजी के चरण-कमल नहीं रक्खे जा सकते, अतः जब मुझे मालूम हो गया कि प्रियाजी से प्रेम करने के कारण मेरा हृदय मुलायम हो गया है, तब) वहाँ रख कर—रखने के बाद यह हुआ कि श्रीहित-सखी उन्हीं चरणों के प्रभाव से आनन्द के कारण सब कुछ भूल गईं। उसी अवस्था, का वर्णन करती हैं—'नियतमिह जह्यामुपविधिम्।' नियत अर्थात् आवश्यक फूल-माला, पान, पंखा, अंगराग, सुराही उठाना आदि से की जाने वाली अनेक प्रकार की सेवा को क्या कभी छोड़ दूंगी ? 'उपविधि' से अभिप्राय उन कर्तव्य कर्मों का है जो प्रियाजी के निकट रह कर करने चाहिये। 'क्या छोड़ दूंगी ?' कह कर आश्चर्य प्रकट किया गया है, (क्योंकि यह सेवा भी भाग्य से मिलती है। यदि इन्हें भी छोड़ने की किसी की अभिलाषा हो तो यह आश्चर्य की ही बात है।) कारण यह है कि जब चरण-कमल को हृदय के साथ जोड़ने की विधि सर्वाधिक आवश्यक हो गई, तो चन्दन, फूल-माला आदि की सेवायें तो उपविधि हो गईं हैं। फूल-माला आदि की सेवा भी आवश्यक विधि के अन्तर्गत आती हैं, पर जब इससे भी बड़ी विधि सामने हो, तो वह स्वयं गौण हो जाती हैं। उस समय का सबसे मुख्य कर्तव्य तो प्रिया-प्रियतम की विहारजन्य थकान को दूर करना है, अतः उस समय तो उचित यही है कि हृदय से इस प्रकार चरण सेवा की जाय कि एक क्षण के लिये भी उसमें व्याघात न पड़े, क्योंकि मेरा सुख तो उनके

विच्छेद एव तदानीमर्हस्तत्सुखित्वात् । ममापि च प्राणहृदयसंयोजने को वियोक्तुमीशेतेति उभयथा परमतमसुविधिर्जातः । अतो निःशेषं तदन्यत् सर्वमुपविध्यात्मकमेव । इह समये कुञ्जे यत्कर्तव्यं–कथं स्थेयं च क्वास्मीति विगलितवेद्येतरत्वं मम जातमिति भावः । तदा एवं लीनचित्तेऽनन्ये ध्यातृ-ध्येयविभागशून्ये स्वामिनीपदाब्जविषयिकप्रेमकरणात् 'धन्ये' इति प्रिय-हृदयसाक्षिकप्रशंसनीये यथा—'महिम्नः कः सीमां स्पृशतु तव दास्यैकमन-साम्', तदात्र तु कैमुत्यमेवागतम् ।

तादृशे प्रस्तुतत्वात् मयि सखीजने स्वलिङ्गविस्मृत्या 'जने' इति ज्ञेयम् । गोविन्देन तदानीं मद्दशां दृष्ट्वा सकलसुखदत्वेन विचारितम्—किमस्याः सुखं विगलितवेद्येतरत्वे जातेऽद्यतनविहारानन्दप्राप्तिर्गतेति तां कारयिष्ये, इति कृपया विस्मृतावपि स्मरणात्मककलां कदोपनयेत, प्रापयेतेति । तदा

रसकलश

सुखी होने में ही है । मुझे भी अपने प्राण और हृदय दोनों की श्री चरणों के साथ जोड़ने—तदाकार करने से रोकने की सामर्थ्य किसमें हैं । अतः प्रियाजी के सुख और मेरे सौभाग्य –दोनों की दृष्टि से यह सर्वश्रेष्ट कर्तव्य (विधि) निश्चित हो गया । इसलिये इसके अतिरिक्त जो कुछ कर्तव्य हो सकता है, वह सब उपविधि स्वरूप रह गया । भाव यह है कि उस समय कुंज में मुझे क्या करना चाहिए, कहाँ रहना चाहिए, मैं कौन हूँ - यह सब मैं आनन्द की विह्वलता में भूल गई । तब इस प्रकार मेरे चित्त के लीन हो जाने पर मैं अनन्य हो गई—अर्थात् ध्यान करने वाला कौन है, और किसका ध्यान किया जा रहा है, इस प्रकार का वर्गीकरण करने की अवस्था नहीं रही । स्वामिनी जी के चरणों से प्रेम करने के कारण मैंने अपने आप को धन्य माना । इसका साक्षी प्रियतम का हृदय है जो ऐसे व्यक्ति की स्वयं प्रशंसा करते हैं । इससे पूर्व (पद्य १५४) कह आये हैं—'आपका दास बने रहना जिनका एकमात्र ध्येय है उनकी महिमा की सीमा को कौन छू सकता है ?' जब श्रीराधा के मामूली सेवकों की ऐसी महिमा है, तो श्रीहितसखी के संबन्ध में तो कहा ही क्या जाय ?

इस प्रकार के मुग्ध सखीजन में (श्रीगोविन्द स्मर-कला का समावेश कब करेंगे ?) श्री हितसखी भूल गईं कि मैं पुरुष हूँ या स्त्री, अतः उन्होंने अपने को 'सखी-जन' कहा है । (यदि श्रीहितसखी सदा को तरह यहाँ भी अपने को स्त्रीलिङ्ग में अभिहित करतीं, तो 'अनन्यायां धन्यायाम्' यह पाठ होता, पर सिद्धान्त यह है कि सहचरियाँ लिङ्गातीत होती हैं, अतः यहाँ 'सखीजन' शब्द का प्रयोग किया गया है ।) श्रीगोविन्द ने उस समय की मेरी हालत को देखकर सोचा—इन्हें भला क्या सुख मिल

स्मृतौ सर्वतादात्विक विहारानन्दं दृष्टवत्यहमिति तत्रैवाह 'किमु'। प्रियेण कृपया स्मारणं कृतम्। ननु दयेशकृतं कथं न स्मर्यते चेत्, तत्रैवं ज्ञेयम्। सापि मद्धृदयानन्दमग्ना तद्वियोजनं नैच्छदित्यस्य मद्धृदयसाक्षि। तदानेनं मत्कृत पूर्वसाहाय्यं स्मृत्वा कृतमिदमित्युक्तमेव सकलसुखदत्वमस्य। तदा मम कैमुत्यमेवेति।

अथवा तादृशेऽनन्ये धन्ये मयि ज्ञाते सति—'ज्ञाते' इत्याक्षेपादध्याहार्यम्। स्वामिन्यास्तु पूर्णकृपास्त्येव, परन्तु सोऽपि स्वयं स्वामित्वान्मां स्मरकलां उप समीपे प्रापयेत्। अर्थादेवं मामन्तरङ्गां जानीयाद्यत् प्रियापदनख ज्योतिर्घनीभूतेयमेव, कथमन्यवत् संकोचोऽस्याः कर्तव्यः। अतएवान्यपदं दत्तम्। यथा च शतके—

रसकलश

रहा होगा ? जब इन्हें आत्मानुसन्धान ही नहीं रहा, तो आज के विहार का आनन्द तो इनके हाथ से ही गया ! अतः मैं उसी आनन्द को दिखाऊँगा। इस प्रकार कृपाकर आत्म-विस्मृति की दशा में स्मरण दिलाने वाली कला का मेरे संबन्ध में कब उपयोग करेंगे ?—अर्थात् मुझे कब तदवस्थ बनावेंगे ? फिर तो होश आने पर मुझे सब कुछ स्मरण हो आया और मैंने उस समय किये जाने वाले विहार के आनन्द को देख लिया। इसी भाव को 'किमु' द्वारा व्यक्त किया गया है। अर्थात् प्रियतम ने कृपा करके मेरी स्मरण-शक्ति को पुनः जागृत कर दिया। शंका हो सकती है कि दया की स्वामिनी प्रियतमाने ही क्यों नहीं याद दिला दी ? इस संबन्ध में ज्ञातव्य यह है कि प्रियाजी मेरे हृदयानन्द में ऐसी मग्न हो गईं कि उन्होंने यह नहीं चाहा कि उनके चरण कमल का मेरे हृदय की भावनाओं से विच्छेद हो जाय। इसका साक्षी तो मेरा हृदय है। इस स्थिति में श्रीगोविन्द ने मेरे द्वारा की गई पहली सहायता को याद कर मुझे स्मरण दिलाया। यह कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण तो सबको सुख देने वाले हैं; फिर मेरे सम्बन्ध में उनकी कृपा का तो कहना ही क्या है ?

अथवा श्रीगोविन्द के यह जान लेने पर मैं इतनी सौभाग्यशालिनी हूँ कि और कोई मेरे समान है ही नहीं—स्वामिनी जी की तो मुझ पर पूर्ण कृपा है ही और वह भी मेरे स्वामी हैं ही—तो इस नाते वे स्मर-कला को कब मेरे निकट पहुँचावेंगे। इस व्याख्या में 'धन्ये' के बाद 'ज्ञाते सति' (जान लेने पर) का ऊपर से अध्याहार करना पड़ेगा। अर्थात् इस रूप में मुझे अन्तरंगा सखी जानेंगे कि प्रियाजी की घनीभूत पद-नख-ज्योति यही हैं, तो इनसे भला क्या संकोच करना ? 'अनन्य' शब्द यहाँ इसी भाव को सूचित करता है। श्रीवृन्दावन शतक में कहा है—

श्रीराधापादपद्मच्छविमधुरतरप्रेमचिज्ज्योतिरेका—
म्भोधेरुद्भूतफेनस्तवकमयतनूः सर्ववैदग्ध्यपूर्णाः ।
कैशोरव्यञ्जितैस्तद्घनरुगपघनश्रीचमत्कारभाजो
दिव्यालंकारवस्त्रा अनुसरत सखे राधिकाकिङ्करीस्ताः ॥२/८७

यद्वा स्मरार्थं तदानन्दवर्द्धनार्थं कलां तदुद्दीपकतादात्विकगानकथानककलां शिक्षयेदित्येवं गायस्वेति गानेन मत्तविलासिनां बहुगुणानन्दः स्यादिति । यद्वा ताभ्यां तु समीपस्थितिरेव कृता, परन्तु तदसंकोचार्थं द्वार एव स्थिता । तदेवाग्रे वक्ष्यत्येव । तदा तेन प्रियेण स्मरस्यैककलामेकदेशो विहारसूचककिङ्कण्यादिशब्दः द्वारस्थाया एव प्रापितः । यथोक्तं 'द्वारस्था प्रियकिङ्करी परमहं श्रोष्यामि काञ्चीध्वनिम्' इति तत्रैव मद्दायप्रापणं कृतम् । 'कन्दर्पोत्तरलम्" इति तस्यैव शीलध्रौव्यात् प्रापणकर्तृत्वं मुख्यं, तस्याश्च लज्जाशीलत्वान्नेति तेनैवैककलोपनयनेन सर्वकलाविशिष्टस्मरविहारज्ञानं मम भवेदित्याशंसनम् ।

रसकलश

'स्मरकलाम्' का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि काम संबन्धी आनन्द को बढ़ाने के लिये कामेच्छा के उद्दीपन करने वाले संगीत, वार्तालाप की कला को कब सिखायेंगे—यह कह-कह कर कि इस प्रकार गाओ, यह कि गान के द्वारा उन्मत्त विलासियों का आनन्द कई गुना बढ़ जाता है।

अथवा प्रिया-प्रियतम ने तो श्रीहितसखी को अपने पास ही रहने को कहा पर उन्हें संकोच न हो, इसलिये वह बाहर ही खड़ी रहीं। इसी बात को आगे कहा जायेगा। तब प्रियतम ने कामदेव की एक ही कला, अर्थात् विहार की सूचना देने वाले किंकिणी आदि के शब्द को दरवाजे पर खड़ी श्रीहितसखी के पास पहुँचा दिया। कहा भी है—'द्वार पर खड़ी हुई मैं प्रियसेविका श्रीराधा की मेखला की ध्वनि को कब सुनूंगी ?' (पद्य ७३)। तो श्रीकृष्ण ने वहीं पर मेरा हिस्सा मुझ तक पहुँचा दिया। 'कामदेव से चंचल होने का स्वभाव' उन्हीं का है। (पद्य १६९) अतः मेखला, नूपुरादि की ध्वनि को श्रीहितसखी तक पहुँचाने का काम प्रधानरूप से प्रिय का ही है, न कि प्रियाजी का, क्योंकि वे तो स्वभाव से ही लजीली हैं। उसी एक कला के मुहय्या करने से सब कलाओं से विशिष्ट विहार-कला का ज्ञान मुझे हो जाय, यह अभिलाषा व्यक्त की गई है।

पद्य को फुटकर मानने पर जिन्हें निकुंज में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है ऐसी बहिरंग सखियों द्वारा की गई आशंका के पक्ष में यह अर्थ लगेगा—

अथ मुक्तकपक्षे बहिरङ्गेऽर्थे तस्याः पदकमलं हृदये भावनया आयोज्य नियतं वर्णाश्रमत्यागेऽपि साम्प्रदायिकावश्यकक्रियावेशं जह्याम् । यथा— 'लिखन्ति भुजमूलयोः' इति, 'कैशोराद्भुत' इति, 'त्यक्ताः कर्मभिः इति, 'अहह ! न सतां चापि चरितम्,' 'भगवद्धर्मेऽप्यहो निर्ममाः' इत्यादि नियतस्यापि गौणत्वं, हृदयायोजनप्रभावात् ।

तदा गोविन्दः तत्कृपादृष्टिलाभज्ञानी, सकलसुखदो, नियामको मय्यनन्यवाञ्छके स्मरस्य प्रेममयस्य विहारस्य कलामंशं, ज्ञानं प्रापयेत । किञ्च सकलसुखदत्वं यदि तस्यैव प्रसिद्धं चेत् तदा ममैतादृशं ददात्विति । येन तयोर्विहारलीलां गायेयमिति । मुख्यं तु मद्धृदयेशप्रभावे किमपि दुर्लभं नास्ति, परन्तु तथापि मत्स्वामिनीवरस्य सुखदत्वाधिकारात्तद्दातृत्वे को

रसकलश

उन श्रीमती के चरण-कमल को भावना द्वारा हृदय में सँजोकर वर्णाश्रम-धर्म के कर्तव्यों को त्याग देने पर भी किसी विशिष्ठ सांप्रदायिक आचरण के आवेश को कब छोड़ूंगी । इस सांप्रदायिक विधानों का उल्लेख पूर्व-पद्यों में इस प्रकार किया जा चुका है—श्रीराधा के अनन्य उपासक शंख-चक्रादि मुद्रादि धारण नहीं करते, मस्तक पर तिलक के रूप में विचित्र-विचित्र हरि-मन्दिर नहीं बनाते और न तुलसी की माला पहिनते हैं (८१), यह कि जिनके श्री अंगों की छवि किशोरावस्था की अद्भुत माधुरी के प्रवाह से युक्त होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है, ऐसी श्रीराधिका का जो तन्मय होकर अनन्तकाल तक ध्यान करते हैं, जिन्हें श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कर्मों ने स्वतः ही छोड़ दिया है, जिन्हें भागवत धर्म के प्रति भी कोई ममता नहीं है, परम अद्भुत रसमयी स्थिति में पहुँचे हुए उन महान् आत्माओं को मेरा नमस्कार है' (८०), यह कि 'श्रेष्ठ धर्मात्माओं के चरित्रों का भी वे अनुसरण नहीं करते' (१४६) । हृदय में श्रीराधा के चरणों को संजोने के प्रभाव से उक्त पद्यों में उल्लिखित धर्माचरण भी गौण हो जाते हैं ।

तब श्रीराधिका की कृपादृष्टि के लाभ का महत्व जानने वाले, सब प्रकार के सुखों के प्रदाता तथा नियन्ता श्रीगोविन्द स्मर-कला को—अर्थात् प्रेममय विहार की कला-यानी अंश को, तत्संबन्धी ज्ञान को मुझ तक पहुँचा दें । इसके सिवा मेरी और कुछ अभिलाषा नहीं है । दूसरे यह कि यदि श्रीगोविन्द ही समस्त सुखों के दाता के रूप में प्रसिद्ध हैं, तो मुझे वह सुख प्रदान करें जिससे मैं उन दोनों की विहार-लीला का गान करूँ । वैसे तो मेरे हृदय की स्वामिनी के प्रभाव से मेरे लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है, तथापि मेरी स्वामिनी के वर को जब सुख देने का अधिकार है, तो उनके देने में

दोषः ? स तु तत्प्रेरित एवेति भावः । यथा 'राधाप्रेममहर्द्धिभूषिततनुः ।' इत्येवं स्वानन्यता ज्ञातव्या । अत एव 'कदा वा' इति विकल्पपदं रक्षितम् ।

अत्र स्मरः प्रेमा विश्रुत एव । यथा—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्' । तदात्र तु कैमुत्यम् । ननु यत्र तत्र कामविलास एव दम्पत्योरागतश्चेत्तत्रैवं ज्ञेयम् । 'सैन्धवमानय' इत्यत्र भोजनसमयेऽश्वानयनस्य बाध्यत्वात्, तथैव श्रीराधैकदास्यानन्य श्रीहितसखीवक्तृत्वे प्रेमैव ज्ञेयो, नान्यर्थख्यातिः संशयितव्या स्वप्नेऽपीति । 'कला' इत्यत्र 'कलास्यान्मूलकेवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके, षोडशांशे च चन्द्रस्य कलनाकलमानयोः' इत्यमररामाश्रम्याम् । सहृदयहृदयार्थोभावनीयः । प्रेम्णः अंशं तद्धनवृद्धि वा, तच्चन्द्रकलां वेति यावत् ॥१६१॥

तदेवाभिलषितविहारसामीप्यप्राप्त्यानन्दानुभवमाह—

रसकलश

क्या दोष है ? श्रीगोविन्द तो प्रियाजी की प्रेरणा से ही सुख देते हैं—यह भाव है। श्रीवृन्दावनशतक में कहा है—'श्रीराधा का शरीर प्रेम की अमूल्य संपत्ति से विभूषित है और श्रीराधा से श्रीकृष्णचन्द्र का भी विग्रह सुशोभित होता है।' इस प्रकार की अनन्य भावना से यहाँ तात्पर्य है। इसीलिये प्रस्तुत पद्य के तृतीय चरण में 'कदा वा' कह कर श्रीगोविन्द से की गई आंशसा को विकल्प में रक्खा है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ 'स्मर' से तात्पर्य प्रेम का है। 'गोपवधुओं का प्रेम ही काम कहलाया।' गोपियों की काम-वासना जब मूल में प्रेम थी, तो हित-मार्ग की आराधना के संबन्ध में तो कहना ही क्या है ? यदि पूछा जाय कि कई स्थलों पर दंपती के काम-विलास की ही चर्चा की गई, तो उत्तर यह है कि जिस प्रकार भोजन के समय 'सैन्धव लाओ' कहने से घोड़ा नहीं लाया जाता ('सैन्धव के दो अर्थ हैं—नमक और घोड़ा), इसी प्रकार कहने वाली श्रीराधा की अनन्य दासी श्रीहितसखी हों, तो 'काम-विलास' का अर्थ 'प्रेम-विहार' ही लगाया जायगा। इस संबन्ध में स्वप्न में भी अन्य किसी अर्थ का सन्देह नहीं करना चाहिये। 'कला का जो अर्थ अमरकोष की रामाश्रमी टीका में किया गया है, उसके अनुसार मूल वृद्धि, शिल्प, अंश, चन्द्रमा की कलाओं का सोलहवाँ अंश, विचार, माप—ये कला शब्द के अर्थ हैं। सहृदय लोग अपनी भावना के अनुसार अर्थ लगाएँ। प्रेम के अंश को, प्रेमरूपी धन की वृद्धि को अथवा प्रेमरूपी चन्द्र की कला को—कोई भी अर्थ घट सकता है ॥१६१॥

अब प्रिया-प्रियतम के निकट रह कर विहार का जो मनचाहा आनन्द मिला था उसका वर्णन करती हैं—

कदा वा प्रोद्दामस्मरसमरसंरम्भरभस-
प्ररूढ़स्वेदाम्भःप्लुतलुलितचित्राखिलतनू ।
गतौ कुञ्जद्वारे सुखमरुति संवीज्य परया
मुदाहं श्रीराधारसिकतिलकौ स्यां सुकृतिनी ॥१९२॥

अहं तत्कृपापूर्वकविहारसमीपप्राप्तापि तनुमनसोरपि गोपनीयत्वाद्रन्ध्रान्वेषणे ततोऽप्यधिकपरमरहस्यनिष्कृष्टसूक्ष्मसारानन्दाभिज्ञा कुञ्जद्वारस्थिता तद्द्वार एव विहाराविष्टावागतौ श्रीराधारसिकतिलकौ परया मुदा संवीज्य सुकृतिनी स्यामिति । संवीजनकारणमाह—प्रकर्षेणोद्दाम उत्कटो यः स्मरसमरः । उद्दामेत्यौत्सुक्यातिशयस्तु तत्र नित्यस्थित एव, परन्तु हितसख्याभिलषितप्रेरणात्प्रकृष्टत्वम् । स्वमानसोद्भवादपि परनिदर्शनोत्साहस्त्वधिको भवतीतिवत् । तादृशबलवीर्यास्त्रप्रत्यस्त्र जयपराजयस्मरणविषयत्वात् 'स्मर'

रसकलश

उत्कट सुरत-संग्राम के आवेश के वेग से उत्पन्न पसीने से लथपथ जिनके शरीर मिड़ेमिड़ाए (उपमर्दित) और चित्रांकित-से दिखाई दे रहे थे, (सुरत-समाप्ति पर) कुंज के दरवाजे पर आकार खड़े श्रीराधा और रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्ण के, वहाँ सुखदायक हवा के चलते रहने पर भी, परम प्रसन्नता से पंखा झल कर मैं कब पुण्यशालिनी बनूंगी ॥१९२॥

प्रिया-प्रियतम की कृपा से, जहाँ विहार हो रहा था उस स्थान के निकट पहुँचकर भी मैं कुंज के दरवाजे पर ही खड़ी रही। वैसे तो विहार-लीला के गोपनीय होने के कारण उसे तन और मन से भी छिपाना चाहिये, पर मैं यह जानती थी कि लता-पत्ताओं के बीच में से किसी छेद को खोजकर परम रहस्यमय रस के भी सूक्ष्म सार के भोग में जैसा आनन्द मिलता है, वैसा बिलकुल निकट रह कर देखने से नहीं प्राप्त होता। तो जब मैं दरवाजे पर खड़ी थी तभी विहार के आवेश में भरे हुए दोनों वहाँ आगये। इस स्थिति में श्रीराधा और रसिकशेखर श्रीकृष्ण को परम प्रसन्ता के साथ पंखा झलकर मैं कब पुण्पशालिनी बनूंगी ? पंखा झलने का कारण बताती हैं—'प्रोद्दामस्मर' इत्यादि। अत्यन्त उत्कट जो सुरत संग्राम। 'प्रोद्दाम' (प्र+उद्दाम) में 'प्र' उपसर्ग की व्यंजना यह है कि बढ़ी हुई उत्कंठा तो रति में सदा रहती ही है, परन्तु श्रीहितसखी की अभिलाषा की प्रेरणा से उसमें प्रकर्ष आ गया था। जैसे अपने मन में उत्पन्न उत्साह की

इति। तत्संबन्धितन्मये वा प्रत्यङ्गानीकोभयसेनानीचन्द्रिकाञ्चलचलत्पताक ध्वजवेणीचामरमौलिच्छत्रभूषणशिञ्जितदुन्दुभिकञ्चुकयन्तरीयकवचकुचशत-चन्द्रचर्मपुलककुलकोत्साहशक्तिलोलमकरकुण्डलकौतुकागन्तुकजनमीनध्वज-भ्रूधनुर्निसृतकटाक्षनाराचदशनोज्ज्वलशक्तिनखशूलभुजवल्लिपाशतर्जन हुंकारसीत्कारमणितस्मितादिसंमोहनगान्धर्वाद्यस्त्रपूर्वोक्तरदनखादिशस्त्रछि-न्नवर्मान्तर्बाह्यत्वादिवर्णनीये संग्रामे संरभो वीरत्वसाहसक्षोभस्तस्य रभस आवेग श्वासोच्छ्वासावेशमयस्तेन प्रकर्षेण रूढं संवर्द्धितं स्वेदाम्भ-स्तेन प्लुता संव्याप्ता, लुलिता सकम्पक्लान्ता चित्राअखिला तनुर्ययोस्तौ। अखिलचित्रत्वं आभालचरणान्तमिति। प्रियस्य भालोरःस्थलभुजोरूयाव-

रसकलश

अपेक्षा दूसरे को दिखाने का उत्साह अधिक होता है, उसी तरह। उस प्रकार के बल, पराक्रम, अस्त्र, प्रत्यस्त्र, जीत, हार की स्मृति का विषय होने के कारण 'स्मर' कहा गया है (अर्थात् काम के क्रियात्मक स्वरूप में इन बातों का स्मरण प्रधानतया होता है।) उस काम से संबन्धित या तद्रूप संग्राम में। अन्य संग्रामों की भाँति इस संग्राम के उतने ही और वैसे ही अंग-प्रत्यंग होते हैं। जैसे—प्रिया-प्रियतम के प्रत्येक अंग ही पक्ष-विपक्ष की सेनायें हैं, श्रीराधाकृष्ण अपनी-अपनी सेना के सेना-नायक हैं, चान्द्रका और अंचल फरफराती हुई पताका और ध्वजाएँ हैं, वैसी चमर हैं, मुकुट छत्र है, भूषणों की झंकार नगाड़ों की आवाज है, चोली अन्दर का कवच है, स्तन (धातुनिर्मित) सैकड़ों चन्द्रों से युक्त ढाल हैं, रोमांच-समूह साकार उत्साह और शक्ति है, चंचल मकराकृति कुंडल कुतूहल-वश आये हुए दर्शकों की मछली-चिन्हित ध्वजायें हैं, भौंह-रूपी धनुषों से छूटे हुए कटाक्ष बाण हैं, दांत-चमचमाते खड्ग हैं, नाखून भाले हैं, भुजायें नागपाश हैं, सुरत-सीत्कार और कूजित गर्जन-तर्जन हैं, मुस्कान ही संमोहन और गान्धर्व अस्त्र हैं और पूर्वोक्त दाँत और नाखूनों के अस्त्रों द्वारा योद्धाओं के भीतर और वाहर के कवच छिन्न-भिन्न कर दिये जाते हैं। इस प्रकार के संग्राम में जो संरंभ अर्थात् वीरता और साहस की हलचल, उसका आवेश जिसमें जोर-जोर से साँसें आती-जाती हैं, उससे अत्यन्त बढ़े हुए पसीना से व्याप्त तथा उपमर्दित यानी कंपन और थकान से दोनों के शरीर युक्त हैं तथा ऊपर से नीचे तक चित्रमय हो रहे हैं। मस्तक से लेकर चरणपर्यन्त दोनों के अंगों पर चित्र से बने हुए थे। प्रियतम के भाल, भुजा और वक्षःस्थल और जंघाओं पर महावर के चिन्ह थे और कपोल, नेत्र और अधर काजल और पान की लाली से रंगे थे। उधर प्रियाजी के अंगों पर नाखून और दाँत के निशान थे तथा सर्वाङ्ग में पसीना के बहने से बनी हुई अंगराग, कस्तूरी, कुंकुम और चन्दन की रेखाओं के चित्र बने हुए थे। युद्ध के आवेश में वहाँ की स्थावर जंगम सृष्टि स्तब्ध, निष्क्रिय

काङ्क्षकज्जलताम्बूलरागरञ्जितकपोलनयनाधरनखरदक्षताङ्गरागकस्तूरी कुंकुमचन्दनश्रमप्लुतिधाराव्यापितसर्वाङ्गजातचित्रत्वं प्रियायाश्च। तथैव मिथोऽङ्गसंमर्दनाभिमर्शजातरागवैचित्र्यं सहृदयवेद्यम्।

तदानीं समरावेशे तत्रत्यं स्थिरचरं संस्तम्भितचेष्टं जातम्। तेन पवनोऽपि रसावेशात् स्थगित एवाभवत्। समरोपरामे च ततस्तल्पात् समुत्थाय निभृतं श्रमव्याकुलतया संवलद्गती परस्परसमाश्रितभुजयुगलौ व्यत्यस्तक्रमसमाहृतार्द्ध परिहितवसनाभरणौ श्लथचिकुरच्युतमाल्यचरणरण-त्रुटितकिंकिणीसंघर्षणसूचितद्विरदद्वयशृंखलौ, प्रेङ्खत् १—प्रत्योषित केयूराङ्गदघण्टिकौ, प्रसृमरचूर्णकुन्तलतलवर्षिस्वेदाम्बुसूचितदाननिर्झरौ, सुरतासवमत्तौ 'सखि', सुखमारुतं त्वदीयस्थानम्' इत्यत्रागतौ 'आवां गाढं संवीजय' इति सत्वरं वदन्तौ तदा परमा मुदा निरवधिकातिशयहर्षेण तादात्विकतदातिथित्यमाचरती प्रतिप्रसह्य 'साधु! साधु! सुष्ठुकृतं सखिः स्वस्त्यस्तु ते इति प्रस्तुते 'सुकृतिनी' इति पदं प्राप्तम्। न तु तत्र लौकिकवत् सुकृतख्यातिर्ग्राह्या।

रसकलश

और जड़-जैसी हो गई थी। उसी प्रकार पारस्परिक अंगों की रगड़ और मर्दन की प्रबलता से भी अंगों के रंगीलेपन ने विचित्रता धारणा करली थी। ये सब बातें सहृदय ही जान सकते हैं।

उस समय युद्ध के आवेश में वहाँ की स्थावर-जंगम सृष्टि भी स्तब्ध, निष्क्रिय और जड़-सी हो गई थी। आनन्द के आवेश में पवन भी ठहर गया था। युद्ध के समाप्त हो जाने पर विहार-शय्या से उठकर, चुपचाप, थके हुए होने के कारण लटपटाती सी चाल से, एक-दूसरे की बांह का सहारा लेकर वहाँ आगये। युद्ध के प्रसंग में वस्त्र और आभूषण अस्तव्यस्त हो गए थे, अतः यथा-तथा उन्हें इधर-उधर से समेट कर आधा ही पहिन पाये थे। बाल खुलकर बिखर गये थे, उनसे टूटकर मालायें गिर पड़ी थीं और पैरों से टूटकर घिसटते पायजेबों की किंकिणियाँ ऐसे बज रही थीं जैसे दो हाथियों की संकलें हों। हिलते-लटकते केयूर और अंगद मानों उन हाथियों के घंटे थे और फैले हुए बालों की जड़ों से पसीना ऐसे झर रहा था जैसे हाथी का मद। इस अवस्था में वहाँ आकर बोले—'तुम्हारे इस स्थान पर तो बड़ी सुन्दर हवा चल रही है। जरा हमारे जोर से पंखा तो झलो।' तब असीम प्रसन्नता से मैंने उनका तत्समयोचित आतिथ्य-सत्कार किया, तो प्रसन्न होकर कहने लगे—'शाबास! खूब सेवा की। तुम्हारा कल्याण हो।' इस प्रकार की प्रशंसा की भागिनी बनकर मैंने सुकृतिनी' (भाग्यशालिनी) का गौरव प्राप्त किया। संसार की भाषा में जिसे 'सुकृती' कहते हैं, यह उससे भिन्न है।

एवं स्मरसमरश्रमापोहाश्रयत्वाधिकारगौरवानन्दः स्वस्योपर्वाणतः ॥१९२॥

इदानीं परमसच्चिदानन्दघनश्रीवृन्दावन तत्सुखमयसकलतरुवल्लीनिकुञ्जादित्वात् सुखमारुतसेवालग्नहितसखीतल्पकल्पनानवकाशे तदिङ्गितेनैव शयननियतसमयप्राप्तिप्रेरणया कुञ्जेनैव स्वकोमलपेशलकुसुमदलैर्निर्मितं तल्पम् । तत्र संप्राप्य सुखशयितयोर्दम्पत्योश्चरणसंवाहनं स्वकृतं वर्णयति—

मिथः प्रेमावेशाद्घनपुलकदोर्वल्लिरचित-
प्रगाढ़ाश्लेषेणोत्सवरसभरोन्मीलितदृशौ ।
निकुञ्जक्लृप्ते वै नवकुसुमतल्पेऽधिशयितौ
कदा पत्संवाहादिभिरहमधीशौ नु सुखये ॥१९३॥

परस्परं प्रेम्ण आवेशः प्रियस्याभिलाषसमयस्तस्यप्रियायामावेशात्, यथा याचकाभिलाषेण वदान्यस्य दानवीरत्वमुदेति तद्वत् । उभयप्रेमसंयोगे स्वैक-

---

रसकलश

इस प्रकार प्रस्तुत पद्य द्वारा श्रीहितसखी ने सुरत-युद्ध की थकान को दूर करने का अधिकार और गौरव पाकर जिस आनन्द का अनुभव किया उसी का वर्णन यहाँ किया ॥१९२॥

श्रीवृन्दावन सच्चिदानन्दघनस्वरूप है और वहाँ के वृक्ष, लता, निकुंज आदि सब श्रीवृन्दावन के सुख से ओतप्रोत हैं । श्रीहितसखी प्रिया-प्रियतम को सुख प्रदान करने वाली पंखे की हवा करती हुई सेवा में जुटी हुई हैं, अतः उन्हें इतना अवकाश नहीं मिला कि विहार शय्या सजा दें । उधर शयन का निश्चित समय आ पहुँचा था, अतः उनका संकेत पाकर स्वयं कुंज ने ही अपने कोमल, स्निग्ध फूल-पत्तों से शय्या प्रस्तुत कर दी । श्रीयुगल जब आराम से शय्या पर पौढ़ गये, तब श्रीहितसखी उनके चरण पलोटने लगीं । उसी का वर्णन अब किया जाता है—

'पारस्परिक प्रेमावेश के कारण घने रोमांचों से युक्त भुज-लताओं द्वारा किये गये आलिंगन के उत्सव के आनन्द में आँखें बन्द किये, निकुंज में बिछी हुई नवीन फूलों की सेज पर सोये हुए स्वामिनी और स्वामी के पैर पलोट कर तथा अन्य सेवा करके मैं उन्हें कब सुखी करूँगी ?' ॥१९३॥

दोनों एक-दूसरे के प्रेम के आवेश में भरे हैं । प्रियतम का प्रेम अभिलाषमय है और प्रियाजी में उसी का आवेश है—ठीक वैसे ही जैसे याचक को प्रार्थना करते हुए देखकर दाता में दान-संबन्धी उत्साह भर जाता है । दोनों प्रेम व्यक्ति के हिसाब से दो

प्रेमपुलकत्वेऽपि घनत्वं जातम्। प्रियायाः प्रसादमयस्तस्य तस्मिन्नावेशा-द्दौर्लभ्यप्राप्तिहर्षात् संयोगपुलकत्वेऽपि घनत्वं जातम्।

तादृशीभिर्भुजवल्लीभिः कर्तृभिः रचितो यः प्रगाढो श्लेषस्तेनोत्सवत् स परिकराविर्भाववृद्धि प्राप्तो यो रस स्तस्य भरः पारवश्यं तेनानन्दाधिक्यादुदधिकं मीलिते दृशौ नेत्रे ययोस्तौ। तदानीं सुखमारुतं संभुज्यानवच्छिन्नरुच्यतिशयेन भूयो भुजाश्लिष्टौ। ततोऽपि गाढालिङ्गनापरिहार्यत्वेन। रसानन्दासवघूर्णनया तन्द्रा जाता। रूपासक्तयोरपि मिथोऽङ्गैक्ये दर्शनानवकाशोऽभूत्। तदनन्तरं कुसुमतल्पेऽधिशयिताविति। यदि सर्वाङ्गपुलकत्वं तदा निर्विशेष एव। दोर्वल्योरेवाधिक्ये च दातुरपि करमुख्यत्वं, याचकस्यापि करमुख्यत्वम्। तेन तयोरेव प्राथम्यं पुलकस्येति। तत एव तयोः संयोगे परमोत्सवो जातः। भुजयोः कर्तृत्वं तत्कार्यपुरस्सरत्वात्। सचिवयोः कार्यसमर्थतां दृष्ट्वा नृपस्यानन्दशयनं स्यादेव। तद्वन्मीलन्नेत्रत्वम्।

रसकलश

हैं, अत एव प्रेमजन्य रोमांचों की अपनी-अपनी पृथक् सत्ता है, किन्तु जब दोनों के प्रेम मिलकर एक हुए, तो रोमांचों का भी वर्ग-भेद मिट गया और वे सघन हो गये। प्रियाजी का प्रेम कृपामय है और उसका आवेश प्रियतम में है। प्रियाजी के संयोग के रूप में प्रियतम को जो अलभ्य लाभ हुआ उसकी प्रसन्नता में संयोग के कारण उठे हुए रोमांच घने हो गये।

इस प्रकार के घने रोमांचों से व्याप्त लता जैसी भुजाओं द्वारा रचा गया जो गाढ़ आलिंगन उससे मिलन-रस वैसे ही बढ़ गया जैसे भाई बन्धु, नाते-रिश्तेदारों के आ जाने से उत्सव का आनन्द बढ़ जाता है। (यहाँ, प्रेम, पुलक, आलिंगन आदि रस के परिकर समझने चाहिये।) रस के प्रगाढ़ होने के कारण प्रिया-प्रियतम परवश जैसे हो गये और आनन्द की अधिकता से दोनों की आँखें बन्द हो गई। तब सुखदायक वायु का आनन्द लेकर अनवरत रुचि के आधिक्य के कारण फिर दोनों भुजाओं में लिपट गये। तब गाढ़ आलिंगन तो होना ही था, अतः रसपूर्ण आनन्द की मदिरा की झोंक में झपकी आ गई। दोनों दोनों के रूप के प्रति आसक्त थे, फिर भी आलिंगन में अंगों के एक हो जाने के कारण एक-दूसरे को देखने का अवकाश न था। तत्पश्चात् दोनों फूलों की सेज पर सो गये। यदि सब अंगों में रोमोद्गम माना जाय, तब तो वह समान ही था। यदि कहा जाय कि भुजायें सब अंगों से अधिक रोमांचित थीं, तो यह ज्ञातव्य है कि दान-क्रिया में दाता और याचक दोनों के हाथों की प्रधानता रहती है, अतः दोनों की भुजाओं के रोमांच की प्राथमिकता स्वतः सिद्ध है। इसलिये उन भुजाओं के संमिलन से ही उत्सव का प्रारंभ हुआ। मिलने का काम भुजाओं ने ही किया। श्रीगणेश उन्हीं

रचनं बुद्धिपूर्वकं भवति, तत्तु तत्र सहजाभ्यासादेव। नचैवं रचयावः, तत्र रचितैति तादात्विकसौन्दर्यं स्वहृदयसाक्षितया द्योतयति। तत्तु अयथावदपि वेष्टनं सुन्दरमेव स्यात्। ततः 'अहो! पश्य, रचित इवाश्लेषः।' गाढाश्लेषेऽपि प्रकृष्टत्वं तादात्विकदौर्लभ्यमननादेकीभवनावेशमयम्। सकम्पप्रसारोल्लासात् 'वल्लि' इति। तत्र रोमाञ्चान्येव पल्लवानीति।

तदा तन्द्रां दृष्ट्वा तत्रैव कुञ्जेन तल्पनिर्मितिः। यथा शतके—

आयान्तौ वीक्ष्य ये स्वं तलमतिरसिकौ राधिकाकृष्णचन्द्रौ
चन्द्रौघैर्दिव्यदिव्यैरपि किमपि न संस्पृष्टवक्त्रेन्दुकान्ती।
सद्यः सन्त्यज्य सत्पल्लवकुसुमचयं तल्पकं कल्पयन्ति
श्रीवृन्दारण्यधन्यद्रुमतनुभगवत्पार्षदांस्तान् भजन्तु ॥६।२४

रसकलश

को करना होता है। मंत्री की कार्य-क्षमता देखकर जैसे राजा चैन की नींद लेता है, वैसे ही भुजाओं की कारगुजारी के कारण युगल ने भी निश्चिंत होकर आँखें बन्द करलीं। पद्य में प्रगाढ़ आलिंगन को रचने की बात कही गई है। रचना तो सोच-समझ कर की जाती है, पर यहाँ तो भुजाओं द्वारा आलिंगन की रचना सहज भाव से ही होती है—यह सोचकर नहीं कि ऐसे सोयेंगे। वहाँ तो स्वतः ही आलिंगन 'रचित' हो जाता है। इस प्रकार 'रचित' शब्द तत्कालीन सौन्दर्य का बोध कराता है जिसका कि साक्षी श्रीहितसखी का अपना हृदय है। आलिंगन की यह रचना जैसी चाहिए वैसी भले ही न हो, पर होगी सुन्दर ही। अतः यह कहा जा सकता है कि 'अहो! देखो तो, आलिंगन (विधिपूर्वक) रचित-सा लगता है!' आलिंगन के गाढ़ होने पर भी उसे 'प्रगाढ़' करने का अभिप्राय यह है कि उस समय की दुर्लभता के विचार से प्रिया-प्रियतम एकाकार होने के आवेश से भर गये थे। इसीलिये आलिंगन में तीव्रता आगई थी। भुजाओं को 'लता' इसलिये कहा गया है कि सात्विक भाव के कारण उन मेंकंपन था, फैलाव था और उल्लास था। रोमांच ही उस लता के पत्ते हैं।

तब युगलस्वरूप को नींद से झुका हुआ देखकर कुंज ने वहीं शय्या तैयार कर दी। श्रीवृन्दावन शतक में कहा है—

'दिव्यातिदिव्य चन्द्र-समूह भी जिनके मुखचन्द्र की कान्ति को छू नहीं पाते, ऐसे अति रसिक श्रीराधा और श्रीकृष्णचन्द्र को अपने नीचे आया हुआ देखकर जो वृन्दावनवासी, धन्य, वृक्ष-शरीरधारी भगवत्-पार्षदगण उत्तमोत्तम पल्लव और पुष्पों की वर्षा कर शय्या की रचना करते हैं, उनका भजन कीजिये।' ॥६/२४

कुसुमानां नवत्वं परमसौरभ्यमार्दववैशिष्टचम् । 'अधिशीङ्स्थासामाधारः कर्म' इति कर्माभावः । परस्परभुजोरःस्थलानन्याधेयत्वेन तल्पाधारविस्मृतिं द्योतयति । तादृशौ रसावेशनिद्राणौ दम्पती अधीशौ स्वामिनौ राज्ञीनृपाविव दास्यविषयौ । पदयोः संवाह उपलालनम् । आदिशब्देन वीजनताम्बूलजलादिभिः कथानकैर्वा सुखयतु, इति पृच्छायां स्वमानसीमेव हर्षेण पृच्छति—'अहह ! सुखरूपावेतौ किमधुना सुखये' इति परमस्नेहं द्योतयति ।।१६३।।

तदानीमुभयपदमृदुतरसंवाहनानन्देऽप्यनन्याश्रयस्वाभाव्येन तावद्गौरमहोध्यानमेव हृदि करोति—

मदारुणविलोचनं कनकदर्पकामोचनं,
महाप्रणयमाधुरीरसविलासनित्योत्सुकम् ।

रसकलश

फूल इस अर्थ में नये हैं कि अत्यन्त सुगन्धित और कोमल हैं । 'अधि उपसर्गपूर्वक शी, स्था या आस् धातु का प्रयोग होने पर आधार की कर्म-संज्ञा होती है'—इस नियम के अनुसार 'नवकुसुमतल्पम्' पाठ होना चाहिए था, किन्तु प्रस्तुत में नहीं हुआ । इसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण और श्रीराधा को एक-दूसरे की भुजा और वक्ष.स्थल का आधेय होने के कारण दोनों इस बात को भूल गये कि वे शय्या पर सो रहे हैं । रस के आवेश में निद्रा भरते हुए इस प्रकार के युगल-स्वरूप के, जो कि अधीश अर्थात् स्वामी हैं और राजा-रानी की भांति दास्य के विषय हैं, पैर पलोट कर उन्हें कब सुखी करूँगी । 'पाद-संवाह' का अर्थ लाड़-प्यार से श्रीचरणों की सेवा करना है । 'आदि' शब्द में पंखा झलना, पान-पानी आदि प्रस्तुत करना भी आ जाता है । क्या सुखी बनाऊँगी ?—यह प्रश्न है जिसके द्वारा श्रीहितसखी अपनी मानसी सखी से पूछती हैं—'अहह ! सुख के स्वरूप इन दोनों को इस समय क्या सुख दे सकूंगी ? इससे परम स्नेह प्रकट होता है ।।१६३।।

पूर्व पद्य में किये वर्णन के अनुसार यद्यपि श्रीहितसखी दोनों के चरणों को हलके-हलके दबा कर सेवा का आनन्द ले रही थीं, फिर भी श्रीराधा के सिवा अन्य किसी का आश्रय लेने का जो स्वभाव पड़ गया है, उसके कारण हृदय में गौर तेज का ही ध्यान करती हैं—

'मद के कारण लाल हुए नेत्रों से युक्त, सुवर्ण के अभिमान को खंडित करने वाले, उद्भट प्रेम-मधुरी से युक्त, रस-क्रीड़ा के लिए सदैव उत्कंठित, नवीन किशोर अवस्था

लसन्नववयः श्रिया ललितभङ्गिलीलामयं,
हृदा तदहमुद्वहे किमपि हेमगौरं महः ।।१६४।।

अहमन्तरङ्गा गौरचरणानन्याश्रया हिताली तत्प्रियप्रेमाश्लेषरसावेश-तन्द्रितं स्वरवचनसमलङ्कृतमहेन्द्रमणीकं किमप्यनिर्वचनीयं हेमवद्गौरं महेस्तेजो हृदा तद्ध्यानहरणशीलेनोद्वहे धारयामीति । तत्किमित्यपेक्षायां वैशिष्टचमाह—मदेनारुणे विलोचने यस्य तत् । तादात्विकस्तु सुरतासवः प्रियाधरासवश्च कोटिमादकतामूल एव । अन्येऽपि नित्यस्थायिन एव । यथा च कन्दर्पकोटिलावण्यसकलसद्गुणातिशयशालिनिजाज्ञावर्तिप्रियसौभाग्यं प्रत्यङ्गप्रेमोच्छलनकोटिसिन्धुतरङ्गा उच्छलन्त्येव, यौवनरूपलावण्यवैदग्ध्य-कृपाछविकलाकौशलादय अपारवारा एव मदा ! किं भण्यते । प्रस्तुते तु

रसकलश

की कान्ति से सुशोभित, स्वर्ण के समान गौर किसी अनिर्वचनीय तेज को मैं हृदय में धारण करती हूँ ।' ।।१६४।।

मैं अनन्य हिताली जिसका गौर चरणों के सिवा अन्य कोई आश्रय नहीं है, अपने प्रियतम के प्रेमालिंगन के आवेश में सोते हुए, अपने स्वर और वाणी से इन्द्रमणि को भी विभूषित करने वाले, स्वर्ण की तरह गौर किसी अनिर्वचनीय तेज को हृदय में धारण करती हूँ । 'हृदय' का अर्थ है हरण करने वाला । प्रस्तुत में अर्थ होगा—प्रियाजी के ध्यान को हरण करने वाला—अपनी ओर खींचने वाला । गौर-तेज का विशेषण देते हैं –'मदारुणविलोचनम्' । जिसके नेत्र मद से लाल हो रहे हैं । जिसे पीकर उस समय नेत्र लाल हो रहे हैं, वह तो सुरत-मदिरा अथवा प्रियतम का अधरासव है । करोड़ों मादकताओं के मूल में यही मदिरा है । इसके अतिरिक्त अन्य मद भी हैं जिनका प्रभाव स्थायी होता है । उदाहरणार्थ—कोटि-कोटि कामदेवों के लावण्य तथा समस्त सद्गुणों से सुशोभित, अपने आज्ञानुवर्ती प्रिय से सौभाग्यशालिनी होने का मद, अंग-अंग में प्रेम के उछलते हुए करोड़ों समुद्रों की लहरें उठती ही रहती हैं, रूप, लावण्य, नागरीपन, कृपा की छवि, कला-कौशल आदि के अपार समुद्र भी मद ही हैं । कहाँ तक कहा जाय ? प्रस्तुत में तो प्रिय की अधर-मदिरा पीने से ही नेत्रों में लाली छाई हुई है । इन नेत्रों की उस समय की शोभा बढ़ी हुई दिखती है, अतः 'लोचन' के पूर्व 'वि' उपसर्ग लगाया है, जिसका आशय यह है कि नेत्र अलौकिक रूप से चमत्कारपूर्ण हैं । कोटि-कोटि कवियों की वाणी को कृतकृत्य करने वाले ये ही नेत्र हैं । यद्यपि नेत्र उस समय बन्द थे, पर बीच-बीच में प्रियतम के हृदय के लालसापूर्ण आशय का आभास पाकर

मदेन प्रेष्ठाधरासवपानेनैवारुणत्वम् । तादात्विकशोभातिशयदर्शनाल्लोचने वीति पदं दत्तम्, लोकोत्तरचमत्कारित्वात् । विलोचने तु कविकोटिसार्थीकरण इम एव । तदानीं मीलनेऽपि मध्ये मध्ये किञ्चित्प्रियहृदिङ्गितलौल्यनिजहृत्साक्षितयेषत् ससंरम्भास्मितोन्मीलनं, तेनारुण्यदर्शनादुक्तिः । पदसंवाहयन्त्या अपि सर्वतः प्रतीकं चक्षुःसंचारिणीत्वं समाहितत्वम् ।

अन्याङ्गदर्शनादाह—कनकस्य दर्पकं सौन्दर्यश्रेष्ठयगौरताद्यभिमानं आ सर्वतो मोचयतीति तत्यदङ्गदृष्ट्या द्रुतकनकं नीराजयेदिति । यद्वा हेमेत्युक्तेरन्यार्थोऽपि—कनके धत्तूरे मादकताया यो दर्पस्तस्य कं सुखं महाव्यसनिनां भवति तादृशमादनं द्रष्टीणां सखीनामामोचयति, परिधापयति, ददातीति । 'आमुक्तकवच' इत्यत्राङ्पूर्वकस्य मुचः परिधानार्थदर्शनात् । अपूर्वोऽयं मदो यद्दर्शनादेवमादयेदिति ।

मिथो महाप्रणयमाधुरीयुक्तं रसविलासे नित्यमुत्सुकम् । परात्परतमाखण्डनित्यत्वात् प्रेम्णो महत्वम् । यथा—'राधाप्रेममहर्द्धिभूषिततनुः' इति ।

रसकलश

जिसका कि साक्षी उनका अपना हृदय था, हलके से आवेश में प्रियाजी मुस्करा देती थीं और फलस्वरूप नेत्र किंचित् खुल जाते थे । इसी अवसर पर श्री हितसखी को नेत्रों की लालिमा के दर्शन हो जाते थे, अतः उन्होंने इस प्रकार का वर्णन किया है । पैर पलोटते रहने पर भी श्री हितसखी की दृष्टि इधर-उधर, चारों ओर घूमती रहती थी और सावधान रहती थी ।

दूसरे अंगों को देखकर उनकी शोभा का वर्णन करती हैं—'कनकदर्पकामोचनम् ।' सुवर्ण के इस अभिमान को कि मैं सुन्दरता में सर्वश्रेष्ठ हूँ, गौरवर्ण और दीप्तिमान् हूँ, सब प्रकार के छुड़ाने वाले—मिटाने वाले । जिनके श्री अंगों को देखकर तपाकर पिघलाया गया सोना भी आरती उतारे । 'कनक' का दूसरा अर्थ भी लगता है । 'कनक' अर्थात् धतूरे की मादकता के अभिमान का जो सुख ऊँचे नशाबाजों को होता है, वैसा ही सुख श्रीराधा के अंग देखने वाली सखियों को देते हैं । इस व्याख्या में 'क' का अर्थ 'सुख' लगाना होगा और 'आमोचनम्' का अर्थ होगा 'पहिनाने वाला; अर्थात् देने वाला । (विग्रह इस प्रकार होगा—दर्पस्य कं आमोचयतीति' ।) 'आमुक्तकवचः' इस उदाहरण में आङ् उपसर्गपूर्वक 'मुच्' धातु का अर्थ पहिनना ही देखा जाता है, (तदनुसार प्रस्तुत में भी अर्थ लगाया जा सकता है ।) अनोखा है यह मद जिसके देखने मात्र से नशा चढ़ आता है ।

यह गौर तेज पारस्परिक महाप्रेम की माधुरी से युक्त रसपूर्ण विलास के लिये सदा उत्कंठित रहता है । प्रेम का महत्व इसमें है कि वह परात्परतम, अखंड और

तस्य माधुर्यं लोकवल्लीलत्वं प्रेमास्पदत्वं येन दृष्टेनैश्वर्यमपि विस्मरेत् । एतत्प्रभावा माधुरी तद्युक्तः शृङ्गारविलासो नतु केवलवत्वेऽन्यनायिकानायकवत् कामदैन्यमयः, प्रेमैकराज्यत्वात् । विलासे विलसने अनन्तकल्पानि व्यतीतानि, परन्तु प्रणयोत्कटत्वेन लालसाया अविरामत्वात् प्रतिक्षणौत्सुक्यमेव यत्र नित्यस्थायि । तथैव नित्यनववयःकैशोरपरमशोभया लसच्छोभनमिति । आरुण्याद्येषु यत्र यत्र मनः पतति तस्यैव परममोहकत्वात् तथैव वदति ।

ललिताश्च ता भङ्ग्यश्च तद्युक्ता लीला तत्प्रचुरं, वा स्वरूपार्थे मयट्, नित्यत्वाद्गुणानाम् । ललितं यथा—

विन्यासभङ्गिरङ्गानां भ्रूविलासमनोहरा ।
सुकुमारा भवेद्यत्र ललितं तदुदीरितम् ।।

रसकलश

नित्यस्वरूप है। (इसीलिए उसे यहाँ 'महाप्रेम' कहा गया है।) श्रीवृन्दावनशतक में लिखा है—'श्रीराधा का शरीर प्रेम के महान् वैभव से सुशोभित है।' उस प्रेम का माधुर्य लोकवत् लीला में साकार होता है। माधुर्य ही प्रेम का आश्रय है जिसे देखने मात्र से ऐश्वर्य भुला दिया जाता है। ऐसा है प्रभाव माधुरी का। उससे युक्त है श्रीराधिका का श्रृंगार-विलास। यह वैसा विलास नहीं है जैसा कि साधारणतया दुनिया में देखा जाता है। उसके नायक-नायिक में भोगेच्छा और दैन्य की ही प्रबलता रहती है। उसके विपरीत यहाँ केवल प्रेम का राज्य है। अब आया—'विलासनित्योत्सुकम्।' श्रीराधा-कृष्ण को विलास करते हुए अनन्त युग बीत गये परन्तु प्रेम की तीव्रता के कारण लालसा का अन्त नहीं आता, बल्कि प्रतिक्षण उत्कंठा वहाँ नित्यभाव से स्थायी बनी रहती है। इसी प्रकार नित्य नवीन किशोरावस्था की छवि से वह गौर तेज सुशोभित रहता है। नेत्रों की अरुणता आदि में मन जहाँ-जहाँ अटक जाता है, वही अंग परम मोहक लगता है और उसी की प्रशंसा करता है। 'ललितभङ्गिलीलामयम्'—ललित जो भंगियाँ, उनसे युक्त जो लीला, वही प्रचुरमात्रा में वहाँ विद्यमान रहती है। 'लीलामयम्' में प्राचुर्य के अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय है। स्वरूपार्थ में भी यह हो सकता है, क्योंकि ये गुण नित्यरूप से श्रीराधा में रहते हैं। अथवा लालित्य, भंगिमा और लीला की अपनी-अपनी पृथक् सत्ता में भी वहाँ स्थिति मानी जा सकती है। (इस व्याख्या के अनुसार समास इस प्रकार करना होगा—ललिताश्च ता भंग्यश्च लीलाश्च तन्मयम्—सुन्दर भंगिमाओं तथा लीलाओं से युक्त।) ललित की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

लीला साहजिक सप्रेममाधुर्याङ्गचेष्टा। भंग्यश्च प्रत्यङ्गमोटनानिर्वचनीयलावण्यमय्यः। विलासो यथा—

गतिस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।
तात्कालिकन्तु वैशिष्टयं विलासः प्रियसङ्गजम्॥

ये नाटयविशारदा गन्धर्वाद्या वा शारदैव यदभिनयेत् तदपि तादृक् सौन्दर्यमगम्यमेवेति तादृशमानंत्यं सर्वं ज्ञेयम्।

अत्र शयनसामयिकललितलीलाभंगिविलासाद्यास्तु प्रस्तुता यादृशास्तादृशाः सहृदयभावनीया एव। किं तान् मादृशो मन्दो वक्तृत्वेन विग्लापयेदिति। यद्वा मुक्तकपक्षे सार्वदिक्शोभावर्णनं विशेषणानामिति यथासमयं भावनीयम्॥१६४॥

एवं मदप्रणयरसविलासोत्साहवयोलीलाभङ्गिविशिष्टं स्वस्वामिनीरूपं हृदये निधाय तादात्विकं हेम्नि मरकतखचनसौष्ठवं पश्यन्ती मिथुनशोभां वर्णयति—

रसकलश

'जहाँ भ्रकुटियों के विलास से मनोहर अंगों के विन्यास की भंगिमा हो, उसे 'ललित' कहते हैं।'

अंगों की प्रेम-माधुर्य से परिपूर्ण स्वाभाविक चेष्टा को 'लीला' कहा जाता है और अनिर्वचनीय लावण्य से युक्त प्रत्येक अंग को घुमाना, मोड़ना 'भंगी' है।

'विलास' की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

'खास समय पर, खास ढंग से चलने, खड़े होने और बैठने को तथा मुख, नेत्र आदि से की गई चेष्टाओं को 'विलास' कहते हैं जोकि प्रिय के साथ होने पर होता है।'

नाटच-कला-विशारद गन्धर्व आदि अथवा स्वयं सरस्वती ही इन भावों का अभिनय क्यों न करें, पर जो सौन्दर्य उनका श्रीराधा में देखने को मिलता है, वह दुर्लभ है। उसी प्रकार का सब सौन्दर्य यहाँ समझना चाहिये।

यहाँ शयन-समय की सुन्दर लीला और भंगियों के विलास आदि को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उसकी भावना तो सहृदयजन ही कर सकते हैं। मुझ-जैसा मन्द-बुद्धि उनके स्वरूप का निर्धारण नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में मैंने कुछ कह कर उनके स्वरूप को बिगाड़ा ही है। मुक्तक-पक्ष में यह समझना चाहिए कि पद्य में प्रयुक्त विशेषणों द्वारा श्रीराधा की सनातन शोभा का ही वर्णन किया गया है॥१६४॥

इस प्रकार रस, प्रेम, रास-विलास की उत्कंठा, किशोरावस्था, लीला एवं हाव-भाव से विशिष्ट अपनी स्वामिनी के रूप को हृदय में स्थापित कर उस समय दर्शनीय, सुवर्ण में जड़ी मरकत-मणि जैसी युगल की शोभा का वर्णन करती हैं—

मदाघूर्णन्नेत्रं नवरतिरसावेशविवशो-
ल्लसद्गात्रं प्राणप्रणयपरिपाट्याः परतरम् ।
मिथोगाढाश्लेषाद्वलयमिव जातं मरकत-
द्रुतस्वर्णच्छायं स्फुरतु मिथुनं तन्मम हृदि ।१६५।

तदिति मदेत्यादिविशिष्टं मिथुनं मम हृदि स्फुरतु। मदेन सुरतेतर-वृत्तविस्मारकतद्वर्धकमाध्वीकेन, वा परस्पराधरासवेन अत्यन्तं घूर्णती नेत्रे यस्य तत् । मध्ये मध्ये परस्परमुखावलोकनान्तरायमसहत् स्वस्वनिधिम-प्रमादेन रक्षत् पुनश्च वक्षःस्पर्शानन्दाधिक्यपारतंत्र्यान्निमीलितनेत्रमिति तदानीमारुण्यघूर्णनादिभावं पश्यन्त्योक्तम् ।

'नव' इति । रुच्याधिक्याद्वा वैपरीत्यान्नवीनस्य रसस्य य आवेश-स्तदितरवेद्याभावसाहसस्तेन विवशे तन्मये उल्लसन्ती हर्षोत्फुल्लतां प्राप्नु-

रसकलश

'मद से जिसके नेत्र घूम रहे हैं, नवीन संभोगानन्द के आवेश से जिसका शरीर पराधीन-सा और प्रफुल्लित हो रहा है, प्राणों से भी प्यारे प्रेम की परंपरा से बहुत परे का पारस्परिक प्रगाढ़ आलिंगन से कड़े की तरह गोलाकार हुआ, मरकत-मणि जटित पिघले हुए सोने की सी कान्ति वाला युगलस्वरूप मेरे हृदय में प्रतिभासित हो।' ॥१६५॥

'मदाघूर्णन्नेत्रम्' आदि विशेषणों से युक्त युगल-स्वरूप मेरे हृदय में प्रतिभासित हो। श्रीराधा-कृष्ण के नेत्र मद से घूम रहे हैं। मद से अभिप्राय मदिरा का है जो सुरत के सिवा अन्य सब विषयों को भुला कर केवल सुरत अभिलाषा को ही बढ़ाती है। अथवा अधर-रसरूपी मदिरा को पीकर नेत्र घूम रहे हैं। उन्मत्तता की इस स्थिति में भी दोनों को बीच-बीच में एक-दूसरे के मुख-कमल को देखना भी आनन्द में व्यवधान जैसा प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी अपनी-अपनी निधि को वे सावधानी से रक्षा करते हैं, (अर्थात् एक-दूसरे को अपने से पृथक् नहीं होने देते।) इसके बाद वक्षःस्थल के स्पर्श के तीव्र आनन्द से विवश होकर आँखें बन्द कर लेते हैं। तब नेत्रों की अरुणिमा तथा उन्हें घुमेर खाता हुआ देखकर श्रीहितसखी ने कहा—

'नवरतिरसावेशविवशोल्लसद्गात्रम्।' रुचि के बढ़ जाने अथवा विपरीत रति में प्रवृत्त होने के कारण दोनों नवीन काम-रस के आवेश में भर जाते हैं। इस आवेश में वह साहसपूर्ण स्थिति आ पहुँचती है कि अन्य विषयों का ज्ञान ही लुप्त हो जाता है।

वन्ती गात्रे यस्य तत् । तत्रैवं मदनविलासेऽपि परस्परप्रेमास्पद तत्सुखित्व पराकाष्ठामाह—सर्वेषां प्राणाः प्रियतमा भवन्तीति प्रसिद्धम् । तेषां प्रणयस्तस्य परिपाटी परम्परा यदि क्रियते सोपानवत्, ततोऽप्यतिशयेन परं यत् स्यात् तादृशं मिथोवल्लभम् । तत एव श्रीचतुराशीत्यादावेवोक्तम्—'हारितात्मप्राणकोटिमन्मथस्तन्वसुप्रियः' इत्यादि । नातःपरमुभयोरेवमुभयमिति परत्वाभावात् तरत्वम् । सर्वावधिप्रेमास्पदीभूतमित्यर्थः तत एव परस्परगाढाश्लेषाद्वलयमिव जातम् । भालनयनमुखचिबुकोरःस्थलोदरमध्योरुजानुचरणभुजादीनां गौरे श्यामः श्यामे गौर इति प्रतिप्रतीकवेष्टनेनोभयवर्णग्रथितं वलयरूपमिवेति । तदुपमामाह—मरकतश्च द्रुतो दाहोत्तीर्णः स्वर्णश्च तद्वच्छाया कान्तिर्यस्य । 'द्रुत' इति खचनदाढर्च सौष्ठवार्थम् ।

रसकलश

आवेश इतना तीव्र है कि उसके कारण दोनों विवश अर्थात् पराधीन से हो जाते हैं और उनके शरीर इसी से प्रफुल्लित हो उठते हैं । इस प्रकार की काम-क्रीड़ा में भी पस्पर की प्रेमपात्रता, एक के सुख में दूसरे का अपने को सुखी मानने की भावना चरम सीमा पर बनी रहती है । उसी का अब वर्णन करते हैं—'प्राणप्रणयपरिपाटचाः परतरम् ।' यह तो प्रसिद्ध ही है कि प्राण सब को अत्यन्त प्यारे होते हैं । तो उन प्राणों के प्रति जो प्रेम, उसकी परिपाटी—सीढ़ियाँ जैसी बनाई जायँ, तो उससे भी परे का तत्व हैं श्रीयुगल किशोर, (भाव यह है कि प्राणों के प्रति प्रेम में यदि कोई उच्चावच का क्रम मान लिया जाय, तो श्रीराधाकृष्ण का पारस्परिक प्रेम उस क्रमिक परंपरा की सर्वोच्च शिखर से भी परे की वस्तु है ।) एक दूसरे को वे इतने प्रिय हैं । श्रीहितचौरासी में कहा है—

'मेरे तन मन प्रान हूँ ते प्रीतम प्रिय
अपने कोटिक प्रान प्रीतम मो सौं हारे ।।' इत्यादि ।

दोनों के लिये दोनों इससे अधिक नहीं हो सकते—यह हुआ परत्व का अभाव जिसे कि तरप् प्रत्यय द्वारा प्रकट किया गया है । सर्वोच्च सीमा पर पहुँचे हुए प्रेम के विषय हैं दोनों—यह भाव है । इसीलिये प्रगाढ़ आलिंगन में गोलाकार से हो गये हैं । मस्तक, नेत्र, मुख, ठोड़ी, वक्षःस्थल, पेट, कमर, जंघा, पिंडुलियाँ, चरण, भुजा आदि के गौरवर्ण का श्याम वर्ण में और श्याम का गौर में मिश्रण हो गया और प्रत्येक अंग की लपेटन के फलस्वरूप दोनों रंगों से निर्मित कड़े की भाँति स्वरूप हो गया । इसी की उपमा देते हैं—'मरकतद्रुतस्वर्णच्छायम् ।' मरकत मणि और तपा कर गलाये गये सोने जैसी कान्ति से युक्त । सोने को गले हुए रूप में इसलिये बताया गया है कि मरकत

'छाया' इति कान्त्यर्थेऽप्यभिन्नत्वनिर्देशार्थं, तादात्विकगात्रोल्लासवलयदर्शनीयतायाः हितालीहृदयसाक्षिकत्वम् । 'प्रणयपरिपाटी' इति मिथः सम्बन्धिन्युक्तैव । यद्वा तदानीं दर्शनानन्दोज्जृम्भातिशयितहृदयेन कोटिप्राणप्रणयपरम्परानिर्मर्द्दनीकरणात् सखीसंबन्धिन्येव ! एवं कुन्दनजटितमहेन्द्रनीलमणिमण्डनं मम हृन्मण्डनमस्त्विवति ।।१९५।।

एवं गौरश्यामैकवलये हृदयं निमज्य पुनः सचित्ता तदेव वर्णयति—

परस्परं प्रेमरसे निमग्न-
मशेषसम्मोहनरूपकेलि ।
वृन्दावनान्तर्नवकुञ्जगेहे,
तन्नीलपीतं मिथुनं चकास्ति ।।१९६।।

रसकलश

मणियाँ उसमें अच्छी तरह बैठ जायें। 'छाया' का अर्थ कान्ति है, पर गूढ़ आशय यह है कि जिस प्रकार छाया शरीर से अभिन्न होती है, उसी प्रकार युगल-विग्रह भी एक हैं । प्रिया-प्रियतम के अंगों का वह उल्लास, उनका आलिंगन में इस प्रकार वर्तुलाकार हो जाना कि देखते ही बने—इस सबका साक्षी श्रीहिताली का हृदय ही है। यह कहा ही जा चुका है कि दोनों को दोनों प्राणों से भी ज्यादा प्यारे हैं। यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि युगलस्वरूप श्रीहितसखी को इतना प्रिय है कि अपने प्यारे प्राणों को यदि वे उन पर न्यौछावर भी करती चली जायें, तो भी प्रियता के सम्बन्ध में परे की वस्तु रहेंगे।

इस प्रकार स्वर्णरवचित नीलमणि को भी सुशोभित करने वाला युगल स्वरूप मेरे हृदय का भूषण हो ।।१९५।।*

इस प्रकार प्रेम में एकरस होकर कुंडली बाँधे हुए युगल-स्वरूप को हृदय में डुबा कर पुनः उसी के ध्यान में निमग्न हो उसी का वर्णन करती हैं—

'प्रेमरूपी रस में परस्पर निमग्न, रूप और केलि से सबको मोहित करने वाला श्याम गौर युगलस्वरूप श्रीवृन्दावन के मध्य में स्थित नवीन कुंज-गृह में सुशोभित हो रहा है ।१९६।।

---

*श्रीगोस्वामि कृपालालजी ने 'प्रणयपरिपाट्यां परतरम्' पाठ मानकर अर्थ किया है—'प्रणय की जो परिपाटी-सार्वदिक रीति उसमें श्रेष्ठभाव से तत्पर ।'

प्रेमरसस्वरूपं पूर्वं यत्र तत्र विवृतमेवाप्यनुवदति—परस्परस्य प्रेमरसे निमग्नमिति। प्रेमैव रस इत्येकत्वेऽपि अभिलाषातिशयाङ्गः प्रेमा, आस्वादाङ्गो रसः। तथैव मिथुनमप्येकरसप्रेम विग्रहमेवापि प्रिये तु प्रेमा व्यक्तः, प्रियायां बहिरव्यक्त आसज्यत्वात्। तस्यां रसश्च व्यक्तः, तस्मिन् बहिरव्यक्तः आसक्तत्वात्। यदा च पारस्पर्यं तदा तावदभिलाषस्तेन तस्यै निवेदितः। तयाप्यङ्गीकृत्य तस्मै रसो दत्तः। एवं विनिमये उग्र भेषजं स्वप्रभावं करोत्येव। सा तु प्रेमविभागेन स्वास्वादस्वरूपातिशयं ज्ञात्वा पुनः पुनः प्रेमाणमेवाभिलषति। स चास्वादे प्राप्य भस्मकीवत् रसमेव भूयोभूयोऽभिलषति। क्षुद्भोजनयोः परस्परैच्छिकत्वात् रसप्रेम्णोः सापेक्षत्वम्। एवमुत्तरोत्तरदाये विभक्ते रसप्रेमवतोरविशेषदर्शनात् सखी वक्ति—परस्परप्रेमरसे नितरां मग्नम्। याचकोऽपि दाता दृश्यते, दातापि याचक-

रसकलश

इससे पूर्व कई स्थानों पर प्रेम और रस का विवेचन किया जा चुका है। उसी को फिर दोहराते हैं—'परस्पर प्रेमरसेनिमग्नम्।' प्रेम ही रस है, इस भावना के अनुसार यद्यपि दोनों एक ही हैं, फिर भी तीव्र अभिलाषा प्रेम का अंग है और आस्वाद रस का। उसी प्रकार रस और प्रेम की एक ही मूर्ति हैं। अन्तर इतना ही है कि प्रियतम में प्रेम व्यक्त (स्पष्ट) है, प्रियाजी में, बाहर देखने में अव्यक्त है, क्योंकि वे प्रियतम की आसक्ति का विषय हैं। प्रियाजी में रस व्यक्त है, प्रियतम में बाह्यरूप में अव्यक्त है, क्योंकि वे आसक्त हैं। पारस्परिक सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में यदि दोनों को देखा जाय, तो स्थिति यह है कि प्रियतम ने उन्हें अपना अभिलाष निवेदित किया और प्रियाजी ने उसे स्वीकार कर बदले में उन्हें रस प्रदान किया। इस प्रकार जब अदल-बदल हुआ, तो ताकतवर दवा अपना असर दिखाएगी ही। प्रियाजी ने यह जानकर कि प्रेम के बंटवारे में उनका अपना स्वरूप आस्वादात्मक है, तो बार-बार वह प्रेम की ही अभिलाषा करती हैं। उधर प्रियतम को आस्वाद मिला, तो भस्मक रोग से ग्रस्त व्यक्ति की तरह, वह रस के ही लिये लालायित रहते हैं। जैसे भूख से भोजन की इच्छा होती है और रुचि के अनुसार भोजन के होने पर भूख बढ़ती है, उसी प्रकार रस और प्रेम को एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर विरासत का बंटवारा होने के बाद भी जब सखी देखती है कि रस के अधिकारी और प्रेम के अधिकारी वास्तव में एक ही हैं, तो कहती हैं—'परस्पर प्रेमरसेनिमग्नम्।' परस्पर के प्रेम रस में अत्यन्त मग्न। जब याचक भी दाता दिखाई दे और दाता याचक, तो दोनों को पृथक् करके कैसे देखा जाय? इसका उत्तर 'निग्नम् में लगे हुए 'नि' उपसर्ग में निहित है जिसका अर्थ है 'नितराम्' यानी निरन्तर। उस समय दोनों के अपने-अपने स्वभावों में

श्चेति कथं विविच्यतेति । नितरामिति तादात्विकशीलसंमोहदर्शनेनाय-तिकप्रकृतिस्थितिसंशयद्योतकम् । अत्र प्रिया तदधरासवादि वाञ्छते, स तु नेति नेतीति वक्ति, इत्येतदन्तमाश्चर्यमपि सहृदयभाव्यम् ।

पुनश्च विशिनष्टि—अशेषाणां संमोहने रूपकेल्यौ यस्य तत् । मिथः संमोहनस्य किमु वाच्यतराम्, सखीजनमोहे वाच्यतमाम् । अपि च वृन्दावनस्थावरजङ्गमानां सम्यग्मोहनमिति । यथा च शतके—

द्रवन्ति हरिभावतस्तरणतारणेऽतिक्षमा
स्ततो द्रुमतरुप्रथा व्रततयश्च कृष्णव्रताः ।
स्फुरन्ति हरिणा इह प्रकटकृष्णसारप्रथा
मृगाश्च पदमार्गिणः प्रविलसन्ति वृन्दावने ॥२।१२

यथा च—

गोविन्दस्तारतारं रणयति मुरलीं राधिका हस्ततालीं
दत्ते मत्तेह वृन्दावनभुवि शिखिनां मण्डली ताण्डवानि ।

रसकलश

अव्यवस्था देखकर इसमें सन्देह हो गया कि भविष्य में दोनों अपनी-अपनी निश्चित प्रकृति पर पुनः आरूढ़ हो सकेंगे । यही भाव 'नि' उपसर्ग से व्यक्त होता है । इस स्थिति में प्रियाजी अधरामृत की कामना करें और प्रियतम 'नहीं, नहीं' कहें, तो यह तो एक आश्चर्य की बात रही जिसका मर्म केवल सहृदय ही जान सकते हैं ।

पुनः विशेषण देते हैं—'अशेषसंमोहनरूपकेलि ।' जिस युगल की रूप और केलि सबको मोहित करती हैं, तो दोनों स्वरूपों का आपस में मुग्ध होना तो कोई खास बात नहीं, और सखियों के मुग्ध होने की बात तो और भी कहने की नहीं । उल्लेखनीय तो यह है कि वृन्दावन-स्थित सब चर-अचर मोहित हो जाते हैं । श्रीवृन्दावन-शतक में कहा है—

'श्रीवृन्दावन स्थित वृक्षों का 'द्रुम' नाम इसलिए सार्थक है कि वे श्रीहरि के भाववश द्रवित हो जाते हैं, और उन्हीं का 'तरु' नाम इसलिए अन्वर्थ है कि वह स्वयं तथा दूसरों को तारने में समर्थ हैं । इसी प्रकार लताओं का 'व्रतति' नाम इसलिए सार्थक हुआ कि उन्होंने श्रीकृष्ण का व्रत धारण किया है । हरिणों का 'कृष्णसार' नाम इसलिए सार्थक हुआ कि उनके लिए श्रीकृष्ण ही परात्पर सार-वस्तु है और वृन्दावन में क्रीड़ा करने वाले 'मृग' इसलिए मृग कहलाये कि भगवान के चरण-चिन्हों का वे मार्गण (खोजा) करते हैं ॥ २।१२ ।

और भी—

इस वृन्दावन में श्री गोविन्द ऊँचे स्वर से मुरली बजाते हैं, श्रीराधिका हाथों से ताल देती हैं, मोर मस्त होकर ताण्डव नृत्य करते हैं । यदि लक्ष्मी (श्रीराधा) और

यर्ह्याश्चर्याणि कुर्यात् स्थगितसकलतत्सत्ववृन्दानि लक्ष्मी-
तत्कान्ताक्रान्तचित्तान्यहह धृतिमधात् तर्हि वृन्दावने कः ॥१२।४२
यद्वा अशेषशब्देन मुक्तकपक्षेऽन्ये लोकेशा अपि ।
वृन्दारण्येति चित्रं प्रकटयति निजं रूपमाश्चर्यवेशौ,
राधाकृष्णौ यदालीततिभिरतिरसं रासरङ्गं प्रविष्टौ ।
सर्वेनिर्वेदमापुर्विधिप्रमुखसुराः स्थूत्कृतब्रह्मभावा-
श्चिन्तां भेजुर्मुनीन्द्रा विभुरपि रमया विह्वलस्तर्ह्यलोटत् ॥१२।४३
एवं निर्देशेन संमोहनशेषाणां ज्ञेयम् । प्रस्तुते तु तात्कालिकनिकुञ्जस्था स्तदभितो निकषा च सर्वे कोकिलमधुपाद्या यामुनं जलं च वातश्चापि संमोहित एवेति ज्ञेयम् । अन्यच्च रूपकेल्योरुभयनिष्ठत्वेऽप्यासज्यस्य रूपै-कमुख्यत्वमासक्तस्य केलिहेतुत्वं च । पुनश्च रूपवत्याः केलिकरणे तत्तत्के-

रसकलश

उनके स्वामी श्रीकृष्ण से आकृष्टचित्त होकर वहाँ के सब प्राणि-समूल आनन्द से जड़-प्राय हो जायें और आश्चर्यजनक काम करें, तो फिर श्रीवृन्दावन में कौन धैर्य्य धारण कर सकता है ॥'१२।४२

अथवा मुक्तक पक्ष में 'अशेष' शब्द से लोकपालों का भी अर्थ लिया जा सकता है ।

'आश्चर्यजनक वेष-भूषा में सुसज्जित श्रीराधाकृष्ण ने जब सखियों के समूह के साथ अत्यन्त रसपूर्ण रास-रंग में प्रवेश किया, और श्रीवृन्दावन ने अपने विलक्षण रूप को प्रकट किया, तब ब्रह्मादि देवतागण ने ब्रह्मानन्द पर थूक कर शान्ति प्राप्त की बड़े-बड़े ऋषि-मुनि चिन्ता में पड़ गये और श्रीनारायण भी लक्ष्मी-सहित आनन्द में विह्वल होकर धरती पर लोटने लगे ॥ १२।४३

शतक के इस पद्य में किए गए वर्णन के अनुसार यह समझना चाहिये कि युगल-विग्रह सब को ही मोहित कर देते हैं । प्रस्तुत में तो यह ज्ञातव्य है कि उस समय निकुंज में जो भी प्रिया-प्रियतम के चारों तरफ या उनके निकट मौजूद थे—जैसे कोयल, भौंरे आदि, श्रीयमुना का जल और वायु—सबके सब मोहित कर दिये गये । दूसरी बात यह है कि यद्यपि रूप और केलि दोनों में विद्यमान रहती हैं, तथापि आसज्य प्रियाजी में रूप की प्रधानता रहती है और आसक्त श्रीकृष्ण केलि के कारण हैं । फिर एक बात यह भी है कि रूपवती प्रियाजी जब केलि करती हैं, तो उन केलियों में रूप का अनूठापन बढ़ता ही है । रूपवती के द्वारा की गई केलियाँ ज्यादा शोभा देती हैं । इसके अतिरिक्त इस विषय पर जो कुछ कहने से रह गया है उसे भी समझ लेना चाहिये—जैसे रूप में

लिषु रूपवैचित्र्यं वर्द्धत एव। केलयोऽपि रूपवत्कृता बहुतरं शोभन्ते। एवमत्रापि परस्परमनुक्तमपि ज्ञेयम्। रूपे केलिः कीदृक्प्रकारा जाता, केलौ रूपं कीदृगिति सहृदयगम्यम्। एवं नीलं च पीतं चेति संगे कीदृक्, विनिमयसमये कीदृगिति।

तादृग्मिथुनं वृन्दावनस्याप्यन्तस्तत्रापि नवकुञ्जे, तत्रापि गेहवदङ्गीकृते स्थाने गूढं चकास्ति। अत्र यथा देहेऽप्यन्तःकरणं, तत्रापि चित्तचैत्यमिति गोप्यतमरक्षणेन वृन्दावनस्य प्रेमातिशयो दर्शितः। किञ्च 'सर्वेषां प्रेमास्पदश्चैत्यः' इतिवत् कुञ्जनिकुञ्जनिभृतकुञ्जभेदोऽप्यत्र दृश्य इति।

एवं प्रेमरसग्रथननिमग्नानिर्वचनीयरूपकेलिगौरश्यामयुगलं पश्य कीदृक् शोभते, इति मानसीं प्रत्युक्तिर्ज्ञेया।१९६॥

रसकलश

केलियाँ किस प्रकार की हुईं और केलियों की छटा कैसी बनी। यह सब सहृदय ही जान सकते हैं। इसी प्रकार यह जो कहा है कि नील-पीत युगल सुशोभित हो रहा है, सो उस सम्बन्ध में भी ऐसी भावना कर लेनी चाहिए, जैसे श्यामवर्ण श्रीकृष्ण और गौरवर्ण श्रीराधा साथ-साथ में कैसे लगते थे और वस्त्रों की अदल-बदल के बाद कैसे।

(टीकाकार का आशय यह है कि युगल के सम्बन्ध में प्रेम और रस, रूप और केलि, नील और पीत—इनका विभाजन किये जाने के बाद इन तत्वों में से किसी भी एक को केवल श्रीराधा या श्रीकृष्ण तक ही सीमित नहीं रक्खा जा सकता। युगल के एकरस होने के कारण इन विशेषताओं का व्यक्तिगत निर्देश प्रतीयमानता के आधार पर ही किया गया है। वस्तुतः ये संचरणशील हैं।)

उपर्युक्त विशेषताओं से विशिष्ट युगल-स्वरूप श्रीवृन्दावन के मध्य में, वहाँ भी नवीन कुंज में, उस कुंजे के भी घर जैसे बने हुए किसी प्रदेश में सुशोभित हो रहा है। जैसे शरीर के अन्दर अन्तःकरण है, उसके अन्दर भी चित्त-मन्दिर, इसी प्रकार श्रीवृन्दावन ने युगल के विहार के निमित्त अत्यन्त गुप्त स्थानों को सुरक्षित कर रक्खा है जिससे कि श्रीराधाकृष्ण के प्रति श्रीवृन्दावन का महान् प्रेम प्रकट होत है। दूसरे, जैसा कि कहा गया है—'आत्मा से सब प्रेम करते हैं, उसी प्रकार, कुंज, निकुंज, निभृत कुंज आदि का अपेक्षाकृत भेद भी यहाँ द्रष्टव्य है।

इस प्रकार श्रीहितसखी अपनी मानसिक सखी से कहती हैं कि देख, प्रेमरस के गूंथने में मग्न अनिर्वचनीय रूप और केलि से युक्त गौर-श्याम युगल किस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं ॥१९६॥

इदानीं तादृग्गृहमेधिकोशाधिपं वृन्दारण्यं दृष्ट्वा सहर्षाश्चर्यं विचारयति—अस्यैव प्रभावेणेदं धनं प्राप्यते, नान्यथेति प्रसद्याभिलाषातिशयपारवश्येन तादृशयत्संवाहरहोऽधिकारस्थितापि चक्रवर्तिहट्टपण्यादिवदातिथ्यौत्सुक्येन तद्वदनमेव भिक्षते—

आशास्य दास्यं वृषभानुजाया-
स्तीरे समध्यास्य च भानुजायाः।
कदानुवृन्दावनकुञ्जवीथी-
ष्वहं नु राधे ह्यतिथिर्भवेयम् ॥१९७॥

'नु' इति पृच्छायाम्। 'हे राधे!' इति हृदयसन्निहितां पृच्छति। यथोक्तम्—'हृदा तदहमुद्वहे किमपि हेमगौरं महः' इति। अन्यथा कुसुमतल्पाधिदशयितां कथं संबोधयेदिति।

रसकलश

अब उस प्रकार के गृहस्थ के कोषाध्यक्ष श्रीवृन्दावन को देखकर हर्ष और आश्चर्य से विचारती हैं-- इस वृन्दावन के ही प्रभाव से यह धन मिलता है, और किसी प्रकार नहीं। और इस विचार से प्रसन्न होकर तीव्र अभिलाषा से पराधीन, एकान्त में चरण-सेवा का अधिकार पाने पर भी, चक्रवर्ती के रनवास में चलने वाली खरीद फरोख्त की तरह, अतिथि बनने की उत्कंठा से श्रीराधा के मुख से ही भिक्षा माँगती हैं—

आप श्रीवृषभानु-नन्दिनी की दासता की आशा लगा कर और सूर्यपुत्री श्रीयमुना के किनारे का आश्रय लेकर, हे श्रीराधे! श्रीवृन्दावन की कुंजों का अनुसरण करने वाली गलियों में क्या कभी मैं अतिथि बनूँगी (श्रीराधा के दासत्व की भीख माँगूँगी?)

'नु' यहाँ पूछने के अर्थ में है। 'हे राधे!' यह संबोधन इस भावना से किया गया है कि प्रियाजी सदा सहृदय के निकट रहती हैं। (पद्य १९४ में) कह भी आये हैं—'स्वर्ण के समान उस गौर तेज को हृदय में धारण करती हूँ।' यदि प्रियाजी हृदय के निकट वर्तिनी नहीं है, तो फूलों की सेज पर शयन करती हुई प्रियाजी को कैसे संबोधन करतीं?

'अनुवृन्दावनकुंजवीथिषु' का अर्थ करते हैं--श्रीवृन्दावन की कुंजों का अनुसरण करने वाली गलियों में। 'ह्यतिथिर्भवेयम्' में 'हि' शब्द निश्चय बोधक है।

'अनु' इति वृन्दावन कुंजान्यनुगता इत्यनुवृन्दावनकुञ्जाः, ताश्च ता वीथ्यश्च, तासु 'हि' निश्चयेन बुद्धिपूर्वकं वच्मीत्यर्थः, कदातिथिर्भिक्षुको भवेयम्। 'अहम्' इति तादृशसख्याभिमानवत्यपीति, अन्यथोत्तमपुरुषेणैव चरितार्थः स्यात्। 'तत्र किं भिक्षसे?' इति चेत्तत्राह—वृषभानुजायास्तव राजकुमार्या दास्यमाशास्य, वाञ्छयित्वा, तदाशां हृदि निधायेति। तत्र राजपुत्र्याः कार्पण्यं नोचितं, मदर्थे दापयिष्यत्येवेति।

तत्र च द्वितीयं साहाय्यमाह—भानुजाया महाकुलप्रसूतायाः पितृनाम-संबन्धिन्याः प्रियसख्यास्तीरं सम्यगध्यास्याश्रित्य। किञ्च सापि साहाय्यं करिष्यत्येव। अतिथेरपि नदीतटाश्रयप्रकृतिरुक्ता। ननु यस्या दास्यं तामेव कथं न भिक्षसे? तत्रैवं ज्ञेयम् 'वृन्दारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा। तद्द्वन्द्वस्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिकाकिङ्करीणाम्' इति दानस्य तदधिकृतत्वात्। अतो भानुजासहितं वृन्दावनं प्रियादास्यभिक्षां

रसकलश

अर्थात् बुद्धिपूर्वक, खूब सोच-समझकर कहती हूँ कि कब अतिथि अर्थात् भिखारिन बनूँगी? 'अहम्' (मैं) का प्रयोग यह सूचित करता है कि यद्यपि मुझे श्रीराधिका की सखी होने का अभिमान है, (फिर भी मैं भिक्षा माँगती हूँ)। नहीं तो 'भवेयम्' इस उत्तम पुरुष की क्रिया से ही कर्ता 'अहम्' का अध्याहार हो जाता। यदि पूछा जाय कि आखिर आप माँगती क्या हैं? तो कहते हैं—श्रीवृषभानु की पुत्री आपकी दासता चाह कर, हृदय में उसकी इच्छा रख कर। आप राजकुमारी हैं, अतः मेरी कामना पूर्ण करने के सम्बन्ध में आपको कंजूसी नहीं दिखानी चाहिये। मुझे विश्वास है कि मैं जो चाहती हूँ, आप उसे दिला ही देंगीं।

एक दूसरी दिशा से भी सहायता मिलने की आशा है। उसे ही बताती हूँ—तीरे समध्यास्य च भानुजायाः।' श्री यमुना सूर्यपुत्री हैं—बड़े कुल में पैदा हुई हैं और श्रीराधा के पिता श्रीवृषभानु के साथ उनका नाम-सम्बन्ध है। प्रियाजी की प्रियसखी भी हैं श्रीयमुना। इस प्रकार की श्रीयमुना के किनारे का आश्रय लेकर—आश्रय लेने पर वह भी अवश्य सहायता करेंगी। अतिथि लोग स्वभाव से ही नदी-तट का आश्रय लेते हैं—यह आशय व्यक्त किया गया है। यहाँ कहा जा सकता है कि जिस (श्रीराधा) की दासता चाहती हो, उन्हीं से क्यों नहीं माँगती? तो इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य यह है कि 'परम रसामृत की माधुरियों में सर्वश्रेष्ठ इसी श्रीवृन्दावन भूमि ने युगल-स्वरूप में जो कुछ आस्वाद करने योग्य (माधुर्य या रस) है, उस सबको श्रीराधा की परिचारिकाओं को ही दे दिया।' (१७५), क्योंकि दान देना

ददात्विति । श्रीभागवते—'धर्मस्यातिथिः स्वयम्' इति धर्मवाक्यं महान्तो न लुम्पन्ति ।

मुक्तकपक्षे साधकसंग्रहे स्पष्टमेव भानुजासम्यगध्यासनं क्षेत्रसंन्यासं कृत्वेत्यर्थः । यथा च शतके श्रीहिताचार्यविषयिकपूर्णभावाभिप्रायेण श्रीप्रबोधेनोक्तम्—

त्यक्ताशेषाभिमानः सपदि परिहरन् क्षुद्रदृग्लोकलज्जां
स्वार्थैकान्तोद्यतः सन् किमपि न गणयन् शास्त्रगुर्वादिवाचम् ।
वृन्दारण्ये विधायाद्भुतरसविभवे क्षेत्रसंन्यासमस्मिन्
श्रीराधादास्यलास्यात्मनि पुरुषवरे योऽर्पितात्मा स धन्यः ।।

अत्र 'पुरुषवर' इति हितरूपएवेति तदाश्रयेणैव श्रीप्रियाचरणैक-निष्ठत्वं जातमिति प्राचां वाचा यत् तत्राष्टकादौ प्रसिद्धमेव । श्रीराधा-दास्यलास्ये आत्मा यस्येति श्रीराधाचरणैकप्रधानत्वं श्रीहितस्य स्पष्टमेवो-क्तम् । अन्यच्चैतदनुसंहितमेव—

रसकलश

श्रीवृन्दावन के ही अधिकार क्षेत्र में आता है । अतः श्रीयमुना सहित श्रीवृन्दावन प्रियाजी की दासता की भिक्षा देते हैं । श्रीमद्भागवत में कहा है—'अतिथि धर्मस्वरूप होता है ।' महापुरुष इस धर्मवाक्य का अनादर नहीं करते ।

मुक्तक-पक्ष में साधकों के कल्याण की दृष्टि से यह अर्थ स्पष्ट ही है कि श्रीयमुना का आश्रय लेकर—अर्थात् क्षेत्र संन्यास लेकर । श्रीवृन्दावन शतक में श्रीहिताचार्य के प्रति पूर्ण भक्ति-भाव रख कर कहा गया है—

'समस्त अभिमानों को त्याग कर, साधारण लोग जिसे लोकलज्जा कहते हैं, उसे भी छोड़कर, एकमात्र अपने लक्ष्य को ध्यान में रखकर, शास्त्र, गुरु आदि की वाणी को कोई महत्व न देकर, रस के अद्भुत वैभव से सम्पन्न इस श्रीवृन्दावन में क्षेत्र-संन्यास लेकर, सर्वात्मना श्रीराधा के दास्य के विविध विलासों की भावना रखने वाले महापुरुष को जिसने अपने आपको समर्पित कर दिया है, वह धन्य है ।

श्री प्रबोधानन्द जी रचित इस पद्य में 'पुरुषवर' से अभिप्राय श्रीहितमहाप्रभु का ही है । उन्हीं का आश्रय लेने से श्रीराधिका के चरणों में अविचल निष्ठा पैदा हुई—यह बात प्राचीन महात्माओं द्वारा रचित अष्टकों में प्रसिद्ध ही है ।

'श्रीराधा के दास्य के विविध विलासों में जिसकी आत्मा है - यह कह कर (श्रीप्रबोधानन्द जी ने) श्रीहितप्रभु के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया है कि

रे कामक्रोधलोभादय इह सुहृदो मे भवन्तो भवन्तु,
त्याज्यानादेहपातं सततमतिसमालिङ्ग्य च मां नन्दयन्तु ।
चेष्टाभिश्चेन्निजाभिः कथमपि परमं बन्धमापाद्य वृन्दा-
रण्ये धन्येन केनाप्यतिविरलतमेनाश्रिते मा भवन्तु ॥१४।६१

अत्रातिविरलतमेन धन्येन तदानीं प्रथममेव श्रीहितेनैवाश्रिते वृन्दारण्ये न च सर्वैरन्यैस्तादृक्स्वामिनीनिष्ठयेत्यर्थः । तदनन्तरमन्येऽपि महानुभावा अत्र स्थिता, इति ज्ञेयम् ।

प्रस्तुते एवमादेहपातं समाश्रित्येति तात्पर्यम् । अलौकिकस्वरूपेणाप्यत्रैवेति 'अपि' शब्दार्थः, सखीस्वरूपाधिकृतत्वात् । 'अतिथिः' इति सर्वत्र ब्रह्मादिदुर्लभं श्रीराधादास्यं, तदत्र कुञ्जवीथिषु भ्रमतां भिक्षूणां भैक्ष्ये मिलतीति महावदान्यत्वं वृन्दारण्यस्योद्दिष्टम् । किञ्च यदाशंसते तदेव

रसकलश

श्रीहितसखी के लिए एकमात्र श्रीराधा-चरण ही प्रधान थे। इसी आशय से मेल खाता हुआ दूसरा पद्य —

'रे काम-क्रोध-लोभादिको ! आप सब मेरे बन्धु बने रहो। शरीर छोड़ने तक मैं आपको छोड़ नहीं सकूँगा। मेरा आलिंगन कर आप मुझे आनन्दित करें। परन्तु परम बंधन में बंधने के बाद भी अपने प्रयत्नों से उस वृन्दावन में यदि मैं पहुँच जाऊँ जहाँ एक असाधारण, धन्य महापुरूष निवास करते हैं, तो वहाँ आप सब साथ न रहें।'

यहाँ 'अतिविरल, धन्य' से तात्पर्य श्री हितमहाप्रभु का ही है जिन्होने सर्वप्रथम श्रीवृन्दावन का आश्रय लिया था। और भी सन्त-भक्त वहाँ निवास करते थे, परन्तु स्वामिनी जी के प्रति उनकी वैसी दृढ़ निष्ठा न थी जैसी कि श्रीहिताचार्य की। उनके बाद अन्य महानुभव भी यहाँ बस गये, यह ज्ञातव्य है।

प्रस्तुत में कहने का आशय यह है कि देह छोड़ने तक श्रीवृन्दावन का आश्रय लेकर। 'समध्यास्य' में 'अधि' उपसर्ग का अर्थ यह है कि शरीर-त्याग के बाद भी अलौकिक स्वरूप में श्रीवृन्दावन का ही आश्रय अपेक्षित है। यह अलौकिक रूप सखी-स्वरूप है जिस पर कि श्री हितमहाप्रभु का अधिकार है।

अतिथि होने का अर्थ वह दास्य है जो ब्रह्मादि को भी दुर्लभ है। श्रीवृन्दावन की कुंज गलियों में विचरण करने वाले भिक्षुकों को ही यह दास्य भिक्षा में मिलता है। इससे श्रीवृन्दावन की दानशीलता का निर्देश किया गया है। दूसरे यह कि जो कुछ कामना हो उसकी पूर्ति यहीं अतिथि बने रहने से होगी। कहा भी है—'जैसे भौंरा कल्पवृक्ष पर पहुँच कर और किसी वृक्ष का सेवन नहीं करता।' यही बात

मिलतीति, तदत्रैव'अतिथि'रिति 'यथा कल्पतरुं प्राप्य सारङ्गोऽन्यन्न सेवते' इति वत् नचास्माद् वाञ्छितं गृहीत्वान्यत्र गच्छेयं, परत्रापि तदेव प्राप्यत्वात्।

'वीथीषु' इति तासां बहुत्वे सति बहुत्वं नानाक्रीडास्थलत्वात्। क्वापि काचिल्लीला, क्वापि काचिदिति। भिक्षोरपि 'एकमेव गृहं न दुष्येत्' इति धर्म उद्दिष्टः। यद्रहस्यातिरहस्यं श्रीवैकुण्ठनाथेनोक्तं, श्रीकृष्णेनाप्युद्धवाय तथैवोक्तम्। तदत्र वीथीष्विति अनर्घ्यमहिमा वृन्दावनस्येति ॥१९७॥

ननु स्वामिनीं भजात्र नदीविपिनकुञ्जवीथिषु दुर्लभं कथं प्राप्यते, इति प्रत्याख्यानसंशये प्रथममेव त्वयि मदाशस्यनिधिरस्ति, मा प्रत्याख्याहीत्याशयेन त्रिभिर्दास्यविषयं भैक्ष्यमाह—

कालिन्दीतटकुञ्जे,
पुञ्जीभूतं रसामृतं किमपि।
अद्भुत केलिनिधानं
निरवधि राधाभिधानमुल्लसति ॥१९८॥

रसकलश

श्रीवृन्दावन के सम्बन्ध में भी सत्य है। यहाँ से वाञ्छित वस्तु पाकर अन्यत्र मुझे नहीं जाना है, क्योंकि परलोक मेरी प्राप्ति का लक्ष्य श्रीवृन्दावन ही होगा।

'वीथिषु' (गलियों में) में बहुवचन का प्रयोग यह सूचित करता है कि अनेक कुंजें हैं और उनमें अनेक प्रकार के क्रीड़ा-स्थल हैं। कहीं कोई लीला, तो कहीं कोई। भिक्षुक का धर्म भी यही बताया गया है कि वह एक ही दरवाजे पर रोज भिक्षा माँग कर उसे दूषित न करे। जो रहस्य श्रीबैकुण्ठनाथ में बताया और जिसका उपदेश बाद में श्रीकृष्ण ने उद्धव को उसी रूप में दिया, वह यहाँ की कुंज-गलियों में ही मिल जाता है। अतः श्रीवृन्दावन की महिमा अमूल्य है ॥ १९७ ॥

पूर्व पद्य को पढ़ने के बाद कोई कह सकता है, स्वामिनी जी का भजन करो, नदी, वन और कुंजगलियों में वह दुर्लभ तत्व कैसे मिल सकता है। श्रीहितसखी को भी यह सन्देह हो सकता है कि प्रियाजी ने मेरा बहिष्कार तो नहीं कर दिया, किन्तु वह तो पूर्व पद्य में ही कह चुकी हैं कि आप ही मेरी अभिलाषा की एकमात्र निधि हो, मेरा प्रत्याख्यान न करियेगा। इसी आशय को व्यक्त करने के लिये अग्रिम तीन पद्यों द्वारा दासता की भिक्षा माँगती हैं—

श्रीयमुना के किनारे पर स्थित कुंज में, आश्चर्यजनक केलियों का आश्रय, असीम, श्रीराधा नामक कोई अनिर्वचनीय, पूंजीभूत अमृत-तुल्य रस उमड़ रहा है॥ १९ ॥

कालिन्दीतटकुञ्जे किमपि निधानमुल्लसति । अत्र गोप्यतया स्थापनमनुर्वाणितम् । कालिन्द्यपि श्यामा, यच्छटांजसा कस्यापि न प्राप्यते । तत्रापि तत्तटकुञ्जे महासान्द्रत्वम् । तत्रापि प्रसिद्धलक्षणीयं वस्तु चेत् प्राप्यते । ततः किमपीत्यननुभूतम् । तत्रापि निधानम्—नितरां धीयते स्थाप्यते परमगोप्यतयेति निधिरूपम् । एवं देशादिसौष्ठवे उदधिकं लसति शोभते । ततो गोप्यभावाधिकारिणैव प्रप्यते, नान्यैरिति ।

ननु 'शंखो मकरकच्छपौ' इति निधिनामानि श्रूयन्ते, तदस्य किमपिनामास्ति ? इत्यत आह—राधाभिधानम् । प्रसिद्धनिधिः कुबेरेणापि व्ययभयात् गोप्यतया स्थाप्यतेऽतोऽस्यापि कथञ्चिदवधिर्भविता चेत्त्राह—'निरवधि' । अव्ययाखण्डानन्दघनाद्यसंख्यविशेषणविशिष्टपुरुषोत्तमस्याप्यानन्दवत्त्वान्निःसीमत्वमेव, अत एवाभिधात्वेऽपि यौगिक्या संसिद्धिर्नाम्न्येव । यथात्रैव—'यावाराधयति प्रियं व्रजमणिम्' इति ।

रसकलश

श्रीयमुना-तटवर्ती कुंज में कोई अनिर्वचनीय निधि सुशोभित है । इस प्रकार वर्णन करने का आशय यह है कि वह निधि छिपा कर रक्खी गई है। पहले तो श्रीयमुना ही श्यामवर्ण हैं, अतः उनकी छटा ऐसी है कि वहाँ कोई चीज मिल ही नहीं सकती (अँधेरी जगह में चीज का खोजना कठिन हो जाता है, उस पर भी उसके किनारे सघन कुंज हैं; वहाँ भी वही मिल सकती है जिसकी कि स्पष्ट पहिचान हो । इसीलिए 'किमपि' (कोई) कहा । अर्थात् ऐसी है वह राधा-निधि कि अब तक किसी के अनुभव का विषय ही नहीं बनी । उस पर भी 'निधान' है वह—अर्थात् अत्यन्त सावधानी के साथ गुप्त रक्खी गई है, अतः वह एक प्रकार की निधि (अमूल्य कोष) ही है वह । इस रीति से प्रदेश आदि की महिमा के कारण वह अधिक सुशोभित हो रही है । अतः वही उसे पा सकता है जो राधा-भाव को रहस्य के रूप में छिपा कर रखने का अधिकारी है, अन्य कोई नहीं ।

शंका होती है कि निधियों के, शंख, मछली, कछवा आदि अनेक नाम सुने जाते हैं । क्या इस निधि का भी कोई नाम है ? इस पर कहते हैं—'राधाभिधानम् ।' श्रीराधानामक । कुबेर भी प्रसिद्ध निधि को, खर्च हो जाने के डर से, छिपा कर ही रखता है । अब जिज्ञासा होती है कि इस निधि की भी कोई अवधि होती होगी ? इस पर कहते हैं—निरवधि ।' अव्यय, अखंड, आनन्दघन आदि अगणित विशेषणों से युक्त पुरुषोत्तम भी आनन्दस्वरूप अत एव असीम हैं, इसीलिए यद्यपि 'राधा' शब्द अभिधा शक्ति से प्रियाजी का बोधक है, परन्तु उसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—सिद्धि देने वाली । इसी स्तोत्र में (पद्य ९७) कहा गया है—'जो व्रजशेखर प्रियतम की प्रौढ़ अनुराग के

ननु मणिमंत्रादिवदिच्छितसाधकत्वं, न च स्वयमास्वाद्यमिति चेत् तत्राह—'पुञ्जीभूतं रसामृतम्' इति। यद्रसामृतं निर्विशेषद्रवं तदेव घनीभूतम्। यथा 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इत्यत्र स्वामिभिर्घनीभूतं ब्रह्मैवाहमिति व्याख्यानात्। यल्लेशच्छटाछटाकोटयंशेन लोकालोकेषु गणितानन्दकं वृहदिति पर्यन्तमानन्दो रस इत्युद्घोषितः सः एवात्र परमास्वाद्यः सा कृतिरिति लोकजिज्ञापयिषया, यथा 'तेजोघनः सूर्यः' इति। वस्तुतस्तु सूर्यस्याधिदेवरूपस्य तेज इति। तथैव पुञ्जीभूतमेव रसामृतमित्यस्य परमस्वरूपत्वादत एवेत्युत्प्रेक्षा न कृता, यथास्थितत्वात्। अत्रापि 'किमपि' इति संबध्यते। किञ्च 'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति,' इति,

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

रसकलश

उत्सव द्वारा आराधना करती हैं (प्रसन्न करती हैं)। यदि पूछा जाय कि जिस प्रकार मणियाँ और मंत्र इच्छित वस्तु को प्रदान तो करती है, पर स्वयं उनका उपभोग नहीं करतीं, क्या वैसी ही सिद्धिदात्री श्रीराधा हैं? तो कहते हैं—'पुञ्जीभूतं रसामृतं-किमपि।' जो रसामृतं यानी शुद्ध द्रव है वही श्रीराधा रूप में घनीभूत हो गया है। श्रीधर स्वामी ने इसकी व्याख्या में कहा है कि मैं ब्रह्म का आश्रय हूँ, अपने को घनीभूत ब्रह्म ही बताया है। जिसकी लेशमात्र छटा के करोड़वें अंश से इहलोक और परलोक में परिगणित तथा बृहत की सीमा तक पहुँचे हुए आनन्द को रस घोषित किया गया है, वही रस, लोगों को उससे अवगत कराने के लिए श्रीराधा-रूप में साकार और अत्यन्त आस्वादनीय हुआ है। उदाहरण के लिए, सूर्य को, तेजो-घन कहा जाता है—अर्थात् तेजों की सघनावस्था, परन्तु वास्तविकता यह है कि देवस्वरूप सूर्य संबन्धी तेज है। उसी प्रकार रसामृत श्रीराधा-स्वरूप में एकत्रित ही हुआ है, क्योंकि पुञ्जीभूत रसामृतत्व ही यथार्थ स्वरूप है, न कि केवल उसका पुंजीभूत होना। इसलिये 'रसामृतं पुंजीभूतमिव' (रसामृत मानो पुंजीभूत हो गया है)—यह उत्प्रेक्षा नहीं की। क्योंकि उत्प्रेक्षा में अविद्यमान (उपमान) के संवन्ध में संभावना की जाती है। प्रस्तुत में तो पूंजीभूत होने की स्थिति सत्य-सिद्ध है। 'किमपि' द्वारा जिस अनिर्वचनीयता का बोध होता है, उसका संबन्ध केवल 'राधाभिधानम्' से ही नहीं, अपितु-'रसामृतम्' से भी है। दूसरे 'वह रस ही है', 'रस को ही पाकर जीव चैतन्य आनन्दयुक्त होता है', तथा—

'उस अविनाशी परब्रह्म का, अमृत और अव्यय का तथा नित्य धर्म का और

इत्यत्रैकान्तिकसुखरूपं स्वस्यैवोक्तम् । तत्र तस्यापि 'श्यामरतिप्रवाहलहरीबीजम्' इत्युक्तेरनिर्वचनीयमेवेति ।

एवं माधुर्येऽप्यैश्वर्यमहिमानमुक्त्वा माधुर्यमाह—अद्भुताः केलयो यस्य तत् । ननु केलिस्वरूपज्ञाने तादृशरसरूपे जानीम, इति चेत्तत्राद्भुतपदेन सामान्यलोकज्ञेयतोक्ता । किञ्च लोकवल्लीलादर्शनसमयेऽप्याश्चर्यमेवोत्पद्यते । अथवा रसप्रीत्योः सर्वत्रोपन्यासादग्रेऽपि 'प्रीतिरिव' इति वर्ण्यमानत्वादत्र रसस्यैव कर्तृत्वम् । किमपि पुञ्जीभूतं रसामृतमुल्लसतीत्यन्वयः । तदाद्भुतकेलीनां निधानं, समुद्रवत् परमाश्रयं, पुञ्जीभूतत्वेन साकारत्वम् । तत्र राधेति नामोक्तम् । अतो नामरूपविशिष्टो रसः स्वहृदयंगत इत्युक्तः तमेवातिथ्येन वाञ्छतीति भावः । तत्र कालिन्दीतिदेशसौष्ठवेऽपि परमामृतवाहिनीतटेऽनूपदेशे सरसत्वात्, यथेक्षुसमुद्भवस्तथैव तदमृतवाहिन्या अपि सर्वमाधुर्यसारं पुञ्जीभूतमिवेति रसमयदेशवर्णने ज्ञेयम् । देशसौष्ठवं यथा शतके—

रसकलश

अखंड, एकरस आनन्द का मैं ही आश्रय हूँ—अर्थात् उपर्युक्त ब्रह्म, अव्यय आदि सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये इनका मैं परम आश्रय हूँ'।'

इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने अपने को ही एकान्त आनन्दस्वरूप बताया है। इस की महिमा से मंडित श्रीकृष्ण के 'प्रेमप्रवाह का आदि कारण श्रीराधा हैं।'[2] इस उक्ति के अनुसार वह राधात्मक पुंजीभूत रसामृत अनिर्वचनीय ही है।

इस प्रकार माधुर्य से भी ऐश्वर्य की महिमा बता कर अब केवल माधुर्य के संबन्ध में कहते हैं—'अद्भुत केलिनिधानम्।' उस राधास्वरूप रसामृत की केलियाँ आश्चर्यजनक हैं। प्रश्न होता है कि केलियों का स्वरूप जाने विना उस रसरूप का ज्ञान कैसे होगा ? इस पर कहते हैं कि 'अद्भुत' शब्द से मन्तव्य ही यह है कि रसस्वरूपा श्रीराधा को सामान्य जन भी जान सकते हैं। 'अद्भुत' की दूसरी व्यंजना यह भी है कि श्रीराधा जब लोक के समान लीला करती हैं, तो उन लीलाओं को देखकर आश्चर्य ही होता है। अथवा श्रीराधासुधानिधिस्तव में रस और प्रीति का सर्वत्र उल्लेख किया है और 'प्रीतिरिव मूर्तिमती' इस अग्रिम पद्य में भी इसी का वर्णन किया जायगा। इस कारण प्रस्तुत पद्य में 'रसामृतम्' को कर्ता मान लिया जाय। तब अन्वय होगा—पुंजीभूत रसामृत शोभा दे रहा है (जब कि पहली व्याख्या के अनुसार

१. श्रीमद्भागवद्गीता—१४/२६।
२. श्रीराधासुधानिधिस्तोत्र—७६।

हेमाद्यम्बुजकोरकादिसलिलं पीयूषसारैक्षव-
द्राक्षाक्षीररसादिमत्तटयुगं नानामणीनिर्मितम् ।
खेलद्दिव्यसुरत्नमीननिकरास्फालेन चित्रायितं
नानारत्नविचित्रतीर्थविलसत्सोपानमत्यद्भुतम् ॥३।७३

× × ×

नानाश्चर्यसुपुष्पितद्रुमलताकुञ्जं महामञ्जुलं
कर्पूरोज्वलबालुकं च पुलिनं विस्तारमत् सौरभम् ।
तीरे तीर इतस्ततः सचकितोन्मीलन्मृगीयूथकं
दिव्यानेककदम्बचम्पकवनामोदः प्रसृप्तोऽभितः ॥३।७४

× × ×

रसकलश

अन्वय इस प्रकार था—कालिन्दी-तटवर्ती कुंज में श्रीराधा-नाम उल्लसित हो रहा है। इस व्याख्या में कर्ता है—राधाभिधानम्।) इस परवर्ती व्याख्यानुसार अर्थ होगा—अद्भुत केलियों का निधान—अर्थात् समुद्र की भाँति परम आश्रय, पुंजीभूत होकर साकार हुआ राधानामक रसामृत उमड़ रहा है। भाव यह है कि नाम और रूप से विशिष्ट रस हृदय में स्थान प्राप्त कर गया है। उसी रस की आंकाक्षा श्रीहितसखी अतिथि बन कर करती हैं। श्रीयमुना का नाम लेते ही सर्वप्रथम धारणा यह होती है कि बड़ा सुन्दर प्रदेश है, उसके उपरान्त उनके स्वरूप को देख कर विचार उठता है कि वह अमृत जैसे जल को धारण करती हैं, फिर उनका किनारा तो बहुत ही अनूठा है, और चूंकि श्रीयमुना सरस हैं, तो ईख के दंड का सार जैसे ईख का रस है, उसी प्रकार अमृतवाहिनी श्रीयमुना के समस्त माधुर्य का सार ही मानों वहाँ एकत्रित हो गया है। इस प्रकार कालिन्दी-तट का उल्लेख कर रसमय प्रदेश का यहाँ वर्णन किया गया है। यमुना प्रदेश के सौन्दर्य का वर्णन श्रीवृन्दावन-शतक में इस प्रकार किया गया है—

श्रीयमुना का जल सुवर्ण के रंग के कमल और कलियों से सुशोभित है। अनेक प्रकार की मणियों से निर्मित उसके दोनों तट इतने सरस और मधुर हैं जैसे अमृत का सार, ईख का रस, दाख, दूध तथा अन्य मधुर पदार्थ; खेलती हुई दिव्य, सुन्दर मछलियों के उछलने से वह चित्रांकित-सा प्रतीत हो रहा है; अनेक रत्नमय घाट वहाँ बने हुए हैं जिन पर अद्भुत सीढ़ियाँ शोभा दे रही हैं ॥३।७४

× × ×

अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक सुन्दर पुष्पों से लदे हुए वृक्ष-लताओं की कुंजों से श्रीयमुना मनोहर लग रही हैं, पुलिनों में कपूर की भाँति उज्ज्वल वायु शोभा दे रही

अत्युच्चैः प्रसरत्परागपटलं प्रोड्डीयमानद्विजं
वातोन्मादमितस्ततोऽतिमधुरोदारोत्तरीयोज्ज्वलम् ।
यस्या गाधमगाधमन्तरुदयत् कुञ्जाम्बु सा राधिका-
कृष्णानन्दविवर्द्धिनी बहुसुखं कृष्णा प्रपुष्णातु वः ।।३।७५

इत्याद्यर्हरससौष्ठवदेश एव रसमूर्तिः शोभते । अत एव उत्पूर्वकलसनम् । केलयोऽपि हृदयोल्लासं विना न भवन्तीति रसमूर्तेरप्युल्लासस्थानमिदमेव नित्यमित्युक्तम् ।। अत्र भानुजातीरसमाश्रयणहेतुस्वरूपमुक्तम् । यदा रसरूपमेवोक्तं तदा पृथगङ्गकेलिलावण्यादीनां रसोद्दीपकवर्णनसौष्ठवं किमु वाच्यम् ? यादृशं परावधि तादृशमेव ध्येयमिति । अत इदमतिथये देयमेव, न गोपयितुं शक्यमिति ।।१६८।।

रसकलश

है, सुन्दर सुगन्ध चारों ओर फैल रही है, किनारों पर हर जगह हरिणियों के झुंड चकित होकर विचरण कर रहे हैं, चारों ओर अनेक अलौकिक कदंब और चंपा के वृक्षों का सौरभ छाया हुआ है ।६।७४।।

× × ×

पुष्पों का पराग ऊँचा उठ कर फैल रहा है, पक्षीगण उड़ रहे हैं, पवन के उन्मत्त संचार के कारण जो अति मधुर, उदार एवं उज्ज्वल वस्त्र के समान प्रतीत हो रही है, जिसके उथले-गहरे जल में तटवर्ती कुंज प्रतिबिम्बित हो रही है, श्रीराधा-कृष्ण के आनन्द को बढ़ाने वाली ऐसी श्रीयमुना बहुत सुखपूर्वक तुम्हारी रक्षा करें ।।३।७५

इस प्रकार की योग्यता से संपन्न सरस, सुन्दर प्रदेश में ही रस की मूर्ति सुशोभित होती है। इसलिये वह अधिक उल्लसित होती है। हृदय में जब तक उछाह न हो तब तक केलियाँ भी संभव नहीं हैं, अतः कहने का आशय है कि रसस्वरूप श्रीराधा के उल्लास का यही नित्य स्थान है। यहाँ श्रीयमुना के तीर का आश्रय लेने को कारण रूप में निर्दिष्ट किया गया है, (अर्थात् प्रियाजी के रसमूर्ति होने में श्रीयमुना का भी योगदान है।) यदि प्रियाजी को स्वतंत्ररूप से रसस्वरूप माना जाय तो रस का उद्दीपन करने वाले पृथक्-पृथक् अंगों की क्रीड़ायें और उनके लावण्य आदि का वर्णन जैसा अनुपम होगा, उस संबन्ध में भला क्या कहा जाय ? जिस रूप में प्रियाजी रस और लावण्य की परम सीमा बन कर आये उसी का ध्यान करना चाहिये। अतः प्रिया जी का वह रसस्वरूप श्रीहितसखीरूप अतिथि को तो देना ही देना है; उनसे उसे क्या छिपाना ! ।।१६८।।

वृन्दावनकुञ्जे रसनिधानं वस्तूक्तम् । तत्तु देशाधिष्ठातृप्रसादनात् प्राप्यते चेत्, तत्र यत् प्राप्यं तदेवाधिकारीत्याशयेनोक्तमेवार्थं विशदयति—

प्रीतिरेव मूर्तिमती-
रससिन्धोः सारसम्पदिव विमला ।
वैदग्धीनां हृदयं-
वृन्दावनाधिकारिणी जयति ।१६६।

काचिदचिन्त्यप्रभावा विपिनस्याधिकारोऽस्तीति निष्ठाधिष्ठातृत्वम् । यथा 'राधा वृन्दावने' इति । यथा च शतके—

जागर्ति दुन्दुभिरवः परमोऽत्र राधा
वृन्दावने वन इति प्रकटः पुराणे ॥ इति ॥

'जयति' इत्यस्या एवोत्कर्षोऽत्र, नान्यस्येति । नन्वधिकारैश्वर्ये प्रीत्यभावनैयत्यम् ? तत्राह—'मूर्ती'ति, 'प्रीतिमती'ति । किं वच्मि, मूर्तिमती प्रीतिरिवेत्यनेनामूर्तपदार्थस्य कदाचिद्विच्छेदोऽपि स्यात्तेन मूर्त्युक्तौ दृष्टि-

---

रसकलश

पूर्व पद्य में वृन्दावन-कुंज में रस-निधान वस्तु (रसाधिष्ठान श्रीराधा) का वर्णन किया। वह वस्तु यदि स्वामी को प्रसन्न करने से ही मिलती हो, तो जिस वस्तु को प्राप्त करना है उसे देने का अधिकार उसी को है । इस आशय से जो कुछ कहा जा चुका है उसी को पल्लवित करते हैं—

'मूर्तिमान् प्रेम की तरह, रस-समुद्र की निर्मल सार-संपत्ति की तरह विदग्धता का सर्वस्व और अनिर्वचनीय श्रीवृन्दावन की स्वामिनी की जय हो ।।१६६।।

जिसके प्रभाव के संबन्ध में बुद्धि सोच नहीं सकती ऐसी श्रीराधा का वन पर अधिकार है—इस प्रकार की निष्ठा के कारण श्रीराधा वृन्दावन की अधिष्ठातृ भी हैं। कहा भी है—'श्रीवृन्दावन में श्रीराधा ही सर्वोपरि हैं।" श्रीवृन्दावन शतक में कहा है—'इस संसार में नगाड़े की आवाज की तरह यह बात फैल रही है और पुराण में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वृन्दावन के वन में श्रीराधा का ही सर्वाधिक महत्व है।' 'जयति' का अर्थ है कि यहाँ श्रीराधा का ही उत्कर्ष है, अन्य किसी का नहीं । शंका होती है कि अधिकार विषयक ऐश्वर्य जहाँ होता है, वहाँ निश्चित रूप से प्रीति नहीं होती । इसके समाधान में कहते हैं—'मूर्तिमतीव प्रीतिः' । क्या कहूँ, श्रीराधा तो मानों प्रीति की मूर्ति हैं । अभिप्राय यह है कि जो पदार्थ केवल भावमय है, उससे कभी ध्यान

मात्रेणैव तदतिशयस्फूर्तिः स्यादिति परस्मिन् कार्यदर्शनं ज्ञेयम् । वस्तुशक्तित्वात् स्वस्मिन् कार्यनिदर्शनञ्च । यथा प्रीतिस्वरूपमुक्तमत्रैव—

नो किञ्चित् कृतमेव, यत्र न नुतिर्नागो, नवा संभ्रमो,
राधामाधवयोः स कोऽपि सहजः प्रेमोत्सवः पातु वः ।।

यत्रोपकारप्रत्युपकारस्तुतिनिन्दाद्या बाधकसाधकास्तत्राभास एव, न च प्रेमा । अत्र तु साहजिकमेवेति। पुनश्च सदा तनुमनःसंयोगेऽपि महातृषातुरता, महानुताप इत्येवं यत्र नित्यस्थायि । यथात्रैव—

अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं
हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात् ।। इति ।।

पुनश्च—

'विच्छेदाभासमानादहह निमिषतो गात्रविस्रंसनादौ
चञ्चत्कल्पाग्निकोटिज्वलितमिव भवेद् बाह्यमाभ्यन्तरं च ।
गाढस्नेहानुबन्धग्रथितमिव तयोरद्भुतप्रेममूर्त्योः । इति ।

रसकलश

हट भी सकता है, किन्तु वही पदार्थ यदि मूर्ति के रूप में साक्षात् सामने हो, तो उसके दर्शनमात्र से हृदय में स्फूर्ति पैदा हो जाती है। प्रतिक्रिया-स्वरूप पैदा होने वाली यह स्फूर्ति दूसरों में होती है । वस्तु-निहित शक्ति के कारण प्रीति का कार्यरूप प्रभाव अपने में भी होता है । श्रीराधासुधानिधिस्तव में प्रीति के स्वरूप की विवेचना करते हुए कहा है—

'जहाँ किये का कोई एहसान नहीं, प्रशंसा नहीं, आरोप-प्रत्यारोप नहीं और न आवेश है, श्रीराधा-माधव का ऐसा कोई सहज, अनिर्वचनीय प्रेमोत्सव आपकी रक्षा करे । (१०२)

इसके विपरीत जहाँ उपकार-प्रत्युपकार, स्तुति-निन्दा-जैसी अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियाँ काम करती हैं, वहाँ प्रेम की छाया-भर रहती है, यथार्थ प्रेम नहीं । यहाँ तो प्रिया-प्रियतम में स्वाभाविक प्रेम है । ऐसे निर्मल प्रेम में तन का और मन का मिलन होने पर भी एक तीव्र प्यास की अकुलाहट और अन्तर्दाह स्थानीय रूप में रहता है । इसी स्तोत्र में कहा है—

'प्रिय के गोद में लेटे रहने पर भी श्रीराधा अनुराग के मद से विह्वल होकर 'हा मोहन !' इस प्रकार का मधुर प्रलाप कर उठती हैं । (४६)

एक उद्धरण और—

"कैसे आश्चर्य की बात है कि क्षण-भर के लिये भी एक-दूसरे के शरीर से अलग होने पर वियोग के भ्रम मात्र से जिनका बाह्य और आभ्यन्तर प्रलय के समय की

पुनर्यत्रशुद्धप्रीतौ देहेन्द्रियगेहादिसम्बन्धिविषय·ञ्चकलाभहानिसुखदुःख-चिन्तास्मृतिनाश एव स्यात्तच्छुद्धत्वम् । यथा शतके—

क्व यानं क्व स्थानं किमशनमहो किन्नु वसनं,
किमुक्तं किं मुक्तं किमिव च गृहीतं न किमपि ।
मिथः प्रेमक्रीडारसविवशतामेत्य कलयत्
किशोरद्वन्द्वं तत्परिचरत वृन्दावनवने ॥२।६०

इत्यादिर्भिनियमावधिशून्यत्वाच्छुद्धप्रीतिरूपम् । एतद्विना रसस्यापि शुद्धत्वं न ज्ञायेत । किञ्च प्रेमानुतापकत्वादाग्निरूपो, रसः कनकरूपः । 'यथाग्निना हेम मलं जहाति, ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्', इतिवदावर्णं विना तदशुद्धेः । पुनश्च रसस्तु गरिष्ठो भोज्यपदार्थः, सचाग्निमान्द्ये न पचति, अतः क्षुदतिशयं वाञ्छति । अथ क्षुच्च रसं वाञ्छति, इति । तथापि

रसकलश

चमकती हुई करोड़ों अग्नियों से मानों जलने लगता है, प्रगाढ़ प्रेम-बन्धन में गुँथे-से और प्रेम की अद्भुत मूर्ति श्रीराधा-माधव के उस युगल तेज को मैं जानती हूँ ।" (श्रीराधासुधानिधि—१७३)

जिस प्रीति में देह, इन्द्रिय, घर आदि तथा पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से संबन्धित लाभ-हानि, सुख-दुख, चिन्ता-स्मृति का लोप हो जाय, वही शुद्ध प्रीति है । श्री वृन्दावनशतक में कहा है—

"कहाँ जाना है, कहाँ ठहरना है, क्या भोजन है, क्या वस्त्र हैं, क्या कहा, क्या छोड़ा और क्या लिया—काम-केलि में विह्वल होने के कारण इस सबका कोई ध्यान न रक्खे हुए उस किशोर-युगल की श्रीवृन्दावन में परिचर्या करो ॥२।६०॥

इस प्रकार के उदाहरणों से शुद्ध प्रीति का यह रूप निर्धारित होता है कि उसमें नियमों के पालन की कोई पराधीनता नहीं है । जब तक ऐसा न हो तब तक विशुद्ध रस की पहिचान भी नहीं हो सकती । दूसरे, संतापमय होने के कारण प्रेम एक प्रकार की अग्नि है[1] और रस है जैसे सुवर्ण । जैसे आग में तपाने पर सोने का मैल-मक्कड़ दूर हो जाता है और धौंकनी की सहायता से पुनः अपने शुद्ध रूप को प्राप्त करता है, इसी प्रकार जब तक प्रेम की आग में रस गल न जाय, तब तक वह शुद्ध नहीं कहा जायगा । एक बात और । रस एक प्रकार का गरिष्ठ खाद्य है । यदि जठराग्नि मन्द हो तो वह नहीं पचता है । पचने के लिये यह आवश्यक है कि टूट कर भूख लगे । भूख को रस की अपेक्षा है । इसी प्रकार प्रेम के क्षेत्र में प्रेम की ही प्रधानता है ।

१. 'तुलना करिए—इक आग का दरिया है और डूब के जाना है ।'

प्रेमप्रकरणे तस्यैव मुख्यत्वम्। दम्पत्योस्तु तत्कारणरूपतैव। परन्तु लौकिकमनःसमाधानार्थमेतदुच्यते। पूर्वमुक्तम्-'पुञ्जीभूतं रसामृतम्' इति। तत्र शुद्धत्वेऽपि रसिकलोकानां विरलशाबल्यसंवलनाल्पासंस्कृतसापेक्ष्यत्रैकालिकदोषसंशयादिपरिष्कारानन्तरशुद्धसंभावनापेक्षयाह - रससिन्धोर्विमला सारसम्पदिव। प्रियाया अल्पतनुरल्परसप्रमाणघनीभूतेति संशयः सिन्धुशब्देन दूरीकृतो, यदियं सिन्धुमथनानन्तरसाररूपेति। 'सार' इत्यत्राविरलत्वं पुञ्जीभूतत्वात्। अत्रैव नवनीतोद्धरणेऽपि तक्रसंसर्गवत् शावल्यसंवलनात्मको दूरीकृतः। अत्रैवं मथनसापेक्षतापि, अविकृततापि। यथा—

गवादीनां पयोऽन्येद्युः सद्यो दधि प्रजायते।
क्षीरोदधेस्तु नाद्यापि, महतां विकृतिः कुतः॥

रसकलश

दम्पती तो प्रेम की अभिव्यक्ति के कारण (माध्यम) हैं। किन्तु साधारण जनों के मनस्तोष के लिये ही ऐसा कहा जाता है। यथार्थ बात तो पहले ही कह आये हैं—'श्रीराधा राशि-भूत रसामृत-स्वरूप हैं।' प्रियागत वह रस तो विशुद्ध है ही, परन्तु रसिकजनों के इस सन्देह को दूर करने के लिये कि कहीं वह रस विरल (बिखरा हुआ) तो नहीं है, कहीं उसमें किसी प्रकार की कलुषता तो नहीं है, या वह अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिये और किसी तत्व या वस्तु की अपेक्षा तो नहीं रखता। इस प्रकार के दोषों और सन्देहों—जोकि भूत, भविष्यत्, वर्तमान में कभी हो सकते—के निराकरण के लिये कहते हैं—'रससिन्धोः सारसम्पदिव विमला।' श्रीराधा मानों रस-समुद्र की निर्मल सार-संपत्ति हैं। यदि किसी को यह भ्रम हो जाय कि प्रियाजी का शरीर तो दुबला-पतला है, अतः घनीभूत होने पर भी रस की मात्रा कितनी-सी होगी, तो वह 'सिन्धु' शब्द से दूर हो जाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि श्रीराधा रस-समुद्र का मन्थन करने के बाद निकला हुआ सार हैं। किसी वस्तु के सार में मूल पदार्थ घने रूप में एकत्रित होकर रहता है। दही को मथ कर मक्खन निकालने में मट्ठा का यत्किंचित् लवलेश उसमें रहता ही रहता है। यहाँ वैसा कुछ नहीं है। इस प्रकार किसी प्रकार की मिलावट का यदि सन्देह हो, तो उसका भी निराकरण कर दिया गया है। किन्तु जैसे मक्खन को मथना जरूरी है, वैसे, ही रस निकालने के लिये, प्रेम के क्षेत्र में भी मन्थन आवश्यक है, और यह भी आवश्यक है कि रस में कोई विकार न हो। कहा भी है—

'गाय आदि का दूध दूसरे दिन शीघ्र ही दही बन जाता है, लेकिन क्षीर-समुद्र तो आज तक भी नहीं जम पाया है। महान् आत्माओं में भला विकार कैसा ?'

तो विकार-रहित प्रेम-समुद्र को मथ कर निकाला गया सार ही एकरस रहता है। घृत आदि में तो, बहुत दिन तक रखने पर एक दुर्गन्ध आ जाती है।

इतिवदविकृतसिन्धुमाथितसार एव प्रकृतिस्थः सदा भवति । अन्यो घृतादिस्तु बहुकालापेक्षया विकृतगन्धः स्यादित्यपि ज्ञेयम् ।

'संपत्' शब्देनाल्पत्वञ्च, 'विमल' इत्यत्रासंस्कृतत्वं वस्त्रपूतवत् । अनेनैव सम्पदुक्तौ दोषावश्यकत्वम् । यथा 'एते' पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्' इतिवत् त्रैकालिकदोषाभावः । इत्यादि विशेषणविशिष्टा रससिन्धुसारविमलसम्पद्रूपेति सिद्धम् । तदत्र लौकिकरसापेक्षयोक्तं, नायिकादिभेदपूर्वरागादिजन्यभावरसस्वरूपं निर्वर्तितं, नित्यतादृशस्थायिरूपत्वात् ।

अथ तादृशप्रीतिरसकारणरूपत्वेऽपि वैभव विलासविस्ताररूपकार्यं विना न द्रष्टृष्वधिकारिष्वानन्दातिशयः प्रकाशते, तत एव पूर्वमद्भुतकेलिनिधानमुक्तम् । ताः केलयोऽपि वैदग्धीं विना न भोक्तुं शक्यन्ते, अत आह— वैदग्धीनां इच्छाज्ञानक्रियात्मकगुणकलादिषु रूपलावण्यच्छविसारेषु च

रसकशल

'सारसम्पद्' में 'सार' शब्द से परिमितता का, 'विमल' से परिष्कार के अभाव का—वह परिष्कर जो जल को कपड़े में छानने से होता है—निराकरण किया गया है । संपत्ति का नाम लेने मात्र से ही यह शंका होती है कि प्रस्तुत रस संपत्ति-सुलभ दोषों से युक्त तो नहीं है, क्योंकि कहा है 'धन के कारण मनुष्यों में पन्द्रह दोष आ जाते हैं', किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है । अब यह सिद्ध हुआ कि रस-समुद्र के सार की निर्मल संपत्ति-रूप श्रीराधा इस प्रकार की विशेषताओं से संपन्न हैं । उक्त बातें लौकिक रस की तुलना में कही गई हैं । काव्यगत शृंगार रस में नायक-नायिका भेद, प्रथम-दर्शन अथवा गुणश्रवण से रसांकुर का उद्भेद[1], तदनन्तर प्रेम का उदय और अन्त में रस का परिपाक होता है । उज्ज्वल रस के क्षेत्र में यह सब कुछ नहीं होता; क्योंकि यहाँ तो नित्य रस स्थायी रूप से सदा विद्यमान रहता है, (विभावादि के संयोग से प्रसुप्त रति को प्रबुद्ध कर रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का यहाँ कोई उपयोग नहीं) ।

अब श्रीराधा के प्रीति और रस का कारणस्वरूप होने पर भी, जब तक प्रीति और रस कार्य रूप में अपने ऐश्वर्य के विकास का विस्तार न करें तब तक देखने वाले अधिकारी व्यक्तियों को परम आनन्द कैसे आवे, इसीलिए पूर्व पद्य में श्रीराधा को अद्भुत केलियों का निधान बताया था । वे केलियाँ भी बिना वैदग्धी के भोगी नहीं जा सकतीं, अतः कहते हैं—"वैदग्धीनांहृदयम्" । इच्छा, ज्ञान क्रियारूप गुण और

---

१ पूर्वराग का लक्षण साहित्य-शास्त्र में इस प्रकार बताया गया है—

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरुढ़रागयोः ।
दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते ॥
साहित्यदर्पण—२१४

यद्यल्लोकालोकेषु नैपुण्यतमं श्रूयते, तादृशविविधवैदग्धीनां हृदयं हार्दं सारमित्यर्थः। यथा रससिन्धुसारं तथैवेदं सिन्धुसम्पदोः संबन्धाच्छ्रीरूपत्वं चास्याः, अग्रे 'हरिम्' इति वक्ष्यमाणत्वात्। तद्योग्या इयमपि रसश्रीः। सोऽपि 'रसघनमूर्तिः' इति वक्ष्यमाणक इति। एवं प्रीतिरसवैदग्धीसारं श्रीप्रियारूपं जयतीत्यासक्ति विषयस्वरूपमुक्तम्।

अत्रार्याछन्दोऽनुरोधेन 'मूर्तिमतीव प्रीतिः' इति, 'विपिन' इति च श्रीहितं प्रार्थ्य कृतं, तत्क्षम्यताम् ॥१९९॥

अधुना आसक्त्याश्रयप्रियस्वरूपमाह—

रसघनमोहनमूर्ति
विचित्रकेलीमहोत्सवोल्लासितम्।
राधाचरणविलोडित-
रुचिरशिखण्डं हरिं वन्दे ॥२००॥

रसकलश

कलाओं में तथा रूप, लावण्य और शोभा के सार में जो-जो अलौकिक निपुणता सुनी जाती हैं, उस सब का सार हैं श्रीराधा। जिस प्रकार वे रस-समुद्र का सार हैं, उसी प्रकार सिन्धु और संपत्ति के साथ संबन्ध होने के कारण वे लक्ष्मीरूप भी हैं। आगे के पद्य में श्रीहरि की वन्दना की गई है। ऐसे हरि के योग्य रस-स्वरूप लक्ष्मी भी श्रीराधा ही हैं। वह श्रीहरि भी—जैसा कि आगे कहा गया है—सघन रस की मूर्ति हैं। इस प्रकार प्रियाजी के रूप में साकार हुए प्रीति, रस और विदग्धता की जय हो। इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में आसक्ति की विषय श्रीराधा के स्वरूप का वर्णन किया।

प्रस्तुत पद्य की रचना आर्या छन्द में की गई है। उसके लक्षण की दृष्टि से श्रीहितसखी से प्रार्थना कर प्रथम चरण में 'प्रीतरिव मूर्तिमती' के स्थान पर 'मूर्तिमती व प्रीति' और चतुर्थ चरण में 'काचिद्वृन्दावनाधिकारिणी' के स्थान पर 'काचिद्विपिनाधिकारिणी जयति' यह पाठ बदल दिया गया है जिसके लिए क्षमा करें ॥१९९॥[1]

अब आसक्ति के आश्रय प्रियतम या स्वरूप बताते हैं—

रस की घनीभूत जिनकी मूर्ति है, विचित्र केलियों के महान उत्सव से जो

[1] आर्या छन्द का लक्षण श्रुतबोध में इस प्रकार दिया गया है—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥

अहमेवंविधिं हरिं वन्दे। वैशिष्ट्ये प्रसद्य प्रणमामीति। धन्योऽयं रसिकशेखर इति। कीदृशम्? रसस्य घनीभूता मोहिनी मूर्तिर्यस्य तम्। परममाधुर्यरूपमिति। अत्रैश्वर्यरूपं न स्मृतम्। अत्रापि पूर्वपद्यवत् 'रस' इत्यत्र रसो, 'मोहन' इत्यत्र प्रेमरूपत्वं, प्रीतेराश्रयो विषयश्चापि वर्णितः। प्रियाविषयिकप्रीतिकरणेन सर्वान् मोहयतीति मोहितता। अथ दर्शनेन च मोहकता, प्रेमास्पदत्वात्।

केलिवैदग्ध्यमाह—विचित्रकेलीनां महानुत्सव औत्सुक्यं तेनोल्लासं प्राप्तम्। सदा केलिसमुत्कण्ठा हर्षप्रफुल्लिताङ्ग एव तिष्ठति। किञ्चोत्सुकं विना द्वितीयस्यनोत्साहशक्तिवृद्धिरिति केलिवैदग्धीनिधानोक्तस्य पुष्टि-र्दर्शिता।

रसकलश

उल्लसित रहते हैं और जिनका सुन्दर मोर-मुकुट श्रीराधा के चरणों पर लुढ़कता रहता है, ऐसे श्रीहरि की मैं वन्दना करती हूं ।।२००।।

मैं इस प्रकार के श्रीहरि की वन्दना करती हूँ। उनकी विशेषताओं से प्रसन्न होकर प्रणाम करती हूँ। ये रसिक-शिरोमणि धन्य हैं। श्रीहरि के विशेषण देते हैं—रस की घनीभूत है मोहिनी मूर्ति जिनकी। अर्थात् परम माधुर्यस्वरूप। यहाँ श्रीहरि के ऐश्वर्यात्मक स्वरूप का स्मरण नहीं किया गया है। पूर्व पद्य की तरह इस पद्य में भी 'रस' शब्द से रसात्मकता तथा 'मोहन' शब्द से प्रेमरूपता सूचित की गई है और श्रीकृष्ण को प्रीति का आश्रय और विषय दोनों बताया गया है। (श्रीराधा से प्रेम करने के कारण प्रीति का आश्रय हैं और उनके प्रेमास्पद होने के कारण प्रीति का विषय हैं। श्रीकृष्ण इसलिए सबको मोह लेते हैं कि प्रियाजी के प्रति उनका प्रेम है। प्रियाजी के प्रेम-पात्र होने के कारण उनके दर्शन मात्र से लोग मुग्ध हो जाते हैं।

केलि-निपुणता का वर्णन करते हैं—विचित्र केलियों का जो महान् उत्सव अर्थात् उत्कंठा उससे उल्लसित। केलि-विषयक उत्कंठा से जो हर्ष होता है उसके कारण उनके अंग-अंग प्रफुल्लित रहते हैं। दूसरी बात यह है कि जब तक स्वयं में उत्कंठा न हो, तब तक दूसरे पक्ष का उत्साह बढ़ता ही नहीं है। इस प्रकार पूर्व के दो पद्यों (१९८-१९९) में 'अद्भुत केलि का निधान' 'वैदग्धी का सार' जो बताया गया है, उसकी पुष्टि इस विशेषण द्वारा होती है।

अर्थात् जिसके प्रथम और तृतीय चरण में १२-१२ मात्रायें हो, द्वितीय में १८ और चतुर्थ में १५ वह आर्या छन्द होता है। प्रचलित पाठों में इस लक्षण की संगति नहीं बैठती, क्योंकि प्रथम चरण में १२ के बजाय १० ही मात्रायें हैं और चतुर्थ में १५ के बजाय २०। टीकाकार द्वारा पाठान्तर करने के बाद भी आर्या छन्द के लक्षण का निर्वाह नहीं होता, यह चिन्त्य है। इसलिये प्रथम पद में 'प्रीतिरिव' को 'प्रतिरेव' कर दिया गया है और चतुर्थ चरण के 'काचन' को हटा कर शेष प्रचलित पाठ ही रहने दिया गया है। —सम्पादक

एवं यथार्हसाम्यमुक्त्वापि प्रेमित्वमाह—श्रीराधाचरणयोर्विलोडितं रुचिरं शिखण्डं मयूरं मुकुटं येन तम्। यासक्तकङ्कणबद्धता सात्रैव सार्थकीभूता। मायूरमासक्तचिन्हं यदर्थं धृतं तत्प्राप्तौ सचिन्हनमनम् यदा किञ्चित् केनचिद्धेतुना भ्रूभङ्गी स्यात्तदैव तद्ज्ञेयम्। यद्वा केलिसमुत्कण्ठाहेतुकवाम्यं, ततो मौलिनमनमिति यथा—

कन्दर्पोत्तरलं तथैकमपरं नैवानुकूलं बहिः।
किञ्चैकं बहुमानभङ्गि रसवच्चाटूनि कुर्वत् परम्'॥

इत्यत्र सर्वमासक्तासज्यस्वरूपं ज्ञेयम्।

अथवा 'घन' इत्यत्र मेघार्थोऽपि। रसः शृङ्गारः, स च श्यामवर्णोऽस्ति तथा सजलजलदवन्मोहनमूर्तिम्। पूर्वं प्रीतिरूपप्रियावर्णने गौरत्वमायातं, पीतः प्रेमेति यत्र तत्र प्रसिद्धेः। तेन गौरश्यामसंयोग उक्तः। अन्यच्च 'मेघागमो-

रसकलश

इस प्रकार दोनों की यथोचित समता बता कर भी श्रीकृष्ण के प्रेमी होने का वर्णन करते हैं 'श्रीराधाचरणविलोडितरुचिरशिखण्डम्'। मोर-पंख से बना उनका सुन्दर मुकुट प्रियाजी के चरणों पर लोटता रहता है। आसक्ति के प्रतीक कंगन का बाँधना यहीं सार्थक हुआ है। मोर-पंख आसक्ति का चिन्ह है। उसे जिसके लिए पहिना है, उसके प्राप्त हो जाने पर चिन्ह के साथ नमस्कार किया जाता है, किन्तु चरणों पर यह झुकना तभी होता है जब किसी कारण प्रियाजी की भौंहों में बल पड़ जायँ। अथवा जब श्रीकृष्ण सुरत-केलि के लिए अत्यन्त आतुर हो जाते हैं, तब प्रियाजी वाम हो जाती हैं और प्रियतम उनके चरणों पर अपना सिर रख देते हैं। पहले कहा जा चुका है—

'एक कामोत्तेजन से अधीर रहता है, तो दूसरा ऊपर से प्रतिकूल, एक विविध मान-भंगी करता है, तो दूसरा मिनौतियाँ।'

इस उद्धरण में सर्वत्र आसक्त (श्रीकृष्ण) और आसज्य (प्रियाजी) के स्वरूपों का वर्णन किया गया है।

अथवा 'रसघन' में 'घन' शब्द का अर्थ मेघ भी हो सकता है। 'रस' का अर्थ है शृंगार। शृंगार का वर्ण श्याम है। अब अर्थ होगा—जलभरे मेघ के समान मोहिनी मूर्ति से युक्त। पूर्व पद्य (१६८) में प्रीतिस्वरूपा प्रियाजी का वर्णन किया गया है जिससे गौर वर्ण की व्यंजना होती है। प्रेम का रंग पीला होता है, यह प्रसिद्ध है। निष्कर्ष यह है कि दोनों पद्यों को मिला कर देखने से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि गौर-श्याम का संयोग बताना अभीष्ट है। दूसरी बात यह है कि मेघों के आगमन के उत्सव से जिस प्रकार मोर प्रसन्न होते हैं, वैसे ही, श्रीकृष्ण का यह निजी अनुभव है

रसवा हृष्टा प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः' इतिवत् स्वानुभूतं निजागमोत्सुकशिखण्डं धृतम्। यथा मदासक्ता मयूरास्तथाहमपि प्रियासक्तः स्यामिति। तैः शिक्षितमपि च पुच्छधारणम्। यथा विना महत्पादरजोऽभिषेकम्। अत्रासक्तत्वे महत्वमेषाम्। तेनान्यसाधननिरसनपूर्वकं प्रसह्य तद्धारणं तद्विलोऽनञ्च। मम त्वदासक्तिचिन्हधारणस्य लज्जां रक्षेतिभङ्गिकमनन्यत्वं दर्शितं विज्ञापनञ्चेति। चरणयोर्गत्यर्थत्वात् तादात्विकप्रार्थनाऽमननभङ्गिक क्षेपस्तेन तद्धृतशिखण्डस्यापि लुठनं ज्ञेयम्। 'वि' इति प्रत्याख्यानकृतचाटुकाकुभङ्गेऽपि पुनर्ममैत एव शरणं, यदस्तु तदस्त्विति भूयो निधानम्, यथा दण्डो भृत्येषु प्रभुणार्पितो श्लाध्य एव, न दोषार्ह इति भङ्गिकम्। तदा

रसकलश

कि उन्हें भी देख कर मोर उत्कंठित हो जाते हैं। इसीलिये उन्होंने मोर-पंख को धारण किया है, जैसे मोरों से उन्हें यह शिक्षा मिली हो कि जैसे वे श्रीकृष्ण में आसक्त हैं, उसी प्रकार उन्हें भी प्रियाजो में आसक्त होना चाहिये। मोर-पंख का धारण करना वैसा ही है जैसा कि (श्रीमद्भागवत में) कहा है—'महापुरुषों की चरण-रज से अपना अभिषेक किये बिना श्रीवासुदेव नहीं मिलते।'[1] इन मोरों का महत्व आसक्ति में है, इसीलिए अन्य सब साधनों को एक तरफ हटा कर श्रीकृष्ण उनके पंखों को धारण करते हैं और श्रीराधा के चरणों पर उन्हीं को फिराते हैं, मानों प्रियाजो से यह प्रार्थना करते हों कि ये मोर-पंख आप में मेरी आसक्ति के प्रतीक हैं, अतः इनकी लाज रखिये। प्रकारान्तर से प्रियतम ने मोर-पंख द्वारा अपनी अनन्यता प्रकट की तथा प्रार्थना भी प्रस्तुत की। 'चरण' शब्द गत्यर्थक 'चर्' धातु से निष्पन्न है और 'गति' के व्यापक अर्थ में 'फेंकना' भी आ जाता है। चरणों को प्रियाजी ने इसलिये फेंका कि उन्हें श्रीकृष्ण के द्वारा उस समय की गई प्रार्थना स्वीकार न थी। फलतः चरणों में झुके हुए मस्तक के मोर-पंख भी इधर-उधर डोल गये। 'विलोडित' में 'वि' उपसर्ग की व्यंजना यह है कि प्रियाजी के द्वारा प्रार्थना के अस्वीकृत किये जाने और उसके उपरान्त की गई ख़ुशामद के भी विफल हो जाने पर भी—श्रीकृष्ण का मन्तव्य यह है कि—मेरे रक्षक तो यही दो चरण हैं, जो होना है सो हो। यह कह कर उन्होंने पुनः चरणों पर सिर रख दिया। ऐसा करने में प्रियतम का आशय यह था कि स्वामी यदि नौकरों को दंड देता है, तो उसके इस कार्य की प्रशंसा ही करनी चाहिये,

१. उपक्षिप्त यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

रहूगणैतत् तपसा न याति, न चेज्यया निर्वपणात् गृहाद्वा।
न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

श्रीमद्भागवत—५।१२।१२

सहृदयसखीनां हृदि नेत्रयो रसवर्षणात् ताभिरुक्तम्—अहो ! रसघन एवायम्, मनोवैचित्यकरणान्मोहनधर्ममूर्तिरेवायम्, इत्यतो नामख्यातिः ।

साहजिककेलौ तु श्रीमती न प्रत्याख्याति, परन्तु वैपरीत्यवैचित्र्योत्सुक्येन वाम्यमिदानीं जातम् । तदीदृग्दैन्ये वदान्यानां किमशक्यमिति दयासाहसोत्पादनार्थं वन्दनम् । अर्थात्त्वदपेक्षयैतच्छीलं वरमिति श्लाघनं प्रियाविषयिककटाक्षकम् । पश्य, द्रष्ट्रीणामस्माकं त्वन्नखचन्द्रछटाकर्बुरं कियद्रुचिरं लगति । तव कमललोचन्याया विदग्धायाः, कथं रुचिं नोत्पादयति, सकृत् पश्य, इति रुचिरोक्तिव्यंग्यम् । अस्माकमीदृङ्मनोहरमेवेति हरिः कथं त्वन्मनो न हरति, इत्यादि सखीकथनभङ्गीपूर्वानुभूतचराधुनिकस्मारिका ज्ञेया । पुनश्च शयानयोर्मध्ये यद्यत्प्रीत्यतिशयं दृष्ट्वा प्रीत्युक्ति, रसदर्शना-

रसकलश

स्वामी को कभी दोष नहीं देना चाहिये । इस दृश्य को देखकर सखियों के नेत्र और हृदय में रस बरसने लगा और वे कहने लगीं—अहो प्रियतम वास्तव में रसघन ही हैं और मन को यह जो डाँवाडोल कर देते हैं, तो मोहना इनके व्यक्तित्व की विशेषता है, और इसलिये 'मोहन' नाम से प्रसिद्ध हैं ।

यदि यह माना जाय कि सहज केलि चल रही है और उसी प्रसंग में प्रियतम ने अपने मस्तक को चरणों पर झुकाया है, तो इस व्याख्या में श्रीमती ने प्रियतम की प्रार्थना को ठुकराया नहीं, बल्कि यह कि प्रियतम जब विपरीत रति की विचित्रता को उपभोग करने के लिये उत्कंठित हुए, तो प्रियाजी प्रतिकूल हो गईं । प्रियतम जब इस प्रकार दीनता दिखा रहे हैं, तो उदार स्वामिनी के लिये क्या असंभव है, इस आशय से सखियों ने वन्दना की । इस कथन में सखियों का यह कटाक्ष भी छिपा हुआ था कि आपकी अपेक्षा तो हमारे मोहन का व्यवहार और स्वभाव कहीं प्रशंसनीय है । हमारी नज़रों से देखिये, आपके नख-चन्द्रों की छटा से रंग-बिरंगा मोर-मुकुट कितना सुन्दर लगता है । आपके नेत्र तो कमल सरीखे हैं और आप विदग्ध भी हैं । तब आपको इस अवस्था में प्रियतम क्यों नहीं अच्छे लगते ? ज़रा एक बार तो उनकी ओर देख लीजिये । सखियों की इस सुन्दर उक्ति में व्यंग्य निहित है । वे कहती हैं—हमें तो ये श्रीकृष्ण बहुत सुन्दर लगते हैं । प्रियतम तो 'हरि'—मन को हरण करने वाले—हैं, फिर आपका मन क्यों नहीं हरते ? ऐसी-ऐसी बातें सखियां अपने ढंग से कहती हैं । इन सब बातों का उन्हें पहले ही से अनुभव है, वर्तमान में इस प्रकार की उक्तियों द्वारा वे प्रियाजी को अपने कर्तव्य का स्मरण भी दिलाती हैं—यह समझना चाहिये । दूसरी बात यह है कि सोते हुए युगल की पारस्परिक उत्कृष्ट प्रीति को देख कर सखियों ने (पूर्व पद्य में) प्रीति की बात कही, रस देख कर 'रस' का उल्लेख

द्रसेति, केलिवैदग्ध्यदर्शनात् तदुक्तिरपि ज्ञेया। अत्र 'केली' इति दीर्घपाठो ज्ञेयः ॥२००॥

एवं त्रिभिः स्वरीतिसेव्यासक्तासज्यदम्पतिरूपं वर्णितम्। तत्र तत्तत्प्रेमरसकेलिवैदग्ध्यस्मारणेनोभयहृदि किं किमनुभूतानन्दस्मृतिजस्मिताद्युल्लसितं जातं तत्सहृदयवेद्यम्। तदनन्तरं वर्णनान्ते प्रस्तुतं प्रियदैन्यं तद्गतदृष्टया स्वामिनीविषयकपूर्णोत्कर्षं हर्षपारवश्येन प्रियगुणगानावेशोज्जृम्भं निरोद्धुमशक्ता द्वितीयपार्श्वकुञ्जसेवापदेशेन प्रियाप्रेमोद्दीपकगानेन स्वव्यसनानन्दं पोषयन्ती वक्ति—

कदा गायं गायं मधुरमधुरीत्या मधुभिद—
श्चरित्राणि स्फारामृतरसविचित्राणि बहुशः।
मृजन्ती तत्केलीभवनमभिरामं मलयज-
च्छटाभिः सिञ्चन्ती रसहृदनिमग्नास्मि भविता।२०१।

रसकलश

किया और विलास-कुशलता देख कर केलि के संबन्ध में कहा। इस पद्य में 'केलिमहोत्सवोल्लसितम्' में 'केलि' (दीर्घ ईकारान्त) पाठ समझना चाहिए ॥२००॥

इस प्रकार तीन श्लोकों द्वारा अपनी रीति से आराधनीय आसक्त (श्रीकृष्ण) और आसज्य (श्रीराधा) का वर्णन किया। उस वर्णन ने दम्पति को अपनी प्रेमपूर्ण और विविध प्रकार की चातुरी की याद दिला दी और उनके हृदय में पूर्वानुभूत आनन्द की कौन-कौन सी स्मृतियाँ जाग उठीं और उसके कारण दोनों कैसे-कैसे मुस्कराये तथा अन्य उल्लास भरी चेष्टायें कीं, यह सब सहृदय ही जान सकते हैं। उसके उपरान्त अन्तिम श्लोक में वर्णित प्रियतम की कातरता तथा उसकी तुलना में प्रियाजी के पूर्ण गौरव का ध्यान कर श्रीहितसखी हर्ष से परवश हो गईं और प्रियतम के गुण-गान करने का ऐसा आवेश उनमें भर गया कि उसे रोक न सकीं। तब पास की दूसरी कुंज में सेवा के बहाने प्रियाजी के प्रेम को उद्दीप्त करने वाले गीत गा-गा कर आनन्द भोगने के अपने व्यसन को पूरा करती हुई कहती हैं—

प्रचुर अमृतरूप रस से विचित्र मधुसूदन के चरित्रों को मधुर से भी मधुर रीति से गा-गा कर उनके सुन्दर केलि-गृह का परिष्कार करती हुई और उसे चन्दन-रस से छिड़कती हुई मैं रस के महानद में कब डुबकियाँ लगाऊँगी ? ॥२०१॥

(प्रस्तुत पद्य में क्रिया है—'भवितास्मि' जोकि लृट्लकार के उत्तम पुरुष के एक वचन का रूप है। किन्तु 'अस्मि' को 'भविता' से पूर्व [जो लगा दिया गया है, उसका समाधान करते हैं)—'अस्मि' का अर्थ है—'अहम्' (मैं)। यह प्रयोग उसी प्रकार का

'अस्मि' इत्यस्याहमर्थः। 'त्वामस्मि वच्मि' इतिवत्। अहं गानपूर्वक-मार्जनसिञ्चनसमये रसह्रदनिमग्ना कदा भविता, इति सम्बन्धः। 'मधुभित्' इति मधुपार्थ एव। एकादशे स्वामिभिश्चतुर्विंशतिगुरुव्याख्यां मधुं कृन्तति, पुष्पादाच्छिद्य गृह्णातीति कमलाधिकार्युक्त इति। तथैव श्रीमुखाधरादाच्छिनत्तीति ज्ञेयम्। तदानीं तत्पानसमयज्ञानादुक्तिर्ज्ञेया। तादृशतदासक्तस्य महामत्तस्य चरित्राण्यपि मादकान्येवेत्याह—स्फारोऽमृतरूपो यो रसस्तेन विचित्राणि। दृष्टे श्रुते स्मृते च यस्येयत्ता न स्यात्तादृशवर्द्धमानत्वं नित्यमिति स्फारत्वम्। 'अमृतम्' इति दिव्यताप्यायनतालोकोत्तरमाधुर्यचमत्कारादि-वैशिष्टयम्। तादृक्संजीवनरूपो यो रसोऽत्रास्वाद्यः शृंगार एव। तेनालौकिक-त्वाद्विचित्राणीति। यद्वा रसैरिति हासवीराद्भुतादियोग्यरसमिश्रणेन वैचित्र्यम्। तद्वक्तृश्रोतृणाममृतवन्मादकत्वम्। एकदैवाप्यनुभावकं मादकता

रसकलश

है जैसे 'त्वामस्मि वच्मि'[1] तुम से कहता हूँ।) मैं गीत गा-गा कर कुंज को बुहारती तथा छिड़कती हुई रस के विशाल जलाशय में कब डुबकियाँ लूंगी—यह अन्वय है। 'मधुभिदः' का मूल शब्द 'मधुभित्' है जिसका अर्थ है—भौंरा। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में चौबीस गुरुओं की व्याख्या के प्रसंग में श्रीधर स्वामी ने 'मधुभित्' का यही अर्थ किया है—जो फूल को काट कर मधु को ग्रहण करता है। इस अर्थ के अनुसार भौंरा मधु के उपभोग का अधिकारी ठहरता है—मधुप की भाँति श्रीकृष्ण भी श्रीराधा के अधर से रसरूप मधु को दन्तक्षत द्वारा निकालते हैं। अधर-पान का समय आया हुआ जान कर श्रीहितसखी ने श्रीकृष्ण के लिये 'मधुभित्' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार से आसक्त, प्रेम में उन्मत्त व्यक्ति के चरित्र भी मादक ही होते हैं, इसी दृष्टि से कहा है—'स्फारामृतरसविचित्राणि।' बढ़ा हुआ अमृतरूप जो रस उससे विचित्र। बढ़ना ऐसा है कि देखते, सुनते और स्मरण करते उन चरित्रों की अनन्तता को मापा नहीं जा सकता। इस प्रकार नित्य बढ़ते रहना ही चरित्रों का स्फारीभूत होना है।[1] रस को अमृत कहने से तात्पर्य यह है कि अमृत की भाँति वह भी अलौकिक

१ पूरा श्लोक इस प्रकार है—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥

काव्य प्रकाश से उद्धृत

१ हिन्दी का 'फार' शब्द इसी 'स्फार' का अपभ्रंश है, जैसे—'पुराने चावल फार होते हैं।'

न त्यजेदिति । तादृशानि मधुरादपिमधुर्मधुरा या रीतिस्तया गीत्वा गीत्वेति । माधुर्यं तत्कृतेषु स्वत एवास्ति, तत्र महामाधुर्यं प्रियाविषयिकपरमाधीनताकरणम् । यथा—'अहो रसिकशेखरः स्फुरति' इति । यथा च 'राधाचरणविलोडितरुचिरशिखण्डम्' इति । यथा च शतके—

राधावक्त्रसरोजदिव्यमधुपं राधादृशोरञ्जनं
राधावक्षसि दिव्यनीलवसनं राधामनःशृङ्खलम् ।
राधानाभिसुधासरःकुवलयं राधापदश्रीनखे—
न्दूनां लाञ्छनमेव वाञ्छत वने राधैकखेलामृगम् ॥१६।१

× × ×

रसकलश

है और तृप्तिदायक है—तथा लोकोत्तर चमत्कार आदि विशेषताओं से युक्त है। तो अमृत की भाँति प्राण-संचार करने वाले जिस रस का आस्वाद लिया जाता है वह शृंगार ही है। चरित्र तो पहले ही से अलौकिक हैं, रस के संपर्क से उनमें विचित्रता भी आ गई है। अथवा चरित्र रसों के द्वारा विचित्र बना दिये गये हैं। इस अर्थ में 'रस' शब्द से शृंगार के अतिरिक्त हास्य, वीर, अद्‌भुत आदि उन रसों का भी ग्रहण किया जा सकता है जो एकाश्रय में परस्पर विरोधी नहीं होते। तो कई अनुकूल रसों के संमिश्रण से चरित्रों में विचित्रता आ गई है। वक्ता और श्रोता दोनों को यह मस्त बना देती है। जिसने एक बार अनुभव कर लिया उसे यह फिर नहीं छोड़ती। ऐसे चरित्रों को मधुर से मधुर, अर्थात् अत्यन्त मधुर रीति से गा-गा कर। श्रीकृष्ण के द्वारा किये गये चरित्रों में माधुर्य तो स्वतः ही होता है, किन्तु उन्हें महामधुर इसलिये कहा गया है कि वे श्रीकृष्ण को प्रियाजी के परम अधीन बना देते हैं, जैसा कि कहा जा चुका है—'अहो ! श्रीवृन्दावन में कोई रसिक-शिरोमणि सुशोभित हो रहे हैं जो प्रियतमा के चरणों पर अपना मस्तक झुकाते हैं।' (पद्य १११)। पूर्व पद्य में भी कहा है—'श्रीराधा के चरणों में जिनका मोर-मुकट लोटता है, ऐसे श्रीहरि को नमस्कार है।' श्रीवृन्दावनशतक में भी कहा है—

श्रीराधा के मुख-रूपी कमल के दिव्य भ्रमर, श्रीराधा के नेत्रों के अंजन, श्रीराधा के वक्षःस्लथ पर के दिव्य नील वसन, श्रीराधा को बाँधने के लिये शृंखलारूप, श्रीराधा के नाभिरूप सरोवर के नील कमल, श्रीराधा के सुन्दर नख-चन्द्रों के श्याम लांछन एवं श्रीराधा के ही एकमात्र क्रीडा-मृग श्रीश्यामसुन्दर को इस वृन्दावन में पाने की इच्छा कर ॥१६।१॥

× × ×

एकान्तकुञ्जभवनेऽनुनयेन राधा—
मङ्के निधाय करजैरलकान् विविच्य ।
चुम्बन् मुहुः कनकपङ्कजकान्तिवक्त्रं
सोऽयं हरिः पुलकपूर्णवपुः प्रियो मे ॥१६।२

इत्यादि महामधुरमुभयोर्यथा लगति तादृग्रीत्या गायति । किञ्च प्रियाया हृदयद्रवः स्यात् प्रियस्य रुच्यतिशयः स्यादिति यद्वारीत्या तानादिमाधुर्यमय्या, यत्रोक्तार्थरसयुक्तत्वमपि ज्ञेयम् ।

तस्य केलीनां भवनं कुञ्जगृहं मृजन्ती-अन्तर्भूतणिजर्थान्मार्जयन्तीत्यर्थः । तत्र पूर्वरतमर्दितशय्यामाल्यताम्बूलाङ्गरागाभरणमुक्तादिलाभे यादृग्रीतिपतनदर्शनं तादृगेव सहृदयतया विहारज्ञानम् । तदानन्दोद्दीपनेन रसह्लदे, प्रेमनदे कदा मज्जामीति यत्र विगलितवेद्येतरता स्यात् ह्लदोक्तिः । केली-

रसकलश

किसी एकान्त कुंज-गृह में अनुनयपूर्वक श्रीराधा को गोद में लिये हुए, अंगुलियों से उनके केशों को सँवारते हुए जो कनक-कमल की शोभा से संपन्न उनके मुख का चुंबन करते हैं, रोमांचों से भरे शरीर वाले ऐसे श्रीहरि ही मुझे प्रिय लगते हैं ॥१६।२

उपर्युक्त वर्णनों के अनुसार श्रीहितसखी ऐसी रीति से गाती हैं कि दोनों को संगीत अत्यन्त मधुर लगे और प्रियाजी का हृदय द्रवित हो जाय तथा प्रियतम की रुचि बढ़े । तान-ठप्पे से युक्त राग का उचित निर्वाह करते हुए श्रीहितसखी गाती हैं । गान के बोलों में उपरि वर्णित अर्थ की सरसता भी होती है, यह ज्ञातव्य है ।

उन श्रीकृष्ण के केलि-भवन अर्थात् कुंज-गृह का परिष्कार करती हुई । 'मृजन्ती' में प्रेरणा को यदि अन्तर्निहित माना जाय तो सफाई करती हुई (बुहारती हुई)—यह अर्थ होता है । परिष्कार करते समय पूर्व-घटित सुरत के प्रसंग में भिड़ी हुई शय्या, अंगराग, आभूषण आदि मिले । ये वस्तुयें जिस ढंग से भी अंगों से गिरी होंगी—इसकी कल्पना जिसकी जितनी स्पष्ट होगी वह उसी अंश में सहृदय कहा जायगा और उसी मात्रा में उसे विहार का ज्ञान हुआ समझना चाहिये । तब आनन्द का उद्दीपन होने से कब मैं प्रेम के महानद में इस तरह डुबकियाँ लूँगी कि अन्य सब विषयों की स्मृति ही लुप्त हो जाय । रस को गहरी झील (या अगाध जलाशय) यह सूचित करने के लिये कहा है कि केलि-भवन का पता तो पहले भी था, किन्तु वहाँ अकस्मात् विचित्र केलियां जो देखीं, तो आनन्द के उमग आने से पैर कुछ शिथिल पड़ गये और आनन्द की गहरी झील में फिसल गई और डुबकियाँ लेने लगीं—ठीक उसी प्रकार जैसे किसी नदी में कोई छुपा हुआ गढ़ा हो और नहाने वाला अनजाने उसमें गिर पड़े । 'अभिरामम्'

भवनज्ञानेऽप्यकस्माद्विचित्रकेलिविशेषदर्शनात् श्लथपदपतनं मज्जनं च। यथा नदीसरस्यादौ प्रच्छन्नह्रदेऽज्ञातपतनं तत्सूचयति। 'अभिरामं' तदुद्दीपक वस्तुविसरणैर्दर्शनीयताया मद्धृदयमेव साक्षीति।

तदा साचित्ता मार्जयन्त्येव मलयजच्छटाभिः सिञ्चन्ती। परिष्कारविधेयत्वेऽपि तादात्विकप्रेमास्पदत्वातिशयाच्चन्दनार्चनमिव कुर्वतीति प्रियभावनयैव। किञ्च यद्धर्षास्पदं तत्सम्बन्ध्यपि तथैव प्रियमिति। अत्र तद्भावना दास्यसख्यमयी। अत्राभिरामपदेन रूपसौगन्ध्ययथार्हवैशिष्टच-स्वाभाव्येऽपि सिञ्चनं स्वहृदयोल्लासमयम्। तत्समये तत्रत्यभाविकेलि विलासस्मरणेन रसह्रदपतनम्। वा सख्यस्मरणेन मधूत्सवक्रीडादौ पटवास-प्रक्षेपचन्दनकुंकुमादिद्रवसिञ्चनं स्मृत्वानन्दमग्नता ज्ञेया। अथवा मृजन्ती शुद्धचन्तीति गायंगायमिति। भवनं सिञ्चन्तीति भिन्नम्। किञ्च मुक्तके तु

रसकलश

का अर्थ यह है कि माला, अंगराग आदि उद्दीपक वस्तुओं के यत्र-तत्र बिखरे रहने के कारण केली-भवन का सौन्दर्य देखते ही बनता था जिसका कि साक्षी मेरा हृदय है।

उस समय मन लगा कर सफाई करती हुई श्रीहितसखी चन्दन के द्रव से उस स्थल को छिड़कती भी जाती थीं। लक्ष्य तो सफाई करना था, पर उस समय केलि-गृह के प्रति प्रेम उमड़ आने के कारण मानों चन्दन से उसकी पूजा कर रही थीं; क्योंकि केलि-गृह उस समय उन्हें अत्यन्त प्रिय लग रहा था। दूसरी बात यह है कि जिसे देख कर हर्ष होता है, उससे संबन्धित वस्तु भी उसी की तरह प्यारी लगती है। यहाँ श्रीहितसखी की भावना में दास्य और सख्य=दोनों भावों का संमिश्रण है। 'अभिराम' कह कर यहाँ यह सूचित किया गया है कि यद्यपि केलि-भवन स्वभाव से समुचित रूप में सुन्दर था, तथापि अपने हार्दिक उल्लास को संतुष्ट करने के लिये ही श्रीहितसखी ने उसे चन्दन से छिड़का। उस समय उन कुंज में जो-जो सुरत-केलि भविष्य में होने वाली थीं, उसका स्मरण कर श्रीहितसखी रस की झील में डूबने-उतराने लगीं। अथवा श्रीकृष्ण के साथ अपने सख्य-संबन्ध की याद आने के साथ-साथ यह भी उन्हें स्मरण हो आया कि वसन्तोत्सव की क्रीड़ाओं के प्रसंग में किस प्रकार पटवास फेंका जाता था और किस प्रकार चन्दन और कुँकुम से तैयार किये गये घोल से वे एक-दूसरे को छिड़कते थे। इस सब की याद कर श्रीहितसखी आनन्द-विभोर हो गईं।

अथवा 'मृजन्ती' का अर्थ है अपने आपको शुद्ध करती हुई—गा-गा कर। भवन को सींचने की बात का इससे कोई संबन्ध नहीं है—दोनों बातें अलग-अलग हैं। पद्य को फुटकर मानने पर इसे साधक की अभिलाषा ही मानना होगा। आन्तरिक सख्य भाव के कारण परिहास में और कौतुकवश, प्रियाजी के प्रति विशेष पक्षपात होने से,

साधकमयी । आन्तरे यद्यत्सख्ये तस्मै हासकौतुकपक्षपातवशाधिक्षेपादिकृतं तद्गुणगानसमयेऽन्तःपरमप्रियतोदयजद्रवेण तल्लोपात् स्वशुद्धिमननम् । नचात्र रससमयवक्रोक्तौ दोषारोपः, परन्तु प्रियं प्रति श्रावणभङ्गी । यन्मुखेन स्वैरं वदन्ती तेनैव भवद्गुणानपि स्फुटं पक्षपातिन्यपि गायामीति कृत-निष्कृतिरद्य जातास्मीति प्रेममयी ।।२०१।।

एवं कुञ्जपरिष्कारसामयिक प्रियगुणगानप्रेमरसनिमग्नां गद्गदक्षामाक्षरां श्रुत्वा प्रसह्य स्वयमपि तद्व्यसना प्रिया तत्कौतुकदर्शनोत्सुक्याच्छयनोत्थिता तत्रागत्य तच्चेतनार्थं सख्येन परिष्वज्य स्वसेवा निर्दिष्टा, तथा 'सा श्यामसुन्दर गुणैरनुगीयमानैः प्रीता परिष्वजतु मां वृषभानुपुत्री' इत्याशंसितमेव। तदनन्तरं दङ्गरागसेवां कुर्वन्त्या हितालया प्रेममूर्तेयः प्रेमोज्जृम्भोऽनुभूतस्तमेवाह—

उदञ्चद्रोमाञ्चप्रचयखचितां वेपथुमतीं
दधानां श्रीराधामतिमधुरलीलामयतनुम् ।

रसकलश

जो कटाक्ष आक्षेप किये थे उनके दोष का परिहार उस समय हो गया जब श्रीकृष्ण के गुण गाते-गाते श्रीहितसखी का हृदय, उनके प्रति प्रियता उदय होने के कारण, द्रवित हो गया । इस प्रकार श्रीहितसखी ने माना कि उनकी आत्म-शुद्धि हो गई है। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि रस-प्रसंग में व्यंग्य-भरे कटाक्ष करना दोष है । कटाक्ष और वक्रोक्तियाँ तो प्रियतम को सुनाने का एक प्रकार मात्र है । श्रीहितसखी कहती हैं कि जिस मुँह से मैं उल्टी-सीधी बातें कहती हूँ, उसी मुँह से आपके गुण भी स्पष्ट शब्दों में गाती हूँ । मैं तो इस प्रकार प्रेम के भरोसे ऋण-मुक्त हो गई हूँ ।।२०१।।

पूर्व पद्य में किये गये वर्णन के अनुसार कुंज-गृह का परिष्कार करते समय श्रीहितसखी प्रेम-रस में डूब कर गद्गद कंठ से निकलते हुए शिथिल वर्णों द्वारा प्रियतम के गुण-गान कर रही थी; तो प्रियाजी सुन कर बड़ी प्रसन्न हुई; क्योंकि प्रियतम की गुण-गाथा सुनने का उन्हें भी व्यसन पड़ गया था। सो इस कौतुक को देखने के लिये वे शय्या से उठ कर वहाँ आ गई और श्रीहितसखी को सचेत करने के लिये उनका आलिंगन कर अपनी सेवा के संबन्ध में निर्देश दिये । श्रीहितसखी भी (पद्य १८) यह अभिलाषा प्रकट कर चुकी थीं कि 'श्रीश्यामसुन्दर के गाये गये गुणों से प्रसन्न होकर श्रीवृषभानुनन्दिनी मेरा आलिंगन करें ।' इसके बाद प्रियाजी के अंगराग लगा कर सेवा करती हुई श्रीहितसखी ने प्रेम-मूर्ति श्रीराधा के प्रेम के जिस उछाह का अनुभव किया था, उसी का वर्णन करती हैं—

कदा वा कस्तूर्य्या किमपि रचयन्त्येव कुचयो-
र्विचित्रां पत्रालीमहमहह वीक्षे सुकृतिनी ।।२०२।।

अहमन्तरंगिणी हिताली निजेङ्गितज्ञा प्रस्तुतसेव्यायाः कुचयोः कस्तूर्या विचित्रां पत्रालीं चित्रपत्रपरम्परां अग्रमध्याभितः पार्श्वपूर्वापरशिल्पसौष्ठवमयीं किमपि किञ्चिदपीति रचयन्ती सत्येव उदञ्चदित्यादिविशिष्टां श्रीराधां अहह ! कदा वीक्षे । 'वा' इत्यभिलाषविकल्पे पादपूरणे वा । तादात्विकतर्कवितर्के किं जातमिति तादात्विकविशेषमाह—उदञ्चतां सशीत्कारमुद्गच्छतां रोमाञ्चानां प्रचयः समूहस्तेन खचितां व्याप्तां, पुनश्च वेपथुमतीं, सकम्पाम् । तादृशीमतिमधुरलीलामयतनुं दधानाम् । तदानीमङ्गलेपने कस्तूरीश्यामवर्णादर्शनमात्रेण साक्षात् प्रियभाव उद्दीपित, स्तेन तन्मिलने यादृक्तादात्विककम्पादि भवेत् तादृक् जातम् । तत्र मधुरलीला तु तस्यां स्थायिन्येव, परन्तु तत्प्रेमावेवशशेनात्यन्तमधुरेति लीलावती किमुच्यते मूर्तिमल्लीलैव यस्यास्तनुरिति प्रियस्मृतिजसशीत्कारकम्पयुताङ्ग-

---

रसकलश

'उठते हुए रोमांचों के समूह से जड़े, कंपन से युक्त और अत्यन्त मधुर लीलामय शरीर को धारण करती हुई श्रीराधा को, उनके स्तनों पर कस्तूरी से कुछ विचित्र पत्रावली की रचना करती हुई पुण्यशालिनी मैं कब देखूँगी ? ।।२०२।।

प्रियाजी की अन्तरंगा मैं हितसखी, जो प्रियाजी के आन्तरिक भावों को भली भाँति जानती है, अपनी आराध्या के स्तनों पर सामने, बीच में, दोनों तरफ, बगलों में पहले और बाद में की गई कारीगरी के सौन्दर्य से युक्त विचित्र, चित्रमय पत्रावली की कस्तूरी के द्रव से थोड़ी-बहुत रचना करती हुई, रोमांच आदि विवरण से विशिष्ट श्रीराधा को अहह ! कब देखूँगी ? 'कदा वा' में 'वा' से यह सूचित होता है श्रीहितसखी की यह भी एक अभिलाषा है । पाद-पूर्ति के लिये भी 'वा' का प्रयोग हो सकता है ।

श्रीहितसखी के मन में जब यह तर्क-वितर्क हो रहा था (कि प्रियाजी की इस छवि को मैं कभी देख पाऊँगी या नहीं) तब क्या हुआ, इस बात को, उस समय की विशेषताओं का वर्णन करती हुई बताती है—'उदञ्चद्रोमाञ्चप्रचयखचिताम् ।' उठते हुए रोमांचों—इधर प्रियाजी शीत्कार (सो-सी की आवाज) कर रही थीं और उधर वे उठ रहे थे—के समूह से खचित अर्थात् भरे हुए तथा काँपते हुए अत्यन्त मधुर लीलामय शरीर को धारण करती हुई (श्रीराधा को मैं कब देखूंगी ?) । अंगराग लगाते समय श्याम रंग की कस्तूरी के देखनेमात्र से प्रियाजी के हृदय में प्रियतम-संबन्धी भावनायें साक्षात् उद्दीप्त हो उठीं । इससे यह हुआ कि प्रियतम के साथ वास्तविक

भ्रूनेत्रादिभंग्येवं कृता, तल्लीलाया अतिमाधुर्यस्य मद्धृदयमेव साक्षि, किमहं वच्मि। श्यामवस्तुदर्शनेन प्रेमावेशः स्यात्तत्र लेपे किमु वाच्यम्। तत्रापि कुचयोरिति प्रियालिङ्गनमेव समभ्युदयमेतीति किमुततराम्। अर्थात् कथंकथंचिदेव पत्रमयी कंचुकी परिपूरिता। अन्यच्च मयाज्ञातयापि हेतुस्तर्कितः, अहो! सुकुमार्यैतत्कुञ्जमलयजच्छटासिञ्चनमद्यैव कृतम् तच्छैत्यं किमु कंपादिदायकं जातमिति। अन्तस्तु स्वयं कान्तमिलितैव। तादात्विकतनुमिलनाभावात् तां तनुं भिन्नतयैव धारयतीवेति धार्यधारकहेतुर्ज्ञेयः ? अन्यथा तस्या एव विशेषणानि कथं न दत्तानीति। अतिमाधुर्ये किञ्चिदाक्षेपोक्तिरपि ज्ञेया। किमिदं लेपितं यन्मद्धृदयोत्कम्पकं त्वयानिङ्गितज्ञतयैवेत्यादि।

रसकलश

संगम होने पर कंप आदि जो-जो सात्विक भाव उदित होते हैं, वे सब के सब शरीर में दृष्टिगोचर होने लगे। प्रियाजी के अन्तर में मधुर लीलायें तो स्थायी रूप से होती ही रहती हैं, किन्तु उस समय प्रेमावेश से पराधीन होने के कारण वे लीलायें और भी मधुर हो गईं। ऐसी स्थिति में प्रियाजी के शरीर को लीलायुक्त तो कैसे कहा जाय ? वास्तविकता तो यह है कि उनका शरीर लीला की मूर्ति ही हो गया था। क्योंकि प्रियतम का स्मरण होते ही उन्होंने जिस प्रकार सीत्कार किया, अंगों में जो कंपन पैदा हुआ तथा नेत्र, भौंह आदि से जो-जो भंगियाँ प्रकट हुई; उससे उनकी लीला इतनी मधुर बन पड़ी कि मेरा हृदय ही जानता है। शब्दों द्वारा मैं उसे कैसे बताऊँ ? श्यामवर्ण की वस्तु को देखते ही जहाँ प्रेम का आवेश हो जाता है, वहाँ यदि उसका लेप किया जाय, तो कहना ही क्या ! उस पर भी जब कुँचों पर श्याम रंग से पत्रावली बनाई जाय, तब तो प्रियतम के द्वारा सचमुच के आलिंगन का ही अनुभव होने लगता है। इससे बढ़ कर और भला क्या हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि जैसे-तैसे चोली की शक्ल की पत्रावली बनाने का काम पूरा हुआ। एक बात यह और हुई कि वास्तविक को जाने बिना ही मैंने कंप आदि के कारण की कल्पना कर डाली कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि कुंज में चन्दन-रस जो आज मैंने छिड़का है उसकी शीतलता से ही सुकुमारी प्रियाजी के शरीर में कंपन पैदा हो गया ? 'दधानाम्' (धारण करते हुए) की व्याख्या करते हैं—अन्तःकरण से तो प्रियाजी का स्वामी के साथ मिलन सदा बना ही रहता है, किन्तु उस समय शरीर से मिली हुई न थी; अतः शरीर को पृथक् रूप से धारण करती हैं। धार्य (शरीर) और धारक (प्रियाजी) में भिन्नता का यही कारण समझना चाहिये, नहीं तो 'उदञ्चत्' आदि को शरीर का विशेषण न बना कर प्रियाजी के विशेषणों के रूप में क्यों नहीं उपात्त किया ? शरीर को अत्यन्त मधुर लीलामय

'अहह !' इति हर्षे। कदैवं वीक्षे। वा पार्श्वगप्रियापि वर्णमात्र-दर्शनेनैवं व्याकुलेत्याश्चर्यहर्षवैचित्येन कदा, किमु इत्यादि, साक्षात् स्वप्नो वेति तर्को ज्ञेयः।

एवं सुकृतिनी 'कदा स्याम्' इत्यध्याहार्यम्। प्रियप्रेमावेशजात्यन्तानन्देन अहो मया किमद्य सुकृतं कृतमिति। अन्यच्च 'खचित' इत्यत्र कंचनमयं तनुभूषणम्। तत्र रोमाञ्चानां तन्मयत्वेऽपि समुत्थितेन भिन्नवद्दर्शनाद्-भास्वराङ्गच्छविस्वाभाव्येन पुष्परागमणिखण्डैरिव जटितम्। स्वस्य लीला-मयत्वाच्चाञ्चल्यस्वाभाव्येन सकंपमिति। तादृशतनुभूषणधारणश्रीयुतामिति तदानीं दर्शनीयामेव। यद्वा भावात्मनि श्यामागमोद्दीपनेन प्राणप्रियस्वागत-विधानवत् प्राणानां रोमाञ्चानुभावद्वारोत्थानसूचनम्। कम्पः सहर्षस्नेहि-

रसकलश

कहने में यह आक्षेप भी छिपा है कि यह तुमने कैसा अंगराग लगा दिया कि मेरा हृदय काँपने लगा? जैसा तुम मेरे आन्तरिक भाव को जानती ही न हो, इत्यादि।

'अहह! से प्रसन्नता का बोध होता है कि इस स्थिति में श्रीराधा के दर्शन कब करूँगी? अथवा 'अहह!' से यह आश्चर्य भी सूचित होता है कि प्रियतम के पास में होते हुए भी कस्तूरी का रंग मात्र देख कर ऐसी व्याकुल हो गई! हर्ष के कारण श्रीहिताली का चित्त जो ठिकाने न रहा, उसी के कारण 'कब देखूंगी?' 'क्या देख पाऊँगी?'—ऐसी-ऐसी बातें कहती हैं, जैसे यह निश्चय न कर पा रही हों कि यह प्रत्यक्ष सत्य है या कोरा स्वप्न।

इस प्रकार मैं पुण्यशालिनी 'कब हूँगी' का ऊपर से अध्याहार करना होगा। अहो! मैंने क्या पुण्य किया है जो प्रियतम के प्रेम के आवेश से आनन्दित (प्रियाजी का यह रूप देखने को मिला)? प्रियाजी के शरीर को रोमांचों से जड़ा हुआ कहा गया है। इस सम्बन्ध में ऐसा समझना चाहिये कि प्रियाजी का शरीर सोने से निर्मित एक आभूषण है। अब रोमांच यद्यपि शरीर के साथ एकाकार हो रहे हैं, किन्तु आनन्द के आवेश में जब वे खड़े होते हैं, तो शरीर से पृथक् दिखाई पड़ते हैं। प्रियाजी के श्रीअंगों की छवि में एक स्वाभाविक चमक है। उनमें जब रोमांचों का उदय होता है, तब ऐसा लगता है मानों शरीर पुष्पराग (पुखराज) के रत्नों से जड़ा हो। प्रियाजी लीलामय हैं, अतः चंचल स्वभाव के कारण वे काँपती सी लगती हैं। इस प्रकार वे भूषण—जैसे शरीर की शोभा से युक्त हैं—अर्थात् उनकी छवि देखते ही बनती है। अथवा प्रियाजी के भावात्मक स्वरूप में जब श्याम का आगमन हुआ तो उद्दीपन होने के कारण, प्राण प्यारे प्रियतम का मानों स्वागत जुटाने के लिए, प्राण, सात्विक भाव

शीलं नर्तनं वा, खचनं सर्वेषां युगपद्गाढमिलनं, अत एवोदधिकमञ्चनं, गमनं पूजनञ्च। अतिमधुरलीलैव मिष्टभोजनम्। इत्यादि भावोदधितरङ्गाः सहृदयवेद्याः ॥२०२॥

पुनस्तामेव दशां वर्द्धमानां यथानुभूयमानां वर्णयन्ती तद्वृत्ताश्चर्योपसमीक्षमाणस्थगितप्रियसमक्षं प्रेमजयं वर्द्धयन्त्याह—

क्षणं सीत्कुर्वन्ती क्षणमथमहावेपथुमती
क्षणं श्यामश्यामेत्यमुमभिलपन्ती पुलकिता।
महाप्रेमा कापि प्रमदमदनोद्दामरसदा
सदानन्दामूर्तिर्जयति वृषभानोः कुलमणिः॥२०३॥

कापि महाप्रेमा वृषभानोः कुलमणिर्जयति। महान् सप्रियसखीभिः श्लाघ्यप्रेमा यस्याम्। अत्र महत्वं प्रशंसार्थमेव। किञ्च प्रेममूर्तित्वं तु

रसकलश

के प्रतीक रोमांचों द्वारा उठ खड़े हुए। कंप का मतलब यह है कि रोमांच, प्रसन्नता के कारण और स्वभाव से स्नेही होने के कारण नाचने लगे। 'खचन' (जड़ना) ऐसा था मानों सब एक ही समय में गहरे मिल गये हों। इसलिए 'उदञ्चनम्' कहा है। अर्थात् अधिक (उत्) अंचन यानी गमन और पूजन। (जैसे कोई अपने प्रिय या पूज्य के आने पर आगे बढ़ कर स्वागत और पूजन करता है।) अति मधुर लीला मानों मिठाई का भोजन है। भाव-समुद्र की इन तरंगों को सहृदय ही जान सकते हैं ॥२०२॥

पुनः प्रियाजी की उसी बढ़ती हुई दशा का अपने अनुभव के अनुसार वर्णन करती हुई तथा प्रियतमा की उस अवस्था को पास से देख कर आश्चर्य चकित तथा जड़वत् हुए प्रियतम के समक्ष प्रेम का जय-जयकार करतो हुई कहती हैं--

'क्षण में सीत्कार करती हुई, क्षण में जोर-जोर से काँपती हुई, क्षण में रोमांचित होकर श्रीकृष्ण के मुँह पर ही 'श्याम ! श्याम' कह कर पुकारती हुई, उन्मादकारो कामावेश से भरी, रस प्रदान करने वाली, सदा आनन्द की मूर्ति श्रीवृषभानु के किसी कुल रत्न की जय हो ॥२०३॥

किसी महान् प्रेमिणी की वृषभानु की कुलमणि की जय हो। 'महाप्रेमी' का अर्थ है– प्रिय सखियाँ जिनके महान् प्रेम की प्रशंसा करती हैं। प्रेम की महत्ता यहां प्रशंसा करने में है। प्रियाजी प्रेम की मूर्ति हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। कैसे आश्चर्य का विषय है कि प्रियतम के पास बैठी हुई भी आसज्योचित रधैर्य की जंजी तोड़ कर

पूर्वमुक्तमेव । अहो ! प्रियपार्श्वगापि स्वधैर्यासज्यत्वश्रृङ्खलामुन्मुच्यासक्तिवशगास्तीति नियमत्याग एव प्रेमप्रशंसा पूर्वैः कृतैव । वृषभानोरिति पितृनामसंबन्धेन सुजातत्वं माधुर्यं कमलवत् भानुजन्यत्वात् प्रेम्ण उष्णकिरणत्वमुक्तमेव । तस्या अपि कुलमणित्वेनावेशिशीलं निर्दिष्टं, सूर्यकान्ताख्यवदेकदेशग्रहणात् । तत्र तु साक्षात् संबन्धोऽत्र वर्णमात्रोद्दीपनावेशादतिरेकः । तदेव निशिनष्टि—

क्षणं शीत्कुर्वन्ती । शीत्कारो मर्मवेधाद्भवति । अत्र दृष्टिद्वारा तत्प्रवेशसमनन्तरकेलिशीलवैशिष्टचस्मृत्या मर्मस्पर्शः । वेपथुश्च द्वितीयक्षोभकावेशाद्भवति । अत्र तज्जातमदनावेशः । मदनोऽत्र रमणोत्सुक्यं, तत्कृतप्राबल्याकर्षणेन धूननम् । यथा 'क्वचित् केलिः कर्तृवशा, क्वचित्तद्वशगश्च स' इति । अत्रौत्सुक्यपारवश्यं, तेनैव प्रतिरोम तन्मयतया श्याम-

रसकलश

आसक्ति के वश हो गई हैं । (स्वयं आसक्त हो गई हैं), नियमों को त्यागने में ही प्रेम की प्रशंसा है, यह पहले लोग कहते आये हैं । पिता श्रीवृषभानु के नाम के संबन्ध से श्रीराधिका की कुलीनता और भानु से पैदा होने के कारण कमल जैसा माधुर्य सूचित किया गया है । प्रेम की किरणें गरम होती हैं यह कहा जा चुका है । श्रीवृषभानु की पुत्री को भी 'कुलमणि' कह कर आवेश से भर जाने के उनके स्वभाव की तरफ संकेत किया गया है । सूर्य के प्रभाव के नीचे सूर्य-कान्त मणि भी आवेश से द्रवित हो जाती है, पर श्रीराधा के संबन्ध में इस गम्य उपमा के एक देश (आवेशात्मक विशेषता) को ही ग्रहण किया गया है (नकि सूर्यकान्त मणि के कठोरता आदि गुणों को ; क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि उपमा सर्वांश में ही हो) । सूर्यकान्त मणि की अपेक्षा एक विशेषता श्रीराधा में यह है कि सूर्यकान्त तो तभी झरती है जब सूर्य की किरणों के साथ उसका साक्षात् संपर्क हो । परन्तु श्रीराधा तो श्याम वर्ण को देखते ही आवेश में भर जाती हैं । उसी विशेषता का वर्णन करते हैं—

एक क्षण सीत्कार करती हुई । कोई सीत्कार तभी करता है जब कोई चीज मर्म में प्रवेश कर कचोटती है । प्रस्तुत में श्रीकृष्ण ने दृष्टि के द्वारा ज्योंही श्रीराधा के हृदय में प्रवेश किया, त्योंही उसके साथ ही साथ प्रियतम के केली करने के स्वभाव का स्मरण कर मर्म छू गया । उसके बाद हलचल का दूसरा दौर आया ; कंप पैदा हो गया यहाँ कामावेश श्रीकृष्ण को देख कर पैदा हुआ है । कामावेश से यहाँ अभिप्राय रमण करने की उत्कंठा से है । मदन की प्रबलता आकर्षण से कंपन हुआ । कहना भी है—' कहीं तो केलि कर्ता के आधीन होती है और कहीं करने वाला ही केली के

श्यामेति । अत्र शीत्कारकम्पहेतुकं किमिदं लेपितमिति भीत्यावेशवशादिव वर्णवीप्सामेव प्रावोचदिति श्यामश्लेषोऽपि ।

इत्येवं वीप्सां अमुं श्यामं, तदानीं सखीसमक्षस्थितं अभिसंमुखे लपन्तीति संभ्रान्तवदिदं लपनम् । तत्समयमेव पुलकिता—कथनसमनन्तरमेव तन्निदध्यासजद्रवणात् पुलकिता, यथा घनीभूतस्य प्रगल्भीभवनम् । यद्वा स्मृत्यागतप्रेष्ठात्मासमालिङ्गनार्थप्राणसमुत्थानसूचनं रोमोद्गमनम् । एवं प्रेमावस्थावर्णनमेकश्यामवर्णमात्रनिर्देशजं, तदान्योद्दीपनानां कैमुत्यम् । अतो 'महाप्रेमा' । अनन्यत्र दर्शनात् 'कापि' इति । तदनन्तरं प्रमद उन्मत्तो बलिष्ठो मदनो यस्याः, इति प्रियरिरंसार्थम् । तद्दृष्ट्वा एवप्रियसखीहृदि यथार्हमहारसोद्दीपनादुद्दाममुत्करं संयोगादप्यधिकं रसं विगलितवेद्येतरत्वापादकास्वादं ददातीति सा ।

रसकलश

वश में हो जाता है ।' यहां परवशता उत्कंठा के कारण हुई है । इसी से तन्मय हो जाने के कारण प्रियाजी 'श्याम ! श्याम' ! कह उठती हैं—अर्थात् श्रीहितसखी से पूछती हैं कि तुमने मेरे शरीर पर यह काला-काला क्या लेप दिया कि मैं सी-सी- कर उठी । इस डर से भर कर ही श्याम रंग को दुहराया । श्याम से श्रीकृष्ण का भी अर्थ निकलता है ।

प्रियाजी 'श्याम' शब्द की आवृत्ति सखियों के सामने बैठे हुए श्यामसुन्दर के मुँह पर ही करती हैं । ऐसा प्रतीत होता था जैसे वे उद्भ्रान्त होकर प्रलाप कर रही हों ठीक इसी समय उनके रोमांच हो आया । 'श्याम ! श्याम !' करने के साथ ही प्रियतम के ध्यान में गहरे डूबने से द्रवित होकर रोमांचित हो गई । पहले रोमांच घने हुए, फिर शक्ति का संचार होने से खड़े हो गये । अथवा स्मृति-पटल पर अंकित प्रिय का आलिंगन करने के लिये श्रीराधा के प्राण मानों उठे और उसकी सूचना रोमांचों ने दी । केवल रंग के संकेत से प्रेम की इस स्थिति में जब श्रीराधा पहुँच गई, तो अन्य उद्दीपकों के प्रभाव के संबन्ध में तो कहा ही क्या जाए ? इसी आशय से श्रीराधा का 'महाप्रेम' विशेषण दिया है । अन्यथा ऐसी स्थिति देखने में नहीं आती, अतः श्रीराधा के लिए 'कापि' (कोई अनिर्वचनीय) कहा है । उसके बाद श्रीराधा 'प्रबलमदनोद्दामा' हो गई-प्रबल अर्थात् उन्मत्त या बलशाली है कामावेश जिनका काम—का यह प्रबल आवेश प्रिय के साथ रमण करने की इच्छा से प्रादुर्भूत हुआ । 'उद्दामरसदा' की व्याख्या करते हैं—यह देख कर प्रिय सखियों के हृदय में महारस उमड़ा और इस प्रकार श्रीराधा ने उन्हें आस्वाद का वह उत्कट आनन्द प्रदान किया जो संयोग से भी बढ़कर था और जिसे पाकर वे सब कुछ भूल गई ।

यद्वा तादृशावस्थादर्शनात् प्रियस्य हृदि तादृग्निधित्वासज्यकृपापात्रत्वादि स्वसौभाग्यातिशयमननजहृदयोल्लाससमनन्तरसमुदितमदनप्रमदतया 'प्रमदमदनम्' इति कान्तं तदानीमागत्य भुजाभ्यां गाढमालिङ्ग्य तं किमिदमिति सहर्षं प्रहस्य निजपार्श्वस्थित एवायं दासः, इत्युक्तिपूर्वकमिति । तदनु मिथो यथेष्टं रमणानन्दोद्भवात् 'उद्दामरसदा' इति । ततो हितालीवक्ति—अहो ! सदानन्दरूपा आसमन्तान्मूर्तिर्यस्याः । यस्यां कस्मिन्नप्यंशे आनन्दाभावसंभावना नास्तीति केवलानन्दमूर्तिरेवेयम् ।

भानुनाम्ना स्वस्य पितृकुललालनबाल्यविनोदमारभ्यैव वात्सल्यसख्यदास्यशृङ्गारादि तत्तदानन्दानुभव उद्दिष्टो, नित्यसङ्गिनीत्वात् स्वस्यपूर्णममत्वं कियन्निर्दिष्टमिति सहृदयगम्यम् । ततो हर्षपारवश्येन किमन्यगुणोत्कर्षं वच्मि ? 'जयती' त्येवं सर्वोत्कर्षवर्तनम् । एतत्प्रेमदर्शने सर्वप्रेमान्तर्भाव इति ।

रसकलश

अथवा प्रियाजी की यह दशा देखकर प्रियतम ने अपना यह महान् सौभाग्य माना कि प्रियाजी सरीखी अमूल्य निधि मेरे पास है और मैं उनका कृपापात्र हूँ । यह विचार आते ही उनका हृदय उल्लास से भर गया और उसके साथ ही साथ कामदेव उन्मत्त होकर प्रकट हो गया । तब प्रियतम ने वहाँ आकर प्रसन्नता पूर्वक यह कहते हुए कि—'यह क्या हो गया आपको ? यह दास तो आपके पास ही बैठा है,' प्रियाजी का गाढ़ आलिंगन किया । बाद में इच्छानुसार विहार का जो आनन्द प्रकट हुआ, उसी को लक्ष्य कर कहा है-'उद्दामरसदा', (उत्कट आनन्द प्रदान करने वाली), तब हिताली कहती हैं—अहो ! प्रियाजी का स्वरूप तो सब प्रकार से आनन्द देने वाला है—अर्थात् किसी भी अंश में इनमें आनन्द के अभाव की संभावना भी नहीं है । यह तो शुद्धरूप से आनन्द की मूर्ति ही हैं ।

श्रीवृषभानु का नामोल्लेख कर श्रीहितसखी ने यह सूचित किया है कि जब प्रियाजी अपने पिता के घर में ही थी ; तभी से लालन-पालन और बालक्रीड़ा से लेकर वात्सल्य, सख्य, दास्य, श्रृंगार आदि रसों के विविध आनन्द का वह अनुभव करती चली आ रही हैं और सदा साथ रहने के कारण उनके प्रति अपनी कितनी पूर्ण ममता व्यक्त की है, यह तो सहृदय ही जान सकते हैं । इसके बाद हर्ष के अधीन होकर कहती हैं—प्रियाजी के अन्यान्य गुणों का क्या वर्णन करूँ ? इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'जयति'—अर्थात् वे अपने समस्त गुणों के साथ विराजमान हैं । भाव यह है कि प्रेम की यह लीला जब देखली, तो फिर कोई प्रेम शेष नहीं रह गया ।

अत्र श्लोकद्वयस्य शृङ्खलैक्ये रोमाञ्चकम्पादीनां पुनः पुनर्भवनात् पुनरुक्तिः, 'क्षणक्षणे' त्युक्तत्वात् । पूर्वत्र पत्राल्यारम्भे प्रेमावेशः परत्रा-वेशवर्द्धनानुपराम इति प्रेमसद्रूपता आनन्दरूपता च । अनेन पद्येन मुक्तकेऽपि प्रेमवैचित्यमेवोक्तम् । यथा 'अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोहन' इत्याद्ये तज्जातीयमिदमपीति ॥२०३॥

एवं स्वविषयिकमहाप्रेमहृतमानसपरमविह्वलप्रियसंयोगरसानन्ददर्शना-त्यन्तानिर्वचनीयोभयप्रेमोद्रेकमग्ना तादृशदायादत्वेन स्वभाग्याधिक्यं

रसकलश

यहाँ प्रस्तुत पद्य तथा इसके पूर्ववर्ती में भावों की एक ही श्रृंखला चली है, (दोनों में रोमांच, कंप, लीला तथा उत्कट कामावेश का वर्णन किया गया है।) एक ही प्रकार के भावों को इसलिये दुहराना पड़ा कि प्रियाजी के बार-बार रोमांच, कंप आदि प्रकट हुए। कहा भी है क्षण-क्षण में सीत्कार करती हुई, क्षण-क्षण में काँपती हुई आदि । पूर्व पद्य के वर्णनानुसार पत्रावली की रचना प्रारंभ होते ही प्रेम का आवेश हो गया था; दूसरे पद्य में शान्त होने के बजाय वह बढ़ता ही चला गया । इसीलिए प्रियाजी 'महाप्रेमा' (प्रेम की शुद्ध मूर्ति) और 'सदानन्द' (आनन्दस्वरूपा) हैं ।

मुक्तक पक्ष में भी इस पद्य के द्वारा प्रेमजन्य विभ्रान्त अवस्था का ही वर्णन किया गया है । इससे पूर्व भी ऐसे ही वर्णन किए जा चुके हैं । उदाहरणार्थ - 'प्रियतम की गोद में लेटे हुए होने पर भी 'हा मोहन !' कह उठती हैं । प्रस्तुत पद्य उन्हीं पद्यों की श्रेणी का है' ॥२०३॥

इस प्रकार अपने प्रति प्रियाजी के निरतिशय प्रेम से आकृष्ट हुए तथा अत्यन्त विह्वल प्रियतम के साथ श्रीराधा के संयोग-रस का आनन्द देख कर श्रीहितसखी के मन में दोनों के प्रति ऐसा अनिर्वचनीय प्रेम उमड़ा कि वे उसमें डूब गईं । इस आनन्द में श्रीहिताली का भी अपना भाग था, इसलिये उन्होंने अपने भाग्य को बहुत सराहा

१- इस पद्य में श्रीराधा का एक विशेषण-'प्रमदमदनोद्दामरसदा' है। श्रीकृपालाल गोस्वामी ने इसका अर्थ किया है—उत्कट मद से युक्त जो कामदेव उसके उद्दाम रस को देने वाली (श्रीराधा) । स्पष्ट है कि उन्होंने पूरे समासान्त पद को एक ही विशेषण माना है। रसकुल्याकार ने इसे दो विशेषणों में विभक्त कर दिया है—(१) प्रबलमदनोद्दामा और (२) रसदा । पहले विशेषण का अर्थ किया है—अत्यन्त बलशाली कामदेव से उन्मत्त और दूसरे का—आनन्द को प्रदान करने वाली ।

यहां तक ये दोनों विशेषण राधा-परक हैं, किन्तु वैकल्पिक व्याख्या में फिर इन्हें एक ही विशेषण मान कर अर्थ किया है— प्रबल काम से आविष्ट प्रिय को उत्कंट आनन्द देने वाली । इस व्याख्या के अनुसार यह विग्रह होगा—'प्रकृष्ट मदनं यस्य तस्मै उद्दामं रसं ददातीति ।'

मन्वाना प्रसद्य पुनस्तदेव लालसातिरेकेण दास्यं समाशंसते—

यस्याः प्रेमघनाकृतेः पदनखज्योत्स्नाभरस्नापित-
स्वान्तानां समुदेति कापि सरसा भक्तिश्चमत्कारिणी।
सा मे गोकुलभूपनन्दनमनश्चोरी किशोरी कदा
दास्यं दास्यति सर्ववेदशिरसां यत्तद्रहस्यं परम्॥२०४॥

सा किशोरी मे मह्यं दास्यं कदा दास्यति। सा का ? यस्याः पदनखज्योत्स्नाभरेण स्नापितं स्वान्तं मनो येषां तेषां कापि भक्तिः समुदेति। 'कापी'ति वैलक्ष्यण्यमाह। भक्तिशब्दस्यानुरक्त्यर्थस्तु प्राग्भिः कृत एव। यथाहि शांडिल्यसूत्रे—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इति। तत्र निर्विशेषे वैशिष्टयं विना नास्वाद इति कापि लोकोत्तरा प्रेम्णस्तस्यैवानुरागस्य घनीभूताकृतिर्यस्याः। अत्र वैरल्यं निरस्तम्। यथा पयसो द्रवरसपूर्वावस्थस्य

रसकलश

और तब प्रसन्न होकर, लालसा के बढ़ जाने के कारण, उसी दास्य-भाव की आकांक्षा करती हुई कहती हैं—

'सघन प्रेमस्वरूप जिनके चरणों की नखों की चाँदनी के प्रवाह में निल्हाये गये लोगों के अन्तःकरण में किसी अनिर्वचनीय, सरस तथा चमत्कृत करदेने वाली भक्ति का प्रादुर्भाव होता है, गोकुल के राजा श्रीनन्द के कुमार के मन को हरण करने वाली वह किशोरी मुझे वह दास्य कब देंगी जो समस्त उपनिषदों का अन्तिम रहस्य है' ॥२०४॥

वह किशोरी जी मुझे दास्य कब देंगी (अपना दास कब बनायेंगी ?) किशोरी के विशेषण देते हैं—जिनके चरणों के नखों की चांदनी की धारा में निल्हाये गये लोगों के अन्तःकरण में कोई अनिर्वचनीय भक्ति उदित होती है। 'कापि' (कोई) कह कर विलक्षणता सूचित की गई है। भक्ति शब्द का अनुराग अर्थ तो पूर्ववर्तियों ने किया ही है। उदाहरणार्थ, शाण्डिल सूत्र में कहा है—'ईश्वर में चरम कोटि का अनुराग भक्ति है।' इस सूत्र में 'ईश्वर' शब्द से किसी सामान्य सर्वशक्तिमान् सत्ता का बोध होता है, किन्तु जब आराध्य में कोई विशिष्टता न हो, तब तक भक्ति का आस्वाद नहीं मिलता। इसीलिये कहा है—'कापि'—अर्थात् लोकोत्तर। उसी प्रेम या अनुराग की घनीभूत मूर्ति श्रीराधा हैं। इससे विरलता का निराकरण कर दिया गया है। जिस प्रकार दूध पूर्वावस्था में तरल होता है, किन्तु पकाने से गाढ़ा हो जाता है, उसी प्रकार श्रीराधा भी प्रेम के साथ एकाकार होकर स्थित हैं। तात्पर्य यह है कि प्रियाजी में शुद्ध प्रेम की

पाकादिप्रकारेण घनत्वं क्रियते, तद्वदेकाकारा। अत्र शुद्धप्रेमाढ्यमिति। तत्र माधुर्येऽपि महामाधुर्यं, यथा सितामिश्रणम्। तेन सरसेति। तथात्र श्रृङ्गाररससाहित्यं दम्पतीविलासलीलाभावमयम्। रसस्तूभयोरेव। सखीनां परिजनत्वेन तत्सुखसुखिता। तदपि श्रृङ्गारवाच्यमेव। तत्रापि यथा तादृशससितघनपयसि लवङ्गैलाकर्पूरजातीफलादिस्वादवैचित्र्यं, तद्वच्चमत्कारोऽत्र वाम्यभ्रूभङ्गीप्रेमवैचित्यकौतुकादिमयः। तेन तन्मयत्वमेवाप्यते मनस इति। एवं वैशिष्ट्यं मयाधुनानुभूयते, मत्परिकरेणापि च। तदुदयस्य को हेतुः? श्रीमतीपदशरणमेवेति, नान्यः। किञ्च यद्यपि प्रियसंयोगं विना रसो नास्ति, तदपि तदाश्रयैकग्रहणे सति न रहोऽधिकारो, नच गौरविषयिकममत्वम्। तदा मूलं विना केवलरस एव किं कुर्यादिति प्रस्तुतरीतिकप्रेम रसचमत्कारमयभक्तेः प्रियापदाश्रय एव मुख्यो हेतुर्नान्यः। यदा च ममतया-

रसकलश

दृढ़ता है। दूध प्रकृति से ही मधुर होता है किन्तु शक्कर मिला देने से वह और भी ज्यादा मीठा हो जाता है। इसी प्रकार प्रियाजी स्वभाव से ही मधुर हैं, किन्तु श्रृंगार रस के योग से वे महामधुर हो जाती हैं, इसीलिये वे सरस हैं। दम्पती से संवन्धित विलास-लीला की भावना ही इस श्रृंगार रस की सामग्री जुटाती है। रस की स्थिति प्रिया-प्रियतम दोनों में है (भक्तों में उस रस की भावना है)। सखियाँ श्रीराधा कृष्ण की परिकर हैं, अतः उनके सुख में उनका सुख है। सखियों की यह सुखानुभूति भी श्रृंगारात्मक है। शक्कर-मिश्रित गाढ़े दूध में जैसे लौंग, इलायची, कपूर, जायफल डाल देने से विचित्र स्वाद आ जाता है, उसी प्रकार श्रीराधा की वामता, भौंहें तरेरना प्रेम-विह्वलता, कौतुक आदि से रस में चमत्कार पैदा हो जाता है और मन उसमें तन्मय हो जाता है। श्रीहितसखी कहती हैं कि अब मैं इस प्रकार के वैशिष्टय (असाधारणता) का अनुभव करती हूँ और मेरा परिकर भी। इस असाधारणता की भावना के उदय होने का कारण श्रीमती के चरणों की शरण में जाना ही है, अन्य कुछ नहीं। यह सच है कि प्रियतम के संयोग के बिना रस का आविर्भाव नहीं होता, किन्तु यदि केवल प्रियतम के आश्रय लेने पर ही निर्भर रह जाय, तो न तो निकुंज-सेवा का अधिकार ही मिलेगा और न गौर तेज के प्रति ममता पैदा होगी। फिर बिना मूल के अकेला बेचारा रस ही क्या करेगा? इस प्रकार निर्दिष्ट रीति से प्रेमानन्द और चमत्कार से परिपूर्ण भक्ति का मुख्य कारण प्रियाजी के चरणाश्रित होना ही है, और कुछ नहीं। जब ममता की भावना से प्रियाजी के चरणों का आश्रय ले लिया, तो स्वभाव से कोमल, परम सुकुमार और प्रेम करने वाली प्रियाजी ने प्रसन्न होकर अपने चरण-नख की चाँदनी को प्रकट कर भक्त के हृदय को निल्हा दिया, उसमें डुबा दिया।

श्रये गृहीते तदा मृदुलपरमसुकुमारप्रेमशीलया प्रसह्य स्वपदनखज्योत्स्ना-भरमुदयित्वा भक्तहृत् स्नापितं, मज्जितमिति । अत्र कृपाशीला प्रियैव कर्त्री, अन्यथा 'स्नाता' इत्यवक्ष्यत् । 'भर' इत्यस्य बहुशश्चरणचन्द्रिका-निदिध्यासनमेवोदयहेतुः । एवं स्वमनोऽनुभूतप्रेमरसचमत्कारं तादात्विक-तत्सुखं संभुज्य तदेव निश्चित्योक्तम् ।

अधुना प्रियमोहनावस्थां वीक्ष्य वक्ति—'गोकुल' इति व्रजसकलजड-चैतन्यपरममोहकप्रेमास्पदस्यापि मनश्चोरी अज्ञातवस्तुहरणं चौर्यम् । तादृशपरमचौर्यसावधानस्यापि सर्वस्वान्तर्हरणं, ततोऽपि परमस्फूर्तिलाघवम् । अन्यथा 'तत्र माया न कर्तव्या माया तैरेव निर्मिता'।' यथा च—'महतीतर-मायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जते' इति स्यात् । अतः 'कङ्कणं न मुकुरे परीक्षयेत्' इति स्फुटमेव दृश्यते, किमुत्कर्षं वच्मि । कोटिकन्दर्पलावण्यपरम-

---

रसकलश

कृपालु प्रियाजी स्नान कराने के इस काम को करती हैं, नहीं तो 'स्नापिता' (स्नान कराये गये) न कह कर 'स्नात' (नहाये गए) ही न कहा होता। 'भर' का अर्थ है प्रवाह। उसके प्रकट होने का कारण चरणों की चाँदनी का बार-बार ध्यान करना है। इस प्रकार अपने मन द्वारा अनुभव किये गये प्रेमानन्द के चमत्कार को तथा उस समय प्राप्त होने वाले सुख को भोग कर और उसी को परात्पर तत्व निश्चित कर श्रीहितसखी ने यह सब कहा है।

अब प्रियतम की मोहिनी शक्ति को देख कर कहती हैं--'गोकुलभूपनन्दन-मनश्चोरी।' श्रीराधा समस्त जड़-चेतन प्रकृति को मोहित करने वाले तथा सबके प्रेमास्पद श्रीकृष्ण के भी मन को चुराने वाली हैं। बिना पूछे किसी भी वस्तु को ले लेना चोरी कहलाता है। चोरी के मामले में सदा सावधान रहने वाले श्रीकृष्ण सरीखे के सर्वस्व मन को चुरा लेना और वह भी ऐसी फुर्ती और सफाई के साथ—यह काम श्रीराधा के ही बूते का है नहीं तो भगवान को भला कौन ठग सकता है ? कहा भी है—'उपाध्याय से, नट से, धूर्त से, कुट्टिनी से और वेदपाठी से माया नहीं करनी चाहिए, क्योंकि माया उन्होंने बनाई है।' यह भी कि 'महापुरुष दूसरों के गौरव का अपनी महान् आत्मा में समावेश कर लेते हैं।' अतः 'हाथ कंगन को आरसी क्या ?' इस कहावत के अनुसार जो कुछ बात है वह तो स्पष्ट दिख ही रही है, मैं क्या कहूँ ? कोटि-कोटि कामदेवों के सौन्दर्य और महामाधुरी के स्वरूप यह श्रीकृष्ण किस प्रकार पराधीन और मोहित होकर श्रीराधा के इशारों पर नाचते हैं ! इस समय समान अवस्था की

---

१ उपाध्याये नटे धूर्ते कुट्टिन्यां च बहुश्रुते । माया तत्र न कर्तव्या माया तैरेव निर्मिता ॥

माधुर्यमूर्तिरयं कथमनायत्तो मोहित एव तदिङ्गितानुसरणं विरहतीति। तदिदानीं तत्सङ्गसम्भवशस्त्वेन कैशोरं कीदृग् शोभते, इति किशोरीपदस्य मद्धृदयमेव साक्षी। अतः आनन्दोद्रेकातृप्ताह—एवमेव मे दास्यं कदा दास्यतीति प्रियापदप्राधान्यहेतुमयम्। तदेवान्यदुर्लभत्वेन सर्वोत्तमतामाह—

सर्ववेदशिरसामुपनिषदामपि रहस्येऽपि परं यत् तादृशमिदम्। किञ्च ब्रह्मपरश्रुतिष्वपि गोपालतापिनी कृष्णोपनिषदादयो रहस्यम्। ताभिः श्रुतिभिरपि 'योऽसौ ब्रह्मगोपालः' इत्यादि ऋग्भिः कृष्णदास्यं परात्परतम-विधेयत्वेन वर्णितम्। तत्र गौरतेजोदास्यं गोपितमेव। तदेव तस्मात् परशब्दवाच्यं रहस्यम्। पुनश्च ता एव गोप्यो जाताः। तदपि 'स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः' इत्यनेन कृष्णरसनिष्ठत्वेन स्वसुखित्वमेवायातं प्रेम्णः। अथ सखीनान्तु तत्सुखसुखित्वात् परत्वम्। एतत् केवलप्रियापद-दास्यं विनानुपपत्तेः नातः परं दास्यरससारोऽस्तीति ज्ञेयम्।

रसकलश

होने के कारण श्रीराधा की किशोर छवि कैसी शोभा दे रही है—यह है 'किशोरी' शब्द की व्यंजना जिसका कि साक्षी मेरा हृदय है। अतः आनन्द के उमड़ आने से अतृप्ति का अनुभव करती हुई श्रीहितसखी कहती हैं कि इस प्रकार मुझे अपना दास्य कब देंगी? यह अभीप्सित दास्याधिकार ही प्रियाजी के चरणों की प्रधानता सिद्ध करता है। अन्यत्र दुर्लभ होने के कारण इसकी सर्वश्रेष्ठता को बताते हैं—'सर्ववेदशिरसां यत्तद्रहस्यं परम्।'

सब वेदों के उपरिस्थित उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित रहस्यात्मक पर तत्व से भी परे का है यह रहस्य। ब्रह्म-प्रतिपादक श्रुतियों में भी गोपालतापिनी, कृष्णोपनिषद् आदि ने रहस्य तत्व का व्याख्यान किया है। 'यह जो ब्रह्म है, वह गोपाल ही हैं, एतदर्थक ऋचाओं द्वारा भी श्रीकृष्ण दास्य को ही परात्पर साध्य बताया गया है। किन्तु इन श्रुतियों ने भी गौर-तेज के दासत्व को छुपा कर ही रक्खा है। 'पर' शब्द का अभिधेय यही राधादास्यात्मक रहस्य है। वही श्रुतियाँ गोपियों के रूप में व्रज में प्रकट हुईं। ये वही स्त्रियाँ थीं जिनका मन 'विशाल सर्प के शरीर-सरीखी भुजा वाले श्रीकृष्ण में आसक्त हो गया था।' इन गोपियों की निष्ठा कृष्ण-रस में ही थी, अतः गोपियों का प्रेम अपने सुख तक ही सीमित था। इसके विपरीत सहचरित्रों का सुख युगल-स्वरूप के सुखी होने में है, अतः परत्व यही तत्सुखसुखित्व जो कि प्रियाजी के चरणों की दासता के बिना नहीं मिलता। इससे बढ़ कर दास्य-रस का सार अन्य कुछ नहीं हैं, यह ज्ञातव्य है।

ननु कृष्णदास्यं सखीत्वेन वाञ्छति चेत् तदा कथं न परत्वम्? तत्राह—'स्नापिता' इति। कृष्णाश्रयप्राथम्ये तन्नखज्योत्स्नैकस्फुरणात् प्रियापदध्यानं कृतमपि तादृशममत्वाभावाज्ज्योत्स्नाविन्दुमात्रमेव वा उपरितः स्पर्शमात्रमेव यथा जलस्येति। अतः स्नानं विना न प्रस्तुतभक्तियोग्यतेति सर्वांशवासना-ममत्वं विना न तादृगास्वादौत्पत्तिकत्वम्।

अत्र प्रयोजकत्वं प्रियायाः पूर्वमुक्तम्। यद्वा साधकस्य। स च स्वय-मुद्यम्योद्यम्य स्वान्तं स्नातमपि स्नापयति। किञ्च साध्यान्तरमर्दनेन निर्मली-करणम्। ममेदमेव परमास्वद्यमिति परमनिष्ठा दर्शिता। अतएवोदयेऽपि सम्यक्त्वम्। भक्तिरपि प्रसन्नतयोदेति। किञ्च यादृगासज्यप्रसादक आसक्तस्य प्रियस्तादृङ्न स्वकीय इति प्रियस्यापि प्रस्तुतदास्यं महाप्रियम्।

रसकलश

इस स्थल पर शंका होती है, यदि सखी-भाव से श्रीकृष्ण का दास्य इष्ट हो, तो उनका दास्य ही परातपर साध्य क्यों नहीं माना जायगा, तो इस पर कहते हैं—'स्नापितस्वान्तानाम्।' श्रीकृष्ण के आश्रय को यदि प्रधानता दी जाती है, तो प्रियाजी के नख-चन्द्र की चाँदनी के हृदय में उमड़ आने से यदि उनके चरणों का ध्यान भी किया, तो प्रियाजी में अपेक्षित ममता न होने के कारण उनकी चरण-नख की चाँदनी की एक-आध बूंद भले ही मिल जाय, या जल की भाँति ऊपर से कोई छू-भर भले ही ले, किन्तु इतने मात्र से वह आस्वाद तो नहीं मिलेगा—जो सर्वात्मना राधा-दास्य को स्वीकार करने से मिलता है। फलितार्थ यह है कि उस चाँदनी में स्नान किये बिना भक्ति के वाञ्छित स्वरूप के लिये अपेक्षित योग्यता नहीं पैदा हो सकेगी। जब योग्यता नहीं होगी, तो भावना-जनित ममता भी सर्वांश में नहीं होगी, और ममता के उदय हुए बिना भक्ति का आस्वाद भी नहीं मिल सकेगा।

इससे पूर्व कहा जा चुका है कि स्नान-क्रिया में प्रियाजी प्रयोजिका हैं—अर्थात् भक्तों को अपनी नख-चन्द्रिका से वह स्वयं स्नान कराती हैं। अथवा साधक स्वयं ही प्रयोजक है। वह बार-बार प्रयत्न करके स्नान किये हुए अपने अन्तःकरण को निल्हाता है। स्नान करते समय व्यक्ति अपने शरीर को रगड़ता है। साधक भी लोक-वेद-विहित पुरुषार्थों का मर्दन कर अपने आप को स्वच्छ करता है। अतः (श्रीहितसखी कहती हैं कि) मुझे राधा-दास्य में ही आस्वाद मिलता है। इस प्रकार उन्होंने अपनी परम निष्ठा प्रदर्शित की है। जब ऐसी निष्ठा होती है तो हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव भी ठीक-ठीक तरह से और प्रसन्नतापूर्वक होता है (सम्+उदेति)। दूसरी बात यह है कि आसक्त (प्रेम का आश्रय-श्रीकृष्ण) को आसज्य (प्रेम का विषय=श्रीराधा) का भक्त जितना प्यारा लगता है, उतना प्रिय अपना भक्त नहीं लगता।

'सा' इति 'चोरी' इति पदाभ्यां बलिष्ठत्वेन सर्वोपरिपररहस्यदास्य-दानसामर्थ्यमुक्तम् । 'गोकुलभूप' इति परममाधुर्यं नववरत्वम् । यथा 'वृषभानोः कुलमणिः' इति नववर्णिनीत्वं नित्यविवाहमंगलविशिष्टतोभयोः सूचिता ।

यद्वा सर्वसखीवृन्दस्य, वृन्दावनस्थिरचरस्य गोनामिन्द्रियकुलानां भूः प्राप्तिस्तां पालयति । प्राप्तिपालकः, स्नेहेन धारकः, अनुमोदकः । तथैव नन्दनः समृद्धः आनन्दकृद्वा । तस्य सकलाकर्षकस्यापि मनश्चोरीति । यद्वा बृहद्वामनपुराणवासुदेवोपनिषत्सु यदुक्तम् 'योनन्दः परमानन्दः' इति तद्रीत्योभयसमन्वयवैदग्ध्येन वाक्येनान्तरेऽर्थे आनन्दस्याप्यानन्दन इति मुक्तक-सम्बन्धपक्षयोर्यथासंभवमर्थो योजनीयः सहृदयैः । अत्रोपनिषदामिति आन्तरे तदानीं श्रुतिजसाधनसिद्धा गोप्योऽपि प्रियापदरजः प्रसादान्निष्कामा सख्यो

रसकलश

'सा' (वह) और 'चोरी' (चुराने वाली) इन दो शब्दों द्वारा यह सूचित किया गया है कि प्रियाजी इतनी बलिष्ठ हैं कि वे सर्वश्रेष्ठ रहस्य—दास्य-भाव को देने की क्षमता रखती हैं । श्रीकृष्ण को 'गोकुलभूपनन्दन' कह कर यह सूचित किया गया है कि वे अत्यन्त मधुर हैं और नवीन वर हैं । यह कहना वैसा ही है जैसा कि श्रीराधा को 'वृषभानु की कुलमणि' कहना । इससे श्रीराधा का नई वरनी (दुलहिन) होना सूचित होता है । और दोनों विशेषणों को मिला देने से यह ध्वनित होता है कि प्रिया-प्रियतम के विवाह का मंगलकारी उत्सव नित्य संपन्न होना चाहिये ।

('गोकुलभूप' का दूसरा अर्थ करते हैं ।) अथवा सब सखियों एवं वृन्दावन के जड़-जंगम समुदाय की इन्द्रियों (गो) को जो समूह, उसकी जो प्राप्ति, उसको पालन करने वाला, अर्थात् प्राप्त वस्तु का रक्षक, उसे स्नेह से धारण करने वाला, समर्थन करने वाला । उसी प्रकार संपन्न अथवा आनन्द करने वाला । (इस व्याख्या में 'गोकुलभूप भी श्रीकृष्ण हैं और 'नन्दन' भी उन्हीं का विशेषण हैं --नन्द राजा से कोई मतलब नहीं ।) सबको आकर्षित करने वाले उन श्रीकृष्ण का मन भी श्रीराधा ने चुरा लिया है । अथवा वृहद्वामन पुराण और वासुदेवोपनिषद् आदि में जैसा लिखा है—'जो परम आनन्ददाता नन्द हैं । इस प्रकार एक ही वाक्य में चतुराई से दोनों अर्थों का (नन्दपरक और श्रीकृष्णपरक) का समन्वय कर दिया गया है । इनमें वाह्य अर्थ है—नन्द के पुत्र और गूढ़ अर्थ है --आनन्द को भी आनन्द देने वाले । मुक्तक-पक्ष में और रस-रीति से संबन्धित में सहृदयों को यथासम्भव अर्थ लगा लेना चाहिये, यहाँ किशोरी जी को सब उपनिषदों का रहस्य जो बताया गया उसकी आन्तरिक व्यंजना यह है कि उस समय प्रियाजी की चरणरज से कृपा से गोपियाँ भी निष्काम सखियाँ हो गई । उन

जाताः। ताः श्रीकृष्णपदनिष्ठा ज्ञेयाः। ता इदानींतनप्रेमप्रभावं दृष्ट्वा परमरहस्यं मेनिरे। आश्चर्यचित्रिता दृष्ट्वा हिताली वक्ति उपनिषद्रहस्यमिति तत्समक्षोक्तिः बाह्याभ्यन्तरार्थसमन्वयार्थं हितेनोक्ता।

अत्र 'प्रेमघनाकृतेः' रिति षष्ठी योग्यपाठभ्रान्तिर्मनसि स्फुरति, तत्सहृदयैविचार्य्यम् ॥२०४॥

एवं तादृग्दास्यमहिमश्रुत्युद्दीपितपरमहर्षजसेवौत्सुक्येन प्रियां प्रार्थ्य प्रियेण यावकभरणमारब्धम्। तदानीं चोरितमनसा तत्सख्योऽपि सेवारताः साञ्जलिनताः प्रेम्णा पदध्याननिष्ठहृदया दृष्ट्वा तत्तदनुभूतं हिताली वक्ति-

रसकलश

गोपियों की निष्ठा श्रीकृष्ण-दास्य में थी; पर उन्होंने उस समय जब देखा कि प्रेम का ऐसा प्रभाव है कि उनके इष्ट श्रीकृष्ण भी दास्य बन गए हैं, तो उन्होंने इसे परम रहस्य माना। श्रुतिरूप गोपियों को इस प्रकार आश्चर्य-चकित देख कर श्रीहितसखी कहती हैं—'सर्ववेदशिरसां रहस्यम्', उपनिषदों का रहस्य है यह। बाह्य और आन्तरिक अर्थों का समन्वय करने के लिए उन्होंने गोपियों के सामने ही यह बात कही। (उपनिषदों का प्रतिपाद्य ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं जो कि यहाँ श्रीराधा की दासता करते हैं—यह है बाह्य अर्थ, आन्तरिक अर्थ यह है कि श्रीराधानुगत कृष्ण से भी परात्पर रहस्य है—श्रीराधा-दास्य। यही वास्तव में उपनिषदों का गूढ़ अभिप्राय है।

इस पद्य के पढ़ने से यह भ्रम पैदा हो सकता है कि 'प्रेमानन्दघनाकृतेः' यह षष्ठ्यन्त पाठ होता तो अच्छा रहता। इस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए।[1]

उपरिवर्णित दास्य की महिमा को सुन कर श्रीकृष्ण को ऐसी प्रसन्नता हुई कि वे पुनः सेवा करने के लिये उत्कंठित हो गये और तब प्रियाजी से अनुमति माँग कर उन्होंने श्रीचरणों में अलता लगाना प्रारंभ कर दिया। उस समय श्रीहितसखी ने देखा कि श्रीकृष्ण की सखियाँ भी चोरी छिपे प्रियाजी की सेवा में जुटी हुई हैं, यह कि हाथ जोड़ कर उन्होंने अपने सिरों को झुका रक्खा है और बड़े प्रेम से प्रियाजी के चरणों में अपना ध्यान लगा दिया है। इन्हीं विविध अनुभवों का वर्णन करती हुई कहतीहैं—

१. प्रायः सभी प्रतियों में 'यस्याः प्रेमघनाकृतेः' यही पाठ मिलता है (और इसीलिए रसकुल्याकार के द्वारा अंगीकृत पाठ के विरुद्ध यही पाठ रखना उचित समझा है) किन्तु रस कुल्याकार ने उसे बदलकर 'यस्याः प्रेमघनाकृतिः' यह पाठ रक्खा है। उन्होंने प्रथमान्त पाठ में ऐसी क्या विशेषता देखी जो षष्ठ्यन्त पाठ में नहीं है, यह वही जानें। जो कुछ भी हो। प्रथमान्त पाठ यदि माना जाय तो पद्य का अन्वय निम्नलिखित रीति से करना पड़ेगा—

यस्याः पदनखज्योत्स्नाभरस्नापितानां कापि सरसा चमत्कारिणी भक्तिः समुदेति, गोकुलभूपनन्दनमनश्चोरी सा किशोरी सर्ववेदशिरसां यत् परं रहस्यं तत् दास्यं कदा दास्यति।

कामं तूलिकया करेण हरिणा यालक्तकैरङ्किता
नानाकेलिविदग्धगोपरमणीवृन्दे तथा वन्दिता ।
या संगुप्ततया तथोपनिषदां हृद्येव विद्योतते
सा राधाचरणद्वयी मम गतिर्लास्यैकलीलामयी
॥२०५॥

सा राधायाश्चरणद्वयी मम गतिरस्ति । 'सा' इति प्रत्यक्षाप्यनिर्वचनीयप्रभावेति पारोक्षोक्तिः । 'चरणौ' इत्यनेनैव चरितार्थत्वाद्द्वयोक्तिर्ममत्व-प्रेमास्पद वस्तुरक्षणावधानत्वभङ्गिका, नान्येति परिच्छेदसूचिनी च । 'मम'

रसकलश

'श्रीकृष्ण ने अपने हाथ से इच्छानुसार जिसे महावर से रंगा, जो अनेक प्रकार की केलियों में निपुण हैं, तथा सुन्दरी गोपियों के समूह के बीच जिनकी वन्दना की गई, जो गुप्तरूप से उपनिषदों के हृदय में प्रकाशित है, नृत्य-लीला की एकमात्र स्वरूप श्रीराधा के चरणों की वह जोड़ी मेरी गति है' ॥२०५॥

श्रीराधा के चरणों की वह जोड़ी मेरी गति है। 'सा' (वह) कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष होते हुए भी श्रीराधा का प्रभाव अनिर्वचनीय है। प्रस्तुत वर्णन पद्य में वर्णित घटना के बाद का है और प्रियाजी की उपस्थिति में नहीं किया गया है— यह भी 'सा' से सूचित होता है। द्विवचनान्त 'चरणौ' कह देने से ही काम चल जाता, फिर 'चरणद्वयी' (चरणों की जोड़ी) जो कहा है, वह यह जताने के लिये कि इन चरणों में मेरी ममता है और अपनी प्रेम-पात्र इस वस्तु की रक्षा करने के संवन्ध में मैं सदा सतर्क हूँ। 'सा' द्वारा यह आशय भी व्यक्त किया गया है कि अन्य पुरुषार्थों से इसमें विशेषता है, यह कि सिवा इनके मेरी अन्य कोई गति नहीं है। 'मम' (मेरी) की व्यंजना यह है कि श्रीहितसखी ने हृदय पर अपना हाथ रख कर एक विशिष्ट ढंग से यह बात कही है। वह कौन है (जो तुम्हारी गति है ?) इसके उत्तर में श्रीराधा के अनिर्वचनीय प्रभाव का वर्णन करते हैं—वर्णनागत जिन चरणों की जोड़ी में श्रीहरि ने अपने हाथों से महावर दिया है। 'हरि' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—मन को हरने वाला। किन्तु इस प्रकार के हरि तो यहाँ अपना मन खुद ही खो बैठे हैं ! ('हरि' का अर्थ जहाँ दूसरों के मन को हरण करने वाला है, वहाँ विग्रह होगा—हरतीति हरिः। दूसरे अर्थ में विग्रह होगा--ह्रियते इति हरिः। अथवा दूसरों के दुःखों को दूर करते हुए भी जो अभिलाषा जनित अपने हृदय की पीड़ा को श्रीराधा—चरणरूपी पत्तों की शीतलता से दूर करते हैं, इसलिये वे 'हरि' हैं। इन्हीं सब अभिप्रायों को लेकर यहाँ श्रीकृष्ण का 'हरि' नाम से निर्देश किया गया है। ऐसे प्रियतम ने (कर्ता) हाथ से कुची

इति तदानीं हृदयहस्तारोपानुभावभङ्गिका । सा का ? इत्यनिर्वचनीय प्रभावमाह—या प्रस्तुता 'हरिणा', मनोहरोऽप्यत्र हारितमना जातइति । यद्वा तापहार्य्यपि स्वहृदयाभिलाषार्ति पदपल्लवशैत्येन हरतीत्यादि साभिप्रायाभिधीयमानेन प्रियेण कर्त्रा, करेण तूलिकयालक्तकैः समुदितरञ्जनकरै रंकिता, चिन्हिता, चित्रितेत्यर्थः । तदानीं जानुदघ्नसिंहासने कंजनवपल्लवास्तृतेऽधिवेश्य स्वयमूर्ध्वजानुर्भूम्यास्तरस्थितो नानासुरभितपुष्परसरङ्गान् पृथक् संभृत्य स्वयं तल्लावण्यरूपमाधुर्यच्छविचित्रितचित्तचैत्यश्चंचरीकवच्चंचुरतया चरणकंजौ चित्रीचकारेति । किं तदानीं तत्संकोचलज्जावाम्येषत्स्मितप्रसादादि जातं, किं च प्रियस्य श्रीमच्चरणारुणमञ्जुलरोचिर्नखचन्द्रिकाप्रसरतत्तत्स्वसौभाग्योद्दीपकचिन्हावलोकनप्रचुरानन्दमग्नदृष्ट्या श्रीमन्मुखाकूतावलोकनजानन्दभङ्गिसूचकमाननं कीदृग्जातमिति सहृदयै भाविनीयम् ।

तूलिकया रञ्जकसूक्ष्मतरकूर्चया 'कामम्' इति यथेष्टं, यथामनोरुचितं परितो वल्लीपत्राकारं, मध्ये तत्र स्थितोर्ध्वरेखादिचिन्हसौष्ठवोद्घाटनं वा, विन्दुसौष्ठवं वा । तत्र नैर्मल्ये दर्पणवत् स्वप्रतिबिम्बं वीक्ष्याहह ! महाभाग्यमत्र स्थितोऽस्मीति 'भावो हि भवकारणम्' इति प्रसह्य, क्षणं कदाचित्

रसकलश

द्वारा जिसे उचित रीति से, रंगने के काम में आने वाले महावर से अंकित किया, अर्थात् उस पर चिह्न या (मयूर आदि के) चित्र बनाये। उस समय घुटनों तक ऊँचे रत्न-जटित सिंहासन पर, जिस पर कमल के नये पत्तों का बिछावन किया गया था, विराजमान कर स्वयं घुटनों के बल धरती पर बिछे हुए आसन पर बैठकर अनेक प्रकार के, सुगन्धित फूलों के रस से प्रस्तुत किये गए रंगों को अलग-अलग भर कर श्रीराधा के (अथवा उन चरणों के) माधुर्य और छवि से जिनके मनमन्दिर में चित्र-से बन गए हैं, ऐसे श्रीकृष्ण ने भौंरे-जैसी विलक्षणता से चरण-कमलों को चित्रांकित किया। उस समय प्रियाजी ने क्या-क्या संकोच और लज्जा का अनुभव किया, तथा किस प्रकार वे धीमे मुस्कराईं, कैसे प्रसन्न हुईं, तथा (दूसरी ओर) श्रीमती के चरणों की मनोहर कान्ति से गुलाबी बने नखों से छिटकती हुई चाँदनी को, तथा प्रियाजी के श्रीमुख पर अपने सौभाग्य को बढ़ाने वाले चिह्नों (भाव-भंगी) को तथा उनके मुख पर अंकित आन्तरिक भावों को देखकर जो प्रसन्नता हुई, उसे सूचित करने वाला प्रियतम का मुख कैसा दिखाई दिया—यह सब सहृदय अपनी भावना से समझ लें।

तूलिका अर्थात् रंगने वाली अत्यन्त महीन कुची से इच्छानुसार—जैसा मन चाहे वैसे प्रियतम ने चरणों के चारों ओर लता के पत्तों का आकार बनाया तथा मध्यभाग में वहाँ जो ऊर्ध्व-रेखा थी, उसके सौन्दर्य को उभारा। फिर चरणों की निर्मलता में

प्रतिबिम्बोऽपिस्यादिति स्वप्रतिबिम्बं तादृगेव लिखितवानिति । तत्र चतुरचूडामणिना श्रीमत्येषत्कोपस्मितभ्रूभङ्गी कृता। तदानीं पदकम्पक्षेपाकुञ्चनादिसरणत्कारलास्यं नियतं जातम्। तत एव 'लास्यैकलीलामयी' इत्युक्तिर्ज्ञेया।

तदा तन्मार्जनहठं वीक्ष्य प्रसह्याहमेव मार्जये, क्षम्यतामित्युक्त्वा तादृगार्द्रसचित्रपदं निजहृदये गाढमालिङ्ग्य पुनर्निःशेषायेव प्रेम्णा संचुम्ब्य पश्यतु भवती, यथापूर्वमेव कृतमिति। सा तु शिरो धुन्वती किमिदं भवद्दुर्ललितलीलशीलमुभयथा दुर्ग्राह्यमिति। तत्र करेण मार्जयित्वा पुनश्चित्रमारब्धम्। तत्रारुण्याधिक्ये यावकवर्णस्तद्रङ्गमग्न एवेति मया लिखितं वा नेति संभ्रान्तः पुनः करमार्जनम्। तत्र स्पर्शौत्सुक्यवर्द्धनात् 'करेण' इति मर्दनार्थं विशिष्योक्तिः। 'अलक्तकैः' इति सखि! नायं रङ्गश्चरणार्हः,

---

रसकलश

ज्योंही अपना प्रतिबिंब देखा, त्योंही आनन्द से सोचा—अहो! मैं कैसा बड़भागी हूँ कि यहाँ मुझे स्थान मिला है। तब 'भाव ही सर्जना का जन्मदाता है,' इस उक्ति के अनुसार, मन में प्रसन्न होकर, इस आशय से कि क्षण-भर के लिये ही सही, अपने प्रतिबिंब को ज्यों का त्यों अंकित कर दिया। इस पर विदग्ध-शिरोमणि श्री प्रियाजी कुछ कुपित-सी हुई, जरा-सा मुस्कराई और भौंहें तरेरीं। इस स्थिति में प्रियाजी का पैर जो कांपा, उसे उन्होंने थोड़ा-सा झटका और सिकोड़ा, तो निश्चित रूप से ऐसा लगा कि मानो प्रियाजी नृत्य कर रही हों और उस प्रसंग में भूषण बज रहे हों। इसी आशय से कहा है—'लास्यैकलीलामयी,' (लास्य-लीला की एकमात्र स्वरूप)।

अब प्रियाजी हठ पकड़ गई कि महावर से जो कुछ अंकन किया है उसे पौंछ डालना होगा। इस हठ को देखकर प्रियतम बोले—'क्षमा करिए, मैं ही सब मिटाये देता हूँ।' यह कहकर उन गीले चित्रांकित चरणों को वक्षःस्थल पर रखकर और उनका गाढ़ आलिंगन कर और तदनन्तर मानों रंग को बिलकुल पौंछ देने के लिए प्रेम से चूमकर बोले—'अब आप देख लें; पहले जैसे ही कर दिये न?' प्रियाजी ने, इस पर सिर हिलाकर कहा—'यह आपका कैसा स्वभाव है कि लाड़ भी करते हैं और परेशान भी। न उल्टे लिये जायँ, न सीधे'। तब श्रीकृष्ण ने हाथ से चरणों को पौंछकर फिर चित्र बनाना शुरू कर दिया। चरणों की अरुणाई महावर के रंग से ज्यादा गहरी थी, अतः उसका रंग उन्हीं के रंग में डूब गया। श्रीकृष्ण को भ्रम हो गया कि उन्होंने चित्र बनाये कि नहीं, और तब हाथ से फिर पौंछ दिया। श्री चरणों को बार-बार छूने का चाव बढ़ता जा रहा था, अतः 'हाथ से' इस शब्द का विशेष रूप

अन्यमानीयतां, येनात्र रञ्जनं समवलोके। पुनः सखीभिरन्येन ग्राहितेन रञ्जितेऽपि पदे पर्णलाघवं वीक्ष्य नायं रञ्जनार्हः, इति बहुविधपरीक्षा-पूर्वकप्रत्याख्यानेन 'अलक्तकैः' इति बहुत्वम्। तदकिंचित्करत्वकदर्शनादल्पार्थे 'कः' प्रत्ययः।

एवं कथंकथंचिदासज्यप्रभुशीलभिया चित्रितम्। तदपि तादृशवैकल्यद-शादर्शनकारुण्यद्रुतसात्त्विकस्वेदादिना सौष्ठवमार्जनादङ्कनमात्रमेव स्थितम्। तेन 'अङ्कित' इत्युक्तिः, अन्यथाचित्रितेत्येवावक्ष्यत्।

एवं यावकभरणसेवायां प्रसद्य श्रीमत्या परिरंभताम्बूलादिप्रसादो दत्त इति ज्ञेयम्। यदा सखीभिः प्रार्थितया स्वामिनि! कथं न सेवानुरूपफलदा भवसीत्यादि सकौतुकं, तदानीं सखीहृदये किमानन्दो जातः स सहृदयवेद्य-स्तमेवाह—

कीदृशी? नानाकेलिषु, सख्यपरीहासादिमयीषु, यथा 'द्रवकेलिपरीहासाः' इत्यमरः, विदग्धा निपुणा गोपरमण्यः सख्यस्तद्वृन्दे वन्दिता, ताभिरेवेत्यर्थः।

रसकलश

से प्रयोग किया है जिसकी ध्वनि यह है कि हाथ से चरणों को रगड़कर पौंछा। 'अल-क्तकैः' (अलता से) कहने का अभिप्राय यह है कि प्रियतम ने सखी से कहा—'यह रंग चरणों के योग्य नहीं है, दूसरा लाओ, ताकि रंग ठीक-ठीक दिखाई तो दे।' सखियों ने इस पर दूसरा रंग लाकर दिया, किन्तु वह भी हलका बैठा। बोले—'यह भी किसी काम का नहीं है। इस प्रकार बार-बार परीक्षा करके रंगों को अनुपयोगी ठहराने के कारण 'अलक्तकैः' यह बहुवचनान्त प्रयोग किया गया है। चूंकि अलता के रंग किसी काम के नहीं निकले, अतः उन्हें हीन बताने के अभिप्राय से 'अलक्तकैः में 'क' प्रत्यय लगाया है।[1]

इस प्रकार जैसे-तैसे, आसज्य स्वामिनी से डरते-डरते महावर से चित्र बनाये' किन्तु प्रियतम की परेशानी देखकर प्रियाजी के हृदय में करुणा उमड़ी, उससे सात्विक भाव का चिन्ह पसीना छूटा और उसके कारण चित्रों का सारा सौन्दर्य धुल गया, रह गए केवल रंग के धब्बे। इसी आशय को व्यक्त करने के लिये 'अंकिता' कहा है, नहीं तो 'चित्रता' ही कहा होता।

अब महावर लगाने की सेवा से प्रसन्न होकर प्रियाजी ने प्रसाद के रूप में प्रियतम का आलिंगन किया और पान दिये। अथवा जब सखियों ने कौतुक करने के लिये प्रियाजी से प्रार्थना के रूप में कहा—'स्वामिनि! सेवा के अनुरूप पुरस्कार नहीं देतीं?'

१. गोस्वामी कृपालाल जी की व्याख्यानुसार प्रियतम जब प्रियाजी के महावर लगाते हैं, तब प्रत्येक श्रीचरण पर अपने पाँच-पांच सौ नाम लिखते हैं और मोर आदि पंखियों के चित्र बनाते हैं।

'तथा' इति यथा प्रियकृतपदसेवाया विलक्षणानन्दस्तथैवानन्दवैलक्षण्येन सखीभिस्तादृगङ्कनं परस्परासक्तिमयं दृष्ट्वाभिवादिता, नता । यद्वा सवितस्तिभंग्या प्रणता । अहो ! किमुत्कर्षकौतुकशालिनी चरणद्वयी ! धन्येयमिति स्तुता च । गोप्यश्च ता रमण्यश्चेतिङीषो लोपः । गोपीति सखीनां ललितादीनां नाम, नतु गोपस्य स्त्रीति, यथा देवकी, कैकेत्यादि । 'रमणी' इति सुन्दरस्त्रीपरत्वं नाम, दम्पतिक्रीडाकारयितृतापिचेति । अत्राभ्यन्तरबाह्योक्तिद्वयसमाधानार्थमीदृग्वक्तृवैदग्ध्यं ज्ञेयम् । वृन्दे समशीलेऽपि कामिविनोदप्रखराभिरिति कौतुकनमनं ज्ञेयम् । अन्यथा सखीवन्दने किमपूर्वता, स्वामिनीत्वैश्वर्यन्तुयथा स्थितमेव ।

यद्वा तादृशसखीसमाजे हरिणा वन्दिता । किञ्च तथेति यथा सेवौत्सु-

---

रसकशल

तब प्रियाजी ने आलिंगन आदि किया । उस समय सखियों के हृदय को कैसा आनन्द हुआ, यह सहृदय ही जान सकते हैं । उसी को श्रीराधा के विशेषण के रूप में बताते हैं—सख्य और परिहास से पूर्ण अनेक प्रकार की केलियों में विदग्ध—अर्थात् निपुण (अमरकोष के अनुसार केलि का अर्थ परिहास भी है ।) जो गोप-रमणियाँ, -सखियां उनके समूह में वन्दना की गई—उन्हीं गोपियों के द्वारा, यह अर्थ है । प्रियतम के द्वारा की गई चरण-सेवा का विलक्षण आनन्द है । उसी प्रकार[1] के अद्भुत आनन्द के साथ पारस्परिक आसक्ति से पूर्ण चित्रांकन को देखकर सखियों ने सिर भुकाकर वन्दना की । अथवा दोनों हाथों को विलांद के माप को बताने के आकार में बनाकर प्रणाम किया और यह कहकर प्रशंसा की 'अहो ! इन दोनों चरणों का कैसा गौरव है इनके कारण कैसे-कैसे कौतुकपूर्ण आनन्द देखने को मिलते है ! धन्य है इन चरणों की जोड़ी ।'

'गोपरमणी' का विग्रह 'गोपी जो रमणियां'—करना चाहिए । 'गोपी' में ङीष् का लोप होकर 'गोप' रह जायगा । यहाँ 'गोपी' शब्द द्वारा ललिता आदि सखियों को अभिहित किया गया है, न कि 'गोप की स्त्री', जैसा कि विग्रह 'देवकी' और 'कैकेयी' आदि में किया जाता है ।[2] 'रमणी' से तात्पर्य सुन्दर स्त्री का है । अथवा (रमयतीति

---

१. 'तथा' के दो अर्थ हैं—(१) और, (२) उस प्रकार । साधारणतः यहाँ 'और' का ही अर्थ लगता है, परन्तु टीकाकार ने उसे यहां 'यथा' की टक्कर में बिठाया है—अर्थ में चमत्कार पैदा करने के लिए ।

२. टीकाकार द्वारा दिए गए ये दोनों उदाहरण चिन्त्य है । 'देवकी' का अर्थ है 'देवक' की पुत्री । कैकेयी भी केकयराज की पुत्री थी, न कि स्त्री ।

क्य नाङ्किता तथैव सेवनान्तेऽपि सेवकधर्मदर्शयित्रा प्रणतेति पूर्णरीतिर्निर्वाहिता तदानी द्रष्टृहासवैदग्ध्यसंकोचो न कृतः। वैदग्ध्यमत्र यावकभरणादिकौशलं, यदस्मत्साचिव्ये भवताधिकारो गृहीतः। अहह ! कथमङ्कनसौष्ठवमिति, हरिरप्यत्र हारितमनासीत्यादि। 'रमणी' इत्युक्तिस्तादात्विकसविनोदपरिवारितता, परमरमणीयतादर्शनादिति। 'गोप' इति प्राखर्य्यञ्च।

अथ तदानीं प्रियसम्बन्धिसखीनामुपनिषदां पार्श्वस्थितानां तन्नाम्ना संकेतितानां या प्रस्तुता संगुप्ततया हृद्येव विद्योतते। किञ्च ताभिस्तदानीन्तनानन्दं दृष्ट्वा तद्द्वयी हृद्येव धारिता। तच्चमत्कारेण सपुलकसात्विक जाता इति ज्ञेयम्। कार्यदर्शनात् कारणज्ञानम्। सम्यग्गोपनमिति प्रियापक्ष-

---

रसकलश

रमणी) इस विग्रह के अनुसार दंपती को क्रीड़ा करने वाली सखियाँ। यहाँ आभ्यन्तर और वाह्य दोनों अर्थों का समाधान करने के लिए चतुराई से ऐसा कहा गया है। सखियां स्वभाव में श्रीराधा जैसी थीं। उनमें कुछ ऐसी भी थीं जो हँसी-मजाक करने में चूकती नहीं थीं। उन्होंने कौतुक की सृष्टि करने के लिए नमस्कार किया। नहीं तो सखियों द्वारा वन्दना करना कौन-सी अनोखी बात है ? वन्दना से स्वामीजी के ऐश्वर्य में तो कोई अन्तर नहीं पड़ता।

अथवा उस प्रकार के सखियों के समाज में श्री हरि द्वारा वन्दित (चरणद्वयी)। इस व्याख्या में 'तथा'। का अर्थ होगा कि सेवा के जिस चाव से चरणों पर महावर लगाई थी, उसी प्रकार, महावर की सेवा समाप्त हो जाने पर, सेवा-धर्म का आदर्श उपस्थित करते हुए पूर्ण रीति से उसका निर्वाह किया। इस समय प्रियतम ने इस प्रकार के किसी संकोच का अनुभव नहीं किया कि देखने वाली सखियाँ क्या परिहास करेंगी और विदग्धता पूर्वक महावर लगाने की कारीगरी की प्रशंसा करेंगी। जैसे—'हमारे राज में आपको यह अधिकार मिला है। अहा ! किस खूबी से महावर भरा है कि 'हरि' होते हुए भी (दूसरों के मन को हरण करते हुए भी) आपका मन खुद हरण कर लिया गया है।' उस समय उपस्थित सखियों का परिकर कितना विनोदपूर्ण और कैसा परम सुन्दर था—इस दृष्टि से 'रमणी' कहा है। इसके साथ ही 'गोप' कहकर यह भी सूचित किया है कि सखियाँ चाहे जितनी विदग्ध हों, पर हैं तो गोप-वंश में उत्पन्न, अतः कभी-कभी स्पष्ट बात कहने में भी नहीं चूकतीं, भले ही वह कठोर हो।

'उपनिषदां यत्तद्रहस्यं परम्' का अर्थ करते हैं—श्रीराधा के चरणों की यह जोड़ी' उस समय पास में बैठी हुई (उपनिषद् शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यही है—उप समीपे निषीदन्ति, इति) और इसी नाम से पुकारी जाने वाली श्रीकृष्ण के पक्ष की सखियों के हृदय में प्रकाशित है। उस समय के आनन्द को देखकर उपनिषद्-सखियों

स्थानां मध्ये तन्मिथः संघर्षनिर्वाहसमयानन्दार्थम्, अन्यथा ताभिः पराजिता स्युरिति ।इत्येवमलक्तकसेवायां परिकरस्य दम्पत्योश्च यद्यदनुभूतं सौख्यं तन्मग्ना गतिरित्येव वक्ति । किमन्यद् वच्मीत्यनेनैव सर्वं हृद्गतं ज्ञातव्यमिति भावः ।

अथ मुक्तकपक्षे सर्वत्र बहिराभ्यन्तरेषु पूर्णैश्वर्यमाह । 'हरिणाङ्किता' इत्यनेन निकुञ्जरहस्योत्कर्षः सौभाग्यपरावधिश्च दर्शितः । स्नुषारसे च 'गोपरमणी' इत्यनेन व्रजनवतरुणिकदम्बमुकुटमणित्वं दर्शितम् । रूपलावण्य-गुणकलावैदग्ध्यवयस्यादिवतीनां मध्ये वन्दनीयत्वेनात्र नानाकेल्यादिवैदग्ध्य-पूर्णता दर्शिता । नचात्र केलिशब्देन स्वप्नेऽप्यन्भावः शङ्कनीय । इति व्रजरसस्योकर्षः । अथवा हरिकृतवन्दनञ्च तादृग्विदग्धसमाजमध्ये

रसकलश

ने दोनों चरणों को अपने हृदय में रख लिया । उस आनन्द के आश्चर्य पूर्ण प्रभाव से उनके रोमाँच खड़े हो गए और स्तंभ, स्वेद आदि सात्विक भाव प्रकट हो गये । कार्य को देखकर कारण का ज्ञान होता है । भलीभाँति छिपाकर इसलिये रक्खा कि प्रिया-पक्ष की सखियों के साथ उनका यह समझौता हो गया था कि दोनों में पारस्परिक संघर्ष का कोई अवसर नहीं आने दिया जायगा । उस प्रतिज्ञा का निर्वाह करने तथा ऐसा करने में जो आनन्द मिलता था उसके लिये श्रीकृष्ण-पक्ष की सखियों ने चरणों को अपने हृदय में छिपाकर रखना ही उचित समझा, नहीं तो कोई बखेड़ा खड़ा होने पर उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ता । इस प्रकार महावर की सेवा के प्रसंग में परिचारिका-वर्ग तथा दम्पती से संबन्धित जिन विविध सुखों को भोगा, उन्हीं में मग्न होकर श्रीहितसखी इतना ही कहती हैं कि श्रीराधा के ऐसे दोनों चरण मेरी गति हैं । इसके सिवा और क्या कहूँ । मेरा हृद्गत आशय इतने से ही समझ लेना चाहिये ।

मुक्तक पक्ष में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों अर्थों में ऐश्वर्य का वर्णन किया गया समझना चाहिये । श्रीहरि ने चरणों में महावर लगाई—इस कथन से निकुंज के रहस्य का उत्कर्ष और श्रीहरि के सौभाग्य की चरम सीमा दिखाई है । पुत्र-वधू के नाते यदि रस लेना हो, तो 'गोप-रमणी' से यह सूचित किया गया समझना चाहिये कि श्रीराधा व्रज की नवीन तरुणियों के समूह की मुकुट-मणि हैं । रूप, लावण्य, गुण, कला, विदग्धता आदि से युक्त समान अवस्थावालियों के मध्य में वन्दनीय होने से श्रीराधा की विविध केलियों में निपुणता दिखाई गई है । यहाँ 'केलि' शब्द से स्वप्न में भी अन्य किसी भाव की शंका नहीं करनी चाहिये । व्रज-रस के उत्कर्ष को दिखाने के लिये ही सखियों को केलि-विदग्ध कहा गया है । अथवा गोपियों के उस-जैसे विदग्ध समाज में श्रीकृष्ण

कियदुत्कर्षदायकञ्चेति स्तुत्यत्वं सहृदयवेद्यम् । 'लास्यैकलीलामयी' इत्यनेन रासलीलस्थोत्कर्षः । किञ्चान्यासां गुणकलावत्वं साहजिकमेव । अत्र तु तल्लास्यमूर्तित्वमेवेति । यथोक्तञ्च ब्रह्मसंहितायाम्—'कथा गानं नाटयं गमनमपि वंशी प्रियसखी' इति ।

एवं लीलात्रयोत्कर्षमुक्त्वा सर्ववेदान्तगोप्यत्वमाह—'उपनिषदाम्' इति । गोपनत्वन्त्वन्यज्ञानभक्त्यादिभ्यो रहस्यत्वात् । सम्यक्त्वञ्च गोपालतापिनी-कृष्णोपनिषदादिष्वपि 'सवो हि स्वामी भवति' इत्यादि परिकरसमूहवचनेन व्रजेऽपि गोप्यमुपदर्शितमिति । अतो हृद्येव विद्योतते । ननु तदगम्यमेव कथन्नोच्यते ? तत्रैवं ज्ञेयम्—'शास्त्रयोनित्वात्' इत्यादिसूत्रेषु भगवत्प्रति-पादनीयत्वात्, वेदानाञ्च विश्वसितरूपत्वात् तच्छिरोभागस्य कारणरूपस्य

रसकलश

द्वारा चरणों की वन्दना करने से प्रियाजी का कितना उत्कर्ष सिद्ध होता है, तथा वे किस प्रकार स्तुति के योग्य हो जाती हैं, यह सहृदयों के जानने की बातें हैं । 'लास्यैक-लीलामयी'—लास्य-लीला की एक मात्र स्वरूप बताकर श्री प्रियाजी का उस समय का उत्कर्ष बताया है जबकि वे रास करती हैं । दूसरी बात यह कि अन्य सखियों के गुण, कला तो स्वभावगत हैं, पर स्वामिनी तो नृत्य की मूर्ति ही हैं । 'ब्रह्म संहिता में कहा है—कथा, गान, नाटच, गमन, प्रियसखी और वंशी, ये श्रीराधा के स्वरूप हैं ।

इस प्रकार तीन तरह की लीलाओं का उत्कर्ष बताकर सब वेदान्तों द्वारा राधा-रहस्य को गुप्त रखने के संबन्ध में कहते हैं—'उपनिषदां हृद्येव विद्योतते' । छिपाया इन चरणों को जाता है ज्ञान, भक्ति आदि के सिद्धान्तों से, क्योंकि यह रहस्य जो है । भली-भांति (सम्+गुप्त) छिपाने का मतलब गोपालतापिनी, कृष्णोपनिषद् आदि में बताया है—'वह (श्रीकृष्ण) आप सबके स्वामी हैं ।') इस उक्ति में 'वः' (तुम सब) से श्रीकृष्ण का समस्त परिकर अभिप्रेत है । ऐसी स्थिति में व्रज के लोगों से भी इस रहस्य को छिपाना चाहिये—यह बताया है । अतः वह हृदय में ही प्रकाशित होता है । शंका होती है कि तो राधा-रहस्य को अज्ञेय ही क्यों न कह दिया ? इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य यह है कि ब्रह्मसूत्र का तृतीय सूत्र है 'शास्त्रयोनित्वात्,'[1] इस तथा अन्य सूत्रों द्वारा भगवत्-स्वरूप ब्रह्म को प्रमाणित किया गया है । वेद भगवान् की श्वास हैं,[2] किन्तु उपनिषद् वेदों से भी ऊपर प्रतिष्ठित हैं और इस विषय पर निर्णायक वाक्य हैं, अतः परम सत्ता के ज्ञान के वे कारण (माध्यम) हैं, वेदों के प्राण हैं । प्रस्तुत समीक्षा के अनुसार राधा-

१. इस सूत्र का अर्थ है—जगत् की सृष्टि तथा प्रलय का एकमात्र कारण सर्वज्ञ और सर्वशक्ति-मान्—ब्रह्म (भगवान्) ही है, यह वेद-शास्त्र प्रमाण द्वारा अवगत है ।

२. यस्य निश्वसितं वेदाः ।

पर्यवसानवाक्यस्य प्राणत्वात्, तस्य च हृदयस्थवर्णनीयत्वादेवकारो दत्तः। इत्यनेन हरिहृदयमेवास्य साक्षीति ज्ञेयं, नान्यत्। अत इयं परमगोप्या रहस्येव सम्यग्द्योतनशीला, नतु बहिरिति। राजमहिषीवान्यदर्शना-संभवत्वात्। इत्यादिमाधुर्य्यैश्वर्यविशिष्टा पदद्वयी मम गतिः प्राप्तिस्थानम्, नान्यदिति।

अथवा व्रजलीलायां 'तथेति 'आधायमूर्द्धनि यदा·····' इत्यादिरीत्या वन्दिता। यद्वा तद्वृन्दे 'हरिणा' इति तासां श्रुत्यादिमयीनां स्वसुखपरता-दिभावनिरसनार्थं कृपया वन्दनं कृतम्, यद्दर्शनात्तद्गर्वो मुक्तो, येन पदरेण्वा-राधनं कृतम् तदेतत्साधननिरुद्धाः सन्त्यो दास्यमापुरिति। अतएव तत्पदैश्वर्यं हृदि द्योतते, चिन्त्यत इति।

अथवा भिन्नप्रकरणम्। उपनिषदां हृद्येव, नतु बहिरिति। किञ्च

रसकलश

रहस्य उन्हीं उपनिषदों के हृदय में स्थित है—यह बताने के लिये ही 'हृदि एव' में 'एव' (ही) का प्रयोग किया है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि हरि का हृदय ही इस रहस्य का साक्षी है, अन्य कुछ नहीं। अतः परम गोपनीय यह चरणद्वयी एकान्त में ही आविर्भूत होती है, बाहर नहीं। राज-रानी की तरह इसके दर्शन असंभव हैं। माधुर्य और ऐश्वर्य से संपन्न ऐसे दोनों चरण मेरी गति अर्थात् वह स्थान हैं जहाँ मैं पहुँचना चाहती हूँ। इनके सिवा अन्य कोई स्थान नहीं है।

अथवा 'गोपरमणीवृन्दे तथा वन्दिता' में 'तथा' का यह अर्थ भी संभव है कि व्रज-लीला में गोपियों ने जिस रीति से वन्दना की उसी रीति से यहाँ भी वन्दना की गई। इसका वर्णन श्रीराधारससुधानिधि स्तोत्र के एक पद्य में इस प्रकार किया गया है—'उदार गोपियों ने श्रीराधा की चरण-रेणु को अपने मस्तक पर धारण किया।'[1] अथवा गोपियों ने वन्दना की, यह अर्थ न लगाकर यह भी लगाया जा सकता है श्रीहरि ने चरणों की वन्दना की—इस उद्देश्य से कि श्रुति-रूप गोपियाँ श्रीकृष्ण की उपासना से प्राप्त होने वाले निजी सुख को ही सब कुछ न समझ लें (अर्थात् उन्हें यह विदित हो जाय कि तत्सुखसुखित्व का भाव वैयक्तिक आनन्द से भी बढ़कर है)। प्रियाजी के चरणों की वन्दना कर श्रीकृष्ण ने एक प्रकार से श्रुति-रूपा गोपियों पर कृपा ही की। इन चरणों के दर्शन कर उन गोपियों का अभिमान दूर हो गया और तब उन्होंने श्रीराधा के चरण-रेणु को अपने मस्तक पर लगाया और उसकी साधना के वशीभूत होने से उन्हें राधा दास्य की प्राप्ति हो गई। इसीलिये उनके चरणों का वैभव हृदय में ही

---

१. श्रीराधारससुधानिधिस्तव-पद्य—२४.

बहिस्त्वैश्वर्यवर्णनं शक्तिशक्तिमत्वेन स्फुटं दृश्यते आल्हादरसानन्दात्माराम-भर्गो राध इत्यादिशब्दैः । हार्दन्तु तासां गौरमह एवेति ।

ननु तद्गोपितमन्यैरर्वाचीनैः कथं ज्ञायते चेत् तत्र पूर्वपद्योक्तं 'पदन-खज्योत्स्नाभरस्नापितस्वान्तानाम्' इति ज्ञेयम् । सा यदा कृपयेत् तदाधुनिका अपि कथं न जानीयुः ? यथा श्रीभागवते—येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः, सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्' इति, + 'सवेद धातुः पदमीश्वरस्य' इति च । किञ्च 'यदंध्र-नुध्यानसमाधिधौतया धिया ? इत्यत्र 'वदन्ति चैतत्कवयो यथारुचम्' इति, तदा 'भवत्पदम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः' इतिवत् तादृशानां मुक्तिद्वारा कृपापात्रा अपि जानीयुरित्यलं विस्तरेण ॥२०५॥

रसकलश

प्रकाशित होता है, अर्थात् उसका ध्यान किया जाता है ।

अथवा दूसरे प्रकरण की पृष्ठभूमि में भी इसकी व्याख्या की जा सकती है । उपनिषदों के हृदय में न कि बाहर । बाहर तो (अन्य सांप्रदायिक सिद्धान्तों के अनुसार) श्रीराधा और श्रीकृष्ण का वर्णन शक्ति और शक्तिमान् के रूप में स्पष्ट है । आल्हाद, रस, आनन्द, आत्माराम, भर्ग, राध आदि शब्दों से श्रीकृष्ण का वर्णन किया गया है, किन्तु उपनिषदों का आन्तरिक अभिप्राय तो गौर तेज ही है ।

शंका होती है, यदि यह रहस्य इतना गुप्त है, तो नई पीढ़ी के लोगों के लिये इसे जानने का साधन क्या है ? इसका समाधान तो पूर्व पद्य (२०४) में कर दिया गया है कि 'श्रीराधा के चरणों के नखों से छिटकती हुई चाँदनी में स्नान कराये गये लोगों के अन्तःकरण में अनिर्वचनीय, चमत्कारपूर्ण भक्ति का उदय होता है ।' श्रीराधा कृपा करें, तो नई पीढ़ी के लोग उस रहस्य को क्यों नहीं जान सकेंगे ? श्रीमद्भागवत में कहा है—'जिन्होंने संपूर्ण भाव से और विना कपट के भगवान् के चरणों का आश्रय लिया है, तो अनन्त भगवान् उन पर दया करेंगे ।' यह कि 'वही भक्त सृष्टि, स्थिति आदि के कारण ईश्वर के पद को जानता है,' यह कि 'जिनके चरणों के ध्यान और समाधि से निर्मल बुद्धि से लोग आत्मत्तत्व (कि वा हित-तत्व) का साक्षात् करते हैं, और 'कवि-गण अपनी भावना के अनुसार जिनका वर्णन करते हैं, वह मुकुन्द भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों ।' जब ऐसी बात है, तो 'वे लोग आपके चरण-कमलों को नौका वनाकर भवसागर को पार कर गए'—की तरह मुक्ति द्वारा भगवान् के कृपापात्र बने लोग भी राधा-रहस्य को जान ही जायेंगे इस विषय पर इतना ही लिखना पर्याप्त है ॥२०५॥

एवं यावकपदसेवनानन्दानन्तरं रहः कुञ्जरसकेल्यभिलाषि प्रियोपरि कारुण्योत्पादनार्थं स्त्युत्यर्थकविशेषणापदेशेन कुञ्जाभिसरणं प्रार्थयति । यद्वा प्रार्थनानन्तरं-तथैव यत् कृतं तदेव प्रसीदन्ती वर्णयति—

सान्द्रप्रेमरसौघवर्षिणि नवोन्मीलन्महामाधुरी-
साम्राज्यैकधुरीणकेलिविभवत्कारुण्यकल्लोलिनि ।
श्रीवृन्दावनचन्द्रचित्तहरिणीबन्धस्फुरद्वागुरे
श्रीराधे ! नवकुञ्जनागरि तव क्रीतास्मि दास्योत्सवैः
॥२०६॥

'सान्द्रप्रेम' इत्यनेन विलम्बे सान्द्रत्वक्षतिः । 'रस' इत्यत्रापि तथैव । किञ्च प्रेमरसमूर्तेर्घनस्य किमशक्यं वर्षणमिति तदर्थं केलिशीलाया । समुत्कण्ठावर्द्धनाय केलिं प्रस्तौति नवा प्रतिक्षणविलक्षणा उन्मीलन्ती या

रसकलश

इस प्रकार चरणों में महावर लगाने की सेवा के समाप्त होने पर प्रियतम के सम्बन्ध में दया पैदा करने के उद्देश्य से प्रशंसात्मक विशेषणों के बहाने श्री हितसखी प्रियाजी से कुंज में पधारने की प्रार्थना करती हैं । अथवा प्रार्थना के स्वीकार हो जाने पर वहाँ जो कुछ किया उसी का वर्णन करती हैं—

'घने प्रेम-रस के समूह को बरसाने वाली, प्रतिक्षण उमगते हुए असीम माधुर्य के साम्राज्य की एकमात्र श्रेष्ठ केलियों से संपत्तिशाली करुणा की तरंगों से विशिष्ट, श्रीवृन्दावन को चन्द्रमा की तरह प्रकाशित करने वाले श्रीकृष्ण के मन-रूपी हरिण को फंसाने के लिये जालरूप, नवीन कुंजों में की जाने वाली केलियों में निपुण हे श्रीराधे ! मैं आपके दास्यविषयक उत्सवों से खरीद ली गई हूँ ॥२०६॥

प्रेम को 'सान्द्र' (सघन) इस दृष्टि से कहा है कि विलंब करने पर प्रेम की निविड़ता में कमी आ जाती है । 'रस' शब्द के प्रयोग का भी गूढ़ अभिप्राय यही है । दूसरी बात यह है कि जिस बादल में प्रेम-रस (जल) भरा है, उसे बरस पड़ने में क्या कठिनाई है ? प्रियाजी सहज भाव से उस रस को बरसाने के लिये ही केलियाँ करती हैं । अब उत्कंठा बढ़ाने के लिये केलि का विशद वर्णन करते हैं—नई अर्थात् प्रतिक्षण अद्भुत होकर उमगती हुई जो महामाधुरी—अर्थात् प्रियता को बढ़ाने वाला प्रत्येक अंग का जो सौन्दर्य, उसका जो साम्राज्य-चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त होना—यानी उससे बड़ा माधुर्य कहीं नहीं मिलता, माधुर्य की प्रचुरता की पराकाष्ठा—उस सम्राज्य की एकमात्र सर्वश्रेष्ठ केलियां । माधुर्य से संपन्न होने पर भी, जब केलियाँ की जाती

महामाधुरी प्रत्यङ्गसौन्दर्यं प्रियतोद्दीपकं, तस्याः साम्राज्यं चक्रवर्तिपदं—नातः परं माधुर्यं कुत्रापीति बाहुल्यपरावधिः—तदेकधुरीणाः केलयः । किञ्च 'माधुरीविशिष्टाया' अपि केलिकरणेऽत्यन्तमाधुर्यमुदेतीति, तास्वपि वैभवं प्राप्नुवन्तः कारुण्यकल्लोलायस्याम् । यत्र साम्राज्यं तत्र दयापात्रे वदान्यतायाः किं वाच्यम् ! अर्थाच्छ्रीमत्या अपि माधुरी प्रियसङ्ग केलिकरणेन वर्द्धिष्यति । तत्र प्रियपोषानन्तरमस्मत्पोषान्महाकृपाकल्लोलाः ख्यातिमेष्यन्ति ।

ननु भवत्याः किं सत्वरता चेत्, तत्र वयं सत्यं नीतिं ब्रूमः । श्री वृन्दावनं चन्द्रस्य चित्तहरिणी त्वया किं बद्धा-? परवस्तुनि हृते ज्ञाते सति स्वस्तुतिं रक्षन्त्या देयमेवेत्यन्तः कुञ्जे गत्वा चित्तहरिणी देया, किंवा तन्मौल्यं प्रेमरस केलिर्देयेति हरिणीबन्धाय स्फुरन्ती वागुरा यस्याम् । यद्वा स्वयमेव वागुरारूपेति । हे नागरि ! सर्वनीतिनिपुणे श्रीराधे ! सख्यान्मद्वाक्यं विश्वसिहि । अहमपि तादात्विक दास्यौत्सुक्यपराधीना, अतस्तत्प्रेरणया सत्वरय, इति ।

रसकलश

हैं, तब तो असीम माधुर्य प्रकट होता है । उन केलियों में भी वैभव के शिखर पर पहुँची हुईं करुणापूर्ण लहरें जिसमें विद्यमान हैं (ऐसा है श्रीराधे !) जहाँ साम्राज्य है वहां दया-पात्र के सम्बन्ध में दिखाई जाने वाली करुणा का तो कहना ही क्या ! अर्थात् प्रियतम के साथ केलि करने में श्रीमती की माधुरी और भी बढ़ेगी । प्रियतम की भावनाओं की जब संतुष्टि हो चुकेगी, तब हमारा पोषण किया जायेगा और उस समय कृपा की विशाल लहरों का यश चारों दिशाओं में फैल जायेगा ।

यहाँ पूछा जा सकता है कि आप सखियों को अपने आनन्द की ऐसी क्या जल्दी है, तो उसके उत्तर में हम सत्य नीति बताती हैं—आपने (श्रीराधा ने) श्रीवृन्दावन चन्द्र (श्रीकृष्ण) की मन-रूपी हरिणी को क्यों बाँध रक्खा है ? जब आपको मालूम हो गया कि पराई चीज है, तो उसे लौटा ही देना चाहिये । ऐसा करने से आपकी प्रशंसा की रक्षा ही होगी । अतः कुंज में जाकर चित्तरूपी हरिणी को दे दीजिए, अथवा उसके मूल्य के रूप में प्रेम-रसपूर्ण केलि देनी चाहिये । हरिणी को बाँधने के लिये प्रियाजी के हाथ में रस्सी चमचमा रही है । अथवा प्रियाजी स्वयं रस्सी-रूप हैं । हे नागरी !—अर्थात् सब प्रकार की केलियों में निपुण श्रीराधे ! मित्रता के नाते मेरी बात का विश्वास करिये कुंज में जाकर जब आप केलियाँ करेंगी उस समय की सेवा करने के लिये मैं भी आतुर हूँ, अतः मेरी उत्कंठा का ध्यान कर आप शीघ्र चलिये ।

दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि ऊपर कहे गये अभिलाषा-पूर्ण विहार के आनन्द को देखकर ही ऐसा वर्णन किया गया है—अर्थात् प्रस्तुत वर्णन विहार के समय का ही है, न कि उसकी भूमिका । इसके अनुसार प्रियाजी को गाढ़ आलिंगन करता

अथवा यथोक्ताभिलाष विहारानन्दं दृष्ट्वाह। प्रेम्णा गाढालिङ्गन परां दृष्ट्वा 'प्रेम' इति, तत्राधरादिदानेन 'रस' इति। तथैव केलिकरणे किं किं माधुर्यमुन्मीलितम्! तत्र तत्तन्माधुर्यलोभेन प्रियेण यद्यद्वाञ्छितं याचितं च तत्तदेव तथैव कृतवन्तीं दृष्ट्वा 'कारुण्यकल्लोल' इति। प्रियं तत्तद्यथेष्ट प्राप्तौ कृपापूर्णं स्थगितं च दृष्ट्वा हरिणी बन्धनाय स्फुरन्ती देदीप्यमाना दामिनीव केलिचाञ्चल्यं कुर्वती, बन्धनस्वप्रौढिं ख्यापयन्तीव वागुरा जालरूपा। हरिणीभ्रमणमत्र नानाभिधाङ्गकेलिभोगेच्छासु तत्तत् सर्वं विस्मृत्य नवोलन्मीन्महामाधुरीगृहीतचेताः प्रियो जातः। किञ्चात्र चन्द्रान्तर्गत हरिण्युक्तिः। सा च तत्रस्थै वानन्यभ्रमणा। 'वृन्दावन' इत्यनेन त्वदङ्गवृन्दाटव्येव पूर्वोक्ता, अतएव श्री पदम्। चन्द्रो मृगवाहनः। तद्बन्धनाद्गतिस्तंभः, अतो गतिचाञ्चल्याभावात् स्थगितः, इदानीं त्वत्प्रेमरसवर्षण

रसकलश

हुआ देखकर 'प्रेम' कहा है और अधर देने के कारण 'रस'। इस प्रकार की केलि के प्रसंग में वहां कैसा-कैसा आनन्द उमगा! इस माधुर्य के लोभ के वशीभूत होकर प्रियतम ने जो कुछ चाहा जो कुछ माँगा, उस सबको उसी प्रकार पूरा किया। यह देखकर ही विशेषण दिया है—'कारुण्यकल्लोलिनी' (करुणा की लहरों से युक्त)। प्रियतम को जब इच्छानुसार सब चीजें मिल गई और वे प्रियाजी की कृपा से सरावोर हो गये, तो श्रीहितसखी उन्हें आनन्दाधिक्या से जड़ीभूत देखकर कहती हैं—चित्तहरिणी बन्ध स्फुरद्वागुरे'—चित्त-रूपी हरिणी को बांधने के लिये चमकती हुई बिजली की तरह केलि में चंचलता प्रकट करती हुई—यह जताती हुई कि मैं बांधने में कितनी सिद्धहस्त हूँ—जालरूप श्रीराधे! घूमती हुई चित्त-रूपी हरिणी को बांधा है उन्होंने। तो चित्त के पक्ष में घूमने की संगति बिठाते है—प्रियाजी के अनेक अंगों के साथ केलि करने तथा उन्हें भोगने की लालसा में प्रियतम सव कुछ भूल गये, प्रतिक्षण नई-नई उमगती हुई प्रियाजी की महामाधुरी में उनका चित्त अटक गया (उसी तरह जैसे कि हरिणी नई-नई घास की टोह में इधर-उधर घूमती रहती है और अचानक किसी जाल में फँस जाती है)। दूसरी बात यह है कि हरिणी को चन्द्रमा के अन्दर ही स्थित बताया गया है (चन्द्रमा को मृगाङ्क कहते भी हैं)। वृन्दावन छोड़ वह अन्यत्र नहीं घूमती। यह पहले ही कह आये हैं कि श्रीराधा के अंग ही वृन्दावन हैं। इसीलिये 'वृन्दावन' शब्द के पूर्व 'श्री' लगाया है। चन्द्रमा का वाहन हरिण है। जब उसे बाँध लिया गया, तो उसका चलना-फिरना बिलकुल बन्द हो गया, गति की चंचलता समाप्त हो गई और वह स्थगित-निश्चल हो गया। इस समय वह आपके द्वारा की गई प्रेम-रस की वर्षा से सराबोर है। अहा! यह कितना आनन्ददायक है कि देखते ही बनता है। जो अमृतरूप है उसे भी आप अमृत दान करती हैं। इस समय यह श्रीकृष्ण आपके चकोर बनकर आपके माधुर्य का पान कर रहे हैं। चित्त के आसक्ति-रूप होने के कारण उसे 'हरिणी'

पूर्णः । अहह ! किमाल्हादकोऽस्तीति चन्द्रो दर्शनीय एवेति । अमृतस्याप्यमृतदायिन्यसि, इति । इदानीं त्वच्चकोर एव माधुरीं पिबत्ययमिति । 'हरिणी' इत्यासक्तरूपत्वाच्चेतसः । स्वमाधुर्यदर्पत्यागान्मृगानुवितः । अत एतदुत्कर्षश्रीयुते संसिद्धिनाम्नि ! नवकुञ्जे त्वया किं किं प्रावीण्यमाचरितमिति 'नागरि' इति । अतः सर्वोत्कृष्टाया दास्ये अस्माकमौत्सुक्यं जातम् । बहुत्वमनेकविधसेवनस्यौत्सुक्यं, वैविध्यात् । 'क्रीता' इति सखाद्याभिमानमपि परित्यज्य कैङ्कर्यानन्दपराधीना, अतः केलिकौशलाविष्कारवशव्यत्यस्तवसनाभरणाङ्गरागादिसमीकरणव्यजनताम्बूलासवादिसम्पादन निदेशं कुरु, किं करोमीति सखीहार्दकथनभङ्गी ज्ञेया' ॥२०६॥

एवं प्रेमरसविहारानन्तरं निभृताद् बहिरागत्य समुत्सुकसखीसमाजे पुष्पासनस्थिताश्रमजृम्भालसरतचिन्हयुतां वीक्ष्य परमानन्दतो मिथः सख्यस्मितभ्रूवोऽभङ्गीहासकौतुकप्राखर्यचिकीर्षितललितादीन् विज्ञाय तदालसमान्द्यनिवारणार्थं व्याजोक्त्याह—

रसकलश

कहा गया है । चित ने अपने माधुर्य के अभिमान को त्याग दिया—आपने उसके माधुर्य को हर लिया, अतः चित्त को 'हरिणी' बताया गया है, न कि मृग । इस प्रकार की महिमा से मंडित, शोभा-संपन्न मनोरथों को पूर्ण करने के कारण 'राधा' कहलाने वाली आपने नवीन कुंज में क्या-क्या केलि-कौशल दिखाया इसी अर्थ में यहां 'नागरि !' संबोधन दिया है । इसीलिये आपके दास्य को सर्वोपरि जानकर हम सखियों को उत्कंठा हुई । यह उत्कंठा अनेक प्रकार की सेवा करने की थी, अतः विविधता बताने के लिए 'उत्सवैः' का बहुवचनान्त प्रयोग किया है । 'क्रीता' (खरीदी गई) इसलिये कहा है कि सखी होने का अभिमानछोड़कर अब किंकरी-भाव के अधीन हो गई हूँ । अब, केलि में कौशल दिखाने के कारण आपके वस्त्र, आभूषण और अंगराग जो अस्तव्यस्त हो गये हैं, उन्हें सँवारने तथा पंखा झलने, मधु प्रस्तुत करने आदि की आज्ञा दीजिये कि क्या-क्या करूं—यह भाव है । दास्य-संबन्धी उत्सवों ने मुझे खरीद लिया है—यह है श्रीहितसखी का हार्दिक अभिप्राय जिसे व्यक्त करने के लिए 'दास्योत्सवैः' कहा है ॥२०३॥

इस प्रकार प्रेम-रस से परिपूर्ण विहार के बाद प्रियाजी एकान्त कुंज में से बाहर आकर उत्कंठित सखियों के समूह में फूलों के आसन पर विराजमान हो गई । सखियों ने देखा कि सुरतजन्य थकावट के कारण उन्हें जमुंहाइयाँ आ रही हैं, शरीर में आलस्य है और रति के चिन्ह स्पष्ट परिलक्षित हो रहे हैं और उन्हें बड़ा आनन्द हुआ । सख्य भाव से वे आपस में मुस्कराने लगी, भौंहों में बातें होने लगीं और बोलन बदल गई ।

'प्रायः सब प्रतियों में हरिणीबन्धुस्फुरद्वागुरे' यह पाठ मिलता है । इस पाठ में हरिणीबन्धु का अर्थ मृग लगाया गया है । रसकुल्याकार ने 'हरिणीबन्धस्फुरद्वागुरे' यह पाठ अंगीकार किया है जिसका अर्थ है 'हरिणी को बाँधने के लिये जालरूप श्रीराधा ।'

स्वेदापूरः कुसुमचयनैर्दूरतः कंटकांको
वक्षोजेऽस्यास्तिलकविलयो हन्त ! घर्माम्भसैव ।
ओष्ठः सख्या हिमपवनतः सव्रणो राधिके ते
क्रूरास्वेवं स्वघटितमहो गोपये प्रेष्ठसङ्गम्
॥२०७॥

हे राधिके ! प्राणसखि ! एवं ते तव स्वघटितं प्रेष्ठसङ्गम् अहमन्तरङ्गिणी विश्रम्भास्पदानिजपक्षपातिनी क्रूरासु तत्सुखमाधुर्यमृदुत्वेऽपि सख्य कौतुकेन तादात्विक कठिनशीलासु कासुचित् सखीसु, अहो ! आश्चर्यं गोपये । आश्चर्यमत्र ज्ञातवतीसु गोपनीयस्याघटित्वात् । मुक्तके त्वभिलाषं करोतीति । 'क्रूरौ कठिननिर्दयौ' इत्यमरः । कठिनत्वमत्र 'प्रेम्णो हि वक्रा गति' रिति । यत्र स्वमनसि तदानीं ज्ञात्वैव स्थातुमर्हं, न किञ्चिद् वक्तव्यं

रसकलश

श्रीहितसखी समझ गईं कि ललिता आदि कोई कठोर परिहास कर तमाशा देखना चाहती हैं, अतः प्रियाजी की सुस्ती और निष्क्रियता को दूर करने के लिए वे व्याजोक्ति का आश्रय लेकर दो पद्यों द्वारा हास्य-रस की उद्भावना करती हुई कहती हैं—

दूर से फूल बीनने के कारण यह पसीना छूट रहा है, इनके स्तनों में कांटे छिदने से घाव हो गये हैं, धूप के पसीना से ही माथे पर का तिलक धुल गया है और इस सखी का होठ सर्द हवा से फट गया है—यह कहकर, हे श्रीराधे ! स्वयं आपके द्वारा प्रियतम के साथ किये गये संगम को, निर्दय सखियों के बीच में छिपाऊँग ॥२०७॥

हे श्रीराधिके ! आप मेरी प्राणप्यारी सखी हैं और मैं आपकी अन्तरंगा, विश्वासपात्र हूं । आपको मालूम है, मैं आपका कितना पक्ष लेती हूँ । आपने अपनी इच्छा से प्रिय के साथ संगम किया है । इसे मैं इन क्रूर सखियों के बीच में प्रकट नहीं होने दूंगी । आपके विविध सुखों के माधुर्य के सम्बन्ध में ये सखियाँ कोमल हैं, पर इस समय तो इनमें से कुछ-एक सखी-सुलभ परिहास और कौतुक करने पर तुली हुई हैं, अतः कठोर हो गई हैं । इनसे छिपाना एक आश्चर्य ही होगा, क्योंकि ये जानकार हैं और इनसे किसी बात को गुप्त रखना असंभव है । मुक्तक पक्ष में पद्य का अर्थ केवल अभिलाषा-परक लगाना होगा । 'क्रूर' शब्द अमर कोष के अनुसार कठिन और निर्दय के अर्थों में प्रयुक्त होता है । यहाँ कठिनता वैसी ही है जैसी कि यह कहावत है—'प्रेम की गति टेढ़ी-मेढ़ी होती है ।' यहाँ सखियाँ इस दृष्टि से कठोर हैं कि जब किसी को कोई बात मालूम हो जाय, तो उसे अपने मन में ही रखना ठीक होता है, न कि मुंह से

तत्र परिहासेन स्वामिनीसंकुचितीकरणमयोग्यं काठिन्यं, धृष्टत्वमिति। तदेव प्रश्नोत्तराभ्यां कथ्यते—

कथं प्रिये ! नवकिसलयशयनस्थितायाः स्वेदापूरः ? इत्युक्ते संकोचेनावदन्त्यास्तस्याः साहाय्यमहमाचरम् । युष्माभिर्बत न ज्ञातं शयनोत्थितवेयं प्रातः स्थलकमलादिनवकलिकोद्विकसनचटचटारावसौरभाकृष्टमधुपझंकारशोभितारामे दूरतस्तच्छोभालोभितमनाः कुसुमचयनार्थं गता । ततः स्वाभिलाषं पूरयित्वा प्रत्यागमने सुकुमार्य्याः श्रमबिन्दुपूरो जातइत्यन्यत्किमिति ।

बहुत्वं कुसुमानां नीचोच्चपतितादिस्थितिवैविध्यात् । वा चयनोपलक्षणेन पक्षिकौतुकाद्याक्रीडक्रीडनमपि ज्ञेयम् ।

रसकलश

कहना। हास-परिहास से यदि स्वामिनी को झिझक या संकोच का अनुभव होता हो, तो ऐसी जैसी ठीक नहीं है। इसी अर्थ में सखियों का रवैय्या कठोर है और ठिठाई लिये हुए है। अब इसी परिहास को प्रश्नोत्तर द्वारा कहते हैं—

प्रश्न—प्रिये ! नवीन कोमल पतों की सेज से आप अभी-अभी उठकर आ रही हैं, फिर यह पसीना कैसा ?

सखी के इस प्रश्न पर प्रियाजी तो संकोचवश कुछ बोली नहीं। उनकी सहायता मैंने की। मैंने कहा—बड़े खेद की बात है ! तुम लोगों को यह नहीं मालूम कि शय्या से उठकर यह निकुंजधाम की शोभा से दूर से ही आकृष्ट होकर फूल बीनने के लिये वहाँ स्थल-कमल (गुलाब) आदि फूलों की चट-चट करके खुलती हुई कलियों से सुगन्ध निकल रही थी और उससे खिंचकर आते हुए भौंरों की झंकार सुनाई दे रही थी। अपनी इच्छा को पूर्णकर जब वे उधर से लौट रही थीं, तो सुकुमार हो के कारण पसीना छलछला आया। इसके सिवा और क्या कारण हो सकता है ?

'चयनैः' (चुनना) में बहुवचन का प्रयोग इस आशय से किया गया है कि नीचे-ऊँचे स्थानों पर पड़े हुए थे। फूल बीनने को तो प्रियाजी गई ही थीं, पर साथ ही पक्षियों के साथ अपना मनोरंजन भी करने लगीं—यह भी बहुवचन के प्रयोग से सूचित होता है।

प्रश्न—अच्छा, मान ली आपकी बात। पर स्तनों पर ये चिन्ह ? इनके बारे में आप क्या कहती हैं ?

इस पर श्रीहितसखी कहती हैं—फूल बीनने के प्रसंग में यह हुआ कि कुछ फूल लताओं के अन्दर घिराव में थे। उन्हें तोड़ने के लिये हाथ जो फैलाया और झुकना जो पड़ा, तो काँटे छिद गये। मोटा कपड़ा होता तो बचाव भी हो सकता था, पर साड़ी झीनी थी, सो काँटे उसे पार कर गये।

नन्वेतदस्तु, वक्षोजाङ्कश्चेत् तत्राह—तत्र चयने लताच्छन्नगर्भस्थकुसुमग्रहणप्रसारितकरेण नतगात्रायाः सूक्ष्मपटानिवारितः कंटको लग्नः ।

एतदप्यस्तु, अस्याः समक्षस्थितायाः, स्तिलकविलयश्चेत्, तत्राह—हन्त ! एतदपि न ज्ञायते तर्कितस्वेदापूरलब्धोत्तराभिर्भवतीभिरिति ? अयं घर्माम्भसैव जात इति ।

तदप्यस्तु । सख्याः प्राणसहचर्याः सविश्रम्भास्मदज्ञातसकलवृत्तायाः सव्रणओष्ठश्चेत्, तत्राह—'हिमेति' । तादृगेव यामुनतीरस्तादृगेवोषः समयो हिमर्तुश्च । यद्वातत्राकस्मात् पवनो हिमसम्बन्धी वातस्तेन सुकुमार्य्यधरो भिन्नः । इत्यादिकथने प्रियायाः किं किं भ्रूनेत्रस्मितलज्जावाम्यक्षोभभङ्ग्यादि जातं, आलस्यनिवर्तनपूर्वककटाक्षनर्तनं, पुष्पाक्षेपताडनञ्चेति सहृदयवेद्यम् ।

रसकलश

सखियां—यह भी मान लिया । पर मस्तक पर से बिन्दो जो गायब है ? प्रियाजी तो सामने ही बैठी हैं, देख लीजिए न !

श्रीहितसखी—अरे ! इतना भी समझ में नहीं आता ? आप लोगों ने शंका कि थी कि यह पसीन क्यों आ रहा है । इतका उत्तर आपको मिल तो गया । फिर सुन लो, यह धूप जो पड़ रही है, उसके से ही तिलक धुल गता है ।

सखियां—आप कह रही हैं, तो माने लेती हैं । पर प्राणों की सार्थन अपनी सखी की हम विश्वास-पात्र हैं और हमें सब वृत्तान्त मालूम है । जो कुछ भी हो, प्रियाजी के होंठ में यदि घाव हो तो ?

इसके उत्तर में श्रीहितसखी कहती हैं—'हिमपवनतः ।' वैसा ही ठंडा यमुना की किनारा, वैसा ही उसः काल, और शीत ऋतु तो है हीन यह भी संभव है कि अचानक बर्फीली चल निकली, जिससे होंठ फट गया । सुकुमारी तो आखिर प्रिया जी हैं ही ।

श्रीहितसखी जब यह सब कह रही थीं, तो प्रिया जी ने भौंहों और नेत्रों की भंगिमाओं से क्या-क्या भाव प्रकट किये, कैसे मुस्कराईं-शर्माईं, किस प्रकार प्रतिकूल-सी दिखाई हीं और उनके हृदय में कैसी हलचल मची, किस प्रकार उनका आलस्य काफूर हो गया कटाक्ष कैसे-कैसे नाचे और किस प्रकार उन्होंने सखियों पर फूल चलाये, इस सब का अनुमान सहृदय लगा लें ।

'स्वघटितम्' की व्याख्या करते है—इस प्रकार 'स्वेन' अर्थात् अपने द्वारा किए गए (प्रियसंगम को) । प्रियाजी द्वारा किये गये संगम को सखियों ने देखा तो था ही नहीं, केवल उसकी संभावना (अनुमान) की थी, और चूंकि प्रियाजी सुरत-कुंज से निकलकर आई थीं, अतः असंभव भी कैसे कहा जाय ? फिर भी सखियों के इस अनुमान

एवं स्वेनात्मना त्वयेत्यर्थः घटितं कृतं संभावितमेव सुरतकुञ्जादागताया नासम्भाव्यमपि धाष्टर्च्येन तर्कितं प्रेष्ठसङ्गमहमेवमुक्तव्याजेन प्रच्छादयामीति मिथो हासे तात्पर्यम्।

यद्वा ते प्रेष्टसङ्गं स्फुटमप्यहं सुतरामघटितमनन्वितं यथास्यात्तथेति क्रियाविशेषणं, हेतावुक्तेऽपि तदानीं सङ्कीर्णसमयाद्धिमघर्मासम्बन्धात् तत्तदघटितमिति। किञ्चैतदपि हास्यरीतिकमेव ॥२०७॥

एवं श्रुत्वा सस्मितकटाक्षं शिरो धुन्वन्तीर्यद्भवत्या स्वघटितमस्म-

रसकलश

में घृष्टता थी। तो इस प्रकार के संगम को ऐसी-ऐसी छलपूर्ण बातें बनाकर मैं छिपाऊँगी। तात्पर्य पारस्परिक हास-विलास से है।

(उपर्युक्त व्याख्यानुसार 'स्वघटितम्' का अर्थ है—स्वयं किया गया (संगम)। अब 'स्वघटितम्' में सु+अघटितम्—यह सन्धि-विच्छेद कर प्रकारान्तर से व्याख्या करते हैं—

अथवा स्पष्ट दिखाई देने वाले आपके संगम को मैं अत्यन्त असंबद्ध रूप से छिपाऊँगी। (प्रथम व्याख्या में 'स्वघटितम्' 'प्रेष्ठ-संगम्' का विशेषण था।) इस अर्थ में यह क्रिया विशेषण की तरह प्रयुक्त माना जायगा। मेरा छिपाना अघटित अर्थात् बेलगता होगा—इसलिए कि प्रातःकाल हुए अभी इतन समय नहीं हुआ था कि प्रियाजी उद्यान चली जाय और फूल भी बीन लावें। दूसरे, न तो उस समय ठंड पड़ रही थी और न धूप की ही तेजी थी। अतः जो बात मैंने बनाई वह असंगत ही रही। यह कहना भी श्रीहितसखी का हँसी मजाक ही था ॥२०७॥

यह सुनकर सखियां मुस्कराईं और कटाक्ष करते हुए तथा सिर हिलाकर

संस्कृत साहित्य में, प्रस्तुत पद्य में वर्णित उद्भावना से मेल खाती हुई बहुत-सी सुन्दर उक्तियां मिलती हैं। पाठकों के विनोदार्थ केवल दो उदाहरण यहां प्रस्तुत किये जाते हैं—

हंसैःशैवलमञ्जरीति कबरी चञ्चूभिराकर्षिता,
वक्त्रे चन्द्रभिया चकोरवनिता चक्रे पदैरक्रमम्।
भृङ्गैः पङ्कजकोरकप्रतिभया वक्षोरुहो वीक्षित-
तन्मातः! करवै पुनर्न सरसीतोयावगाहोद्यमम् ॥

× ×

देहे दुर्ललितस्य देवरशिशोः स्फोटव्रणो दारुणो
जातस्तेन वनस्पतित्वचमुपाहर्तुं मया गम्यते।
दृप्यन्तु श्वसितानि घर्मसलिलैः पत्राणि लुप्यन्तु वा
वक्षो वा विलिखन्तु हन्त! नखरैः क्रुद्धाः कपिश्रेणयः ॥

दपेक्षयोक्तं तत्सर्वं ज्ञातम् । हितसखि ! त्वन्मुखमार्दवार्हं किमपि घटितं ब्रूहीति भङ्ग्या किञ्चिद् वदन्तीस्ताः पुनः सस्मितं प्रत्याह—

पातं पातं पदकमलयोः कृष्णभृङ्गेन तस्याः
स्मेरस्यन्दं मुकुलितकुचद्वन्द्वहेमारविन्दम् ।
पीत्वा वक्त्राम्बुजमतिरसान्नूनमन्तः प्रवेष्टु-
मत्यावेशान्नखरशिखया पाट्यमानं किमीक्षे ॥२०८॥

'तस्या' इति । श्रृणुत सख्यो, यस्याः स्वेदेत्यादि प्रस्तुतं तस्या इति भङ्गिक पारोक्षं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धेन सूचितम् । एवं किमीक्षे ? किं तदित्याह—कृष्णभृङ्गेन कमलनित्यसंयोगास्वादानन्येन 'तस्या' इति प्रतिप्रीतकमलरूपिण्याः पदकमलयोः पातं पातं भूयो भूयः पतित्वा स्मेरस्तच्चटुलमर्मज्ञानजो मन्दहासो मकरन्दप्रकाशस्तं स्यन्दयति प्रश्चवतीति अन्तस्थ-

रसकलश

बोलीं– आपने हमें सन्तुष्ट करने के लिये बता दिया कि क्या हुआ, क्या नहीं । हमने उस सबको समझ लिया । अब हितसखी जी ! कोई ऐसी घटना बताइए जो आपके मुख (वाणी) की कोमलता के योग्य हो । कुछ-कुछ इसी आशय की बात जब सखियाँ कह रही थीं, तो श्रीहितसखी ने फिर मुस्कराते हुए कहा—

'श्रीकृष्णरूपी भ्रमर के द्वारा उन श्रीराधा के चरण-रूपी कमलों पर बार-बार गिर कर, मुस्कान से झरते हुए उनके मुख-कमल को पीकर, रस के आवेग से, निश्चय ही, अन्दर प्रवेश करने के लिये बन्द सुवर्ण-कमल जैसे कुचों को नखों के अग्रभाग से चीरा जाता हुआ क्या देखूंगी ?'

सखियो ! सुनो । जिन श्रीराधा के संबन्ध में (पूर्व पद्य में) पसीना आने आदि के बारे में कहा था, उन्हीं के स्तन-रूपी सुवर्ण के कमलों को श्रीकृष्ण-रूपी भ्रमर के द्वारा चीरा जाता हुआ क्या देखूंगी ?) 'यत् और तत्' (जो और वह) का नित्य संबन्ध होने के कारण प्रस्तुत पद्य के प्रथम चरण में प्रयुक्त 'तस्याः' (उसके) द्वारा 'यस्याः' (जिसका) का आक्षेप कर यह समझना चाहिए कि प्रस्तुत वर्णन श्रीराधा के पीठ पीछे किया जा रहा है । इस स्थिति में कब देखूंगी ? उस स्थिति का वर्णन करते हैं– श्रीकृष्ण-रूपी भ्रमर के द्वारा...... । कमल का और भौंरे का सदा का साथ है, अतः वह सिवा कमल के और किसी फूल के रस का आस्वाद लेना जानता ही नहीं । 'तस्याः'—उन श्रीराधा के जिनका प्रत्येक अंग कमल-रूप है । ऐसी श्रीराधा के चरण-कमलों पर बार-बार गिर कर ..... । जब प्रियतम पैरों पड़े तब उनके चंचल स्वभाव

मध्यः। तादृशं परममधुरं वक्त्राम्बुजं पीत्वा। ननु यत् स्पन्दनं तस्यैव पानं घटते। तदत्रस्मेरमात्रस्य त्वसम्भवम् ? तत्रैवं ज्ञेयम्। अङ्गस्फुरण-निमित्तवदत्राधरमध्वर्थकपादपतनेऽधर एव स्मितोज्जृम्भस्तद्गर्भितमधु-सूचकः। यद्वा स्मेरात् स्पन्दति किञ्चिच्चलति कयाचिद्भङ्ग्याचेति। तदा पकारमध्यपाठः। तदात्यन्तप्राप्तरसास्वादाद् भूयस्तदेवेच्छु र्नूनं निश्चये-नान्तः प्रवेष्टुं, पश्ये, यदुपरितमाम्बुजेदृङ्माधुर्यं तन्मध्यगतं किमनिर्वचनीय-मिति विचारतन्मयतावेशवृद्ध्या समीक्षकारितालोपजात्यावेशान्नखरती-क्ष्णाग्रेण पाटचमानं मुकुलितकुचद्वन्द्वहेमारविन्दमीक्षे। नूनमेष एव हेतुर्नान्य इति। मुकुलितं कलिकाभूतं, मुद्रितं, दार्ढ्येनाप्रवेशार्हमित पाटनहेतुः। 'हेम' इति तादात्विक विगलितकञ्चुकनिजाङ्गच्छविदर्शनीयतोक्तिः।

अत्रैवं भृङ्गोदन्तकथने उपरितः सदसि स्फुटं व्याजोक्त्या स्व स्वमनसि मिथो ज्ञात्वा तदानीं कौतुको जातः। आन्तरे च श्रीमत्या लज्जालुनिस्पृ-

---

रसकलश

की याद कर प्रियाजी हलके-से मुस्कराई। पराग-स्थानीय थी मुस्कराहट। उसे झराने वाले परम सुन्दर मुख-कमल को पीकर। शंका होती है कि जो चीज झरती उसे ही पिया जा सकता है, मुस्कराहट को पीना तो असंभव है। इसका समाधान यह है कि प्रियतम अधर-मधु का पान करने के लिये ही पैरों पड़े थे। उन्हें इस स्थिति में देखकर प्रियाजी की मुस्कराहट अधर पर ही प्रकट हुई थी, अतः मुस्कराहट से यहाँ तात्पर्य अधर में भरे मधुरस से ही है। अंग का फड़कना जैसे किसी शुभ घटना का सूचक होता है, उसी प्रकार मुस्कराहट से अधर-पान का संकेत मिला है। 'स्मेरस्यन्दम्' पद के मध्य में अन्तस्थ वर्ण 'य्' है। यदि 'स्पन्दम्' (पकारमध्य) पाठ माना जाय, तो अर्थ होगा– मुस्कराहट के कारण अधर एक खास अन्दाज से हिला। तब जिस रस का आस्वाद जी-भरकर किया था उसी की ललक से बार-बार उसी की इच्छा करने वाले श्रीकृष्ण-भ्रमर ने सोचा—इस कमल के बाह्य भाग में जब इतना माधुर्य है, तो देखना चाहिये कि इसके मध्य-भाग में क्या अनिर्वचनीयता है। इस विचार में प्रियतम ऐसे डूब गये कि आवेश उमड़ आया और विवेक लुप्त हो गया। इस स्थिति में आवेश के बढ़ जाने क कारण नाखूनों के पैने अग्रभाग से विदीर्ण किये जाते हुए कली के आकार के सुवर्ण के कमल—जैसे दोनों कुचों को क्या कभी देखूंगी ? निश्चय यही कारण है, अन्य कुछ नहीं। 'मुकुलितम्' का अर्थ है कली के रूप में स्थित, बन्द और इतना कठोर कि अन्दर प्रवेश किया ही न जा सके। कुचकलिका को क्षत-विक्षत करने का यही कारण है। कमल को सुवर्णमय इसलिये कहा है कि सुरत-प्रसंग में चोली के हट जाने के कारण प्रियाजी के सोने-जैसे अंगों की कान्ति दर्शनीय थी।

प्रस्तुत वर्णन में सखियों ने देखा कि श्रीहितसखी उस समाज में भौंरे पर रखकर यह ऊपरी बात कह रही हैं, तो अपने-अपने मन में वास्तविकता को जानकर वे सब

हृतासज्यादिधर्मत्यागं, प्रियस्य च रदनखादिव्रणादिना स्वार्थपरतया तत्सुखकङ्कणबद्धतात्यागमाशङ्क्य निराक्रियते—

'पातम्' इति । तादृग्मनोदृगाकर्षकदयितपदपतनेन स्वासज्यताधर्मो महासौभाग्यञ्च । तदनन्तरं कृपया स्मितं तदङ्गीकरणभङ्गिकं शरण्यताधर्मः । 'कमल' इत्यनेन नीतिविचारोऽपि यदहं प्रत्याख्यास्ये तदा भृङ्गस्य का गतिरिति । तेनाप्येवं विज्ञापितञ्च ज्ञेयम् । सखीकथने च नास्या दोषः । पतनभूयस्त्वे मृदुशीलया दातृधर्मज्ञया च किं करणीयं, सर्वस्वमेव देयं स्यात् । तस्य च पदपतने रसिकशेखरताधर्मः । 'दासेत्यनुग्रहो यत्र' इति 'निजप्रियतमापदे रसमये दधद्यः शिरः' इति परमाधीनता । तदानीं भृङ्गकमलसंयोगो दर्शनीय एवेति तादात्विकस्मृतिवक्तृसखीहृदयसाक्षितात्र ।

रसकलश

आपस में मुस्कराई । आन्तरिक व्यंजना के सम्बन्ध में यह भ्रम होता है कि श्रीमती ने अपना लजीला स्वभाव, निरभिलापिता और आसज्योचित कर्तव्य को तिलाञ्जलि दे दी, और उधर प्रियतम ने भी नखक्षत द्वारा अपना स्वार्थी स्वभाव और प्रियाजी के सुख का ध्यान रखने की प्रतिज्ञा के प्रतीक-रूप जो कंकण बाँध रक्खा था, उस सबको एक बारगी ही भूल गये । इसी भ्रम का निवारण करने के लिये कहा है—'पातं पातम्' (गिर-गिर कर) । श्रीकृष्ण-जैसे मन और नेत्रों को आकर्षित करने वाले प्रियतम जब पैरों पड़ते हैं, तो यह तो प्रियाजी के आसज्य होने का प्रमाण ही है और बड़े गौरव की बात है। प्रिय के पैरों पड़ने के बाद प्रियाजी, उन्हें अपनाने के ढंग से मुस्कराईं । यही तो शरणागत का प्रतिपालन धर्म है । मुख को कमल कहने का आशय यह है कि प्रियाजी नीतिज्ञ हैं और जानती हैं कि यदि मैं प्रियतम को निराश करती हूँ, तो फिर भौंरे की क्या गति होगी ? यह भी समझ लेना चाहिये कि प्रियतम ने भी ऐसा ही कहा होगा । यदि सखियाँ कहती हैं, तो प्रियाजी का क्या दोष ? (उन्होंने न तो पैरों पड़ने के लिये कहा और न प्रत्याख्यान ही किया ।) प्रियतम यदि बार-बार पैरों पड़ते हैं, तो प्रियाजी का स्वभाव तो बड़ा कोमल है और दाता के कर्त्तव्य को भी वे जानती हैं। ऐसे में सिवा इसके वे और क्या करतीं कि उन्हें सर्वस्व दे डालें। रहा यह कि प्रियतम को पैरों नहीं पड़ना चाहिए, तो यह तो रसिक-शेखर का धर्म है। प्रेम के क्षेत्र में तो दास होना स्वयं अपने को अनुगृहीत मानना है । पूर्व के एक पद्य (१११) में भी कहा है— 'जो श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा के चरणों पर सिर रख देते हैं।' इससे यही सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण सर्वतोभावेन प्रियाजी के वशंवद हैं। जिस समय प्रियाजी ने अधर-दान दिया उस समय भौंरा और कमल का संयोग देखते ही बनता था । उस समय की स्मृति का साक्षी वर्णन करने वाली श्रीहितसखी का हृदय ही है ।

'स्मेर' इत्यनेन सा किं कुर्यादघटितकरणे दैन्ये च महाजनः स्मेर एव स्यादिति। तस्य च को दोषो यदियमेव स्मितास्येति स्वकरेणैव तद्दानं कृतमिति। ततो 'वक्त्राम्बुजं पीत्वा' इति स्वव्यसनवस्तुसन्निधाने कस्य मनो नोल्लसेदिति मधुपानं मधुपयोग्यमेवेति। वचः परिभाषणार्थत्वात् स्वेनैव स्वमाधुर्यमुद्घोषितं, तदास्य को दोषः? 'अतिरसात्' इत्यधरमाधुर्या-

रसकलश

प्रियतम जब पैरों पड़े, तो प्रियाजी मुस्कराईं। सिवा इसके वे और कर ही क्या सकती थीं? जब कोई अनहोनी बात घटित हो जाय, अथवा कोई दैन्य प्रदर्शन करे, तो महापुरुष तो मुस्करा-भर देते[1] हैं। नख-क्षत कर देने के लिये प्रियतम को भी दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि प्रियाजी स्वयं मुस्कराती हैं और अपने हाथों वाञ्छित वस्तु दे देती हैं। प्रियतम ने मुख-कमल के मधु को पिया। जिस वस्तु का किसी को व्यसन है, यदि वह पास ही हो, तो किसका मन नहीं मचलेगा? फिर श्रीकृष्ण तो भौंरा है[2]; उनके लिये मधु पीना उचित ही है। 'वक्त्रकमलम्' में 'वक्त्र' शब्द का अर्थ है मुख और यह निष्पन्न हुआ है वच् धातु से जिसका अर्थ है बोलना, संभाषण करना। मुख ने अपने माधुर्य का ढिंढोरा खुद ही पीटा। ऐसे में प्रियतम का क्या दोष है? 'अतिरसात्'

१. वटुवेषधारी शिव भी पार्वती से यही कहते हैं—

इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्यवृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति॥

कुमारसंभवम् सर्ग ४

२. टीकाकार ने अपनी व्याख्या में भ्रमर-संबन्धी इस घटना को जहां-जहां व्याजोक्ति बताया है। वहां उनका तात्पर्य कुछ-कुछ यही है कि भौंरे पर रखकर ये बातें कही गई हैं। व्याजोक्ति अलंकार की परिभाषा है—'छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् (काव्य प्रकाश ११८) अर्थ है—किसी छिपी हुई वस्तु का रूप किसी कारणवश यदि स्पष्ट हो जाय, तो उसे किसी बहाने से छिपाने में व्याजोक्ति होती है। व्याजोक्ति का उदाहरण तो श्रीराधारससुधानिधिस्तव का २०७वां श्लोक है। प्रस्तुत पद्य में तो खींच-तानकर श्लेषानुप्राणित रूपक ही माना जा सकता है,—खींच-तान कर इसलिये कि भ्रमर-पक्ष में 'नखरशिखया पाट्यमानम्' की संगति बिठाना कठिन ही पड़ेगा। भ्रमर के तो नाखून नहीं होते।

श्रीकृष्ण-पक्ष में 'अन्तः प्रवेष्टुम्' का क्या अर्थ लगेगा, इसे रसकुल्याकार ने स्पष्ट नहीं किया। गोस्वामि श्रीकृपालाल जी ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'कुञ्जाभ्यन्तरे प्रवेशार्थम्' (कुंज के अन्दर प्रवेश करने के लिये। 'अथवा पादपतनेन मानापनोदनं कृत्वा कामस्य अत्यावेशादभ्यन्तरे प्रवेशः।' (पैरों पर गिरकर मान दूर कर देने के बाद आवेश की उग्रता के कारण काम का अन्दर प्रवेश हो गया।)

तिशयस्तस्याः सूचितः । तस्य च मादकपाने कथं निर्मदः स्यात्, तत्राप्यति-शब्देन नास्य दोषः । 'अत्यावेश' इत्यत्रोग्ररसोग्रवीर्यं सूचितम् । तस्य च निर्दोषितैव । तदाधरव्रणः कथं न स्यात् । ततश्च तत्सुखविस्मृत्या पाटनमपि किन्न स्यादिति । किञ्च मुकुलितेऽरविन्देऽतिरसात्याविष्ट-भृङ्गस्य कियद्दुखं स्यादिति सहृदयैर्विचार्यम् । इति अस्य निर्दोषता । तस्याश्च स्तनकाठिन्यं यौवनोत्कर्षः । एवं द्वयोरुत्कर्ष निर्दोषताचमत्कारो ज्ञेयः सखीवक्तृकः । तत्सुखितात्र मदनमादनप्रत्यङ्गोज्जृम्भे दृढमर्मस्पर्शं विना नास्वाद इति रदनखक्षताद्येव तत्सुखमिति सहृदयवेद्यम् ।

एवं पद्यद्वयेन सुरतान्तसखीकौतुकोक्तिरुक्ता । अत्र प्रियोऽपि सन्निहित एव स्वनिर्दोषिताश्रुतिहृष्टः सखिविषयिक प्रीत्यतिशयोज्जृम्भेण निर्मञ्छित इव तिष्ठन्यवलोकयतीति ज्ञेयम् । प्रियाया अपि च भृङ्गविशेषोक्तिव्याजेन रसोद्दीप्तसस्मितं भ्रूभङ्गी जातेति ॥२०८॥

रसकलश

(अत्यन्त रसानुभूति के कारण) कहकर प्रियाजी का उत्कट माधुर्य सूचित किया गया है। यह कैसे संभाव है कि अधर-जैसी मादक वस्तु का पान किया जाय और नशा न हो ! 'अति' का तात्पर्य यह है कि प्रियतम का दोष नहीं है। 'अत्यन्त आवेश' का आशय यह है कि रस बहुत तेज था और उसमें बड़ी ताकत थी। ऐसे में प्रियतम का क्या दोष है ? तब होठ तो घायल होगा ही होगा और प्रियाजी के सुख का ध्यान न रहने के कारण स्तन रूपी कलियों का नखों द्वारा विदारण भी किया ही जायेगा। दूसरे, कमल को बन्द देखकर रस के आवेग से भरे भौंरा को भी कितना दुःख हुआ होगा ?—यह सब सहृदयों के विचारने की बात है। इन्हीं सब कारणों से प्रियतम को दोष नहीं दिया जा सकता। प्रियाजी के स्तनों का कठोर होना यौवन के उत्कर्ष का सूचक है। इस प्रकार प्रिया प्रियतम दोनों में यौवन और रसावेश अपनी पराकाष्ठा पर हैं, अतः दोनों ही निर्दोष हैं। श्रीहितसखी के कथन का यही चमत्कार है। प्रियाजी का सुख इसमें है कि अंग-अंग में यौवन की ऐसी अंगड़ाइयाँ उठ रही हों कि देखकर कामदेव भी झूम उठे, तब दांत और नाखूनों से आघात करने में ही सुख मिलता है, क्योंकि जब तक मर्म छू न जाय तब तक रस का आस्वाद ही नहीं होता।

इस प्रकार दो पद्यों द्वारा सुरत-लीला के अन्त में सखियों की कौतुक-भरी उक्तियों का वर्णन किया। प्रियतम भी इस अवसर पर वहीं उपस्थित हैं श्रीहितसखी द्वारा कि गई अपनी निर्दोषता की पैरवी सुनकर वे बड़े प्रसन्न हैं और उनके प्रति ऐसा प्रेम उमड़ता है कि वे उन पर निछावर होने को तैयार हैं। भौंरे के बहाने से कही गई बात से प्रियाजी में भी इस रस का ऐसा आवेश हुआ कि वे मुस्कराने लगीं और उनकी भौंहें नाच उठीं ॥२०८॥

एवमादि स्वामिन्यतिप्रेमपात्रायास्त्रिकालाबाधित संयोगानन्दाया रहोरसाधिकारिण्याः कदाप्यन्येद्युः स्वस्वामिन्योरेव रहो मिथोगोष्ठी विलासानन्दे कश्चिन्निजविप्रलम्भसम्भावनामयप्रेमतरङ्गो जातः। 'अनिष्टा-शङ्कीनि बन्धुहृदयानि' इतिवत्। एवमैक्ये यद्येवं कदाचित् स्यात्, तदा किं स्यादित्यादि वितर्कयन्ती स्वामिनीं प्रत्याह द्वाभ्याम्—

अहो ! तेऽमी कुञ्जास्तदनुपमरासस्थलमिदं,
गिरिद्रोणी सैव स्फुरति रतिरङ्गे प्रणयिनी ।
न वीक्षे श्रीराधां हरि! हरि! कुतोऽपीति शतधा
विदीर्येत प्राणेश्वरि ! मम कदा हन्त ! हृदयम् ॥२०९॥

'अहो !' इत्याश्चर्यमघटितानुभवार्थकम्। ते तत्तद्विहारस्थलानि मदनुभूता अमी प्रत्यक्षास्त एव कुञ्जाः स्फुरन्तीति बहुत्वमाक्षिप्यते।

रसकलश

पूर्वोक्त रीति से स्वामी और स्वामिनी जी की परम प्रेम-पात्र, भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों में अनवरत रूप से जो युगल-स्वरूप के पारस्परिक संयोग के आनन्द का अनुभव करती हैं—ऐसी श्रीहितसखी को, दूसरे दिन, प्रेम की तरंगों में लहराते हुए वियोग की-सी आशंका हो गई। उस समय श्रीराधाकृष्ण पारस्परिक वार्तालाप की आनन्दमय क्रीड़ा में मग्न थे। आत्मीय जनों के संबन्ध में अनिष्ट की आशंका बहुत जल्द हो जाती है। इस प्रकार इन दोनों के एकरस, एकप्राण हो जाने पर कहीं ऐसा हो जाय, तो क्या हो? इस प्रकार मन में तर्क-वितर्क करती हुई श्रीहितसखी स्वामिनी जी से कहतीं हैं—

बड़ा आश्चर्य है कि वे ही ये कुँज है, वही अनुपम रास-स्थली है, प्रियाजी के रति-रंग से प्रेम करने वाली वही गोवर्द्धन पर्वत की कन्दरा है। हे भगवन्! कहीं भी श्रीराधा के दर्शन नहीं हो रहे हैं—इस कष्ट से, हे प्राणाधारे! मेरा हृदय सौ टुकड़े होकर कब विदीर्ण होगा ॥२०९॥

'अहो !' से आश्चर्य सूचित होता है—यह आश्चर्य कि ऐसा अनुभव तो आज तक कभी नहीं हुआ। यह तो कुछ अनहोनी-सी घटना है! विविध विहार के स्थान ये कुँज, जिनका कि मुझे अनुभव है, सामने ही स्फुरित हो रहे हैं। 'अमी कुञ्जाः' के बाद 'स्फुरन्ति' क्रिया अपनी ओर से लगानी पड़ेगी। उसी प्रकार मेरे द्वारा अनुभूत, असा-धारण चित्त को आकृष्ट करने वाली तथा रास की याद दिलाने वाली जैसी यह स्थली

तथैव मदनुभूतमेवानुपमं यादृगसाधारणलक्षणं चित्ताकर्षकं रासस्मारकं स्थलं तादृगिदमेव स्फुरति। तथा च गिरेर्गोवर्द्धनस्य मण्याक्रीडस्य द्रोणी गह्वरमेकान्तस्थली सैवेयं स्फुरति, नान्यादृशी। कीदृशी? रतिरङ्गे प्रणयिनी, तत्र दम्पतीप्रापिका, वा रत्यानन्दे प्रणयः स्नेहो यस्याः, सहृदयत्वात्। तत्रैतेषु स्थलेषु कुतोऽपीति कस्मादपि निलयनादि हासकौतुकाद्धेतोः 'हरि हरीति' कष्टे, कथमिदं वक्ष्यमाणं वच्मि—श्रीराधां न वीक्षे, तदानीं 'हरि!' इति दैवं संबोध्यैव तावत् क्षणार्द्धे मनसोऽन्तरिक्षगतदृष्ट्या समक्षस्थामपि श्रीराधामिति ताटस्थ्येन वक्ति, न वीक्षे, इति हेतोः तदा हे प्राणेश्वरीति लवार्द्धमात्र एव व्याकुलभङ्ग्या संयोधयति, 'हन्त'! इति हा कष्टे, मम हृदयं कदा शतधा विदीर्येत। प्राणेश्वर्यदर्शने प्राणस्थानहृदयस्यैव विशीर्णतार्हा। हाहा! तां विना मेऽन्यत् स्फूर्तिःस्यात्।

यद्वा निलयादन्यहेतुमाह—दृग्गोचरप्रियायाः पार्श्वे कुञ्जादिस्मरणगतमनसा तदेकस्फुरणे यदि त्वां न वीक्षे इति। ईक्षणं नेत्रयोः, विशेषेक्षणं

रसकलश

है, उसी रूप में ज्यों की त्यों यह स्फुरित हो रही है। और मणियों से जहां खेल-खेले जाते हैं, ऐसे गोवर्द्धन पर्वत की एकान्त द्रोणी, अर्थात् कन्दरा भी अपने यथावस्थित रूप में स्फुरित हो रही है, बदली नहीं हैं। कन्दरा का विशेषण देते हैं—'रतिरङ्गे प्रणयिनी'—विहार के लिये दम्पती को आमंत्रित करने वाली, अथवा जिसे श्रीराधाकृष्ण के सुरतानन्द से प्रीति है, स्नेह है, क्योंकि कन्दरा भी सहृदय है। इन स्थानों में लुका-छिपी की परिहासपूर्ण क्रीड़ा के प्रसंग में, किसी कारणवश--'हरि! हरि! आन्तरिक कष्ट का द्योतक है—इतना कष्ट कि आगे की बात कहते नहीं बनती—यदि श्रीराधा को न देख पाऊँ—'हरि' कहकर जितने समय में दैव को पुकारूँ, उसी आधे क्षण में मन के आकाश की ओर चले जाने के कारण सामने खड़ी हुई भी श्रीराधा को यदि न देख पाऊँ—श्रीराधा का अभिधान यहाँ तटस्थ वृत्ति से किया गया है--हाँ, तो ऐसी स्थिति में—उस आधे क्षण में ही व्याकुलता को सूचित करने के लिए 'हन्त!' कहा गया है, अर्थात् बड़े कष्ट की बात है कि मेरा हृदय कब सौ टुकड़े हो जायगा। प्राण हृदय में रहते हैं। प्राणेश्वरी के दर्शन न होने पर हृदय का ही विदीर्ण होना उचित है। हाय! उनके दर्शन के विना मेरा ध्यान अन्य विषयों की तरफ चला जायगा।

अथवा लुका-छिपी के अतिरिक्त श्रीराधा के दर्शन न होने का दूसरा कारण बताते हैं—सामने दिखाई देती हुई भी प्रियाजी के आस-पास जो कुंजें हैं, उनका स्मरण हो आने से मन में केवल यदि वे ही कुंजें घूमने लगें, तो आप नहीं दिखेंगी। सामान्य

हृदयस्येति । अर्थात् त्वं समक्षापि न स्फुरेस्तदा नेत्रयोरदोषान्निदिध्यासनकर्तुर्हृदयस्यैव शतखण्डतास्तु । 'शत' इति—अद्यावधि हृदय ! त्वामेकाङ्गमेव ज्ञातवानिति । यदा त्वमनेकीभवितुमिच्छुस्तदा शतधास्तु, इति, यथा 'यथागजस्तब्धमतिः स एव,' इति वत् । अतः प्राणातिप्रिये ! त्वत्स्फूर्तिं विना क्षणमपि न जीवितुमुत्सहे । तदा साक्षाददर्शने कैमुत्यमिति भावः । इति जलमीनवत् स्वगतिर्दर्शिता । स्वमनोनिष्ठां संतोल्य वक्तीति ज्ञेयम् । यथा च शतकं श्रीहितालीस्वरूपवर्णने—

तत्र काञ्चित् तनुं सौम्यां श्रीराधात्यनुकम्पिताम् ।
क्षणं चरणविच्छेदाच्छ्रीश्वर्याः प्राणहरिणीम् ।। ८/२३.

अथ मुक्तके स्पष्ट एव । श्रीहितस्य पूर्वदृष्टचा प्रत्यभिज्ञानतया यदन्तरङ्गेऽनुभूतं भूमिकुञ्जादिरूपं तदेवात्र स्फुरतीति याथार्थ्यमुक्तम् । बाह्यलोकाप्राकटचानुसारेण एषु स्थलेषु कुत्रापि स्वामिन्याः साक्षाददर्शनात्,

---

रसकलश

रूप से देखने का काम आँखों का है, विशेष रूप से हृदय देखता है । अर्थात् सामने विद्यमान भी आपका स्वरूप यदि प्रतिभासित न हो, तो नेत्रों का तो कोई दोष नहीं है । दोष तो हृदय का होगा । अतः उचित यही है कि हृदय ही सौ टुकड़े हो जायँ । 'शतधा' (सौ टुकड़ों में) का भावार्थ यह है कि हे हृदय ! आज तक तो मुझे यही मालूम था कि तू एक ही अंग है, पर जब तू अनेक होना चाहता है, तो यही सही । जैसे 'हाथी गुम-सुम होकर भी हाथी ही रहता है ।' (किसी कारणवश हाथी यदि निष्क्रिय हो जाय, तो जैसी उसकी संज्ञा हाथी ही रहती है, उसी प्रकार प्रस्तुत में, यदि हृदय ने अपना काम करना छोड़ दिया, तो रहेगा तो वह हृदय ही, पर अच्छा यही है कि वह विदीर्ण हो जाय । अतः प्राणों से भी अधिक प्यारी आपकी स्फूर्ति के बिना क्षण-भर के लिए भी मैं जीने को तैयार नहीं हूँ । तो यदि साक्षात् दर्शन होना ही बन्द हो जाय, तब तो कहना ही क्या है ? इस प्रकार श्रीहितसखी ने पानी की मछली की भाँति अपनी अवस्था बताई है । अपने मन की निष्ठा को तोलकर वे ऐसा कहती हैं, यह समझना चाहिए । जैसा कि श्रीहितसखी के स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रीवृन्दावन-शतक में कहा गया है—

'उन अपूर्व सहचरियों के बीच श्रीराधा की कृपापात्र किसी एक विनम्र सुन्दरी का स्मरण कर, जो एक क्षण के लिए भी चरण-सेवा से वंचित हो जाने पर शक्ति-संपन्न लक्ष्मी की भी प्राणहारिणी हो जाती हैं' । ८।२३

मुक्तक पक्ष में अर्थ स्पष्ट ही है । पहले देखे तथा जाने-पहिचाने होने के कारण श्रीहितसखी ने रास-स्थल तथा कुंज आदि का जो स्वरूप अनुभव कर रक्खा था, वही

कथमहं दृष्ट्वैव निश्चितः स्थितो ? हा हन्त ! हृन्न विदीर्यतेति । तदानीं सकम्पाश्रुगद्गदं पूर्णार्तिरुक्ता । अन्यच्च कुञ्जेति, रासेति गिरिशब्देन व्रजलीलेत्येवं लीलात्रयीस्थलोक्तिर्ज्ञेया । 'कुञ्जाः' इति बहुत्वं प्रत्येकं बहुशो मार्गणात् । तत्र पूर्णनिजाभीष्टता च । अत एव मार्गणप्राथम्यमपि । तत्राप्राप्त्या, अहो ! कदाचिद्रासेश्वरी रासौत्सुक्येन तत्स्थलेऽवश्यं भविष्यतीति तन्मृग्यम् । तत्राप्यदृष्ट्वा अहो ! गिरिप्रीत्यतिशयेन तत्र स्यादिति—द्रोण्यामपि तददर्शनान्निराशः । हा ! लीलालयस्थलेऽप्यप्राप्त्या कुत्रास्तीति महार्तिवश्यत्वम् । अप्राप्तौ कथं संबोध्यते चेत्, तत्र हृदयस्फूर्त्यनवच्छेदात् प्राणेश्वरीति युक्तमेव । बहिःस्थलेषु तादृक्क्रीडन्त्या अदर्शनात् 'न वीक्षे' इत्युक्तिः । नन्वेवमार्त्याधिक्ये कथमेतत्कालं स्थितिः ? तत्रैवं ज्ञेयम्—स्वामिनीच्छाबलीयसी सर्वशिरोधर्यैवेति बलेन रसिकलोकानुशासननिजरसानुभवप्राप्त्यर्थकेयं स्थितिः ॥२०९॥

रसकलश

यहां प्रकट रूप में विद्यमान है—यह कहकर वास्तविकता बताई है । बाहर वालों को स्वामिनी जैसे दृष्टिगोचर नहीं होतीं, वैसे ही इन स्थानों में कहीं भी यदि उनके दर्शन नहीं हुए, तो मैं देखकर ही कैसे चुप हो गया । हाय ! मेरा हृदय फट क्यों नहीं गया ? काँपते हुए और आंसू-भरे गले से श्रीहितसखी ने अपनी समस्त व्यथा बताई है । दूसरी बात यह है कि कुंज, रास और गोवर्द्धन गिरि का उल्लेख कर ब्रज-लीला के तीन स्थलों का निर्देश किया है । कुंज का बहुवचन में प्रयोग इसलिये किया है कि प्रत्येक कुंज में कई बार खोज की । इन्हीं कुंजों में अपनी अभीष्ट वस्तु मिलती है, अतः सबसे पहले उन्हीं को खोजा । वहाँ जब न मिलीं तो सोचा—प्रियाजी रासेश्वरी हैं, हो न हो, रास की उत्कंठा से रास स्थली में ही पहुँच गई हैं, अतः वहां खोजना चाहिये । वहां भी न मिलने पर अनुमान लगाया कि गोवर्द्धन उन्हें बहुत प्रिय है, संभव है, वहां हों । वहाँ भी जब दर्शन नहीं हुए, तो श्रीहितसखी का हृदय हाहाकार कर उठा । लीला की तीन ही जगहें हैं । इनमें भी न मिलीं, तो गई कहाँ ? इस स्थिति में उनके हृदय को महान् क्लेश हुआ । यदि पूछा जाय कि स्वामिनी मिली हीं नहीं, तो 'प्राणेश्वरि !' संबोधन कैसा ? इसका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष में दर्शन भले ही न हों, किन्तु हृदय में तो उनकी स्फूर्ति निरन्तर जागृत थी, अतः संबोधन अनुचित नहीं । बाहर उसी प्रकार क्रीड़ा करती हुई नहीं मिलीं, तो 'न वीक्षे' (नहीं देख पाती हूँ) यह कहा । यदि पूछा जाय कि प्रियाजी के दर्शन न होने से यदि श्रीहितसखी को महान् पीड़ा का अनुभव हुआ, तो इतनी देर तक वे जीवित कैसे रहीं ? इस संबन्ध में ज्ञातव्य यह है कि स्वामिनी की इच्छा सर्वोपरि है, शिरोधार्य है । रसिकजनों को शिक्षा देने तथा उन्हें यह सुअवसर देने के लिये कि श्रहितसखी के माध्यम से उन्हें रस की अनुभूति हो, प्रियाजी ने अपनी प्रियसखी को उस स्थिति में रखना उचित समझा ॥२०९॥

ननु तावत् त्वयैव वनकुञ्जादिप्रशंसनं कृतम्, तत्र कथं न मत्स्फूर्ति स्तत्राह—

इहैवाभूत्कुञ्जे नवरतिकला मोहनतनो
रहोऽत्रैवानृत्यद्दयितसहिता सा रसनिधिः ।
इति स्मारं स्मारं तव चरितपीयूषलहरीं,
कदा स्यां श्रीराधे ! चकित इह वृन्दावनभुवि
॥२१०॥

हे श्रीराधे ! मन्नयनसमाकर्षक श्रीयुते ! प्रिये ! इति तव कौतुकशीलायाश्चरितपीयूषलहरीं स्मृत्वा स्मृत्वा इह वृन्दावनभुवि चकितः कदा स्यामिती । प्रथमे निलयनमार्गणे तत्तत्स्थलदर्शनाच्चरितस्फूर्तिः । तत्र तया चकितः किमत्र सास्तीति क्षणं समनन्तरं त्वदभावादाश्चर्यम् ।, कथमद्यैवाभावः, इति । 'चकित' इति पुंस्त्वं उपेक्षितसाधारणजनमननात् । 'इति' इति चरितप्रकारमाह—

रसकलश

श्रीराधा हितसखी से पूछती हैं कि तुमने ही तो वन, कुंज आदि की प्रशंसा की थी, फिर इनमें मुझ से संबन्धित स्फूर्ति तुम्हें क्यों नहीं होती ? इस पर श्रीहितसखी कहती हैं—

'अपने शरीर से मोहित करने वाली श्रीराधा की नवीन रति-कला का प्रदर्शन इसी कुंज में हुआ था, रस की आगार वह प्रियतम के साथ (यहीं) एकान्त में नाची थीं—इस प्रकार आपके चरित रूपी अमृत की तरंगों को बार-बार याद कर, हे श्रीराधे ! मैं इस वृन्दावन-भूमि में कब चकित हूँगा ?'

मेरे नेत्रों को आकर्षित करने वाली छवि से युक्त, प्रिये श्रीराधे ! कौतुक करने का जिनका स्वभाव है, ऐसी आपके चरित्र रूपी-अमृत की तरंगों को बार-बार याद कर इस वृन्दावन की भूमि में कब चकित हूँगी ? पहले तो आपको खोजने के प्रसंग में कुंज, रास-स्थल, गिरि गोवर्द्धन आदि विविध स्थानों को देखकर आपकी लीलाओं की स्फूर्ति हुई थी और उससे मैं चकित हुआ था कि क्या प्रिया जी यहाँ हैं । उसी क्षण, साथ ही साथ, आपको वहाँ न पाकर मुझे आश्चर्य हुआ था कि आज ही तो हृदय में प्रियाजी की स्फूर्ति हुई थी और आज ही उनके दर्शन नहीं हुए । यह कारण था मेरे चकित होने का । यहाँ श्रीहितसखी ने अपने सम्बन्ध में पुंल्लिग (चकितः) का प्रयोग किया है—वह इसलिये कि प्रियाजी द्वारा अपने को उपेक्षित मानकर उन्होंने अपनी गणना साधारण जनों में कर ली है । प्रिया जी के चरित्र का विवरण देते हैं—

इहैवेत्यस्मिन् कुञ्जे निश्चितमेवेति तत्तल्लीलालक्षणदर्शनात् । 'मोहनतनोः' अखिलमोहनस्यापि मोहविस्तारिकायाः, इति तादात्विकस्मृतौ मुह्यमानमानसोक्तिः । 'नवरतिकला' इति मिथः समौत्सुक्यरुच्याधिक्यमेव नवता । वा वैलक्षण्यं कलानां अभूदिति कतिपयघटिकाक्षणगमनाद्भूतकालः । चरितस्य पीयूषत्वं तादृग्विरहदुःखनाशकस्मृत्यागत प्राणप्रीणनमहामाधुर्यास्वादत्वम् । समनन्तरमेवासववन्मादनम् । 'लहरी' पूर्णता, तन्मयपूर्वकमत्तता । उद्दीपनस्फूर्तेः क्षणस्थायिवच्चकितता वीप्सायाम् । पुनस्तमृतास्वादलोभेन स्थानप्रत्यक्षे तत्स्फुर्त्यत्यजनात्तथैव लहरी । पुनरन्यत्र मार्गणे रासस्थलं परागोद्दीप्तोभयपदलास्यचिन्हितं वीक्ष्याह—'अहो' ! आश्चर्यं, परोक्षेऽपि प्रत्यक्षमेव स्फुरति । अत्रास्मिन् रासमण्डलेएवेति निश्चितमेव स्वानुभवात् । सा उक्तरतिकलाकुशला, मोहिनी, रसागाधसागरा, दयितेन तत्तदङ्गभङ्गी-

रसकलश

निश्चित रूप से इसी कुंज में उनकी लीला हुई थी । विविध लीलाओं के चिन्ह देख कर यह निश्चय हुआ है । 'मोहन तनोः'—समस्त विश्व को मोहित करने वाले श्रीकृष्ण के मोह को भी बढ़ाने वाली श्रीराधा हैं । प्रियाजी की स्मृति होने पर मनमें मुग्ध होकर श्रीहितसखी ने यह कहा है । 'नवरतिकला'—रतिकला की नवीनता समान उत्कंठा और रुचि के अधिक होने में है, अथवा कलाओं विलक्षणता ही उनकी नवीनता है । 'अभूत्'—यह क्रिया भूतकाल की है और यह सूचित करती है कि कुछ एक घड़ियाँ, कुछ ही पल तो बीते हैं । प्रिया जी के चरित्रों को अमृत इस आशय से कहा गया है कि उनका स्मरण होते ही विरह का दुःख शान्त हो गया और प्राणों को जीवन देने वाली महामाधुरी का आस्वाद मिला । (अमृत में भी ये तीनों गुण हैं—दुःख को दूर करता है, प्राणों का संजीवन है और स्वाद में मधुर है ।) स्मृति के साथ ही मन आनन्द की लहरों में झूमने लगा, जैसे मदिरा पी ली हो । फिर तो श्रीहितसखी तन्मय होकर मस्त हो गई । 'लहरी' का यहाँ यही अर्थ है । आनन्द का उद्दीपन करने वाली यह स्फूर्ति क्षण-भर ही रही, यही वार-वार चकित होने का कारण है । चरितरूपी इस मदिरा के आस्वाद के लोभ से जब श्रीहितसखी लीला-स्थल पर आई और उसका साक्षात्कार हुआ, तो स्फूर्ति की धारा के अविच्छिन्नरूप से चलते रहने के कारण फिर वही लहर, और झूमना । उसके अनन्तर अन्यत्र खोजती हुई रास-स्थली पर पहुचीं । वहाँ फूलों की पराग पर अंकित होकर उभरे हुए दोनों चरणों के नृत्य-चिन्हों को देख कर कहती हैं—अहो, कैसा आश्चर्य है ! आँखों के सामने न होते हुए भी प्रियाजी यहाँ प्रत्यक्ष की भांति प्रतिभासित हो रही हैं । यहीं प्रियाजी ने नृत्य किया है—इसी रास-मंडल में । अपने अनुभव से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है । रति-कला

युतगुणकलाभिलाषजनितानुग्रहेण प्रियेण सहिता मिथो बलद्बाहुपाशानृत्यत् । नचात्र केवलगुणोज्जृम्भ एव । किञ्च रसनिधेर्यन्नृत्यसौष्ठवं तद्रसवैचित्र्यविशिष्टमेव । तदभिनयचरितेषु यन्मिथो रसावलोकनपरममाधुर्याप्यायनमादकतातरङ्गं स्मृत्वा वीप्सायां तदानन्दलोभेन तदत्यजनाद् भूयः स्मृत्वा मत्ता । क्षणान्तरे तददर्शनाच्चकितता । इत्येवं सर्वापि वृन्दावनभूस्तादृगेवास्ति, किमपि स्थलं त्वद्विलासानवगाहितं नास्तीत्यतो यत्र तत्र चकिततैव पर्यवस्यतीति । अतः स्फूर्तिस्तवैवास्ति, परन्तु नित्यसाहचर्यापेक्षया विप्रलंभ एव भवेत् । अननुभूतानां त्वेवमेव दुर्लभम् । अतश्चकितां मा कुरु, सदा दृग्गोचरामेवाभिलषामीति ।

अत्र पूर्वपद्योपक्षिप्त कुञ्जरासानुवादादृगिरिशेषाद्द्रोण्यनुक्तापि रतिकलास्थली ज्ञेया । द्वितीये प्रत्यक्षस्थित्यर्थे कुञ्जरासादिस्थलमननगतमनसा

रसकलश

में निपुण, मोहिनी, रस की अपार समुद्र प्रियाजी ने परस्पर गलबहियाँ डालकर प्रियतम के साथ नृत्य किया है। नृत्य के प्रसंग में अंगों की चेष्टाओं द्वारा, गुण और कला के प्रदर्शन की प्रियतम की अभिलाषा को पूर्ण कर उन्हें अनुगृहीत किया। यह नहीं समझना चाहिये कि नृत्य में केवल शुष्क गुणों के प्रदर्शन का ही दौरदौरा रहा, बल्कि रस का आगार होने के कारण नृत्य-सौन्दर्य विलक्षण रस से विशिष्ट भी था। इन अभिनयपूर्ण लीलाओं में प्रिया-प्रियतम ने रसभरी दृष्टि से एक-दूसरे को जिस प्रकार देखा और परम माधुरी का पोषण करने वाली मादकता की जो तरंगें उठीं, उन्हें याद कर आनन्द के लोभ से श्रीहितसखी के हृदय में तत्संबन्धी भावनायें धारावाहिक रूप में चलती रहीं। फलतः बार-बार उसका स्मरण कर एक ओर वे मस्त होती थीं, तो दूसरी ओर प्रियाजी के दर्शन न होने से ठगी-सी रह जाती थीं। उन्होंने देखा, सारी वृन्दावन-भूमि इसी प्रकार की है। कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ प्रिया जी का विलास न हुआ हो। अतः जिधर दृष्टि जाती है उधर चकित होने के ही कारण उपस्थित मिलते हैं। श्रीहितसखी कहती हैं कि स्फूर्ति तो आपने ही दी है, परन्तु आपके साथ प्रतिक्षण रहने की तुलना में तो यह वियोग ही हुआ। जिन्हें प्रिया जी के सार्वकालिक साहचर्य का अनुभव नहीं है, उनके लिये तो वियोग की यह अनुभूति दुर्लभ ही है। अतः, हे श्रीराधे ! चकित मत करिये। मेरी अभिलाषा तो यही है कि आप सदा मेरी आँखों के सामने ही रहें।

इस पद्य में पूर्व-वर्णित कुंज और रास-स्थली का पुनः उल्लेख हुआ है। रह गया है गिरि गोवर्द्धन। सो उसकी कन्दराओं को भी रति-कला-स्थली के रूप में उन्हीं के अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। दूसरे अर्थ में श्रीराधा की स्थिति के प्रत्यक्ष होते हुए

तत्रत्यचरितस्मृत्यागतपीयूषास्वादः, तत्समनन्तरं मादनलहरी, तत्स्मरणस्य क्षणिकत्वाच्चरितान्तरार्यार्तिः, तद्व्याकुलतया चकितता, इति प्रत्यक्षादपि यन्मननानुभूतचरितामृतास्वादाकर्षणेन किं कुर्य्याम् । समक्षमाधुरीप्याकर्षतीत्युभयपाशरज्जुरिति श्रीमत्यै कौतुकं मन्मनसः श्रावितमिति । मुक्तकपक्षे साधकार्तिः स्पष्टैव चकितता । अहो ! आश्चर्यं, सा तत्र कदाचिद्दर्शनं दद्यात् । यद्वा स्वप्नो वा साक्षादिति । 'कदा' इत्यभिलाषः एतत्स्मरणजनितचकिततापि लोके दुर्लभेतिद्योतकः । अननुभावके च सा कथं स्यादिति लोके सजातीयाशयरसिकगिराभावकान्तदृढनिश्चयोऽप्यनुभवसम एवेति । श्रीहितस्तु 'मोहनतनोः' इति, 'रसनिधिः' इति पूर्वदृष्ट-

---

रसकलश

भी वियोग की कल्पना की गई है। इस अर्थ के अनुसार श्रीहितसखी कुंज, रास-स्थल आदि के विचार में इतना मग्न हो गई कि प्रियाजी की उपस्थिति को भूलकर मन संपूर्ण रूप से उधर ही चला गया, उसी शृंखला-में इन स्थलों पर किये जाने वाले चरितों का स्मरण हो आने से अमृत-जैसे रस का आस्वाद आने लगा। उसके साथ ही साथ नशे के वही झोके, वही हिलोरें उठने लगीं। स्मृति के क्षणस्थायी होने के कारण फिर वही व्याकुलता कि अब किसी दूसरे चरित्र की स्मृति होनी और फिर उसी प्रकार चकित होना। प्रियाजी की जिन लीलाओं का मैंने अनुभव किया है, उनके मनन में प्रत्यक्ष दर्शन से भी अधिक अमृत के आस्वाद का आकर्षण है। उधर प्रियाजी जब सामने होती हैं, तो उनको माधुरी भी अपनी ओर खींचती है। इस प्रकार मेरे मन को अटकाने के लिये प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों बन्धन-रज्जु बन गये हैं। अपने मन की यह विचित्र-स्थिति मैंने प्रियाजी को भी सुनाई है।

मुक्तक-पक्ष में साधक की आतुरता स्पष्ट है। यह आतुरता ही साधक के चकित होने का कारण है। 'अहो !' द्वारा यह आश्चर्य व्यक्त किया गया है कि कदाचित् प्रियाजी कुंज या रास-स्थली में ही दर्शन दें। अथवा यह साक्षात् स्वप्न ही रहेगा। 'कदा' (कब) से अभिलाषा का बोध होता है। व्यंजना यह है कि प्रियाजी के चरितों को स्मरण करने से उत्पन्न विस्मय भी दुनिया में दुर्लभ है। जो व्यक्ति अनुभूतिशील नहीं है, वह भला क्यों चकित होने लगा? अतः अपनी-जैसी भावना रखने वाले रसिकों की वाणी के द्वारा भावुक भक्त के हृदय में यदि दृढ़ निश्चय हो जाय, तो वह भी एक प्रकार का अनुभव ही है। श्रीहितसखी जो प्रियाजी के शरीर को मोहिनी शक्ति से विशिष्ट तथा रस का आगार बताती हैं, तो पहले देखे गये तथा बाद में स्मरण किये गए रूप-रस की मदिरा पीकर झूमती हुई ही वैसा कहती हैं, 'इहैव' और 'अत्रैव' में 'एव' का प्रयोग इसलिये किया गया है कि श्रीहितसखी ने श्रीराधा की

स्मृतरूपरसासवास्वादेन घूर्णन् वक्ति । 'एव' इति तद्दृष्टौ लोकोत्तरतत्त्चमत्कारलक्षणदर्शनादवधारणम् ।।२१०।।

एवं प्रेमतरङ्ग उक्ते, प्राणसखि ! किमेवं विषण्णासि ? किमर्थं चकिता ? त्वत्तः क्वापि न वियुक्तास्मि । दुर्घटितं मा विचारय । कश्चिदीदृगपि प्रेमतरङ्गो भवति । अत्र हि तल्पस्थयोरावयोः सेवां कुरु, इत्यादिसमाश्वासभङ्ग्या हास्यहस्तग्रहादिना समाहिताहिताली सस्मितं प्रसद्य पदसेवारता प्रियसङ्गे यद्यत्प्रियाङ्गच्छविरुज्जृम्भिता तामेव मनसि भावरूपस्थां प्रियां सम्बोधयन्त्याह—

श्रीमद्बिम्बाधरे ते स्फुरति नवसुधामाधुरीसिन्धुकोटि-
र्नेत्रान्तस्ते विकीर्णाद्भुतकुसुमधनुश्चण्डसत्काण्डकोटिः ।
श्रीवक्षोजे तवातिप्रमदरसकलासारसर्वस्वकोटिः
श्रीराधे! त्वत्पदाब्जात् स्रवति निरवधि प्रेमपीयूषकोटिः
।।२११।।

रसकलश

रति-कला तथा नृत्य-प्रयोग के अलौकिक, चमत्कारपूर्ण चिन्ह देखे हैं । अतः उन्हें निश्चय है कि प्रियाजी की रति-कला का प्रदर्शन यहीं हुआ है ।।२१०।।

इस प्रकार प्रेम-तरंग की बात कहने पर 'सखि' ! इस तरह दुखी क्यों होती हो ? और चकित किसलिये हो ? मैं तो तुमसे कभी विलग नहीं हुई । असंभव बात को मन में क्यों लाती हो ? कभी-कभी प्रेम-तरंग में ऐसी अवस्था भी हो जाती है । अब शय्या-प्राप्त हम दोनों की सेवा करो ।' प्रियाजी जब इस प्रकार ढाँढस बंधाने के ढंग से हँसी और हितसराखी का हाथ पकड़ा, तो वे कुछ-कुछ सावधान हुईं और कुछ मुस्कराकर प्रसन्न होकर चरण सेवा में जुट गईं । उस समय प्रियतम के साथ में प्रियतमा के अंगों की जो-जो छवि उमड़ी उसी का वर्णन, भाव-रूप से हृदय में स्थित प्रियाजी से करती हैं—

'कान्तिमान्' और बिम्बफल सरीखे आपके अधर पर नवीन अमृत के माधुर्य के कोटि-कोटि समुद्र प्रकाशित हो रहे हैं, आपके नेत्रों में अद्भुत कामदेव के उग्र और अभेद्य करोड़ों बाण बिखरे पड़े हैं, आपके वक्षःस्थल में उत्कट हर्ष-रस की कला के सार के कोटि-कोटि सर्वस्व स्फुरित हो रहे हैं और आपके चरण-कमल से प्रेमामृत के करोड़ों प्रवाह अविच्छिन्न रूप से झर रहे हैं ।।२११।।

ते अखिलमाधुर्यामृतसमाश्रयायाः कविकोटिवर्णनाधरीकरणश्रीयुते बिम्बाधरे नवायातयामवत् सरसा विलक्षणा च या सुधा तस्या अपि माधुरी तस्याः सिन्धुकोटिः स्फुरति । 'स्वादुप्रियौ च मधुरौ' इत्यनेन प्रियताया अस्मद्धृदयमेव साक्षि, प्रियस्तु स्वादस्यापीति । ततः सपायं पायं श्लाघयति—दिष्टचा संजीविताहं कामविषाक्तकोटिवेदनयानया सुधयेति 'सुधा' प्रयोगः । तदनुस्वादविवेकादपूर्वेयमिति 'नव'शब्दः । ततः स्वतृषावाडवातिशयोज्जृम्भशमनशक्तेः 'सिन्धुकोटि' प्रयोगः । तदनु स्वास्थ्ये —अहो ! नवसुधाया अपि सारमाधुरीयं समस्तसिन्धुकोटिदीप्तिः । यथा पानं तथैव नवसुधोज्जृम्भ एवेत्यादिप्रियकृतप्रशंसानन्दमग्नतेङ्गित-ज्ञानाच्छ्रीहिताली वक्तीति ज्ञेयम् । श्रीराधे ! किं वच्मि ? सुकुमार्य्यप्य-न्तर्गतानन्तसिद्धिरूपैवासि, कथं कथं कान्तं पोषयसीति । ततस्तादृगासवा-

रसकलश

समस्त माधुर्यरूप अमृत की आधारभूत प्रियाजी के कोटि-कोटि कवियों द्वारा किये गये वर्णनों को तिरस्कृत करने वाली शोभा से युक्त बिंब-फल-जैसे अधर में नवीन, अर्थात् किसी ताज़ा वस्तु की तरह सरस और विलक्षण जो अमृत, उसका भी जो माधुर्य, उससे करोड़ों समुद्र स्फुरित होते रहते हैं । अमरकोष के अनुसार 'मधुर' शब्द के दो अर्थ हैं—स्वादिष्ट और प्रिय, अब अधर की सुधा-माधुरी को बार-बार पीकर प्रशंसा करती हुई श्रीहितसखी कहती हैं– इस अमृत ने मुझे काम की कोटि-कोटि यंत्रणाओं से उबार कर जीवित कर दिया – इस अर्थ में यहाँ 'सुधा' शब्द का प्रयोग किया गया है । उसके बाद जब स्वाद को पहिचाना, तो अनुभव हुआ कि यह तो अपूर्वरूप से विलक्षण है—यह अर्थ है 'नव' का । इसके बाद, प्रदीप्त होती हुई प्यास-रूपी बाडव अग्नि को शान्त करने की शक्ति के कारण 'सिन्धुकोटिः' (करोड़ों समुद्र) कहा है । तदनन्तर कुछ स्वस्थ होने पर कहती हैं -- अहो ! नवीन अमृत के भी सार के समान यह माधुरी है । इसके करोड़ों समुद्र प्रियाजी के अधर में दमकते हैं । पीते ही नवीन अमृत की बाढ़-सी आ जाती है । प्रियतम ने जब इस प्रकार प्रशंसा की, तो प्रियाजी को उसके आनन्द में मग्न देखकर श्रीहिताली यह कहती हैं, यह समझ लेना चाहिए । श्रीराधे ! क्या कहूँ ? सुकुमारी होते हुए भी आप अनन्त सिद्धि-स्वरूपा हो । आप किस-किस प्रकार अपने प्रियतम का पोषण करती हैं ! उसके बाद अधर-मदिरा को पीकर और भी अधिक लालायित, अतएव अधरों को न छोड़ते हुए प्रिय का मानों उपकार चुकाने के लिये कहती हैं—'नेत्रान्तस्ते विकीर्णा·········।' श्रृंगार की विविध भूमिका अदा करने वाले नेत्रों के मध्य में । 'ते' (तुम्हारा) का प्रयोग यह सूचित करता है कि ऐसा वैभव आप में ही है, अतः आपको छोड़कर और कोई गति नहीं है ।

तिपानलोलुपमत्यजन्तं प्रत्युपकर्तुमिव 'नेत्रान्तः' इति । नेत्रयोस्तत्तच्छृङ्गार-भूमिकान्तरप्रापकयोर्मध्ये । 'ते' इति पुनरुक्तिरीदृग्वैभवस्त्वय्येवास्ती-त्यनन्यगतिकावधारणार्थका । 'कुसुम' इति सुकुमार्याश्रयत्वात् । 'अद्भुत' इति प्रसिद्धकामवैलक्षण्यम् । वा प्रेमायं कामोऽयंवेतिधर्मविवेचनाशक्ते-राश्चर्यंकरः, तस्य 'चण्ड' इति तादात्विकप्रियलौल्यहेतुकेषत्कोपजन्यत्वात् । यद्वा तादृङ्मन्मथमन्मथस्य हृदयमूर्च्छनसाक्षित्वात् 'चण्ड' इति । 'सत्' इत्यमोघत्वं पर्य्यवसानानुग्रहसौख्यदत्वञ्च । इत्यादिगुणविशिष्टानां काण्डानां शराणां कोटि विकीर्णा, वा वृष्टिवत् स्फुरतीति कटाक्षोपमा । अत्र चण्ड-काण्डाश्रयत्वादिव 'श्री' पदं न दत्तम्, दयितविषयकनिर्दयतासूचनात् प्रियां प्रत्युपालम्भभङ्गीत, इति निग्रहस्याप्यसाधारण्यं त्वय्येवास्तीति ।

तच्छ्रुत्वेवानुग्रहकरणात् 'श्रीवक्षोजे' इति । अतः 'श्री'—पदमुरःश्ला-घामयम् । 'तव' इति पूर्ववत् । ईदृगनुग्रहस्त्वय्येवास्तीतिभङ्गिकम् । तदेवाह—

रसकलश

इस प्रकार अपने निश्चय की दृढ़ता बताई है । 'कुसुमधनुचश्ण्ड-सत्कान्डकोटिः' पद में 'कुसुम' शब्द के प्रयोग की व्यंजना यह है कि कामदेव के प्रचंड बाणों का आश्रय श्रीराधा फूल की भाँति कोमल हैं । 'अद्भुत' को कामदेव का विशेषण मानकर कहते हैं कि प्रियाजी से संबन्धित काम प्रसिद्ध कामदेव से विलक्षण है । 'अद्भुत' का दूसरा अर्थ यह भी संभव है कि यह प्रेम है या काम है, इस प्रकार का विवेचन न किये जा सकने के कारण यह आश्चर्यजनक है । उस कामदेव के प्रचंड कोटि-कोटि बाण । बाणों को 'प्रचंड' इसलिये कहा है कि उस समय प्रियतम की लोलुपता को देखकर प्रियाजी को किंचित् क्रोध हो आया । अथवा श्रीकृष्ण सरिखे, कामदेवों के भी कामदेव, के हृदय को वेध-कर मूर्च्छा लाने के कारण बाणों को प्रचंड कहा गया है । 'सत्काण्ड' में 'सत्' का आशय यह है कि वे बाण कभी निष्फल नहीं जाते तथा अन्त में प्रियाजी का अनुग्रह और सुख देते हैं । इन गुणों से विशिष्ट काण्ड अर्थात् बाण करोड़ों की संख्या में वर्षा की तरह झरते हैं । इस उपमा में कटाक्ष छिपा हुआ है । 'बिम्बाधर की तरह नेत्रों के पूर्व 'श्री' न लगाने का कारण यह है कि नेत्रों ने जिन कटाक्षरूपी बाणों का आश्रय लिया है, वे अत्यन्त प्रचण्ड हैं । प्रियतम के प्रति प्रियाजी की निर्दय मनोवृत्ति की तरह इसका संकेत है । साथ में उलहना भी है । नेत्ररूपी बाणों द्वारा प्रियतम की उच्छृंखलता को नियंत्रण में रखने की विशेषता भी आप में (प्रियाजी में) है, यह भी सूचित होता है ।

यह सब सुनकर प्रियतम के प्रति प्रियाजी के हृदय में अनुग्रह करने के भाव उदय हुए जिन्हें देखकर कहते हैं—'श्रीवक्षोजे' (कान्तियुक्त वक्षःस्थल में । अनुग्रह

अतिप्रमदोऽतिहर्ष एवात्र संभृतोऽस्ति । किं वा आधारापेक्षयातस्यास्तादृक्-दर्पिष्ठमुर्च्छनप्रौढिजो हर्षः । तदनुपोषाभिमानदतिहर्षः । कार्योत्पादनापेक्षया प्रियस्य चातिमूर्च्छना । अनन्तरमतिदुर्लभप्राप्त्यातिहर्षो मत्तता वा । तत्स्पर्श-रसादनु सकलरसकलोद्दीपनात् 'रसकला' इति । तासामपि 'सारः', सूक्ष्म-तमस्थिरांशो, यत्कारणात्तत्तदमितकलाडम्बरकार्योत्पत्ति 'बीजात् वटवत्' इति । ते प्रत्येककलासु सारा एव सर्वास्वाः प्रियस्य प्रत्येकजीवननिधिभूता, स्तेषां कोटिरत्रैव संभृतास्तीति 'स्फुरति' इत्यनेन सम्बन्धो वा ।

तदनन्तरं प्रियपदपतनद्रुतहृदयतया यथेष्टप्रेमविहारानन्ददानात् 'पदाब्ज' इति । 'त्वत्' इति पूर्ववत् । प्रेमपीयूषं मकरन्दरूपं स्रवतीति पदपतने तव

रसकलश

को बोधित करने के लिये ही 'वक्षोज' के पूर्व 'श्री' लगाया है । अर्थात् आपका वक्षःस्थल प्रशंसनीय गुणों से परिपूर्ण है और ऐसा अनुग्रह आप ही कर सकती हैं । इसी भाव को स्पष्ट करते हैं—'अतिप्रमद-रसकला··· ·····।' इस वक्षःस्थल में प्रचुर हर्ष ही भरा है । वह रस-कला का आधार है, इस दृष्टि से प्रियाजी को इस बात का हर्ष है कि श्रीकृष्ण जैसे रूप के अभिमानी भी उसे देख कर मूर्छित हो जाते हैं । मूर्छा के बाद यह वक्षःस्थल ही रस-दान देकर प्रियतम का पोषण करता है, इसका भी प्रियाजी को हर्ष है । वक्षःस्थल और प्रियतम की मूर्छा कारण-कार्य सवन्ध है—वक्षःस्थल को देखकर वे मूर्छित होते हैं । बाद में अत्यन्त दुर्लभ वस्तु के मिल जाने पर उन्हें हर्ष होता है, अथवा वे उन्मत्त हो जाते हैं । वक्षोज के स्पर्श से प्रियाजी में रस का संचार होता है और तव समस्त रसपूर्ण कलाओं का प्रादुर्भाव होता है । यही अर्थ है 'रसकला' का । उन रसों कलाओं का भी सार, अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थायी अंश । विविध एवं अनन्त कला-का विस्तार-रूपी कार्य उसी रसरूप कारण से पैदा होता है, जैसे बीज से वट-वृक्ष । प्रत्येक कला के वे सार ही प्रियतम के सर्वस्व हैं, उनके जीवन की अमूल्य संपत्ति है । उन सारों की कोटि-कोटि संख्या इसी वक्षःस्थल में निहित है । 'सारसर्वस्व कोटिः' के बाद 'अस्ति' (है) क्रिया का अध्याहार करना होगा या उसका संबन्ध 'स्फुरति' से लगाना पड़ेगा ।

इसके बाद प्रियतम जब पैरों पड़े, तो प्रियाजी का हृदय शीघ्र ही द्रवित हो गया और उन्होंने प्रियतम की इच्छानुसार उन्हें विहार का आनन्द प्रदान किया । इसी आशय को 'त्वत्पदाब्ज' इत्यादि द्वारा व्यक्त किया गया है। 'त्वत्' (तुम्हारे) का तात्पर्य पहले की तरह यहां भी यही है कि इस प्रकार अनुग्रह करने की क्षमता आप में ही है । तो आपके चरण-कमल से प्रेमामृत-रूपी पराग झरता है । प्रियतम के पैरों पड़ने के बाद, वक्षःस्थल को छोड़कर आप में कहीं कठोरता नहीं रहती । 'निरवधि' (असीमरूप से) यहाँ क्रिया विशेषण है । महावर लगाने, नूपुर आदि धारण करने, पैरपलोटने आदि

किमपि काठिन्यं न तिष्ठत्येकं वक्षोजं विनेति । 'निरवधि' यथा स्यात्तथेति यावकभरणनूपुरादिरचनसंवाहनादि प्रसादे प्रेमस्त्रुतिः किमुच्यतेऽत्र तु नियतैव । मानवाम्याधिक्षेपभङ्गिकक्षेपेऽपिप्रियहृदि प्रेमश्लाघापूर्वकभाग्य-मननान्निःसीमता । 'निरवधि' इत्यनेनैव चरितार्थत्वात् 'कोटि' इति पदं तरङ्गवैलक्षण्यभेदात्, कदाचिद्धास्यं, क्वचित् कारुण्यं, शृङ्गारो, वीर, अद्भुतश्चेत्येषां मिलने स्वादवैचित्र्यलाभं सूचयति, मधुरे रसानादिभेदवत् । इत्थं तत्तद्दर्शनात्तत्तदुक्तिः । अथवा पदत्रये प्रियविलसितानुभवानुवादः, चतुर्थे च तदानीं विहारानन्तरं सख्याश्चरणसेवनानन्दलाभे परावधिकृपा-मननात् 'प्रेमपीयूष' इति । 'पदाब्ज' इति स्वाभाव्योक्तावपि तादात्विक-मृदुस्पर्शानन्दानुभवात् 'अब्ज' इति । स्वस्य च हर्षरोमाञ्चाश्रुसात्विक-जननात् 'स्रवति' इति । अतिप्रियतोदयान्नेत्रभालादिस्पर्शः प्रशंसनं चापि

रसकलश

के बाद प्रसन्न होने पर जो प्रेम झरता है, उसका तो कहना ही क्या ? साधारणतया भी प्रेमामृत का क्षरण नियमित रूप से होता ही रहता है । मान, प्रतिकूलता, आक्षेप आदि अवस्थाओं में प्रेमामृत के प्रवाह में यदा-कदा रुकावट भी आ जाती है, परन्तु इतने पर भी प्रियतम अन्दर प्रियाजी के प्रेम की प्रशंसा करते हैं और उसके कारण अपने सौभाग्य को सराहते हैं—यह है 'निरवधि' का तात्पर्य । 'निरवधि' कहने से ही काम चल जाता, फिर 'कोटि' शब्द का जो प्रयोग किया है, उससे प्रेम-तरंगों की विविध विलक्षणताएँ सूचित होती हैं...जैसे कभी हँसना, कभी दया दिखाना आदि । इसके अतिरिक्त शृंगार, वीर, अद्भुत आदि रसों का मिश्रण होने से प्रेमामृत में एक विचित्र स्वाद मिलता है । कहने को तो आम, ईख, अंगूर सभी मीठे हैं, पर हर एक की मिठास में निजी विशेषता होती है । इसी प्रकार होठ, नेत्र, वक्षःस्थल में जैसी-जैसी माधुरी देखी, उसका वैसा ही वर्णन किया है । अथवा पद्य के प्रथम तीन चरणों में, विलास के प्रसंग में, प्रियतम को जैसा अनुभव हुआ, उसी को श्रीहितसखी ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है । चौथे चरण में विहार के उपरान्त श्रीहितसखी को जब चरण-सेवा का आनन्द मिला, तो उन्होंने उसे प्रियाजी की असीम कृपा माना । इसी भाव को 'प्रेम-पीयूष' द्वारा व्यक्त किया है । चरणों को कमल सहज भाव से बताया है, किन्तु चरण-सेवा करते वक्त उनके कोमल स्पर्श से एक अपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ, और उसी के कारण चरणों को 'कमल' कहा । श्रीहितसखी के स्वयं जो हर्ष, रोमांच, आँसू आदि सात्विक भाव पैदा हुए, उनके कारण 'स्रवति' (झरता है) कहा है । प्रियाजी के संबन्ध में असीम प्रियता के उदय होने के कारण श्रीहितसखी ने उनके नेत्र, मस्तक आदि का स्पर्श किया—यह भी ज्ञातव्य है । आनन्द की धारावाहिक

ज्ञेयम् । एवमानन्दानवच्छेदात् 'निरवधि' इति । अत्र श्रीयुक्तपदसम्बोधन-सान्निध्यादनुक्तापि 'श्रीः' 'पदाब्जे' ज्ञेया, अङ्गिप्रशंसनेऽङ्गप्रशंसनमा गतमेवेति ।।२११।।

एवं विहारपर्य्यवसाय्यङ्गप्रशंसनवाक्यैर्विहारं तदनन्तरं शयनानन्द-माह—

सान्द्रानन्दोन्मदरसघनप्रेमपीयूषमूर्तेः,
श्रीराधाया अथ मधुपतेः सुप्तयोः कुञ्जतल्पे ।
कुर्वाणाहं मृदु-मृदुपदाम्भोजसंवाहनानि,
शय्यान्ते किं किमपि पतिता प्राप्ततन्द्रा भवेयम्
।।२१२।।

पूर्वं प्रतिवाक्यं पृथग्वस्तुकोटिर्वर्णिता । अधुना सर्वाङ्गतद्रूपमेवेति । आनन्दे सान्द्रताऽविरलता, यथा क्वाप्यंशे विच्छेदो न दृश्यते । यथा ब्रह्मभग-वत्कृष्णानन्दोत्तरतारतम्यं तथात्र न सापेक्षम् । किञ्च कृष्णस्याप्यानन्द-दत्वात् । यथा—

रसकलश

अनुभूति के कारण प्रेमामृत के प्रवाह को 'निरवधि' (अनन्त) कहा है 'पदाब्ज' के पूर्व 'श्री' नहीं लगाई गई है, किन्तु 'श्रीराधे'—इस संबोधन में 'श्री' का प्रयोग किया है और 'त्वत्पदाब्ज' उसके बिलकुल निकट ही है, अतः उसके पूर्व भी 'श्री' लगी हुई समझनी चाहिए। जब अंगी श्रीराधा की प्रशंसा की गई है, तो उसके अंग की प्रशंसा भी उसमें आ ही गई ।। २११ ।।

इस प्रकार विहार में परिणत होने वाले प्रियाजी के अंगों की प्रशंसा भरे वाक्यों से विहार का वर्णन करने के उपरान्त अब शयन सम्बन्धी आनन्द का वर्णन करते हैं—

"सघन आनन्द तथा उन्मत्त कर देने वाले और दृढ़ प्रेमामृत की मूर्ति श्रीराधा-कृष्ण के कुंज-शय्या पर सोते हुए होने पर हलके-हलके उनके चरण कमलों को दबाती हुई मैं शय्या के निकट ही क्या कुछ-कुछ लुढ़क जाऊँगी और ऊघने लगूंगी?' ।।२१२।।

पूर्व पद्य में एक-एक स्वतन्त्र वाक्य द्वारा पृथक्-पृथक् वस्तुओं की कोटि संख्या का वर्णन किया। अब कहते हैं कि प्रिया-प्रियतम के सब अंग ही माधुरी-रूप किं वा प्रेमामृत स्वरूप हैं। आनन्द में सान्द्रता का अर्थ है—सघनता, अर्थात् विरलता का अभाव। अर्थात् जहां किसी अंश में भी प्रवाह-परम्परा भंग होती हुई न दिखाई दे। ब्रह्मानन्द, भगवदानन्द और कृष्णानन्द में जैसे आपेक्षिक ऊँच नीचता है—पहले से दूसरा और दूसरे से तीसरा बढ़कर है—वैसा तुलनात्मक उत्कर्ष निकुंजानन्द में नहीं

ब्रह्मानन्दरसादनन्तगुणितो रम्यो रसो वैष्णव—
स्तस्मात्कोटिगुणोज्वलश्च मधुरः श्रीगोकुलेन्द्रो रसः।
तच्चानन्तचमत्कृति प्रतिमुहुर्वर्षद्रसानां परम्
श्रीराधापदपद्ममेव मधुरं सर्वस्वभूतं मम ॥

तथैव 'रसो वे सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति' इति श्रुते, ब्रह्मणो-हिप्रतिष्ठाहम्', इत्युक्तरसस्यापि रहस्यरसोऽयम्। यदोन्मदोऽत्युन्मत्तो वा सर्वोत्कर्षहर्षावस्थां प्राप्तः। तावद्रस एव विगलितवेद्यान्तरावस्थापादकः, स चेदुन्मदस्तदा किमुच्यते ? तथैव च घनोऽभेद्योदृढः प्रेमा, स एवामृतम्। एवं विशिष्टानन्दरसप्रेम्णां मूर्तिर्यस्याः। अत्र त्रयाणामेवासाधारण्यं ज्ञेयम्। एतादृश्याः श्रीराधायाः। श्रीपदमत्रासज्यपरम्। 'अथ' समुच्चये। मधुपतेः—तन्मध्वेव पतिर्यस्येति जीवनरूपत्वात्। यद्वा भोक्तुरिति स्फुटमेव रसिक-स्येत्यर्थः।

रसकलश

है (क्योंकि वह स्वसंपूर्ण है) यूँ आनन्ददाता तो श्रीकृष्ण भी हैं (किन्तु यह आनन्द दूसरे ही प्रकार का है)। कहा भी है—

'ब्रह्मानन्द से अनन्त गुना अधिक रमणीय वैष्णव-रस है, उससे करोड़ गुना उज्ज्वल और मधुर श्रीकृष्ण-रस है। उससे भी अनन्त चमत्कारपूर्ण, बार-बार बरसने वाला, रसों में सर्वप्रधान श्रीराधा-चरण-रस ही मेरा सर्वस्व है।'

यही श्रुतियाँ भी कहती हैं—'वही रस है' 'यह जीवात्मा रस को प्राप्त कर आनन्दपूर्ण होता है,' 'मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ।' इन वाक्यों द्वारा प्रतिपादित रस का भी रहस्य यह निकुंज-रस है। जब यह उन्मत्त, अर्थात् अनियंत्रित होता है, तो हर्ष की सर्वोच्च सीमा पर पहुंच जाता है। पहले तो रस स्वयं ऐसा तत्व है जिसमें अन्य विषयों की चेतना लुप्त हो जाती है, फिर यदि वह उन्मत हो जाय, तब तो कहना ही क्या ? वैसा ही धन अर्थात् अभेद्य-मजबूत प्रेमामृत है। इस प्रकार की विशेषताओं से परिपूर्ण श्रीराधा आनन्द, रस और प्रेम की मूर्ति हैं। यहाँ इन तीनों तत्वों को असाधारण बताया गया है। ऐसी कुंज-शय्या पर सोई हुई श्रीराधा और श्रीकृष्ण के……। राधा के पूर्व का 'श्री' शब्द सूचित करता है कि प्रियाजी श्रीकृष्ण की आसक्ति का विषय हैं। 'अथ' समुच्चयार्थक है। इसका अर्थ है—'और' मधुमती के। प्रियाजी का अधर मधु ही श्रीकृष्ण का स्वामी है, क्योंकि यह मधु ही उनका जीवन है। अथवा 'मधुपति' का अर्थ है मधु का उपभोग करने वाला, अर्थात् रसिक।

'अथ' शब्देनात्रापि तन्मूर्तिविशेषणं ज्ञेयम् । तथाप्यत्रासक्तेर्विषयाश्रयावेव भेदः । तस्यां प्रभुत्वसंवलितानन्दरसप्रेमाण—स्तस्मिश्च सेवकत्वसंवलिता इति । तथापि हितसख्या स्वापेक्षया साम्येन श्रीपदं वदन्त्याः प्रियेण आसक्ताधिकारं पालयता स्वामिनीसमक्षं तत् प्रत्याख्यातम् । ततस्तन्निदेशादिव तन्नोक्तम् । यद्वा तस्यां स्वामिनीत्वात् तस्मिश्च सख्यादिति स्फुटम् ।

एवमुभयोः कृतविहारानन्दयोः कुञ्जान्तस्तल्पे सुप्तयोः प्रत्यङ्गगाढ़ालिङ्गितयोः । तेनासक्तासज्यविवेचनात् सर्वाङ्गानामानन्दादीनां मिथो मिलनादेकमेव मूर्तिविशेषणम् । पदाम्भोजानां संवाहनानीति बहुत्वम् ।

रसकलश

'अथ' शब्द श्रीराधा और मधुपति—इन दो संज्ञाओं को ही नहीं जोड़ता, बल्कि पद्य के प्रथम चरण में प्रयुक्त 'सान्द्रानन्द'—इत्यादि विशेषण को भी 'मधुपतेः' से संप्रक्त करता है। इस विशेषण के अनुसार यद्यपि श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों आनन्द, रस और प्रेम की मूर्तियाँ हैं, तथापि भेद इतना है कि प्रियाजी आसक्ति का विषय है और श्रीकृष्ण उनके आश्रय। प्रियाजी से संबंधित आनन्द, रस और प्रेम में प्रभुता का अंश है, जबकि प्रियतम में ये तीनों तत्व दास्य-भाव से संवलित हैं। इतने पर भी हिताली की दृष्टि में तो दोनों ही समान हैं। अतः वे 'मधुपति' के पूर्व भी 'श्री' लगाने जा रही थीं कि आसक्त के अधिकार का पालन करते हुए प्रियतम ने स्वामिनी जी के समक्ष ही उनसे निषेध कर दिया। अतः उनकी आज्ञा से श्रीहितसखी ने 'श्री' का प्रयोग नहीं किया। अथवा यह समझ लिया जाये कि प्रियाजी के प्रति स्वामिनी-भाव के कारण 'श्री' लगा दिया और श्रीकृष्ण के प्रति सख्य-भाव होने से वैसा करना आवश्यक नहीं समझा।

इस प्रकार जब दोनों विहार का आनन्द लेने के उपरान्त सोये हुए हों—सोने का अर्थ प्रत्येक अंग का गाढ़ आलिंगन में बंधा हुआ होना है—तब आसक्त और आसज्य की पहिचान न होने तथा सब अंगों के आनन्द, रस और प्रेम के परस्पर मिल जाने से दोनों का एक ही विशेषण 'मूर्ति' दिया है। 'पदाम्भोज' का बहुवचनान्त 'संवाहनानि' के साथ समास करते समय उसे भी बहुवचनान्त करना होगा। तब विग्रह होगा—चरण कमलों के संवाहन। अथवा चारों चरणों के मिल कर एक हो जाने पर विविध भावों के उदय होने के कारण, प्रेम में बार-बार डूब कर, मन को एकाग्र कर जो संवाहन किया गया, वह भी अनेक प्रकार का था। क्योंकि प्रेम की अवस्थायें भी तो अनेक प्रकार की होती हैं। (तात्पर्य यह है कि पैर-चप्पी करते समय अनेक प्रकार

अथवा चतुर्णां संवलने यद्यद्भावोदयेन प्रेम्णि भूयो भूयो मज्जयित्वा सचित्ततयासंवाहनम्, तस्यानेकधात्वं, प्रेमावस्थावैविध्यात् ।

'अहम्' इति विशिष्योक्तिः । किमहं कुर्वाणेति तत्समये सचेतनत्वात् । 'मृदु मृदु' इति क्रियाविशेषणम्, लघु लघ्विति । यद्वा अम्भोजमार्दवादपि संवाहन क्रियायां मार्दव मार्दवविशेषो यथास्यात्तथेति, येन निद्रासुखं संपद्येत । तथा कुर्वाणा सती शय्यान्ते किमपि पतिता । सर्वांशपतनं दास्यानर्हम्, अपतनञ्च माधुर्यासंगतम् । अतः किञ्चिदेव । किञ्चान्यसमयेषु तत्तल्लीला-सेवनाधिकारानन्दवशतः कुत्रावकाशो निद्रायाः ? इदानीं तयोः शयनेऽपि संवाहयन्त्यास्तल्पान्तपतनावकाशो लब्धः । तत्रापि तन्द्राप्राप्तिरेव, न तु निद्रा, इत्यनेन दास्यव्यग्रताधर्मो दर्शितः । व्यग्रतात्र सावधानतापतनमवशवत् । तेन स्वपाणिस्थपदे पार्ष्णौ वा स्वभालस्पर्शो वा नेत्रयोश्चिबुककपोलयोरिति यथासहृदयगम्यो भावः ।

रसकलश

के प्रेम-भाव हृदय में जागृत हुए और उनका प्रभाव संवाहन के प्रकार पर भी पड़ा । अतः 'संवाहनानि' प्रयोग बहुवचन में हैं ।)

'अहम्' (मैं) की उक्ति साभिप्राय है । 'मैं क्या कर रही हूँ, इस संबन्ध में भी श्रीहितसखी सावधान है । 'मृदु-मृदु' क्रिया विशेषण है । अर्थ है—धीरे-धीरे—हलके-हलके । अथवा कमल की कोमलता से भी ज्यादा कोमल पैर-चप्पी की क्रिया थी, ताकि नींद आराम से आवे । ऐसा करती हुई मैं शय्या के पास ही क्या कुछ-कुछ लुढ़क जाऊँगी ? 'किमपि' (कुछ-कुछ) कहने का आशय यह है कि पूरा का पूरा लुढ़क जाना तो सेवा धर्म के अयोग्य और बिलकुल न लुढ़कना भी माधुर्य भाव के अनुरूप नहीं है, अतः थोड़ा ही लुढ़कना हुआ । दूसरी बात यह है कि अन्य समय तो विविध लीलाओं के अवसर पर सेवाधिकार के आनन्द के वशीभूत हो जाने से कमर सीधी करने का अवकाश मिलता ही नहीं । अब प्रिया प्रियतम के सो जाने पर कहीं पलंग के पास पड़ जाने का मौका मिला है । लुढ़कने में झपकी ही आ सकती है, नींद तो आ ही नहीं सकती । तो यह सब कहने का तात्पर्य यह बताना है कि सेवा वृत्ति में कितना व्यस्त रहना पड़ता है और यह व्यस्तता ही सेवक का धर्म है । व्यस्त रहने का भी अर्थ है, होश-हवास को दुरुस्त रखते हुए ही लुढ़का जाए और वह भी मानों लाचारी में । इससे यह होता है कि अपने हाथ में रक्खे हुए श्रीचरण अथवा एड़ी से अपना मस्तक, नेत्र या ठोड़ी छू जाती है । ये सब भाव सहृदय जन अपनी भावनानुसार समझ लें । पैर-चप्पी करने में एक अनिवर्चनीय आनन्द में बेसुध होने से ही झपकी आ गई । दूसरे, आनन्द,

तत्रानिर्वचनीय सुखपारवश्यजतन्द्रा। किञ्चानन्दरस प्रेममूर्त्योः साक्षात् सेवमानाया घूर्णने कैमुत्यं, तन्द्राप्यत्र वाञ्छनीयैव। अविच्छिन्नसंवाहने निद्रासुखसंशय, असंवाहने च श्रमानिवृत्तिः। तावत् तादृशमृदुसंवाहनमेव निद्राहेतुः। अतः प्राप्ततन्द्रा किं भवेयमिति तन्द्राभिलाषः।

मुक्तके एतादृशी विश्रान्तिर्भावुकैः समभिलषणीया, नान्येनेति शिक्षा। आन्तरे च किमिदानीं पतिताऽस्मि, तन्द्रितास्मीत्यानन्दवैचित्येन तन्द्रितैव वक्तीति ज्ञेयम्। २१२॥

एवमुभयप्रेमानन्दशयनसुखेऽत्यालसारोहभिया कौतुकशीलयोः कुञ्जान्तरक्रीडाविनोदनार्थं पुष्पविकसनमधुपझंङ्कार द्विजारावट मृदु शिशिरसौरभसमीरसुस्पर्शादिसौष्ठवविशिष्टोषसि ललित ललिताकर लालित्यवादितविपञ्चीध्वनिना समुत्थितायाः प्रियांसधृत बाहुलतायाः

रसकलश

रस और प्रेम के स्वरूप प्रिया-प्रियतम की साक्षात् सेवा करती हुई सखी को ऊँघना तो दूर। आलस्य भी नहीं आना चाहिए। यदि लगातार पैर-चप्पी चलती रहे, तो प्रिया-प्रियतम के निद्रा-सुख में बाधा पड़ सकती है, और यदि चरण सेवा बिलकुल ही न की जाय, तो विहार की थकावट कैसे दूर हो? अतः श्रीहितसखी जिस प्रकार धीरे-धीरे चरण सेवा करती है, उसीसे नींद आ सकती है। इसलिए श्रीहितसखी यह अभिलाषा करती हैं कि क्या मुझे नींद आवेगी।

मुक्तक-पक्ष में यह शिक्षा मिलती है कि भावुक जनों को हृदय के इस सुख की ही इच्छा करनी चाहिए, औरों को नहीं। गूढ़ अर्थ यह है कि श्रीहितसखी मन में सोचती हैं कि क्या मैं लुढ़क गई हूं, क्या मैं ऊँघ रही हूं—इस दुविधा में, आनन्द के कारण, चित्त में एक बेसुधी सी आती है जिसे दृष्टि में रख कर 'मैं ऊँघ ही रही हूं' यह कहा है॥ २१२॥

इस प्रकार श्रीराधा-कृष्ण प्रेम और आनन्द से भरे शयन का सुख जब ले चुके, तो अधिक आलस्य में भर जाने के डर से स्वभाव से ही कौतुकप्रिय उन दोनों को कुंज के अन्दर क्रीड़ा द्वारा मनोरंजन करने के लिए श्रीहितसखी ने प्रेरित किया। तब ललिता सखी के सुन्दर हाथों से अनूठे ढंग से बजाई गई वीणा की ध्वनि से श्रीराधा भोर-सवेरे उठीं। उस समय फूल खिल रहे थे, भौंरे गुन-गुना रहे थे, पक्षी चहचहा रहे थे और ठंडी-ठंडी, कोमल, सुगन्धित वायु का स्पर्श शरीर को बड़ा सुखद लग रहा था। प्रियाजी की लता जैसी भुजा प्रियतम के कन्धे पर रक्खी थी, आलस्य के कारण वे जमुहाइयां ले रही थीं, पैर अटपटे पड़ रहे थे और वस्त्र मेखला, बाल तथा फूलों की मालाओं के अस्त व्यस्त होने से वे बड़ी सुन्दर दिख रही थीं। इस स्थिति में

सालसजनित स्खलद्गतिव्यत्यस्तवसनरसनालंकारस्रगादिराजमानायाः पदविन्यासभङ्गिशोभां वीथ्यन्तरक्रीडां चाह—

राधापादारविन्दोच्छलितनवरसप्रेमपीयूषपुञ्जे,
कालिन्दीकूलकुञ्जे हृदि कलितमहोदारमाधुर्यभावः।
श्रीवृन्दारण्यवीथीललितरतिकलानागरीं तां गरीयो-
गम्भीरैकानुरागां मनसि परिचरन्विस्मृतान्यः कदा स्याम्
॥ २१३ ॥

तत्र कुञ्जागम वर्णने राधाया निजरूपामृतातितृषितचकोरीजन-दर्शनानन्द संसाधयित्र्याः पादावेवारविन्दौ सप्रियसखीवृन्दप्रेमार्ककरविक-सितचंचन्नखचन्द्रिकाप्रान्ताङ्गुलिदलगौरारुणामार्दवलास्यशीलभ्रमरनिकर-मुखरायितमञ्जीरादोन्दिरामन्दिरौ ताभ्यामुच्छलितयो र्नवरसस्यप्रेम-

रसकलश

श्रीहितसखी प्रियाजी को पद भंगी की शोभा तथा निकुंज की गलियों के बीच होने वाली क्रीड़ा का वर्णन करती हैं।

'श्रीराधा के चरण-कमलों से छलछला कर निकलते हुए नूतन रस और प्रेमामृत की राशियां जहां एकत्रित हैं, ऐसे श्रीयमुना के तट पर स्थिति किसी कुंज में हृदय में प्रियाजी की अत्यन्त उदारता और माधुर्य के भावों का ध्यान मनन करता हुआ मैं भी वृन्दावन की गलियों में सुन्दर रति कला में निपुण एवं गरिमायुक्त तथा गंभीर अनुराग से भरी उन श्रीराधा की सेवा करता हुआ अन्य बाह्य विषयों को कब भूल जाऊंगा ? ॥ २१३ ॥

कुंज में पधारती हुई प्रियाजी का यह वर्णन है। पद्य के प्रथम चरण का अर्थ है—श्रीराधा के चरण-कमलों से छलछला कर निकलते हुए नूतन रस और प्रेमामृत का जहां समूह है, ऐसे यमुना-तटवर्ती किसी कुंज में। इस चरण के एक-एक शब्द की व्याख्या करने के उद्देश्य से पहले 'राधा' को लेते हैं—) अपने सौन्दर्य रूपी अमृत से अत्यन्त प्यासे भक्त-चकोरों को दर्शन का आनन्द प्रदान कर उनकी अभिलाषा को पूर्ण करने के कारण प्रियाजी 'राधा' हैं। उनके चरण रूपी कमल लक्ष्मी के मन्दिर हैं। ये कमल प्रिय सखी-समूह के प्रेमरूपी सूर्य की किरणों से खिलते हैं, अग्रभाग से ज्योति छिटकाने वाली अंगुलियाँ उन कमलों के पत्ते हैं, कमल के पत्तों की भाँति चरणों का रंग गौर और अरुणाई लिये हुए है, वायु में कमल हिलता है, इसी प्रकार ये चरण भी नृत्य करते हैं। प्रियाजी के चरणों में बजते हुए नूपुर ही कमलों पर गूंजते हुए भौंरे हैं। ऐसे दोनों चरणों से छलछला कर निकलते हुए नूतन रस और प्रेमामृत के समूह

पीयूषस्य च पुञ्जं यत्रेति कालिन्दीकूलकुञ्जं, तत्र हितसख्या महोदार-माधुर्यभावो विचारितः ।

एवं शयनादुत्थाय नीलपीतारुणकमलोदरविकसनभ्रमरभ्रमणावर्त-तरङ्गतरलपतत्रिकुलप्रतिबिम्बादियुतनीरभास्वरमृदुलरत्नबद्धोभयतीरकालिन्दीकूलशोभां निरीक्षन्ती निजप्रतिच्छविप्रसादं भानुजायै प्रापयन्तीव तदुपत्यकाकुञ्ज आगता । तत्र कंजाद्यथा मकरन्दोच्छलनं, अत्र स्वावेशाद्दानवीरनोदनपारवश्यरंहसा रुद्धोच्छलनम्, इतरथा स्रवणमवक्ष्यत् । रसोच्छलनम्—अहो ! कथं कथमाभ्यां प्रियाय विहारे सुखं दत्तमिति पूर्वस्मारकता, तदानीञ्च सखीनां प्रियस्य च हृदि नवनवरसोद्दीपनं, क्षणशो विगलितवेद्यान्तरत्वम् । अथ प्रेमोच्छलनं दर्शनमात्रेण परमप्रियतोदयः । यथा—'जिघ्रन्तमिव नासाभ्यां रभन्तमिव बाहुभिः, इतिवत् तरुवल्लीपक्षिपर्यन्तसात्विकोदयात् कुञ्जे रसप्रेमाणावेव संभृतौ । तदेतत्समयस्य

रसकलश

कुंज में हैं। श्री यमुना तट पर बने उस कुंज में श्रीहितसखी ने मन में सोचा—अहो! ये चरण-कमल कितने उदारतासंपन्न महामाधुर्य से विशिष्ट हैं।

इस प्रकार शय्या से उठ कर श्री यमुना का निरीक्षण करती तथा अपने प्रतिबिम्ब को प्रसादरूप में यमुना जल में पहुंचाती हुई श्रीराधा श्रीयमुना के निकट वर्ती स्थल में बने कूंज में पधारी। श्री यमुना की इस समय की शोभा निराली थी। उसमें नीले-पीले कमल खिले थे, उन पर भौंरे मँडरा रहे थे, कहीं तरंगे उठ रही थीं, तो कहीं भँवरें पड़ रही थीं। पक्षियों के समूह की परछाईयां जल में दिख रही थी और दोनों किनारों पर चमकते हुए, कोमल प्रकाशयुक्त रत्नों की पंक्तियां थीं। कमल से जैसे पराग झरता है, उसी प्रकार अपने आवेश के कारण दानवीरता की भावना को जो उत्तेजना मिली उसके परवशताजन्य वेग से श्रीराधा भी छलछला उठीं। यदि ऐसा नहीं है तो छलछलाने (उच्छलनम्) के स्थान पर झरना (स्रवणम्) भी कहा जा सकता था। रस के छलछलाते वक्त, कुछ पहली बातों को याद कर ऐसे विचार उटते हैं--'अहो ! इन चरणों ने विहार के समय कैसा-कैसा सुख दिया है! उस समय सखियों तथा प्रियतम के हृदय में एक नूतन रस उमड़ता है और क्षण-क्षण कर अन्य विषयों का ज्ञान लुप्त होता जाता है। प्रेम जब छलछलाना है, तो देखने मात्र से वस्तु प्यारी लगने लगती है और जैसा कि कहा है—प्रेम-पात्र को नाक से सूंघ कर हृदय में बिठाने तथा भुजाओं से अपने में समेट लेने की इच्छा होती है। प्रिया-प्रियतम के दर्शन कर, उस समय वृक्ष, लता तथा पक्षियों तक में सात्विक भाव का आविर्भाव

हितालीहृदयमेव साक्षि । तदनुभूयातिलोलुपदृशा माधुर्यस्य महोदारत्वं कलयति—अहो ! किमत्यौदार्यमस्यास्ति यदतितृषितानपि 'पिवत, पिवत' इति प्रेरयति । पूर्वं कालिन्द्यां युगलच्छविसंक्रमणं, ततः कूले गतिशोभा, ततः कुञ्जे मद्धृदिचेत्यन्तं रसप्रेमसम्भरणम् ।

अत्र पदवर्णनेऽपि सर्वाङ्गमाधुर्यमहौदार्यकलनं ज्ञेयं, यत्र कथं प्रियोऽनुग्रहापेक्षी प्रियां सेवमान आस्ते, कथं श्रीमत्युपलालनेङ्गितश्वासानुसरमित्यादि महामहत्वम् । 'उदारो दातृमहतोः' इत्यनेन दातृत्वं पूर्वमुक्तम् । अधुना महत्वार्थेऽपि ज्ञेयः ।

एवं गच्छन्त्याः प्रियसङ्गविलासमाह—श्रीयुक्तवृन्दावनवीथिषु ललितासु दृग्मनोरोचकासु रतिकलासु नागरीमिति । यथेष्टोभयरहोदानमन प्रसत्तिकरकुञ्जनिविड्वीथीबाहुल्यं प्रति तदानीं प्रसद्य वृन्दावने 'श्री'-पदं दत्तम् । तत्र नागरसङ्गे नागरी विहरणं प्रौढवैदग्ध्यदशामयं ज्ञेयम् । तत्र

रसकलश

हो जाता है और लगता है जैसे रस और प्रेम कुंज में व्याप्त हो गये हों । श्रीहितसखी का हृदय इसका साक्षी है । रस के इस प्रवाह का अनुभव कर अत्यन्त लालसा-भरी दृष्टि से वे माधुर्य की असीम उदारता के संबन्ध में सोचती है—अहो ! इस माधुर्य की उदारता देखो जो प्यासों से कहता है—'पिओ, पिओ' । पहले श्रीयमुना में युगल का प्रतिबिंब उतरता है, फिर किनारे-किनारे चलती हुई प्रियाजी की गति का सौन्दर्य देखने को मिलता है, उसके बाद कुंज में वह झरता है और फिर मेरे मन में ।

यहां कहने को तो श्रीराधा के चरण-कमल से रस और प्रेम के छलछलाने की बात कही गई है, पर तात्पर्य प्रियाजी के सब अंगों से समझना चाहिए । प्रियतम को प्रियाजी के अनुग्रह की कैसी अपेक्षा है, किस प्रकार वे प्रियाजी की सेवा में सदा निरत रहते हैं, तथा उनके द्वारा किए जाने वाले पोषण को ध्यान में रखकर किस प्रकार उनके इशारों पर नाचते हैं और उनके आन्तरिक आशय का पालन करते हैं—यहां तक कि उनकी सासों तक को पहिचानने की चेष्टा करते हैं—यही प्रियाजी के माधुर्य के महत्व के प्रमाण हैं । 'उदार का अर्थ दाता और महान है,' इस कोष के प्रमाणानुसार प्रियाजी की दानशीलता के संबंध में पहले कह आये हैं । यहाँ महत्व पर प्रकाश डाला गया है ।

इस प्रकार यमुना-तट के किनारे-किनारे जाती हुई श्रीराधा के प्रियतम के साथ विलास का वर्णन करते हैं—'श्री वृन्दारण्यवीथी ललितरतिकलानागरीम् ।' सौन्दर्य और शोभा से संपन्न श्रीवृन्दावन की घनी गलियों में प्रदर्शित की जाने वाली ललित —अर्थात् नेत्र और मन को अच्छी लगने वाली रति-कलाओं में विदग्ध । श्रीराधा-कृष्ण

केवलकामिनीत्वमाशङ्क्याह—गरीयांश्चासौ गम्भीरश्चैक असाधारणो ऽनुरागो यस्याः इति। यथा चतुरशीत्याद्यपद्ये—'यद्यत् करोति मत्प्रेष्ठो रोचते मे रुचिर्मम' इति पूर्णतत्सुखित्वं गाम्भीर्यमतलस्पर्शः सहसा बहिर-प्रकाशः। यद्वा केनापि क्षोभांशेन नान्तं प्राप्यते। ततोऽपि नैतावदेव। किञ्चानुरज्यमानदशास्थामप्यतिगारिष्ठत्वम्। तन्निरतिशयत्वात् 'एक' इति। एवं सान्द्रानन्द प्रेमैक विहारवतीम्। अनेन प्रियस्य तथानुरक्तत्वेऽपि तत्तत्क्रियाभावस्य स्फुटप्रकाशनाद्भेदः। तां तादृशीं मननात्मक कुञ्जे परिचरन् इति तदानीं सघनवीथ्यन्तरगमनाशयं विमृश्य तन्निश्शङ्कता-पादनार्थं पृष्ठत एव वनशोभादर्शनमिषेण स्थगितवती। साक्षात्तादात्विक

रसकलश

दोनों को इच्छानुसार एकान्त स्थान देकर मन को आह्लादित करने वाली कुंजों की अनेक घनी गलियों से प्रसन्न होकर वृन्दावन से पूर्व 'श्री' पद लगाया है। वहाँ नागर श्रीकृष्ण के साथ प्रियाजी का विहार परिपक्व विदग्धता के साथ हो रहा है, यह समझना चाहिए। संभव है, कुछ लोग यह समझ बैठें कि विहार-प्रसंग में प्रियाजी साधारण कामिनी की भाँति आचरण करती होंगी। इस शंका के निवारणार्थ कहते हैं—'गरीयोगम्भीरैकानुरागाम्।' प्रियाजी का अनुराग गौरवपूर्ण, गम्भीर तथा असाधारण है। श्री हितचतुरासी के प्रथम पद्य में कहा गया है—'जोई जोई प्यारौ करै सोई सोई, मोहि भावै।' पूर्ण तत्सुखसुखीभाव यही है। गंभीर्य का अर्थ है-गहराई —ऐसी कि जिसके तले तक न पहुंचा जा सके, एकाएक जो बाहर उभर कर न आवे। अथवा क्रोध, वामता जैसे किसी मानसिक विकार के कारण जिसका अन्त न मिले, इतना ही है, यह पता न लगे। अनुराग की दशा में भी उसमें अत्यन्त गौरव रहता है। गौरव के इस आधिक्य को सूचित करने के लिए ही 'एक' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार प्रियाजी सघन, अनन्त प्रेम के असाधारण विहार से युक्त हैं। इससे सूचित होता है कि यद्यपि प्रियतम भी प्रियाजी में अनुरक्त हैं, तथापि राधागत अनुराग की विशेषता यह है कि उसमें विविध चेष्टा तथा भाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। ऐसी श्रीराधा को मन में— अर्थात् विचारों की कुंज में विराजमान कर सेवा करती हुई (मैं सुध-बुध कब भूल जाऊँगी?)। उस समय प्रियाजी का यह अभिप्राय जानकर कि वे सघन गलियों में प्रवेश करना चाहती हैं, उन्हें निश्शंक करने के लिए वन की शोभा को निहारने के बहाने श्रीहितसखी पीछे ही रह गईं। उस समय साक्षात् सेवा न कर सकने के कारण वे मन को एकाग्र कर यह मानकर मानसी सेवा करने लगीं मानों वे उनके पास ही हैं। इस आनन्द में श्रीहितसखी अन्य सखियों का अस्तित्व वन-शोभा, परिजन के साथ संभाषण आदि सब कुछ भूल गईं। 'विस्मृतान्यः' का यही भाव है। किन्तु इस विशेषण का यहाँ पुंल्लिग में प्रयोग किया गया है, जब कि श्रीहित-

परिचरणाभावादवहिततया पार्श्वगमनरूपेण सेवयन्ती विस्मृतोऽन्यसखी-विग्रहवनदर्शनपरिजनसंभाषणादिर्येनेति पुंस्त्वं मानसिकभावेन सर्वसखीजन साधारण्यसेवनात् । किञ्च साक्षाद्रहोमंत्रनिकटप्राप्तिस्त्वाधिकारिण्या एव, मानसिकस्तु सर्वेषामेवेति तस्याः स्वासज्यैश्वर्यत्यागपूर्वकप्रियविषय-कमाधुर्यानुरागप्रकाशे कथमहमन्यस्मृतिस्तिष्ठामीति ।

अथ साधकेऽर्थे मुक्तके स्फुटमेव । कालिन्दीकूलकुञ्जे तदुद्दीपकान् दृष्ट्वाह । यथा 'राधापदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीके' इत्यादि साक्षाद्यद्दर्शना-द्रसप्रेमोदयः स्यादेव । इदं कुञ्जादि सर्वतत्पादपद्मोच्छलितप्रेमरसपुञ्ज-संभृतमेव यत्र प्रियायास्तादृशप्रियसेवितमाधुर्यस्य महोदारत्वं विचार्य पुनरत्र वीथीषु मत्स्वामिनी ललितकलादिभिर्विहरति, प्रियोपरि कियान् दृढानु-

रसकलश

सखी अपने को प्रायः स्त्रीलिंग में अभिहित करती हैं। इसका कारण यह है कि मानसी सेवा तो प्रायः सभी सखियाँ करती हैं और इस समय श्रीहितसखी भी कर रही हैं। फिर उनकी विशेषता क्या रही ? दूसरी बात यह कि एकान्त-मन्त्र तो वही ले सकती हैं और सदा पास में भी वही रह सकती हैं जो अधिकारिणी हों। यूँ मानसिक सेवा का अधिकार तो सभी को है। अन्य विषयों की स्मृति के लोप हो जाने की बात भी श्रीहितसखी इसलिए सोचती है कि जब प्रियाजी ने स्वगत आसज्यता और ऐश्वर्य को त्याग दिया और प्रियतम को लक्ष्य कर माधुर्य और अनुराग की अभिव्यक्ति में व्यस्त हो गई, तो मुझे ही अन्य विषयों की स्मृति क्यों रहनी चाहिए।

मुक्तक पक्ष में साधक के दृष्टिकोण से अर्थ स्पष्ट ही है। यमुना तटवर्ती कुंज में श्रीराधा विषयक प्रेम की उद्दीपक वस्तुओं को देख कर कही गई यह उक्ति है। एक पूर्व पद्य (११३) में कहा है...'मेरा मन श्री वृन्दावन में ही रमता रहे जहाँ के सुन्दर स्थान श्रीराधा के चरण-चिन्हों से सुशोभित हैं। इस पद्य में वर्णित उद्दीपक वस्तुओं को देख कर मन में रस और प्रेम का आविर्भाव होगा ही होगा। ये कुंज आदि सब श्रीराधा के चरण-कमल से छलछलाते प्रेम-रस के समूह से पूर्णतः व्याप्त हैं। यहाँ अनेक गुण संपन्न प्रियतम प्रियाजी के माधुर्य और महान् उदारता का सेवन करते है—यही विचार हृदय में आता है। दूसरे यह कि यहीं की गलियों में स्वामिनी ललित कलाओं का प्रकाशन करती हुई विहार करती हैं। अहा ! प्रियतम पर उनका कैसा दृढ़ अनुराग है ! प्रियाजी को अत्यन्त उदार कह कर उनकी उस शक्ति का स्मरण किया गया है जो श्रीहितसखी की दुर्लभ और कठिन आशा को भी पूरा कर सकती है। अनुराग को गरिमापूर्ण कह कर प्रियाजी का प्रभुत्व और ऐश्वर्य सूचित किया है और इस संभावना का निराकरण किया है कि ऐश्वर्य जन्य प्रमाद के कारण कभी वे दूसरों के

रागोऽस्ति। यस्या महोदर इत्यनेन स्वस्य दुर्लभदुर्भराशापूरणसामर्थ्यं स्मृतम्। 'गरीय' इत्यादिना च प्रभुत्वैश्वर्यानवधानतावश पर दुःखानभिज्ञता संभावना निरस्ता। एवं पूर्णविश्वासबलेन मनस्येव परिचरन् सखीभावेन सेवमानोऽन्यदेहेन्द्रियव्यवहारविस्मृतः कदा स्यामित्यभिलाषः॥२१३॥

एवं निकुञ्जरहोवीथीषु मनःसेव्यविविधरतिकलाविलासे प्रियः कौतुकेन दृष्टिं वञ्चयित्वाकस्मान्निकट एव लतान्तरे लीनः। तदा 'सखि! क्व गतः प्रियः?' इत्यतिचकितार्तप्रियावाक्यश्रुत्युपगतस्वदशावैकल्यमाह—

अदृष्ट्वा राधाङ्के निमिषमपि तं नागरमणिं,
तया वा खेलन्तं ललितललितानङ्गकलया।
कदाहं दुःखाब्धौ सपदि पतिता मूर्च्छितवती,
न तामाश्वास्यार्त्तां सुचिरमनुशोचे निजदशाम्॥२१४॥

रसकलश

कष्टों के संबन्ध में उदासीन या अनभिज्ञ रह सकती हैं। इस प्रकार पूर्ण विश्वास के साथ मानसिक सेवा करते हुए श्रीहितमहाप्रभु साधक के रूप में यह अभिलाषा व्यक्त करते हैं कि इस स्थिति में भी मैं शरीर और इन्द्रियों के धर्मों को कब भूल जाऊँगा॥ २१३॥

इस प्रकार निकुंज की एकान्त गलियों में जब दम्पति विविध प्रकार से सुन्दर रति-क्रीडा कर रहे थे और (शरीर से वहाँ उपस्थित न रह सकने के कारण) श्रीहित-सखी मानसी सेवा कर रही थीं, तो प्रियतम को कौतुक सूझा और वे अचानक आंख बचाकर पास ही की लताओं में छिप गये। तब 'हे सखी! प्रियतम कहां चले गये?' इस आश्चर्यपूर्ण और दुःखभरी वाणी को सुनकर श्रीहितसखी को स्वयं जो उद्विग्नता हुई, उसका वर्णन करती है—

'उस विदग्ध-शिरोमणि को एक क्षण के लिए भी श्रीराधा की गोद में न देख कर, अथवा अत्यन्त सुन्दर काम-कलाओं द्वारा उनके साथ क्रीड़ा करते न देख कर, व्यथित उन्हें धीरज बँधाये बिना मैं तुरन्त दुःख-समुद्र में गिर पड़ी और मूर्छित हो गई—यह सोच कर कब मैं बहुत देर तक अपनी दशा के सम्बन्ध में पछताती रहूंगी॥' २१४॥

'तम्' इति प्रियाद्वितीयं विहरन्तं नागरमणिं तद्गरीयोगम्भीरैकानुरागप्रकाशनकुशलतमम्। 'राधाङ्के' इत्यनेन पूर्वं तदङ्के गाढालिङ्गितामिति ज्ञेयम्। 'निमिषमपि,' तदनन्तरं तदैव तत्र 'किमेतावतैव विषीदसि ? निकट एव त्वद्दासः' इति स्मित्वा समादधन्नागतः, इति ज्ञेयम्। तदानीमदर्शने 'सपदि' तत्कालमेवाविमृश्याविमृग्यैव 'दुःखाब्धौ पतिता' अति दुःखिता मूच्छितवती, किमिदं जातमिति सहसा विस्मृतसंज्ञाभवम्। पश्चान्निजदशां सुचिर मनुशोचे—अहो ! कीदृगहमधीरधीः ? तां क्षणशः प्रेमविचित्तशीलां स्वप्राणसखीमार्तामिति निमिषादर्शने कैमुत्यम्—नाश्वास्य किमहं मूच्छितवतीति। यदि सचित्तासं तदाश्वासनमकरिष्यम्। अतो नैवमर्हम्।

अथवा कदाचिद्विहरतोर्लौल्यजमानकलहेऽनुनयचटुलताद्यमनने निरुपायविषण्णधियः प्रियस्यौदासीन्यस्थितिमुद्वीक्ष्य स्वदशामाह। तया गम्भीरैकानुरागिण्या सह 'ललिते' तिस्वार्थचटुलतायुक्तत्वं, ततोऽपि लालित्यं

रसकलश

उस रसिक शेखर को जो प्रिया के साथ विहार कर रहे थे और जो गौरवपूर्ण, प्रौढ़ अनुराग को अभिव्यक्त करने में अत्यन्त निपुण हैं—श्रीराधा की गोद में न देखकर इससे सूचित होता है कि अदृश्य होने से पूर्व प्रियाजी ने उन्हें अपनी भुजाओं में भर कर गाढ़ आलिंगन किया था। क्षण-भर के लिए भी (न देख कर) इस घटना के बाद उसी समय 'क्यों ? इतने ही से घबड़ा गईं। आपका दास तो पास में ही है'—यह कह कर मुस्कराते तथा समाधान करते हुए प्रियतम वहाँ आ पहुचे—यह समझ लेना चाहिए। तब प्रियतम के न दिखाई देने पर 'सपदि' अर्थात् उसी क्षण, बिना विचारे (कि आखिर मामला क्या है) और बिना कोई खोज किए, मैं दुःख-समुद्र में गिर पड़ी और मूछित हो गई कि हाय ! यह हुआ क्या ? बाद में अपनी दशा के सम्बन्ध में सोच कर मुझे बड़ा परिताप हुआ कि मेरी बुद्धि में तनिक भी धैर्य नहीं, यह कि अपनी दुखी प्राणसखी को जो क्षण-भर में ही प्रेम के कारण संभ्रान्त हो जाती हैं—क्षण भर में ही जब यह हाल है तो ज्यादा देर का तो कहना ही क्या !—ऐसी प्रियाजी को धैर्य न बंधाकर हा ! मैं क्यों मूछित हो गई ? यदि सावधान रहती तो ढाढस बँधाती। अतः यह उचित नहीं हुआ।

अथवा किसी समय जब प्रिया-प्रियतम विहार कर रहे थे तो प्रियतम की लोलुपता के कारण प्रियाजी मान करके बैठ गईं, कुछ कहा-सुनी भी हो गई। प्रियतम के खूब खुशामद करने पर भी न मानीं, तो वे और कोई उपाय न देख कर खिन्न हो कर बैठ गये। प्रियतम की इस उदासीनता को देख कर श्रीहितसखी पर क्या बीती,

बुद्धिपूर्वकं स्वतस्तदिङ्गितानुसरणमिति । 'अनङ्गकलया' परमसुकुमारमनोहरया तत्सुखप्रेमविहारेण खेलन्तमदृष्ट्वा उदासीनं, स्थगितनयनं वीक्ष्य सपद्येवापृष्ट्वाविविच्य दुःखाब्धौ पतिता मूर्च्छितवतीति पूर्ववत् । तदा 'आर्त्ताम्' इति मन्मूर्छनसमये सापि युगपदेवार्ता, तद्दैन्यमसहन्तीत्यर्थः । अनुनयाद्युपायेषु क्रियमाणेषु न मानममुञ्चत् । यदा च निरुद्यमं दृष्ट्वा तदा स्वयमपि मृदुशीला प्रकृतिमगमत् । यथा 'शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य' इति । यथा च—

करनत्नप्रतिबिम्बितकान्तास्यं दीनमालोक्य ।
मानिन्याःसुधृतोऽपि सिकतामुष्टिरिव मानोऽभूत् ॥

एवं दैन्यासहनशीलार्तेति । अनुशोकसिद्धान्तमाह—यद्यपि स्वामिन्याः सुखे सुखं, दुःखे दुःखमिति योग्येऽपि तादात्विकसेवैव दास्यधर्मा, नतु तद्वन्निजमग्नता । यथा सुखे च रसानन्दह्रदमज्जनं विगलितवेद्येतरत्वं

रसकलश

इसका वर्णन करती हैं। गंभीर तथा असाधारण अनुराग वाली उस प्रिया के साथ 'ललित-ललित काम-कलाओं द्वारा क्रीड़ा करते हुए' - इस वाक्य में प्रथम 'ललित' शब्द का अर्थ है—स्वार्थ-सिद्धि में सहायक मीठी-मीठी सुन्दर बातों से युक्त'। दूसरे 'ललित' का अर्थ है लालित्यपूर्ण—अर्थात् खूब सोच -समझ कर प्रियाजी के मनोभावों का स्वतः अनुसरण करने वाली अत्यन्त कोमल, मनोहर काम कला द्वारा—अर्थात् ऐसी प्रेम-क्रीड़ा करते हुए जिसमें प्रियाजी को सुख मिले— क्रीड़ा करते हुए न देख कर तथा सुस्त और ठहरे हुए नेत्रों से युक्त देख कर शीघ्र ही—बिना कोई पूछताछ किये, बिना सोचे-विचारे दुःख समुद्र में गिर पड़ी और मूर्छित हो गई (इसका अर्थ पहले बताया जा चुका है)। तब मेरे मूर्छित होने के साथ ही साथ प्रियाजी आर्त हो गई, अर्थात् प्रियतम की हीनता को सह न सकी। भाव यह है कि प्रिय ने जब अनुनय-विनय किया, तब तो मान छोड़ा नहीं, बाद में जब देखा कि प्रियतम हथियार छोड़ कर उदास हो बैठ गये हैं, तो कोमल स्वभाव की होने के कारण, स्वयं पहले जैसी हो गई। कहा-भी है—'ठंडा होना जल का स्वभाव है।' इसी प्रकार की दूसरी उक्ति यह है—

'हाथ में पहिने हुऐ रत्नों में प्रतिबिंबित प्रिय के मुख को उदास देखकर मानिनी का खूब सोच-समझ कर किया गया मान भी बालू की मुट्ठी भाँति रिस गया।'

इस प्रकार मैंने देखा कि प्रियाजी को प्रियतम को दीनता सहन नहीं हो रही है और वह इस कारण दुखी हैं। अब एक शोक से (दुःख) से पैदा हुए दूसरे शोक के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—उचित यह है कि स्वामिनी के सुख में सुखी और

सर्वश्लाघ्यमपि नादरणीयम् । तत्र व्यजनताम्बूलसुधासववसनाभरणसमीकरणाद्यवधानतैव ममेष्टा, तथैव प्रेमवैचित्यार्त्यादौ स्मृतिदानाश्वासनानुनयाद्युपायकरणसेवनमेवेष्टं, न तु तन्मग्नता । तयोस्तत्तद्दशादर्शनभावोद्गमप्राबल्यनिरकुङ्शाकर्षणाशक्यरोधनजमनोदुःखं सोढ्वापि सैवैवादरणीयेतिभावः ।

'निमिष' इत्यत्र पूर्वं 'विच्छेदाभासमानादहः निमिषतः' इत्यत्र यथा युगलयोर्मिथोऽविच्छिन्नप्रेमोक्तस्तथात्र 'राधाङ्के तमदृष्ट्वा' इत्यनेन स्वस्यास्तया सह तस्य विहाराविच्छिन्नतेष्टोक्तिर्ज्ञेया । तत्रापि सावधान-

रसकलश

दुःख में दुखी हुआ जाए, किन्तु दास्य-धर्म यही कहता है कि ऐसी स्थिति में भी सेवा-संबंध में किसी प्रकार की चूक नहीं होनी चाहिए—ऐसा नहीं कि जैसा स्वामिनी को देखा वैसा स्वयं भी बन गए। सुख की अवस्था में आनन्द के सरोवर में डूब जाना, अन्य विषयों का ज्ञान खो देना—यह सब बहुत अच्छा है, प्रशंसनीय है, फिर भी सेवा धर्म की यह वृत्ति आदरणीय नहीं है। प्रिया-प्रियतम जब विहारानन्द की स्थिति में हों, तो मेरा अभीष्ट तो यही होना चाहिए कि मैं समय-समय पर उनके पंखा झलूं तांबूल और अमृतमय आसव प्रस्तुत करूं तथा अस्तव्यस्त भूषण, वस्त्र आदि को यथास्थान धारण कराऊँ। जब प्रियाजी प्रेमावेश के कारण हक्की-बक्की सी हो रही हों, तो उन्हें होश में लाऊँ, धैर्य बँधाऊँ और अनुनय-विनय करती हुई उनकी सेवा करूँ—यह नहीं कि उन्हीं की जैसी हो जाऊँ। भाव यह है कि प्रिया-प्रियतम को अनेक प्रकार की दशाओं में से गुजरते देख कर मेरे हृदय में भी बड़े वेग से भावों का अन्धड़ उठता है, मन उनकी दशा की तरफ ऐसे प्रबल वेग से खिंचता है कि रोके नहीं रुकता, संभाले नहीं संभलता, किन्तु अपने मन के दुःख को सहकर भी मुझे प्रियाजी का ही आदर करना चाहिए।

'निमिष'—क्षण भर के लिये विच्छेद होने पर जो दशा होती है उसका विवेचन पूर्व पद्य (१७३) में कर आये हैं कि 'आवश्यक कार्यवश क्षणभर के लिए भी दोनों के शरीरों के अलग होने की स्थिति में बाहर और भीतर प्रलयकालीन अग्नि सी धधकने लगती है।' इसका अभिप्राय यही है कि युगल के पारस्परिक प्रेम में कभी विच्छेद नहीं होता। इसी प्रकार प्रस्तुत पद्य में 'श्री राधा की गोद में क्षण भर के लिए भी प्रियतम को न देख कर······यह कह कर इसी बात पर जोर दिया गया है कि श्रीहितसखी को तो यही इष्ट है कि प्रियतम प्रियाजी के साथ अनवरत रूप से विहार करते रहे। प्रस्तुत पद्य में (पद्य १७३ की अपेक्षा) यह अधिक कहा गया है कि सावधान न रहने पर श्रीहितसखी को कितना अनुताप होता है। सेवा-धर्म का

तानुतापोऽतिरिच्यते, इति पूर्वस्माद् भेदो दास्यधर्मत्वात् । इत्थं दम्पत्योः सखीनाञ्च परस्परप्रेमातिशयो निर्दिष्टः ॥२१४॥

एवमविच्छिन्नप्रेमातिशयं सेवाधर्मं चोक्त्वा सख्यं वक्तुं तत्र प्रिय-लौल्यहेतुकप्रियाकर्तृकतद्वारणे स्वसाचिव्यमाह—

भूयो भूयः कमलनयने ! किं मुधा वार्यतेऽसौ
वाङ्मात्रेऽपि त्वदनुगमनं न त्यजत्येव धूर्त्तः ।
किञ्चिद्राधे ! कलकुचटीप्रान्तमस्य म्रदीयं,
चक्षुर्द्वा रातमनुपतितं चूर्णतामेति चेतः ॥२१५॥

हे कमलनयने ! त्वयासौ भूयोभूयः किं मुधा वार्यते ? मुधात्वमाह धूर्तोऽसौत्वदनुगमनं न त्यजत्येवेति बहुवारणमेव मन्मथपरमरतिरिति प्रसिद्धेस्त्वं स्वयमेवास्य हृदये रतिमुद्दीपयसि । किञ्च वाङ्मात्रेऽपि, आकाङ्क्षायोग्यतादिवैशिष्ट्याभावेऽपि वर्णमात्रोच्चारणे किञ्चिन्निदेशार्थमेव संभावयति, तदा वारणार्थज्ञाने किं वाच्यम् ? किञ्चानवरतं श्वास-

---

रसकलश

प्रतिपादन करने के कारण पूर्व श्लोक से यहाँ विशेषता है । इस प्रकार युगल-स्वरूप तथा सखियों के पारस्परिक प्रेम की अधिकता का यहाँ निर्देश किया गया है ॥२१४॥

इस प्रकार अखंड प्रेम की अधिकता तथा सेवा-धर्म को बता कर सख्य-भाव पर प्रकाश डालने के लिए प्रियतम की चपलता के कारण प्रियाजी के द्वारा किये गए निषेध के प्रसंग में श्रीहितसखी ने जो मंत्रित्व किया उसे बताती हैं—

हे कमल नयनी ! इन श्रीकृष्ण से बार-बार क्यों मना कर रही हो । केवल कह देने भर से यह धूर्त आपका पीछा करना नहीं छोड़ेंगे । क्योंकि हे श्रीराधे ! इनका कोमल चित्त नेत्रों द्वारा उस सुन्दर कुच-रूपी तट के किनारे की दिशा में जाता हुआ चूर-चूर हो गया है ॥२१५॥

हे कमलनयनी ! आप इनसे व्यर्थ बार-बार क्यों मना करती हैं । मना करना व्यर्थ क्यों है, उसका कारण बताते हैं—यह धूर्त हैं, आपका पीछा करना नहीं छोड़ेंगे । यह प्रसिद्ध है कि बार-बार मना करने से काम-संबंधी रति प्रकट होती है, तो आप स्वयं ही इनके हृदय में अपने प्रति अनुराग को बढ़ावा दे रही हैं । दूसरी बात असंबद्ध

गणने यदा च मुखतः किञ्चिद्वदसि तदैव तत्प्रवणः प्राञ्जलिः सन् किमाज्ञापयसे स्वामिनि ? इति समवधानो भवत्यतो न त्यजति । वारणबाहुल्ये कथन्न त्यजेदिति चेत् तत्रैवं ज्ञेयम् वारणीयवारकसम्बन्धमपि भाग्यं मत्वा दिष्टया केनापि सम्बन्धेनाङ्गीकृतोऽस्मि । यथा'अस्माकं बदरीचक्रं युष्माकं बदरी गृहे' इति । अतोऽसौ धूर्तः अनादरमपि सोढ्वा छलेन स्वकार्यं साधयति ।

रसकलश

बात करने पर भी—ऐसी जिसमें कि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि का अभाव[1] हो—केवल अक्षरों के उच्चारण मात्र से ही इन्हें यह संभावना हो जाती है कि शायद प्रियाजी कुछ आज्ञा कर रही हैं और यदि उन्हें ठीक-ठीक पता लग जाय कि प्रियाजी मना कर रहीं हैं, तब तो कहना ही क्या ? दूसरे, निरन्तर आपकी सांसों की गिनती करते रहने से, जब आप मुंह से कुछ नहीं कहतीं; तब भी हाथ जोड़ कर, चौकन्ना होकर कहते हैं—'स्वामिनी ! क्या आज्ञा है ? और आपकी तरफ सर्वात्मना उन्मुख हो जाते हैं। इसलिए आपका पीछा नहीं छोड़ते। यदि कोई पूछे कि बार-बार मना करने पर भी क्यों नहीं छोड़ते, तो ज्ञातव्य यह है कि जिसे रोका जाता है और जो रोकता है, इन दोनों के बीच में भी एक संबंध की खामख्वाह् कल्पना कर ली जाती है और इसी काल्पनिक संबन्ध को अपना सौभाग्य समझ कर प्रियतम सोच लेते हैं कि चलो, किसी संबन्ध से मुझे अंगीकार तो किया। एक कहावत है—'हमारे पास बेर के पेड़ों का एक चक है और तुम्हारे घर में बेर का पेड़ है, इस प्रकार हमारा आपका बादरायण-सम्बन्ध स्थापित होगा। इसलिए तो मैं कहती हूं—यह धूर्त हैं। अपमान को ताक पर रख कर अपना उल्लू सीधा करते हैं।

---

१. प्रतीत्यपर्यवसानमाकाङ्क्षा, बाधविरहो योग्यता, पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः। आकाङ्क्षादिरहितं वाक्यमप्रमाणम्-यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति। 'घटः कर्म त्वम्' इति च न प्रमाणमाकाङ्क्षाविरहात्। 'अग्निना सिञ्चति' इति न प्रमाणं योग्यताविरहात्। प्रहरे-प्रहरेऽसहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादि पदानि न प्रमाणं, सान्निध्याभावात्।

आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधि वाक्यार्थज्ञान में कारण माने गये हैं। आनुपूर्वी विशेष कारण के ज्ञान को आकांक्षा कहते हैं। अर्थात् वाक्य वह है जिससे अर्थ के सम्बन्ध में कुछ जानकारी करने को न रह जाय। उदाहरणार्थ—यदि कोई केवल इतना ही कहे—गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी तो सुनने वाला यह पूछेगा कि इनका क्या हुआ ? अतः इसे वाक्य नहीं कहा जा सकता। यदि कोई कहे कि—अग्नि से सींचता है, तो यह भी वाक्य नहीं कहा जायगा, क्योंकि आग में सींचने की योग्यता ही नहीं। 'गाम् आनय' इस वाक्य के प्रत्येक पद को यदि एक-एक पहर बाद कहा जाय, वह भी वाक्य नही बनेगा क्योंकि इतने विलम्ब से उच्चारण करने के कारण पदों का सामीप्य नष्ट हो गया।

'कमल' इत्यत्र कोमलसुजातसुगन्धिविशालदलत्वसूचनेन शुद्ध-हृदयत्वं, साधुत्वं तवास्ति, परन्तु दीर्धदृष्ट्या धूर्तत्वमप्यस्य विचार्यं दृश्यञ्च। अन्यच्च तदानीं सामर्षभ्रूभङ्गलोलापाङ्गदर्शनेऽरुणिमसलज्ज-स्मेरता सहृदयभावनीया तत एव 'कमल' इति, तत एव तच्छोभालुब्धो नैव त्यजेदिति त्वमपि स्वरूपदोषं विचारयेति कटाक्षः। अमनने वारणं वृथैव स्यात्। तत्राप्येकदा परीक्षणे पुनर्वारणञ्च मुधैवेति असमीक्ष्यका-रितैव श्रीमत्याः, इत्युपालम्भः सख्यरसमयः। 'धूर्त' इति प्रियं प्रति कटाक्षो-ऽपि तादृश एव।

वारणामननहेतुमाह-अस्य लम्पटस्य, प्रत्यक्षं भुक्ततिरस्कारामृतस्य म्रदीयश्चेतः, इत्यनेन कुचतटीप्रान्तस्यानुक्तमपि कठोरत्वमायातम्। पुनश्चा-तिशयमार्दवे आसक्तिद्रुतशीलत्वं दर्शितम्। सख्यापि काकुचाटुकारक प्रियविषयकस्वकृतज्ञताहेतुकसाहाय्याचरणेन वामानुग्रहं कारयति-मृदुले

रसकलश

'कमलनयने !' इस संबोधन में 'कमल' शब्द की व्यंजना यह है कि कमल एक ऊँची जाति का पुष्प होता है, वह सुगन्धित होता है और उसके पत्ते चौड़े होते हैं। इसकी ध्वनि यह है कि आपका हृदय शुद्ध है और आप स्वभाव से ही सज्जन है, किंतु दूर दृष्टि रख कर इनकी धूर्तता के संबंध में भी आपको विचार करना और देखना चाहिए। दूसरे उस समय क्रोध से टेढ़ी भौंहें करके नेत्रों की चंचल कोरों से देखते वक्त उनमें कैसी अरुणाई आई होगी और किस प्रकार वे लजाती हुई मुस्कराई होंगी—यह सब सहृदय लोग अपनी भावना से समझ लें। इसी आशय से 'कमल' कहा है। इसीलिए कमल-जैसे नेत्रों के सौन्दर्य के लोभी-प्रियतम पीछा करना नहीं छोड़ेंगे। इसमें सखी का यह कटाक्ष भी छिपा है कि आप भी विचार करें कि आपके सुन्दर-सुन्दर स्वरूप का इसमें कहां तक दोष नहीं है। नहीं मानेंगे, तो मना करना व्यर्थ होगा। फिर, जब एक बार मना कर दिया, तो दोबारा मना करने का तो कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। यह तो आपकी नासमझी ही रही—सख्य भाव से भरा सखियों का यह उलहना भी इस कथन में छिपा है। प्रियतम को 'धूर्त' कह कर उन पर भी वैसा ही कटाक्ष किया गया है।

निषेध को न मानने का कारण बताते हैं—अपमान रूपी अमृत का उपभोग करने वाले इस लंपट का कोमल चित्त ·····। चित्त को कोमल कहने से श्रीराधा के कुचों के अग्रभाग की कठोरता बिना कहे ही आ गई। दूसरी व्यंजना यह है कि अत्यंत कोमल होने के कारण ये आसक्त हैं और जल्दी पिघल जाते हैं। सखी भी अपनी आवाज बदल कर चापलूसी करने वाले प्रियतम की सहायता करती है ऐसा करके सखी जहाँ

कठिनं न भाव्यमिति । अत एव 'राधे !' इति संसिद्धिरूपिण्याः किमशक्यम् ? साक्षान्नामोक्तिकारकसख्येन स्वकथनविश्वासं ज्ञापयति चेति । अतस्तद्धार्दं कथयति—तं कलकुचतटीप्रान्तं प्रति चक्षुर्द्वारानुपतितं सत् किञ्चिच्चूर्णतामेति । चूर्णता कथं ज्ञातेति चेत् तत्रैवं ज्ञेयम्—इदानीमनुगमने कुचतटीप्रान्तदिशि चक्षुर्दानं दृश्यते । तत्र दौर्लभ्येन दैन्यमार्दवं दृष्टवा सहृदयस्य कथं कारुण्योत्पत्तिर्नस्यात्, इत्यतो निजहृदयसाक्षित्वेनापि च जानामि चूर्णनमस्तीति । वारणमपि तटीस्पर्शनिदानकमेव । तत्र किञ्चित्कथनं बाहुल्येऽपि स्वल्पार्थकं प्रियास्वभावभीत्यैव, वक्तृनैपुण्यञ्चेति । 'तम्' इति पूर्वत्र वर्णितचरत्वात् प्रियाहृदयसाक्षिकत्वेन तत्तद्विलासमोहनादिप्रभावस्मारकमित्यनुभूतपरामर्शः । 'तटी' इत्यनेन गिरिनदीत्वनिदर्शनम् ।

रसकलश

एक ओर प्रियतम की कृतज्ञता अर्जन करती है, वहाँ दूसरी ओर वाम हुई प्रियाजी से अनुग्रह करने के लिये कहती हैं कि कोमल स्वभाव के व्यक्ति के प्रति कठोरता का व्यवहार नहीं करना चाहिए । इसी आशय से 'राधे ! यह संबोधन किया है । अर्थात् समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाली आप क्या नहीं कर सकतीं ? सख्य-संबन्ध से सीधा नाम लेकर सखी यह भी जताती है कि जो कुछ मैं कहती हूं उस पर विश्वास करिये । इसलिए प्रियतम के हृदय की बात कहती हैं—(प्रियतम का मृदुल चित्त) उन सुन्दर कुचों के अग्रभाग की दिशा में आंखों द्वारा दौड़ता हुआ कुछ चूर-चूर हो गया है । यदि पूछा जाय कि चूर-चूर होने की तुम्हें क्या मालूम ? तो यह ज्ञातव्य है कि इस समय प्रियतम जो पीछे लग रहे हैं उससे साफ दिखाई देता है कि उनकी नजरें कुचों के किनारों पर अटकी हुई हैं । उस दुर्लभ वस्तु के संबंध में प्रिय की दीनता को देख कर किस सहृदय को दया नहीं आवेगी ? और मेरा दिल भी यही गवाही देता है कि चूर-चूर हो ही गया है । मना भी इसीलिए किया जाता है कि कहीं छू न लें । 'किञ्चित्' का आशय यह है कि सखी कहना तो यही चाहती थी कि मन बिलकुल चूर-चूर हो गया, पर प्रियाजी के डर से कहा यही है-कुछ चूर-चूर हो गया है । सखी को कथन-चातुरी भी इससे सूचित होती है । 'कुचतटी प्रान्तम्' के विशेषण 'तम्' (उस) का मतलब यह है कि वह कुचतटी प्रान्त जिसका कि जगह-जगह वर्णन किया जाता रहा है । और प्रियाजी का हृदय भी इसका साक्षी है कि उसके दर्शन मात्र से ही याद हो आता है कि विविध विलासों द्वारा प्रियतम को मोहने की उसमें कैसी शक्ति है । दर्शन के रूप में श्रीहितसखी को भी इसका अनुभव है और इसी कारण उन्होंने ऐसा कहा है । 'तटी' का संकेत पर्वत की कोर की तरफ है । 'प्रान्त' कह कर सूचित

१. भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते—साहित्यदर्पण ।

'प्रान्तम्' इति तट्या दौर्लभ्यम्। किञ्च तटीनिश्शङ्कदर्शने सतीङ्गितज्ञदासत्वक्षतेर्भीतोऽयं प्रान्त एव चक्षुः प्रापयति। 'चक्षुर्द्वारा' इत्यनेन नास्य दोषश्चक्षुर्धर्मत्वात्। एवं 'अनुपतितम्' इत्यपि निरागसत्वज्ञापकम्। 'चूर्णतामेति' इत्यनेनाहो! स्वकीयस्य दयैव कर्तव्येतिभावः। 'कल' इति दूरत एव गिरेः रमणीयत्वमिति रमणीयदृष्ट्या सविश्रम्भमनुपतितं, पश्चाच्चूर्णनरूपप्रभावः प्राप्त इति सर्वेन्द्रियाणां चित्ताधीनत्वात् तदाकर्षणे तेषामप्याकर्षणं ज्ञेयम्। अतोऽनुगमनमयं कथं न त्यजेदिति।

'एतु' इति पाठे भवद्वारणामननफलं भुनक्तु, इति ॥२१५॥

रसकलश

किया गया है कि पर्वत पर पहुंचना आसान है, पर उसके किनारों को छूना कठिन है। दूसरी बात यह है कि निडर होकर पूरी तटी को देखने की चेष्टा का मतलब यह होगा कि श्रीकृष्ण प्रियाजी के आन्तरिक आशय को पहिचानते ही नहीं और ऐसा करना दास्य-भावना के लिए भी घातक है। अतः डर कर यह प्रियतम किनारों तक ही दृष्टि पहुंचाते हैं। 'चक्षु के द्वारा' से तात्पर्य यह है कि नजर डालते हैं तो प्रिय का क्या अपराध है? क्योंकि आँखों का तो यह काम ही है। अनुपतितम् (पीछे लगा हुआ) की भी व्यंजना प्रियतम को निर्दोष सिद्ध करना ही है। चूर-चूर होने की व्यंजना यह है कि आत्मीय जन पर दया ही करनी चाहिए। 'कल' (सुन्दर) का भाव यह है कि पर्वत का दृश्य दूर से ही बड़ा सुन्दर लगता है और उसकी रमणीयता से आकर्षित हो कर प्रियतम की दृष्टि भी बड़े विश्वास के साथ कुच-तटी पर चढ़ गई, लेकिन परिणाम यह हुआ कि चूर-चूर हो गई। चित्त के अधीन ही सब इन्द्रियाँ होती है, जिधर वह जाता है उधर शेष इन्द्रियां भी खिंची चली जाती हैं।

'एतु' (हो जाय) पाठ मनाने पर अर्थ होगा—आपका कहना नहीं मानते हैं तो फल भोगें ॥२१५॥

इस पद्य के संबंध में सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि बंबइया संस्करण में जो पाठ मिलता है उसका रूप इस प्रकार है—

किञ्चिद्राधे कुरु कुचतटीप्रान्तमस्य त्वदीयं
चक्षुर्द्वारा तमनुपतितं चूर्णतामेतु चेतः॥

उत्तरकालीन अन्य संस्करणों में भी इसी पाठ का अनुसरण किया गया है। श्री कृपालाल गो. की व्याख्या का शब्दानुवाद इस प्रकार है—

हे राधे! तुम कुछ करो। वह क्या है, इसे बताते है। क्योंकि इनका कोमल चित्त है, वह चूर-चूर हो जायगा। यदि तुम्हें वास्तव में रोकना है, तो इनका चित्त व्याकुल हो जायगा, क्योंकि यह इतना भी नहीं जानते कि इन्हें क्यों विमुक्त कर दिया गया है—यह अर्थ है। कैसा चित्त?

एवमान्तरीणसख्यकथनमयतत्तत्साचिव्यानन्दाब्धिमनुभूय तद्बलेन लोकानुग्राहकस्फुटदशायामाचार्यवपुषि नानाविधशास्त्रसम्प्रदायमार्गविधौ

रसकलश

इस प्रकार मंत्री की हैसियत से उपर्युक्त पद्य में कही गई, सख्य-भाव से परिपूर्ण बातों को कहने के आनन्द का अनुभव कर सर्वसाधारण पर अनुग्रह करने के लिए धारण किए गए आचार्य के रूप में, अनेक प्रकार के शास्त्र, सम्प्रदाय और मार्गों के

नेत्रों द्वारा उन दोनों कुच-तटों का जो निकट-स्थल, उसके प्रान्त निकट में अनुपतित। इससे परम स्नेह की सीमा बताई गई है।

इस व्याख्या का यह आशय प्रतीत होता है—हे राधे! यह पीछे लग रहे हैं, कहने से तो मानेंगे नहीं, अतः तुम्हें ही कुछ करना होगा। इनका हृदय कोमल है और वह तुम्हारे कठोर कुचों के किनारे पर गिर कर चूर-चूर हो जायगा। यहां 'यातु' का अर्थ 'यास्यति' करना होगा। सखी का मन्तव्य यह है कि उन्हें आने से रोको मत।

सारी कठिनाई इसलिए पैदा हुई है कि 'हे राधे! कुछ करो' के उत्तर में यदि पूछा जाय कि क्या करें, तो उसका उत्तर नहीं मिलता। रसकुल्याकार ने 'कुरु' के स्थान में 'कल' पाठ मान कर इस प्रश्न को ही उड़ा दिया। उनके अनुसार अन्वय होगा—राधे! अस्य अदीयश्चेतः तं कलकुचतटी प्रान्तं (प्रति) चक्षुर्द्वारा अनुपतितं सत् किञ्चित् चूर्णतामेति। हे श्रीराधे! इनका कोमल चित्त उस मनोहर कुचतटी के किनारे की दिशा में दौड़ता हुआ चूर-चूर हो जाता है। संभावनार्थक लोट् के प्रयोग 'एतु' के स्थान पर उन्होंने वर्तमानकालिक 'एति' को अधिक उपयुक्त समझा है। उनका आशय यह लगता है कि यह आज कोई नई बात होने नहीं जा रही है। प्रायः ऐसा होता है कि उनकी आंखें कुच-तटी की ताक में रहती हैं और उनके उपलब्ध न होने पर मन सिर फोड़ कर रह जाता है। यही उपाय उन्हें पीछे लगने से रोकने का भी है, क्योंकि एक बार कुचों के किनारे दिखाई पड़ गए, तो वहीं के वहीं सिर थाम कर रह जायेंगे।

एक आधुनिक टीकाकार महोदय ने श्रीकृपालाल जी गो. की व्याख्यानुसार 'किञ्चित्' को 'कुरु' का कर्म नहीं माना है बल्कि 'कुचतटीप्रान्तम्' का विशेषण माना है और 'किञ्चित् कुचतटी-प्रान्तम् 'कुरु' यह अन्वय कर अर्थ किया है—'कुचतटकोर की कुछ झांकी करा दीजिये जिससे 'अस्य अदीयश्चेतः चक्षुर्द्वारा तं अनुपतितं चूर्णतां एतु।' (इनका कोमल चित्त आंखों के रास्ते उनका अनुगमन करता हुआ चूर-चूर हो जाय।) कहना न होगा कि पद्य का सर्वसम्मत भावार्थ तो यही है, किन्तु 'कुचतटीप्रान्तम्' और 'कुरु' के बीच 'झांकी' का अध्याहार कैसे किया जाय, यह समस्या खड़ी हो जाती है।

हमारी समझ में मध्यम मार्ग यह है कि 'कुरु' और 'एतु' का पाठान्तर न करके इस प्रकार अन्वय किया जाय—'हे राधे! किञ्चित् कुरु (येन) अस्य अदीयश्चेतः चक्षुर्द्वारा तं कुचतटीप्रान्तं प्रति अनुपतितं सत् चूर्णतामेतु।' अर्थात्—'हे राधे! कुछ करो जिससे इनका कोमल चित्त नेत्रों के द्वारा उस कुचतटी-प्रात की दिशा में जाता हुआ चूर-चूर हो जाय।'

विवदमानेषु स्वानुभूतप्रेमरसानभिज्ञतां विचार्य तदुपेक्षापूर्वकप्रेमाधारस्थला-शामाशास्ति—

किंवा नस्तैः सुशास्त्रैः किमथ तदुदितैर्वर्त्मभिः सद्गृहीतै-
र्यत्रास्ति प्रेममूर्तेर्नहि महिमसुधा नापि भावस्तदीयः।
किंवा वैकुण्ठलक्ष्म्याप्यहह ! परमया यत्र मे नास्ति राधा
किन्त्वाशाप्यस्तु वृन्दावनभुवि मधुरा कोटिजन्मान्तरेपि ॥२१६॥

'नः' इति प्रस्तूयमानरुच्यतिशयनिष्ठसजातीयाभिप्रायेण, वा निष्ठा-प्राबल्यजनिरङ्कुशत्वमङ्गीकृत्याभिमानभङ्ग्या बहुत्वम् । लोकवेदानुशासन-मयं शास्त्रम् । तत्र सौष्ठवं तत्वं पदादिपरमार्थप्रतिपादकत्वम् । तादृशैः

रसकलश

सिद्धान्तों को लेकर आपस में झगड़ने वाले लोगों के सम्बन्ध में यह धारण बांधकर कि ये उस प्रेम से अनभिज्ञ हैं जिसका कि मैं आनन्द लेता हूं, उनकी उपेक्षा करते हुए प्रेम की आधार-भूमि श्री वृन्दावन की ही आशा करते हैं—

'हमें उन शास्त्रों से क्या प्रयोजन और क्या प्रयोजन है उनसे निकले तथा महापुरुषों द्वारा स्वीकार किये गए उन मार्गों (संप्रदायों) से जिनमें प्रेमस्वरूपा श्रीराधा के महिमामृत का अभाव है और न तत्सम्बन्धिनी भक्ति ही है। अहो ! हमें उस सर्व-श्रेष्ठ लक्ष्मी से भी क्या मतलब जहाँ मेरी श्रीराधा नहीं है। किन्तु मेरी मधुर आशा तो कोटि-जन्मों में भी श्रीवृन्दावन की भूमि में ही संचित रहे ।।२१६।।

'नः' (हमारे) का तात्पर्य उन लोगों से है जिनकी आस्था एवं रुचि यहां प्रति-पादन किये जाने वाले विचारों से मेल खाती है, अतः जो समान वर्ग के कहे जा सकते हैं। अथवा इस बहुवचन के प्रयोग के मूल में एक प्रकार के अभिमान की भावना भी हो सकती है जो अपनी निष्ठा की प्रबलता से पैदा होती है और जिसके प्रभाव में आकर व्यक्ति निर्भय और निरंकुश होकर अपने विचारों का उद्घोष करता है। लोक में प्रचलित और वेदों में प्रतिपादित विधि-विधानों का जिन ग्रन्थों में संग्रह होता है, उन्हें शास्त्र कहते हैं। 'सुशास्त्रैः' में 'सु' अर्थ सौष्ठव अर्थात् तत्व है। यह वह तत्व है जिसका उपदेश ये शास्त्र स्वर्ग, अपवर्ग आदि पदों के रूप में करते हैं और जिन्हें ये परम पुरुषार्थ बताते हैं। ऐसे शास्त्रों से मुझे क्या लेना-देना ? 'सुशास्त्र' कह कर यह ज्ञापित किया है कि मैं उनकी निन्दा नहीं करता हूं, प्रत्युत मैंने उनका अध्ययन किया

किं वेति। 'सुशास्त्रैः' इत्यनेन नाहं तानि निन्दामि, तत्सौष्ठवञ्च जानामीति प्रेममूर्तिमहिमामृतं मृग्यमाणस्य तदितरैः किं कार्यं सेत्स्यति। यथा 'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठ सगुणः परिकीर्तितः' इतिवत्। तत्र सदुपदेशग्रहणबुद्ध्या पश्यन्तु नाम, तथापि 'वारुणीदिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात्' इति रीत्या न किमपि प्रयोजनमित्युपेक्षातिशयं 'किं वेति' शब्दौ सूचयतः। अतएव पद्यादावेवोक्तौ।

ननु तत्पठनविचारश्रमापेक्षयोपेक्ष्यतां नाम, तथापि प्रसिद्धतत्प्रकाशितसंगृहीतमार्गेषु कथं न तिष्ठतेति, तत्राह—तेषु वर्त्मसु तदीयः प्रस्तुतप्रेममूर्तिसम्बन्धो भावोऽपि नास्ति। कयापि भङ्ग्या प्रेमप्रशंसादरसद्भावे न कापि क्षतिः, प्रत्युत तदुपेक्षादर्शनाद्बिभेमि। अतस्तैः किमिति।

भावोभक्तिर्वा सत्ता। 'सद्गृहीतैः' इत्यनेन तत्स्वरूपमर्माभिज्ञता च स्वस्यसूचिता न च वालिशवदुपेक्षा।

रसकलश

है। किन्तु जो प्रेमस्वरूपा श्रीराधा के महिमारूपी अमृत की खोज करने निकला है, उसका उन शास्त्रों से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा जो उसकी महिमा को नहीं बताते? कहा भी है—'अपने-अपने अधिकार में जो निष्ठा है, वही उसके लिए गुण है।' लोग अच्छे-अच्छे उपदेशों को ग्रहण करने के लिए उन शास्त्रों का अवगाहन करें, किन्तु, जैसा कि कहा गया है-पश्चिम दिशा में पाई जाने वाली वस्तु क्या पूर्व दिशा को जाने से मिल जायगी?' मेरा उनसे कोई प्रयोजन नहीं है। 'किम्' और 'वा' इन दो शब्दों द्वारा अधिक से अधिक उपेक्षा व्यक्त की गई है और इसीलिए उन्हें पद्य के प्रारम्भ में ही रक्खा है।

यह पूछा जा सकता है कि उन शास्त्रों के पठन-पाठन, मनन आदि में परिश्रम मत करिये, परन्तु लोक-कल्याण के लिये उन्होंने जो मार्ग निर्धारित किये हैं, निज सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है, और जिन्हें महापुरुषों ने अपनाया भी है, उन्हें आप क्यों नहीं मानते? इसके उत्तर में कहते हैं—उन मार्गों में श्रीराधा-कृष्ण के प्रेम-स्वरूप से संबन्धित भाव हैं ही नहीं! प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष—किसी भी रूप में उन्होंने राधानिष्ठ प्रेम की प्रशंसा या आदर किया हो, तो उन शास्त्रों को पलट कर देखने में कोई हानि नहीं है, परन्तु उनमें तो हमारी मान्यता के प्रति उपेक्षा-भाव दिखाया गया है, अतः उनके पास जाने में भी हम डरते हैं। उनसे हमारा मतलब?

'भाव' कहते हैं भक्ति या सत्ता को। 'सद्गृहीतैः' से यह सूचित किया गया है कि श्री हिताचार्या उन शास्त्रों के स्वरूप और मर्म से परिचित हैं। उन्होंने गँवार की भाँति उनकी उपेक्षा नहीं की है।

अहो ! तन्मार्गसाधनश्रम उपेक्ष्यतां नाम। तत्फलन्तु कथन्न गृह्णीत। परमवैकुण्ठसम्पत्यानदः सर्वैः सद्भिरूपगीयत एवेति। तत्राह—'अहह' इत्यन्यापेक्षया स्वनिरङ्कुशत्ववाक्यनिश्शङ्कताश्चर्यदर्शनार्थम्। अहो! मद्धाष्टर्यं श्लाघनीयमिति। तया परमयापिवैकुण्ठलक्ष्म्या किं यत्र मे मधुरा राधा नास्तीति। किञ्चलक्ष्म्यामपि प्रेमातिशयं संभावयिष्यथ, तथाप्यस्तु। वामास्तु न मदिष्टम्। ननु या त्वदीया राधा सैव तत्र महालक्ष्मीरित्युच्यते, तत्राह 'मे राधा' इति श्रीवृषभानुनन्दिनीत्वेन मन्ममत्वगृहीता, नत्वन्या, रूपान्तरेण दृष्टिमायातेति। तत्र क्व सा ? इत्यपेक्षायां, यत्र सा तदधिष्ठान-मेवाशासे, इत्याह। 'किन्तु' इति तत्प्राप्तिस्तु दुर्लभतमा। अन्यस्मिन् जन्मनि, जन्मान्तरेवाशाभवत्विति किं वच्मि, कोटिजन्मान्तरेपीयमेवाशा वृन्दावनभुव्येवास्तु। ममेयमाशापि मधुरा लगतीति प्राप्तौ किं वाच्यम्। साधकानुपशिक्षयति—निस्साधनानामाशाह्यव्ययं धनमिति। ततः कथ-

---

रसकलश

अच्छा, उन शास्त्रों में विहित साधनों को आप मत अपनाइए, क्योंकि ऐसा करने में श्रम होगा, किन्तु उन साधनों के फल को आप स्वीकार क्यों नहीं करते ? सर्वोपरि वैकुण्ठ के ऐश्वर्य पूर्ण आनन्द की महिमा तो सब महापुरुष गाते हैं। इस पर कहते हैं—'अहह !' इससे यह सूचित किया गया है कि हम किसी के दबाव में नहीं हैं और अपनी मान्यता का उद्घोष निडर होकर करते हैं। यदि हमारे ऐसा करने में किसी को आश्चार्य होता है, तो परवाह नहीं! अहो! मेरी तो यह ढिठाई भी प्रशंसनीय है ! सर्वश्रेष्ठ कही जाने वाली वैकुण्ठ की उस विभूति का भी मैं क्या करूँगा जहाँ मेरी मधुर श्रीराधा नहीं है ? इस पर संभव है, आप कहें कि लक्ष्मी जी भी तो खूब प्रेम करती हैं। माना, पर स्त्रियाँ तो मेरी इष्ट नहीं हैं (अर्थात् श्रीराधा की तुलना में लक्ष्मी एक नारी मात्र है)। यदि कहें कि जिसे तुम 'राधा' कहते हो वही वैकुण्ठधाम में 'लक्ष्मी' कही जाती हैं, तो इस पर कहते हैं—'मे राधा।' श्रीराधा के प्रति मेरी ममता तो वृषभानुनन्दनी के रूप में हैं। यदि अन्य किसी रूप में वे दृष्टिगोचर हों, तो मेरे लिए वह 'राधा' नहीं'। अब यदि पूछा जाय कि वह तुम्हारी राधा कहाँ है ? तो इस पर कहते हैं—जहाँ वह हैं उसी स्थान की मैं आशा करता हूँ। 'किन्तु' उन्हें पाना अत्यन्त कठिन है, अतः इस जन्म में या दूसरे जन्मों के लिये उस आशा को सुरक्षित रक्खे हूँ ? करोड़ों जन्मों में भी यही आशा श्रीवृन्दावन की भूमि में ही हो। मुझे तो यह आशा ही बड़ी मधुर लगती है। इसके पूर्ण होने पर तो कहना ही क्या है ? श्रीहिताचार्य साधकों को उपदेश देते हैं कि आशा ही अक्षय धन है। यदि यह किसी

ञ्चिदप्याशासिद्धौ तद्विषया वृन्दावनभूरेव प्राप्या स्यात् । ततोऽञ्जसैव तदधिष्ठेया प्रेममूर्तिरवश्यं प्राप्यत एवेति ।

अत्र राधावृन्दावनयोरविच्छिन्नसमवायिसम्बन्धो दर्शितः तदा महिमामृतभावादि सर्वसम्पन्नत्वे किं वाच्यम् ? आन्तरापेक्षाचेदाह—पूर्वोक्तां प्रियाभिलाषोत्कलिकां सखीप्रोक्तां श्रुत्वा कृपोच्छलिता स्वहार्दप्रेमगोष्ठी-श्रवणानन्तरजसखीकृतस्वयंगमनविज्ञप्तिं श्रुत्वा प्रिया ललितादिसमाज-सिद्धान्तविरुद्धामाशङ्कयति । तत्र हितालीपरिहरन्त्याह—'किंवा' इति । तत्सिद्धान्तो यथा—आसज्योपकण्ठ एवासक्तागमनमासज्यप्रभुत्वम् । स्वाय-त्तापतिकाभिसरणं प्रियकृतास्तृतमार्गेणैव, न तु प्रच्छन्नतया । तत्र नियम-स्त्वेवमेव, परन्तु प्रेमोच्छलने स नैव तिष्ठतीत्याह—अत्र शास्त्रैः स्वाभिमाना-नुशासनमयैर्न अस्माकं प्रेमसिद्धान्तिनां किमपि मुख्यं प्रयोजनं नास्ति ।

रसकलश

प्रकार पूर्ण हो, तो श्रीवृन्दावन-भूमि ही मिले, क्योंकि वही आशा का विषय है—अर्थात् उसी की आशा की जाती है। बाद में वहाँ विराजमान प्रेममूर्ति भी मिल ही जायगी।

यहाँ श्रीराधा और वृन्दावन में नित्य समवायि-संबन्ध[1] दिखाया गया है। फिर यदि श्रीवृन्दावन श्रीराधा की महिमा, उनके प्रेमामृत और भक्ति से विशिष्ट हो, तो कहना ही क्या है !

अब यदि प्रस्तुत पद्य का निकुंजपरक आन्तरिक अर्थ जानना हो, तो बताते हैं—पूर्व पद्य में किये गए वर्णन के अनुसार जब श्रीराधा ने सखी के मुँह से सुना कि प्रियतम अभिलाषा के कारण उत्कंठित हो रहे हैं, तो उनमें प्रेम उमड़ पड़ा और प्रियतम से संकोच करने के कारण वे अपने हृदय की बात उनके सामने तो नहीं सुना सकीं, किन्तु एकान्त में सखी से उसे कहना चाहा। तब सखी ने उनका अभिप्राय समझकर प्रियतम से किसी एकान्त स्थान में कुंज-रचना करने को कहा। तदनुसार प्रियतम ने उस आज्ञा का पालन किया। बाद में श्रीराधा के मुँह से प्रियतम से संबन्धित अनिर्वच-नीय प्रेमपूर्ण बात सुनने के बाद प्रियाजी से स्वयं प्रियतम के पास जाने की प्रार्थना की, तो उन्हें शंका हुई कि ललिता आदि सखियों के देखते हुए स्वयं अभिसार करना सिद्धान्त के विरुद्ध तो नहीं होगा। इसी शंका का समाधान करती हुई श्रीहितसखी कहती हैं—"किं वा न स्तैः"— हमें उन शास्त्रीय सिद्धान्तों से क्या मतलब? वह सिद्धान्त यह है कि आसक्त को ही आसज्य के पास जाना चाहिए। तभी उसका प्रभुत्त्व कायम रह सकता

१. वैशेषिक न्याय के अनुसार कारण तीन प्रकार के होते है—१. समवायि, २. असमवायि, और ३. निमित्त। उपादन कारण को समवायि कारण कहते हैं, जैसे मृत्तिका घट का समवायि कारण है। गुणकर्ममात्रवृत्ति असमवायि कारण होता है, जैसे कपालद्वय-संयोग घट का असमवायि कारण है। चाक को घुमाने में जिस दंड का प्रयोग किया जाता है, वह घट के प्रति निमित्त कारण है।

अथ तदुदितैर्मार्गैसद्भिः कोविदसखीजनैरेव गृहीतैः श्रेष्ठैरपि किम् ? किञ्च यत्र येषु प्रेममूर्तेर्महिमसुधा नास्ति—गजोद्धरणवैकल्यागतस्यैव प्रभोर्यशः श्रूयते, न तु तत्रैश्वर्याभिमानिनां, प्रेममूर्तेरित्युक्तत्वात् । पुनश्च येषु तदीयोभावोऽपि नास्ति । भावोदयस्तु कृपावैवश्यगमन एव स्यान्नाभिमाने । विलम्बे च स एवात्यातुर आगच्छेदपि, न तदा यशस्यम् ।

नन्वत्र लक्ष्म्यादौ प्रेमास्तीतिचेत्तत्राह—परमयानपायिन्यापि तया किं यत्र मे राधा नास्तीति । को विशेषश्चेदाह—लक्ष्म्याः सर्वदेवाद्युपेक्षा-पूर्वक भगवद्विषयकप्रीतिकरणात् तदपि सा पादसेवनपरैव । अथ लक्ष्मी-सेवितपदारविन्दोऽपि श्रीकृष्णः श्रीराधापादसेवनपरः । सा च तादृश पद्भ्यां श्रीवृन्दावनभुवि चलति । अतस्तस्यां भुवि कोटि-कोटिजन्मान्तरे-

रसकलश

है। यदि स्वाधीनपतिका नायिका अभिसार करे, तो प्रिय के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से ही करे, छिपकर नहीं। नियम तो यही है, परन्तु प्रेम जब उमड़ रहा हो तब वह नहीं ठहरता। इसी आशय से कहते हैं-- शास्त्रों में जो नियम बनाए हैं उनके मूल में शास्ताओं का व्यक्तिगत अभिमान ही प्रधान है, पर हमारा सिद्धान्त तो प्रेममूलक है, अतः हमें उनसे क्या प्रयोजन ? उन सिद्धान्तों की पूर्णता तो उनके न पालन करने में ही है। उन सिद्धांतों के लेकर प्रवर्तित मार्गों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, भले ही वे श्रेष्ठ हों और विदुषी सखियों ने उन्हें स्वीकार किया हो। इन सिद्धान्तों में प्रेममूर्ति श्रीराधा के महिमामृत के लिए कोई स्थान ही नहीं है। गज का उद्धार करने के लिए वैकुंठ में बैठे भगवान् उद्विग्न होकर भाग खड़े हुए थे, इसीलिए तो उनकी महिमा का कीर्तन किया जाता है। जिन्हें अपने ऐश्वर्य का अभिमान है उनका यशोगान तो कोई नहीं करता। भगवान् को इसीलिए तो प्रेममूर्ति कहा गया है। इसके अतिरिक्त जिनमें राधाविषयक भक्ति नहीं है वे भी हमारे लिये उपेक्षणीय हैं। इष्ट में भाव के उदय होने का मतलब यह है कि कृपा से विवश होकर वह स्वयं जाने को उद्यत हो जाय, अभिमान करके बैठा न रह जाय। यदि जाने में विलम्ब हो गया, तो श्रीकृष्ण (या भक्त) स्वयं ही घबड़ा कर वहाँ आ जायेंगे। इससे तो कीर्ति नहीं होगी।

यदि कोई कहे कि लक्ष्मी आदि में भी तो प्रेम की भावना है, तो इसका उत्तर यह है कि लक्ष्मी ने सब देवों की उपेक्षा कर भगवान् से प्रीति की थी। वह लक्ष्मी भी श्रीराधा की चरण-सेवा करती है, और लक्ष्मी जिनके चरणरविन्दों का सेवन करती है वह श्रीकृष्ण श्रीराधा की चरण सेवा में तत्पर रहते हैं। ऐसी महिमा-मंडित श्रीराधा वन्दावन की भूमि पर नंगे पैरों चलती हैं। अतः उस भूमि के सम्बन्ध में ही करोड़ों

ऽप्याशास्तु । जन्मान्तराण्यत्र पदे पदे नवनवच्छविलावण्याब्धिषु तन्मयमनस्तयाभीक्षणशो मज्जनोन्मज्जनंनवजन्मधारणमनेन ज्ञेयम् । तेन ममात्रैव पदाङ्कितस्थल्यामाशास्तु । 'अहह !' इत्याश्चर्ये । तादृश प्रियलालितपद्भ्यां चलनेमव प्रेमपराकाष्ठा ज्ञेया । अतः कृपया प्रियोपकण्ठगमनमेव यशस्यम् । तस्माच्चलेति भावः ।। २१६ ।।

मुक्तके तु अन्तरङ्गबाह्यदशापक्षः स्पष्ट एव। प्रेममूर्तितां विवृणोति रसक्रमापेक्षायाम् । एवं सखीनोदनश्रवणजप्रेमोच्छलनमाह—

श्यामश्यामेत्यनुपमरसापूर्णवर्णैर्जपन्ती,
स्थित्वा स्थित्वा मधुरमधुरोत्तारमुच्चारयन्ती ।
मुक्तास्थूलान्नयनगलितानश्रुविन्दून् वहन्ती,
हृष्यद्ररोमा प्रतिपदिचमत्कुर्वती पातु राधा।।२१७।।

रसकलश

बार जन्म लेने पर भी मेरी आशा लगी रहे । जन्म जन्मान्तर की आशा इसलिए की गई है कि प्रत्येक बार नया जन्म लेने पर वृन्दावन-भूमि की नई-नई शोभा और सौन्दर्य के समुद्र में तन्मय होकर निरन्तर अवगाहन करने का अवसर मिलेगा । अतः श्रीराधा के चरणों से चिन्हित इस भूमि के संबंध में मेरी आशा बनी रहे । 'अहह !' कह कर उस भूमि के संबंध में ही आश्चर्य प्रकट किया गया है कि प्रियतम के द्वारा संवाहित कोमल प्रियाजी इस पर चलती हैं । इससे श्रीवृन्दावन के प्रति प्रियाजी का असीम प्रेम सूचित होता है । अतः हे श्रीराधे ! कृपा करिये । प्रियतम के पास स्वयं जाने में ही आपका गौरव है । पधारिये । मुक्तक पक्ष में तो अन्तरंग और बाह्यदशा स्पष्ट ही है ।।२१६।।

मुक्तक पक्ष में अन्तरंग और बाह्यदशा स्पष्ट ही हैं । अब रस के क्रमिक विकास के सन्दर्भ में श्रीराधा के प्रेम-मूर्ति होने का वर्णन करती हैं तथा साथ ही साथ सखी का यह अनुरोध सुनकर कि आप स्वयं प्रियतम के पास जायँ, श्रीराधा के हृदय में जो प्रेम उमड़ा उसका विवरण देती हैं—

'रस के सूचक अधूरे अक्षरों से (अथवा अनुपम रस से परिपूर्ण अक्षरों से) 'श्याम !' 'श्याम !' जपती हुई तथा रुक-रुक कर अत्यन्त मधुरता पूर्वक ऊँचे स्वर से उसी नाम का उच्चारण करती हुई, मोती-जैसी आँसुओं की बड़ी-बड़ी बूंदों को गिराती हुई हर्ष से रोमांचित श्रीराधा मेरी रक्षा करें ।'

'श्याम' इति वीप्सायाम् । 'रसः' सहृदयवेद्य एव । प्रेमोच्छलनेन कान्त नामग्रहणनियमावरोधविस्मृतेः । अत एव वेद्यान्तरास्फूर्त्या 'अनुपमरस' इति । आमंत्रणेन बुद्धिगोचरीकृत्याह्वयतीव । 'अपूर्ण वर्णैः' इति । वाक्य-पूर्णता तु स्फुटैव यथा-'त्वमत्रागच्छ, किं खिन्नोऽसि'—इत्याद्याकाङ्क्षित-त्वात् । अथ पदे वर्णापूर्णता च । अत्युत्कण्ठार्तिगद्गदस्वरेणौष्ठमिलना-शक्यत्वान्मकाराश्रवणम् । वैह्वल्यादन्तस्थवकारस्यैवोक्तिर्ज्ञायते । तदा 'श्याव' इति । अथवा 'श्या' इत्येव । पद्ये 'श्याम' इति कथनं नामसंकेत-ज्ञानेन श्रोतृसखीकर्तृकम् । एतादृशैरनुपमरसत्वद्योतकैरपूर्णैश्च तैर्वर्णैः कृत्वा श्यामश्यामेति जपन्ती । यद्वा 'अनुपमरसा' इति प्रियाविशेषणम् । समुच्छल विगलितवेद्यान्तररसावेशेत्यर्थः ।

अन्यनामसद्भावेऽपि 'श्यामे'तिग्रहणेऽयंभावः—सजले घने यथा सौदा-

रसकलश

'श्याम' शब्द की यहाँ दो बार आवृत्ति हुई है। रस का अनुभव तो सहृदयों को है ही। प्रेमावेश के कारण प्रियाजी भूल गई कि नियमानुसार उन्हें अपने पति का नाम नहीं लेना चाहिए। इसीलिए किसी अन्य विषय से संबंधित ज्ञान के उदय न होने के कारण कहा है—'अनुपमरस'। 'श्याम' संबोधन द्वारा श्रीकृष्ण को बुद्धि के सामने उपस्थित कर मानो बुलाती हैं। 'अपूर्णवर्णैः' (अधूरे अक्षरों से) यह तो स्पष्ट है कि वाक्य पूरा नहीं हुआ, क्योंकि 'श्याम' कहने के बाद 'यहाँ आइये, उदास क्यों हैं ?—यह कहना शेष रह जाता है। 'श्याम' पद के अक्षर भी यथावत् मुंह से नहीं निकले, अतः पद भी अपूर्ण ही रहा। अधीरता के कारण कंठ में आँसू उमड़ आने से स्वर भर्रा गया और होठ जो ठीक-ठीक नहीं मिल सके, इस कारण 'श्याम' का 'म' अक्षर सुनाई नहीं दिया। ऐसा लगता है कि विह्वलता के कारण 'म' के स्थान पर अन्तस्थ वर्ण 'व' ही मुंह से निकलता था। ऐसे में वे 'श्याव' कहती हुई प्रतीत होती थीं। अथवा केवल 'श्या' ही सुनाई दिया। पद्य में 'श्याम' शब्द से शुद्ध रूप का उल्लेख सुनने वाली सखियों द्वारा किया गया है, क्योंकि उन्हें यह ज्ञात था कि प्रियाजी प्रियतम का ही नाम लेकर पुकार रही हैं। इस प्रकार के अलौकिक रस के व्यंजन तथा अधूरे अक्षरों से 'श्याम !' 'श्याम' ! जपती हुई। अथवा 'अनुपमरसा'—यह संधि-विच्छेद कर इस समासान्त पद को प्रियाजी का विशेषण मान लिया जाय। (तव विग्रह होगा—अनुपमः रसो यस्याःसा।) अर्थात् उमड़ते हुए तथा अन्य विषयों के ज्ञान विस्मृत कर देने वाले रस के आवेश में भरी हुई।

श्रीकृष्ण के पर्यायवाची अन्य नामों के होते हुए भी 'श्याम' ही नाम लेने का आशय यह है—जल-भरे बादल में जिस प्रकार बिजली चमक-चमक कर छिप जाती

मिनी चमत्कृतिनिलयादिना शोभते तद्वत् तदङ्के स्फुरद्धासेन स्वमनन रसावेशात् 'श्यामे'ति, त्वमगाधरसभरितोऽसीति स्मारणञ्च, अतलस्पर्श-निर्मलजलस्यैव श्यामत्वदर्शनात्। अपूर्णत्वेन तादात्विकास्वादाकथनीयतां द्योतयति, किञ्चैतन्मनोवेद्यमेवेति। यद्वा वक्रोक्त्याह-अनुपमप्रेमरसात्मक कलङ्करूपोऽसीतित्युन्मुह्य कथनभंग्यन्तर्गतार्थेन श्यामेति। 'जपन्ती' इत्यत्र प्रेमावेशमात्रदशायां तु जपः, पश्चाद्वृद्धिदशायां उत्तरोच्चरणं, तत्र तादृशस्थिरदशायां प्रेमाश्रूणि। अत्र 'जप् जल्प् व्यक्तायां वाचि' इत्यनेन व्यक्तोच्चारणं सन्निहितसखीश्रव्यमेव। जपेऽप्यपूर्णवर्णत्वेऽयथार्थफलश्रवणादप्यत्र प्रेमपत्तनस्थितानां विपरीतैव रीतिर्यदपूर्णवर्णत्वमेव पूर्णप्रेम-फलदम्। किञ्च श्रोतृणां परमवैवश्यकारित्वात् प्रियायाश्च कियदार्ति भरोद्गारेणोत्तारोच्चारणं जातमिति सहृदयगम्यम्।

रसकलश

है और वह दृश्य देखने में बड़ा मनोरम लगता है, उसी प्रकार प्रियाजी की गोद में लेटे हुए श्रीकृष्ण के बीच-बीच में हँसी फूट पड़ती थी और उसी के बारे में सोच-सोच कर प्रियाजी को रसावेश हो रहा था और वह 'श्याम !' 'श्याम !' कह उठती थीं, मानों प्रियतम को इसका स्मरण कराती थीं कि आप रस से लबालब भरे हैं। बादल में भरे अपरिमेय, निर्मल जल की श्याम छवि उन्हें प्रियतम में दिखाई दे रही थी। अक्षरों को अपूर्ण कह कर सूचित किया गया है कि उस समय का आस्वाद अवर्णनीय था। केवल मन ही उसका अनुभव कर सकता है। अथवा वक्रोक्ति का आश्रय लेकर प्रियाजी कहना चाहती हैं कि (अपनी लंपटता के कारण) तुम अनुपम प्रेम-रस के कलंक हो (ठीक उसी प्रकार जैसे कि निर्मल आकाश के अनन्त विस्तार में जल-भरे बादल का कोई टुकड़ा धब्बा की तरह दिखाई देता है)। तो रसावेश में मानसिक स्थिति में संभ्रान्त होने के कारण ऐसी-ऐसी बातें मन में रख कर प्रियाजी 'श्याम-श्याम' जप रही थी। शुद्ध प्रेमावेश की स्थिति में जप रही थीं, बाद में जब आवेश बढ़ा, तो जोर-जोर से पुकारने लगीं। यह जब देर तक बनी रही, तो प्रेम के आँसू उमड़ आये। व्याकरण के अनुसार 'जप्' और 'जल्प्' स्फुट वाणी में कहना है। इसके अनुसार पास की सखियाँ ही स्पष्ट सुन सकती थीं (औरों के लिए वह अस्फुट ही था)। सुनने में यह आता है कि जप-क्रिया में उच्चरित वर्णों के अपूर्ण रह जाने पर ठीक-ठीक फल नहीं मिलता, किन्तु इस प्रेमनगर में रहने वालों की तो सभी बातें उलटी हैं। यहां तो अपूर्ण वर्ण ही प्रेम का पूरा फल देते हैं। प्रियाजी के हृदय की कितनी पीड़ा उस ऊँचे स्वर के द्वारा अभिव्यक्त हो रही थी और उसे सुनकर सखियाँ अपने को कितना निरुपाय अनुभव कर रही थीं—यह सब सहृदय जन ही समझ सकते हैं।

'स्थित्वा स्थित्वा' इति उच्चारे कृते स्थित्वा पुनरुच्चारणमित्यर्थः। अनेन स्तम्भः प्रेमाङ्गम्। अयं भावः—प्रियं प्राप्तमिव मत्वा मिलनास्वादे धैर्यंकृत्वा पुनर्विरहस्मरणेन तादात्विकास्वादमिश्रणपूर्वकं मधुरादप्यति मधुरमिति। यद्वा मधुरं श्रृंगाररसरूपं प्रियमेव, वा मधु मद्यं रातीति मत्ताताकारकं श्रोतृश्रवणमनोवेद्यं कियन्ममत्वेन तासामास्वादो जात इति। 'उत्तार'मित्यत्र 'क्वासि दूरं गतः प्राणवल्लभः' इति सरसभङ्गीस्मारकम्। 'तारम्' तृतीयग्रामस्वरं, घोरो मन्द्रस्तार इति क्रमत्वात्। 'उत्' इति तस्यापि व्युत्क्रमत्वात् स्वरभङ्गः क्षामाक्षरवद् ज्ञेयः। अर्थात् सोऽप्ययथा-स्थित, इति परमरसार्तिः। अत्र द्विदलात्मकरसत्वाद्वियोगस्फूर्ती रस एव। न च दुःखं शङ्क्यम्। अन्यथा 'अनुपमे'ति 'मधुरे'ति पदं नावक्ष्यत्। नित्य-संयोगेऽपि प्रेमोदधितरङ्गविशेषोऽयं ज्ञेयः।

रसकलश

'स्थित्वा स्थित्वा' का अर्थ यह है कि प्रियाजी नाम उच्चारण करते-करते ठहर जाती थीं और फिर करने लगती थी। इसे 'स्तम्भ' नामक प्रेम का एकतम अंग (सात्विक भाव) सूचित होता है। 'मधुर-मधुर' का भाव यह है कि प्रियतम को पास आया हुआ समझ कर मिलन के आस्वाद लेते हुए धैर्य धारण कर नामोच्चारण किया फिर विरह का आभास होने पर मिलन और विरह दोनों के आस्वादों का सम्मिश्रण हो गया, अतः नामोच्चारण मधुर से भी अधिक मधुर हो गया। अथवा 'मधुर' का अर्थ श्रृंगार रस स्वरूप प्रियतम भी हो सकता है, अथवा 'मधु' को देने वाला इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'मस्त बना देने वाला'—यह अर्थ भी संभव है। यह तो सुननेवाली सखियाँ ही जानती हैं कि कितनी ममता से इस नाम का वे आस्वाद ले रही थीं। 'उत्तारम्' (जोर-जोर से) का भाव यह है कि नाम लेते-लेते आनन्द में विभोर हो कर प्रियाजी मानों कह रही थीं—'प्राण वल्लभ ! कहाँ हो ? दूर चले गये क्या ?' तीव्र मध्यम स्वर (मं) को तार कहते हैं। कोमल (रे ग ध नि), मन्द (म़ प़ ध़) और तार (मं) ये तीन प्रकार के स्वर-सप्तक माने जाते हैं। 'उत्तारम्' में 'उत्' का अर्थ यह है कि विक्षोभ के कारण तार स्वर की व्यवस्था का निर्वाह यथावत् नहीं हो पा रहा था। इस तरह गाती थीं कि अक्षरों का उच्चारण शिथिल हो जाता था। अर्थात् कोई क्रम नहीं रहता था। इससे विदित होता है कि रसानुभूति की पराकाष्ठा में जो पीर होती है उसका अनुभव उन्हें हो रहा था। इस संप्रदाय में द्विदलात्मक रस की प्रक्रिया मानी जाती है—अर्थात् श्रीराधा-कृष्ण दोनों रस-निष्पत्ति के अंग हैं। इसीलिये वियोग का स्फुरण रस का प्रयोजक होता है, नकि दुःख का, नहीं तो 'अनुपम' और 'मधुर' न कहते। नित्य संयोग की अवस्था में भी विच्छेद के इस भाव को प्रेम-समुद्र की एक अनोखी हिलोर ही समझना चाहिये।

ततश्च नेत्रयोर्दर्शनार्त्या द्रवणात् 'अश्रुबिन्दून्' इति। तत्र 'मुक्तास्थूलान्' इत्युपमानं सखीहृदयज्ञेयरसास्वादस्मारकं दर्शनीयमेव। अहो! कियद्धृदयभरितरसोद्वर्तनं जातमिति स्थूलत्वम्। ततश्च भावनाजातसंयोगरसावेशात् हृष्यन्ति रोमाणि यस्याः। अन्यथा दुःखे तु 'हृष्यत्' इति नावक्ष्यत्। ततश्च प्रतिपदं प्रतिक्षणं चमत्कारं कम्पं कुर्वती रोमस्वाश्चर्यं जातमिवेति। एवमेव महाभावरूपत्वं श्रीरघुनाथभट्टेन मुक्ताचरितसंज्ञके ग्रन्थे उक्तम्। विस्तरतस्तदुद्धृत्य राधाकृष्णार्चनदीपिकायां लिखितमस्ति, तद्दृश्यम्।

एवं प्रेमविकारोक्त्या साङ्गप्रेममूर्तित्वं विवृतम्। एवं जपन्ती चमत्कुर्वन्तीत्यादिविशिष्टा वर्तमानेन तत्समकालं मां पातु, प्रेमसिद्धान्ताशङ्कां निवारयत्वित्यर्थः। इयत्प्रेमदर्शनमेव मत्पालनं। 'राधे'ति। एवं

रसकलश

इसके बाद नेत्रों को दर्शन की जो पीड़ा हुई उससे प्रियाजी का हृदय द्रवित होगया और आँखों से आँसू बह निकले। मोती जैसे मोटे थे ये आँसू। इस उपमा से विदित होता है कि सखियों को जिस रस की अनुभूति हो रही थी, उसे उनका हृदय ही जानता है। प्रियाजी के नेत्रों से टपकते हुए ये आँसू देखते ही बनते थे कि अहो! किस प्रकार भर-भरकर उमड़ रहा है। इसीलिए आँसू स्थूल थे। उसके बाद संयोग की भावना से रस का जो आवेश हुआ उससे प्रियाजी का रोम-रोम प्रसन्नता से नाच उठा। नहीं तो, यदि उन्हें दुःख का अनुभव हो रहा होता, तो रोमांचों की प्रसन्नता का वर्णन न किया होता। इसके बाद प्रतिपद अर्थात् प्रतिक्षण चमत्कार की सृष्टि करती हुई, रोमों में कंपन पैदा करती हुई– जोकि एक आश्चर्यजनक बात थी—श्रीराधा मेरी रक्षा करें। महाभाव के स्वरूप का ऐसा ही वर्णन श्रीरघुनाथ भट्ट ने 'मुक्ताचरित' नामक ग्रन्थ में किया है, 'राधाकृष्णार्चनदीपिका' में भी विस्तार से उसी को उद्धृत कर इस विषय पर लिखा गया है जोकि देखने लायक है।

इस प्रकार प्रेममूलक विविध भंगियों का वर्णन कर श्रीराधा को पूर्णाङ्ग प्रेम की मूर्ति बताया। उक्त वर्णित रीति से प्रिय के नाम को जपती तथा चमत्कार की सृष्टि करती हुई श्रीराधा, वर्तमान में, अपने प्रेम-प्रदर्शन के साथ ही साथ, मेरी भी रक्षा करें—अर्थात् प्रेम-सिद्धान्त से संबन्धित मेरी आशंकाओं को दूर करें। प्रेम का यह साक्षात्कार ही मेरा पालन करना है। इसी भाव को हृदय में रखकर यहाँ प्रियाजी को 'राधा' नाम से अभिहित किया गया है। इस प्रकार वे मेरे प्रेम की साधिका हैं। अथवा

मत्प्रेमसंसाधयित्री, वा प्रियप्रेमसंसिद्धिः । ते पातु सद्य एव मिलित्वानन्दयत्विति ॥२१७॥

एवं तस्याः प्रेममूर्तित्वमुक्त्वा तस्यापि तादृशत्वमेवाह—

तादृङ्मूर्तिर्व्रजपतिसुतः पादयोर्मे पतित्वा
दन्ताग्रेणाथ धृततृणकं काकुवादान्ब्रवीति ।
नित्यं चानुव्रजति कुरुते संगमायोद्यमं चे-
त्युद्वेगं मे प्रणयिनि किमावेदयेयं नु राधे ॥२१८॥

यादृक् प्रियापूर्णतमसाङ्गप्रेमवती तादृक् प्रेमघनमूर्तिः स, इति केवलासज्यासक्तत्वाधार एव भेदो नत्वाधेयप्रेम्णीति । तदात्मकत्वेप्याधाराधेयत्वं रसात्मकफलवत् । 'व्रजे'ति—तादृशैश्वर्योचित्यमपि तिरस्कृत्य त्वद्दासीपदपतनाङ्गीकारेण, पश्य, तस्य त्वत्प्रेमैवमुख्यः । 'पादयोः' इति द्वित्वं सर्वात्मनेतिसूचकं, उपेक्षीकृत्यान्यतो गमनसंभावनानिरासकञ्चेति । 'अथ' इत्य-

रसकलश

प्रियतम के प्रेम को सफल करने वाली हैं। अतः प्रियतम की रक्षा करे—अर्थात् शीघ्र ही उनसे मिलकर उन्हें आनन्दित करें ॥२१७॥

इस प्रकार श्रीराधा के प्रेमभूति होने का वर्णन कर श्रीकृष्ण का भी उसी रूप में वर्णन करते हैं—

'उसी प्रकार के प्रेमस्वरूप, व्रजराज नन्द के पुत्र श्रीकृष्ण मेरे पैरों पड़ कर तथा दांतों में तिनका दवाकर यदि तरह-तरह की अनुनय-विनयपूर्ण बातें करते हैं, मेरे पीछे लगते हैं और संगम के लिये चेष्टा करते हैं, तो प्रीतियुक्त हे श्रीराधे! मैं कैसे असमंजस में पड़ जाती हूँ, इसे मैं आपसे क्या निवेदन करूँ ? ॥२१८॥

जिस प्रकार प्रियाजी पूर्णतम और सर्वाङ्गीण प्रेम से संपन्न हैं, उसी प्रकार प्रियतम भी प्रेम की सघन मूर्ति हैं। दोनों में भेद इतना ही है कि प्रियाजी आसज्य हैं और प्रियतम आसक्त। जहाँ तक आधेय प्रेम का संबन्ध है, कोई अन्तर नहीं। प्रेममूर्ति होने पर भी युगलस्वरूप और प्रेम आधार-आधेय संबन्ध उसी प्रकार का है जैसे कि रस और रसीले फल में। (जिस फल में रस ही रस भरा है, उसके संबन्ध में यह तो कहा ही जा सकता है कि फल आधार है और रस आधेय।) 'व्रजपति' से यह ध्वनि निकलती है कि व्रजराज के योग्य ऐश्वर्य का भी तिरस्कार कर उन्होंने आपकी दासी के पैरों पड़ना स्वीकार किया तो आप देख लें कि उनके लिये आपका प्रेम ही सर्वोपरि

नन्तरं किं ब्रूयां तस्य दुर्ललितलीलत्वम् ! तावताप्यपरितोषः। दन्ताग्रेण धृततृणकं यथास्यात्तथा-काकुवादान् दैन्योक्तीर्वदति। दैन्येऽपि पराकाष्ठां करोतीत्यर्थः। तावन्तु तद्दैन्यमेव मद्द्रवकारि, तत्रापि बहुत्वं, तत्रापि दन्ततृणं, तत्रापि पदद्वयपतनं स्वकरद्वयकृतमितिज्ञेयं, त्वमेव मच्छरणमितिभङ्गिकम्। इत्येकैकं मद्भूरितरभारका रीत्यघटितघटनं तस्येति। तत्रापि च पुनर्न तावन्मात्रेणैव विश्वसिति, नित्यमेवानुव्रजति। ननु त्वमप्यप्रत्याख्यात् तन्मिलितैत्याशङ्क्य, किं कुर्याः ? तादृशभाराविष्टा यथा त्वदपेक्षितं तथैव साधयिष्यं, इति तं प्रति कथन्न ब्रूयाम् ? कथञ्च प्रत्याचक्षे ? स च तादृशप्रतिश्रुतेऽप्यधीरतां प्रकटयन्ननुगच्छति। तत्रापि नित्यमिति लालसा-वैवश्यम्। 'अनु' इति पदात् तत्प्रतिश्रुतबद्धा त्वत्समीपमागच्छेयम्।

रसकलश

है। 'पादयोः' का अर्थ है—दोनों पैरों पर। यह द्विवचन सूचित करता है कि सर्वात्म-भाव से उन्होंने आत्म-समर्पण किया। उनके संबन्ध में यह संभावना भी नहीं की जा सकती कि आपको छोड़कर वे कहीं अन्यत्र चले जायँगे। इसके उपरान्त उन्होंने मुझे जिस प्रकार परेशान किया, उसके बारे में अधिक क्या कहूँ ? जब इतने से संतोष नहीं हुआ, तो दांतों में तिनका दबाकर दीनता-भरे वचन कहते हैं। भाव यह है कि जब दैन्य पर उतर आते हैं, तो उसकी भी हद कर देते हैं। पहले तो उनकी दीनता ही मुझे पानी-पानी कर देती है, उस पर भी एक-दो नहीं, बहुत-सी खुशामदभरी बातें कहते हैं। उस पर भी दाँतों में तिनका दबा कर आना और उस पर भी दोनों हाथ जोड़ कर दोनों पैरों पर पड़ना ! यह सब करने में उनका हार्दिक अभिप्राय यह रहता है कि मैं ही उनकी रक्षा कर सकती हूँ। इनमें से एक-एक बात का ही मुझ पर भारी वजन पड़ता है। तो इस प्रकार अनहोनी बातें प्रियतम करते हैं। इस पर भी एक और बात यह है कि इतने से ही उन्हें विश्वास नहीं होता। रोज-रोज मेरा पीछा करते हैं। यहाँ कोई कह सकता है—तू उनसे मना नहीं करती, तो अन्दर से मिली हुई मालूम होती है। पर मैं भी क्या करूँ ? यह कैसे हो सकता है कि इस भारी एहसान से दबकर मैं उनसे यह न कहूँ—'अच्छा, जो आप चाहते हैं, वही करूँगी'। ऐसी स्थिति में मना करूँ तो कैसे करूँ ? और उनका हाल यह है कि इस प्रकार वायदा करने पर भी अधीरता प्रकट करते हुये पीछे लगे ही रहते हैं। वह भी एक दिन नहीं, नित्य ! 'नित्यम्' से यह ध्वनित होता है कि लालसा के कारण वह भी लाचार हैं। 'अनुव्रजति' में 'अनु' उपसर्ग की व्यंजना यह है कि उनसे वायदा करके जब मैं आपके पास आने को करती हूँ, तभी यह जानने के लिये कि देखें, किस प्रकार यह सखी मेरी सिफारिश करती है, मेरे पीछे हो लेते हैं। अथवा यह सोचते हैं कि बहुत संभव है कि, यदि सखी

तदैव, पश्यामि कथं मदर्थं वदतीयमिति ज्ञानार्थं, यद्वा कदाचित् कौशलेन विज्ञापने सा मृदुशीला-द्रुता स्यादेव। तदा तत्प्रतिवाक्यागमनकालप्रतीक्षा-विलम्ब सहनेन किं मम ? झटिति तत्रैव प्रभुसमीपं तिष्ठेयमितिहार्दकम-नुगनम्। तत्रापि च मदप्रत्यागमेऽपि मद्वाक्यवशीभवनशीलत्वविश्रम्भेण सङ्गमायोद्यमं कुरुते, तल्पादिपरिच्छदरचनसौष्ठवसज्जीकरणम्। अत्रैव-मेवमेनां रमये, अत्रैव मिलनानन्दोद्यममिति। यद्वा एवं पूर्वोक्तरीत्या-त्वत्सङ्गमायोद्यममिति उपायपूर्वकमिलनमेव परमसौख्यमननम्। यथा या च मिथो दुर्लभता-सा परमा मन्मथस्य रतिः। इति रीत्यावरोधासम्भवेऽपि स्वोपायकरणं दौर्लभ्यद्योतनम्।

इत्येवमाद्युद्वेगं मनसोऽनवस्थानं मे उभयपाशबद्धायाः किंकर्तव्यता-शून्यायाः। स एवं दीनतमोऽनिर्वचनीयो विलम्बासह्यतमप्रार्थनः, त्वञ्च स्वाग्रहपरा प्रभुत्वेन परदुःखास्पृष्टहृदया स्वामिनीति समयानुकूल्येनैव

रसकशल

चतुराई से मेरी बात प्रियाजी के सामने रक्खेंगी, तो स्वभाव की कोमल होने के कारण वे द्रवित हो ही जायेंगी, तब मुझे क्या जरूरत है कि जब तक सखी प्रियाजी का उत्तर लेकर लौटे, तब तक प्रतीक्षा करने के विलंब को सहूँ ? क्यों न कहीं वहीं स्वामिनी के आसपास खड़ा रहूँ। इस भावना से पीछे-पीछे चले आते हैं। फिर यदि मैं न लौटूँ, तो भी इस विश्वास से कि आप (प्रियाजी) मेरी (श्रीहितसखी की) बात को कभी नहीं टालतीं, संगम के लिये अपेक्षित तैयारी करने में जुट जाते हैं—जैसे शय्या को सँभार-सुधार कर उस पर चादर बिछाना तथा सुरुचिपूर्वक उसे सजाना—यह सोच कर कि यहीं प्रियाजी से विहार करने की कहूँगा, मिलन का उद्यम यहीं किया जायगा। कहा भी है—नायक नायिका के एक-दूसरे के लिये दुर्लभ होने पर ही संभोग में प्रीति चरम सीमा पर पहुँचती है। यहाँ बीच में कोई बाधा न होने पर भी अपनी ओर से प्रयास करके दुर्लभता की सृष्टि की जाती है।

उधर मेरी परेशानी यह कि मुझे दोनों पक्षों की बात साधनी है, अतः मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ ? इस असमंजस में मन की स्वाभाविक स्थिति के असंतुलित होने के कारण मुझे जैसी विकलता हो रही है, उसे, हे स्वामिनि, कैसे बताऊँ ? प्रियतम की हालत यह है कि वह, जैसा कि कहा जा चुका है, इतने दीन दिखाई दे रहे हैं कि कहा नहीं जा सकता वे यही रट लगाये हैं कि अब विलंब नहीं सहा जाता। इधर आप हैं कि अपने हठ पर अड़ी हुई हैं। आप स्वामिनी क्या हुई कि दूसरे का दुःख तो आप के हृदय को छूता ही नहीं। मेरी मुसीबत यह है कि अनुकूल समय देखकर मुझे अपनी बात कहनी होती है। इस प्रकार मैं दो कठिनाइयों में फँस गई हूँ। तथापि 'हे

विज्ञाप्यं स्यात्, इत्याद्युभयपाशत्वम् । तथापि हे प्रणयिनि ! न च स्नेह-शून्यासीति । हे राधे ! सकलसंसिद्धिदात्रि ! यो यो यद्भावस्तस्य तद्-भावमेव साधयतीत्यादिविश्रम्भणीये ! 'नु' इति पृच्छायाम् । तटस्थीभूय मत्करणीयं मंत्रं त्वामेव पृच्छामीति किमावेदयेयं, निवेदनं कुर्याम् ? सर्वज्ञाग्रे निवेदने लज्जैवापतेदिति भावः 'कि'मित्यनेन सूच्यते । अनेनैव सर्वं निवेदितमिति वक्तृचातुर्यं स्पष्टमेव ।

यद्वा—'उद्वेगम्' तादृशोक्ततत्तत्क्रियासु यद्युवराजशिरोमणिसौन्दर्यं तत्तद्दर्शनीयमेवेति मल्लोचनविरहं न सहे । इतस्तत्प्रार्थनापि कर्तुमावश्य-केत्यत्रागमनमिति । अतः प्रणयिन्या यत् कर्तव्यं तत्कुरु । अहन्तु यथावृत्तं स्वामिन्यै निवेदयामीति भावः ॥२१८॥

एवं पद्यद्वयेन उभयोः प्रेमाभिलाषातिशयमुक्त्वा तदुत्तरकालीनभविष्णु मिलनानन्दमाह । तत्र तदुक्तिश्रवणोद्दीप्तपरमानुकम्पितहृदयां ज्ञात्वा

रसकलश

प्रणयिनी !—इस संबोधन का अभिप्राय यह है कि आप (प्रियाजी) स्नेह से रहित नहीं हैं और फिर 'राधा' हैं—सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली हैं । जिसका जो भाव है उसी को पूर्ण करती हैं । इस विश्वास के कारण ही आप को 'राधा' कहा जाता है । 'नु' का अर्थ है पूछना तटस्थ होकर—इस भाव से कि मेरे लिए आप दोनों समान हैं—आपसे ही पूछती हूँ कि ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए मैं स्वयं आप से क्या निवेदन करूँ ? आप सर्वत्र हैं, आपके आगे निवेदन करने में लज्जा ही लगेगी—यह भाव 'किम्' से निकलता है । कहने वाली की चतुराई स्पष्ट है कि इतने मात्र से जो कुछ कहना था, सब कह दिया ।

अथवा श्रीहितसखी के उद्विग्न होने का यह कारण है कि, पैरों पड़ने, दांतों में तिनका दवा कर अनुनय-विनय करने आदि विभिन्न क्रियाओं में युवराज शिरोमणी श्रीकृष्ण जितना सुन्दर लगते थे, वह सब देखने हो लायक था, इसलिए मेरे नेत्र (उन्हें छोड़ कर यहाँ आ जाने के कारण) उनके विरह को नहीं सह पा रहे हैं । उधर उनकी प्रार्थना भी आप तक पहुँचानी थी, अतः यहाँ आना पड़ा । अब आप तो प्रीति करने वाली हैं, जो कुछ मुझे करना चाहिए उसे बतलायें । मैंने सव घटना वास्तविक रूपमें स्वामिनी के समक्ष रखदी है ॥ २१८ ॥

इस प्रकार दो पद्यों द्वारा दोनों की प्रेम-संबन्धी उत्कट अभिलाषा का वर्णन कर तदुपरान्त होने वाले मिलन के आनन्द का वर्णन करते हैं । पूर्व पद्य में किए गए वर्णन के साथ प्रस्तुत पद्य के वर्णनीय विषय की संगति यह है कि प्रियतम के संबन्ध में जो कुछ कहा गया था, उसे सुन कर प्रियाजी के हृदय में अभिलाषा जाग उठी । उन्हें इस

निलीय स्थितं संकेतेनाकार्यामेलयदिति संगतिः। ततो विलासश्च, तदनन्तरं हास्यहस्तग्रहादिना वनविहरणे यद्यद्वृत्तं तदाह—

चलल्लीलागत्या क्वचिदनुचलद्धंसमिथुनं,
क्वचित्केकिन्यग्रेकृतनटनचन्द्रक्यनुकृति ।
लताश्लिष्टं शाखिप्रवरमनुकुर्वत् क्वचिदहो
विदग्धद्वन्द्वं तद्रमत इह वृन्दावनभुवि ।।२१९।।

लीलागत्या चलत् तद्विदग्धद्वन्द्वं इह वृन्दावनभुवि रमत इति । अहो ! किमनिर्वचनानन्देन रमत, इति साश्चर्यहर्षेण सखी संवदति हिताली—लीला-कौतुकरूपया गत्या, इति । यद्वा प्रेयोऽनुकरणं लीलेति लक्षणानुसारेण व्याख्याने मिथस्तत्तद्भावानुकृतिपूर्वकं चलतीति । पीतपटावगुण्ठनसलज्ज प्रेयस्यनुकरणं स चलति । सा च साभिलाषतिर्यक्प्रेक्षण-चटुलताद्यनुकृतिः,

रसकलश

इस प्रकार दया से द्रवित देखकर श्री हितसखी ने पास में ही कहीं छिपे हुए प्रियतम को इशारे से बुलाया और प्रियतम से मिला दिया। इसके वाद विहार हुआ, तदुपरान्त हँसते हुए तथा हाथ पकड़ कर वनमें भ्रमण करते हुए जो कुछ हुआ, उसी का वर्णन करते हैं—

'कहीं विलास-पूर्ण चाल से चलता हुआ, कहीं हंस-हंसिनी का अनुकरण करता हुआ, कहीं मोरनी के आगे नाचने वाले मोर का अनुकरण करता हुआ, फिर कहीं लता द्वारा आलिंगित तरुवर का अनुकरण करता हुआ वह विदग्ध युगल-अह ! इस वृन्दावन भूमि में रमण कर रहा है ।। २१९ ।।

विलासपूर्ण गति से चलती हुई विदग्ध श्रीराधा-कृष्ण की वह जोड़ी यहां श्री वृन्दावन में रमण कर रही हैं। अब, किस अनिर्वचनीय आनन्द के साथ दोनों विहार करते हैं इस बात को श्रीहितसखी आश्चर्य और प्रसन्नता के साथ सखी से कहती हैं। लीला गति से दोनों चलते हैं—ऐसी गति जिसमें कुतूहल भरा हो—अर्थात् खिलवाड़ करते हुए चलते हैं और वन के प्रत्येक अंग के प्रति हृदय में अनुराग-भरी जिज्ञासा है, जैसे पहले-पहल देखकर रहे हों। प्रेम-पात्र के अनुकरण को लीला कहते हैं—इस परिभाषा के अनुसार व्याख्या की जाय तो अर्थ होगा—दोनों एक दूसरे के विविध भावों का अनुकरण करते हुए चल रहे हैं। श्रीकृष्ण प्रियाजी की भाँति पीतांबर का घुंघट बना कर लजाते हुए चलते है, श्रीराधा प्रियतम की भाँति अभिलाषा भरी तिरछी नजरों से देखती हुई तथा छेड़खानी करती हुई चलती हैं। अथवा श्रीराधा त्रिभंगी मुद्रा

वा त्रिभङ्गवेणुवादनानुकृतिरिति तत्तद्भावः सहृदयवेद्यः । यद्वाग्रिम-विशेषणानुसारेणानुकरणम् । किञ्च वनभुविस्था हंसमयूरशाखिलता-अतिप्रेष्ठाः । तद्दर्शनेन तद्वच्चलतीति । अत्र वैदग्ध्यं तत्तदनुकृतिव्याजेन विहाराभिलाषपूरणम् । तेदवाह—हंसमिथुनमनुकृत्य चलदिति । क्वचिच्छ-यनादुत्थाय वनविजिहीर्षायां गमनोन्मुखे च तदवलोकनोत्कहंसयुगागमनं वीक्ष्य तद्धर्षयदिव, हृदयहारितद्गतिसौष्ठव बलिग्रहणं स्वगमनद्वारा प्रकाशयदिव गच्छति । करग्रहणपूर्वकचलनाचलनविषयकसममानसोत्थानचरणधृतिनूपुर-झङ्कृत्यवयवसमरक्षणसाकूतनेत्राञ्चनावलोकननिरतिशयस्नेहानुबन्धसकल-क्रियाविच्छेदाभावमानसभावविहारित्वादिसाम्यं द्रष्टसखीहृदयवेद्यं तदानीं दर्शनीयमेव । अत्र मिथोऽनुरागवर्द्धनम् ।

ततः क्वचिदग्रे मयूरमिथुनं भावाविष्टं वीक्ष्य तत्तद्भावोपहारं मत्वा

रसकलश

में बंशी बजाकर प्रियतम का अनुकरण करती है। इस प्रकार के विविध भावों को सहृदय-जन स्वयं समझ सकते हैं। अथवा इसके बाद का जो विशेषण (क्वचिदनुचलद्-हंसमिथुनम्) दिया गया है उसके अनुसार अनुकरण कर रहें हैं। एक बात यह भी है कि श्रीवृन्दावन के हंस, मोर, वृक्ष और लतायें उन्हें बड़ी प्यारी हैं, सो उन्हें देख कर उन्हीं की तरह चलते हैं। तरह-तरह के अनुकरणों के बहाने विदग्धतापूर्वक यहाँ विहार की अभिलाषा को पूर्ण करना ही वास्तविक उद्देश्य है। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'क्वचिदनुचलद्हंसमिथुनम्'। कहीं हंस के जोड़े की नकल करते हूए चलते हैं। किसी समय शय्या से उठ कर वन-विहार की इच्छा से निकलने के लिए ज्यों ही तैयार होते हैं, त्योंहि युगल-स्वरूप को देखने के लिए उत्कंठित हंस के जोड़े को सामने से आता हुआ देख कर उन्हें मानों प्रसन्न करने के लिए प्रिया-प्रियतम चलने की क्रिया द्वारा हृदय को आकर्षित करने वाले गति-सौन्दर्य तथा मोड़ आदि का प्रकाशन करते हुए चलते हैं। हाथ में हाथ डाल कर, कहां चलना है, कहाँ नहीं, इस संबंध में दोनों के संकल्प समान हैं। इसी प्रकार पैरों का उठाना-रखना, नूपुरों की झनकार, अंगों को एक-दूसरे से सटा कर रखना, नेत्रों की कोरों से साभिप्राय देखना, तीव्र प्रेमासक्ति के कारण समस्त क्रिया-कलाप में पृथक् न होने की मानसिक अभिलाषा से विहार करना —ये सब बातें दोनों में समान रूप से पाई जाती हैं जिन्हें सखियाँ ही समझ सकती हैं। इस समय का दृश्य देखते ही बनता था। इससे प्रस्तुत में पारस्परिक अनुराग की वृद्धि सूचित होती है।

इसके आगे किसी स्थान पर मोर के जोड़े को भाव से भरा हुआ देख कर और उसके द्वारा प्रदर्शित किये गये भावों को उपहार मान कर उनका अनुकरण करते हुए

तदनुकृतिद्वारैव तदङ्गीकृति ख्यापयदिव चलति । अत्र पूर्वस्माद्वैलक्ष्यण्यं प्रसादनीयप्रसादकत्वविशेषात् । अत एवाग्रपदेनोभयोः सांमुख्यस्थितिः । केकिन्यास्तादात्विकानुरागसंलापपराया अग्रे कृते नटनं तज्जातीयनृत्य-कौशलं येन, तादृशस्य दर्शनीयचन्द्रकभाराडम्बरविशिष्टमयूरस्येवानुकृतिर्य-स्य तत् । स्वमत्ततया तन्मत्तीकरणतात्पर्यकम् । भावावेशातिगम्भीरकण्ठ-ध्वनिता सकम्पस्तम्भता च सहृदयवेद्या । बहिस्तु कौतुकवशादनुकृतिः, अन्तस्तु महाभावाङ्कुरविजृम्भ इति वैदग्ध्यम् । चलन्त्या अग्रे गतिरोधं कृत्वा झटिति साकूतभङ्गिकाभिमुखस्थितौ कंचुकोत्तरीयाञ्चलभुजादि-विस्तारण सकुण्डलचलन्मुकुटचन्द्रिकास्थगनसविस्फारमिथोनेत्रैकीकरणे यद्यद्भावोदयः स सहृदयवेद्यः ।

ततोऽग्रे लतया गाढाश्लिष्टं शाखिप्रवरं तदर्होपमानीभूतं तमालं वा

रसकलश

चलते हैं, मानों ऐसा करके उनके द्वारा दिये गये उपहार की स्वीकृति को प्रकट कर रहे हों। पद्य के प्रथम चरण में वर्णित हंस के जोड़े के अनुकरण से यहां यह विशेषता है कि हंस का जोड़ा तो युगल को प्रसन्न करने के लिये आया था, पर यहां प्रिया प्रियतम मोर के जोड़े को प्रसन्न करने के लिये आगे बढ़े हैं। उस समय प्रेमालाप में संलग्न मोरनी के आगे अपनी जाति के नृत्य का कौशल प्रदर्शित करते हुये तथा दर्शनीय एवं फैले हुए मोर-पंख के भार से संपन्न मयूर का अनुकरण करने वाला (युगलस्वरूप इस वृन्दावन में क्रीड़ा करता है।) मोर की तरह नाचने का कारण उसे वैसा ही मस्त बना देना था जैसा कि स्वयं मस्त थे। ऐसा करने में भावावेश के कारण कंठ का स्वर गंभीर हो गया था तथा कंपन तथा निश्चलता बारी-बारी से आ जा रही थी जो कि केवल सहृदय-वेद्य है। ऊपर से देखने में तो कौतुक-वश अनुकरण-मात्र किया जा रहा था। किन्तु अन्तर में महाभाव के अंकुर फूट रहे थे—यही विदग्धता थी। यह स्थिति इस प्रकार बनी कि श्रीराधा जब साथ-साथ चल रही थीं, तो प्रियतम ने उनके आगे आकर सामने से रास्ता रोक लिया, इस ढंग से जैसे वह कुछ करना चाहते थे। तब प्रियतम ने अपना जामा, पीत पट का अंचल तथा भुजायें फैला दी (और पंख फैलाये मोर की भाँति दिखने लगें)। इस स्थिति में कुंडलों का हिलना, बन्द हो गया तथा श्रीकृष्ण का मुकुट और प्रियाजी की चन्द्रिका जहाँ की तहाँ ठहर गये। उस समय दोनों की विशाल स्थिर आँखें एक दूसरे को देखने की क्रिया में जैसे एक हो गई। उस समय नेत्रों में से जो भाव झाँक रहे थे, उन्हें सहृदय ही समझ सकते हैं।

इसके उपरान्त आगे बढ़ने पर प्रिया-प्रियतम ने देखा कि कोई लता उत्कृष्ठ कोटि के एक वृक्ष के चारों ओर गाढ़ आलिंगन में लिपटी हुई है। यह वृक्ष तमाल था

कल्पवृक्षतरुं दृष्ट्वा 'पश्य प्रिये ! यथासमयमेवायं बलिदानं करोतीति कथम् आश्लिष्टौ ! तथावामपि भवेव', इत्युक्तिभङ्ग्यापरिहार्यालिङ्गन कौतुकेनभुजोर्वादिसर्वाङ्गदृढाश्लेषे यद्यदुभयविगलितवेद्येतररसवैवश्यं जातं तत् सहृदयवेद्यमेवेति ।।२१९।।

तदेवं क्रीडाकौतुकं निरूप्य तदनन्तरं रतिश्रममपाकर्तुं कालिन्दीतट-कुञ्जे सहर्षं स्थितवतोः शोभामाह—

व्याकोशेन्दीवरमथ रुचा हारि हेमारविन्दम्,
कालिन्दीयं सुरभिमनिलं शीतलं सेवमानम् ।
सान्द्रानन्दं नवनवरसं प्रोल्लसद्केलिवृन्दं,
ज्योतिर्द्वन्द्वं मधुरमधुरं प्रेमकन्दं चकास्ति।।२२०।।

रसकलश

जिसकी उपमा श्यामसुन्दर से दी जाती है, अथवा कल्पवृक्ष । उसे देख कर मानों यह कहते हुए—देखो प्रिये ! यह वृक्ष उचित समय पर अपनी भेंट अर्पण कर रहा है। किस प्रकार ये दोनों एक दूसरे से लिपटे हुये हैं । आइये, हम दोनों भी इन्हीं की तरह हो जायें । अनिवार्य आलिंगन के कुतूहल से प्रेरित हो प्रियतम ने प्रियाजी को भुज-पाश में बांध लिया । इस क्रिया में भुजा, जंघा आदि सब अंगों द्वारा प्रगाढ़ आलिंगन होने के कारण दोनों को बाह्य विषय विस्मृत हो गये और रस के आवेश में वे पराधीन से हो गये । यह सब सहृदयों द्वारा अनुभव करने का विषय है ।।२१९।।

इस प्रकार कौतुक भरी क्रीड़ाओं का वर्णन कर उसके बाद सुरत की थकावट को दूर करने के लिए श्रीयमुना-तट पर स्थित कुंज में जब प्रिया-प्रियतम बैठे थे, उस समय की शोभा का वर्णन करते हैं—

'जिसके मध्य भाग में प्रफुल्ति नील कमल के दर्शन होते हैं, तथा जिसके अन्दर अपनी कान्ति से मन को आकर्षित करने वाला सुवर्ण-कमल विद्यमान है, श्रीयमुना की सुगन्धित शीतल वायु का सेवन करती हुई, सघन आनन्द से ओत प्रोत, विलक्षण रस से परिपूर्ण, उदीयमान केलि-समूह से युक्त, अत्यन्त मधुर और प्रेम का मूल कारण दो ज्योतियाँ सुशोभित हो रही हैं' ।।२२०।।

१ यह अर्थ रसकुल्याकार द्वारा स्वीकृत पाठ के अनुसार है। पाठान्तर के अनुसार दूसरे अर्थ के लिये अन्त में टिप्पणी देखिए।

ज्योतिर्द्वन्द्वं चकास्तीत्यत्र पश्य सखीति संवादः प्रस्तुत एव । 'ज्योति' रिति दूरदृष्ट्या प्रथमतः प्रभामण्डलमेव दर्शनमेति । दूरत्वं कदाचित्ता-दृशीनामपि तन्निःसंकोच विलासावकाशदानार्थं यादृच्छिकमेव । तदनन्तरं तन्मध्यगतं वस्तुद्वयं दर्शयन्ती विशिनष्टि—व्याकोशं प्रफुल्लमिन्दीवरं नीलकञ्जं यस्मिन्नित्येकम् । 'अथ' इति द्वितीयम् । रुचा स्वाङ्गकान्ति-लावण्यादिना मनोहरणशीलं हेमारविन्दं पीतकञ्जं यस्मिन्निति । व्या-कोशत्वोभयनिष्ठत्वेऽपि मनोहारिरूपविशेषेणासज्यत्वं दर्शितम् । नीलस्य तत्कृपाविषयत्वात् फुल्लत्वम् । यथा यथा स्वरुचादानेन मनो हरति तथा तथैव भाग्यं मनुते, इति भावः आसक्तत्वसूचकः । 'हारि' इति हरणशीलं स्वाभाविकमेव, नत्वाहृतक्रियत्वमिति । एवं मनोहारित्वोभयनिष्ठत्वेऽपि पूर्वपद्योक्तदुर्लभविलास प्राप्तिसमयनैकट्याद्धर्षेण फुल्लत्वमेव विशेषः ।

रसकलश

'सखी ! देखो, यहाँ दो प्रकाश सुशोभित हो रहे हैं'—यह वर्तालाप प्रस्तुत किया गया है । 'ज्योति' कहने का आशय यह है कि पहले दूर से देखने पर प्रकाश का एक वृत्त ही देखने में आता है । सखियाँ अन्तरंगा हैं, फिर भी प्रिया-प्रियतम को बिना किसी संकोच के विहार का अवसर प्रदान करने के लिए वे जान-बूझ कर दूर खड़ी हैं । ज्योतिर्मण्डलों को देखने के बाद उनके मध्य में स्थित दो वस्तुओं को दिखाती हुई श्रीहितसखी विशेषणों द्वारा उनका वर्णन करती हैं—'व्याकोशेन्दीवरम्'—प्रकाश-मण्डल के अन्दर एक नील कमल खिला हुआ है । यह हुई एक वस्तु (श्याममुन्दर-स्वरूप) । दूसरी वस्तु है—'रुचा हारि हेमारन्दिम्'—अपने अंगों की प्रभा, सौन्दर्य आदि से मन को आकर्षित करने वाला सोने का कमल दूसरे प्रकाश-मण्डल के मध्य में स्थिति है । कमल दोनों के दोनों खिले हुए हैं, किन्तु पीला कमल विशेष रूप से आकर्षक है । इससे सूचित किया गया है कि प्रियाजी आसज्य हैं – प्रिय की आसाक्ति का विषय है । नील कमल भी उनकी कृपा से ही खिला हुआ है । भाव यह है कि श्रीराधा अपनी कान्ति देकर जैसे-जैसे प्रियतम को अपनी ओर खींचती हैं, वैसे ही वैसे वे अपने भाग्य को सराहते हैं । इससे प्रियतम की आसक्ति का पता लगता है । 'हारि' का अर्थ है—हरण करने वाला । यह प्रियाजी का सहजगुण है, न कि आहार्य । मन को आर्कषित करने की विशेषता दोनों में समान है, तथापि, जैसा कि पूर्व पद्य में वर्णन किया जा चुका है, दुर्लभ विलासानन्द को अनुभव करने का समय निकट आ रहा था, अतः श्याममुन्दर-रूप नील कमल खिल उठा—यह विशेषता है । पीले कमल के खिलने का संकेत दूर-त्वेन इसलिए नहीं किया है कि उसकी उपमेय श्रीराधा स्वभाव से ही लजीली हैं । हाँ,

पीतस्य तु किञ्चिल्लज्जायितशीलत्ववैशिष्टयाद्विशिष्य नोक्तः। तादात्विकानुभावादि सहृदयवेद्यम्।

कञ्जस्य सौकुमार्याधिक्येन तदुचितेष्टभोगमाह—कालिन्दीयं सुरभिशीतलमनिलं सेवमानम्। 'कालिन्दी परमामृतवाहिनी' इति श्रुतिप्रसिद्धया सर्वसद्गुणवैशिष्टय स्फुटमेव। तत्सम्बन्धिवातस्य शैत्यं तत्प्रकृतिकमेव। सौरभमपि तत्कूलगतविविधसौगन्धिकतरुपुष्पादिजम्। मान्द्यन्तु साहजकित्वात्तदन्तर्गतमेव। यद्वा केलिश्रमनिवर्तकवातसेवनहेतुकागमने सुरभिशीतवातस्यैवोपयोगात् तदनुपयोगः। तत्र सेवने आनन्दस्यापि सान्द्रत्वं जातमिति 'सान्द्रानन्दम्'। पुनश्च नवादपि नवो विलक्षणो रस उदितः। ततः पुनरपि केलिविशेषो ज्ञेयः। किञ्च तस्या रुचा हारित्वमपरिहार्यम्, तस्य च चाञ्चल्यपारम्पर्यमिति भूयो रसोदय एव पर्यवस्यति। तत एव

रसकलश

उस समय प्रियाजी की प्रसन्नतासूचक जो चेष्टायें हुई होंगीं, उनका अनुमान सहृदय स्वयं लगा सकते हैं।

कमल में कोमलता अधिक होती है, अतः उसके अनुकूल और प्रिय भोग का वर्णन करते हैं—'कालिन्दीयम्' इत्यादि। श्रीयमुना की सुगन्धित, शीतल वायु का सेवन करते हुए। श्रुतियों में यह प्रसिद्ध है कि 'श्रीयमुना में अमृत-जैसा शीतल जल बहता है।' इस प्रमाण से यह कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रीयमुना सब गुणों से संपन्न हैं। श्रीयमुना का स्पर्श कर बहनेवाली वायु में शीतलता उन्हीं की देन है। उनके तट पर खड़े हुए अनेक प्रकार के सुगन्धित वृक्ष-पुष्पों के संपर्क से वायु भी सुगन्धित है। शीतल और सुगन्धित वायु स्वभाव से ही मन्द होती है, अन्तः मन्दता भी इन दोनों गुणों के अन्दर आ जाती है। अथवा प्रिया-प्रियतम सुरत की थकावट को दूर करने वाली वायु का जब सेवन करने निकले थे, तो उसके लिये शीतल और सुगन्धित वायु ही उपयोगी है, अतः उसका धीमे-धीमे बहना आवश्यक नहीं (इसीलिए पद्य में उसका उल्लेख नहीं किया गया है)। वायु का सेवन करते समय आनन्द भी घना हो गया, अतः कहा है—'सान्द्रानन्दम्' फलतः नये से भी नये, अनिर्वचनीय रस का आविर्भाव हुआ और फिर विशेष केलि हुई—यह ज्ञातव्य है। दूसरी बात यह है कि दुबारा हुई केलि के प्रसंग में यह संभव नहीं था कि प्रियाजी की कान्ति से प्रियतम खिंचे न चले आवें और चंचल न हो उठें। दोनों की अपनी-अपनी इन विशेषताओं के परिणामस्वरूप रस को पुनः उदय होना ही था। इसी आशय से कहा है—'प्रोल्लसत्केलिवृन्दम्'—अर्थात् केलियों के समूह जहाँ उभरते चले आ रहे हों (ऐसी है वह युगलज्योति)। हम सखियों को भी युगल

प्रोल्लसन्ति केलिवृन्दानि यत्र । तत अस्माकमप्येतादृशयथेष्टत्वात् पूर्वतो मधुरादपि मधुरं कथं न लगति । किञ्च प्रेम्ण एव कन्दं मूलकारणं क्षणशः प्रतिक्रीडनं प्रेमैवोदेति । यद्वा प्रेमैव कन्दमाविर्भावकं यस्य तत् ।

'कालिन्दी' इति जलसामीप्यशीतसौरभ्यादिकमलपोषकत्वात् प्रसादगुणोज्जृम्भः । ननु किं वस्त्वित्यपेक्षायां 'सान्द्र' इति घनीभूतानन्द एव कमलत्वेन परिणतः । यद्वा कञ्जदर्शनं सर्वानन्दोदयप्रसरणसाम्यात् परागित्वं ज्ञेयम् । 'रस'—शब्देन मकरन्दस्रावित्वम् । अत एव 'मधुरमधुरम्' भोक्तृसखीहृदयमधुपवेद्यम् । 'केलि'—शब्देनात्र कमलयोर्वातवशोर्ध्वाधस्तिर्यक्कंपसौष्ठवसंघर्षदलधूननादि दर्शनीयमेव । प्रस्तुतद्वन्द्वे तु रसोदयो जातः, अतस्तनाञ्चलनीव्यादिग्रहणे सकम्पकरपल्लवधूननादिकेलिकलहकौतुकं ज्ञेयम् । प्रकर्षोल्लासशब्देन सहर्षहासप्रसादादि परस्परापेक्षितमेव । किञ्चैतयोः प्रेमैव कन्दो मृणालं, अतो नात्र क्वापि प्रेमा-

---

रसकलश

ज्योति का यही स्वरूप अभीष्ट है, तो फिर वह मधुर से भी मधुर क्यों नहीं लगेगी ? फिर वह ज्योति-युगल प्रेम का कन्द अर्थात् मूल कारण है। प्रत्येक क्रीड़ा में, प्रत्येक क्षण प्रेम का ही उदय होता है। अथवा 'प्रेमकन्दम्' का दूसरा अर्थ यह लगाया जा सकता है कि प्रेम ही उस युगल-ज्योति को प्रकट करने वाला हैं।

'कालिन्दी' शब्द से जल की समीपता, शीतलता, सुगन्ध आदि कमलों के पोषक तत्वों की व्यंजना की गई है जिससे यह धारणा बंधती है कि वहाँ के वातावरण में चारों ओर आल्हादकता और निर्मलता व्याप्त है। यदि कोई पूछे कि वह वस्तु क्या है, तो कहते हैं—सान्द्र अर्थात् घनीभूत आनन्द ही कमल के रूप में बदल गया है। अथवा कमल को देखने से ही आनन्द पैदा होकर बिखर-सा जाता है, तो इसी समता के आधार पर आनन्द को ज्योति-द्वंन्द्व रूपी कमल का पराग मान लेना चाहिए। 'नवरसम्' में 'रस' शब्द से सूचित किया गया है कि रस या आनन्द पराग की तरह झरता है। इसीलिये वह रस अत्यन्त मधर है। सखियों के हृदयरूपी भौंरे ही उसके आस्वाद को जानते हैं। कमलों के पक्ष में केली करने का अर्थ यह है कि दोनों कमल वायु के कारण ऊपर-नीचे, तिरछे हिलते हुए बड़े सुन्दर लगते थे और आपस में टकरा कर जब उनके पत्ते काँपते थे, तो वह शोभा देखते ही बनती थी। श्रीराधा कृष्ण-पक्ष में केलि-संबन्धी उल्लास का मतलब यह है कि रस का आविर्भाव होने पर प्रियतम ने स्तन, अंचल, नीवी-सूत्र का स्पर्श किया, तो प्रियाजी ने हाथों से जब उन्हें रोका, तो लज्जा, भय

व्यभिचरति, कन्दैकप्रकृतिकत्वात् । अतस्तन्मूलको रसस्तन्मूलक एवानन्द । लोकेऽपि आनन्दरसयोर्दृश्यमानत्वेऽपि प्रेमव्यभिचारोदृश्यते, सर्ववैरस्यं निरानन्दत्वं च । इत्यतः प्रेमैव रसानन्दयोरुद्भावकः स्थापको नित्यायात-यामत्वसहायकश्चेति । अत्र तु किं वक्तव्यम् ? तद्रूपमेवेति ।

अत्र क्रमेणापि सौक्ष्मपारम्पर्यज्ञानमुक्तं दृश्यते हि । यथा—'तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मम्' इत्यादिवत् पूर्वं ज्योतिस्ततः कञ्जं, ततस्तद्गता-नन्दहर्षाद्याकारज्ञानं, ततस्तन्मूलं रसः, ततस्तत्क्रियाकेलिप्रोल्लासः, ततः तद्गतमाधुर्यं, ततस्तन्मूलं प्रेमेत्यपि सहृदयवेद्यमिति दिक् । वर्तमानेन नित्यमेवैवं चकास्ति ॥२२०॥

रसकलश

और सात्विकभावों के कारण हाथ पत्ते की तरह काँपने लगे । इस प्रसंग में प्रणय-कलह के कौतुक का भी अनुमान लगा लेना चाहिये । उल्लास के आधिक्य (प्रकर्ष+उल्लास) में प्रसन्नतापूर्वक परस्पर हँसना, आनन्दित होना तो आवश्यक होता ही है । दूसरे, प्रेम ही इन दोनों कमलों का कन्द—मृणाल है, इसीलिये युगलस्वरूप के पार-स्परिक प्रेम में कभी नियम-भंग नहीं होता, क्योंकि मृणालों की प्रकृति एक-जैसी है और वे एक ही तत्व से निर्मित हैं । अतः उनके रस का मूल कारण प्रेम ही है और आनन्द का उद्गम-स्रोत भी वही है । लोक में भी आनन्द और रस देखे जाते हैं, किन्तु वहाँ का प्रेम स्थायी नहीं है, इसीलिये वहाँ के सब भोग नीरस और आनन्दशून्य हैं । अतः प्रेम ही रस और आनन्द की भावना को जन्म देने वाला, उसे प्रतिष्ठित करने वाला है । उसे सदा नवीन और तरोताजा बनाये रखने में भी वही साहयक है । प्रस्तुत में तो कहा ही क्या जाय ? यहाँ तो प्रेम, आनन्द और रस का रूप ही है ।

यहाँ यह बताया गया है कि सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम का ज्ञान क्रम-क्रम से से होता है । कहा भी है—'अंजन लगी आँख की तरह जैसे सूक्ष्म वस्तु को देखता है ।' इसी रीति से पहले युगल-ज्योति का दर्शन होता है, फिर उसके मध्य में कमल का, फिर उसकी क्रिया का, उसके बाद तद्विषयक आनन्द और हर्ष की अनुभूति, तदनन्तर उसके मूल कारण रस की, तत्पश्चात् केलि-रूप क्रिया का उल्लास, फिर उसमें व्याप्त माधुर्य और सबसे अन्त में उसके कारणभूत प्रेम का ज्ञान । यह सब अनुभव करने का विषय है । यहाँ तो उसका संकेतमात्र किया गया है । इस प्रकार स्थित होता हुआ युगल प्रकाश शोभा दे रहा है ॥२२०॥*

* श्रीराधारससुधानिधिस्तोत्रम् के बंबइया संस्करण में पद्य के प्रथम चरण का पाठ इस रूप में मिलता है—

'व्याकोशेन्दीवराष्टापदकमलरुचां हरि कान्त्या स्वया यत् ।'

तदेव केलिकन्दत्वं विवृणोति—

कदा मधुरसारिकाः स्वरसपद्यमध्यापयत्
प्रदाय करतालिकाः क्वचन नर्तयत् केकिनम् ।

रसकलश

पूर्व पद्य में युगल-ज्योति को प्रेम का मूल कारण बताया गया था। प्रस्तुत पद्य द्वारा उसी भाव को विस्तार के साथ कहते हैं—

कभी तो मधुर सारिकाओं (मैनाओं) को स्वसंबन्धित रसपूर्ण श्लोक को पढ़ाते हुए, कहीं अपने हाथ से ताली बजाकर मोर को नचाते हुए, तथा किसी स्थान पर

अर्थ है—अपनी कान्ति से, खिले हुए नील-कमल तथा सुवर्ण-कमल की कान्तियों को हरने वाला (ज्योति-द्वन्द्व सुशोभित हो रहा है)।

रसकुल्याकार के द्वारा स्वीकृत पाठ इस प्रकार है—

'व्याकोशेन्दीवरमथ रुचा हारि हेमारविन्दम्'

पूर्व पाठ में 'ज्योतिर्द्वन्द्वम्' का विशेषण केवल एक था। इस पाठ में एक के बजाय दो विशेषण हो जाते हैं=(१) व्याकोशेन्दीवरम्, (२) रुचा हारि हेमारविन्दम्। पूर्व पाठ में 'रुचाम्' षष्ठ्यन्त है, इसमें वह तृतीयान्त है। पूर्व पाठ का अन्वय है—यत् स्वया कान्त्या व्याकोशेन्दीवराष्टापदकमलरुचां हारि (तत्) ज्योतिर्द्वन्द्वं चकास्ति। (अपनी कान्ति से जो नील एवं पीत कमलों की कान्तियाँ हर लेती है, ऐसी युगल-ज्योति सुशोभित हो रही है।) रसकुल्याकार द्वारा स्वीकृत पाठ का अन्वय यह होगा —व्याकोशेन्दीवरं अथ रुचा हारि हेमारविन्दं चकास्ति। इस पाठ में 'रुचा' से पूर्व 'स्व' न होने के कारण अर्थ लगाने में कठिनाई पड़ती है।

जहां तक भावार्थ का संबन्ध है, दोनों पाठों का एक ही है। हां, यह अवश्य है कि पूर्व पाठ में 'यत्' शब्द साकाङ्क्ष बना रहता है—अर्थात् उसके जवाब में चतुर्थ चरण में 'तत्' होना चाहिए था। नियम यह है—'प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं विना साकाङ्क्षः।' (काव्य प्रकाश, सप्तम उल्लास)।

द्वितीय पाठ में उपमानोपमेय भाव का बहिष्कार है। उसके अनुसार तो प्रत्येक ज्योति-मण्डल के मध्य में इन्दीवर और हेमारविन्द विद्यमान हैं, इसीलिये यह विचित्र विग्रह करना पड़ता है—(१) व्याकोशेन्दीवरं यस्मिंस्तत्, (२) हेमारविन्दं यस्मिंस्तत्।

जो कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर पाठ को स्वीकार करने से रसकुल्याकार को अपनी सूक्ष्मदर्शिनी प्रतिभा की क्रीड़ा दिखाने का बड़ा सुन्दर अवसर मिला है।

क्वचित् कनकवल्लरीवृततमाललीलाधनम्
विदग्धमिथुनं तदद्भुतमुदेति वृन्दावने ॥२२१॥

तदद्भुतं विदग्धमिथुनं वृन्दावने उदेतीत्यन्वयः । 'तत्' इति पूर्वोक्तं ज्योतिर्द्वन्द्वम्, अत एवोदयोक्तिः । 'अद्भुतम्' इति क्रीडावैचित्र्यात् तदानीं दर्शनीयमेवेत्यर्थः । 'वृन्दावने' इति विशिष्योक्तिरयमानन्दोऽत्रैवेतिद्योतिका। अथवा 'उदेति' उत्कर्षं प्राप्नोति । तादृशद्वन्द्वस्यापि तत्तल्लीलानन्ददत्वात् सौभाग्यकारकं वनमिति । तत्र मिथुने वैदग्ध्यं सारिकापाठादिकलाकौशलेऽपि किञ्चिद्रसविशेषोदयकरणम् । तदेव विशेषणत्रयेणाह—'कदा' इति ।

निजनिजेष्टगुणगानोत्कण्ठितमानसोल्लाससमये 'मधुर' इति । सार्य एव सारिका इति स्पष्टमेव । स्वार्थे 'क'-प्रत्ययस्य संज्ञार्थे माधुरनाम्न्य एवेमाः । अनुकम्पार्थे तु आबाल्यतो वर्द्धनपोषणत्वात् वात्सल्यविषयाः ।

रसकलश

सोनजुही की लता से आलिंगित तमाल की लीला को अपना सर्वस्व मानते हुए विदग्ध युगल श्रीवृन्दावन में प्रकट हो रहे हैं ॥२२१॥

वह अद्भुत रसिक जोड़ी वृन्दावन में उदित हो रही है—यह अन्वय है। 'तत्' से अभिप्राय पूर्वोक्त युगल-ज्योति का है, इसीलिये उसका उदय होना कहा गया है। 'अद्भुतम्' का अर्थ यह है कि क्रीड़ा करने के कारण इस समय उसकी शोभा देखते ही बनती है। वृन्दावन का विशेष रूप से उल्लेख यह जताने के लिये किया गया है कि यह आनन्द यहीं प्राप्त हो सकता है, अन्यत्र नहीं। अथवा 'उदेति' (उत्+एति) का अर्थ है—अपने उत्कर्ष पर पहुँची हुई है। यह उत्कर्ष वृन्दावन के कारण है जो उस-जैसी अलौकिक जोड़ी को भी विभिन्न लीलाओं का आनन्द प्रदान कर उसके सौभाग्य को बढ़ाता है। युगल-स्वरूप में विदग्धता इस बात की है कि उनमें मैना आदि को पढ़ाने का कौशल तो है ही, साथ ही पढ़ाने की क्रिया ऐसी है कि पढ़ाये जाने वाले पक्षियों को भी रस की अनुभूति होने लगती है। इसी बात को तीन विशेषणों द्वारा कहते हैं—'कदा' इत्यादि।

अपने-अपने इष्ट का गुणगान करने के लिये उत्कंठित मैना आदि का मन जब उल्लास से भर जाता है, तब वे मधुर हो जाते हैं। 'सारि' शब्द में स्वार्थ में 'क' प्रत्यय लगाने से 'सारिका' शब्द निष्पन्न होता है। सार्य एव सारिकाः। यह स्पष्ट ही है।

यद्वा 'स्वादुप्रियौ च मधुरौ' इति स्निग्धस्वरेण कर्णरसायनाः, स्वरूपवर्ण-चेष्टादिभिः प्रियाश्च। यद्वा निजनिजेष्ट प्रेमानुभावकपद्यैः स्वादातिशय-जनकत्वान्मधुररसमूर्तय एवेमा, इति दम्पति हृदयाप्याः। यद्वा मध्वासवं रान्ति ददतीति। अत एव मत्ताद्वन्द्वममूः स्वरसपद्यं पाठयति, यतः पठित्वा निधुवनोत्सवे मादनसमये मधुचषकमिव तत्पद्यं समर्पयेयुरित्यतो 'ब्रूमः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत' इति रहस्यपात्रत्वमेतासां व्यञ्जि-तम्।

तदेव रहस्यमाह--'स्वरस' इति। आसवतासज्यत्वज्ञापकतत्तदुक्ति-योग्यम्। यद्वा स्वस्वाद्यमानानन्दमयात्मकम्। यद्वा स्वीयस्य यो रस इति स्वापकर्षपूर्वक प्रियप्रेमोत्कर्षवर्णनमयः। यद्वा व्यत्ययेन सा च तस्यार्हं, स

रसकलश

संज्ञा होने के कारण इसकी आन्तरिक व्यंजना यह है कि सारिकायें नाम से ही मधुर हैं। अथवा 'सारिका' न कह कर इन्हें 'मधुरा' ही कहना उचित होगा। यदि 'क' प्रत्यय को दया के अर्थ में माना जाय, तो अर्थ यह होगा कि प्रिया-प्रियतम ने इन्हें शैशव अवस्था से ही पाल-पोस कर बड़ा किया है, अतः उनका इनके प्रति वात्सल्य भाव है। अथवा 'मधुर शब्द स्वादिष्ट और प्रिय के अर्थों में प्रयुक्त होता है; कोष के इस प्रमाणानुसार अर्थ होगा—इनका मृदुल स्वर कानों के लिये रसायन (जीवनदायक औषध) के रूप में काम करता है, तथा रूप-रंग, चेष्टा आदि की दृष्टि से भी ये प्रिय हैं। अथवा अपने-आराध्य को उत्कट प्रेम की अनुभूति कराने वाले पद्य सुनाकर ये असीम आस्वाद पैदा करती हैं, अतएव ये मधुर रस की मूर्तियाँ ही हैं। दंपती के हृदयों को, इसलिए, ये तृप्त भी करती हैं। अथवा 'मधु', अर्थात् आनन्द-मदिरा को जो पिलाये उसे 'मधुर' कहते हैं। इसीलिये प्रेमोन्मत्त युगल इन्हें स्वसंबन्धित रसपूर्ण पद्य पढ़ाते हैं, ताकि उन पद्यों को सीखकर, सुरत-उत्सव के अवसर पर जब प्रिया-प्रियतम को मत्त बनाने की आवश्यकता होती है, ये पान-पात्र की तरह उस पद्य को प्रस्तुत कर सकें। कहा भी है— 'गुरुओं का कर्तव्य है कि स्नेहपात्र शिष्य को गोपनीय बात भी बता दें।' व्यंजना यह है कि ये सारिकायें रहस्य की पात्र हैं।

उसी रहस्य को बताते हैं—'स्वरसपद्यमध्यापयत्', (अपने रसपूर्ण पद्य को पढ़ाते हुए)। 'स्वरस' से तात्पर्य ऐसे श्लोक का है जिसकी विषय-वस्तु से यह स्पष्ट विदित हो जाय कि यह पद्य आसक्त (श्रीकृष्ण) से संबन्धित है या आसज्य (प्रियाजी) से तथा जिसमें इन दोनों भावों के अनुकूल उक्तियाँ हों। अथवा 'स्वरस' का अर्थ है

च तस्या, इत्यासज्यासवतार्हवाक्यम् । अत्रापि पाठनसमये द्वयोः श्रवणे सकौतुकपरमानन्दोदयेऽद्भुतत्वं स्यात्, येन प्रत्यक्षानुभूयमानरसादपि तत्तदुक्तिश्रवणानुरागे रसविशेषोदय पद्यान्यपि किञ्चिन्निर्दिश्यन्ते—

विहरति हृदयसरोजे त्यजाति न लवमपि मरन्दपानोत्कः ।
कोऽप्यद्भुतमधुमत्तो गुञ्जन् मदयति मनश्चटूक्तिपटुः ॥

× × ×

बिम्बाधरे यस्य सुधाब्धिकोटिर्नेत्रेऽनुरागामृतसिन्धुकोटिः ।
वंशी करे राजति सिद्धिकोटिः कान्तो लसत्यद्भुतमारकोटिः ॥

रसकलश

उस आनन्द से परिपूर्ण पद्य जिसका युगल-स्वरूप आस्वाद लेते रहते हैं । अथवा अपना रस—अर्थात् ऐसा पद्य जिसमें अपने व्यक्तित्व से संबन्धित रस की अवहेलना कर प्रियतम के प्रेम का उत्कर्ष प्रतिपादित किया गया हो । अथवा, इसके विपरीत, ऐसा पद्य जिसमें प्रियाजी के प्रेम को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया गया हो । प्रियाजी को लक्ष्य कर लिखे गये पद्य में प्रिय के प्रेमोत्कर्ष का वर्णन हो और प्रियतम का वर्णन करने वाले में प्रियाजी के प्रेम को अधिक महत्व दिया गया हो । इस प्रकार सारिका द्वारा पढ़े गये पद्य-बद्ध वाक्य आसज्य और आसक्ति भावों के अनुकूल हों । यहाँ पढ़ाते समय जब प्रिया-प्रियतम दोनों पढ़ाये हुए पद्य को सुनते थे, तो उन्हें आनन्द के साथ-साथ कौतुक भी होता था जिससे कि वह सब बहुत ही अद्भुत लगता था । बल्कि कहना यह चाहिए कि प्रत्यक्ष रूप से जिस रस का अनुभव होता था, उससे अधिक रस का संचार उन विविध उक्तियों को अनुरागपूर्वक सुनने से होता था । इस प्रकार के कुछ पद्यों के नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

'फुसलाने वाली बातें करने में निपुण, मकरन्द का पान करने के लिए अधीर, अद्भुत मधुर मकरन्द पीकर मस्त कोई (नायकरूपी भ्रमर) गुनगुनाता हुआ मन को मस्त बना देता है और हृदय-कमल पर विहार करता हुआ क्षण-भर के लिए भी उसे नहीं छोड़ता ।'

× × ×

'जिनके बिम्ब-फल जैसे अधर में कोटि-कोटि अमृत के समुद्र लहराते हैं, नेत्रों में प्रेमामृत के करोड़ों समुद्र छलछलाते हैं, करोड़ों कामनाओं को पूर्ण करने वाली मुरली जिसके हाथ में सुशोभित है, करोड़ों अद्भुत कामदेवों के समान ऐसे प्रियतम शोभा दे रहे हैं ।

इत्यादि प्रियामुखोक्तिः । अथ प्रियस्य—

मूर्तिमतीव प्रीती रससिन्धोः सारसम्पदिव विमला ।
वैदग्धीनां हृदयं काचन वृन्दावनाधिकारिणी जयति ॥१॥

× × ×

कालिन्दीतटकुञ्जे पुञ्जीभूतं रसामृतं किमपि ।
अद्भुतकेलिनिधानं निरवधिराधाभिधानमुल्लसति ॥२॥

'तत्सौन्दर्यं स च नवनव' इति[1] (३), ''गात्रे कोटितडिच्छवी'ती, (४) 'लावण्यं परमाद्भुतम्' इति (५) । उभयोक्तिर्यथा—''त्वयि श्यामे नित्यं' इति (६) ।

रसकलश

उपर्युक्त पद्य प्रियाजी की उक्तियाँ हैं । अब प्रियतम की उक्तियाँ देखिए—

प्रीति की मानों साकार मूर्ति, रस-समुद्र की सारभूत संपत्ति की तरह निर्मल, समस्त चातुरी का एकमात्र निवास-स्थान कोई अनिर्वचनीय श्रीवृन्दावन की स्वामिनी सर्वोत्कर्षपूर्वक सुशोभित हैं ।' (श्रीराधा०सु० १६६)

× × ×

'श्रीयमुना के तटवर्ती निकुंज में, विचित्र केलियों का निधान कोई अनिर्वचनीय श्रीराधानामक घनीभूत रसामृत अनन्तरूप से उल्लसित हो रहा है ।
(श्रीरा०सु० १६८)

× × ×

'श्रीराधिका का यह विलक्षण सौन्दर्य, नये-नये ढंग से यौवन में शोभा का प्रवेश'—इत्यादि । (श्रीरा०सु० ८४), 'श्रीअंगों में कोटि-कोटि बिजलियों की चमक है—इत्यादि (श्रीरा० सु० ६८), 'लावण्य अत्यन्त आश्चर्यजनक है'—इत्यादि । (श्रीरा० सु० ११८)

दोनों का उदाहरण—'हे श्रीश्यामे ! हे स्थायी रूप से प्रेम करने वाली !'—इत्यादि । (श्रीरा० सु० १४६)

१. तत्सौन्दर्यं स च नववयोयौवनश्रीप्रवेशः
सा दृग्भङ्गी स च रसघनाश्चर्यवक्षोजकुम्भः ।
सोऽयं बिम्बाधरमधुरिमा तत्स्मितं सा च वाणी
सेयं लीलागतिरपि न विस्मर्यते राधिकायाः ॥

अर्थ—श्रीराधिका का वह विलक्षण सौन्दर्य, नए-नए ढंग से यौवन में शोभा का वह प्रवेश, नेत्रों की वह टेढ़ी चितवन, अद्भुत, घने रस से परिपूर्ण वह कुच-कलश, बिंबफल के समान अधर

एवमध्यापयदिति द्वन्द्वविशेषणम्। पुनश्च 'क्वचन' इति निजनृत्य-कलाकौशलेरिततद्विद्यादानौत्सुक्यसमये केकिनं स्वजातीयमधुरभाषिणं

रसकलश

इस प्रकार पढ़ाती हुई। यह द्वन्द्व (जोड़ी) का विशेषण है। और फिर कहीं अपने कला-नैपुण्य से प्रेरित होकर इन्हें विद्या-दान करने के लिये उत्कंठित होते, तो

की वह माधुरी, वह मुस्कान तथा वाणी का वह विलास और वह यह मतवाली चाल भुलाई नहीं जा सकती। (श्रीरा० सु० ८४)

२. गात्रे कोटितडिच्छवि प्रविततानन्दच्छवि श्रीमुखे
बिम्बोष्ठे नवविद्रुमच्छवि करे सत्पल्लवैकच्छवि।
हेमाम्भोरुहकुड्मलच्छविकुचद्वन्द्वेऽरविन्देक्षणं
वन्दे तन्नवकुञ्जकेलिमधुरं राधाभिधानं महः॥

अर्थ—जिनके श्रीअंगों में कोटि-कोटि बिजलियों की चमक है, श्रीमुख में विस्तृत आनन्द की छवि है, बिंबफल के समान ओठ में नवीन मूंगे की प्रभा है, हाथ में सुन्दर पल्लव की शोभा है, दोनों स्तनों में स्वर्ण-कमल की कलियों की कान्ति है, कमल के समान नेत्रों से युक्त है तथा नूतन कुंजविहार के कारण दर्शनीय है—ऐसे श्रीराधा नामक उस तेज को मैं नमस्कार करता हूं। (श्रीरा० सु० ६८)

३. लावण्यं परमाद्भुतं रतिकलाचातुर्यमत्यद्भुतं
कान्तिः क्वापि महाद्भुता वरतनोर्लीलगतिश्चाद्भुता।
दृग्भङ्गी पुनरद्भुताद्भुततमा यस्याः स्मितं चाद्भुतं
सा राधाद्भुतमूर्तिरद्भुतरसं दास्यं कदा दास्यति॥

अर्थ—सुन्दरशरीर वाली जिसका परम अद्भुत सौन्दर्य है, रति-कला में कुशलता भी अत्यन्त विस्मयजनक है, कोई अनिर्वचनीय कान्ति अत्यन्त अद्भुत है और विकासपूर्ण गति भी अत्यन्त आश्चर्यजनक है, नेत्रों की कुटिलता तो आश्चर्य की पराकाष्ठा है, मुस्कान अद्भुत है, अद्भुतता की साकार विग्रह वह श्रीराधा अद्भुत रस से परिपूर्ण अपनी दासता कब देंगीं? (श्रीरा० सु० ११८)

४. त्वयि श्यामे नित्यप्रणयिनि विदग्धे रसनिधौ
प्रिये भूयोभूयः सुदृढमनुरागो भवतु मे।
इति प्रेष्ठेनोक्ता रमण! मम चित्ते तव वचो
वदन्तीति स्मेरा मम मनसि राधा विलसतु॥

अर्थ—'हे श्रीश्यामे, हे स्थायीप्रेम करने वाली! हे विदग्धे! रस की निधिस्वरूप आप में मेरा बार-बार प्रबल अनुराग हो।' इस प्रकार प्रियतम के कहने पर (प्रियाजी ने उत्तर दिया)—'हे रमण! मेरे चित्त में आपकी ही कही हुई बात है—इस प्रकार कहती हुई मन्द मुस्कराती श्रीराधा मेरे मन में विलास करें। (श्रीरा० सु० १४६)

विद्युद्घनवदाकस्मिकदम्पत्युदये दर्शनोत्कण्ठातिरेकिणमागतं, तदेकनिष्ठं, दम्पतिशिक्षास्वादलोलुपं 'नर्तयत्' इति। करतालिकाः प्रदायेति बहुत्वं नानागतिविषयत्वात्तालानाम्। स्वसम्प्रदायवैलक्षण्येन निजकरतालीदानं नखचन्द्राङ्गुलीयकचञ्चद्युतिवर्णारुण्यकम्। कङ्कणवलयादिझणत्कारादि-शोभा भावनीया। तत्र च किञ्चित्तत्तत्थे इत्यादिसंगीतोद्घटनमपि मुखेन ज्ञेयम्।

अत्र द्वयोर्वैदग्ध्यं, कलाकौशलं, कौतुकिप्रभुत्वं तु स्पष्टमेव। अन्य-च्चापि प्रियस्य केकिदर्शने प्रियास्नानविलासान्तान्यतमकालीनविश्लथदृष्ट-कबरभारसुषमोद्दीपनानन्देन तन्नर्तने रसोदयः। प्रियायाश्च पूर्वकालीन-स्वमादनावस्थादृष्टशिखिशिखण्डमुकुटभावोद्दीपनानन्देन तदुदयश्च। अन्य-

---

रसकलश

उस समय स्वभाव से ही मधुरभाषी कोई मोर बिजली चमकते हुए बादल की तरह श्रीराधा-कृष्ण को वहाँ अकस्मात् आया देख कर दर्शन की लालसा से आ जाता था। तब अपने में अनन्य श्रद्धा रखने वाले, शिक्षा का स्वाद लेने के लोभी उसे हाथों से ताल दे-देकर नचाते थे। गति के अनुसार तालों के अनेक प्रकार होते हैं, अतः 'तालिकाः' में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। अपने हाथ से ताल देने का उनका अपना एक विचित्र ढंग था जिसमें चन्द्राकार नाखूनों और रत्नजटित अँगूठियों में से लाल रंग की कान्ति छिटक कर आन्दोलित होती थी। साथ ही में कँगना, कड़ा आदि की जो झनकार निकलती थी, उसकी शोभा की भावना भी कर लेनी चाहिए। इस अवसर पर मुख से ताथेई आदि संगीत का प्रकट होना भी समझ लेना चाहिए।

यह तो स्पष्ट ही है कि दोनों विदग्ध थे, कला में निपुण थे, कौतुक में आनन्द लेते थे और सब प्रकार से समर्थ थे। दूसरी बात यह कि नाचते हुए मोर को देखकर किसी अन्य समय में स्नान-क्रीड़ा करने के उपरान्त प्रियाजी का उन्मुक्त केशपाश जो प्रियतम ने देखा था, उसकी शोभा का स्मरण कर उनके हृदय में रति का संचार हुआ और तज्जन्य आनन्द की पृष्ठ-भूमि में मयूर के नृत्य में भी उन्हें आनन्दोपभोग की सामग्री मिल गई। प्रियाजी ने भी किसी समय अपनी उन्मत्त दशायें, मोरपंखी मुकुट धारण किये प्रियतम की छवि को जिस प्रकार सराहा था, वही भाव इस समय भी उनके हृदय में उदित हो गया और उसके उद्दीपन से उन्हें आनन्द का अनुभव होने लगा। एक बात और भी है। जो व्यक्ति इस प्रकार नाचने के लिए उतावला है, उसे तो नृत्य-कला सिखानी ही होगी—इस विचार से, व्यंजना द्वारा, अपने आपको मोर की श्रेणी में रखकर प्रियतम यह सूचित करते हैं कि मैं भी नृत्य-कला की शिक्षा

च्चापि एवं यो यो मनोग्रनर्तनपरः स स शिक्षणीय एवेति केकिनि स्वसजातीयतां व्यज्य स्वस्य शिक्षापात्रत्वं सूचयति, तिच्छिखण्डधारणेन साजात्यत्वम्—इत्यादि विदग्धानां मानसोक्तिबोधः सहृदयगम्यो नापूर्वः।

तदानीं तथैव मनोव्यवहारविदग्धा सा तज्ज्ञात्वा सप्रसादेषल्लज्जावलितभ्रूभङ्ग्या 'किमहं स्फुटं ब्रूयाम्? तथैव त्वदासक्त्या नर्तितास्मि, पृच्छ, त्वन्मन एव साक्षि', इति व्यञ्जयन्ती नर्तितवती। यथा—'इति प्रेष्ठेनोक्ता रमण! मम चित्ते तव वचः' इत्यादिरीतिकं सखीवेद्यम्।

पुनश्च 'क्वचित्' इति 'अहो! किञ्चिदस्मत्समानशीलव्यसनमपि वनेऽस्ति यदस्मान् वैदग्ध्यं शिक्षयेत्' इति वनशोभादिदृक्षोल्लाससमये कनकवल्लर्या स्वर्णयूथीवल्या वर्णिन्या वर इव वृतं तमालं दृष्ट्वा 'पश्य वर्णिनि! कथं मिलितावेतौ फुल्लितौ च शोभते। एवमावामपि कुर्याव'

रसकलश

ग्रहण करने के लिये उचित पात्र हूँ। मोर-पंख को धारण करने के कारण प्रियतम ने अपने को भी मोर-जाति से संबद्ध कर लिया। दंपती के द्वारा अपने-अपने मन में कही गई इन बातों का ज्ञान सहृदयों को ही हो सकता है, और यदि होता है, तो यह कोई अनोखी बात नहीं है।

विदग्ध होने कारण प्रियाजी जानती थीं कि उस समय प्रियतम के मन में क्या-क्या भाव उठ रहे थे, अतः कृपा-भाव से उच्छ्वसित होकर किंचित् लज्जा से भौंहों में बल पटलती हुई कहती हैं—'मुझ से अब स्पष्ट क्यों कहलाते हो? मैं तो तुम्हारी आसक्ति से प्रेरित होकर ही नाच उठी हूँ। अपने मन से पूछो न। वही इसका साक्षी है—यह ध्वनित करती हुई नाचने लगीं। मन के कुछ ऐसे ही भाव एक पूर्व पद्य (१४९) में इस प्रकार व्यक्त किए गए हैं—'हे श्रीश्यामा जू! हे नित्य प्रणयिनि हे विदग्धे! रस की निधि-स्वरूपा आप में मेरा दृढ़ अनुराग हो।' प्रियतम के ऐसा कहने पर प्रियाजी ने उत्तर दिया—'हे विलासी! मैं भी यही बात कहना चाहती हूँ।' भावों की इस प्रकार की शैली को सखियां ही जानती हैं।

(पद्य के उत्तरार्द्ध द्वारा) अब दूसरी भावपूर्ण स्थिति का वर्णन करते हैं—'क्वचित् कनकवल्लरी'--इत्यादि। 'अहो! वन में क्या ऐसी भी कोई चीज है जो हमारे स्वभाव और रुचि से मेल खाती हो और हमें विदग्धता सिखलाये?'—यह सोच कर वहाँ की शोभा को देखने की इच्छा से विचरण करते हुए युगल ने वरनी सौनजुही के द्वारा वर के रूप में चुने गये तमाल को देखा। 'दुलहिन! देखो, ये दोनों किस प्रकार

इति कौतुकेन प्रियेणोक्ता सा वैदग्ध्यकौतुकच्छलिता तथैव कृतवती । तदा प्रत्यङ्गपरिरम्भणकौतुके कश्चिदनिर्वचनीयरसः सिद्धः । तदा तल्लीलैव धनं सर्वस्वं यस्य तत् । अत्र धनोक्त्या अध्यापननर्तनकर्मभ्यां प्रसन्नं वृन्दावनं दम्पती प्रति कनकवल्लरीवृततमाललीलाप्रदर्शनरूपधनं दत्तवत्, इति प्रभुत्वमस्य वनस्य व्यज्यते । अत एव 'वृन्दावने उदेति' इत्युक्त्या गुणिन एतादृशवनराजाग्र एवोत्कर्षं प्राप्नुवन्ति, इति व्यक्तीकृतम् ॥२२१॥

एवं रसपद्याध्यापनवल्लीतमालवेष्टनोद्दीपनेन विलाससमुत्सुकताभिव्यक्ता । तत्र वनविहारश्रमलुप्ताङ्गरागतां दृष्ट्वा यावदहं संक्षिप्ताङ्गरागं संपादये तावदसंकोचार्थं लतान्तरे भवांस्तिष्ठतु, तत्र सखीभिरपि स्वश्रृङ्गारं कारयचेति प्रियं लताजवनिकान्तरे संस्थाप्य स्वयं तथैव पुष्पासने प्रियां निधाय सेवां प्रार्थयति—

रसकलश

परस्पर मिले हुए हैं और प्रफुल्लित होकर सुशोभित हो रहे हैं । आइए, हम भी ऐसा ही करें ।' प्रियतम ने कौतुक में भर कर प्रियाजी से जब यह कहा, तो विदग्धता तथा कुतूहल से उमड़कर प्रियाजी ने वैसा ही किया । उस समय अंग-अंग के परस्पर आलिंगन और कौतुक के प्रसंग में किसी विलक्षण रस की सृष्टि हुई । तमाल की यह लीला-युगल-स्वरूप को अपना सर्वस्व प्रतीत हुई । 'धन' कहने का यहाँ तात्पर्य यह है कि दंपती द्वारा मोरों को नृत्य सिखाने तथा स्वयं नाचने से प्रसन्न होकर श्रीवृन्दावन ने उन्हें सौनजुही द्वारा आश्लिष्ट तमाल की लीला का दृश्य उपस्थित कर धन के रूप में उसे दंपती को दिया । इससे वन की प्रभुता व्यंजित होती है । इसीलिए 'श्रीवृन्दावन में प्रकट हो रहा है'—यह कहकर यह भाव व्यक्त किया गया है कि गुणी लोग ऐसे वनराज के समक्ष ही अपना उत्कर्ष प्राप्त करते हैं ॥२२१॥

पूर्व पद्य में बताया कि मैना आदि पक्षियों को रसपूर्ण पद्य पढ़ाने तथा लता से आलिंगित तमाल का दृश्य देखने से श्रीराधा-कृष्ण के हृदय में रति जागृत हुई और वे विहार के लिए उत्कंठित हो गये । श्रीहितसखी ने वहाँ देखा कि वन-विहार के परिश्रम के कारण प्रियाजी के अंगराग पुँछ गए हैं, तो प्रियतम से कहने लगीं—'जब तक मैं प्रियाजी के थोड़ा-सा अंगराग लगाऊँ, तब तक आप लताओं की ओट में हो जाइए ताकि प्रियाजी को कोई संकोच न हो । और देखिए, सखियों से कह कर अपना भी श्रृंगार करा लीजिए ।' इस प्रकार प्रियतम को लताओं के पर्दे के पीछे बिठा कर और प्रियाजी को फूलों के आसन पर विराजमान कर श्रीहितसखी सेवा के संबन्ध में अपनी अभिलाषा व्यक्त करतीं हैं—

पत्रालीं ललितां कपोलफलके नेत्राम्बुजे कज्जलं
रंगं बिम्बफलाधरे च कुचयोः काश्मीरजालेपनं।
श्रीराधे ! नवसंगमाय तरले पादाङ्गुलीपंक्तिषु
न्यस्यन्ती प्रणयादलक्तकरसं पूर्णा कदा स्यामहम्
॥२२२॥

'नवसङ्गमाय' इति 'विच्छेदाभास' इति पद्यसिद्धान्तितप्रेममूर्तित्वात् सदा नवत्वमेव सङ्गमे हि। यद्वा नवोक्तिरत्र प्रियसङ्गस्ते सदा मौग्ध्यज-भयशङ्कादिकरणात्प्रथमसमागमवन्नव एव भासतेऽतो व्यतीतबहुशिक्षा-समया कदा प्रौढत्वमेष्यतीतिभङ्गिका। 'तरले' इति विश्रब्धसङ्गिनीषु सङ्गमार्थगमनत्वरार्थकतारल्यद्योतनं नासंभाव्यम्। यद्वा 'एकं काञ्चन' इत्यत्र 'नैवानुकूलं बहिः' इति स्वभावध्रुवताहानान्नात्र त्वरा गमनार्थका, किन्तु तत्तच्छृङ्गारकरणकालिक परिहासजभाविसङ्गमस्मृत्युदयात्स्मितसंको-

रसकलश

नव-संगम के लिये अधीर हे श्रीराधे ! आपके कपोल-पट्ट पर पत्रावली को, कमल जैसे नेत्र में काजल को, बिंबफल के समान होंठ पर रंग को, कुचों पर केसर को और चरणों की अँगुलियों की पंक्तियों में प्रेम से महावर लगाती हुई मैं कब पूर्ण-रूप से कृतार्थ हूँगी ॥२२२॥

'नवसंगमाय' की व्याख्या करते हैं—'विच्छेदाभासमानात्'—इस पद्य (१७३) में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि श्रीराधा-कृष्ण प्रेम की अद्भुत मूर्ति हैं। इसके अनुसार उनके संगम में सदा नवीनता बनी रहती है। अथवा सगम को नया बताने में श्रीहितसखी प्रियाजी से यह कहती लगती हैं—'अपनी मुग्धावस्था के कारण तुम प्रियतम से सदा डरी-डरी और सशंक ही बनी रहती हो, जैसे पहले-पहल मिलने जा रही हो। इतने दिन तुम्हें सिखाते हुए हो गए, न-जाने तुम्हारी यह झिझक कब दूर होगी ?' प्रियाजी को संगम के लिये 'तरल' - अधीर इस अर्थ में कहा गया है कि विश्वासपात्र सखियों के बीच में बैठी हुई उन्हें प्रिय से मिलने की जल्दी है, और इस स्थिति में उनका चंचल हो उठना असंभव नहीं है। अथवा 'एकं काञ्चनचम्पक-च्छवि'—इस पद्य (१६९) में प्रियाजी के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ऊपर से वे प्रिय के अनुकूल नहीं दिखतीं। संगम के लिये जल्दी दिखाने से उनके इस अटल स्वभाव में अन्तर आता है, अतः यह मानना होगा कि इस अवसर पर प्रियाजी जाने की जल्दी में नहीं हैं, बल्कि उस समय विविध शृंगार करते हुए जो हास-

चार्थकचण्डनताडनमय्येव। त्वच्चाञ्चल्येन नाद्यावधि कदापि शृङ्गारपूर्तिर्जाता, अतो मत्सेवासौष्ठवं मय्येव स्थितं, त्वया विनोदिन्या कदापि पूर्णतया नाङ्गीकृतम्। अत एव 'कदा पूर्णा स्याम्' इति वक्ष्यति। स्वाधिकारसौष्ठवेन पूर्णभवनं हि! अतो हे श्रीमति राधे! मत्प्रार्थनासिद्धिकरणमुचितमेवेति। यद्यलसा चेत् पत्राल्यादिसंक्षिप्तरचनमेवादिश, न विस्तरमिति भावः।

'ललिताम्' इति कथनं 'पश्य दर्पणे' कीदृशीं पत्रावलीं 'रचये', इति तन्मनोवर्द्धनार्थं हि। पत्रे पंक्तौ च लालित्यं यथार्हसौष्ठवम्। तत्र पत्राणां कपोलदेशार्हसूक्ष्मत्वं ज्ञेयं, अन्यथा मकरिका पत्रिकेत्येवावक्ष्यत्। न्यासोऽत्र कोमलपिच्छमयलेखिनीकृतकाश्मीरजपत्रमयो ज्ञेयः। फलके चित्रकारमनःप्रसादकरलिखनार्हनैर्मल्यादिगुणयुक्ते पदे। एवमम्बुजबिम्बफलोक्तिरपि

रसकलश

विलास चल रहा था, उससे प्रियाजी को आगामी संगम का स्मरण हो आया और वे मुस्कराने लगीं। इस मुस्कराहट को रोकने के लिये श्रीहितसखी डाट बताते हुए कहती हैं—'तुम्हारी इस चंचलता के कारण आज तक कभी पूरा श्रृंगार नहीं हो पाया। रच-पच कर सेवा करने के मेरे अरमान मेरे दिल में ही रह गये। तुम्हें इतना हँसी-मज़ाक सूझता है कि मेरी सेवा को कभी पूरी तरह स्वीकार ही नहीं किया। पद्य के अन्त में कहा है—'मैं पूर्ण कब हूँगी?'—अर्थात् यथावत् सेवा करने के अपने अधिकार का पूर्णरूप से कब विनियोग करूँगी। अतः हे श्रीमति श्रीराधे! मेरी प्रर्थना को सफल बनाना उचित ही है। यदि आलस्य आ रहा हो तो संक्षेप में ही पत्रावली की रचना करने की आज्ञा दीजिए, न सही विस्तार' यह भाव है।

पत्रावली को 'ललित' जो कहा है, सो उत्साह बढ़ाने के लिए कि 'ज़रा देख तो लीजिये कैसी सुन्दर पत्रावली अंकित करती हूँ। पत्रावली तथा चरणों में लगाई जाने वाली अलता की बूँदों की पंक्तियों के सुन्दर होने का अभिप्राय यह है कि जहाँ जैसा सुन्दर दिखाई दे, वहाँ वैसी ही रचना करना। कपोलों पर अंकित की जाने वाली पत्रावली यही न समझनी चाहिये, नहीं तो पत्तों और मकरियों के अंकन की बात कही होती। 'न्यास' से अभिप्राय यहाँ पंख की कोमल कलम से केसर के रंग द्वारा पत्रावली बनाना है। 'फलक' से तात्पर्य ऐसे पट्ट (कैनवास) का है जो कि साफ-सुथरा तथा अन्य गुणों से युक्त हो, अतएव ऐसी चित्र-रचना के उपयुक्त हो कि चित्रकार का मन प्रसन्न कर सके। इसी प्रकार नेत्रों को कमल और होठ को बिंबफल भी पहले की तरह

पूर्ववन्मनोवर्द्धका हि । 'रङ्गम्' इत्यत्रालक्तकाद्यरुणरङ्गेणाधरोष्ठरञ्जनस्य पूर्वकाव्याद्युक्तावप्याधुनिकाप्रसिद्ध्या ताम्बूलदानमेव ज्ञायते ।

एवमङ्गत्रयमचाञ्चल्य एव सूक्ष्मदृशा रञ्जायितुं शक्यम् । कुचयोश्च काश्मीरजस्य सर्वतो लेपनं पादाङ्गुलीष्वलक्तकमिति द्वयं स्थूलदृशा त्वद्धैर्य-मनपेक्ष्यापि कर्तुं शक्यत, इति प्रशंसानुक्तेर्व्यङ्गम् । पंक्त्युक्तिः 'पश्य, नखचन्द्रावलीसुषमा कथं मनो हरते', इत्यौत्सुक्यवर्द्धका हि । यद्वा यावक-चित्ररेखां पदौ समीकृत्य कदाप्यहं द्रष्टुं न शक्तेति तारल्याक्षेपव्यञ्जिका । रसत्वेऽपि विशिष्योक्तिः प्रियस्य कथं कथमास्वाददावेतौ पदाविति रञ्जनकालिकस्मृतरसास्वादानुभवेनायमलक्तको रसरूप एवेति। वा रतान्ते तदङ्कितप्रियदर्शनानन्दात् सखीभिः संकेतितेति प्रदर्शिका ।

रसकलश

प्रियाजी का उत्साह बढ़ाने के लिये ही कहा है। पूर्ववर्ती काव्यों में अलता आदि के लाल रंग से अधर के रंगे जाने का वर्णन मिलता है[1], किन्तु वर्तमान में उसका चलन नहीं, अतः पान देकर ही होठ का रंगना प्रतीत होता है ।

इस प्रकार कपोल, नेत्र और होठ—इन तीन अंगों को महीन दृष्टि से तभी रंगा जा सकता है जब कि वे स्थिर रहें । कुचों के चारों ओर केसर-छापना तथा पैरों की अँगुलियों में महावर देना—ये दो काम मोटी नजर से और आपके धैर्य की परवाह बिना किए भी संपादित किए जा सकते हैं - यह ध्वनि प्रशंसा न करने के कारण यहाँ निकलती है । पैरों की पंक्तियों का उल्लेख कर सूचित किया गया है कि 'देखिए, नखचन्द्रों की श्रेणियाँ किस प्रकार मन को आकर्षित कर रही हैं । यह सब प्रियाजी की उत्सुकता बढ़ाने के लिए ही कहा गया है । अथवा—श्रीहितसखी यह आक्षेप करना चाहती हैं कि आपकी चंचलता के कारण इन श्रीचरणों को बराबर रखकर महावर देने का सौभाग्य मुझे आज तक प्राप्त नहीं हो सकता है । अलता के द्रव-पदार्थ होने पर भी उसे विशेषरूप से 'रस' बता कर यह सूचित किया गया है कि ये चरण प्रियतम को कितना आनन्द देते हैं । महावर देते समय उस रस का स्मरण हो आने से श्रीहित-सखी को उसके आस्वाद की अनुभूति हो रही थी, अतः महावर उनके लिये रसरूप ही गया था । अथवा सुरत के समाप्त हो जाने पर प्रियतम के लगे महावर के धब्बों को देखकर आनन्दित हो सखियों ने इशारों से प्रियाजी को उन्हें दिखाया—यह भाव व्यक्त किया गया है ।

१. अधर को महावर से रंगे जाने का उल्लेख निम्नलिखित पद्य में किया गया है—

चन्दनं स्तनतटेऽधरबिम्बे यावकं घनतरं च सपत्न्या ।
प्रातरीक्ष्य कुपितापि मृगाक्षी सागसि प्रियतमे परितुष्टा ।।

'प्रणयात्' इति न केवलं चित्रकौशलगुणादेव, किन्तु तत्रतत्रानुराग-मेलनं कारंकारमित्यर्थः। यद्वा सखीप्रणयितावशेतिनाम्न्या मत्प्रार्थनाङ्गीकृतपूर्वकलाडलात्वभङ्गीकरणकस्नेहकरणादिति परमसख्येन तत्कृतप्रणयाशंसनं हि। यद्वा तत्तच्चित्रकरणमध्ये मध्ये सख्यकौतुकवर्द्धनोक्तिमयः प्रणयो ज्ञेयः, अग्रे परिहासस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

'न्यस्यन्ती' इत्यनेन त्वं त्वाप्तकामा संसिद्धयर्थनाम्नी साहजिकाङ्गरागश्रीविशिष्टासि, परन्तु मत्प्रणयदत्तमपि न्यासभूततयाङ्गीकुरु मत्पूर्णत्वायेति द्योत्यते। 'अहम्' इति विशिष्योक्तिरेतादृशाधिकारप्रेमदर्पान्मत्समाहमेवेति द्योतिका। पूर्णोक्तिरेवं रञ्जयन्ती प्रियसङ्गमसामयिकतद्धृदयाकर्षकपत्राल्यादिविलसनसुखस्मरणप्रवाहादानन्दमग्ना स्यामित्यर्थका च ॥२२२॥

रसकलश

'प्रणयात्' (प्रेम से) की व्याख्या करते हैं- श्रीहितसखी निपुणतापूर्वक ही पत्रावली की रचना नहीं करना चाहतीं, बल्कि स्थान-स्थान पर कौशल के साथ अपने अनुराग का भी मिश्रण करना चाहती हैं। अथवा श्रीराधा के सहस्रनामों में एक नाम 'प्रणयितापरवशा' भी है (जिसका अर्थ है प्रेम करने वाले के वश में रहनेवाली)। इस नाम के अनुकूल मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर मानों अपना लाड़लापन दिखाती हुई मुझ से स्नेह करेंगीं, इससे यह बताया गया है कि प्रियाजी परम सख्यभाव से श्रीहितसखी से प्रेम करती हैं। अथवा 'प्रणय' का मतलव चित्रांकन करते हुए बीच-बीच में सखियों द्वारा कौतुक बढ़ाने वाली वातें करना है। अग्रिम पद्य में इसी प्रकार के परिहास का वर्णन किया जायगा।

'न्यस्यन्ती' (लगाती हुई) का भाव यह है कि आपकी (प्रियाजी की) तो सब इच्छायें पूर्ण हैं, 'राधा' नाम के अनुकूल आप सब मनोरथों को सिद्ध करने वाली हैं, आपके श्रीअंग स्वभाव से ही अंगराग युक्त हैं, किन्तु प्रेम से मैं जो पत्रावली की रचना कर रही हूँ अथवा महावर दे रही हूँ, उसे धरोहर समझकर स्वीकार कीजिये ताकि मैं पूर्ण हो जाऊँ। 'अहम्' (मैं) का उल्लेख जो विशेपरूप से किया गया है, वह यह सूचित करने के लिये कि आपने इस प्रकार के अधिकार और प्रेम के कारण मुझ जैसी मैं ही हूँ।

इस प्रकार श्री अंगों में चित्र-रचना करती हुई मैं प्रिय के साथ संगम के समय प्रियतम के हृदय को आकर्षित करने वाली पत्रावली जब अपनी छटा दिखायेगी तब उस सुख का स्मरण कर आनन्द में कव मग्न हो जाऊँगी। इसी भाव को व्यक्त करने के उद्देश्य से कहा है—'कदा पूर्णा स्याम्' (कब पूर्ण हूँगी ?) ॥२२२॥

तदेवमङ्गरागसमये कुचप्रौढिसमुद्बुद्धप्रियपरिहासाभिलाषोक्त्या प्रियां हासयति—

श्रीगोवर्द्धन एक एव भवता पाणौ प्रयत्नाद्धृतः
श्रीराधातनुहेमशैलयुगले दृष्टेऽपि ते स्यादभयम् ।
तद्गोपेन्द्रकुमार! मा कुरु वृथा गर्वं परीहासतः
कर्ह्येवं वृषभानुनन्दिनि!तव प्रेयांसमाभाषये।।२२३।।[१]

वृषभानुनन्दिनीति सम्बोधनेनाबाल्यसख्यं नित्यसङ्गिनीत्वं च स्वस्या बोध्यते । ततः कथनप्राखर्यं स्यादेव । यदुक्तम् 'संसिद्ध्यन्ति मदाश्रयेण हि परं गोविन्दसख्योत्सुकाः' इति । 'तव' इति उभयकुललाडलाया नववर्णिन्याः सकलप्रेमास्पदाया अपि 'प्रेयांसम्' अति प्रेमास्पदं, इदानीमस्मत्तोऽपि सेवाधिकारदानात् प्रेष्ठं, त्वत्सौभाग्यास्पदं प्रति एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण 'परीहा-

रसकलश

इस प्रकार अंगराग लगाते समय प्रियाजी के कुचों की विशालता देख कर श्रीहितसखी के मन में यह अभिलाषा जागृत हुई कि कोई ऐसी बात कही जाय जिससे प्रियतम की हँसी हो । तदनुसार प्रियाजी को हँसाती हुई कहती हैं—

'आपने तो एक श्री गोवर्द्धन को ही प्रयत्नपूर्वक हाथ पर उठाया है । श्रीराधा के शरीर मैं तो सुवर्ण के दो पर्वतों को देखते ही आप डर जायेंगे । अतः हे गोपेन्द्र कुमार ! व्यर्थ ही अभिमान मत करो । हे श्रीवृषभानुनन्दिनि ! आपके प्रियतम से इस प्रकार परिहासपूर्वक मैं कब कहूँगी ? ।।२२३।।

'वृषभानुनन्दिनि' संबोधन से सूचित होता है कि श्रीहितसखी बालकपन से ही लेकर प्रियाजी की सखी हैं और सदा उनके साथ रहती हैं ।' इस नाते वे प्रियतम से कोई कठोर बात भी कह सकती हैं । कहा भी है—'जिसका आश्रय लेने से ही श्रीगोविन्द के सखी-भाव के प्रति उत्कंठित व्यक्ति अभीष्ट लाभ करते हैं' (श्रीरा० सु० ६७) । 'तव प्रेयांसम्' (तुम्हारे प्रियतम से) में 'तव' की व्यंजना यह है कि आप नन्दपरिवार और श्रीवृषभानु-परिवार दोनों की लाड़ली हैं, नई वरनी है, सब की प्रेमपात्र हैं, किन्तु श्रीकृष्ण आपको भी प्यारे हैं, आपके उत्कट प्रेम के पात्र हैं और इस समय तो हम से भी अधिक सेवा का अधिकार आपने उन्हें दे रक्खा है । अतः कहना चाहिए कि वे आपको सर्वाधिक प्रिय हैं । उनके कारण आप अपने भाग्य को सराहती हैं । तो इस प्रकार के आपके प्रियतम से, जैसा कि आगे कहा गया है । हँसी-

१. अन्य प्रतियों में इस पद्य के द्वितीय चरण में यह पाठ मिलता है—'राधावर्ष्मणि हेमशैलशिखरे दृष्टेऽपि ते स्यादभयम् ।' पाठ-भेद के कारण अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

सतः' कौतुकेन 'कर्हि' इत्यभिलाषायां आभाषये। आसमन्तादिति यन्मनस्यागच्छेत् तथैवासंकोचेनेत्यर्थः। विध्यर्थक वर्तमानेन नित्यमेव तस्य मम च विनोदो भवत्येवेति।

एवं किम्? तदेवाह—'श्रीगोवर्द्धन' इति सर्वव्रजपालनसर्वपूज्यत्वाच्छिन्नेन्द्रभीत्वादिभिः 'श्री'—पदोक्तिः। गोवर्द्धनः सर्वेन्द्रियानन्दन एक एव शैलः 'पाणौ' तादृग्व्यवहरणशीले। 'भवता' इति सम्मानोक्तिरपि कटाक्षभङ्गिकैव। 'धृतः', सोऽपि 'प्रयत्नात्' इति। तन्मर्मज्ञा वयमेवेति स्वमतोक्तिः। किञ्चाभूतकारणान्तरकल्पने हास्यम्। तेन समस्तबलप्रयुक्तो यत्नः। 'प्र'—शब्देन कुलदेव श्रीरायणादिसम्मानं कारं कारं धृत इति हास्यमर्म ज्ञायते। परन्तु श्रीयुक्ताया राधायास्तव सकलसंसिद्धिरूपाया अस्मत्स्वामिन्या स्तनौ सुकुमारे शरीरे हेमशैलयोर्युगलमस्ति। तस्मिन् दृष्टेऽपि ते भयं स्यात्, तदाधारणं दूरे। पश्य, कस्य बलमतिरिच्येत।

रसकलश

हंसी में—कौतुक से 'कर्हि' (कब) से अभिलाषा का बोध होता है—अर्थात् मेरी इच्छा है कि मैं इस प्रकार कहूँ। 'आभाषये' क्रिया में विधि के अर्थ में वर्तमानकाल का प्रयोग है जिसकी ध्वनि यह है कि मेरा और उनका नित्य ही हँसी-मजाक चलता रहता है।

उस परिहास को बनाते हैं— 'गोवर्द्धन—इत्यादि। गोवर्द्धन समस्त व्रज का पालन करता है, सबका आदरणीय है, और इन्द्र की कीर्ति को भी उसने खंडित किया है, अतः उससे पूर्व 'श्री' लगाई गई है। सब इन्द्रियों का आनन्दित करने वाले एक पर्वत को ही आपने हाथ पर उठाया है। अपने हाथ से आपने ऐसे अनेक आश्चर्यप्रद काम किये हैं—यह तात्पर्य है—'पाणौ' का 'भवता' (आपने) द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति आदर-भाव व्यक्त किया गया है, पर इसमें एक कटाक्ष भी छिपा है। तो आपने इस पर्वत को उठाया है और वह भी बड़े प्रयत्न से। आपको उसके लिए कितना प्रयत्न करना पड़ा इस भेद को हम ही जानते हैं—यह कह कर अपना मत व्यक्त किया हैं। जो वास्तविक कारण नहीं है उसकी कल्पना-हास्य में की जाती है। इस परिभाषा के अनुसार आपने अपनी समस्त ताकत लगा दी, तब कहीं उठ पाया। (प्रयत्न करके उठाना वास्तविक कारण नहीं हैं, किन्तु हास्य के लिए उसकी कल्पना कर ली गई है। 'प्रयत्न' शब्द के पूर्व लगे 'प्र' उपसर्ग अधिकाधिक यत्न करने का अर्थ निकलता है—प्रयत्न इस रूप में कि पर्वत उठाते समय आपने अपने कुलदेवता श्री नारायण का सम्मानपूर्वक स्मरण किया था। हास्य का आन्तरिक मर्म यही प्रतीत होता है।

अनया यत्नोऽपि न कृत, इति पूर्वोक्तप्रयत्नपदकटाक्षो ज्ञेयः । तत्त-स्मात् 'गोपेन्द्रकुमार' इति राजपुत्रत्वप्रौढ्या केवलं वृथा गर्वं मा कुरु । 'कुमार' इत्यत्र क्रीडनं तु नास्तीतिकुमारपदव्यंग्यम् । 'वृथा' इति शैलधरणे न कोऽपि मत्सम इति शृणु । एकस्तु गर्वो क्रियेत चेत् सत्य एव, यदीदृशी प्रेयसीनिधिर्मद्‌भाग्ये लिखितास्तीत्यहोभाग्यमिति अस्मत्तः शिक्षय, इति वृथापदव्यंग्यम् । अस्मदीयाया रूपगुणच्छविमाधुर्यादीन् मा स्पर्धस्व । एकं शैलधारणैश्वर्यमेव लोकैरुद्‌घोष्यते, तत्साधु । गोपेन्द्रतनये च नैतन्मतमय-शस्यम् । बहुभक्षणभारधारणादिनैव गोपैर्ग्रामीणै गर्वः स्वीक्रियते, न राजसन्ततिभिः साम्यं कर्तुं लज्ज्यते । अहो ! राजसुतातनौ शैलोक्तिः कर्कशैव, परन्तु वृथा गर्वोऽसह्य एव, अतो भवन्मतापेक्षयापि गर्वो वृथैव, शैलद्वयधारणात् । लोके एकस्मादेको बलवत्तर इति हासान्तर्भङ्गी ।

रसकलश

परन्तु-शोभा, संपत्ति और कान्ति से युक्त, आपको समस्त अभीष्ट प्रदान करने वाली सिद्धि-स्वरूपा तथा हमारी स्वामिनी श्री राधा के सुकुमार शरीर पर स्वर्ण के जो पर्वत हैं, उन्हें देखने मात्र से ही आप डर जायँगे – उनका धारण करना तो दूर की बात है। अब देखो, किसमें ज्यादा बल है। श्रीराधा को तो इन दो पर्वतों को धारण करने में कुछ यत्न भी नहीं करना पड़ा है—यह आक्षेप श्रीकृष्ण के संबन्ध में पहले कहे गये 'प्रयत्न' पद से ध्वनित होता है। अतः हे गोपेन्द्र कुमार! आप ग्वालों के राजा श्रीनन्द के पुत्र हैं—इस भारी भरकमपन के धोखे में व्यर्थ का अभिमान मत करिये। 'कुमार' से यह ध्वनि निकलती है कि यह बालकों का खेल नहीं है। 'वृथा' का भाव यह है कि पर्वत उठाने में मेरी बराबरी करने वाला कोई नहीं है, यह अभिमान थोथा है। सुनिये, आप एक बात का घमंड अवश्य कर सकते हैं जो कि सत्य है। वह यह कि श्रीराधा जैसी प्रेयसी-रूप निधि मेरे भाग्य में लिखी है और यह मेरा अहोभाग्य है। यह तुम हमसे सीख लो—यह है 'वृथा' शब्द की व्यंजना। हमारी राधिका के रूप, गुण आदि से होड़ मत लगाओ। तुम्हारे लिए यही अच्छा है कि लोग तुम्हारे एक पर्वत उठाने का ढिंढोरा पीटते रहें। ग्वालराजा के पुत्र के संबंध में ऐसी धारणा बाँध लेना कोई बदनामी की बात नहीं है। गंवार ग्वालों को तो इसी बात का बड़ा घमंड होता है कि खा मरें या लद मरें। राजाओं के वंशधर तो ऐसा अभिमान कभी नहीं करते। तो इस बात में बराबरी करने में तो हमें शर्म ही आती हैं। राजपुत्री के शरीर पर दो पर्वतों के स्थित रहने की बात कठोर लगती है, पर तुम झूठी शेखी बघारो, यह भी तो असह्य है, अतः आपकी दृष्टि से भी गर्व करना व्यर्थ है, क्योंकि आपने एक पर्वत उठाया, तो प्रियाजी दो पर्वत धारण किये हुए हैं। दुनिया में एक से एक अधिक ताकतवर पड़ा है। यह है हास्य के भीतर दिया हुआ गूढ़ व्यंग्य।

अन्यच्च तदानीं धारणे उच्छिलीन्ध्रमिवार्भकः इत्यनायासधृतेऽपि उपमोद्दीप्तस्वप्राणप्रियाकुचस्मरणजातकम्पस्वेदादिसात्विकभावात् प्रयत्नोक्तिः। किञ्च रसाधीनत्वेऽपि सर्वबन्धुवर्गरक्षणावश्यकत्वात्। अहो! उपमानस्पर्शेऽप्येवंकरणमापतितं, तदोपमेयसाक्षात्कारकौतुके कैमुत्यम्। भयोक्तिरत्र सात्विककम्पभवनात् परिहासमयी। उपमया स्मरणं यथा— 'राधापीनपयोधरस्मरणकृत् कुम्भेन संभेदवान्, यत्र स्विद्यति मीलति' इति गीतगोविन्दे'।

अत्रैवं संगतिर्ज्ञेया। इदं पद्यं रञ्जनकाले प्रियासमक्षसख्यविनोदार्थमुक्तम्। तत्र प्रियानन्दनार्थकपरिहासव्याजेन संपन्नाङ्गरागोरस्थलसेवनार्थ-

रसकलश

दूसरी बात यह है कि यद्यपि श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धन को ऐसी आसानी से उठा लिया था जैसे कोई बालक कुकरमुत्ता को उठाये-उठाये फिरता है, किन्तु उसी समय उपमान पर्वत के प्रसंग में आपको उपमेय प्रियाजी के स्तनों का स्मरण हो आया, और तब कंप, पसीना आदि सात्विक भावों के उदय होने के कारण पर्वत को उठाने में प्रयास करना पड़ा। इसी तात्पर्य से 'प्रयत्न' कहा गया है। दूसरी बात यह है कि प्रियाजी के उरोजों के स्मरण से यद्यपि मन में इस का संचार हो रहा था, तथापि गोवर्द्धन उठाकर सब व्रजवासी बन्धुओं की रक्षा तो करनी ही थी। अहो! उपमान शैल को छूते ही जब यह हाल हो गया, तो उपमेय कुचों से जब साक्षात्कार होगा, तब तो न जाने क्या हालत बनेगी! डरने की बात यहाँ हँसी-हँसी में कही गई है। असल में श्रीराधा के उरोजों के स्मरण से सात्विक भाव कंप पैदा हुआ था, न कि डर से।

उपमा द्वारा स्मरण का वर्णन श्रीगीतगोविन्द में देखिए—'श्रीराधा के पुष्ट कुचों की याद दिलाने वाले कुवलयापीड़ हाथी के गंडस्थल से टक्कर लेते हुए श्रीकृष्ण हमारी प्रीति बढ़ावें'।

यहाँ संगति यह है—प्रस्तुत पद्य पत्रावली आदि की रचना करते समय प्रिया के उपस्थित रहते हुए सख्य भाव से मनोरंजन करने के लिए कहा गया है। उस समय

१. (१) इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः॥ श्रीमद्भागवत १०।२५।१९

(२) उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा। श्रीमद्भागवत १०।६।२५

१. प्रीतिं वस्तनुतां हरिः कुवलयापीडेन सार्धं क्षणे
राधापीनपयोधरस्मरणकृत् कुम्भेन संभेदवान्।
यत्रे बिभ्यति मीलति क्षणमपि क्षिप्रं तदालोकनात्
व्यामोहेन जितं जितमभूद् व्यामोहकोलाहलः॥ श्रीगीतगोविन्द १०।७

माकारयितुं लतान्तरस्थितं प्रियमेतदेव आवितवतीति । तत्र कियन्ति प्रियाबोधनीयानि व्यंग्यानि, कतिचिच्च प्रियबोध्यानि स्वाभिप्रेतानि ज्ञेयानि ।

'स्याद्भयम्' इत्युक्तिः पद्ये, कथं मे भयं स्यादिति सोत्प्रासं नायकप्रोत्साहनार्थं च ज्ञेया । गूढं उभयसमीपगमन एव भयं नश्यतीति लोकख्यातेस्तच्छैलद्वयशरणमेव शीघ्रं गृहाणेति व्यञ्जितम् ।।२२३।।

ततो हेमशैलेत्युक्तिज्ञातकाश्मीरजचर्चिताङ्गानावृतसम्पद्विलसनसत्वरस्तत्रैवागच्छत् प्रियः । इत्येवं संगतयोर्नागरवीरयोः स्मरसमरोत्सवमाह—

अनङ्गजयमङ्गलध्वनितकिंकिणीडिंडिमः
स्तनादिवरताडनैर्नख दन्तघातैर्युतः ।
अहो ! चतुरनागरीनवकिशोरयोर्मञ्जुले,
निकुञ्जनिलयाजिरे रतिरणोत्सवो जृम्भते ।।२२४।।

रसकलश

परिहास तो प्रियाजी को प्रसन्न करने के लिए किया गया था, किन्तु उसके बहाने अंगराग से विभूषित प्रियाजी के वक्षःस्थल का भोग करने के निमित्त लताओं की ओट में छिपे प्रियतम को बुलाना वास्तविक उद्देश्य है । अतः उन्हें सुनाने के लिए भी पद्य पढ़ा । पद्य में निहित कुछ व्यंग्य प्रियाजी के समझने के हैं और कुछ प्रियतम के समझने के । श्रीहितसखी का यही मन्तव्य था ।

'डर जाओगे'—यह परिहास के लिए तो कहा ही गया है, पर इसका एक उद्देश्य नायक के उत्साह को बढ़ावा देना भी है, क्योंकि ऐसी बात सुन कर वे कहेंगे ही कि देखता हूँ मुझे कैसे डर लगता है! गूढ़ अर्थ यह है कि, जैसा कि लोग कहा करते हैं, दोनों के पास आ जाने पर भय मिट जाता है, अतः जाओ, उन्हीं दो पर्वतों की शरण लो—यह व्यंजना है ।

पूर्व पद्य में वर्णित स्वर्ण-पर्वत की बात सुनकर श्रीकृष्ण को विदित हो गया कि प्रियाजी के चन्दन-विभूषित अंग इस समय ढँके हुए नहीं है, अतः उनकी शोभा का उपभोग करने के लिए प्रियतम शीघ्र ही वहां आ गए । इस रीति से उन दो चतुर वीरों के मिलने पर सुरत-युद्ध का जो उत्सव प्रारंभ हुआ उसका वर्णन करती हूँ—

'कामदेव के विजयसूचक नूपुरों की मंगल-ध्वनि जहां नगाड़ा बन कर बज रही हैं, स्तन आदि के अच्छी तरह मर्दन एवं नाखून और दांतो द्वारा किए गए घावों से युक्त, अहो! चतुर नागरी श्रीराधा और नवल किशोर श्रीकृष्ण का सुरत-संग्राम रूपी उत्सव सुन्दर निकुंज-गृह के प्रांगण में चल रहा है' ।।२२४।।

अत्र रणरूपकन्तु स्पष्टमेव। अनङ्गकर्मकजयार्थकैश्वर्यपक्षे त्वेवं ज्ञेयम्। विजातीयगुणकृतः सजातीयगुणकृतश्चेति जयो द्विधा। मायाद्यनभिभूत-स्वातंत्र्यपारमैश्वर्यादिसकलकल्याणत्वेन तज्जयो विजातीयः स्फुट एव, अत्र नातिविस्तार्यते। द्वितीयः कोटिकन्दर्पमोहनरूपेण तादृशस्तत्तन्नानाकलोत्कृष्टलीलादिभिस्तज्जयो माधुर्यैश्वर्यमयो रसिकैर्वर्णित एव। तत्र दम्पत्योर्मध्येऽखण्डतमनिजानन्द एव कामत्वेन परिणतो ज्ञेयः। यदानन्दसमुद्रच्छटाभासो ब्रह्माण्डे परमसुखत्वेन बोधितो लोकैः स्वसाम्येनानङ्ग इति ज्ञातः। स तु शिवदग्धत्वेन मुमुक्षुहेयत्वेन प्राकृतः। तदुपादानमत्र भक्तजनचित्त-संकोचजनकत्वेन स्वप्नेऽपि न ज्ञेयम्। लोकविडम्बनं चेत् तदा स्वसंवेद्य-भोज्यत्वाभावान्नाटयत्वेन निजानन्दत्वक्षतिः। तत उभयोः परमाभिलाषि-प्रेमैवाङ्गत्वेन सिद्धः। 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च' इत्यमरोक्तेः। रतिस्तद्धर्मः

रसकलश

यहाँ संग्राम का रूपक तो स्पष्ट है ही। अब 'अनङ्गजय' के दो अर्थ हो सकते हैं — (१) दंपती द्वारा कामदेव का विजय तथा (२) कामदेव द्वारा दंपती का विजय। दंपती ने कामदेव को जीत लिया, इस पक्ष में यह ज्ञातव्य है कि विजय दो प्रकार की होती है— (१) विजातीय (वाह्य) गुणों के आधार पर की गई और (२) सजातीय गुणों के आधार पर। माया द्वारा असंपृप्ट, स्वतंत्र, सर्वशक्तिमान्, परमेश्वर के द्वारा समस्त सृष्टि के कल्याण के लिये की गई विजय विजातीय है जिसकी विस्तृत व्याख्या करने की यहां आवश्यकता नहीं। दूसरे प्रकार की सजातीय विजय कोटि-कोटि कामदेवों को मोहित करने वाले स्वरूप से, अनेक प्रकार की उत्कृष्ट कलाओं से संपन्न लीला आदि द्वारा की जाती है। इस प्रकार की विजय में माधुर्य और ऐश्वर्य की प्रधानता है जिसका कि वर्णन रसिक जनों ने यत्र-तत्र किया ही है। अखंड स्वात्मानन्द ही दंपती में काम के रूप में बदल गया है। इसके आनन्द-समुद्र छटा की मात्र एक झलक ब्रह्मांड को मिली है। इस आनन्द को ही संसार में सर्वोत्कृष्ट आनन्द माना गया है और यही अपनी समता के कारण लोगों में 'काम' के नाम से प्रसिद्ध है। शिवजी ने इसे जला दिया और मोक्ष की कामना करने वालों के लिये यह त्याज्य है, अतः काम का यह स्वरूप प्राकृत है। और चूंकि उसका नाम लेने मात्र में भक्तों को संकोच होता है, अतः यह स्वप्न में भी नहीं समझना चाहिए कि प्रस्तुत पद्य में 'अनङ्ग' से अभिप्राय उस साधारण-जन-योग्य काम का है। यदि कहा जाय कि प्राकृत काम के अधिष्ठान न होने पर भी दंपती अपनी लीलाओं में उसका अनुकरण करते हैं, तो उत्तर में यह कहना है कि लौकिक काम में उस अलौकिक आनन्द के भोग की योग्यता ही नहीं, और यदि दंपती उसका अभिनय करते हैं, तो उनका स्वरूपगत आनन्द नष्ट हो जायगा, अतः यह

स्पर्शानन्द क्रीडारूपः। रमणं रतिः। सापि प्रीतिवाच्यैव। अत एव शृङ्गारलीलायाः शिवब्रह्मासनकादिध्येयत्वात् प्राकृतकामजयार्थो नापूर्वः। अतो निरुक्त्यन्तरमपि। अङ्गाद्विरुद्धोऽनङ्ग इति स्वाङ्गसदानन्दमयत्वम्। तेन तज्जय इति। यथा च लीलायाम् 'लीलापाङ्गतरङ्गितैरुदभवन्नेकैकशः कोटिशः कन्दर्पाः।' इत्येवंभूत प्रियाकटाक्षजनितकामस्य स्वाङ्गभूतत्वमेव।

ननु किं तेनापकृतं येन जयप्रवृत्तिः? तत्र प्रेमस्पर्द्धितया परास्तता युक्तैव। यत्तु ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहेतिरीतिको जयो निरोध्यभक्त गोपीजनार्थ एव। अत्र स्वाल्हादिन्यैव स्वरमणम्। प्रस्तुते माधुर्ये तु शृङ्गारिदम्पत्योः कामकर्तृकजय एव परमरसाधायकः। अत्र तद्वशेनैव

रसकलश

मानना पड़ेगा कि प्रिया-प्रियतम का अभिलाषा पूर्ण प्रेम ही उनका 'काम' है (और पद्य में इसी 'काम' से तात्पर्य है)। अमरकोष के अनुसार अभिलाषा और प्यास को काम कहते हैं'। रति उसका धर्म है। स्पर्श का आनन्द और क्रीड़ा उसके रूप हैं (इनके द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है), रति का अर्थ है रमण करना। रति और प्रीति एक ही बात है। शिव, ब्रह्मा, सनक आदि भी दंपती की शृंगार-लीला का ध्यान करते हैं। इस आधार पर प्रस्तुत में यदि यह मान लिया जाय कि दंपती ने लौकिक काम पर ही विजय प्राप्त की तो वह भी कोई अनोखी बात नहीं होगी।' इस आधार पर 'अनंग, शब्द का दूसरा निर्वचन यह भी है—जो अंग से विरुद्ध हो। दंपती के अपने अंग अखंड आनन्दस्वरूप हैं, उन अंगों से वे अनंग पर विजय प्राप्त करते हैं। (जो अंग-सहित है वह अंग-रहित पर विजय-लाभ करेगा ही।) श्रीराधासुधानिधि में भी कहा है—'जिस श्रीराधा के विलासपूर्ण कटाक्षों की तरंगों से एक-एक बार में करोड़ों कामदेव पैदा होते हैं (७१)। इस प्रकार की प्रियाजी के कटाक्षों से उत्पन्न काम उनके श्रीअंग से ही तो पैदा हुआ माना जायगा।

अब यदि पूछा जाये कि काम ने ऐसा क्या बुरा किया था जिससे उसे जीतना आवश्यक हो गया, तो इस सम्बन्ध में कहना यह है कि वह प्रेम से स्पर्धा (होड़) करता था, अतः उसका हार जाना उचित ही है। यदि दम्पति ने उस काम के अभिमान को चूर्ण किया जिसे कि ब्रह्मा आदि को भी जीतने के कारण गर्व हो गया था, तो उन्होंने ऐसा भक्त गोपियों की काम-वासना को दग्ध या नियंत्रित करने के लिए ही किया। जहां तक उनका अपना सम्बन्ध है, वे तो अपनी आल्हादिनी शक्ति के द्वारा अपने से ही रमण करते हैं। माधुर्य भाव में तो काम द्वारा शृंगारी दम्पती पर विजय प्राप्त करने से ही रस की निष्पत्ति होती है, अतः उन्हें उसी के अधीन रहना होगा। यह

. देखिए श्रीहितचतुरासी—'पशुपति दग्ध जिवावत काम।'

भाव्यम् । अनङ्गस्याङ्गप्रवेशो नाशक्यः । मनोजत्वान्मनो निमग्येन्द्रियेषु प्रविश्याङ्गिनोर्नायिकानायकोरेव बाणवेध्यत्वं करोति, तत एव रणत्वोक्तिः ।

ननु दम्पतिजयेष्टव्यत्वे तज्जये सखीनां का सिद्धिः ? तत्र शृङ्गारोपासकानामेष एव रसदः । अन्यथा दम्पतिसत्वेऽपि न रसोदयः । यथा अत्रैकतो रतिकामौ, अन्यतो दम्पती चेति प्रतिद्वन्द्वम् । किञ्च स तु सदानुकूल्यदास्याभिमानित्वात्तदिङ्गितानुसर्ता । सा च लज्जाधिक्याकूतव्यञ्जनाप्तकामप्रभुत्वासज्यत्वाभिमानवती, अतः स्वस्वाग्रहात्यागे रसानुदयान्ता अपि कामस्य जयमेव वाञ्छन्तीति, तस्मिंस्तादृशस्यैवाधिकारस्य दानात् । तत उभयोर्मध्ये रतिभवनमेव कामजय इति । अत एव रतिरणोक्तिः वीरवत् परमश्रेष्ठत्वादुत्सवोक्तिश्च ।

रसकलश

भी सम्भव नहीं है कि दम्पति में काम का प्रवेश ही न हो । मन से ही वह उत्पन्न होता है, अतः वह मन को अपने नियंत्रण में कर अंगी नायिका-नायक को ही अपने बाणों का लक्ष्य बनाता है । इसीलिए प्रस्तुत संग्राम को रण का रूपक दिया गया है ।

यहां शंका उठती है कि यदि काम द्वारा दम्पति पर विजय प्राप्त करना ही अभीष्ट है तो इससे सखियों का क्या स्वार्थ सिद्ध होता है ? तो उत्तर यह है कि श्रृंगार के आराधकों को इसी में रस की उपलब्धि होती है, नहीं तो दम्पति के होते हुए भी रस की उत्पत्ति नहीं होगी । समझने की बात यह है कि एक तरफ तो रति और काम हैं और दूसरी तरफ हैं दम्पति । इस प्रकार परस्पर-विरोधी मोर्चा जमता है । एक बात यह भी है कि श्रीकृष्ण इसमें अपना गौरव मानते हैं कि वे सदा प्रियाजी के अनुकूल रहें, उनकी दासता करें तथा उनके इशारों पर चलें । उधर प्रियाजी को इसका अभिमान है कि वे अधिक लजीली है और व्यञ्जना द्वारा अपने आन्तरिक आशय को व्यक्त करती हैं, यह कि उन्हें कुछ प्राप्तव्य नहीं है कि वे प्रभुता-सम्पन्न और आसज्य हैं । अतः जब दोनों अपने विशिष्ठ स्वभाव के प्रति आग्रह नहीं छोड़ते तब तक रस का उदय हो नहीं होगा । इसीलिए सखियां भी यही चाहती हैं कि काम की विजय हो, क्योंकि दम्पत्ति ने उसे इस बात का अधिकार दे रक्खा है । अतः दोनों में रति का होना ही काम की विजय है । इसी दृष्टि से रति को रण कहा गया है । वीरों को जैसे संग्राम अभीष्ट है, उसी प्रकार विलासियों को रति अभीष्ट है । इसी आधार पर रति-रण को उत्सव कहा गया है ।

देखिए श्रीहितचतुरासी—कौन अपनपो हारै ।

प्रस्तुतव्याख्या विव्रियते—आबाल्यसङ्गिनी महामाधुर्यरसजीवातुका श्रीहितसखी तस्याः प्रियेण सह रतिक्रीडाकौशलं दृष्ट्वा स्वभाग्यं मन्वानाहः 'अहो' इत्याश्चर्ये। चतुरयोर्नागरीनवकिशोरयो रतिरणोत्सवो जृम्भते, इतीष्टदेवकृपया बहुदिनवाञ्छितं दुलर्भमपि सुलभं कृतम्। किञ्च सदा मया मौग्ध्यमेवानुभूतम्। अधुनेमावपि चतुरतां प्राप्तौ दिष्टचा, इति सानन्दाश्चर्यम्। इयं राजकुमारीत्वौत्पात्तिकनैपुण्यगुणशालिनी नागरीति-पदप्राप्ता। अयञ्च गोपेन्द्रकुमारत्वादविदग्धोऽप्यस्मदीयायाः पाणिसम्ब-न्धात् किशोरत्वेऽपि नवरीतिकत्वं प्राप्तः। अनेन रणार्हंकौशलं ज्ञापितम्। किञ्च शस्त्रास्त्रवित्वं विना वीराणां शौर्य्येऽप्युत्साहजननं न स्यात्, अत-श्चतुरं'-पदं दत्तम्। तत एवोत्साहविषयत्वात् 'उत्सव'-पदम्।

'जृम्भते' इति 'जृभिगात्रविनाये'। अङ्गमोटने जृम्भणम्। यथा नर्तको नृत्येऽभिनयादिना वर्णनीयरसमपरोक्षयति, तथैवायं रमणीयरसानन्दमिति।

रसकलश

अब पद्य की व्याख्या करते हैं बालकपन की साथिन, माधुर्य-रस में जिनके प्राणों का निवास है, ऐसी श्रीहितसखी प्रियतम के साथ प्रियाजी के रति-विहार की निपुणता को देखकर अपने भाग्य को सराहती हुई कहती है—कैसा आश्चर्य है कि चतुर नागरी श्रीराधा और नवल किशोर श्रीकृष्ण के सुरत-संग्राम का उत्सव पूर्ण विस्तार के साथ चल रहा है। इष्टदेव की कृपा। बहुत दिनों से संचित इस दुर्लभ दृश्य को देखने की साध सुलभ हुई। दूसरी बात यह है कि अब तक मैं प्रियाजी को मुग्धा के रूप में ही देखती आई हूं। भाग्य से अब ये दोनों चतुर हो गए है। यह आश्चर्य का विषय है और आनन्द का भो। यह राजकुमारी तो जन्म से ही (या सहज स्वभाव ही ही) निपुण है। अब विदग्ध होकर इसने नागरी की पदवी को भी प्राप्त कर लिया है। उधर श्रीकृष्ण ग्वालराज होने के कारण विदग्ध नहीं हैं, फिर भो हमारी राधा के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के कारण रति-संग्राम की नई-नई कलाओं तथा प्रकारों से परिचित हो गये हैं। इससे यह बताया गया है कि संग्राम के लिये अपेक्षित चातुरी उनमें है। दूसरी बात यह है कि शस्त्र-अस्त्र के ज्ञान के बिना, वीरता के होते हुए भो, उत्साह नहीं पैदा होगा, अतः 'चतुर' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसीलिए उत्साह का विषय होने के कारण रण को उत्सव कहा गया है।

'जृम्भते' क्रिया की मूल धातु 'जृभि' है जिसका अर्थ है अंगों को फैलाना। जिस प्रकार नाचने वाला अभिनय आदि के द्वारा सामाजिकों को किसी विशिष्ट रस का साक्षात्कार करता है, उसी प्रकार सुरत-संग्राम भी रति के मनोहर आनन्द को मानों

उत्सवेऽप्यङ्गमोटने नाम दुग्धोत्फणनवत् तदाटोप इति। तत्रानङ्गेरणे गृहीताङ्गवप्रस्तत्स्वामिनौ कृत्वा जयज्ञापितमङ्गलध्वनितकिङ्किणीमेव डिडिमं वादितवान् यद्भवतीनां वाञ्छितं तदेव पूरितं जानीतानन्दयत चेति श्रवणे ज्ञापनं तन्मङ्गलानन्दस्यास्मद्धृदयमेव साक्षीति'मङ्गल'—पदेन व्यक्तम्।

शस्त्रास्त्रप्रवृत्तिमाह—स्तनस्य प्रथमोक्तिः पूर्वपद्योक्तहेमशैलत्वस्मारिका प्रस्तुता च। 'आदि'—शब्देन श्रीजयदेवोक्तानि—

दोर्भ्यां संयमितः पयोधरभरेणापीडितः पाणिजै—
राविद्धो दशनैः क्षताधरपुटः श्रोणीतटेनाहतः।
हस्तेनानमितः कचेऽधरमधुस्यन्देन संमोहितः'
× × ×

रसकलश

प्रत्यक्षरूप में उपस्थित कर देता है। रति के उत्सव होने पर भी अंगों की तोड़-मरोड़ उसी प्रकार की होती है जैसे दूध में उफान। अंगों की विविध चेष्टाओं से उत्सव में एक प्रकार की गरिमा आ जाती है, समाँ बँध जाता है। कामदेव ने यह किया कि नायक-नायिका के अंगरूपी गढ़ पर कब्जा करके उसके दोनों स्वामियों को हिरासत में ले लिया और किंकिणियों की झनकार के रूप में विजय सूचक मंगलकारी नगाड़ा पिटवा दिया और सखियों के कान में कह दिया कि मैंने आपलोग जो चाहती थीं वही कर दिया है, अब आप आनन्द मनाइये। मंगलकारी इस आनन्द का साक्षी हमारा हृदय ही है—यह मंगल शब्द की व्यंजना है।

अब विविध अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग के संबन्ध में कहते हैं : सबसे पहले स्तनों का नामोल्लेख करने से पूर्वपद्य में वर्णित स्वर्ण-पर्वतों का स्मरण हो आता है। प्रस्तुत में भी उन्हीं के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। 'स्तनादि' में 'आदि' शब्द से स्तन, नख और दाँतों के अतिरिक्त प्रहार करने वाले अन्य अंगों का भी समुचित रीति से समावेश अपनी तरफ से कर लेना चाहिए। श्रीजयदेव कवि द्वारा गीतगोविन्द में इन अंगों के व्यापार का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया गया है—

'श्रीराधा के द्वारा भुजाओं से कसे गए, पुष्ट स्तनों से दबा कर पीसे गए, नाखूनों से घायल किए गए, दांतों से अधर पर काटे गए, नितंब द्वारा ठेले गये हाथ से केश पाश पकड़ कर झुकाये गए, अधर-मदिरा पिला कर मूर्छित किए गए (प्रियतम को परम तृप्ति-लाभ हुआ। अहो! काम की गति बड़ी उलटी है।')

१. पद्य का अन्तिम चरण इस प्रकार है—
कान्तः काममपि तृप्तिमाप तदहो कामस्य वामा गतिः। श्रीगीतगोविन्द १२।२

इत्यादीनि स्तननखदन्तावशिष्टप्रहरणाङ्गानि यथार्हं संयोज्यानि । बहुत्वं चात्र संयमनाहननमनस्सम्मोहनाद्यर्थम् । यद्वा क्रियावृत्तिजम् । यद्वा वैपरीत्यादि-नानाबन्धेषु ताडनादीनामपरिहार्य्यत्वेन वैजात्याद्द्वैविध्यबोधकम् । ताड़नेऽपि वरोक्तिरत्र 'विरमि विरमि नाथ बहुत वर विहार री' इति । तादात्विकप्रियकृतप्रशंसनश्रवणानन्तरमेव वैरिव्रणं श्लाघ्यमेवेति लोकोक्तिपूर्वक सख्यनुमोदनज्ञापिका हि । रणनिर्विशेषत्वेऽपि ताडनं तस्या एव, घातस्तस्यापि बोध्यते । अत्रोभयाङ्गान्येव प्रविश्य तान्येव शस्त्राणि कृत्वोभाभ्यां स एव युध्यतीति ज्ञेयम् ।

अन्यच्च अनङ्गकर्मकजयार्थे त्वेवं अङ्गव्याप्तावप्यनङ्गमर्दने तैरेवाङ्ग-शस्त्रैस्ताडनघातावहननमर्दनादि कृत्वा तज्जयमङ्गलनादे कृतवन्ताविति हि ज्ञेयम् । मञ्जुलत्वं रणभूमिप्रशंसनद्योतकम् । कुंजेऽपि नितरां भावो

रसकलश

'ताडनैः' और 'दन्तघातैः, में बहुवचन का प्रयोग केशों को कस कर पकड़ना, नितंबों से ताड़ित करना तथा मन को मोहना, आदि को सूचित करता है। अथवा यह कि निर्दिष्ट क्रियायें कई बार हुई। अथवा विपरीत रति के प्रसंग में अनेक प्रकार के आसनों के प्रयोग में अंगों का मर्दन-ताड़न-आदि अनिवार्य हो जाता है और प्रत्येक क्रिया अपनी स्वाभाविकता को छोड़ कर विलक्षण बन जाती है। बहुवचन द्वारा इस विविधता का ही बोध कराया गया है। 'ताडनवरैः' में भी 'वर' (श्रेष्ठ) का प्रयोग उसी तरह का जैसा कि इस पंक्ति में: 'बिरमि बिरमि नाथ बहुत वर बिहार री।' इससे यह सूचित होता है कि प्रियजनों द्वारा समय पर की गई प्रशंसा को सुनने के उपरान्त ही शत्रु के द्वारा की गई चोट सराहने के योग्य होती है। इससे सखियों का अनुमोदन सूचित होता है। प्रिया-प्रियतम दोनों समान रूप में रण में भाग ले रहे हैं। किन्तु ताड़न प्रियाजी ही करतीं हैं और मर्दन, दन्तक्षत आदि प्रियतम करते हैं। यहां ज्ञातव्य यह है कि कामदेव, दोनों के अंगों में प्रवेश कर और उन्हीं अंगों को शस्त्र बना कर प्रिया-प्रियतम दोनों से युद्ध करता है।

यदि यह अर्थ लगाया जाए कि प्रिया-प्रियतम दोनों कामदेव को जीतते हैं, तो यूं समझना होगा कि काम के अंगों में समाये हुए होने पर भी उन्हीं अंगरूपी शस्त्रों द्वारा चोट फैट, मर्दन ताड़न आदि करके युगल ने उस पर विजय-लाभ करने का मगल घोष किया। 'मञ्जुलनिकुञ्जनिलयाजिरे' (मनोहर निकुंज भवन के प्रांगण में) में 'मंजुल' द्वारा रण-भूमि की प्रशंसा की गई है और 'निलय' (जिसका कि शाब्दिक अर्थ छिपने की जगह है) कि व्यंजना यह है कि यहाँ एकान्त बना ही रहता है, अतः बिना

रहोज्ञापकः। निलीनत्वपोषको 'निलय'-शब्दः। 'अजिर' इत्यनेन यथावकाशतात्पर्यावेशविस्मृततत्तत्सखीसंकोचता च बोध्यते। एवं विहार उपवर्णितः ॥२२४॥

क्रमप्राप्तकैशोरलीलानन्दानुभवा हिताल्येवं विहारं वीक्षमाणा वर्णयन्ती निजाबाल्यसङ्गस्मरणावेशेनादित एव बाल्याद्याश्चर्यक्रीडां स्मरन्ती तादात्विकावेशेन वर्तमानतया सखीं कथयति चतुर्भिः—

यूनोर्वीक्ष्य दरत्रपानटकलामादीक्षयन्ती दृशौ
वृण्वाना चकितेन सञ्चितमहारत्नस्तनं चाप्युरः।
सा काचिद्वृषभानुवेशमनि सखीमालासु बालावली
मौलिः खेलति विश्वमोहनमहासारूप्यमाचिन्वती
॥२२५॥

रसकलश

किसी के देखे रमण करने के लिये यह अत्यन्त उपयुक्त स्थान है। 'अजिर' (आँगन) से अपेक्षित स्थान-विस्तार का बोध होता है और यह ध्वनि निकलती है कि सुरत के आवेश में दम्पति यह भूल गये कि कोई सखी यहाँ आ सकती है और इस बात का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार विहार का वर्णन किया ॥२२४॥

अवस्था के क्रम से किशोरावस्था को प्राप्त श्रीराधा की लीलाओं का आनन्द श्रीहितसखी पहले ही ले चुकी थीं। अब पूर्वोक्त प्रकार के विहार को देखते तथा वर्णन करते हुए उन्हें स्मरण हो आया कि किस प्रकार वे बालकपन से ही प्रियाजी के साथ रहती आई हैं। उसी के आवेश में भर कर वे बालकपन आदि में की गई क्रीड़ाओं का स्मरण करती हुई तत्कालीन आवेश में लौट कर चार पद्यों द्वारा उसी का वर्णन सखी से करती हैं—

किसी युवक-युवती के जोड़े की भय एवं लज्जा से युक्त नट जैसी कलाओं को देखकर अपने नेत्रों को (कटाक्ष-पात) आदि की दीक्षा देती हुई तथा चकित भाव से अमूल्य रत्नों की तरह संचित वक्षःस्थल को ढकती हुई, संसार को मोहित करने वाले श्रीकृष्ण के समान होने की भावना को संजोती हुई, सखियों की पंक्तियों में, कुमारियों की सिरमौर, अनिर्वचनीय श्रीराधा श्रीवृषभानु के घर में खेल रही हैं ॥२२५॥

सा पूर्वोक्तनित्यकैशोरविहारिणी काचिदनिर्वचनीयस्वरूपा मदनन्यज्ञेया-
लावलीनां रमासेव्यव्रजसुन्दरीरत्नकदम्बानां मौलिःशिरोधार्य्यसौभाग्य-
षा सर्वतः प्रख्यातोग्रसुकृतप्रतापस्य भानोर्गृहे सखीनां ललितादीनां परम-
ठसखीनां मालासु ससौरभरूपशोभननित्यसाङ्गत्वार्थविशिष्ट पंक्तिसु
लतीत्यहो द्रष्टृभाग्यम् । 'मालासु' इति बहुत्वं विविधसेवाधिकार तत्त-
यूथाभिप्रायेण । मौलित्वं यथा—

लक्ष्मीरभितस्त्रितया गोप्यो लक्ष्मीतयाः प्रार्थताः ।
राधा गोपितया चेत् तस्याः का वा समा रामा ।।

ति महाशयोक्तम् । 'मालासु क्रीडति' इत्यनेन हारमध्यनायकमणित्वं
वनितम् । किं कुर्वती ? विश्वमोहनस्य स्थिरचराब्रह्मतृणस्तम्बश्रुतिमुन्यादि
तिवद्वैचित्यधर्माख्यातनाम्नः प्रियस्य 'महासारूप्यं' परिपूर्णतमयथार्हसमान-

रसकलश

नित्य किशोरावस्था में विहार करने वाली पूर्ववर्णित वह श्रीराधा, जिनके
रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता, जिन्हें मेरे सिवा अन्य कोई नहीं जानता, जो
ालावली' अर्थात् लक्ष्मी द्वारा सेवित व्रजसुन्दरी-रूपी रत्नों के समूहों की 'मौलि'
र्थात् सिर पर धारण करने योग्य सौभाग्य-सूचक भूषण के समान हैं—ऐसी श्रीराधा
बृष-राशी में स्थित प्रचंड सूर्य के समान) अपने उत्कट पुण्य-प्रताप के कारण प्रसिद्ध
ो वृषभानु के घर में परम प्रिय तथा नित्य साथ रहने वाली-ललिता आदि सखियों
ो मालाओं में—अर्थात् गुणरूपी सुगन्ध एवं सौन्दर्य से संपन्न तथा सदा की साथिन
खियों की पंक्तियों में खेलती हैं। इस दृश्य को देखने वाले का भाग्य धन्य है!
ालासु' (मालाओं) में बहुवचन का प्रयोग यह सूचित करता है कि भिन्न-भिन्न सेवा
ः अधिकार के हिसाब से सखियों के अलग-अलग झुण्ड हैं और श्रीराधा उन सब को
सरमौर हैं। कहा भी है—

'लक्ष्मी सब स्त्रियों में श्रेष्ठ है, गोपियां लक्ष्मी से भी बढ़कर हैं और यदि
ीराधा गोपियों में भी अग्रगण्य हों, तो उनके समान और स्त्री कौन है ?'

इसका यह भाव है कि श्रीराधा का हृदय अत्यन्त विशाल एवं उदार है। 'पंक्तियों
में खेलती हैं' का भावार्थ यह है कि वे हार के मध्य में स्थित नायक-मणि (सुमेरु)
की तरह हैं। क्या करती हुईं ? विश्व को मोहित करने वाले तथा ब्रह्मासे लेकर तृण-
समूह पर्यन्त स्थावर-जंगम सृष्टि में तथा वेदों एवं ऋषि-मुनियों में जो मूर्तिमान
प्रेम-धर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं—ऐसे श्रीकृष्ण के सारूप्य का मानों संग्रह करती हुई—
यह अर्थ है जिसमें उत्प्रेक्षा छिपी हुई है। 'सारूप्य' से अभिप्राय पूर्णतम, यथायोग्य

रूपतां आसमन्तात् 'चिन्वती' संग्रहं कुर्वतीवेत्युत्प्रेक्षागर्भितोऽर्थः । किञ्च नन्दगृहेऽपि प्रियस्य यावत् कैशोरसिद्धिस्तावदस्या अपि तत्सिद्धौ दाम्पत्यानन्दः सिद्धेदित्याशयः । साम्यं यथा—

ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्वयः ।
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥

इतिवत् । गुणानां साम्यं यथोक्तमुज्ज्वले—'संख्यातीता हरेरिव' इति सारूप्येऽपि महत्वम् । तस्या अपि मोहनीत्वं यथार्हत्वं च मरकते कनकरचनम् । न च वर्णाद्यैक्यं शंक्यम् ।

सञ्चयो यथात्रैवोक्तः—

श्रीमद्राधे त्वमथ मधुरं श्रीयशोदाकुमारे ।
प्राप्ते कैशोरकमतिरसादर्हती साधुयोगम् ।इति।

'आचिन्वती (सती) खेलति' इत्यनेन क्रीडनेनाञ्जसैव तादृशगुणान् संगृह्णातीति व्यज्यते । साम्यसिद्धचैव द्वन्द्वार्हता, इति पूर्वपद्यकालीनसंगतिर्ज्ञेया ।

रसकलश

समान रूप से है । तात्पर्य यह है कि जब तक नन्द के घर में श्रीकृष्ण किशोर अवस्था तक पहुंचे, तब तक श्रीराधा भी किशोरी हो जायें और दाम्पत्य का आनन्द भोगें । साम्य की परिभाषा इस प्रकार है—

'जिनका धन, कुल, आर्थिक स्थिति और उम्र समान हों, उनके बीच विवाह और मित्रता का संबंध उपयुक्त होता है । ऊँच-नीच में नहीं ।'

गुणों की समानता बताते हुए उज्ज्वल नीलमणि में कहा गया है—'श्रीहरि की तरह श्रीराधा में भी असंख्य गुण हैं ।' समानता होते हुए भी श्रीराधा का महत्व अधिक है, यह 'महासारूप्यम्' के 'महन्' शब्द की व्यञ्जना है । श्रीकृष्ण यदि मोहन हैं, तो श्रीराधा भी मोहनी हैं । उचित सारूप्य का भाव यह है कि नीलम में जैसा सोना जड़ा रहता है उसी तरह । इस उपमा द्वारा इस शंका का निराकरण कर दिया गया है कि सारूप्य का मतलब वर्ण का भी एक जैसा होना है ।

सारूप्य का संग्रह करने के सम्बन्ध में श्रीराधारससुधानिधि में ही कह आए है—

'हे श्रीमति राधे ! रस के प्रबल आवेश के कारण श्रीयशोदानन्दन के किशोर होने पर आप भी इसी किशोरावस्था-रूप मधुर संयोग को प्राप्त हों । (१६८)

'संग्रह करती हुई खेलती हैं का भाव यह है कि खेल ही खेल में प्रियतम के गुणों को भली भाँति अपनाती हैं । दोनों पक्षों के समान होने पर ही द्वन्द्व-युद्ध बनता है, यह संगति उस समय की है जिसमें पूर्व-पद्य का वर्णन किया गया है ।

तत्र पितृगृहक्रीडने बाल्यपौगण्डवयःसन्धिमाह—यूनोः कयोश्चित्पैतृव्यादिसम्बन्धिनोर्वधूभ्रात्रोर्वा रम्भाश्रीदाम्नोरग्रजत्वात् प्रथमविवाहितयोः। युवत्वमत्र प्रौढाप्रौढत्वमिश्रणार्थकं कैशारानन्तरारम्भितत्त्वं ज्ञेयम्। कुलसंघट्टे यातायातकार्यव्यापृतयोस्तत्र समक्षे दम्पत्योर्दरत्रपमुभे एवैकैकं वा यथार्हं सहृदयवेद्यम्। आर्योपालम्भसम्भावकं भयं, स्वाङ्गदर्शनसंकोचझटितिपटावृतिनेत्रादिनमनादिधर्मिका त्रपा तद्धेतुका। नटवत् कलां धावनपरावर्तननतोन्नतगमनपरावृत्तिग्रन्थनप्रवेशनिर्गमसांकर्यप्रमादादि लाघवमयीम्। 'वि' इति औत्पत्तिकमनीषापूर्वकं दृष्ट्वा तामेवासमन्ताद्यथावदयालयामं स्वदृशौ दीक्षयन्ती, बटुकर्मकनियमव्रतादेशमिव शिक्षयन्तीत्यर्थः। स्वशब्दानुक्तिः कौतुकमात्रेणात्मस्पृहाशून्यत्वमौग्ध्यबोधिका। यद्वा शिक्षासाधकममत्वस्नेहाभावबोधनार्थका। दृशौ प्रेक्षकावपि प्रेक्षणविद्यां

रसकलश

अब पिता के घर में खेलते हुए शैशव और किशोर अवस्था की सन्धि का वर्णन करते हैं—किसी युवक और युवती के जोड़े की भय और लज्जा से युक्त नाट्य-कला को देख कर। उदाहरण के लिए, ताऊ, चचा आदि के पक्ष से सम्बन्धित भाई और भावज, अथवा अपने से पहले विवाहित बड़े भाई श्रीदाम और उनकी पत्नी को ले लिया जाय। युवावस्था से अभिप्राय यौवन और किशोरावस्था के उस संगम से है जो किशोर-अवस्था के बाद प्रारम्भ होता है। किसी पारिवारिक उत्सव के अवसर पर जब कई परिवार के लोग एकत्रित होते हैं, तो वहां सामने ही आने जाने के कार्य में व्यस्त किसी वर-वधू के जोड़े के भय और लज्जा को देख कर। या तो डरना और लजाना उनका एक ही समय में होता था, या समयानुसार कभी डरते थे तो कभी लजाते थे जिसे कि सहृदय समझ सकते हैं। भय इस बात का कि किसी प्रकार की धृष्टता का आभास पाकर गुरुजन उलाहना न मारें, और लज्जा उस समय कि जब अल्हड़पन के कारण कोई अंग खुला दिख जाता, तो वधू संकोच से सिमट कर तत्काल अंचल खींच लेती और शर्म से उनकी आंखें नीची हो जातीं। 'नट की तरह कला' से मतलब दौड़-धूप, आना-जाना, चढ़ना-उतरना आदि क्रियाओं में परस्पर गुंथ-सा जाना, या किसी तंग जगह में से होकर जब अन्दर जाना या बाहर निकलना हो, तो ऐसी सफाई के साथ कि कोई किसी से टकराये न। जन्मजात बुद्धि की सहायता से श्रीराधा इस सब को ध्यान पूर्वक देखती थीं और उसके द्वारा उसी कला की शिक्षा यथावत् उसी समय—हाल की हाल अपने नेत्रों को देती थीं, जैसे कोई आचार्य अपने शिष्य को, यज्ञ, यज्ञोपवीत संस्कार आदि के अवसर पर संबंधित नियम, व्रत आदि से सम्बन्धित आदेश

शिक्षयति, इत्यनेन तदानीमेव कटाक्षधर्माणामारम्भस्तदेदानीं कैमुत्यमेवेति पूर्वपद्यसङ्गतिः। पुनश्च रम्भाया आर्यशिक्षाभयत्रपाहेतुकझटिति पुरोऽञ्चलग्रहणं वीक्ष्य स्वयं तथैव वयस्यासु चकितेन धर्मेण उरोऽपि वृण्वाना अञ्चलेनावृतवती। कीदृशम्? सञ्चितौ महारत्नरूपौ स्तनौ यत्र। सञ्चयोऽत्र कोशस्थितिरूप एव, नतु बहिर्दृश्यः। भविष्णुप्रकाशस्तु सर्वज्ञेय एव। तदपि स्तनोद्गमस्वरूपकारणाभावेऽपीत्यर्थक अपि शब्दः। लोकेऽपि महाधनकोशरक्षणे चकिततावरणाद्यपि दृश्यते, तद्वदिवेत्युत्प्रेक्षागर्भितोऽर्थः। रत्नत्वेऽपि महत्वं विश्वमोहजनकत्वज्ञापकम्। 'सञ्चय' इत्युक्तिस्तदानीन्तनसञ्चयस्येदानीं विलसनं जातमितिप्रियभाग्यज्ञापिका।

रसकलश

देता हुआ शिक्षा देता है। आंखों के पूर्व 'अपनी' शब्द न लगाना यह सूचित करता है कि श्रीराधा युवक युवतियों के जोड़ों को केवल कौतुक-वश देखती थीं। वे इतनी भोली थीं कि उनकी कोई अपनी अभिलाषा थी ही नहीं। अथवा शिक्षा देते समय गुरु के लिए जिस ममता और स्नेह की आवश्यकता होती है, वह उनमें न थी। आंखों का काम देखना है, किन्तु प्रियाजी उन्हें यह सिखाती हैं कि किस तरह देखना चाहिए। इससे यह भाव निकलता है कि कटाक्ष फेंकने का प्रारम्भ जब उसी समय से हो गया है, तो अब का तो कहना ही क्या है? यह पूर्व पद्य की संगति है। फिर श्रीराधा ने जब देखा कि रंभा ने गुरु जनों के अनुशासन के डर से तथा लज्जा के कारण जल्दी से अपना अंचल खींच लिया, तो स्वयं ने भी सखियों के बीच में चकित होकर अंचल से अपने वक्ष को ढक लिया। वक्षःस्थल का विशेषण देते हैं—जहां अमूल्य रत्न रूपी स्तनों का संग्रह करके रक्खा गया था। 'संचय' का मतलब यहाँ यह है कि कोश मौजूद था। बाहर से दिखाई नहीं देता था। आगे चल कर रत्न-कोश प्रकाश जैसा फैलने वाला था, वह तो सब को ही मालूम है। 'चप्युरः' (च+अपि+उर.) में 'अपि' से यह बोध होता है कि स्तनों में अभी उभार नहीं आया था, फिर भी उन्हें ढक लिया। संसार में भी यह देखा जाता है कि किसी विशाल खजाने की रक्षा में नियुक्त पुरुष सदा चौकन्ने रहते हैं और उसे बन्द करके रखते हैं। उसी तरह श्रीराधा ने भी अपने स्तनों पर अंचल डाल लिया—यह अर्थ है जिसमें उत्प्रेक्षा छिपी हुई है। रत्न तो थे ही स्तन, किन्तु उन्हें महारत्न कह कर यह सूचित किया गया है कि उनका महत्व इस अर्थ में है कि विश्व को मोहित करने वाले को भी वे मोह में डाल देते हैं। इन रत्नों के संग्रह करने की बात इसलिए कही है कि उस समय किया गया संग्रह इस समय विलास का साधन बन गया। इससे प्रियतम के सौभाग्य की ध्वनि निकलती है।

एवं दीक्षयन्त्यावृण्वानासती सखीषु क्रीडतीत्यनेन तासु समवयस्कात्वसंकोचेन वरत्वं वणिनीत्वञ्च प्रकल्प्य तथैवानुकुर्वती, यथा वटुषु परस्परशिक्षणमसंकुचितं भवति। लोकेऽपि विद्याश्रियौ सर्वोपकारकौ, तद्वदत्रापि कलारत्नशब्दौ पूर्वपद्योक्तचातुर्योपकारकत्वव्यञ्जकौ। सा काचिद्वेशसखीशब्दैराश्चर्यद्योतनं यदनिर्वचनीयापि लोके दृश्यमाना, अहो लोकभाग्यं श्रीमत्या आश्चर्यपूर्णकृपालुत्वं व्यञ्जितं, अन्यथा कथमयमानन्दो गोचरः स्यादिति। अन्येषां योगीन्द्राणामप्यगम्या, भानोस्तु वेश्मन्येवेत्यस्य भाग्यं व्यञ्जितम्। आचार्योक्तौ सर्वलीलानां नित्यत्वाद्बाल्यलीलायां वर्तमानप्रयोग इति ज्ञेयम् ॥२२५॥

ततः स्वानुभूततादात्विकोवितपूर्वकपौगण्डकैशोरवयःसन्धि स्मरति—

ज्योतिःपुञ्जद्वयमिदमहो मण्डलाकारमस्या
वक्षस्युन्मादयति हृदयं किं फलत्यन्यदग्रे ।

रसकलश

इस प्रकार नेत्रों को दीक्षा देती हुई तथा स्तनों को ढकती हुई सखियों के बीच में खेलती हैं। खेलने का मतलब यह है कि समान अवस्था वाली सखियों के बीच बिना किसी संकोच के, किसी सखी को दूल्हा तथा किसी को दुलहिन बना कर उसी प्रकार का अनुकरण करती हैं। आश्रमों में ब्रह्मचारी गण भी बिना किसी संकोच के अपने साथियों को पढ़ाते हैं। दुनिया में भी यह देखा जाता है कि विद्या और लक्ष्मी दोनों का ही जीवन में उपयोग है। इसी प्रकार प्रस्तुत में भी पूर्व पद्य में उल्लिखित विदग्धता तथा कल्याणकारिता (मंगल-ध्वनि और चतुर नागरी) की व्यंजना है। 'सा काचित् वेश्म' और 'सखी' शब्द आश्चर्य के ज्ञापक हैं। यह आश्चर्य का ही विषय है कि अनिर्वचनीय होने पर भी श्रीराधा संसार में इस प्रकार दर्शन देती हैं। धन्य हैं लोगों के भाग्य ! इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि श्रीमती पूर्ण कृपालु हैं, नहीं तो यह आनन्द देखने को कैसे मिलता ? जो अन्य योगियों के अगोचर हैं, वे श्रीवृषभानु के घर में ही विराजमान हैं, यह उनका कैसा सौभाग्य है। यदि प्रस्तुत पद्य को श्रीहिताचार्य की उक्ति माना जाय, तो सब लीलाओं के नित्य होने के कारण बाल-लीला में वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है यह ज्ञातव्य है ॥२२५॥

इसके अनन्तर स्वयं अनुभूत, उस समय से सम्बन्धित उक्ति के द्वारा बाल्यावस्था और किशोरावस्था की सन्धि का वर्णन करती हैं—

भ्रूकोदण्डं न कृतघटनं सत्कटाक्षौघलिप्तैः,
प्राणान् हन्यात् किमु परमतो भावि भूयो न जाने ॥२२६॥

'अस्याः' इति—या बालावलीमौलि सैवारब्धकैशोरेति प्रत्यभिज्ञातायाः सख्यातिशयात् समक्षाङ्गुलिनिर्देशेन च नामानुक्तिः। वक्षसि अभिव्याप्य वर्तमानं इदमगोपनीयप्रभावं मण्डलाकारं वर्तुलाकृतिपरिणतं ज्योतिषः पुञ्जद्वयं कर्तृ हृदयं द्रष्टृसखीजनस्येति उन्मादयति, अधुना सहर्षं भ्रान्तयति। 'अहो' आश्चर्ये। अन्यदग्रे किं फलति, फलिष्यतीत्यर्थः।

रसकलश

'कैसे आश्चर्य की बात है कि इनके वक्षःस्थल पर दो गोल प्रकाशों का यह समूह (देखते ही) हृदय को उन्मत्त बना देता है, तो आगे चलकर यह क्या फल (प्रभाव) दिखलाएगा। भौंह-रूपी यह धनुष खिंचा हुआ नहीं है, फिर भी सहज-सुन्दर कटाक्ष समूह-रूपी जहरीले बाणों से प्राणों को ले सकता है। इससे आगे फिर और क्या होगा, यह नहीं मालूम ॥२२६॥*

'अस्याः' (इसके) का भावार्थ यह है कि जो किसी समय बालाओं के समूह की सिरमौर थी, उन्हीं की अब किशोरावस्था प्रारम्भ हो गई है और इस रूप में उन्हें सब पहिचानते हैं। गहरे सख्य-भाव के कारण श्रीहितसखी सामने उपस्थित श्रीराधा को अंगुली से बता रही हैं, अतः पद्य में उनके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। तो इनके वक्षःस्थल को घेर कर स्थित तथा जिसका प्रभाव छिपाये नहीं छिपता, ऐसे गोल आकार में परिणत ये दो प्रकाश-पुंज (कर्ता) सखीजन के हृदय को उन्मत्त बना रहे हैं— अर्थात् इन्हें देख कर प्रसन्नता और उन्माद साथ-साथ होते हैं। 'अहो' में आश्चर्य प्रकट किया गया है, देखना है, आगे चल कर ये क्या करिश्मा दिखाएगें।

ऐश्वर्य पक्ष में 'ज्योति' द्वारा आकार को चित्स्वरूप एवं अमृतमय बताया गया है, न कि मायापूर्ण, जैसा कि कहा है – 'स्तन केवल मांस की गाँठ हैं, किन्तु कवियों ने उन्हें इतना ऊँचा उठा दिया कि उनकी उपमा स्वर्ण के कलशों से दे डाली'।[1] 'पुञ्ज'

*यह अर्थ रसकुल्यानुसारी है। विशेष के लिए अन्त में टिप्पणी देखिए।

१. पूरा पद्य इस प्रकार है—

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्द्धिजघनम्
परं निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतम् ॥
—भर्तृहरिः

'ज्योतिः' इत्यनेनैश्वर्ये तु चिदमृतमयाकारत्वं व्यक्तम् । ननु 'स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ' इति मायिकम् । 'पुञ्ज' इत्यनेन ज्योतिरेव ग्रन्थीभूतमित्यभिव्यक्तम् । माधुर्ये च रूपातिशयेऽपि लावण्याङ्ग-कान्तिबाहुल्यापेक्षयोक्तं, स्वनेत्रानन्दप्रकाशकत्वाज्ज्योतिरिति च । शीतोष्ण-रश्मित्ववर्णननिरपेक्षत्वाच्चिन्तामणिवदलौकिकत्वञ्च ज्ञेयम् । पूर्वं महारत्नं सञ्चितम्, इदानीमुद्गमावस्थायां बहिः प्रकटितस्वगततेजः प्रताप-त्वञ्चेति । 'मण्डल' इति वर्तुलत्वशोभामर्यादैव द्वयत्वज्ञापिका, अन्यथा ज्योतिर्मिलने चैक्यं स्यादिति 'इदम्', 'अस्याः' इति च तादात्विकस्मृतौ पूर्वदृष्टरूपस्य बुद्धिगोचरत्वात् प्रत्यक्षनिर्देशः । 'अहो अग्रे' इति भावि वर्द्धिष्णुयौवने स्तनप्रभाववृद्धेरपरिहार्यभावनयाऽऽश्चर्यद्योतनम् । अस्माकं हृदि त्वद्यैव पूर्णस्वरूपमागतं यदेतद्द्वयेन हृदयोन्मादकस्वनियतफलं प्रकटित-

रसकलश

से यह व्यक्त किया है कि ज्योति ही स्तनों के रूप में इकट्ठी हो गई है । माधुर्य-पक्ष में, अनुपम रूपवती होने पर भी लावण्य और अंगों की कान्ति की दृष्टि से 'पुञ्ज' कहा गया है और अपने नेत्रों के आनन्द को प्रकाश प्रदान करने के कारण 'ज्योति' कहा गया है । इस ज्योति के सम्बन्ध में यह बताना आवश्यक नहीं कि इसकी किरणें ठंडी हैं या गरम । यह तो चिन्तामणि की भांति अलौकिक है । बाल्यावस्था में इसे अमूल्य रत्न की भाँति सँजोकर रक्खा गया था, अब यह उभर कर व्यक्तिगत तेज और प्रकाश के रूप में बाहर आ गई हैं । 'मण्डल' कहने का मतलब यह है कि गोलाई की शोभा की हदबन्दी के कारण ही ज्योति-पुंज छट कर दो भागों में विभक्त हो गया, नहीं तो ज्योतियों के आपस में मिल जाने पर एक की ही प्रतीति होती । 'इदं अस्याः' (यह इसका) कह कर स्तनों की तरफ इस प्रकार संकेत किया है जैसे वे उसी रूप में साक्षात् दिख रहे हों । वास्तविकता यह है कि उस समय उनका स्मरण ही किया गया था । उस स्मृति में जब बुद्धि का योग हुआ, तो वे प्रत्यक्ष हो गये । 'अहो अग्रे' द्वारा यह आश्चर्य प्रकट किया गया है कि आगे चल कर जब यौवन और खिलेगा, तो अनिवार्य रूप से स्तनों का प्रभाव बढ़ेगा ही बढ़ेगा (और तब न जाने ये क्या मुसीबत ढहावेंगे) । आगे चलकर इनमें जो भराव आवेगा, वह हमारे हृदय में तो पूरा का पूरा उभर आया है—इसलिए कि उन्होंने हृदय को उन्मत्त बना देने वाले अपने निश्चित प्रभाव को प्रकट कर ही दिया है । न जाने भविष्य में यौवन आने पर ये क्या अर्थात् इस शरीर से छुड़ाना ही शेष रह गया है । इस बात को कहा नहीं गया है, पर इसे हमारा हृदय जानता है । अथवा आगे जाकर जो होगा उसका उल्लेख पद्य के उत्तरार्ध के लिए बचा

मेव । अग्रे यौवने किं फलं प्रकटयिष्यतीति न जाने । अर्थात् विदेहकरण-मेवावशिष्टमिति नोक्तं हृद्गतमेव। यद्वा कटाक्षप्रभावार्थमवशेषितं 'हन्यात्' इत्यादिवक्ष्यमाणकम् । यद्वाधुनिकसंगतिरेवं यदग्रफलनसंभावनाऽऽश्चर्यं कृतं तदिदानीं स्तनादिवरताडनैर्गोचरीकृतमिति लभ्यते, इति ज्ञेया । 'हृदम्' इत्यत्र संबन्धानुक्तिः प्रियनिन्हृतिज्ञापका, अग्रेऽखिलवस्तुहरणलुठनवर्णन-स्यादर्शनासंभाव्यात् । अन्यच्च वक्षसि तु वस्तु कस्यैवास्ति, उन्मादनं कुत्रैव फलीभूतमित्याश्चर्यं निर्दयत्वव्यञ्जकमेव । सखि ! कत्कथं वक्षस्तूपरितन-भागत्वेन मर्मास्पृक्, हृदयमन्तकरणं मर्मस्थानम् । तत्सत्यम् वक्षसा परदुःख-ज्ञानं स्यात्, इति व्यञ्जितेन मयि को दोषश्चेदितिप्रियाप्रश्नोत्तरमाह—'न कदापि भवतु भवती निर्दया; वयन्तु वक्षोजवार्ता ब्रूमः' इति वक्षोजकर्तृ-

रसकलस

कर रख लिया है, जिसमें कटाक्षों के प्रभाव का वर्णन करते हुए यह सम्भावना प्रकट की गई है कि वे प्राणों को लिये बिना नहीं मानेंगे । अथवा प्रस्तुत पद्य को पूर्व पद्य (२२४) की संगति में रख कर देखने से यह फलित होता है कि भविष्य में जिस फल की संभावना को लेकर आश्चर्य प्रकट किया गया है, वह अब (पूर्ण यौवन प्राप्त कर लेने पर) स्तन आदि के द्वारा ताड़न करने से सामने ही आ गया । 'हृदयं उन्मादयति' (हृदय को उन्मत्त बना देता है) में यह नहीं बताया है कि किसके हृदय को ? इससे पता चलता है कि उस समय प्रियतम वहां नही थे, क्योंकि अग्रिम दो पद्यों (२२७-२२८) में प्रियाजी द्वारा सब वस्तु के हरने तथा प्रियतम के पृथ्वी पर लोटने की बात कही गई है जोकि प्रियतम के दर्शन के बिना असम्भव है । दूसरी बात यह कि वक्षः-स्थल पर तो वस्तु किसी की है, और उन्मत्त होना है कोई दूसरा । यह एक आश्चर्य की बात है जिससे निर्दयता की ध्वनि निकलती है । 'सखि ! यह सच ही है । वक्षःस्थल तो ऊपर रहता है, भला वह मर्म को कैसे छुएगा !' यह मर्मस्थल है हृदय—अन्तःकरण । ऐसे में वक्षःस्थल को दूसरे के दुःख का ज्ञान कैसे हो सकता है ? इससे यह ध्वनि निकलती है कि प्रियाजी के स्तनों को देख कर यदि किसी के प्राणों पर आ बनती है, और प्रियाजी इस सबसे बेखबर रहती हैं, तो उनके हृदय में दया का सर्वथा अभाव ही है । इस ध्वनि को समझ कर यदि प्रियाजी यह पूछें कि 'इसमें मेरा क्या दोष है ?' तो सखियों का उत्तर यही है कि 'हम यह कब कहती है कि आप निर्दय हैं, हम तो वक्षः स्थल की बात कह रही हैं । यह सब करतूत उसी की है ।' सखियों के इस उत्तर में एक कटाक्ष भी निहित है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए । नहीं तो श्रीहितसखी यही न कहती कि प्रियाजी इन दोनों स्तनों द्वारा देखने वाले को उन्मत्त बना देती हैं ।

त्वेन कटाक्षध्वनिः । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । अन्यथा 'एताभ्यामुन्मादयति' इत्यवक्ष्यत् । अनेन मौग्ध्यमपि व्यञ्जितम्, तत्कृतोन्मादाननुभवात् । यदेय-मुन्मादकर्त्री भवेच्चेत् कैमुत्यमेवेति ध्वन्यन्तरम् ।

'मदि हर्षे' इत्यस्य 'उत्' इत्युपसर्गेण अस्माकं दासीनां त्विदं हर्षदं उदधिकम्, तथापि कस्यचित् सर्वस्वार्थविस्मारकचित्तव्यामोहोत्पादकमेवेति योगरूढिद्वयार्थोऽपि ध्येयः ।

तदेवं पूर्वपद्योपक्षिप्तयोः कटाक्षशिक्षणवक्षोअवरणयोर्मध्ये वक्षोमहिमो-पर्वाणतः । शिष्टमाह—भ्रू रेव कोदण्डं धनुरिति वयोऽपेक्षया यथार्हतयाकृति-सौष्ठवप्राप्तिर्ज्ञेया। पूर्वन्तु बाल्याद् 'दृशौ' इत्येवोक्तिः, आकर्षणधर्मानुपपत्तेः । तदाकृतित्वेऽप्यद्य कृतं घटनं वेष्टनं येन तादृशं नास्तीति । यद्वा 'नकृते-'ति समस्तं पदम्, अकारादेशाविवक्षितत्वात् । घटनमत्र कर्षणकार्यप्रवर्तनम् ।

रसकलश

इसकी दूसरी व्यञ्जना यह भी है, प्रियाजी इतनी भोली हैं कि उन्हें इसका अनुभव ही नहीं है कि उनके ये स्तन किस कदर किसी को पागल बना सकते हैं । और यदि प्रियाजी कहीं दूसरे को उन्मत बनाने की बात सोच लें, तो फिर तो कहना ही क्या है? यह भी एक ध्वनि है ।

उत् उपसर्गपूर्व मद् धातु से प्रेरणार्थ में 'उन्मादयति' बनता है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार सखियां कहती हैं कि जहां तक हमारा संबंध है, वहां तक ये स्तन हमें तो प्रसन्नता ही देते हैं, किन्तु कोई दूसरा व्यक्ति तो इनके चक्कर में पड़ कर अपना सब स्वार्थ भूल ही सकता है । प्रसन्न करना तथा उन्मत्त बना देना—इन दोनों अर्थों में मद् धातु के रूढ़ होने के कारण ये दो अर्थ निकलते हैं ।

इस प्रकार पूर्व पद्य में उल्लिखित.कटाक्षों की शिक्षा तथा वक्षःस्थल का ढकना—इन दोनो में से वक्षःस्थल की महिमा का वर्णन किया । अब कटाक्षों के संबन्ध में कहते हैं- भौंहे ही कोदंड यानी धनुष हैं । तात्पर्य यह है कि अवस्था की दृष्टि से भौंहों का आकार जैसा सुन्दर होना चाहिए, वैसी हो गई हैं । पूर्व पद्य (२२५) में बाल्यावस्था के कारण आँखों का ही नाम लिया था, क्योंकि उनमें आकर्षण पैदा ही नहीं हुआ था । आज भौंहों की आकृति भले ही धनुष-जैसी हो गई हो, पर उनमें लपेट नहीं है । अथवा 'नकृतघटनम्' इसे समासान्त पद मान लिया जाय, क्योंकि नञ् स्थानीय अकार तो वक्ता के इच्छा के अधीन है । 'घटनम् का अर्थ है खींचने के कार्य में लग पड़ना । तो अर्थ यह हुआ कि जिसमें आकर्षण का धर्म नहीं है, ऐसा होता हुआ भी कोदण्ड अथवा 'सत्' को स्वतंत्र पद न मान कर 'कोदण्ड' आदि

एवं सत्, इति वर्तमानमपि। यद्वा सद्भिः श्रेष्ठैरव्याजसुन्दरैरविकृतैरवेध्यशिक्षितैरनाविष्कृताकूतैरिति यावत्, कटाक्षाणां तिर्यगादिप्रेक्षणानामोघैः प्रवाहवदकुण्ठितैरेव लिप्तैरत्याहितविषाक्तबाणैः प्राणान् मर्माणि हन्याच्छिन्द्यादिति। 'प्राणान्' इत्यत्रापि संबन्धानुक्तिरनन्यवेध्य विश्वमोहनसंभवनापेक्षिका। किञ्च स कटाक्षगोचरश्चेद्विध्येदेवेति संभावना, अन्यथा 'हन्ति' इत्यवक्ष्यत्। सारूप्याचयनेऽपि महत्त्वमिदमेव यद्यथार्हकार्यकरणं हि। विषमत्रौत्पत्तिकं, न तु लेपितम्, 'लिप्त' इत्युक्तेः। अतः अस्मात्प्राणहननादन्यदवशिष्टं क्रियान्तरं भूयः किं भावीति। 'न जाने' इत्यनेन भूयोभावित्वमपि द्योतितम्। तद्व्यंग्य एव स्थितं कार्यापत्तौ व्यक्तिमेष्यतीति ज्ञेयम्। तदत्र विलाससमये व्यक्तिमेष्यतीति ज्ञेयम्। तदत्र विलाससये व्यक्तम्। 'अतः' अकृतघटनादे रन्यदिति। सज्याकर्षिते च धनुषि सति भूय

रसकलश

के साथ उसकी समानता मान ली जाय, तब विग्रह होगा—सन्तश्च ते कटाक्षाः सत्कटाक्षाः) अर्थ होगा-सत् अर्थात् श्रेष्ठ, सहज सुन्दर, विकारहीन, जिन्होंने घायल करना नहीं सीखा है तथा आन्तरिक आशय की संप्रेषणीयता जिनमें प्रकट नहीं हुई है ऐसे कटाक्षों के प्रवाहों से। नेत्रों की तिरछी भंगी से देखने को कटाक्ष कहते हैं। ये कटाक्ष जलप्रवाह की तरह निर्बाधित होते हैं। फिर वे होते हैं लिप्त-अर्थात् भयंकर रूप से अनिष्टकारी तथा ज़हर में बुझे। ऐसे कटाक्ष-रूपी वाणों से प्राणों को, अर्थात् मर्मों को हर सकता है। काट सकताहै किसके प्राणों को ? यह न बता कर यह संभावना व्यक्त की हैं कि कटाक्ष-रूपी इन वाणों का लक्ष्य सिवा विश्व-मोहन श्रीकृष्ण के और कौन हो सकता है, क्योंकि जो विश्व को मोहित करने वाले हैं उन्हें और कोई तो घायल कर ही नहीं सकता। वे यदि कटाक्षों के सामने पड़ गए, तो वींधे ही जायँगे, यह संभावना भी ध्वनित होती है, नहीं तो 'हन्यात्' के स्थान पर वर्तमानकालिक 'हन्ति' का ही प्रयोग न किया होता। सारूप्य-संग्रह की भावना के पीछे भी यही महत्व है कि जिसके योग्य जो कार्य हो वही किया जाय। विष यहाँ जन्मजात है, वह बाद में नहीं लगाया गया है, क्योंकि 'लिप्त' कहा है, न कि 'लेपित' (लीपा गया, लगाया गया)। अतः प्राणघात के इस कार्य के अतिरिक्त और अब क्या कार्य शेष रहा जोकि भविष्य में होने वाला है। 'न जाने' यह कह कर यह भी व्यक्त किया है कि आगे कुछ न कुछ जरूर होगा। आगे होनहार यह विलास के अवसर पर सामने आ जायगा, बल्कि विसास के समय प्रत्यक्ष हो ही गया। 'अतः' का अर्थ है—धनुष के बिना खींचे भोली-भाली चितवनों से प्राण-हरण के अतिरिक्त। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़

प्रियाकर्तृत्वेन नाराचप्रकृत्तौ प्राणाकर्षणे कैमुत्यमेवेति तदपि क्रियान्तरानवशेषाद्धननमेव सिद्धम् । कदाचिद्वेध्यचैतन्ये भूयः प्रहारेऽपि तदेवसेत्स्यतीति वाणानामिदमेव क्रियानैयत्यम् । अतो 'न जाने' इति साधूक्तम् । एवमुन्मादहननाद्युक्तिर्वक्तृसखीहृदयेऽनुक्तसारूप्यसिद्धिजहर्षव्यञ्जका हि ।।२२६।।

रसकलश

जाने के बाद, प्रियाजी यदि एक बार फिर वाण चला कर प्राणों को खींचने लगे, तब तो कहना ही क्या हैं ? मार डालने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य शेष न रहने के कारण परिणाम वही मारना ही हुआ– यह सिद्ध हो गया। घायल कर दिये जाने के बाद यदि कोई सिसकता रह जाय, तो दोबारा प्रहार करने पर भी वही फल होगा। यही वाणों की निश्चित क्रिया है। अतः 'न जाने' यह ठीक ही कहा है। अतः उन्मत्त बनाने और प्राण लेने की बात से यह ध्वनि निकलती है कि पद्य में यद्यपि सारूप्य की बात कही नहीं गई है, फिर भी उसकी सिद्धि देखकर कहने वाली श्रीहितसखी के हृदय को अपार हर्ष हुआ ।।२२६।।'

अन्य प्रतियों में इस पद्य के तृतीय चरण में 'लिप्तैः' के स्थान पर 'वाणैः' पाठ मिलता है। रसकुल्याकार द्वारा स्वीकृत पाठ में 'लिप्तैः' में भी 'दिग्धैः' की तरह विशेष्य वाण का संग्रह है।

पद्य को पढ़ने के उपरान्त स्वाभाविक रूप से तृतीय चरण के जिस अर्थ की प्रतीति होती है: वह इस प्रकार है :

'प्रभावशाली कटाक्ष-रूप वाण-समूहों के साथ संयोग हुए बिना ही भ्रू-चाप प्राणों को हर सकता है।'

इस अर्थ में 'घटनम्' का अर्थ है संयोजन। अन्वय होगा—'सत्कटाक्षौघवाणैः (सह) न कृतघटनं भ्रूकोदण्डम्।'

रसकुल्याकार ने आर्थिक चमत्कार पैदा करने के लिये 'घटनम्' का अर्थ किया है—'वेष्टनम्' और 'कर्षणम्'। अर्थ किया है—भ्रू-चाप में यद्यपि आकर्षण का प्रभाव पैदा नहीं हुआ है, तथापि वह निर्व्याज (सहज) सुन्दर कटाक्षरूपी वाणों के प्रवाह से (कटाक्षौघलिप्तैः कृत्वा) प्राणों का हरण कर सकता है। मन्तव्य यह है कि धनुष पर प्रत्यंचा भी नहीं चढ़ी है एतावतापि भौंहें केवल सरल चितवन से ही काम तमाम कर देंगीं। प्रत्यंचा पर बाण चढाकर चलाने का मतलब तो यह होगा कि प्रियाजी अपने मादक कटाक्षों के प्रभाव से परिचित है और उनमें कर्तृत्व भी हैं; परन्तु ऐसा मानने से तो उनका मुग्धात्व क्षतिग्रस्त हो जायगा और टीकाकार की इस स्थापना कि प्रस्तुत पद्य में बाल्य और कैशोर की वयःसन्धि का वर्णन है, अपलाप हो जायगा। किन्तु विचारणीय यह है कि धनुष पर चढ़ाये बिना बाण चल कैसे जायेंगे और बिना चढ़ाये धनुष का कर्तृत्व और बाणों का करणत्व कैसे संभव है।

यदि अन्य टीकाकारों के समान 'घटनम्' का अर्थ संयुक्त होना लगाया जाय, तो इस प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। उस स्थिति में तो भावार्थ यह होगा कि भ्रू-चाप

तदेवमुक्तोन्मादादिकं कार्यद्वारा सविषयं लक्षयति—

भोः श्रीदामन्! सुबलवृषभस्तोककृष्णार्जुनाद्याः!
किं वो दृष्टं मम नु चकिता दृग्गता नैव कुञ्जे ।
काचिद्देवी सकल भुवनाप्लाविलावण्यपूरा,
दूरादेवाखिलमहरत् प्रेयसो वस्तु सख्युः ।।२२७।।

एकदा सान्तरङ्गसखिगणः प्रियो दूरनिक्षिप्तचरद्गोधनः स्वासज्य-दिग्वातसौरभलोभितान्तःकरणो वरसानुपवनाभ्यास आगतवन् । तत्र वनशोभालग्ननयनेषु तेषु दूरतः श्रीमत्यञ्जसैव पुष्पावचयादिक्रीडया सवयस्या विहरन्ती झटिति निकुञ्जं प्रविष्टा । तदा तद्रूपलावण्यमाधुर्याटोप-दर्शनमात्रजप्रियवैकल्यातिशयं वीक्ष्य मधुमङ्गलो ज्ञात्वाप्यज्ञात इव वयस्यानाहेति पद्यसंगतिर्ज्ञेया ।

रसकलश

इस प्रकार पूर्व पद्य में वर्णित उन्माद आदि भावों को विषय सहित दिखाते हैं—

'हे श्रीदाम ! सुबल ! वृषभ ! स्तोक कृष्ण ! अर्जुन आदि सखाओ ! क्या तुमने देखा है ? मेरी चकित दृष्टि तो कुंज के भीतर जा नही पाई । अपने सौन्दर्य के प्रवाह में सब लोकों को डुबा देने वाली किसी देवी ने तुम्हारे प्रिय सखा के सर्वस्व को अपहरण कर लिया है ।।२२७।।

एक दिन श्रीकृष्ण अपने अन्तरंग सखाओं के साथ, चरती हुई गायों को दूर छोड़ कर अपनी आसज्य प्रियाजी की दिशा से आनेवाली वायु की सुगन्ध के लोभ के वशीभूत होकर बरसाने में चल रही वायु के निकट पहुंच गये । वहाँ सब की आंखे जब वन की शोभा में अटकी हुई थीः तो वहां से दूर श्रीमती राधा फूल चुनने आदि क्रीड़ा के प्रसंग में विहार करती हुई शीघ्र ही निकुंज में प्रवेश कर गईं मधुमंगल ने देखा कि प्रियाजी के रूप, लावण्य और माधुर्य के घटाटोप को देखने मात्र से ही प्रियतम अत्यन्त विकल हो गये और देखकर भी अनजान की तरह मित्रों से कहते हैं । यह है प्रस्तुत पद्य की संगति ।

स्वयं इतना सशक्त है कि बाणों के संयोग की अपेक्षा किये बिना ही वह प्राणों को हर लेगा । जो कुछ भी हो, रसकुल्याकार का आशय निम्नलिखित शेर से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है और इसमें सन्देह नहीं कि उसमें काव्यानुकूल चमत्कार भी है—

जमाना लुट गया अकबर तेरी सीधी निगाहों से ।
ख़ुदा ना ख्वास्ता तिरछी नज़र होती तो क्या होता ।।

'अर्जुनाद्याः' इत्यत्रादिशब्देन श्रीदशमोक्ताः सखायो ज्ञेयाः । यथाहि—

हे स्तोककृष्ण हे अंशो श्रीदामन् सुबलार्जुन ।
विशालर्षभ तेजस्विन् देव प्रस्थ वरूथप ।। इति ।।

एतेषां स्वरूपं श्रीकृष्णबहिश्चरणप्राणत्वमिन्द्रियेशत्वञ्च पूर्वैर्महाशयैरुक्तम् । ततोऽन्तरङ्गप्रियनर्मत्वमेषां सिद्धमेव । न प्रियासमक्षत्वं विरुद्धम् । 'यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते' इति सर्वव्रजवासिजनसाधारण्यम् । तदेषां तदेकजीवनत्वात् तत्प्रेमास्पदरतिसाधनप्रवृत्तिर्जीवातुरेवेति किं वक्तव्यम् । एतेषामुपरितनप्रियपक्षपातनर्मोक्तिकौतुकबाह्यसेवनाद्येव सखीभ्यो भेदो, न तु दम्पतिप्रेमाश्रयत्वे इति । तस्माद्बहिरङ्गत्वन्न शङ्क्यम् ।

प्रकृतमनुस्त्रियते । 'भोः' इति सचकितप्रथमोक्तिस्तच्छीघ्राभिमुखीकरणावधानार्था । 'वः' इति जननीन्यस्तजीवनरक्षाप्रमादादिभिर्युष्माभि-

---

रसकलश

'अर्जुन आदि' में 'आदि' शब्द से श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में बताये गये सखा समझने चाहिये । जैसे—'हे स्तोककृष्ण ! हे अंशु ! श्रीदाम ! सुबल ! अर्जुन ! विशाल ऋषभ ! तेजस्वी ! देव ! प्रस्थ ! और वरूथप !'

इनका स्वरूप जैसा कि पूर्व के महापुरुषों ने बताया है, यह है कि ये श्रीकृष्ण के दृश्यमान जगत् में विचरण करने वाले प्राण हैं तथा अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाले हैं । ऐसी स्थिति में यह बताने की आवश्यकता नहीं कि ये श्रीकृष्ण के अन्तरंग प्रिय सखा हैं, तथा हास-परिहास द्वारा उनका मनोरंजन करते हैं । प्रियाजी के सामने इनका उपस्थित होना अनुचित नहीं कहा जा सकता । 'जिनके धन, धाम, मित्र, प्रिय आत्मा, पुत्र, प्राण, हृदय आपके ही लिये हैं :— यह कथन तो सब व्रजवासियों पर लागू होता है, किन्तु इन सखाओं के प्राण ही एकमात्र श्रीकृष्ण में रहते हैं, तथा जिन विहारों में उनकी रुचि होती है, उनके साधन जुटाने में ये तत्पर रहते हैं । ये क्रिया-कलाप ही इनके जीवनाधार हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं सखियों से इनका भेद इस बात में है कि ये ऊपर से श्रीकृष्ण का पक्ष लेते हैं, हास-परिहास, खेल-खिलवाड़ करते हैं और बाहर रहकर उनकी सेवा करते हैं । किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि ये बहिरंग हैं । युगल-स्वरूप इनसे वैसा ही प्रेम करते हैं जैसा कि अन्तरंगा सखियों से ।

अब विषय पर आते हैं । 'भोः' (हे यह चकित होकर कहा गया है और इसका उद्देश्य है सखाओं को तत्क्षण अपनी ओर उन्मुख करना तथा उनका ध्यान

रनेक बुद्धिविभवाभिमानख्यातनामभिः। 'किं दृष्टं नु' इति पृच्छार्थकम्। विकल्पे च दृष्टं न वेतिबोधकम्। अस्मादृशो भवानपि द्रष्टा चेदुच्यतां नाम। तत्राह—मम वनशोभानिमग्नमनसः प्रियसखिभुजधारकस्यैतदिङ्गिता-व्यवहितनिरीक्षणा दृक् चकितेसि प्रताडितापि दास्यसन्नद्धा प्रेष्ठवैकल्यावेशेन किमिदमकस्माज्जातमित्याश्चर्यवेगव्यापृता कुञ्जे तन्मृग्यनिदानविषये नैव गता, मध्य एव विस्मृतकरणीया जाता, पदान्तरं दातुमशक्ता। तत्र कारणमाह—'काचित्' इत्यवचनेन व्यंग्येनैव वा ज्ञेया। 'देवी' अमानुष्य-दृष्टचरी वनाधिष्ठात्री क्रीडन्ती, विजिगीषन्ती, द्योतयन्ती, मोदयन्ती, मादयन्ती, स्वापयन्ती, लोठयन्तीत्याद्यर्थविशिष्टा सकलभुवनान्याप्लावयितुं

रसकलश

केन्द्रित करना है। 'क्या तुम लोगों ने देखा है?' यहां 'वः' (तुम सबने) से यह व्यक्त किया है कि माता यशोदा ने श्रीकृष्ण की जीवन-रक्षा का दायित्व तुम्हें सौंपा और इस काम में तुम लोगों से कभी कोई चूक नहीं होती। तुम लोगों के नाम इसके लिए प्रसिद्ध है, यह कि तुम सब बुद्धि-वैभव से संपन्न हो और अपनी इस विशेषता पर तुम्हें अभिमान भी है। 'किं दृष्टा नु' (क्या देखा है?) से प्रश्न सूचित होता है। दूसरा अर्थ यह भी संभव है—'देखा है या नहीं?' हमारी तरह आपने भी देखा हो, तो बताइए। इसी बात को कहते हैं—अपने सखा के कन्धे पर हाथ रक्खे मैं तो उधर ही देख रहा था जिधर वह संकेत कर रहा था, अतः मेरी दृष्टि चकित हो गई—चकाचौंध में पड़ गई। श्रीराधा के अनुपम रूप-लावण्य से वह चकरा गई। दास्य-भाव बँधी होने तथा सर्वाधिक प्रिय श्रीकृष्ण की विकलता से उत्पन्न आवेश के कारण 'अचानक यह क्या हो गया? इस आश्चर्य के आवेश में वह कुंज के भीतर नहीं गई। कुंज में उन्हें खोजना चाहिये था, किन्तु वहाँ न जाकर बीच में ही किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई और एक पैर भी आगे न बढ़ सकी। कारण बताते हैं—'किसी देवी ने तुम्हारे प्रिय सखा का सर्वस्व अपहरण कर लिया।' इस वाक्य में 'काचित्' (कोई) कहने का अभिप्राय यह है कि वाणी द्वारा उसका निर्देश नहीं किया जा सकता, अथवा यह कि व्यंग्य रूप में ही उसका ज्ञान हो सकता है। 'देवी' का अर्थ है—जो मनुष्य के दृष्टिगोचर नहीं है, जो वन की स्वामिनी है। 'दिव्' धातु से निष्पन्न इस शब्द के अर्थ हैं - खेलती हुई जीतने की इच्छा करती हुई, चमकती हुई, प्रसन्न करती हुई, उन्मत्त बनाती हुई, लिटाती हुई आदि। इन अर्थों से जो विशिष्ट है तथा जिसके लावण्य के प्रवाह में सब लोक डूब जाते हैं। इससे सूचित किया गया है कि प्रियाजी का लावण्य असीम और अगाध है। अर्थ यह है कि इन लक्षणों का जिधर संकेत है, उसी से अभिप्राय है 'देवी' शब्द का। उस देवी ने यह किया कि प्राणों से भी अधिक, परम प्रिय सखा के

शीलमस्येति तादृशो लावण्यैकपूरो यस्याः, इत्यप्रमेयलावण्यमुक्तम्। एतल्लक्षणनिर्देशेन या सेति ज्ञायतामित्यर्थः। अस्माकं प्राणाधिकपरमप्रियस्य सख्युरगोपनीयचरितस्य विश्रब्धस्याखिलं वस्तु सर्वस्वमात्माभिमानं दूरादृग्द्वारैव दिव्यसामर्थ्यादित्यर्थः अहरत्। न किञ्चित् सत्वं धैर्यमवशिष्टमस्मिन्निति ज्ञायते, तूष्णीको लुठतीति वक्ष्यमाणत्वात्। अतो मनोहरणादुन्मना जातः, अन्यथा मुकुटकुण्डमालावंश्यादिसत्वे किं सर्वस्वं गतमिति सर्वं रहस्यमेव ज्ञातमिति ज्ञेयम्। पूर्वोपक्षिप्तन्मादोक्तिबीजस्य फलीभूततात्र ज्ञेया। किञ्च वञ्चकोऽपि पूर्वं कार्मणमंत्रादिना प्रलोभ्योन्माद्य सर्वस्वं हरति, तद्वत्।

अत्र बहिरनुतापोऽन्तःप्रियसखागमनसाफल्यजहर्षः। किञ्च विश्वमोहनस्य विश्वप्लाविलावण्ययैव साम्यं स्यादिति बहुदिनगवेषितस्वामिन्यानन्देन सर्वेऽद्यपूर्णाः स्मः इत्यादिभंगिकः। अहो विश्वमोहनकर्षणनामित्व-

रसकलश

—ऐसा सखा जिसके चरित्र के संबन्ध में छिपाने लायक कुछ भी नहीं है और जो विश्वास-पात्र हैं—ऐसे सखा की सब वस्तु को, उसके सर्वस्व को, आत्म-सम्मान को, दूर से ही—अर्थात् आंखो के द्वारा ही, किसी अलौकिक शक्ति से हर लिया। ऐसा लगता है कि अब उनमें कोई सत्व, धैर्य बचा नहीं रह गया है, क्योंकि अग्रिम पद्य में कहा है कि श्रीकृष्ण बिना कुछ बोले-चाले पृथ्वी पर लोट रहे हैं। इसी लिए मन जब चुरा लिया गया, तो वे उदास हो गए हैं, नहीं तो मुकुट, कुँडल, माला, बंशी आदि के यथास्थान होते हुए भी वह क्या सर्वस्व है जो लुट गया-? यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पूर्व पद्य में बीज-रूप में जिस उन्मादन क्रिया का उल्लेख किया है, वही यहाँ फल के रूप में दिखाई दी है। दूसरी बात यह कि ठग भी पहले जादू-टोना के मंत्र पढ़कर किसी व्यक्ति को लुभाता है और तत्पश्चात् उसे बेहोश कर सर्वस्व हरण कर लेता है। इसी प्रकार प्रियाजी ने भी अपने लावण्य के जादू से श्रीकृष्ण को मोहित कर उसका सर्वस्व लूट लिया है।)

यहां दुःख बाहर से प्रकट किया गया है। अन्दर हृदय में इसकी खुशी है कि प्रिय सखा श्रीकृष्ण का इधर आना सफल हुआ दूसरे यह कि जो विश्व को मोहित बहुत करने वाला है, उसकी समता ऐसा लावण्य ही कर सकता है जो संसार को डुबा दे। दिनों से स्वामिनी के दर्शन के आनन्द की ताक में थे। उसे पाकर हम सब आज पूर्ण हो गए—यह गूढ़ भाव भी अनुताप में निहित है। सब से बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि विश्व को मोहित करने वाले श्रीकृष्ण को भी अपनी ओर आकर्षित करने का

कंकणबद्धता कुत्र विस्मृता भवत्सखिना, सर्वस्वमेकपूरेणैव प्रवाहितं; अग्रे सागरत्वमवशिष्टं किंकरणीयमित्यादि कटाक्षः । सकलाप्लावनप्रभूतप्रभाव-पूरेऽकस्मादापतिते कस्य धनिनः पादस्थितिः स्यादिति नास्य दोषः । आप्लावनोक्तिर्मोहनत्वाद्विशेषत्वज्ञापिका । 'दूरात्' इत्युक्तिर्नैकट्ये प्रभावातिशयकैमुत्यव्यञ्जिका । वस्तुहर्त्री देवी कुञ्जे गतेत्यनुक्तिवक्तृवैय-ग्र्यबोधिका । 'किं वो दृष्टम्' इति तेषां दर्शनप्रेरणम् । स्फुटं तु स्वोपालम्भ-दोषनिरासकम् । अन्तर्निजसख्युर्वरवर्णिन्यानन्दपूर्णभाग्यमहत्वबोधकम् । कुञ्जेऽस्तीति बोधनं प्रियवैकल्यनिदानस्यान्यत्रमार्गणनिवारकम् । तत्र प्रियप्रेरणमेव प्रतिक्रियेति गूढव्यंग्यम् । किञ्च देवीहृतस्यानन्याहार्यत्वात् सेवनविज्ञापनस्तुत्यादिना हृतस्वेन स्वामिनैव प्रतिकर्तुं शक्यत्वादिति व्यंग्या-

रसकन्दा

प्रतीक जो कंकण प्रियाजी ने बाँध रखा, उसे भी ऐसा भूल गई कि अपने लावण्य की एक बाढ़ में सर्वस्व बहा दिया, यह नहीं सोचा कि लावण्य का जो समुद्र उमड़ रहा है उसका क्या होगा—यह कटाक्ष भी ध्वनित होता है। यह भी कि सबको डुबा देने वाली असीम शक्ति लेकर जब बाढ़ चढ़ आवे, तो उसमें किस धनी का पैर टिकेगा? अतः यदि प्रियतम का सब कुछ बह गया, तो इसमें उनका क्या दोष है? चूंकि श्रीकृष्ण मोहक हैं, अतः उनके डूब जाने में एक विशेषता सूचित होती है। 'दूर से ही' कहकर यह व्यक्त किया गया है कि यदि कहीं प्रियाजी निकट होतीं, तो उनके आत्य-न्तिक प्रभाव की चपेट में आकर न जाने क्या गति होती! 'वस्तु को चुराने वाली देवी कुंज में चली गई'—यह न कह कर व्याकुलता सूचित की है। 'क्या तुम लोगों ने देखा है?' यह कह कर सखाओं को श्रीराधा के दर्शन करने की प्रेरणा दी गई है। प्रकट में कहने का मन्तव्य यह है कि यदि तुम लोगों को दर्शन न हों, तो मुझे उलहना या दोष मत देना। आन्तरिक आशय यह है कि वरनी श्रीराधा के कारण उनके अपने सखा का भाग्य इतना आनन्दमय और महत्वपूर्ण हो गया है। 'मेरी दृष्टि कुंज में नही गई' का उलट कर यह मतलब जताना है कि प्रियाजी कुंज में ही हैं, और इस सूचना देने का प्रयोजन है प्रियतम की बेकली की कारण प्रियाजी को अन्यत्र खोजने से रोकना है। गूढ़ व्यंग्य यह है कि इस बेकली का उपचार यही है कि प्रियतम को कुंज में जाने के लिए प्रेरित किया जाय। दूसरी व्यंजना यह है कि देवी ने जिस वस्तु का हरण किया, उसे और कोई तो वापिस ला ही नहीं सकता, अतः सेवा, प्रार्थना, स्तुति आदि के द्वरा स्वामी ही उसका प्रतिकार कर सकते हैं, क्योंकि माल उन्हीं का गया हैं। 'प्रेयसः सख्युः' (प्रिय सखा का) इसलिये कहा है कि शीघ्र कोई उपाय करने के

न्तरम् । 'प्रेयसः सख्युः' इति शीघ्रोपायविषयकप्रेरणाकम् । तत्रापि 'अखिलम्' इति सर्वथैव नोपेक्ष्यम् ।

अथवा प्रियोक्तिरपि घटते । प्रियादर्शनमात्रपरमव्याकुलो निजपारवश्यं ज्ञात्वा भाविलुठननिदानमादित एव ज्ञापितवान् । पश्चादतिवैवश्ये तूष्णीकत्वादि जातमिति ज्ञेयम् । सखिष्वेवंकथनानौचित्यं तु पूर्वमेव परिहृतमिति । प्रेयसः सख्युर्मम भवता मित्यनुक्तोऽपि सम्बन्धः प्रसिद्धेर्ज्ञेयः । अन्यद्यथोचितं योज्यम् ॥२२७॥

तदनन्तरजानुक्षणवर्द्धिष्णुप्रेमवैकल्यातिशयं दृष्ट्वा सर्वे वयस्यास्तदेकजीवनाः संभूय प्रियमाहुः—

गता दूरे गावो दिनमपि तुरीयांशमभज-
द्वयं हातुं क्लान्तास्तव च जननी वर्त्मनयना ।

रसकलश

लिये प्रियतम को प्रेरित किया जाय । उसमें भी 'अखिलम्' (सब कुछ) मतलब यह है कि इस कांड के संबंध में लापरवाही नहीं करनी चाहिए ।

अथवा प्रस्तुत पद्य को सखा मधुमंगल की उक्ति के बजाय प्रियतम की ही उक्ति माना जाय । वह इस प्रकार कि प्रियाजी का दर्शन करते ही प्रियतम एकदम घबड़ा गये और अग्रिम पद्य में वर्णित धरती पर लोटने के कारण को उन्होंने पहले ही से जान लिया । बाद में अत्यन्त विवश होने के कारण मौन हो गये—यह ज्ञातव्य है । मित्रों के बीच में ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, इस आपत्ति का निराकरण पहले ही किया जा चुका है । 'मेरे प्रिय सखागण' के बाद संबंध बताने के लिए 'आपके' और जोड़ देना चाहिए, क्योंकि यह सर्वविदित है कि श्रीकृष्ण गोपों के मित्र थे । शेष, जहाँ जैसा आवश्यक हो, जोड़ कर अर्थ लगा लेना चाहिए ॥२२७॥

इसके बाद सब सखाओं ने देखा कि जब कि श्रीकृष्ण प्रियाजी के प्रेम में ज्यादा और ज्यादा विह्वल होते जा रहे हैं, तो अपने एकमात्र जीवनाधार होने के कारण सब मिल प्रियतम से बोले—

'गायें बहुत दूर चली गई, दिन भी चतुर्थांश शेष रह गया है और हम इसलिए खिन्न हैं कि तुम्हें छोड़ कर नहीं जा सकते । (उधर) तुम्हारी माता की आंखे भी तुम्हारी राह पर लगी हैं । तुम जब इस प्रकार अचानक ही चुप हो गए हो और आंखों

अकस्मात्तूष्णीके सजलनयने दीनवदने
लुठत्यस्यां भूमौ त्वयि नहि वयं प्राणिणिषवः॥२२८॥

आदौ वाक्यचतुष्टयं गमनावश्यत्वबोधकम् । अग्रे विशेषणचतुष्टयं स्वजीवतोत्साहाभावबोधकम् । एतदप्ययशस्यत्वाद्विलम्बानौचित्यज्ञापकमेव । लुठनमत्रासज्याङ्कितभूमावासक्तिपूर्णताबोधकम् तन्मर्मज्ञेऽप्युत्थानार्थत्वेन पूर्वोत्तरपादोक्त्योर्विसंवादित्वं ज्ञापयन्ति । अथ सख्युक्तिः—भ्रातरेवमकाण्डविकृतौ वयमपि न प्राणिणिषवः, न जीवितुमुत्सहामहे । ननु मत्सर्वस्वमार्गणं कुर्वन्तोऽत्रैव तिष्ठतेति तत्राह—'गता दूरे गावः' इति । यदि निकट एव चरेयुस्तदा गोपाः सर्वे निश्चिन्ताः स्याम । अन्यथा तदेकरक्षणाधिकारवृत्तीनां यत्र तत्र स्थितिप्रमादोऽनुचित एव । अत्र गोगमनहेतुकव्यग्रता सखिरक्षणादप्यधिकैषां शङ्क्या, केवलं तत्सावधानकरणार्थकैव । अनेन नन्दाधार्याणामुपालम्भभयं स्मारितम् ।

रसकलश

में आंसू भर कर, उदास मुख हो इस भूमि पर लोट रहे हो, तो अब हम भी जीना नहीं चाहते' ॥२२८॥

पद्य के पहले चार वाक्य इस बात पर ज़ोर देते हैं कि तुम्हें घर चलना चाहिए। बाद के चार विशेषणों द्वारा यह बताया गया है कि सखाओं का अपने जीवन के प्रति कोई उत्साह नहीं रह गया है। किन्तु प्राण छांड़ देने से चूंकि बदनामी होगी, अतः यही सूचित किया गया है कि ज्यादा देर करना ठीक नहीं है। आसज्य प्रियाजी की चरणांकित भूमि पर लोटने से प्रियतम की उनके प्रति पूर्णआसक्ति प्रतीत होती है। सखागण इस आसक्ति के मर्म को पहिचानते हैं, किन्तु उन्हें तो श्रीकृष्ण को वहाँ से उठाकर ले जाना है, अतः पद्य के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध की दो भिन्न-भिन्न उक्तियों द्वारा स्थिति की विसंगति बताते हैं। सखा कहते हैं—'भैय्या! इस अनुपयुक्त अवसर पर उपस्थित किए गए इस दृश्य को देखकर हम जीना नहीं चाहते—जीवन के प्रति हमारी कोई रुचि नहीं रह गई है। यदि कहें कि मेरी सर्वस्व को खोजिये और यहीं रहिए, तो इस पर कहते हैं गायें दूर चली गई हैं। यदि कहीं पास में ही चरती होतीं तो हम सब गोप निश्चिन्त होकर बैठे रहते, किन्तु जब बात ऐसी नहीं है, तो जो लोग गोपालन के अधिकारी के रूप में अपनी जीविका चलाते हैं, उन्हें ऐसी लापरवाही शोभा नहीं देती। यहाँ यह न समझना चाहिए कि इन गोपों को मित्र ी रक्षा से भी अधिक इस बात की चिन्ता है कि गायें भटक गई हैं। गायों के

ननु तादृशीनामपि प्रत्यानयनाह्वानं कुरुतेति तत्राहुः—'दिनमपि तुरीयांशमभजत्' इति। कदाचिद् गत्वाह्वयाम स्तदपि समयानवकाशात् किं चारयामः? ततो गमनमेव श्रेयः। ननु यूयं गच्छत, अहमपि कतिपयसमयानन्तरमागमिष्यामीति, तत्राहुः—'वयं हातुं क्लान्ताः'। त्वामेतादृशं त्युक्तुमशक्ताः खिन्नाः स्मः। त्वदेकप्राणभृतः प्राणं त्यक्त्वा क्व याम इति। ननु मत्समीपेऽत्र कतिपयास्तिष्ठन्त्वन्ये गच्छन्तु। तत्र दयाभये दर्शयन्ति। तव सकलव्रजजीवातोर्दुर्घटासक्तिशीलस्य तादृश्येव जननी प्रसिद्धा यशोदा वात्सल्यपरमासक्ता वर्त्मन्येव नयने यस्याः, नतु देहगेहादौ। तद्द्वारैवात्मापि लग्नो ज्ञेयः। यद्वा भवदागमनमार्गीभूत एव नयने यस्याः। किञ्च प्रातर्गमनादारभ्य कार्यस्य मध्ये मध्ये उत्थायोत्थाय स्वयं मार्गमेव पश्यति, वार्ताप्रश्नेऽप्यकस्मान्मार्गमेव वदति, यथाष्टाष्टौ कतीति संख्यापृष्टस्य षोडशरोटि-

रसकलश

दूर चले जाने की बात तो उन्होंने केवल श्रीकृष्ण को सावधान करने के लिए कही है। इसमे वे यह भी याद दिलाते हैं कि डर इस बात का है कि समय पर न पहुंचने पर नन्द आदि अपने से बड़े लोग उलहना देंगे। यदि कहें कि गायें दूर चली गई हैं तो उन्हें आवाज देकर बुला न लो तो इस पर कहते हैं—'दिन का भी चतुर्थांश शेष रह गया है।' कदाचित् जाकर बुला भी लें, तो समय थोड़ा रहने के कारण क्या उन्हें चरा सकेंगे? इसलिए अब तो चलना ही ठीक है। यदि कहें कि तुम सब चलो, थोड़ी देर बाद मैं भी आता हूं, तो इस पर सखागण कहते हैं—हम तो इस हालत में तुम्हें यहाँ छोड़ कर जा नहीं सकते, अतः हम परेशान हैं। जब तुम ही हमारे एकमात्र प्राण हो, तो अपने प्राण को छोड़कर हम कहां जायँ? (इस पर श्रीकृष्ण यदि कहें कि) अच्छा, तुममें से कुछ लोग यहाँ मेरे पास रह जायँ, बाकी चले जायँ तो इस पर गोपगण दया और भय दिखाते हुए कहते हैं—संपूर्ण ब्रज के जीवनाधायक आपका कठिन आसक्ति करने का जैसा स्वभाव है, वैसे ही, आपके प्रति वात्सल्य के कारण आपकी प्रसिद्ध माता यशोदा भी आपसे अत्यधिक स्नेह करती हैं। उनकी आंखे अपने शरीर या घर की तरफ इतना नहीं लगी रहतीं जितना कि आपके आने-जाने के मार्ग पर। (यहाँ नेत्रों के द्वारा आत्मा का भी रास्ते की तरफ लगा रहना समझना चाहिए।) अथवा यशोदा के नेत्र आपका मार्ग ही बन जाते हैं। दूसरी बात यह कि आपके प्रातःकाल निकलने से लेकर घर के धन्धे के बीच-बीच में उठ-उठ कर स्वयं मार्ग को देख लेती हैं और कोई बात पूछने पर उत्तर में आपके आने का मार्ग ही बताती हैं, जैसे यदि किसी भूखे से पूछा जाय कि आठ और आठ कितने होते हैं, तो उत्तर में वह कहता है—सोलह

काकथनं, तद्वत् । ततोऽस्या दया कर्त्तव्यैव, न कठोरत्वमर्हं, कृतघ्नतादोषापत्तेः । इति दया ।

यदि सूर्यप्रकाशे भवान्नागच्छेत् तर्हि प्राणांस्त्यक्ष्यतीत्यसंशयं जानीहीत्यादि भयम् । अतो गोपालकत्वात् सर्वव्रजजनसंशयोत्पादकसमयातिपातात् सौहृदत्वान्मातृवत्सलत्वाच्च सर्वथैव न विलम्बनीयमिति ।

अत्र सखिवाक्ये स्वत एव सत्यप्रियहितप्रशस्तगुणत्रयं ज्ञेयम्' । आदौ द्वयोः सत्यं, गोदूरगमनस्य दिनतुर्यांशस्य च प्रत्यक्षं सर्वसाक्षित्वात् । तृतीये प्रियत्वं विश्वब्धनित्यसङ्गिनां प्राणैकपणानां कदापि सर्वभ्रंशेऽपि न त्यागसंशयः कार्य इति । तुर्ये हितम् । जननीप्राणसंशये ऐहिकपारत्रिक यशस्यत्वाभावात् तदनुपेक्षणमेव गुणः, इत्याद्या वाक्यगुणाः ।

अन्यच्च चतुर्षु क्रमेण पुरुषार्थचतुष्टयमपि स्वत एव सरस्वतीव्यञ्जितं

रसकलश

रोटियाँ । अतः माता पर तो दया ही करनी चाहिए, न कि कठोर व्यवहार, नहीं तो लोग तुम्हें ही कृतघ्न बनायेंगे । यह हुआ दर्द का विवरण ।

यदि धूप रहते-रहते आप नहीं लौटते हैं, तो निश्चय जानिये कि वे प्राण छोड़ देंगीं । यह हुआ भय । इसलिए ग्वाला होने के नाते तथा इसलिए कि निर्धारित समय निकल जाने पर सब ब्रजवासियों के मन में सन्देह पैदा हो जाएगा, तथा सौहार्द की भावना को दृष्टि में रख कर और माता के दुलारे होने के कारण भी विलम्ब तो कैसे भी नहीं करना चाहिए ।

यहाँ सखा मधुमंगल के कथन में सत्य, प्रिय और हित'—इन तीनों गुणों का समावेश समझना चाहिए । सर्वप्रथम गायों का दूर चले जाना और दिन का चतुर्थांश शेष रह जाना—ये दो बातें तो सत्य हैं ही और प्रत्यक्ष भी है और सब इसके साक्षी हैं । तीसरे वाक्य में प्रियता है और वह इस प्रकार कि जो विश्वासपात्र हैं, रोज के साथी हैं, जिनके पास दाँव पर रखने के लिए सिवा अपने प्राणों के कुछ भी नहीं है ऐसे व्यक्ति सब कुछ चले जाने पर भी आपको नहीं छोड़ेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिए । चौथे वाक्य में बताया गया है कि हित (कल्याण) किसमें है । माता के प्राण यदि सन्देह में पड़ जायेंगे, तो यह लोक-परलोक दोनों के लिए बुराई की बात होगी । अतः माता की उपेक्षा न करना ही गुण है । ये हैं गुण जिनकी ओर वाक्यों द्वारा संकेत किया गया है ।

एक बात और है । चारों वाक्यों में क्रमशः चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की भी व्यंजना निषेध द्वारा की गई है । दूर पहुंची हुई, घर के लिए उत्कंठित

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत् ।—सुभाषित

निषेधमुखेन ज्ञेयम् । दूरागतगृहोत्सुकगोप्रत्यानयनं तासां महादुःखदत्वाद्वालवत्सप्राणव्याकुलीभवनात्, तद्वत् सर्वव्रजजनानिष्टत्वाद्धर्मविरुद्धम्। दिनान्ते च यत्कार्यमारभ्यते तदपूर्णत्वादर्थासिद्धे रर्थविरुद्धम् । अस्मदत्यागे च स्फुटं तु गोदोहनादि यथास्थानप्रवेशादिक्लेशः । अतस्त्वं अस्मान् स्वप्रसन्नवदनं दर्शयित्वामंत्र्य कुञ्जे प्रविशेति, अन्यथा वयमत्र त्वद्दुखित्वखिन्ना यावत् त्यक्तुं न शक्तास्तावत् संघट्टे त्वमपि कुञ्जे प्रविष्टुं न शक्ष्यसीति कामविरुद्धम्, इत्यन्तस्त्रिवर्गः स्वार्थमयः । तुर्योऽपवर्गोऽत्र परार्थत्वेन गृह्यते । 'जननी' इत्यनेन 'गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी' इति व्यज्यते । आसक्तस्य स्वार्थभयाभावात् साधु तदासक्तिशीलं भयं धर्मञ्च स्मृत्वैव गच्छ, अन्यथा परार्थविरुद्धम् ।

ननु मत्स्वार्थपरार्थभ्रंशोऽस्तु, भवतां स्वामिसेवैव महदर्थसाधिकेति तत्राहु,—लुठनाद्यसहिष्णुतातिदुःखिताः प्राणांस्त्यक्ष्यामस्ततोऽपि कार्थसिद्धि ?

रसकलश

गायों को फिर घेर कर लाने से उन्हें महान् कष्ट होता, क्योंकि छोटे-छोटे बछड़ा-बछियों के प्राण अपनी माताओं के लिए छटपटा रहे होंगे । इसी प्रकार सब ब्रजवासियों के लिए भी अनिष्ट कर होने के कारण ऐसा करना धर्म के विरुद्ध था । संध्या-समय जो कार्य प्रारम्भ किया जाता है, वह पूरा नहीं हो पाता और उससे आर्थिक लाभ भी नहीं होता अतः यह अर्थ के विरुद्ध था । आपका साथ न छोड़ने पर, यह स्पष्ट है कि, न तो गायें दुही जा सकेंगी और उन्हें खिटकों में अपनी-अपनी जगह बाँधने में भी पूरी मुसीबत होगी । अतः आप हमें अपने प्रसन्न मुख के दर्शन करा दें और हमसे विदा लेकर कुंज में चले जायँ, नहीं तो यह होगा कि आपके दुख में दुखी हम लोग आपको छोड़ नहीं पायेंगे और इस कशमकश में आप भी कुंज में नहीं जा पायेंगे । इस प्रकार यह कार्य काम विरुद्ध होगा । यहां तक हुआ स्वार्थपूर्ण त्रिवर्ग । अब रहा चौथा मोक्ष । उसका संबंध अपने से नहीं, दूसरे से है । 'जननी' शब्द से यह व्यंजित होता है कि 'गर्भ में धारण करने तथा पालन-पोषण करने के कारण माता का महत्व अधिक है ।' आसक्त को स्वार्थ-हानि का डर नहीं होता । उचित यही है कि माता यशोदा के आसक्तिपूर्ण स्वभाव तथा भय और धर्म का विचार कर घर चलें, नहीं तो यह कार्य परार्थ-विरुद्ध होगा ।

यदि कहा जाय कि मेरे स्वार्थ की या परार्थ की हानि हो जाने दो, आप लोगों के लिए तो स्वामी-सेवा ही सबसे ज्यादा लाभदायक है, तो इस पर कहते हैं—आपका

अतोऽवधानं कुर्विति। दिनतुर्यांशकथनेऽपि गूढव्यंग्यमिदम्—किं व्याकुलस्त्वरयसि ? यामैकदुःखं पुनरपि सहस्व। रात्रौ वस्तुसमागमो भविष्यत्येवेति स्नुषारसमयमेव, नान्यभावः शङ्क्यः। भानुनन्दगृहनैकटयमेव ज्ञेयं, सख्यातिशयात्। अत्र प्रियागमनं स्फुटं तु पुष्पावचयसन्ध्याद्युत्सवार्थकम्। गूढन्तु प्रेमौत्सुक्यसाम्यज्ञापनमयम्।

प्रकृतं विसंवादित्वमाह—'अकस्मात्' इति ! कारणाज्ञानपूर्वकमेव झटिति तूष्णीके रुद्धवाचीति कथनेन पूर्वं किञ्चदुक्तवति, इति लभ्यते। तत्किम् ? इत्यपेक्षायां यथासहृदयज्ञेयं किञ्चिन्निर्दिश्यते—

अन्तरङ्गसख्यंसधृतभुजदण्डस्य वनमालिनो वाक्यमेवम्—'सखे ! कथमियं मालती शोभते पुष्पितेति। यद्येवं न स्यात्तदा तदेकजीवनभृङ्गस्य का गतिरिति। कथमिदं तरुवल्लीसौभाग्यम्। कथमेतानि फलानि

रसकलश

इस प्रकार लोटना हम से देखा नहीं जाता। ऐसे में दुखी होकर हमने प्राण छोड़ दिये तब क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? इसलिए ध्यान दीजिए। दिन का चतुर्थ अंश कहने में भी यह गूढ़ व्यंग्य है कि घबड़ा कर जल्दी क्यों करते हैं ? एक याम (प्रहर) और दुःख सह लीजिए। रात आने पर तो आपकी अपनी वस्तु से भेंट हो ही जाएगी। पुत्र-वधू-सुलभ स्नेह की दृष्टि से ही गोपों ने ऐसा कहा, अतः और किसी प्रकार के भाव की शंका नहीं करनी चाहिए। यहां ज्ञातव्य यह है कि परम मित्र होने के कारण वृषभानु और नन्द के घर पास ही पास थे। कहने को प्रियाजी फूल चुनने या सायं-कालीन उत्सव मनाने के लिए वहां गई थीं, पर उनका आन्तरिक उद्देश्य यह बताना था कि प्रेम के कारण मैं भी आपकी ही तरह मिलने को आतुर हूं।

अब पद्य के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के भावों में जिस प्रकार मेल नहीं बैठता, उसे बताते हैं—'अकस्मात् तूष्णीके' इत्यादि। 'अकस्मात्' का मतलब यह है कि कारण का पता लगा नहीं और आप चुप हो गये—बोलना-चालना बन्द कर दिया। इससे विदित होता है कि इससे पूर्व श्रीकृष्ण कुछ कह चुके थे। क्या कहा होगा, उसे सहृदय जानते होंगे, फिर भी यहां थोड़ा-सा संकेत किया जाता है—

अपने घनिष्ठ सखा के कन्धे पर बाँह रखकर वनमाली ने कहा—सखे ! देखो, यह फूली हुई मालती कैसी सुन्दर लग रही है। यदि ऐसा न होता, तो उसी के आसरे पर जीवित रहने वाले भौंरे का आश्रय और कौन था ? ये वृक्ष और लतायें कितनी धन्य हैं। वृक्षों पर से झुके हुए ये फल किस प्रकार मेरे मनोरथ के अनुकूल हैं ? चंचल

लम्बितानि मदभीष्टोन्मुखानि ! कथं च चलपल्लवा आह्वयन्तीव ! कथमयं धन्यातिधन्यस्वेष्टसूचकसुवातो वाति ! यथा च—

रूपालिर्दक्षिणा भूयाद्यदि रूपावलीमहम् ।
पश्येयं हृदि नश्येत विरहज्वलनावली ।। १ ।।

× × ×

खञ्जनः शुभदिग्भूयाद्यदि खञ्जनलोचना ।
कृपाकटाक्षमोक्षैकविषयं मां करिष्यति ।। २ ।।

यन्मृग्यं लभ्यते मार्गे मृगाणान्तु प्रदक्षिणम् ।
यद्वामाक्षी न दृश्येत वाम एव विधिर्मम ।। ३ ।।

इत्यादिविविधमनोरथाकुलहृदयो दयित दर्शनोत्कलिकातिरेकेण तरुवल्लीफलपुष्पपल्लवभ्रमरपक्षिमृगपवनादिषु तत्तद्भावेषु सिद्धचसिद्धचसंशयासंशयं वितर्कमाणस्य सहचरणे सह गोष्ठीमयं ज्ञेयम् । तदैवाकस्माद्दर्शने हर्षाश्चर्यजाडचताप्राप्त्या स्तम्भनेन तूष्णीकत्वम् । किञ्च सर्वेन्द्रियाधिष्ठा-

---

रसकलश

पत्ते तो जैसे मुझे बुला ही रहे हैं। किस प्रकार यह सौभाग्यशाली वायु अपनी आराध्या की सूचना देती हुई बह रही है। कहा भी है—

'यदि रूप का आगार मेरी प्रिया दिखाई दें, तो भौंरों की पंक्ति दाहिने होगी। तभी मेरे हृदय में जलती हुई आग शान्त होगी' ।।१।।

× × ×

यदि खंजन के-से नेत्रवाली मुझे अपने कृपापूर्ण कटाक्ष का लक्ष्य बनायेगी, तो खंजन शुभ दिशा में बैठा हुआ दिखाई देगा ।।२।।

× × ×

'जिसे मैं खोज रहा हूं, यदि वह मुझे मार्ग में मिल जाय, तो हरिण मेरे दाहिने होंगे, नहीं तो दैव को मेरे प्रतिकूल ही समझना चाहिए ।।३।।

अपने व्याकुल हृदय में भांति-भाँति के मनोरथ पाल कर प्रिया के दर्शन की उत्कंठा से, विभिन्न प्रकार से स्थित वृक्ष, लता, फल-फूल, भौंरे, पक्षी, हरिण, हवा आदि को लेकर सफलता-असफलता के सम्बन्ध में सन्देह अथवा निश्चय की भावना से तर्क-वितर्क करते हुए श्रीकृष्ण साथियों से वार्तालाप कर रहे थे। तभी अचानक प्रियाजी दिखाई दे गईं और परिणामस्वरूप हर्ष, आश्चर्य और जड़ता का आक्रमण होने के कारण जहां के तहाँ बैठे रह गये। फिर सब इन्द्रियों का अधिष्ठता मन जब

तृमनसि हृते सर्वधर्महरणाद्वाचोऽपि रोधः। तदनन्तरं झटिति कुञ्जप्रवेशेन परोक्षे च 'हा ! क्व गता ? कथं मिलिष्यसि' इति, 'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यतः' इत्याद्युक्तिभङ्गिकं 'विच्छेदाभासमात्रात्' इत्युक्तमहाप्रेमज्वालावलीढहृदयद्रवोत्सेचनेनोपरितननेत्रद्वारेणैव तद्गमनात् 'सजल' इत्युक्तिः। ततोऽपि पुनरौत्सुक्यविरहोदये गतधैर्यविवेकः स्थातुमशक्त इति किमुत वाच्यम् आस्ते इति किमुततराम्, शेते इति किमुततमाम्। लुठित एवासीदिति। तत्रात्मनः सदेहगमनाशक्तौ 'देहं त्यक्त्वैव झटिति तां प्राप्नुयाम्' इत्यौत्सुक्यातिशयेन कृतोपायेप्यात्मनि प्रसह्य देहेन गृहीते द्वयोर्विवादास्पदसंघर्ष एव लुठनं जातमिति 'हाहा ! देहेन्द्रियप्राणसंघात एव मां न यापयति किं कुर्याम् इतरथोड्डीय तस्यामेव संयुनज्मि', इत्यादिभंग्युत्प्रेक्षितं

रसकलश

हरण कर लिया गया, तो इन्द्रियों ने अपने-अपने व्यापार छोड़ दिये और फलतः वाणी भी रुक गई। तभी प्रियाजी जल्दी से कुंज के अन्दर चली गईं। आँखों से ओझल होते ही 'हा ! कहाँ चली गई ? अब कैसे मिलेगी ?', 'आपको बिना देखे एक-एक पल युग के समान बीत रहा है'—इस प्रकार मानों कहते हुए, जैसा की वर्णन किया जा चुका है कि 'वियोग के आभास मात्र से जिनके तन और मन कोटि-कोटि प्रलय कालीन अग्नि के समान धधकने लगते हैं'', प्रेम की दारुण ज्वाला से दग्ध हृदय को सींचने के लिए जिस तरल पदार्थ की आवश्यकता है, वह नेत्रों के मार्ग से ही तो वहां पहुंचेगा--इस आशय से नेत्रों को 'सजल' कहा गया है। इसके बाद उत्कंठा और विरह का जो दूसरा आक्रमण हुआ, तो धैर्य और विवेक विदा हो गये इस स्थिति में खड़े रहने का तो प्रश्न ही नहीं है, बैठना एकदम दूभर है और सोना तो सर्वथा असंभव ! अब तो लौटते ही बनता था। शरीर को ढोकर आत्मा तो प्रियाजी के पास तक जा ही नहीं सकता था, इसलिये सोचा कि शरीर को यहीं छोड़कर पहुँच जाऊँ। चूंकि मिलन की उत्कंठा बढ़ती जा रही थी, अतः आत्मा ने जबरन् प्रयत्न किया, पर शरीर ने उसे वहीं का वहीं जकड़ लिया। आत्मा और शरीर के बीच की इस खींचातानी में प्रियतम पृथ्वी पर लेटने लगे। सोचने लगे—हाय ! देह, इन्द्रिय और प्राणों का यह जमघट मेरे वहाँ पहुँचने में बाधक है, नहीं तो उड़कर उनसे मिल लेता। लौटने में कुछ इसी प्रकार के विचारों की सम्भावनाएँ निहित हैं। इस स्थिति में सहृदय समझ सकते हैं कि रुँधे हुये गले से एक-दो बातें भी निकली होंगी। श्री गीतगोविन्द में इसी प्रकार के प्रसंग में कहा गया है—'तुम्हारे विरह में वनमाली पृथ्वी पर लेटते हैं और

१. श्रीराधासुधानिधिः—पद्य १७३,

लुठनम् । तत्र किञ्चिद् गद्गदवाक्यमपि सहृदयगम्यम् । यथा—'लुठति धरणिशयने बहुविलपति तव नाम' इतिवत् । नामानि यथा—

हा राधे ! करुणापरे गुणनिधे प्राणाधिके प्रेयसि
श्रीवृन्दावनकुञ्जदेवि वरदे दासैकजीवातुके ।
हाहा ! मद्विरहाब्धिपोतसुखदे रङ्कैकमच्छेवधे
स्वीयं श्रीवृषभानुनन्दिनि कृपादृष्ट्या पुनर्जीवय ॥

एतानि तदानीं मानसिकानि वा श्राव्याणीति यथौचित्यं विचार्यं, परन्तु हाहाद्युक्तिस्तु स्फुटोचितैवेति । 'अस्याम्' इति प्रत्यक्षार्थेऽपि प्राणप्रियापदाङ्कितदीयेयं भूमिरेव मद्गतिर्नाहंत्यक्ष्ये, इत्यासज्यसम्बन्धमहिमद्योतिन्यां लुठनमिति ।

क्वचित् 'दातुं क्षान्ताः' इति पाठे 'यदत्र ते वस्तु गतं तद्दातुं क्षमाः समर्था वय'मिति, 'मा भैषीः' इति समाश्वासः सङ्गिसखिकृतो घटत एव ।

रसकलश

तुम्हारा नाम ले-लेकर विलाप करते हैं ।'[1] नाम लेने का उदाहरण—

हे श्रीराधे ! करुणासक्त, गुणों की आगार, प्राणों से भी अधिक प्यारी, श्री वृन्दावन-कुंज की अधिष्ठात्री, वरदात्री, दासों के प्राणों की एकमात्र आधार, हा हा ! मेरे विरहरूपी समुद्र में डूबते हुए मेरे जहाज को पार लगाने वाली, मुझ कंगाल की एकमात्र धन-कोश, हे श्रीवृषभानुनन्दिनी ! कृपापूर्ण दृष्टि डालकर अपने दास को फिर जिला लीजिये ।

श्रीकृष्ण के लिये प्रियाजी के विरह में हा! हा! करके विलाप करना तो स्पष्ट-रूप से उचित है ही । 'अस्याम्' का अर्थ है—इस सामने दिखाई देने वाली भूमि पर, किन्तु श्रीकृष्ण का आशय यह है कि प्राणप्रिया के चरणों से चिह्नित यह भूमि ही मेरी गति है, अतः इसे मैं नहीं छोड़ूँगा । इस प्रकार आसज्य प्रियाजी से सम्बन्धित होने के कारण अपनी महिमा को प्रकट करने वाली धरती पर वे लोटते हैं ।

कहीं 'दातुं क्षान्ताः' (देने में समर्थ हैं) यह पाठ मिलता है । इसके अनुसार अर्थ होगा—यहाँ तुम्हारी जो चीज चली गई है उसे हम दे सकते हैं, डरो मत । संगी सखाओं द्वारा इस प्रकार का आश्वासन दिया जाना प्रस्तुत में ठीक बैठता ही है ।

---

[1] तव विरहे वनमाली सखी सीदति ।
वसति विपिनविताने त्यजति ललित धाम ।
लुठति धरणिशयने बहु विलपति तव नाम । श्रीगीतगोविन्द-५।४

यद्वा क्वचित् 'दातुं ख्याताः' इति पाठभ्रान्तौ प्रातर्गमने जननीकृत-न्यासप्रतिदानप्रतिश्रवणेन दानित्वेन प्रख्याताः, अतस्त्वद्विलम्बे तां किं दास्यामः। सापि मार्गप्रतीक्षिणीति महान् संकटः।

'प्राणिणिषवः' इत्यत्र 'अन् प्राणने' सन् उणादिश्च प्रत्ययः प्रोपसर्गश्चेति। 'तूष्णीम्' इत्यव्ययम् 'शीले कोमलोपश्च' इति सूत्रेण सिद्धम्। तूष्णीं शील-मस्येति तूष्णीक इति।

एवं चतुर्भिः प्रियारूपमोहनधर्मप्राबल्यमुपवर्णितम्। अत्र नित्यविहारे प्रकटलीला कथानकवत् स्मृतेति ज्ञेया। प्रकटे च दम्पत्योरभेदसिद्धान्तेऽपि स्वातंत्र्येण लोकवल्लीलानुरोधात् द्विदलात्मक प्रेमासक्तिविषयाश्रयरूपभेदा-स्वादज्ञापनार्थं गमागमसंयोगविरहावपि चाङ्गीकृतौ। तत्परिभाषायां विवृतमेव, नात्र विव्रियते ॥२२८॥

रसकलश

'कहीं' भ्रान्ति से दातुं ख्याताः' (देने में प्रसिद्ध) यह पाठ मान लिया गया है। इसके अनुसार यह अर्थ होगा कि प्रातः गायें चराने के लिए घरों से निकलते समय हम गोप-गण माता यशोदा से यह वायदा करके चलते हैं कि आपकी धरोहर हम ठीक-ठीक लौटा देंगे। इस प्रतिज्ञा का यथावत् पालन करने के कारण हम दानी करके प्रसिद्ध हो गये हैं, अतः आपने यदि देर की तो उसे जाकर क्या देंगे? वह भी राह देख रहीं होंगीं। इस प्रकार एक महान् संकट उपस्थित हो गया है।

'प्राणीणिषवः' की निष्पत्ति यह है कि जीवनार्थक 'अन्' धातु से इच्छार्थक 'सन्' तथा एक उणादि प्रत्यय लगा कर यह रूप बना है। 'तूष्णीम्' अव्यय है। स्वभावार्थ में 'क' प्रत्यय होकर 'म' का लोप हो जाता है और तब 'तूष्णीक बनता है।

इस प्रकार चार विशेषणों द्वारा यह बताया कि प्रियाजी के रूप में मोहने की शक्ति कितनी प्रबल है। यह ज्ञातव्य है कि यहाँ लीला का उल्लेख एक कथा की तरह किया गया है। यथार्थ तो यह है कि सिद्धान्ततः श्रीराधा-कृष्ण एक तत्व है, तथापि लोक में जैसे लीलाएँ होती हैं उसके अनुरोध से दंपती को स्वतंत्र मान कर यह बताने के लिए कि युगल एक ही वृन्त के दो पत्तों की तरह हैं, यह कि प्रियतम प्रेम का विषय हैं और श्रीराधा आश्रय, कि श्रीराधा आसक्ति का विषय हैं और श्रीकृष्ण उसके आश्रय, जाना-आना, संयोग और विरह यहां मान लिए गए हैं। इस सबका विवेचन परिभाषा-प्रकरण में दिया जा चुका है।[1]

---

१. परिभाषा प्रकरण में इस विषय पर जो विवेचन किया गया है, उसका संक्षिप्त सार पाठकों के लाभार्थ यहां दिया जाता है :—

ततस्तदभीष्टमर्मकुशलाः सखायो 'यद्यस्मत्प्रेष्ठसखा कुञ्जदेवीप्रसादात्प्राप्तसर्वस्वः स्वस्थचित्तः प्रसन्नवदनः सस्मितं संलापयेत् तदैनमेव तदाराधनाय यथेष्टं स्थापयाम', इति साञ्जल्यभिवादनोक्तिसंकल्पमार्जनेन सस्मितमुखं कारयित्वा 'साधु ! साधु ! प्राप्तजीवनाः स्मः। अधुनास्या एव पूजनमप्रादेन करणीयम्' इत्युक्त्वा मिथः सभ्रूसंज्ञं कुञ्जे तं प्रवेश्य कासुचिल्ललितादिसखीषु न्यस्य 'यद्यार्याद्याः पृच्छेयुस्तदा स्फुटं देव्याराधनमेव ब्रूमः' इति वाक्समाधानं निश्चित्य गोरक्षणार्थं गता इति ज्ञेयम्।

रसकलश

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण जो चाहते थे उसका रहस्य जानने वाले सखाओं ने यह सोच कर कि 'यदि हमारे प्रिय सखा को देवी श्रीराधा की कृपा से सर्वस्व मिल जाय, और वे प्रसन्नमुख से मुस्कराते हुए हम लोगों से बातचीत करने लगें, तो श्रीमती की आराधना भरपूर इन्हीं से करायेंगे,' हाथ जोड़कर, ढोक देकर उनके धरती पर लोटते रहने के संकल्प को रद्द कराया, और तब 'वाह! वाह! हमें तो जीवन मिल गया, अब इसी देवी का पूजन सावधानी से करेंगे,' यह कहकर एक-दूसरे की तरफ़ भौंहों से इशारा करते हुए, श्रीकृष्ण को कुँज में भेजकर ललिता आदि सखियों के हाथ में उन्हें सौंप दिया। अपने लिये उन्होंने यह जवाब सोच लिया कि यदि नन्द आदि आर्यगण पूछेंगे कि इतनी देर कैसे हो गई, तो साफ़-साफ़ कह देंगे कि देवी श्रीराधा की आराधना कर रहे थे। इसके बाद सब गोप गायों की देख-भाल करने के लिए चले गये। ठीक उसी समय श्रीकृष्ण की वह हालत देखकर सखियों की बातचीत का कोलाहल जो प्रियाजी के

'दूरे सृष्टयादिवार्ता' (१४८) तथा 'न देवैर्ब्रह्माद्यैः'— इन दो पद्यों में नित्य और नैमित्तिक लीलाओं का नित्य-लीला के साथ संबन्ध बताया गया है। नित्य लीला और नित्य यौवन श्री से संबद्ध बाल्य और कौमार की लीलाओं में किशोर और किशोरी की नित्या और नैमित्तिकी दोनों लीलायें एक साथ वर्णित हैं, किन्तु अनित्य लीला को कोई स्थान नहीं दिया गया। श्यामा-श्याम की सभी लीलाएँ तत्स्वरूपा हैं, अतः उन्हें नित्य मान कर ही सत्पुरुषों ने उनका सेवन किया है। विचित्र आनन्द का आस्वादन करने के हेतु स्वय श्रीहितसखी ने दहेज में दिए गए उपहारों के साथ अपना जाना लिखा है। पितृकुल और पतिकुल में होने वाले नित्य नैमित्तिक उत्सवों में जिस अलौकिक आनन्द का वैभव आस्वादन करने को मिलता है उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है ? श्रीराधासुधानिधि में अन्य सभी बातों का संबंध निकुंज-लीला के रसमाधुर्य से है। रसों का विचित्र आस्वादन कराने के लिए ब्रजलीला और निकुंज-लीला में से भेद और अभेद का वर्णन किया गया है। लीलाओं के सांकर्य की शंका करना ठीक नहीं है।

अतः वृन्दावन निकुंज की नित्य-लीला को ही अन्तिम सिद्धांत समझना चाहिए। वही मूल है। अन्य लीलायें तो शाखा-प्रशाख से अधिक कुछ नही है।

तत्रैतत्समकालमेव तद्दशादर्शनसखिसंभाषणकोलाहल श्रवणेन 'किमदम् ?' इति साश्चर्यं पृच्छन्तीं कुञ्जस्थां प्रियां 'निजकृतकर्म स्मर' इति भाङ्गिकं सस्मेरमाह—

नासाग्रे नवमौक्तिकं सुरुचिरं स्वर्णोज्ज्वलं बिभ्रती
नानाभंगिरनंगरंगविलसल्लीलातरंगावलिः ।
राधे! त्वं समलोभयो व्रजमणिं रत्नच्छटामञ्जरी-
चित्रोदञ्चितकञ्चुकस्थगितयोर्वक्षोजयोः शोभया ॥२१६॥

राधे ! सकलाराध्याराधनीये ! दत्तनिजप्रभावपरिचये ! कुञ्जदेवि-त्वमिति विशेषोक्तिर्धन्या त्वत्सदृशी त्वमेवेति सख्यरसव्यञ्जिका । व्रजे मणिं श्रेष्ठतमं पतिं, युवराजं, प्रकाशकं, कामदमिति यावत् । वा ब्रह्मादि-मोहनव्रजस्यापि मणिवत् वशीकारकम् । वक्षोजयोः प्रस्तुतचरोन्मादादि-

---

रसकलश

कानों में पड़ा, तो कुंज में बैठे ही बैठे उन्होंने श्री हितसखी से पूछा—'यह सब क्या है!' तब उत्तर में मानों यह कहती हुई कि 'याद कर लीजिये, यह सब आपकी ही करतूत है,' श्रीहितसखी कहती हैं—

हे श्रीराधे! नासिका के अग्रभाग में, स्वर्ण-जटित होने के कारण उज्ज्वल दिखने वाले अत्यन्त सुन्दर नूतन मोती को धारण करती हुई, अनेक प्रकार के विलासपूर्ण हाव-भावों से युक्त, प्रेम के रंग में विलास करती हुई, लीलारूपी तरंगों से सुशोभित आपने, रत्नों में से फूटती हुई मंजरी-जैसी कान्ति से चित्रित, चोली में कसकर बांधे गए अपने उन्नत उरोज युगल की शोभा से ब्रजमणि श्रीकृष्ण को लुभा लिया है ॥२२६॥

'राधे!' संबोधन का भावार्थ यह है कि सब के आराध्य श्रीकृष्ण भी आपकी आराधना करते हैं, आपने अपने प्रभाव का परिचय अभी-अभी दिया है, और आप कुंज की अधिष्ठात्री हो। 'राधे' के बाद 'त्वम्' का अभिधान विशेष रूप से यह बोध कराने के लिये किया गया है कि आप धन्य हैं और आप जैसी आप ही हैं। इस प्रकार 'त्वम्' से सख्य-रस की ध्वनि निकलती है। ऐसी आप श्रीराधा ने ब्रजमणि को लुभा लिया। 'ब्रजमणि' का अर्थ है श्रेष्ठ पति को, युवराज को, जो मणि की भाँति प्रकाश फैलाते हैं, इच्छाओं को पूर्ण करने वाले हैं और जिन्होंने ब्रह्मादिक को भी मोहित करने वाले ब्रज को अपने वश में कर लिया है। 'वक्षोजयोः शोभया'—उन स्तनों की शोभा

महामाहिम्नोः शोभया। 'सम्' इति भूलुठनान्तमलोभयः व्यामोहितवतीत्यर्थः। 'पश्य, त्वद्रूपस्यैवं प्रभावः' इतिभावः गूढतरस्तु दृगास्वादेऽप्येवं, तदा स्पर्शानन्दे कैमुत्यमेवेति ज्ञेयम्। किंविशिष्टयोः? रत्नानामनर्घ्यनानावर्णमयानां, चम्पकचन्द्रादिजातीयहारनिष्ककण्ठीत्यादिभूषणस्थानां छटामञ्जरीभिः कान्तिप्ररोहप्रसरणैश्चित्रीकृतं, वा स्वगतचित्रैश्चित्रं, वाद्भुतं यथास्यात्तथा उदधिकमञ्चितम्, उच्चतां श्लाघ्यतां वा प्राप्तं कञ्चुकं कञ्चुकी, तत्र स्थगितयोरुन्नताग्रभागयो र्व्यञ्जितगुणदर्पस्तम्भयोरितिभावः। पितृकुले कञ्चुकमपि राजादौ बालिकानां प्रसिद्धञ्च।

तत्र निःसंशयाप्रतिकार्यव्यामोहसहायीभूतां द्वितीयां शोभामाह-मुक्तैव मौक्तिकमिति स्वार्थेनानर्घ्यतया यथास्थितस्याप्यद्य प्रभूतप्रभावकरणादन्यदिव विभाव्यमानत्वं बोध्यते। अतएव नवत्वमिति। तेन च शुक्तिनवोद्धृतत्वज्ञापनेन वयोजात्युत्कर्षः। 'रुचिर' इति लावण्यादिगुणोत्कर्षः। 'सु' इत्याकृत्युत्कर्षः। 'स्वर्णोज्ज्वल' इति सङ्गोत्कर्षः, अन्यथा मुक्तोऽपि स्थातुम-

रसकलश

से जिनकी सब से बड़ी शक्ति यह है कि देखने वाले को उन्मत्त बना देते हैं। 'समलोभयः' में 'सम्' उपसर्ग की व्यंजना यह है कि इस हद तक लुभा दिया कि धरती पर लोटने लगे—अर्थात् व्यामोह में डाल दिया। भाव यह है—आप ही देख लीजिए। आपके रूप का कैसा प्रभाव है? गूढ़ आशय यह है कि आँखों द्वारा प्रियाजी के रूप का आस्वाद लेते ही जब यह हालत हो गई, तो उनके श्रीअंगों के स्पर्शजनित आनन्द के संबंध में तो कहा ही क्या जाय! 'वक्षोजयोः' का विशेषण देते हैं—'रत्नछटा'—इत्यादि। (रत्नों की छटा-मंजरियों से...) अनेक रंगों के तथा चंपकहार, चन्द्रहार, सोने के कण्ठी आदि किस्म के आभूषणों में बड़े अमूल्य नगों की मँजरी-जैसी छटाओं—छिटकते हुए किरणों के अंकुरों से जिस पर चित्र बन गए थे, अथवा ऊपर कढ़े हुए चित्रों से सुसज्जित, अथवा आश्चर्यजनक रूप से उठी हुई, अथवा प्रशंसनीय चोली को व्याप्त करके स्थित (स्तनों की शोभा से)। 'स्थगित' का भाव यह है कि जिस चोली के उठे हुए अग्रभाग अपने गुणों के अभिमान-स्तंभ की भाँति खड़े थे। पिता श्रीवृषभानु के घर में, तथा राजा-रईसों के यहां बालिकाओं का जामा (शेमीज़) पहिनना प्रसिद्ध है।

अब निश्चित रूप से जिसका कोई उपचार नहीं है, ऐसी मोहावस्था को लाने में सहायक दूसरी शोभा का वर्णन करते हैं—'नासाग्रे नवमौक्तिकम्'। 'मौक्तिकम्' के विग्रह के अनुसार जो मोती है, वही मौक्तिक है। (अर्थात् एक ही वस्तु के दो नाम हैं।) इस प्रयोग से यह व्यक्त किया गया है कि अमूल्य होने के कारण सदा एक-जैसी स्थिति में रहने पर भी अपने अतिशय प्रभाव के कारण यह मोती ऐसा लग रहा है जैसे कोई दूसरा मोती हो। इसी लिए मोती को 'नया' कहा गया है, जिसका तात्पर्य

शक्तः पततीति । 'उज्ज्वलम्' इति तत्स्वचनेन प्रकाशितद्विगुणितस्वकान्त्यादिमत्त्वम्, अन्यथा नैर्मल्यतेजस्त्वातिशये जात्यदिभेदलोपः स्यादिति । यद्वा सुष्ठु रुचिं कान्तिं शोभां प्रियायै रातीति । यद्वा सुष्ठु रुचिं रातीति राधानाममात्रेणैव हृद्द्रवत्वाद्वस्तुवैशिष्ट्यानपेक्षिजातीयरुचिसत्त्वेऽपि सौष्ठवं मौक्तिकेन वैशिष्ट्यास्वाददानमिति । यथा महाक्षुधितस्यात्यमृतभोजनवद्रुच्यतिशयजागरणम्, एवं वयोजातिगुणाकृतिसङ्गाद्युत्कृष्टम् । अतएव 'नासाग्रे' इति । तस्या तादृशनासाया अग्रगण्यता युक्तैवेति । 'बिभ्रती' इति धारणार्थे । लाडलात्वेन वयोजातिवशेन भूयो भूयो भ्रामयित्वा समीकुर्वन्ती, धारयतीत्यर्थः । यथा 'सुवन वनी नथ फेरति फिरि फिरि' इति यौवनधर्मसूचनम् । पोषणार्थे तु निजाङ्गकान्त्या तच्छविमपि पोषयतीत्यर्थः ।

रसकलश

यह है कि सीपी से हाल में ही निकाला गया है, अतएव अवस्था और जाति से यह उत्तम कोटि का है । 'सुरुचिरम्' से मोती के लावण्य आदि गुणों का उत्कर्ष प्रकट होता है । यहाँ 'सु' उपसर्ग स्वरूप के उत्कर्ष का बोधक है । 'स्वर्णोज्ज्वलम्' से यह व्यक्त किया गया है कि स्वर्ण के संयोग से मोती की उज्ज्वलता में चार चांद लग गये हैं । नहीं तो मुक्त पुरुष (प्रस्तुत में मोती) को भी टिकने का कोई आधार न मिले तो उसका पतन हो जायगा (मोती नीचे गिर पड़ेगा)। 'उज्ज्वल' का अर्थ यह है कि सोने में जड़े जाने से मोती की अपनी चमक दुगनी हो गई थी, नहीं तो मोती की स्वच्छता का तेज यदि अधिक हो जाता, तो यह पहिचानना कठिन हो जाता कि वह किस किस्म का है । अथवा 'सुरुचिरम्' का यह अर्थ लगाया जाय की जो प्रियाजी को भली-भाँति रुचि, कान्ति अर्थात् शोभा प्रदान करता है । अथवा, इसी व्युत्पत्ति (सुष्ठु रुचिं रातीति) के आधार पर यह अर्थ भी संभव है कि राधा नाम मात्र से ही जब हृदय द्रवित हो जाता है तो (स्वर्ण-जैसी) किसी ख़ास वस्तु से निरपेक्ष अपनी निजी शोभा होने पर भी मोती सौन्दर्य का एक विशेष आस्वाद (रुचि) प्रदान करता है । जैसे भूखे की भोजन के प्रति स्वाभाविक रुचि तो होती ही है, किन्तु अमृत के समान स्वादिष्ट भोजन मिलने पर वह रुचि और भी तेज़ हो जाती है, उसी प्रकार अवस्था, किस्म और स्वरूप के योग से मोती का स्वयं का एक निजी उत्कर्ष है । इसीलिये 'नासाग्रे' कहा है । उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट मोती का श्रीराधिका की जैसी नासिका के अग्रभाग में रहना उचित ही है । 'बिभ्रति' (धारण करती हुई) । लाड़ली होने के कारण और अवस्था और जाति के कारण प्रियाजी मोती को (या नथ को) बार-बार घुमाती हुई उसे धारण करती हैं । कहा भी है—'सुवन बनी नथ फेरति फिरि फिरि ।' इससे जवानी में की आदत का पता लगता है । 'भृ' धातु का पालन-पोषण किया जाय, तो अर्थ होगा--अपने ही अंगों की कान्ति से नथ के मोती की शोभा का पोषण करती हुई ।

अथ पुनरपि तत्सहायीभूतस्वाभाविकहावभावादिवैशिष्टयमाह—नाना-भङ्ग्यो यस्यामिति। द्विरूपकोशे ह्रस्वोऽपि पाठः। हंसगजादिगञ्जनगतौ नेत्रभुजमध्यपदाद्याङ्गिकभङ्गीनां नानात्वं रसवित्सहृदयवेद्यमेव, न लिखन-शक्यं, हृदि भावनास्वादध्येयम्। 'प्रिये! तादात्विका दर्शनीया एव भङ्ग्यस्तव तु सहजा साकूता वा भवन्तु, मम विवेक्तुमप्यशक्या अनिर्वच-नीया इति नानेत्युक्तिव्यंग्यम्।

पुनश्च सहायान्तरमाह—

अनङ्गस्य प्रतिरोम व्याप्तुं रञ्जयितुं च शक्तस्य महाप्रेम्णो रङ्गः, तदौत्सुक्यप्रवाहधारकयौवनोष्ममत्तताचापल्यादिस्तेन विशेषेण लसन्ती शोभमाना, वा विलासाख्यभावं प्राप्नुवन्ती या लीला हावभावा-द्यास्तस्या महानद्या इव तरङ्गाणां विशेषाणामावलिरखण्डपरम्परा

रसकलश

अब पुनः प्रियाजी के सौन्दर्य के सहायक स्वाभाविक हाव-भाव आदि की विशेषता का वर्णन करते हैं—'नानाभङ्गि·' (अनेक प्रकार की विलासपूर्ण चेष्टाओं से युक्त। कोश में 'भीङ्ग·' और 'भङ्गि' दोनों रूप मिलते हैं। प्रियाजी जब हंस, हाथी के अभिमान को चूर्ण करने वाली चाल से चलती हैं, तो नेत्र, भुजा, कमर, चरण आदि के द्वारा विविध प्रकार की चेष्टायें होती हैं जिन्हें कि रसिक सहृदय ही जान सकते हैं। वे लिखने में नहीं आतीं। केवल हृदयगत भावना से प्रत्यक्ष करके उनका आस्वादन एवं ध्यान करना चाहिए। 'प्रिये! आपकी उस समय की ये चेष्टायें तो दर्शनीय होती हैं। वे आपके स्वभाव में ही हों, या साभिप्राय हों, मैं तो उनकी विवेचना करने में अपने को असमर्थ पाता हूं। शब्दों द्वारा उनका कथन नहीं किया जा सकता।

इसके अनन्तर एक अन्य सहायक का वर्णन करते हैं—'अनङ्गरङ्गविलसत्' इत्यादि। (अनंग-रंग से विलसित लीला रूपी तरंगों से सुशोभित।) अनंग का अर्थात् प्रत्येक रोम में व्याप्त होने तथा उसे रंगने में समर्थ महाप्रेम का जो रंग—अर्थात् उस प्रेम की उत्कंठा को धारण करने वाले यौवन की गर्मी की मस्ती और चंचलता—उससे विशेषरूप से सुशोभित होती हुई, अथवा विलास नामक भाव तक पहुंची हुई हाव-भाव आदि लीला की विशिष्ट लहरों की अनवच्छिन्न परम्परा से युक्त। तरंगों के साहचर्य से लीला को एक अगाध नदी मानना चाहिए और श्रीराधा को उस नदी का आधारभूत समुद्र। श्रीराधिका को केलियों का समुद्र बताया जा चुका है[1]। लीला की सत्ता तो प्रियाजी में पहले ही से है। अब जब उनमें हो गया प्रेम की तरंगों का संयोग

१. 'श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः।' श्रीराधासुधानिधि—पद्य ११७

यस्यामिति । अनेन तदाधारतया लीलासिन्धुत्वं बोधितम् । 'केलिसिन्धुः' इति पूर्वमुक्तमेवेति । पूर्वस्थितताया अपि लीलाया अनङ्गरङ्गमिलनेन समीर-संयोगवत् तरङ्गप्रेरणं ज्ञेयम् । अतो हावभावपौनरुक्त्यं न शङ्क्यम् । अत्र तत्तद्वैशिष्टयम् । सहाया वक्षोजशोभा ते सेनाग्रगा, ततस्तस्या एव मोहन-करणप्राथम्यमुक्तम् । कर्तृत्वं राज्ञ एवेति । 'एवं वैशिटयधारकया त्वयैव-मोहितोऽयं लुठति, किं पृच्छसि ?' इति भावः ।।२२६।।

रसकलश

तो तरंगों को मानो हवा मिल गई और वे उछाल खाने लगीं। इसलिए यह शंका नहीं करनी चाहिए कि 'नानाभङ्गि' द्वारा एक बार जब हाव-भाव का बोध कराया जा चुका है, तो फिर लीला-तरगों का अभिधान करने से पुनरुक्ति दोष आ गया। 'लीला' शब्द से जिस प्रकार के हाव-भावों का बोध होता है उनमें अपनी अलग विशेषतायें हैं। सहायक उरोजों की शोभा सेना के आगे-आगे रहती है, अतः मोहित करने में प्राथमि-कता उसी की है। हाँ, सब करने-धरने वाला राजा ही होता है। (श्रीहितसखी अन्त में श्रीराधा से कहती हैं—) 'इस प्रकार अनेक आसाधारण गुणों से युक्त आपके द्वारा ही मोहित किये गए प्रियतम धरती पर लोट रहे हैं। फिर आप क्यों पूछती हैं?'[1] ।।२२६।।

---

१ इस पद्य के भी प्रचलित पाठ को रसकुल्याकार ने स्वीकार नही किया है। अन्य प्रतियों में तीसरे चरण में निम्नलिखित पाठान्तर मिलता है...

'राधे ! त्वं प्रविलोभय व्रजमणिं रत्नच्छटामञ्जरी—'

इस पाठ के अनुसार श्रीराधा से यह कहा गया है कि आप ब्रजमणि को लुभाइये। संभवतः रसकुल्याकार ने भूतकालिक क्रिया को अधिक उपयुक्त माना है—इसलिये कि प्रस्तुत पद्य से पूर्व के पद्य के साथ सगति बिठाई जाय, तो 'हे राधे ! आप ब्रजमणि को लुभाइये' कहना ठीक नही बैठता, क्योंकि पूर्व पद्य में कह आए है कि श्रीकृष्ण धरती पर लोट रहे है। यह व्यामोह के बाद की ही स्थिति हो सकती है। पद्य २२७ में तो स्पष्ट कहा है कि किसी देवी ने मेरे सर्वस्व को हरण कर लिया है। सर्वस्व-हरण भी व्यामोह की दशा में ही संभव है। एक बार प्रियतम को जब लूटा जा चुका है, तो दुबारा उन्हें प्रलोभन में फंसाना किस लिए ?

प्रस्तुत पद्य के चतुर्थ चरण में 'स्थगितयोः' का अर्थ रसकुल्याकार ने 'व्याप्त' किया है और गो. कृपालालजी म० ने 'अवरुद्ध' किया है। दोनों ही अर्थ असगत नहीं हैं, क्योंकि युवती के स्तन चोली को भर कर (व्याप्त कर) स्थित रहते है। स्तनों को यथास्थान रोक कर रखने में भी चोली सहायक होती है और पहिनी भी इसी उद्देश्य से जाती है। किन्तु 'स्थगित' का सामान्य अर्थ 'आच्छादित' ही है और यदि यही अर्थ लिया जाय तो आर्थिक चमत्कार को कोई क्षति नहीं होगी।

तदेवं ध्रुवशीलबाधकसख्युक्तस्वकर्तृत्वश्रवणे बहुसखिगणमध्ये च कृपा द्रवोज्जृम्भ प्रयोजकस्वासक्त्यतिशय प्रकाशनसंकोचेन हा ! 'कथमियमप्य-यथार्थभाषणसाहसा ! ततोऽपि हाहा ! कथमयमिङ्गितज्ञोऽपि गोपनीय-निजासक्तिप्रकटनप्राप्तश्लाघः संकोचयतितमां मामलोभनप्रयत्नामव्याज-चरिताम् !' इत्यादिभङ्गिकलज्जाक्षोभपारवश्येन गूढानुकम्पितद्रुतहृदयापि किंचिन्मानं कृतवतीति ज्ञेयम् । तत्र सानुनयप्रियागमनमाद्रियमाणा हिता-ल्यभिमुखावलोकनसंलापकरस्पर्शादिस्वागतशिक्षाप्रेरणानवधारणपरां स्थातु-मशक्तमपि मानं स्थापयन्तीमाह—

अप्रेक्षे कृतनिश्चयापि सुचिरं दृक्कोणतो वीक्षते,
मौने दार्ढ्यमुपाश्रितापि निगदेत् तामेव यहीत्यहो !

रसकलश

इस प्रकार ऊपर से वाम बने रहने के अपने नियत स्वभाव को यथावत् रखने में बाधक सखी की यह बात सुनकर कि 'आपने ही तो ऐसा जादू डाला कि प्रियतम भूमि पर लोट रहे हैं, और इस खयाल से कि अपने सब साखाओं के बीच प्रियतम ने, कृपा भाव को उद्दीप्त करने के उद्देश्य से अपनी आसक्ति प्रकट की, प्रियाजी को बड़ा संकोच हुआ । श्रीहितसखी के सम्बन्ध में उन्हें यह आश्चर्य हो रहा था कि वह भी इस प्रकार झूठ बोलने का साहस कर सकती हैं । इससे भी ज्यादा वह यह सोच-सोच कर अपने में सिमटी जा रही थीं कि कैसे खेद का विषय है कि मेरे आशय से परिचित होते हुए भी प्रियतम केवल बड़ाई लूटने के लिए अपनी गोपनीय आसक्ति का ढिंढोरा पीटते रहते हैं । मैंने तो प्रियतम को कभी लुभाने की चेष्टा नहीं की और न कोई ऐसा आचरण किया जो मेरे सहज स्वभाव के विपरीत हो । कुछ-कुछ इस प्रकार की लज्जा झुंझलाहट और बेबसी के कारण, अन्दर हृदय में दया-माया से द्रवित होते हुए भी प्रियाजी ने मान करने की ठान ली । यही प्रस्तुत पद्य की संगति है ।

इस स्थिति में प्रियतम जब अनुनय का प्रदर्शन करते हुए वहां आये, तो श्रीहितसखी ने उनका आदर किया और प्रियाजी से भी अनुरोध किया कि उनकी तरफ देखें, बातचीत का सिलसिला शुरू करें और हाथ से स्पर्श कर उनका स्वागत करें । किन्तु इस शिक्षा पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया । श्रीहितसखी ने देखा कि मान तो टिक नहीं पा रहा है, पर प्रियाजी उसे जबरन् जमाये जा रही हैं, तो कहती हैं—

"कैसा आश्चर्य है कि प्रियतम की ओर न देखने का निश्चय करके भी बहुत देर तक नेत्र के कोने से उन्हें देख लेती हैं, दृढ़ता पूर्वक मौन बने रहने की सोच कर

अस्पर्शे सुधृताशयापि करयोर्धृत्वा बहिर्यापये-
द्राधाया इति मानदुस्थितिमहं प्रेक्षे हसन्ती कदा
॥२३०॥

'अहो' इति सानन्दाश्चर्ये प्रस्तुतमानदुःस्थित्यनुभवेऽपि आनन्ददौर्लभ्येन भाग्याधिक्यमननं 'कदा' इत्यनेन सूचितम् । 'हसन्ती' इति हसनं प्रकृत्यनुकूलप्रयत्नोऽशक्य एव भवतीत्युक्तिभङ्गिकम् । 'प्रेक्षे' इत्यत्रेक्षणे प्रकर्षो मनोऽमस्मिन् क्षणे गतस्तस्मिन् क्षणे गतोऽयंगत इत्यादिगमनप्रतीक्षणभङ्गीमयः । यद्वा कथं कथं तिष्ठेत्, स्थितौ च कथं चेष्टा स्यात्, अनन्तरञ्च किं स्यादित्यादिबुद्धिमयः । 'मानश्चित्तसमुन्नतिः' इति परचित्तादुच्चस्थत्वेन तत्स्पर्शशून्यता चिन्तामेलनम् । तदा सर्वेन्द्रियाण्यपि निजाधीशानुगान्येव परोपेक्षकानि स्युरितिलक्षणो भावः । स च कृपाशीलायां दुःखेन स्थितो वर्तते । 'प्रिये ! कथं मामनुचितहठेन गृह्णासि ? त्यज' इत्युक्तवन्तमपि,

---

रसकलश

भी 'उसी के पास जाइए' यह कह देती हैं । प्रियतम को स्पर्श न करने की ठान कर भी उनके दोनों हाथ पकड़ कर कुंज से बाहर निकाल देती हैं । श्रीराधा के इस प्रकार के कठिनाई से टिक सकने वाले मान को हँसती हुई मैं कब देखूंगी ॥२३०॥

'अहो' कह कर आश्चर्यपूर्ण आनन्द प्रकट किया गया है । श्रीहितसखी यह अनुभव करती हैं कि मान का टिकना कठिन है, फिर भी इस दृश्य का आनन्द तो दुर्लभ है और बड़े भाग्य से मिलता है, यह सोच कर कहती हैं—'कदा' (कब देखूंगी) । हँसती हैं वे इस तरह जैसे कह रही हों कि जो बात अपनी प्रकृति से मेल नहीं खाती उसके लिए किया गया प्रयत्न असफल ही होता है । 'प्रेक्षे' (देखूंगी) में 'प्र' उपसर्ग द्वारा देखने की क्रिया में एक विशेषता बताई गई है, मानों वे यह प्रतीक्षा करती हुई देख रही हैं कि मान अब काफूर हुआ, यह गया ! वह गया ! अथवा देखने के साथ-साथ सोच रही हो कि देखूं तो मान कैसे-कैसे रहता है, और रहता भी है तो प्रियाजी क्या-क्या करती हैं और बाद में क्या होता है । 'मन के ऊपर उठने को मान कहते हैं । मान करने वाले का मन अपने विषय से ऊँचा उठ सकता है, अतः असपृक्त होने के कारण दो मनों की आपस में पटरी नहीं बैठती । ऐसी स्थिति में सब इन्द्रियां भी अपने स्वामी मन का अनुसरण करती हुई दूसरे की उपेक्षा में प्रवृत्त हो जाती हैं । यह है मान का लक्षण । प्रियाजी स्वभाव से ही करुणाशील है, अतः मान को टिकने में कठिनाई हो रही है । इस प्रसंग में दोनों के बीच यदि उक्ति-प्रत्युक्ति की कल्पना की जाय, तो उसका रूप कुछ-कुछ इस प्रकार का होगा- श्रीकृष्ण कहते हैं—'प्रिये ! क्यों

'कियत्क्षणं तिष्ठ' इत्युक्तमपि, 'न काठिन्यशरणो द्रुते स्थास्यति स्वरूप-लोषभयात्। 'नीतिं विचारय' इति प्राथितयाप्यासज्यतया गृह्यत एवेत्यादि-भङ्गिकमानदुःस्थितिर्ज्ञेया।

तामेव विवृणोति—प्रेक्षणं प्रेक्षः, भावे घञ्। निश्चयो विविच्य निर्धारणम्, एवमेव कर्तव्यमित्यात्मकः। यद्येनं प्रहस्य द्रक्ष्यामि, तदा भूयोऽपि निस्त्रपत्वबर्द्धनात् 'नादण्डः शुद्धचेत्' इत्यसाधुकार्यम्। दण्डोऽप्युचित एव देयश्च, 'यथा गजः स्तब्धमतिः स एव' इति गजत्वदानवत्। अहो! अप्रेक्ष्य मद्वार्तायाः सखिषु प्रेक्षणकारणाद प्रेक्षणमेवोचित प्रेक्षोपजीविन इति। अत्राप्रेक्षे कृतो निश्चयो ययेति। तदपि ध्रुवकृपाप्रेरणया 'सुचिरम्।' 'अपि' इति देहली-

रसकलश

मेरे संबन्ध में हठ पकड़ लिया है? यह तो अनुचित है।' प्रियाजी उत्तर देती हैं-'थोड़ी देर 'ठहरिये।' इस पर प्रियतम कहते हैं—'यह मान तो कठोरता पर पलता है, थोड़ा-सा रुख बदलते ही भाग जाएगा, क्योंकि उस हालत में भी टिके रहने में उसका स्वरूप नष्ट हो जाएगा। फिर आपको यह भी सोचना है कि मेरे सम्बन्ध में आपको क्या नीति अपनानी चाहिये।

प्रियतम ने बहुत कुछ कहा सुना, मान मिन्नत की, पर प्रियाजी को यह खयाल था कि मैं आसज्य हूं। इस रिश्ते में तो इच्छा न होते हुए भी मान को पकड़ कर रक्खा जाता है। कुछ इस प्रकार की स्थिति जब बन जाती है, तो मान को साधना कठिन भी हो जाता है और उसे साधना भी पड़ता है। मान की दुःस्थिति से यही अभिप्राय है।

इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'न देखने का निश्चय करके भी आँखों की कोर से देर तक देखते रहती हैं।' प्र उपसर्ग पूर्वक ईक्ष् धातु से भाववाचक् घञ् प्रत्यय करके 'प्रेक्ष' शब्द निष्पन्न होता है। विग्रह है—'प्रेक्षणमेव प्रेक्षः' (देखना ही प्रेक्ष है। 'निश्चय का अर्थ है—खूब सोच-समझ कर निर्णय करना। ऐसा ही करना चाहिए। इस प्रकार का निर्णय। यदि इनकी तरफ हँस कर देखती हूं तो इनकी निर्लज्जता को फिर प्रोत्साहन मिलेगा जो कि नीति की दृष्टि से ठीक नहीं होगा। नीति कहती है—'बिना दण्ड दिये शुद्ध नहीं होता।' अतः दण्ड-विधान उचित ही है और दण्ड देना भी चाहिए। कहा भी है—'हाथी की बुद्धि जब जड़ हो जाय, तो दण्ड देने से ही वह पूर्व स्थिति में आता है।' अहो! बिना सोचे-विचारे इन्होंने मेरी बात मित्रों में फैला दीं (कि कोई देवी मेरा सर्वस्व लूट ले गई)। इसलिए इनकी ओर नज़र न करना ही उचित हैं, क्योंकि ये तो मेरी आखें देखकर ही जीवित रहते हैं। इसी कारण प्रियाजी ने न देखने का निश्चय कर लिया। किन्तु ऐसा करने के बाद भी निश्चित कृपा-भाव की प्रेरणा से बहुत देर तक (सुचिरम्) प्रियतम को नेत्र की कोर से देख लेती हैं। 'अपि'

दीपकत्वेनापि ग्राह्यः । 'चिरम्' इति स्वस्वभावार्हत्वं ग्राह्यम् । कर्कशानां कर्कशं बहुक्षणमिति, मृदुनां मृद्विति लघुक्षणम् । अतोमृद्व्यास्तदेव सुचिरम् । यथा—'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्' इत्यादिवत् । दृक्कोणेनापाङ्गेन वीक्षते । 'तिष्ठ, त्वत्सदृशस्त्वमेवेति कुतस्तरां दृगुचितो, नैव कोणोचितस्तदपीक्षे । 'वि' इति मद्रूपविवशस्य को दोषः ? सुचिरत्वासाहिष्णुर्म्लानमुखो न स्यादि त्यादिभङ्गिकमीक्षणं च । यद्वा पश्यामि किं कुर्यादयम् । सुचिरमनेनेक्षे, इति निश्चत्यापि तद्विस्मृत्य मध्य एव कृपावैवश्येन दृक्कोणतो वीक्षते इति । तदनन्तरं महाभाग्यं मत्वा झटित्यभिवाद्य साञ्जलिः 'देवि ! मदाराधनीये! विस्मृतेङ्गितकरणीयदासोऽनुशासनीय एव । अद्य कोणवीक्षणप्रसादेनैव प्राप्तसर्वस्वोऽनुगृहीतोऽस्मि' इति कथितवान् । तदा मौने वाचंयमतायां दार्ढ्यमुपाश्रितापीति नाहं तेन सह वाचं वदे । किञ्च प्रसिद्धाकथनीय-

रसकलश

(भी) का संबन्ध देहली दीपक न्याय से 'कृतनिश्चया' तथा 'सुचिरं दृक्कोणतो वीक्षते' दोनों के स थ है—अर्थात् न देखने का निश्चय करके भी बहुत देर तक आँख की कोर से देखती भी हैं । 'सुचिरम्' (देर तक) का माप-दंड अपने-अपने स्वभाव के अनुसार निर्धारित कियां जाता है । कर्कशा स्त्री की देरी लम्बे समय की होती है, जबकि कोमल प्रकृति स्त्रियों को एक क्षण का आयाम भी लम्बा लगता है । सुकुमार वृत्ति श्रीराधा के लिए उतना ही समय 'सुचिरम्' हो गया । कहा भी है—'आपको देखे बिना एक पल भी युग बन जाता है ।' तो श्रीराधा नेत्र के प्रान्त अर्थात् अपांग से देखती हैं । 'रहने दीजिए, आप सरीखे आप ही हैं, तो आप इस लायक कहाँ है कि आपकी तरफ नजर फेरी जाय । वास्तविकता यह है कि आप को तो आँख से क्या, आंख के कोने से भी नहीं देखना चाहिए । फिर भी मैं तो देखती ही हूं । 'वीक्षते' (वि+ईक्षते) में 'वि' उपसर्ग का अर्थ यह है कि प्रियाजी विवेकपूर्वक देखती हैं कि प्रियतम को तो मेरे रूप ने लाचार कर दिया है । इनका दोष ही क्या है ? कहीं ऐसा न हो कि देरी न सहन होने के कारण उनके मुख पर उदासी घिर आवे । कुछ इस प्रकार के आशय से श्रीराधा ने प्रियतम को देखा । अथवा इस भावना से देखा कि देखती हूं कि ये क्या करते हैं । निश्चय तो यह कर लिया कि इन्हें बहुत देर तक देखूंगी ही नहीं, पर उसे भूलकर बीच ही में दया से विवश होकर नेत्र के कोने से देखने लगती हैं । प्रियतम ने इसे अपना अहो-भाग्य माना और प्रणाम पूर्वक हाथ जोड़ कर बोले—हे मेरी आराध्या देवी ! आपके हृद्गत मन्तव्य के अनुसार न चलने वाले को दण्ड ही देना चाहिए । आपके नेत्र कोण द्वारा देखने से ही मैं तो निहाल हो गया । मैं आपका अत्यन्त अनु-गृहीत हूं ।' तब मौन रहने के सम्बन्ध में, अर्थात् वाणी को नियंत्रित रखने में, दृढ़ता

लावण्यादिगुणापि काचिद्देवीत्यादिकथनीया कृता, अतो मौनमेव संलापोपजीविनो दण्डः इति। इतरथा पुनरपि स्वासक्तिरुजा मत्कथाख्यापननिस्त्रपः स्यात्' इति भङ्गिकं दार्ढ्यमिति। निश्चयं निर्धारणमिति यावत्। स्वद्रुतप्रकृतिभीता तमेवाश्रिता न तु मौनम्। किञ्च नास्य प्रतीतिः प्रियागमे भ्रमिवातितृण इव स्थातुमशक्तम्। अतस्तस्मिन् दार्ढ्यं निधाय तमुपाश्रये, अन्यथा न मानस्थितिः स्यादिति। 'उप' इति गूढं संलापाभीष्टाश्रयपर्यवसानत्वान्नाश्रिता, किन्तु समीप एवेति।

तादृशी दृढमौनापि तां प्रस्तुतां देवीमेव याहि प्राप्नुहीति निगदेदिति। किञ्च यथावद् वाक्योत्तरं देयं स्यादिति 'नाहं देवी, नच मया सकलप्रेयसोऽखिलवस्तु हृतम्, वृथैव साधुजनापवादः क्रियते, अतो यया सर्वस्वं हृतं

रसकलश

का अवलम्बन करके भी अर्थात् 'अब तो बोलूँगी ही नहीं'—इस प्रकार पक्का जी करके · । न बोलने का कारण यह है कि इन्होंने यह कह कर कि 'प्रसिद्ध, अकथनीय एवं लावण्य आदि गुणों से विशिष्ट कोई देवी (मेरा सर्वस्व लूट ले गई') मुझे निन्दा का विषय बना दिया। अतः बातचीत के सहारे ही जो जीता है, उसके लिए मौन ही दंड है। नहीं तो फिर आसक्ति के रोग से ग्रस्त होकर बिना किसी लज्जा-शर्म के मेरे सम्बन्ध में न जाने क्या-क्या कहते फिरेंगे। ऐसे ही किसी आशय से प्रियाजी ने दृढ़ बने रहने का संकल्प ले लिया। दृढ़ रहने से मतलब निश्चय का या निर्णय कर लेने का है। अपनी दयाशील प्रकृति से डर कर प्रियाजी ने मौन का आश्रय नहीं लिया, बल्कि दृढ़ता का। क्योंकि इस मौन का ही क्या विश्वास है? बहुत संभव है, प्रियतम के आते ही बवंडर में तिनका की तरह इसके पैर उखड़ जायँ, अतः मैं मौन में दृढ़ता का योग कर ही उसका आश्रय ग्रहण करूँगी, नहीं तो मान बिखर जायगा। 'उपाश्रिता' में 'उप' उपसर्ग सामीप्यार्थक है, जिससे यह भाव निकलता है कि चुपचाप दृढ़ता का आश्रय नहीं लिया, क्योंकि ऐसा करने का परिणाम तो यह होता कि जो बातचीत करना प्रियाजी के हृदय को अभीष्ट था, उसे ही वे करने लग जातीं। अतः दृढ़ता के साथ निकटता का संबन्ध ही स्थापित किया।

इस प्रकार दृढ़ता पूर्वक मौन धारण करके भी 'उसी के पास जाइये' यह कहेंगी। यदि बात का ठीक-ठीक उत्तर देना जरूरी है, तो सुनिये—'न तो मैं देवी हूं और न मैंने सबके प्यारे के सर्वस्व को चुराया ही है। यह तो एक भले आदमी की व्यर्थ बदनामी करना हुआ! अतः उसी के पास जाइए जिसने आपका सब कुछ चुरा लिया है। उसी की आराधना करिये और अपनी वस्तु वापिस लीजिए। जिन्हें बालकपन से ही चोरी की आदत है, उन्हें तो सारी दुनिया चोर ही दिखाई देती है। अतः ऐसी ही के पास

तामेवाराधय वस्तूनि गृहाण चेति । आबाल्यस्तेनानां स्तेनमेव जगद्भासते, अतः समशीलं भज' इतिभङ्गिकं 'याहि' इतिपदम् ।

एवं मौनमुक्तौ अहोभाग्यं मत्वा पुनः प्राञ्जलिपादपतनाञ्चलग्रहणादि कुर्वन्तं तं दृष्ट्वा 'अस्पर्शे' इति अहोऽद्यावधि केनाप्यस्पृष्टाशया अनेनाखिलं वस्त्वहरदित्यादिना सकलसखिस्पृष्टाशयत्वकरणात् स्पर्शोपजीविनोऽस्पर्श एव महान् दण्डइत्यादिभङ्ग्या सुचिरं नाहं स्पृशामीत्यस्पर्शे सुतरां धृत आशयो ययेति । न च केवलं धृताशयेति, किञ्च तस्यापि पूर्ववदप्रतीतेस्तत्कृतपाद स्पर्शोल्लासितमाशयं वीक्ष्य बिभ्यन्ती ततः प्रसह्याकृष्यास्पर्शेऽतिशयं सहायीकृत्य धृत इति व्यज्यते । तदपि तादृशमनुनयन्तं करयोः स्वपदस्पर्शक्रियापरयो धृत्वा गृहीत्वा स्वयमुत्थाय बहिः कुञ्जाद्यापयेत्, प्रापयति निष्काशयतीति स्फुटोऽर्थः । 'करयोः', इति द्वित्वं

रसकलश

जाइये जिसके आचरण आपके जैसे हों। 'याहि' (जाओ) से कुछ इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गए हैं।

इस प्रकार प्रियाजी के मौन तोड़ देने पर प्रियतम ने अपने भाग्य को बहुत सराहा। इसके बाद उन्हें हाथ जोड़ कर पैरों पड़ते और अंचल आदि पकड़ते देखकर 'अस्पर्शे सुधृताशयापि' (प्रियतम को नही छूने के विषय में मन को खूब पक्का करके भी)। 'अहो! अब तक किसी प्रकार की बदनामी मुझे छू तक नहीं गई, किन्तु इन्होंने यह अभियोग लगाकर कि मेरी सब वस्तु हरण करली, मुझे अपने सखाओं में बदनाम कर दिया। अतः मेरे स्पर्श पर जीवित रहने वाले के लिए सबसे बड़ा दंड यही है कि उन्हें अब छूआ न जाय'—मन में कुछ इस प्रकार के भाव लेकर प्रियाजी ने निश्चय कर लिया कि अब इनका स्पर्श करूंगी ही नहीं। मन में यह ठान तो लिया, किन्तु जिस प्रकार न देखने के निश्चय और मौन की दृढ़ता का उन्हें विश्वास न था, उसी प्रकार इसमें भी सन्देह था कि स्पर्श न करने का संकल्प अन्त तक बना ही रहेगा। अतः जब प्रियाजी ने देखा कि प्रियतम के पर छूने से मन उल्लसित हो गया है, तो पैरों पर से प्रियतम को ज़बरन अपनी ओर खींच कर पकड़ लिया जिससे प्रियतम को स्पर्श करने में उलटा सहायता मिली। यह व्यंग्य है। पकड़ने के बाद फिर यह किया कि इस प्रकार पैरों पड़ते और अनुनय-विनय में व्यस्त प्रियतम के हाथ पकड़ कर स्वयं उन्हें उठा लिया और कुंज से बाहर कर दिया—निकाल दिया—यह है स्पष्ट अर्थ 'दोनों हाथों को पकड़ने' से यह पता चलता है कि इससे पूर्व प्रियतम ने हाथ जोड़े हुए थे। अथवा यह कि उनका एक हाथ जब पैरों का स्पर्श कर रहा था, तो प्रियाजी ने उसे झटक कर अलग कर दिया। इस पर दूसरे हाथ से उन्होंने अंचल को पकड़ा, तो उसे भी झटक दिया। जब प्रियतम इसी तरह की अन्य हरकतें करने लगे, तो प्रियाजी ने

साञ्जलिग्रहबोधकम् । वा एकस्मिन् करे पदग्रहणपरे तत्तिरस्कृते, द्वितीयेऽञ्चलग्रहणपरे तत्तिरस्कृते च भूयोऽन्यक्रियापरे चेति विक्षुभ्योभावप्युभाभ्यां स्वपाणिभ्यां धृत्वेतिभङ्गीव्यञ्जकं च । एवं न प्रेक्षे, न वदामि, न स्पृशामीत्यादिव्रतभङ्गान्मानदुःस्थितिं हसन्ती कदा वीक्ष इत्यन्वयः ।

अन्यच्च 'अहो' इति यथापदस्थितमेवान्वेतव्यम् । स्ववस्तुहर्त्रीं तामेव देवीं याहीत्युक्तौ, क्व तादृगन्या देवीत्याश्चर्यपरं निगदेद्यापयेदिति संभावनोक्तिः । आदौ कोणेन वीक्षमाणायां तत्कृपोद्वेलनविश्रम्भात् दृढमौनामपि वीक्ष्य मनसि ध्यातम्—पूर्ववदियं निगदेदपीति । पश्चात्तथैव जाते वर्तमानं विस्मृत्य मानसिकप्रयोग एवोक्तः । एवमस्पर्शव्रतां वीक्ष्य स्वित् करयोः स्पृशेदपीति मानसे कृते तथैव स्पृष्टे पुनरपि वर्तमानस्मृतिरित्यानन्दहसनहेतुकैव ज्ञेया ।

रसकलश

झल्ला कर अपने दोनों हाथों से प्रियतम के दोनों हाथ थाम लिये —यह ध्वनि है। इस प्रकार 'नहीं देखूँगी, नहीं बोलूंगी, नहीं छुऊँगी' इत्यादि सब सकल्प ढह गए, तो इस रीति से व्रत-भंग हो जाने के कारण-मान की कठिन स्थिति को मैं (श्री हितसखी) कब देखूँगी—यह अन्वय है ।

एक दूसरे प्रकार से भी अन्वय किया जा सकता है। वह इस तरह कि 'अहो!' का संबन्ध उसके साथ के ही पदों से लगाया जाय। तब अर्थ होगा—'जिसने आपकी चीज़ चुराई है उसी के पास जाइए' यह कहें—कहने को कह दिया, पर बाद में जो ध्यान आया कि और देवी है कहाँ? तो स्वयं आश्चर्य करती हुई कहें और बाद में कुंज से बाहर कर दें। 'निगदेत्' और 'यापयेत्' दोनों कियायें संभावनार्थक लिङ् की हैं जिसका अर्थ यह है कि श्रीहितसखी को इसकी संभावना है कि ऐसी स्थिति में प्रियाजी ऐसा ऐसा करेंगी। पहले प्रियाजी को नेत्रों की कोरों से देखते हुए तथा दृढ़तापूर्वक मौन साधे हुए देखकर भी श्रीहितसखी के मन में यह पूरा भरोसा था कि अन्त में प्रियाजी के हृदय में कृपा-भाव उमड़े बिना रहेगा नहीं, उन्होंने मन में सोचा कि संभव है, पहले की तरह बोल उठें। बाद मैं हुआ भी यही । इसीलिए वर्तमान काल के प्रयोग को भूलकर पहली मानसिक भावना के अनुसार क्रिया में विधि लिङ् का ही प्रयोग किया। इसी प्रकार प्रियाजी के स्पर्श न करने के व्रत को देखकर 'संभव है, हाथों से छू लें' यह बात श्रीहितसखी के मन में उठी और वास्तव में प्रियाजी ने स्पर्श कर लिया, तो फिर वर्तमान को भूल गईं। बस, इसीलिये अपनी विचित्र मनःस्थिति को देखकर श्रीहितसखी आनन्द से हँस पड़ी। हँसने का यही कारण है।

अन्योऽप्यर्थः तामित्यस्य मौने वाचंयमे दाढर्यमुपाश्रितापि तां वाचमेव निगदेदिति। कां वाचमित्यपेक्षायां याहीति, गच्छ नात्र ते प्रयोजनमिति। यस्याः वाचो मौने दाढर्यं तामेवेति पूर्वपरामर्शोऽपि चिन्त्यः ॥२३०॥

ततो बहिर्निष्कासितोऽपि स्वात्मकार्यकुशल अहो पश्यत मद्विस्मृतिमिति सहर्षमाश्चर्ययन् हितसिद्धिमयप्रियसखीमिव वंशीं स्मृतवान्। ततस्तामेव कटिपटादुद्धृत्यावादयत्। स्वाकर्षकदैन्यविज्ञापनगान श्रवणेन द्रुतहृदया विवशा मानाभासमुन्मुच्यागत्य हृदि गाढं प्रियमालिङ्गितवती। ततः प्रसह्य निजकरेण प्रियस्यावतंसादिशृङ्गारकरणं, तदनु निभृतकुञ्जे मिलनं विलासश्चाभूदिति। तदेवं कृपास्पदरसिकमौलित्वं दृष्ट्वा प्रसीदन्ती तत्तदाह—

रसागाधे राधाहृदिसरसि हंसः करतले
लसद्वंशस्रोतस्यमृतगुणसङ्गः प्रतिपदं।

रसकलश

'ताम्' का एक दूसरा अर्थ और भी है। मौन का आश्रय लेकर भी उसी बात को कहें। 'कौन सी बात?' यह जिज्ञासा होने पर, वही कि चले जाओ, यहाँ रहने का आपका कोई मतलब नहीं। जिसकी वाणी की मौनता में दृढ़ता है उसी के पास (जाओ)। पूर्व प्रसंग के साथ, इस अर्थ में, संगति बैठ जाती है ॥२३०॥

इसके उपरान्त कुंज से बाहर निकाल दिये जाने पर भी अपना मतलब गाँठने में निपुण 'प्रियतम अपने आप से बोले—'अहो! मैं भी कैसा भुलक्कड़ हूँ,' और इस प्रकार प्रसन्न होते हुए तथा साथ ही आश्चर्य करते हुए प्रिय सखी की तरह हितसाधिका वंशी की याद आ गई। तब उन्होंने कमर-फैंटा से उसी को निकालकर बजाया। अपने को आकर्षित करने वाले दीनता-सूचक उस गान को सुनकर प्रियाजी का हृदय ऐसा द्रवित हुआ कि विवश होकर उन्होंने मान के भ्रम को छोड़ दिया और आकर प्रियतम को कस कर छाती से लगा लिया। उसके बाद प्रसन्न होकर अपने हाथों से प्रियतम को आभूषण आदि पहिना कर उनका शृंगार किया और फिर एकान्त कुंज में उनसे मिलीं जहाँ कि बिहार हुआ। तब रसिक-शिरोमणि पर प्रियाजी की ऐसी कृपा देखकर प्रसन्न होती हुई श्रीहितसखी कहती हैं:—

श्रीराधा के अगाध रस से परिपूर्ण हृदयरूपी सरोवर में जो हँस के समान, वंशीरूपी नदी से विशिष्ट हाथ में प्रतिक्षण अमृतसंजीविनी विद्या जिनके साथ में रहती है, हिलते हुए मोर मुकुट को धारण करने वाले, प्रियाजी द्वारा सुरुचिपूर्वक पहिनाये

चलत्पिच्छोत्तंसः सुरचितवतंसः प्रमदया
स्फुरद्गुञ्जागुच्छः स हि रसिकमौलिर्मिलतु मे।।२३१।।

अहो ! अस्मत्प्राणसख्या हृदयसरो रसागाधं वर्तते । न केवलं मानिन्येवेयं, मानोऽप्यस्या रसवर्द्धको रसिकमौलिनिकष एव येन सत्वरं मानाग्रहमुन्मुच्य प्रियं हृदि सरोऽनन्यजीवनमिव धारितवतीत्यस्माकमप्येतदेव जीवनमिति भावः । कथं तादृशाग्रहस्त्यक्त इति चेत्तत्र बलवद्धेतुमाह—'लसत्' इति । सर्वदैव मुरलीधरत्वशोभाकीर्तिख्यातेरपीदानीं मानिन्याकर्षणप्रवृत्तौ दर्शनीय एवेति सद्यः परिचितप्रभूतप्रभावेण लसन् शोभमानो वंशो वंश्येव स्रोतो प्रतिरोमप्रसरणशीला नादामृतनदी यत्रेति, तद्विशिष्टे करतले प्रतिपदं पदे पदे, वा प्रतिक्षणं, वा स्वरग्रामश्रुतिलयतानतालादिप्रतिस्थानममृतगुणोऽमृत-

रसकलश

गए कर्णाभूषणों (कुण्डलादि) से सुशोभित, देदीप्यमान घुंघचियों के गुच्छों से अलंकृत वह रसिक-शेखर मुझे मिले ।।२३१।।

अहो! हमारी प्रियसखी का हृदय रस से लबालब भरा अगाध सरोवर है । वह केवल मान करना ही नहीं जानती, बलिक मान इनके आनन्द को और बढ़ाता ही है। वह एक कसौटी है जिसपर रसिकशेखर का प्रेम कसा जाता है। तभी तो शीघ्र मान का हठ छोड़कर प्रियतम को अपने हृदयरूपी सरोवर में हँस की तरह धारण कर लिया। उस हँस के जीवन का भी इस सरोवर के सिवा और कोई आधार नहीं । तात्पर्य यह है कि हम सखियों का भी वही जीवन । यदि पूछा जाय कि प्रियाजी ने मान का हठ छोड़ क्यों दिया, तो उत्तर में एक प्रबल कारण का निर्देश करते हैं— 'करतले लसद्वंशस्रोतसि'—सदैव मुरली धारण करने की शोभा के लिये प्रसिद्ध होने पर भी इस समय मानिनी श्रीराधा के आकर्षण के लिये श्रीकृष्ण की उधर जो प्रवृति हुई, उससे वे विशेष रूप से दर्शनीय हो उठे। इस प्रकार शीघ्र ही उसके प्रबल प्रभाव का परिचय पाकर श्रीकृष्ण के हाथ में वंशीरूपी स्रोत अर्थात् रोम-रोम को व्याप्त कर फैलने वाली ध्वनि-रूपी अमृत नदी सुशोभित हो रही थी। 'अमृत गुणसङ्गः प्रतिपदम्' -- की व्याख्या करते हैं—पग-पग पर, या प्रतिक्षण, अथवा स्वर, ग्राम, श्रुति, लय, तान ताल आदि प्रत्येक स्थान (प्वाइन्ट) पर अमृत द्वारा जीवित करने वाली विद्या का (गुण) उनके साथ थी। क्योंकि वंशी की वह विद्या एक अनिर्वचनीय महामाधुर्य के ऐसे आस्वाद को प्रदान करती थी जो प्रत्येक बार बढ़ता ही बढ़ता था। 'सङ्ग' इस आशय से कहा है कि यद्यपि मुरलिका श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति है तथापि उसका शब्द गुण दूर-दूर तक फैल कर उनकी सहायता जो करता है उसके कारण मुरली की सत्ता

संजीविनीविद्या सङ्गे यस्य । प्रतिक्षणविलक्षणोत्तरोत्तरमहामाधुर्यास्वाददानादित्यर्थः । 'सङ्गे'त्युक्तिः स्वरूपशक्तित्वेऽपि दूरगुणव्याप्तिसहायत्वेन भिन्नप्रतीतिमयी । अमृतगुणसङ्गात् क्व मानादिरोगस्थितिःस्यादिति भावः । प्रतिपदामृतवंशैककरतलसिद्धिः किं किं न साधयेदिति वाक्यार्थः । सवंशत्वेन हंसस्यात्र कलस्वरता चोक्ता । तच्छ्रोतसैवागाधह्रदोद्वेलनं जातम्, अन्यथैतया करतलवानपि करयोर्गृहीत्वा बहिर्निष्कासित इति ।

एवं नादामृतप्रवहणसमये स्वरावृत्तिव्यापृताङ्गुलिभङ्ग्या भ्रूचलनादिना च पिच्छोत्तंसस्यापि कंपनात् 'चलत्' इत्युक्तिः । समनन्तरमेव प्रेमोद्वेलितहृदयह्लदिनीसप्रसादचिबुकग्रहचुम्बनपरिरम्भादिमिलनवशेन चन्द्रिकाकनकसूत्रविशेषाणां मौल्यग्रलंबगानमणीनां च कंपनं ज्ञेयम् । ततो निजैकासक्तिहेतुकतत्तद्दुःखस्वमानादिसहनप्रसादमननस्मृत्युज्जृम्भितकृपातिशयेन प्रमदया

रसकलश

श्रीकृष्ण से पृथक् प्रतीत होती है । अमृत के गुण का संयोग होने पर मान आदि रोग भला कैसे टिक सकते हैं ? यह भाव है । प्रत्येक पग पर अमृत बरसाने वाली वंशी रूपी सिद्धि जब हथेली पर रक्खी हो, तो क्या-क्या कार्य सिद्ध नहीं हो सकते ? यह है वाच्यार्थ । वंश (मुरली) युक्त होने के कारण श्रीकृष्ण को यहाँ कल हंस (उच्च जाति का हंस) समझना चाहिए । उस मुरली-रूपी नदी के कारण ही श्रीराधा का अगाध सरोवर उमड़ आया, नहीं तो मुरली के हाथ में रहने पर भी मुरलीधर को कुंज से बाहर कर दिया गया था ।

'चलत्पिच्छोत्तंसः' का अर्थ है—इस प्रकार नाद रूपी अमृत जब बहने लगा, विविध स्वर निकालने में व्यस्त अंगुलियों की चेष्टा तथा भौंहों के उतार-चढ़ाव के कारण मोर-पंख भी हिलने-डुलने लगा । इसी भाव को व्यक्त करने के लिए 'चलत्' (हिलता हुआ) कहा गया है । इसके साथ ही साथ श्रीराधा-रूपी सरसी के अन्तस्तल में प्रेम-तरंग के कारण जो विक्षोभ हुआ और प्रियाजी ने प्रसन्न होकर मिलने के लिए प्रियतम की जो ठोड़ी पकड़ी, चुंबन और आलिंगन किया, उसके कारण उनकी चंद्रिका सोने की जंजीर और मस्तक के अग्रभाग पर का रत्न-खचिन लटकन—सब हिलने लगे । एकमात्र अपने प्रति आसक्ति के कारण प्रियतम ने जो विवध दुःख सहे, मान झेला और इस सब को प्रियाजी के प्रसाद रूप में ग्रहण किया, उसका स्मरण होते ही कृपा-भाव उमड़ आने के कारण प्रबल मद से विशिष्ठ श्रीराधा ने बड़ी सुघराई के साथ प्रियतम के कानों में नये भूषण धारण कराये । दूसरी बात यह है कि प्रियाजी वहां फूल चुनने के लिये आई थीं, तो यह स्वाभाविक था कि फूलों के विविध भूषण बनायें । अपनी रुचि के अनुसार निपुणता का प्रदर्शन करते हुए प्रियाजी ने सुन्दर

प्रकृष्टया सुतरां सौष्ठवेन नवरचितावक्तंसौ कर्णभूषणे यस्य। किञ्च पुष्पावचयादि क्रीडार्थमागतायाः पुष्पभूषणनिर्माणवैविध्यमस्त्येव। स्वरुच्यनुसारेण कौशलज्ञापनेन शोभनावतंसपरिधानं कारयित्वा मौलिमालाङ्गदकिंकणीषु यथोचित शोभनगुञ्जागुच्छदानामपि परिधापनं कृतम्। तत एव स्फुरद्गुंजागुच्छः' इत्युक्तिः। मणिमौक्तिककनकादिसत्वेऽपि प्रायो वनविहारेषु पुष्पबर्हगुंजाद्येव शोभते। विलासिप्रभूणामपि माधुर्यमैश्वर्योपरिचरमितिसहृदयवेद्यमेव।

स्फुरणं लम्बनधर्मत्वात् कंपनं वा शोभनार्थकमपि ज्ञेयम्। यद्वा पूर्वं भूलुढनकृतोत्तंसावतंसादिव्यत्ययो जातः। ततोऽनया प्रसद्य पुनर्धारितम्। भूषणादीत्युपलक्षणेन मुखमार्जनतिलकाद्यपि यथासंभवं योज्यम्।

क्वचित् 'श्रोतरि' इति पाठभ्रान्तौ 'करतले लसद्वंशः' इति पृथक् पदं विशेषणम्। शीले तृन्। श्रवणशीले श्रोतुः श्रुतीन्द्रिये वा श्रोतृजने प्रतिपदममृतगुणस्य सङ्गः सज्जनं यस्मात्, इत्यादि ज्ञेयम्।

रसकलश

आभूषण पहिना कर सिर की माला, अंगद और नूपुरों में घुंघचियों के जहाँ जो उपयुक्त था, उसके अनुसार घुंघचियों के सुन्दर गुच्छों को भी धारण कराया। इसी आशय से कहा है—'स्फुरद्-गुञ्जागुच्छः' (देदीप्यमान घुँघचियों के गुच्छों से सुशोभित) मणि, मोती और स्वर्ण के आभूषण होते हुए भी वन-विहार में प्रायः फूल, मोरपंख, घुंघची आदि सुन्दर लगते हैं। विलासी प्रभु लोग भी ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य को ही उच्च स्थान देते हैं। यह सब सहृदयों के जानने की बातें हैं। आभूषण प्रायः लटकने वाले होते हैं, अतः 'स्फुरण' का अर्थ हिलना या सुशोभित होना समझना चाहिए। अथवा इससे पूर्व भूमि पर लोटने के कारण श्रीकृष्ण के मुकुट, भूषण सब अस्त-व्यस्त हो गये थे, अतः प्रियतम ने प्रसन्न होकर उन्हें फिर भूषण धारण कराये। भूषण तो कहने भर को है। असल में तो प्रियाजी ने मुंह भी पोंछा होगा और तिलक आदि भी लगाये होंगे। यह सब, जहाँ जैसा उचित हो, अपनी तरफ से जोड़ लेना चाहिए।

कहीं-कहीं भ्रम से 'स्रोतसि' के स्थान पर 'श्रोतरि' पाठ मान लिया गया है। इसके अनुसार 'करतले लसद्वंशः' को पृथक् पद विशेषण मानना होगा। शील अर्थ में तृन् प्रत्यय करने से सप्तम्यन्त 'श्रोतरि' शब्द निष्पन्न होगा। अर्थ होगा—जिससे सुनने वाले की कर्णेन्द्रिय में या श्रोता-जन में प्रतिक्षण अमृत गुण का संग अर्थात् सम्पर्क हो।

इन विशेषताओं से युक्त, स्वामिनी जी के प्रेम-पात्र वह प्रियतम—वह अर्थात् जो इस प्रकार भूमि पर लोटते हुए आये, फिर भी प्रिया जी ने उधर नहीं देखा, मौन होकर

एवं विशिष्टः स्वामिनीप्रेमास्पदः 'स' इति य एवं भूमा लुठन्नागतोऽप्य-प्रेक्षणमौनयाहीत्युक्त्यवधीरितो बहिर्निष्कासितोऽपि प्रसादं मन्यमानः स हि एव रसविदां मौलिर्मङ्गलोत्सवशेखर इति ख्यातो नान्यलीलाविशिष्टः। शिरोधार्यत्वेन, नमनीयत्वेन, शोभनत्वेन सजातीयश्रेष्ठत्वेन 'मौल्यु'क्तिः। सोऽयमिति वक्तव्ये 'स' इत्येवोक्तिः पूर्वासक्ति धर्मपरामर्शप्रविष्टमानसोक्ति-वशात् समक्षेऽ'यम्' इति विशेषोक्त्यगणनया विस्मृतिमयी। यथोक्तमेवात्र— 'अहोरसिकशेखरः' इति। 'मे' इति मां रसिकशेखरोपासनानन्यमयां मिल-त्विति स्वामिनीप्रसादादेवमस्त्वित्याशीः। 'सखीप्रकटपूर्णनत्युत्सवः' इति, 'यत्किङ्करीषु बहुशः खलु काकुवाणी' इत्यादिरीत्या स्वाभीष्टसमर्थनरहो-मंत्रणार्थकं प्रियमिलनम्। यद्वा स्वप्राणसखीपरमप्रेष्ठजातीयसखीत्वात् स्वस्य तदभेदोपादानम्। तदा एवमेवायमिष्टप्रसादात् प्रियां मिलतु, तदेवास्माकं

रसकलश

बैठ गईं और 'चले जाओ' कह कर अपमान पूर्वक बाहर निकाल दिया। इतने पर भी जिन्होंने इस सब व्यवहार को प्रियाजी के प्रसाद रूप में ग्रहण किया। वही रसिकों का मौलि, अर्थात् मंगलमय मुकुटस्वरूप और उनकी मुकुटमणि के नाम से विख्यात है। निकुंज-लीला के सिवा अन्य किसी लीला से उनका सम्बन्ध नहीं है। वह मस्तक पर आसीन होने के योग्य हैं, उन्हें नमस्कार करना चाहिए, वे सुन्दर हैं और अपने जैसे गुणों से सम्पन्न व्यक्तियों में श्रेष्ठ हैं। इसी आशय से श्रीकृष्ण को 'मौलिः' कहा गया है। 'स हि रसिकमौलिः' के स्थान पर 'सोऽयं रसिकमौलिः' कहना चाहिए था, किन्तु ऐसा न कह कर केवल 'स' (वह) इसलिए कहा कि प्रियतम के आसक्तिपूर्ण स्वभाव की भावना पहले ही से श्रीहितसखी के मन में घुसकर बैठ गई थी जिसके कारण वह यह कहना भूल गई कि 'यह जो सामने उपस्थित हैं।' श्रीराधासुधानिधि में (पद्य १११) में कहा भी है—कोई रसिकशिरोमणि श्रीवृन्दावन में विराजते हैं।' मे मिलतु में 'मे' का अर्थ 'माम्' (मुझको) है। रसिक-शेखर की अनन्य भाव से उपासना करने वाली मुझ से मिलें। स्वामिनी की कृपा से ऐसा हो, यह आशीर्वाद है। 'सब सखियों को जो (श्रीकृष्ण) निःसंकोच प्रणाम करते हैं (१११) तथा 'जो बार-बार श्रीराधिका की सेविकाओं से दीनता-भरी बातें करते रहते हैं।' (पद्य ७)—इन पद्यों में वर्णित रीति के अनुसार श्रीकृष्ण द्वारा प्रिया मिलन रूप अपनी अभिष्ट सिद्धि के लिये एकान्त मन्त्रण के उद्देश्य से श्रीहितसखी से मिलने का यहाँ तात्पर्य है। अथवा अपनी प्राणप्यारी सखी श्रीराधा की परम प्रिय सखी होने के नाते श्रीहितसखी ने यहां अपने आप को श्रीराधा से अभिन्न मान कर अपने मिलन की बात कही है। तो इस

जीवनम्, इत्याशीराशंसनम् । अत्र निभृतमिलनदर्शनजहर्षमयं वाक्यमिदम् । 'पुंस्युत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरेऽपि शेखरे' इत्यमरः । मुक्तकपक्षे आचार्योक्तौ तु 'स' इति परोक्षत्वं घटत एव ॥२३१॥

तदेवं रसिकमौलितया पूर्णासक्तिकङ्कणबद्धतोक्ता । इदानीमासज्य-मनोऽनुवर्त्यनुसरणे यद्यदघटितमैश्वर्यान्यथानुपपत्तिसाध्यं दक्षिणत्वादि तत्-त्सोढ्वैव लोकविडम्बनेऽपि स्वरसानुकूल्यहानाभावपूर्वकं सर्वं साधयिष्य, इति प्रियनिकषाशयं प्रथयन्ती प्रकटलीलायामप्याभासरससिद्धान्तोपमर्दकं स्वर-सोत्कर्षमाह 'अकस्मात्' इति द्वाभ्याम्—

अकस्मात्कस्याश्चिन्नववसनमाकर्षति परां,
मुरल्या धम्मिल्ले स्पृशति कुरुतेऽन्याकरधृतिम् ।
पतन्नित्यं राधापदकमलमूले व्रजपुरे,
तदित्थं वीथीषु भ्रमति स महालम्पटमणिः॥२३२॥

रसकलश

प्रकार इष्ट-देवता की कृपा से यह श्रीकृष्ण प्रिया से मिलें, वही हमारा जीवन है—यह आशीर्वादोक्ति है । युगल को एकान्त में मिलते देख कर श्रीहितसखी को जो आनन्द हुआ उसी की अभिव्यक्ति यहां की गई है । अमरकोष के अनुसार 'उत्तंस' और 'अवतंस' शब्द कर्णाभूषण और मुकुट के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं और पुल्लिंग हैं ।[1] पद्य को यदि फुटकर माना जाए तो श्रीहिताचार्य की उक्ति में 'स' (वह) से परोक्ष श्रीकृष्ण का बोध होगा जोकि ठीक ही है ॥१३१॥

इस प्रकार यह बताया कि रसिकशिरोमणि होने के नाते श्रीकृष्ण ने आसक्ति का कंकण अपने हाथ में बाँध रक्खा है । अब आसज्य प्रियाजी के आशय का पालन करते हुए अन्य गोपिकाओं का अनुसरण करते समय विदग्ध नायक के जिन चरित्रों का आचरण ऐश्वर्य-वृत्ति के बिना असंभव है, उसे सहन करते हुए ही, लोगों के द्वारा उपहास किये जाने पर भी, उनका निर्वाह इस प्रकार करूंगा कि आसक्ति-धर्म और रस की मर्यादा का उल्लंघन न हो—प्रियतम के इस हार्दिक भाव को व्यक्त करती हुई श्रीहितसखी रसाभास के सिद्धान्त का मर्दन करने वाले अपने रसोत्कर्ष का दो पद्यों द्वारा प्रतिपादन करती हैं :—

'अचानक किसी एक के नवीन वस्त्र को खींचते हैं, दूसरी किसी गोपी के केश-पाश को वंशी से छू देते हैं, किसी दूसरी का हाथ पकड़ते हैं, और नित्य ही श्रीराधा के चरण-कमलों के मूल में लोटते हुए वह लंपट-शिरोमणि इस प्रकार व्रजपुर की गलियों में घूमते रहते हैं ॥२३२॥

१. 'सुरचितवतंसः' में संधि कैसे होगी यह चिन्त्य है ।

यत् राधापदकमलमूले नित्यं पतन् व्रजपुरे वीथीषु भ्रमति स लम्पट-मणिस्तदित्थं भ्रमतीति सम्बन्धः। इत्थं कथम् ? 'अकस्मा'-दित्यादि। ननु तस्यां सत्यामन्यत्रभ्रमणं कुतो घटते, तदेवं पदपतनमेव कारणं ज्ञेयम्। किञ्चासु 'यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटाया विस्फूजितं किमपि गोपवधूष्वदर्शि' इत्युक्तं नखच्छटालवदानं, अतस्तत्सम्बन्धेन भ्रमणं, यथा चरणदासानां चरण-सम्बन्धि सर्वमेवादरणीयं स्यादिति। तदत्रनिरोध्यहेतुकानुकरणजस्वा-शयास्पर्शादौचित्यरसानुदयेन रसाभासत्वं ज्ञेयम्। तदेवासामत्यलभ्यरस-लम्भनम्। तदेवाभिप्रेत्य व्याख्यायते—

'अकस्मात्' इत्यहेतुकप्रवर्तनं धृष्टतैव। कस्याश्चिदलक्षितगुणनाम्न्याः प्रलोभनप्रयत्नकपरिहितनववसनाया अहह ! किमिदम् ? कदा नवाम्बरं धृतम् ? किमर्थम् ? इत्यादि नवत्वाक्षेपभङ्गिकं वसनमाकर्षति। पराञ्चा-

---

रसकलश

जो श्रीराधा के चरण-कमल के मूल में नित्य लोटते हुए व्रजपुर गलियों में घूमते हैं, वह लंपटों के सरदार इस प्रकार का आचरण करते हुए घूमते हैं—यह संबंध है। कैसे घूमते हैं ? 'अकस्मात्' इत्यादि (किसी गोपी का अचानक वस्त्र खींच लेते हैं, दूसरी के केशपाश को मुरली से छू देते हैं और किसी का हाथ पकड़ लेते हैं।) यदि पूछा जाय कि श्रीराधा के रहते हुए दूसरे स्थानों पर घूमने की संगति कैसे बैठती है, तो उत्तर यह है कि इसका कारण श्रीराधा के चरणों में लोटना ही समझना चाहिए। कहा भी जा चुका है, 'जिनके चरण-कमलों की चन्द्राकार नख-मणियों का अनिर्वचनीय चमत्कारपूर्ण प्रभाव गोप-बंधुओं में लक्षित हुआ है' (पद्य ११)। प्रियाजी के नाखूनों की छटा का एक कण इन गोपियों को मिला है, अतः इस संबंध से प्रियतम व्रज की गलियों में घूमते हैं। जो चरणों के दास हैं, उनके लिए तो उन चरणों से संबन्धित प्रत्येक वस्तु आदरणीय होती है। विदग्ध नायक श्रीकृष्ण के इस प्रकार व्यवहार करने का उद्देश्य अपनी काम वृत्ति को नियंत्रण में रखना ही था। अतः उनका हृदय उससे अछूता ही रहा। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण के हृदय में समुचित रोसद्‌बोध न होने के कारण इसे रसाभास ही समझना चाहिये। किन्तु श्रीकृष्ण के द्वारा खेला गया दक्षिण नायक का यह नाटक गोपियों के दुष्प्राप्य रसानुभूति का साधक बन गया। इसी अभिप्राय से व्याख्या करते हैं।

'अकस्मात्' का अर्थ है, बिना कारण के प्रवृत्त होना। यह तो ढिठाई ही हुई ! तो किसी ऐसी गोपी के, जिसके नाम और स्वभाव के बारे में कुछ नहीं मालूम, वस्त्र को खींचते हैं। श्रीकृष्ण को लुभाने के उद्देश्य से ही वह उस दिन नूतन वस्त्र पहिन कर आई थी। उसे देखते ही पास जाकर आप कहते हैं—'आह ! क्या सुन्दर नया वस्त्र

नुद्दिश्यविधेयां निगूढकबरदर्शनप्रयत्नां आहो ! कथं नु ग्रथनचातुर्यं संयत-कचानाम् ! इत्युक्तिपूर्वकं शपथस्तेशिरसि वंश्याः, किमर्थमीदृक् कौशलम्? इत्यादिभङ्गिकं मुरल्या धम्मिल्ले स्पृशति । अथान्यस्या मदयन्तिकारञ्जि-तव्याजदर्शनोद्यमवसनाञ्चलसमीकरणसखीवार्तेङ्गितचाञ्चल्यप्रयुक्तकरायाः आहोस्वित् ! कथमरुणबिन्दवो मनः स्पन्दयन्ते ! अथ च बहुव्यापारे सुकु-मारपाणी किमर्थं खेदयसे ? इत्यादिकटाक्षभङ्गिकं करस्य धृतिं ग्रहणं कुरुते । इत्यादिरीत्यानादृतिभङ्गिकं स्वरसानुकूलः करोतीत्यर्थः ।

अथ श्रीराधायाः सखीषु विहरन्त्या व्रजपुरवीथिष्वकस्मात्प्राप्तदर्शनाया झटिति पदकमलावधिप्रापणं तु कुतस्तन्मूले तदाधारे भूम्यादावेव शङ्कितः पतन्निति व्रजाधीशयुवराजत्वारुद्धविचार इत्यर्थः । 'वीथीषु' इत्यनेन अञ्जसैवेतस्त आगतयोर्मिलनेऽपसरणाभावो बोध्यते । तदा परस्परसंघट्टेऽप्य-

---

रसकलश

पहिना है ! और क्यों जी ! यह भला पहिना किस लिए है ?' श्रीकृष्ण का आशय कुछ-कुछ यह था कि नया वस्त्र पहिनने के पीछे कोई-न-कोई राज है । इसके अनन्तर खामख्वाह छेड़खानी करने के लिए आप किसी दूसरी गोपी के पास पहुंचते हैं । यह अपने ढके हुए केश-बन्ध के वैभव को दिखाने की फिराक में थी । उससे कहते हैं— 'वाह ! क्या खूबी के साथ बेनी गूंथी है और जुड़ा बांधा है !'—यह कहते हुए 'तेरे सिर पर रखी हुई इस वंशी की कसम है तुझे जो यह न बताये कि यह बाँधा किसके लिये है' कुछ ऐसे ही आशय से वंशी से केशपाश को छू देते हैं । अब एक दूसरी गोपी की कैफियत यह थी कि उसने हाथ में मँहदी रच रखी थी और उसे दिखाने के लिए कभी तो यूंही हाथ से अंचल को सँभालती थी और कभी सहेली से बातें करते समय विविध भावों को व्यक्त करने के लिये हाथों को नचाती थी । यह देख कर श्रीकृष्ण कहते हैं—'अहो ! हथेलियों पर की ये लाल बूंदें तो मन को झकझोर ही डालती हैं ! समझ में नहीं आता इन सुकुमार हाथों से इतना काम लेकर व्यर्थ ही इन्हें क्यों थकाये डालती हो ।' कुछ इस प्रकार के आशय से उसका हाथ पकड़ लेते हैं । इस प्रकार अनादर-भाव प्रकट करते हुए प्रियाजी के प्रति अपनी अनन्य-निष्ठा-रस के अनुकूल आचरण करते हैं—यह अर्थ है ।

अब व्रजपुर की गलियों में सखियों के साथ विहार करती हुई प्रियाजी के अचानक दर्शन हो जाने पर तत्काल उनके चरण-कमलों तक पहुंच जाते हैं । पहुंचते ही नहीं, वल्कि जहाँ चरण रक्खे होते हैं उस भूमि पर शंकित होकर पड़ जाते हैं—विना इसका विचार किये कि मैं व्रज के राजा श्रीनन्द का राजकुमार हूं—यह अर्थ है । 'वीथिषु' (गलियों में) कह कर यह बताया गया है कि सँकरी गलियों में दो विरुद्ध

नन्यचेष्टितो गौरवेण पतन्नेवास्ते । तदेतस्मादेव हेतोः साधु क्रीडन्त्याः कदाचिदपि दर्शनं स्यादेवेतीत्थं तादृशं भ्रमणम् । तासु चाहो कदाचित् किमपि कुत्रापि तच्छटालवमात्रं नु पश्येत्तदपि यथार्हौचित्यमदृष्ट्वाऽसहिष्णुरधिक्षेपभङ्ग्या कौतुकं करोति । अतः स्वरसैकलम्पटस्तु सर्वत्र भ्रान्त्वाप्यनन्यत्वम् । 'महान्' इति सर्वसमक्षं पदपतनम् । 'मणिः' इति रसलम्पटत्वेन मधुपत्वमस्य कमलैकवासयोग्यता बोधनार्थकं, अन्यपुष्पेस्वासक्त्यभावबोधकञ्च । भ्रमणेन भ्रमरत्वं बोध्यते । 'व्रजपुर' इत्यनेन श्रीमन्नन्दभान्वोः परमसख्यसम्बन्धादिना नैकटचादभेद एव वासस्य दर्शितः ।

अत्र पतनानुभावेन प्रिये! अनन्यभ्रमरोऽपि त्वच्छटागन्धलोभाद् भ्रान्तः, अतः क्षमस्व, मे शपथस्ते चरणयोर्नत्वदन्यत् किमपि जाने । किं कुर्वे, त्वया

रसकलश

दिशाओं से आने के कारण जब दोनों टकराते हैं, तो इतनी जगह तो होती नहीं कि वच कर निकल जायँ, अतः सामना होने पर प्रियाजी के गौरव के कारण पैरों पड़ते ही बनता है—और कुछ कर ही नहीं सकते । अतः इसी उद्देश्य से कि स्वेच्छा पूर्वक क्रीड़ा करती हुई प्रियाजी के शायद दर्शन हो जायँ, श्रीकृष्ण गलियों में घूमते हैं । और इस प्रसंग में कहीं गोपियाँ मिल जाती हैं, तो उनसे भी इसी भावना से छेड़-छाड़ करते हैं कि शायद इनमें प्रियाजी की सौन्दर्य-छटा का कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश देखने को मिल जाय । किन्तु बाद में जब सोचते हैं कि ऐसा करना अपने स्वरूप और धर्म के अनुकूल नहीं है, तो स्वयं को लक्ष्य कर गोपियों द्वारा की गई काम-चेष्टाओं को सहन करना कठिन हो जाता है, अतः उनकी वेषभूषा पर कटाक्ष-सा करते हुए उनसे खिलवाड़ करते हैं, अतः अपने रस के लिए लंपट होते हुए भी, सर्वत्र घूमने-फिरने के बाद भी श्रीकृष्ण की अनन्यता में कोई कमी नहीं आती । 'महालंपट' में 'महान्' का आशय यह है कि ऊँचे सिरे का लंपट होते हुए भी सबके सामने प्रियाजी के पैरों पड़ते हैं । 'लम्पटमणिः' में 'मणि' शब्द की व्यंजना यह है कि रसलंपट होने के कारण उनमें भौंरापन भी है और इस रूप में कमल में रहने की योग्यता एक मात्र उनमें ही है । यह भी ध्वनित होता है कि अन्य कुंजों के प्रति उनकी आसक्ति नहीं है । गलियों में चक्कर काटने की आदत भी भौंरे से मिलती-जुलती है । 'व्रजपुर' कह कर यह दर्शाया है कि श्रीनन्द और श्रीवृषभानु के प्रबल सख्य-सूत्र में बँधे होने के कारण उनके घर इतने पास-पास हैं कि दोनों में कोई भेद ही नही हैं ।

अपने पैरों पड़ने रूप अनुभाव के द्वारा वे मानों प्रियाजी से यह निवेदन करते हैं—'प्रिये ! मैं आपका अनन्य भ्रमर हूं, तथापि आपके सौन्दर्य की गन्ध मिलते ही

कृपावात्सल्यगुणप्रेरितया छटा दत्ता । अथ सत्यसंकल्पता भक्तवात्सल्यञ्च मय्यपि दोषः । अतो यादृशस्तादृशस्तवास्मीति प्राणप्रिये ! तदन्तरं वेत्स्येवेत्यादि ज्ञापयति 'नित्यम्' इति तच्छुद्धयर्थं सदैव, नत्वेकवारं, द्विस्त्रिश्चेति ॥२३२॥

रसकलश

मैं भ्रम में पड़ जाता हूं । अतः क्षमा करिये । मैं तो आपके चरणों की शपथ ही खा सकता हूं, और कुछ नहीं जानता । मैं क्या करूँ ? कृपा-भाव और स्नेह में भरकर आपने भी अपनी रूपकान्ति की छटा गोपाङ्गनाओं को दे डाली । अब अपने संकल्प की रक्षा करना और भक्तों से वात्सल्य भाव के अनुरूप व्यवहार करना—ये दोष मुझमें हैं । अब जैसा भी हूँ, आपका ही हूं । प्राणप्रिये ! आप तो मेरे हृदय की बात जानती ही हैं ।' नित्य पैरों पड़ने का उद्देश्य यह है कि दाक्षिण्य भाव से प्रेरित होकर जो कुछ भी कर गुजरे हैं उसकी शुद्धि के निमित्त एक बार, दो बार, तीन बार नहीं, बल्कि सदा पैरों पर लोटते ही रहते हैं ॥२३२॥

प्रस्तुत तथा आगामी पद्य साहित्य में वर्णित दक्षिण नायक का आभास है । साहित्यिक परिभाषा के अनुसार दक्षिण नायक उसे कहते हैं जो वास्तविक प्रेम तो एक नायिका से करता है, किन्तु दूसरी को इस भुलावे में रखता है कि वह अनन्य भाव से उसी में अनुरक्त है । उदाहरण —

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलको धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥ अमरूक

अर्थ :—'दोनों प्रियतमाओं को एक आसन पर बैठा देख कर, पीछे से आकर आदरपूर्वक खिलवाड़ करने के बहाने से एक की आंखें बन्द कर देता है और तब अपने कन्धे को जरा झुका कर, रोमाचित होकर प्रेम के आवेश से मन में प्रसन्न दूसरी का धूर्त चुम्बन करता है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यिक परंपरा का आदर करने के ही लिए श्रीहिताचार्य ने इन दो पद्यों की रचना की है । इस परिपाटी का ही एक दूसरा उदाहरण 'अप्रेक्षे कृतनिश्चयापि' पद्य (१३०) है जो कि कलहान्तरिता नायिक की उसी प्रकार की उक्ति है जैसी कि नीचे दिये गए उदाहरण में—

खिन्नाहं तव रात्रिजागरवशात् तामेव याहि प्रियां
निर्माल्योज्झितपुष्पदामनिकरे का षट्पदानाँ रतिः ॥

रसकुल्याकार ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा के बल से उपर्युक्त दोनों पद्यों को जिस प्रकार अनन्यता की दिशा में ढाला है ऊसकी प्रशंसा करनी पड़ती है । श्रीहिताचार्य का उद्देश्य भी श्रीकृष्ण को लंपट बताना नहीं है, क्योंकि उनकी कविता में व्रजलीला के इन चरित्रों का पर्यवसान श्रीराधिका के पैरों पर लोटने में ही होता है ।

'परं नित्यम्' पाठ मान्य नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से पद्य का तृतीय चरण क्रिया सापेक्षा बना रहता है ।

एकस्या रतिचौरमेव चकितं चान्यास्तनान्ते करं
कुर्यात् कर्षति वेणुनान्यसुदृशो धम्मिल्लमल्लीस्रजं।
धत्तेऽन्याभुजवल्लिमुत्पुलकितां संकेतयत्यन्यया
राधायाः पदयोर्लुठत्यलममुं जाने महालम्पटम्
।।२३३।।

'एकस्याः' अद्वितीयायाः कस्याश्चिदनिर्वचनीयाया मुख्यायाः। 'एव' इत्यवधारणार्थेनान्यासां व्यावृत्तिः स्फुटैव ज्ञेया। तत्र व्रजलीलानुसारेण सन्ध्योत्सव होलिकादिषु सखीवेषान्तरेणागत्य रतिः कृतेति तत्र तत्र महानुभावोक्तिः प्रमाणं रतिचौरस्येति। 'चकित' मिति चौरधर्म एव। ललितादिषु तु ज्ञेयमिदं चौर्यम् अन्यज्ञानापेक्षया चकितत्वम्। यद्वा आसज्योपालम्भसंशयादपि ज्ञेयं, व्रजलीलान्तःपातित्वात्। 'एकस्याः' इति

रसकलश

अब पूर्व पद्योक्त व्रज-लीला के सूत्र को फिर पकड़ते हुए एक दूसरे कौतुक का वर्णन करते हैं—

'किसी एक (गोपी) के साथ चकित होकर चोरी-चोरी रमण करते हैं, किसी दूसरी के स्तनों पर हाथ डालते हैं, किसी सुनयनी के केशपाश में बँधी जूही की माला को वेणु से खींचते हैं, अन्य किसी की रोमांचित भुजलता को पकड़ लेते हैं तथा किसी को संकेत द्वारा मिलने की जगह बताते हैं। (किन्तु) श्रीराधा के चरण-कमलों में तो भरपूर लोटते रहते हैं। मैं इस लंपट को पहिचानती हूँ।।२३३।।

'एकस्याः' का अर्थ है किसी एक अद्वितीय, अनिर्वचनीय, मुख्य सखी को 'एव' का अर्थ है निश्चित रूप से। इससे श्रीराधा के अतिरिक्त अन्य किसी गोपी का निषेध हो जाता है—यह स्पष्ट है। व्रज-लीला के अनुसार सन्ध्या-समय होने वाले होली आदि उत्सवों में किसी सखी का वेष बना कर श्री कृष्ण ने प्रियाजी से रमण किया—इसके समर्थन में आदरणीय महानुभावों की उक्तियाँ प्रमाण रूप में उपस्थित की जा सकती हैं। इससे यह सिद्ध है कि श्रीकृष्ण प्रियाजी के साथ यदा-कदा चोरी से भी रमण करते थे। 'चकितम्' की व्याख्या करते हैं—चकित होना चोर का स्वभाव है। ललिता आदि प्रमुख सखियों को तो इस चोरी का पता रहता ही था, परन्तु अन्य सखियों को यह चौर-कृत्य मालूम न हो जाय, इस आशंका से श्रीकृष्ण चकित रहते

प्रच्छन्नोक्तिश्चौरसम्बन्धिगुणादेवेति प्रियाश्रवणसख्योद्दीपनहेतुकसखीकटाक्षोक्तिः। चतुरशीतावपि पदे 'कौन चतुर जुवति प्रिया जाहि मिलत लाल चोर ह्वै रैन' इति। एवं तु रहस्येव। स्फुटं तु 'राधायाः' इति व्रजे तत्पदलुठनमेव पश्यन्तीसु सर्वास्वैश्वर्यप्रकाशनार्थकं 'त्वदीयोऽस्मि' इति-भङ्गिकं च पूर्वमुक्तमेव। 'अस्ति' इत्यध्याहार्यम्। वा वक्ष्यमाणक्रियान्तराणां कर्ता 'चौर' एव ज्ञेयः।

'अन्ये'ति। मनोन्यस्तस्तनौन्नत्यदर्पायाः प्रियकर्तृकदर्शनौत्सुक्योपेक्षिताञ्चलाया अन्यस्याः। किमिदं निगूहितमुन्नतं तीक्ष्णं वस्तु इति, न जाने हस्तभेदः स्यादिति संशयितः स्तनान्त एव करं कुर्यात् करोतीत्यर्थः।

रसकलश

थे। अथवा आसज्य प्रियाजी उलहना न दें (कि तुम आज के चोर नहीं हो) कुछ-कुछ इस प्रकार का भय भी उन्हें बना रहता था,+क्योंकि प्रस्तुत लीला व्रजलील के अन्दर ही आती है। चोर-सम्बन्धी गुण के कारण ही गोपी का नाम छिपा कर 'एकस्या' ही कहा गया है, (अर्थात् चोरी छिपे-छिपे होती है, इसलिये उसका असर नाम-निर्देशन पर भी पड़ता है।) इस प्रकार नाम न लेकर श्रीहिताली ने कटाक्ष किया है, ताकि यह सब सुनकर प्रियाजी के हृदय में श्रीहित सखी के प्रति सख्य-भाव उद्दीप्त हो। श्रीहितचतुरासी में कहा है— "कौन चतुर जुवति प्रिया जाहि मिलत लाल चोर ह्वै रैन" (पद—६)। एकान्त की ही ये बातें हैं (क्योंकि इस रीति से घटना को उपस्थित करने में सखी का आशय गूढ़ कटाक्ष करना है।) वैसे तो स्पष्ट है कि 'एकस्याः' से अभिप्राय श्रीराधा का ही है। व्रज में सब गोपियों के देखते श्रीकृष्ण प्रियाजी के पैरों में लोटते हैं। उन गोपियों पर श्रीराधा के ऐश्वर्य को प्रकाशित करना ही उद्देश्य है। आन्तरिक आशय श्रीकृष्ण द्वारा प्रियाजी को यह विश्वास दिलाना भी है कि मैं आपका ही हूँ। यह पहले कहा भी जा चुका है। यहाँ 'आस्ते' (है) क्रिया का अध्याहार करना पड़ेगा। अर्थात् एक का रति-चोर है। अथवा पद्य में आगे कही जाने वाली क्रियाओं का भी कर्ता 'चोर' है—यह समझ लेना चाहिये।

'अन्यास्तनान्ते करं कुर्यात्' (एक अन्य गोपी के स्तनों पर हाथ डालते हैं) की व्याख्या करते हैं—अन्य का मतलब है कोई ऐसी गोपी जिसे अपने स्तनों की ऊँचाई का बड़ा अभिमान था - और जो इसके लिये उत्कंठित थी कि प्रियतम श्रीकृष्ण उसे देखें। इसीलिये वह अपने अंचल को ठीक-ठींक नहीं सँभाल रही थी। 'यह ऊँची-ऊँची पैनी-सी न-जाने क्या चीज इसने छिपा रक्खी है; ऐसा न हो कि हाथ छिद जाय। कुछ इस प्रकार के अनिश्चय के कारण स्तनों की निचली सीमा पर ही हाथ डालते हैं। 'कुर्यात्'

यद्वा यो रतिचौर आस्ते स स्तनान्ते करं कुर्यादेवेति विध्यर्थोऽपि ज्ञेयः । कथमयमभिमुखीभूय मां पश्येत् तं च पश्येयमितिहेतुकसकौशलाञ्जित-लोललोचनाया आर्यदृष्टिसंशयव्यग्रतावसरे 'अहोऽनभिमुखैव कुतो गच्छसि ? किञ्चिदस्मानपि दृष्टिसौष्ठवापेक्षिकान् पश्य, स्वायतदृशञ्च सफलय' इत्युक्तिभङ्ग्याभिमुखीकरणार्थं धम्मिल्लग्रथितेषत्श्लथां वा लम्बमानां मल्लीमालां वेणुना तत्साक्षितयाकर्षति । साक्षित्वं स्वामिन्यग्रे प्रियनिष्ठा-यथार्थभाषणं, तच्छुद्ध्या प्रियाप्रसादकारणञ्च ज्ञेयम् । पूर्वन्तु शपथभङ्गिक-मेव धम्मिल्ले वंशीधारणम्, अत्र दृष्टिसौष्ठवदर्शनार्थमिति भेदः ।

'कदाहं श्यामसुन्दरमालिङ्गे, अयं सोऽप्येवमनुमोदेत्' इत्यभिलाष-समसमयजात हृच्छयौत्सुक्याया अन्यस्या स्तादात्विकावेशेन वल्लीवत्

रसकलश

क्रिया विधि लिङ् की है, पर यहाँ अर्थ वर्तमान काल का ही होगा। अथवा जो रति चोर है वह स्तनों पर हाथ डालेगा ही, यह विध्यर्थक लिङ् लकार का अर्थ भी लगाया जा सकता है। 'यह भी श्रीकृष्ण कैसे तो मुझे सामने से देखें और कैसे मैं उन्हें देखूँ' इस उद्देश्य से किसी गोपी ने बड़े कौशल से अपनी चंचल आँखें आँजी थीं। जब वह यह सोच-सोच कर घबड़ा रही थी कि कोई गुरुजन मेरी इस हरकत को भाँप न ले, तभी श्रीकृष्ण आकर कहते हैं—'हमारी ओर रुख किये बिना ही कैसे चली जा रही हो, यहाँ हम भी तुम्हारे दृष्टि-सौन्दर्य की एक झलक पाने की प्रतीक्षा में खड़े हैं; जरा इधर नजर घुमाइए और अपनी इन लंबी आँखों को सफल बनाइये।' कुछ-कुछ इस प्रकार मानों कहते हुए श्रीकृष्ण उक्त गोपी को अपनी ओर अभिमुख करने के लिये केशपाश में बँधी हुई, पर कुछ ढीली या लटकती हुई जूही की माला को वंशी से खींचते हैं। स्वामिनी के आगे जब श्रीकृष्ण झूठ बोलेंगे, तब वेणु पर लिपटी माला इसकी साक्षी होगी। बाद में जब शपथ खाकर कहेंगे कि 'मैं आपका ही हूँ, तो प्रियाजी प्रसन्न हो जायेंगी और इस प्रकार प्रियतम आत्म-शुद्धि करेंगे। पूर्व पद्य में तो मुरली की शपथ दिलाते हुए उसे किसी गोपी के जूड़े पर रक्खा था; प्रस्तुत में उद्देश्य है गोपी के दृष्टि-सौन्दर्य को देखना। यही भेद है।

'धत्तेऽन्याभुजवल्लिमुत्पुलकिताम्' (दूसरी किसी गोपी की रोमांचित भुजलता को पकड़ लेते हैं' की व्याख्या करते हैं—कोई गोपी सोच रही थी—'हाय ! मैं श्याम-सुन्दर का कब आलिंगन करूँगी और वह भी इसी प्रकार मेरा आलिंगन कर कब मेरे मनोभावों का अनुमोदन करेंगे ?' यह सोचते ही सोचते गोपी के मन में काम विषयक उत्कंठा जागृत हो गई और उसके आवेश में लता की भाँति किंचित् फैलाई हुई भुजा में

किञ्चित्प्रसारितां भुजवल्लि उदधिकं पुष्पितपल्लवितवदुद्गतरोमाञ्चाम् कथं शीतेन कण्टकिताऽनिरामयासि ?' इत्यादिभङ्गिकं अकस्मादेव धत्ते। अत्र स्वहृदयस्पृग्रसाभावात् स्वस्य पुलकाभाव एव। तस्यास्तु 'उत्पुलकिताम्' इत्युक्तम्।

'अन्यया' इति आर्यसंघट्टनवशसुचिरानवाप्तकिञ्चिद्भाग्योत्कर्ष-प्राप्ततादात्विकैकान्तया अपरया जनाप्रकाश्येन केनचिद्व्याजेन 'त्वं तत्रागच्छ, कदाचिन्मत्सङ्गालापादि भविष्यत्येव'— इत्यादिभङ्गिकं संकेतं करोतीति। परन्तु राधायास्तु पदयोरेवालं लुठति। 'अलम्' इत्यनेन मनोवचः कायैरेव लुण्ठनं, न च पूर्वास्विवानुकरणमात्रमिति ज्ञेयम्। महालम्पट-लक्षणन्तूक्तमेव। 'अहममुं जाने' इत्यनेन यया रीत्या रतिचौर्य्यादि कस्याञ्चित् करोति, अन्यासु च यद्धाष्टर्यादि करोति तद्रहस्यमन्तरङ्गिणी हिताल्येव

रसकलश

रोमांच खड़े हो गए, मानों लता में फूल-पत्ते निकल आये हों। यह देख कर श्रीश्याम-सुन्दर मानों यह कहते हुए—'क्या बात है ? कैसे रोंगटे खड़े हो गये हैं ? बीमार हो क्या ?' अचानक उसका हाथ पकड़ लेते हैं। चूँकि इस सब प्रसंग में श्रीकृष्ण को किसी प्रकार की रसानुभूति नहीं हो रही थी जो उनके हृदय को स्पर्श कर सके, अतः उनके अपने अंगों में रोमांचों का आविर्भाव नहीं हुआ। इसी अभिप्राय से कहा है कि गोपी की (ही) भुजा में रोमांच प्रकट हो रहे थे।

'संकेतयत्यन्यया' (किसी अन्य से संकेत करते हैं) की व्याख्या करते हैं—'अन्यया' से तात्पर्य है जिसे गुरुजनों की भीड़भाड़ के कारण बहुत दिनों से श्रीकृष्ण से एकान्त में मिलने का अवसर नहीं मिला था। संयोग से उस दिन उसका भाग्य जाग गया और श्रीकृष्ण एकान्त में हाथ पड़ गये। तब श्रीकृष्ण कोई ऐसी तरकीब लड़ा कर कि लोगों को पता न चल जाय, 'वहाँ चली आना; वहीं तुम्हें मेरे साथ बातचीत आदि करने का सुयोग मिलेगा,' संकेत करते हैं। किन्तु श्रीराधा के तो चरणों में ही जीभर कर लोटते रहते हैं। 'अलम्' (पर्याप्त रूप से) कहने का तात्पर्य यह है कि मन, वाणी और कर्म से लोटते रहते हैं। अन्य गोपियों के साथ प्रेम-प्रदर्शन का जैसा अनुकरण किया था, वैसा श्रीराधा के सम्बन्ध में नहीं करते हैं—यह तात्पर्य है। महालंपट का लक्षण बतलया ही जा चुका है। 'मैं इन्हें जानती हूँ कहने का तात्पर्य यह है कि जिस रीति से श्रीकृष्ण किसी गोपी के साथ चोरी से रति करते हैं तथा औरों के साथ ढिठाई का व्यवहार करते हैं, उसका रहस्य अन्तरंगा श्रीहितसखी ही जान सकती है। अतः

जानीयात्, अतस्तस्याहमेव साक्षिणी, मदीयेशस्य मम विश्रम्भ इति प्रिया-समक्षं प्रियशुद्धिर्व्यञ्जिता ।

सकलरसिकसमाधानार्थं संशयनिराकरणपूर्वकव्रजलीलासमन्वयार्थं साधारणप्रणयदाक्षिण्यप्रतीतिमत्ताञ्च श्रीमत्या असाधारणप्रणयैश्वर्यमाधुर्य-द्योतनार्थमिदं पद्यद्वयं ज्ञेयम् । 'एकस्याः' इत्यत्र कटाक्षोक्त्यपरितोषाद्-भूयोऽवशिष्टमाख्यायते—

ननु सखि ! गोप्यन्तरेषु कथं मन्नामन्यासो युक्तः, पुनश्चापि 'राधायाः' इति पुनरुक्तिः, अतः श्रोतृजनभ्रान्तिस्त्वदाशयज्ञानलोपकैवेति। तत्रैवं ज्ञेयम् । भवत्याप्यस्मदधिकारस्तस्मै दत्तः । क्वापि क्रीडान्तरेष्वस्मानपि

रसकलश

'उसकी साक्षिणी मैं हूँ । अपने स्वामी का मुझे विश्वास है'—मानों यह कह कर प्रियाजी के सामने प्रियतम के निर्दोष होने की व्यंजना की है ।

सब रसिकों की शंकाओं का समाधान कर व्रजलीला और निकुंज लीला में समन्वय प्रतिपादित करने के लिये, तथा जिन लोगों की यह धारणा है कि श्री कृष्ण साधारण जन की तरह, विदग्ध नायक के रूप में जहाँ एक ओर श्रीराधा से प्रेम करते हैं, वहाँ दूसरी ओर अन्य गोपियों के साथ भी प्रेम-लीला करते थे, उन्हें श्रीमती के असाधारण प्रेम, ऐश्वर्य और माधुर्य का ज्ञान कराने के उद्देश्य से इन दो पद्यों की रचना की गई है । 'एकस्याः' की व्याख्या में कहा जा चुका है कि प्रियाजी के नाम को गुप्त रखने में सखी का आशय कटाक्ष करना है । किन्तु इतना कहने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ । अतः जो कहने से शेष रह गया है उसे अब बताते हैं—

(प्रियाजी कहती हैं—) 'सखी ! दूसरी गोपियों की चर्चा के प्रसंग में मेरा नाम लेना कैसे उचित है ? यदि उचित भी हो, तो पद्य में पुनरुक्ति दोष आ जायगा (क्योंकि इसी पद्य के चतुर्थ चरण में 'राधायाः पदयोर्लुठति' कहा है । अतः पद्य सुनने के बाद श्रोताओं को यदि भ्रान्ति होती है तो इसलिए कि तुम्हारे हार्दिक आशय को ठीक-ठीक समझ नहीं पाते ।'

(सखि उत्तर देती है—) इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य यह है कि आपने भी हमारा अधिकार उन्हें दे डाला है । कभी-कभी क्रीड़ा के प्रसंग में आप हम सखियों से भी कपटपूर्ण व्यवहार कर डालती हैं । उदाहरण के लिए, हम से कहती है–दो-दो की कतार बना कर जाओ । इसका मतलब यही है कि छलिया के साथ रह कर आप भी विश्वास-घात करने लगी हैं । तो हम आपको उसी छलिया की श्रेणी में क्यों न रक्खें ? हमारी

छलयसि, यथा द्वन्द्वे गच्छतं इत्यादिवत् । अतस्तवापि छद्मिसङ्गेन विश्रम्भघातात् कथं तत्पंक्तौ न ब्रूमः ? अस्मत्स्वामिनी तु प्रत्यक्षमस्मत्सम्मतगतिका नाम्नी श्रीराधैव, अतः स्फुटोक्तिव्यवहारा । या च चौरसङ्गिनी सैका काचिदस्तीति गूढैव । या यल्लक्षणा सा तदुक्तं जानात्येव । न कस्या अपि छद्मोद्घाटने प्रयोजनम् । यथा सभासम्बन्धिजना अवरोधस्थान् परिहसन्ति—'यश्छत्रामरधारी स एवास्माकं नृपो न हर्म्यस्थः स्त्रैणः' 'इत्यादिभङ्गिककटाक्षोक्तिर्ज्ञेया । अतः पुनरुक्तिभयात् 'एकस्या', इत्यस्यान्यगोप्यर्थो न शङ्कनीयः । एतद्दाक्षिण्यकौतुकोऽपि नन्दभानुसम्बन्धीस्नुषारसात् पूर्व एव । अनन्तरं गन्धोऽपि नास्ति, तावत् कौतुकहेतुरेव ज्ञेयः । अन्यथा स्तस्-ास्तासाञ्च तेन सह रतिसाम्यमनुचितमेव । यथोक्तम्—साहित्यकारैः—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥ इत्यादि ।

बहिस्तु तत्स्पर्शो निरोधार्थक एव । गूढन्तु लीलाधिष्ठातृसम्मत एव । एकरसमूर्ति सिद्धान्ते तां वञ्चयित्वान्यत्रासाक्तिकरणं प्रियस्यासंभाव्यतमम् ।

रसकलश

स्वामिनी तो हमारे कहे अनुसार चलती हैं । नाम उनका श्रीराधा है और उनके वाणी-व्यवहार में स्पष्टता है । चोर की साथिन कोई एक है और छिपी हुई है । जिसके लक्षण हैं वह कही गई बात को खूब समझती । हमें क्या मतलब कि किसी के कपट का पर्दा फाश करें ? श्रीहितसखी की यह उक्ति ठीक उसी प्रकार है जैसे राज-सभा से संबन्धित लोग अन्तःपुर में ही घुसे रहने वाले अपने राजा को लक्ष्य कर कहैं—'हमारा राजा तो चमर-छत्र धारण कर राज-सभा में बैठता है; वह जनखा नहीं जो हरम से बाहर ही नहीं निकलता ।' अतः पुनरुक्ति के डर से 'एकस्याः' का अर्थ अन्य कोई गोपी नहीं करना चाहिए । दक्षिण नायक जैसा यह खिलवाड़ भी उससे पूर्व का समझना चाहिए जब श्रीनन्द और श्रीवृषभानु के परिवार वैवाहिक सूत्र में बँधे थे । बाद में तो उसकी गन्ध तक नहीं रही । अतः इसे शुद्ध रूप से कौतुक ही समझना चाहिये । नहीं तो श्रीराधा की तथा अन्य गोपियों की श्रीकृष्ण के साथ समान रति अत्यन्त अनुचित कही जायगी । साहित्य-शास्त्रियों का कथन है—

'अनौचित्य के सिवा रस-भंग का कोई अन्य कारण नहीं है । प्रसिद्ध औचित्य के आधार पर की गई रचना रस का सर्वोत्कृष्ट साधन है ।'

या च व्रजनवतरुणिकदम्बमुकुटमणित्वख्यातेस्तासां पोषणं प्रकटलीला-सिद्धयर्थमेव कारितम्। अन्यथा तदसम्मतेर्नैव लीलान्तरसिद्धिः।

सिद्धान्तस्त्वयम्। श्रुतिमुनिरूपा गोप्योऽत्र व्रजे जाताः। तन्निरोधार्थं 'गोप्यः कामात्' रति, 'येन केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्' इत्यादि वाक्यम्। इमाः कामभावेन आप्तकामे आत्मारामे भगवति निरुद्धाः। तत्र 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति सत्यसंकल्पता नायकगुणः। स्वस्य राधारमणत्वेनऽनन्यमानुकूल्यं रसिकमौलित्वञ्चापरिहार्यम्। तदो-भयपाशरज्जुन्यायवत् संकटे तासां कामोद्बोधदानेनान्यविस्मृतिपूर्वं स्वस्मिन् मनो निरुद्धम् 'यथा—बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभन-नर्म्मनखाग्रपातैः' इत्युद्बोधो 'व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम्' इत्यत्र

रसकलश

बाहर से उन गोपियों को स्पर्श करने का उद्देश्य उनकी काम-प्रवृत्ति को रोक कर अपनी ओर मोड़ना था। गूढ़ अर्थ में लीला की अधिष्ठात्री की भी उसमें सहमति थी। इस सिद्धान्त के अनुसार कि युगल प्रेम-रस का अद्वय विग्रह है, प्रियाजी को धोखे में रख कर अन्य गोपियों में आसक्त होना प्रियतम के लिए अत्यन्त असंभव था। व्रज की नवयुवतियों के समूह की मुकुटमणि के रूप में प्रसिद्ध श्रीराधा गोपियों का पोषण प्रकट-लीला की सिद्धि के लिये ही करती थीं। यदि प्रियाजी की इसमें सहमति न होती, तो निकुंज-लीला के सिवा अन्य कोई लीला संभव ही नहीं होती।

सिद्धान्त यह है कि श्रुतियाँ और मुनिगण गोपियों के रूप में व्रज में उत्पन्न हुए। उनकी काम-वृत्ति के नियंत्रण के सम्बन्ध में कहा गया है—'गोपियों ने कामासक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण को प्राप्त किया', तथा 'जैसे भी बने तैसे मन को श्रीकृष्ण में लगाये इत्यादि। ये गोपियाँ कामासक्ति के द्वारा समस्त बाह्य विषयों से विरत होकर पूर्णकाम, आत्मकाम भगवान में एकनिष्ठ हो गईं। 'जो मुझे जिस भाव से भजते हैं, उन्हें मैं उसी रूप में अपनाता हूँ', इस प्रतिज्ञा का पालन करना नायक का गुण है। उधर श्रीकृष्ण राधारमण हैं, अतः प्रियाजी में उनकी अनन्य निष्ठा, उन्हीं की इच्छा का अनुसरण और रसिक शेखरता भी अनिवार्य है। इस प्रकार इधर कुँआ, उधर खाई के संकट की स्थिति में भी कृष्ण ने गोपियों के काम को जागृत कर उनके मन को अपने प्रति इस तरह समेट लिया कि गोपी-जनों की इतर विषयों की स्मृति लुप्त हो गई। श्रीमद्भागवत में कहा है—बाँहें फैला कर, आलिंगन कर, हाथ से केश, जंघा,

स्फुटीकृत एव । अत्र मूलेऽपि 'व्रजपुरे वीथीसु' इत्युक्तमेव । अतो वर्द्धनमेव, न पूर्तिरपेक्षिता । पूर्तौ त्वनौचित्यात् 'दुर्भगेदमयाचत' इतिवत् स्यात् । अतस्तन्मनोविगलितवेद्यान्तरानुवृत्तिरेव प्रयोजनम् । यथान्तर्धाने 'नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये' इति । किञ्च रसस्तु समानयोर्भवति, नोत्तमाधमेषु । अत एवोक्तम् 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' इति । आत्मा तु राधिका । तस्य तयैव रमणादसौ आत्माराम इति । अतः सातत्य-गमनान्निरुक्तेरपि । अतस्तस्यामेव सुष्ठु रतस्य भावो दाम्पत्यार्हक्रीडनं न्यस्तमित्यर्थः । यथा चोक्तमेव—'निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते ।' इत्यसाधारण्यां स्वीयायामेव रमणौचित्यम् । यथा चतुर-शीतिपदेषु—'उचित जुवतिजन पायौ' इति हि । एवं निरुद्धा गोप्यः पश्चात्

रसकलश

नीवी और स्तनों का मर्दन कर, मृदूक्तियों तथा नखाघातों से (श्रीकृष्ण ने गोपियों के काम को जागृत किया)' । 'व्रजपुर की स्त्रियों के काम को बढ़ाते हुए'—एतदर्थक पद्य द्वारा भी इसी का स्पष्टी करण किया गया है । प्रस्तुत मूल पद्य में कहा ही है—'व्रजपुर की गलियों में ।' फलितार्थ यह है कि श्रीकृष्ण ने गोपियों की काम-वासना को उद्दीप्त मात्र किया, उसकी पूर्ति करना नहीं चाहा । पूर्ति करने में तो अनुचित होने के कारण, गोपियों के सम्बन्ध में भी वही बात कही जाती जैसे कि 'दुश्चरित्रा ने यह याचना की ।.अतः गोपियों के मन में से, सिवा श्रीकृष्ण के, अन्य समस्त ज्ञानों का लोप कर देना ही उद्देश्य था । रासक्रीड़ा के प्रसंग में भगवान् एक बार अन्तधनि होकर पुनः गोपियों को दर्शन देते हुए कहते है—'हे सखियो ! मैं उन लोगों में एक भी नहीं हूँ (जो स्वार्थ से प्रेरित होकर एक-दूसरे को भजते हैं, (२) जो माता-पिता की तरह पराङ्मुख पुत्रों से भी स्नेह करते हैं और (३) जो भजने वालों को भी नहीं भजते हैं । मैं तो परम कारुणिक और सुहृद हूँ । अतः इन भजने वालों में निरन्तर ध्यान-प्रवृत्ति जागृत करने के लिए मैं उन्हें भजता हूँ ।'[1] दूसरी बात यह है कि रस तो समानों में ही निष्पन्न होता है, न कि उत्तम, मध्यम और अधम के बीच । इसलिये कहा है—'अपनी आत्मा में काम-वृत्ति को रोक कर ।'[2] इस उद्धरण में आत्मा शब्द का अर्थ श्रीराधा है । श्रीकृष्ण उसी राधा-रूप आत्मा के साथ रमण करते हैं, अतएव उन्हें 'आत्माराम' कहा गया है । निर्वचन के अनुसार 'सौरतम्' का अर्थ भी निरन्तर गमन (रति) करना है (और रति का यह नैरन्तर्य श्रीराधा के साथ ही संभव है ।) भलीभाँति आसक्त होने

१. श्रीमद्भागवत—१०।२३।२०
२. श्रीमद्भागवत—१०।३३।२६

प्रियासाहित्यदर्शनरसप्राप्त्या स्वकामभावं न्यक्कृत्य तस्या दास्यलिप्सव उत्तरदशायां दास्यो जाताः। पूर्वं प्रियस्यैकविग्रहदर्शनेन सकामा अभवन्निति विवेकःपद्मादौ कृष्णोपनिषदि च स्फुटीकृत एव। अत्रैव चोक्तम्—'आधाय मूर्द्धनि यदापुरुदारगोप्यः' इति। अत्र तत्पदरेणुप्रसादैकलभ्ये तद्दास्यलीले उक्ते, इति ज्ञेयम्। अन्यच्च तासां व्रजपुरप्राकट्ये नित्यपरिकराविर्भावस्थसंवलनं जातम्। तत्रानभिज्ञानां रससाङ्कर्यं जातं, मुख्यायां तत्साम्यवद्भानञ्च। इत्यतः स्वसिद्धान्ते भिन्नेऽपि व्रजपुरापेक्षया यद्यल्लोके प्रसिद्धं गोपीजनक्रीडनादि तादृशोक्तिपूर्वकं विविच्य स्वरसोत्कर्षवर्णनं कृतम्। यच्च स्वरसच्छटादानं, तत्तासां स्वप्राणविषयिकासक्तिं प्रति प्रसह्य कृतम्। तेनैवासां प्रेमध्वजोद्घोषो लोके जातः। प्रियस्यापि वसनाकर्षणस्पर्शरासादि

रसकलश

का भाव, अर्थात् दम्पति के योग्य क्रीडा का आधार भी श्रीराधा ही हैं—यह अर्थ है। जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा भी है—'जिनकी समस्त उपमाएँ बहुत दूर फेंकी जा चुकी हैं, अर्थात् अतिशय रूप से अनुपमेय श्रीराधा के साथ अपने ब्रह्मस्वरूप धाम (श्रीवृन्दावन) में क्रीड़ा करने वाले श्रीकृष्ण को नमस्कार।' इसके अनुसार असाधारण स्वीया श्रीराधा में ही रमण उचित है। श्रीहितचतुरासी के एक पद (३६) में कहा है—'उचित जुवति जन पायौ।' अर्थात् रास के प्रसंग में सभी सखियों ने अपने-अपने अधिकार के अनुसार उतना ही आलिंग, चुंवन प्राप्त किया जितना कि उचित था—औचिती की सीमा से बाहर नहीं। इस प्रकार श्रीकृष्ण के अनुराग के प्रति तदितर विषयों से रोकी गईं गोपियों ने जब निकुंज, किंकरीगण आदि विहार के साहित्य को देखा, तो निजी काम-भावना को एक तरफ हटा कर उनकी दासी बनने की इच्छा करने लगीं और कालान्तर में उन्हें वह पद प्राप्त हो गया। यहाँ समझने की बात यह है कि पहले केवल श्रीकृष्ण का ही एक विग्रह देख कर वे कामासक्त हो गई थीं। इसका स्पष्टीकरण पद्मपुराण, कृष्णोपनिषद् आदि में हुआ है। श्रीराधासुधानिधि में भी कहा है—'जिस चरणधूलि को सिर पर रख कर उदार गोपीजन प्रियगुणों के साथ श्रीश्यामसुन्दर के कमनीय चरणों को प्राप्त कर गईं। इस पद्य का भावार्थ यही है कि श्रीराधा की चरणरेणु की कृपा से ही गोपियों को राधा-दास्य और प्रियतम-सम्बन्धिनी लीलाओं का लाभ हुआ था। दूसरी बात यह कि श्रुति-मुनि रूप इन गोपियों के व्रज में प्रकट होने पर इनके व्यक्तित्व में नित्य परिकर भाव का भी संमिश्रण हो गया। नासमझों के लिये इतने मात्र से ही (व्रजलीला-रस के साथ निकुंज-लीलारस का) सांकर्य हो गया और श्रीराधिका के सम्बन्ध में यह भ्रान्ति हो गई कि उनका पद भी अन्य गोपियों के

तच्छटासम्बन्धेनैव । सर्वसमक्षं तत्पदलुण्ठनं तिरोधानान्तरसिद्धिदानार्थं, स्वपूर्णासक्तरसिकानन्यानुकूलत्वादिज्ञापनार्थम्, पश्यन्तीस्वन्यासु स्वासक्त्याभावरसाभासबोधनार्थञ्चेति । किञ्च 'पूर्णानुरागरससागरसारमूर्तिः सा राधिकेति लक्षणस्य 'यत्पादमे'-ति पद्य एवोक्तत्वात् पूर्णयोरेव साम्यरसौचित्यं ज्ञेयम् । इत्यलं विस्तरेण ।।२३३।।

एवं नैमित्तिकप्रकट लीलामुक्त्वा स्वभोगोचित नित्यरहः कुञ्जलीलामाह—'प्रियांसे' त्यादि द्वाभ्याम्—

प्रियांसे निक्षिप्तोत्पुलकभुजदण्डः क्वचिदपि
भ्रमन्वृन्दारण्ये मदकलकरीन्द्राद्भुतगतिः ।

रसकलश

समान है। इसलिए अपना सिद्धान्त भिन्न होने पर भी व्रज-सम्बन्धित दृष्टिकोण से सर्वसाधारण में श्रीकृष्ण की गोपियों के साथ क्रीड़ा आदि की जो कथायें प्रचलित हैं, उनका उसी रूप में वर्णन कर श्रीहितसखी ने अपने रस के उत्कर्ष का प्रतिपादन किया है। श्रीराधा ने गोपियों को अपने रस की छटा का एक अंश जो दिया, वह अपने प्राण-प्यारे श्रीकृष्ण के प्रति उनकी आसक्ति से प्रसन्न होकर ही दिया। उसी छटा को पाकर संसार में यह ख्याति फैल गई कि गोपियाँ प्रेम की ध्वजा हैं। प्रियतम ने गोपियों के जो वस्त्र खींचे, उनका स्पर्श किया और उनके साथ रास किया, वह भी श्रीराधा के चरण-कमलों की छटा के सम्बन्ध से ही सब के देखते हुए श्रीराधा के चरणों में लोटना अन्तर्धान होने के बाद सिद्धि प्रदान करने के लिए था और यह बताने के लिए कि जो रसिकजन सम्पूर्णभाव से मुझ में रति रखते हैं उनकी मेरे प्रति वैसी ही अनन्य निष्ठा होनी चाहिये और उन्हें उसी प्रकार मेरे अनुकूल रहना चाहिये जैसे कि मैं श्रीराधिका के प्रति हूँ। सखियों के देखते हुए प्रियाजी के चरणों में लोट कर श्रीकृष्ण ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि गोपियों में उनकी कोई आसक्ति नहीं है और उनके साथ की गई क्रीड़ाओं में प्रणय-रस का आभास मात्र ही परिलक्षित होता है। वास्तविक रस तो उन्हें प्रियाजी के चरणों में मिलता है। इसके अतिरिक्त 'यत्पादपद्म' पद्य (१०) में 'परिपूर्ण प्रेमस्वरूप और श्रृंगार-रस सागर की सारमूर्ति' कहा है। दोनों पक्षों के स्वसंपूर्ण और समान होने पर ही उचित रस की निष्पत्ति होती है, यह समझ लेना चाहिए। इस विषय का अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं ।।२३३।।

इस प्रकार नैमित्तिक प्रकट-लीला का वर्णन करने के उपरान्त अपने भोग के योग्य नित्य एकान्त कुंज-लीला का वर्णन करते हैं—

निजां व्यञ्जन्नत्यद्भुतसुरतशिक्षां क्वचिदहो
रहः कुञ्जे गुञ्जाध्वनितमधुपे क्रीडति हरिः
॥२३४॥

'प्रिये'—त्यादिविशिष्टो हरिः क्वचिदपि वृन्दारण्ये भ्रमन् क्रीडति। क्वचिदहो ! रहःकुञ्जे निजामत्यद्भुतसुरतशिक्षां व्यञ्जन् क्रीडतीति सम्बन्धः। प्रियायाः पूर्णरसौचित्यप्रियतर्प्पकायाः अंसे, तादृक्स्वाश्रयदानेन निश्चिन्तकारके निक्षिप्तो न्यस्त सविश्रम्भनिधिन्यासत्वव्यञ्जकः। उदधिकं भवन्तः पुलका यत्रेति स्वहृदयाकर्षणपूर्वककामौत्सुक्यजरोमाञ्च-विषयो, नतु पुलकित इत्येवाश्रयौचित्यात्। पूर्वमन्यापक्षे तूत्पुलकिताम्। अत्र स्वस्येति कियान् भेदः सहृदयबोध्यः। तादृशो भुजदण्डो यस्य। भुजो कौटिल्यार्थेतु मम कौटिल्यनिर्वाहिका त्वमेव। किञ्च पोष्टरि पोष्यपोषण

रसकलश

'कहीं प्रियाजी के कन्धे पर रोमांचित भुजा को डाले मदोन्मत्त गजराज की तरह सुन्दर गति से वृन्दावन में घूमते-फिरते हैं और कहीं, अहो !, अपनी विलक्षण सुरत-शिक्षा को प्रकट करते हुए भ्रमरों के गुंजार से युक्त निभृत कुंज में श्रीहरि क्रीड़ा करते हैं' ॥२३४॥

प्रियाजी के कन्धे पर भुजा रक्खे हुए—इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट श्रीहरि कहीं श्रीवृन्दावन में विचरण करते हुए विहार करते हैं। अहो ! किसी एकान्त कुंज में अत्यन्त आश्चर्यजनक अपनी सुरत-शिक्षा को प्रकट करते हुए क्रीड़ा करते हैं—यह अन्वय है। पूर्ण और अपेक्षित रस-दान द्वारा प्रियतम को तृप्त करने वाली प्रियतमा के कन्धे पर, जो अपना सहारा देकर प्रियतम को चिन्ता मुक्त कर देता है, हाथ रख कर। 'निक्षिप्त' अर्थात् रक्खा हुआ। इससे यह ध्वनि निकलती है कि जैसे कोई अपने सर्व-स्व को किसी विश्वासी के यहाँ धरोहर (निक्षेप) रख देता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने प्रियाजी के कन्धे को परम विश्वसनीय आश्रय मानकर हाथ को रक्खा था प्रियतम की भुजा में रोमांचों का आधिक्य था। रोमांच दो कारणों से हुआ था, एक तो प्रियाजी की तरफ उनका हृदय खिंच गया, दूसरे काम विषयक उत्कण्ठा भी जागृत हो गई थी। भुजा केवल रोमांचित ही नहीं थी, बल्कि समुचित आश्रय पाकर रोमांचों से युक्त हो गई थी। इससे पूर्व के पद्य में श्रीकृष्ण ने किसी गोपी की रोमांचित भुज-लता पकड़ी थी। यहाँ उनकी स्वयं की भुजा में रोमोद्गम हो रहा था। यह कितना बड़ा अन्तर है।

दण्डः ख्यातो नापूर्वः, इति व्यंग्यान्तरबोधनम्। पालनार्थे पाल्यपालनदण्डो, भोगे तु भोग्यभोजनस्येत्यपि ध्येयम्। अर्थस्तु स्पष्ट एव। तादात्विकोभय शोभा दर्शनीयैवेति परमानन्दितहृर्दयेन सखी वक्तीति ज्ञेयम्।

गतिवैशिष्टचमाह—सकलोत्तमलक्षणवैशिष्टच मिन्द्रत्वम् करिशब्देन किञ्चित् शुण्डावदुभयकरलोल्यं ज्ञेयम्। मदेन कामजेन प्रेमजेन च कलोन्मत्त-स्तदानीं दर्शनीय एवेति दृङ्मनोहरणशीलः। तादृशो गजराजः। तद्वद्वा तस्मादप्यद्भुता सवैलक्षण्यमनोहर्त्री गतिर्गमनं यस्येति। प्रियायाश्चानुक्तमपि मन्तकरिणीत्वं बोध्यम्। यथा 'करीन्द्रवनसम्मिलन्-मदकरिण्युदारक्रमे—

रसकलश

केवल सहृदय ही इसे समझ सकते हैं। ऐसी भुजा थी श्रीकृष्ण की। 'भुज्' धातु के (जिससे 'भुजा' शब्द निष्पन्न होता है) तीन अर्थ हैं—(१) भोगना, (२) भोजन और (३) और किसी वस्तु को झुकाना (उसमें कुटिलता, वक्रता पैदा करना। यहाँ 'भुजा' शब्द को कुटिलता के अर्थ में लिया जाय, तो व्यंग्यार्थ होगा कि मेरे (श्रीकृष्ण) जैसे कुटिल व्यक्ति को आप (श्रीराधा) ही निवाह सकती हैं। दूसरे यह कि जो पालन करने वाला होता है उसे पालन करने का दण्ड भोगना पड़ता है, यह बात प्रसिद्ध हैं तथा अनोखी नहीं है। यह एक दूसरा व्यंग्य निकलता है। 'भुज्' धातु का अर्थ यदि रक्षा करना माना जाय, (जैसे 'राज्यं न्यासमिवाभुनक्', इस उदाहरण में, तो रक्षा करने का दंड रक्षक को मिलता है। भोग करने के अर्थ में भोग्य वस्तु और उसके भाग का दंड भोक्ता को मिलता है, यह सब भी समझ लेना चाहिये। अर्थ तो स्पष्ट ही है। उस समय की दोनों की शोभा देखते ही बनती थी, यह अत्यन्त, आनन्दित हृदय से सखी कहती है।

अब श्रीकृष्ण की विशिष्ट चाल का वर्णन करते हैं—समस्त श्रेष्ठ गुणों से विशिष्ट व्यक्ति को 'इन्द्र' कहते हैं। 'करि' से यह सूचित किया गया है कि हाथी जैसे अपनी सूँड़ को हिलाता हुआ चलता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी दोनों भुजाओं को हिलाते चलते थे। काम (श्रीकृष्ण-पक्ष में प्रेम) से उन्मत्त मद से मस्त, दर्शनीय और दृष्टि और मन को आकर्षित करने वाले गजराज के समान अथवा उससे भी कहीं बढ़ कर अपनी विलक्षणता से मन को आकर्षित करने वाली उनकी गति थी। प्रियाजी के सम्बन्ध में यह नहीं कहा गया है कि वे मस्त हथिनी के समान दिखती थीं, तथापि ऐसा समझ लेना चाहिये। कहा भी है—'वन में गजराज से मिल कर मस्त बनीं हथिनी की जैसी उदार चाल से युक्त (श्रीराधा थीं)।' यहाँ भी पूर्व की तरह यह समझ लेना चाहिए कि गति के सौन्दर्य को देख कर उसका वर्णन करने वाली श्रीहितसखी के हृदय

त्युक्तेः । अत्रापि गतिदर्शनीयताया वक्तृसुखातिशयजनकत्वं पूर्ववत् । अत एव 'हरि' — रिति तद्रीत्या मनोहर एव । गजजातेः कामातिशयश्रुतेरत्र तस्या अप्यद्भुतत्वम् । क्व शोभातिशय एतादृक् ? क्व रूपलावण्यादिसौष्ठव मित्यादि ।

'क्वचिदपि' इति—वृन्दाया अरण्ये निर्जनप्राये तयैव वनाधिकारिण्या देव्या तत्र यत्र परमसौष्ठवेन वृक्षजलस्थलाद्यनन्तनानास्थानं सर्वं संस्कृत्यैव रक्षितं, यतः क्वचित् कदाचिदुभय आगच्छेत्तदा यथेष्टमक्लिष्टं यथावत् सर्वर्तुसुखमनुभूय विहरेदित्याशयेन परिष्कृतेषु श्रीयमुनातीरबद्धाबद्धतीर्थोपत्यकासरण्युभयतो नमितपुष्पफलपल्लवजातीयद्रुमगुल्मभिन्नपदवीमध्यचतुष्कवीथ्यन्तरेषु भ्रमरकोटिकलहंसकलरवकेकिशुकसारिकादात्यूहतित्तिरचटकादीनामुत्तमनानावर्णजातिवाग्वैभवसुरूपाणां क्रीडाजिरेषु

रसकलश

को अत्यन्त सुख मिल रहा था । अत एव उन्हें 'हरि' कहा गया है । अर्थात् इस प्रकार झूम-झूम कर चलते हुए वे मन को हरण करते थे । जैसा कि सुना जाता है, हाथी-जाति में काम की प्रवलता होती है । इसके अनुसार प्रियाजी भी बड़ी अद्भुत दिख रही थी । कहाँ है ऐसी शोभा ? कहाँ है रूप, लावण्य गुण आदि का ऐसा सौन्दर्य ?

'क्वचिदपि' इत्यादि की व्याख्या करते हैं—कहीं वृन्दावन के सुनसान-से दिखने वाले वन में, जहाँ वन की अधिष्ठात्री उसी देबी ने स्थान-स्थान पर बड़ी सुघराई के साथ, वृक्ष, जल-थल आदि के अनन्त और विविध स्थानों को पूरी तरह से साफ-सुथरा कर सुरक्षित रक्खा है, ताकि यदि कभी, किसी स्थान पर दोनों (युगल) उधर आ निकलें, तो बिना किसी आयास के, यथेष्ट रूप से और विधिवत् सब ऋतुओं का आनन्द लेते हुए विहार करें । इसी आशय से उन-उन स्थानों का परिष्कार किया गया था—जैसे श्रीयमुना के किनारे के बने—अधवने घाट, घाटों के पास से जाते हुए मार्ग, उनके दोनों ओर झुकें हुए फूल-फल वाले वृक्ष और झाड़ियों के कारण छिटकते हुए मार्ग, उनके बीच में के चौराहे, गलियों के अन्दरूनीं भाग, करोड़ों भौरों और उत्कृष्ट जाति के हंसों के मधुर शब्द से गुंजायमान, तथा मोर, तोता, मैना कालकंटक, तीतर, गौरिल्ला आदि एक से एक बढिया, रंग-बिरंगे, उत्तम जाति के चहचहाते और सुन्दर पक्षियों की क्रीड़ा के लिये निर्मित आँगन, तथा कोमल चरणों द्वारा गमन करने योग्य स्थल । 'क्वचित्' से ऐसे ही स्थानों का तात्पर्य है । 'क्वचित्' शब्द के उत्तरवर्ती 'अपि' से यह सूचित होता है कि ये स्थल फूलों से छाये हुए वृक्ष और लताओं से घिरे हुए थे

मृदुपदविहरणयोग्यप्रसिद्धस्थलेषु तु 'क्वचित्'–पदम् । 'अपि'–शब्देन पुष्प-पुञ्जावृततरुलतया सखीसङ्गाभावेन चापरिचिद्वद्भासमानत्वं स्थलस्येति द्योत्यते । यद्वा 'भ्रमन्नपि' इति सम्बन्धः । क्वचित् पक्षिभिः, क्वचित् पुष्पगुच्छैः, फलैर्विलक्षणवर्णनीत्यादिदर्शनबोधनैस्तरुवल्लीवेष्टनोद्दीप्त-चुम्बनालिङ्गनादिभिश्च क्रीडतीति भ्रमणेऽपि क्रीडनमिदं ज्ञेयम् ।

अथ क्वचिच्चि विलास्युचितसतल्पासनास्तृत हर्म्यवल्लतानिर्मित कुञ्जनिकुञ्जाख्यदेशे । 'अहो' इति स्वाभीष्टतम नित्यस्थायिरसवार्तास्मरण परितोषाद् भाग्यमननपूर्वकाश्चार्यं रहः कुञ्जे, निभृतकुञ्जे इत्यर्थः । तत्र परितो बृहद्वञ्जुलतरुलतावृतविपुलदेशः कुञ्जो वप्रवत् । तन्मध्ये विविध स्थानान्तराजिरादिमयो निकुञ्जोऽवरोधवत् । तन्मध्ये च दम्पत्येकशय्या-विहारोचितो निभृत इति शयनीयरङ्ग हर्म्यवत् । तत्र प्रबोधानन्दैरप्युक्तम्–

रसकलश

और साथ में वहाँ कोई सखी न थी, इसलिए अपरिचित-से प्रतीत हो रहे थे। अथवा 'अपि' का 'क्वचित्' से सम्बन्ध न लगा कर 'भ्रमन्' से लगाया जाय (भ्रमन् अपि), तो अर्थ होगा—कहीं फूलों के गुच्छों को देख कर, कहीं अद्भुत रंग, रीति आदि के कारण दर्शनीय वृक्ष और लताओं के परस्पर लिपटने के दृश्य अंश उद्दीप्त चुंबन, आलिंगन करते हुए युगल क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार घूमते हुए वे विहार करते हैं।

कहीं लताओं से बनाये गए तथा कुंज-निकुंज कहलाने वाले एकान्त स्थानों में भ्रमण करते हैं। ये स्थान विलासी जनों के योग्य पलंग और आसन बिछे हुए राज-भवनों के अन्तः पुरों की तरह दिखाई देते हैं। 'अहो' से आश्चर्य का बोध होता है। इन कुंजों में होने वाली, अपने को अत्यन्त अभीष्ट, सार्वकालिक, स्थायी और नित्य रस से परिपूर्ण बातचीत का जब श्रीकृष्ण को स्मरण हुआ, तो उनके हृदय क महान् संतोष हुआ और उन्होंने अपने को परम सौभाग्यशाली माना—इतना कि उन्हें आश्चर्य होने लगा कि मैं इतना भाग्यवान् भी हो तकता हूँ। तो ऐसे गुप्त कुंजों में श्रीहरि क्रीड़ा करते हैं। (कुंज और निकुंज का अन्तर स्पष्ट करते हैं—) वन के चारों तरफ, परकोटा की तरह, बड़े-बड़े सरकंडों एवं वृक्ष-वल्लरियों से घिरा हुआ प्रशस्त प्रदेश है। "कुंज' शब्द से यही मतलब है। उस कुंज के बीचो बीच अनेक प्रकार के स्थानों के मध्य में प्रांगण आदि बने हैं जिन्हें कि 'निकुंज' कहना चाहिये। ये अन्तःपुर के समान हैं। निकुंज के मध्य में दम्पति के एक शय्या पर बिहार करने योग्य एकान्त-स्थल है जो कि राजों के अन्तःपुर के शयन-कक्ष की तरह है। श्री प्रबोधानन्द ने कहा है—'दंपति-

'एकं सख्यापि नो लक्षितम्' इत्यादिना क्वचित्सखीगतिः क्वचिन्नेत्यपि हितालीसम्मतमेवेति बोध्यम् ।

'सुरत इति'—ऐश्वर्ये तु वात्स्यायनादेरपि कारणरूपा तदीयसुरत शिक्षा स्फुटैव । यथोक्तं नारदपञ्चरात्रे दशमपटले— 'वात्स्यायनादि विज्ञात शृंगारलहरीभरः' इति नामोक्तेः । तत्र महाभोगिनां देवादीनां तद्रहस्य-विवेचनवतां सिद्धादीनामप्याश्चर्यबोधकत्वमद्भुतत्वम् । तत्रापि शिवादी-नामपि मोहकास्वादजनकत्वादत्युद्भुतत्वम् । तत्रापि स्वस्यैव रूपान्तरेषु द्वारिकाधीशलक्ष्मीशादिषु वैलक्षण्योद्बोधकत्वं 'निज' इति पदेन व्यक्तम् ।

रसकलश

मिलन का एक वह रूप है जिसे कोई सखी भी नहीं देख सकती ।"[1] कहीं सखी का प्रवेश हो सकता है, कहीं नहीं । यही मत श्रीहितसखी का समझना चाहिए ।

'सुरतशिक्षाम्' की व्याख्या करते हैं । ऐश्वर्य-पक्ष में तो स्पष्ट है कि वात्स्यायन आदि को भी श्रीकृष्ण के कारण ही काम-शास्त्र का ज्ञान हुआ था । नारदपंचरात्र के दशम पटल में श्रीकृष्ण के एक नाम का उल्लेख है जिसका अर्थ यह है कि 'श्रीकृष्ण विषयक काम-भावना की तरंगों का अनुभव कर वात्स्यायन आदि कामशास्त्र से परिचित हुए । श्रीकृष्ण की सुरत-शिक्षा अद्भुत इस अर्थ में है कि परम विलासी देवगण आदि तथा उसके रहस्य की छानबीन करनें वाले सिद्ध आदिकों को भी वह आश्चर्यजनक लगती है । उनमें भी शिव-जैसे तो उसे देख कर इतना मोहित हो गये और उन्हें ऐसा आस्वाद मिला कि इस दृष्टि से सुरत-शिक्षा को अद्भुत ही नहीं, परम अद्भुत कहना चाहिये । 'निज' से तात्पर्य यह है कि निकुंज-लीला में दृश्यमान सुरत-शिक्षा को दृष्टि में रखते हुए भी द्वारिकाधीश, विष्णु आदि के विभिन्न रूपों में स्वयं श्रीकृष्ण को वह अत्यन्त विलक्षण लगती है । इससे श्रीहितसखी का मन्तव्य यह कि सबको संकोच पैदा करने वाली होते हुए भी उनकी सुरत-लीला

---

१. पूरा पद्य इस प्रकार है—

एकं सख्यापि नो लक्षितमुरसि लसन्नित्यतादात्म्यकान्तं
तद् दृश्यं दूरतोऽन्यद्व्रततिनवगृहेऽन्यत्तु तन्नर्मशर्म ।
अन्यद्वृन्दावनान्तर्विहरदथपरं गोकुले प्राप्तयोगम्
विच्छेद्यं यत्तदेवं लसति बहुविधं राधिकाकृष्णरूपम् ॥२॥३४

अर्थ—श्रीराधिका-कृष्ण के रूप को कई प्रकार से विभक्त रूप में देखा जा सकता है । एक रूप वह है जिसमें दोनों एक दूसरे के गाढ़ आलिंगन में एकरस होकर सुशोभित होते हैं । इस रूप को सखियां नहीं देख सकतीं । यह केवल दूर से ही देखा जा सकता है । दूसरा वह है जो लतानिर्मित नवीन भवन में विराजता है, तीसरा वह जो परिहासयुक्त मंडलकारी आलाप-सलाप में व्यस्त रहता है, चौथा वह जो वृन्दावन में विहार करता है, पाँचवा वह जिसका मिलन संयोग से गोकुल में होता है ।

अनेन सर्वक्षोभोत्पादनख्यातापि तस्य सुरतलीला ब्रह्मभगवदानन्दोपरिचर-तया सर्वध्येयेत्युक्ता ।

माधुर्ये च सुरतशिक्षा स्फुटैव । पूर्ववैलक्षण्यात् सख्याश्चर्यकृद्भुतत्वम् । प्रियाया अपि आश्चर्यजनकमत्यद्भुतत्वम् । तत्रापि सा चतुरशिरोमणिरपि तत्कलाव्यामोहवञ्चनान्तरज्ञाने शिरोधुन्वाना किमिद चातुर्य्यं कृतमिति वदेत् । तादृशाप्रसिद्धनवीनकलोत्पादनं निजत्वम् । तादृशविद्यां व्यक्तीकुर्वन् प्रकटयन्नित्यर्थः ।

यद्वाभिधया स्फुटवाच्यार्थमय्या क्रियया-विद्याशिक्षणं कनिष्ठकौशलम् । लक्षणया सम्बन्धान्तरकल्पनरूपया मध्यस्थम् । ध्वनिरूपयोत्तमत्वम् । तत्र दम्पत्योश्चातुर्यं सममेव तेन प्रियस्तां प्रति व्यञ्जकवाक् क्रियाङ्गितैरव सुरत-विद्योपादानं करोति सापि तन्मर्मज्ञानुक्ताप्यलक्षितापि तत्तकलां करोतीति ज्ञेयम् । अनेन ज्ञानेऽपि तत्प्रयोज्यतया करणेनाप्तकामता वाम्यता प्रभुत्वादि

रसकलश

का रस ब्रह्मानन्द, भगवदानन्द आदि सबके ऊपर है और इसीलिए सबको उसका ध्यान करना चाहिए।

माधुर्य-पक्ष में सुरत-शिक्षा स्पष्ट ही है। पहले देखी गई शिक्षा से यह विलक्षण है, अतः इसकी अद्भुतता सखी को आश्चर्य में डालने वाली है। प्रियाजी को भी यह आश्चर्यजनक लगती है। वह स्वयं चतुरशिरोमणि हैं, फिर भी प्रियतम की कला से दिग्भ्रान्त-सी होकर ठगाई में आजाती हैं। बाद में जब होश आता है, तो सिर पीटती हुई कहती हैं—'अरे ! इन्होंने कैसी चतुराई खेली है !' इस प्रकार की अदृष्टपूर्व, अननुभूत और असाधारण कला को जन्म देना ही सुरत-शिक्षा का निजत्व है। इस प्रकार की विद्या (कौशल) को प्रकट करते हुए (श्रीकृष्ण)—यह अर्थ है।

अथवा अभिधा द्वारा जिसमें कोई बात विना लाग-लपेट या व्यंग्य के साफ-साफ कही जाती है, किसी विद्या को सीखना निम्न श्रेणी की कला है, मध्य श्रेणी का कला-शिक्षण वह है जिसमें शब्द की लक्षणा-शक्ति द्वारा किसी दूसरे सम्बन्ध की कल्पना कर शिक्षण प्राप्त किया जाय। ध्वनि रूप व्यंजना द्वारा प्राप्त शिक्षा सर्वोत्तम है। अब दंपति का चातुर्य एक बराबर है। अतः प्रियतम उन्हें लक्ष्य बनाकर कही गई व्यंजनात्मक वाणी, क्रिया और हार्दिक मनोभावों द्वारा ही सुरत—कला का ज्ञान उपार्जित करते हैं। प्रियाजी भी प्रियतम के मर्म को पहिचानती हैं, अतः बिना कहे, बिना देखे ही विविध कलाओं का प्रयोग करती हैं—यह ज्ञातव्य है। इससे यह सूचितःकिया गया है कि प्रियतम-

शील ध्रौव्यं दर्शितम्। प्रियस्य कर्तृत्वेन कन्दर्पोपत्तरलत्वं, साभिलाषित्व-भोक्तृत्वसमर्थविद्वत्तादिनायकगुणाः बोधिताः। क्रीडाकर्तृत्वभारोऽपि सुकुमार्यां नापेक्षित इति विगलितवेद्यान्तरतापि भोग्यरसस्य पोषिता च। सख्योऽपि तत्परिपाटीपठननिपुणा स्तत्तद्सर्वं ज्ञात्वैव व्यञ्जन्निति वदन्ति, न विमुह्यतीति ज्ञेयम्।। अत्र कथं व्यंग्यान्तरव्यञ्जनमुच्यतामिति पृच्छयते चेत् सहृदयैस्तत्कृपास्पदैरेव वेद्यम्। मात्र मन्मनोगतिः। मयात्वङ्गुलि निर्देशेनैव निर्दिष्टम्, न विवेक्तुं शक्यम्। त एव याच्या इति दिक्।

पूर्वं ब्रजपुरलीलायां कामोद्बोध एवोक्तः। अत्र निजोचित सुरतशिक्षा-व्यञ्जनमित्याभासरसयोर्भेदः स्फुट एवोक्तो ज्ञेयः।

सखीगत्यभावरूप कुञ्जरहस्यमाह—गुञ्जेन स्वजातीयगुञ्जिताख्य शब्देन ध्वनिताः शब्दिता मधुपा यत्रेति। अत्र कुञ्जे पुष्पसौरभमध्वासव

रसकलश

विषयक ज्ञान के प्रति भी प्रियाजी साधिका हैं जिससे उनकी आत्मकामता, वामता, प्रभुत्व आदि निश्चित स्वभाव का पता लगता है और प्रिय चूँकि कर्ता हैं, अतः उनके भी नायक सुलभ विशिष्ट गुणों का एतद्द्वारा निर्देश किया गया है—जैसे कामवृत्ति से चंचल रहना, अभिलाषापूर्ण होना, भोक्तृत्व, समर्थ विद्वत्ता आदि। सुकुमारी होने के कारण श्रीराधा से कर्तृत्व का भार वहन करने की भी कोई अपेक्षा नहीं रक्खी गई है और इस बात को पुष्ट किया गया है कि भोग्य रस के आस्वाद के क्षणों में अन्य सब विषयों की स्मृति जाति रहती है। सखियाँ उनकी शैली को पकड़ने में निपुण हैं, अतः सब कुछ जानते हुए भी यही कहती हैं प्रियतम व्यंजना द्वारा अपनी सुरत-कला को प्रकट करते हैं और वे स्वयं भ्रान्ति नहीं फैलातीं। यहाँ पूछा जा सकता है कि एक व्यंजना से दूसरी व्यंजना की उत्पत्ति कैसे हुई? (शंका यह है कि पहले तो प्रियतम वाणी, क्रिया आदि की व्यंजना द्वारा सुरत-शिक्षा अर्जित करते हैं और फिर उसे व्यंजना द्वारा प्रकट करते हैं—ये दो व्यंग्यार्थ कैसे संभव हैं?) इस पर श्री हितसखी कहती हैं कि यह सब तो स्वामिनी जी के कृपा पात्र सहृदय ही जान सकते हैं। मेरे मन की गति वहाँ तक नहीं है। मैंने तो संकेत मात्र किया है। विश्लेषण करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। इसके लिये तो उन सहृदय भक्तों से ही प्रार्थना करनी चाहिये। संक्षेप मे इतना ही पर्याप्त है।

पूर्व पद्य में व्रज-लीला के वर्णन के प्रसंग में गोपियो में काम-वृत्ति को जागृत करने की बात कही थी। प्रस्तुत पद्य में अपने योग्य सुरत-शिक्षा की व्यंजना की गई है। इस प्रकार रसाभास और रस का अन्तर यहाँ स्पष्ट किया गया है।

अब उस कुंज के रहस्य को बताते हैं जो सखियों की पहुँच के बाहर हैं। यह निभृत कुंज अपनी विशिष्ट गुंजार करते हुए भौरों से शब्दायमान है। 'मधुप' शब्द से

बाहुल्यं मधुपशब्देन बोध्यते। अतएव विस्मृतान्यकरणीया मत्ताभृङ्गास्तत्र गायका इति हि। दम्पत्यपि तन्मदोन्मत्तौ ज्ञेयौ। किञ्च 'समानशील व्यसनेषु सख्यम्' इति स्वभोग्यबुद्ध्योचितरसग्राहका एतेऽनवरुद्धाः स्वतंत्रा गुञ्जन्ति। तद्दृष्ट्वा तावपि निःशङ्कं हासनर्मकथालापमणितमंजीरशिञ्जितादिना रहः क्रीडत, इति भावः॥२३४॥

एवं स्वप्रियया सह रहोवनविहारशय्याविहारावुक्तौ। इदानीमैश्वर्य माधुर्यान्तरवशेन प्रियस्यापि कुंजद्वाराद् बहिर्गमनं वेद्यान्तरस्फूर्तिञ्च विगलयन् स्वरसं सिद्धान्तयति-

दूरे सृष्ट्यादिवार्ता न कलयति मनाङ्नारदादीन् स्वभक्तान्।
श्रीदामाद्यैस्सुहृद्भिर्न मिलति च हरेत् स्नेहवृद्धिं स्वपित्रोः।

रसकलश

सूचित होता है कि प्रस्तुत कुंज में फूलों की महक, मधु और आसव की प्रचुरता थी। इसीलिये सब कुछ भूल कर मस्त हुए भौंरे वहाँ गायक का काम कर रहे थे। दम्पती भी उनके मद से मस्त थे। दूसरी बात यह कि 'एक—जैसे स्वभाव और व्यसन वालों में मित्रता होती है', इस नीति के अनुसार अपनी भोग-वृद्धि से उचित रस को ग्राहण करते हुए वे बिना रोक-टोक के स्वतन्त्र होकर गुंजार कर रहे थे। यह देखकर प्रिया-प्रियतम भी बिना किसी संकोच के हास-परिहास, मृदु उक्ति, बातचीत, रति-कूजित और नूपुरों की झनक के बीच एकान्त में विहार करते हैं॥२३४॥

इस प्रकार अपनी प्रियतमा के साथ श्रीकृष्ण के एकान्त वन-विहार तथा शय्या-विहार का वर्णन किया। अब ऐश्वर्य और माधुर्य पक्षों के पारस्परिक अन्तर की दृष्टि से प्रियतम के कुंज से बाहर पैर रखने की तथा माधुर्य रस को छोड़ कर अन्य किसी विषय की संभावना का निराकरण करते हुए अपने रस-सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—

सृष्टि आदि की बात तो दूर रही, अपने नारद आदि भक्तों को भी कुछ नहीं गिनते, श्री दामा आदि आदि सखाओं से भी नहीं मिलते (और) अपने माता-पिता (श्रीनन्द-यशोदा) के स्नेह को भी बढ़ावा नहीं देते। परन्तु प्रेम की चरम अवधि-

किन्तु प्रेमैकसीमां मधुररससुधासिन्धुसारैरगाधां
श्रीराधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथिमुपास्ते
॥ २३५ ॥

अत्र शान्तदास्यसख्यवात्सल्येभ्यः शृङ्गारनियतोत्कर्षः प्रथितो ज्ञेयः। सृष्टिस्थितिभङ्गकार्यकरणं तु कुतस्तमां, तद्वार्तापि दूरं वर्तते प्रस्तुतस्य मधुपतेरित्यर्थः। वार्ताज्ञाने च वेद्यान्तरसंक्रान्तिःस्यात्। अनेक 'जन्माद्यस्य यतः इति सूत्रोपनिषन्निर्देशेन स्वरूपतटस्थलक्षणादिभिर्जीवेश्वर विवेचन पूर्वकमुमुक्षापराः शान्तभक्ता निर्दिष्टा व्यावृत्ताश्च। 'स्वभक्तान्' भगवता श्रीमुखेन स्वीयत्वेन प्रशंसितान्। 'आदि' शब्देन ब्रह्मशिवसनकशुकभीष्म प्रल्हादा महाभगवता ज्ञेयाः। 'भक्त्या वयम्' इति नारदोक्तेर्दास्यभक्ता उक्ताः। तानीषदपि न कलयति। कल् गण् संख्याने।

रसकलश

स्वरूप, मधुर रस (शृंगार-रस) रूपी अमृत के सार की अगाध आश्रयभूत एकमात्र श्रीराधा को ही जानते हुए मधुपति निरन्तर कुंज-वीथी की उपासना में प्रवृत्त रहते हैं ॥२३५॥

प्रस्तुत पद्य में शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य रसों की तुलना में शृंगार रस का निश्चित उत्कर्ष प्रतिपादित किया गया है, यह समझना चाहिये। सृष्टि, पालन और संहार तो दूर रहा, उनकी चर्चा भी मधुपति को नहीं सुहाती—यह अर्थ है। 'सृष्टि आदि की बात कर रहा हूँ', यह ज्ञान होते ही निकुंज-रस की माधुरी की अनुभूति में विषयान्तर द्वारा विक्षेप पड़ जाता। अतः 'जिस परात्पर सत्य से जन्म आदि का आविर्भाव होता है' एतदर्थक सूत्र द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार स्वरूप लक्षण, तटस्थ-लक्षण आदि के द्वारा जीव-ईश्वर की विवेचना करने वाले, मोक्ष के अभिलाषी, शान्त रसोपासक भक्तों का निर्देश कर उनका निराकरण कर दिया है। 'स्वभक्तान्' का संकेत दास्यरस के उपासक भक्तों की तरफ है जिनमें नारद प्रमुख हैं। 'आदि' शब्द द्वारा ब्रह्मा, शिव, सनक, शुक, भीष्म, प्रहलाद आदि परम भगवद् भक्तों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। इनकी भगवान् ने अपने श्रीमुख से प्रशंसा की है। नारद जी ने कहा है—'भक्ति द्वारा हम लोग।' तो इन भक्तों को भी श्रीकृष्ण कुछ महत्व नहीं देते। 'गिनना' अर्थ वाली 'कल्' धातु से 'कलयति' बनता है। अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण उन भक्तों के संबंध में न सोचते हैं, न उनके सम्बन्ध की बातें करते हैं और न उनकी तरफ

न विचारयति, न शृणोति, न पश्यतीत्यादि न गणयतीति वा । तद्गणने च निकुञ्जरसे तत्तद्भाव लीलावतारैश्वर्य स्तुतिश्रवणमननेन वेद्यान्तर संक्रान्तिः स्यात् । तदा रसपूर्णत्वव्याघातापत्तिः । अतस्तत्कलनं स्वरूपान्तरेणैव करोतीति ज्ञेयम् । यथोचितकरणान्नावगणनं ज्ञेयम् । यदा च नारदशिवादीनां तद्रसानुभवाभिलाषो जता स्तदा नारदशिवत्वानधिकारात् सखीरूपं कृत्वैव रहोवृन्दावने प्रविष्टा इति प्रसिद्धम् । एतदन्तमैश्वर्याधिकारिणो व्यावृत्ताः ।

अतः परं प्रस्तुतमाधुर्यान्तरस्थान् व्यावर्तयति—'श्रीदामाद्यैः' इति । प्रियनर्मसख्याधिकारिभि र्हृदयसौष्ठवेनोक्तै र्विश्रब्धैरपि न मिलति । किञ्च प्रस्तुतरसगोष्ठ्यनधिकारत् बाह्यान्तरङ्गभेदः स्फुट एव, लोकेऽपि दृष्टश्च । मिलने न रसान्तरसंक्रान्तिः स्यात् । पुनः स्वपित्रोर्नन्दयशोदयोः स्नेहस्य वृद्धि प्रतिक्षणविलक्षणपरम्परामपि न हरेन्न गृह्णातीत्यर्थः । गृहणेऽत्राञ्जसैव

रसकलश

आँख उठा कर देखते ही हैं । अथवा उन्हें नहीं गिनते । ऐसा करने से तो विभिन्न भाव, लीला, अवतार और ऐश्वर्य की प्रशंसा सुनने और उनका मनन करने से निकुंज-रस में अन्य विषयों का संचार हो जायगा और रस की पूर्णता को क्षति पहुँचेगी । अतः दूसरे दूसरे स्वरूपों से उन्हें ग्रहण करते हैं, उनका मनन करते हैं, निकुंज-विहारी के रूप में नहीं, यह समझने की बात है । निकुंज-रस के योग्य यही आचरण है और इस दृष्टि से नारद आदि भक्तों का अपमान नहीं समझना चाहिए । जब नारद, शिव आदि को उस रस का आस्वाद लेने की इच्छा हुई, तो नारद और शिव के रूप में कुंज–प्रवेश का उन्हें अधिकार ही नहीं था, अतः सखी-वेष धारण करके ही वे एकान्त-वृन्दावन में प्रवेश पा सके, यह प्रसिद्ध ही है ।

यहाँ तक ऐश्वर्योपासकों का बहिष्कार किया । इससे आगे दूसरे प्रकार के माधुर्य के आराधकों का निराकरण करते हैं—'श्रीदामा आदि मित्रों से भी नहीं मिलते ।' इन लोगों को, मनोरंजन करने के उद्देश्य से मधुर हास-परिहास के मित्रता-सुलभ अधिकार प्राप्त हैं और निर्मल हार्दिक भावनाओं के कारण ये विश्वासपात्र भी हैं । फिर भी इनसे नहीं मिलते । एक बात यह भी है कि प्रस्तुत निकुंज-गोष्ठी में भाग लेने का इन्हें अधिकार भी नहीं है । इस प्रकार बाह्य और अन्तरंग का भेद यहाँ स्पष्ट हो जाता है, संसार में भी यही देखा जाता है । इन मित्रों से मिलने पर तो निकुंज-रस पर एक विजातीय रस की छाया पड़ जाती । इसके अतिरिक्त अपने माता-पिता नन्द-यशोदा के स्नेह को भी बढ़ावा नहीं देते । 'स्नेह-वृद्धिम्' में 'वृद्धि' का अर्थ है प्रतिक्षण प्रवाहित होने वाली स्नेह की अनवरतता । उनकी स्नेह-वृद्धि को स्वीकार लेने पर

तल्लीलाविर्भावेन रसान्तर संक्रान्तिः स्यात्, येन तत्र संकोचः स्यात्। तादृशेन तत्र मिलनं न तद्वृद्धिजनकम्। अतो रसाविच्छेदात् प्रकाशान्तर एव विचार्यः। प्रकाशलक्षणं सन्दर्भाल्लेख्यम्। प्राकट्यापेक्षया तु यदा श्रीराधासङ्गे कुञ्जबिहारी, तदा न कस्यापि मिलनम् लोकेऽप्यनर्हत्वात्। नित्याप्रकटे तु कैमुत्यमेवेति ज्ञेयम् : यः संचारिरसविहारी स व्रजपुरलीलां करोति, यः स्थायिरसविहारी स कुञ्ज एव क्रीडतीति न विरोधः। तत्र सर्वं घटते इति सिद्धान्तः।

प्रस्तुतमाह—'किन्तु' इति। तदा किं करोति, कोहेतुरित्यर्थः। 'प्रेमैकसीमाम्' इत्यनेनान्यत्र पूर्वेषु यथासंभवं प्रेमा वर्तते, तथापि सीमात्वत्रैवेति, पर्यवसानमित्यर्थः किञ्च लोकेऽपि दासाः सखायः, मित्राद्याः परमहितकरिणः स्वीयस्य दाम्पत्यानन्दमेव परमाभीष्टतया समभिलषन्ति, न स्वस्यैव

रसकलश

बाल्य, कौमार से सम्बन्धित अपनी विविध लीलाओं का हृदय में प्रादुर्भाव होने लगता और तब निकुंज-रस में वात्सल्य-रस का संमिश्रण हो जाता। फलतः निकुंज-रस की अनुभूति संकुचित हो जाती। उस स्थिति में मिलने से पिता-माता के स्नेह की वृद्धि नहीं होती। अतः रस-भंग अपेक्षित न होने के कारण कुंज बिहारी श्रीकृष्ण को भिन्न प्रकाश ही समझना होगा। प्रकाश का लक्षण संदर्भ में देखा जा सकता है प्रकट-लीला की दृष्टि से भी जब श्रीराधा के साथ निकुंज में विहार करते हों, तो किसी से मिलने का प्रश्न ही नहीं है। दुनिया में भी ऐसी स्थिति में किसी का मिलना अनुचित समझा जाता है। नित्य और अप्रकट लीला मानने पर तो कहना ही क्या! जिनका रति-भाव परिपाक की उच्चावच भूमियों पर क्रीड़ा करता रहता है, वह श्रीकृष्ण ब्रज में लीलायें करते हैं। जो रस की स्थायी स्थिति में रहते हुए विहार करते हैं, वे तो कुंज में ही विहार करते हैं। इसमें विरोध की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उनके सम्बन्ध में कुछ भी असंभव नहीं है। यह सिद्धान्त है।

अब प्रस्तुत विषय पर आते है—'किन्तु' का अर्थ है, यदि किसी से भी नहीं मिलते, तो क्या करते हैं और किसी से संपर्क न रखने का कारण भी क्या है? उत्तर यह है कि श्रीराधा को ही प्रेम की चरम सीमा मानते हुए निशिदिन कुंज-वीथी की उपासना करते हैं। श्रीराधा को प्रेम की चरम सीमा बता कर यह सूचित किया है कि नन्द-यशोदा और श्रीदामा आदि के प्रति प्रेम तो है, पर उसकी पराकाष्ठा श्रीराधा में ही है। प्रेम की चरम परिणति यहीं होती है। संसार में भी यह देखा जाता है कि परम हितकारी नौकर-चाकर, मित्रगण, माता-पिता आदि यही चाहते हैं कि हमारा अपना आदमी वैवाहिक सुख को भोगे, क्योंकि माता-पिता आदि को यही अभीष्ट

मिलनमिति। पितरावपि पुत्रविवाहानन्तरमेव निद्रां लभेते, इति लौकिक-सुखपर्यवसानम् अतस्तत्तदभीष्टमननात्रावगणन दोषो ज्ञेयः। परमार्थे तु 'निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा' इत्युक्तेर्निजानन्दे सर्वानन्दान्तर्भाव एवेति सीमार्थः। सर्वेषामात्मा प्रियो भवति, तदर्थं, सर्वमेव प्रियतया भासत, इति यत्र तत्रोक्तत्वात् आत्मेशस्याप्यात्मतया पूर्णप्रेम प्रेमास्पदामिति भावः।

भोग्यरसानंत्यमाह—'मधुर इति। स्वादुप्रियतार्थपरमकाष्ठापन्नो रसः शृङ्गारः। स एव सुधासिन्धु, स्तस्यापि सारैरिति। 'सारो' यथा दध्नो नवनीतं तस्मादुद्धृतमितिवद्यस्य सारान्तरमुद्धर्तुं न शक्यते, तद्वदनुकूल दक्षिण स्वीयपरकीयादिभेदापन्नतत्तच्छास्त्रान्तर लोकान्तर सकलातिरिक्तोऽखिलरसाप्यायनकृत् युक्त्यन्तराबाधितोऽन्ते, निष्पद्यते। स रसः सारत्वे-

रसकलश

होता है, न कि अपना मिलन। मां-बाप भी पुत्र के विवाह के बाद ही चैन की नींद ले पाते हैं। यही लौकिक सुख की सीमा है। अतः श्रीकृष्ण के माता-पिता एवं मित्रगण यही कामना करते हैं कि वे अखंड विहार करें। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि श्रीकृष्ण ने माता-पिता आदि की उपेक्षा या तिरस्कार किया क्योंकि श्रीकृष्ण तो वही करते हैं जो उन्हें भी अभीष्ट है। रही पारमार्थिक पक्ष की बात, सो उसके समाधान के लिये तो श्रीमद्भागवत में कहा ही है—'बड़ी से समता को निरस्त कर देने वाली श्रीराधा के साथ श्रीवृन्दावन नामक अपने धाम में रमण करने वाले को नमस्कार है।' इस उक्ति के अनुसार अपने आनन्द में सबका आनन्द आ जाता है और यही सीमा का अर्थ है। सबको आत्मा ही प्यारी होती है। इसके सम्बन्ध से ही संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने को प्रिय लगता है—यह बात यत्र-तत्र (उपनिषदों में) कही गई है और इसी अधार पर श्रीराधा को आत्मा के स्वामी की भी आत्मा होने के कारण वह पूर्ण प्रेम का आश्रय हैं—यह भाव है।

अब भोग्य-रस की अनन्तता बताते हुए कहते हैं—'मधुररससुधा सिन्धुसारैर-गाधाम्,' (अगाध, मधुर, रसरूपी अमृत का समुद्र श्रीराधा हैं। 'मधुर' का अर्थ है—आस्वादनीयता और प्रियता के निमित्त चरम बिन्दु (परमोत्कर्ष) पर पहुँचा हुआ शृंगार रस। वही अमृत का समुद्र है। उसके सारों से अगाध हैं श्रीराधा। 'सारैः' का अर्थ यह है कि दही से मक्खन की तरह निकाला गया (माधुर्य का) सार। जैसे मक्खन में कोई और मक्खन नहीं निकलता, वैसे ही नायक के अनुकूल, दक्षिण आदि तथा नायिका के स्वीया परकीया आदि भेदों का वर्णन करने वाले (साहित्य) आदि अनेक शास्त्रों तथा लोक-लोकान्तरों में प्रचलित रस के स्वरूपों से भिन्न, अन्य समस्त रसों

नोक्तो लक्ष्मीप्रश्ने स्वायम्भुवागमादौ नारायणध्येयतयोक्तः। स्वगतस्वाद-विशेषान्तरबहुल, इति बहुत्वम्। 'अगाधाम्' इति—लोके क्षीरसागरोद्धृतामृतकलशवत् सारस्य स्वल्पत्वदर्शनादल्पत्वसंशयं निराकर्तुमगाधोक्तिः। किञ्च तादृशासमोर्ध्वमाधुर्यैश्वर्यमहामिलाषातृप्तभोक्तृप्रियोऽपि नान्तं कर्तुं शक्तः, प्रत्युत तयोद्धृतः सावधानो भवति मीन इव तत्सिधौ मग्न इति पश्यत कीदृगनिर्वचनीयागाधत्वमिति सहृदयवेद्यम्। तादृङ्माधुर्येश्वर्य श्रीविशिष्ट संसिद्धिरूपां श्रीराधामेव जानन्निति। 'एव' कारेण विगणितवेद्यान्तरत्व-मुक्तम्। 'मधुपति'-स्तदधरासवपानसौभाग्यो, नान्यमधुपस्तत्पुष्पवाटी-

---

रसकलश

के पोषक, विरुद्ध तर्कों द्वारा अखंडित जो अन्तिम परिपाकावस्था तक पहुँचता है उसी रस से—रस के सार से यहाँ तात्पर्य है। स्वायम्भुव आगम में लक्ष्मी द्वारा पूछे जाने पर बताया गया है कि नारायण भी इसी रस का ध्यान करते हैं। 'सारैः' (सारों से) में बहुवचन का प्रयोग स्वयं अनुभूत स्वाद की कई विशिष्ट विधाओं का बोध कराने के लिये किया गया है। श्रीराधा को अगाध रस-सारों का आश्रय इस सन्देह को दूर करने के लिये कहा गया है कि कहीं यह सार भी क्षीर-समुद्र से निकाले हुए अमृत-कलश की तरह परिमाण में थोड़ा-सा तो नहीं है। इसके अतिरिक्त एक बात यह और है कि उस प्रकार के अनुपम और सर्वोत्कृष्ट माधुर्य और ऐश्वर्य की अभिलाषा के प्यासे, उस रस के भोक्ता प्रियतम भी उसकी थाह न पा सके, बल्कि श्रीराधा को ही उन्हें रस-समुद्र से खींच कर बाहर निकालना पड़ता है, तब कहीं वे होश में आते हैं। उनकी हालत समुद्र में डूबी हुई मछली की सी हो जाती है, तो अब समझ लीजिये कि रस किस प्रकार अनिर्वचनीय रूप से अथाह है। सहृदय ही उसकी थाह पा सकते हैं। तो माधुर्य के ऐसे ऐश्वर्य से विशिष्ट, सिद्धिस्वरूपा श्रीराधा को ही श्रीहितसखी जानती हैं। 'एव' (ही) से यह सूचित किया गया है कि यह रस विषयान्तर के ज्ञान को लुप्त कर देता है। 'मधुपति' की व्यंजना यह है कि श्रीकृष्ण को ही उनके अधर-मधु को पान करने का सौभाग्य मिला है। अन्य कोई भौंरा फूलों की बगिया में स्थित उस कुंज-वीथी का सेवन नहीं कर सकता। 'वीथी' से अभिप्राय कुंज-गली का है, न कि ब्रज की गलियों का, इसलिए यहाँ 'वीथी' का एकवचन में प्रयोग हुआ है। पूर्व के एक पद्य (२३२) में 'वीथीषु' बहुवचनान्त प्रयोग है। ('तदित्थं वीथीषु भ्रमति स महालम्पटमणिः') जो कि उचित ही है; क्योंकि वहाँ भ्रमण संचारी भाव है, जबकि प्रस्तुत पद्य में उल्लिखित

कुंजस्य वीथीमुपास्ते, न व्रजपुरवीथीरिति। अत्र वीथी शब्दे एकत्वम् पूर्वत्र बहुत्वं युक्तमेव, स्थायिसंचारिभेदादिति। 'अनिशम्' इत्यहोरात्र गत-स्मृतिस्तन्मधुपानन्यविचार इत्यर्थः। पूर्ववत् भ्रमन्नित्यत्रोपास्त इत्युक्ति-भेदः स्फुट एव। यः सर्वप्रेमास्पदतमः सर्वाराध्यतमः स यत्कुंजावीथ्युपा-सकस्तदा नातः परो रसोऽस्तीति सिद्धान्तः।

उपासना यथा बह्वादरपूर्वकं नवधात्वेन नानोपचारेण च क्रियते, तद्वदत्र वीथ्यां श्रीमत्यागमनसुखार्थंमार्जनसौगन्धिकसिंचननवपल्लव-पुष्पाद्यास्तरणमण्डपवन्दनमालादिरचनसौष्ठवं करोतीति येन येन सा प्रसन्ना द्रुता स्यात्तादृशमिति ज्ञेयम्।

इदं पद्यं स्वरससिद्धान्तस्य ध्रुवाङ्कपरिभाषात्मकम्। अस्यानुसारेणैव सर्वं व्याख्येयम् यदत्र लेखनव्यभिचार स्तल्लेखकमद्दोषो न ग्रंथकर्तुः पद्यस्य चेति ज्ञेयम्। तत् सहृदयरसवित्च्छोधनीयम्। अन्ये रसा लीलाश्चैतदुपजीव्या

रसकलश

उपासना रति-स्थायीभाव का बोध कराती है। 'अनिशम्' (दिन-रात) से तात्पर्य है कि दिन-रात श्रीराधा का ही स्मरण-चिन्तन करते हैं; सिवा उनके अन्य कोई विचार ही मन में उदित नहीं होता। पूर्व पद्य में 'भ्रमन्' (घूमते हुए) कहा है; यहाँ कहा है 'उपास्ते' (सेवन करते हैं)। इन दोनों का अन्तर स्पष्ट ही है। सिद्धान्त यह है कि जिन श्रीकृष्ण से सब प्रेम करते हैं, सब जिनकी आराधना करते हैं, वह भी यदि उन श्रीराधा की कुंज-वीथी की उपासना करते हैं, तो वही परात्पर रस है।

उपासना अत्यन्त श्रद्धापूर्वक नव प्रकार से और अनेक विधि-विधान सहित की जाती है। उसी प्रकार यहाँ कुंज में भी श्रीकृष्ण श्रीमती के आगमन की सब सुख-सुविधा के लिये कुंज की सफाई करते हैं, सुगन्धित द्रव्यों से उसे छिड़कते हैं, नवीन फूल-पत्तों आदि से बिछावन तैयार करते हैं, मंडप बनाते हैं, बंदनवार रौभते हैं और मालायें गूँथते हैं, ताकि प्रियाजी प्रसन्न होकर द्रवित हो जायँ।

इस पद्य में स्वकीय रस-सिद्धान्त का परिभाषात्मक प्रतिपादन किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार सबकी व्याख्या करनी चाहिये। इस विषय का प्रतिपादन करने में मेरी कलम से कोई उलटी-सीधी बात निकल गई हो, तो उसे मेरी ही

संचारिणो नैमित्तिकाश्च । तेऽपि सर्वे उपादेया एव । रसप्रेमसिन्धुमूर्त्यो स्ततत्सर्वं प्रेमात्मकमेव । केचित् प्रेमतरङ्गाः, केचिद्रसतरङ्गा वैचित्यमयाश्च । नैतेषु क्वापि हेयांशप्रसक्तिः, स्थायिसंचार्य्यधिकारिभेदेन यथारुचि स्वादविशेषावगमात् । प्रस्तुतेश्रीहित हृदयं त्वन्त्रैव निहितमिति ज्ञायते ॥२३५॥

तदेवं निजरसोत्कर्षपर्यवसायिव्रजलीलां कथानकेनोक्त्वा रहः कुंजरमणञ्च सिद्धान्तयित्वा यद्यद्रहसि लतागवाक्षैरनुभूयमानं तत्तद्वैशिष्ट्येन सहर्षं प्रसद्य दम्पती प्रत्येकपद्यं प्रस्तौति द्वाभ्याम् । तत्र प्रथमं कुञ्जवीथ्युपासनाफलमाह—

सुस्वादुसुरसतुन्दिलमिन्दी-
वरवृन्दसुन्दरं किमपि ।
अधि-वृदाटवि नन्दति
राधावक्षोजभूषणं ज्योतिः ॥२३६॥

रसकलश

त्रुटि समझना होगा, न कि ग्रन्थ कर्ता या पद्य की । सहृदयजन उसका संशोधन कर लें। अन्य सब रस और लीलाओं का प्राण-स्रोत यही निकुंज-रस है। अन्य रस और लीलायें तो अस्थायी और नैमित्तिक हैं। कुछ तरंगें प्रेम की हैं, कुछ-एक रस की और कुछ प्रेमोद्भ्रान्त स्थिति की। इनका कोई-सा भी अंशत्याज्य नहीं हैं; क्योंकि यदि भेद है, तो स्थायी, संचारी और अधिकारी का ही है। उसी भेद के कारण अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वादों की अनुभूति होती है। रही श्रीहितसखी की, सो ऐसा प्रतीत होता है कि उनका मन तो निकुंज-रस में ही रहता है ॥२३५॥

इस प्रकार कथानक द्वारा उस व्रजलीला का वर्णन कर जोकि अन्त में अपने रस के उत्कर्ष को ही सिद्ध करती है और फिर एकान्त कुंज-विहार से सम्बन्धित सिद्धान्त का प्रतिपादन कर लताओं के झरोखों से भी जो कुछ अनुभव किया था उसकी विशेषता (अपूर्वता) से प्रसन्न होकर आनन्द में भर कर हितसखी दो पद्यों द्वारा दम्पती में से प्रत्येक का वर्णन करती है। पहले कुंज-वीथी की उपासना का प्रियतम को जो फल मिला उसे बताते हैं—

'सुस्वादु' इति किमपीन्दीवरवृन्दसुन्दरं ज्योति रधिवृन्दाटवि नन्दतीति संबन्धः। यद्वा राधावक्षोजभूषणं ज्योतिः। इति सम्बन्धश्चिन्त्योऽन्यद्-विशेषणम्। इन्दीवरवृन्दोपमानेन मरकतत्वं निर्दिष्टं भूषणस्येति बहुधा-नुभूतमापीदानीं वक्षोजाश्रयफलप्राप्तिबलादन्यदिव विभाव्यमानतया 'किमपि' इत्यद्भुतत्वव्यञ्जकम्। 'इन्दीवर' इत्युभयज्योतिषि निर्दिश्यमाने ऽलंकरणीयगौरतेजोभेदज्ञापनार्थं सौरभसौकुमार्यप्रफुल्लतादिवैशिटय-बोधनार्थञ्चेति। आपादाङ्गानां कमलोपमेयत्व प्रसिद्धया सजातीयसंघजवर्ण-बाहुल्यशोभादर्शनाच्च मितवसनापावृताङ्गतया च 'वृन्दो'क्तिः। तद्व-त्सुन्दरम्। वा शाखाचन्द्रन्यायेनानीदृशशोभनतया तस्मादपि सुन्दरमित्यर्थः।

रसकलश

'अत्यन्त आस्वादनीय मधुर रस से परिपुष्ट, नीले कमलों के समूह के समान सुन्दर, श्रीराधा के वक्षःस्थल की भूषण कोई अनिर्वचनी ज्योति श्रीवृन्दावन में प्रफुल्लित हो रही है।'

नीले कमलों के समूह के समान सुन्दर कोई ज्योति श्रीवृन्दावन में आनन्दित हो रही है, यह अन्वय है। 'श्रीराधा के वक्षःस्थल का भूषण कोई ज्योति आनन्दित हो रही है' यह अन्वय भी किया जा सकता है। इस अन्वय में शेष पद विशेषण माने जायेंगे। (टीकाकार का कहना यह है कि या तो 'इन्दीवर-वृन्दसुन्दरम्' को विधेय विशेषण माना जाय, शेष पदों को साधारण विशेषण। अथवा 'वक्षोजभूषणम्' को विधेय विशेषण मान कर शेष को साधारण मान लिया जाय। जैसा भी हो, एतावता मूल अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कमलों के समूह से उपमा देकर भूषण (श्रीकृष्ण) को मरकत-मणि-जटित बताया है (जिससे श्रीकृष्ण के श्याम वर्ण की व्यंजना निकलती है)। यूँ तो श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का बहुत बार अनुभव किया है, पर इस समय श्रीराधा के वक्षःस्थल पर आश्रय लेने के कारण भूषण रूप श्रीकृष्ण कुछ और ही तरह के प्रतीत होते हैं। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रख कर 'किमपि' कहा है जिसकी ध्वनि यह है वह भूषण अद्भुत है। पद्य में दोनों ज्योतियों का निर्देशन कर केवल उपमान इन्दीवर का ही जो उल्लेख किया है, उसका उद्देश्य श्याम तेज को पृथक् करके दिखाना तथा उपमेय ज्योति में इन्दीवरगत सुगन्ध कोमलता और खिलावट आदि की विशेषतायें बताना है। चरणों से लेकर मस्तक पर्यन्त सब अंगों के कमल के समान प्रसिद्ध होने के कारण तथा एक ही जाति के नील-कमलों के झुंडों के घमासान रंग की शोभा के कारण जोकि इने-गिने वस्त्र धारण करने तथा अंगों के खुले रहने से दिखाई पड़ रही थी, 'वृन्द' (झुंड) कहा है। तो नील कमलों के समूह की तरह सुन्दर, अथवा शाखाचन्द्र न्याय से यह अर्थ लिया जा सकता है नील-कमलों से भी अधिक सुन्दर।

'ज्योतिः' इति—भूषणानां रत्ननिर्मितप्रसिद्धया रत्नानाञ्च महर्घ्यत्वं ज्योतिषैवास्ति। अतस्तत्कारणरूपेणैवोक्तिः। ऐश्वर्ये तु सच्चिदानन्दमयं ज्योतिरस्त्येव। माधुर्ये च स्वाङ्गकान्तिमण्डलप्रसरणबाहुल्यात् तादृशं ज्योतिरेव दूरतो भासमानम्। यद्वा द्रष्टृसखीजनस्याधिदैविकवन्नेत्रानन्दप्रकाशकत्वात् यदनेनैव स्वामिनीसौभाग्यसुखं पश्याम इति। यद्वाभिमुखाङ्गविशेषाणां प्रियाङ्गावृतत्वान्निर्विशेषवर्णभासनेन ब्रह्मज्योतिरिव योगीन्द्राणामस्माकमनुध्येयमिति।

वृन्दाटवीमधिकृत्येति वृन्दाटव्यामित्यर्थः। एतादृशभूषितभूषणसमृद्धिदर्शनकारयितृत्वाधिकारिणीयमिति भावः। यथा 'किं ब्रूमः' इत्यत्र 'तद्द्वन्द्वस्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिकाकिङ्करीणाम्' इत्यादि। 'नन्दति' प्रतिक्षणं समृद्धं भवत्यलभ्यनिधिलाभहर्षादिवेति। किञ्च भूषणस्य तादृशोच्चस्थानप्राप्त्या समर्द्धनमुचितमेवेति भावः।

रसकलश

'ज्योतिः' की व्याख्या करते हैं—भूषण रत्न-जटित होते हैं और उनकी बहुमूल्यता उनसे छिटकने वाली किरणों से ही आँकी जाती है, अतः यह बताने के लिए भूषण ज्योति के ही कारण बहुमूल्य हैं, 'ज्योति' शब्द का उपादान किया गया है। ऐश्वर्य-पक्ष में तो 'ज्योति' का अर्थ सच्चिदानन्दस्वरूप ज्योति है ही। माधुर्य-पक्ष में श्रीकृष्ण के अंगों से फूटने वाला कान्ति-मंडल चारों दिशाओं में फैल रहा था, अतः ज्योति का वही रूप दूर से प्रातिभासित हो रहा था। अथवा दर्शक सखीजनों के नेत्रों को, एक शक्ति के समान, वह आकर्षित कर रही थी, इसलिए उसे ज्योति कहा गया है—आनन्द इस बात का कि उन्हीं ज्योतिस्वरूप श्रीकृष्ण के कारण हम सखियां स्वामिनी के सौभाग्य-सुख को देख पा रही हैं। अथवा सामने से दिखाई देने वाले श्रीकृष्ण के प्रमुख अंग प्रियाजी के अंगों से ढके हुए थे, अतः किसी खास रंग का स्पष्ट भान न होने के कारण वह एक प्रकार की ब्रह्मज्योति है जिसका कि योगीश्वरों की भी ईश्वर हम सखियाँ ध्यान करती हैं।

'अधिवृन्दावनाटवि'—का अर्थ है श्रीवृन्दावन में। भाव यह है कि उल्लिखित रूप से सुसज्जित भूषण के वैभव के दर्शन करने का अधिकार इसी वृन्दाटवी को है। 'किं ब्रूमः' इस पद्य (१७५) में भी कहा है कि 'इस श्रीवृन्दावन भूमि ने युगल में जो कुछ आस्वाद के योग्य था, वह सब का सब, श्रीराधा की परिचारिकाओं को दे दिया।' 'नन्दति'—दुर्लभ निधि पा लेने की प्रसन्नता के कारण वह ज्योति प्रतिक्षण फल फूल रही है। दूसरी बात यह कि भूषण को जब ऐसा ऊँचा पद मिल गया, तो उसका समृद्ध होना उचित ही है।

तदेव सर्वार्थकारणत्वेन विशिनष्टि—राधावक्षोजयोस्तादृशप्रस्तुतचर-प्रभावयोरपि भूषणमलङ्करणम् । अनेन प्रियाप्रसादजपरिरम्भसुखमभि-व्यञ्जितम् । तत एव तदानीं प्रियपरिरम्भसुखातिशयस्वादप्राप्तप्रियामन-स्तन्मयमनसा सप्रशंसं शिरो धुन्वाना विशिनष्टि—अहह ! किमिदमपूर्वं सुतरां स्वादु इति । पुनश्च तथैव तत्सुखातिशयप्राप्तप्रियस्वादतन्मयतया 'सुरसतुन्दिलम्' इति वक्ति । किञ्च रसमयत्वेऽपि गौरसंयोगानन्दाधिक-समर्द्धनेन सुष्ठुपदं तुन्दिलपदञ्च दत्तम् । अनेन प्रत्यङ्गपुलककुलकोच्छूनता व्यञ्जिता, मकरन्दपरागसम्भृतताम्रूपकंजधर्मोऽपि मधुपसखीहृद्यो-व्यञ्जितश्च । यद्वा तुन्दशब्देन प्रियस्यातृप्ततया विजिगीषाविवर्जिततयौद-रिकतया च कटाक्षीकृता । अत एवाग्रे स्वात्मार्पणेन प्रीणातीति प्रियायाः कृपौदार्यं वक्ष्यत्येव । ज्योतिः पदस्य केवलैश्वर्यपरत्वेऽपि सुस्वादुसुरसादिपदै

रसकलश

अब समस्त पुरुषार्थों के कारण रूप में उस ज्योति की विशेषता बताते हैं—'राधावक्षोजभूषणम्'—जिन प्रस्तुत उरोजों का प्रभाव ऐसा महान् है, उनका भी भूषण यह ज्योति। उन्हें सुशोभित करने वाली है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि इस ज्योति को प्रियाजी की कृपा से आलिंगन का सुख प्राप्त हो चुका है। इसीलिए उस समय प्रियतम द्वारा आलिंगन करने से प्रियाजी के मन को प्रबल सुख का जो आस्वाद मिला, तो उनके मन के साथ अपने मन को एकाकार कर (अर्थात् ठीक उसी प्रकार का अनुभव करती हुई) श्रीहितसखी की प्रशंसा पूर्वक सिर हि ।ा कर 'ज्योति' का विशेषण देती हैं—'सुस्वादु'। अहा ! यह ज्योति कितनी अपूर्व रूप से स्वादिष्ट है—स्वादिष्ट ही नहीं, 'सुस्वादु' है। अर्थात् अत्यन्त स्वादिष्ट है। इसी प्रकार प्रियतमा के आलिंगन से प्रियतम को जो सुख मिला, उससे एकाकार हो कर कहती हैं—'सुरसतुन्दिलम्' (मधुर रस से परिपुष्ट) 'रस' से पूर्व 'सु' उपसर्ग यह जताने के लिए किया गया है कि ज्योति के रसरूप होने पर भी गौर के साथ जो उसका संयोग हो गया, उससे वह और भी समृद्ध हो गई। 'तुन्दिल' का भी गूढ़ार्थ यही है। इससे यह ध्वनित किया गया है कि ज्योतिः स्वरूप श्रीकृष्ण रोमांचों की प्रचुरता से फूल गये थे। श्रीकृष्ण यदि नील कमल हैं, तो सखियाँ उस कमल की भौंरियाँ हैं। कमल यदि मकरन्द से परिपूर्ण हो तभी भौंरों की मनचाही होती है। 'तुन्दिल' शब्द से कमल की इसी परागपूर्ण स्थिति की ओर संकेत किया गया है। (रोमांच और किंजल्क में बहुत कुछ आकृति साम्य है।) अथवा 'तुन्द' (तौंद) शब्द के प्रयोग में यह कटाक्ष भी अन्तर्निहित है कि प्रियतम का तो कभी पेट ही नहीं भरता और न उन्हें जीतने की इच्छा ही रहती है, अतः वह

माधुर्यमयत्वं स्पष्टीकृतम् । प्रस्तुते पूर्वं कुञ्जवीथ्युपासनानन्यनिष्ठोक्ता । ततोऽत्रोपास्यप्रसादेन वक्षोजभूषणत्वप्राप्तिरुचितैवेति व्यञ्जितम् ।।२३६।।

तदेवं फलप्राप्तिसामयिकोपासकरूपमुक्त्वोपास्यरूपमपि तादात्विककृपोच्छलितदानवीरोत्सुकमाह—

कान्तिः कापि परोज्ज्वला नवमिलच्छ्रीचन्द्रिकोद्भासिनी
रामात्यद्भुतवर्णकाञ्चितरुचिर्नित्याधिकांगच्छविः ।
लज्जानम्रतनुः स्मयेन मधुरा प्रीणाति केलिच्छटा
सन्मुक्ताफलचारुहारसुरुचिः स्वात्मार्पणेनाच्युतम्
।।२३७।।

कापि परा कान्तिः स्वात्मार्पणेनाच्युतं प्रीणातीति सम्बन्धः । काप्यनिर्वचनीया आसज्यापीदानीं स्ववाम्यं मुक्त्वा प्रस्तुतासक्त्यपावृतकान्तिकोशा जातेति किं ब्रूम इति कटाक्षः कान्तिरिच्छेति श्लेषः । कमनीयतयेदानीं

रसकलश

पेटू हैं। इसीलिए आगे के पद्य (२३७) में यह कहा जायगा कि प्रियाजी अपना सर्वस्व देकर अच्युत को प्रसन्न करती हैं। यह प्रियाजी की कृपापूर्ण उदारता ही है । 'ज्योतिः' शब्द से ऐश्वर्य-सम्बन्धी प्रकाश का बोध होता है, किन्तु उसे आस्वादनीय और रसपूर्ण कह कर उसका माधुर्यमय स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है। प्रस्तुत में पहले कुंज वीथी की उपासना द्वारा श्रीकृष्ण की प्रियाजी के प्रति अनन्य निष्ठा बताई। उसके अनन्तर यह उचित ही है कि आराधनीय प्रियाजी की कृपा से वे उनके उरोजों के भूषण बन जायँ ।।२३६।।

इस प्रकार उपासना का तत्काल फल प्राप्त करने वाले उपासक का स्वरूप बता कर, उसी समय कृपा-भाव से छलछलाकर दानवीरता दिखाने के लिये उत्कंठित उपास्य के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

'प्रतिक्षण-प्रियाजी की शोभा के सँयोग नई-नई होने वाली चाँदनी को भी जगमगा देने वाली, रमण के लिये उत्कंठित सुन्दरियों के रूप-रंग भी जिसके वर्ण को पूजते हैं, नित्य नित्य बढ़ने वाली अंगों की छवि से युक्त लज्जा से झुकी हुई, विविध लीलाओं की छटा से विशिष्ट, अमूल्य मोतियों के सुन्दर हार की कान्ति से सुशोभित परम उज्ज्वल शोभावली कोई अनिवर्चनीय कान्ति (श्रीराधा) अपने आप को समर्पित करके अखंड अभिलाषाओं को पाले हुए प्राणनाथ को प्रसन्न कर रही हैं ।।३३७।।

कोई श्रेष्ठ कान्ति अपने आप को समर्पित कर अच्युत को प्रसन्न करती है—यह अन्वय है। किसी अनिवर्चनीय (कान्ति) ने आसक्ति का विषय होते हुए भी अपने

दर्शनीयैवेति भावः। अत एव 'परा', अस्मन्मनसोऽपि दूरतमशीला। किञ्च वाञ्छिताधिकसिद्धिदेति नामख्यातिः स्फुटीकृता। तदेवाह—'स्वात्मार्पणेन' इति। साधारणलक्षणमासज्यात्वं, तदात्मकभावमहंकारं कृपातिशयेन स्वत्वत्यागलक्षणसमर्पणेन स्वयमासक्तीभूय 'अच्युतअभिलाषित्वेकेनाप्यंशेन न च्यवतीत्यतृप्तं प्रियं प्रीणाति, तर्पयतीत्यर्थः। अत्र कर्तृत्वेन वीरायित-विलासो व्यञ्जितः। 'पश्ये, गृहाण कियद्बुभुक्षास्तीतिभङ्गिकः। अत एवोज्ज्वला शृङ्गारसमय्येव, यद्वा 'परोज्ज्वलाकान्तिः' इति भावान्तरेण सखीषु सांकेतिकनामव्यवहार एव प्रियाया इति ध्येयम्। अत्र प्रस्तुते तु 'उज्ज्वला' इति आसक्तकृततत्तत्प्रार्थनपरवशतया अव्याजशीलेन तत्तत्कर-णात् सरलेत्यर्थः। पुनश्च तदानीमुपरिभागस्थित्यापावृतकान्तित्वेनापि 'उज्ज्वला' इत्युक्तिः।

रसकलश

प्रतिकूल रहने के स्वभाव को छोड़ कर वर्तमान में, अपनी आसक्ति के कारण अपनी कान्ति के खजाने को खोल दिया है। इस पर क्या कहें—यह कटाक्ष है। 'कान्ति' शब्द में श्लेष है, अतः इसके दो अर्थ हैं—झलक और इच्छा। भाव यह है कि सुन्दर होने के कारण इस समय वे दर्शनीय हैं। इसीलिए वह 'परा'— अर्थात् हमारे मन से भी दूर की वस्तु हैं। दूसरे यह कि अपने (श्रीराधा) नाम के अनुसार मांगी गई से भी अधिक सिद्धि देती हैं। इसी बात को कहते हैं—'स्वात्मार्पणेन (अपने आप को समर्पित कर)' आसज्यता प्रियाजी के स्वभाव का एक गुण है, अत एव 'मैं आसज्य हूं' इस प्रकार का अभिमान उनमें है। इस स्वत्व को उन्होंने तिलांजलि दे दी और अपने को प्रियतम के प्रति समर्पित कर दिया। अर्थात् अब स्वयं आसक्त हो कर अच्युत को प्रसन्न कर रही हैं। 'अच्युत' उसे कहते हैं जो अपने पद से नीचे नहीं गिरे। श्रीकृष्ण भी अभिलाषामय होने के अपने स्वभाव से एक अंश में भी च्युत नहीं होते, अतः उनका 'अच्युत' पद से निर्देश किया गया है तो प्रियाजी अपने अतृप्त प्रियतम को प्रसन्न करती हैं, तृप्त करती हैं। तृप्त करने का काम प्रियाजी ने अपने हाथ में ले लिया है इससे उनकी विपरीत रति ध्वनित होती है, मानों इस स्थिति मे वे कह रही हों कि 'देखती हूं, कितने भूखे हो! लो कितना लेते हो।' इसीलिए उन्हें 'उज्ज्वलता' अर्थात् शृंगार रस से परिपूर्ण कहा गया है। अथवा 'परोज्ज्वलाकान्तिः' यह प्रियाजी का ही अन्यतम नाम है जिसे कि कुछ-कुछ दूसरे अर्थ में, प्रियाजी को संकेत से बताने के लिए सखियाँ व्यवहार में लाती हैं। प्रस्तुत में तो 'उज्ज्वला' का अर्थ है सरल, क्योंकि आसक्त प्रियतम द्वारा की गई विविध प्रार्थनाओं को वे बिना टालमटोल किए स्वीकार कर लेती हैं। कान्ति को उज्ज्वल इसलिए भी कहा गया है कि पुरुषायित विलास की स्थिति में प्रियतम के ऊपर रहने के कारण उनके श्रीअंग निर्वसन थे।

तत्र हासमाह—नवा नवीना मिलन्ती श्रीः शोभा यस्यां तादृश्याश्चन्द्रिकायाउदधिकं भासिनी प्रकाशयित्रीत्यर्थः। हासोच्छलनेन चन्द्रिकोक्तिः, सखीजनहृदयाह्लादकतया चेति। प्रियकृतनानासीत्कारहुंकारकम्पमणितादिनायिकानुकृतिव्याजधाष्टर्च्येन स्वस्थायिहासेऽपि नवरीतिककौतुकमिलनान्नवमिलदित्युक्तिः। अत एवोदधिकमसंकोचात् कलहासो व्यञ्जितः।

ततश्च रमयति रमणं करोति कारयतीति रामाः, रमणोत्सुकास्तासामप्यद्भुतपरमाश्चर्यकृत् शोभनतम इति वर्ण एव वर्णको नियतलज्जासेतूद्वेलकविलासोत्साहाधिक्यजनेत्रवदनसंक्रान्तोऽरुणमिश्रतो गौरवर्णः सहृदयवेद्य एव। तेनाञ्चिता पूजिता तादात्विकद्रष्टृकृत साध्विति प्रशंसिता रुचिश्छविर्यस्याः। अत्र वर्णच्छविर्निर्दिष्टा।

रसकलश

अब प्रियाजी की हँसी का वर्णन करते हैं—'नवमिलच्छ्रीचन्द्रिकोद्भासिनी,' नई-नई मिलती हुई शोभा से युक्त चाँदनी को अधिक से अधिक प्रकाशित करने वाली—यह अर्थ है। हँसी के छलछलाते रहने के कारण उसे चाँदनी बताया गया है—इसलिए भी उनकी हँसी सखियों के हृदय को आह्लादित करती है। सुरत-समय में नायिका का अनुकरण करते हुए प्रियतम जो अनेक प्रकार से सीत्कार करते हैं, हुंकारी भरते हैं, सात्विक भाव से कांपते हैं, रतिकूजित करते हैं और इस बहाने जो ढिठाई दिखाते हैं, इस सब से प्रियाजी की हँसी में नये-नये कौतुकों का समावेश हो जाता है—इसी भाव को लेकर 'नई नई मिलती हुई' कहा गया है। इसीलिए संकोच के बिल्कुल न रहने के कारण प्रियाजी की हँसी साधारण हँसी न रह कर मधुर हँसी हो गई है—यह ध्वनि है।

इसके उपरान्त 'रामात्यद्भुतवर्णकाञ्चितरुचिः' की व्याख्या करते हैं—जो रमण करे या करावे उसे 'रामा' कहते हैं। रमण के लिए उत्कंठित नायिका को भी 'रामा' कहा जा सकता है। उनका भी अत्यन्त आश्चर्यजनक अर्थात् अत्यन्त सुन्दर वर्ण (वर्ण और वर्णन का एक ही अर्थ है)—लज्जा के सुसंस्थापित पुल (मर्यादा) के ऊपर होकर निकलने वाले विलास की प्रबल उत्कंठा से उत्पन्न और आँखों में तथा मुंह पर उतर कर झलकती हुई लालिमा से मिश्रित गौर वर्ण जिसे कि सहृदय ही समझ सकते हैं—ऐसे वर्ण से पूजित अर्थात् वाह! वाह! कर जिसकी छवि की प्रशंसा की जाती है। (तात्पर्य यह है कि मुख और नेत्रों में झलकता गौर-अरुण वर्ण भी प्रियाजी की कान्ति की तुलना में कुछ नहीं है।) इस प्रकार यहाँ वर्ण की छबि का निर्देश किया गया है।

अथवा रामा तादात्विकरमणकर्त्री प्रियैव। तस्याः, शृङ्गारविशारदतया अत्यद्भुतवर्णनकारको 'वर्णक' इति नाम्ना प्रियस्तेन तत्तद्विलासोन्मुखाङ्गच्छविः प्रशंसितेत्यर्थः। अत्यद्भुतमत्र काव्यप्रसिद्धेरपि नवरीतिकाश्चर्यवर्णनं, येन प्रिया प्रसद्य नववरं दद्यात्; तादृशभङ्गिकमिति। अत्र समष्टिछविर्दर्शिता। अग्रेऽपि छविवर्णनं अङ्गोक्त्या व्यष्टिमयं ज्ञेयम्।

यद्वा रुचिरभिलाष इति यदद्यावधि श्रीमतीरुचिप्रकाशदर्शनाभिलाष एव सदा मच्चातकस्याभूत्, परन्त्वासज्यदर्पच्छन्न एव। इदानीं कथञ्चिदुद्घाटित, इत्यहोभाग्यमित्यादिभङ्गिकरुचिप्रशंसा कृतेति ज्ञेया।

ननु स्वार्थपरः किमिदानीमेव रुच्याधिक्यमर्थवादेन निजाभीष्टप्रवर्तनार्थं वदसीति तत्राह—'नित्य' इति। नित्यमेवैवं प्रशंसनीया अव्यया च।

रसकलश

अथवा 'रामा' से अभिप्राय उस समय विहार करने वाली प्रियाजी से ही है। श्रृंगार-कला में निपुण होने के कारण प्रियाजी का अद्भुत रीति से वर्णन करने वाले वर्णक नामधारी-प्रियतम ने विविध विलासों के अनुरूप बनीं प्रियाजी के अंगों की शोभा की प्रशंसा की। (इस अर्थ में 'वर्णक' का अर्थ रंग नहीं, बल्कि वर्णनकर्ता प्रियतम हैं।) अथवा 'रमणं रामः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'रम्' धातु से भाववाचक घञ् प्रत्यय लगा कर निष्पन्न 'राम' शब्द का अर्थ लगाया 'रमण'। तब अर्थ होगा रमण का वर्णन करने वाले श्रीकृष्ण के द्वारा प्रियाजी की छवि प्रशंसित है। भाव यह है कि काव्यों में रमण (संभोग) के जैसे वर्णन मिलते हैं उनकी अपेक्षा यह वर्णन नवीनतम (मौलिक) और अत्यन्त आश्चर्यप्रद है, ताकि (वर्णन को सुनने के बाद) प्रियाजी प्रसन्न होकर नया वर दे दें। कुछ-कुछ इस प्रकार के आशय से किया गया यह वर्णन है। यहाँ श्रीराधा सर्वांगछवि का कुल मिलाकर वर्णन किया गया है। आगे के पद्यों में (देखिए २४१ तथा २५२) अंगों का पृथक-पृथक नाम लेकर वर्णन किया गया है।

अथवा 'रुचि' का अर्थ है अभिलाषा—प्रियतम की अभिलाषा जिसे यदि शब्दों का रूप दिया जाय, तो श्रीकृष्ण इस रीति से व्यक्त करेंगे—'आज से पहले तक चातक की तरह मेरी यही अभिलाषा रही कि प्रियाजी अपनी तरफ़ से सुरत-संबन्धी रुचि प्रकट करें, परन्तु आसज्या-सुलभ अभिमान के कारण वह अब तक उनके हृदय में ही छिपी रही। आज किसी प्रकार वह प्रकट हुई है। अहो! मैं कितना सौभाग्य शाली हूं। कुछ इस प्रकार के शब्दों में प्रियाजी ने प्रियतम की प्रशंसा की।

यदि कोई कहे कि 'हैं आप बड़े स्वार्थी। इस समय अपना मतलब गाँठने के लिये प्रियाजी की प्रशंसा करते हुए ऐसा कह रहे हैं,' तो उस पर कहते हैं—'नित्याधि-

'अधिका' इति प्रतिक्षणवैलक्ष्यण्योद्दीपकाङ्गानां छविर्यस्या इति प्रियहार्द-ज्ञानेन सखी वक्तीति ज्ञेयम् । तत आवेशेऽपि प्रकृतस्मरणाल्लज्जया नम्रा तनुर्यस्याः । 'हा! किमहमेतत्प्रोत्साहनच्छलितानयमकरवम्' इत्यादिभङ्गिकं नमनम् । ततस्तदैव दानवीरव्रतस्मरणेनोपमर्द्य वर्तमानवीरायितस्थितिं वीक्ष्य किमपूर्वं कृतमिति स्मयेन मन्दहासेन 'मधुरा' इति । एतन्माधुर्यास्वादस्य हितालीहृदयमेव साक्षीति ।

पुनश्च भावान्तरानन्दवशविस्मृत्या केलीनां कौतुकानां छटा यस्याः । अत्र छटावैविध्यभावनावकाशः सहृदयगम्य एव । किञ्च प्रियस्य धाष्टर्याभिलाषातिशयोदये तस्या अपि तदुपमर्द्दकोत्तरदानमिव विजिगीषया केलिच्छटोदयो ज्ञेयः ।

रसकलश

काङ्गच्छविः'—श्रीराधिका के अंगों की छवि नित्य ही उक्त रूप से प्रशंसनीय है, वह कभी क्षीण नहीं होती और प्रतिक्षण उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विचित्रता की उद्भावना करती रहती है। प्रियतम के हार्दिक आशय को समझ कर श्रीहितसखी ने ऐसा वर्णन किया है। आवेश में भर कर प्रियाजी ने अपनी रुचि खुल कर तो प्रकट कर दी, पर जब उन्हें स्थिति का ज्ञान हुआ, तो यह सोचकर लज्जा से उनका शरीर झुका गया कि 'हाय ! इनके प्रोत्साहन में फँस कर मैं यह क्या अनर्थ कर बैठी !' झुकने का कारण कुछ इसी प्रकार के भावों का मन में उदित होना है। परन्तु तत्काल उन्हें अपने दानवीरता के प्रण का स्मरण हो आया, और तब इस प्रकार की भाव-शबलता को दूर फेंक कर अपनी पुरुषोचित स्थिति को देखा, तो सोचने लगीं—"मैंने कोई अनोखा काम तो किया नहीं !' इस पर हंसी की एक हल्की-सी रेखा उनके अधरों पर खेल गई जिसके कारण वह मधुर हो उठीं। इस माधुरी के आस्वाद का साक्षी श्रीहिताली का हृदय ही है

इसके अनन्तर प्रियाजी के हृदय में दूसरे-दूसरे भाव आने लगे जिनके आनन्द में विवश होकर वे अपनी वीरायित स्थिति को बिलकुल भूल गईं और तब केलियों अर्थात् कौतुकों की छटा दर्शाने लगीं। सहृदय ही जान सकते हैं कि ऐसे अवसर पर (जबकि प्रियाजी घमासान पुरुषोचित रण में व्यस्त हों) तरह-तरह के भावों के आवागमन की गुंजाइश कहाँ और कैसे हो सकती है। एक बात यह भी है कि जब प्रियाजी ने देखा कि धृष्टता देखने की प्रियतम की अभिलाषा बढ़ती ही जा रही है, तो उसका करारा जवाब देकर विजय प्राप्त करने की इच्छा से प्रियाजी में केलियों का आविर्भाव हुआ।

ततस्तस्या हारतारल्यच्छविमाह—'सत्' इति । मुक्तानां श्रैष्ठ्यं अनर्घ्यतया तादात्विकालङ्करणप्राप्ताधिकारतया चेति । हाराणां चारुत्वं ग्रथनकौशलेन तादात्विकशोभादानेन चेति 'सत्' इति 'चारु' इत्युक्तिवक्तृसखीहृदयसाक्षिकानन्दव्यञ्जिका । 'सुरुचिः' इति हारैः सुष्ठु रुचिर्यस्या इति षष्ठी । इदानीं दर्शनीयैवेत्यर्थः । यद्वा तादृशहाराणां शोभा यस्या इति पञ्चमी भूषणभूषिताङ्गत्वादित्यर्थः ।

मुक्तकेऽर्थे कान्तिर्लक्ष्मीः । यथा दशमे 'ददौ कान्तिः शुभां स्रजम्' इति । परत्वमनपायिनीत्वं, प्रस्तुतत्वात्, वृन्दावनादन्यलोकाधिष्ठात्रीत्वव्यावर्तकञ्च । 'उज्ज्वला' इति—अवतारिश्रीपुरुषोत्तमनायकशिरोमणिस्थायिमाधुर्यनिकुञ्जरसविहारिण, शृङ्गारानन्ददायिनीत्वादुज्ज्वलत्वम् । अत एव न सापेक्षं परत्वमस्याः ।

रसकलश

अब प्रियाजी के हार की चंचलता की छवि का वर्णन करते हैं—'सन्मुक्ताफलचारुहारसुरुचिः' (श्रेष्ठ जाति के मोतियों से बने हार की सुन्दर कान्ति से युक्त) मोतियों को श्रेष्ठ (सत्) इस आधार पर कहा है कि एक तो वे अमूल्य थे, दूसरे, इस समय उन्हें प्रियाजी के वक्षःस्थल को सुशोभित करने का अधिकार मिल गया था। हार इस लिए मनोहर दिखते हैं कि उनमें मोती बड़ी कुशलता के साथ पिरोये गये हैं, और इसलिये भी कि वे स्वयं सुशोभित हो रहे हैं। 'सत्' (श्रेष्ठ) और 'चारु' (सुन्दर) कह कर वर्णन करने वाली सखी के आनन्द को ध्वनित किया गया है जिसका कि साक्षी उसका हृदय है। 'सुरुचि' का अर्थ यह है कि हारों के कारण प्रियाजी की कान्ति सुन्दर हो गई थी। (षठ्यन्त विग्रह करने से यह अर्थ निकलेगा।) भाव यह है कि प्रियाजी इस समय अत्यन्त दर्शनीय हैं। अथवा प्रियाजी के कारण हारों की कान्ति बढ़ गई थी (यह अर्थ पंचम्यन्त विग्रह करने से निकलेगा। हारों की शोभा जिनमें है।) प्रियाजी हार धारण किये थीं, अतः उनकी निजी कान्ति हारों पर संक्रान्त हो गई थी जिससे वे सुन्दर लग रहे थे।

मुक्तक-पक्ष में 'कान्ति' का अर्थ है लक्ष्मी जैसा कि श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में कहा है—'लक्ष्मी ने विष्णु को शुभ माला दी। 'कान्ति' का विशेषण 'परा' व्यक्त करता है कि यह श्रीराधारूपा लक्ष्मी सामान्य पदार्थों की तरह क्षीण नहीं होती—अनपायिनी है। यह कह कर यह सन्देह भी दूर कर दिया गया है कि वह श्रीवृन्दावन के अतिरिक्त अन्य किसी लोक की भी स्वामिनि है। लक्ष्मी इस अर्थ में उज्ज्वल है कि अवतारी (अंशी) और नायक शिरोमणि और निकुंज-लीला के स्थायी माधुर्य-रस की उपासना करने वाले श्री पुरुषोत्तम को वह स्थायी शृंगार-रस प्रदान करती है। अतः इसके परत्व को अन्य किसी की अपेक्षा नहीं है।

'चन्द्रिका' तटस्थप्रभा यथासंभवं सर्वदेशनिकुञ्जव्यापिनी। तस्याः प्रियाङ्गसकाशाच्चन्द्रादिव प्रवाहापन्नत्वेन नवनवा मिलन्ती श्रीर्यस्यामिति चन्द्रिकाविशेषणम्। एकदैव प्रकाशितवस्तुनः पुराणत्वावगमान्नवश्रीमेलनेन चन्द्रिकासाहाय्यमाचरितमिवेति। एवं चन्द्रिकायाः साधारण्योक्तावपि 'राकानेकविचित्रचन्द्र' इति पद्योक्तरीत्याऽसाधारणत्वमेव ज्ञेयम्।

रमैव रामा लक्ष्मीः प्रसिद्धा। तस्या अप्याश्चर्यकारको वर्णः प्रेममाधुर्यमयत्वात्, तेन श्लाधितकान्तिः। यद्वात्याश्चर्यरूपवर्णेनापि पूजितरुचिरिति। तेन तद्वद्रुचिरेवेति व्याख्या। यद्वा 'लक्ष्मीरभितस्त्रितया' इतिरीत्या लक्ष्मीकोटिविलक्षणोक्तेश्च तादृशगोपकिशोरीणां रामाणामिति। 'आत्मार्पण' इति पदेन केवलतत्सुखतया प्रेमपराकाष्ठा दर्शिता। यथा 'न यत्रात्मप्रदो हरिः' इतिवत् 'भक्ता भजस्व' इतिवद्भगवत्कृतभक्तभजनवद्ज्ञेयमात्म-

---

रसकलश

'चन्द्रिका' से तात्पर्य चाँद की चाँदनी का है जो कि एक स्वतत्रं प्रकाश है। वह यथासंभव समस्त निकुंज-प्रदेश में फैली हुई है। प्रियाजी के भी अंगों के संपर्क के कारण उसमें एक प्रकार का प्रवाह पैदा हो गया है—वैसा ही जैसा कि उसे चन्द्रमा से मिलता है। अतः चांदनी में एक नूतन शोभा आकर मिल जाती है। इस अर्थ में 'नवमिलच्छ्री' यह पद चन्द्रिका का विशेषण है। जो वस्तु एक बार ही प्रकाशित होती है, कालान्तर में पुरानी पड़ने से वह फीकी हो जाती है, अतः चांदनी को अपने अंगों की कान्ति देकर मानों चाँदनी की सहायता की है। इस प्रकार पद्य में साधारण चन्द्रिका का ही उल्लेख किया गया है, तथापि इस उक्ति (पद्य २२४) के अनुसार कि अनेक विचित्ररूपधारी चन्द्रमा यदि उदित होकर कोटि-कोटि ब्रह्मांडों को भर दे, तो भी श्रीवृन्दावन के निकुंज-प्रदेश में केवल उसका आभास ही लक्षित होगा, प्रस्तुत चन्द्रिका को आसाधारण ही समझना चाहिए।

अब मुक्तक-पक्ष में 'रामाद्यद्भुत ..' की व्याख्या करते हैं—रमा ही रामा अर्थात् प्रसिद्ध लक्ष्मी है। उसको भी, प्रेम और माधुर्य से परिपूर्ण होने के कारण, चकित, कर देने वाले वर्ण द्वारा जिसकी प्रशंसा की जाती है, अथवा अत्यन्त आश्चर्य जनक रूप से विशिष्ट लक्ष्मी के वर्ण द्वारा जो प्रशंसित है। लक्ष्मी के वर्ण की तरह—यह व्याख्या करना ठीक नहीं होगा। अथवा इस उक्ति के अनुसार कि स्त्रियों में श्रेष्ठ लक्ष्मी जिनको घेरे रहती हैं, अथवा जैसा कि एक पूर्व पद्य (६७) में वर्णन किया गया है कि 'कोटि-लक्ष्मियों में देखे जाने वाले लक्षणों से सुशोभित किशोरियां जिन (श्रीराधा) की आराधना करती हैं, 'रामा' का अर्थ है—गोपकिशोरियां। 'आत्मार्पणेन' (अपने आप को समर्पित कर)—इस पद के द्वारा केवल प्रियाजी के सुख को अपना सुख मानकर प्रेम की पराकाष्ठा प्रकट की है। जैसे 'जहाँ आत्मा को देने वाले श्रीहरि नहीं हैं'—

दत्वम् । अत्रापि प्रभुत्वं न व्याहतं शङ्क्यम् । लज्जानम्रतया वधूमाधुर्यं व्यञ्जितं, अन्यथा केवलमैश्वर्यपर्यवसन्नमेव स्यात् । स्मयेन रूपसौभाग्य-गर्वेण च मधुरा प्रिया । वा मधुरेतीति दृङ्मनोमादिका केलीनां छटाश्चमत्कारा यस्याम् । वा केलय एव छटा इति यथा—अमृतमयचन्द्रस्या-मृतछटास्तथा लीलामूर्तेर्लीलारूपा एवेत्युचितमिति ।

पूर्वं ज्योतिरुक्तम् । अत्र पूरोज्ज्वलकान्तिवर्णनमुचितमेव । किञ्च यदेयं कान्तिरात्मकान्त्यर्पणं करोति, तदैवाविष्टं भूषणरूपज्योतिर्नन्दतीति । अच्युतपदस्य परापदेनैवोचितं प्रीणनमित्यपि । अन्यत् स्पष्टम् ॥२३७॥[1]

रसकलश

इस उक्ति की तरह, तथा 'भक्तों का भजन कर, इस उपदेश के अनुसार प्रियाजी द्वारा किये गये स्वसमर्पण का यह अर्थ लेना चाहिए कि जैसे कभी भगवान उलटे भक्तों की आराधना करते हैं, वैसे ही प्रियाजी ने कृपा-भाव से प्रेरित होकर अपने आप को अर्पित किया था । इससे प्रियाजी की प्रभुता में कोई कमी नहीं आती । 'लज्जा से नम्र' कह कर प्रियाजी में वधू-सुलभ माधुर्य व्यंजित किया गया है, नहीं तो आत्मार्पण केवल ऐश्वर्य-भाव से ही प्रेरित माना जाता । 'स्मयेन' (मधुर मुस्कान द्वारा) से यह तात्पर्य है कि प्रियाजी अपने सौभाग्य और सौन्दर्य के अभिमान से मधुर प्रतीत हो रही थीं । 'मधुरा' का अर्थ है प्रिय, अथवा यह कि वे मधु को प्रदान करती थीं तथा दृष्टि और मन को उन्मत्त बना देने वाले केलियों के चमत्कार उनमें विद्यमान थे । अथवा केलिरूप छटाये उनमें थीं । जिस प्रकार अमृतस्वरूप चन्द्रमा की छटा अमृतमय होती है, वैसे ही यह उचित ही है कि लीलामूर्ति श्रीराधा की छटायें भी लीलामय हों ।

पूर्व पद्य में श्रीकृष्णरूप ज्योति का वर्णन किया था, तो प्रस्तुत पद्य में संपूर्ण उज्ज्वल कान्ति का वर्णन किया है, जोकि उचित ही है । दूसरे यह कि जब यह कान्ति अपने को समर्पित करती है, तभी प्रियाजी वक्षःस्थल के भूषणस्वरूप श्रीकृष्णात्मक ज्योति आह्लादित होती है । अतः यह उचित ही है कि जो अच्युत हैं उसे 'परा' ही प्रसन्न करें । शेष स्पष्ट है ॥२३७॥

१. श्री कृपालाल गोस्वामी ने 'नवमिलच्छ्रीचन्द्रिकोद्भासिनी' का अर्थ किचा है—नवीन मिली हुई, अर्थात् श्रीललितासखी के द्वारा भेंट की गई जो चन्द्रिका उसे भी प्रकाशित करने वाली । पद्य के दूसरे चरण का भी अर्थ उन्होंने अपने ढंग से किया है —ललिता आदि रामाओं के जो अपने-अपने अद्‌भुत वर्ण उनमें काञ्चित अर्थात् जटित है रूचि-कान्ति जिनकी ।' इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है—ललिता आदि आठ सखियां है । उनमें से हर एक की आठ सखियाँ और हैं । इन सबके पृथक-पृथक वर्ण है । वे आधारभूत स्वर्ण की तरह है और प्रियाजी उनके मध्य में मणि की भांति जड़ी हुई हैं ।

एक आधुनिक टीकाकार महोदय ने 'वर्णक' अर्थ लगाया है—शरीर पर लगाने का आलेप जो हिंगुल, चन्दन आदि द्रव्यों से तैयार किया जाता है । यह अर्थ अधिक सीधा प्रतीत होता है ।

नन्वेवं माधुर्यैश्वर्यविशिष्टा परोज्ज्वला लक्ष्मीः प्रसिद्धप्रभावा कथं सर्वैर्नोपास्यते ? तत्र परमगोप्यत्वमाह—

यन्नारदाजेशशुकैरगम्यं
वृन्दावने वञ्जुलमञ्जुकुञ्जे ।
तत्कृष्णचेतोहरणैकविज्ञ
मत्रास्ति किञ्चित् परमं रहस्यम् ।।२३८।।

अन्तरङ्गे तु कथानकरीत्या यथासंभवं सखीं प्रति संवदति, बहिराचार्य-वपुषा यथाधिकारिसजातीयजिज्ञासून् प्रति सिद्धान्तयतीति ज्ञेयम् । तदत्र श्लोकत्रयं स्फुटेऽर्थे सुगममेवाह। लोके भगवल्लीलाधिकारिणः परमभागवता नारदाजेशशुकाद्या एव तत्र गृहीताः यत्प्रकाशितो भगवद्धर्मः सर्वैः सेव्यत इति । तदनुक्तं सर्वमज्ञेयमेवेति स्फुटम् । प्रस्तुते तु यत्किञ्चिदनिर्वचनीयं परमं रहस्यं गोप्यतमं, तदत्र वृन्दावनेऽस्तीति सम्बन्धः । रहस्यमेव विशि-

रसकलश

अब शंका उठती है कि जो लक्ष्मी माधुर्य और ऐश्वर्य से विशिष्ट है। प्रत्येक के लिये अगम्य है, उज्ज्वल श्रृंगार-रस से परिपूर्ण है और जिसका प्रभाव प्रसिद्ध है, उसकी आराधना सब लोग क्यों नहीं करते ? तो इसका उत्तर उसे अत्यन्त गोपनीय बताते हुए देते हैं—

'जो नारद, ब्रह्मा, शुक आदि की भी पहुंच से परे है, वह इस वृन्दावन में बैतों से घिरी हुई सुन्दर कुंज में श्रीकृष्ण के हृदय को चुराने में एकमात्र कुशल किसी अनिवर्चनीय परम रहस्य के रूप में विराजमान है ।।२३८।।

अन्तरंग में तो एक कहानी के रूप में, जितना भी संभव है, सखी से वार्तालाप करती हुई कहती हैं, उपदेशक के रूप में, अधिकारी के हिसाब से अपनी जैसी भावना रखने वाले अपने ही वर्ग के जिज्ञासु व्यक्तियों को सिद्धान्त के रूप में बताते हैं, यह ज्ञातव्य है । इस विषय पर रचे गये तीनों श्लोक (२३८-२४०) सरल हैं और उनका अर्थ भी स्पष्ट हैं । संसार में भगवल्लीला के अधिकारी परम भक्त नारद, ब्रह्मा, शुक आदि माने गये हैं । इनके द्वारा प्रतिपादित भागवत धर्म की ही सब उपासना करते हैं । इनसे जो कुछ कहने से छूट गया है, वह सब अज्ञेय ही है, यह स्पष्ट है । प्रस्तुत में तो, जो कुछ अनिवर्चनीय, परम रहस्यात्मक और अत्यन्त गोपनीय है, वह यहां वृन्दावन में ही है—यह अन्वय है । रहस्य की व्याख्या करते हैं—वह तत्व नारद आदि की पहुंच से परे है। ऐसी स्थिति में यदि कोई पूछे कि आपको ही वह कैसे मिल गया ? तो उत्तर यह है कि उन्होंने भी योग-संबंधी ऐश्वर्य के बल पर नारद आदि

नष्टि-नारदाद्यप्राप्यम् । ननु भवद्भिः कथं प्राप्यते ? तत्रैवं यत्तैरपि योगैश्वर्यबलान्नारदादत्वेन न प्राप्यते । प्रमेयबलात् तद्योग्यरूपप्राप्त्या सर्वोऽपि प्राप्त्यर्ह एवेति ज्ञेयम् । यथा 'ब्राह्मी वक्तुं न शक्ता' इत्यत्र 'कः खद्योतो वराकः शशिनि सति लसेत्तौ तु सूर्ये समानौ' इति ।

ननु यदगम्यं तद्भगवत्तत्वं ब्रूथ ? तत्र तस्यापि वशीकारित्वमाह—'कृष्णे'ति । सर्वाकर्षकस्यापि चेतनस्य, संज्ञानस्य, स्वातंत्र्यधैर्यस्य हरणेऽनन्य-निपुणम् । व्रजलीलायामधमर्णीकृतकृष्णानां गोपीनां चेतोहरणानैकान्तित्वादत्र स्थायिवशीकारित्वेन 'एक'-पदं दत्तम् । तत्रैश्वर्यस्थूलदृशां वृन्दावनधाम्न ऐश्वर्यप्रच्छादकत्वमाह—वञ्जुलेषु वेतसीतरुषु प्रायः श्रीयमुनातीरस्थेषु वप्रवत्प्रान्तभागपरिवृतेषु मध्ये मञ्जवो मनोहराश्चेतोहरस्यापीति कुञ्जाः कोमलालतादिपिहितोदरागृहा यत्र । अनेन विलासिप्रभूणां परमानन्ददत्वं

रसकलश

के रूप में नहीं मिला है। हाँ, ज्ञान का जो विषय है (ज्ञातव्य श्रीराधा-तत्व) उसकी कृपा से और अपेक्षित अन्तरंग सखी-भाव प्राप्त होने पर नारद आदि क्या सभी उसे प्राप्त कर सकते हैं। एक पद्य में कहा भी है—'सरस्वती भी उसका वर्णन नहीं कर सकती' उसी पद्य में आगे चल कर कहा गया है—'चन्द्रमा के उदय होने पर बेचारे जुगुनू की क्या हस्ती रह जाती है ? और सूर्य के निकलने पर तो चन्द्रमा और जुगुनु दोनों एक ही श्रेणी में आ जाते हैं।'

अब जिज्ञासु पूछता है—जो भगवत्तत्व दुर्बोध्य है, उसे ही बताइए, तो इस पर ऐसे तत्व का निर्देश करते हैं जो भगवत्तत्व को भी अपने वश में कर लेता है—तत्कृष्ण-चेतोहरणैक विज्ञम्।' 'कृष्ण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है--खींचने वाला। सब को अपनी ओर आकर्षित करने वाले, चित्स्वरूप, ज्ञानमय श्रीकृष्ण की भी स्वतंत्रता और धैर्य का अपहरण करने में असाधारण रूप से कुशल। व्रजलीला में तो श्रीकृष्ण को अपना ऋणी गोपियों के मन को तो कुछ समय के लिये ही हरण किया था, किन्तु यहां तो श्रीकृष्ण का हृदय सदा-सदा के लिये हरण कर लिया गया है—इस आशय को सूचित करने के लिए 'एक' शब्द का उपादान किया गया है। अब ऐश्वर्य के कारण जिनकी बुद्धि मोटी हो गई है, उन्हें दृष्टि में रख कर बताते हैं कि किस प्रकार श्रीवृन्दावन धाम ने ऐश्वर्य के महत्व को ढँक दिया है—'वञ्जुलमञ्जुकुञ्जे' (बैतों के मनोहर कुंज में) श्रीयमुना के किनारे-किनारे ऊगे हुए और मुख्य स्थल के सिरों पर परकोटा-जैसा बना कर खड़े बेंत के पौधौं के घेरे की बीच में बनी, संसार के चित्त को हरण करने वाले को भी मनोहर दिखने वाली कुंजें—अर्थात् लतादि से ढके हुए भवन—जहाँ बने हैं, ऐसे श्रीवृन्दावन में । इससे यह सूचित किया गया है कि विलासी प्रभुओं को

सूचितम् । यद्वा वृन्दावनेऽपि मञ्जुकुञ्जे इति, न सर्वत्रैवेति । किञ्च 'गोपगोपीगवां सेव्यं पुष्पाद्रितृणवीरुधम्' इति वात्सल्यसख्यदास्याधिकार-स्थानसंक्रान्तत्वात् केवल कुञ्जदेश एव परमरहस्ययोग्य, इति अत्रोऽत्रैव सखि ! परमं रहस्यं, नान्यत्रेतिभावः ।

अथवा सन्निहितपदान्वयात् यद्वृन्दावने नारदाद्यगम्यं तदेव कृष्ण-चेतोहरं वस्तु वर्तते । अत्र कथने निपुणैर्विचार्यतां किञ्चित् परमरहस्यं प्रहेलिकास्ति । वृन्दावनेऽप्यागतनारदाद्या व्रजलीलां दृष्ट्वा नन्दादिपूजिताः स्वालयं गच्छन्ति, न च तेषां कुञ्जे गतिरिति । कृष्णो मनोहरोऽपि स्वचित्तं कदा हृतमिति न ज्ञातवान्, इत्यादिहरणलाघवकौशलमुक्तम् । तदा विचेताः स्वकरणीयं विस्मृत्य कुञ्जवीथ्युपासनापरः परवानास्तं, नाद्यावधि चित्तं

रसकलश

भी परम आनन्ददायक यह स्थान है । अथवा यह अर्थ भी संभव है कि वृन्दावन में सर्वत्र नहीं, बल्कि वहीं जहाँ मनोहर कुंजें हैं । श्रीमद्भागवत में भी कहा है—'श्रीवृन्दावन गोप, गोपी और गायों से सेवित है और वहाँ पवित्र पर्वत, घास और लतायें हैं ।' इसके अनुसार श्रीवृन्दावन में ऐसे भी स्थल हैं जिन पर वात्सल्य, सख्य और दास्यभावों का भी अधिकार है, (अर्थात् श्रीकृष्ण-संबंधी विभिन्न भावनाओं के अनुसार ब्रजवासी लोग विभिन्न प्रकारों से श्रीवृन्दावन का सेवन करते हैं) । किन्तु परम रहस्य के लिए उचित स्थान तो एक-मात्र निकुंज के प्रदेश ही हैं । इसलिये सखी! परम रहस्य यहीं है, अन्यत्र नहीं, यह भाव है ।

अथवा पद्य के प्रारंभ में प्रयुक्त 'यत्' शब्द का संबन्ध उसके निकटवर्ती पदों से ही लगाया जाय, तो अर्थ होगा—श्रीवृन्दावन में जो नारद आदि के लिये अगम्य है, वही श्रीकृष्ण के मन को भी हरण करने वाली वस्तु है (अर्थात् दोनों की एक जैसी ही स्थिति है) । इस प्रकार कहने में तो परम रहस्य एक पहेली बन कर रह जाता है जिसे निपुणजनों को बुझाना चाहिए । नारद आदि श्रीवृन्दावन में आते हैं और व्रज-लीला को देख कर तथा नन्द आदि का आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करके अपने-अपने निवास-स्थानों को लौट जाते हैं, कुंज तक उनकी भी पहुंच नहीं है । श्रीकृष्ण सबके मन को हर लेते हैं, पर उनका स्वयं का चित्त कब चुरा लिया गया, इसका पता उन्हें भी नहीं लगा । इससे यह सूचित किया गया है कि चुराने की सफ़ाई कैसी लाजवाब है । तब से लेकर अपने होश-हवाश खोकर और अपने कर्तव्य को भूल कर श्रीकृष्ण कुंज-वीथियों का सेवन करते हुए पराधीन बन कर रह रहे हैं । यहाँ 'नारद आदि के अगम्य' तथा 'श्रीकृष्ण के हृदय को चुराने में समान रूप से निपुण' इन दो विशेषणों द्वारा जब

प्राप्तवानिति । अत्रासाधारणलक्षणद्वयविशेषणेन पदमन्विष्य यन्निष्पाद्यते, तत्किं वस्त्विति प्रश्नरूपोऽर्थः । ननु तन्नामैव कथं नोच्यते ? तन्ना मा वचनेनैव ज्ञापने परमास्वादः सहृदयैस्तु वेद्यत एवेति किं पुनरुक्तिरिव क्रियते, इति भावः ।

यद्वा स चासौ कृष्णश्चेति समस्तेन तच्छब्देनासमस्तो यदिति संबध्यते । तदा यदगम्यं तत्तादृशकृष्णस्यापि चेतोहरं वृन्दावने वर्तते । चौरोऽपि महा-सावधानेभ्योप्यगम्यो भवति । कश्चित्तस्यापि पश्यतोहर इत्यगम्यादप्यगम्यः, को निश्चेतुं शक्तः ? अत्र स्तेये किञ्चित् परमं रहस्यमस्तीति तत्र यथामति किञ्चिल्लिख्यते—

नारदाद्युपलक्षणेन तत्प्रकाशितवेदागमतंत्रशास्त्रपुराणानि गृह्यन्ते । यत्कर्तृभिरगम्यं तत्वम्, तदा तद्वाच्येषु कदाचित् प्रस्तुततत्ववर्णनाभावो यत्र तत्र दृश्येत, तेन तत्तत्वशरणाश्रितैर्न व्यामोहं प्राप्तुमर्हम् । इत्येतेन शास्त्रा-न्तरापेक्षया सजातीयभावुकसमाधानम् । किञ्च तत्र तत्र स्वमतान्वेषणेना-

---

रसकलश

अन्वेषणीय वस्तु के असाधारण होने का पता लग गया, तो उस पद की खोज कर अन्त में जहां पहुंचते हैं वह कौन सी वस्तु है ? यह प्रश्न निष्पन्न होता है । शंका होती है, तो उसका नाम-निर्देश ही क्यों नहीं कर देते ? तो उत्तर यह है कि बिना बताये सूचित करने में एक अनुपम आनन्द है सहृदय तो उसे जानते ही हैं, फिर पिष्टपेषण करने से क्या लाभ ? यह भाव है ।

अथवा 'तत्कृष्णः' को कर्मधारय-समासान्त पद मान कर उसका संबंध असमासान्त 'यत्' के साथ किया जाय, तो विग्रह होगा—वह (वैसे), जो श्रीकृष्ण, और अर्थ होगा —जो नारद आदि के भी अगम्य है (और) उस प्रकार के श्रीकृष्ण के भी चित्त को हरने वाला है, वह (तत्व) श्रीवृन्दावन में है । जो बहुत सावधान रहते हैं वे भी चोर को नहीं पकड़ सके, लेकिन कोई चीज एसी भी है जो चोर के देखते उसकी वस्तु को चुरा ले जाता है । इसका मतलब यह हुआ कि चोर की भी चोरी करने वाला तो एकदम ही पहुँच के बाहर है । उसे भला निश्चयपूर्वक कौन बता सकता है ? इस चोरी में कोई परम रहस्य है जिसे अपनी बुद्धि के अनुसार यहाँ लिखा जाता है—

नारद आदि कहने से नारद तथा तत्समकक्ष व्यक्तियों का ही बोध नहीं होता, बल्कि उनके द्वारा रचित वेद, आगम, तंत्र, शास्त्र पुराण भी आ जाते हैं । जब इनके रचयिता भी उस तत्व को नहीं पहिचान पाते, तो संभव है, उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में प्रस्तुत तत्व का वर्णन न मिले । किन्तु इससे उस तत्व की शरण में आये हुए भक्तों को किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये । उचित तो यही है कि अन्य शास्त्रों

संभावनादिहतं मनः स्यादिति। ननु यदि ते ते वक्तारः प्रस्तुततत्वप्रभाव-मन्यथा वदेयुस्तदापाततः साधारणजिज्ञासुताप्राप्तो निरनुभवो नवीनः केन सहायेन स्वमतनिर्बन्धं कुर्यात् ? तत्राह—'कृष्णे'-ति। सर्वे सिद्धान्तास्तत्व-निश्चयान्ता एवेति स्फुटम्। 'वदन्ति तत्तत्वमिदः' इत्यत्र 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान्' इति रीत्या सविशेषनिर्विशेषभेदेनापि 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति कृष्णतत्वैकपर्यवसन्नास्तदुपासनं केनापि न दुष्यते। एतदवधिमार्गोऽ-विरुद्धो निर्विवाद एव। नारदाद्या अपि सर्वे चैतदुपजीव्याः साक्षिण एव।

अथातः परं तत्तादृशकृष्णस्यापि चेतोहरमेकं तत्वं वस्तु किञ्चिद्वर्तते। अत्र परमं रहस्यमस्ति, न तु पूर्वविशेषणेऽगम्यार्थे। अहो चित्रं, सर्वेश्वरः सर्वव्यूहावतारावतार्य्यनन्तगुणगणार्णवो ब्रह्मादगम्यः कथं केन हारितचेतनो भवेदित्यशक्यममनीयमेवेत्यसंभावनाविषयत्वात् सर्वैर्न ज्ञायते। अतएव

रसकलश

को न टटोल कर अपने पक्ष के भावुक जनों के विचारों को प्रामाणिक मानते हुए अपने मन का समाधान कर लिया जाय। दूसरे यह कि इधर-उधर अपने सिद्धान्त का समर्थन खोजने में मन इस प्रकार निराशाग्रस्त भी हो सकता है कि अरे! हमारे मत की बात तो इन शास्त्रों में मिलती ही नहीं। इस स्थल पर शंका की जा सकती है कि अपने मत का प्रतिपादन करने वाले ये लोग प्रस्तुत तत्व (श्रीराधा-तत्व) के प्रभाव को उल्टा-सीधा समझा दें, तो प्रारंभ में जो साधारण जिज्ञासु मात्र हैं और अनुभवहीन हैं, वे किसकी सहायता से अपना मत निश्चित करेंगे ? इस पर कहते हैं—'कृष्ण' इत्यादि। सब सिद्धान्तों का लक्ष्य तत्व का निश्चय करना है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। श्रीमद्भागवत में कहा है—'तत्वज्ञानी लोग उन श्रीकृष्ण को ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् कहते हैं।' इस प्रकार सगुण, निर्गुण का भेद होने पर भी 'श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् ही हैं; इस उक्ति के अनुसार सब ने, अन्त में, श्रीकृष्ण को ही परमतत्व माना है। उनकी उपासना के संबंध में किसी को आपत्ति नहीं है। यहां तक तो किसी को विरोध नहीं है। और न कोई विवाद ही है। नारद आदि सब ज्ञानी भी श्रीकृष्ण को ही अपना एकमात्र आश्रय मानते हैं और इनके साक्षी हैं।

अब इस श्रीकृष्णात्मक तत्व के बाद कोई एक तत्व—वस्तु है जो श्रीकृष्ण के भी चित्त को चुरा लेती है। इसी तत्व के सम्बन्ध में परम रहस्य होने की बात कही जाती हैं, न कि पद्य में उल्लिखित 'नारदादि' पूर्व विशेषण के सम्बन्ध में (अर्थात् वह तत्व इसलिए रहस्यात्मक नहीं है कि वह नारदादि के हाथ नहीं पड़ता, बल्कि वह स्वरूपतः अगम्य है।) अब यदि कोई कहे कि यह तो बड़े आश्चर्य की बात है कि जो सर्वेश्वर है, जो भिन्न-भिन्न शरीर धारण कर अवतार भी लेता है और अवतारी भी है, अनन्त गुणों का समूह है, ब्रह्मादिक की भी गति से परे है वह भला अपनी सत्ता को किससे हार

रहस्येऽपि परमत्वम् । यदि तच्चेतोहरं प्रबलं किञ्चिद् वस्तु स्यात्तदा तदुपसने न विवादावकाशः, कृष्णचेतोहरणधर्मेणैव प्रमाणचक्रवर्तिना सर्व-शास्त्रमतानुक्तमपि सर्वाप्तासम्मतमपि जयपटहनादेन सर्वानुपमर्द्य सिद्धा-न्त्यत एवेतीदं परमं रहस्यस्थानं सिद्धान्तस्येति तथैवोक्तमत्र बहुशो 'यद्-वृन्दावनमात्रगोचरम्' इत्यादिपद्याष्टके सोपपत्तिकमिति ।

ननु ज्ञातमासक्त्याश्रयविषयतत्वम् । तत्राप्तकामशीलस्यासज्यस्यहरण-कर्तृत्वं कथं घटते ? तत्रैवं छविलावण्यरूपादिगुणकर्तृत्वेऽपि गुणिन्यारोपात् तत्कर्तृत्वं ज्ञेयम् साक्षात्कर्तृत्वेऽपि 'श्रीराधामेव जानन्' इत्युक्तज्ञानानन्यत्वं प्रति प्रसद्य स्फुटग्रहणेतु लोभित्वख्यातिभयात् परममत्वेनाकर्षणह्वयं

रसकलश

जायगा ? यह तो असम्भव है और कभी माना नहीं जा सकता । इसका उत्तर यह है कि उस राधा-तत्व के सम्बन्ध में ऐसी संभावना न की जा सके, ऐसी बात नहीं है, इसी-लिये सब लोग उसे नहीं जान पाते । इसीलिये तो वह रहस्य ही नहीं, परम रहस्य है । यदि कोई ऐसी वस्तु है जो श्रीकृष्ण के भी चित्त को हरण कर ले, तो उसकी उपासना के सम्बन्ध में भला क्या विवाद हो सकता है ? वह तत्व श्रीकृष्ण के भी चित्त को चुराने में समर्थ है, यही उसके अस्तित्व का सबसे प्रबल प्रमाण है । शास्त्रों में इसका कहीं उल्लेख न होने पर भी, सब प्रामाणिक अधिकारी व्यक्तियों की सम्मत्ति के विरुद्ध होने पर भी, यह तत्व अपनी विजय दुन्दुभि से सब सिद्धान्तों का मर्दन कर सर्वोपरि प्रतिष्ठित है । इसलिए वह सिद्धान्त का परम रहस्य-स्थान है । श्रीराधासुधानिधि में 'यद् वृन्दावनमात्र गोचरमहो' (पद्य ७६) से प्रारम्भ कर आठ श्लोकों (८३) तक यही बात बार-बार युक्ति पूर्वक प्रतिपादित की गई है ।

अच्छा आसक्ति के आश्रय (श्रीकृष्ण) और विषय श्रीराधा की तत्वस्वरूपता समझ में आ गई, किन्तु पूर्णकाम आसज्य तत्व (श्रीराधा) मन को आकर्षण करने का काम करें—यह कर्तृत्व उनमें कैसे संभव है ? इस शंका का समाधान यह है कि चित्त को चुराने का काम उनकी छवि, रूप, लावण्य आदि ने किया, तो वास्तविक कर्ता तो ये ही हैं, पर इन गुणों का आरोप गुणी श्रीराधा में कर दिया गया है, अतः उनमें कर्तृत्व आ जाता है । इस प्रकार श्रीराधा के साक्षात् कर्त्री होने पर भी श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में 'मधुपति केवल श्रीराधा को ही जानते हैं और दिन-रात कुंज-वीथी की उपासना करते हैं,—इस पद्य (२३५) द्वारा सूचित उनकी अनन्यता से प्रसन्न होकर श्रीहितसखी ने श्रीराधा का स्पष्ट नाम-निर्देश यह सोच कर नहीं किया कि लोग कहेंगे कि श्रीहितसखी को राधा नाम का बड़ा लोभ है । उधर प्रियाजी के प्रति श्रीहितसखी की ममता इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि श्रीकृष्ण की इस ख्याति को न सह सकने के कारण

प्रत्यसहिष्णुतया वीरत्वोदयेन प्रभुशीलेन च हृतमेवेति बोध्यम् । 'एक' इति 'विज्ञ' इति पदेन सर्वगुणेषु परमविचक्षणत्वं व्यज्यते ॥२३८॥

तत्रैतादृशोक्तातिरहस्याधिकारानधिकारवद्भेदमाह—

लक्ष्मीर्यस्य न गोचरीभवति यं नापुः सखायः प्रभोः
सम्भाव्योऽपि विरञ्चिनारदशिवस्वायम्भुवाद्यैर्न यः ।
यो वृन्दावननागरीपशुपतिस्त्रीभावलभ्यः कथं
राधामाधवयोर्ममास्तु स रहोदास्याधिकारोत्सवः
॥२३९॥

स राधामाधवयोः रहोदास्याधिकारोत्सवो मम कथमस्त्विति सम्बन्धः । राधाऽसमोर्द्ध्वप्रेमसिद्धिर्माधवस्तन्मधुपानलम्पटोऽनन्यमधुपस्तयोर्दास्येऽपि । रहोन्तरङ्गाधिकारो यथा—'गतौ कुञ्जद्वारे सुखमरुति संवीज्य' इति, 'प्रातः

रसकलश

कि वे सब को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं, केवल इतना ही कि किसी रहस्य ने उनके मन को खींच लिया—इसलिए खींच लिया कि उस परम रहस्यमय तत्व में वीरता की भावना उदित हो आई। इसके अतिरिक्त वह सब प्रकार से सामर्थ्य सम्पन्न भी हैं।

'एकविज्ञम्' (एक मात्र ज्ञाता) पद से सूचित किया गया है कि वह सब गुणों में अत्यन्त विलक्षण है ॥ २३८ ॥

जिस रहस्य का ऊपर वर्णन किया जा चुका है, उसके अधिकार और अनधिकार भेद का वर्णन करते हैं—

लक्ष्मी को भी जिसका साक्षात्कार नहीं होता (ज्ञानगम्य नहीं हैं), जिसे श्रीदामा आदि सखागण भी प्राप्त नहीं कर सके, ब्रह्मा, नारद, सनकादि जिसकी सम्भावना भी नहीं कर सकते, जो (केवल) श्रीवृन्दावन की विदग्ध गोपिकाओं के द्वारा ही प्राप्य है, श्रीराधा-माधव के एकान्त दास्य का अधिकार मुझे कैसे मिले ? २३९ ॥

श्रीराधा-माधव के इस एकान्त दास्य का अधिकार मुझे कैसे प्राप्त हो—यह अन्वय है । अनुपम और सर्वोच्च प्रेम की सिद्धिस्वरूपा श्रीराधा और उनके अधरासव को पीने के इच्छुक अनन्य भ्रमर श्रीकृष्ण, दोनों का दास्य-भाव प्राप्त करके भी एकान्त कुंज की अन्तरंगा सखी होने का अधिकार कैसे मिले ? अन्तरंगा सखी के अधिकार श्रीराधासुधानिधि के पद्यों में दिये गए हैं । 'जैसे—'प्रातः काल दूसरा कौशेय

पीतपटम्' इति, 'कदा रत्युन्मुक्तम्' इति, 'अलिन्दे कालिन्दी' इत्यत्र 'सुखस्पर्शेनामीलित' इति, यथा च 'निषेवे नृत्यन्तीं व्यजनवरताम्बूलशकलै इत्यादि योग्यत्वम्। तस्योत्सवः कदा ममाप्येवं स्यादित्यौत्सुक्यमसाधारणा-भिलाषो, वा दास्याधिकार एवोत्सव इति। यथा कश्चिन्नृपसाचिव्ये प्राप्ते मङ्गलोत्सवं करोति नवं दिनञ्च मन्यते इति। यद्वा दास्याधिकारे य उत्सव आनन्द इति यथाभावुकगम्यऽर्थः। मम तदेकचातकस्य 'कथम्' इति केनापि प्रकारेण साधनादिभाग्योदयेन, निर्हेतुककृपयेति यावत्। 'अस्तु' इत्याशंसनम्। यद्वा 'कथम्' इत्यनुतापार्थव्यञ्जकपदम्। अहो! तादृशदुर्ल-भोऽर्थो मम जनासम्भावनापीडितमनसः वाञ्छितार्थाद्विपरीतरूपेणच कथं स्यादिति साधकानुग्राहकोऽर्थः। आन्तरे तु रुच्याधिक्यवतां शीलमित्थमेव यदधिकारानन्दमनुभूय सदा तस्यैवाशंसनं कुर्वन्ति। इष्टप्रसादेनापि सदैव-

रसकलश

वस्त्र देकर प्रियाजी के भी अंगों पर से पीताम्बर को कब उतारूँगी?' (पद्य ७५), 'रति-विलास में शिथिल हुए प्रियाजी के केशपाश को कब बांधूंगी?' (पद्य १७४), 'अलिन्दे कालिन्दी' पद्य में वर्णित यह सेवा कि 'सुखद स्पर्श से आंखे बन्द किये श्रीराधा माधव के मैं कब पंखा झलूंगी?' (पद्य १६५)' और 'नृत्य करती हुई भी प्रियाजी को बीजना और पान के टुकड़े देकर मैं कब सेवा करूँगी? (पद्य १५८)। इन उद्धरणों में वर्णित सेवा करने की योग्यता ही सेवाधिकार है। उसका उत्सव—अर्थात् मुझे भी इस प्रकार का अधिकार मिले, ऐसी उत्कंठा अथवा असाधारण अभिलाषा। अथवा दास्य-वृत्ति का अधिकार स्वयं एक उत्सव है (उसके लिए अलग समारोह करने की आवश्यकता नहीं)। जिस प्रकार राजा का मंत्रिपद मिल जाने पर कोई मंगलकारी उत्सव करता है और उस दिन को एक नया दिन मानता है, वैसे ही। अथवा दास्य के अधिकार में जो उत्सव अर्थात् आनन्द है। इनमें से कोई एक अर्थ भावुक जन अपनी-अपनी रुचि के अनुसार लगा सकते हैं। एकमात्र उन श्रीराधा के ही चातक मुझे कैसे मिले? 'कथम्' का अर्थ है—किसी प्रकार—अर्थात् साधन करने से, भाग्योदय से या अहैतुकी कृपा से। अथवा 'कथम्' द्वारा यह पछतावा प्रकट किया गया है कि 'अहो! ऐसी सिद्धि तो मेरे लिये दुर्लभ ही है। एक तो लोगों ने इसे असम्भव बता कर मेरे मन को यों ही दुखी कर रक्खा है, दूसरे मेरा स्वरूप (आचरण) इस कामना के विपरीत है। साधक को अनुगृहीत करने के पक्ष में यह अर्थ है। अन्तरंगा सखियों के सम्बन्ध में तो इसका अर्थ यही है कि प्रियाजी के प्रति जिनकी सेवा-रुचि अधिक है, उनका तो यह स्वभाव ही बन गया है कि अधिकार के आनन्द का उपभोग करते हुए भी वे सदा यही कामना करती हैं कि आराध्य की कृपा से सदा ऐसा ही होता रहे।

मेवास्त्वितु । अत्राधिकारपदेन स्वस्य बाह्याभ्यन्तरयोः साचिव्यरूपं दास्यसत्वेऽपि छाद्यमानमाप्यञ्जसैव कथने प्रकटितमिति ज्ञेयम्

स कः यस्योत्सवस्य लक्ष्मीर्नगोचरीभवति। अगोचरा गोचरा भवतीति च्विप्रत्ययार्थेन पूर्वमप्यगोचरैवासीदिति व्यञ्जितम्। अपि च कदाचित् पादसेवनभक्त्यङ्गाधिकारिणीत्वख्यातेरेतद्दास्ययोग्यतौत्सुक्येनाप्यत्रागच्छेत् तदपि न सतां विषयीकरोति। वैभवदर्पपर्यवसन्नत्वात् कृष्णचेतोहरमाधुर्यप्रेमरसाभावान्न तस्या अधिकारः। अत एव श्रीपृथुवाक्ये 'जगज्जनन्यां जगदीश वैशसम्' इत्यत्र 'स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया' इत्युपेक्षणं भागवतैरपि कृतं 'श्रियमनुचरन्तीम्' इत्यादौ 'न भजति' इत्युक्त्या चेति। तदात्र तु कैमुत्यमेव।

अत्र दीनभृत्यप्रयोगो न शङ्क्यः, प्रेमैकतात्पर्यग्रहणात्। भृत्यगतप्रेमापि

रसकलश

यहां 'अधिकार' शब्द से अन्तरंगा सखी और बहिरंग आचार्य स्वरूप—दोनों रूपों में श्रीहितसखी का मंत्रीत्व व्यक्त किया गया है। 'दास्य' शब्द से इस अधिकार को ढकने का प्रयत्न किया गया है, पर वह कहने में भलीभाँति प्रकट हो ही तो गया।

वह अधिकार कौन सा है? जिसके उत्सव को लक्ष्मी भी नहीं देख पाती। 'गोचरी भवति' में अभूत-तद्भाव अर्थ में च्वि प्रत्यय है। इससे यह द्योतित होता है कि इससे पहले भी यह उत्सव लक्ष्मी के अगोचर ही रहा है। दूसरे, विष्णु की चरण-सेविका होने के नाते और इस प्रसिद्धि के बल पर कि वह उनकी अर्धाङ्गिनी है, श्रीराधा-माधव की दासता के लिए अपने को योग्य मानकर उत्कंठापूर्वक जब-कभी यहाँ आवेगी तो सज्जन लोग उसकी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखेंगे, क्योंकि उसकी भक्ति और दासता का पर्यवसान तो वैभव के अभिमान में ही होता है। दूसरे, श्रीकृष्ण के चित्त को आकर्षित करने वाला न तो माधुर्य उसमें है और न प्रेम भावना ही। अतः लक्ष्मी का यहाँ अधिकार नहीं है। श्रीमद्भागवत् में भगवान की स्तुति करते हुए राजा पृथु कहते हैं—'हे जगदीश! संसार की माता लक्ष्मी के प्रति हम क्रूर क्यों न हों? 'अपने कर्तव्य में निरत रहने वालों को उससे क्या प्रयोजन है?' इस प्रकार भागवत धर्म के अनुयायियों ने भी उसकी उपेक्षा ही की है। यह भी कहा है कि 'भगवान् का भक्त पीछे-पीछे चलने वाली लक्ष्मी का भी सेवन नहीं करता। जब भगवद्-भक्तों की यह श्रदा है, तो निकुंज सेवा के अधिकारी के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या!

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि दास्याधिकार की माँग में दीन होने या भृत्यत्व स्वीकार करने की व्यंजना निकलती है जोकि स्वयं में हेय

स्-रूपशक्तिवृत्यात्मक एवेति सन्दर्भादौ विवृतम् । सा शक्तिः श्रीराधैव, तस्याः प्रेमाधिदेवीत्वमेवेत्यदोषः । दीनत्वं यथा—

'प्रीति की रीति रंगीलौई जानै ।
यद्यपि सकललोकचूड़ामणि दीन अपनपौ मानैं ।

इति रीतिकं, नतु दरिद्रत्वम् । अतः प्रेमाधिकारिण एव गृहीताः । किञ्च लक्ष्मीरैश्वर्यशक्तिरेव । प्रस्तुते तु सर्वैश्वर्यमपि लघूकृत्य माधुर्यास्वादार्थं वंजुलमञ्जुकुञ्जवीथ्युपासना गृहीता अतः कोऽपि सर्वातिशायिप्रभावोऽस्येति । लोके आधुनिकैरपि महाशयैर्जन्मोत्सवे मागधीभावेन राज्ञी याचकानन्यव्रतेऽपि लक्ष्मीर्नैव याचिता, तदैश्वर्यगन्धादेव । किञ्चैश्वर्यभावनां माधुर्यरूक्षतेव भासेत, पैत्तिकरसनानां सितारौक्ष्यवत् । यथा नन्दादिधनं कृष्णबालक्रीडनं तद्ब्रह्मादीनां विडम्बनमेव, किमिदमीश्वरः करोति ।

रसकलश

है। बात यह है कि तात्पर्य दीनता या भृत्यत्व से नहीं है, बल्कि प्रेम से है । भृत्य के प्रेम में भी वही वृत्तियाँ विद्यमान होती हैं जो स्वरूप-शक्ति अर्थात् इष्ट में रहती हैं । सन्दर्भ आदि ग्रन्थों में इसका स्पष्टीकरण किया गया है । वह स्वरूपशक्ति श्रीराधा ही हैं । वही प्रेम की अधिष्ठात्री हैं, अतः भृत्य, दीन आदि शब्दों के प्रयोग में भी कोई दोष नहीं है । श्रीहितचतुरासी में कहा है—

'प्रीति की रीति-रँगीलोई जाने ।
यद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानै ।।

इसी प्रकार की दीनता से यहां तात्पर्य है, न कि दरिद्रता का । अतः जो प्रेम के अधिकारी हैं, उन्हें ही यहाँ स्वीकार किया गया है । दूसरे यह कि लक्ष्मी ऐश्वर्य-शक्ति का स्वरूप है । प्रस्तुत में श्रीकृष्ण ने समस्त ऐश्वर्य को तुच्छ कर मनोहर कुंज-वीथी की उपासना को ही स्वीकार किया है । इसीलिए श्रीकृष्ण का संसार में सबसे अधिक प्रभाव है । इस युग के महानुभावों ने भी जन्मोत्सव पर रानी से लक्ष्मी नहीं माँगी, यद्यपि वह याचकों की कामना पूरी करने का प्रण लेकर बैठी थीं क्योंकि उन्हें लक्ष्मी की तो गन्ध भी नहीं सुहाती थी । दूसरे यह कि पित्त से कड़वी जुबान वालों को जैसे चीनी बेस्वाद लगती है, वैसे ही ऐश्वर्य की भावना से अभिभूत व्यक्तियों को माधुर्य भी फीका लगता है । नन्द आदि के लिये श्रीकृष्ण की बाल-क्रीड़ा तो सर्वस्व थी, किन्तु ब्रह्मादिक उसे देख कर हँसते थे कि देखो ! सर्वेश्वर होते हुए भी भगवान् ने यह क्या तमाशा खड़ा किया है ! बाद में उनकी समझ में आया कि पुत्र होने के नाते और भक्तों के वात्सल्य भाव को संतुष्ट करने के लिए भगवान् ने इस अवसर पर ऐश्वर्य

आं आं ज्ञातम् । पुत्रभावपोषार्थं भक्तवात्सल्यहेतुकैश्वर्यलाघवमयुक्तमपि युक्तमेवेत्यादि । अत्र पश्यतां कियदन्तरं नन्दयुवराजस्य विडम्बनात्मकस्य चेति । एवं लोकेऽपि नर्मसखिषु क्रीडतो नृपस्य नीतिविद्राज्याधिकार्यागमनम् । यथा शाद्वलजेमनक्रियायां ब्रह्मागमनमानन्दनाशकमेवेति । यथा 'न श्रीरप्यङ्गसंश्रया' इति, 'न च संकर्षणो न श्रीः' इत्यादौ वात्सल्यसख्यदास्येष्वप्येवं, तदा दम्पतिरहोदास्याधिकारे ऐश्वर्यानधिकारस्य कैमुत्यमेव ।

ननु तदैश्वर्याभाववानेवायं मार्गः, कश्चात्रोत्कर्षः ? तत्रैवं ज्ञेयम्: न च लक्ष्म्यैव तस्य महत्त्वम् । किञ्च 'स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य' इति, 'निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा रंस्यते' इत्याद्युक्तेर्निजाल्हादरूपस्य भिन्नत्वं स्फुटमेवोक्तम् । लक्ष्मीरपि तदधीनैव, न स्वतंत्रा । अतो विलासिप्रभुनर्मशर्मदमेवोत्तमम् । नचैश्वर्यानैश्वर्यत्वे कारणं, निजानन्दबाह्यानन्दयोर्भेदात्

रसकलश

भाव की तुच्छता प्रकट की है जो कि अनुचित होते हुए भी उचित ही है । यहाँ देखने वालों के लिए नन्द-युवराज श्रीकृष्ण और उनका उपहास करने वाले ब्रह्मादिक में कितना अन्तर है । संसार में देखा जाता है कि हास-परिहास के अधिकारी मित्रों के साथ मनोविनोद करते हुए राजा के पास, किसी कार्यवश, नीतिज्ञ मंत्री जब आ जाता है, तो वह भी राजा को क्रीड़ा करते देख ऐसी ही बातें सोचता है । श्रीवृन्दावन में घास पर बैठ कर भगवान् जब सखाओं के साथ भोजन कर रहे थे, तो ब्रह्मा के अचानक आ धमकने के कारण गोष्ठी का सारा मजा हो किरकिरा हो गया'।[1] श्रीमद्भागवत में कहा है—'भगवान् की अंग-संगिनी लक्ष्मी भी नहीं', 'संकर्षण और बलराम भी नहीं और न ही लक्ष्मी ।' वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि के क्षेत्र में जब लक्ष्मी आदि की ऐसी उपेक्षा की जाती है, तो ऐश्वर्य को यदि दम्पति के एकान्त दास्य का अधिकार न मिले तो आश्चर्य करने की क्या बात है ।

यहां पूछा जा सकता है कि सिवा ऐश्वर्य के अभाव के इस मार्ग में और कोई ऐसी विशेषता है क्या जिससे इसका उत्कर्ष सिद्ध होता हो । इस संबंध में ज्ञातव्य यह है कि श्रीकृष्ण का महत्व लक्ष्मी के ही कारण नहीं है । दूसरे यह कि 'अपने ही रसाधिष्ठान में संलग्न, 'समस्त समताओं को दूर फैंक कर श्रीराधा-तत्व के साथ ब्रह्मस्वरूप धाम (श्रीवृन्दावन) में रमण करने वाले को नमस्कार है'—श्रीमद्भागवत की इन उक्तियों के अनुसार श्रीकृष्ण का अपना रसात्मक स्वरूप तो भिन्न ही है, यह स्पष्ट कह दिया गया है । लक्ष्मी उसके आधीन ही हैं, स्वत त्र नहीं है । अतः निकुंज-बिहारी का आनन्ददायक और कल्याणकारी स्वरूप ही सर्वोत्तम है । वह ऐश्वर्य या उससे विपरीत किसी स्थिति का कारण है या नहीं, यह प्रश्न तो उठता ही नहीं, क्योंकि उनके

१ देखिये श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध, अध्याय १३.

स्वपरसंवेद्ययोश्चेति। एवं 'लक्ष्मीरश्रितस्त्रितया' इति रीत्या श्रेष्ठस्त्रीत्वेऽपि तस्या रहोऽनधिकारः। सापि कुञ्जप्रान्तेषु भ्रमति। यथा 'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि' इति। अत्र व्रजे। परन्तु रहोदास्यरसस्तां दृष्टिपथां न करोतीत्यलं विस्तरेण।

अथान्ये प्रभोः स्वामिनः श्रीकृष्णस्य सखायः श्रीदामाद्या यं रहोदास्यं न प्रापुरिति कुतस्तमां दास्यमिति, कुतस्तरां तदधिकारौत्सुक्यममपि नेत्यर्थः। परोक्षार्थेन कदापि सुचिरमपि नानुभूतम्। 'प्रभोः' इति पदेन तेषां स्वसख्युरैश्वर्यवादित्वसिद्धेः। प्रभुस्तु 'किङ्करीनत्युत्सवः', तदा ते कथं लाघवं सहन्तामित्यादिहेतोर्न प्राप्तिः। एवं नर्मसखायोऽपि व्यावृत्ताः।

तदित्थं स्त्रीपुंसयोरभावे योगिनः सर्वगतयो भवन्तीति संशयं निराकरोति—नारदशिवौ, स्वायंभुवः, सनकादिः। आदिशब्देन शुकाद्यास्तै-

---

रसकलश

निज आनन्द और बाह्य आनन्द में भेद है। उनका एक रूप (निकुंज लीलामय स्वरूप) उनकी अपनी ही अनुभूति का विषय है। दूसरा स्वरूप वह है जो भक्तों की अनुभूति का विषय है। इन दोनों में भी अन्तर है इसी प्रकार 'लक्ष्मी सर्वश्रेष्ठ स्त्री है' इस उक्ति के अनुसार लक्ष्मी के स्त्री रत्न होते हुए भी उसके लिए निकुंज-प्रवेश का अधिकार वर्जित है। वह भी कुंजों के इर्द-गिर्द ही घूम कर बैठ रहती है। श्रीमद्भागवत में कहा है—'लक्ष्मी यहां निरन्तर आश्रय लेती है।' एतदर्थक श्लोक में[2] 'अत्र' से तात्पर्य व्रज-धाम का है। परन्तु निकुंज का एकान्त रस उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता इस विषय पर इतना ही विस्तार पर्याप्त है।

अब स्वामी श्रीकृष्ण के श्रीदामा आदि अन्य सखाओं ने भी जिस एकान्त-दास्य को नहीं पाया। दास्य की बात तो दूर रही, दास्य-संबन्धी अधिकार के प्रति उनकी उत्कण्ठा तक नहीं थी। 'प्रापुः' क्रिया परोक्षार्थक भूतकाल की है जिससे यह व्यंजित होता है कि इन लोगों ने कभी, किसी सुदूर अतीत में भी इस रस का अनुभव नहीं किया। 'प्रभु' शब्द से सिद्ध होता है कि अपने मित्र को वे ऐश्वर्यवाद का अनुयायी मानते थे। किन्तु यहाँ उनके प्रभु का यह हाल है कि वे राधा-किंकरियों को नमस्कार करना उत्सव मानते हैं। ऐसी स्थिति में साखाओं को यह कैसे सहन होता कि वे छोटे समझे जायँ। इसी कारण उन्हें दास्य-भाव नहीं मिल सका। इसी आधार पर हास-परिहास करने वाले अन्य सखाओं का भी निराकरण कर दिया गया है।

इस प्रकार दास्य के क्षेत्र में जब लक्ष्मी जैसी नारी और श्रीदामा आदि सखाओं के लिए कोई स्थान नहीं है, तो अब रह गये योगी गण। कहा जाता है कि योगियों की गति सर्वत्र होती है, तो संभव है, वे निकुंज-दास्य के अधिकारी हों। इस सन्देह को

---

२ श्रीमद्भागवत—१०/३१/१

गोचरः कुतस्तरां, आप्तिः कुतस्तमां, सम्भावनीयोऽपि नास्ति । किञ्च निषेधोऽप्युपकण्ठस्थितियोग्यस्य घटते, न च दूरदेशान्तरस्थस्येति । अतः पूर्वेभ्योऽप्येते निकृष्टतमाः । किञ्च योगेशलोकेशत्वाद्यभिमानापरिच्छन्न-पारमैश्वर्यसामान्यज्ञानभक्त्याद्यधिकारित्वात् कथं वञ्जुलकुञ्जैकपरिच्छि-न्नदास्ययोग्यताभिलाषः स्यात् ? पूर्ववन्नचात्रोत्कर्षाभावः शङ्क्यः । किञ्च ब्रह्माद्यर्थकतादृशैश्वर्यवदान्योऽपि कुञ्जोपासनरतः । तदा तेषां प्रस्तुतानौ-त्सुक्ये तदुत्कर्षो, वा कुञ्जोत्कर्ष इति विवेचनीयम् । आनन्दार्थे आद्या नैत-दानन्दगोचरा । न च द्वितीयानां तादृशानन्दप्राप्तिः । तृतीयानामस्ति वा नास्तीत्युक्ति सम्भावनास्तीति । यद्वा गुणोत्कर्षेण गुणी गृह्यते । तदोत्सवां-

रसकलश

दूर करने के लिए कहते हैं—'सम्भाव्योऽपि' इत्यादि । नारद, शिव, ब्रह्मा से उत्पन्न सनकादि । 'आदि' शब्द से शुकदेव आदि का ग्रहण होता है । एकान्त कैंकर्य का अधि-कार इनके ज्ञान-गम्य ही नहीं है, तो उसे पाना दूर रहा, उसकी सम्भावना भी नहीं है । दूसरो बात यह है कि निषेध उसी के संबन्ध में किया जाता है जो कहीं आसपास हो, न कि किसी सुदूर देश या लोक के निवासी के सम्बन्ध में । सारांश यह है कि योगीगण लक्ष्मी और सखाओं की अपेक्षा भी नीची श्रेणी के हैं । दूसरे, यह कि इन्हें यह अभिमान होता है कि हम योगीश्वर हैं, लोकों के स्वामी हैं और हमारा ऐश्वर्य असीम है । भक्ति आदि के सम्बन्ध में इनका ज्ञान बहुत ही साधारण होता है, अतः ये उन्हीं के अधिकारी हैं । ऐसी स्थिति में इनमें यह अभिलाषा कैसे उत्पन्न हो सकती है कि हम श्रीराधा-दास्य के योग्य बनें । क्योंकि यह योग्यता तो श्रीवृन्दावन की मनोहर कुंजो तक ही सीमित है । दास्याधिकार के इस प्रकार सीमित होने से यह शंका नहीं करनी चाहिए कि उसका स्थान नीचा है । क्योंकि जो ऐश्वर्य ब्रह्मादिक का लक्ष्य है, उसे उदारतापूर्वक दुनिया को बाँटने वाले श्रीकृष्ण जब कुंजों की उपासना में निरत रहते हैं, तो ब्रह्मादिक की दास्याधिकार प्राप्त करने की उत्कंठा नहीं है, तो इससे उनका उत्कर्ष सिद्ध होता है, या निकुंजदास्य का, यह स्वयं सोचने विचारने की बात है । जहाँ तक आनन्द लाभ करने का सम्बन्ध है, प्रथम उल्लिखित लक्ष्मी को तो इसका ज्ञान ही नहीं है, उसके बाद आने वाले ब्रह्मा, नारदादि को इसके प्रति कोई उत्कंठा नहीं है । रहे श्रीदामादि सखा, सो उनके सम्बन्ध में दोनों प्रकार की संभावनायें है—अर्थात् आनन्द का लाभ उन्हें हो भी सकता है और नहीं भी, (इसलिए कि सखाओं को दास्यानन्द भले ही प्राप्त न हो, बाल लीला के आनन्द का अनुभव तो वे करते ही हैं) । अथवा जब किन्हीं गुणों के उत्कर्ष की बात कही जाती है, तो गुणों से तात्पर्य उनके आश्रय गुणी का होता है, (क्योंकि कर्तृ या भोक्तृत्व व्यक्ति में रहता है, भाव

स्तदभिमानहर्म्यारूढो लक्ष्मीं न दृष्टया पश्यति, न च सखीन्। तदान्येषां का वार्तेति।

एवमनधिकारिणो निर्वण्याधिकारिणमाह—'वृन्दावने'-ति। नागरीति, पशुपतीति, स्त्रीतिविशिष्टेनैव भावेन लभ्यः। केवलस्त्रीत्वन्तु लक्ष्मीपर्यन्तं व्यावृत्तम्। 'पशुपतिस्त्री'–शब्देन गोपजातिर्नतु तद्भार्यात्वम्। यथा च तृतीये स्कन्धे 'सा त्वां ब्रह्मन् नृपवधूः काममाशुभजि'ष्यति' इतिवत्। तत्रापि नागरी, प्रस्तुतदास्यादिकौशलगुणा, तत्रापि वृन्दावननागरी, न तु केवलव्रजनागरी। इत्थं वैशिष्टयसंग्रहेण वृन्दावनेश्वरीदास्यनिपुणगोपीजना ललितादिपरिकरा निष्पन्ना गृहीताश्च, न भिन्नभाववत्यः। तासां यो भावो भक्तिः प्रेमा, दम्पतिविषयकान्योन्यसम्बन्धममत्वजलालनप्रीणनमयः, त्रुटियुगायमानार्त्युपलक्षितः स्नेहस्तेन परमरागेण लभ्यो, वा तासामिव यो भावोऽनुरागस्तेन

रसकलश

में नहीं)। तो जो दास्याधिकार के उत्सव में मग्न रहता है, वह अपने अभिमान के भवन पर चढ़ कर ही सबको देखता है। वहां से न तो उसे लक्ष्मी दिखती हैं, न सखा-गण। तब औरों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है ?

इस प्रकार अनधिकारियों का वर्णन कर अब अधिकारी के सम्बन्ध में बताते हैं—'वृन्दावन—नागरीपशुपति' इत्यादि। दास्याधिकार के लिए एक विशेष प्रकार के भाव की अपेक्षा है जो वृन्दावन, नागरी, पशुपति और स्त्री से सम्बन्धित है। केवल स्त्री होने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। स्त्रीत्व तो लक्ष्मी पर ही आकर समाप्त हो गया। 'पशुपतिस्त्री' का अर्थ गोपजाति की स्त्री है, न कि गोपों की पत्नियां। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में जैसा कहा है—'हे मुने! वह राजा की वधू शीघ्र ही तुम्हारा चयन करेगी। गोपस्त्री भी ऐसी होनी चाहिए जिसमें किसी शहरी औरत के दास्य-भावना के उपयुक्त चातुरी आदि सब गुण हों। वह नागरी भी श्रीवृन्दावन की होनी चाहिए, व्रज में उत्पन्न होना ही पर्याप्त नहीं है। इन विशेषताओं का एक ही व्यक्ति में संग्रह अपेक्षित होने के कारण श्रीवृन्दावनेश्वरी के कैंकर्य में निपुण ललिता आदि गोपियों के परिकर का बोध होता है, न कि उनका जिनकी भावनाएँ इनसे भिन्न हों। तो इन गुणों से विशिष्ठ गोपियों के भाव से दास्याधिकार मिलता है। भाव से तात्पर्य भक्ति, प्रेम से है। इनका लक्षण यह है कि दम्पति के पारस्परिक संबंध के प्रति उपासक की ममता हो। इस ममता में ही लाड़ लड़ाने और उन्हें प्रसन्न रखने की भावना भी सम्मिलित है। यह वह स्नेह है जिसमें अपने प्रिय के क्षण-भर के लिए भी आंखों से ओझल हो जाने पर ऐसी पीड़ा होती है कि एक-एक क्षण युग के समान

श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, अध्याय २१, पद्य २८

लभ्यः। अनेनाधुनिकभावुकानामपि समाश्वासनं यदन्येषामपि तादृशभाववतां प्राप्तिर्निश्चितैव भवित्रीति । अन्यथा गोपस्त्रीजातौ स्वत एव महामोहश्चतुर्मुखेन किं, सहस्रवदनेनापि किं, साक्षाच्छ्रीभगवच्छ्लाघ्येन तत्समेनोद्धवेनापि च, न बोधेन प्रतीकार्यः। प्रत्युत स्वमोहसागरे ता बोधयितारमपि न्यमज्जयन्निति कोटचैश्वर्येणापि न रूक्षाभासः प्राप्तः स्यादिति नास्फुटम् ।

यथैश्वर्यमाधुर्ययोरन्तरं तथैव विवेकस्नेहयो र्ज्ञेयम् । विवेकवतां स्नेहो विचारसुन्दरत्वेन मिथ्यापर्यवसन्नः । तदभाववतां केवलस्नेहैकपर्यवसन्नः प्राणानपेक्षकश्च । यथोक्तं पूर्वैः कैश्चित्—

'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पति ।।

अतः प्रेमाधिक्यैकतात्पर्याङ्गोपजातिरेव स्वीयत्वेन पूर्णमाधुर्याधिकारे श्रीप्रभुणा गृहीता, अन्यथा केवलनागरीत्वग्रहणे विचक्षणराजकन्यात्वमेव किन्न

रसकलश

व्यतीत होता है। इस प्रकार की प्रबल आसक्ति से दास्यभाव प्राप्त होता है। अथवा यह अनुराग गोपियों जैसा हो, तो भी वह मिल जाता है। इस व्याख्या के अनुसार आजकल के भावुकों को भी यह आश्वासन मिल जाता है कि गोपियों जैसा भाव यदि औरों में हो, तो वे भी निश्चत रूप से दास्य के अधिकारी हो सकते हैं। गोपियों में, स्त्री-जाति होने के कारण, स्वभाव से ही बड़ा मोह होता है। उस मोह को चतुर्मुख ब्रह्मा तो क्या, और क्या कोई हजार मुंहवाला, बल्कि साक्षात् भगवान् के प्यारे, उनके ही समकक्ष उद्धव भी न मिटा सके और न ज्ञानोपदेश से वह टूटा। गोपियों ने उल्टे अपने ज्ञानदाता को ही मोह के समुद्र में धकेल दिया। तो करोड़ों ऐश्वर्यों के होने पर भी शुष्कता का आभास तो बना ही रहेगा और फलतः दास्य प्राप्त नहीं होगा।

ऐश्वर्य और माधुर्य में जो भेद है वही विवेक और स्नेह में है। विवेकी पुरुषों का स्नेह अत्याधिक सोच-विचार के कारण अन्त में मिथ्या सिद्ध होता है। जिनमें विवेक नहीं है उनका स्नेह अन्त पर्यन्त स्थायी बना रहता है। वे अपने प्राणों की भी चिन्ता नहीं करते। पूर्ववर्ती किन्हीं महानुभाव का कहना है—

'विषयों में फँसकर क्षीण न होने वाली अविवेकी पुरुषों की जैसी प्रीति विषयों में होती है, आपका स्मरण करने वाले मेरे हृदय से वह कदापि दूर न हो।'

अतः प्रेम की प्रबलता को दृष्टि में रख कर प्रभु ने गोप जाति की स्त्रियों को ही अपने पूर्णमाधुर्य में प्रतिष्ठित किया है। नहीं तो, यदि केवल नागरी होना ही अपेक्षित

गृहीतम् । अतएव द्वारकालीला न समानोत्तमा च महाशयैरुक्ता । अथवा वृन्दावननागर्य्यः कात्यायनीव्रतिन्यो मुनिरूपा गोपस्त्रियः श्रुतिरूपा, स्तासामपि भावनयैव लभ्यो न साक्षादिति । यथा—'आधायमूर्द्धनि यदा-पुरुदारगोप्यः' इत्यत्र 'भावोत्सवेन' इत्युक्तम् । पश्चात् 'रसकामधेनुम्' इत्युक्त्या सिद्धदशायां दास्यरसप्राप्तिर्नच प्रथम एव साक्षात्प्राप्तिरिति । अतोऽवशिष्टेनानुक्तेनापि निषेधशेषन्यायेन सखीवर्गाणामेव साक्षात्प्राप्ति-रिति दर्शिता । एवं दुर्लभानन्दो मम कथमस्त्विति बाह्यार्थस्तु स्फुट एव । आन्तरे तु विहारानन्दजेन कश्चिन्मादृशादन्योप्यधिकारीति महदर्थप्राप्तौ भविष्णुना विकल्पेनेव सखीं श्रोत्रीं प्रति सिद्धान्तयति[1] ॥२३९॥

रसकलश

होता, तो किसी चतुर राजकुमारी को ही अपनाया होता। इसीलिए विद्वानों का यह मत है कि द्वारका-लीला न तो निकुंज-लीला के समान है और न उससे श्रेष्ठ है। अथवा वृन्दावन—नागरियों से अभिप्राय उन मुनि-श्रुतिरूप गोपियों का है जिन्होंने भगवत्प्राप्ति के लिए कात्यायनी व्रत किया था। उन्हें भी दास्याधिकार भावना में ही मिल सकता है न कि साक्षात् (जैसा कि ललिता आदि सखियों को मिला है)। अतः 'निषेध से जो कुछ बच जाता है, उसका निषेध अभीष्ट नहीं होता' इस न्याय के अनुसार लक्ष्मी, नारदादि तथा सखाओं से जो बच गए हैं, उनके सम्बन्ध में कुछ न कह कर यही दर्शाया है कि अन्तरंगा सखियों को ही साक्षात् दास्याधिकार मिलता है, औरों को नहीं। अतः यह बाह्य अर्थ स्पष्ट ही है कि इस प्रकार का दुर्लभ आनन्द मुझे (श्रीहितसखी को) कैसे मिले ? आन्तरिक पक्ष में अर्थ यह है कि विहार के दर्शन से श्रीहितसखी को जो आनन्द मिला, उससे उनके मन में यह बात आई कि मुझ जैसा अधिकारी कोई और भी हो सकता है क्या ? उन्होंने सोचा संभव है मेरा कोई विकल्प पैदा हो जाय, अतः सुनने वाली सखी को उन्होंने दास्याधिकार की शर्तें बताई हैं ॥२३९॥

---

१. अन्य प्रतियों में 'लक्ष्म्या यश्च न गोचरीभवति' पाठ मिलता है, जबकि रसकुल्याकार ने 'लक्ष्मीर्यस्य न गोचरीभवति' पाठ माना है। इस पाठ का शब्दानुवाद अर्थ यह होगा—जिस (दास्याधिकार) के लक्ष्मी गोचर नहीं होती। भावार्थ यह कि दास्याधिकार लक्ष्मी को गोचर नहीं करता। स्पष्ट मन्तव्य इससे भिन्न है। वह यह है कि लक्ष्मी को दास्याधिकार का साक्षात्कार नहीं होता। स्वीकृत भावना के अनुसार लक्ष्मी ही दास्याधिकार का प्रत्यक्ष करना चाहती है। इस अर्थ की संगति अन्य प्रतियों में उपलब्ध पाठ से बैठ जाती है। पता नहीं, रसकुल्याकार ने किस आशय से अपने पाठान्तर को अधिक उचित माना है। चूंकि यह हिन्दीभाषान्तर रसकुल्या-टीका का है, हमने रसकुल्याकार के सम्मत मूल पाठ को ही रक्खा है।

तदेवं महादुर्लभरहोदास्याधिकारानन्दः कृपालो ! कथमन्येषामपि स्यादिति साधकानां प्रश्ने कृपोज्जृम्भेण तत्पूर्वमेव निश्चिततममुपायोत्तम-मुत्तरयन् सर्वात्मना गौरज्योतिराश्रयं विना न तत्प्राप्तिर्घटते, इत्याशयेन तान् प्रवर्तयितुं स्वयमपि तादृशभङ्ग्यानन्याश्रयत्वं स्वेष्टमभिमुखीकृत्य निवेदयति—

उच्छिष्टामृतभुक् तवैव चरितं शृण्वंस्तवैव स्मरन्
पादम्भोजरजस्तवैव विचरन् कुञ्जांस्तवैवालयान् ।
गायन् दिव्यगुणांस्तवैव रसदे ! पश्यंस्तवैवाकृतिं
श्रीराधे ! तनुवाङ्मनोभिरमलैः सोऽहं तवैवाश्रितः
॥२४०॥

अत्र रसनाश्रवणमनश्चरणवाणीचक्षुर्धर्मेष्वनुक्तावपि करघ्राणौ सेवो-पयुक्तत्वात् तनुशब्दोक्त्या गृहीतव्यौ । यद्वा 'उच्छिष्टे'-त्यनेन सेवाङ्गक्रिया-

रसकलश

साधकों के यह पूछने पर कि 'हे दयालो ! ऐसे दुर्लभ एकान्त दास्य का अधिकार दूसरों को कैसे मिले, श्रीहितसखी ने कृपा-भाव से उद्वेलित होकर यही उत्तर दिया कि इसका तो सबसे निश्चित और श्रेष्ठ उपाय वही है जिसे कि पहले बताया जा चुका है—अर्थात् सर्वात्मभाव से गौर ज्योति (श्रीराधा) का आश्रय लिये बिना वह संभव नहीं है । इसी आशय को हृदय में रख कर, साधकों को उस दिशा में प्रवृत्त करने के लिए स्वयं भी, इस ढंग से जैसे औरों की तरह वह भी एक साधारण साधिका हों, अपनी आराध्या का ध्यान अपनी ओर खींचती हुई निवेदन के रूप में कहती हैं—

'दास्य-रस को प्रदान करने वाली हे श्रीराधे ! आपकी ही अमृततुल्य जूठन प्रसादी को ग्रहण कर, आपके ही चरित्र को सुनता हुआ, आपके ही चरण-कमल की रज का ध्यान करता हुआ, आपके ही विहार-स्थल कुंजों में विचरण करता हुआ, आपके ही दिव्य गुणों का गान करता हुआ, आपके ही स्वरूप के दर्शन करता हुआ अपने निर्मल शरीर, वाणी और मन से आपके ही आश्रित हूँ ॥२४०॥

यहाँ जीभ, कान, मन, पैर और वाणी का कर्तव्य बताया, लेकिन हाथ और नासिका का नहीं बताया, यद्यपि ये दोनों अंग सेवा के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं; अतः उन्हें 'तनु' (शरीर) शब्द में अन्तर्गत समझना चाहिए । अथवा 'उच्छिष्टामृतभुक्' पद द्वारा अमृत तुल्य जूठन महाप्रसादी खाने की जो अभिलाषा प्रकट की गई है, वह

सम्पादनानन्तरमहाप्रसादप्राप्ति स्यादित्यनन्तरार्थोक्त्या पूर्वमेव करोपयोगि सेवनं कृतमिति ज्ञेयम् । 'उच्छिष्टामृते'-त्यनेनोपभुक्तस्रग्गन्धाद्यवशेषग्रहणेन घ्राणकार्यं सूचितम् । प्रतिवाक्यं 'तवैव' इत्येवकारेणापाततः परमानन्याश्रयो बोधितः । किं बहुना, प्रियपर्यन्तोपेक्षा च सूचिता ।

आन्तरार्थे 'प्रियाचरणनखज्योतिरुद्भूतफेनस्तवकमयतनुः' इति प्रबोधानन्दैरपि चिदात्मापेक्षयाप्यनन्यत्वं स्मृतम् । यच्च 'प्राणेशं परिचारयेत् खलु कदा दास्या मयाधीश्वरी' त्याद्युक्तं, तत्प्रयोज्यत्वेन कृतौ न कोऽपि दोषः । अन्यथा स्वतस्तु केवलं त्वदीयत्वैकाभिमानवत्येवाहमिति । यच्च स्वतोऽपि कुत्रचित् कृतं, यथा 'यद्गोविन्दकथे'-ति, तत्साधनापेक्षयैव साध्यं तु तदन्ते 'श्रीराधिका तुष्यतु' इत्येवास्ति । इत्यनेन फलाव्यभिचारान्नानन्तत्वहानिः । 'उत्' इति, 'शिष्टम्' इति प्रियहस्तकृतप्रियाभोजनानन्तरशेषः शिष्टम् प्रियकृततत्स्वादानन्तरं 'उच्छिष्टम्' ।

रसकलश

अन्य अंगों द्वारा आवश्यक क्रिया संपादन करने के बाद ही तो संभव है। इसीलिए उसका उल्लेख बाद में किया गया है जिससे यह समझना चाहिए कि उससे पूर्व ही हाथों द्वारा सेवा की जा चुकी थी। जूठी प्रसादी लेने में ही प्रियाजी के द्वारा उपयोग की गई माला, सुगन्धित द्रव्य आदि शेष वस्तुओं के ग्रहण करने से नासिका द्वारा किये जाने वाले कार्य भी सूचित कर दिये गये हैं। प्रत्येक वाक्य में 'तवैव' (आपके ही) शब्दों के प्रयोग द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि आप ही परम अनन्य आश्रय हैं; यहाँ तक कि प्रियतम तक की भी उपेक्षा सूचित कर दी गई है।

श्री प्रबोधानन्द ने कहा है—'सखियों का शरीर प्रियाजी के चरणों की नख-ज्योति से छिटकने वाले फेनों से निर्मित है।' इस पद्य में सखियों को चैतन्य आत्मा की तुलना में भी अधिक अनन्य बताया है। श्रीराधासुधानिधि (पद्य २४२) में जो कहा है कि 'श्री स्वामिनी विविध सेवा करने की आज्ञा देकर मुझ दासी द्वारा प्रियतम को कब प्रसन्न करेंगी', तो ऐसा कहने में भी कोई दोष नहीं है; क्योंकि श्रीहितसखी ने प्रियतम की परिचर्या तभी की है जब कि प्रियाजी ने उनको ऐसा करने का आदेश दिया। नहीं तो, जहाँ तक स्वयं श्रीहितसखी का संबन्ध है, उन्हें तो एकमात्र यही अभिमान है कि मैं आपकी हूं। जब उन्होंने अपनी तरफ़ से कुछ किया, जैसे कि 'श्रीगोविन्द के कथामृत रूपी रस-सरोवर में मैंने जितना भी कुछ चित्त को डुबोया' (पद्य ११४), तो यह तो साधन की दृष्टि से किया। साध्य तो इसी पद्य के अन्त में स्पष्ट बता दिया गया है कि 'उस (साधन) से गोपराजकुमार की प्राणप्रिया मुझ पर प्रसन्न हों।' इस प्रकार श्रीराधा को प्रसन्न करने रूप फल के संबन्ध में कोई अन्तर नहीं आता और अनन्यता की कोई क्षति नहीं होती।

तदेव सात्विकोभयव्यञ्जिततत्तद्भावनानन्दयुतं 'अमृतम्' । तदप्यनन्य-भावाननपेक्ष्य केवलत्वदेकमुख्यदृष्टयैव भुनज्मीत्यर्थः । बाह्यार्थे पुंस्त्वं स्फुटमेव । अन्तःसखीजनो 'जन' इति सामान्योक्त्या सखीमात्रस्यैवं रीति-रितिदर्शनार्थम् ।

एवं चरितं लीलाविलासादि सर्वं प्रियसहकृतमेव । तदपि त्वदेकदृष्टयैव शृण्वन्निति । किञ्च 'अदृष्ट्वा राधाङ्के निमिषमपि तं नागरमणिम्' इति, 'विच्छेदाभास' इति रीत्या सखीस्नेहाधिक्यं दम्पत्योरविच्छिन्नता च । परन्तु किञ्चिदाग्रहरसास्वादो विलक्षण एव येन प्रियोऽपि बहु प्रशंसे-तानुगृह्णीत चेति । यथा 'अनुल्लिख्यानन्तानपि' इत्यत्र 'महिम्नः कः सीमां स्पृशतु तव दास्यैकमनसाम्' इत्यादि आग्रहे कौतुकानन्दवर्द्धनञ्च ।

रसकलश

उत्+शिष्ट (=उच्छिष्ट) में प्रिय के द्वारा प्रियाजी को भोजन करा देने के बाद जो कुछ बच रहा, वह हुआ 'शिष्ट ।' और प्रिय ने जब उसका आस्वाद ले लिया, तो वह हो गया 'उच्छिष्ट । भोजन के समय प्रिया-प्रियतम दोनों के द्वारा व्यक्त किए गये आनन्द से युक्त वही उच्छिष्ट हुआ अमृत । उस अमृत को भी (श्रीकृष्ण विषयक) अन्य भावों की तरफ़ बिना कोई ध्यान दिये, प्रधानतया केवल आपकी (श्रीराधा की) ही दृष्टि से मैं खाती हूं यह अर्थ है । 'आश्रित' पुल्लिग का रूपहै । जब आचार्य-रूप में श्रीहितसखी यह सब कहती हैं, तो पुल्लिग का प्रयोग ही उचित है । अन्तरंग अर्थ में सखियों के समूह का निर्देश करने के लिये 'सखीजन' शब्द साधारणतः व्यवहार में आता है जोकि पुल्लिग का रूप है, पर अर्थ उसका स्त्रीलिंग है । इस दृष्टि से भी सखीजन के रूप में 'आश्रितः' कहना ठीक ही है । इस प्रयोग से यह व्यक्त किया है कि सखीमात्र की यही रीति है ।

इस प्रकार साथ-साथ किये गये लीला-विलास आदि चरितों को आपकी ही दृष्टि से सुनता हुआ । यों तो 'उस रसिक-शेखर को श्रीराधा की गोद में क्षणमात्र के लिये भी न देखकर' (पद्य २१४), विच्छेद के आभासमात्र से ही बाह्य और आभ्यन्तर दोनों मानों प्रलय की ज्वाला में जलने लगते हैं, (१७३) एतदर्थक श्लोकों द्वारा सखी का परम स्नेह तथा दंपती का कभी वियुक्त न होना प्रतिपादित किया गया है, परन्तु प्रियाजी के प्रति पक्षपात रखने के आग्रह में एक विलक्षण रस का आस्वाद मिलता है ताकि प्रियतम भी इस भावना की मुंह भर-भर कर प्रशंसा करें और अनुग्रहीत करें । 'अनुल्लिख्यानन्तान्' पद्य (१५४) में कहा गया है कि 'हे श्रीराधे! आपके दास्य में अनन्य भाव से आसक्त व्यक्तियों की महिमा की सीमा को कौन छू सकता है?' इस प्रकार के आग्रह के कारण कौतुकजन्य आनन्द बढ़ता है । प्रसाद ग्रहण के समय श्रीहितसखी देखती हैं कि यद्यपि दोनों एक ही थाल में भोजन कर रहें हैं, परन्तु थाल

यथा प्रसादग्रहणसमये प्रियं प्रति सख्याः कटाक्षकरणं, एकपात्रेऽपि स्वामिनीदिश्योच्छिष्टग्रहणात् । कदाचित् पानावशेषप्रथमादानाग्रहस्पर्द्धवतोः सखीप्रिययोः प्रियैव न्यायं करोतिः 'किं दुराग्रहेण ? अत्राधिकारिण्येषैव, न भवान्' इति भङ्ग्या चषकं गृह्णन्तं कथञ्चिद् वञ्चयित्वा च सखीं प्रत्येव ददातीति । अत्र प्रियस्य सोल्लुंठसोत्प्रासं परीहसनम्: 'साधु, कदाचिदस्मत्समयोऽपि प्रबलो भविष्यति, परन्त्वव्याजसुन्दराया व्याजकरणमसाधु', इत्यादि सहृदयगम्यं पक्षपातित्वम् ।

प्रस्तुतमाह—पादाम्भोजयोः रजः परागं स्मरन् इति । स्मरणं ध्यानन्तु मनसा पदयोरेवाभरणयावकारुण्यनखचन्द्रादिशोभायाः, परन्तु दास्यप्रकृत्या रजस्येव दृष्टिपर्यवसानाद्रेणोस्तत्प्रभावं स्मरति यं प्रियोऽपि परमादरेण वन्दते । यथा 'येषां प्रेक्षां वितरति' इत्यादि ।

पुनश्च 'विचरन्' इति 'पद्भ्यां तवैवालयान् कुञ्जान्' इति । यद्यप्यत्रत्यकुञ्जास्त्वदीया एव, परन्तु न कुञ्जमात्रे तात्पर्यम् । केवलत्वदालय-

---

रसकलश

के जिस भाग में प्रियाजी भोजन करती हैं उधर ही से प्रियतम उनकी जूठन ग्रहण करते हैं। ऐसे में श्रीहितसखी प्रियतम को लक्ष्य कर कटाक्ष करती हैं। प्रियाजी के पीने से जो पानी बचा रहता है उसे सखी और श्रीकृष्ण दोनों जिद कर पहले पीना चाहते हैं। इस झगड़े का न्याय प्रियाजी ही करती हैं। वे प्रियतम से कहती हैं—'जिद करने से क्या फायदा ? इस संबन्ध में अधिकारिणी सखी ही है, आप नहीं। इसी प्रकार की बात कहकर पीने के पात्र को उठाने के लिये उद्यत प्रियतम को धोखा देकर सखी को ही उसे दे देती हैं। तब प्रियतम ताना मार कर परिहास करते हुए कहते हैं—'ठीक है, कभी हमारे भी अच्छे दिन आयँगे, परन्तु आप तो निष्कपट रूप से सुन्दर हैं, फिर आपके लिये इस प्रकार का छल खेलना शोभा नहीं देता। इस प्रकार के पक्षपात को सहृदय ही समझ सकते हैं।

अब प्रस्तुत विषय पर आते हैं—'तवैव स्मरन् पदाम्भोजरजः ।' आपके ही चरण-कमलों की पराग का स्मरण करता हुआ। हृदय में स्मरण अर्थात् ध्यान तो श्रीचरणों में धारण किये गए आभूषण, महावर की लालिमा और नख-चन्द्रों की शोभा का ही किया जाता है, परन्तु दास्य वृत्ति होने के कारण दृष्टि अन्त में श्रीचरणों की रज पर ही जाकर ठहरती है। इस प्रकार श्रीहितसखी रज के विविध प्रभावों का स्मरण करती हैं—वह रज जिसकी वन्दना प्रियतम भी बड़े आदर के सहित करते हैं। श्रीराधासुधानिधि (पद्य १०३ में) कहा है 'घनश्याम श्रीमुकुन्द प्रगाढ़ अनुराग से जिन चरण-चिन्हों का दर्शन करने की इच्छा करते हैं।' 'विचरन्'—पैरों से आपके ही स्थान

दृष्टचैव विचरामीति यदत्र मदीया प्राणप्रिया वसति, अन्यथा लीलान्तरे 'मञ्जुलवञ्जुलकुञ्जगतं विचकर्ष करेण दुकूले', इत्यादि भावान्तराङ्कित-कुञ्जे किं तात्पर्यम् ?

'गायन्' इति। दिव्या गुणा 'दिवु क्रीडाविजगीषाव्यवहारद्युतिस्तुति-मोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' इति दशार्थमयाः। उज्ज्वलाः, शोभनाः, अलौकिका इति यावत्। वा निरस्तसाम्यातिशया अनन्ता इत्यादि यथा-भावुकहृदयंगमा ज्ञेयाः।

'तवैव' इति प्रियवर्णनयुतेऽपि त्वदुत्कर्षपर्यवसानास्त्वदीया एव।

'रसदे'—तत्र तत्र तेन तेन मत्कर्मणा परमास्वाददायिनि ! 'आकृतिम्'-तत्तत्प्रसादेषच्चण्डनमानलीलाविलासहावभावादिसामयिकस्फुरद्रूपां दर्शनीया

रसकलश

अर्थात् कुंजों में भ्रमण करता हुआ। यद्यपि वृन्दावन के सब कुंज आपके ही हैं, परन्तु यहां आशय यह नहीं है कि कोई भी कुंज भले ही क्यों न हो, बल्कि उन्हीं कुंजो को दृष्टि में रख कर विचरण करता हूं जो आपके आलय (विहार-स्थल) हों—इस भावना से कि यहां मेरी प्राणप्रिया सखी रहती हैं। नहीं तो निकुंज-लीला से भिन्न अन्य किसी लीला के प्रसंग में, जैसा कि श्रीगीतगोविन्द (१/४) में वर्णन किया गया है कि 'किसी मुग्ध गोप-वधू ने केली-कला के कुतूहल से प्रेरित होकर श्रीयमुना-तट पर स्थित बैंतों के किसी मनोहर कुंज में श्रीहरि के पीतांबर को हाथ से खींच लिया,' कुंज के श्रीचरणों से अंकित होने पर भी श्रीहितसखी को उनसे क्या लेना-देना ? इन कुँजों का वातावरण तो विजातीय भावनाओं से व्याप्त रहता है।

'गायन् दिव्य गुणांस्तवैव'—(आपके ही अलौकिक गुणों का गान करते हुए)। गुणों की दिव्यता में 'दिव्' धातु के (जिससे 'दिव्य' शब्द निष्पन्न होता है) क्रीड़ा, विजय की इच्छा, व्यवहार, चमक, प्रशंसा, प्रसन्नता, अभिमान, स्वप्न, कान्ति, गति—ये दसों गुण आ जाते हैं। अथवा उज्ज्वल, सुन्दर और अलौकिक गुण जिनकी कहीं समता नहीं है और जो अनन्त हैं। भावुक गण इस प्रकार के अन्य अर्थ भी लगा सकते हैं।

'तवैव' (आपके ही) कहने का अभिप्राय यह है कि आपके गुणों के वर्णन के प्रसंग में प्रियतम के गुण भी सम्मिलित रहते हैं, पर उनकी समाप्ति होती है आपके ही उत्कर्ष की व्यंजना में। अतः वे भी आपके ही गुण हैं।

'रसदे' का अर्थ है—मेरे द्वारा सेवा रूप में किये गये विविध कर्मों के माध्यम से परम आनन्द देने वाली। 'आकृतिम्' का विशेष अर्थ यह है कि समय-समय पर प्रसन्नता, किंचित् कोप, मान, लीला, विलास, हाव-भाव जो श्रीमुख पर प्रकट होते

मेव । 'तवैवे'ति प्रियसङ्गमलौल्यजभङ्गीसंक्रान्तत्वेऽपि त्वच्छोभैकनिष्ठ दृष्टचैव पश्यामीति ।

'श्री' इति तत्तच्छोभाविशिष्टस्वामिनि राधे ! औत्पत्तिकबहुपरिशीलितमदेकाधारमहामंत्रनाम्नि ! अमलैरन्यसाधनसाध्यज्ञानभक्तिव्यभिचारशून्यैर्निष्कपटैर्निष्कामैस्त्वदेकधर्मामृततीर्थक्षालितैः । अत्र सचरणस्पर्शशपथभङ्गी ज्ञेया ।

सोऽहमेतादृशबाह्याभ्यन्तरानन्यत्वाभिमानी तवैव वामाङ्गरूपिण्या एवाश्रितोऽस्मि । न च दक्षिणाङ्गस्य श्यामस्येति पक्षपातानन्दस्य प्रतिवाक्यव्यञ्जनमिदम् । अत्र साञ्जलिनमनभङ्गीयुताश्रयणक्रिया ज्ञेया । अत्र बाह्याभ्यन्तरार्थमिश्रणं यथासंभवं योजनीयम् ।

रसकलश

रहते हैं, उनके कारण आपकी आकृति दर्शनीय ही होती है । 'आपकी ही आकृति को' इसलिए प्रियतम के संगम के परिणामस्वरूप यद्यपि आपके श्रीमुख पर एक प्रकार की चंचलता उतर आती है, किन्तु मुझे तो आपके सौन्दर्य से मतलब ! मैं केवल उसी दृष्टि से देखती हूँ ।

'श्री' का अर्थ है विविध सामयिक शोभा से सम्पन्न । ऐसी हे स्वामिनी श्रीराधे ! जब से मैं पैदा हुई हूँ, तब से मैंने इसी नाम का मनन-अनुशीलन किया है और यह राधा-नाम ही मेरा एक मात्र आश्रय महामंत्र है । तो अपने निर्मल शरीर, वाणी और मन से मैं आपके आश्रित हूं । शरीर आदि की निर्मलता का अर्थ यह है कि अन्य प्रकार के साधन, माध्यम, ज्ञान, भक्ति के प्रति इनकी कभी प्रवृत्ति नहीं हुई । इस प्रकार इन शरीर, वाणी और मन से बिना किसी दुराव के, बिना किसी कामना के आपका सेवन करते हुए, केवल आपके प्रति अनन्य निष्ठा रूपी अमृत के तीर्थ में अवगाहन कर अपने को शुद्ध बनाया है । श्रीहितप्रभु द्वारा यह आत्म-निवेदन इस ढंग से किया गया है, जैसे वे प्रिया-प्रियतम के चरण स्पर्श करते हुए शपथ खाकर कह रहे हों ।

ऐसा मैं, जिसे कि बाहर-भीतर से (अथवा आचार्य और अन्तरंगा सखी रूप दोनों में) अनन्यता का अभिमान है, वामाङ्गरूपिणी आपके ही आश्रित हूँ, न कि आप के दाहिने अंग श्रीश्यामसुन्दर के । पद्य के प्रत्येक वाक्य में से पक्षपात-जनित इसी आनन्द की ध्वनि निकलती है । श्रीहितप्रभु अपने आश्रित होने की बात को इस ढंग से कहते हैं जैसे हाथ जोड़ कर, सिर झुका कर कह रहे हों । इस पद्य में बाह्य और अन्तरंग दोनों स्वरूपों के अनुसार यथासंभव अर्थ योजना कर लेनी चाहिए ।

बाह्य-पक्ष में इस प्रकार अर्थ करना होगा—आचार्यपाद सोचते हैं, यदि मैं आपकी सेवा नहीं कर सकता हूँ, तो मेरी अनन्य भावना के सम्बन्ध में मेरा मन ही

पुनश्च बाह्यार्थे यदहं कर्हिचित् सेवनक्रियां कर्तुं न शक्नोमि, तदपि मन्मनसोऽहमेव साक्षीतिसुशक्यक्रिययापि तवैवाश्रितोऽस्मीति । अत एव करसेवा नोक्ता, इत्यपि ध्येयम् । अन्यच्च, आनन्तर्यार्थरीत्यापि प्रथममुच्छिष्टग्रहणं देहयात्रैव; तां विना-सर्वाक्रियाया अनिर्वाहात् सर्व-साधारणमावश्यकम् । तदनन्तरं तन्निर्वाहितदेहेन त्वच्चरितश्रवणम् । 'श्रुत्वा धर्मं विजानाति' इति नवधायामपि श्रवणस्य प्राथम्याच्चावश्यकम्' ततश्च स्मरणम् । यद्यच्छ्रुतं तन्मननमावश्यकम् । तत्राम्भोजपरागो वातरथः सर्वतः प्रसृतः कञ्जगुणसूचको भवति । तद्वद्रजः शब्देन पदयशो ज्ञेयम् । यद्वा वनविहरणे पदलग्नं रजः, वा पदाङ्कितस्थलीरज इति सप्रभावस्मरणं पूर्व-मुक्तमेव ।

तदनन्तरं तद्दर्शनार्थमेव कुञ्जालयान् प्रति विचरणम् । यथा 'राधा-पदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीके' इति । तदनु तत्र तत्तत्क्रीडासूचकचिन्हैस्तद्गाय-

---

रसकलश

साक्षी है । और जितना करना मेरे अधिकार में हैं, उसके लिए भी मैं आप पर ही आश्रित हूं । बाह्य-पक्ष से संबन्धित श्रीहिताचार्य की इसी भावना के कारण पद्य में हाथों द्वारा की जाने वाली सेवा का विवरण नहीं दिया गया है । यदि सेवा-क्रम के हिसाब से देखा जाय तो भी सबसे पहला काम उच्छिष्ट प्रसादी ग्रहण करना ही है, क्योंकि शारीरिक धर्म का निर्वाह किये बिना सेवा सम्बन्धी कोई काम यथावत् नहीं हो सकता । भोजन तो साधारणतया सबके लिए आवश्यक है । उसके बाद पेट में कुछ पड़ जाने पर आपके चरित्र का सुनना । कहा भी है, 'सुन कर धर्म को जानता है ।' नव प्रकार की भक्ति में भी चरित्र-श्रवण को प्राथमिकता दी गई है, अतः वह आवश्यक है । उसके बाद आता है – स्मरण । जो कुछ सुना है, उसका मनन तो करना ही चाहिए । अब कमल का पराग हवा में उड़ कर चारों ओर जब बिखर जाता है, तो उससे कमल की कोमलता के गुण का परिचय मिलता है । इसी प्रकार यहाँ चरण-रज से तात्पर्य उन चरणों के यश से है । अथवा वन-विहार के प्रसंग में चरणों में लगी रज । अथवा श्रीचरणों से चिह्नित कुंज-स्थल की रज । यह पहले कहा जा चुका है कि श्रीचरणों का स्मरण उनके प्रभाव-सहित करना चाहिए ।

उसके अनन्तर उन चरण-चिन्हों के दर्शन के निमित्त कुंज-प्रदेश के आस-पास घूमना । श्रीराधासुधानिधि में कहा भी है—'श्रीराधा के चरण-चिह्नों से शोभायामन मनोहर स्थलियों से मंडित श्रीवृन्दावन में मेरा मन निरन्तर रमण करता रहे (पद्य १३) । उसके बाद उन कुंज-स्थलियों में विविध क्रीड़ाओं को सूचित करने वाले

कपक्षिभिश्च मनसि तत्तदुद्दीपनेन तत्तद् गायामीति । यथा 'राधायशोमुखर-मत्तखगावलीके' इति । तदनन्तरं दर्शनपरमोत्कंठया तद्गानप्रेममत्तदशायां तादृशानां कृपाद्रुतचित्ताया दर्शनभवनं नासम्भाव्यम् । तेन तदाकृतिदर्शनात् 'तवैवाकृतिम्' इति । वा प्राकट्ये सेवास्वरूपां नत्वन्यं भगवद्रूपविशेषं माहात्म्येनेत्यर्थः । एवमाकृतिदर्शनान्तोक्त्या क्रियापूर्णत्वमुक्तम् । यथा 'सर्वश्रेय परिश्रामः पुंसो मद्दर्शनावधिः' इति । एवममलैस्तदेक क्रियानिष्ठैस्तन्वादिभि-सर्वांशेनाश्रितोऽस्मीत्यलं विस्तरेण ॥२४०॥

ननु किमाकृतिः श्रीमतीति यद्ज्ञात्वाध्यात्वा च परिचरणयोग्यतामाशास्महे, इति प्रश्ने तत्र स्वानुभूततदाकृतिं शाखाचन्द्रन्यायेन किञ्चिर्न्निर्दिशंस्तत्पात्रतां निश्चिनोति—

क्रीडन्मीनद्वयाक्ष्याः स्फुरदधरमणीविद्रुमश्रोणिभार-
द्वीपायामान्तरालस्मरकलभकटारोपवक्षोरुहायाः ।

रसकलश

चिन्हों को देख कर, उन क्रीड़ाओं का गान करने वाले पक्षियों को सुनकर मन में विविध प्रकार के भावों का जो स्फुरण हुआ, उसके आवेश में स्वयं भी उन्हें गाने लगते हैं। इसी स्थिति को व्यक्त करते हुए कहा गया है—'श्रीराधा के कीर्ति-गान से मुखरित, मत्त पक्षि-समूह से युक्त श्रीवृन्दावन में' (पद्य १३) इसके बाद प्रियाजी के दर्शन की प्रबल उत्कंठा से उपासक जब प्रेम-मत्त हो जाये, तो यह असंभव नहीं है कि वे कृपा से द्रवित होकर उन्हें दर्शन दे दें। उस समय प्रियाजी के स्वरूप का दर्शन कर यह उद्गार निकलना स्वाभाविक है—'तवैवाकृतिम्' (आप की ही आकृति को)। अथवा यह अर्थ है कि प्रियाजी के प्रकट हो जाने पर उनके आराध्य स्वरूप का ही दर्शन करना चाहता हूँ, न कि किसी ऐसे स्वरूप का जिसमें भगवत्ता प्रधान हो। अर्थात् महात्म्य ज्ञान से प्रेरित होकर नहीं। इस तरह प्रियाजी के साक्षात् स्वरूप के दर्शन पर्यन्त संपूर्ण क्रियाओं का यहाँ वर्णन किया गया है। भगवान् ने भी कहा है—'मनुष्य के सब कल्याणों की अवधि मेरे दर्शन हैं।' इस प्रकार निर्मल अर्थात् केवल श्रीमती राधा से संबंधित सेवा-कार्यों में निरत रहने वाले शरीर, वाणी और मन से सर्वांश में आपके ही आश्रित हूँ ॥२४०॥

जिज्ञासु भक्त के यह पूछने पर कि श्रीमती राधा की आकृति कैसी है जिसे जान और जिसका ध्यान कर सेवा करने की योग्यता प्राप्त करने की आशा की जाय, श्रीहितसखी अपने स्वयं के अनुभव के आधार पर शाखाचन्द्र न्याय से उसे कुछ-कुछ बताती हुई पात्रता का निश्चय करती हैं—

गम्भीरावर्तनाभेर्बहलहरिमहाप्रेमपीयूषसिन्धोः
श्रीराधायाः पदाम्भोरुहपरिचरणे योग्यतामेव मृग्ये ॥२४१॥

'श्री'-ति सर्वाश्रयस्याप्याश्रसंसिद्धेः पदकमलसेवनयोग्यतामेवान्वेषये, यत्कस्याप्येतदभिलाषो वर्तते येन तदुपायप्रवृत्या योग्यता स्यात् । तद्धन्या स्थ मन्मृग्यमेव भवन्त आशासते, इति भावः । प्रथमं ज्ञानं, तत इच्छा, ततः कृतिरिति पारम्पर्यात् ज्ञानेच्छैव परिचरणकृतिकारणम् ।

उक्ताश्रयाश्रयत्वमाह—बहलः सदानवच्छिन्न प्रवहणपरोऽकुण्ठितो, विघ्नानभिभूत इति यावत् । यथा 'सालावण्य' इति पद्ये—

'नो किञ्चित् कृतमेव यत्र न नुतिर्नागो न वा सम्भ्रमो,
राधामाधवयोः स कोऽपि सहजः प्रेमोत्सवः पातु वः ॥

रसकलश

खेलती हुई दो मछलियों के समान जिनकी आंखें हैं, देदीप्यमान मूँगा मणि की तरह अधर हैं, जिनके मध्यभाग में नितंब-भार ही द्वीप का विस्तार है, स्तन ऐसे है जैसे कामदेवरूपी गजशावक के गंडस्थल हों, गहरी भँवर की तरह जिनकी नाभि है, श्रीहरि के महाप्रेमामृत की नदी के समान उस श्रीराधा के चरण-कमलों की परिचर्या की योग्यता को ही मैं खोज रही हूं ॥२४१॥

'श्रीराधायाः' का अर्थ है—जो श्रीकृष्ण सब के आश्रय हैं उनको भी आश्रय देने वाली तथा उनकी अभिलाषा को पूर्ण करने वाली । ऐसे श्रीराधा के चरण-कमल के सेवन की योग्यता की खोज करती हूं । अर्थात् इस चिन्ता में हूं कि क्या ऐसी अभिलाषा और किसी के भी है, ताकि उसके द्वारा अपनाये गए साधन में प्रवृत्त होकर मैं भी उस योग्यता को प्राप्त कर सकूं । अतः आप लोग धन्य हैं कि आप उसी वस्तु की आशा कर रहे हैं जिसे कि मैं खोज रही हूँ, यह भाव है । क्रम यह है कि सबसे पहले किसी वस्तु का ज्ञान होता है, उसके अनन्तर उसे प्राप्त करने की इच्छा, फिर उसके अनुकूल प्रयत्न । इसके अनुसार ज्ञान और इच्छा ही परिचर्या रूप कार्य के कारण हैं ।

अब श्रीराधारूप आश्रय का वर्णन करते हैं—'बहलहरि'—इत्यादि । घना जो श्रीहरि का प्रेमरूपी अमृत, उसकी महानदी । (नदी के संबन्ध से) 'बहल' का अर्थ है अनवरत रूप से सदा बहने वाला—बिना किसी रुकावट के और मार्ग में आने वाली बाधाओं से हार न मान कर । 'सा लावण्यचमत्कृतिः'—इस पद्य (१०२) में इसी आशय को लेकर कहा है—'जहां लेशमात्र भी बनावट नहीं है, न स्तुति है, न अपराध है तथा न किसी प्रकार का भ्रम है, श्रीराधामाधव का वह कोई अनिर्वचनीय, स्वाभाविक प्रेमोत्सव तुम्हारी रक्षा करें ।' इस प्रकार यह प्रेम-प्रवाह अत्यन्त विशुद्ध एवं पुष्ट है

इति शृङ्गजातीयः, पुष्टो, हरेर्मनोहर्तुः सर्वप्रेमास्पदस्यापि महान् निरपेक्ष-महत्वान्निरतिशयः, इति प्रेमेवामृतं तस्य प्रस्रवणपूरस्येवाश्रयायाः सिन्धो महानद्याः । अत्र प्रियनिष्ठप्रेमापि ग्राह्यः । अग्रे प्राणेशपरिचारणं वक्ष्यत्येव ।

इदं पद्यं किञ्चिदक्षरव्यत्यासेन पूर्वं एकशताधिकद्विसप्ततितमे प्रक्षिप्तम् । तत्र समुद्ररूपकम् । ततोऽत्र नदीरूपकम् । 'सिन्धुर्वा सरिति स्त्रियाम्' इत्यमरोक्तेः । परम्परापाठाद्व्याख्येयमेवेति ।

तदेव विशिनष्टि—क्रीडन्मीनद्वयवदक्षिणी यस्याः । क्रीडनं द्वितीयं विना न घटते, इत्यक्षिद्वये लोलप्रकृतेऽपि क्रीडनमत्र साकूतं ज्ञेयम् । किञ्चैकस्मिन् स्वात्मनि द्वितीयस्य प्रियस्य स्मरणे स्वलज्जातल्लौल्यभावनयान्त एव संघर्षाभिप्रायवैविध्योदयेन तदाकूतमक्षणोश्चाञ्चल्येन ज्ञायते, अतोऽक्षि-

---

रसकलश

और अपने महत्व के लिए, मन को हरण करनें वाले, सब के प्रेमपात्र श्रीहरि की भी कोई अपेक्षा नहीं रखता। इसीलिए वह प्रबल और असीम है। तो इस प्रेमामृत के प्रवाह की आश्रयभूत महानदी हैं श्रीराधा। यहां प्रियाजी के प्रति प्रियतम के प्रेम को भी अन्तर्भुक्त समझ लेना चाहिए। आगे (पद्य २४२ में) सखी द्वारा प्राणेश की परिचर्या कराने की बात कहेंगे ही।

कुछ अक्षरों के हेर-फेर के साथ प्रस्तुत पद्य एक-सौ बहत्तर की संख्या के अंतर्गत आ चुका है। उस पद्य में समुद्र का रूपक बांधा गया, अतः यहां प्रियाजी का वर्णन एक विशाल नदी के रूप में समझना चाहिए। अमरकोष के अनुसार पुल्लिग सिन्धु शब्द का नदी के अर्थ में भी प्रयोग होता है। चूंकि प्रस्तुत पद्य क्रम-प्राप्त है, अतः उसकी व्याख्या करनी ही होगी।

नदोरूपक को ही श्रीराधा के विशेषणों द्वारा निरूपित करते हैं—'क्रीडन्मीन-द्वयाक्ष्याः।' जिन की आँखें दो मछलियों की तरह खेलती रहती हैं। खेलने के लिए दो की जरूरत होती ही है। दोनों आँखें स्वभाव से ही चंचल हैं, अतः यहाँ खेलने के अन्दर अभिप्राय छिपा हुआ है। दूसरे, प्रियतम का स्मरण होने पर हृदय में अपनी लज्जा और प्रियतम की लोलुपता के बीच अन्दर ही अन्दर एक संघर्ष छिड़ जाता है जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के भाव उदय होने लगते हैं। आँखों की चंचलता से प्रियाजी के अन्तस्तल से यही भाव प्रकट होते है, अतः वे आंखे खेलती हुई-सी लगती हैं। उसी आन्तरिक अभिप्राय के कारण निचला होठ भी फड़कने लगता है। 'अधर' से अभिप्राय यहाँ अधर-ओष्ठ का है। दूसरे, प्रियाजी को यह भी सन्देह होने लगता है कि प्रियतम अभिलाषा से जब इतने चंचल हो रहे हैं, तो कहीं होठ को न चूम लें।

क्रीडनम् । तेनैवाकूतेनाधरे स्फुरणम् । एतदुपलक्षणेनोष्ठोऽपि ज्ञेयः । किञ्च लौल्यसंभ्रमजचुम्बनभावनयाधरे शकुनवत् सूचनम् । यद्वा स्फुरन् देदीप्यमानो वर्णाढ्याधिक्येन तादृशाधर एव मणीविद्रुमो यस्याः । मणीतिदीर्घो द्विरूपकोशोक्तः । एवं श्रोणिरिति ह्रस्वोऽपि ज्ञेयः । 'विद्रुममणी'-ति वक्तव्ये विशेष्योपसर्जनमासज्याधरस्यासक्तीभवनसूचनार्थम् । यथाधरे स्फुरणं तथा मणौ तेजश्चमत्मकरणं, एतावदेव प्रथमं विवक्षितम् । पश्चाद्वर्णस्मरणेन 'विद्रुमे'-ति पदन्यासो छन्दानुरोधाच्चापि ज्ञेयः । मणिरत्राश्मजः शाणोल्लीढः परिष्कृतः । केवल विद्रुमोद्रुमादुद्धृतस्त्वसंस्कृतस्तथा न शोभते । यद्वा विद्रुमे मणित्वमनुक्तमेवास्ते; अतो मणिशब्दः श्रेष्ठवाची । समुद्रवन्मणि-मुक्तादीनां महानदीनदादिषु श्रवणादत्रापि विद्रुमोक्तिः, सर्वरत्नास्पदन-दीत्वात् ।

श्रोणिभार एव द्वीपायामोऽन्तराले मध्यभागे यस्याः । 'स्रोतस्विनी

रसकलश

इस भावना के प्रभाव से शुभ-शकुन-सूचक स्फुरण होंठ में होने लगता है । अथवा 'स्फुरन्' का अर्थ फड़कता हुआ न होकर देदीप्यमान भी हो सकता है । तब अर्थ होगा —गहरी लालिमा के कारण प्रियाजी का अधररूप मणि-विद्रुम चमक रहा है । कोश के प्रमाणानुसार 'मणि' शब्द का दीर्घ ईकारान्त प्रयोग भी देखा जाता है । इसी प्रकार 'श्रोणि' शब्द भी ह्रस्व तथा दीर्घ-ईकारान्त दोनों प्रकार का होता है । पद्य में 'मणी-विद्रुम' के स्थान पर 'विद्रुममणि' पाठ होना चाहिए था, किन्तु विशेष्य 'विद्रुम' को समास में गौण स्थान देकर यह सूचित किया गया है कि प्रियाजी भले ही आसज्य हों पर उनके अधर में तो आसक्ति का भाव प्रतिफलित हुए बिना नहीं रहता । पहले तो इतना ही कहना चाहा था कि अधर में जिस प्रकार फड़कने की क्रिया होती है, वैसे ही मणि में चमक होती है, (इसी साम्य को रूपक का आधार बनाया गया है), पर बाद में अधर के रंग की जो याद आई, तो 'विद्रुम' का समावेश और कर दिया । छन्दपूर्ति के लिए भी 'मणि' का प्रयोग संभव है । 'मणि' से अभिप्राय यहाँ खराद पर चढ़ाकर तराशे गए बहुमूल्य पत्थर से है । पेड़ से उतारा गया मूंगा (वि+द्रुम) तो परिष्कृत अवस्था में होता नहीं, अतः देखने में सुन्दर भी नहीं लगता । अथवा 'मणि' न कहने पर भी मूंगा तो मणि ही रहेगा, अतः 'मणि' का अर्थ श्रेष्ठ भी लगया जा सकता है । समुद्र में जैसे मणि-मुक्ता आदि होते हैं, वैसे ही बड़ी-बड़ी नदियों और नदों में सुने जाते हैं । इसीलिए यहाँ नदी रूपक में मूंगा का उल्लेख किया गया है । नदियाँ सब रत्नों की स्थान कही जाती हैं ।

द्वीपवती' इत्यमरः । द्वीपोऽत्र मध्यपुलिनम् । श्रोणीद्वीपयोर्भारायामयोश्च साम्यम् । भारे प्रकृतोत्तमलक्षणेऽपि स्मरणजस्मररसजाडचत्वप्राप्त्या तदर्हत्वात् तत्र भारस्य प्रतिफलनम् । सौकुमार्याद्भारोक्तिः । कृपोच्छलनौदार्यादङ्गस्यायामत्वोक्तिश्च । स्मृतिमात्रक्षोभकधर्मस्य नद्यवगाहकस्य, लावण्यैकधाम्नः कामकलभस्य करौ गण्डौ, तद्वदाटोप उन्नतवर्तुलमांसलदृढशोभनतमत्वादिवैशिष्टचवानाडम्बरः, तद्युक्तौ वक्षोरुहौ यस्याः ।

यद्वा आयामान्तमेकं, अन्तरालादि भिन्नं पदञ्च ज्ञेयम् । तेनान्तराले नद्या वा द्वीपस्येति उभयत्रापि क्रीडनेन नदीशोभा द्योतिता, जले च विशेषेणेति । किञ्चान्तःस्थस्य गजस्य कटौन्नत्यमुच्चदेशे उदेति । तद्वच्छ्रो-

रसकलश

श्रीराधा के मध्यभाग (कटि-प्रदेश) में नितंब-भार ही किसी द्वीप के समान है। अमरकोष के अनुसार 'द्वीपवती' भी नदी का एक पर्यावाची शब्द है। 'द्वीप' से यहाँ तात्पर्य नदी के बीचों-बीच उभरे हुए बालुकामय पुलिन से है। जैसे उपमेय नितम्ब का द्वीप से साम्य है, वैसे ही नितम्ब के गुण भारत्व और द्वीप के गुण विस्तार में भी समता है। अर्थात् नितंब-प्रदेश यदि भारी है, तो द्वीप विस्तृत है। यद्यपि नितंबों का भारी होना अच्छा लक्षण माना जाता है, किन्तु प्रियाजी के अन्तर में जब काम विषयक भावना उतरती है, तो नितंबों में एक प्रकार की जड़ता आ जाती है। और चेतन पदार्थ जड़ होकर भारी हो ही जाता है। प्रियाजी के अत्यन्त सुकुमार होने के कारण नितंब उन्हें भार लगते हैं, और छलछलाते कृपा-भाव की उदारता की दृष्टि से नितंब अंग को विस्तृत बताया है। काम का यह स्वभाव है कि स्मरणमात्र से ही हृदय में हलचल मचा देता है। तो (यौवनरूपी) नदी में नहाने वाले, लावण्य के एकमात्र स्थान कामरूपी हाथी के दोनों गण्डस्थलों का जैसा आटोप (भराव उभराव) होता है, उसी प्रकार के आटोप से युक्त प्रियाजी के दोनों उरोज हैं। स्तन ऊँचे हैं, गोल हैं, कड़े हैं और अत्यन्त सुडौल हैं। इन विशेषताओं से उनकी रूप-रेखा विशाल, भरीपूरी दिखती है। 'अटोप'—आडंबर से यही अभिप्राय है (यहां 'आडम्बर' का अर्थ पाखंड नहीं है, बल्कि एक ऐसा दृश्य जिसे व्यक्त करने के लिए 'घटाटोप,' 'मेघाडम्बर' आदि प्रयोग प्रचलित है।)

अथवा 'श्रोणिभारद्वीपायामा' तक स्वतंत्र समासान्त पद माना जाय और 'अन्तरालस्मरकलभकटाटोपवक्षोरुहाया:' पर्यन्त दूसरा भिन्न पद। तब अर्थ होगा—नदी या द्वीप के मध्य में (खेलते हुए) कामदेवरूपी गजशिशु के गण्डस्थलों के आटोप की तरह जिनके स्तन हैं। हाथी का बच्चा नदो के बीच में क्रीड़ा करे या नदी के मध्य में स्थित द्वीप पर, दोनों प्रकार से नदी सुशोभित होती है, यह सूचित किया गया

णिरधोभागो, वक्ष उच्चभागः। स्मरोक्त्या तदावेशः स्फुट एव ज्ञेयः। आटोपोक्त्या तदानीं वक्षोजयोः कञ्चुकीकवचोपमर्दकं बाढमनुन्मानं ज्ञेयम्।

गम्भीरजलावर्तवन्नभिर्यस्याः। अत्रापि स्मररसभ्रमणम्। किञ्च महाप्रेमपूरागमस्मरणजकृपोज्जृम्भस्य लज्जावरोधस्य चैकत्र साङ्कर्यात्। एवं बहुब्रीहिसमस्तस्य पदत्रयस्य सा चासौ सा चेति कर्मधारयः, लौल्यहेतुकस्थानानामेकत्रीकरणसूचकश्च। अम्भोरुहोक्तिरपि नदीशोभैव रसद्योतनार्था। अम्भःशब्देन सात्विकादयो ज्ञेयाः इति तत्र तत्रालङ्कारोऽपि रसप्राधान्येनैव व्याख्येयः सहृदयशक्यः ॥२४१॥

रसकलश

है। हां, जल में क्रीड़ा करता हुआ हाथी ज्यादा अच्छा दिखता है। दूसरी बात यह कि हाथी जब नदी के अन्दर क्रीड़ा कर रहा हो, तो किसी ऊँचे प्रदेश पर ही उसके गंडस्थलों की ऊँचाई दिखाई देगी। इसी प्रकार नितंब-प्रदेश नीचा है, वक्षःस्थल ऊँचा है। कामदेव को हाथी के बच्चे का रूपक देने से काम का आवेश स्पष्ट समझना चाहिए। 'आटोप शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि उस समय स्तनों की ऊँचाई, परिणाह आदि सीमा से इस प्रकार बाहर हो गये थे कि कुँचकी (चोली) रूपी कवच की धज्जियाँ उड़ गई थीं।

गहरे जल में पड़ने वाली भँवर की तरह श्रीराधा की नाभि है। यहाँ भी भँवर बन कर रस (दूसरे पक्ष में पानी) का चक्कर काटना कामावेश के कारण ही समझना चाहिये। दूसरे, प्रियतम के अगाध प्रेम के ज्वार का प्रियाजी को जो स्मरण हुआ, सो ही एक तरफ़ तो कृपा उमड़ी और दूसरी ओर लज्जा ने उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया। इस प्रकार दो विरुद्ध भावों का एकत्र मिलन होने से भावों में पानी में की जैसी भँवर-सी पड़ गई। यहाँ तीनों समासान्त पदों में पहले एक-एक में बहुब्रीहि समास करना होगा और तीनों का परस्पर कर्मधारय समास। परवर्ती समास के द्वारा लुभाने वाले सब स्थानों (अंगों) को इकट्ठा कर एक जगह रख दिया गया है। 'पदाम्भोरुह' में 'अम्भोरुह' (कमल) की उक्ति नदी की शोभा को व्यक्त करने तथा उसे सरसता प्रदान करने के लिये की गई है। 'अम्भः' (जल) शब्द से सात्विक भावों की व्यंजना की गई है। पद्य में अलंकार-संबन्धी विवेचना भी रस को ही दृष्टि में रख कर करनी चाहिए जिसके लिये सहृदयजन समर्थ हैं[1]। ॥२४१॥

१. अन्य प्रतियों में पद्य के द्वितीयः चरण में 'द्वीपायामोन्तराल' इत्यादि पाठ मिलता है। इस पाठ को स्वीकार किया जाय, तो 'श्रोणिभारद्वीपायामः' समासान्त पद निकलता है, संस्कृत में इसका विग्रह होगा—श्रोणिभार एव द्वीपायामः' (नितंब-भार रूपी द्वीप का विस्तार है। किन्तु इस विग्रह के अनुसार यह पद 'श्रीराधायाः' का विशेषण नहीं हो सकता। 'द्वीपायामान्तरलः' इत्यादि पाठ में यह अड़चन उपस्थित नहीं होती।

एवं साभिप्रायप्रियाकृति निर्वर्ण्यान्वेषिततत्परिचरणे वर्णयितव्ये तावत्तस्यास्तत्सुखसुखित्वं वर्णयन् प्रयोज्यत्वेन प्रियपरिचारणमाह—

मालाग्रन्थनशिक्षया मृदुमृदुश्रीखण्डनिर्घर्षणा-
देशेनाद्भुतमोदकादिविधिभिः कुञ्जान्तसम्मार्जनैः ।
वृन्दारण्यरहःस्थलीषु विवशा प्रेमार्तिभारोद्गमात्
प्राणेशं परिचारकैः खलु कदा दास्या मयाधीश्वरी
॥२४२॥

अत्र क्रियापदादर्शनात् श्रीगन्थकर्तॄन् संप्रार्थ्य 'परिचारकैः' इत्यस्य 'परिचारयेत्' इति पाठोऽर्थसङ्गतेः कर्तव्यः । अधीश्वरी मया दास्या प्राणेशं कदा खलु परिचारयेदित्यन्वयः । ईश्वरी, सेव्या, नियामका तु प्रकृतैव ।

रसकलश

इस प्रकार एक विशेष अभिप्राय से प्रियाजी के स्वरूप का वर्णन करने के उपरान्त उनकी उस परिचर्या के प्रकार का वर्णन करना चाहिए था जिसकी कि खोज की जा रही है, परन्तु ऐसा न कर प्रियाजी के सुख में सुखी रहने की भावना का वर्णन करते हुए, उनकी प्रेरणा (आदेश) से अपने द्वारा की गई प्रियतम की सेवा का वर्णन करते हैं—

'माला पिरोने की शिक्षा देकर, धीरे-धीरे चन्दन घिसने की आज्ञा प्रदान कर, आश्चर्यजनक रूप से स्वादिष्ट लड्डू आदि बनाने की विधि बता कर, कुंज-प्रदेशों को बुहारने की कह कर प्रेम की पीड़ा के भार से विवश हुई श्रीराधा श्रीवृन्दावन की एकान्त कुंज-स्थलियों में मुझ दासी द्वारा प्राणेश की कब सेवा करायेंगी ?' ॥२४२॥

इस पद्य में क्रिया नदारद है, अतः ग्रन्थकर्ता (श्रीहिताचार्य) से प्रार्थना कर (कि इस अनुचित हस्तक्षेप को क्षमा करें) 'परिचारकैः के स्थान पर 'परिचारयेत् पाठान्तर कर अर्थ की संगति बिठानी होगी । अधीश्वरी (श्रीराधा) मुझ दासी के द्वारा प्राणेश की कब परिचर्या करावेंगी—यह अन्वय है । प्रियाजी के संबंध में यह तो कहते ही चले आ रहे हैं कि वे ईश्वरी हैं, स्वामिनी के पद पर प्रतिष्ठित हैं,

तीसरे चरण में प्रायः बहुलहरिमहाप्रेमपीयूषसिन्धोः' पाठ मिलता है, जब कि रसकुल्याकार ने 'बहल' पाठ माना है । 'बहुल' का अर्थ है 'अत्यन्त, और 'बहल' का है सघन या घना । तात्पर्य में इससे कोई अन्तर नहीं आता । हां, कोई चाहे, तो 'बहुलहरिमहा' में सभङ्ग श्लेष मान कर दूसरा यह अर्थ कर सकता है कि 'जो श्रीराधा बहुत लहरों वाले विशाल प्रेमामृत की सिन्धु-स्वरूपा हैं ।

चतुर्थ चरण में 'मृग्ये' के स्थान पर 'चिन्वे' पाठ भी मिलता है ।

तत्राधिशब्देन तदानीन्तनसखीप्रेमदनवीनशिक्षणनिर्देशादिना नियन्तृत्वाधिकारवतीति। मया तत्तन्नैपुण्येन परिचरणयोग्यया दास्या। यथा तया नवपदं गृहीतं तथा मयापि जानत्यैव मुग्धपराधीननियम्यभावं गृहीतवत्या प्राणानां तत्तदघटितासज्यचेष्टनधर्माणां नियन्तारं, आसक्त्या तत्तत्साधयितारं, यदिङ्गितयैव सर्वलीलासिद्धेः, परमप्रेमास्पदं दयितं मालाग्रन्थनादिभिः, 'खलु' इति जिज्ञासानुनयार्थे कदा परिचरणं कारयेदित्यर्थः।

पूर्वमेव परिचरन्तीं प्रेरयतीत्यत्र हेतुः 'प्रेमार्तिभारोद्गमात् विवशा

रसकलश

आराध्या हैं और सखी-परिकर पर नियंत्रण रखती हैं। तथापि 'ईश्वरी' के पूर्व जो 'अधि' उपसर्ग लगा है, उसका आशय यह बताना है कि उस समय प्रियाजी श्रीहिताली को प्रेमानन्द देने वाली शिक्षा एवं आदेशों को प्रदान कर अपने नियंत्रण के अधिकार का प्रयोग कर रही थीं। तो मुझ दासी के द्वारा जो विविध कौशल-संपन्न होने के कारण सेवा-कार्य के योग्य है (परिचर्या कब करायेंगी;)। जिस प्रकार इस अवसर पर स्वामिनी ने अधीश्वरी का नया पद (अधिकार) ग्रहण किया है, उसी प्रकार मैंने भी, सब कुछ जानते हुए भी ऐसा भाव अपना लिया है मानों मैं एकदम नौसखिया हूं, पराधीन हूं और केवल इस योग्य हूं कि पूर्ण नियंत्रण रख कर मुझे सेवा संवन्धी आदेश दिये जायँ। 'प्राणेशम्' का अर्थ है, प्राणों के स्वामी और 'प्राणों' का अर्थ है कि आसज्य से जो-जो कर्तव्य अभी पूर्ण नहीं किये गये हैं, उनका नियंत्रण (संपादन) करने वाले। दूसरे शब्दों में, आसक्ति की प्रेरणा से प्रियाजी से संबन्धित विविध कार्यों को करने वाले। ऐसा तभी संभव है जबकि प्रियाजी के आशय को पहले ही से भांप लिया जाय और भाँपने के बाद, उनके द्वारा आदेश दिये जाने के पूर्व ही उन्हें पूरा कर दिया जाय। तभी तो सब लीलायें पूरी उतरेंगी।[1] ऐसे परम प्रेमपात्र प्यारे की, माला गूंथने आदि की आज्ञा प्रदान कर मुझ से कब सेवा करायेंगीं? 'खलु' शब्द यहां जिज्ञासा और कौतुक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है–अर्थात् श्रीहितसखी यह जानना चाहती हैं कि इस प्रकार के आदेश क्या कभी मिल सकंगे? साथ ही ऐसे आदेश प्रदान करने के लिये प्रार्थना का भाव भी 'खलु' में छिपा हुआ है।

श्रीहितसखी तो पहले ही परिचर्या में लगी हुई थीं, फिर भी प्रियाजी ने उन्हें विविध सेवा-कार्य संपादन के लिए प्रेरित किया, तो उसका कारण है—'प्रेमार्तिभारो-

१. प्राणों का यह अर्थ लगाना, प्रारंभ में, क्लिष्ट-कल्पना प्रतीत होगी, परन्तु यदि गहरे उतर कर देखा जाय, तो मूलस्वरूप में प्राण वह शक्ति है जो जीव के संपूर्ण अस्तित्व को साधे रखती हैं—वह धुरी जिस पर जीवन-चक्र घूमता है। जहां तक श्रीकृष्ण का संबंध है, इस प्राण-शक्ति का विनियोग एकान्त भाव से प्रियाजी के मनोगत आशय को पूर्ण करना ही है और एतदर्थ यह आवश्यक है कि अपने प्राणों के ईश हों, अर्थात् अपने कर्त्तव्यों के नियन्ता हों।

इति। तदानीं प्रिययुक्तापि मालादिपरिधानसामयिकानन्दस्मरणजप्रेमौत्कण्ठ्याधिक्येन सौकुमार्यात् पीडनमिव जातं, तेन 'आर्ति' इत्युक्तिः। तस्या भारोऽसह्योष्मा, तस्योद्गमात्। स यथा यथा चेष्टते तथैव तद्वशा कुरुते विकत्थते च। न स्वतंत्रेत्यर्थः।

स्मरणमेवम् आसज्यार्पितस्रग्गन्धरसादिग्रहणैकव्रतपरेण प्रियेण प्रियानिर्मापितप्रयुक्तसख्यर्पितापि माला परमादरेण प्रियाकण्ठ एव प्रत्यर्पिता। तज्जशोभास्नेहोज्जृम्भितप्रसादेनावश्यंभाविष्णुतमपरिम्भभाविपरमानन्दस्मरणेनेदानीमेव विवशा 'हा! कदायं मालाहेतुकोक्तमानन्दं प्रापयेदित्यार्तिः।

शिक्षणञ्च मृदुपुष्पाणामपि मृदुपत्रिकाग्रथनवैविध्यनैपुण्यं, मध्ये श्यामपुष्पस्तवकन्यासजसंयोगोद्दीपनञ्च। हृदयपरिधाने कार्कश्याभासोऽपि न

रसकलश

द्गमात् विवशा'—प्रेम की पीर के दबाव से विवश होकर। प्रियतम उस समय साथ ही थे, तथापि माला आदि धारण कराते वक्त के आनन्द का स्मरण ज्योंही प्रियाजी को हुआ, त्योंही प्रेम की उत्कंठा इतनी बढ़ी कि सुकुमारांगी होने के कारण वह उत्कंठा एक ख़ासी टीस बन गई। इसी आशय को व्यक्त करने के लिये 'आर्ति' (पीड़ा) शब्द का प्रयोग किया गया है। उस पीड़ा का भार, अर्थात् असह्य गर्मी जिसके पैदा हो जाने पर प्रियाजी अपने काबू के बाहर हो गई। फलतः प्रियतम जो जो कहते गए वही सब विवश होकर करती चली गई। इससे बढ़ कर विवशता और क्या हो सकती थी कि प्रियतम की इच्छा-पूर्ति भी करती थीं और उन्हें भला-बुरा भी कहती थीं। मतलब यह कि वे स्वतंत्र नहीं रह गईं।

(ऊपर कहा गया है कि प्रियतम के माला पहिनने के समय के आनन्द का स्मरण कर प्रियाजी विवश हो गईं।) इसी स्मरण-प्रक्रिया का विवरण देते हुए कहते हैं—श्रीकृष्ण का यह प्रण था कि मैं आसज्या श्रीराधा द्वारा व्यवहार में लाई गई माला, सुगन्धि-द्रव्य आदि का प्रसादी-रूप में ही ग्रहण करूंगा। अब प्रियाजी ने माला बनवाई और सखी से कहा कि इसे प्रियतम को धारण कराओ। किन्तु प्रियतम ने अत्यन्त आदर भाव से उसे उलटे प्रियाजी के गले में ही पहिना दिया। तब माला की शोभा और प्रियतम के स्नेह को देख कर प्रियाजी में ऐसा कृपा-भाव उमड़ा कि उसके बाद अनिवार्य रूप से जो आलिंगन होने वाला था और उसके फलस्वरूप जो आनन्द मिलता उसका स्मरण कर प्रियाजी उसी समय विह्वल हो गईं जबकि वे माला पिरोना सिखा रही थीं और सोचने लगीं—'हाय! वह समय कब आवेगा जब कि माला के कारण उत्पन्न होने वाले आनन्द को प्रियतम मेरे लिये सुलभ बनावेंगे?' 'आर्ति' शब्द से इसी प्रकार की पीड़ा का अभिप्राय है।

'शिक्षण' की व्याख्या करते हैं—माला गूंथने की शिक्षा में तात्पर्य यह कि कोमल फूलों के बीच-बीच में बड़ी चतुराई के साथ नरम-नरम पत्तियों के जोड़ डाल

भासेत, तथा त्वमेवं कुरु, मैवं च कुर्वित्यादिस्वकरकृतिपूर्वकप्रेरणमयम्। चातुर्यातिशयशीलवतां विलासिप्रभूणां शीलमेवमेव यत् कुशलपरिचारके कार्यं कुर्वति स्वयमपि सङ्गिनःस्युः। तत्र स्वचातुर्यप्रकाशनास्वादोऽनुग्रह-व्यसनातुरतापोषणञ्च निष्पद्येत। तत्रापि विश्रब्धेङ्गितज्ञजनसङ्गेऽन्तरङ्ग-भावव्यञ्जनमसंकोचजनकं स्यादिति। शोभास्वादौ मालादिषु यथा स्फुरेतां तथैव स्वमनःसाक्षितया कारयतीति ज्ञेयम्। इत्यलं विस्तरेण।

एवञ्च मृदुश्रीखण्डस्यापि मृदुनिर्घर्षणस्यादेशेन मार्दवातिशये वीप्सा। आत्राज्ञाकरणे वैवश्यं पूर्ववदर्पितव्रतपरेण प्रयोज्यसख्यर्पितमपि चन्दन-काश्मीरद्रवं प्रथममगृहीत्वा तेनैव स्वकरेण प्रिया चर्चिता। तत्र यद्यद्बाह्याभ्य-

रसकलश

कर विविधता पैदा करना तथा बीचो-बीच काले फूलों का एक गुच्छा सँजोना जो संयोग-भावना को उद्दीपित करे। माला ऐसी हो कि वक्षःस्थल पर पहिनने में कठोरता का आभास न हो। इसके अतिरिक्त यह शिक्षा कि 'ऐसे नहीं, ऐसे पिरोओ', और यह कहते हुए स्वयं पिरो कर बताना और तब आवश्यक निर्देश देते हुए वैसे ही बनाने को कहना। जो विलासी स्वामी स्वभाव से चतुर होते हैं, उनकी यह आदत होती है कि जब निपुण सेवक-जन कोई काम कर रहे हों, तो स्वयं भी हाथ बँटाने लगते हैं। उन्हें अपनी चातुरी प्रकट करने में स्वाद आता है तथा दूसरों पर अनुग्रह करने की जो उनकी बान पड़ी हुई है और जिसके लिये वे सदा अधीर रहते हैं, उसकी संतुष्टि का उन्हें अवसर भी मिलता है। दूसरी बात यह कि विश्वासपात्र एवं मन की बात समझने वाले व्यक्ति जब साथ में जुटे हों तो बिना किसी संकोच के हार्दिक भाव भी प्रकट किये जा सकते हैं। तो माला आदि में जिस विधि चटक आवे, उसे पहिनने वाला एक प्रकार का चाव अनुभव करे, उसी प्रकार अपने मन को साक्षी करके बनवाती हैं। इतना ही लिखना पर्याप्त है। अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं।

इसी प्रकार जो चन्दन प्रकृति से ही कोमल है, उसे भी धीरे-धीरे घिसने के आदेश का मतलब यह है कि घिस-पिस कर जितना कोमल हो सकता हो, बनाया जाय। इसी आशय को व्यक्त करने के लिये 'मृदु' शब्द का दो बार उपादान किया गया है। चन्दन घिसने की आज्ञा देते समय भो प्रियाजी प्रेम-पीड़ा से विवश हो गई। माला गूँथने के प्रसंग की तरह यहाँ भी यह समझना चाहिये कि प्रियतम ने अपने प्रण को यहां भी निभाया। वह प्रण था कि चन्दन पहले प्रियाजी को अर्पित होगा, बाद में वे स्वयं प्रसादी-रूप में उसे ग्रहण करेंगे। इसके अनुसार प्रियाजी की आज्ञा से सखी ने केसर-मिश्रित चन्दन को भेंट किया, तो उसे पहले न लेकर अपने हाथ से प्रियाजी के लगाया। (लेकिन यह तो बाद की बात है। अभी तो प्रियाजी चन्दन

न्तरतल्लौल्यस्वद्रवजशीत्कारकम्परोमाञ्चादितादात्विकसात्विकभवनस्मरणानन्देनेदानीं प्रियसङ्ग एव विवशेत्यादितात्पर्यकम् । लौल्यञ्च तद्द्रवकृतखण्ड संयोजनजातीयविविधवर्णजकञ्चुकीनिर्माणे पत्राल्यादिचित्रकरणे च मुहुर्लुम्पनमर्दननिर्माणकौतुकमयम् । द्रवश्च तत्सौष्ठवजस्वशोभास्वाददर्शनोज्जृम्भितप्रसादजचुम्बनपरिरम्भणानुभावकः । मार्दवमन्योन्याङ्गमिलने शोषणाकर्षणकार्कश्यादिराहित्यम् । तत्र मिलने तु 'प्रत्यूहः पुलकाङ्कुरेण' इत्यादिरीत्या पुलकपर्यन्तविघ्न एव । परन्तु चन्दनादिसेवनव्याजानन्दोऽपि विलक्षण एव ।

मोदकं लड्डुकम् । आदिशब्देन चन्द्रकलाफेणादयोभोज्याः खाद्याश्चेति जातिभेदनामानि लोकप्रसिद्धया ज्ञेयानि । तत्राद्भुतत्वं क्रियान्तरेषु द्रव्य-

रसकलश

घिसने की आज्ञा दे रही हैं।) किन्तु इस स्थिति में ही अपने बाहर और भीतर, प्रियतम की लोलुपता और अपने द्रवित होने के कारण, चन्दन के शीतल स्पर्श से आगे चल कर जो-जो सीत्कार, कंप, रोमांच आदि सात्विक भाव उदय होंगे, उनका स्मरण प्रियाजी को हो आया और उसके आनन्द में, प्रिय के निकटवर्ती होते हुए भी, वे विवश हो गईं, इत्यादि तात्पर्य है। प्रियतम की लोलुपता इस प्रकार प्रकट हो रही कि कपड़े की चोली जिस प्रकार कई रंग के टुकड़ों को जोड़ कर बनाई जाती है, वैसे ही प्रियतम ने केसर, कस्तूरी, चन्दन आदि से प्रस्तुत किये गए विविध रंगों से प्रियाजी के स्तनों पर चोली का चित्रण किया और पत्रावली की भी रचना की । इस सब के करने में बार-बार रंगों का पौंछना और फिर यथास्थान लगाना हुआ जिससे प्रियतम की लोलुपता स्पष्ट प्रतिभासित होती थी और साथ ही खिलवाड़ भी । प्रियाजी द्रवित इसलिये हुई कि जिस सुघराई के साथ चन्दन आदि से स्तनों को अंकित किया गया था, उससे बढ़ी हुई अपनी शोभा को उन्होंने निहारा, तो ऐसा आनन्द मिला कि कृपा उमड़ आई और उसके आवेश में वे प्रियतम का चुंबन, आलिगन करते ही बनीं। चन्दन को घिस-घिस कर कोमल बनाने का आदेश इस उद्देश्य से दिया गया था कि आलिंगन में जब दोनों के अंग मिलें तो चन्दन के सूख जाने पर अगों में किसी प्रकार का खिचाव अनुभव न हो और उसका स्पर्श कठोर न लगे। सच बात तो यह है कि चन्दन के बीच में आ जाने के कारण श्रीअंगों के मिलने में व्यवधान ही होता है । श्रीगीतगोविन्द (सर्ग १२) में कहा है—'श्रीराधाकृष्ण के आलिंगन में रोमांच भी विघ्न बन कर आते थे। तो रोमोद्गम भी असह्य है वहाँ। परन्तु चन्दन आदि द्वारा सेवा करने का आनन्द भी कम विलक्षण नहीं है।

'मोदक' कहते हैं लड्डू को। 'आदि' शब्द से चन्द्रकला, फैनी आदि लोकप्रसिद्ध भोज्य और खाद्य पदार्थ समझ लेने चाहिये। बनाने की विशिष्ट-क्रिया तथा दूसरी-

रसान्तरेण च रसनास्वादवैशिष्ट्यातिशयेन स्वादयितुः सर्वेन्द्रियाकर्षणपूर्वकतदेकनिष्ठसशिरोधूननश्लाघाश्चर्योत्पादकत्वम् । 'विधि'रत्र क्रियानिदर्शनम् ।

अत्रापि पूर्ववत् प्रियसहयोजनानन्दगतमनः साक्षितया कुर्वत्या अपि सख्या प्रेरणं, स्वादपरीक्षणपूर्वकप्रियामुखेदानमर्धखण्डितशेषोपभोगश्लाघनम्ः 'अहो ! परीक्षणस्वादादप्यधुना किमपूर्वामृतं कुत आयातं रसनायां द्रवतीति श्रीमुखसुधाकरस्पर्शस्यैव प्रभावोऽयं मद्रसनासाक्षिकः', इत्युक्तौ यद्यत् सवाग्व्यंग्यभ्रूभङ्गसमद्युतासूचनं तत्सहृदयगम्यमेव । तादात्विकप्रेमौत्कण्ठ्यस्मरणेनेदानीं विवशेति ।

पुनश्च कुञ्जानामन्ते मध्ये, प्रान्ते च सम्मार्जनैः । 'अन्त' इत्यस्य मध्यप्रान्तद्वयार्थोऽमरेणोक्तः । यद्वा इतश्चेतश्च कुञ्जा स्तत्प्रान्तरूपा वीथ्य

रसकलश

दूसरी चीजों और रसों के यथोचित प्रयोग से लड्डूओं में एक विशेष स्वाद आ जाता है—ऐसा कि खानेवाली की समस्त इन्द्रियां खिंच कर केवल वहीं केन्द्रित हो जाती हैं और वह सिर हिला-हिला कर उनकी प्रशंसा करते नहीं थकता। लड्डूओं का इस प्रकार से आश्चर्यजनक होना ही उनकी अद्भुतता है। 'विधि' से तात्पर्य यहां लड्डू बनाने की क्रिया को करके दिखाने का है।

यहाँ भी पहले की तरह प्रियतम के साथ एक थाली में भोजन करने के आनन्द को मन के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी प्रियाजी सखी से कहती हैं—'लालजी को लड्डू खिलाओ। इस पर प्रियतम पहले स्वयं लड्डू के स्वाद की परीक्षा करते हैं और फिर उसे प्रियाजी के श्रीमुख में अर्पित करते हैं। प्रियाजी जब उसे आधा खा लेती हैं, तो बचे हुए आधे को प्रियतम लेते हैं और उसके स्वाद की सराहना करते हुए कहते हैं--'अहो! बानगी के लिए जब लड्डू चखा था उससे भी अधिक यह अपूर्व स्वाद कहाँ से आया? ऐसा लगता है जैसे स्वाद जीभ पर झर रहा हो। हो न हो, प्रिया के श्रीमुखरूपी सुधाकर के स्पर्श से ही इसमें यह प्रभाव पैदा हो गया है जिसका कि साक्षी मेरा हृदय है।' यह सुन कर प्रियाजी ने वाणी द्वारा जो-जो कटाक्ष किये, भौंहें तरेर कर जिस प्रकार यह भाव व्यक्त किया कि इस तरह हर बात में आपका मुझे घसीटना अच्छा नहीं लगता, उसका अनुभव सहृदयों को ही हो सकता है। इस प्रकार लड्डूओं का भोग लगाने से पूर्व ही अपनी भावी प्रेमोत्कंठा का स्मरण कर प्रियाजी विभोर हो गईं।

इसके बाद कुंजों के अन्त अर्थात् मध्यभाग को या उनके आस-पास के स्थलों को बुहारना। अमरकोष के अनुसार 'अन्त' शब्द के दोनों अर्थ होते हैं—मध्य और

इति ज्ञेयाः । यद्वा ऊर्ध्वपार्श्वसम्बन्धिप्रान्ता, स्तत्र कुञ्जमण्डपम् । इत्यादौ परागपर्णरज आदीनां वस्त्रादिना मार्जनं, प्राङ्गणभूम्यादीनां तृणादिमार्जन्यैवेति, किञ्चत्परागसूक्ष्मस्य वातादिनैवेति वैविध्यान्मार्जनबहुत्वम् । 'सम्यक्तया मार्जय' इति प्रियाकथनभङ्गी ।

एतन्मार्जनं पुष्पास्तरणासनतल्पादिरचने प्रियः स्वकरेण करोति । तदसह्यमाना तदिङ्गितज्ञतया 'हितालि ! तत्पूर्वं त्वमेवैवं कुरु' इत्यादिप्रयुक्त मार्जनमेव प्रियसेवनं येन कुञ्जवीथ्युपासकस्य तत्रच्छ्रमलेशोऽपि न स्यात् ।

अत्र मार्जनकरणानन्तरं सविलासलीलागत्यवलोकनं, लम्पटेन प्रियागमनार्थैकपल्लवास्तरणेऽपि स्वकोमलदृगास्तरणपूर्वकमभिसारयति । प्रियस्य तदानीन्तनसप्रेमानुनयचाटुकृपामननेन तस्याः सभ्रूभङ्गासह्यत्वसूचनं प्रसादोज्जृम्भभविष्णुतमकरचुम्बनपरिरम्भादिना सेवाङ्गीकृतिरित्यादिस्मरणेन 'हा!

रसकलश

प्रान्त । अथवा इधर और उधर कुंजे और उनके सिरे पर गलियां—यह समझना चाहिये । अथवा ऊँचे पर के तथा अगल-बगल के प्रदेश जहाँ कि कुंज-मंडप बना हुआ था : तो इस प्रकार के स्थानों में फूलों पर की पराग को और पत्तों पर की धूल आदि को कपड़े से झाड़ना, आँगन की भूमि आदि को सीकों से बनी बुहारी से साफ़ करना और पराग के महीन कणों को फूंक मार कर । इस प्रकार सफाई करने और बुहारने के कई तरीके होने के कारण 'मार्जनैः' बहुवचनान्त प्रयोग किया है । प्रियाजी के आदेश कुछ इस प्रकार के थे कि ठीक तरह से सफाई करो ।

फूलों के बिछावन, आसन शय्या आदि की रचना करते समय बुहारने का काम भी प्रियतम अपने हाथों करना चाहते हैं । उनकी इस वृत्ति को प्रियाजी बिना कहे ही समझ जाती हैं और उनसे यह नहीं सहा जाता । अतः वे आज्ञा करती हैं—'उनके यह सब करने से पूर्व ही तुम ऐसा-ऐसा करो । इस प्रकार श्रीहितसखी को प्रेरित कर सफ़ाई कराना ही प्रियतम की सेवा करना है, ताकि कुंज-वीथी के उपासक को तनिक भी श्रम न करना पड़े ।

कुंज का इस प्रकार परिष्कार किये जाने के उपरान्त प्रियतम द्वारा प्रियाजी की हाव-भाव पूर्ण गति को ललचौंही नज़र से देखना और लंपट की तरह, स्वागातार्थ पत्तों का बिछावन होने पर भी मार्ग में अपनी पलकें बिछा कर प्रियाजी को अभिसार के लिए प्रेरित करना, प्रियतम द्वारा उस समय किये जाने वाले अनुनय-विनय, खुशामद और अपनी कृपा का विचार कर भौंहें मरोड़ कर प्रियाजी का यह व्यंजित करना कि मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता, बाद में कृपा-भाव उमड़ आने पर निकट भविष्य में

तदानी' कथमयं चटुलयंति, प्रसादयतीत्यादिप्रेमार्तिभारोद्गमविवशेति । एवं मालाग्रन्थनश्रीखण्डनिर्घर्षणमोदकादिविधिकुञ्जान्तसंमार्जनादीनि प्रियकृतानि दृष्ट्वैव तत्तदाज्ञां करोतीति ज्ञेयम् । तत्कृतस्य पूर्वकरणमेव तत्परिचारणम् । वृन्दारण्येऽपि रहःस्थलीति कुञ्जनिभृतकुञ्जनिकुञ्जभूमिर्ज्ञेया ।

अथवा प्राणेशं प्रति परिचारकैरित्यलुक्समासः, भावे घञ् क प्रत्ययश्च परिचारणैरिति मालादिसेवनैरित्यर्थः । मया सह कदा विवशा स्यादित्यनुषङ्गः । सापि शिक्षमाणा विवशा, अहमपि तदनु प्रेम्णामग्ना कदा स्यामित्यन्वयः । यद्वा तैः सेवनैः प्राणेशं प्रति प्रेमार्त्युद्गमाद् विवशा कदा स्यामित्यन्वयः । अत्र प्रियसङ्गेऽपि स्मरणानन्दजप्रेमवैचित्र्यं ज्ञेयम् । केचित् स्थानान्तरस्थप्रियविषयिकप्रेमार्त्यर्थं कुर्वन्ति, तत्स्नुषारसेऽन्वेतव्यम् ॥२४२॥

रसकलश

होने वाले चुंबन, आलिंगन आदि के द्वारा प्रियतम की सेवा को स्वीकार करना– इस सब का स्मरण आते ही प्रियाजी सोचती हैं– 'हाय! संगम का समय आते ही यह किस चतुराई से मीठी-मीठी बातें बना कर फुसला लेते हैं', और तब वे प्रेम की पीड़ा के भार से विवश हो जाती हैं । इस प्रकार यह समझना चाहिए कि प्रियतम को माला गूंथते, चन्दन घिसते, लड्डू बनाते और कुंज-प्रदेश को बुहारते आदि देखकर ही प्रियाजी सखी को इन सब कामों को करने की आज्ञा देती हैं । इस प्रकार यह सब करने से पूर्व ही उन-उन कार्यों का संपादन करना ही प्रियतम के यह सब श्रीवृन्दावन की रहःस्थली से तात्पर्य कुंज-निकुंजों के एकान्त प्रदेश से है ।

अथवा 'प्राणेश के प्रति (प्राणेश को लक्ष्य कर) किए गए परिचारिकों से'—यह अलुक् समास माना जाय और 'परिचारिकैः' का अर्थ किया जाय 'परिचर्य्याओं द्वारा । व्याकरण की दृष्टि से परि उपसर्गपूर्वक चर् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय लगा कर 'परिचारः' शब्द निष्पन्न होने के उपरान्त उसमें 'क' प्रत्यय लगाने से तृतीया के बहुवचन में 'परिचारिकैः' शब्द बन सकता है । तब अर्थ होगा—'माला आदि की सेवाओं द्वारा' । तो इस प्रकार की परिचर्याओं द्वारा श्रीराधा मेरे साथ-साथ प्राणेश के संबंध में कब प्रेम-पीड़ा से विवश होंगीं । शिक्षा देने के प्रसंग में प्रियाजी कब विवश होंगीं और उसके उपरान्त मैं भी प्रेम-मग्न हो जाऊँगी—यह अन्वय है । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रियतम के पास में होने पर भी भावी चुंबन आलिंगन आदि का स्मरण कर प्रियाजी प्रेमोदभ्रान्त हो जाती हैं । कुछ लोग पद्य का अर्थ इस सन्दर्भ में लगाते हैं कि प्रियतम जब कहीं चले गए थे, तब उनके प्रेम की पीड़ा से व्यथित प्रियाजी का

उक्ततत्तत्परिचर्यासिद्ध्यनन्तरमर्पितग्राहिताद्याधीनतोज्जृम्भितप्रसादेन प्रियमनोरथपूर्तिकरणमाह । यद्वा प्रेमविवशां ज्ञात्वा प्रियः समवधानीकृत्य निजाङ्के निधायालिङ्गिवांस्ततः सा स्मरणसमक्षविलासैक्यजावरणभङ्गेनो-न्मत्ता क्रीडां कृतवतीत्याह—

रसकलश

यह वर्णन है। इसी पक्ष में यह पद्य पुत्र-वधू-विषयक प्रेम से अनुप्राणित माना जायगा[1] ।।२४३।।

पूर्व पद्य में वर्णित विविध प्रकार की परिचर्या की सिद्धि (समाप्ति) के बाद प्रियाजी ने जब देखा कि प्रियतम ने माला, चन्दन आदि को उन्हें अर्पित करने के बाद ही स्वयं ग्रहण किया, तो उनकी इस दास्य-वृत्ति से प्रियाजी के हृदय में कृपा उमड़ आई और उन्होंने प्रियतम की अभिलाषा को पूर्ण किया। प्रस्तुत पद्य में इसी का वर्णन किया जायगा। अथवा प्रियाजी को प्रेमावेश में विह्वल देखकर प्रियतम ने पहले उन्हें सावधान किया और फिर भुजाओं में भरकर आलिंगन किया। परिस्थिति का स्मरण होने के साथ ही साथ विलास-प्रसंग में जब दोनों के श्रीअंग मिलकर एकाकार हो गये, तो लज्जा के आवरण के हट जाने से प्रियाजी ने जिस प्रकार क्रीड़ा की उसका वर्णन करते हैं—

---

१. इस पद्य की व्याख्या करने में सारी उलझन 'दास्या' शब्द द्वारा खड़ी की गई है। प्रारभ में ही रसकुल्याकार ने यह घोषणा कर कि इस पद्य में क्रिया-पद का अभाव है, इस दिशा की तरफ़ संकेत कर दिया है। परन्तु संतोषजनक अर्थ लगाने के लिये उन्हें पाठ बदल कर क्रिया का समावेश करना पड़ा है। ऐसा करने से पूर्व उन्होने पाठकों से अनुरोध किया है कि वे ग्रन्थकर्ता से क्षमा मांग कर 'परिचारिकैः, का अर्थ 'परिचारयेत् करें ताकि अर्थ-संगति बैठ जाय। इसका मतलब यह है कि सब प्रतियों में 'परिचारिकैः' पाठ ही मिलता है।

आगे चल कर टीकाकार ने 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' न्याय के अनुसार कर्त्रर्थक 'परि-चारिकैः को व्याकरण की सहायता से भाववाचक बनाने का प्रयत्न किया है और 'प्राणेशम्' को 'प्रति' के योग में द्वितीया माना है। अन्तिम विकल्प में उन्होंने 'प्राणेशं प्रति प्रेमार्तिभारोद्गमात् विवशा कदा स्याम् यह अन्वय लगाया है। किन्तु इस व्याख्या में, 'दास्या मया' का संबंध कहाँ और किससे लगेगा, यह जिज्ञासा बनी ही रहती है।

श्रीकृपालाल गोस्वामी ने 'परिचारिकैः' का अर्थ 'सेवन प्रकारों से' लगाया है और रसकुल्याकार की तरह उसे भाववाचक माना है। 'दास्या' को कृत्यप्रत्ययान्त मान कर उन्होंने अर्थ किया है—'दास बनाने के योग्य' और भवेत् क्रिया का किया है अध्याहार। उनके अनुसार अर्थ होगा—'प्राणेश के प्रति प्रेमार्तिभार से विवश हुई श्रीराधा विवध सेवन प्रकारों द्वारा (करण में तृतीया) मेरे द्वारा कब दास बनाने के योग्य की जायँगी। इस अर्थ को स्वीकार करने में एक बड़ी बाधा यह है कि, जहाँ तक हमें मालूम है, संस्कृत में सेवार्थक दास् धातु का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। ऐसे में उसमें कृत्य प्रत्यय लगाने का प्रश्न ही नहीं है। दूसरे 'मया' के साहचर्य से 'दास्या' को भी तृतीयान्त मानना ही अधिक उपयुक्त है।

एक आधुनिक विद्वान ने 'प्रीणाति' क्रिया का अध्याहार कर अर्थ किया है—'विविध सेवाओं से मुझ दासी द्वारा अपने प्रियतम को कब भली भांति प्रसन्न करेंगी ?'

प्रेमोम्भोधिरसोल्लसत्तरुणिमारम्भेण गम्भीरदृग्-
भेदं भंगिमृदुस्मितामृतनवज्योत्स्नाञ्चितश्रीमुखी ।
श्रीराधा सुखधामनि प्रविलसद्वृन्दाटवीसीमनि
प्रेयोऽङ्के रतिकौतुकानि कुरुते कन्दर्पलीलानिधिः
॥२४३॥

'श्री'-ति प्रेमोद्वेलितप्रसादश्रीविशिष्टफलरूपा प्रिया सकलपरमसुखास्पदे, तत्प्रसादावेशसंक्रान्ततया प्रकर्षेण, आसक्तेष्टपूरणसामयिकता विशेषेण लसन्ती वनसम्पत्तिदीप्तिहर्षातिरेकोत्सिच्यमाना वृन्दाटवी, प्रसिद्धोत्कर्षरहस्या पुष्पवाटी, तस्याः सीमनीति, तन्मर्यादामनुल्लंघ्येत्यर्थः । तत्रापि प्राणप्रियतमस्याङ्केऽनिर्वचनीयसौभाग्यदे रमणकौतुकानि प्रेमोच्छलिततया-

रसकलश

'प्रेम-समुद्र की आनन्दमय तरंगों से उमड़ती हुई तरुणाई के प्रारंभ के कारण गंभीर कटाक्ष करती हुई तथा विलास-भंगियों से युक्त मन्द मुस्कानरूपी अमृत को झरानेवाली नई चाँदनी से व्याप्त कान्तिवाले श्रीमुख से संपन्न, काम-कलाओं में प्रवीण श्रीराधा आनन्द के धाम और शोभा देने वाले श्रीवृन्दावन की सीमा में प्रियतम की भुजाओं में कौतुकपूर्ण विहार कर रही हैं ॥२४३॥

यहाँ 'श्रीराधा' का अर्थ है—प्रेम के कारण उमड़ती हुई प्रसन्नतारूपी लक्ष्मी से विशिष्ट (अभिलाषापूर्ति-रूप) फल की मूर्ति प्रियाजी (तात्पर्य यह है कि प्रियतम की अधीनता को देखकर प्रियाजी इतनी प्रसन्न हुई कि उसके फलस्वरूप उन्होंने प्रियतम की अभिलाषा को पूर्ण किया, अत एव इस समय वे श्रीहितसखी को साकार फल के रूप में दर्शन दे रही थीं) । ऐसी प्रियाजी असीम सुख के स्थान श्रीवृन्दावन की सीमा में रति-कौतुक कर रही हैं । प्रियाजी की प्रसन्नता का आवेश श्रीवृन्दावन की भूमि पर भी उतर आया था, अतः उसका उत्कर्ष और भी बढ़ गया था और आसक्त प्रियतम की इच्छा को अभी-अभी पूर्ण कर चुकने के कारण श्रीवृन्दावन के पत्र-पुष्प के वैभव में एक अपूर्व चमक आगई थी । युगल को आनन्दमग्न देखकर उसका स्वयं का हर्ष इतना बढ़ गया था कि लगता था जैसे आन्तरिक प्रसन्नता ही उसकी लता एवं वृक्षों को सींच रही थी । ऐसी स्थिति में अपने उत्कर्ष के कारण प्रसिद्ध एवं रहस्यपूर्ण वह वृन्दावन फूलों की वाटिका बन गया था । ऐसी श्रीवृन्दावन-स्थली की सीमा में—अर्थात् उसकी मर्यादा को भंग किये बिना, अनिर्वचनीय सौभाग्य प्रदान करने वाले प्राणप्यारे की गोद में, प्रेम में उद्वेलित होने के कारण, बिना किसी लज्जासंकोच के रति-कौतुक कर रही हैं । आसक्त प्रियतम के पोषण करने के यश की स्वयं उपभोक्त्री होने के कारण 'कुरुते'

निःशङ्कं कुरुते । आसक्तपोषणयशस आत्मगामिफलतयात्मनेपदम् । कर्तृत्वेन च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इतिवद्भक्तजनं ज्ञाप्यते । यथेति यदाशयेनेत्यर्थः । सीमोक्तिः 'राकानेके'-ति पद्ये 'वृन्दारण्यनिकुञ्ज-सीमनि तदाभासः परं लक्ष्यते' इत्युक्तगम्भीरघनप्रेमावधिस्थानताबोधिनी । तावद्वृन्दाटव्येव सुखसीमा, तत्रानन्दघनस्याङ्के आल्हादसौदामिनीवरनि-चाञ्चल्यचमत्कृतिकारके, इत्यत्र किमानन्दोत्कर्ष उच्यते ।

कन्दर्पः प्रियतत्सुखिताशयपूरणाभिलाषः, तस्य लीलानां वात्स्यायनाद्यु-क्तश्रृङ्गारलहरीकारणरूपाणां सम्पदामिव निधिराधाररूपा, वाधिष्ठात्री, चिन्तामणिरिव तत्प्रकाशकेत्यर्थः । अत्र वीरायितादिनायिकाकर्तृकसर्व-

रसकलश

क्रिया का प्रयोग आत्मनेपद में किया गया है। रमणरूपी कार्य के प्रियानिष्ट होने के कारण यह सूचित होता है कि समय आ पड़ने पर भगवान् जैसे भक्त का भजन करते हैं, उसी प्रकार अपनी ओर से रति-कौतुक करने का प्रियाजी का उद्देश्य भक्त की इच्छा का अनुसरण करना ही है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—'जो जिस भाव से मेरे पास आते हैं उनका मैं उसी भाव से सेवन करता हूँ।' इस उद्धरण में 'यथा' का अर्थ है—जिस आशय से। श्रीवृन्दावन की सीमा का उल्लेख यह बताने के लिये किया गया है कि श्रीवृन्दावन वह भूमि है जहां गंभीर-सघन प्रेम अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। श्रीराधासुधानिधि के 'राकानेक' इत्यादि पद्य (१२५) में कहा भी है—'पूर्णचन्द्र उदित होकर प्रेम-सुधा के प्रकाश की किरणों से यदि अनन्त ब्रह्मांडों को भी भर दे, तो भी श्रीवृन्दावन की सीमा में उसका क्षीण आभास ही दिखाई पड़ता है।' पहले तो वृन्दावन-स्थली ही सुख की परमावधि है, वहाँ भी यदि वरनी श्रीराधा आनन्दघन श्रीकृष्ण की भुजाओं में आनन्ददायिनी बिजली की चंचलता के साथ चमक रही हों, तो फिर आनन्द के उत्कर्ष का क्या ठिकाना !

'कन्दर्पलीलानिधि':—प्रियतम के तत्सुखीभाव को सर्वांश में पूर्ण करने की अभिलाषा का नाम है 'कन्दर्प' (काम) श्रीराधा उस काम की लीला-रूप संपत्तियों की निधि अर्थात् आगार हैं। वात्स्यायन ने कामसूत्र में श्रृंगार की जिन भाव-तरंगों का उल्लेख किया है उनका मूल स्रोत प्रियाजी की लीलायें ही हैं। अथवा उन लीलाओं की अधिष्ठात्री हैं वे—चिन्तामणी की भाँति उन्हें प्रकाश प्रदान करने वाली। प्रियाजी को 'लीलानिधि' कह कर यह सूचित किया गया है कि पुरुषायित आदि नायिका-सुलभ सब रति-विधाओं को वे व्यवहार में लाती हैं। रति-कौतुक तो वे करती ही हैं, तथापि सखी द्वारा उनके उल्लेख करने का कारण यह बताना है कि वैदग्ध्य असल में प्रियतम को

विलासाः सूचिताः। कौतुकसत्वेऽपि सखीकृततदुक्तिरिदं प्रियकृतमेव शोभनोचितम्, अस्यां त्वनुकृतिकौतुकमेवेत्याप्तकामतासज्यत्वप्रकाशनभङ्गिका।

रतिकौतुकसाहचर्य्यानुभावं वर्णयन् विशिनष्टि—प्रेमेवाम्भो यत्र निधीयते, तादृशोऽब्धिरिवाधारभूतोऽधिष्ठातृरूपो रसः शृङ्गारः। अन्यत्र नायिकादौ शृङ्गारोऽपि किञ्चिद्रतिहेतुकप्रेमापि च भवति। अत्र तु निर्हेतुकागाधपारावारप्रेमसिन्धुरस्ति। तादृशशृङ्गारेणोल्लसन् वृद्धिं प्राप्नुवन् यस्तरुणिमा यौवनं तस्यारम्भः पूर्णकैशोरकं यौवनवयः सन्धिरिति। पूर्णप्रेमरसमूर्तिस्तु किशोरी प्रकृतैव, परन्तु राकायां (यथा) चन्द्रात् सिन्धूल्लास स्तद्वद्वयोऽनुकूलं प्रियप्रेम्णा रसोल्लासः। अत्रादौ रसेन तारुण्योल्लासो दुग्धोत्सेकविशेषः, तद्वत्तारुण्यम्, न च वस्तुविपरिणामः। अनेन क्रमप्राप्तवयस्त्वं लोकमाधुर्यञ्च सूचितम्। यद्वा स्थायिनि नवकैशोरे यदा रसोल्लासस्तदा तारुण्यारम्भ इव दृश्येत, कन्दर्पदर्पोत्सेकभवनात्। यदा च तच्छान्तिस्तदा प्रकृतैवेति ज्ञेयम्।

रसकलश

ही शोभा देता है, प्रियाजी तो कौतुकवश उसका अनुकरण मात्र करती हैं। इससे उनकी पूर्णकामता और आसज्य-भाव ही प्रकट होता है।

अब रति-कौतुक के सहगामी अनुभावों का वर्णन करते हुए श्रीराधा के विशेषण देते हैं—'प्रेमाम्भोधि' इत्यादि। समुद्र में जिस प्रकार जल एकत्रित रहता है, इसी प्रकार प्रेम का आधार—उसका अधिष्ठाता शृंगार रस है। लौकिक नायिकाओं में भी शृंगार-भावना पाई जाती है, कुछ-कुछ प्रेम भी होता है, किन्तु उसका लक्ष्य होता है रति—शारीरिक संभोग। यहाँ तो प्रेम का अतलस्पर्शी एवं विशाल समुद्र बिना किसी भौतिक लक्ष्य के लहराता रहता है। प्रियाजी की तरुणाई का प्रारंभ इस प्रकार के शृंगार से उल्लसित रहता है—बढ़ता रहता है। यौवन की आरंभिक दशा से यहाँ तात्पर्य भरपूर किशोर-अवस्था का है जोकि यौवन की देहली है। किशोरी श्रीराधा प्रेम-रस की मूर्ति तो पहले से ही हैं, किन्तु चन्द्रोदय से जैसे समुद्र में हिलोरें उठती हैं, वैसे ही प्रियतम के प्रेम के द्वारा, अवस्था के अनुकूल, रस उलहता रहता है। प्रेम-रस से यौवन उसी तरह उल्लसित होता रहता है, जैसे अग्नि-ताप से दूध में उफान आता है। उफान से जिस प्रकार दुग्ध-वस्तु में रूपान्तार नहीं होता, वैसे ही उल्लसित होने पर प्रेम की मूल-प्रकृति नहीं बदलती। इससे यह सूचित किया गया है कि प्रियाजी सीढ़ी-दर-सीढ़ी युवावस्था को प्राप्त हुई हैं और उनमें अवस्था-सुलभ लुनाई भी है जैसी कि दुनिया की नवेली बधुओं में देखी जाती है। अथवा स्थायी, नवीन किशोरावस्था में जब रस उमड़ता है, तब व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है कि मेरी जवानी प्रारंभ होगई, क्योंकि इस वयः सन्धि में भी काम-भावनायें हर्ष के साथ आपना सिर उठाती हैं। कामोल्लास

तदारम्भेण गम्भीरा दृशोर्भेदा यत्रेति समासान्तर्भूताञ्चितक्रियाविशेषणम् । गम्भीरत्वेन भेदानां तादृशेङ्गितविचक्षणसहृदयैकवेद्यत्वम्, अगाधजलपतित-रत्नवत् । किञ्च प्रौढत्वं विना न स्फुटं बहिः प्रकाशन्ते, अतः सूक्ष्मदृशैव ज्ञेयं, किञ्चिर्न्निर्दिश्यते च ।

भेदास्तरलस्थगनमृदुकठिननतोन्नतगतागतद्रवघनत्वाद्याः, आप्तकामता-गर्वकौतुकिप्रभुत्वाच्छादनेन गम्भीरतया दृश्याः । विलासोत्साहेन तारल्यं, रसास्वदेन स्थगनं, तद्दैन्येन मार्दवं, तल्लौल्येनोपेक्षाभङ्गिककाठिन्यं, लज्ज-यानते, दृष्टिलोलुपत्वजगमनेऽप्यनभिमुखत्वेनोन्नतं, अदर्शनासह्यत्वेन गतं, आसज्यत्वप्रत्याकर्षणेनागतं, कृपया द्रवणं, धैर्य्यस्मृत्या घनत्व मित्यादिरीत्या ज्ञेयाः । यद्वा मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तस्निग्धरूक्षत्वादिरीत्या बोध्याः,

रसकलश

के शान्त होने पर फिर पुराना अनुभव लौट आता है कि मैं तो अभी किशोरी ही हूँ । तो 'तरुणिमारम्भेण गम्भीरदृग्भेदम्' का अर्थ हुआ—तरुणाई के प्रारंभ होने के कारण जहाँ दृष्टि (कटाक्ष या चितवन) के गंभीर विभ्रम-विलास हों । इस अर्थ के अनुसार 'प्रेमाम्भोधि' से लेकर 'गम्भीरदृग्भेदम्' तक का समासान्त पद क्रियाविशेषण है अग्रिम पद में उपात्त 'अञ्चित' कृदन्तपद का । (विग्रह इस प्रकार होगा—प्रेमाम्भोधिरिव रसेन उल्लसन् यस्तरुणिमा तस्य आरम्भेण गम्भीरा दृग्भेदा यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथा ।) नेत्रों के गंभीर भेदों के मर्मज्ञ उनकी चेष्टाओं के निपुण ज्ञाता सहृदय ही हैं । गहरे जल में डूबे हुए रत्न की कान्ति जैसी होती वैसे ही ये गंभीर दृष्टि भेद हैं । जब तक ये दृष्टि-भंगियाँ प्रौढ़ न हो जायँ, तब तक सूक्ष्म दृष्टि से ही इन्हें पहिचाना जा सकता है । उनका कुछ-कुछ निर्देश यहाँ किया जाता है—

दृष्टि के इस प्रकार के भेद हो सकते हैं—तरल, ठहरी हुई, कोमल, कठोर, झुकी हुई, ऊँची, आती-जाती, द्रवणशील, घनी आदि । प्रियाजी की पूर्णकामता, आसज्य-गर्व, कौतुकमय प्रभुता आदि से ढके रहने के कारण इन दृष्टि-भेदों को गहरे उतर कर ही देखा जा सकता है । उल्लिखित भेदों के कारण बताये जायँ, तो वे इस प्रकार होंगे—उत्साह के कारण चंचलता, रसानुभूति के कारण ठहराव, प्रियतम के दैन्य से प्रेरित कोमलता, लोलुपता के कारण उपेक्षासूचक कठोरता, लज्जा से झुकी हुई, ललचौंही नज़रों से घबड़ा कर सामने से चले जाने पर भी प्रियतम की तरफ़ रुख न करने के कारण ऊँची, उनका आँखों से ओझल होना न सह सकने के कारण प्रिय की ओर दृष्टि का घूमना, फिर आसज्य होने का विचार आते ही उसका उधर लौटना, कृपा से द्रवित होना, और धैर्य्य की याद हो आने के कारण घनता । इत्यादि रीति से दृष्टि के भेद ज्ञातव्य हैं । अथवा मीठी, खट्टी, नमकीन, कड़वी, तीती, चिकनी, रूखी आदि भी दृष्टि के भेद हो सकते हैं । हर्ष, आस्वाद, रुचि, हितकारिता, ईर्ष्या, क्रोध, स्नेह, उपेक्षा

हर्षास्वादरुचि हितेर्ष्याकोपस्नेहोपेक्षादिधर्मक्रमेणेति । यद्वा शृङ्गारहास्यकरुणवीराद्भुतरसादीनां स्थायिसंचारिभावोदयभेदेनेति । तत्र केचित् प्रियकृत्यनुकूलजाः, केचित् स्वमानसिकारब्धकर्मजाः इत्यलं विस्तरेण ।

तत्र भङ्गीयुतं स्मितं सहायं किमिदपूर्वमिवाचरामि, पश्यामि, जानामीत्यादिविस्मयोत्साहजम् । तदेव जीवनास्वाददममिवामृतं, तस्य नवज्योत्स्ना, प्रतिक्षणविलक्षणानुभूता चन्द्रिका, तयाञ्चिता व्याप्ता, वा सेवकत्वेनानुगतियुता, पूजितेतियावत् श्रीः कान्तिर्यत्र, तादृशं मुखं यस्याः । वा 'श्री'-रित्यादरवाची शब्दः । अञ्चितं श्रीमुखं यस्या इति ।

एवं नवकैशोरतारुण्योल्लासजकटाक्षभेदस्मितशोभनधर्मोक्तिः सखीहृदयसाक्षित्वं ज्ञापयति अत्र 'दृग्भङ्गीभेदा' इति पाठभ्रमोऽपि ज्ञायेत । तदा तु पदैक्ये सुगमार्थ एव । कटाक्षाणां स्मितस्य च यौगपद्यं स्फुटमेव ।।२४३।।

रसकलश

आदि क्रमशः इन रसों के धर्म हैं जोकि कारणों के अनुसार दृष्टि में उतर आते हैं। अथवा शृगार, हास्य, करुण, वीर, अद्भुत, भय आदि रसों के स्थायीभाव तथा संचारी भावों के भेद से दृष्टिगत भेद प्रतिभासित होते हैं। इनमें से कुछ भाव तो प्रियतम के कार्यों के अनुसार पैदा होते हैं और कुछ प्रियाजी के मन में संकल्परूप में पैदा हुई कर्म-भावना से उत्पन्न होते हैं। बस, इतना ही विस्तार पर्याप्त है।

अब 'भङ्गिमृदुस्मितामृत' आदि की व्याख्या करते हैं—दृष्टि-भेदों की सहायकरूप प्रियाजी की भंगिमायुक्त मुस्कान है। 'यह क्या मैं अनहोनी बात कर रही हूँ, देख रही हूँ, जान रही हूँ'—इस प्रकार के आश्चर्य और उत्साह से मुस्कान का जन्म होता है। यह मुस्कान ही जीवन का आस्वादन देने वाले अमृत के समान है। उस मुस्कान की ज्योत्स्ना से—अर्थात् प्रतिक्षण अद्भुत दिखाई देने वाली, तथा अबतक अनुभव में नहीं आई चांदनी से श्रीराधा के श्रीमुख की 'श्री', अर्थात् कान्ति अंचित है, व्याप्त है। अथवा सेवक के रूप में उस कान्ति का अनुसरण किया जाता है, यानी वह पूजी जाती है। अथवा 'मुख' के पूर्व 'श्री' का प्रयोग आदर व्यक्त करने के लिये माना जा सकता है। तब अर्थ होगा—अमृत के समान मुस्कानरूपी नई चाँदनी से प्रियाजी का श्रीमुख व्याप्त या पूजित है।

इस प्रकार नवीन किशोरावस्था तथा तरुणाई के उल्लास से उद्भूत होने वाले विविध कटाक्ष तथा मुस्कान की शोभा के वर्णन से यह सूचित होता है कि श्रीहितसखी ने अपने हृदय को साक्षी कर ही यह सब कहा है। इस पद्य में कहीं-कहीं 'दृग्भङ्गीभेदाः' यह पाठ भी मिलता है। उसके अनुसार तो एकपद होने पर अर्थ सरल ही है। कटाक्षों और मुस्कान का एक काल में साथ-साथ होना स्पष्ट ही है ।।२४३।।

अहो किमेकं कन्दर्पलीलानिधित्वमेवोच्यते, अत्र तु सर्वे निधयो राजमाना दृश्यन्ते, इति निश्चित्य यथादृश्यमानानेवाह—

शुद्धप्रेमविलासवैभवनिधिः कैशोरशोभानिधि-
वैदग्धीमधुरांगभंगिमनिधिलावण्यसंपन्निधिः ।
श्रीराधा जयतान्महारसनिधिः कन्दर्पलीलानिधिः
सौन्दर्यैकसुधानिधिर्मधुपतेः सर्वस्वभूतोनिधिः
॥२४४॥

निधित्वं द्रव्याधारभूतत्वम् । तत्स्वरूपञ्च कुबेरलोके प्रसिद्धम् । लक्षणञ्च मार्कण्डेयपुराणे यथा—

पद्मिनी नाम या विद्या लक्ष्मीस्तस्याधिदेवता ।
तदाधाराश्च निधयः ... .

इत्युपक्रम्य—

रसकलश

अहो! क्या श्रीराधा के कन्दर्पलीला निधि होने की ही बात कहते हो ! यहां तो सभी निधियां सुशोभित होती हुई दिखाई देती हैं । ऐसा निश्चय कर वे निधियां जिस रूप में देखने में आती हैं, उसका वर्णन करते हैं—

'शुद्ध प्रेम की विलासरूपी संपत्ति की निधि, किशोर-अवस्था की शोभा की निधि, चातुरी के कारण मधुर दिखने वाली अंग-भंगिमाओं की निधि, रूप-लावण्य के वैभव की निधि, सर्वश्रेष्ठ शृंगार-रस की निधि, काम-कलाओं की निधि, सौन्दर्य की एकमात्र निधि एवं श्रीकृष्ण की सर्वस्व-स्वरूप निधि श्रीराधा की जय हो ॥२४४॥

धन के आधार को निधि कहते हैं । उसका स्वरूप कुबेर-लोक में प्रसिद्ध है । मार्कण्डेय पुराण में पहले निधि का लक्षण बताया गया है कि 'पद्मिनी नाम की जो विद्या है, उसकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी हैं और वही निधियों का आधार हैं' । इसके बाद निधियों के नाम गिनाये गये हैं—पद्म, महापद्म, शंख, मकर और कच्छप, मुकुन्द, कुन्द और नील—ये सब निधियाँ हैं, और तदन्तर कहा है कि त्रिगुणस्वरूप इनके दर्शन से पुरुष को धातु, रत्न, अन्न, वस्त्र, रस, गन्ध, फल, वाद्य-यंत्र, शस्त्र आदि वस्तुएं थोड़ी या बहुत मात्रा में और कार्य-कारण के भेद के अनुसार मिलती हैं और वह उन्हें दान में देने या भोग करने का अधिकारी होता है । यहाँ इन निधियों से कोई अर्थ-सिद्धि नहीं होती, अतः नव संख्या मात्र की समानता है और तात्पर्य इतना ही है कि पद्य में परिगणित (१) प्रेमविलास, (२) कैशोर-शोभा, (३) वैदग्धी, (४) अंग-भंगी,

पद्मश्चैव महापद्मः शंखो मकरकच्छपौ ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ।।

इति नामोक्त्यनन्तरं एतेषां त्रिगुणमयानामवलोकनात् पुमान् धातुरत्नान्न-वसनरसगन्धफलवाद्यशस्त्रादीनां सामान्यविशेषकार्यकारणभेदसहितानामा-स्पदीभवति, दाताभोगवांश्च भवतीत्यादि तत्रत्यख्यातेः । अत्र तु तादृश-तात्पर्याभावान्नवत्वगणनमात्रसाम्याच्चानुकूलोऽर्थ एतावानेव यत् प्रेमादीनां नवजातीयवस्तूनां मुख्याधाराधिष्ठातृरूपा श्रीरियमस्ति । एतत्कृपावलोक-नात् प्रियस्तत्पात्रं भवत्यास्वादयतिचेति भावनीयम् ।

'शुद्धे'ति—'सा लावण्ये'-ति पद्योक्तलक्षस्य प्रेम्णो यावद्विलासास्तेषां वैभवं बाहुल्यं बीजात् तरुरिव कार्यावस्थापन्नं प्रेमोद्वेलनमयवैचित्यविरह-विकत्थनाद्यपि, वा त एव वैभवं धनं तस्य निधिः । प्रेमविलासापेक्षया यदा दृश्येत, तदाधाराप्येकैव, नान्येत्यर्थः, तदाधारत्वात् तदधिष्ठातृत्वाच्च ।

कैशोरस्य वयसः शोभा छविर्या निरपेक्षनित्यप्रकृष्टत्वसीमा, तस्या आधारभूताप्येकैव, 'लक्ष्मीकोटिविलक्ष्यलक्षणलसल्लीलाकिशोरीशतैराराध्यम्' इत्युक्तेरन्यत्र सर्वत्र सापेक्षत्वात् ।

रसकलश

(५) लावण्य, (६) महारस, (७) कन्दर्प लीला, (८) सौन्दर्य (९) मधुपतिसर्वस्वता —इन नव प्रकार की विशेषताओं की मुख्य आधार और अधिष्ठात्री-स्वरूप लक्ष्मी यह श्रीराधा हैं। प्रियाजी कृपा कर अपने दर्शन दें, तो प्रियतम पद्म में उल्लिखित नव निधियों के पात्र हो जाते हैं और उनका आस्वादन करते हैं।

'शुद्धप्रेमविलासवैभवनिधिः' की व्याख्या करते हैं—'सा लावण्यचमत्कृतिः'— इस पद्य (१०२) में निर्दिष्ट लक्षणों से युक्त प्रेम के यावन्मात्र विलास हैं, उनके वैभव अर्थात् प्रचुरता की निधि श्रीराधा हैं। कारण भूत बीज से कार्यरूप में परिणत वृक्ष की भांति उमड़ता हुआ कारणरूप प्रेम बे-भान होने की उद्भ्रान्त दशा, विरह, यहाँ तक कि खोटी-खरी सुनाना—आदि कार्यों में व्यक्त होता है। प्रेम की इन विविध रूपान्त-रित दशाओं का आधार हैं श्रीराधा। अथवा प्रेमरूपी वैभव की निधी हैं वे। प्रेम-विलासों का जहां तक संबंध है, श्रीराधा ही उनका एकमात्र आधार ठहरती हैं, क्योंकि वे तत्स्वरूपा हैं और उनकी अधिष्ठात्री हैं।

कैशोर की जो शोभा उसकी आधारभूत भी एकमात्र वही हैं। शोभा से तात्पर्य उस छवि का है जो स्थायी है और उत्कृष्टता की परावधि है। 'लक्ष्मीकोटिविलक्ष्य - इत्यादि पद्य (६७) में कहा भी है—'कोटि-कोटि लक्ष्मियों द्वारा विशेषरूप से लक्ष्य करने योग्य लक्षणों से विभूषित, लीलामयी शत-शत किशोरियों द्वारा व्रज-मण्डल में अराधित श्रीराधानामक अनिर्वचनीय ज्योति किसी महापुरुष के चित्त में बड़े भाग्यों से प्रकट होती हैं।' किशोरावस्था की यह छवि इतने स्वतंत्र रूप में उदित नहीं होती।

'वैदग्धी' क्रियेच्छावागादीनां यावच्चातुर्यं तस्या अप्येकैव नागरीशिरोमणित्वात् ।

पुनश्च मधुराः प्रिया दृङ्मनोलाम्पटचकारका येऽङ्गानां भङ्गिमानो भङ्ग्यः रसशास्त्रवेद्याः, वा सहृदयहृदयगम्याः, यन्माधुर्येण मोहनोऽपि मत्तो विवशश्चाभूत्, तादृशैश्वर्यनिर्देश्याः, तेषामाधाराप्येकैव ।

'लावण्य'मङ्गानां मुक्ताफलवज्जलनैर्मल्यगाम्भीर्यादि, तस्य सम्पत्ति बाहुल्यं, तस्या अप्येकैव ।

रसे महत्वं रसधनस्यापि रसदत्वात्, 'रसो वै सः' इति, 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इत्यादि बहुशः प्रतिपादकानि रसघनत्वस्येति । तस्यापि सादरं दुर्लभत्वेन रसनीयत्वान्महारसाधारत्वम् ।

'कन्दर्पो' दाम्पत्यानन्दस्तस्य लीला यावत्क्रीडा नित्या नैमित्तिकाश्च, तासामप्येकैव । सौन्दर्यं रूपमङ्गाकृतिसौष्ठवं तदेकमेव सुधा, तस्या अप्येकैव । किञ्च 'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषण भूषणाङ्गम्' इति,

रसकलश

'वैदग्धी' का अर्थ है - क्रिया, संकल्प, वाणी आदि का यावन्मात्र चातुर्य । उनकी निधि भी केवल प्रियाजी ही हैं, क्योंकि वे नागरी-शिरोमणी हैं ।

फिर मधुर, अर्थात् प्रिय—दृष्टि और मन को लंपट बना देनेवाली चेष्टाये हैं, जिन्हें कि रस-शास्त्र के पंडित अथवा सहृदय ही जान सकते हैं, जिनके माधुर्य से मोहन भी उन्मत्त और विवश हो जाते हैं, इस प्रकार के ऐश्वर्य से विशिष्ट भंगिमाओं (सरस अंग चेष्टाओं) का आधार भी श्रीराधा ही हैं ।

'लावण्य' का अर्थ है मोतियों जैसी स्वच्छ और गंभीर आब । उसकी संपत्ति अर्थात् प्रचुरता का आधार भी एकमात्र श्रीराधा हैं ।

रस को महान् इसलिये बताया गया है कि प्रियाजी रसघनमूर्ति श्री घनश्याम को भी रस देने वाली हैं । 'निश्चय वही रस है,' 'ब्रह्म का अधिष्ठान मैं ही हूं'—इत्यादि श्रुति—वाक्यों से श्रीकृष्ण का ही निर्देश किया जाता है । ऐसे श्रीकृष्ण आदरपूर्वक और दुर्लभ मान कर जिस रस का आस्वाद लेते हैं, उसका आधार हैं श्रीराधा ।

दंपति द्वारा योग्य आनन्द को 'कन्दर्प (काम) कहते हैं । उनकी नित्य एवं नैमित्तक क्रीड़ाओं का आधार भी वही हैं ।

अंगों की सुन्दर बनावट को सौन्दर्य कहते हैं । वही एक प्रकार का अमृत है । उसकी निधि भी वही हैं । श्रीमद्भागवत में कहा है—'दर्शकों को आश्चर्य में डाल देने वाले सौन्दर्य की चरम सीमा हैं श्रीकृष्ण -' यह कि उनके रूप को देखकर

'यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्'। इत्यादिसौन्दर्यैश्वर्यवतोऽपि भूमिलोठनादनन्यत्वमेवास्य सौन्दर्यस्येत्यत एवैकत्वं सुधात्वञ्च, 'कन्दर्पकोटिशरमूर्च्छितनन्दसुनुसञ्जीविनी' इत्युक्तेः।

एवं तन्मध्वासवपानविवेचनविशारदलम्पटस्यानन्यमधुपस्य तदाधिपत्यसौभाग्यस्य सर्वस्वं जीवनभूतमेव निधिः; 'यथा कल्पतरुं प्राप्य सारङ्गोऽन्यन्न सेवते', इतिवत् सर्वस्वम्। तद्रूप एव निधिरित्यत्राधाराधेयत्वं व्यावृत्तं, रसरूपफलवत्। अत्रापि निरपेक्षत्वं सर्वस्वत्वस्य ज्ञेयं, निरस्तसाम्यातिशयोक्तप्रभावत्वात्।

एवं प्रेमवयोवैदग्ध्यभङ्गीलावण्यरासकामरूपसौभाग्यतत्तत्सम्पत्यास्पदत्वश्रीविशिष्टसिद्धिरूपा श्रीराधा जयतादिति श्रीहिताल्याशीस्तत्तद्भेददर्शनान्तरे प्रत्येकोक्ता ज्ञेया।

रसकलश

गाय, पक्षी, वृक्ष और हरिण भी रोमांचित हो जाते हैं। तो इस प्रकार के सौन्दर्यशाली और ऐश्वर्यवान् श्रीकृष्ण भी जब भूमि पर लोटे-लोटे डोलते हैं, तो श्रीराधा-जैसा-सौन्दर्य अन्यत्र कहाँ देखने को मिलेगा? इसीलिये वह रूप केवल श्रीराधा का ही है और इसीलिये उसकी उपमा सुधा से दी गई है। श्रीराधासुधानिधि में कहा है—'कामदेव के कोटि-कोटि बाणों से मूर्छित नन्दकुमार की संजीविनी कोई अनिर्वचनीय निकुंजदेवी अपने समस्त उत्कर्ष के साथ विराजमान हैं. (पद्य ५)'

इस प्रकार श्रीराधा के अधरासव की विशेषताओं के निपुण ज्ञाता, उसका रसास्वाद करने के लिये लोलुप, अनन्यव्रती श्रीकृष्ण-भ्रमर भी जिन्हें अपनी स्वामिनी मानकर अपने को परम सौभाग्यशाली समझते हैं उनकी तो श्रीराधा सर्वस्व हैं, जीवन की आधारभूत निधि हैं। कहा भी है 'जिस प्रकार भौंरा कल्पवृक्ष पर पहुंचने के बाद अन्य किसी वृक्ष का सेवन नहीं करता।' ऐसी प्रियाजी श्रीकृष्ण का सर्वस्व हैं—सर्वस्वरूपी निधि हैं। जो सर्वस्व है, वही निधि है—ऐसा कहकर इस धारणा का निराकरण कर दिया गया है कि सर्वस्व आधेय है और श्रीराधा आधार हैं। जैसे फल रसस्वरूप होता है, अर्थात् रस का आधार नहीं होता, उसी प्रकार प्रस्तुत में भी समझना चाहिए। सर्वस्व होने की स्थिति यहाँ भी निरपेक्ष है; अर्थात् अपनी सत्ता के लिये उसे अन्य किसी सहायक तत्व की आवश्यकता नहीं। श्रीराधा के प्रभाव के संबन्ध में कहा भी गया है कि उसकी समता कहीं नहीं मिलती।

इस प्रकार प्रेम, वय, चातुरी, अंग-भंगी, लावण्य, महारस, कामलीला और सौभाग्य के विविध वैभव की अधिष्ठान, कान्ति-संपन्न और सिद्धिस्वरूपा श्रीराधा की जय हो। श्रीहितसखी का यह आशीर्वाद है और उसे 'प्रेमनिधि,' 'कैशोरशोभानिधि आदि प्रत्येक विशेषता से संबद्ध जानना चाहिये।

कुत्राप्यष्टनिधित्वोक्तिः। तदा एवं सर्वस्वमिति विशेष्यं, श्रीराधेति विशिष्टं पदं, अन्यद्विशेषणम्। यद्वा निधेः समुद्रार्थः। तदापि 'सर्वस्वं' विशेष्यं, अन्ये सप्त समुद्रार्थाः। तत्र 'शुद्धे'-ति शुद्धोदः। तस्य महत्वादत्रापि विलासवैभवोक्तिः। 'कैशोरे'-ति पौगण्डयौवनयोर्मध्यत्वात् दुग्धघृतयोरिव मध्यावस्थो दधिसिन्धुः, मौग्ध्यवैदग्ध्यमिश्रत्वात् रसपुष्टिकारणत्वाच्च। वैदग्धीयुक्तानां मधुराङ्गभङ्गिम्नामित्येको निधिः, क्षीरसिन्धुर्मधुरोक्तेः। 'लावण्ये'-ति क्षारसिन्धुः, रोचकधर्मत्वात्। 'महारसे'-ति महापानीयत्वात् सुरोदो, मादकधर्मत्वात्। 'कन्दर्पे'-ति दम्पतिक्रीडानां कन्दर्पैकपर्यवसानात् सारत्वेन घृतोदः। 'सौन्दर्यसुधे'-ति रूपामृतस्य प्रतिमुहुः पेयत्वाच्चोष्यरसत्वेन सितादिमिष्टरसस्याद्यकारणत्वाच्चेक्षुरसोदः। एवं कल्पनयाप्यनेकार्थस्य मधुशब्दस्य पत्युस्तत्तद्रीत्या सर्वस्वभूत एव। अनेन सप्तसिन्धुपतित्वेन

रसकलश

कहीं-कहीं निधियों की संख्या आठ ही बताई गई है। उस पक्ष में 'सर्वस्वभूत निधि' को विशेष्य समझना चाहिए, 'श्रीराधा' को विशिष्ट पद तथा अन्त सात को विशेषण। अथवा 'निधि' का अर्थ समुद्र लगाया जाय। उस पक्ष में 'सर्वस्व' को विशेष माना जायेगा और शेष सात 'निधि'-शब्दों को सात समुद्रवाचक। इस अर्थ में 'शुद्ध' से 'शुद्धोदधि' (शुद्ध समुद्र) का तात्पर्य है। उस समुद्र की विशेषताओं के कारण श्रीराधा के संबंध में भी विलासरूप संपत्ति से युक्त होने की बात कही गई है। किशोर अवस्था पौगण्ड और यौवन के बीच की दशा है, और उधर दही भी दूध और घी के बीच की चीज़ है। अतः 'कैशोर शोभा' को दही का समुद्र मानना होगा। किशोरावस्था में भोलापन और चातुरी का मिश्रण होता है, उधर दही भी रस और पौष्टिकता प्रदान करता है। वैदग्धीयुक्त मधुर भंगियों का एक समुद्र क्षीरसागर है जिसे कि मधुर बताया जाता है। लावण्य-संपत्ति क्षार (खारा) समुद्र है क्योंकि नमकीन वस्तु रोचक होती है। 'महारस' सुरोद (देवों का समुद्र) है। समुद्र-पक्ष में विशाल जल-राशी है, तो श्रीराधा-पक्ष में मादक महारस है। दंपति की क्रीड़ायें काम-प्रधान हैं और प्रियाजी काम-भावना (प्रेम-रस) की मूर्ति हैं, अतः वे घृत-समुद्र हैं। घी भी दूध का सार होता है। सौन्दर्य-सुधा अर्थात् रूपामृत का बार-बार पान किया जाता है और वह चूंसे जाने वाला रस है, अतः प्रियाजी ईख के रस का समुद्र हैं। इसके अतिरिक्त गन्ना का रस ही सब मीठे रसों का आदि कारण है, क्योंकि उसीसे सब मिठाइयां बनती है। उधर प्रियानिष्ठ शृंगार-रस भी लौकिक और अलौकिक सब मधुर रसों के मूल में है। इस प्रकार कल्पना करने पर प्रियाजी, अनेकार्थवाचक

सार्वभौमत्वमप्युक्तम् । राज्ञो राज्यमेव सर्वस्वं, तेनैव राजेति नामसिद्धेः । ॥२४४॥

तत्र लावण्यनिधिप्रसादजं प्रियभ्रमकौतुकमाह—

नीलेन्दीवरवृन्दकान्तिलहरीचौरं किशोरद्वयं,
त्वय्येतत्कुचयोश्चकास्ति किमिदं रूपेण मे मोहनम् ।
तन्मामात्मसखीं कुरु द्वितरुणीयं नौ दृढं श्लिष्यति,
स्वच्छायामिति वीक्ष्य मुह्यति हरौ राधास्मितं पातु नः ॥२४५॥

स्वस्यछायां प्रतिबिम्बं वीक्ष्य हरौ इति मुह्यति सति राधास्मितं न अस्मान् सखीजनान् पातु । 'इती-'ति किम् ? नीलेतिविशिष्टमेतत्किशोरद्वयं त्वयि कुचयोश्चकास्ति, तत्किमिदमाश्चर्यमिति । किञ्चेदं रूपेण मे आसज्यीभूतस्यापि मोहनमस्ति । ततः किं कार्यं चेत्तत्राह—तस्मात्वमा-

---

रसकलश

'मधु' के पति श्रीकृष्ण की, विभिन्न प्रकार के सर्वस्व ही हैं । प्रियाजी में, इस प्रकार, सात समुद्रों का समावेश करने से ही यह भी व्यंजना निकलती है कि वे सातों समुद्रों की एकछत्र स्वामिनी हैं । राजा का सर्वस्व राज्य है । इसीलिए उसे 'राजा' कहा जाता है ॥२४४॥

अब लावण्य-सिन्धु श्रीराधा को प्रसन्न करने के बाद प्रियतम के भ्रम से उत्पन्न कौतुक का वर्णन करते हैं—

आपके इस कुच-युगल में नील कमलों के समूह की कान्ति-तरंगों को चुराने वाले तथा अपने रूप से मुझे भी मोहित करने वाले ये दो किशोर क्या चमक रहे हैं । इसलिए मुझे अपनी सखी बना लीजिए जिससे ये दोनों किशोर हम दोनों का गाढ़ आलिंगन करें । इस प्रकार अपने प्रतिबिंब को प्रियाजी के स्तनों में देख कर श्रीहरि के मोहित होने पर मुस्कराती हुई श्रीराधा हमारी रक्षा करें ॥२४५॥

अपनी छाया अर्थात् प्रतिबिम्ब को देख कर श्रीहरि के इस प्रकार मोहित होने पर श्रीराधा की मुस्कान हम सखीजनों की रक्षा करे । किस प्रकार मोहित होने पर ? 'नीलेन्दीवर' आदि विशेषता से युक्त ये दो किशोर आपके स्त नों में शोभा दे रहे हैं, सो यह कैसा आश्चर्य है ! दूसरी बात यह कि यह किशोर-युगल अपने रूप से, आसज्य भाव को प्राप्त हुए मुझे भी मोहित कर रहा है । अच्छा, तो अब किया क्या जाय ? इस पर कहते हैं—इसलिए आप मुझे अपनी सखी अर्थात् आसक्ता बना लीजिए ।

मात्मनः स्वस्य सखीमासक्तशीलां कुरु । दम्पतिक्रियाव्यत्ययोऽत्र ज्ञेयः । यद्वा रूपेण मे त्वदनन्यमोहितस्यापि मोहनम् । ततो जाने त्वत्समवेतकौतुकमेव, इत्यतो निजममत्वास्पदां सखीं कुर्विति । किमर्थं चेत्तत्राह—यत इयं द्वयोस्तरुण्योः समाहारो द्वितरुणी क्रीडासमर्था नौ आवां सख्यौ समानगुणवयस्के द्वे प्रत्येकं दृढं यथास्यात्तथा श्लिष्यति, श्लिष्येदित्यर्थः । अन्यथा त्वत्सख्याभवे कथं तामङ्गीकुर्यादिति । अतस्त्वत्कृपया ममापि मनोरथपूर्तिः स्यादिति भावः ।

अत्र पूर्वतरपद्ये प्रियेण स्वाङ्कस्थवीरायितरतप्रवणप्रियाया गाढालिङ्गनौत्सुक्येन कथमहं स्वयं प्रार्थयामीति विचारयता स्वप्रतिबिम्बदर्शनमात्रमुग्धेनेयं युक्तिर्लब्धेति ज्ञेया, 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इति न्यायात् । पूर्वं ज्ञानं स्थितं, पश्चान्मोहावेशेऽपि स्फूर्तिरियम्, जाग्रद्विचारानन्तरं स्वप्नवत् 'मुह्यती'-ति हिताल्युक्तेः ।

रसकलश

(विपरीत-रति का प्रसंग होने के कारण प्रियतम अपने को आसज्य मान बैठे हैं और प्रियाजी को आसक्त इसलिए) यहाँ दम्पति के क्रियात्मक स्वरूप को पलट दिया गया है, यह ज्ञातव्य है। अथवा, आपको छोड़ कर मैं और किसी के रूप पर तो मोहित होने वाला हूं नहीं, फिर भी इन्होंने जो मुझे मोह लिया है, इससे पता लगता है कि इस खिलवाड़ में आपकी भी मिल्लत है। अतः मुझे अपनी ममता पात्र सखी बना लीजिए। यदि पूछें कि ऐसा क्यों ? तो कहते हैं—इसलिए कि दो तरुणियों की यह जोड़ी, जोकि, तरुण होने के कारण क्रीड़ा में समर्थ है, गुण और अवस्था में समान हम दोनों में से प्रत्येक को आलिंगन कर ले। नहीं तो, आपकी सखी न बनने पर मुझे ये कैसे अंगीकार करेंगे ? भाव यह है कि आपकी कृपा से मेरा मनोरथ पूर्ण हो जायेगा।

इससे पूर्व के एक पद्य (२४३) में यह कहा गया है कि प्रियतम के आलिंगन में आबद्ध प्रियाजी पुरुषायित रति में व्यस्त हैं। रति की इस विद्या में प्रियतम की स्थिति नायिका की होने के कारण वे इस चिन्ता में हैं कि प्रियाजी मेरा गाढ़ आलिंगन कैसे करें ? क्या इसके लिए मैं प्रार्थना करूँ ? इस ऊहापोह में पड़े हुए उन्होंने ज्योंही (प्रियाजी के कुंचों में) अपना प्रतिबिंब देखा, त्योंहि वे मोहित हो गये। किन्तु मोह की इस हालत में भी उन्हें एक तरकीब सूझ गई, क्योंकि यह मानी हुई बात है कि 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' पहले तो प्रियतम को ज्ञान था (क्योंकि वे आलिंगन के लिए उत्सुक थे)। बाद में प्रतिबिंब देख कर उन पर मोह सवार हो गया। किन्तु इस दशा में भी उन्हें फुरे बिना नहीं रही। आलिंगन की तरकीब सोचते-सोचते उनका मोहित हो जाना ऐसा था जागत हुआ कोई व्यक्ति कुछ सोच रहा हो और फिर सो जाय (और स्वप्न में उसे कुछ फुर जाय)। इसी तात्पर्य से श्रीहिताली ने 'मुह्यति' (मोह को प्राप्त होने पर) कहा है।

'नीले'-ति तावद्वर्णमेव त्वत्प्रियं, यथा 'कृष्णः पक्षः' इत्यादि। तत्रापी-न्दीवरं त्वत्यन्तमेव, तद्वृन्दे तु कैमुत्यमेवेति। तस्य कान्तिलहरी छविपरम्परा वा मन्दवातकम्पितनवविकसितपल्लवत्वादिनापि लहरीत्वम्। तदत्र दर्पण-निर्मलकुचयोराधारकृतकौतुकजचाञ्चल्यमप्याधेय प्रतिबिम्बे संगतम्। तस्या-श्चौरमिति सादृश्यार्थेऽपि व्यंग्यम्—'पश्य प्रिये! कीदृङ्महासाहसिकमिदं द्वयं यदनेकसंघादपि पश्यतोहरणनिपुणमिति तत्रापि लहरीचौर्य्यमघटित-सामर्थ्यम्'। इत्यादि सर्वं तदुत्साहवर्द्धनार्थमेवेति ज्ञेयम्। एतादृशस्य रक्षणं त्वय्येव घटते, परमशरण्यत्वात्। तत्र कुचयोरिति महादुर्गेनिवसतोऽस्माद् द्वन्द्वात् कान्तिप्रत्याहरणसामर्थ्यं वृन्दस्यापि कुतः स्यादिति। पूर्वं तु 'त्वय्येव' इत्युक्तौ प्रियाशङ्किता 'कुत्रास्ति मयि?' इति। पश्चात् कुचयोरित्युक्तौ दृष्ट्वा सस्मितेति ज्ञेया।

रसकलश

'नीलेन्दीवर' आदि की व्याख्या करते हैं—पहले तो नीला रंग ही आपको बहुत प्रिय है, जैसा कि पूर्व पद्य (८८) में कहा हैं—'कृष्ण पक्ष, नील कमल, कृष्णसार मृग, नील मेघ, तथा नाम और रूप दोनों से कृष्णा (श्रीयमुना)—ये सब प्रियतम के नाम रूप सादृश्य से आपको (श्रीराधा को) प्रिय हैं, तो श्रीकृष्ण ही के प्रति आप इतनीं प्रतिकूल क्यों हैं?' उसमें भी इन्दीवर (नीलकमल) तो आपको अत्यन्त प्रिय हैं और उनके समूह का तो कहना ही क्या! उस नील-कमल-वृन्द की कान्ति की जो लहरें, अर्थात् छवि-परंपरा। अथवा हाल में खिले कमलों के पत्तों के मन्द-मन्द वायु से हिलने के कारण कान्ति की एक लहर-सी उठती दिखाई देती है। कौतुकी वृत्ति से उत्पन्न आधारभूत कुचों की चंचलता आधेय श्रीकृष्ण के प्रतिबिंब में मिल गई। उस छबि-लहरी के चोर हैं ये किशोर-युगल। 'चोर' कहने से नील कमल और श्याम-प्रतिबिंब के वर्ण-साम्य का तो बोध होता ही है, पर इसमें एक व्यंग्य भी है—'प्रिये! इन दोनों किशोरों का साहस तो देखिये! ये देखते-देखते जमघट में से चीज चुराने में निपुण हैं। उसमें भी लहरों को चुरा ले जाने का तो मतलब यह है कि इनमें असम्भव को भी सम्भव बना देने की सामर्थ्य है। यह सब कहने का उद्देश्य प्रियाजी के साहस को बढ़ावा देना है, यह ज्ञातव्य है। ऐसे चोर को तो आप ही आश्रय दे सकती हैं। क्योंकि आप अशरण-शरण हैं। 'कुचयोः' कह कर यह व्यंजित किया है कि ये दोनो किशोर किले में रहते हैं, अतः इनसे कान्ति को वापिस लाने की सामर्थ्य एक नील कमल में तो क्या, उसके समूह में भी नहीं है। पहले जब सखी ने कहा कि ये किशोर-द्वय आप में ही हैं, तो प्रियाजी ने चौंक कर पूछा—'मुझमें कहाँ हैं?' उत्तर में कहा गया—'कुचों में'। इस पर प्रियाजी ने मुस्करा दिया, ऐसा समझना चाहिए।

'सखीम्' इति—तदानी तस्यां वीरायत्यां स्वयं नायिकात्वमाचरता तादृशभावनया सखीत्वमुक्तम्। तस्यास्तत्वं तु विस्मृतं मोहात्। 'तरुणी-' त्युक्तिः कैशोरेऽप्यारब्धयौवनत्वस्य तत्तत्क्रियाप्रवणत्वस्य च बोधिनी। नचात्र किशोरपदव्यत्यासः शङ्क्यः। 'श्लिष्येत्' इति वक्तव्ये वर्तमानप्रयोगः सोल्लासस्वमनःसाक्षितया तयोः प्रतिबिम्बयोरप्यारब्धालिङ्गनयोरेव भाना न्मोहेन 'श्लिष्यति' इत्येवोक्तवानितिहेतुकः। 'दृढ'-मित्यपि तदुल्लाससाक्षि-तयैव। 'हरा'-विति चोरनामापि चोरितमना जात इति साश्चर्यकम्। अत एव राधास्मितम्। यद्वैदग्ध्यदर्पितः स्वच्छाययैव मोहित, इत्यपि ते बहिरेव, परन्तु जाने स्वान्तरन्याभिलाषान्तरमित्युक्तिभङ्गीसूचकम्। 'पातु' इति रक्षणं हि। सुचिरं सखीमनस्सु वर्णिन्या निपुणाया अपि मौग्ध्यं सुस्थिरम्।

रसकलश

श्रीकृष्ण कहते हैं, मुझे अपनी सखी बना लो। यहाँ अपने को सखी इसलिये कहा कि पुरुषायित सुरत में प्रियतम स्वयं नायिका की तरह आचरण कर रहे थे। उसी भावना के कारण उन्होंने अपने को सखी कहा। प्रतिबिंब को देखकर वे ऐसे मोह में फँस गये कि प्रियाजी का नायकत्व उन्हें विस्मृत ही हो गया। 'द्वितरुणी' शब्द में तरुणी शब्द यह द्योतित करता है कि किशोर अवस्था में ही यौवन का प्रारम्भ हो गया था और सुरत-कला से संबंधित सब कौशल प्रियाजी को आ गये थे। यहां यह शंका नहीं करनी चाहिए कि पद्य के पूर्व भाग में कुचों को किशोर कहा है, किन्तु उत्तरार्ध में उन्हें बदल कर 'तरुण' कर दिया है। 'श्लिष्येत्' (आलिंगन करें) न कह कर वर्तमान काल में 'श्लिष्यति' क्रिया का प्रयोग करने से यह सूचित होता है कि श्रीहितसखी अपने उल्लास-भरे मन को साक्षी करके यह सब कह रही हैं और मोह के कारण उन्हें ऐसी प्रतीति हो रही है कि प्रतिबिंबों ने आलिंगन का कार्य प्रारंभ कर दिया है। इसी भावना से उन्होंने 'श्लिष्यति' कहा है। ऐसे ही मानसिक उल्लास के आवेश में 'दृढम्' (कस कर) कहा है। 'हरौ' (हरि के) यह व्यंजित करता है कि श्रीकृष्ण का नाम तो 'हरि' अर्थात् चोर है। फिर यह कैसा आश्चर्य है कि उनका स्वयं का ही मन चुरा लिया गया। इसीलिये श्रीराधा मुस्कराई—कुछ ऐसा सोच कर कि—'अरे! इन्हें तो अपनी विदग्धता का बड़ा गर्व था, किन्तु इस समय तो अपनी छाया के ही धोखे में आगये। मुझे तो ऐसा लगता है कि मोहित होना आदि सब इनका बाहरी दिखावा-मात्र है, हार्दिक अभिलाषा तो कुछ और ही है।' 'पातु' द्वारा रक्षा किये जाने की इच्छा व्यक्त की गई है। सखियों के मन में यह निश्चित धारणा बन गई थी कि वरनी श्रीमती राधा चाहे जितनी निपुण हों, जड़ में भोली ही हैं। अब आकर उन्हें श्यामसुन्दर के भोलेपन का भी परिचय मिल गया। बस, अब सब सखियों का समाधान हो गया—यह सोच कर कि यह जोड़ी तो ऐसी ही है; इस संबंध में चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं।

इदानीं श्यामस्यापि मौग्ध्यं दृष्टिमागतम् । तेन सर्वसमाधानात् सख्यः ! द्वन्द्वमेवेहशमिति कथं शोचाम इति शोकाभावेन हर्षजम् । कदाचिच्चास्मदीयाया मौग्ध्यहसनसमयेऽप्येतदुक्तिप्रत्युक्तिलाभोऽपि प्रियस्मयमोचक इत्यपि ज्ञेयम् । सहृदयसमाजकौतुकात् 'नः' इति बहुत्वम् ।

अत्र प्रियस्यालिङ्गनाभिलाषित्वस्थायितयैवोक्तिरियं, न च किशोरद्वयोक्तेराद्यन्तविचारः शङ्कनीयः, रहःकौतुकमात्रार्थत्वात् । अत्रैतावानेव रसमयः । प्रियायास्तु वक्ष्यमाणस्वच्छायाभ्रमे शोकक्रोधोत्पत्तिः, तदासज्यात्वाघटितस्वभावान्मौग्ध्याच्चेति । तदत्र मनोऽपि रसमयः । आसक्तासज्यप्रेम्णोर्विश्रब्धाविश्रब्धत्वनियमात् तस्य दैन्यात्प्रार्थनशीलत्वं 'आत्मसखीं कुरु' इत्यादि तस्याश्च शिक्षणशीलतया शास्त्रनिवेदनेति वक्ष्यमाणत्वात् । स्वच्छा-

रसकलश

तो इस प्रकार मानसिक खेद के दूर हो जाने पर वे प्रसन्न हो गईं। वे यह भी सोचने लगीं की भविष्य में यदि कोई ऐसा अवसर आयेगा जबकि प्रियाजी के भोलापन को लेकर प्रियतम उनकी खिल्ली उड़ायेंगे, तो हमारे पास भी एक करारा जवाब देने को हो गया जिसे सुनते ही प्रियतम अपनी विदग्धता का अभिमान छोड़ देंगे, यह भी ज्ञातव्य है। यह सब कौतुक सहृदय-समाज के द्वारा जानने योग्य है, अतः 'नः' (हम को) कहा है।

प्रियतम की स्थायी आलिंगन-इच्छा को दृष्टि में रख कर ही यह सब कहा गया है। 'किशोरद्वयम्' कहने के कारण आदि-अन्त के विचार के झमेले में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि उद्देश्य केवल एकान्त में होने वाले कौतुक को वर्णन करने का ही है। पद्य में जितना कुछ कहा गया है उतने भर को ध्यान में रखकर रस का आस्वादन करना चाहिये। प्रियाजी के संबंध में तो अग्रिम श्लोक में यह कहा गया है कि कौस्तुभ-मणि में पड़ने वाली अपनी परछाहीं से धोखा खा कर प्रियाजी के मन में शोक, क्रोध आदि के भाव उदय हो गये। ऐसा इसलिये हुआ कि प्रियाजी आसज्य हैं, अतः उनका स्वभाव बदलता नहीं, दूसरे यह कि वे भोली भी हैं। इसीलिये यहाँ मान भी रसमय है। नियम यह है कि आसक्त का प्रेम विश्वास पूर्ण होता है, जबकि आसज्या प्रिय के प्रेम के संबंध में सदा सशंक रहती है। दीन होने के कारण प्रियतम का काम है प्रार्थना करना और यह कहना कि 'मुझे अपनी सखी बना लीजिये।' प्रियाजी का स्वभाव है कि प्रियतम पर शासन करें और समय-समय पर उन्हें सीख दें—यह आगे कहा जाएगा। कौस्तुभ-मणि में प्रतिबिंबित अपनी छाया तो बेहद सुन्दर थी। किन्तु उसे देखने के बाद भी प्रियाजी को आलिंगन की इच्छा नहीं हुई, क्योंकि वे पूर्णकाम हैं। उधर श्रीकृष्ण ने कुचों में जब अपना प्रतिबिंब देखा, तो पहले प्रतिक्रिया उनके हृदय में प्रियाजी को आलिंगन करने की हुई, क्योंकि उन्हें प्रियाजी के प्रति अपने प्रेम का

याया रूपाधिक्यदर्शनेऽपि नालिङ्गनाभिलाषः, आत्मकामशीलत्वात्। तस्य च स्वच्छायादृष्टौ विश्रब्धतयालिङ्गनेच्छेवाजनीति । 'नीले'-त्यादिश्लाघनेन 'चकास्ति'। मोहनपदैश्च चित्तोल्लासजकौतुकमेव सूचितं, न च भ्रान्तिरेवेति ज्ञेयम्। सर्वं रसमयत्वेनैव विचार्यम्। मुख्यन्तु तस्या मौग्ध्यकौतुकमेवेत्यग्रे वक्ष्यति ॥२४५॥

एवं लावण्यजकौतुकं निर्वर्ण्य कैशोरनिधित्वं विवक्षुरुक्तभ्रमकौतुकस्मृतप्रियावयोमौग्ध्यविनोदमाह—

संगत्यापि महोत्सवेन मधुराकारां हृदि प्रेयसः
स्वच्छायामभिवीक्ष्य कौस्तुभमणौ संभूतशोकक्रुधा।
उत्क्षिप्तप्रियपाणि तिष्ठ सुनयेत्युक्ता गतायाः बहिः
सख्यैः शास्त्रनिवेदितानि किमहं श्रोष्यामि ते राधिके!
॥२४६॥

रसकलश

भरोसा था और उसी के बल पर ऐसी इच्छा उनमें उदित हुई थी । प्रतिबिंब की नीलीमा के प्रशंसनीय होने के कारण कहा है कि किशोर युगल शोभा दे रहा है । इसका रूप मोहक है—यह कहकर हार्दिक उल्लास से उत्पन्न कौतुक को सूचित किया गया है; केवल भ्रान्ति से ही तात्पर्य नहीं है । कुल मिलाकर रसमयता की दृष्टि से ही पद्य के अभिधेय पर विचार करना चाहिए । मुख्य बात तो प्रियाजी के भोलेपन के कारण उत्पन्न कौतुक ही है, यह आगे कहेंगे ॥२४५॥

इस प्रकार लावण्य के कारण किये गये कौतुक का वर्णन कर प्रियाजी को किशोरावस्था की निधि बताने की इच्छा से, पूर्व पद्य में वर्णित प्रियतम की भ्रान्ति से संबंधित कौतुक के प्रसंग में श्रीहितसखी को किशोरावस्था-सुलभ प्रियाजी के भोलेपन की भी याद हो आई । उसी मुग्धता के कारण मनोविनोद का जो एक प्रसंग उपस्थित हुआ, उसी का वर्णन करते हैं—

'हे श्रीराधिके! बड़े आनन्दपूर्ण भाव के साथ प्रिय से मिलकर भी उनके वक्षःस्थल पर स्थित कौस्तुभ-मणि में अपनी मधुर आकृति-युक्त छाया को देखकर क्रोधावेश में दुखी हो प्रियतम के हाथ को झटक कर, 'रहने दीजिए, देख लिया आप कैसे न्यायशील हैं!' यह कह कर बाहर चले जाने पर, आपके द्वारा सख्य भाव से सखी से कही गई अनुशासन-संबंधी विज्ञप्तियों को क्या मैं सुनूँगी ? ॥२४६॥

हे राधे ! नवकिशोरि ! इत्युक्त्वा बहिरागतायास्ते निजपरिजनेष्ट-तत्तद्वयोविनोदानन्दपूरकायाः सख्यैः शास्त्रनिवेदनानि । 'किम्' इत्युत्कण्ठायां, अहं श्रोष्यामीत्यन्वयः ।

'इति' इति किम् ? तदाह—महोत्सवेन सङ्गत्यापीति । पूर्वं यदा प्रियेण मौग्ध्यकौतुकेनालिङ्गनाभिलाषो ज्ञापितस्तदा सकौतुकं स्मित्वात्योत्सुक्येन तन्मनोरथदानवीरत्वेन संगम्य मिलित्वा, गाढमालिंग्येत्यर्थः । प्रेयोऽङ्क-स्थत्वेनोत्सवे सत्यपि कुचकलशप्रतिबिम्बितप्रियशोभादर्शनान्तज्ज्ञापितहृल्ला-लसजौदार्यवर्द्धनेन च महत्वं ज्ञेयम् । ततः प्रेमसंलापान्तरे प्रेयसऽत्यन्तप्रियता-स्पदस्यापि हृदि कौस्तुभमणौ । किञ्चालिङ्गनसमये मध्यनायकस्थोऽपि

रसकलश

हे श्रीराधे! नवकिशोरी! 'रहने दीजिए, देख लिया आप कैसे नीति-पालक हैं!' यह कह कर आप के निकुंज से बाहर आ जाने पर, अपने परिकर की, अवस्था-सुलभ विनोद-जन्य आनन्द की अभिलाषा को पूर्ण करने के उद्देश्य से, सख्य भाव से प्रेरित होकर कही गई अनुशासन-संबंधी शिक्षाओं को क्या मैं सुनूंगी ? 'क्या सुनूंगी ?' कह कर अपनी उत्कंठा व्यक्त की गई है। यह हुआ अन्वय।

पद्य में उल्लिखित बात प्रियाजी ने जिस प्रसंग में कही, उसी को बताते हैं—'महोत्सवेन सङ्गत्यापि' (बड़े उल्लास से मिल कर भी) पहले जब प्रियतम ने अपने भोलेपन का खिलवाड़ रच कर आलिंगन की अभिलाषा प्रकट की थी, तब कौतुकपूर्वक मुस्कराते हुए, उनके मनोरथ के प्रति दानवीरता की भावना से मिलीं, अर्थात् प्रियतम का गाढ़ आलिंगन किया—यह भाव है। उत्सव को 'महान्' इसलिये कहा है कि प्रियतम की भुजाओं में आबद्ध होने के उत्सव का अनुभव करते हुए भी प्रियाजी ने जब अपने कुच-कलशों में पड़ी हुई उनकी परछाहीं की शोभा को देखा, और यह भी देखा कि किस ढंग से प्रियतम अपने हृदय की अभिलाषा को व्यक्त कर रहे हैं, तो उनकी उदारता बढ़ गई। उसके बाद प्रेमालाप के बीच, निरतिशय प्रेम-निधान होने पर भी, प्रियतम के वक्षःस्थल पर धारण की गई कौस्तुभ-मणि में (अपनी परछाहीं देखी)। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आलिंगन करते समय हार के बीचों-बीच जड़ी हुई मणि को पीठ पीछे कर लिया गया था—इस दृष्टि से कि एक तो आलिंगन का क्रम निरन्तर चल रहा था, दूसरे प्रियाजी की सुकुमरता का भी ख्याल था। बाद में बातचीत के प्रसंग को बदल जाने पर या अन्य किसी क्रीड़ा के कारण वह कौस्तुभ मणि घूम कर फिर पहली जगह पर आ गई। तब क्या हुआ कि प्रियतम की लोलुपता को देख कर प्रिया को कुछ झिझक अनुभव हुई और उन्होंने अपनी दृष्टि प्रियतम के मुख-कमल पर से हटा ली। संयोग से ऐसा हुआ कि प्रियतम के श्रीमुख पर से उड़ती हुई नज़र

मणिर्धृत्वा पृष्ठे कृतो, नैरन्तर्यात् सौकुमार्यशङ्कया चेति स्फुटमेव । पश्चाद् केनचिद्वार्तान्तिरेण क्रीडान्तरवशाच्च स एव हृदयेऽवतरित इति । तदा किञ्चिल्लौल्यजसंकोचापनतहृत्पतितदृशा तस्मिन् मणौ मधुराकारां, स्वस्यापि मादकां, तदान्येषान्तु जीवनमेवेति हितास्युक्तिसाक्षिकम् ।

तादृशीं स्वच्छायां प्रतिबिम्बमभिमुखे वीक्ष्य 'संभूते'-ति । तदानन्दसमयेऽपि तया स्वचित्रं विपरीतसामयिकं ज्ञातं, न च तादात्विकस्वच्छायामिति । तेन लज्जया सविलक्षं शोचितम्--'हा ! एवमीदृक् चित्रं कथमयं निर्लज्जतया धारयति, सहृदयसमाजोऽपि किं वदिष्यति । पश्यास्य निस्त्रपताम् ! कथमनुशास्मि ?' इत्यादिसंभूतः, एकदैव सहसा संजातः शोकसमनन्तरमेव क्रुध् क्रोध, स्तेन शिक्षणार्थं 'चल, निस्त्रप !' इति भङ्ग्या उत्क्षिप्तौ प्रियस्य पाणी । तदा किं किमिति संभ्रान्तेन प्रियेण 'सुकुमारि ! कथं ।मयेदानीमनयः कृतो, न जानामि' इत्युक्तौ 'तिष्ठ, सुनय !' इति तयोक्तम् । अर्थात् 'कथन्न दृष्टोऽद्यैव तेनयः' इत्युक्तिभङ्ग्या । 'सुनय !

रसकलश

उनके वक्षःस्थल पर आ टिकी और उसमें प्रियाजी ने अपने ठीक सामने प्रतिबिंबित अपनी छाया को देखा । इस छाया की रूप-रेखा बड़ी ही मधुर थी—इतनी कि देखकर स्वयं प्रियाजी भी मुग्ध हो जायँ । तब औरों के लिये तो वह आकृति प्राणदायिनी है ही । श्रीहितसखी की स्वयं की उक्ति ही इसका सबसे ब ा प्रमाण है ।

तो ऐसी छाया को सामने देखकर प्रियाजी शोक (दुःख) और क्रोध दोनों से अभिभूत हो गईं । उस आनन्द के समय में भी उन्होंने अपने चित्र को एक दूसरे ही अवसर का समझा । उन्हें यह भ्रम हो गया कि यह चित्र मेरा इस समय का नहीं है । इसीलिये उन्होंने कुछ लज्जा, कुछ परेशानी के साथ कहा—'हा! इस प्रकार के मेरे चित्र को इस तरह धारणा करने में इन्हें तनिक भी लज्जा नहीं आती! समझदार लोग क्या कहेंगे? इनकी निर्लज्जता तो देखो! कैसे इन्हें सिखाऊं? ऐसा सोचते-सोचते प्रियाजी के हृदय में दुःख के साथ-साथ क्रोध उमड़ पड़ा तब प्रियाजी का शासन करने के लिये मानों यह कहते हुए प्रिय के हाथों को झटक कर अलग कर दिया—'रहने दीजिये! आपके हया-शर्म तो बिलकुल है ही नहीं!' यह देख कर प्रियतम नेघबड़ा कर कहा—'क्यों? क्या हुआ? सुकुमारी! मुझे तो मालूम नहीं, इस समय मैने आपके साथ क्या नीति-विरुद्ध व्यवहार किया है ।' इस पर प्रियाजी बोलीं—'रहने दीजिये, मुझे मालूम है, आप जैसे न्यायशील हैं ।' 'सुनय' कहने में प्रियाजी का आशय यह था कि आज ही आपकी न्यायशीलता का पता लग गया । अर्थात् आप बड़े नीति-रहित हैं ।

इत्यस्यानयेत्यर्थः। 'तिष्ठ' इत्यधिक्षेपोऽयम्; 'मा वद, सर्वमसङ्गतं जाने' इत्यर्थः।

इत्युक्त्वा बहिर्निभृतान्निकुञ्जाजिरे आगतायास्तव सख्यैः, सख्यभावैः हस्तग्रहविश्रम्भगुह्याख्यानमयैः। शास्त्रमनुशासनम्। तन्मयानि त्वदुक्तानि निवेदनानि, ज्ञापनवाक्यानि कदा श्रोष्यामि। अहं समाहिता, गोपनीय-रहस्यश्रवणपात्री'त्यर्थः। 'निवेदनम्'—'सखि! चाटुवाक्यै रासवेन च स्वभ्रान्तिकुदूकमौग्ध्यादिनोन्मत्तीकृत्य मत्तो निस्त्रपतां कारयति। किं किमस्य वदामि? सर्वं सोढं, परन्तु मच्चित्रमुन्मादसामयिकं स्वहृदि भास्वरकौस्तु-भमणौ नित्यं धारयतीति दृष्ट्वा यूयं किं किं मदकृतमपि कृतं ज्ञास्यथ, इति न मया सहनीयम्। ततोऽस्य धार्ष्ट्यमार्ये! त्वयैव निवारयितव्यं, शिक्ष-णीयं यथा पुनर्नैव कुर्यात्'-इत्यादिज्ञापनमयम्।

यद्वा 'सख्यै' इति चतुर्थी। तदा ललितायै तदनुशासनं निवेदयति।

रसकलश

(अन्य प्रतियों में 'सुनय' के स्थान पर 'विनय' पाठ है जिसका अर्थ भी अविनीत होता है।) 'तिष्ठ' (रहने दीजिये) कहने में यह आक्षेप दिया है कि ज्यादा कहने की जरूरत नहीं। मैं जानती हूँ यह सब कितना अनुचित है।

यह कह कर बाहर निकुंज के आंगन में आई हुई, आपके द्वारा, सख्य-भाव में भर कर—अर्थात् मेरा हाथ पकड़ कर, बड़े विश्वास के साथ, गोपनीय भेद बताते हुए—प्रियतम के 'शास्त्रम्' यानी अनुशासन, शिक्षा-संबन्धी निवेदनों को कब सुनूँगी? 'निवेदन' से यहाँ अभिप्राय अपनी बात बताने का है। 'अहम्' से यह ध्वनि निकलती है कि श्रीहितसखी इसके सर्वथा योग्य हैं कि वे ध्यान देकर इस गोपनीय रहस्य को सुनें। प्रियाजी द्वारा किये गए निवेदन का नमूना यह है—'सखि! मीठी-मीठी बातें बनाकर, मदिरा पिलाकर, भ्रान्तिभरी क्रीड़ायें करके, भोलेपन के कौतुक आदि के द्वारा मुझे उन्मत्त करके मुझसे अनेक निर्लज्जता के काम करा लेते हैं। इनकी क्या क्या करतूतों का बखान करूं? यह सब मैंने सहा पर मेरे उन्मत्त होने के समय के चित्र को अपने वक्षःस्थल पर चमकती हुई कौस्तुभ-मणि पर लगाते हैं, यह मुझसे सहन नहीं होगा। चित्र को देखकर तुम लोग जो कुछ मैंने नहीं किया है, उसकी भी कल्पना कर मेरे संबन्ध में न जाने क्या-क्या समझ लोगी। अतः सखि! इनकी धृष्टता का इलाज तुम ही कर सकती हो। उन्हें ऐसी सीख दो कि फिर ऐसा न करें।' निवेदन से तात्पर्य प्रियाजी द्वारा की गई इसी प्रकार की विज्ञप्तियों से है।

अथवा 'सख्यैः' को तृतीयान्त के बजाय चतुर्थ्यन्त पद माना जा सकता है। तब अर्थ होगा—प्रियाजी ललिता सखी से प्रियतम को समझाने के लिये कहती हैं।

१. पात्री प्रयोग चिन्त्य है क्योंकि पात्र शब्द नित्य नपुंसक लिंग हैं।

तदाहं स्रगादिग्रथनलग्ना ज्ञात्वैवावचना मौग्ध्यकौतुकं शृणोमीति । 'निदेश-ग्रन्थयोः शास्त्रम्' इत्यमरः । प्रियदुश्शीलतानिर्देशमयनिवेदनानीति ।

यदा 'सास्त्रै'-तिपाठस्तदान्यनायिकाभ्रमार्थोऽपि ज्ञेयः । अस्रेण सह वर्तमानानि तद्वृत्तान्तनिवेदनानि—'हा ! विश्रम्भेऽप्यविश्रम्भ कर्मेति, यन्मदन्यापि हृदि राजते । किं कुर्वे' इति शोकः । तत अप्राप्तनिदानत्वात् क्रोध इति । 'अस्पृश्योऽसंभाष्योऽयं, गमिष्यामि सखीषु । किं करिष्यति ?' इत्यादि चण्डनभङ्गीमयम् ।

'उत्क्षिप्य' इति पूर्ववत् । 'सख्यै' इति नित्यं सा प्रियप्रशंसनपरा, माञ्च स्वपक्षस्थां जानाति, इत्यतस्तदुपमर्दकवाक्यं तस्यैव वक्ति येन न पुनः श्लाघया वञ्चयेत् । निवेदनं वयोऽधिक्यात् गौरवाच्चेति । यद्वा विपरीतार्थेनोपालम्भवाक्योपहाराणि । वाक्यबाहुल्याद् बहुत्वम् । यथा च

रसकलश

उस समय माला गूँथने आदि में व्यस्त मैं (श्रीहितसखी) प्रसंग से परिचित न होने के कारण चुप बैठी हुई उनके भोलेपन के कौतुक को सुनती हूँ। अमरकोष के अनुसार 'शास्त्र' शब्द निदेश और ग्रन्थ के अर्थों में प्रयुक्त होता है। तब 'निवेदन का अर्थ होगा —प्रियतम की उच्छृंखलता से संबन्धित बातें बताना। 'शास्त्रैः' स्थान यदि 'सास्त्रैः' पाठ हो, तो अर्थ होगा कि कौस्तुभ-मणि में अपनी छाया देखकर प्रियाजी को यह भ्रम हो गया कि यह तो अन्य किसी नायिका का चित्र है, अर्थ होगा--प्रियाजी ने आँखों में आँसू भर-भर कर प्रियतम का वृत्तान्त बताया। इस अर्थ में प्रियाजी को दुःख यह सोच कर हुआ कि हाय ! मुझ-जैसी विश्वास करने वाली के साथ यह विश्वासघात कि मेरे अतिरिक्त अन्य किसी नायिका को अपने हृदय में बिठा रक्खा है (या उसके चित्र को वक्षःस्थल पर टाँग रक्खा है)। क्या करूं ? प्रियतम के इस प्रकार के आचरण का जब कोई कारण नहीं मिला, तो प्रियाजी को क्रोध हो आया और वे सोचने लगीं—'इन्हें अब छूना भी पाप है, इनसे अब कोई बातचीत नहीं करूंगी। मैं तो जाती हूं—वहाँ जहाँ सखियाँ हैं। देखें, ये मेरा क्या करते हैं ?' प्रियाजी का क्रोध ऐसे-ऐसे विचारों से भरा हुआ था।

पाठ-भेद की इस दूसरी व्याख्या में 'उत्क्षिप्तप्रियपाणि' का अर्थ पहले की तरह लगेगा। 'सख्यै' (सखी से) कहने का तात्पर्य यह है कि ललिता जी रोज़ ही प्रियतम की प्रशंसा करती रहती हैं और मेरे संवन्ध में भी उनकी यह धारणा है कि मेरा मत भी वही है जैसा कि उनका। अतः ललिता जी की धारणा को खंडित करने वाली बात ललिता जी से ही कहती हैं, ताकि वह फिर प्रियतम के संबन्ध में ऐसी प्रशंसा-भरी बातें कहकर उन्हें न फुसलावें। ललिता जी के संबन्ध में 'निवेदन' शब्द का प्रयोग

सखि ! त्वमानुकूल्यं बहुशो वदसि, 'ययोन्मीलत्केलि' इत्यादि, 'अहो रसिकशेखर' इति, तन्मुधैव । कोऽयं धर्मः प्रेमारसश्चेति यदन्यापि हृरि राजते ? तदस्य ज्ञातानन्यता रसिकमौलिकता चेति विटलम्पटपदप्रवाच्यं कियच्छोधयसीति ? तदस्य ज्ञातं हार्दम्' इत्यादीनि यथा सरसं स्यात्तथैव कृत्वा धृत्वा च रसनीयानि सहृदयैरिति भावनीयम् ।

'अपि' शब्देन तावन्महोत्सवसङ्गम एवान्यविस्मृतिकारकः । तत्रापि प्रेयोहृदयस्य स्वहृदयसाक्षितया भ्रान्तिसंशय एव कुतः ? तत्रापि मधुराकारे कथं विशारदस्य ममो न रज्येत ? तदप्यन्यभ्रान्तिजक्रोधादौ । मुख्यं वयौमौग्ध्यमेव सिद्धान्तः । कश्चिदासज्या स्वभाव एवाघटितरूपोऽपि

रसकलश

इस दृष्टि से किया गया है कि वे उम्र में बड़ी हैं, अतः आदरणीय हैं । अथवा 'निवेदन' को कटाक्ष गर्भित मान कर यह अर्थ लगाया जाय कि प्रियाजी के उलाहना-भरी बातें ललिता जी को उपहारस्वरूप भेंट की । इस प्रसंग में प्रियाजी ने अनेक बातें कही होंगी, अतः 'निवेदनानि' में बहुवचन का प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ 'सखि! तुम बार-बार यह कहती रहती हो कि प्रियतम सदा मेरे अनुकूल रहते हैं, यह कि 'श्रीराधा के उमगते हुए केली-विलास की एक ही कला ने श्रीवृन्दावन के मतवाले करि शावक को बन्दी बना लिया है (पद्य १८७), यह कि 'निकुंज में स्थित नवल नागरी के नव-विकसित वक्षोजों के साथ प्रेमपूर्ण विहार करने वाले कोई रसिक शिरोमणि श्रीवृन्दावन में विराजते हैं (पद्य १११) । यह सब झूठ है सखि! यह भला कोई धर्म है या प्रेम-रस कि उनके हृदय में कोई दूसरी घर किये बैठी है ? आज पता लग गया कि ये कितने अनन्य और रसिकशेखर हैं । सच पूछा जाय तो, यह इसके योग्य हैं कि इन्हें धूर्त और लंपट कह कर पुकारा जाय । ऐसे व्यक्ति की तरफ़ से तुम कितनी सफाई दोगी ?' बस, अब मालूम हो गई इनके भीतर की बात!'—इत्यादि जितनी भी सरस बातें हैं, उनकी कल्पना का आस्वाद सहृदयों को लेना चाहिये ।

'सङ्गत्यापि' में 'अपि' की ध्वनि यह है कि पहले तो पारस्परिक मिलन के महोत्सव में ही प्रियाजी सब कुछ भूल जाती हैं, उसमें भी, सच बात तो यह है कि प्रियतम के हृदय का साक्षी प्रियाजी का हृदय है । ऐसे में भ्रान्ति या सन्देह के लिए अवकाश ही कहां है ? दूसरी बात यह कि प्रेयसो का स्वरूप जब मधुर हो, तो कला-विशारद का मन उसमें बिना रमे कैसे रह सकता है, विशेष कर उन अवसरों पर जबकि किसी दूसरी नायिका के धोखे से वह कुपित हो जायँ । (टीकाकार का आशय यह है कि पद्य में वर्णित भ्रान्ति, सन्देह आदि को गंभीरतापूर्वक नहीं लेना चाहिये ।) मुख्य उद्देश्य तो किशोरावस्था सुलभ-भ्रान्ति का चित्रण करना ही है । आसज्या का स्वभाव ही कुछ ऐसा विलक्षण होता है उसमें ईर्ष्या, क्रोध, अनुशासन,

यत्राविश्रम्भेर्ष्याचण्डनशिक्षणवाम्यादि तु नासम्भाव्यम् । आसक्तस्य च तत्तदनुनयसहनप्रसादमननाद्युचितमिति न रसाभासः शङ्क्यः ।

'किं श्रोष्यामि' इति साधकानुग्राहकं स्फुटमेव । अन्तस्तु शृणोत्येव । श्रुत्वा च साञ्चलास्रमार्जनं, सचिबुकग्रहं समाधत्ते—'प्रिये मा शुचः, ते सर्वथानुशास्मि, परन्तु कदा त्यक्ष्यसि मुग्धताम् ? हृदि कथमन्या सम्माति? किञ्चिच्चित्तेऽपि विचारय', इत्याद्युक्त्यनन्तरं प्रियेण सह न्यायमर्थिप्रत्यर्थि-प्रतिभूप्राड्विवाकरीत्या कृत्वा छायाभ्रमं निरस्य च, हासयित्वा सङ्गमिता—इत्यादिविनोदोऽनुक्तोऽप्यर्थपूर्तिसङ्गतेर्ज्ञेयः ॥२४६॥

एवं कैशोरवयःसन्धिजानन्दमुक्त्वा तच्छोभानिधित्वं निर्दिशंस्तावत् मुख्यं कबरं वर्णयति—

रसकलश

प्रतिकूलता आदि कुछ भी असंभव नहीं है। रही आसक्त की बात, सो उनके लिये यही उचित है कि प्रियाजी की चाटुकारी करें, उनके सामयिक उद्‌गारों को चुपचाप सुनते रहें और उनकी कृपाशीलता का मनन करें। अतः इन प्रसंगों के संबन्ध में रसाभास की शंका नहीं करनी चाहिये।

'क्या मैं सुनूंगी !' का यह तात्पर्य स्पष्ट ही है कि प्रियाजी की अनुशासन-संबंधी शिक्षाओं को सुनने की अभिलाषा-बाह्य साधक के रूप में की गई है। अन्तरंग श्री-हितसखी तो सदा प्रियाजी की सेवा में उपस्थित ही रहती हैं, अतः सब सुनती हैं और सुनने के बाद अपने आँचल से प्रिया जी के अश्रु-मलिन श्रीमुख को पोंछती हैं और ठोड़ी पकड़ कर उन्हें समझाती हैं—'प्रियाजी! दुःख मत करिये। मैं हर तरह से उन्हें डाटूंगी, पर यह तो बताइए कि आपका यह भोलापन भी कभी छूटेगा कि नहीं? प्रियतम के हृदय में भला अन्य किसी नायिका के लिये जगह है कहाँ? कुछ समझ से काम लीजिये।' इस प्रकार के तर्क उपस्थित करने के बाद श्रीहितसखी न्यायालय की तरह मुद्दई, मुज़रिम, जमानती और वकील की पद्धति का अनुसरण करती हुई प्रियतम को निर्दोष सिद्ध करके न्याय करती हैं और भ्रम का निराकरण कर प्रियाजी को हँसाती हैं और फिर दोनों को मिला देती हैं। पद्य में वर्णित न होने पर भी घटना को संपूर्णता प्रदान करने के लिये बाद के इन दृश्यों की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए ॥२४६॥

इस प्रकार पौगण्ड और यौवनावस्था की सन्धि किशोरावस्था से उत्पन्न आनन्द का वर्णन कर, श्रीराधा के शोभा-निधि होने का निर्देश करते हुए केशपाश का वर्णन करते हैं—

महामणिवरस्रजं कुसुमसञ्चयैरञ्चितं
महा[1]मरकतप्रभाग्रथितमोहितश्यामलम् ।
महारसमहीपतेरिव विचित्रसिद्धासनं
कदा नु तव राधिके ! कबरभारमालोकये।।२४७।।

अत्र भ्रमनिरासकन्यायानन्तरमभ्युदितपरिभवजसङ्कोचोद्भूतसंभाविता-सज्यप्रभुत्वापकर्षवैलक्षं निवारयितुं किञ्चित् सापराधे दण्डदानमेवोचित-मिति सनियम्यतानुभावेन प्रियोक्त्यनन्तरं तदिङ्गितज्ञसख्योक्तम्—'प्रथमन्तु विलासे कौस्तुभस्य कण्ठस्थितिनियतख्यातेर्हृदयधारणमेव स्थानच्युतिदोषः। तत्फलन्तु भवता प्राप्तं यदानन्दविघातो जातः। अपरञ्च स्वचातुर्याभि-मानेनास्मच्छृङ्गाररन्ध्रान्वेषिणोऽस्माकं चाभियोगः सदैव वर्तते। अतः

रसकलश

हे श्रीराधिके! अमूल्य एवं श्रेष्ठ मणियों की मालाओं से युक्त, चुनिन्दा फूलों से व्याप्त, देदीप्यमान मोतियों की कान्ति से गुंथा हुआ, श्यामसुन्दर को मोहित करने वाला, रसराज श्रृंगार का मानो विचित्र सिंहासन ही हो, ऐसे आपके केशपाश को क्या कभी मैं देखूंगी ?

पूर्व प्रसंग के अनुसार श्रीहितसखी ने न्याय करके प्रियाजी का भ्रम दूर कर दिया, फिर भी प्रियतम ने सोचा कि (कौस्तुभ मणि प्रतिबिंबत परकीया नायिका के आरोप को भ्रान्ति-मात्र सिद्ध हो जाने पर) प्रियाजी के मन में अपने पराजय की भावना पैदा हो सकती है और संकोच भी। वे यह भी सोच सकती हैं कि इससे मेरी आसज्यता तथा प्रभुत्व में कमी आ गई। अतः इस प्रकार के समस्त असमंजस, झिझक और लज्जा को दूर करने के लिये प्रियतम ने यह प्रस्ताव रक्खा कि चूँकि मुझ से अपराध बन पड़ा है, मुझे दंड दिया जाना उचित है। दंडनीय होने की भावना से उन्होंने जब ऐसा कहा, तो उनके हार्दिक आशय को भांप कर सखी बोली—'सर्वप्रथम तो, कौस्तुभ जब कंठ में धारण किया जाता है, तो उसे वक्षःस्थल पर पहिनना ही दोष है, क्योंकि वह स्थान भ्रष्ट हो गया। इस अपराध का फल तो आपको यह मिल गया कि आपके आनन्द में बाधा पड़ गई। दूसरी बात यह है कि अपनी चातुरी के अभिमान में आप हमारे द्वारा किये गये प्रियाजी के श्रृंगार में कोई न कोई मीन-मेख निकालते ही रहते हैं। हमारी यह शिकायत आज की नहीं, सदा की है। अतः आज हमें देखना है कि कितनी निपुणता यहाँ दिखाते हैं। (इसके बाद प्रियाजी को संबोधित कर कहती है—) 'प्रिये! इनके लिये आज हमने इतना ही दंड तजवीज़ किया है कि ये अपनी सारी कारीगरी खर्च कर ऐसी कसावट का केशपाश और वेणी

१. 'स्फुरन्मरकतप्रभा' यह पाठान्तर है।

पश्यामः कियत् कौशलमत्र भवतीति प्रिये ! अस्यैतावानेव दण्डोऽस्माभिर्निश्चितो यन्नीरन्ध्रकौशलेन कबरं धम्मिलञ्च कीदृशं रचयति', इत्याद्युक्त्या तद्धृदयकमलमुल्लास्य हरिणा कबरवेशं कारयन्तीः सखीरभिप्रेत्य स उत्थाय स्वकृतनिष्कृत्यर्थमिवाभिवाद्य पश्चादुपविश्य तथैव निर्मितवान् । तत्र तद्दृष्ट्वा प्रसादयन्ती हिताली वक्तीति ज्ञेयम् ।

महतामुत्तममणीनांवराः यथावर्णविभागशोभना ग्रथनसौष्ठवाः स्रजो यत्रेति । यद्वा महामणयोऽत्र महामारकताः । किञ्च महामरकतेत्यनुवदिष्यमाणत्वात् अनर्घ्यतया महत्वमस्त्येव । प्रियतमवर्णोपमानत्वात् प्रिययैव प्रेम्णा प्रसादेन महत्वपदञ्चदत्तम् । तेन सखीष्वपि तद्व्यवहारात् राजकीयवत् । अत एव वरपदोऽपि, तया वृतत्वात्, वा प्रियकरधृतत्वात्तादात्विकप्रसादकश्लाघनाद्यनावश्यकत्वाच्च ।

रसकलश

गूंथें कि कहीं कोई खाली जगह न रहने पावे ।' यह कह कर प्रियाजी के हृदय-कमल को आनन्द से विकसित कर के बाद जो सखियां श्रीहरि से जूड़ा बांधने का काम कराना चाहती थीं, उनके अभिप्राय को समझ कर वह उठे और मानों जुर्माना अदा कर शुद्ध होने के लिये प्रियाजी की वन्दना कर पीछे बैठ गए और सखियों ने जैसा कहा था वैसी ही केश-रचना कर दी यह देख कर प्रियाजी को प्रसन्न करने के उद्देश्य से श्रीहिताली कहती हैं—यह सन्दर्भ है ।

'कबरभारम्' का विशेषण देते हैं—जहां महान् अर्थात् उत्तम मणियों की मालायें हैं 'वर' (श्रेष्ठ) कहने का तात्पर्य यह है कि इन मणियों के विभिन्न रंगों का संयोजन मालाओं में बड़ी खूबी के साथ किया गया था और अत्यन्त सुघराई के साथ इनका यथास्थान गुंफन किया था । (इस अर्थ में 'वर' का संबन्ध मालाओं से लगाया गया है, नकि मणियों से ।) अथवा महामणियों से तात्पर्य यहां महान् मरकतमणियों का है । इसी पद्य के द्वितीय चरण में 'महामरकत' का उल्लेख किये जाने के कारण यह स्पष्ट है कि ये सब मणियां अमूल्य ही थीं । (पाठक देखेंगे कि पद्य के द्वितीय चरण में टीकाकार ने 'स्फुरन्मरकतप्रभा' पाठान्तर स्वीकार किया है, न कि 'महामरकतप्रभा' ।) प्रियतम के वर्ण के साथ मणियों के वर्ण का सादृश्य होने के कारण प्रियाजी ने प्रेम से उल्लसित होकर इन मणियों को प्रतिष्ठापूर्ण पद प्रदान किया था । बाद में सखियाँ भी उन्हें 'महामणि' कहने लगीं । क्योंकि राजा जिस वस्तु को जैसा कहता है, प्रजा भी उसे उसी दृष्टि से देखने लगती है । चूंकि प्रियाजी ने इन मणियों को चुन कर पसन्द किया था, अतः मणियों को 'वर' कहा गया है । अथवा मणियां इसलिए 'वर' थीं कि प्रियतम ने अपने हाथों उन्हें धारण कराया था । इसीलिये प्रियाजी को प्रसन्न करने के लिए उनकी ज्यादा प्रशंसा करने की आवश्यकता नहीं हुई (केवल 'मणिवर' कह देना ही पर्याप्त समझ लिया गया) ।

अत्रेमाः स्वर्णखचिता, वा स्वर्णपट्टसूत्रनिस्यूताः, प्रान्तभागे मध्ये च यथासौष्ठवभङ्गयोपरिबद्धा ज्ञेयाः। पुनश्च मध्ये मध्ये कुसुमानां चयनैरञ्चितं व्याप्तं, वा प्रियेण पूजितमिवेत्युत्प्रेक्षागर्भितोऽर्थः। तत्रैव बद्धैर्ग्रथितैरपि तैरादरेण पूज्यवत् सेवितमिति भावः। सम्यक् चयनं शृङ्गारविद्विचार्यम्।

पुनश्च स्फुरन्ती कान्तिचमत्कारमुद्गिरन्ती, प्रसरणशीला या मरकतानां मुक्तानां प्रभा, तया ग्रथितं, मोहितः श्यामलः कृष्णो येनेति तच्च तच्चेति तत्पुरुषबहुव्रीह्योरेकः कर्मधारयः। यद्वा ग्रथितो मोहितश्चेति श्याम एवेति बहुव्रीहिः। तन्मयतया वर्णाभिमानेन ग्रथितं मन्ये, इत्यर्थः। दीर्घसूक्ष्मतम-मेचकचिक्कणचिकुरेषु यथा ग्रथनभङ्गी तथैव प्रभापि प्रविष्टा। तां दृष्ट्वा

रसकलश

मणियों की ये मालायें या तो स्वर्ण में जड़ी थीं या जरी के धागों में पिरोई गई थीं, और केशपाश के दोनों ओर बीच में इस तरह ऊपर बाँधी गई थीं कि देखने में सुन्दर प्रतीत हों। फिर केशपाश बीच-बीच में चुनींदा फुलों से सजाया गया था, अथवा 'अंचित' व्याप्त था। या प्रियतम के द्वारा मानों पूजा गया था—यह अर्थ लगाया जा सकता है जिसमें उत्प्रेक्षा को निहित मानना होगा। आशय यह है कि वहीं जूड़ा में बँधे हुए अथवा खौंसे गये फूलों को किस प्रकार चुना जाता है, यह शृंगार करने में निपुण जन स्वयं समझ सकते हैं।

इसके बाद आता है विशेषण—'स्फुरन्मरकतप्रभा' इत्यादि। फूटती हुई, अर्थात् कान्ति के चमत्कार को फैलाती हुई, छिटकने वाली मरकत-मुक्ताओं की प्रभा से गुंथा हुआ तथा मोहित कर लिया है श्यामल अर्थात् कृष्ण को जिसने (ऐसे कबरी-भार को)। इस व्याख्या के अनुसार 'स्फुरन्मरकतप्रभा' एक समासान्त पद है और 'मोहितश्यामलम्' दूसरा। पहले में तत्पुरुष समास है, दूसरे में बहुव्रीहि। बाद में दोनों समासान्त पदों का परस्पर कर्मधारय समास करने से 'स्फुरन्मरकत' से लेकर 'श्यामलम्' तक एक समासान्त पद बनता है। अथवा पूरे पद को ही बहुव्रीहि समासान्त मान कर यह अर्थ किया जा सकता है—छिटकती हुई मरकत-कान्ति से गूंथ लिये और मोहित कर लिये हैं श्यामसुन्दर जिसने भाव यह है कि कबरीमय होने के कारण तथा इस अभिमान से कि मेरा और कबरी का रंग एक ही है, श्यामसुन्दर मानों स्वयं कबरी में गुंथ कर तत्स्वरूप हो गये हैं। लम्बे, अत्यन्त पतले, नील आभा से युक्त और चिकने बालों को जैसे जैसे गूंथा गया, वैसे ही वैसे उनमें कान्ति प्रवेश करती गई। यह देख कर श्यामसुन्दर ने सोचा कि क्यों न, कान्ति की तरह, मैं भी इनमें समा जाऊं और उन्होंने अपना चित्त दे डाला और उसे भी केशों के साथ गुंथ दिया। 'मोहित' शब्द 'मुह' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है चित्त को उद्भ्रान्त कर देना (भक्ति-साहित्य बोली में इसे 'वैचित्य' कहते हैं) तात्पर्य यह है कि केशपाश को गूंथते-गूंथते

श्यामोऽपि स्वदत्तचित्तं ग्रथितवानिवेति। मुहो वैचित्र्यार्थत्वाच्चित्तं विना जात इति। ततोऽतिशयार्थे 'ल' प्रत्ययेन 'श्यामल' इति स्ववर्णच्छविग्रथनाद्धन्यंमन्यः, 'अहो! साधुवर्णेनाप्यत्रसंलग्नोऽङ्गीकृतोऽहमिति को भाग्यमहिमेतिवाक्यभङ्गिकोऽपि मोहो ज्ञेयः। तादात्विक सप्रपदजानुपार्श्वाद्यभिमर्शजसात्त्विकानन्दः सहृदयभावनीय एवेति। अत एव कम्पस्वेदादिशैथिल्यदर्शनाद्गूढं प्रियश्रुत्यर्थककटाक्षोऽपि मोहपदेन व्यक्तः।

तदानीं हिताली श्रृङ्गारमूर्तिकृतश्रृङ्गारसौभाग्येन प्रसद्योपमिमीते—महांश्चासौरसमहीपतिश्चेति। रसराजेत्यनेनैव चरितार्थत्वान्महत्पदं शुद्धप्रेमैकप्रधानतया लौकिकत्वव्यावर्तकम्। तस्यालौकिकस्य महारसराजस्य। 'मही'-पदेन सार्वभौमत्वप्राप्त्यर्थकतपःसिद्ध्यर्थंसिद्धासनमिव, 'श्यामो भवति-श्रृङ्गारः' इति ख्यातेः। अत्र रसराजोऽपि सिद्धो जातः, चिकुरेषु शोभारूपेण

रसकलश

श्रीकृष्ण ने अपने चित्त से हाथ धो डाले-बिना चित्त के हो गये। 'श्याम' में अतिशय अर्थ में 'ल' प्रत्यय लगाने से 'श्यामल' शब्द बनता है–अर्थात् अत्यन्त श्याम। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने रंग की छवि को बालों में गूँथ कर धन्य हो गये और सोचने लगे—'अहो! मेरा सौभाग्य तो देखो कि सेवा में लगे हुए मुझे प्रियाजी के केशों के वर्ण ने भी अंगीकार कर लिया।' उस समय पैरों के अग्रभाग पर अपने को टिका कर घुटनों और जांघों की बगलों से प्रियाजी के श्री-अंग का संपर्क होने पर प्रियतम में जो सात्विक भाव उदित हुए, उनकी भावना सहृदय महानुभाव स्वयं कर सकते हैं। इसीलिए सखी ने कंप स्वेद आदि के प्रकट होने के कारण प्रियतम में जब एक प्रकार की शिथिलता देखी, तो उन्हें सुनाते हुए एक व्यंग्य भी फेंका जिसे कि 'मोह' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है।

उस समय श्रीहितसखी श्रृंगार रस की मूर्ति श्रीकृष्ण द्वारा किये गए श्रृंगार के सौभाग्य में प्रसन्न होकर उपमा देती हैं–महारसमहीपतेरिव विचित्रसिद्धासनम्।' महारसपति का अर्थ है रसराज श्रृंगार। 'रसराज' कहने से ही काम चल जाता, 'महा' विशेषण देने का आशय यह बताना है कि इस श्रृंगार रस में केवल शुद्ध प्रेम की ही प्रधानता है, अतः यह लौकिक श्रृंगार से सर्वथा भिन्न है। 'मही' (पृथ्वी)-पद की व्यंजना यह है कि उस अलौकिक महारसराज द्वारा, सार्वभौम सम्राट का पद जाने की कामना से किए जा रहे तप की सिद्धि के लिये, प्रियाजी का जूड़ा मानों सिद्धासन है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रृंगार का वर्ण कृष्ण माना गया है। यहां आकर रसराज भी सिद्ध हो गया, शोभा-रूप में वह बालों के साथ एकाकार हो गया। तब पुण्यात्मा जन जिसे अंगीकार कर लेते हैं, उस का मस्तक पर धारण करना उचित

साम्राज्यं प्राप्तः। ततः स्वीकृतपात्रस्य सुकृतिनां धारणार्हत्वमेवेति। नचोपरितनस्थितिः शंक्यः।

'विचित्रम्' इति मध्ये कुसुमचयाञ्चितत्वात्। यद्वाश्चर्यकरं, महामण्यादिना सगुणत्वात्। तपस्विनान्तु नैर्गुण्यासनसिद्धिर्नैयत्यं भवतीति। यद्वात्युत्कृष्टदुर्लभकवरपदप्राप्तेः सशिरोधुवनमत्याश्चर्यकम्। अत्र रसराजमुख्यवासद्योतनेन प्रियस्य तत्स्थायिरत्युद्दीपनं दर्शनप्रसाधनतोऽवश्यमेव व्यञ्जितम्। कबरे भारोक्तिः सौकुमार्यनिविष्टमनःसाक्षितया ज्ञेया। 'कबरी केशवेशे' इत्यमरोक्ते. संस्कृतप्रसाधितसुरभितग्रथितभूषतित्वादिना सुवेशमित्यर्थः।

रसकशल

ही है। अतः यह नहीं सोचना चाहिए कि शृंगार रस की स्थिति बाह्य शोभा तक ही सीमित है। सच बात तो यह है कि प्रियाजी के केशों से तादात्म्य लगा कर उनके व्यक्तित्व का एक अंग ही बन गया है।

जूड़ा-रूपी सिंहासन को विचित्र इसलिये कहा गया है कि उसके बीच-बीच में फूलों के समूह सुशोभित हो रहे थे। 'विचित्र' का दूसरा अर्थ आश्चर्यजनक भी हो सकता है; क्योंकि अमूल्य रत्नों के संयोजन के कारण जूड़ा में सगुणता आ गई, ('सगुण शब्द में श्लेष है, अतः मणि-पक्ष में, धागों में पिरोई हुई मणियां—यह अर्थ होगा।) जबकि तपस्वियों के तप करने का आसन निश्चित रूप से निर्गुण, अर्थात् राजसी ठाठ-बाट से रहित होना चाहिये। (यहां भी 'निर्गुण' शब्द से श्लेषजन्य ध्वनि यह निकलती है कि तपस्वी तो निर्गुण तत्व के उपासक होते हैं, जब कि श्रीराधा का स्वरूप सगुणात्मक है।) किन्तु प्रस्तुत में आश्चर्य की बात यही है रसराज शृंगार तपस्वी होकर भी सगुणता को ही अपनी तपश्चर्या का आधार बनाता है। अथवा लोग सिर हिला-हिला कर इस पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि शृंगार रस को प्रियाजी के केशपाश-जैसा-अत्यन्त गौरवशाली और दुर्लभ पद प्राप्त हो गया। यहां जूड़े में रसराज का प्रधान रूप से निवास सूचित कर यह व्यंजना भी की है कि कबरी के दर्शन और प्रसाधन से प्रियतम के हृदय में सार्वकालिक रति का निश्चित रूप से उद्दीपन होता रहता है। श्रीहितसखी को सदा प्रियाजी की सुकुमारता का ध्यान बना रहता है, अतः अपने मन को साक्षी करके उन्होंने केवल 'कबर' न कह कर 'कबरभार' कहा है। अमरकोष के प्रमाणनुसार केशों की एक विशिष्ट सज्जा को 'कबरी' कहते हैं। अतः 'कबर' का अर्थ है—भली भाँति साध कर सँवारे गए, धूप आदि से सुगन्धित, रत्न, पुष्प आदि के संयोग से गूंथे जाकर, सजा कर आकर्षक रूप-रेखा में प्रस्तुत किए गए केश।

एतादृशं कबरभारं श्रीराधिके ! नवकिशोरि ! अधुनाप्रियकृतवेशेनान्येव विभाव्यमाने ! तव रसराजसिद्धिदायिन्याः, 'नु' इति विकल्पे, आसमन्ताल्लोकये साक्षादिति, वा दृष्टिदोषभिया ध्यानेनैवालोकये, इति विकल्पार्थः । 'कदा' इति पश्यन्त्या अपि रुच्याधिक्यार्थकम्, बहिस्तु साधकार्थकमिति ।।२४७।।

एवं केशवेशं वर्णयित्वाधम्मिल्लशोभामाह—

ध्ये मध्ये कुसुमखचितं रत्नदाम्ना निबद्धं
मल्लीमाल्यैर्घनपरिमलैर्भूषितं लम्बमानैः ।
श्चाद्राजन्मणिवरकृतोदारमाणिक्यगुच्छं
धम्मिल्लं ते हरिकरधृतं कर्हि पश्यामि राधे ! ।।२४८।।

'धम्मिल्लः संयताः कचाः' इति लक्षणेनास्मिन् बहुग्रथनं दृश्यते । कच-

---

रसकलश

हे श्रीराधिके ! हे नवकिशोरीजू ! प्रियतम के द्वारा केशविन्यास किये जाने के बाद आप कुछ और ही तरह की दिखाई दे रही हैं । रसराज शृंगार को आप सिद्धि प्राप्त कराने वाली हैं। ऐसी आप के कबर भार को क्या कभी भली भांति (जी भरकर) देखूंगी ? 'नु' से विकल्प सूचित किया गया है कि जाने कभी देखने का सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा या नहीं । 'आलोकये' में 'आङ्' उपसर्ग का अर्थ 'चारो ओर से' है । देखना दो प्रकार का हो सकता है – एक तो साक्षात् दर्शन, दूसरा ध्यान द्वारा । इनमें से कोई भी विकल्प श्रीहितसखी चुन सकती हैं । अगर वह ध्यान में देखना चाहेंगीं, तो इसलिए कि आमने-सामने देखने से कहीं नजर न लग जाय । 'कदा' का भाव यह है कि यद्यपि श्रीहितसखी को साक्षात् दर्शन का अधिकार प्राप्त है, तथापि उनकी रुचि बढ़ती ही जाती है । साधक रूप में श्रीहितसखी निकुंज से बाहर ही देखने की अभिलाषा प्रकट करती हैं ।।२४७।।

इस प्रकार जूड़ा का वर्णन कर वेणी की शोभा को बताते हैं —

हे श्रीराधे ! बीच-बीच में फूलों से खोंसी गई, रत्न की मालाओं से भली भांति बँधे हुए, अत्यन्त सुगन्धित लटकती हुई मालती की मालाओं से सुशोभित, पीछे की ओर शोभायमान, सुन्दर मणि-रचित सुखदायी माणिक्य के गुच्छ से युक्त, श्रीलालजी के कर कमल से रचित आपकी वेणी को मैं कब देखूंगी ? २४८।।

बँधे हुए बालों को 'धमिल्ल' कहते हैं'—इस लक्षण के अनुसार इसमें बालों को खूबगूंथा जाता है । इसमें बाल बांधें जाते हैं और यह पूर्व पद्य में वर्णित कबर-भार से

संयमनजातीयः किञ्चित् पूर्वस्मात् विलक्षणः भूषणमयश्चापि ज्ञेयः शृङ्गारवित्सहृदयवेद्य एव तावत् ।

तवेति प्रसिद्धशोभनसद्गुणगणाढ्याया धम्मिल्लमहिमा किं वर्ण्यते । तत्रापि हरेर्मनोहरस्य कराभ्यां धृतं बद्धं, स्वकौशलं यावदत्र निहितमित्यर्थः । किञ्च स्वयं सुन्दरो, गुणनिपुणो बहुसारहर्ता किं किं शोभाचातुर्यं न धर्तुं शक्त इति । अतएव सकलाराध्याराधनीयनाम्नि राधे ! 'कर्हि' इति भाग्योदयेन तादृक्कौशलमयं पश्यामि, दृशं सफलयामीत्यर्थः । तदेव विशिनष्टि—

'मध्ये'-संयतकचलघुपट्टिकानामन्तः कुसुमैः खचितं, कचेष्वेव सूत्ररूपेषु प्रोतम् । पश्चाद्वामदक्षिणपट्टिका एकीकृत्य रत्नदाम्ना चमत्कृतया संग्रथ्य नितरां दृढं बद्धम् । घनो बहुलः परिमलः प्रसृमरसौरभो येषु, वा घनीभूत-सुगन्धमयैरित्यनेन बहुकालमप्यकृशत्वं तेषां पुष्टपत्रिकत्वात् । तैर्मल्ली-पुष्पैर्लम्बमानैर्लघुगुच्छरूपैरभितो वन्दनायमानैर्यथार्हशोभनैर्भूषितम् ।

रसकलश

कुछ विलक्षण होता है । इसमें भूषणों का संयोग होता है । शृंगार के मर्मज्ञ सहृदय जन इसकी विशेषता को पहिचानते हैं ।

'ते' (आपकी) का गूढ़ार्थ यह है कि आप प्रसिद्ध एवं सुन्दर गुणों की धनी हैं । आपकी वेणी की महिमा का क्या वर्णन किया जाय ? उसमें चित्त को चुराने वाले श्रीहरि ने स्वयं जब अपने हाथों इसे बांधा हो अपनी समस्त कला का उसमें समावेश किया हो, तब तो कहने को रह ही क्या जाता है ? दूसरे, श्रीकृष्ण स्वयं सुन्दर हैं, गुणों से निपुण हैं और ('हरि' शब्द के हरणार्थ के अनुसार) समस्त सार को खींचने वाले हैं । तब वे अपनी चातुरी से शोभा-संबंधी क्या-क्या विधान नहीं कर सकते ? अत एव सब के आराध्य श्रीकृष्ण जिसका नाम जपते हैं, ऐसी हे श्रीराधे ! मेरा ऐसा भाग्योदय कब होगा कि मैं उस प्रकार की निपुणता के प्रतीक आपके धम्मिल्ल को देखूंगी और अपनी दृष्टि को सफल बनाऊँगी—यह अर्थ है । अब धम्मिल्ल की विशेषता बताते हैं—

'मध्ये' का अर्थ करते हैं—बाँधे गये केशों की छोटी-छोटी पट्टियों के बीच-बीच में वहां फूल जड़े थे—अर्थात् धागा-जैसे-बालों में वे पिरोये हुए थे (फूल खौंसे जाते हैं, जड़े नहीं जाते, किन्तु फूलों की शोभा रत्न जैसी होने के कारण 'खचितम्' कहा है । बाद में बाई-दाईं पट्टियों को इकट्ठा कर, उन्हें चमत्कार पूर्ण ढंग से गूंथ कर कस कर बाँध दिया गया था । दूर-दूर तक महकने वाले, अथवा घनीभूत सुवास से परिपूर्ण, लटकते हुए मल्लिका के फूलों से वह वेणी विभूषित थी । परमिल—पराग या गन्ध के सघन होने से ये फूल बहुत देर तक टिके रह सकते हैं—इसलिये भी कि पत्ते मोटे होते हैं । दोनों और बन्दन बना कर छोटे-छोटे गुच्छों में लटकते हुए और उपयुक्त शोभा प्रदान करने वाले ऐसे मालती के फूलों से वेणी सुशोभित थी ।

एवमुपरिभागमुक्त्वाधोभागशोभामाह—'पश्चात्' इति श्रीमत्याः पृष्ठभागे राजद्भिर्मणिवरैर्वा मणिवरेषु कृत उदारो महान् दृक्शोभानन्द-वदान्यश्च माणिक्यानामारक्तमणीनां गुच्छो यस्मिन्निति। मणिवराणान्तु वेणीसमवतरितग्रथितत्रिमालारूपाणां स्थितिः। तदेकीभूताधोभागे लम्ब-मानो माणिक्यगुच्छो ज्ञेयः। 'कृत' इत्यनेन मणिवरैरपि गुच्छे शोभादानात्, वा तेषु तेनेति। स च मण्डलाकृतिर्वर्तुललम्बितसर्वाग्रभागकनकसूत्रस्यूतरक्त-भास्वरमणिसंघमयो यथाशोभनः श्रोणीमण्डलक्रीडितध्वनितो ज्ञेयः।

एवं स्वकौशलेन दत्ताधिकारपरेण हरिणा श्रीमत्यां धृतं समर्पितमिति। यद्वा प्रकरणार्थेन दण्डशुद्ध्यर्थं कररूपतयार्पितमिति।

कुत्रचिदेवमप्यनुभूयते—सीमन्तत्ताद्वामदक्षिणयोरेकतोर्ध्वचन्द्राकृतिहीरक-मुक्तादिमयभूषणं, एकतः शिरःपुष्पाख्यम्। तदध उभयतोऽग्रलम्बन्मणि-मुक्तामयगुच्छौ भूषणविशेषौ। सीमन्ते च चूडामणिपर्यन्तं मणिमुक्तादाम।

रसकलश

धम्मिल्ल के ऊपरी भाग का वर्णन कर अब निचले भाग की शोभा बताते हैं— पीठ पीछे शोभा देती हुए अमूल्य मणियों से-या मणियों में—खुले हाथों दृष्टि को अपनी शोभा का आनन्द प्रदान करने वाला लाल रत्नों का गुच्छा था। श्रेष्ठ मणियाँ तो वेणी की लटों के साथ नीचे उतरती हुई तीन मालाओं के रूप में गुंथी थीं। सिरे पर आकर जहां ये इकट्ठी होती थीं, वहाँ माणिक्य का फुंदना लटक रहा था। 'कृतोदारमाणिक्यगुच्छम्' में 'कृत' का मतलब यह है कि मणिवरों ने फुंदना को शोभा प्रदान की थी। अथवा फुंदना के कारण मणियां सुशोभित हो रही थीं। यह गुच्छा गोलाकार होता है और इसके पूरे सिरे पर जरी के धागों से पिरोई गई लाल, चमकीली मणियाँ (रत्न) होती हैं जो इस ढंग से सँजोई जाती हैं कि देखने में सुन्दर लगें। जब यह गुच्छा नितंब-मंडल पर अठखेलियाँ करता है, तो इससे मनोहर ध्वनि निकलती है—यह ज्ञातव्य है।

इस प्रकार केश-प्रसाधन का जो अधिकार श्रीहरि को दिया गया था, उसका यथावत् पालन करते हुए उन्होंने जूड़ा बनाकर प्रियाजी को सर्मपित किया। पूर्व पद्य के सन्दर्भ में 'कर धृतम्' का अर्थ होगा– प्रियतम ने कर (जुर्माना) के रूप में धम्मिल्ल की रचना की थी ताकि दंड अदा कर वे अपनी शुद्धि कर सकें।

कहीं-कहीं जूड़े की रूप-रेखा ऐसी भी देखी जाती है कि मांग से बाएँ-दाएँ एक ओर तो हीरा-मोती से जटित अर्धचन्द्राकार भूषण होता है और दूसरी ओर दूसरा आभूषण जिसे सिर-फूल कहते हैं। उनके नीचे दोनों ओर आगे लटकते हुए मणि-मोती

उभयतो मध्यपदिकयोश्चतुष्पथाख्यं मल्लीजालं श्यामपट्टसूत्रस्यूतम् । सीमन्तमूले मणिचन्द्रिका, तल्लग्नाधोलम्बल्ललन्तिकाभूषणं ललाटस्थम् । मुक्तामणिमयी वन्दनाख्या कर्णपर्यन्ता । पृष्ठे च रत्नजटितावेणी लम्बद्-गुच्छमुखेत्याद्यपि ध्येयम् । अन्यच्च धृते-त्यनेन धम्मिल्लो भूषणविशेषः शेखरवद्ध्येयः । सचोक्तभिन्ननिर्मितः, कवर्यां समानः, कोश इव धार्यो भवति । तेन तथा निर्माय धृत, इत्यपि ध्येयम् । अथवा श्लोकद्वयोक्त-भिन्नसामयिकञ्च ज्ञेयम् ।।२४८।।

अथ कनकपट्टविशेषं सीमन्तभूषणमाह—

विचित्राभिर्भङ्गीविततिभिरहो चेतसि परं
चमत्कारं यच्छल्ललितमणिमुक्तादिलसितम् ।
रसावेशाद्द्वैतं स्मरमधुरवृत्ताखिलमहो-
ऽद्भुतं ते सीमन्ते नवकनकपट्टं विजयते ।।२४९।।

रसकलश

से बने दो गुच्छे—एक विशेष प्रकार का आभूषण—होते हैं; माँग में चूड़ामणि पर्यन्त मोतियों की माला, दोनों पट्टियों के केन्द्र में, काले रंग के सोफियाने गन्ते टँका हुआ मालती की मालाओं का जाल; जहाँ माँग शुरू होती है, उस स्थान पर रत्न-जटित चन्द्रिका, उससे संपृक्त और नीचे की तरफ लटकता हुआ लटकन जो माथे पर टिका रहता है, कानों तक पहुंचने वाली रत्ननिर्मित वन्दना और पीठ पर रत्नजटित वेणी का लटकता हुआ गुच्छा । इस प्रकार के केशपाश को भी ध्यान में रखना चाहिए ।

करधृत में 'धृत' का अर्थ धारण करने वाला लगाया जाय, तो यह समझना चाहिये कि 'धम्मिल्ल' नामक एक विशेष प्रकार का आभूषण होता है जिसकी शक्ल मुकुट सरीखी होती है । उसकी बनावट बिल्कुल दूसरे प्रकार की होती है और उसे केश-पास पर कमल के संपुट की भाँति पहिना जाता है । तो श्री कृष्ण ने ऐसा आभूषण बनाकर प्रियाजी को धारण कराया—यह अर्थ भी ध्यान में रखना चाहिए । अथवा दोनों पद्यों की उक्तियों को भिन्न-भिन्न समय की मानना चाहिए । २४८।।

अब माँग के भूषण कनक-पट्ट का वर्णन करते हैं—

'अहो ! रंग-बिरंगी विचित्र लहरियों के विस्तार से चित्त को परम आनन्द प्रदान करता हुआ, सुन्दर मणि-मुक्ता आदि से मनोहर, शृंगार रस का आवेश होने से गौर-श्याम दो रंगों से युक्त, (दंपति के) शृंगार रस-सम्बन्धी चरित्रों से पूर्ण विचित्र नूतन कनक-पट्ट आपकी माँग में सुशोभित हो रहा है ।।२४९।।

ते सीमन्ते अद्भुतं नवकनपट्टं विजयते । आभूषणविशेषोऽयं सीमन्ते शिखापर्यन्तं चन्द्रिकामारभ्य ध्रियते । कुत्र देशे प्रसिद्धः, क्व च नामान्तरेण प्रसिद्धः ।

'विचित्राभिः' नानावर्णद्रवन्मणिजातीयचमत्कृतरङ्गमयैर्भङ्गीवितति-भि-:' लहरीवल्लीपत्रादिचित्रतदाकृतिसौष्ठवरीतिविस्तारैश्चेतसि सहृदय-सखीनां ज्ञानाकर्षणपूर्वकमिति, न तु केवलवैचित्र्यचाकचिक्यादृष्टावेव । स्वत एव भिन्नदर्शने चमत्कारदानशीलत्वेऽपि त्वत्सीमन्तस्थत्वेनाश्रयसामर्थ्यात् परं चमत्कारं ददिति । तत्रापि 'अहो' इति पदसान्निध्यात् परममहत्वम्, यदाश्चर्याविष्टं मनः सुचिरं नान्यस्मरणशक्तं स्यादिति तात्पर्यम् । अहोपदमेकं विशेष्यपरमपरं विशेषणपरमिति भेदः, यद्वा त्वत्साभिप्रेतनानाविधाङ्गमोटनभावलीलादिरीतिविस्तारैः करणैः प्रस्तुत-भूषायां महाचमत्कृतिदत्वम् । किञ्च 'सुन्दरे किन्न सुन्दरम्' इत्येवन्यायः । तदा यथोचितवस्तुना कैमुत्यमेवेति ।

रसकलश

आपकी माँग के आश्चर्यजनक नूतन कनक-पट्ट की जय हो । यह एक विशेष प्रकार का आभूषण जो माँग पर चन्द्रिका से लेकर चोटी (के मूल) तक पहिना जाता है । कहीं यह कनक-पट्ट के नाम से प्रसिद्ध है, कहीं किसी दूसरे नाम से ।

''विचित्राभिः' का अर्थ कहते हैं—मणियों में से साधारणतया जैसे चमत्कारकारी विविध प्रकार के रंग भरते हैं, वैसी ही रंगीन झिलमिलियों के विस्तारों से चमत्कार पैदा करने वाला । कनक पट्ट में लहर, बेल-बूँटे, पत्तों आदि की आकृति के सुन्दर चित्र बने रहते हैं । इन्हीं के विस्तार से सहृदय सखियों की ज्ञान-शक्ति को यह अपनी ओर खींचता है; यह नहीं कि विचित्रता की चकाचौंध से केवल दृष्टि को ही खींचता हो, कनक-पट्ट को माँग से अलहदा करके यदि देखा जाय, तो भी वह चकित कर देगा, किन्तु आपकी माँग का आश्रय पाकर तो वह परम चमत्कार पैदा करता है । उसमें भी 'अहो' शब्द के पास होने के कारण तो यह अर्थ निकलता है कि उसका महत्व अकथनीय है—इतना कि देखने वाले का मन आश्चर्य के आवेश में और सब कुछ भूल ही जाता है—यह तात्पर्य है । पद्य में 'अहो' पद का दो बार प्रयोग किया गया है, अतः एक 'अहो' को विशेष्य मानना होगा, दूसरे को विशेषण—यह भेद है । अथवा प्रियाजी किसी विशेष अभिप्राय से अपने अंगों को जो अनेक प्रकार से मोड़ती है, उनके द्वारा विविध भाव व्यक्त करती हैं, अथवा लीलाओं का सृजन करती हैं, उनके विस्तार से प्रस्तुत कनक-पट्ट के भूषण में अपूर्व चमत्कार आ जाता है । दूसरे, कहावत है—'सुन्दर में कौन-सी चीज सुन्दर नहीं हो उठती !' फिर यदि पहिनने वाला सुन्दर हो और चीज जैसी होनी चाहिए वैसी हो, तो कहना ही क्या है ?

तत्स्वरूपमाह—ललितैर्मनोहरैरपि लल्विलासार्थत्वेन क्रीडोत्प्रेक्षागर्भितैर्लीलायमानैरित्यर्थः । किञ्चाभितः कनकपट्टं लोलद्रीत्या जटितैर्मणिमुक्ताफलैः । 'आदि' शब्देन खनिजजलजत्वाद्भिन्नैरपि रत्नभेदैर्लसितं, शोभितम् ।

पुनश्चोद्दीपकत्वमाह—रसस्येति 'महारसमहीपतेरिव' इत्युक्तेः श्यामवर्णख्यातेः शृङ्गारस्य कवरवर्णसंक्रान्तत्वेन पट्टे आवेशात् द्वैतम्, गौरश्यामत्वेन दम्पतिभावोद्दीपकत्वाद्द्विप्रकारकम् । तत एव 'स्मरे'-ति स्मरणमात्रमोहकधर्मस्य लावण्यदर्पितकन्दर्पस्यापिमधुरैः प्रियैर्वा मादकैर्वृत्ते रचनैर्भङ्गीविस्तारैर्वा नीलगौरमणिखचनोद्दीप्तसंयोगाचरणैरखिलं पूर्णतमं संभृतम्, ईषत्खिलत्वस्याप्यभावेन, नापि तरप्रत्ययापेक्षकम् । किञ्च

रसकलश

अब कनक-पट्ट के स्वरूप का वर्णन करते हैं—'ललितमणिमुक्तादिलसितम् ।' 'ललित' शब्द निष्पन्न होता है लल् धातु से जिसका अर्थ है विलास करना । मणि, मुक्ता आदि स्वयं मनोहर होते हैं, किन्तु यहां 'ललित' कहने का तात्पर्य यह है कि उनसे क्रीड़ा की सम्भावना की जाती है—अर्थात हिलते-डुलते हुए । दूसरी बात यह है कि कनक-पट्ट के दोनों ओर इस रीति से मणियाँ और मोती जड़े गए थे कि हिलते रहें । 'आदि' कहने का आशय यह है कि खान से निकलने वाले या जल में पैदा होने वाले रत्नों से ये मणियाँ और मोती भिन्न जाति के थे । तो ऐसे रत्नों से सुशोभित था वह कनक-पट्ट ।

इसके अनन्तर कनक-पट्ट की उद्दीपकता बताते हैं—'रसाद्वैतम् ।' इससे पूर्व के पद्य में धम्मिल्ल को रसराज शृंगार का सिंहासन बताया जा चुका है । शृंगार का रंग श्याम प्रसिद्ध है । वह उतरा केशपाश में और वहाँ से उसका आवेश हुआ कनक-पट्ट में जिससे वह द्वैत हो गया—अर्थात् दंपती के भावों को उद्दीप्त करने वाले गौर और श्याम दोनों रंग वहाँ आकर उपस्थित हो गए । 'द्वैतम्' का यही तात्पर्य है । इसीलिए स्मरण मात्र से मोह पैदा करने वाले, सौंदर्य के गरवीले कामदेव के मधुर, अर्थात प्रिय या उन्मत कर देने वाले वृत्तों अर्थात् रचनाओं से विस्तृत चेष्टाओं से भरपूर (कनक-पट्ट) 'वृत्त' का आचरण भी होता है । तब अर्थ होगा—नीली और गौर-वर्ण की मणियों के जड़ने से प्रिया-प्रियतम के संयोग पर्यवसायी जिन आचरणों को उत्तेजना मिली थी, उनसे कनक-पट्ट पूर्ण था । 'अखिलम्' का भाव है कि जरा-सी भी कहीं कोई कमी न थी और न अतिशयार्थक तरप् के लिये ही कोई अवकाश था । दूसरी बात यह कि दोनों रंगों के प्रतिबिंबों से, मणियों के जड़ाव से और मणि मोतियों की एकत्र स्थिति से

वर्णद्वयप्रतिबिम्बत् खचनान्मणिमुक्तासंघट्टनाच्च चुम्बितालिङ्गनादिस्मर-वृत्तभावात् पूर्णमिति'।

अथवा एकं पदम्। स्मरस्यापि प्रियाचरणकर्तृभिरखिलैर्महोभिस्तेजोभिर्नानानिजवर्णप्रभाभिरद्भुतमिति। अथवोक्तवृत्तानां लावण्यादीनां समस्त-

रसकलश

दम्पति-विषयक चुम्बन आलिंगन आदि काम-क्रियाओं का बोध होता था, अतः उसे पूर्ण कहा गया।

'स्मर' से लेकर 'अद्भुतम्' तक को एक समासान्त पद मान कर भी अर्थ किया जा सकता है। यह अर्थ इस प्रकार होगा—प्रियाजी के काम सम्बन्धी आचरणों के तेज

१. इस पद्य के प्रथम चरण में प्रयुक्त 'भङ्गी' शब्द के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि यह शब्द प्रसंगानुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। भ्रूभङ्गी, दृग्भङ्गी, कटाक्षभङ्गी आदि उदाहरणों में 'भङ्गी' का अर्थ केवल चेष्टा ही नहीं, बल्कि उससे कुछ अधिक है। यूँ तो चलना फिरना, उठाना-रखना आदि भी चेष्टायें हैं, किन्तु उनमें उतनी अर्थवाहकता नहीं है जैसी कि 'दृग्भङ्गीभिः प्रथम मथुरासङ्गमे चुम्बितोऽस्मि' (गीतगोविन्द)—इस उक्ति में है। इन उदाहरणों में भङ्गी का अर्थ चितवन, कटाक्ष आदि में निहित एक काल्पनिक तरंग से है जो सलवट खाती हुई आगे बढ़ती है। बादल, पुलिन आदि अचेतन पदार्थों के स्वरूप के कोमल-पक्ष को अभिव्यक्त करने के लिए कवियों ने इस प्रकार के प्रयोग किये हैं। जैसे 'भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः' (मेघदूत)। 'तरंग-भङ्गी' में भी अभिप्राय बल खाती हुई लहरों से ही है। इन सब उदाहरणों में अंगी की चेतनता का आरोप अंग में किया गया है, अतः इन भंगियों को भी सचेतन ही कहना चाहिये।

किन्तु 'बहुमानभङ्गि' (राधा-सुधा-१६१), 'रतिकलाभङ्गी' (१८१), चित्रभङ्गी (१८६) आदि उदाहरणों में 'भङ्गी' के कुछ अन्य अर्थ भी हैं। जैसे—प्रकार, विद्या, परिपाटी, कौशल आदि।

अब बात आती है कनक-पट्ट के सम्बन्ध में जो कि सुवर्ण की बनी एक सीधी सपाट चीज है। इसमें भंगियों के लिए कोई आधार खोजना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु रसकुल्याकार ने यह कर दिखाया है। उनका कहना है कि कनकपट्ट में अनेक रंगों के रत्न जड़े हुए थे। उनसे फूटने वाली किरणों में एक लहर उठती थी जिसकी कि एक शृंखला बन जाती थी। 'भङ्गी-विततिभिः' से तात्पर्य इन्हीं लहरों का है। पद्य के तीसरे चरण में तो कनक-पट्ट में रस के आवेश की भी कल्पना कर ली गई है जैसा कि सखियों या स्वयं दम्पती में होता है। इसकी प्रक्रिया बताते हुए टीकाकार कहते हैं कि शृंगार रस सजातीय वर्ण के आश्रय कवर में संक्रान्त हुआ और संपर्कवश कनकपट्ट पर आ उतरा। बस, अचेतन पट्ट को भी, प्रियाजी की कृपा से उस रस का प्रत्यक्ष हो गया जो ऋषि-मुनियों और देवों को भी दुर्लभ है। तथ्य तो यह है कि प्रियाजी के मोहक केशपाश और उनकी स्वयं की ललित शृंगार-चेष्टाओं का कारण कनक-पट्ट भी सामूहिक-सौन्दर्य-विन्यास में एक महत्वपूर्ण भागीदार बन गया। यहां तक कि उसकी शोभा को ही देख कर प्रिया-प्रियतम के आचरण (वृत्त) संयोगोन्मुख हो गए।

मह एवेदं एकीकृत्यात्र भूषणत्वेन निहितमिति। किञ्च तत्रत्यानां सखीजनानां सर्ववर्णदर्शने दम्पतिभावैकस्फुरणाद्वर्णमिलने च तद्विहार एव चेतस्याविष्टो भवति। तत्रापि प्रियकर धृतभूषणे तादृशरसावेशादि सहृदयैकवेद्यत्वार्हो भूषणादौ कथं विधेयः स्यादतः सखीहृदयसाक्षिक एवेति। अन्यच्चापि निर्मलसत्वेषु मुक्तेष्वपि केनचिद्भाग्येनाश्रयवशतो यदा रसावेशो जातस्तदा मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा हरिं भजन्ते, इतिवद् द्वैतमिव भाषितम्। अन्यथा निर्मला अपि भिन्ना स्वकान्तिस्थितारूक्षा एव, रसाभावादिति हि।

अथवा 'अद्वैत'-पाठश्चेत् प्रियस्य रसावेशे अद्वैतं, अद्वयं, नान्यदस्य सममित्यर्थः, रसमूर्तिसीमन्ताश्रितत्वात्, यद्दर्शनादेव प्रियस्य रसावेशः स्यादिति। अथवा केशश्यामवर्णबाहुल्ये नैर्मल्येन मिलितं, अत अद्वैतं निर्मल-

---

रसकलश

से, अर्थात् अपने अनेक रंगों की कान्तियों से अद्भुत था कनक-पट्ट। अथवा लावण्य आदि के जो चरित्र बताये जा चुके हैं, उन सबके तेज को इकट्ठा कर यहाँ भूषण के रूप में प्रस्तुत कर दिया गया था। दूसरी बात यह कि उस समय जो सखियाँ वहाँ उपस्थित थीं, उनके मन में, सब रंगों को देखने से प्रिया-प्रियतम के केवल दम्पतित्व-सम्बन्धी भाव जागृत होते थे, किन्तु कनक-पट्ट के ये रंग जब एक-दूसरे से मिलकर उठते थे तो उनके विहार का ही चित्र मन में उतरता था। प्रियतम के द्वारा धारण कराये गए आभूषण में रस का वह आवेश कैसे सम्भव है जिसका कि अनुभव केवल सहृदयों को ही होता है, तो इसका साक्षी तो सखियों का हृदय है। एक बात और भी है। जो व्यक्ति निर्धूतकलमष होकर मोक्ष-लाभ कर चुके हैं, उनके भाग्य यदि कहीं जाग उठें और कोई अनुकूल आश्रय मिल जाय, तो उनमें भी रस का संचार हो जाता है, और तव वे मुक्त आत्मायें भी लीलामय शरीर धारण कर श्रीहरि के भजन में विरत हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत में भी नीलम और गौर मुक्ताओं के वर्णों के संयोग के कारण द्वैतता प्रतिभासित हो रही थी। (टीकाकार की उक्त अध्यात्म-परक व्याख्या 'मुक्त' शब्द में निहित श्लेष पर आधारित समझनी चाहिए।) 'नहीं' तो निर्मल (रत्न और व्यक्ति) भी (रस के सम्पर्क से पृथक् रहकर) स्वयं कान्ति-सम्पन्न होते हुए भी सुखे और शुष्क ही रहते हैं, क्योंकि उनका रस से सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता।

यदि 'रसावेशाद्वैतम् (रसावेश+अद्वैतम्) पाठ माना जाय, तो अर्थ होगा कि कनक-पट्ट प्रियतम-सम्बन्धी रस के आवेश में अद्वैत हो गया। अद्वैत—अर्थात् दो से रहित—जिसके समान अन्य कोई न हो। रसमूर्ति सीमन्त पर आश्रित होने पर कनक-पट्ट की बराबरी कौन कर सकता है? सीमन्त को देखने भर से जब प्रियतम

मुक्तैः सह रसे साम्राज्यप्राप्तम् । यथा—'मधुनि लिल्युरशेषरसाः' इतिवत् सरसाद्वैतं, विगलितवेद्यान्तरावस्थापन्नंप्रसिद्धम्, अन्यन्नीरसाद्वैतमिति श्लेष-कौतुकम् ।

अतः स्मरस्य प्रेम्णो मधुरस्य शृङ्गार रसस्य च वृत्तैर्दम्पतिलीला-चरित्रैः पूर्णं, सखीवत्तत्तद्भावगुणोद्दीपनाविष्टम् । अथवा एतत् सौभाग्य-भूषणं समस्तशृङ्गारलीलाहेतुकम्, अतो वृत्तानां सर्वस्वं जीवातुकमित्यखि-लार्थश्च ।

रसकलश

भी विह्वल हो जाते हैं, तो कनक-पट्ट की क्या चलाई ? 'अद्वैतम्' की दूसरी व्याख्या यह भी सम्भव है कि कनकपट्ट अपनी निर्मलता के कारण केशपाश के श्याम रंग में मिल कर अद्वैत—एकाकार हो गया। केशों के साथ उसकी रसपूर्ण तदाकारता हो गई। यह कहने की आवश्यकता नहीं की इस प्रकार की अद्वैत-अवस्था में रसाविष्ट व्यक्ति का मन बाह्य विषयों की प्रत्यभिज्ञा से हट कर अभीष्ट विषय पर ही केन्द्रित हो जाता है। रससंपर्कशून्य अद्वैतता की अवस्था तो एकदम शुष्क होती है। तात्पर्य यह है कि कनक-पट्ट को केशपाश के साथ एकाकारिता प्राप्त हो गई। कौतुकवश 'रसाद्वैतम्' में द्वैत और अद्वैत का श्लेष निकालने से ही उक्त दो प्रकार के अर्थ होते हैं।[1]

अतः 'स्मर' अर्थात् प्रेम के और मधुर शृंगार रस के दम्पति लीलामय चरित्रों से कनकपट्ट पूर्ण है। तात्पर्य यह है कि सखियों की तरह वह भी प्रिया-प्रियतम में विविध भाव और गुणों को उद्दीपित करता है। अथवा कनक पट्ट (उद्दीपन होने के कारण माँग के सौभाग्य का भूषण है और समस्त इस रूप में वह प्रियाजी के लीलामय लीलाओं का कारण है। चरित्रों का सर्वस्व है, जीवनाधार है। यह हैं 'अखिल' शब्द का तात्पर्य।

---

[1] 'रसाद्वैतम्' में श्लेष की संभावना तनिक विचारणीय है। द्वैत पक्ष में सन्धि-विच्छेद का रूप होगा—रसात्+द्वैतम् और दकार को द्वित्व करना होगा—अर्थात् 'रसाद्द्वैतम्' यह पाठ मानना पड़ेगा। अद्वैत-पक्ष में रस+अद्वैतम्—यह सन्धि विच्छेद होगा और दकार द्वित्व नहीं होगा। इन दोनों में से एक ही पाठ को यदि अंगीकार करना है, तो श्लेष की संभावना कहां है ?

अन्य प्रतियों में 'रसाद्वित्तः' पाठ मिलता है। श्री कृपालाल गोस्वामी ने भी यही पाठ माना है, परन्तु इस अंश का अर्थ स्पष्ट नहीं किया। एक आधुनिक विद्वान ने 'वित्तः' को विद्लृ लाभे से निष्पन्न मान कर अन्वय किया है—रसावेशात् स्मरमधुरवृत्ताखिलमहो वित्तः। अर्थात् रस के आवेश से काम-सम्बन्धी मधुर चरित्रों के सम्पूर्ण तेज को प्राप्त। इस व्याख्या में 'महः' का अर्थ तेज है और उसे 'वित्तः' का कर्म माना गया है।

नवत्वोक्तिः शोभाहेतुकायातयामत्वसख्यास्वाददानहेतुकवैलक्षण्यान्यवद्-विभाव्यमानत्वबोधिनी । एवमुक्तमपि कनकपट्टव्याख्यानं सहृदयरसवित्शो-धनीयमिति मत्प्रार्थना ।।२४६।।

एवं कनकपट्टशोभां निर्वर्ण्य रसावेशविह्वलीभवत्प्रियदशां कटाक्षेण निर्दिशन्ती प्रियामुल्लासयन्ती सीमन्तस्थतद्रचितसिन्दूररेखां वर्णयति—

अहो द्वैधीकर्तुं कृतिभिरनुरागामृतरस-
प्रवाहैः सुस्निग्धे कुटिलरुचिरे श्याम उचितः ।
इतीयं सीमन्ते नवरुचिरसिन्दूररचिता
सुरेखा नः प्रख्यापयितुमिह राधे विजयते।।२५०।।

अत्र 'शिखा नः प्रत्याख्यापयितुम्' इत्यपि क्वचित् पाठः । सोऽपि तदर्थक एव । शिखा यथा दीपशिखेतिवद्रेखार्थ एव । 'नः प्रति' इति

रसकलश

कनक-पट्ट को नव (नूतन) कहने से यह बोध होता है कि वह शोभा का कारण है, कि वह अभी-अभी धारण कराया गया है, कि सखियों को रसास्वादन कराने की उसमें विचित्र क्षमता है और (पूर्वोक्त विशेषताओं के कारण) वह कुछ और ही तरह का प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार कनक-पट्ट की व्याख्या की गई है। प्रार्थना है कि रसज्ञजन इसमें आवश्यक संशोधन करने की कृपा करेंगे। ।।२४६।।

इस प्रकार कनक-पट्ट की शोभा का वर्णन करने के उपरान्त रस के आवेश से विह्वल प्रियतम की अवस्था की ओर कटाक्ष से संकेत करती हुई और प्रियाजी को आनन्दित करती हुई श्री हितसखी माँग की सिन्दूर-रेखा का वर्णन करती हैं—

हे श्री राधे ! आश्चर्य है, अत्यन्त स्निग्ध और कुटिल होते हुए भी माँग के सम्बन्ध में चतुर पुरुषों को यह चाहिए कि अनुराग रूपी अमृत रस के प्रवाहों से श्याम (श्याम वर्ण के केशपाश तथा श्यामसुन्दर) को दो भागों में विभक्त कर दें। प्रस्तुत प्रसंग में इसी बात को हमें जानने के लिये नूतन, मनोहर सिन्दूर से बनाई गई यह सुन्दर रेखा सुशोभित हो रही है ।।२५०।।

इस पद्य में कहीं-कहीं 'सुरेखा नः प्रख्यापयितुम्' के स्थान पर 'शिखा नः प्रत्या-ख्यापयितुम्' पाठ मिलता है, किन्तु दोनों का अर्थ एक ही है। दीप-शिखा की तरह इस पाठ में भी शिखा का अर्थ रेखा ही है। 'नः' (हमें) पट्ट के अनन्तर 'प्रति' को भिन्न पद मानना होगा (न कि उसे प्राख्यापायितु" के पूर्व लगा हुआ उपसर्ग और 'नः' को

भिन्नं पदमिति ज्ञेयम् । 'राधे !' इति सम्बोधनेन प्रस्तुतवशात्तवेत्यनुक्तमपि ज्ञेयम् । सुस्निग्धे कुटिल रुचिरे सीमन्ते इयं नवरुचिरसिन्दूररचिता सुरेखा नः इति प्रख्यापयितुं इह विजयते । 'इती'ति किम् ? कृतिभिरनुरागामृतरसप्रवाहैः श्यामो द्वैधीकर्तुमुचित, इति संबन्धः । 'सुस्निग्धः कुटिलरुचिरः' इति प्रथमान्तपाठश्चेत् सुगम एव श्यामविशेषण द्वयम् । स्वतः स्निग्धत्वेऽपि सुमनः सुरभिस्नेहादिना सुतरामिति केशपाशस्थत्वादभेदेन सीमन्तमुद्दिश्योक्तिः । कुटिलत्वं चिकुरे स्वतो गुण एव । असंयतसामयिकोक्तिरियम् । रुचिरत्वं स्फुटमेव ।

सीमन्ते केशभारमध्यभागनिदर्शकरेखारूपे । 'नव' अयातयामो विलक्षणश्च, द्रव्यगुणजात्याद्युत्कृष्टत्वात् । मनोहरत्वाद्रुचिरो, वा दृष्टमात्रेण

रसकलश

'प्रति' के योग में द्वितीया समझनी होगी) । 'राधे !' सम्बोधन देने के कारण तथा, प्रसंग को दृष्टि में रखते हुए, 'इतीयम्' बाद 'तव' (आपकी) का अभिधान न होने पर भी उसका अध्याहार कर लेना चाहिए । अब अर्थ हुआ—चिकने, टेढ़े (लहरियादार) और सुन्दर सीमान्त में यह नई, सुन्दर सिन्दूर से बनी मनोहर रेखा हम सखियों को यह बताने के लिए सुशोभित है । क्या बताने के लिए ? यह कि सज्जन पुरुषों को चाहिए कि अनुरागरूपी अमृत-रस के प्रवाहों से श्याम को दो भागों में विभक्त कर दें—यह अन्वय है । 'सुस्निग्धे' और 'कुटिलरुचिरे' पदों को सप्तम्यन्त के बजाय प्रथमान्त बता कर 'सुस्निग्धः' और 'कुटिलरुचिरः' यह पाठ होता तो अर्थ करने में सुगमता होती ।* इस प्रकार 'श्याम' के दो विशेषण हो जाते । स्वभाव से चिकनी होने पर भी फूलों को सुगन्ध तथा तैल आदि के योग से माँग और भी चिकनी हो गई, इसी आशय को व्यक्त करने के लिए 'स्निग्ध' के पूर्व 'सु' लगाया है । 'सुस्निग्धे' सीमन्त का विशेषण है, पर माँग केशों के बीच में रहती है और उनसे भिन्न नहीं होती; अतः सुस्निग्ध आदि द्वारा केशों की ही विशेषता बताई गई है । टेढ़ा-मेढ़ा होना भी केशों का स्वाभाविक गुण है। ये केश बँधे हुए नहीं हैं । इसीलिये उनकी (कुटिलता दिखाई दे रही है) रही सुन्दरता, सो उसके सम्बन्ध में कहने की आवश्यकता नहीं ।

तो केश समूह के मध्य भाग को इंगित करने वाली माँग में हाल में ही भरा गया और गुण, किस्म आदि की दृष्टि से उत्कृष्ट होने के कारण विलक्षण, मनोहर होने से रुचिर, अथवा देख लेने भर से दृष्टि और मन को आकर्षित करने वाला, चमकदार सिन्दूर है । इस सिन्दूर से एक रेखा बनाई गई है । 'रचित' का मतलब यह है कि रेखा

*अन्य प्रतियों में 'सुस्निग्धै कुटिलरुचिरश्याम उचितः' यह पाठ मिलता है ।

दृङ्मनोरञ्जनात् कान्तिदः सिन्दूरस्तेन रचिता, रचनकर्तृकसौष्ठवमपीदानीं दर्शनीयमेवेति श्लाघानुभावव्यञ्जिका सुरेखोक्तिः प्रियाहृत्कुड्मलोल्लासिका, प्रियं प्रति प्रसादकारिका चेति ।

'नः' अस्मान्न्याययाथार्थ्यविदः इति वक्ष्यमाणरीतिकौचित्यं प्रकर्षेण स्फुटमसङ्कोचेन ख्यापयितुं, अस्मन्मुखतः सहृदयसमाजे विख्यापयितुं, इहास्मिन् क्षणे, दर्शनसमकालिकोक्तिः 'इयम्', वा 'इव' इति पाठः सुगम एव । 'विजयते', आसज्यवाम्योत्कर्षेण जयत्येव । धन्योऽयमासक्तो येनैतावद्दुर्लीलत्वं सोढमित्यतः साधूक्त्यनुभावव्यञ्जकं । 'वि' इति पदं, उभयोरपि यशोदानात् ।

'इति'—पदोक्तसंक्षेपं विवृणोति—'अहो' इत्यभिमुखीकरणोक्तिर्वाम्यन्तरङ्गसंकल्पान्तरपतितमनः कौतुकोक्त्यावेशहेतुका । 'कृतिभिः' पूर्वत एवा-

रसकलश

को इस खूबी के साथ निकाला गया था कि इस समय देखते ही बनती थी और बरबस उसकी प्रशंसा करनी पड़ती थी—यह आशय है 'सुरेखा' कहने का। सिन्दूर रेखा की इस प्रकार की गई प्रसंशा को सुन कर प्रिया जी की हृदय-कली खिल उठती थी। जिससे प्रसन्न होकर वे प्रियतम पर कृपा करने को उद्यत हो जाती थीं।

'नः' का अर्थ है हम सखियों पर—जोकि न्याय और यथार्थता को भली भाँति जानती हैं—आगे कही जाने वाली रीति से औचित्य को भली भाँति, स्पष्ट रूप से प्रकट करने के लिए—अर्थात् सहृदय लोगों के बीच इस बात का प्रचार करने के लिए विजय को प्राप्त कर रही है। 'इह' का अर्थ है—इसी समय, देखने के साथ ही साथ। 'इह' के स्थान पर यदि 'इयम्' पाठ हो तो अर्थ स्पष्ट ही है। 'विजयते' का अर्थ है - आसज्य श्रीराधा के वामस्वभाव-सम्बन्धी उत्कर्ष को लिए हुए सुशोभित हो रही है। 'विजयते' में 'वि' उपसर्ग से यह ध्वनि निकलती है कि कुटिल होने के कारण श्याम को दो भागों में विभक्त करने की बात बड़ी मार्के की रही। उधर प्रियतम की सहन शीलता को देखो कि ऐसी कड़वी बात को भी गले से नीचे उतार गये और उफ् तक भी नहीं की। इस उक्ति द्वारा दोनों को ही बड़ाई मिली है।

अब, 'इति' शब्द संक्षेप में जिधर संकेत करता है, उसी को विस्तार के साथ कहते हैं—पद्य के प्रारम्भ में 'अहो' कहने का उद्देश्य अपनी बात सुनने के लिए प्रियाजी को उन्मुख करना है। दूसरे, प्रियाजी इस समय कुछ-कुछ वाम थीं और उस धुन में उनके मन में तरह-तरह के भाव आ-जा रहे थे, अतः 'अहो का उद्देश्य एक कौतुक की सूचना दे कर उनके मन में एक आवेश भरना था। 'कृती' से अभिप्राय उन लोगों का है जो पहले से अमोघ और उचित कार्य करने में कुशल हैं। 'अनुराग' का अर्थ प्रेम तो

मोघोचितकर्मकुशलैः । अनुरागोऽरुणरङ्गकः, इति परिभाषया सिन्दूरवर्ण-साम्यादुक्तः । 'अमृते'-ति आनन्दजनकत्वेनाप्यायनकर्तृत्वात् । 'रस' इत्यास्वाद्यत्वाद्रौक्ष्यनिवर्तकत्वाच्चेति । 'प्रवाहैः' इति बहुत्वं अन्योक्ति-साम्यदर्शनार्थम् । अर्थादन्यत्रापि दृश्यते, अनुरागामृतरसप्रवाहो येषु तैर्जनै रित्यर्थान्तरन्यासवत्, अन्यथा सीमन्तैकरेखोपमाने बहुत्वं न घटते । तादृशैः कृतिभिः सुस्निग्धेऽतिस्नेहवति रुचिरे च जने, श्यामः कालिमादोषरूपत्वाद् द्वैधीकर्तुं, खण्डशः कर्तुमेवोचित इति । किञ्च सुस्निग्धत्वमुत्तमगुण, स्तद्-वति कौटिल्यं सङ्कोचजनकमेव, तत्रापि रुचिरत्वादहेयत्वमपि । अतस्त-त्कौटिल्यनिदानं श्यामत्वमेव वीक्ष्य द्वैधीकार्यम् । प्रस्तोतव्ये श्यामः प्रियः, महासुमनः स्नेहादिभिर्निरतिशयस्निग्धः, कुटिलस्त्रिभङ्गित्वात् । वक्रत्वेऽपि रुचिरत्वमत्रैवेत्यसाधारणधर्मत्वम् । अस्मिन्नपि त्वत्पूर्णानुरागप्रवाहा

रसकलश

है ही, किन्तु 'लाल रंग को भी अरुण कहते हैं, इस परिभाषा के अनुसार प्रेम और अनु-राग का एक ही रंग होने के कारण 'अनुराग' शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है। 'अमृत' शब्द से यह सूचित किया गया है कि वह स्वभाव से ही आनन्ददायक तो होता ही है, किन्तु साथ ही में उसमें तृप्त करने का गुण भी होता है। आस्वाद के योग्य होने तथा रूखापन को मिटाने के कारण 'रस' कहा है। 'प्रवाहैः' में बहुवचन के प्रयोग का उद्देश्य यह सूचित करना है जिस प्रकार प्रस्तुत में अरुण रंग द्वारा केशपाश को विभक्त करने का वर्णन किया है, उसी प्रकार सुकृती जन अपने अनुराग (प्रेमपूर्ण व्यवहार) से कुटिल व्यक्तियों के हृदय की कालिमा को खंड-खंड कर देते हैं। अन्योक्ति अलंकार में, इसी प्रकार, प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की ओर संकेत किया जाता है। अन्योक्ति-पक्ष में यह अर्थ होगा—जिन मनुष्यों में अनुराग रूपी अमृत-रस के प्रवाह विद्यमान हैं (वे दूसरों की कालिमा को धो देते हैं)। इस रूप में यदि अन्योक्ति न मानी जाय, तो एक सीमन्त के उपमान (अनुराग-प्रवाह) में बहुत्व का कोई समाधान नहीं मिलेगा। तो उपर्यूक्त प्रकार के सुकृतियों द्वारा सुस्निग्ध, अर्थात् परम स्नेही और (गुणों से) सुन्दर व्यक्ति में पाये जाने वाले श्याम को, यानि कल्मषता के दोष का द्वैधीकरण—खण्ड-खण्ड कर देना- उचित ही है। दूसरे स्निग्धता (केशों की हो या व्यक्ति की) एक प्रशंसनीय गुण है। इस गुण से विशिष्ट व्यक्तियों में जब किसी तरह की कुटिलता दिखाई पड़ती है तो मन सिमट जाता है। चूंकि वह श्यामता रुचिर भी है, अतः उसे छोड़ते नहीं बनता। विचार करने पर जब पता चलता है कि उसकी कुटिलता का कारण श्यामत्व (कृष्णत्व और कल्पमषता)ही है, तो उसे दो करना ही होता है। प्रस्तुत में श्याम प्रिय हैं, मन के निर्मल हैं, स्नेह करने के कारण परम स्नेही हैं और त्रिभङ्गी होने

बाह्याभ्यन्तरसात्विकादि प्रेमविकारैर्ज्ञायन्तेऽधुनैवास्माभिरिति। अतोऽयमशक्तो द्विशकलो दृश्यते। पश्यैतादृशासक्तिशीलो दयनीय एवेति।

ननु निर्दयकरणे भवतीनामपि कथमुचितोक्तिः ? तत्रैवम्—आसज्यस्य परीक्षाहेतुकक्रौर्य्यमुचितमेव, परन्त्वस्यापि सत्वं श्लाघनीयम्। यदासक्तत्वमुज्ज्वलीकृतं अनुरागप्रवाहेण खण्डशोभवनमेवोचितं, नच वज्रवदभेद्यं, रसज्ञत्वात्। त्वयापि कौटिल्यनिष्कृतिः कारितानुरागद्वारेणेत्युचितैव। यः स्निग्धादिगुणवानपि कलुषः स दण्डच एवेति नीतिरपि। अत एव कृतिभिरिति श्लाघितम्।

एवं प्रियकृतसीमन्तरेखानुरागप्रवाहरूपिणी औचित्यं वक्तुमस्मान् प्रेरयति, तद्वयमपि समाजे ब्रूमः 'औचित्यं कृतं, कृतम्' इति। अतः कवरी-धम्मिल्लकनकपट्टसीमन्तभरणैः प्रियागसो निष्कृतिं ज्ञात्वा कृपां कुरु, इति भावः ॥२५०॥

रसकलश

के कारण कुटिल हैं। यह इनकी असाधारणता है कि टेढ़े होने पर भी वे सुन्दर हैं। इनके सम्बन्ध में आपके प्रेम के पूर्ण प्रवाहों का पता आपके भीतरी और बाहरी प्रेमजन्य सात्विक भावों से लगता है – अभी-अभी हमें लगा है। आपके इन प्रेम-प्रवाहों के कारण ही श्याम इस समय दो टुकड़े हुए जान पड़ते हैं। ऐसी आसक्ति रखने वाले पर तो दया करनी ही चाहिए।

यदि पूछा जाय कि श्याम के साथ ऐसा निर्दय व्यवहार करने का आपका प्रस्ताव कैसे उचित है, तो इसका उत्तर यह है कि आसक्त की परीक्षा करने के लिए यदि आसज्य को क्रूर भी होना पड़े, तो उचित ही है। किन्तु प्रियतम के धैर्य की भी सराहना करनी पड़ेगी। अनुराग के प्रवाह से आसक्त को जब उज्ज्वल कर दिया गया, तो उसका टुकड़े होना ही शोभा देगा—अर्थात् वह सरस और कोमल हो जाएगा, न कि वज्र की भांति कठोर, क्योंकि तब वह रस का मर्मज्ञ हो जाएगा। आपने भी अनुराग द्वारा उनसे जो बदला ले लिया, सो उचित ही किया। स्नेही और गुणवान् होकर भी जो कुटिल हैं, उसे तो दण्ड मिलना ही चाहिए, यही नीति है। अत एव सज्जनों ने आपके इस कृत्य की इस प्रकार सराहना की है। प्रियतम द्वारा भरी गई माँग की अनुराग-प्रवाह-स्वरूपा प्रियतमा इसका औचित्य बताने के लिये हमें प्रेरित कर रही हैं। अब हम सखियाँ भी समाज में यही कहेंगी कि 'ठीक किया! 'ठीक किया!' प्रियतम ने आपके केशपाश को रचा, वेणी गूंथी, कनक-पट्ट धारण कराया और अब माँग भी भर दी है। उन्होंने अपराध का दंड चुका दिया, यह जान कर अब तो उन पर कृपा करिये—यह भाव है ॥२५०॥

एवं चतुर्भिः कैशोरशोभानिधित्वं निर्वर्ण्य मधुपतिसर्वस्वनिधित्वं विवर्णयिषुः प्रस्तुतशृङ्गारशोभाभिमुखनिरीक्षणाविष्टप्रियपरमासक्तिशील-प्रस्तावेन प्रियां प्रसादयति—

चकोरस्ते वक्त्रामृतकिरणबिम्बे मधुकर-
स्तव श्रीपादाब्जे जघनपुलिने खञ्जनवरः ।
स्फुरन्मीनो जातस्त्वयि रससरस्यां मधुपतेः
सुखाटव्यां राधे!त्वयि च हरिणस्तस्य नयनम्
॥२५१॥

राधे ! प्रियसर्वस्वसिद्धे ! तस्योक्तिद्वैधीकृतात्मलक्षणासक्तस्य, अत एव समीपेऽपि परोक्षोक्तिः पूर्वप्रभावस्मारिका । 'मधुपतेः' त्वत्प्रसादप्राप्त-तत्तन्मधुपतित्वसौभाग्यस्य । मधुपतिशब्दोऽपि नवनिधिपद्योक्तमधुलक्षण-स्मारकश्चापि ज्ञेयः ।

रसकलश

इस प्रकार चार पद्यों द्वारा श्रीराधा के कैशोर-शोभा-निधि होने का वर्णन करने के उपरान्त उन्हें मधुपति की सर्वस्व-निधि के रूप में वर्णन करने की इच्छा से, प्रियाजी की उस समय की शृंगार-शोभा को सामने से देखकर रसावेश से भरे हुए प्रियतम की सहज और अतिशय आसक्ति की वात छेड़ती हुई श्रीहितसखी प्रियाजी को प्रसन्न करने के उद्देश्य से कहती हैं—

'हे श्रीराधे ! उन श्रीमधुपति के नेत्र आपके मुखरूपी चन्द्रमण्डल के चकोर, आपके चरण कमल के भ्रमर, जंघारूपी पुलिन के खंजन, रस की सरोवर स्वरूप आप में मीन और सुख की वनी के स्वरूप आप में हरिण बन गये हैं' ॥२५१॥

प्रियतम की सर्वस्व-सिद्धि रूपा हे श्रीराधे ! उस मधुपति के (नेत्र) । प्रियतम सामने ही विराजमान हैं, फिर भी उनका इस तरह निर्देश करना जैसे वे कहीं अन्यत्र हों, यह सूचित करता है कि पूर्व पद्य में वर्णित प्रियतम के स्वरूप की छाप अभी भी श्रीहितसखी के हृदय में ज्यों की त्यों मौजूद है। उस पद्य में यह कल्पना की गई थी कि सिन्दूर-रेखा के रूप में श्याम को दो भागों में बांट दिया गया, पर इतने पर भी प्रियाजी के प्रति उनकी आसक्ति कम नहीं हुई। हे श्रीराधे ! आपकी ही कृपा से उन्हें मधुपति होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत पद्य में 'मधुपति' के प्रयोग से पद्य (२४४) में निर्दिष्ट 'मधु' के लक्षण का स्मरण हो आता है। उपक्षिप्त पद्य की टीका में बताया गया है कि श्रीकृष्ण श्रीराधा के अधरासव की विशेषताओं के निपुण ज्ञाता हैं, वे उसके रसास्वाद के लिए लोलुप रहते हैं तथा उसके अनन्य मधुकर हैं।)

'नयनम्' तत्तद्विषयतो तत्तद्वस्तु स्वात्मनं नयतीति द्विकर्मकार्थत्वेन त्वां प्रत्यपि नयनं चकोरादिरूपैः शोभाप्रापणेनानुग्रहसूचकतया यशः प्रापणेन च, समस्तनिध्याधारत्वेन सर्वरसास्वादानन्दपूर्णायां सारङ्ग-पारिजातन्यायेन त्वय्येव लग्नम् । तदेवं पञ्चधा चकोरमधुकरखञ्जनमीन-हरिणाद्युपनमानतामित्थं सार्थकीकरोतीत्याह ।

अत्र नयनमात्रोक्तावप्यभेदेन विषयविवेचकसंकल्पकतदीशमनसोऽपि ग्रहणम् । 'ते' इति 'राकाचन्द्रो वराकः' इत्युक्तलक्षणेन स्वज्योत्स्नाणुतो वराकीकृत्यतराकाचन्द्राया 'वक्त्रे'-ति तादृशे मुखचन्द्रे चकोरश्चन्द्रा-भिलाषी प्रसिद्धः । तस्य दूरत्वेनास्वातंत्र्यं, अत्र स्वाभिलाषज्ञापनशंङ्कया समयाकाङ्क्षित्वरूपं पारतंत्र्यम् । तदर्थं तत्सहायेन तदावेशेन वा तदधी-नत्वदैन्यादिसहनं, विरहाङ्गारभक्षणं, एकाग्रता, तत्प्रवणताव्रतञ्चेति तद्धर्मः अत्रापि यथार्हं ज्ञेयम् । वक्त्रं मुखरुढचर्थेऽपि तादात्विकसंलापामृतवर्षित्वेन

रसकलश

'नयन' शब्द प्रापणार्थक 'नी' धातु से निष्पन्न है जोकि द्विकर्मक है । अतः 'नयन' का अर्थ है—विविध विषयों से किसी खास ज्ञेय पदार्थ को आत्मा तक पहुँचाने वाला । प्रस्तुत में श्रीकृष्ण के नेत्र उन्हें श्रीराधा की दिशा में खींच कर ले जाते हैं । चकोर आदि बन कर वे नेत्र प्रियाजी के मुखचन्द्र की शोभा को (तद्विवक अपनी अनुभूति को) वहाँ तक पहुंचाते है, प्रियाजी के द्वारा अपने को अनुगृहीति किये जाने का सन्देश भी भेजते हैं और मुखचन्द्र की किर्ति की भी खबर पहुंचाते हैं । तो ये नेत्र आपकी ही तरफ टकटकी लगाये हैं, क्योंकि आप सब निधियों का आश्रय हैं और आपका सेवन करने से उज्ज्वल रस से सम्बन्धित सब प्रकार के आनन्द भरपूर आस्वादन के लिए प्राप्त होते हैं (या श्रीराधा स्वयं सब रसों के आस्वादन के आनन्द से परिपूर्ण हैं) । कल्पवृक्ष पर पहुंच कर जिस प्रकार भौंरा अन्य किसी वृक्ष का सेवन नहीं करता, उसी प्रकार प्रियतम के नेत्र-चकोर भी आपके मुखचन्द्र में ही लगे हैं । इस प्रकार ये नेत्र चकोर, भ्रमर, खंजन, मीन, हरिण इन पांच उपमानों का निर्वाह करते हैं, यही बात पद्य में कही गयी है ।

यहाँ केवल नेत्रों की ही बात कही गई है, किन्तु अनुकूल या प्रतिकूल विषयों की छानबीन करना तथा, तदनन्तर, उन-उन विषयों से सम्बन्धित निर्णय करवाने का काम मन का है । इस दृष्टि से मन नेत्र-इन्द्रिय से भिन्न नहीं है, बल्कि उसका नियन्ता है । अतः 'नयन' कहने में मन का भी समावेश हो जाता है । 'श्रीकृष्ण के नयन आपके मुखरूप चन्द्रमंडल के चकोर हैं'—इस अंश में 'ते' (आपके) से तात्पर्य पूर्व के एक पद्य (१२४) में निर्दिष्ट इस लक्षण से है कि आपके मुखचन्द्र ने अपनी चाँदनी के एक

यौगिकमपि । 'अमृते-'ति अङ्गारभक्षणशक्तिदत्वात् किरणा एव तस्मै तदानन्दप्रापकाः । प्रभामण्डलत्वेन बिम्बम् । एवं रूपमात्रग्राहित्वेऽपि मनः-साहित्येन प्रियस्तद्रूपास्वादविवेचनजतद्गताधरामृतपानभिलाषं करोतीत्य-मृतशब्देन व्यज्यते । प्रियस्वादावेशदत्तमनस्तया सख्या अपि तथोक्तिः ।

एवं मुखचन्द्रैकाग्रनिष्ठं वीक्ष्य 'प्रिये ! किञ्चिन्मुखचन्द्रं संमुखीकुरु, त्वद्दर्शनाभिलाषतप्तमस्य नयनं द्वयमप्येकवचनेन कथमेकाग्रतयैकीभूतं तिष्ठति । तमाल्हादय, सञ्जीवय स्मितालापसुदृष्टिपीयूषैः' इत्युक्तिभङ्गी-व्यञ्जका चकोरापदेशप्रार्थनोक्ता । ततश्च वैदग्धीनिधिरूपया तयोक्तिभङ्गी ज्ञात्वा सलज्जमधुराङ्गभङ्गिम्ना पदयोर्दृष्टिः कृता । तदा दृष्ट्युपजीविना

रसकलश

अणु मात्र से पूर्णिमा के चन्द्र को तुच्छ कर दिया। ऐसे आपके मुखचन्द्र के विषय में श्रीकृष्ण के नेत्र चकोरायमान हैं और यह प्रसिद्ध ही है कि चकोर को चद्रमा अत्यन्त प्यारा होता है। चन्द्रमा से दूर रहने के कारण चकोर स्वतन्त्र नहीं होता। यहाँ परतन्त्रता इस बात की है कि श्रीकृष्ण अपनी अभिलाषा को प्रकट करने के लिए उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में रहते है। उस चन्द्रमा के लिए, उसकी सहायता से या उसके आवेश में उसके अधीन होने की दीनता को सहना, विरह में अंगारों का चुगना उधर ही मन को केन्द्रित रखना, उसी के ध्यान में निरत रहने का प्रण—ये चकोर के धर्म हैं जिन्हे कि श्रीकृष्ण के पक्ष में भी यथोचित रीति से सम्बन्ध कर लेना चाहिए। 'वक्त्र' शब्द रूढ़ि से मुख का बोधक है, परन्तु उस समय बातचीत द्वारा अमृत बरसाने के कारण व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ भी यही है, (क्योंकि 'वक्त्र' शब्द वच् धातु से बना है जिसका अर्थ है बोलना)। मुख को अमृत की किरणों का मण्डल (चन्द्रमा) इसलिए कहा है कि चन्द्रमा में अमृत होने के कारण वह चकोर को अंगारे चुगने की शक्ति देता है। दूसरी बात यह भी है कि किरण ही चकोर तक आनन्द को पहुंचाती है। किरणों का मण्डल होने के कारण उसे बिम्ब कहा है। इस प्रकार 'अमृत' शब्द से यह ध्वनित होता है कि यद्यपि नेत्र केवल रूप को ग्रहण करते हैं, किन्तु मन के सहयोग से मुखचन्द्र के सौन्दर्य का एकटक ध्यान करते रहने से प्रियतम में अधरामृत का पान करने की अभिलाषा भी पैदा हो जाती है। श्रीहितसखी का मन भी प्रियतम द्वारा किये जाने वाले आस्वाद में ही केन्द्रित हो जाता है, अतः उन्होंने ऐसा ही वर्णन किया है।

इस प्रकार मुखचन्द्र के प्रति प्रियतम की एकाग्रता देखकर चकोर के बहाने से श्रीहितसखी मानों प्रियाजी से यह कह कर प्रार्थना करती हैं - 'प्रिय ! आपने मुखचन्द्र के रुख़ को जरा इधर कीजिये। कहने को तो, प्रियतम के दो नेत्र हैं, किन्तु आपके दर्शन की अभिलाषा से ये इतने व्याकुल हैं कि एकाग्र होकर दो के एक हो गए हैं।' प्रियाजी तो बड़ी चतुर हैं, वैदग्धी की निधि हैं। उन्होंने भाँप ही तो लिया कि श्रीहितसखी चकोर को उपमान बनाकर क्या कहना चाहती हैं। वे कुछ-कुछ लजा

तेन संवाहनाद्यभिलाषवैचित्र्येण तत्रैव निहितं नयनं वीक्ष्य 'श्रीपादाब्जे मधुकरः' इत्याह । अर्थादितदाश्रयप्रभावेणैव तत्तन्मनोरथाः सेत्स्यन्तीति प्रियहृदयव्यंग्यं सखी व्यनक्ति । 'ते' इति गौणीकृतशरत्सौगन्धिकोपमानाया-स्तादृश एवाधिदैविकश्रीयुते पादाब्जे कमलालयापि सेवाभिलाषेण मुख्य-तयात्रस्थायिनी, नत्वंशेनेति 'श्री'-शब्देन व्यज्यते । 'पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित्' इत्येव, तदा तत्र तु कैमुत्यमेवेति गौरारुणरागनखचन्द्रचयचमत्कारमार्हवसौरभ्यसुरूपलावण्यच्छविपद्मोर्ध्व-रेखामत्स्यादि पारमैश्वर्यसौभाग्यलक्षणमाहेन्द्रादिमणिरणन्मञ्जीरनूपुरादि-भूषणपरमोत्कृष्टश्रीयुक्ततयाध्येये, तादृशतदर्हे एवेदं नयनं रसज्ञमधुकर, इति मधु करोतीति यौगिकजायापि तत्तद्गतिसौष्ठवरूपदर्शनस्पर्शवैविध्यसंवाहना-

---

रसकलश

गई और अंगों से मधुर चेष्टायें करते हुए दृष्टि अपने श्रीचरणों पर डाली । प्रियाजी की दृष्टि पर जीवित रहने वाले प्रियतम ने भी चरण पलोटने की अभिलाषा को व्यक्त करने के लिए अपनी भी आँखें श्रीचरणों पर लगा दीं । यह देख कर श्रीहितसखी कहती हैं—'मधुकरस्तव श्रीपादाब्जे, (प्रियतम आपके श्रीचरणों के भ्रभर हैं) । अर्थात् सखी ऐसा कह कर प्रियतम के इस हृदयगत भाव को व्यक्त करती है कि इन श्रीचरणों के प्रभाव से ही सब कामनायें पूर्ण होंगी । 'ते' तथा 'पादाब्ज' के पूर्व लगे हुए 'श्री' शब्द की ध्वनि यह है कि प्रियाजी के श्रीमुख ने शरत्कालीन कोमल कल्हार के सादृश्य को भी तिरस्कृत कर दिया है । वैसी ही अधिदैविक शोभा से सम्पन्न उनके चरण कमल भी हैं । कमलों में निवास करने वाली लक्ष्मी भी सेवा की अभिलाषा से इन्हीं चरणों में डेरा डाले पड़ी रहती है—अपने समस्त अस्तित्व के साथ न कि केवल किसी एक अंश से । श्रीमद्भागवत् में कहा है—'चंचल लक्ष्मी जिनकी शोभा को क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ती, उन श्रीकृष्ण के पदारविन्द से कौन सी स्त्री अपने मन को हटा लेगी ? जब श्रीकृष्ण के चरणों के सम्बन्ध में यह बात है, तो श्रीराधा के पदपद्मों के बारे में कहा ही क्या जा सकता है ? गौर और लाल रंग नख-चन्द्र के समूह का चमत्कार, कोमलता, सुन्दर रूप और लावण्य की छवि, परम ऐश्वर्य और सौभाग्य के चिन्ह पद्म, ऊर्ध्व-रेखा, मछली आदि, महेन्द्र जैसी बहुमूल्य मणियों से जटित रुनझुन करते हुए नूपुर आदि भूषण—इन सब की अत्यन्त उत्कृष्ट शोभा से संपन्न होने के कारण ध्यान करने योग्य आपके चरण-कमलों में ये नेत्र भ्रमर के समान लगे हैं । मधुकर भौंरे को कहते हैं, परन्तु व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ है—मधु का संचय करने वाला । श्रीराधा के पादपद्म के सम्बन्ध में मधुकर होने का आशय है कि उन चरणों की सुन्दर गति-भंगिमा का सौन्दर्य, उनके रूप का दर्शन, स्पर्श,

लवतकसेवाद्यानन्दरूपं मधु संगृह्य मनस्याददधातीति ज्ञेयम्। सुगन्धमात्रा-स-ादे च घ्राणवेदितत्वं, तेन मकरन्दपरागास्वादेन धर्मद्वयमपि गृहीतमेष भेदः सहृदयवेद्यः।

तत्र कदाचिल्लज्जया वाम्येन च कञ्जं सङ्कोचयति, तदापि तस्मिन्नेव मुद्रितष्तिठति। यदा प्रसादेन बहिः प्रफुल्लं तदा हृष्टो गुञ्जन् भ्रमतीति दिवानिशं विषयसप्तम्यर्थेन तन्निष्ठ एवेति।

एवमस्यैतत्सर्वस्वं त्वत्पदकञ्जम्, अतः शरणं तदेकजीविनं पालयेति मधुकरापदेशकप्रार्थना।

ततश्च प्रसादसुमुखीं लज्जया सरणितचरणौ संयमन्तीं द्रुतां च वीक्ष्य सहृदयवेद्याभिलाषवैचित्र्येण जघनगतां प्रियदृष्टिञ्च वीक्ष्य 'खञ्जने'-त्युक्तिः। सच मङ्गलशकुनश्चञ्चललालितः श्वेतश्यामलश्च भवति,

रसकलश

पलोटना, महावर लगाना आदि-आदि सेवाओं के आनन्दरूप मधु को इकट्ठा कर मन में धारण करते हैं। घ्राण-इन्द्रिय तो केवल सुगन्ध का ही आस्वाद लेती है, किन्तु मकरन्द और पराग के आस्वादन में तो घ्राण और रसना—दोनों इन्द्रियों का धर्म आ जाता है— यही भेद है जोकि सहृदयों के द्वारा ज्ञातव्य है।

इस स्थिति में प्रियाजी अपने वाम स्वभाव के कारण अथवा लज्जा से यदि कमल-संपुट को मुद्रित कर लेती हैं (चरणों को समेट लेती हैं), तो श्रीकृष्ण रूपी भ्रमर उसी में बन्द हो जाता है। जब प्रियाजी प्रसन्न हो जाती हैं तो कमल खिल जाता है। उस समय भौंरा प्रसन्न होकर गुनगुनाता हुआ उसके चारो ओर मँडराता है। यह है दिन रात का हिसाब। 'पादाब्जे' में सप्तमी विभक्ति विषय के अर्थ में है जिसका यहां अर्थ है—भौंरा श्रीचरणनिष्ठ ही रहता है।

इस प्रकार आपके चरण कमल ही इस भौंरे का सर्वस्व हैं, अतः आपकी शरण में आये हुए तथा उन्हीं पर जीवित रहने वाले श्रीकृष्ण की आप रक्षा कीजिए। भौंरा के बहाने से श्रीहितसखी की यह प्रार्थना है।

इसके अनन्तर यह देख कर कि प्रसन्नता से श्रीराधा का मुख खिल उठा है और वे लज्जा से अपने झनकते हुए चरणों को समेट रही हैं और प्रियतम के प्रति द्रवित भी हो चली हैं, तथा विचित्र अभिलाषा से प्रेरित होकर प्रियतम की नजर अब प्रियाजी की जांघो पर जा टिकी है, श्रीहितसखी कहती हैं—'जघन पुलिन' खञ्जनवरः (प्रियतम के नेत्र जंघा रूपी पुलिन पर खंजन हो गए हैं)। खंजन का दर्शन कल्याणकारी और शुभ माना जाता है। देखने में वह सुन्दर और चंचल होता है। वह सफेद तथा काले रंग का होता है। कविगण उससे नेत्रों की उपमा देते हैं।

नेत्रोपमानतया प्रसिद्धः । तस्य सावकाशरमणाजिरत्वेन जघनमेव पुलिनम् । तत्र तस्य स्वच्छस्थलक्रीडनमेव काम्यं परमाप्यायनं भवति । अस्य च तत्तदनुभूततत्संबन्धजानन्दस्मृत्याप्यायनम् । तवापि विहारिण्या विहार-मङ्गलभाविसूचकोऽध्ययमिति व्यंग्यम् । अत एवोभयोर्हर्षदत्वात् 'वर' इति, प्रिये ! वरणीय आदरणीय एवेति प्रार्थना ।

अत्र पद्ये प्रतिपादयुष्मत्पदोपादनक्रमेणैकस्मिन् वाक्यद्वयसत्वेऽपि पादैक्यसम्बन्धात् 'तव' इति पुनर्ग्राह्यम् ।

ततश्च कथं प्रत्येकमङ्गं रसापेक्षया विचिनोमि, स्वयमङ्गिन्येव रसमयी ससात्विका दृश्यते, इति सर्वाङ्गगतां संभृतचौरन्यायेन सत्वरसास्वादा-भिलाषवतीं दृष्टिं वीक्ष्य त्वयि 'स्फुरन्मीने'-त्युक्तिः । महारसनिधित्व-

---

रसकलश

स्वच्छन्द विहार करने के लिए उसे प्रशस्त पुलिन-प्रदेश चाहिए । प्रियाजी की जंघायें हीं यह पुलिन प्रदेश है । खंजन की यह अभिलाषा रहती है कि वह किसी निर्मल स्थान पर घूमे-फिरे । इसी से उसका मन भरता है । श्रीकृष्ण-पक्ष में, उनकी तृप्ति पूर्वानुभूत, विविध संयोगजन्य आनन्द का स्मरण कर होती है । प्रियाजी भी विहारिणी हैं और यह खंजन इस बात का सूचक है कि निकट भविष्य में वे कल्याणकारी विहार में निरत होने वाली हैं—यह व्यंग्य है । इसीलिए दोनों के लिए आनन्ददायी होने के कारण 'खंजन' के साथ 'वर' लगाया है—अर्थात् श्रीहितसखी की यह प्रार्थना है कि 'प्रिये ! इस खंजन को आप अपनाइये, इसका आदर करिए ।

इस पद्य के प्रत्येक चरण में 'आपके' कहना कवि को अभिष्ट है, अतः एक चरण में दो वाक्य होने पर भी एक वाक्य के सम्बन्ध से 'तव' का आध्याहार कर लेना चाहिए ।

अब मैं सोचती हूं कि रस की दृष्टि से प्रत्येक अंग की विशेषता कहां तक बताऊं । सच बात तो यह है कि अंगिनी श्रीराधा स्वयं ही रसमयी हैं और सात्विक भावों से भरी दिखाई दे रही हैं । अतः, भरे हुए घर में पहुंच कर जैसे कोई चोर, जितना जल्दी हो सके, सब का सब ले लेना चाहता है, उसी प्रकार प्रियतम की नजर में त्वरा और अभिलाषा को देख कर आपके सम्बन्ध में यही कहती हूं—'स्फुरन्मीनो जातस्त्वयि रससरस्याम्' रसरूप सरोवर के स्वरूप आप में प्रियतम के नेत्र फड़कती हुई (चंचल) मछली बन गये हैं) । आपको महारस की निधि कहा जाता है । आप रस-अर्थात् संभोग-शृंगार के आनन्द की आधारभूत सरसी हैं । प्रियाजी को रस का समुद्र या नदी भी कहा जा सकता था, पर आपकी सुकुमारता का विचार कर 'सरसी'

ख्यातायां त्वयीति रसस्य संयोगान्दश्रृङ्गारस्य सरस्यामाधारायां सिन्धु-नद्यादिसत्वेऽपि तदानीं सौकुमार्यदृष्ट्या विहारक्षमत्वेन 'सरसी'-त्युक्तम् । तत्र मीनस्यापि सुखपूर्वकविहरणम् । 'स्फुरत्' इति स्वादहर्षाद्युत्कम्पेनं चमत्कृतत्वम् । 'मीन' इति स्थायिरसैकजीवनो रसज्ञावशो रसज्ञः स्निग्धश्च प्रतिलोमानुलोमरसप्रवहणानुगतिविशारदत्वेऽपि वाम्यारोहणप्रवीणत्वख्यात इत्यादिलक्षणस्त्वद्विषयेणैव जीवतीति रसदाने मा कार्पण्यं कुर्विति प्रार्थना ।

ततश्च तत्स्वादानन्तरजध्यानगततत्सुखावश्यकत्वेन सुखमग्नतया ईष-न्मुद्रितस्थगितस्मितनिःशङ्कप्रियदृशं वीक्ष्य 'हरिण' इत्युक्तिः । अत्र निर्भय-तया घनवनस्थत्वेन च चाञ्चल्यं न विवक्षितम्, सुखितरोमन्थितत्वञ्चेष्टम् ।

रसकलश

कहा है, क्योंकि समुद्र आदि की अपेक्षा सरोवर में विहार करना सुविधाजनक होता है । उसमें मछली भी आनन्द से विहार कर सकती है । मछली को स्फुरन्' (फड़कती हुई) इस दृष्टि से कहा है कि आस्वाद और हर्ष के कारण प्रियतम में सात्विक भाव कंप प्रकट हो रहा था जिससे कि एक चमत्कार (मीन-पक्ष में चमक) दिखाई दे रहा था । मीन का उपमान भी साभिप्राय है । जैसे मीन का जीवन स्थायी रूप से जल पर अवलंबित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी नित्य, अविछिन्न श्रृंगार-रस पर, बिना किसी अपवाद के, निर्भर रहते हैं; मीन यदि अपनी रस-लोलुप जीभ के वश में होता है, तो इधर प्रियतम भी रस के मर्मज्ञ हैं; मीन का स्पर्श यदि चिकना है, तो प्रियतम भी स्नेहशील, मीन दाये-बायें, आड़े-तिरछे प्रवाह के अनुकूल तो रहता ही है, पर धारा की उल्टी दिशा में जल पर मानों सवार होकर तैरने में विशेष रूप से निपुण होता है। उधर प्रियतम भी प्रियाजी की इच्छानुसार तो विहार करते ही ,हैं पर जब वे वाम होती हैं, तो उन्हें मनाकर संयोगाभिलाष को पूर्ण करने में वे परम प्रवीण हैं । तो इस प्रकार के लक्षणों से युक्त श्रीकृष्ण आपको स्वनिष्ठ-रस का आश्रय मान कर जीवित रहते हैं, यह सोच कर उन्हें आनन्द प्रदान करने में कृपणता न करें—यही प्रार्थना है ।

इसके बाद यह आवश्यक है कि रसास्वादन के अनन्तर ध्यान करने से सुख की यह अनुभूति हो । श्रीहितसखी ने जब देखा कि आनन्द-विभोर प्रियतम की आंखे कुछ-कुछ मुंदी हुई हैं, मुस्कराहट जहां की तहाँ ठहर गई है और वे बिना किसी संकोच के प्रियतम की ओर निहार रही हैं, तो कहती हैं—'सुखाटव्यां राधे त्वयि हरिणः,(हे राधे! आनन्दमय वन की स्वरूप आप में प्रिय के नेत्र हरिण बन गये हैं) । जंगल घना है डर का कोई कारण नहीं, अतः हरिण को चंचल होने की जरूरत नहीं । ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि वह किसी पेड़ के नीचे खड़ा होकर जुगाली करता हो । जंगल अनादि

स्वाभाविकानादिनानातर्वादिजातिगहनत्वेन सुखानामपि तथा त्वाधारत्वेन तन्मयत्वेन चाटव्युक्तिः। एवं त्वय्यनन्यापेक्ष्यसुखघनरूपायामिति 'महासुखतनुः' इति 'प्रेम्णः सन्मधुरोज्ज्वले'-ति पद्य उक्तमेव। 'च' इति समुच्चये, रसरूपापि त्वमेव तदानन्दरूपापि त्वमेवेति। 'जातः' इति तत्तद्विषययोग्यत्वेन पूर्वाहंकारविस्मृतिपूर्वकतत्तद्रूपेण प्रादुर्भूत इति। अत एव कर्तृलिङ्गमपि विस्मृत्य विधेयलिङ्गो जात इति हि ॥२५१॥

एवं प्रियलालसाश्रवणोज्जृम्भितकृपाद्रुताकूतां ज्ञात्वा हितालीङ्गितदृशा च झटिति सरोमाञ्चितभुजाभ्यां स्वाङ्के निदधानं प्रियं सा रसह्रदे न्यमज्जयदिति रसनिधित्वं विवृणोति—

स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा मृदुकरतलेनांगमंगम् सुशीतं
सान्द्रानन्दामृतरसह्रदे मज्जतो माधवस्य।
अंके पंकेरूहसुनयना प्रेममूर्तिः स्फुरन्ती
गाढाश्लेषोन्नमितचिबुका चुम्बिता पातु राधा॥२५२॥

रसकलश

काल से विविध वृक्ष एवं लता-गुल्मों से घना है, अतः उनके आश्रय से प्राप्त होने वाले सुख भी उन्हीं की तरह अनेक प्रकार के हैं। वहाँ पूर्णरूप से सुख ही सुख है वह सुखस्वरूप ही है वह—अतः 'अटवी' कहकर उसका निर्देश किया गया है। इस प्रकार अन्य किसी की अपेक्षा न रखने वाली आप सुख की स्वरूप हैं श्रीराधासुधानिधि के 'प्रेम्णा सन्मधुरोज्ज्वल'—इस पद्य (७८) में प्रियाजी को अतिशय सुख-स्वरूपा बताया ही है। प्रस्तुत पद्य के चतुर्थ चरण में 'त्वयि' के वाद का 'च' समुच्चयार्थक है। तात्पर्य यह है कि रसस्वरूपा भी आप ही हैं और तज्जन्य आनन्द का स्वरूप भी आप ही हैं। 'जातः' का भावार्थ यह है कि प्रियतम के नेत्र विभिन्न उपमानों के योग्य होने के कारण अपने पहले अहं भाव को त्यागकर मीन, कमल आदि रूपों में प्रकट हुए हैं। इसीलिये नयन अपने शब्दगत नपुंसक लिंग को छोड़कर हरिण आदि विधेयों के लिंग (पुल्लिग) हो गये हैं ॥२५१॥

इस प्रकार प्रियतम ने जब देखा कि उसकी अपनी संगम-अभिलाषा के वृत्त को सुन कर प्रियाजी का हृदय द्रवित हो गया है, जिसका कि पता उनकी चेष्टाओं से चल रहा है, और उधर श्रीहितसखी भी आँखों से संकेत कर रही हैं, तो शीघ्र ही उन्होंने अपनी रोमांचित भुजाओं में प्रियाजी को आबद्ध कर लिया। प्रियाजी के इसी रसनिधि स्वरूप का वर्णन करती हुई श्रीहितसखी कहती हैं—

'अपने कोमल हाथ से प्रियाजी के अत्यन्त शीतल अंग-अंग को बार-बार सहलाकर सघन आनन्दामृत-रस के सरोवर में डुबकियाँ लगाते हुए श्रीकृष्ण की गोद में

माधवस्याङ्के स्फुरन्ती राधा पात्विति सम्बन्धः । 'नः' इति शेषो, वानुक्तौ प्रियसम्बन्धस्यापि सूचनकटाक्षः । तादृशरसपोषात् रक्षणं प्रसाद-सुमुखीत्वसुचिरमनोरथ पूर्त्यात्मकम् । एवमेवानन्दं नित्यं दत्तादिति व्यञ्ज-कम् । स्फुटन्तु सर्वाशीरधिदैव्यै किमाशीर्देया स्यात्, ततो वयमेवाशास्महे—'पातु' इति ।

प्रस्तुतमधुसर्वस्वस्य मत्तस्य, वा तत्कुशलस्याङ्के उत्सङ्गे स्फुरन्ती, पूर्वोक्तशोभया देदीप्यमाना, वा नवहर्षोत्सुक्योत्कम्पादिना चमत्कुर्वन्ती, राधेतिप्रसिद्धप्रभूतप्रभावनाम्नी ।

उभयोर्वैशिष्टयमाह—'सुशीतम्' इति । अभिलाषतप्तभ्रतिविधिरूपस्य स्पर्शं सुतरामाभ्यन्तरीणप्रतिविधिमिति । 'अङ्गमङ्गम्' इति किं विविच्मो वक्षोजादिप्रत्यङ्गनामानीति, स्वयं सर्वावयवानन्दकादम्बिन्येवेति । 'मृदु' इति

रसकलश

कमल—जैसे सुन्दर नेत्रवाली, प्रेम की देदीप्यमान मूर्ति और गाढ़ आलिगन से उठी हुई ठोड़ी से युक्त श्री राधा हमारी रक्षा करें ।।२५२।।

श्री माधव की गोद में चमकती हुई (या रसावेश से चंचल होती हुई) श्रीराधा रक्षा करें—यह अन्वय है । यहाँ 'नः' (हमारी) शब्द का उपादान न करने पर भी उसे अपनी ओर से जोड़ लेना चाहिये । अथवा 'हमारी' न कहने में भी सखी का यह आन्त-रिक कटाक्ष भी हो सकता कि 'पातु' क्रिया का कर्म 'प्रियतमा' हैं—अर्थात् श्रीराधा प्रियतम की रक्षा करें । क्योंकि प्रियाजी रस-दान देकर प्रियतम का पोषण करती हैं और उन पर कृपा कर चिर-वांछित मनोरथों को पूर्ण कर उनकी रक्षा करती हैं । व्यंजना यह है कि वे नित्य इसी प्रकार आनन्दित किया करें । स्पष्ट बात तो यह है कि सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली देवी-स्वरूपा को कौन आशीर्वाद दे सकता है ? अतः हम सखियाँ ही यह आशा करती हैं कि प्रियाजी हमारी रक्षा करें ।

श्रीकृष्ण को 'माधव' कहने का अभिप्राय यह है कि प्रिय के लिये प्रियाजी का अधारासव सर्वस्व है, अथवा उसे पीकर वे मस्त हो जाते हैं, अथवा प्रियाजी के सौंदर्य-मधु का संचय करने में वे निपुण हैं । तो ऐसे श्रीमाधव की गोद में 'स्फुरन्ती' अर्थात् पूर्व पद्य में वर्णित शोभा से दमकती हुई अथवा संगम-विष्यक नवीन आनन्द की उत्कंठा तथा कंम्प आदि सात्विक भावों के उद्रेक के कारण सखियों को चमत्कृत करती हुई, अपने नाम के प्रचुर प्रभाव के लिये प्रसिद्ध श्रीराधा (हमारी रक्षा करें) ।

अब दोनों की विशेपताओं का वर्णन करते हैं—'सुशीतम्' । प्रियाजी के अंगों का स्पर्श शीतल होने के कारण प्रियतम के अभिलाष-तप्त शरीर और मन के लिये वह उपचार है । शरीर का तो है ही, हृदय के संताप को मिटाने का तो और भी ज्यादा है—उसी भाव को व्यक्त करने के लिये 'सु' उपसर्ग लगाया है । स्तन आदि प्रत्येक अंग

मार्दवेऽपि विशिष्योक्तिः सादरसशङ्कताभिव्यञ्जिका। परस्परतत्तदभिलाष-वैचित्र्यरोमाञ्चादिकारकेण करतलेव 'स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा' इति वीप्सा प्रति-क्षणवैलक्ष्यण्यानन्दोद्गमात् पुनः पुनरास्वाद्यमानता व्यञ्जिका, तावत् पृथग्भूताङ्गानामभिमुखीकरणादि समाधानार्थमिवेतिभङ्गिकापि च।

सान्द्रानन्द एवामृतं यत्र तादृशे रसह्रदे पूर्णसंयोगास्वादसरसि संलक्ष्य-व्यंग्य रसवाच्यचमत्कारिवाचकवत् साङ्गे मज्जतो बहिरन्तर्विगलितवेद्या-न्तरावस्थां प्राप्तुवत इति। अत्र मज्जने रसस्वाद्यस्वादकाभावो न शङ्क्य-स्तत्रामृतेत्यलौकिकचमत्कारदायित्वात् तैरेव तादृशसंजीवितरसमयदेहेन्द्रियै-स्तत्रत्यानन्दानुभवोऽमृतपदेन व्यज्यते। अनेन भोगो न व्याहतः।

रसकलश

का नाम लेकर क्या होगा ? बस, अंग-अंग कह देना ही पर्याप्त है, क्योंकि प्रियाजी के सब अंग ही आनन्द से परिपूर्ण हैं। कहना चाहिए कि संतप्त प्रियतम के लिये तो वे मेघमाला ही हैं। प्रियतम के हाथ तो स्वभाव से ही कोमल हैं, फिर भी 'मृदु' कहने का तात्पर्य यह है कि प्रियतम अत्यन्त आदर-भाव से श्री अंगों को सहलाते हैं और उधर प्रियतमा के सुकुमार होने के कारण डरते भी हैं कि कहीं कोई स्पर्श कठोर न हो जाय। हाथ से स्पर्श करने की प्रतिक्रिया दोतरफा है। स्पर्श करने से दोनों के हृदयों में विलक्षण-विलक्षण अभिलाषायें जागृत होती हैं और उससे दोनों रोमांचित हो रहे हैं। तो ऐसे हाथ से छू-छू कर। छूने की बात को दो बार कहकर यह सूचित किया है कि प्रत्येक स्पर्श के फलस्वरूप एक अलौकिक आनन्द की सृष्टि हो रहा थी, और जितनी बार यह सृष्टि हो रही थी, उतनी ही बार उसका आस्वाद किया जा रहा था। एक व्यंजना यह भी है कि स्पर्श की क्रिया आलिंगन से पूर्व होती है, और उस स्थिति में दोनों के अंग एक-दूसरे से पृथक् रहते हैं। स्पर्श के द्वारा श्रीकृष्ण प्रियतमा के अंगों का रूख अपनी ओर करने की चेष्टा में थे।

('सान्द्र से लेकर 'ह्रदे' तक एक समासान्त पद है। इसमें 'सान्द्रानन्द' 'रसह्रद' का विशेषण मान लेने पर विग्रहानुसारी अर्थ होगा—) रस के ऐसे सरोवर में जो सघन आनन्दरूप अमृत से परिपूर्ण है। ('ह्रद' का एक पर्यायवाची शब्द है 'सरस्' जिसमें से 'रस' की एक दूरवर्ती अधूरी-सी ध्वनि निकलती है। इसी को आधार मानकर कहते हैं—) तात्पर्यार्थवादियों के अनुसार जिस प्रकार वाचक (शब्द) में ही लक्ष्य, व्यंग्य, रस काव्य आदि का समावेश रहता है, उसी प्रकार पूर्ण संयोगानन्द के सब तत्वों से परि-पूर्ण श्रीराधा हैं। (सरोवर-पक्ष में, कमल, मीन, भ्रमर आदि से सम्पन्न।) रस-सरोवर में अवगाहन करते हुए—इस रीति से कि अन्य सब बाह्य विषयों की स्मृति ही लुप्त हो जाय। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि न तो यह रस आस्वाद-योग्य ही है और न इसका आस्वाद लेने वाला ही कोई है। क्योंकि रस साधारण नहीं, बल्कि अमृत अर्थात् अलौकिक चमत्कार प्रदान करने वाला है। ऐसे रस के द्वारा प्रदत्त जीवनी

'सान्द्रे'-ति समयान्तरभावान्तरप्रातिकूल्योद्भवाभावादविरलत्वं घनत्वं वेति। आनन्द एव वा, रस एव वा केवलः स्यात्तदा भोक्तृसामर्थ्यातिशयाद्-भोगान्त एव। अत्र तु महारसनिध्यधिदेवीत्वान्न द्रव्यक्षय स्यादतः सान्द्रत्वे कैमुत्यम्। यदा च सैव प्रसीदन्ती वरदाङ्कस्था, तदा कैमुत्यतममेवेति।

'ह्रदे'-ति। यदा पूर्वं सविश्रम्भः सरोऽवगाढुं प्रविशेत्, तत्राकस्मात्स्खलत्पदोऽगाधे मज्जति, तद्वन्मत्प्रियैवेयं मदास्वादनीयैवेत्यङ्कालिङ्गिता, पश्चात्स्वरूपगतागाधत्वादिसामर्थ्यान्मिग्न एवेति। सिन्धौ तु पूर्वमेव विश्रम्भाभावः, अतो ह्रदोक्तिः। तावन्मधुपत्यभिमान एव निश्शङ्कताकारी, अतो माधवोक्तिर्विश्रम्भव्यञ्जिका। पुनश्च मधुमत्तस्य ह्रदप्रवेशे मज्जनं नासम्भाव्यमेवेति कुशलोऽपि स्वच्छजलं तरत्येव, परन्तु सान्द्रवस्तु विशेषवति रसे जालबद्धो भवति, न निष्क्रान्तुं शक्नोतीत्यपि चमत्कारश्च। तत्रापि स्वादकुशलः खिन्नश्चानन्दामृतान्न निष्क्रमेदित्यपि, 'यथा न निष्क्रा-

रसकलश

शक्ति से भरे शरीर और इन्द्रियों द्वारा वहाँ के रस के आनन्द का अनुभव किया जाता है—'अमृत' शब्द का यही तात्पर्य है। इसी कारण भोग में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

'सान्द्रता' का अर्थ है नैरन्तर्य और घनत्व। इसमें यह अविच्छिन्नता इसलिए संभव है कि वहाँ समय के प्रतिकूल होने का प्रश्न ही नहीं है और न आनन्द के अतिरिक्त अन्य किसी विजातीय भाव की संभावना रहती है। यदि केवल आनन्द ही होता या अकेला रस ही होता और भोक्ता की सामर्थ्य रस या आनन्द की अपेक्षा अधिक होती, तो भोग का अन्त ही हो जाता। परन्तु यहाँ तो श्रीराधा महारस की निधि हैं, रस की अधिष्ठात्री-स्वरूपा हैं, तो रस-रूप पदार्थ के क्षीण हो जाने की आशंका ही नहीं; और वह आनन्द यदि सघन हो, तब तो कहना ही क्या है! और जब श्रीराधा प्रसन्न होकर स्वयं वर दे रही हों, तब तो कहने की बात और भी नहीं है।

अब 'ह्रद' की व्याख्या करते हैं—जैसे कोई व्यक्ति बड़े विश्वास के साथ नहाने के लिए तालाब में घुसे और अचानक पैर फिसल जाने से गहरे पानी में उतर जाय, इसी प्रकार यह सोच कर कि ये तो मेरी ही प्रिया हैं, मेरी भोग्य हैं, प्रियतम ने श्रीराधा का आलिंगन किया, किन्तु तत्काल ही उनके स्वरूप की गहराई में उतर कर डुबकियाँ लेने ही तो लगे। समुद्र का तो पहले ही विश्वास नहीं होता, अतः 'ह्रद' (सरोवर) कहा है। 'मैं मधुपति हूँ' इस अभिमान के कारण प्रियतम पहले ही निःशङ्क थे, किन्तु 'माधव' कहने से यह सूचित किया है कि उनमें आत्म-विश्वास भी था। फिर यदि कोई मदिरा पीकर तालाब में उतरे तो उसका डूबना असंभव नहीं है। साधारणतया तैराक निर्मल जल में तैरता रहता है, परन्तु रस यदि सघन हो (जल किसी कारण गाढ़ा हो) तब तो जाल में फँसेगा ही फँसेगा और निकल नहीं सकेगा--यह भी सघनता का चमत्कार

मति ब्रह्मसम्पन्नवत्' इत्युक्तिवत् । ह्रप्रयोर्गुरुत्वाभावः क्वचिदिति छन्दो-ग्रन्थानुलिखनाल्लघुरेव पठनीयः ।

अधिदेव्या रसदानसामयिकशोभामाह—पङ्केरुहादपि सुष्टुनयने यस्याः विशालारुणसभ्रमरत्वादिवत्वेऽपि क्व तत्र स्वाभाविकाञ्जितपलका-रुण्यतारकापाङ्गकूणिताद्याकूतगतिलाघवच्छविरूपादिचमत्कारश्चेति-व्यञ्जकं 'सु'-पदम् । रसह्रदत्वात् कमलवत्वम् । तत्र प्रसादाभिमुखत्वात् प्रफुल्लत्वम् । पङ्केरुहवत्वेनापि ह्रदे सान्द्रवस्तुवत्वम् । एतच्छोभानन्दे मनः पतेत्तदा कथं निष्क्रमेदिति । तादात्विकफुल्लत्वमपि स्फुरणसहधर्मकं, 'स्फुरन्ती'-त्युक्तेः। स्फुरणमपि प्रेमपुलककम्पादिप्रेमविकारजत्वात्, प्रेममूर्ति-रित्युक्तेः । विषयाश्रयभेदेनोभयथापि प्रियतातिशयास्पदत्वात् प्रेमाभिन्न-

रसकलश

है । उसमें भी यदि कोई स्वाद लेने में कुशल हो और संताप के कारण पहले ही से परेशान हो, तब तो आनन्दरूपी अमृत से निकलना ही नहीं चाहेगा, जैसा कि कहा है—'ब्रह्म के साथ सायुज्य को प्राप्त व्यक्ति जैसे वहाँ से नहीं निकलता है ।' छन्दशास्त्र के अनुसार कहीं-कहीं 'ह्र' और 'प्र' वर्ण गुरु नहीं माने जाते, अतः 'ह्रद' शब्द के 'ह्र' को लघु की भाँति ही उच्चारण करना होगा ।[1]

अब रस की अधिष्ठात्री देवी श्रीराधा की उस समय की शोभा का वर्णन करते हैं जब वे रस प्रदान करती हैं—'पङ्केरुहनयना' । जिसके नेत्र कमल से भी अधिक सुन्दर है । व्यंजना यह है कि यद्यपि कमल विशाल और अरुण होता है भौंरे उस पर मँडराते रहते हैं, तथापि उसमें प्रियाजी के सहज-शोभाशाली पलकों की वह अरुणिमा कहाँ हैं, पुतलियों और नेत्र की कोरों द्वारा विविध भाव-भंगी प्रकट करने वाली गति की वह सफाई कहाँ है, और कहाँ है छबि और रूप का वैसा चमत्कार ? 'सुनयना' में 'सु' उप-सर्ग से यही भाव व्यक्त किया गया है । प्रियाजी यदि रस का सरोवर हैं, तो नेत्र उस सरोवर के कमल हैं। प्रियतम पर अब वे कृपा करने ही वाली हैं, अतः नेत्र-कमल आनन्द से खिल उठे हैं । (पङ्केरुह) का यौगिक अर्थ है—कीचड़ में पैदा होने वाला ।) सरोवर में यदि कीचड़ है, तो उसके जल में सान्द्रता (गाढ़ापन) होगा ही होगा । इस प्रकार की शोभा के आनन्द में यदि मन फँस जाय, तो फिर निकलना-कैसा ? खिलने के साथ-साथ नेत्र, कमलों में स्पन्दन भी हो रहा है; क्योंकि आगे कहा जायगा—'प्रेममूर्तिः स्फुरन्ती', (फड़कती हुई प्रेममूर्ति) । प्रियाजी का यह स्फुरण प्रेम के विकार-रोमांच, कंप आदि—के कारण हो रहा है, क्योंकि वे प्रेम की मूर्ति जो हैं, वे प्रियतम के प्रेम का विषय है

१. वास्तव में टीकाकार का आशय यह है कि 'प्रेह्रे वा' इस नियम से 'प्र' और 'ह्र' से पूर्ववर्ती व्यंजन की दीर्घता वैकल्पिक है । अतएव 'ह्र' से पूर्ववर्ती 'स' लघु ही माना जाएगा गुरु नहीं । 'ह्र' स्वयं तो लघु है ही । —सम्पादक

मूर्तिः । स्वस्य प्रियविषयकाविच्छिन्नप्रेमनिरवरोधाद्वाभ्येऽपि रसघनवन्न-खमाद्यन्तं तदेकरसत्वात् मूर्तिरित्युक्तिः ।

ततः प्रियतातिशयवैवश्येन प्रियकृतगाढाश्लेषेणोर्ध्वं नमितं चिबुकं यस्याः । ततः चुम्बिता चेति रसानन्दः । यद्वा उन्नमितं चिबुकं यथास्यात्तथा आ अधिकं तदावेशेन चुम्बितात्येकसमस्तम् । अत्राभिमुखोपवेशने स्फुटमेव पृष्ठस्थितौ भुजांसमोटनरीत्याश्लेषचुम्बनम् तद्भेदनाम वात्स्यायनादौ प्रसिद्धम् । इत्थं रसमज्जनविशिष्टास्याङ्के प्रेमादिविशिष्टसौभाग्यवती राधा सदैव मनोदृगानन्दं कुरुतात् । अस्मिन्नेवास्मत्पालनमिति भावः ॥२५२॥

एवं परस्परानन्दरसमज्जनदर्शनहर्षोज्जृम्भितप्रेमाश्रुसात्त्विकविवशा हितालिः स्वनिष्ठारुचिवैचित्र्याशयमाह—

सदा गायं गायं मधुरतरराधाप्रिययशः
सदा सान्द्रानन्दा नवरसदराधारतिकथाः ।

रसकलश

और प्रिय विषयक प्रेम का आश्रय है । इस प्रकार विषय और आश्रय दोनों दृष्टियों से वे प्रियता की परम पात्र हैं, अतः प्रेम के साथ उनका स्वरूपगत भेद नहीं है । जो प्रेम है, वही श्रीराधा है ।

इसके अनन्तर प्रेम से अत्यन्त विवश होकर प्रियतम ने जो गाढ़ आलिंगन किया, उससे प्रियाजी की ठोड़ी ऊपर उठ गई और तब प्रियतम ने उन्हें चूम लिया (विग्रह इस प्रकार होगा—प्रेम से उन्नमित है चिबुक जिसका, ऐसी को चूम लिया । यह अनुभाव इस बात का प्रतीक है कि दोनों ओर रसजन्य आनन्द की अनुभूति हो रही थी अथवा ('उन्नमितचिबुकम्' को क्रियाविशेषण मान कर)। यह अर्थ किया जा सकता है कि ठोड़ी को उठाते हुए प्रबल आवेश से प्रियाजी का चुंबन कर लिया । ऐसा अर्थ करने के लिये 'गाढाश्लेष' से लेकर 'चिबुका' तक एक ही समासान्त पद मानना होगा । यहाँ गोद में सामने बैठने से प्रियतम पीठ पीछे रहते हैं और इस स्थिति (पोज) में भुजा और कन्धों को घुमाकर मोड़कर आलिंगन और चुंबन किये गये । वात्स्यायनकृत काम-सूत्र तथा अन्य ग्रन्थों में चुंबन आदि के भेदों के नाम प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार रस में अवगाहन करते हुए प्रियतम की गोद में प्रेम आदि विशिष्ट सौभाग्यों से युक्त श्रीराधा सदा ही मन और नेत्रों को आनन्द प्रदान करती रहें—यह भाव है ॥२५१॥

इस प्रकार प्रिया-प्रियतम को पारस्परिक आनन्द-रस में अवगाहन करते देखकर श्रीहितसखी उमड़ते हुए प्रेम के आँसू तथा सात्विक भावों से विवश होकर अपनी अनन्य निष्ठा सम्बन्धी विचित्र रुचि का वर्णन करती हैं—

सदा स्थायं स्थायं नवनिभृतराधारतिवने
सदा ध्यायं ध्यायं विवशहृदि राधापदसुधाः।।२५३।।

मधुरं प्रियस्य यशः, तस्मादतिमधुरं निर्हेतुकयदृच्छया स्वमनःसाक्षितया परमस्वादु प्रियञ्च प्रेमास्पदं राधायशः। यद्वा मधुरतरायाः प्रियं यशः, प्रिययशोवामधुरतरं प्रिययशः इति। किञ्च तस्यास्तु मधुरतमत्वादिति पक्षकौतुकोऽर्थः। किञ्च स्वेष्टस्यापि प्रियगानमेव प्रेमास्पदं, तदपि प्रियासम्बन्धादेवेति ग्रन्थाशयः। तदानीं माधुर्यास्वादस्य मनोरसनायां साक्षात्स्त्रवद्रूपत्वानुभावेन श्लाघनभङ्ग्या, प्रियत्वस्योदया'-मधुरे'-ति, 'प्रिये'-त्युक्तिः। सदा गीत्वा गीत्वेति गानस्य पौनःपुन्यं विवक्षितं, नच प्रत्यहमेककाले माहात्म्येन दिना व्यर्थनीयत्वादिति। किञ्च सर्वस्मिन् काल एव

रसकलश

'अत्यन्त मधुर श्रीराधा के प्रिय यश को एवं घनीभूत आनन्द से परिपूर्ण श्रीराधा-सम्बन्धी केलि-विहार की कलाओं को सदैव बार-बार गा-गा कर, नूतन एवं एकान्त श्रीराधा के बिहार-वन में नित्य निवास करके, प्रेमाविष्ट हृदय में सदैव श्रीराधा के चरणरूपी अमृत का बार-वार चिन्तन करता हुआ मैं (कब मग्न रहूँगा ?)।।२५३।।

प्रिया का यश मधुर है। उससे भी कहीं अधिक मधुर, अर्थात् अकारण उदित हुई स्वच्छन्द इच्छा से तथा मन के साक्षी होने के कारण अत्यन्त आस्वाद्य और प्रिय लगने वाले, अर्थात् सखियों के प्रेम के आश्रय श्रीराधा के यश को बार-बार गा-गा कर अथवा श्रीराधा से, जोकि अपेक्षाकृत मधुर हैं, प्रिय यश को, अथवा प्रियतम के यश को या प्रियतम के मधुरतर यश को। पाठक का कुतूहल बढ़ाने के लिए यह ध्वनि निकाली जा सकती है कि प्रियतम का यश तो केवल मधुरतर है, परन्तु प्रियाजी का मधुरतम है। दूसरी बात यह है कि अपने इष्ट को जो गान प्रिय हो, वही सखियों को रुचता है क्योंकि उसका सम्बन्ध प्रियाजी से है—यह है इस अंश का आशय। उस समय सखी को ऐसा अनुभव हो रहा था मानों माधुर्य का स्वाद मन और जिह्वा पर साक्षात् झर रहा हो, अतः प्रियता के उदय होने से हाथ की चेष्टा द्वारा मानों प्रशंसा करते हुए सखी ने यश को मधुर और प्रिय कहा। 'सदा गा-गा कर' का आशय यह है कि गान बार-बार होना चाहिए, यह नहीं कि सारे दिन में एक बार उसे गा लिया और वह भी माहात्म्य से प्रभावित होकर और इस उद्देश्य से की दिन व्यर्थ नहीं जाना चाहिये। स्वाद के आवेश में गान सदा चलता ही रहे। व्यंजना यह है कि गान एक प्रकार का व्यसन बन जाय, जैसा कि किसी शराबी का कहना है—'पी-पी कर फिर-फिर पिये।' मधुर का अर्थ यह है कि यश केवल माधुर्य से परिपूर्ण होना चाहिए, न कि बाह्य ऐश्वर्य से मिश्रित।

स्वादावेशवशाद् व्यसनित्वं व्यञ्जितं 'पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा' इतिवत् । 'मधुरे'-त्यनेन केवलमाधुर्यमयं यश इति, नच बाह्यैश्वर्यविमिश्रम् । तत्र तमप्रत्ययाभावो माधुर्यसम्बन्ध्यैश्वर्यग्रहणबोधकश्च ।

पुनश्च सान्द्र आनन्दो यासु तास्तादृश्यो नवं रसं ददतीति च । इत्यानन्दरसपूर्णास्त इति कथाः सदा गीत्वेति यशो गुणच्छविरूपैश्वर्यादि-श्लाघाकीर्तनमयं, रतिकथा केवलरहो विलासैकमयीति भेदः । अत्र देयरसो दास्यसख्यरसनीय एव दास्यपटपूतः, अन्यथा कामरसः कथमासामर्ह इति । यथोक्तं श्रीलाडिलीकृपापात्रनागरीदासैः 'स्वाहाशक्ति होम कीजै, ऐसे ही रति दंपति मानि' इति पूर्णपदं दर्शनीयम् । तत्रत्याशयो लिख्यते—होमे यज्ञवितानक्रियायां यथा स्वाहारूपा शक्तिरपूर्वफलस्वर्गादिसुखप्रापका,

रसकलश

मधुरतम न कह कर 'मधुरतर' कहने का आशय यह है कि गान में माधुर्य से सम्बन्धित ऐश्वर्य का मिश्रण किया जा सकता है । अर्थात् विशुद्ध मधुर तो वही है जिसमें ऐश्वर्य की कहीं गन्ध तक न हो ।)

'सान्द्रानन्दाः' की व्याख्या करते हैं—जिनमें सान्द्र आनन्द है तथा जो नूतन रस को प्रदान करती हैं । ऐसी आनन्द-रस से भरी आपकी कथाओं को सदा गा-गा कर । यश और कथा में यह अन्तर है कि यश में तो इष्ट के गुण, छवि, रूप, ऐश्वर्य आदि का कीर्तन होता है । किन्तु रति-कथा केवल एकान्त-विलास के वृत्तों से पूर्ण होती है । यहाँ रति-कथा द्वारा सखियों को दिए जाने वाले रस का आस्वादन सख्य या दास्य रस के माध्यम से ही होना चाहिये, अर्थात् दास्य के कपड़े में छान कर और इस प्रकार पवित्र कर उसे ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा दम्पति से सम्बन्धित काम-रस सीधा सखियों में उतर आयेगा जिसकी कि वे अधिकारिणी नहीं हैं । श्रीलाड़िली के कृपापात्र श्रीनागरी दास ने कहा है—'स्वाहाशक्ति होम कीजै ऐसे ही रति दम्पति मानि ,' इस पद को पूरा अध्ययन करना चाहिये', यहाँ इसका आशय लिखा जाता है—यज्ञ-सम्बन्धी हवन-क्रिया में स्वाहा-शक्ति स्वर्ग-सुख आदि अपूर्व सुख प्रदान करती है । हवन स्वयं एक क्रिया है, पर यजमान आदि को वह जो रस (सुख) पहुँचाती है, वह निष्क्रिय है (भावात्मक है) । इसी प्रकार दम्पति-रति एक अचिन्त्य शक्ति है । उसमें काम प्रेरित क्रियायें होती हैं, परन्तु सखियों तक पहुँचाती है केवल प्रेमानन्द-रस को । सखियाँ उसका ज्ञान करती

स्वाहा सक्ति होम की जैसे ऐसे ही रति दम्पति जान ।
आकरखत निज अलिसमाज सुख राखत उर अभिअन्तर आन ।।
ऐसे ही अनुमान जान जिय जैसे पीवत पानी छान ।
नागरीदास गुरुपद प्रसाद हैं परै जिय सरस सलौनी बान ।।

नागरीदास जी की पदावली, प्रथम पद ।

स्वयं सक्रियान्यान्निष्क्रियं रसं ददातीति तद्वद्दम्पत्योः रतिरचिन्त्यशक्तिः स्वयं कामादिसक्रियापि सखीजनान् केवलं प्रेमानन्दरसं ददातीति ज्ञेयध्येयश्रव्यत्वेन शुद्धास्वाद्यत्वात् रसेऽपि निष्कृष्टः साररूपोऽयमिति सखीरसप्रौढिर्विरलै ज्ञेया । अत्र दम्पतिरसे न्यूनत्वं न शङ्क्यम् । सत्वखण्डपूर्णतम एव, परन्तु कश्चिद्विशेषः सूक्ष्मदृशा ज्ञेयो यत्प्रियोऽपि केनचिदास्वादेनेमं समभिलषति, 'काम्यं पदं पिच्छमौलेः' इत्युक्ते । अतो बीजादपि फले रसवैलक्षण्यवज्जन्यानन्दोत्कर्षः । यथा च नायकादपि नटे सामाजिकेषु चरमोत्कर्षः इत्यालङ्कारिकाः, इत्यलं विस्तरेण ।

अत एव 'नवं रसम्' इति पूर्वस्माद्विलक्षणं, नवजातीयमिति । यद्वा दम्पतिलीलान्तरेप्यासां हृदि नित्यमेव तादृशस्थायित्वात् । प्रत्येकमेकक्रियाभिसम्बन्धेऽपि चकारानुक्तिः कथायशसोः पौर्वापर्यैकाकित्वसहचारित्वाद्यनिमतत्वबोधिनी । एवं पूर्वार्द्धे गानेन वाग्धर्मो व्यञ्जितः ।

रसकलश

हैं, मनन करती हैं, देखती हैं, सुनती हैं। अतः सखीगत रस दम्पति-रस से खींचकर निकाला गया विशुद्ध सार-स्वरूप है। सखियों में जाकर दम्पति-रस जिस परिपाक को प्राप्त करता है, उसे बिरले ही जानते हैं। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि सखी-रस दम्पति रस का सार है, अतः सखी-रस की अपेक्षा दम्पति-रस निकृष्ट श्रेणी का है, क्योंकि वह अखंड और पूर्णतम तो है ही, उससे भी कुछ विशिष्ट है। उसकी यह विशेषता सूक्ष्म दृष्टि से ही पहिचानी जा सकती है। न जाने इसमें कौन सा ऐसा स्वाद है कि प्रियतम भी इसके लिये लालायित रहते हैं। इसी ग्रन्थ में कहा भी है—'मयूर पिच्छधारी श्रीकृष्ण भी इस पद की कामना करते हैं, (पद्य ४)। अतः बीज से पैदा हुए फल में जैसे एक विलक्षण रस रहता है, वैसे ही सखियों को रसजन्य उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त होता है 'अलंकार-शास्त्रियों के मतानुसार नट और सामाजिकों में नायक की अपेक्षा रस की निष्पत्ति अधिक मात्रा में होती है। उसी प्रकार सखियों का निजी आनन्द भी दम्पति-रस से न्यून नहीं है। बस, इस विषय को अब अधिक पल्लवित करने की आवश्यकता नहीं है।

इसीलिए उसे नव रस कहा है। अर्थात् सखियों का अनुभवगम्य बह पहले से विलक्षण है और नए प्रकार का है। अथवा दम्पति की अन्य लीलाओं में भी सदा रति रस की भावना ही सखियों के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान रहती है। पद्य के प्रथम और द्वितीय चरणों में से प्रत्येक का एक ही (अध्याहार्य) क्रिया से सम्बन्ध होने पर भी द्वितीय चरण में चकोर का प्रयोग जो नहीं किया है, उससे सूचित होता है कि प्रिया-संबंधित यश और कथा के गान के सम्बन्ध में पहले-पीछे का कोई निर्धारित क्रम नहीं है, और न ही यह जरूरी है कि दोनों में से किसी एक का ही गान एक समय में किया जाय, या दोनों का साथ-साथ ही किया जाय। यह सब अनिश्चित ही है। इस प्रकार पद्य के पूर्वार्ध में गान-धर्म के सम्बन्ध में कहा गया है।

'सदा स्थायं स्थायम्' स्थित्वा स्थित्वेति । रतिः प्रीतिस्तद्विषयं प्रेमास्पदं वनमिति, 'वृन्दारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा' इत्युक्तेः । यद्वा रतिः कामविहारः स्पष्ट एव, निभृतोक्तेः । निभृतत्वेऽपि विशिष्योक्ति र्लीलान्तरस्थानव्यावर्तिका । नवत्वं विरलप्रकाश्यत्वात् सर्वविलक्षणत्वं, छविरूपगुणैश्वर्यमाधुर्यादेरपि च स्वपूर्णभावनिष्ठारुचिविषयत्वादपि, स्वरूप-सामर्थ्यादप्यपूर्वत्वञ्चेति । 'निभृते'-त्यनेन वक्तृसख्यास्तादृशाधिकार-व्यञ्जनम् । नित्यास्थितावपि 'सदे'-ति पदं मुक्तकबाह्ये क्षेत्रसंन्यासत्व-व्यञ्जकम् । अन्तस्तु निभृतरतिवन एव स्थितिरुचिः । ननु अस्मिन् पदे कायधर्मश्च । स्वयं श्रीमती तु निभृतकुञ्जे रतिक्रीडापरा । तदा बहिः-स्थितया ध्यानमपि तस्या एव कार्यमिति । मनोधर्ममाह—

'सदा ध्यायं ध्यायम् ।' ध्यात्वा ध्यात्वेति । तदानीं प्रेमान्दोलितमपि

रसकलश

'स्थायं स्थायम्' का अर्थ है—(वन में) रहते हुए, निवास करते हुए । 'रतिवने' में 'रति' शब्द का अर्थ है प्रीति । वन प्रीति का विषय है, प्रेम का आश्रय है । कहा भी है—'परम रसमय सुधा-माधुरी का मूल स्रोत यह श्रीवृन्दावन-भूमि (श्री रा सु. १७५) । अथवा रति का अर्थ काम-विहार तो स्पष्ट ही है, क्योंकि रतिवन को 'निभृत' कहा गया है । विहारस्थल तो एकान्त होता ही है, फिर भी 'निभृत' शब्द का उपादान यह सूचित करने के लिए किया गया है कि श्रीवृन्दावन के अन्य लीला-स्थलों में निवास करने की कामना नहीं है । रतिवन को नवीन कहने का आशय यह है कि उसके प्रभाव का अनुभव विरलों को ही होता है, अतः वह सबसे विलक्षण है श्रीवृन्दावन छवि, रूप, गुण, माधुर्य आदि का धाम है, उसमें सखियों की पूर्ण रति हैं, अनन्य निष्ठा और रुचि है और उसका स्वयं का स्वरूप भी कम प्रभावशाली नहीं है, पर वह इन सब विशेषताओं से भी कहीं ऊपर है, अत एव अपूर्व है । 'निभृत' शब्द से कहने वाली श्रीहितसखी का रतिवन में निवास करने का अधिकार व्यक्त किया गया है । वे वहां नित्य रहती ही हैं, फिर भी 'सदा' का जो प्रयोग किया है, उससे ध्वनित होता है कि मुक्तक-पक्ष में बाह्य साधक को अपना पूर्व स्थान छोड़ कर श्रीवृन्दा-वन में ही वास करना चाहिए । अन्तरंग-पक्ष में तो अर्थ यही है कि मेरी रुचि इस रतिवन में ही रहने की है । 'सदा' शब्द से यह न समझना चाहिए कि श्रीहितसखी सदा सशरीर वहाँ उपस्थित रहना चाहती हैं । श्रीमती जब एकान्त कुंज में रति-क्रीड़ा कर रही हों, तब तो बाहर रह कर भी उन्हीं का ध्यान करना चाहिए । इसी मानसिक कर्तव्य का विवरण देते हुए कहते हैं—

'सदा ध्यायं ध्यायम् ।' बार-बार ध्यान करके । उस समय यह जानते हुए कि प्रेम में झूलता हुआ हृदय आपे में नहीं है, श्रीराधा की प्रेम-मूर्ति को अंकित करने

हृदयभङ्गीकृत्य एवं विवषे तत्प्रेममूर्त्यर्हे हृदि तस्याः 'पदसुधा' इति। स्मरणेन प्रेमामृतस्य पुनः पुनर्द्रवणात् पदावेवामृतं, वा सर्वतः प्रसृमरप्रभाव एव तयोरमृतम्। वैविध्याद्बहुत्वम्। यथा 'ब्रह्मेश्वरादि' इति, 'यो ब्रह्म' इति, 'आधाय' इति 'वृन्दावनेश्वरि।' इति, 'कामं तूलिकया' इत्यादिप्रभावाः व्रजनिकुञ्जभक्तानां यथार्हमहारसपोषदानादाधिनिवर्तकत्वेन प्राणाप्यायनकरणादमृतत्वम्। यद्वा सखीष्वेवेदं पदयोः रूपच्छविलावण्याद्यमृतम्। यद्वा नखचन्द्रा एव सुधामयत्वात् सुधाः। आसामेतत्पदरसामृतोपादानत्वात् स्वकारणमेव ध्येयं स्यात्, इति वृन्दावनशतकोक्तन्यायो ज्ञेयः, 'पादाम्भोज ज्योतिरुद्भूतफेनस्तवकमयतनूः' इति। एवं चतुःपदेषु 'सदे'-ति, 'राधे'त्युक्ति

रसकलश

योग्य हृदय में उनकी पद-सुधा का ध्यान कर, अर्थात् स्मरण कर। श्रीचरणों का स्मरण करते समय प्रेमामृत उनमें से झरता हुआ प्रतीत होता था, अतः उन चरणों को ही अमृत बताया गया है। अथवा उनके फैलते हुए प्रभाव को ही अमृत समझ लिया जाय। प्रभाव अनन्त है, उसके विविध रूप हैं, 'अतः 'सुधाः' को बहुवचनान्त बनाया है। इसी ग्रन्थ के अनेक स्थलों पर इस प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है—'श्रीराधा के पदारविन्दों की महिमा शिव आदि के लिए भी अतर्क्य हैं (पद्य २), 'जो ब्रह्मा, रुद्र, शुक, नारद, भीष्म आदि के द्वारा भी लक्षित नहीं किया गया है' (पद्य ३), 'उदार गोपियों ने जिस चरण-रेणु को अपने मस्तक पर चढ़ा कर वाञ्छित पद को प्राप्त किया' (पद्य ४), 'हे वृन्दावनेश्वरि ? आपके पदारविन्द प्रेमामृत के एकमात्र मकरन्द रस के प्रभाव से पूर्ण हैं, तथा श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर जब अर्पित कर दिये जाते हैं, तब उनकी तीव्र कामव्यथा को शान्त कर देते हैं' (पद्य १२) तथा जिन चरणों को श्रीहरि ने अपने कर कमल से तूलिका द्वारा महावर लगा कर चित्रित किया है,' (पद्य २०५)। अथवा श्रीराधा के श्रीचरणों का यह प्रभाव व्रज निकुंज के भक्तों की भावनाओं का पोषण करने वाले महारस को देकर उनके समस्त मानसिक क्लेशों को दूर करता है और उनके प्राणों को तृप्त करता है, इसलिए उसे अमृत कहा गया है। अथवा इन चरणों का रूप, छवि, लावण्य आदि ही अमृत है जिनके कि दर्शन सखियों को ही होते हैं। अथवा प्रियाजी के नखचन्द्र ही सुधा-स्वरूप हैं, क्योंकि वे अमृततुल्य रस से परिपूर्ण हैं। सखियों की सत्ता का प्रधान कारण यही नखचन्द्रसुधा है, अतः उन्हें उपादान कारण इस पदसुधा का ध्यान करना ही चाहिए। श्रीवृन्दावन शतक में भी यही निर्णय दिया गया है कि सखियों के शरीर श्रीराधा के चरण-कमलों के ज्योति समुद्र में से निकले हुए फेनों के गुच्छे हैं।' इस प्रकार पद्य के चारों चरणों में 'सदा' और 'राधा' शब्दों का बार-बार उपादान कर यह सूचित किया है कि

यशःकथागानवनस्थितिध्यानानि सदैवाविच्छिन्नं राधाया एव कार्याणि, नान्यानीतिव्यञ्जका ।

अत्र 'वर्तेय' वा 'मग्नः स्याम्' इत्यादिक्रियापदानुक्तिस्तादात्विकप्रेम-वैवश्यबोधिका । तेन च समानकर्तृकोत्तरक्रियाप्रयोगे पूर्वकालिकक्रियायां क्त्वास्थाने णम् प्रत्ययः, इति मर्यादायां पूर्वगानादिक्रियावर्णनेऽपि सगद्गद-पुलकाश्रुभिः स्खलत्पदोक्तिरनुक्तापि ज्ञेया । यदा पूर्वक्रियैवापूर्णाक्षरा तदा वर्द्धमानवैवश्येनान्ते पदविस्मृतौ कैमुत्यमेवेति । तदा कथयन्त्यास्तृष्णा-धिक्येऽभिलाषकथनापूर्त्योत्तरक्रियापदमनुक्त्वैव वैवश्येन पद्यपूर्तिर्जाता, स्वयं स्थगितैवातिष्ठदिति । पुनः समयान्तरे क्रियापदाभावे स्मृते च तादात्विक-वैवश्यस्मृत्या पुनस्तथैव बाह्ये प्रेमानन्दभवनात् तदुद्दीपकत्वेनैतत्पद्यमेवमेव रक्षितमितिसहृदयैकवेद्यानन्दकम् ।

रसकशल

श्रीराधा के यश और कथा का गान, श्रीवृन्दावन में निवास और श्रीचरणों का ध्यान निरन्तर करते रहना चाहिए, अन्य किन्हीं का नहीं ।

पद्य में 'वर्तेय' (रहूँ) अथवा 'मग्नः स्याम्'' (मग्न रहूं) आदि किसी क्रियापद के उपादान न करने से यह सूचित होता है कि पद्यरचना करते समय श्रीहितसखी विह्वल हो गई थीं । व्याकरण का नियम यह है कि भिन्न भिन्न वाक्यों की अन्तिम क्रिया का कर्ता यदि एक ही हो, तो उससे पूर्ववर्ती समय का बोध कराने वाली क्रिया में 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर 'णम्' प्रत्यय किया जाता है । इसके अनुसार ग्रन्थकार ने 'गायम्' 'ध्यायम्' आदि पूर्वकालिक क्रियाओं का प्रयोग तो स्पष्ट रूप से किया, किन्तु सबसे अन्त की क्रिया का उपादन करें, इसके पूर्व ही कंठ गद्गद् हो गया, रोमाँच हो आये और आंसू बह निकले । फलतः प्रधान क्रिया इस प्रकार लड़खड़ाती हुई उनके मुख से निकली कि उसका उच्चारण करना न करना बराबर हो गया । जब पहली क्रियाओं (गायम्, ध्यायम् आदि) के अक्षर ही साबित नहीं निकले, तो उसके बाद तो प्रेमजन्य विवशता बढ़ती ही चली गई । ऐसे में यदि अन्तिम क्रियापद कहने से रह जाय, तो क्या आश्चर्य है ! जिस समय श्रीहिसखी यह सब कह रही थीं तब उनकी तृष्णा इतनी बढ़ी कि अपनी अभिलाषा की बात पूरी कह भी न सकीं और अन्तिम क्रिया के बिना कहे ही, विवशता के कारण पद्य को पूरा कर दिया और आप जहां की तहां बैठी रह गई । बाद में कुछ समय बीत जाने पर जब उन्हें याद आया कि पद्य तो बिना क्रिया-पद के ही रह गया, तो फिर पहली विह्वलता का स्मरण हो उठा और तब बाह्य दशा में आते ही प्रेम का ऐसा आनन्द उमड़ा कि उसका उद्दीपन होने के कारण पद्य को जैसा का तैसा ही रहने दिया । इस आनन्द को सहृदय ही जान सकते हैं ।

ननु स्पष्टाक्षरपदवाक्येषु दृश्यमानेषु कथं स्खलत्पदत्वं ज्ञायते ? तदत्रैव 'श्यामश्यामेत्यनुपमरसापूर्णवर्णैर्जपन्ती—' इत्यत्रोच्यमानसमये तस्या अपूर्ण वर्णत्वमेव। बाह्ये हिताचार्यवपुषा स्पष्टोक्तिः। यद्वा तादात्विकवर्णने गद्गदमेव, लिपीकरणे च तद्वर्णानां यथास्थितिरेवेति नोभयथा प्रेमव्याहतिः। श्लोकगतिस्तु पूर्वाभ्यासवशादेवेत्यन्यापि दृश्यते, 'वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः' इत्यलं विस्तरेण। प्रेममत्तानां विचित्रैव गतिरिति'॥२५३॥

एवं स्वप्रेमवैवश्ये श्रीमत्या अपि कतिपयक्षणान्तरे प्रियसंयोगानन्द एव प्रेमसिन्धुद्वयमिलनावश्यभविष्णूद्वेलनजजलयन्त्रघटीवद्दर्पणद्वयन्यायकाघटित-

रसकलश

यहाँ शंका उठती है कि जब पद्य के अक्षर, पद, वाक्य सब स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं, तो यह कैसे जाना कि श्रीहितसखी के मुख से उच्चारित पद लड़खड़ाते हुए निकल रहे थे। अन्तर यह है कि अग्रिम पद्य (२५४) में ही कहा जायगा कि 'अनुपम रस से परिपूर्ण हे श्याम ! हे श्याम ! इन अक्षरों का अपूर्ण उच्चारण करती हुई श्रीराधा प्रिय का नाम जप रही थीं।' जिस समय वे प्रिय का नामोच्चार कर रही थीं, उस समय उनके श्रीमुख से अक्षर टूटी-फूटी हालत में निकल रहे थे, किन्तु श्रीहितसखी ने 'श्याम' शब्द का प्रयोग पद्य में स्पष्ट रूप में ही किया है। श्रीमद्भागवत में भी कहा है—'इन टूटे-फूटे शब्दों से ही समझनेवाले तात्पर्य को जान गये।' अन्तरंगा सखी के रूप में श्रीहितसखी के मुँह से भी अपूर्ण अक्षर ही निकले थे, किन्तु आचार्य रूप में उन्होंने स्पष्ट ही उच्चारण किया। लिखने में वे वर्ण ठीक-ठीक ही लिखे गये, अतः दोनों पक्षों में प्रेम में बाधा उपस्थित नहीं होती। पद्य-रचना के पूर्वाभ्यास के कारण पद्य में मात्रा, यति आदि का निर्वाह स्वयं यथोचित रूप से हो गया। लोक में भी यही देखने में आता है कि 'मदिरा के मद में मस्त व्यक्ति भी कपड़े तो ठीक-ठीक पहिन ही लेता है। इतना ही विस्तार पर्याप्त है। असल में प्रेमोन्मत्त लोगों के आचरण विचित्र ही होते हैं॥२५३॥

इस प्रकार अपनी प्रेम-विह्वल दशा में श्रीहितसखी ने देखा कि कुछ ही क्षणों के बाद प्रियतम के साथ संयोगानन्द का उपभोग करते-करते वियोग की स्फूर्ति होने

---

* यह ज्ञातव्य है कि अन्य कई प्रतियों में पद्य के द्वितीय चरण का यह पाठ मिलता है—'सदा सान्द्रानन्दा नवरसदराधापतिकथा:।' इस पाठ के अनुसार पद्य के प्रथम चरण में श्रीराधा के प्रिय यश के गाने की कामना की गई है और दूसरे चारण में श्रीराधापति श्रीकृष्ण की कथाओं की।

श्रीकृपालाल गोस्वामी ने 'सदा ध्यायं ध्यायम्' को विधेय माना है और 'कदा भवेयम्' क्रिया पद का अध्याहार कर अर्थ किया है—'मैं विवश हृदय में श्रीराधा की पद-सुधा को सदा ध्यान करता हुआ कब रहूंगा।' शेष क्रियाओं को उन्होंने पूर्वकालिक माना है।

घटनाकारिवैचित्यकल्लोलोज्जृम्भितविप्रयोगस्फूर्त्यनुकूलप्रलपितादिक्रिया यथादृष्टवत्याह पद्यद्वयेन—

श्यामश्यामेत्यमृतरससंश्रावविवर्णान् जपन्ती
प्रेमौत्कण्ठ्यात् क्षणमपि सरोमाञ्चमुच्चैर्लपन्ती ।
सर्वत्रोच्चाटनमिव गता दुःखदुःखेन पारं
काङ्क्षत्यन्हो दिनकरमलं क्रुध्यती पातु राधा।।२५४।।

अत्र प्रेमवैचित्यमलौकिकजनार्हत्वान्नाधुनिकैरसम्भावनीयम् । यथा पूर्वोक्तमेव—'अङ्कस्थितेऽपि दयिते' इति । तद्वदत्र स्थानेऽप्यवहितपूर्वतरपद्ये 'अङ्के पङ्केरुहसुनयना प्रेममूर्तिः' इत्युक्तम् । तत्र विवक्षितसङ्गत्यर्थं परिभाषापि स्मर्यते—

रसकलश

के कारण प्रियाजी प्रलाप आदि करने लग गई हैं। प्रेम के दो समुद्र जब मिलते हैं, तो उनमें आपस के टकराव से उछाल आना जरूरी हो जाता है। तब रहट के चलते रहने पर जैसे उसके एक तरफ के पात्र भरे दिखाई देते हैं और दूसरी तरफ के खाली, और इसी प्रकार दो दर्पण-आगे-पीछे हो, तो उनमें अपने अगणित प्रतिबिम्बों को देख कर जैसे कोई हक्का-बक्का रह जाता है, उसी प्रकार प्रेमजन्य बे-भान की स्थिति में असम्भव और अनोखी कल्पनाओं की लहरें उठने लगती हैं और उन्हीं के कारण वियोग की भ्रान्ति हो जाती है। श्रीहितसखी ने यह सब जिस रूप में देखा उसी का वर्णन दो पद्यों द्वारा करती हैं—

'हे श्याम ! हे श्याम !' कह कर अमृतरस को झराने वाले वर्णों का जप करती हुई, क्षण में प्रेम की उत्कंठा से रोमांचित होकर उच्च स्वर से उसी नाम का उच्चारण करती हुई, अत्यन्त दुःख के कारण सर्वत्र उचाट खाती हुई, दिन छिपने की आकांक्षा करती हुई (अन्तरंग पक्ष में—अत्यन्त कष्ट के साथ सखियों के द्वारा वैचित्यरूपी दिन का अन्त चाहती हुई) और सूर्य पर कुपित होती हुई श्रीराधा हमारी रक्षा करें ।।२५४।।

प्रेम में बे-भान हो जाने के स्थिति का अनुभव सर्वसाधारण को नहीं होता, अलौकिक प्रेमियों को ही होता है, अतः नई पीढ़ी के लोगों को यह सब असम्भव नहीं समझना चाहिये। इससे पूर्व (पद ४६) में कहा गया है कि 'प्रियतम की गोद में विराजमान रहने पर भी प्रियाजी हा मोहन ! हा मोहन ! इस प्रकार मधुर विलाप करती हैं'। उसी प्रकार प्रस्तुत पद्य के पहले से पहले पद्य (२५२) में कहा जा चुका है कि 'प्रियतम की गोद में कमल जैसे सुन्दर नेत्रवाली, प्रेम की देदीप्यमान मूर्ति श्रीराधा हमारी रक्षा करें।' इस अवसर पर अपेक्षित संगति बिठाने के लिए परिभाषा प्रकरण से यहाँ उद्धरण दिये जाते हैं—

प्रेम्णः सूर्यपरीभाषा वैचित्यं दिनमुच्यते ।
यत्र क्षणं युगशतं दिनैक्ये किमु संभ्रमः ॥ १ ॥
वैकल्यं प्रेमलहरी न दुःखं तत्र भावयेत् ।
प्रेमसिन्धुमयव्यक्तौ का भ्रान्तिर्बहुवीचिषु ॥ २ ॥
शीतरश्मी रसो ज्ञेयः प्रेमोष्णकिरणस्तथा ।
रसोदयस्तदा रात्रिव्यवहारो न रात्रिता ॥ ३ ॥ इति ॥

पूर्वं चकोरेत्युक्तप्रियप्रेमप्रौढ्युपमर्दकगूढभङ्ग्येयं वैचित्योज्जृम्भोक्ति-र्यत् 'सखि ! किमासक्तं वर्णयसि ? अस्मादप्यग्रेसरासज्यप्रेमास्तीति यावन्न स्वात्मविस्मृतिस्तावत्कस्तदुत्कर्षो यथा स्पर्शमात्रप्राणहरत्वसंजीवनत्वाभ्यां विषामृतोत्कर्षः ।' यदुदये सप्रियसख्यः स्वप्रस्तुतरसप्रेमादि सर्वं विस्मृत्य चकिततयैव स्थिताः ।

रसकलश

'प्रेम का अर्थ सूर्य है और वैचित्य अर्थात् बे-भान स्थिति का हो जाना ही दिन है। जहां वियोग का एक क्षण भी सौ वर्षों के समान हो जाता है, वहां एक दिन में तो न जाने कितना संभ्रम हो जाएगा।

'विकलता का अर्थ प्रेम में विशेष प्रकार की लहरों का उठना ही समझना चाहिए। वहाँ दुःख के लेश की भी भावना नहीं करनी चाहिए। जब प्रेम को समुद्र मान लिया, तो उसमें उठने वाली अनेक प्रकार तरंगों का भ्रम होना कैसा !' (६५)

'चन्द्रमा का अर्थ रस समझना चाहिए और प्रेम का सूर्य। दिन का अर्थ जैसे प्रेम की वैचित्य अवस्था है, वैसे ही रात्रि का अर्थ भी रसपूर्ण व्यवहार या विस्तार है। रात्रि से मतलब रात के समय का नहीं होता।' (६६)

पूर्व के एक पद्य (२५७) में प्रियतम के परिपक्व प्रेम का परिचय देने के उद्देश्य से कहा जा चुका है—'मधुपति के नेत्र आपके मुखरूपी चन्द्रमंडल के चकोर हैं', आदि-आदि। प्रियतम के प्रेम की प्रौढ़ता के इस दावे को मानो खण्ड-खण्ड करने के लिए कोई श्रीहितसखी किसी दूसरी सखी से कहती है—'सखि ! क्या तुम प्रियतम की आसक्ति का वर्णन करती रहती हो ? आसज्या श्रीराधा का प्रेम इससे भी दो कदम आगे है। जब तक प्रियाजी की प्रेमजन्य आतम-विस्मृति का दृश्य देखने को नहीं मिलता तभी तक प्रियतम के प्रेमोत्कर्षक की वाह ! वाह ! होती है। विष की तारीफ इसमें है कि प्राणों को हर ले, किन्तु उससे भी बढ़कर तारीफ अमृत की जो मरे को जिला देता है।' प्रियाजी में जब प्रेम-वैचित्य उदय होता है, तो प्रिय सखियाँ अपने प्रस्तुत रस प्रेम आदि सब को भूल कर भौंचक्की होकर रह जाती हैं।

ननु प्रियस्य कथन्न वैचित्यं चेत्तत्रैवम्--प्रियस्याभिलाषित्वेन दैन्यस्थायितया संयोगालभ्यलाभे रसमज्जनमेव। अस्याश्चात्युदारतया दानवीरत्ववर्द्धने वैवश्यं स्यात्। तथा लज्जया गूढतमाभिलाषित्वस्य च कदाचिदग्निजलयन्त्रवदेकदैव मुक्तौ महावैवश्यमपरिहार्यं स्यात्, तेनास्या वैचित्यं प्रायेण भवति। प्रियेण च तदानीं दास्याप्रमादेनैव स्थातव्यमिति हि।

प्रस्तुतमाह—श्यामश्यामेति नाम्नः स्वमुखकथनस्य सङ्कोचजनकत्वेऽपि मोहात् स्फुटकथनं श्रोतृसखीनां साश्चर्यानन्दजनकं जातम्। अतएव 'अमृते'-ति, 'रसे'ति स्वादस्य सखीहृदयसाक्षिता। आदितः स्वतो रसप्रस्रवणशीलानेवाधुना तेषामेव पात्रभेदेनास्यां सम्यक्त्वं, यथा स्वातिजलं कदलीशुक्तिस्थमिति। श्यामेति रुढिनामैवास्य, तथापि वर्णप्रसिद्धकथनं गुणरूपाद्य-

रसकलश

यहाँ पूछा जा सकता है कि प्रियतम को प्रेम-वैचित्य क्यों नहीं होता? इसका समाधान यह है कि प्रियतम तो अभिलाषा में ही फँसे रहते हैं, अतः उनमें दैन्य स्थायी रूप से विद्यमान रहता है। जब उन्हें वांछित संयोग प्राप्त हो जाता है, तो उनके दुर्लभ मनोरथ की पूर्ति हो जाने के कारण वे उसी रस में अवगाहन करते रह जाते हैं। इसके विपरीत, प्रियाजी परम उदार हैं और इस रूप में जब उनमें दानवीरता का उद्रेक होता है, तो उनका विवश हो जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त उनके अन्तर में छिपी अभिलाषा कभी-कभी अर्क खींचने वाले भभका यंत्र की तरह एकाएक फट पड़ती है, तो वे प्रेमजन्य घोर विवशता की स्थिति में पहुंच जाती है' जिससे कि बच कर निकलने का कोई उपाय नहीं है। यही कारण है कि प्रियाजी को प्रायः वैचित्य हो जाता है। जब प्रियाजी की ऐसी स्थिति हो, तो दास्य भाव को अंगीकार करते हुए प्रियतम का सावधान बना रहना ही उचित है।

प्रस्तुत विषय पर आते हैं—'श्याम'! 'श्याम'! कह कर नाम लेने में प्रियाजी को संकोच होना चाहिये, परन्तु आपे में न रहने के कारण ही प्रियाजी ने स्पष्ट नाम लिया। सुनने वाली सखियों को इससे आश्चर्य भी हुआ और आनन्द भी, इसी लिये इन वर्णों को अमृत तथा रस को झराने वाला कहा है जिसके कि साक्षी सखियों के हृदय हैं। 'श्याम' नाम के अक्षर पहले ही स्वयं इतने मधुर हैं कि लगता है कि मानों कानों में रस टपक रहा हो। अब जबकि उनका उच्चारण करने वाली प्रियाजी हैं, तो रस बरसाने का काम और भी समीचीन ढंग से हो रहा है—ठीक उसी प्रकार जैसे स्वाति नक्षत्र में आकाश से टपकने वाली बूंद केला पर पड़ कर कपूर बन जाती हैं और सीप के उदर में मोती। 'संश्रावि' में 'सम्' उपसर्ग से यही भाव व्यक्त होता है' 'श्याम' शब्द रूढ़ि में श्रीकृष्ण का ही वाचक है, परन्तु इस नाम के द्वारा प्रधानतया संकेतित व्यक्ति के रंग का ही निर्देश किया जाता है, न कि उसके रूप, गुण आदि का। विवश हो

विवेचनपरं, वैवश्यानवकाशात्। 'श्यामे'-ति द्वयक्षरत्वे पुनः पुनः कथनाद्बहुत्वम् । 'जप् व्यक्तायां वाचि' इत्यनेन मनस्थांश्च श्रोत्रव्यक्ततया वक्ति । नचात्र मालाजपः शङ्क्यः, अङ्कसंयोगसामयिकोक्तेः। वैचित्यारम्भे विरहाभासभवने भाविविषवर्द्धनं स्मृत्वामृतभावनया भेषजबुद्धयैव 'श्यामश्यामे'-ति जपन्तीति सख्युक्तिगर्भितोत्प्रेक्षामयव्यंग्यम् । पश्चात् प्रत्युतवर्द्धनज्ञाने 'उच्चैः' इति वक्ष्यति । ततोऽपि वर्द्धने 'उच्चाट' इति हि ज्ञेयम् । पुनश्च क्षणान्तरे च सिन्धुवत्प्रतिक्षणवर्द्धिष्णुप्रेम्णः प्रियत्वस्यौत्कण्ठयादौत्सुक्यादुत्फणनादिति यावत् । 'सरोमाञ्चम्' इत्युपलक्षणेन कम्पचमत्काराद्यपि ध्येयम् । 'उच्चैर्लपन्ती' इत्यनेन यथायथोज्जृम्भणं तथातथोच्चैर्भाषणं, यथा कश्चित् प्रियेण बहुदिनान्तरे मिलति, तमालिङ्गय तन्नामैवोच्चैर्लपन् रोदितीति । तद्वदत्र मिलनदौर्लभ्यज्ञापकप्रेमतरङ्गः ।

रसकलश

जाने के कारण प्रियाजी को इस सब की विवेचना करने का अवकाश ही नहीं था, अतः 'श्याम' ही कहा । 'श्याम' शब्द के दो वर्ण हैं, परन्तु इस नाम को बार-बार जो लिया, तो दो के बजाय कई वर्ण हो गए, अतः 'वर्णों को कहा है । कृत्-प्रत्ययान्त 'जपन्ति' शब्द 'जप्' धातु से बना है जिसका अर्थ है स्पष्ट कहना । अतः तात्पर्य यह है कि मन में स्थित इन वर्णों को प्रियाजी अब इस रूप में उच्चारण कर रही हैं कि सब सुन लें । यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वे माला लेकर नाम जप कर रही थीं, क्योंकि प्रस्तुत उक्ति तो उस समय की है, जब वे प्रियतम की गोद में थीं । प्रेम-जन्य मोह के आरभ में प्रियाजी को जब कुछ-कुछ विरह का आभास होने लगा. तो उन्होंने सोचा कि मोह का यह विष तो अब ज्यादा ही ज्यादा फैलेगा, अतः इसकी कोई दवा लेनी चाहिये, तो उन्होंने इसी उद्देश्य से 'श्याम-श्याम' रटना शुरू कर दिया—सखी की यह उत्प्रेक्षा भी इससे व्यंजित होती है । प्रियाजी को आगे चल कर जब मालूम होगा कि औषध लेने पर भी यह जहर तो बढ़ता ही जा रहा है, तो स्वर और भी ऊँचा हो जायगा, और जब उससे भी ज्यादा बढ़ेगा तो यह वर्णन किया जायगा कि उनका मन सब तरफ से उचाट खा गया । उसके बाद फिर यह हुआ कि क्षण-क्षण में समुद्र की भाँति प्रति क्षण बढ़ने वाले प्रेम अर्थात् प्रियता की उत्कंठा, उत्सुकता, या कहना चाहिये कि उफान से उन्हें रोमांच हो आया । यहाँ नाम तो केवल रोमाँच का लिया है, पर उसके साथ में कंप, चमत्कार आदि का होना भी समझ लेना चाहिये । ऊँचे स्वर से नामोच्चारण का मतलब यह है कि जैसे-जैसे प्रेम उतड़ता था, वैसे-वैसे स्वर भी ऊँचा उठता जाता था । जैसे कोई अपने प्रिय व्यक्ति से बहुत दिन बाद मिले, तो उसका आलिगन कर जोर-जोर से कुछ कहता हुआ होता है, उसी प्रकार प्रस्तुत में भी प्रियाजी की प्रेम-तरंगें मिलन की दुर्बलता को सूचित करती हैं ।

तदानीं प्रियेण बहु समाहिता। ततश्च सखीभिरन्तरङ्गाभिरपि संज्ञानं कृतम्—'प्रिये! यदर्थमौत्कण्ठ्यं तस्य त्वमङ्कस्थैव, मुग्धवत् कथं व्याकुलीभवसि ?' इत्यादि। तथापि प्रेमोत्सेको न शान्तः। तदा 'सर्वत्र' इति प्रियस्य सखीनाञ्चोत्सङ्गे, शय्यायां च, वार्तान्तरालम्बे च न कुत्रापि प्रकृता, उच्चाटनमिव प्राप्त, साश्रु विलपन्त्यस्थिरचित्ता। तदा दुःखदुःखेनान्हो पारं, सखीभिस्तद्वैचित्यान्तं काङ्क्षति, अन्तर्भूतणिजर्थेन वाञ्छां कारयतीत्यर्थः। हा! कदास्याः प्रेमोत्सेकः शान्तिमेष्यतीति काङ्क्षा। अतो'ऽन्हो' संकेतित-वैचित्यदिने दिनकरं प्रेमसूर्यं—सखीषु तादृगुक्तिव्यवहारो ज्ञेयः—महाताप-करदिनोदयकारणभूतं प्रति 'अलम्' अत्यर्थं क्रुध्यतीत्यत्रापि क्रोधं कारयतीत्यर्थः। 'अहो! किं तेजसस्तवैश्वर्यं यत् सुकुमारीमेवं व्याकुलयसीति, प्रियसंयोगेऽप्येवं विरहदुःखमुद्दीपयसि। धिक्! त्वामसमीक्ष्यकारिणं,

रसकलश

तब प्रियतम ने उन्हें बहुत प्रकार से सावधान किया। अन्तरंगा सखियों ने भी चेत दिलाया कि प्रिये! जिनके लिए आप इतनी उत्कंठित हैं, उसी की गोद में ही तो बैठी हैं, फिर क्यों बावली की तरह घबड़ा रही हैं?' इत्यादि, पर इतने पर भी प्रेम का ज्वार जब शान्त नहीं हुआ, तो सब तरफ से मन उचाट खा गया। 'सर्वत्र' अर्थात् प्रियतम और सखियों कीं गोद में, शय्या पर, विषय बदल कर अन्य-अन्य बातें छेड़ने पर—कहीं भी मन लगा ही तो नहीं। पहले जैसी रही ही नहीं—उखड़ी-उखड़ी हो गई। तब आँसुओं से विलाप करती हुई, विचलित चित्त से, अत्यन्तदुखी होकर 'अन्हो पारं काङ्क्षति'—अर्थात् वैचित्य की उस स्थिति के समाप्त होने की सखियों से इच्छा करती हैं। 'काङ्क्षति में प्रेरणार्थ के छिपे रहने से अर्थ होगा—यह कहने के लिये सखियों को प्रेरित करतो हैं कि 'हाय! इनके प्रेम का वह दौरा न जाने कब शान्त होगा?' इसलिए प्रियाजी सूर्य पर अत्यन्त क्रोध करती हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'दिन' से अभिप्राय यहां साधारण दिन का नहीं हैं, बल्कि बे-भान स्थिति से है। इसी प्रकार सूर्य से अभिप्राय प्रेम का है। आपसी व्यवहार में सखियों के बीच यही बोलन चलती हैं। प्रेम-सूर्य महासंतापकारी वैचित्यरूपी दिन का कारण है, (प्रेम के अभाव में वैचित्य होता ही कैसे?) इसीलिये प्रियाजी प्रेम-सूर्य पर कुपित होती हैं। 'क्रुध्यति क्रिया में भी प्रेरणा निहित होने से अर्थ होगा—सखियों से क्रोध करने के लिए कहती हैं। कुपित होकर सखियाँ सूर्य से कहती हैं—'अरे! तुम्हारे तेज का यह कैसा प्रभाव है जो सुकुमारी प्रिया को इतना व्याकुल कर रहा है। प्रिय के साथ संयोग होते हुए भी तुम विरह-दुख को इस प्रकार भड़काते हो? धिक्कार हैं तुझे! तुम तो आगा-पीछा बिल्कुल सोचते ही नहीं! दया-माया क्या तुम में बिल्कुल ही नहीं रही? अभीष्ट देवता की कृपा की दुहाई है जो तुम अस्त न हो जाओ। इस तरह सूर्य को कोसने के लिए सखियों से कहती

निर्दयम् । देवेष्टप्रसादात् क्षिप्रमेवास्तं गच्छ, गच्छ' इति शापयन्तीत्यादि-क्रोधोक्तिभङ्गी ज्ञेया । तथा कश्चिद्धावमानाश्वारोहं पश्यन् वक्ति, 'पतितु-मिच्छत्ययम्', इत्यादिवद्वैचित्यदुःखातिशयसमाधानाशक्यं वीक्ष्य काङ्क्षति, क्रुध्यतीति सख्युक्तिः । नच प्रियायाः दुःखभानम् । तस्यास्तु प्रेमलहरी-विशेष एव । सख्या अपि सौकुमार्यदृष्ट्या प्रलपनोच्चाटनेनचासह्यत्वादेव दुःखोक्तिरिति ।

एवं राधाविमिश्रशुद्धप्रेमविलासवैभवनिधिस्वरूपा 'पातु' इति बहुवैचित्यं न वर्द्धयतु । संयोगानन्ददानेन प्रियं सखीश्च पालयत्विति ।।२५४।।

तदनन्तरं सप्रियसखीभिर्बहु समाहिताप्यशान्तवैचित्यवेगा यद्यत्तरङ्ग-मुद्भावितवती, तत्तद्यथा दृष्टं सख्याह—

कदाचिद् गायन्ती प्रियरतिकलावैभवगतिं-
कदाचिद्ध्यायन्ती प्रियसहभविष्यद्विलसितम् ।
अलं मुञ्चामुञ्चेत्यतिमधुरमुग्धप्रलपितै-
र्नयन्ती श्रीराधा दिनमिह कदा नन्दयतु नः ।।२५५।।

रसकलश

हैं—यह भाव है क्रोधोक्ति का । दौड़ते हुए घोड़े पर चढ़ने की चेष्टा करते हुए किसी को लक्ष्य कर जैसे कोई कहे—'अरे ! इसने तो गिरने की ही ठान ली है, इसी प्रकार वैचित्य के घोर दुःख का कोई प्रतीकार न देख कर सखी कहती है कि प्रियाजी यह चाहती हैं, इस तरह कुपित होती हैं । मतलब यह है कि प्रियाजी को दुःख का अनुभव नहीं हो रहा है । उनके अन्दर तो प्रेम की अनूठी तरंगे ही उठ रही हैं । हां, प्रियाजी की सुकुमारता का विचार कर सखियों से ही उनका प्रलाप करना, उच्चाटन आदि नहीं देखा जाता, इसलिए दुखी होने की बात कही गई है ।

इस प्रकार किसी विजातीय तत्व के संपर्क से शून्य, विशुद्ध प्रेम-विलास के वैभव की निधि श्रीराधा रक्षा करें—अर्थात् इससे अधिक अब वैचित्य को न बढ़ने दें । प्रार्थना यह है कि वे संयोगानन्द प्रदान कर प्रियतम एवं सखियों का पोषण करें ।।२५४।।

इसके अनन्तर प्रियसखियों द्वारा बहुत-बहुत समझाने-बुझाने पर भी प्रेम की विह्वलता का वेग शान्त नहीं हुआ । उस स्थिति में प्रियाजी ने हृदय में जिन-जिन प्रेम तरंगों की उद्भावना की, उन्हीं का वर्णन करते हैं—

'कभी प्रियतम के रतिकला-संबंधी वैभव की रीति का गान करती हुई, किसी समय प्रियतम के साथ घटित होने वाले भावी विलास का ध्यान करती हुए, 'बस! बस! बहुत हो गया, छोड़िये ! छोड़िये !' इस प्रकार के अत्यन्त सुन्दर और मोहपूर्ण प्रलापों द्वारा दिन को व्यतीत करती हुई श्रीराधा हमें यहाँ कब आनन्दित करेंगी ? ।।२५५।।

बहुसूच्चाटनगतिषु 'कदाचित्' अनियतभावतरङ्गोदयक्षणे, 'प्रियेऽद्यैवाङ्कालिङ्गितासि, किमिदं विच्छिन्नवदस्थिरत्वम् ?' इत्यादिसमाधाने पूर्वानुभूतप्रियसुरतकलावैभव पतितमनसा तद्वैभवगतिं वर्तनरीतिं गायन्ती। वर्तनरीतिर्यथा—'केनापि नागररेण पदे निपत्य सम्प्रार्थितैकपरिरम्भरसोत्सवायाः' इत्यादि परमायत्ततयैव दास्याप्रमादचलनं, न च केवलं कामुकपतित्वेनैवेति, अन्यथा वैभवोक्तेस्तन्मदाविष्टोऽसमीक्ष्यकारी भवेदेवेति।

गानमत्र प्रसादाविष्टमनस्तरङ्गहेतुसूचकम्। यद्वा रतिः प्रीतिस्तस्याः कला परम्परा, यथाश्रुकलेत्यत्र धारापरम्परार्थं एव। 'प्रीति'र्यथा चतुरशीति पदे—'जोई जोई प्यारौ करै सोई सोई मोहि भावै' इत्यादि

रसकलश

वैचित्य के कारण उच्चाटन के विविध प्रकार प्रियाजी में परिलक्षित हो रहे हैं। कभी किसी भाव की तरंगें उठती हैं, तो कभी किसी की। कोई नियम नहीं रहा है ऐसे ही किसी क्षण में सखियाँ समझाती हैं कि 'प्रिये ! आज ही तो प्रियतम ने आपको गोद में भर कर आलिंगन किया है, फिर विलग हुई की भाँति यह अस्थिरता कैसी ?' तब प्रिया जी का मन इस स्मृति में डूब जाता है कि इससे पूर्व उन्होंने प्रियतम की सुरत-कला के वैभव का कैसा-कैसा उपभोग किया था, और तब उसी वैभव-गति का—सुरत प्रसंग में अपनाये गये व्यवहार की रीति का—गान करने लग जाती हैं। 'रीति' से यहाँ अभिप्राय इसी ग्रन्थ में अन्यत्र वर्णित प्रियतम के कुछ इस प्रकार के आचरण से है—'हे श्रीराधे किसी चतुर शिरोमणि के पैरों में पड़कर एक बार आलिंगन का रसोत्सव प्रदान करने की आपसे प्रार्थना की', (पद्य ६) तो रीति (गति) का अभिप्रेत अर्थ अत्यन्त अधीर न बन कर, दास्य भाव के अनुरूप बिना किसी प्रमाद के आचरण करना है। कामुक पति बनने से ही काम नहीं चलता। कामुक-रूप में भी रति-कला के वैभव का प्रदर्शन किया जा सकता है, पर डर इस बात का है कि ऐसा करने से प्रियतम मदान्ध हो जायँगे और उचित-अनुचित का विचार किये बिना अपने मन की करने लग जायँगे।

गान करने से यह सूचित होता है कि प्रसन्नता के आवेश में प्रिया जी के मन में तरंगें उठ रही हैं। अथवा रति का अर्थ यहां प्रीति है। उसकी कला अर्थात् परंपरा। 'अश्रुकला' में भी 'कला' का अर्थ परम्परा या धारा ही है। ('प्रीति' की इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होगा—'प्रीति की परम्परा के वैभव का गान करती हुई।) प्रीति का स्वरूप हितचतुरासी के प्रथम पद में बताया गया है—'जोई जोई प्यारौ करै सोई सोई मोहि भावै।' इसी प्रकार के किसी पद का सस्वर गान करने से तात्पर्य है।

काञ्चित्सस्वरगानम् । अत्र लज्जालोर्गानन्तु किमुतमां, गोपनीयप्रियरहो-विलासकथनमात्रस्यैवासंभाव्यम् । ततो वैचित्र्यतरङ्गे सर्वविस्मृति र्घटत एव ।

तदानीं प्रियस्य मनसि तत्प्रसादोज्जृम्भज्ञानपूर्वकहृष्टता, उपरिचेतनी-करणालिङ्गनाश्वासनादिसमाधानव्यापृतत्वम् । ततश्च सहृदयेङ्गितज्ञतया किञ्चित्सखीसमाधानान्तरे च तूष्णीभूता । कदाचित् क्षणान्तरे भाविमनो-रथान्तरपतितमनसा प्रियेण सह भविष्यच्चतद्विलसितञ्च । 'सह' इत्यस्य 'भविष्यता' समासः, पश्चात् प्रियेणेति ज्ञेयम् । 'ध्यायन्ती'-त्यत्र विलास-विवेचनं भावुकध्येयमेव । तत्र ध्यानस्यारम्भे 'एवं क्रीडिष्यामि । स चैवं लम्पटो बहुमन्यमानो विलासं प्रापयिष्यति', इत्यादिभाविमनोरथकरणम् । पुनस्तदावेशे क्रियमाणत्वस्फूर्त्या मनसि विलासबोधे प्रियलौल्यशीलभावनया

रसकलश

लजीली प्रियाजी के द्वारा इस प्रकार गान करना तो दूर की बात है, वे तो एकान्त-विलास की कोई चर्चा तक अपने श्रीमुख से नहीं कर सकतीं । किन्तु जब वैचित्य की हिलोरें मन में उठ रही हों तो सब कुछ भूल जाना स्वाभाविक ही हो जाता है ।

(प्रियाजी के गाने से) प्रियतम को अनुमान हो गया कि उनमें अब कृपा-भाव उमड़ रहा है और वे बड़े प्रसन्न हुए और प्रियाजी को प्रकृतिस्थ करने के लिए उनका आलिंगन कर, धीरज बँधा कर तरह-तरह से समझाने-बुझाने में जुट गये । कुछ तो सहृदय होने के कारण प्रियाजी दूसरों का अभिप्राय जानने में स्वतः निपुण हैं, इधर कुछ सखियों ने समाधान किया, तो चुप हो गई । किन्तु क्षण-भर के बाद ही भविष्य के दूसरे-दूसरे मनोरथों में मन उलझ गया और प्रियतम के साथ भोगे जाने वाले विलासों का चिन्तन करने लगी ।' 'प्रियसह भविष्यद्विलसितम्' में विग्रह होगा—होने वाले जो विलास । 'सह' का समास पहले 'भविष्यत्' के साथ करना होगा, बाद में 'प्रिय' के साथ । भावुक हृदय ही समझ सकते हैं कि भावी विलास को लेकर प्रियाजी क्या-क्या सोचती रही होंगी । ध्यान के प्रारम्भ में उन्होने सोचा होगा—'ऐसे-ऐसे क्रीड़ा करूँगी और वह लंपट भी मेरी क्रीड़ाओं से कृतज्ञ होकर मुझे अनेक प्रकार के विलासों का अनुभव करायेंगे । भावी विलास-मनोरथों से अभिप्राय कुछ इसी प्रकार की बातों को सोचने से है । फिर विलास के प्रसंग में किये जाने वाले आरम्भों को लेकर ज्योंहि मन में स्फूर्ति हुई और विलास का स्पष्ट चित्र सामने उतरा, त्योंहि प्रियाजी के मन में यह कल्पना भी उठी कि अपनी लोलुपता में प्रियतम हाथ से आंचल खींच रहे हैं और नीवी पर हाथ डाल रहे हैं । यह खयाल आते ही 'बस ! बस ! ठहरिये तो ! छोड़िये ! छोड़िये !' यह उन्होंने मन ही मन में कहा । चूंकि ऐसी बात बाहर नहीं

कराञ्चलनीव्यादिगृह्यमाणस्फूर्तौ 'अलम्' इति 'मुञ्च, मुञ्च' इति मानसिककथनस्य बहिरनन्वितत्वात् प्रलपितं जातम्। 'प्रलापोऽनर्थकं वचः' इति। तन्मधुरन्तु विलासकालीनत्वात् प्रकृतमेव, बहुशः सख्यनुभूतेः। इदानीं प्रेमवैचित्ये परमाश्चर्यानन्दजनकत्वादत्यन्तश्रवणास्वादकम्। मुग्धं सुन्दरम्। प्रेमोन्मदिष्णूनां मत्तावस्थैव परमशोभना, न तादृशी सावधानता मुहो वैचित्यार्थस्तु स्फुट एव। बहुत्वं नानाभङ्गीमयत्वोक्तेः। यथा चुम्बनादिक्रियमाणतास्मरणे 'अलम्' इति 'पूर्णम्, तिष्ठ, तिष्ठ' इति। पुनस्तदावेशे दन्तक्षतादिपीडने च सहुङ्कृतिशीत्कृति मुञ्च मुञ्चेति कथनम्। एवं विकटबन्धादावपीति ज्ञेयम्। अतिमधुरत्वस्य सुन्दरत्वस्य सखीहृदयवेद्यतैवात्र।

एवं वैचित्यं दिनवत्स्फुटविलासावरोधकं मनोरथान्तरव्यापारै निरवकाशं नयन्ती, पूरणं कुर्वन्ती, सखीदृष्ट्या दिनान्तप्रतीक्षावत्कष्टेन

रसकलश

निकाली जा सकती थी, अतः 'बस ! बस !' आदि वाक्य प्रलाप बन कर रह गये। अमरकोष के अनुसार प्रलाप उस वाणी को कहते हैं जिसका कोई अर्थ न हो। प्रलाप विलास के समय का है, अतः उसे स्वाभाविक रूप से मधुर होना ही चाहिए। सखियों का भी बहुत बार का ऐसा ही अनुभव है। विलासकालीन वही प्रलाप प्रेमवैचित्य की वर्तमान अवस्था में अत्यन्त आश्चर्यजनक और आनन्ददायक लग रहा है। इसीलिए सुनने में आस्वादनीय होने के कारण वह मुग्ध अर्थात् सुन्दर है। प्रेम में मतवालों का बदहोश होना ही शोभाजनक होता है। होश में रहने की आशा उनसे नही करनी चाहिए। 'मुग्ध' शब्द वैचित्यार्थक 'मुह' धातु से निष्पन्न है, अतः उसका अर्थ स्पष्ट ही है। 'प्रलपितैः' में बहुवचन का प्रयोग इस दृष्टि से किया गया है कि उसके अन्दर तरह-तरह की उक्तियां निहित हैं। जैसे--प्रियतम के द्वारा चुंबन आदि किये जाने का स्मरण होने पर प्रियाजी ने 'अलम्' कहा। 'अलम्' का भावार्थ यह है कि 'बहुत हो चुका, अब ठहरिये, जरा रुकिए।' चुंबन आदि के आवेश में ही प्रियतम ने दन्तक्षत द्वारा पीड़ा पहुंचाई, तो प्रियाजी ने हुंकार-सीत्कार भरते हुए कहा—'छोड़िये ! छोड़िये !' इसी प्रकार विकटबन्ध आदि आसनों के प्रयोग में भी समझना चाहिए। ये प्रलाप कैसे मधुर और सुन्दर होते हैं, इसका अनुभव तो सखियों को ही होता है।

खुल कर विलास करने में जैसे दिन बाधक बन कर आता है, वैसे ही प्रेम-वैचित्य की दिशा भी स्वच्छन्द विहार में विघ्न बन जाती है। अतः यह दशा जब तक रहे, उतने समय को प्रियाजी, विविध मनोरथ करती हुई इस प्रकार व्यस्त होकर बिता रही थीं कि वैचित्यजन्य विकार के लिए कोई जगह खाली न रह जाय। 'नयन्ती' का

येन केन व्यतयमानतया कथनम्। तासामिष्टस्तु स्फुटविलासो, न मानसिक एव।

'इह' अस्मिन् संयोगसाक्षात्कारे निशायां दिनं प्रापयन्ती, स्वाप्निकवत्। 'इह' इत्यत्राधारकर्मथैक्यात् द्विकर्मकत्वार्थोऽपि निष्पन्नः, अन्यथा संयोग विरहमानं कथं घटेत ?

एवं प्रेमोद्वेलनश्रीविशिष्टा राधा प्राणसखीनस्मान् सप्रियसखीजनान् विरहाभासोक्तिखिन्नानन्तर्विलासानन्दैकतन्मतया, वा तादृशसाक्षात्कारेणानन्दयतु। 'कदा' इति उपान्त्यसमयोपस्थितावपि क्षणमात्रासहिष्णुतया हि।

रसकलश

अर्थ है (दिन को) पूरा करती हुई। कम से कम सखियों का दृष्टिकोण यही था कि प्रियाजी बड़े कष्ट का अनुभव करती हुई इस प्रतीक्षा में हैं कि जैसे-तैसे सन्ध्या आ पहुंचे। इसीलिए सखियों ने अपने कथन को इस रूप में उपस्थित किया है। सखियों का अभीष्ट तो यही रहता है कि प्रिया-प्रियतम स्फुट विहार करें, न कि यह कि उसका मानसिक उपभोग करके ही सन्तुष्ट हो जायँ।

'इह' (यहाँ) का मतलब है कि इस संयोग-साक्षात्कार में (रसानुभूति-रूप) रात्रि में (वैचित्यरूप) दिन को पहुंचाती हुई (रात्रि को दिन में परिणत करती हुई) जैसे कोई व्यक्ति रात को स्वप्न में दिन जैसे सब व्यवहार करता है, उसी प्रकार। 'इह' में आधारत्व और कर्मत्व दोनों का समावेश होने के कारण 'नी' धातु के द्विकर्मकत्व का निर्वाह हो जाता है, नहीं तो संयोग में विरह की प्रतीति कैसे संभव है ?

इस प्रकार छलछलाते हुए प्रेम की शोभा से सम्पन्न श्रीराधा, विरहाभास से दुखी हम प्यारी सखियों को आन्तरिक विलास के आनन्द में तन्मय होकर अथवा उसके प्रत्यक्ष दर्शन करा कर आनन्दित करें। 'कदा' (कब) कहने का आशय यह है

* 'दुह्याच्पच्दण्ड्' आदि वार्तिक के अनुसार 'नी' धातु भी द्विकर्मक है। उदाहरण— ग्रामं अजां नयति। इस वाक्य में प्रापणार्थक व्यापार का प्रयोज्य ग्राम-संयोग है, अतः 'अजा, प्रधान कर्म है। ग्राम अजा का आधार है, अतः अधिकरण है। परन्तु ग्राम के अधिकरणत्व की उपेक्षा कर ग्राम को भी अजा विषयक संयोग से सम्बन्धित मान कर उसे कर्म की कोटि में पहुंचा दिया जाता है और द्वितिया विभक्ति कर दी जाती है।

प्रस्तुत में विचाराधीन वाक्य है —'श्रीराधा इह (संयोगसाक्षात्कारभूतायां निशायां दिनं प्रापयति'। इस वाक्य में प्रापण व्यापार का प्रयोज्य 'दिन' है और (संयोग) निशा उसका आधार है। किन्तु 'इह' (संयोग निशा) को भी दिन से संबंधित मान कर उसे कर्म मान लिया गया है। अब शब्दबोध इस प्रकार होगा—श्रीराधाकर्तृकं दिनकर्मकं निशासंबन्धि नयनम्। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि परिभाषा के अनुसार वैचित्य को दिन माना जाता है और संयोग को रात्रि।

नन्वेतावदुद्वेलनं स्वयं रोद्धुं कथन्न शक्ता ? तत्रैवम्—क्रीडकः क्रीडनवशः, कुत्र तद्वशगञ्च तत् । एवं स्वयमत्र प्रेमवशा । यथा च दुग्धोऽप्युत्सेकसमये दोग्धृवशो न तिष्ठति जलसेकादिसाधनेन कष्टेनोपशमनीयः । तथैव प्रेमाधिदेव्या अपीति । तेन सख्या दुःखदुःखोक्तिः ।

अथवा

अन्तर्लीलानिकुञ्जैकरहोभावसमन्विता ।
व्रजलीला तथा भानुनन्दसाम्बन्धिकान्वया ।।

इत्यादिरीत्या, 'पुरन्ध्रीणां चूडाभरणनवरत्नं विजयते', प्रेमास्पदं व्रजमहीपतितन्महिष्योः' इति, 'व्रजेन्द्रगृहिणीप्रेमैकपात्रम्' इत्याद्युक्ते ग्रन्थकर्त्तोरीकृतसाम्बन्धिकभावपक्षे श्रीव्रजराज्ञीगृहोपलालनीयजीवातुस्नुषारसे केनचिदुत्सवादिवशेन दिनविप्रलम्भजप्रेमोत्कण्ठचातिशयवर्णनमयमिदं पद्य-

---

रसकलश

कि यद्यपि वैचित्य के अन्त होने का समय अत्यन्त निकट है, किन्तु हम सखियों को तो एक क्षण भी असह्य हो रहा है ।

प्रश्न हो सकता है कि प्रेम की इस अमर्यादित वृद्धि को प्रियाजी स्वयं क्यों नहीं सह सकतीं, तो इस संबंध में ज्ञातव्य यह है कि कभी खिलाड़ी खेल के वश में होता है, तो कभी खेल खिलाड़ी के । प्रस्तुत में प्रियाजी स्वयं क्रीड़ा के वश में हैं । उफान आने पर दूध दुहने वाले के वश में नहीं रहता, और जल के छींटे देने पर ही बड़ी कठिनाई से बैठ पाता है । यही बात प्रेम की अधिष्ठात्री देवी के सम्बन्ध में भी लागू है । इसीलिए श्रीहितसखी ने अत्यन्त दुख की बात कही है ।

अथवा—

'अन्तरंग लीला निकुंज के एकमात्र एकान्तभाव से सम्बन्धित है और बहिरंग-लीला श्रीवृषभानु और श्री नन्द के सम्बन्ध से सम्बन्धित है । (परिभाषा-प्रकरण-११२)

—इत्यादि उक्तियों के अनुसार ग्रन्थकर्ता श्रीहिताचार्य ने निकुंज-लीला को ब्रज लीला से तथा श्रीनन्द-भानु से अन्वित माना है । जिसके समर्थन में श्रीराधासुधानिधि के ये उद्धरण हैं—'व्रजनागरियों के चूड़ाभूषण की नवीन रत्न श्रीराधा की जय हो' पद्य-५०),

'श्रीराधा व्रजेश्वर श्रीनन्द तथा उनकी रानी यशोदा—दोनों की प्रेम-पात्र हैं' (पद्य २६),

'व्रजेन्द की गृहिणी यशोदा श्रीराधा को उसी तरह प्यार करती हैं जैसे श्रीगोविन्द को' (पद्य-६८) ।

द्वयम् । तत्र मुक्तकपक्षे तु स्फुटमेव, कदाचिदित्युक्तेः । कदाचित्कलीलैव दिनद्वयसम्बन्धिनी भिन्नेति सम्बन्धोक्तिव्याख्यायान्तु तादात्विकप्रेमौत्कठण्य केनचिद्धेतुना 'गायं गायम्' इत्युक्तेरिदानीमेव गायति । किञ्च मधुरतर-प्रिययशो वा सान्द्रानन्दनवरसदरतिकथेति सर्वं प्रेममूलकमेव, इत्यतः तादात्विकस्वाजात्यभावस्फुरणात् शुद्धप्रेमविलासवैभवनिधित्वमेव स्मारयित्वा स्वयमाशिषमाशास्ते । प्रियं प्रति तु त्वदर्थमेवमेवं प्रेमव्याकुलेति प्रियतोत्कर्षं स्मारयित्वा श्रीमत्या इङ्गितेनैवानुसरणीयं, न लौल्येन' इति, प्रियां प्रति 'यदर्थमेवं विह्वला तल्लौल्यमपि सोढ्वा सुखं देहि, न च लज्जाधिक्यवाम्या-दिना किञ्चित्प्रातिकूल्यमात्रमप्याचर' इत्याद्यद्यतन स्मारणहेतुरपि ज्ञेयः ।

रसकलश

इस पक्ष में, ब्रजरानी के घर में श्रीराधा का बड़े चाव से लाड़-प्यार होता था। श्रीमती यशोदा के तो प्राणों का वह आधार थीं। पुत्र-वधू-सम्बन्धी इस रस का जिस घर में उपभोग किया जाता था, वहां किसी उत्सव आदि के व्यवधान के कारण श्रीराधा को श्रीकृष्ण से मिलने का कुछ समय तक अवसर नहीं मिला। इन दो पद्यों में इसी अवसर पर होने वाली विरहजन्य प्रेमोत्कंठा का वर्णन किया गया है। मुक्तक-पक्ष में तो अर्थ स्पष्ट ही है, क्योंकि पद्य का प्रारंभ 'कदाचिद्' से होता है, जिसका मतलब यह है कि किसी समय होने वाली स्वतंत्र घटना का यह वर्णन है। यदि यह मान कर व्याख्या की जाय कि (पद्य २५४ और २५५ में) किसी समय घटित हुई लीला का ही वर्णन किया गया है जिसका दो दिनों से है, तो, जैसी कि श्रीहितसखी ने (पद्य २५३) में अभिलाषा व्यक्त की थी, उसी से प्रेरित होकर, किसो कारण वश अब (पद्य २५५) द्वारा गाती हैं। दूसरी बात यह है कि श्रीराधा का अत्यन्त मधुर और प्रिय यश हो या घने आनन्द से परिपूर्ण, नूतन रस प्रदान करने वाली रति-कथा हो, सब के मूल में श्रीहितसखी-निष्ठ प्रेम ही है। अतः तत्कालीन स्वाभाविक प्रेम-भाव के जागृति होने के कारण प्रियाजी को इसका स्मरण दिला कर कि वे शुद्ध प्रेम और विलास-वैभव की निधि हैं, श्रीहितसखी स्वयं उनका आशीर्वाद चाहती हैं। प्रियतम से वे यह कहती हैं कि 'प्रियाजी आपके ही लिए प्रेम से इस-इस प्रकार व्याकुल हैं।' इस रीति से श्रीराधा के प्रिय विषयक प्रेम की महिमा का स्मरण दिला कर वे प्रियतम से यह कहना चाहती हैं कि 'श्रीमती की चेष्टाओं से उनके हार्दिक भावों का अनुमान लगा कर ही आपको उनका अनुसरण करना चाहिए, न कि लोलुपता के वश में होकर।' और प्रियाजी से उनका यह कहना है कि 'जिनके लिए आप इतनी व्याकुल हैं, उनकी लोलुप-वृत्ति को भी सहकर उन्हें सुख देना चाहिए, यही नहीं कि अधिक लजीली बन कर और उनकी तरफ से अपना रुख बदल कर कोई प्रतिकूल व्यवहार कर डालें।' यही आज के याद दिलाने का कारण समझना चाहिए।

व्याख्यायते चावशिष्टम्—तदानीं युवराजकीयस्वास्थितिहर्म्ये सखीषु स्थित्या वधूत्वेन पतिनामसाक्षादुक्तिलज्जया 'जपति', मुख एव लघुलघूच्चारयति, यत्र कापि शृणुयादिति प्रियतातिशयेन नामनाम्नोरभेदेनामृतत्वशक्तेर्नामामृतमुक्तम्। यदा च प्रेमौत्कण्ठ्यमत्यन्तमुच्छलति तदा लज्जां विस्मृत्य क्षणं 'उच्चैरपि लपन्ती', आवेशवशान्मुखान्निष्क्रामति। 'उच्चैरि' त्यस्य 'अपि' इत्यनेन सम्बन्धः। 'सर्वत्रे'-ति शय्यायां, सखाङ्के, गाने, कौतुके भोजनादौ चेति। 'उच्चाटनं' यथा मंत्रेण करोति तद्वत् कुत्रापि मनो न तिष्ठति। 'इव' इत्यनेन प्रियोद्दीपनेन तत्र तत्र चित्तप्रवेशे तदप्राप्त्या प्रत्युतोन्मोह एवेति स्थिरास्थिरत्वव्यामिश्रताव्यञ्जनम्। ततो दुःखदुःखेन दिनान्तमिच्छति सूर्याय च कुप्यतीति। किञ्च दिनान्ते रात्रौ शयनार्थं श्वश्रूरपि स्वयमाज्ञां दास्यति। उत्सवकार्यादिव्यापारान्ते प्रियोऽपि निरवरोधं मिलेदिति तदवरोधः क्रोधहेतुरिति।

रसकलश

अब शेष अंश की व्याख्या की जाती है—श्रीनन्द के घर में युवराजों के निवास-योग्य अपने महल में श्रीराधा सहेलियों से घिरी बैठी थीं। घर की दुलहिन होने के कारण पति का नाम सबके सामने तो ले नहीं सकती थीं, अतः नाम का जपमात्र करती हैं—अर्थात् मुँह ही मुँह में धीरे-धीरे उसे लेती हैं कि कोई सुन न ले। प्रेमाधिक्य की अवस्था में नाम और नामी में कोई भेद नहीं रह जाता, अतः नाम जपने की बात कह कर यह सूचित किया है कि नाम अमृत-स्वरूप है और अमृतत्व की शक्ति से युक्त है। इसे ही दृष्टि रखकर में श्रीहिताचार्य ने 'श्याम-श्याम' के वर्णों को अमृत रस-संश्रावी कहा है। प्रेम-विषयक उत्कंठा जब बहुत ही बढ़ने लगती है, तो लज्जा को त्याग कर किसी क्षण जोर-जोर से भी नामोच्चारण कर देती हैं। 'लपन्ती' का भाव यह है कि आवेश के कारण; रोकते-रोकते भी, मुँह से नाम निकल ही जाता है। 'उच्चैः' का सम्बन्ध 'अपि' (भी) से है। 'सर्वत्र' का मतलब है कि शय्या पर, सखी की गोद में, गाते हुए, खिलवाड़ में, और भोजन आदि करते समय भी। उच्चाटन ऐसा जैसा कि कोई मंत्र द्वारा करता है। मन जैसे कहीं टिक ही नहीं पाता हो। 'इव' (मानों) से यह व्यंजित होता है कि प्रियतम-सम्बन्धी उद्दीपन होने से चित्त विषयों को ग्रहण तो करना चाहता था, पर असफल होकर मोह में परिणत हो जाता था। इस प्रकार स्थिरता और अस्थिरता का मिश्रण सा हो गया था। तब अत्यन्त कष्ट का अनुभव करती हुई प्रियाजी चाहती हैं कि सन्ध्या हो जाय, और (न होने पर) सूर्य पर कुपित होती हैं। यह सोच-सोच कर भी प्रिया जी को क्रोध आता है कि दिन के अस्त होने पर तो रात अपने आप हो जायगी और सास भी सोने की आज्ञा दे देंगी, और बिना रोक-टोक के प्रियतम से भी मिलन हो ही जायगा, किन्तु इस समय तो मिलन में अड़चन पड़ ही रही है।

अत्र प्रियस्य समस्तदिनविरहो न शङ्क्यः स्थूलत्वात्; कतिपयक्षणं कुटुम्बावरोधज एव । किञ्चास्यापीयमेवजीवातुः । तत्र त्रुटियुगायत्वमानख्यातशीलेन क्षणस्यापि दिनलगने किमाश्चर्यम् ? तेनात्र लघुतमविरहोऽपि महादुःखसहत्वात् दुःखदुःखत्वेनोक्तो, यथा 'पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः' इति । स्थूलोपजीविनां तादृशविरहेणैव हृद्द्रवो भवति । ते च तादृशमास्वादं मन्यन्तां नाम, नचात्र तादृशम् । किञ्च यथा यथा प्रेमाधिक्यं, यथा तथैव लघुरप्यसहो भवतीति । दिनकरक्रोधे च 'अलम्' इत्यतिशयार्थः । 'हा ! पितृकुलेष्टदेवोभूत्वा वात्सल्यं विस्मृत्य दिनं वर्द्धयिष्यत एवोष्णरश्मित्वात्तापमये किमच्छीतत्वमार्गणम् ? अग्निरप्याश्रयाशो विख्यातः, तद्वद्भवनापि स्वकीयपरकीयभेदशून्यः । सर्वनिवैकरीतिकतापदत्वाद्भ्रान्तं ते नैपुण्यभित्याभङ्गिकः सहृदयगम्पयश्च ।।२५४।।

रसकलश

यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि पूरे दिन के लिए विछोह हो गया, क्योंकि यह विच्छेद तो कुछ क्षणों का है, अतएव स्थूल है। कुटुंबी जनों के कारण ही कुछ क्षणों के लिए रुकावट पैदा हुई है। दूसरे यह कि प्रियतम की प्राणाधार भी तो श्रीराधा ही हैं t दोनों के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उनका स्वभाव ही यदि ऐसाबन गया है कि उन्हें एक पल का विच्छेद भी दिन भर का लगता है, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? इसीलिए अत्यन्त अल्पकालीन भी विरह के असह्य हो जाने की दृष्टि से ही प्रियाजी अत्यन्त दुःख से दिनान्त की प्रतीक्षा कर रही थीं। महाकवि कालिदास ने कहा है— 'शिरीष का फूल भौंरे के पैर के बोझ को सह सकता है, पक्षी के को नहीं।' जो लोग-संयोग-वियोग के स्थूल स्वरूप को ही जीवन का आधार मानते हैं, उनका हृदय तो तभी द्रवित होगा जबकि वियोग लम्बा पड़ जाय। ऐसे लोग उसी में आस्वाद मानते रहें, पर यहां ऐसी बात नहीं है। दूसरे, जैसे-जैसे प्रेम बढ़ता है, वैसे ही वैसे थोड़ा-सा भी विच्छेद पहाड़ हो जाता है। सूर्य पर कुपित होने के सम्बन्ध में 'अलम्' का अर्थ है अत्यन्त (अर्थात् सूर्य पर अत्यन्त कुपित होती हुई)। क्रोध की अभिव्यक्ति कुछ इस प्रकार होगी— 'बड़े खेद का विषय है कि आप पितृ-वंश के इष्टदेव होकर भी वात्सल्य को भूल जाते हैं और दिन को इतना लम्बा कर देते हैं ! गरम होने के कारण आपकी किरणें संताप देने वाली हैं। फिर आप में शीतलता कहाँ खोजे मिलेगी ? आग के सम्बन्ध में प्रसिद्धि यह है कि वह जिसका आश्रय लेती है उसी को चट कर जाती है। आपका भी, उसी प्रकार अपना-पराया कोई नहीं है। आप सबको एक ही डंडा से हाँकते हैं, अतः आपकी बुद्धि पर धूल पड़ गई है'—इत्यादि।

'कदाचित्' इत्यत्र कथञ्चिन्मनोधैर्यार्थं विलासिविलासास्वादं गायतीति। यद्वा लज्जया 'गतिं' तद्व्यञ्जकरीतिं, नतु साक्षात् वैभवं, न च रतिकलामिति सहृदयवेद्यत्वात्। प्रीत्यर्थे प्रवाहलहरीबीजोक्तिस्मारणम्। क्रमेण रतिकलावैभवगतिषु रतिप्रवाहलहरीबीजानि ज्ञेयानि। तत्र बीजं हेतुः श्रीमती स्वयमेव, राकेशदर्शनहेतुकसिन्धूज्जृम्भणवत्। अत्र च वैभवस्य 'नतिः' प्राप्तिः। प्राप्यापि स्वयमेव प्रीत्यास्पदत्वादिति। अत्र स्वमेवकथं गायतीति न शङ्क्यम्। यथा प्रियस्य स्वप्रीतिप्रवाहाश्चलन्ति, लहर्यस्तदवयवविशेषा वर्द्धन्ते, तथातथोपायं कुर्वन्तं प्रियं प्रति प्रसद्य तदुपायाङ्कितगानं करोतीति ज्ञेयम्। उपाया यथा—'यस्यास्ते तव किङ्करीषु बहुशश्चाटूनि'

रसकलश

(यह हुई पद्य २५४ की नन्द-भानु कुल-संवन्धान्वित व्याख्या। अब पद्य २५५ की उसी दृष्टि से व्याख्या करते हैं।)

'कदाचित्' का अर्थ है—किसी प्रकार मन को ढांढस बँधाने के लिये विलासी प्रियतम के विलास से सम्बन्धित कुछ ऐसी चीज गाती हैं जिसमें आस्वाद आवे। अथवा वैभवगतिम्' में 'गति' का अर्थ है कि लज्जा के कारण गाने का ऐसा ढंग अपनाती हैं कि रति की ही व्यंजना हो, न कि उसके वैभव का या तत्संबन्धित रीति का स्पष्ट शब्दों द्वारा अभिधान। सहृदय जन इस बात को समझते हैं। यदि रति का अर्थ प्रीति लगाया जाय, तो यह ज्ञातव्य है कि यहाँ इस बात का स्मरण कराया गया है कि श्याम के रति-प्रवाह की तरंगों का बीज श्रीराधा ही हैं (देखिये पद्य (७९) यहाँ (१) रतिकला, (२) वैभव, और (३) गति में क्रमशः (१) रति-प्रवाह, (२) लहरी और (३) बीज जानने चाहिए। श्रीमती राधा स्वयं बीज अर्थात् हेतु हैं। जैसे चन्द्रमा को देखकर समुद्र उमड़ता है। (इस उदाहरण में चन्द्रमा बीज (कारण) है और समुद्र में ज्वार आना कार्य)। रति-कला के वैभव की गति यानी प्राप्ति स्वयं श्रीराधा जी है, क्योंकि प्रीति का आश्रय वही तो हैं। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि प्रियाजी अपनी प्रीति का मान स्वयं ही कैसे करती हैं। दूसरी बात यह कि प्रियतम के अपने प्रेम-प्रवाह जैसे जैसे उमड़ कर चलते हैं, तथा लहरों जैसे उस प्रवाह के अंग बहते हैं, वैसे ही वैसे उसका उपाय करते हुए प्रियतम के प्रति प्रसन्न होकर प्रियाजी ऐसे गान गाती हैं जिनमें उन उपायों की चर्चा हो। उदाहरण के लिए, एक पद्य (९३) में कहा गया है—श्रीकृष्ण आपकी जिन दासियों से विविध अनुनय-विनय करते है।' 'देवानामथ'—इस पद्य (९६) में कहा गया है,—स्वयं लालजी भी प्रेम विह्वल होकर जिसे सुनते हैं, जपते हैं, गाते हैं, वह राधारूपी अमृत मेरा जीवनाधार है।' तथा 'हे प्रणयिनि श्रीराधे! मोहन-मूर्ति व्रजेशनन्दन मेरे चरणों में गिरकर तथा दांतों में तिनका दबाकर, अनुनय-विनय

इति, 'देवानाम्' इत्यत्र 'जल्पत्यश्रुमुखो हरिः' इति, 'तादृङ्मूर्ति' इति, 'अहो रसिकशेखरः' इत्यादिनिर्देशार्थेन यथासंभवाः सहृदयास्वाद्या ज्ञेयाः ।

पश्चात् कदाचिल्लब्धेनास्वादेनास्वादान्तरपतितमनसा भावविलासं ध्यायन्ती । तत्र ध्यानप्राप्तप्रियलौल्येऽलमित्यादिशेषं पूर्वमुक्तमेव । एवं क्षणमपि दिनवन्नयन्तीति ज्ञेयम् ।

एवं सख्या कादाचित्कचरित्रं विहारसमये गीतम् । तेन विहारैकपर्यवसानं ग्रन्थव्याख्यानं ज्ञेयम् । यद्यदनन्वितं तत्तत्पूर्वानुभूतगानरीत्या गायति कथारीत्या च कथयतीति सर्वपद्यसङ्गतिः । लीला सर्वानन्दमय्येवेति परिभाषितम्—'तयोः सर्वापि सल्लीला नित्या सद्भिर्निषेविता' इति ।।२५५।।

एवं मनसोऽपि दवीयांसं श्रीमतीमुखोक्तस्वासक्तिप्रेमविलासं श्रुत्वा परमप्रेमविवशमहोभाग्यं मन्यमानं तच्चरणयोः करशिरोऽनुभावेन कोटि-

रसकलश

भरी बातें कहते हैं' (२१८) तथा 'वह रसिक शेखर मुझ पर कृपा करें जो सखियों की उपस्थिति में प्रियाजी के चरणों में अपना मस्तक रख देते हैं (१११) । सहृदयों द्वारा आस्वादन करने योग्य ऐसी और उक्तियाँ भी समझ लेनी चाहिए ।

फिर किसी समय अनुभूत रसास्वाद से प्रेरित होकर प्रियाजी का मन विहार-कालीन अन्य रस-प्रसंगों में चला जाता है और वे निकट भविष्य में घटित होने वाले रति-विलास का मनन करने में लग जाती हैं । ध्यान के इसी प्रवाह में उन्हें मिलने के लिए आतुर प्रियतम का चित्र साक्षात् रूप में उनके समक्ष उपस्थित हो जाता है और वे कह उठती हैं—'बस-बस ! छोड़िये !' इस अंश की व्याख्या की ही जा चुकी है । इस प्रकार प्रियाजी एक-एक क्षण को दिन की तरह बिताती हैं ।

उपर्युक्त रीति से सखी ने किसी अन्य समय का चरित्र विहार के समय गाया । इस गान की समाप्ति विहार में हुई, यह ज्ञातव्य है । समस्त पद्य की संगति बिठाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि हितसखी ने इससे पूर्व जैसा-जैसा अनुभव किया है उसे उसी रीति से गाती हैं और जिस तरह कहा जाता है, उसी तरह उसे कहती हैं । इस दृष्टि से, यदि पद्य का कोई अंश असंबद्ध-सा प्रतीत हो, तो उसका समाधान कर लेना चाहिए । लीला की परिभाषा यह है कि वह सब प्रकार आनन्द से ओत-प्रोत होती है। कहा भी है—'प्रिया-प्रियतम की सब लीलायें नित्य हैं और सज्जन लोग नित्य मानकर ही उनका सेवन करते हैं ।'

इस प्रकार प्रियाजी के मुख से, अपने प्रति आसक्ति से परिपूर्ण उनके प्रेम-चरित्रों को सुनकर प्रियतम उत्कट प्रेम में विह्वल हो गये । यह सब तो उनकी कल्पना

प्राणान्नीराजितवन्तं, मुकुटेन मार्जितवन्तं पीतपटेन संवीजितवन्तं, 'त्वत्प्रेमलवक्रीतोऽस्मि' इति प्रवोचन्तं प्राणप्रेष्ठं ज्ञात्वाऽसहमाना सचित्ता जाता। 'हा! किमिदं करोषि, प्राणनाथ!' इति करौ प्रगृह्य प्रेमद्रुता गाढमालिङ्गितवती। तादृशानिर्वचनीयप्रेमास्पदं प्रियं दृष्ट्वा सखी प्रसद्य, 'अहो! एतादृशप्रसत्तिकरणमर्मकदास्माभिरपि लभ्यते! धन्यतमोऽयं रसिकशेखरः, कृतिकौशलाधिकः। प्रस्तुतदास्यरसप्राप्त्यर्थमेनमेव परमभावेन भजामहे,' इति हर्षोत्सेकेन प्रार्थयते चतुर्भिः—

श्रीगोविन्द ! व्रजवरवधूवृन्दचूडामणिस्ते
कोटिप्राणाभ्यधिकपरमप्रेष्ठपादाब्जलक्ष्मीः ।
कैङ्कर्येणाद्भुतनवरसेनैव मां स्वीकरोतु
भूयोभूयः प्रतिमुहुरधिस्वाम्यहं प्रार्थयामि ॥२५६॥

रसकलश

से बहुत दूर की बात थी। उन्होंने अपने आप को परम भाग्यशाली माना और उनके चरणों में करबद्ध सिर झुका कर अपने कोटि-कोटि प्राणों से उनकी आरती उतारने लगे, मुकुट से उन्हें पौंछने लगे और पीताम्बर की हवा से झाड़ने लगे। बोले—'आपने मुझे अपने प्रेम के एक कण से खरीद लिया है।' प्रियाजी ने प्राणप्यारे को यह सब करते देखा, तो उन्हें सहन नहीं हुआ। होश में आकर कहने लगीं—'हाय! यह आप क्या कर रहे हैं प्राणनाथ?' यह कह कर उन्होंने प्रियतम के हाथ पकड़ लिये और प्रेम से द्रवित होकर उनका गाढ़ आलिंगन किया। श्रीहितसखी ने देखा कि आज तो प्रियतम प्रियाजी के इतने प्रेमपात्र बन गये हैं। इस प्रेमानन्द की महिमा को वाणी द्वारा भला कौन व्यक्त कर सकता है? श्रीहितसखी बड़ी प्रसन्न हुई। सोचने लगीं—'प्रियाजी को प्रसन्न करने का यह रहस्य कहीं हमें भी मिल जाता! रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण तो बड़े धन्य हैं। हमें क्या मालूम था कि इनमें इतना कला-कौशल भरा है! अब तो वाञ्छित दास्य भाव प्राप्त करने के लिए इन प्रियतम की ही परम भक्ति-भाव से आराधना करनी चाहिए। हर्ष के आवेग में भर कर श्रीहितखी चार पद्यों द्वारा यही प्रार्थना करती हैं—

'हे श्रीगोविन्द! जिनके चरण-कमल की शोभा आपको कोटि-कोटि प्राणों से भी अधिक प्यारी है, व्रज-रमणियों के समूह की शिरोभूषण वे श्रीराधा अपने विलक्षण तथा नवीन रसपूर्ण कैंकर्य को ही प्रदान कर मुझे स्वीकार करें, बस, यही मैं आपसे बार-बार अधिकाधिक प्रार्थना करती हूं॥२५६॥

पुरन्दराद्यभिषिक्तश्रीयुतोऽपीदानी प्रियाचरणनिर्मञ्छनप्रभावेण रसिकमणित्वाभिषेकश्रीयुतोऽसीति । यद्वा श्रियः प्रियाया गां प्रसाददृष्टिं विन्दति प्राप्नोतीति प्राप्तकृपादृष्टेः परमभाग्यवतः स्वशीलावर्जितातिलज्जालुवाम्यस्य त्वत्संबन्धिनी वर्णिनीत्यर्थः । सखीप्रणयितावशेति ख्यातापीदानीमस्मत्तोऽपि त्वया वशीकृतेति धन्यो दास्यमहिमा ।

'व्रजे'—ति 'रमाक्रीडमभून्नृप' इति, 'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि', इति, 'यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्' इत्यादिरीत्यालौकिकप्रभूतप्रभावख्याते व्रजे, स्नेहमये लोके । तत्रापि वरवधूवृन्दानीति, 'श्रियः कान्ताः' इति ब्रह्मसंहितोक्तेः, 'लक्ष्मीरभितास्त्रितमा गोप्यो लक्ष्मीतमाः प्रथिताः' इत्यादिभ्यश्च श्रीनिर्मञ्छितपदद्युतय एवेमा ललिताद्या गोप-

रसकलश

इन्द्रादि देवता पहले ही आपका (श्रीकृष्ण का) लक्ष्मी से अभिषेक कर चुके[1] हैं। अब जबकि आपने प्रियाजी के चरणों पर अपना सर्वस्व निछावर कर दिया, तो उसके प्रभाव से रसिकशिरोमणि के पद से सम्बन्धित लक्ष्मी से भी आप अभिषिक्त कर दिये गये हैं (यह भाव है गोविन्द' के पूर्व लगे हुए 'श्री' शब्द का)। 'श्रीगोविन्द' का यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि 'श्री' अर्थात् प्रियाजी की दृष्टि को (गाम्) प्राप्त करने वाले। इस प्रकार प्रियाजी की कृपा-दृष्टि से सम्पन्न, परम भाग्यशाली और अपने व्यवहार से अत्यन्त लजीली वामा को भी अनुकूल कर लेने वाले आपकी (ते) वरनी श्रीराधा हैं। उनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध कि वे अपने से प्रेम करने वाले के वश में रहती हैं। किन्तु इस समय तो हम देखती हैं कि हम सखियों से अधिक आपने उन्हें अपने वश में कर लिया है। धन्य है दास्य की महिमा।

'अब 'व्रजवरवधूवृन्दचूडामणिः' की व्याख्या करते हैं—'हे राजन्! व्रजधाम लक्ष्मी का क्रीड़ा क्षेत्र बन गया,' 'लक्ष्मी यहां सदा आश्रय लेकर रहती हैं', 'गोकुल में भी न जाने कितने लोगों ने श्रीकृष्ण की चरण-रेणु से अपना अभिषेक किया[2] है,' इत्यादि उक्तियां के अनुसार व्रज अपने अलौकिक प्रभाव के लिये सर्वत्र विख्यात है। वह एक स्नेहपूर्ण दुनिया है। उसमें भी सुन्दरी गोपांगनाओं के समूह वहाँ निवास करते हैं। ब्रह्मसंहिता में इन्हें 'सुन्दर लक्ष्मी' बताया गया है। इसके अतिरिक्त 'लक्ष्मी स्त्रियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, किन्तु गोपियाँ तो लक्ष्मी से भी कहीं अधिक बढ़ कर हैं'—इत्यादि प्रमाणों से यह सिद्ध है कि परमस्नेहमयी ललिता आदि गोपकिशोरियों की चरण-छवि पर

१. इन्द्र, कामधेनु तथा देवर्षियों द्वारा किये गये अभिषेक के वर्णन के लिए देखिए श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, अध्याय २६, पद्य २२-२८

२. श्रीमद्भागवत्–१०/१४/३४

किशोर्यः परमस्नेहमय्यः। वधूशब्दस्यात्र स्त्रीवाचित्वमेव, न च भार्यात्वमिति पूर्वं बहुशो विवृतमेव। तासां तादृशयूथसहितानां चूडामणिः। शिरोधार्यभूषास्वामिनीत्यर्थः। तादृशसर्वोत्कृष्टसर्वांशिरूपलावण्यगुणच्छविशीलैश्वर्यमाधुर्यवतीति व्रजादिपदैर्व्यञ्जितम्।

अद्भुतो नवरसोयत्रतादृशेनैवकैङ्कर्येण, वा रसरूपेणेत्यभेदविवक्षितेन। रसरूपयोर्दम्पत्योः सेवायां रसो भवत्येव। तत्र नवत्वं प्रतिक्षणविलक्षणत्वं, पूर्वस्मादुत्तरोत्तरविशेषास्वादविशिष्टत्वम्। तत्राद्भुतत्वं असाधारणदर्शनात्, प्रियस्यापूर्वदैन्यकरणात्, प्रियायाश्चापूर्वप्रसादाच्च प्रतिक्षणानुपरतस्वादमयत्वं, यथेदानीन्तनमितिभङ्गीव्यञ्जनम्। तादृशेनैव मां तदेकरुचिमङ्गीकरोतु, एवमेव सेवनानन्दं ददात्वित्यर्थः।

ननु त्वं श्रीमत्यन्तरङ्गण्येव वासि, तामेव कथन्न प्रार्थयसे ? तत्रैवं—भवानस्मदधिकारादपि पारङ्गतो यन्मनोविचारागोचरविधिं करोषीत्यत एव

रसकलश

लक्ष्मी भी अपने आप को निछावर कर चुकी हैं। 'व्रजवर वधू में 'वधू' शब्द स्त्रीवाचक है। इसका अर्थ गोपों की पत्नियां नहीं है, यह पहले भी कई बार कहा जा चुका है। तो श्रीराधा अपनी ही जैसी गोपियों के समुदायों से युक्त ललितादिक गोपियों की चूड़ामणि हैं—अर्थात् सौभाग्य-चिन्ह के रूप में सिर पर धारण किए जाने वाले भूषण की स्वामिनी हैं। तो 'व्रजवरवधूवृन्दचूड़ामणि' की व्याख्या यह है कि श्रीराधा में रूप, लावण्य, गुण, छवि, शील, ऐश्वर्य और माधुर्य सब अंशीरूप में विद्यमान हैं।

अब 'अद्भुतनवरसेनैव' की व्याख्या करते हैं—जिसमें अद्भुत और नवीन रस है, ऐसे कैङ्कर्य से (मुझे अंगीकार करें) अथवा यह अर्थ भी सम्भव है कि रसरूप कैङ्कर्य से। दम्पती के रस-स्वरूप होने से उनकी सेवा में रस होगा ही होगा। कैङ्कर्य इस अर्थ में नवीन है कि वह प्रतिक्षण विलक्षण दिखता है और उसका प्रत्येक आस्वाद पूर्वानुभूत आस्वाद की अपेक्षा विशेषता लिये होता है। असाधारण होने के कारण वह अद्भुत है। प्रियतम की अपूर्व दीनता और प्रियाजी की अपूर्व प्रसन्नता के कारण भी उसका स्वाद प्रत्येक क्षण कम होता ही नहीं, जैसा कि उस समय अनुभव हो रहा है। कैङ्कर्य को अद्भुत, नवीन रस कह कर यहां यही बात व्यंजित की गई है। तो इस प्रकार के कैङ्कर्य रस से मुझे अंगीकार करें, क्योंकि मेरी रुचि एकमात्र उसी में है। भाव यह है कि अपनी सेवा करने का आनन्द प्रदान करें।

यदि प्रियतम पूछ बैठें कि 'तुम तो प्रियाजी की अन्तरंगा सखी हो, तो सीधे उन्हीं से प्रार्थना क्यों नहीं करतीं ?' तो इसका उत्तर यह है कि 'हम सखियों का जितना

'कोटिप्राणे'-ति वक्ष्यति । ततो दास्यसिद्धा त्वत्त एव प्रार्थये—'भूयो भूयः' इति अस्मद्विज्ञप्ति मा विस्मरेति याचकरीतिर्व्यञ्जिता । एतद्रससाधन-बीजं त्वमेवासि यत्परमसुकुमारीं, मुग्धां, लाडलां मनोगतिमनुसरन् क्रीडय-सीत्यादि प्रार्थनामननावश्यकत्वे हेतुः । पुनश्च 'प्रतिमुहुः' इत्यपि वारंवा-रार्थकम् । यत्र निस्त्रपातिशायिनी लीला, तत्रापि वैवश्ये श्रीमती संप्रार्थ्य संवीजनसुधासवताम्बूलसंवाहनादिसेवार्थमाकारयेति परमरहस्येऽपि मा विस्मरेति व्यञ्जकमव्ययम् । उचितैश्वर्यविस्मृतिरेव विचारागोचरत्वमिति विधिमाह 'ते' इत्यत्रापि देहलीदीपत्वेन संबध्यते । 'कोटिप्राणे'-ति, 'पादाब्जलक्ष्मीः' इत्यनेन तादात्विकनिर्मञ्छनमेव व्यञ्जितं, तदाशयेन व्याख्यायते—

रसकलश

अधिकार है, आप तो उसे भी पार कर बहुत दूर आगे बढ़ गये हैं, क्योंकि आपने तो वह पद्धति (विधि) अपनाई है जो मन और बुद्धि के अगम्य है । इसलिए आगे यह कहा जायगा कि श्रीराधा के श्रीचरणों की शोभा को आप अपने कोटि-कोटि प्राणों से भी अधिक महत्व देते हैं । दास्य भाव से सिद्धि प्राप्त करके भी हम जो आपसे बार-बार प्रार्थना करती हैं, उसका यही तो कारण है । 'भूयो भूयः' (बार-बार) कह कर याचक के माँगने का तरीका बताया गया है कि 'हमारे निवेदन को भूल न जाइएगा । कैङ्कर्य रस के साधन का मूल कारण आप ही हैं, क्योंकि परम सुकुमारी, मुग्धा लाड़िली जी के मन की रुझान को पहिचान कर तदनुकूल आचरण करते हुए आप उन्हें खिलाते हैं । इसीलिए तो हमारी प्रार्थना आपको अवश्य स्वीकार करनी होगी । 'प्रतिमुहुः' का अर्थ भी बार-बार ही है । यह एक अव्यय शब्द है और इससे यह व्यंजित किया गया है कि जहाँ ऐसी लीला हो रही हो कि लज्जा का विचार सर्वथा रहे ही न, वहां भी विवशता की उस दशा में भी—हमारी ओर से श्रीमती से प्रार्थना कर पंखा झलने, सुधा, आसव और तांबूल प्रस्तुत करने, पैर-चप्पी आदि की सेवा के लिये हमें बुला लिया करें । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के अत्यन्त एकान्त और गोपनीय अवसरों पर भी आप हमें न भूल जायँ । 'प्रतिमुहुः' अव्यय-पद की यहाँ व्यंजना है । अपने स्वाभाविक ऐश्वर्य को भूल जाना ही विचार से परे की वस्तु होता है; इसी विधि के बारे में कहा है । इससे पूर्व का सम्बन्ध श्रीराधा से लगा कर अर्थ किया था—'हे गोविन्द ! ब्रजरमणी-समूह की शिरोमणि श्रीराधा आपकी (वरनी) हैं । देहलीदीप न्याय से 'उक्त' 'ते' का सम्बन्ध 'कोटिप्राण' से भी लगा लेना चाहिये—अर्थात् आपके कोटि-कोटि प्राण । 'कोटिप्राण' और 'पादाब्जलक्ष्मीः' द्वारा उस समय प्रियतम के निछावर होने की ही व्यंजना की गई है । इसी दृष्टिकोण से अब पद्य के द्वितीय चरण की व्याख्या की जाती है—

कोटित्वं प्राणवृत्तीनां बाहुल्यात्। यद्वा प्रेमावेशानुपरमादिति। किञ्च प्राणास्तु निर्मञ्छिता अपि कुत्र न यान्ति। यतो न यान्ति, ततः पदशोभां दृष्ट्वा-दृष्ट्वा नीराजनमेव कुर्वन्तस्तिष्ठन्तीति। अतो रुचेरशान्तत्वात् कोटिकथनम्। यथा प्रतिरोमरसनाश्रवणादिवाञ्छनं रुच्याधिक्ये तात्पर्यम्।

इत्थं प्राणेभ्योऽप्यभितोऽधिका परमप्रेष्ठा पादाब्जयोर्लक्ष्मीः सुषमा यस्याः। छविरपि स्थायिनी, प्राणा अपि स्थायिनस्तथैव परस्परप्रेमापि निरतिशय एवेति। तेन वारं वारं स्वात्मनिर्मञ्छनशीलेन भवान् पूर्ण-प्रेमस्वरूपमर्मज्ञोऽसि, यदैश्वर्यमपि लघूकृत्यासाक्तिरसाविष्टःस्ततस्त्वद्रति-कलावैभवगतिं प्रति प्रसद्य त्वामेव प्रार्थयामि। यथा भागवतेभ्यो भगवत्-कैङ्कर्याशिषं वाञ्छन्तीतिवत्। 'प्रार्थये' इत्यत्र साञ्जलिकथनभङ्ग्या किञ्चिद्गूढमपि प्रार्थ्यते—'भवान् बहुलौल्येन मानुसरतु येन वाम्योदयः

रसकशल

प्राणों की कोटि-संख्या का अभिधान इस आशय से किया गया है कि प्राणों के अनगिनत व्यापार होते हैं। अथवा प्रेमावेश का कभी अन्त होता ही नहीं, इसलिये प्राणों को असंख्य बताया गया है। दूसरी बात यह है कि एक बार निछावर कर दिये जाने के बाद प्राण अन्यत्र नहीं भटकते। और नहीं भटकते, इसीलिये प्रियाजी की चरण-शोभा को देख-देख कर उन्हीं की आरती उतारते रहते हैं। अत, रुचि के कभी शान्त न होने के कारण करोड़ों प्राणों का उल्लेख किया गया है। रुचि के अधिक होने का मतलब यह है कि प्रत्येक रोम, जीभ, कान आदि के द्वारा श्रीचरणों की अभिलाषा करना।

इसी प्रकार श्रीराधा के चरण कमलों की शोभा (श्री) आपको अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय है। चरणों की छवि भी स्थायी है, आप दोनों का पारस्परिक प्रेम भी अत्यन्त उत्कट है, यही सोच कर मैं बार-बार प्रार्थना करती हूँ। अपने आप को निछावर कर देने के कारण आप पूरी तौर से प्रेम के स्वरूप का रहस्य जानते हैं, क्योंकि आत्मगत ऐश्वर्य की भी उपेक्षा कर आप इस प्रकार आसक्ति रस से ओत-प्रोत हैं। इसीलिए आपके रतिकला वैभव की गति[1] से प्रसन्न होकर मैं आपसे ही प्रार्थना करती हूँ जिस प्रकार की भगवद् भक्तों से भगवान के दास्य देने का अधिकार माँगा जाता है।[2] प्रार्थना मानों यहां हाथ जोड़कर की जा रही है और उसमें एक गूढ़ प्रार्थना यह छिपी है कि 'आप अत्यन्त लोलुप बन कर प्रियाजी के पीछे न लगें, नहीं तो वे प्रतिकूल हो जायँगी और तब संयोग सुख में विलंब हो जाने की संभावना है। अतः प्रियाजी

---

१. देखिए श्रीराधासुधानिधि, पद्य २५५

२. ये मे भक्तजनाः पार्थ ! न मे भक्ता हिते जनाः।
मद्भक्तानाञ्च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः॥ आदिपुराण।

संयोगसुखविलम्बकः स्यादित्यत इङ्गितमेवानुसरणीयं, येन प्रतिक्षणरसवर्द्धनं सर्वेषामेव स्यात्' इति हि । एवकारेण निरवधिकातिशयकैङ्कर्यसत्वेऽप्यस्मत्कृतपरस्परसकौतुकमपि गृह्णीयात् । तद्ग्रहणेन वयमङ्गीकृति मन्यामः । हे ! अस्मदुपरि कोपं मानञ्च मा कुर्यादिति । किञ्च स्फुटमेव वच्मः— प्रेमवैचित्यप्रलपितमस्माभिरुक्तम् । तत्र 'रतिकलाविलसितम्' इति, 'अलं मुञ्च-मुञ्च' इति, 'श्याम-श्याम' इत्यादि श्रुत्वा 'हा ! महानिस्त्रपा भवन्त्यो मिथ्यावादिन्यः । कदा क्वापि मयाऽसंबद्धमुक्तं यदि चेदुक्तं, तदपि ज्ञातम् ।' वा 'विश्रब्धसख्यं स्वनैर्लज्यं परेष्वारोपयन्ति; नैतादृशैः सम्भाष्यम्' इत्यादिक्षोभे त्वया स्वामिनैव साहाय्यमाचरणीयम्—'प्रिये ! प्रेमसिन्धो ! कथं कुप्यसि ? प्रेमतरङ्गस्वभाव एवमेवस्ति । एष त्वन्महिमैव । कथं बिभेषि, लज्जसे यथासववैचित्यात्, इति प्रेमयशोगानस्यासामधि-

रसकलश

का हार्दिक आशय समझ कर ही आपको अनुसरण करना चाहिये, ताकि सब के लिए प्रतिक्षण रस की सृष्टि हो सके। (रसेनैन+एव) में 'एव' (ही) द्वारा यह भाव व्यक्त किया गया है कि यद्यपि हम सखियों का दास्य भाव असीम है, सर्वोत्कृष्ट है, तथापि हम लोग जो आपस में रस-कौतुक करती हैं, उन्हें भी प्रियाजी का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। तभी हम यह समझेंगी कि हमें अंगीकार कर लिया गया है। हम यह चाहती हैं कि प्रियाजी हम पर कुपित न हों, मान न कर बैठें। लीजिए, अब साफ-साफ ही कहे देती हैं। हमने यह कहा कि प्रियाजी प्रेम में आत्म-विस्मृत होकर प्रलाप कर रही थीं। उसी प्रसंग में यह भी कहा कि वे अत्यन्त रतिकला-वैभव का गा-गा कर बखान कर रही थीं। यह कि वे भावी-विलास के चिन्तन में मग्न थीं, यह कि 'बहुत हो गया ! अब छोड़िये न ! तथा 'श्याम-श्याम'! पुकार कर प्रिय का नाम जप रही थीं। यह सब सुन कर प्रियाजी के चित्त को अत्यन्त क्षोभ हुआ होगा। सम्भव है, उन्होंने हममें से किसी से कहा हो—'अरे ! तुम सब तो बड़ी बेहया हो ! सरासर झूठ बकती हो। पहले तो मैंने ऐसी ऊल-जलूल बात कही ही नहीं, यदि कहीं भी तो वह भी मुझे मालूम है कि क्या कहा था।' अथवा यह कि 'तुम लोग मेरी विश्वासपात्र सखी होने के कारण इतनी निर्लज्ज हो गई हो और अपनी निर्लज्जता को दूसरों पर थोपती हो। 'यदि तुम सब ऐसी ही हो, तो तुम से दो बातें करना भी गुनाह है।' ऐसे अवसरों पर तो हे स्वामी ! आपको ही हमारी सहायता करनी पड़ेगी। प्रियाजी को समझाना होगा कि प्रिये ! आप तो प्रेम की समुद्र हैं। क्यों इस प्रकार कुपित होती हैं ? प्रेम की तरंगे हीं ऐसी होती हैं। सच पूछा जाय, तो यह आपकी ही महिमा है। आप तो ऐसे शर्मिन्दा हो रही हैं, कुछ इस तरह डर रही हैं कि जैसे कोई मद्यप अंड-बंड कह देने के

कृतिरेव'—इत्यादि साचिव्यमिति । अत एव 'अधिस्वामि' इति, तदानीं त्वदधिकृतत्वात्, त्वद्वशत्वाच्चेति । ततः प्रार्थनामननेन सस्मितमस्मत्कृतमङ्गीकरणात् तदानीं नवरसेऽप्यद्भुतत्वम् अहो ! यत्रैवं वैचित्यतरङ्गा गानमेष्यन्ति, इत्थञ्च कोपकौतुकसमाधानादिविनोदा अनुभवमेष्यन्तीति ज्ञेयम् ।

अत्रेदानीं व्रजवरवधूवृन्दकथनतात्पर्यं रूपैश्वर्यादिगर्विवतत्वव्यञ्जकम् । तत्रभवान् व्रजेयुवराज, स्तत इयमपि सर्वव्रजस्वामिनी । एवमुत्कर्षेऽपि 'कोटिप्राणे'—त्यनेन पतिसौभाग्यपरावधित्वम् । तेन लाडलात्वेन सर्वप्राण जीवातुत्वोभयकुलप्रेमास्पदत्वभारेणाघटितघटनवाम्यशीलं नासम्भाव्यम् । तेनाद्भुतनवरसकौतुकवर्णनमस्माकमङ्गीकार्यं स्यात्तथैव कारयितव्यमिति ।

अथवा प्रस्तुतोऽप्यर्थो व्रजवरवधूशब्दोक्तिप्रसिद्धभ्रमनिरासार्थं व्याख्यायते—व्रजे साधनसिद्धत्वेन जातानां श्रुतिमुनिरूपाणां 'आधाय मूर्द्धनि'

रसकलश

बाद डरता है कि 'हाय यह मैं क्या बक गया ? इन सखियों को तो आपके प्रेम और यश को गान करने का अधिकार है ही ।' मन्त्री की तरह आप ही तो ऐसी-ऐसी बात कह कर प्रियाजी को समझायेंगे, क्योंकि उस समय प्रियाजी आपके वश में रहती हैं और उन पर आपका अधिकार भी होता है। सखियों की यह प्रार्थना प्रियतम ने जब मुस्करा कर स्वीकार कर ली, तो कैङ्कर्य के नवीन रस में एक अपूर्व विलक्षणता आ गई। सखियाँ सोचने लगीं—'अहो ! जिस रस में वैचित्य की तरंगों का गान किया जाय और प्रियाजी के कोप तथा सखियों के कौतुक का इस तरह समाधान किया जाय, उसका क्या कहना ।

श्रीराधा को व्रजरमणियों की चूड़ामणि कहने का तात्पर्य उन्हें रूप, ऐश्वर्य आदि से गर्वित बताना है । व्रज में आप (श्रीकृष्ण) युवराज हैं, तो यह भी व्रज की स्वामिनी हैं । ऐसा उत्कर्ष होने पर भी उनके चरणों पर करोड़ों प्राण निछावर करने से सूचित होता है कि स्वामिनी के पति के सौभाग्य की यह चरमसीमा है । श्रीराधा लाड़ली हैं, सबके प्राणों का एकमात्र आधार है, दोनों वंश उन्हें प्यार करते हैं—इस सब का दवाव जो उनपर पड़ता है उसके कारण वे कभी-कभी अनहोने काम भी कर डालती हैं और उनका स्वभाव भी वाम हो गया है । इस प्रकार के परिवेष में ऐसा होना असम्भव नहीं है । इसीलिए हम सखियों ने यदि अद्भुत और नवीन रस-कौतुक का वर्णन कर दिया, तो प्रियाजी को उसे स्वीकार ही कर लेना चाहिए । आप ऐसा प्रयत्न करें कि इसे अंगीकार कर लें और बुरा न मानें ।

इस अवसर पर, व्रजवधू शब्द के संबन्ध में सर्वसामान्य में जो एक भ्रम फैला हुआ है, उसका निराकरण करने के लिए एक अप्रासंगित विषय की भी विवेचना की

इति, 'यत्पादपद्मे-ति रीत्या दास्यं वाञ्छमानानां मध्ये श्रीमत्याः स्वामिनीत्वेन चूडामणित्वं, अतः सिद्धोत्तरदशायां वाञ्छितदास्यप्राप्त्याशयेनाह। आसांव्रजवरवधूनान्तु माहात्म्यैश्वर्यस्वामिनीत्वदृष्टचा कैङ्कर्यमात्रलाभ एवालभ्यलाभतमो हि। अस्माकं स्वत एवाङ्गसङ्गिचरणकिङ्करीणामद्भुतनवरसवैशिष्ठ्यमेव विशेषः। अत एवकारेण प्राप्तदास्यव्रजसुन्दरीभ्यः

रसकलश

जाती है—श्रुतियाँ और मुनिगण व्रज में साधन-सिद्धरूप से गोपीजन बनकर पैदा हुए'। 'उदार गोपियों ने जिसे अपने मस्तक पर चढ़ाकर श्रीकृष्ण के प्रियगुणों सहित वांछित पद को प्राप्त किया' (श्रीराधा० सु० पद्य ४)' 'जिनके चरण-कमलों की नख-छवि का कुछ चमत्कारी प्रभाव गोप-वधूटियों में लक्षित हुआ है (पद्य १०)—इत्यादि पद्यों में वर्णित रीति पर चलकर ये गोपियाँ दास्य की कामना करती हैं। स्वामिनी होने के कारण श्रीराधा इन सब की चूड़ामणि हैं, अतः 'व्रजवरवृन्दचूड़ामणि' कहने का यह आशय है कि सिद्ध हो जाने के बाद की स्थिति में भी ये श्रुति-मुनिरूप गोपियाँ उस दशा में ही रहती हैं जहाँ की दास्य-प्राप्ति की कामना की जाती है। माहात्म्य, स्वामिनीत्व और ऐश्वर्य की दृष्टि इन व्रजवधुओं को केवल कैङ्कर्य मिलता है जो कि इनके लिये एक अलम्य लाभ है। हम अन्तरंगा सखियाँ तो स्वयं ही श्रीराधा की अंगसेविका तथा चरण-किङ्करियाँ हैं। हमारी विशेषता यह है कि हमें अदभुत, नवरस का उपभोग करने को मिलता है। अतः 'एव' (ही) के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है दास्या-

१. भक्त दो प्रकार के होते हैं: साधक भक्त और सिद्ध भक्त। साधक भक्त के लक्षण इस प्रकार हैं—

उत्पन्नरतयः सम्यङ्नैर्विघ्न्यमनुपागताः।
कृष्णसाक्षात्कृतौ योग्याः साधका इति कीर्तिताः॥

हरिभक्तरसामृतासिन्धु—१/१०४

अर्थः—श्रीकृष्ण में जिनकी रति भलीभाँति उत्पन्न हो गई है, किन्तु जिनके विघ्नों का नाश अभी नहीं हुआ है, तथा जो श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करने के अधिकारी है, उन्हें साधक भक्त कहा जाता है।

बिल्वमंगल आदि की गणना साधक-भक्तों में होती हैं।

सिद्ध भक्तों की परिभाषा इस प्रकार है:—

अविज्ञाताखिलक्लेषाः सदा कृष्णाश्रितक्रियाः।
सिद्धाः स्युः सततप्रेमसौख्यास्वादपरायणाः॥

अर्थ:—समस्त क्लेशों के ज्ञान से शून्य, श्रीकृष्ण पर आश्रित रह कर सब काम करने वाले प्रेम-सुख के आस्वाद में निरन्तर मग्न रहने वाले सिद्ध भक्त कहलाते हैं।

सिद्ध भक्तों के दो भेद होते है—संप्राप्तसिद्ध और नित्यसिद्ध। संप्राप्तसिद्ध भी दो प्रकार के होते हैं—साधनासिद्ध और कृपासिद्ध। मार्कण्डेय आदि साधना-सिद्ध भक्त हैं।

सखीनामेवमुत्कर्षः । तत एव 'अधिस्वामि' इति । श्रुतिमुन्यादीनां कृष्ण-पदप्राप्तिसाधनसम्बन्धस्मारणान्नैतादृश्यो वयमिति व्यग्यञ्च । अस्मांस्तु सैव प्रस्तुतदास्येनाङ्गीकरोत्विति तत्स्वादविशेषं कोटिप्राणनीराजन-कर्तैव जानातीति ।

अथ मुक्तके बहिराचार्यपक्षे च प्रियप्रार्थनारूपसाधनेनासाध्यं श्री व्रजनव-तरुणिकदम्बमुकुटमणिकैङ्कर्यम् । तत्र सैव स्वहस्तेन ददातु । भवान् स्वाम्यपि तस्यै प्रार्थनामस्मदपेक्षया कुरु, चक्रवर्तिपुरस्सरसचिववत्, येन सा प्रसद्य दद्यादिति । अत्र 'अद्भुतनवरसेनेय' इत्येवकारेण केवल कृतार्थीकरणमाहा-

रसकलश

धिकार को प्राप्त व्रजसुन्दरियों की तुलना में हम अन्तरंगाओं का पद बहुत ऊँचा है। 'अधिस्वामि' कह कर यह याद दिलाई गई है कि श्रुति-मुनिरूपा गोपियों का लक्ष्य तो श्रीकृष्णपद-प्राप्ति है और उसके लिये अपेक्षित साधनों का संबन्ध भी श्रीकृष्ण से है। इसमें यह व्यंग्य निहित है कि हमारा संबन्ध मात्र श्रीराधा के पदपद्मों के कैङ्कर्य से है। हमें तो वह श्रीराधा ही अपना दास्य प्रदान कर अंगीकार करें। उस दास्य के विशिष्ट आस्वाद को तो करोड़ों प्राणों से आरती उतारने वाला ही जानता है।

प्रस्तुत पद्य को फुटकर मानने पर यह उक्ति आचार्यपाद की मानी जाएगी और उसका तात्पर्य यह समझना चाहिए कि प्रियतम से की जाने वाली प्रार्थना को साधन मानकर व्रज की नवतरुणियों के समूह की मुकुटमणि श्रीराधा का कैङ्कर्य मिलना सर्वथा असंभव है। यह कैङ्कर्य तभी मिल सकता है जब कि प्रियाजी अपने हाथ से दें। आप हमारी ओर से उनसे प्रार्थना उसी हैसियत से करें जिससे कि सम्राट का मंत्री उसके समक्ष किसी की प्रार्थना को प्रस्तुत करता है, ताकि प्रसन्न होकर वे उसे दे दें। 'अद्भुत रस से ही' कह कर यह शर्त लगा दी है कि यदि कैङ्कर्य देना है, तो हमारी इस योग्यता के आधार पर दें कि हम दंपतीसंबंधी विलक्षण और प्रतिक्षण नवीन रस के आस्वाद की अधिकारिणी हैं, न कि हमारे केवल इस ज्ञान के कारण कि श्रीराधा का सबसे बड़ा महात्म्य यह है कि वे चाहें तो हमें अनुगृहीत कर सकती हैं। इस 'प्रकार 'एव' शब्द द्वारा वैधी भक्ति[1] की अमान्यता प्रतिपादित की है। दूसरी बात यह है कि हमें

---

१. वैधी भक्ति का लक्षण हरिभक्तरसामृतसिन्धु में इस प्रकार दिया गया है—

यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते ।
शासनैनेव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते ।।

(पूर्व विभाग, द्वितीय लहरी ३)

अर्थ :—जहाँ हृदय में राग उदय न होने के कारण शास्त्र की आज्ञा से प्रवृत्ति हो, वहां वैधी भक्ति कही जाती है।

त्स्यज्ञानेन वैधीभक्तिभावकृताङ्गीकारो व्यावृत्तः। किञ्चास्वादरीत्यैवा-नुरागेण परमासक्तिव्यसनित्वं स्वस्येष्टम्। मम त्वत्रैव रसोदयो नान्यत्र, त्वत्पर्यन्तेऽपीत्यर्थः। अनेन 'रसं राधायामाभजति किल भावं व्रजमणौ' इति यदुक्तं तदत्रचतुःश्लोक्यां विवृतं ज्ञेयम्।

'भूयो,, 'मुहुः' इत्यसकृत्तमप्रार्थनोक्तिः पुरुरूपमायावीन्द्राभिषेकद्योतित निजातर्क्यसहस्रशक्ति प्रेरकत्वगोविन्दपदकृतविभीषाव्यञ्जिका। स्वामि-शब्देनात्मेश्वरत्वं यञ्जितम्। यथा तृतीये आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः' इति। ततस्त्वत्प्रेरितैश्वर्यशक्त्या जीवबुद्धिर्दुर्निवार्यवैधीदास्यदृष्टिर्नमनसि कदाचिदपि प्रविशेत्, केवलमाधुर्यास्वाददृष्टिरेव स्थायिनी स्यादिति। सापि

रसकलश

तो यही इष्ट है कि आस्वाद की रीति के अनुरागपूर्वक प्रियाजी चरणों के प्रति आसक्त रहना हमारे साथ एक व्यसन बन कर रह जाय। मुझे तो इसी में रस की अनुभूति होती है, अन्यत्र नहीं—यहाँ तक कि आप (श्रीकृष्ण) में भी नहीं। इससे यह समझना चाहिए कि 'श्रीराधा को रस की दृष्टि से और श्रीकृष्ण को भाव-बुद्धि से जो भजता हैं'—एतदर्थक पद्य (१४६) में जो कुछ कह आये हैं उसी की व्याख्या इन चार पद्यों द्वारा की है।

'भूयोभूयः' (बार-बार) कह कर निरन्तर प्रार्थना करते रहने का भाव व्यक्त किया गया है। 'गोविन्द' शब्द से श्रीकृष्ण के उस रूप की व्यंजना की गई है जिसका अभिषेक इच्छानुसार अनेक रूप धारण करने वाला इन्द्र भी करता है तथा जिससे उसकी हजारों कल्पनातीत शक्तियों का पता चलता है[2]। 'स्वामि' शब्द की ध्वनि यह है कि श्रीकृष्ण अपने ईश्वर (नियन्ता) आप ही हैं। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में कहा है—'श्रीकृष्ण आत्मेश्वर हैं, उनकी हजारों शक्तियां हैं जोकि अनुमान से परे हैं।' साधारण जीव की प्रवृत्ति स्वभावतः वैधी दास्य-भक्ति की तरफ न हो, यह बहुत ही कठिन बात है। मेरी कामना तो यह है कि आप अपनी ऐश्वर्य-शक्ति को इसके लिए प्रेरित करें कि मेरे मन में वैधी दास्य को इस भावना को कहीं स्थान न मिले, मेरा लक्ष्य स्थायी रूप से केवल माधुर्य का आस्वाद ही रहे। और वह श्रीराधा भी जो सब

---

२. गोविन्द के इस रूप का वर्णन ब्रह्मसंहिता में इस प्रकार किया गया है—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य,
जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं नमामि॥

सर्वचूडामणित्वैश्वर्यमग्ना मद्धृदयरोगं न विस्मरेदिति 'प्रिये ! सखीयं त्वदीया सर्वविलक्षणमाधुर्यपात्रं रसरीत्यैवाङ्गीकार्या', इत्यादि भवत्कृत वाक्साहाय्यात् ।

नन्वेकदोक्तेऽपि 'भूयोभूयः' कथनं याचकरीत्या घटतेऽपि, तत्र 'प्रतिमुहु'-रिति व्यर्थमेवेति चेत् तत्रैवम्—कोटिप्राणनीराजनव्यग्रतया स्वात्मव्यामोहपरे क्व परप्रार्थनावकाश स्यादतः प्रतिमुहुःप्रार्थने साधु सकृदपि क्वापि स्मृतिरागच्छेदितिहेतोः सार्थकमेव । अत्र कोटिशब्दो लोके परावधित्वेन ख्यातः । शतसहस्रायुतलक्षाणि न्यूनत्वेन सापेक्षाणि । तद्दृष्टया 'कोटि'-रिति निःशेषवृत्तिसाहित्यव्यञ्जिका, न च गणने तात्पर्यम् । पदाब्जच्छाविदर्शनार्थं पल्लवपुष्पदृष्टिमनोमार्दवक्रमेण कुञ्जमार्गास्तरणे सकृत्स्वात्मार्पणं त्ववरमेव परन्तु गजमरालादिसभङ्गिकगतिचलने पदे-पदे प्राणा-

रसकलश

की सिरमौर हैं, अपने इस ऐश्वर्य में डूबा रह कर मेरे हृदय के रोग को न भूल जायँ। आप प्रियाजी से यह कह कर मेरी सहायता करें कि 'प्रिये ! यह सखी आपकी ही है, अत्यन्त विलक्षण मधुर रस की पात्र हैं, अतः आप इस रीति से ही इसे स्वीकार करें ।

शंका होती है कि याचक के कहने का जैसा ढंग होता है, उसके अनुसार तो 'भूयोभूयः' कहना तो ठीक है किन्तु उसके बाद भी 'प्रतिमुहुः' कहना तो व्यर्थ ही है । इस सम्बन्ध में तथ्य यह है कि श्रीकृष्ण तो अपने कोटि-कोटि प्राणों द्वारा प्रियाजी के चरणों की आरती उतारने में ही व्यस्त रहने के कारण स्वयं भूले-भटके से बने रहते हैं । ऐसे में दूसरे की प्रार्थना सुनने की उन्हें फुर्सत ही कहाँ है । इसी लिए प्रार्थना करना आवश्यक हो गया है कि कहीं कभी याद बनी रह जाय । इस दृष्टि से 'प्रतिमुहुः' कहना व्यर्थ नहीं है । लोगो में करोड़ की संख्या अन्तिम मानी जाती है। सौ, हजार, दस हजार लाख आदि तो किसी सीमित संख्या के ही वाचक है । इसी दृष्टि से 'कोटि' शब्द का प्रयोग किया है, जिसकी व्यंजना यह है कि अपने प्राणों की समस्त वृत्तियों एवं उपादानों के साथ प्रियतम ने अपने को निछावर कर दिया है । तात्पर्य गिनती गिनने से नहीं है । चरण-कमलों की छटा के दर्शन के लिए कुंजों के मार्ग में, कोमलता की दृष्टि से, क्रमशः पत्ते, फूल, दृष्टि और मन को बिछा करके अपने को अर्पित करना नीचे दर्जे का आत्मार्पण है, परन्तु प्रियाजी जब विलास के साथ हाथी या हंस की चाल से चल रही हों, तो कदम-कदम पर प्राणों की परवाह न करने के कारण श्रीचरणों की शोभा ही परम प्रिय होती है । इस प्रकार 'पादाब्ज' कह कर प्रियतम का दास्य रस व्यक्त किया गया है । उद्धव आदि श्रीकृष्ण को प्राणों के समान प्रिय हैं, क्योंकि कहा है—'उद्धव

वगणनात् पदलक्ष्मीरेव परमप्रेष्ठा। अनेन प्रियस्य दास्यरसो व्यक्तीकृतः पदाब्जोक्तेः। प्राणप्रिया उद्धवाद्याः 'नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः'[1] इत्युक्तेः; प्राणप्रेष्ठा व्रजवासिनः, प्राणपरमप्रेष्ठाः श्रीवृन्दावनपरिकराः, प्राणाधिक-परमश्रेष्ठा प्रिया, ततोऽप्यभितोऽधिका तात्पादाब्जलक्ष्मीरिति। किञ्च मानादौ बह्वनुनीतापि सा न प्रसीदेत्तदा पादाब्जशरणे गृहीते बलादप्रार्थितैव वाञ्छिताधिकसिद्धिदा भवेत्। ततः पदलक्ष्मीः प्रियेणाप्यभ्यधिकपरमप्रेष्ठेति संकेतिता प्रियां श्रावयित्वैवेति। तेन सख्यापीदानीं तथैव तदिङ्गितमनुसृत्यैवोक्तम् ॥२५६॥

एवं प्रार्थनीयतमे स्वामिन्यपि प्रार्थनानन्यतामुक्त्वा तथैव ध्येयतमस्यापि तस्य ध्याने चिन्तनानन्यातामाह—

अनेन प्रीता मे दिशति[2] निजकैंकर्यपदवीं
दवीयो दृष्टीनां पदमहह ! राधा सुखमयी।

रसकलश

मुझ से अणु मात्र भी कम नहीं[1] हैं। व्रजवासी जन श्रीकृष्ण को प्राणों से प्यारे हैं, श्रीवृन्दावन का समाज प्राणों से भी अत्यन्त प्यारा है, प्रियाजी प्राणों से ज्यादा परम प्रियातिप्रिय हैं, उनसे भी अधिक प्रिय उनके चरम-कमल हैं। दूसरी बात यह कि यदि कभी वे मान कर जाएँ और मनने में आवें ही नहीं, तो चरण-कमलों को पकड़ लेने पर जबरन्, बिना प्रार्थना किये ही, आवश्यकता से अधिक सिद्धि दे डालती हैं, अतः प्रियाजी को सुनाते हुए प्रियतम ने भी यह संकत से कहा था कि चरण-लक्ष्मी उन्हें अत्यन्त प्यारी है। तदनुसार सखी ने भी उनके हार्दिक आशय को समझ कर वही बात ज्यों की त्यों कह दी ॥२५६॥

इस प्रकार जिसकी सब से अधिक प्रार्थना की जाती है, उस स्वामी श्रीकृष्ण को भी यह बता कर कि मैं श्रीराधा के कैङ्कर्य के सिवा और किसी के लिए आपसे प्रार्थना नहीं करता, अब कहते हैं कि यद्यपि श्रीकृष्ण सबके ध्यान का सर्वश्रेष्ठ विषय हैं, तथापि यदि मैं उनका ध्यान करता हूं, तो अपनी अनन्यता का समर्थन प्राप्त करने के लिए ही—

'अहा ! आपने प्रियतम के ध्यानरूप मेरे इस कृत्य से प्रसन्न होकर सुखस्वरूप श्रीराधा सामान्य जनों के लिए अत्यन्त दूरवर्ती अपने कैङ्कर्य की पदवी प्रदान करती

१. श्रीमद्भागवत ३/४/३१
२. अन्य प्रतियों में प्रायः 'दिशतु' पाठ मिलता है।

निधायैवं चित्ते कुवलयरुचिं बर्हमुकुटं
किशोरं ध्यायामि द्रुतकनकपीतच्छविपटम्।।२५७।।

एवं चित्ते निधाय किशोरं ध्यायामीति सम्बन्धः। ध्यानमत्र सखीषु यथा दृष्टं तथा मननम्। एवं किम्? तदेवाह—'सुखे'-ति। प्रियतमतत्सुखमयी राधा अनेन स्वप्राणप्रियध्यानेन मम तथा स्वादाभिज्ञतया च प्रीतासती निजकैङ्कर्यपदवीं दिशति। सखीकथनपक्षे तु कैङ्कर्यसत्वेऽपि किञ्चिद्गूढकटाक्षभङ्ग्या 'निजम्' इत्यान्तरीणं गोपनीयमन्यदेवेत्यर्थः, तदपूर्वनिजत्ववाञ्छया वक्ति। अत्रैवं लोकरीतिमनुसृत्य प्रक्रिया—पूर्वन्तु केवलप्रियादास्यस्वादाभिज्ञा एव सहचर्यः, पितृकुलीनसमवयस्कतया सख्यरसमयाः। ततश्च राजकुमार्याः पतिसंयोगे विलक्षणापूर्वरसानुभवः। तत्रारम्भे तु वक्तुं

रसकलश

हैं—इस बात को हृदय में रखकर पिघले हुए स्वर्ण के समान पीतांबर धारण करने वाले, मोरपंखी मुकुट पहिने हुए, नील-कमल की कान्ति से सम्पन्न किशोर श्रीकृष्ण का मैं ध्यान करता हूं' ।।२५८।।

इस रीति से किशोर श्रीकृष्ण को हृदय में विराजमान कर उनका ध्यान करता हूं—यह अन्वय है। श्रीकृष्ण के उसी रूप के ध्यान से यहाँ तात्पर्य है जैसा कि सखियों के बीच प्रायः देखा जाता है। ध्यान का स्वरूप बताते हैं—प्रियतम के सुख में सुख मानने वाली श्रीराधा अपने प्राणप्रिय के इस प्रकार ध्यान करने से तथा इस बात से कि मैं उस स्वाद का जानकार हूं, प्रसन्न होकर अपनी कैङ्कर्य, पदवी को देती हैं। यदि इसे सखी की उक्ति माना जाए, तो कैङ्कर्य का अधिकार तो उसे पहले से ही प्राप्त है, अत 'निज' के अन्दर छिपे गूढ़ार्थ की तरफ दृष्टिपात करना होगा। वह यह है कि केवल किङ्करी होना एक बात है, और आन्तरिक गोपनीय बातों की अधिकारिणी होना दूसरी बात है। उसी अपूर्व निजत्व (आत्मीयता) की कामना से यह सब कहा जा रहा है। लोक में जैसा चलता है, वैसी ही कार्य पद्धति यहाँ भी लागू होती है। प्रथम तो सहचरियों को केवल प्रियाजी की दासता का ही अनुभव था। समवयस्का होने के कारण श्रीराधा के पिता श्रीवृषभानु के घर में मैत्री का ही आनन्द लेती थीं। उसके बाद हुआ राजकुमारी श्रीराधा का पति के साथ संपर्क। यह रसपूर्ण अनुभव अपूर्व और विलक्षण ही था। प्रारम्भ में तो वे अपने इस अनुभव को अपने आप से कहने में भी सकुचाती थीं, सखियों से कहने की तो चलती ही क्या है! जब सखियां भी स्वामी की सेवा में पहुंच गई, तो उत्कंठा के कारण प्रियतम के साथ विलास से सम्बन्धित बाते भी आपस में होने लगीं। इस प्रकार जब संकोच दूर हो गया, तो विहार के अवसरों

सा स्वस्मादपि स्वयं लज्जति, तदा सखीभ्यः कैमुत्यम् । यदा च सख्योऽपि स्वामिसेवालग्नास्तदौत्सुक्येष्टविलासवार्तायाः परस्परप्रापणेन क्रमशः सङ्कोचनिवृत्तेः प्रियसंयोगेऽपि न तासां सङ्कोचः स्यात् । तादृशार्थव्यंग्यमनुसृत्योच्यते—त्वत्सेवारता अपीदानीं त्वत्प्रसादास्पदं प्रियं दृष्ट्वा प्रसद्यैतद्ध्याने सङ्गता भवाम येन त्वमपि सङ्कोचं दूरीकृत्य महारसेऽपि कैङ्कर्याधिकारं दद्याः । अतो 'निजे'-त्युक्तिः ।

ननु प्रियसङ्गे किं नवीनशिक्षणम् ? तत्र विशेषणद्वारेण प्रकरणोत्थानिकोक्तार्थं व्यञ्जयति—'कुवलयरुचिम्' इति । अत्र स्पष्टेऽर्थेपि 'कृष्णः पक्षो नवकुवलयं कृष्णसारस्तमालो, नीलाम्भोदस्तव रुचिपदम्' इति स्मारणं, त्वत्प्रियतास्पदमेव वर्णं धारयति । मृदुलत्वाच्चेदानीं दयनीय एवेति ईषदपि तवोग्रशीतोष्णरूपवाम्येन म्लानशङ्कैव कार्येत्यादि ।

रसकलश

पर भी सखियों से किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए । इसी आन्तरिक आशय के अनुसार अब कहती हैं- सेवा में तो हम आपकी ही में रहती हैं, परन्तु अब जब देखती हैं कि आज कल आप प्रियतम को अपनी कृपा से निहाल कर रही हैं, तो हमें बड़ी प्रसन्नता होती है और हम यही सोचती हैं कि अब तो आपके प्रियतम का ही ध्यान क्यों न करें, ताकि आप भी संकोच को दूर कर महारस के समय भी कैङ्कर्य का अधिकार प्रदान करें । इसी आशय से 'निज' कहा गया है ।

शंका होती है कि श्रीराधा के प्रियतम के साथ होने पर क्या तुम्हें कुछ नया सीखने को मिलेगा ? इसके उत्तर में विशेषण द्वारा उसी बात को कहते हैं जो कि प्रस्तुत पद्य की उत्थानिका में कही जा चुकी है –'कुवलयरुचिम्' नील कमल जैसी कान्ति वाले) । अर्थ स्पष्ट है, किन्तु श्रीकृष्ण को कुवलयरुचि बता कर एक पूर्व पद्य (८८) में व्यक्त किये गए भाव की तरफ संकेत करते हैं—'हे श्रीराधे ! (प्रियतम के रूपसादृश्य के कारण) नील कमल, कृष्णसार मृग, तमाल, नीले बादल तथा श्रीयमुना —सब आपको प्यारे हैं ।' अर्थात् प्रियतम उसी वर्ण को धारण करते हैं जो आपको प्यारा है । कमल की भांति कोमल होने के कारण श्रीकृष्ण आपकी दया के पात्र हैं । कमल जैसे थोड़ी-सी धूप और यत्किंचित् ठंड से मुरझा जाता है, वैसी ही प्रियतम भी आपके रुख को थोड़ा सा भी प्रतिकूल देख कर उदास हो जाते हैं ।

'बर्हमुकुटम्' (मोरपंखी मुकुट धारण करने वाले) की व्यंजना यह है कि श्रीकृष्ण ने आपके प्रति आसक्ति का कंकण बाँध रखा है, अतः आसज्या आपको उनकी मानसिक व्यथा को पहिचान कर उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए—इत्यादि । 'द्रुतकनकपीतच्छ-

'बर्हे'-ति त्वदासक्तिबद्धकङ्कणोऽस्ति, तस्मादासज्यया तदार्ति परीक्ष्य नोपेक्षणीय, इत्यादि। 'द्रुते'-ति पीतपटव्यपदेशेन त्वदङ्गरङ्गं कदापि न त्यजति। 'द्रुते'-त्यनेन द्रवधर्मेण प्रेमा सूचितः तस्यापि पीतवर्णप्रसिद्धेः। अतस्त्वत्स्मरणेन क्षणे क्षणे द्रवतीति शुद्धप्रेमविलासवैभवनिधिस्मरणमिदम् कनकोऽपि द्रवेणैव शुद्धःस्यादिति। इत्यादितदन्तरङ्गमर्मासक्तिज्ञातृत्वप्राप्त्या विहारानन्दगोष्ठ्यधिकारार्हतां ज्ञात्वा निजकैङ्कर्यं दिशतीति तादृशध्यानस्य प्रियध्यानमेव हेतुः। इदानीन्तनकृपासमये तु 'प्रिये! कुवलयरुचिरयं कथं शोभते! कुवलयदृशा त्वया दर्शनीय एवे'-ति। तथा च त्वत्प्रसादीकृतं मुकुटं पटञ्च धारयति' इति तत्तन्मार्जननिर्मञ्छनादि दृष्ट्वा तत्तद्व्यंग्येनोक्तिः। एतादृशकृपास्पदमस्माभिः सहृदयाभिः कथन्न ध्येयः स्यादिति। यस्मै च प्रभुः प्रसन्नस्तद्ध्यानादिसाधनेनैव लोकानां कार्यसिद्धिरित्याशयेन वयमपि स्वेष्टार्थं भजाम इति।

रसकलश

विपटम्' (पिघले हुए सोने के रंग के पीताम्बर को धारण करने वाले) पीत पट धारण करने के बहाने प्रियतम आपके श्रीअंगों के रंग को कभी नहीं छोड़ते। 'द्रुत' (पिघला हुआ) शब्द से यह सूचित किया गया है कि प्रेम का धर्म भी द्रवित होना है और उसका रंग भी पीला माना गया है, अतः व्यञ्जना यह है कि प्रियतम आपकी याद में प्रत्येक क्षण द्रवित रहते हैं। इससे पद्य (२४४) में उपक्षिप्त इस बात का स्मरण दिलाया गया है कि श्रीकृष्ण शुद्ध प्रेम के विलास-वैभव की निधि हैं। सोना भी पिघलाने से ही शुद्ध होता है। इन सब बातों से यह जान कर कि श्रीहितसखी प्रियतम की आसक्ति के आन्तरिक मर्म को पहिचान गई हैं, अतः वे अन्तरंग-गोष्ठी में भाग लेने की अधिकारिणी हैं, श्रीराधा अपना कैङ्कर्य उन्हें प्रदान करती हैं। प्रियतम का ध्यान करने के फलस्वरूप ही यह कैङ्कर्य मिलता है। वर्तमान प्रसंग में जब कि प्रियाजी प्रसन्न होकर कृपा कर रही हैं, 'कुवलयरुचिम्' का तात्पर्य यह कहना है कि 'प्रिये! देखिये तो सही, नीलकमल की-सी कान्ति वाले प्रियतम कैसे सुन्दर दिख रहे हैं! आपकी भी आँखें नीलकमल जैसी हैं, अतः आप को इन्हें देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह जो मुकुट और पीताम्बर इन्होंने धारण कर रक्खे हैं, वे भी आपके द्वारा प्रसादी किये गये हैं।' प्रियाजी के चरणों को मुकुट से पौंछते और पीत पट से झाड़ते देख कर ही यह व्यंग्य पूर्ण बात कही गई है। भला, प्रियतम जब आपकी कृपा के ऐसे पात्र हैं, तो हम सहृदय सखियाँ उनका ही ध्यान क्यों न करें? जिस पर स्वामी प्रसन्न हों उसका ध्यान कर तथा उसी प्रकार के अन्य साधनों का अवलम्बन कर लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। यही सोच कर हम भी अपने वांछित ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रियतम का भजन करती हैं।

अत्र पदवीशब्दो मार्गार्थकोऽपि किञ्चदुत्कृष्टाधिकारलिङ्गज्ञापकः। तमुत्कर्षज्ञापनेन विशिनष्टि 'दृष्टीनाम्' इति बहुत्वं विविधसेवाव्यग्रत्वात् कासाञ्चिदुक्तनिजत्वानधिकाराच्च। 'दवीयो'ऽतिशयेन दूरं पदं, धाम, विषयं वा—साक्षाद्दृष्ट्यगोचरमित्यर्थः। यद्वा निर्मञ्छनादिप्रियकृतदास्यज-प्रसाददर्शनेन सकटाक्षोक्तिरियम्। निजकैंकर्यमेतादृशप्रभावकमेव यत् प्रियस्यास्मद्विचारागोचरपदप्रापणंकृतमिति। तत एव दृष्टीनां नवीय इति वाञ्छिताधिकदानमेव विचारदृष्टेर्दूरता। अतोऽस्मानपि सखीजनान् किञ्चिदपूर्वरसकैंकर्यं भवत्या प्रापणीयम्। अन्यच्चास्मत्पदवी त्वयास्मै दत्ता, ततोऽस्माभिः किं क्रियते? अस्य ध्यानेनैव त्वत्तः प्रत्यादातुमर्हा, इत्यपि कटाक्षः। प्रत्यादानन्तु सबलात् दृष्टिदवीय एव, परन्तु श्रीमती प्रीता चेत्, कथन्नदधात्, इति प्रियं प्रति कटाक्षः। 'अहहे'-त्याश्चर्यं, विस्मृत-वस्तुस्मृतिवत्। साधु! साधु! स्मृतिमागतम्। अहो! दुर्लभमपि कथन्न

रसकलश

'पदवी' का अर्थ है—मार्ग, किन्तु उससे किसी प्रकार के असाधारण उत्कर्ष का भी बोध होता है। इसी उत्कर्ष को बताने के लिये विशेषण देते हैं—'दवीयो दृष्टीनाम्' (दृष्टियों से दूर) सखियों के विविध कार्यों में व्यस्त रहने के कारण 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया गया है, इसलिए भी कि कुछ सखियों को निज-कैङ्कर्य का अधिकार नहीं होता। 'दवीयः' का अर्थ है अत्यन्त दूरवर्ती। 'पद का अर्थ है धाम या विषय। इस पद को साक्षात् नहीं देखा जा सकता—यह अर्थ है। अथवा यह देख कर कि प्रिय ने दास्य भाव से अपना सब कुछ निछावर कर प्रियाजी की कृपा अर्जित की है, सखी ने कटाक्ष करते हुए यह कहा है। व्यंजना यह है कि निज कैङ्कर्य का प्रभाव ही ऐसा है कि प्रियतम को वह पद मिल गया जिसके कि सम्बन्ध में हम सोच भी नहीं सकतीं। इसीलिए यह पद दृष्टि के अगम्य है। वांछित से अधिक देना ही विचार-दृष्टि से दूर होना है। जब ऐसी बात है, तो हम सखियों को भी आप से अपूर्व रसमय कैङ्कर्य प्राप्त करना चाहिये। दूसरे, आपने हमारा अधिकार इन प्रियतम को दे दिया। अब हम क्या करें? हमारे लिये तो यही बच रहा है कि इन प्रियतम का ही ध्यान करें और आप से अपनी वस्तु ले लें—यह व्यंग्य भी है। शक्तिशाली से किसी चीज को वापिस लेना तो ऐसी वस्तु की इच्छा करना है जो दृष्टि से दूर है। परन्तु यदि आप प्रसन्न हों, तो वह वस्तु क्यों नहीं देंगी?' यह कटाक्ष प्रिय को लक्षित कर किया गया है। 'अहह!' द्वारा आश्चर्य व्यक्त किया गया है। जैसे खोई हुई किसी चीज की याद आने पर कोई कहे—'अरे! याद आ गया। खूब याद आया!' चाहे जैसी दुर्लभ वस्तु क्यों न हो श्रीराधा देंगी क्यों नहीं? वे तो स्वयं सुख-स्वरूपा हैं। किसी का जरा-सा भी कष्ट

दद्यात् । स्वयं राधा सुखमय्यीव, ततः कस्यापि दुःखाभासमपि न द्रष्टुं श्रोतुं च शक्तेति । अथवा 'पद'-सन्निकर्षात् तत्सम्बन्धे दौर्लभ्यद्योतनार्थे च ज्ञेयम् ।

अथ मुक्तके बहिराचार्यपक्षे च 'दिशती'-ति वर्तमानः स्वस्मिन्दीयमानतया विश्वासार्थज्ञापकः । परस्मैपदो न केवलं स्वात्मार्थमेव, किन्तु परार्थकमपीति । अहो ! सजातीयैः कृष्णध्यानं कर्तव्यमपि प्रियादास्यप्रयोजनोद्देशपूर्वकमेव, न स्वतंत्रमिति व्यञ्जकः । येन केनापि प्रकारेण तत्प्रियतास्पदमेवानुसरणीयम् । लोकेऽपि दृष्टा राजसेवा प्रियतमास्पदसेवयैव लभ्या । किञ्च सर्वोऽप्यास्पदता व्यतिरिक्तो न तिष्ठति, 'पान्थः स्वशरणं यथा' इतिवत् । तत्रास्पदे स्थितोऽन्योऽनायासेनैवास्य दृग्विषयो भवतीति ।

रसकलश

उनसे देखा-सुना नहीं जाता । अथवा 'अहह' को 'पद' का निकटवर्ती शब्द होने के कारण—श्रीराधा के चरणों की दुर्लभता के सम्बन्ध में यह कहा गया है—ऐसा समझना चाहिये ।

पद्य को फुटकर मानने पर और श्रीहिताचार्य को वक्ता मानने पर वर्तमान कालिक क्रिया 'दिशति' से यह सूचित होता है कि श्रीहिताचार्य में पूर्ण विश्वास रखकर श्रीराधा अभिलषित पद को दे रही हैं । और परस्मैपद की व्यंजना यह है कि श्रीहिताचार्य को अपने ही लिए नहीं देती हैं, बल्कि दूसरों के कल्याण के लिए भी । तात्पर्य यह है कि श्री आचार्य प्रभु-जैसी भावना रखने वाले लोग श्रीकृष्ण का ध्यान भले ही करें, किन्तु ऐसा करने का उद्देश्य अथवा प्रयोजन प्रियाजी का दास्य प्राप्त करना ही होना चाहिए, न कि स्वतन्त्र रूप से श्रीकृष्ण का सेवन । जैसे भी बने, श्रीकृष्ण के प्रेम-पात्र का ही अनुसरण करना चाहिए । दुनियादारी भी यही कहती है कि राजा के मुँह लगे व्यक्ति का सेवन करने से ही राजा प्रसन्न होता है । दूसरी बात यह कि कोई क्यों न हो, यदि उसका आश्रय (आस्पद) उससे छिन गया, तो वह टिक नहीं सकता । कहा भी है—जैसे बटोही अपने घर का तरफ नजर रखता है ।' ऐसी स्थिति में यदि उसके अपने स्थान में और कोई घुस बैठा हो, तो उसे आसानी से दिखाई भी दे जायगा । अथवा 'दिशति' में वर्तमानकाल के प्रयोग के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि प्रियाजी ने निस्संदिग्ध रूप से श्रीहितप्रभु को कैङ्कर्य-पद दे ही दिया है । सुनते हैं कि सनत्कुमार संहिता, नारद पांचरात्र तथा स्वायंभुवागम में यह कहा गया है कि कई बार जन्म लेने के उपरान्त तो दूसरे-दूसरे अवतारों की उपासना के प्रति जीव की प्रवृत्ति होती है, फिर कुछ योनियों में चक्कर काटने के बाद वह अवतारी श्रीकृष्ण का उपासक बनता है, तब अन्त में कहीं जाकर श्रीराधा के चरणों में दास्य रति होती

यद्वा वर्तमानेन स्फुटमेव तया दत्तम्। श्रूयते च सनत्कुमारसंहितानारद-पञ्चरात्रादौ स्वायम्भुवागमे च, कतिचिज्जन्मभिरवतारान्तरोपासक, स्ततः कतिपयैरवतारिश्रीकृष्णोपासक, स्ततश्चरमे श्रीराधापददास्यरतिः स्यादित्याशयपद्यान्यसामीप्यान्न धृतानि, लेख्यान्येव। अर्थाच्छ्रीकृष्णध्यानार्जितपुण्य-प्रभावेण तत्प्रियतास्पदे प्रीतिर्भवतीति। यथात्रैवोक्तम्-'राधादास्य'-मित्यत्र 'किञ्च श्यामरतिप्रवाहलहरीबीजम्' इति प्राप्तिपराकाष्ठात्वम्। यथा च प्रबोधानन्दैः—'धन्यो लोके मुमुक्षु'-रित्यत्र 'श्रीमद्वृन्दावनेश्वर्यतिरसविवशाराधकः सर्वमूर्द्धा' इति स्वायम्भुवागमे च—

ब्रह्मानन्दरसादनन्तगुणितो रम्यो रसो वैष्णव-
स्तस्मात् कोटिगुणोज्ज्वलश्च मधुरः श्रीगोकुलेन्दो रसः।
तच्चानन्तचमत्कृति प्रतिमुहु वर्षद्रसानां परं
श्रीराधापदपद्ममेव परमं सर्वस्वभूतं मम ॥ इति ॥

पदवी गतिश्चलनमिति। यद्वाधिकारोत्कर्षनाम। यथाधिराजेति तथा निजत्वकैङ्कर्यविशिष्टमेव पदवी।

रसकलश

है। इस आशय के उद्धरण उस समय उपलब्ध न होने के कारण यहाँ नहीं दिये जा सके हैं। पाठक उन्हें खोज कर अंकित कर लें। अर्थात् श्रीकृष्ण के ध्यान के फलस्वरूप जो पुण्य संचित किया जाता है, उसके प्रभाव से उनकी प्रीति-पात्र श्रीराधा में रति होती है। श्रीराधासुधानिधि में कहा है—'जो व्यक्ति श्रीराधा की दासता को त्याग कर श्रीगोविन्द की आसक्ति की कामना से भजन करते हैं—तथा जो श्यामसुन्दर के रति-प्रवाह रूपी तरंगों के मूल बीज श्रीराधा को नहीं जानते हैं, वे विशाल अमृत-सागर पर पहुँच कर भी एक बूंद ही पाते हैं (पद्य ७९)। श्री प्रबोधानन्द ने 'धन्यो लोके मुमुक्षुः इस पद्य में आगे चल कर कहा है—'जो व्यक्ति श्रीवृन्दावनेश्वरी के प्रेम-रस में विह्वल होकर उनकी आराधना करता है, वह आरोधकों में सर्वश्रेष्ठ है।' स्वायम्भुवागम में कहा है—

'ब्रह्मानन्द-रस से अनन्त गुना रमीणय वैष्णव रस है, उससे करोड़ों गुना उज्ज्वल और मधुर श्रीगोकुलेन्द्र श्रीकृष्ण का है, उससे भी अधिक, अनन्त चमत्कारों से परिपूर्ण प्रत्येक क्षण वर्षणशील एवं रसों की चरम अवधि श्रीराधा के चरण-कमल हैं। वही मेरा सर्वस्व हैं।'

'पदवी' का अर्थ है—गति, चलना। उच्च अधिकार को भी पदवी कहा जाता है। 'अधिराज' की तरह निजत्व-सम्पन्न कैङ्कर्य भी एक गौरवपूर्ण पदवी है। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने कहा है—'दास होने से बढ़कर कोई कीर्ति नहीं। 'अहह !' यह

यथाह मधुसूदनसरस्वती—'कीर्तिर्दासकथावधि'-रिति । तद्विशेषणमाह-'अहहे'-ति कथनसुलभत्वेऽपि प्राप्तिदुर्लभत्वद्योतनार्थे । अजहल्लिङ्गमनिर्वच-नीयस्वतंत्रलोकातिशायित्वादिव्यञ्जनार्थम् । 'दृष्टीना'-मित्यत्र लोकदृष्टिर्न ग्राह्या, हेयत्वात् कैमुत्यम् । अत्र तत्तत्सिद्धान्तनिष्पन्ना एव ग्राह्याः । किञ्च सर्वेषां दृष्टयो भगवत्तत्वे पर्यवसन्ना भवन्ति, न च तत्प्रेमास्पदमार्गणे, सर्वैकप्रेमविषयत्वात्, तदाश्रयत्वाभावानिश्चयाच्च । अत्र तु 'सैकान्तेश्वर-भक्तियोगपदवी त्वारोपिता मूर्द्धनि' इत्यनङ्गीकारश्च कृतः । किञ्च लोकानां माहात्म्यैश्वर्यानन्द बुभुक्षितानां दृष्टयः स्ववाञ्छिते लब्धे तत्रैव स्थगिताः स्वसुखे मग्नास्तत्र तत्सुखस्वादानिश्चयान्न चाग्रे प्रसरन्ति, अतोऽतिदूरम् । यद्वा दवीयसी दृष्टिर्येषां तेषां पदं, स्वशरणवत्पर्यवसाना-श्रयमिति प्रसिद्धभगवत्तत्वादपि प्रस्तुततत्वे दत्तदृष्टित्वाद् दूरदृष्टयः। तत्रापि

रसकलश

आश्चर्य बोधक अव्यय यहाँ 'पद' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। अर्थात् पद के सम्बन्ध में सबसे बड़ी आश्चर्यजनक बात यह है कि कहना तो सरल है, पर उस पद पर पहुँचना महा कठिन है। 'पद' शब्द नित्य-नपुंसक है। ध्वनि यह है कि यह पद स्वतन्त्र है और उसके समान अलौकिक महिमा अन्य किसी पद की नहीं है। 'दृष्टियों से दूर' जो कहा है, सो उसका अर्थ सांसारिक दृष्टि से नहीं है, क्योंकि आराधना के क्षेत्र में लौकिक दृष्टि तो किसी प्रकार उपादेय नहीं है, बल्कि हेय है जिन लोगों की दृष्टि से यहाँ तात्पर्य है, वे ऐसे व्यक्ति होने चाहियें जो सिद्धान्त में निष्णात हों। दूसरी बात यह कि प्रायः सब लोगों की दृष्टियां भगवत्तत्व पर जाकर विश्राम ले लेती हैं। किसी की नज़र भगवान् के प्रेमास्पद तत्व (श्रीराधा) की खोज नहीं करतीं, क्योंकि सब विद्वानों के प्रेम विषय एक (श्रीकृष्ण) ही हैं। उनकी यह पक्की धारणा होती है कि ऐसा कोई तत्व नहीं है जो श्रीकृष्ण के प्रेम का भी विषय हो। इसी स्तव में कहा है—'ईश्वर की अव्यभिचारिणी भक्ति योग की पदवी को भी हम सिर-माथे रखते हैं, परन्तु श्रीवृन्दा-वन की सीमा में विराजमान श्रीराधा की दासी होने के अतिरिक्त मुझे और कुछ भी अच्छा नहीं लगता '(पद्य ७७)' इस पद्य में ईश्वर संबिन्धिनी भक्तियोग की पदवी को अमान्य ठहराया गया है। दूसरे यह कि महात्स्य और ऐश्वर्य के भूखे लोगों की दृष्टि अपनी वांछित वस्तु प्राप्त होने पर वहीं रुक जाती है। वे अपने ही सुख में मग्न रहते हैं। उनका यह पक्का विश्वास होता है कि अन्यत्र कहीं ऐसा स्वाद नहीं मिल सकता है। फलतः वे आगे नहीं बढ़ते। इसीलिए राधादास्य की पदवी उनके लिए अत्यन्त दूर है। अथवा 'दवीयोदृष्टीनाम्' को एक ही समासान्त पद मानकर यह अर्थ भी किया जा सकता है—अर्थात् वह पद जो अपनी शरण में आये हुए लोगों का अन्तिम आश्रय है। उनकी दृष्टि प्रसिद्ध भगवत्तत्व के बजाय राधा-तत्व पर लगी रहती है, अतः वे दूर की

कैङ्कर्ये दत्तत्वादतिशयार्थत्वम्। किञ्च कृष्णोपासका रासलीलादीनां श्रवणा-परिहार्यत्वेन कथं राधानाम न जानन्ति, कथं वा सुखमय्या लीलासम्बन्धा-स्वादं न प्राप्नुवन्ति। अतः प्रीतिस्तूत्पद्यतेऽपि, परन्तु स्वस्वामिनः प्रेमास-क्त्यानाश्रयत्वनिश्चयात् तद्भावानुदयेन न कैङ्कर्यलोभिनः। अतोऽतिशयार्थं विना न दूरगामिनी दृष्टिर्भवति। ततो दीर्घदर्शित्वं प्राप्यमेवेति भावः।

अत्र पदमित्युक्तं, न च दृष्ट्यगम्यमिति। ततः श्रीभागवतोक्तं ग्राह्यम्—

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥

इति रीत्यैश्वर्यमाधुर्यादितारतम्यक्रमेण रहस्यदृष्टिलाभो भवतीति ज्ञेयम्। अगम्योक्तेश्च कथं लोकसहृदयप्रवृत्तिः? इत्येत् पदोक्त्या सर्वसमा-श्वासः।

रसकलश

देखते हैं। ऐसे लोगों से भी अधिक दूरदृष्टि वे हैं जो राधा-कैङ्कर्य दृष्टि लगाये रहते हैं। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए ईयसुन् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न दवीयस् शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है। दूसरी बात यह है कि कृष्णोपासक लोग रासलीला आदि के सम्बन्धो में सुने बिना रह ही नहीं सकते। तो फिर यह कैसे संभव है कि सुखमयी श्रीराधा की लीलाओं से संबन्धित आस्वाद उन्हें कभी न मिला हो। वास्तविक बात तो यह है कि श्रीराधा के प्रति प्रीति तो उनके मन में पैदा होती है। पर उन्हें यह पक्का विश्वास नहीं होता कि कोई ऐसा नाम भी है जो हमारे स्वामी श्रीकृष्ण की भी प्रेमपूर्ण आसक्ति का विषय है। यही कारण है कि उनमें दास्य भाव का उदय नहीं होता और वे कैङ्कर्य पद को प्राप्त करने के लिए उत्कंठित नहीं होते। अतः यह आवश्यक है कि दृष्टि दूरगामिनी हो। भाव यह है कि दूरदर्शिता प्राप्त करनी ही होगी।

यहाँ पद का अभिधान किया गया है, यह नहीं कहा कि वह तत्व दृष्टि से परे का है। अतः श्रीमद्भागवत् में, इस संबन्ध में, जो कुछ कहा है, उसे ही सत्ता के रूप में स्वीकार करना होगा—

जैसे-जैसे मेरी पवित्र गाथा को सुनने और उसका गान करने से यह आत्मा शुद्ध होती है, वैसे ही वैसे जीव अंजन से आँजी गई आँख की तरह सूक्ष्म वस्तु (तत्व) को देखने के योग्य हो जाता है।'

इस रीति से पहले राधा-संबन्धी ऐश्वर्य का ज्ञान होता है और फिर क्रम-क्रम से माधुर्य आदि का बोध होने पर रहस्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यदि राधा दास्य को अगम्य बता दिया होता, तो इस संसार के भावुक लोगों की उधर प्रवृत्ति कैसे होती और कैसे सबको आश्वास मिलता?

'सुखे'-त्यत्र सुखं श्रीकृष्णभोग्यं, निरतिशयं, सर्वांशित्वेऽपि विलक्षण-निश्चयम् । 'निधाय' इत्यत्र धारणे नितरामिति वक्तुः संशयासम्भावनाद्यास्तु कुतस्तमां, प्रियप्रसादपर्यन्तानादरमपि निश्चित्येत्यर्थव्यञ्जकमव्ययम् । यथात्रैव परिभाषितं—'प्राणनाथप्रसादेऽपि नेच्छन्ती तत्कृतादरम्' इति । ननु ध्येयोऽप्यन्यथाकुर्यात् ? तत्र 'एवम्' इति । प्रयोजननिधानस्य पूर्वकालीनत्वात् 'अन्ते या मतिः सा सा गतिः' इति न्यायेन 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इत्युक्तेश्च सोऽपि सहृदयः, कृतज्ञो भावुकभावमनतिक्रम्यैव करिष्यतीति ।

अहं भजामीत्यत्र भजनं, प्रियां प्रति मदर्थप्रार्थनाकरणं पूर्वपद्येचोक्तमेव । सापि च परममृदुस्वभावा सुखमयत्वात् कस्मै अपि भावपरीक्षाकष्टं न ददाति, किञ्चित्कृतेऽपि कृपयतीति ।

रसकलश

'सुखमयी' में उस सुख से तात्पर्य है जिसका भोग श्रीकृष्ण करते हैं । उस सुख का कोई चरम बिन्दु नहीं है । श्रीकृष्ण तो सर्वांशी हैं, परन्तु उनके लिए भी इसका स्वाद, निश्चित रूप से विलक्षण ही है । 'निधाय' का अर्थ है भली भाँति धारण करके । यहाँ 'निधाय' इस अव्यय से यह व्यंजना की गई है कि इस संबन्ध में श्रीहिताचार्य के सन्देह या असम्भावना की बात तो दूर रही, प्रियतम यदि प्रसन्न होकर उनका आदर-सत्कार भी करें, तो भी वे उसे स्वीकार नहीं करेंगे । ऐसा निश्चय करके ही वे श्रीकृष्ण का ध्यान करने को तैयार हैं । इसी ग्रन्थ के परिभाषा प्रकरण में कहा गया है—'श्रीहितसखी प्राणनाथ श्री श्यामसुन्दर के प्रसन्नता के क्षणों में भी उनकी ओर से प्रदत्त सत्कार-पुरस्कार को न चाहती हुई केवल स्वामिनी श्रीराधिका के चरण-कमलों के मकरन्द की ही भौंरी बनी रहती हैं'[1] ।'

इस स्थिति में यह शंका होती है कि जिसका ध्यान (साधनरूप में) किया जा रहा है, कहीं वही लक्ष्य भ्रष्ट कर दे तो ? इसी शंका के समाधानार्थ 'एवम् (इस प्रकार) कहा है । अर्थात् ध्यान करने से पूर्व उसके प्रयोजन को निश्चित कर लेना होगा । फिर 'अन्त में जैसी बुद्धि होती है, वैसी ही गति मिलती है'—इस न्याय के अनुसार, तथा इस उक्ति के अनुसार कि 'जो मेरे पास जिस भावना से आते हैं, मैं उसी भाव से उन्हें भजता हूं, यह सोचना होगा कि श्रीकृष्ण भी सहृदय हैं, कृतज्ञ हैं, अतः भावुक भक्त को इच्छा का पूर्ण ध्यान रखते हुए ही सब कुछ करेंगे ।

---

१. पद्य का दूसरा चरण इस प्रकार है—
केवल स्वामिनीपादपद्ममाध्वीकसुव्रता ॥ परिभाषा-प्रकरण ५७.

ननु पूर्वं 'एवं निधाय' इति किमर्थं क्रियते ? ध्यानसिद्ध्यनन्तरं कर्तव्यमिति चेत्, तत्रैवम्—तावत् प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते इति हि। पुनश्च अकस्मात् सर्वक्रियमाणतादृष्ट्या क्रियेत, तदा प्रस्तुतरसानुदयात्तन्मनोलग्नत्वात्तद्भजनविशेषभाग्यवति । पुनश्च केवलस्य ध्याने श्रुतिमुन्यादिजातीयस्वभावोऽपि स्यादतः पूर्वत एव प्रयोजननिधानात् सोऽपि प्रसन्नतमः स्यान्न च भावान्तरोदयविघ्नान् करोति, स्वाभीष्टत्वात् बलवत्वाच्च। अतः प्रियादास्याभिलाषपुरान्तरभावितकिशोरध्यानं परिपक्वं सदुच्चतमदास्यफलदं रसायनं जातम्।

ध्यानमाह—कुवलयेत्यादिमुख्यतमं लक्षणमेव निर्दिष्टम्, अन्यच्छृङ्गारादि स्वहृदयनिहितमेव न विवृतं, छन्दोगतिलाघवाच्चेति। एवं साधनसाध्यभेदेन पूर्वोक्तरसभावविवरणमपि लक्षितं ज्ञेयम् ॥२५७॥

रसकलश

'मैं भजता हूं' इस वाक्य में श्रीकृष्ण को भजने का अर्थ है—मेरे लिये प्रियाजी से प्रार्थना करना। पूर्व पद्य में यह बात कही जा चुकी है। कोमलस्वभाव वाली और सुखस्वरूपा होने के कारण प्रियाजी भी भक्त के भाव की परीक्षा कर उसे कष्ट नहीं देती हैं। थोड़ा-बहुत करने से ही कृपा कर देती हैं।

यहाँ पूछा जा सकता है कि कैङ्कर्य-पदवी प्राप्त होने से पूव ही श्रीकृष्ण का ध्यान क्यों किया जाय? उसे तो सिद्धि मिलने पर करना चाहिए! इस सम्बन्ध में कहना यह है कि मूर्ख भी बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। फिर दूसरी बात यह है कि बिना सोचे-समझे हटात् सब कामों में प्रवृत्त होने की दृष्टि रक्खी जाय, तो प्रस्तुत में रस का आविर्भाव नहीं होगा और तब श्रीकृष्ण में मन के रम जाने के कारण उनके विशेष प्रकार के भजन में ही लिप्त होकर रह जायगा। दूसरे यह कि केवल श्रीकृष्ण का ही ध्यान करने पर साधक की प्रकृति श्रुति-मुनिरूपा गोपियों जैसी हो जायगी। अतः पहले ही से लक्ष्य को स्थिर करके चलना होगा। इससे श्रीकृष्ण भी प्रसन्न होंगे और साधक के हृदय में विजातीय भावनाओं को उदित होने से रोकेंगे, क्योंकि वे इसके लिए समर्थ हैं कि भक्त के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण कर दें। अतः श्रीकृष्ण विषयक ध्यान में प्रियाजी के दास्य की कामना का एक और पुट लग जाने पर परिपक्व होकर दास्य-फल को देने वाला एक रसायन तैयार हो जायगा।

ध्यान के सम्बन्ध में बताते हैं—'नील कमल जैसी कान्ति वाले को हृदय में रख कर।' यहां श्रीकृष्ण के प्रधान लक्षण—नील-कमल जैसी कान्ति से सम्पन्न—होने का ही उल्लेख किया गया है। शृंगार आदि उनकी अन्य विशेषतायें तो हृदय में हैं ही, अतः

न केवलं ध्यानमेव, किञ्च प्रीत्या सर्वाण्यपि सेव्याङ्गानि साधये। तत्साध्यप्रसादलब्धनिजकैंकर्येऽप्यनुरागं विना सर्वोऽप्यद्विधिकारो नियमाद्विधिरेव। तस्मात्तदनुग्रहेण पुनरनुरागोत्सवमाशास्ते—

ध्यायंस्तं शिखिपिच्छमौलिमनिशं तन्नाम संकीर्तयन्
नित्यं तच्चरणाम्बुजं परिचरंस्तन्मन्त्रवर्यं जपन्।
श्रीराधापददास्यमेव परमाभीष्टं हृदा धारयन्
कर्हि स्यां तदनुग्रहेण परमोद्भूतानुरागोत्सवः॥२५८॥

अन्तरङ्गे सखीपक्षेऽर्थेऽनुरागस्तु तत्र नापूर्वः, सदा स्थाय्येव, परन्तु तत्रान्तरङ्गकैंकर्ये परमप्रियतोदयादुत्सवरूपस्तत्रत्याऽर्हो विलक्षण एव यमन्त-

रसकलश

उनका विवरण नहीं दिया। इस प्रकार साधन-साध्य का भेद स्पष्ट कर पूर्वोक्त रस और भाव की विवेचना की ओर भी ध्यान दिलाया गया है ॥२५७॥

केवल ध्यान ही नहीं, बल्कि सेवा के सब अंगों[1] का मैं प्रेमपूर्वक पालन करूंगा। इन साधनों द्वारा साध्य श्रीराधा की कृपा से निज-कैङ्कर्य को प्राप्त करके भी यदि हृदय में अनुराग का उदय नहीं हुआ, तो समस्त नियम बन कर विधिमात्र रह जायेंगे। अतः स्वामिनी की कृपा से पुनः अनुरागरूप उत्सव की आकांक्षा करते हैं—

'दिन-रात उस मोरमुकुट वाले का ध्यान करता हुआ, उनका नाम-संकीर्तन करता हुआ, नित्य उनके चरण-कमल की सेवा करता हुआ तथा उनके श्रेष्ठ मंत्र का जप करता हुआ, परम अभीष्ट श्रीराधा-पद-कैङ्कर्य को ही हृदय में धारण करता हुआ उनके अनुग्रह से प्रकट हुए परम अनुराग के उत्सव से संपन्न कब बनूंगा ॥२५८॥

यदि प्रस्तुत पद्य को अन्तरंग सखी की उक्ति माना जाय, तो उनमें अनुराग का होना कोई अनहोनी बात नहीं है। वह तो सखियों में नित्य-भाव से रहता ही है, किंतु अन्तरंगा कैङ्कर्य में अत्यन्त प्रियता के आविर्भाव के कारण अनुराग उत्सव का रूप धारण कर लेता है। अनुराग का यह स्वरूप विहारकालीन सेवा-समय के योग्य है और स्वयं में विलक्षण है—ऐसा कि अन्तरंग सखियाँ भी उसकी कामना करती हैं। इसीलिए

१. साधन-भक्ति के ६४ अंग बताये गए हैं जिनमें मुख्य ये है—गुरुपादाश्रय, सद्धर्मजिज्ञासा, भोगत्याग, यावदर्थानुवर्तन, व्यवहार में उदारता, अन्यदेवता की अनवज्ञा, सेवापराध-त्याग, वैष्णव चिन्ह धारण, इष्ट को प्रणाम, परिक्रमा आदि, अर्चन-परिचर्या, नाम-संकीर्तन, स्तुति-पाठ, नैवेद्य-पाद्यादि का आस्वाद, मूर्ति और आरती आदि के दर्शन, नाम श्रवण, इष्ट कृपापेक्षा, ध्यान, दास्य सख्य, समर्पण, शरणापत्ति और वैष्णव-सेवा।

रङ्गा अपि वाञ्छन्ति । तदत्र तर्कोऽप्रतिष्ठः । तादृशानुरागिणामेव तद्याञ्चा परमापूर्वरसदा, अन्येषां योग्यैव, नापूर्वा । उत्तरोत्तरान्तरङ्गाभीष्टसूक्ष्म-क्रमोऽन्तरङ्गज्ञेय एव । बहिरङ्गानां तत्स्थानयोग्यत्वमेव दुर्लभम् । तस्मादनु-रागशब्दसाधारण्यात् स्वज्ञेयसाजात्यं न कल्पनीयं, तत्रत्याहंतारतम्यं स्वादान्तरविशेषोदयात् । अन्यथा निर्विशेषब्रह्मैव स्यात् । पुंस्त्वेन सखी-जनसाधारण्योक्त्या सर्वाः शिक्षयति ।

अङ्गान्याह—'ध्यायन्' इति । तत्र 'अनिशम्' इति न केवलमेकदैव । किञ्च तेनापि शिखिपिच्छं सर्वदैव सौभाग्यचिन्हवद्धृतम् । तेनास्माकं तद्ध्यानस्य च समवायिसम्बन्धवन्नित्यमेव । 'तम्' इति यस्य पूर्वं नाना-विधासक्ति प्रेमतरङ्गा विवृतास्तमिति । ध्यानं क्षणशस्तत्कृतलीलाविलासादे-र्हृदयग्राहित्वात् तदेकमननम् । ततस्तल्लीलाभावानुकूलं नाम सम्यक्तया

रसकलश

इस क्षेत्र में व्यावहारिक तर्क का आदर बिलकुल ही नहीं है । जिनका अनुराग उस प्रकार का है, उन्हें तत्सम्बन्धी याचना में भी अपूर्व रसानुभव होता है । अन्य साधकों को उसकी याचना करना उचित माना जा सकता हैं, पर उस याचना में अपूर्वता नहीं आने की । अन्तरंग को ही इसका अनुभव है कि निज-सेवा के अधिकारियों में एक के बाद दूसरी रस-तरंगे किस प्रकार, क्रमशः, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती हुई उदित होती हैं । बहिरंगों के लिए तो यह असम्भव है कि वे कभी उसके योग्य बन सकें । अतः अनुराग शब्द मात्र को सुन कर यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए कि वह उसी कोटि का है जिसका अनुभव सामान्य जन को होता है । उस अनुराग में और इसमें यह अंतर है कि एक-विशेष प्रकार का आस्वाद यहाँ अनुभव करने को मिलता है । यदि ऐसा न होता, तो यह भी निर्विशेष ब्रह्मानन्द होकर रह जाता । दोनों में फिर अन्तर ही क्या रह जाता ? 'ध्यायन्' 'संकीर्तयन्' आदि के पुल्लिग में होने से यह सूचित होता है । कि साधारण सखी-जन के रूप में यह सब कहा गया है और उद्देश्य है समान रूप से सब को शिक्षा देना ।

साधन के अंगों का निर्देश करते हैं—'ध्यायम्' (ध्यान करता हुआ) । 'अनिशम्' (निरन्तर) का मतलब है कि केवल एक बार ही नहीं । श्रीकृष्ण ने भी मोर-पंख को सदा ही सौभाग्य-चिन्ह के रूप में धारण किया है, अतः समवाय-सम्बन्ध की तरह तत्सम्बन्धी हमारा ध्यान नित्य ही है । 'तम्' से उन श्रीकृष्ण का निर्देश किया गया है जिनकी विविध आसक्तिपूर्ण प्रेम-तरंगों का वर्णन किया जा चुका है । 'ध्यान' का अर्थ है कि श्रीकृष्ण ने जो-जो लीला-विलास किये हैं, हृदयाकर्षक होने के कारण, उनका प्रत्येक क्षण एकाग्र-चित्त से मनन करना । इसके उपरान्त उनकी लीला और तत्सम्बन्धी

यथोभयमनः श्रवणाल्हादजनकं कौतुकवर्द्धकं स्यात्, तथैव कीर्तयन्, स्फुटं कथयन्। तादृशनामानि यथा प्रबोधानन्देनाष्टोत्तरशतके निर्दिष्टानि तद्व-ज्ज्ञेयानि। अत्र ध्यानं प्रत्यक्षेऽपि यथादृष्टमननम्। अथवा स्वयमसङ्कोचार्थं कुञ्जात् बहिर्ध्यायति गायतीति ज्ञेयम्। बहिरेव कीर्तनकौतुकमपि घटते।

ततः प्रसह्य विलासश्रमे प्रियप्रार्थितप्रियासविनोदकारित संवाहनादिना 'तच्चरणाम्बुजं परिचरन्' इत्युक्तं प्रार्थनं पूर्वपद्योक्तेः। विनोदः स्वाभीष्ट-निवेदनार्थं परविज्ञप्तिरितिन्यायोक्तिपरीहासात्मकः। 'नित्यम्' इति 'तत्' इत्येताभ्यां तादृशप्राणप्रियस्य कथन्न परिचरणं क्रियते यत्सेवने क्षणशः

रसकलश

भावों के अनुकूल उनका इस प्रकार मनन करे कि मन और कान दोनों प्रसन्न हों और कौतुक बढ़े। इस रीति से नाम-संकीर्तन करें और स्पष्ट रूप से करें। इन नामों को श्रीप्रबोधानन्द ने अपने 'अष्टोत्तरशतक' में गिनाया है। उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यहाँ ध्यान से यह अपेक्षित है कि श्रीकृष्ण के सामने स्थित होने पर भी, जैसा देखा है, उसी रूप का मनन-चिन्तन करें। अथवा नाम लेने में स्वयं को कोई संकोच हो, तो साधक कुंज से बाहर आकर ध्यान करता है, गाता है। कीर्तन की कौतुकपूर्ण क्रीड़ा बाहर ठीक भी जँचती है।

इसके बाद विलासजन्य श्रम से थकान अनुभव होने पर प्रियतम की प्रार्थना पर प्रियाजी ने प्रसन्न होकर हास-परिहास का पुट देते हुए श्रीहितसखी द्वारा श्रीकृष्ण की चरण-सेवा कराई—यह अर्थ है 'तच्चरणाम्बुजं परिचरन्' का। प्रार्थना का स्वरूप पूर्व के पद्य (२५६) में बता आये हैं। प्रस्तुत में विनोद की सृष्टि उसी लोक-परिपाटी पर हुई जिसके अनुसार लोग अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिए सीधे स्वयं न कह कर दूसरे पर रख कर उसे[1] कहते हैं। पद्य के द्वितीय चरण में 'नित्यम्' और 'तत्' (उनके) द्वारा यह भाव व्यक्त किया गया है कि ऐसे प्रियतम की सेवा क्यों न की जाय जिनके सेवन से प्रत्येक क्षण आनन्द का लाभ होता है। अब विलास के प्रसंग में हितसखी जब पैर दबाती है, तो प्रिया-प्रियतम के श्याम और गौर दोनों प्रकार के चरण उनके सामने

१. पैर-चप्पी के प्रसंग में हास-विनोद की सृष्टि, संभवतः, इस विधि से हुई होगी—

विलास की समाप्ति पर श्रीहितसखी की सिफारिश करते हुए प्रियतम ने प्रार्थना की कि वे निज-कैङ्कर्य प्रदान कर उन्हें अनुगृहीत करें। इस पर प्रियाजी बड़ी प्रसन्न हुईं, समझ गईं कि प्रियतम स्वयं अनुगृहीत होना चाहते हैं, अतः हितसखी पर रख कर ऐसी प्रार्थना कर रहे हैं, और बोलीं—'चूंकि तुमने प्रिय के माध्यम से यह प्रार्थना की है, अतः इनकी ही चरण-सेवा कर इनका अनुग्रह अर्जन करो।'

परमानन्दः स्यादिति व्यज्यते । तत्र विलासप्रकरणे गौरश्यामचरणसम्मिलने श्यामैकसंवाहनविनोदानन्दः सहृदयैकध्येयः ।

तदानीं किञ्चिल्लौल्याधिक्षेपे च तस्य मन्त्रं पूर्वाभिमंत्रितगुप्तप्रेमोक्ति-विचारं अन्योक्त्यर्थान्तरन्यासस्तुतिनिन्दाद्यलङ्कृतिचातुर्य्येण जपन्, परोक्ष-वादेन श्रावयन्निति । मंत्रो यथा प्रियां प्रसाद्य मदिष्टं साधयेत्तथैव गोष्ठीकरणे मत्साहाय्यमाचरणीयमितिहार्दकः । तत्र वर्य्यत्वं तत्सुखैक-प्रधानत्वात्, अन्यथा मंत्रमित्येवावक्ष्यत् । अत्र कश्चिन्मंत्रोऽपि लेख्यः ।

एवं कृष्णैकसेवालग्नापि श्रीराधापददास्यमेव परमं निरतिशयमभित इष्टं, न चान्यत प्रियप्रसादैकपर्यवसानकमिति धारयन् । 'हृदा' इति निश्चित्य पूर्वमेवेत्यर्थः । करणे धारणे च महान् भेद इति हि ।

रसकलश

सेवार्थ प्रस्तुत रहते हैं, पर श्रीहितसखी केवल श्याम की पद-सेवा करती है । इस बात को लेकर भी बहुत विनोद और हास-परिहास चलता है जो कि सहृदयों के ध्यान करने योग्य है ।

पद-सेवा करते-करते श्रीहितसखी भावुकता से कुछ चंचल हो उठीं और श्रीकृष्ण सम्बन्धी मन्त्र का जप करने लगीं । यह मंत्र क्या था, पहले से ही सोच-समझ कर निश्चित किया गया कुछ गुप्त कथनीय था जिसके स्वरूप को सौष्ठव प्रदान करने के लिए अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति आदि अलंकारों का उपयोग किया गया था। यही मंत्र था जिसे वे जप रही थीं—अर्थात् इस ढंग से प्रियतम को सुना रही थीं जैसे उनके पीठ-पीछे कह रही हों । मंत्र का स्वरूप कुछ इस प्रकार था—'प्रियाजी को प्रसन्न कर मेरी कामना को पूरी करिये और गोपनीय वार्तालाप के प्रसंग में मेरी चर्चा लाकर मेरी सहायता कीजिए ।' यह है मंत्र का स्वारस्य, ।'मन्त्रवर्यम्''वर्य' का अर्थ है—श्रेष्ठ। श्रेष्ठ इस लिये कि उसमें श्रीहितसखी का अपना सुख प्रधान था, नहीं तो केवल 'मन्त्र' ही कहा जा सकता था । यहाँ मन्त्र से तात्पर्य श्रीकृष्ण-सम्बन्धी किसी मंत्र का भी हो सकता है जिसे कि उनके भक्त गण जपते हैं[1] ।

इस प्रकार एकमात्र श्रीकृष्ण की परिचर्या में निरत रह कर भी श्रीराधा-चरण की दासता को ही परम अभीष्ट के रूप में हृदय में धारण करती हुई । 'परम अभीष्ट' से तात्पर्य यह कहने का है कि इसके सिवा और कुछ लक्ष्य है ही नहीं – यहां तक कि यह अभीष्ट-सिद्धि यदि प्रियतम की प्रसन्नता पर ही जाकर रुक जाय, तो वह भी

---

१. मन्त्र के संबन्ध में पद्मपुराण में लिखा है :—

कृष्णाय नम इत्येव मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ।
भक्तानां जपतां भूयः स्वर्गमोक्षफलप्रदः ॥

ततस्तस्याः प्रियाया एवं ममतास्पदसम्बन्धजानुग्रहेण परमो निरतिशय उद्भूत उज्जृम्भितोऽनुरागस्योत्सवो वृद्धिरौत्सुक्यमानन्दो वा यस्येति यावत् । अनुरागः स्थायीदुग्धवत्, तस्योत्सवः सहकारिभावैर्वर्द्धनं, तत्रोद्भूतत्वमुत्सेचनम् । परमत्वं स्वकृतप्रियसाहाय्याचरणसाफल्यहर्षाधिक्यादुपशामितोऽपि न शाम्येत्, तादृशानुरागवान् कदा स्यामिति प्रियादास्यानन्देऽपि प्रियसम्बन्धानन्दाधिक्याशंसनम् ।

मुक्तके आचार्योक्तिपक्षे, 'तम्' ध्येयतया पूर्वपरामृष्टम् । 'शिखी'-त्यनेन श्रीराधावनसम्बन्धिपक्षधारणात् प्रियानन्योपासकं वृन्दावनोपासकञ्च । 'मौलि'-पदेन परमादरव्यञ्जनम् । यथा वैष्णवानां तदीयताज्ञापकतुलस्यादिनिर्माल्यधारणवत् ऐश्वर्यादपि माधुर्यनिजाभीष्टत्वज्ञापनञ्चेति । प्रियां

रसकलश

अमान्य होगा । 'धारयन्' का अर्थ है कि पहले ही निश्चय कर हृदय में धारण करता हुआ । करने और धारण में बहुत बड़ा भेद है ।

इसके उपरान्त प्रियाजी का ममता-पात्र होने के कारण उनके द्वारा किये गये अनुग्रह के फलस्वरूप मेरी वह दशा कब होगी जब कि हृदय में अनुराग का अत्यन्त उत्कट उत्सव उमड़ पड़ेगा । 'उत्सव' का अर्थ यहाँ, वृद्धि, उत्कण्ठा अथवा आनन्द है । अनुराग वह जो दूध जैसी स्थायी विशेषताओं से सम्पन्न हो । सहायक तत्वों के संयोग से उसका बढ़ना ही उत्सव है । अनुराग का उद्भुत होना कुछ ऐसा है जैसे दूध में उफान आना । यह अनुराग 'परम' अर्थात् निरतिशय तब होता है जबकि श्रीहितसखी देखती हैं कि प्रियतम की सहायता के कारण उन्हें अभीष्ट-सिद्धि हो गई है । तब प्रसन्नता का ऐसा अतिरेक होता है कि कभी-कभी पानी के छींटे देने पर भी दूध जिस प्रकार उफनता ही चला आता है, वैसे ही हर्ष रोके नहीं रुकता । तो ऐसा अनुराग मुझ में कब उमड़ेगा । यहाँ प्रकारान्तर से यह भी कहा गया है कि प्रियाजी के दास्य का आनन्द तो सर्वोपरि है ही, किन्तु इस आनन्द में प्रियतम का भी योग होने के कारण वह और भी बढ़ गया है ।

मुक्तक पक्ष में जहाँ कि श्रीहिताचार्य वक्ता हैं, पद्य के प्रथम चरण में उपात्त 'तम्' का अर्थ है कि ध्येयरूप में पहले ही से निश्चित किए गए । 'शिखी' (मयूर) की व्यंजना यह है कि श्रीकृष्ण ने श्रीराधा के अपने वन (श्रीवृन्दावन) से सम्बन्धित पंख को मुकुट के रूप में धारण किया है, जिससे सूचित होता है कि वृन्दावन के प्रति उनका बड़ा पक्षपात है और वे प्रियाजी तथा वृन्दावन के अनन्य उपासक हैं । 'मौली' (मस्तक) शब्द से आदर सूचित होता है । जिस प्रकार वैष्णव जन वैष्णवता के सूचक तुलसी,

प्रति स्वस्य मेघागमजमयूरहर्षज्ञापनं, विदग्धानां प्रायः संज्ञासंकेतैकव्यवहरणात्, गोपकिशोरोद्भटरीतिश्च, धामस्वरूपान्तरव्यावर्तकलक्षणं वृन्दावनविहारित्वञ्चेत्यादिव्यंग्यानि सहृदयवेद्यानि यथास्वादं संयोज्यानि ।

ध्यानं नखशिखान्तं प्रत्यङ्गं वा 'फुल्लेन्दीवर'-इत्यादि । तत्रापि स्वसम्बन्धाव्यभिचरितं, 'प्रियांसे निक्षिप्तोत्पुलकभुजदण्डः' इत्यादि मनोधर्मोक्तिः ।

रसकलश

निर्माल्य[1] आदि को धारण करते हैं, उसी आदर-भावना से श्रीकृष्ण मोरपंख को धारण करते हैं। यह व्यंजना भी निकलती है कि ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य ही अपना अभीष्ट है। मोरपंख धारण करने का अभिप्राय प्रियाजी को यह बताना भी है कि मेघों के आने पर जैसी प्रसन्नता मोर को होती है, वैसी ही श्रीकृष्ण को भी उनके दर्शन से होती है। विदग्धजन संकेत या किसी गूढ़ चेष्टा द्वारा ही अपना आशय प्रकट किया करते हैं। दूसरी बात यह भी है कि अपनी प्रसन्नता को व्यक्त करने के लिए गोप-किशोर इसी रीति को अपनाते हैं। मोरपंख से श्रीकृष्ण का वृन्दावन में विहार करना सूचित होता है और उससे यह कि धाम और धामी में कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार की अन्य व्यंजनायें भी सहृदयों को अपनी रुचि के अनुसार निकाल लेनी चाहिए।

ध्यान नख से शिखा-पर्यन्त या प्रत्येक अंग का पृथक्-पृथक् करना चाहिए' जैसा कि 'फुल्लेन्दीवर'[2] - इस पद्य में वर्णित है। किन्तु यह ध्यान रखना पड़ेगा कि यह ध्यान राधा विषयक संबन्ध से च्युत न कर दे। ध्यान का स्वरूप वैसा ही हो जैसा कि पद्य २३४ में वर्णित है—'प्रियाजी के कन्धे पर अपनी रोमाँचित भुजलता को रक्खे श्रीहरि निभृत कुंज में क्रीड़ा करते हैं।' यह हुआ मानसिक ध्यान।

१. पद्म पुराण में कहा है—

ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाख्यमाला, ये बाहुमूल परिचिन्हितशङ्खचक्राः ।
ये वा ललाटफलके लसदूर्ध्वपुण्ड्रास्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति ॥

निर्माल्य के संबन्ध में—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जहेमहि ॥

तुलसी के सम्बन्ध में—

हरिनामाक्षरयुक्तंभाले गोपीमृदङ्कितम् ।
तुलसीमालिकोरस्कं स्पृशेयुर्न यमोद्भटाः ॥ —स्कन्दपुराण ।

२. फुल्लेन्दीवरकान्तमिन्दुनयनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम् ।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसङ्घावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे ॥

वाग्धर्ममाह—'तन्नामे'-त्येकत्वं केवलवृन्दावनविहारिकृष्णैकसम्बन्धज्ञापकं, न च लीलान्तरसहस्रनामानीति। 'सम्यक्' इति 'श्याम श्यामेत्यमृतरससंश्रावि'त्वोक्तेः पुलकाश्रुसहितं कीर्तयन्निति। 'यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः' इति, यथा 'नामानि हतत्रपः पठन् गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन्' इत्यादौ गुह्यत्वञ्चोक्तं ध्येयम्। यद्वा सम्यक्त्वं तत्स्वादमाहात्म्यानन्दपूर्वकम्। यथा—

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर! नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम ॥ इति ॥

अथ कायधर्ममाह—तच्चरणाम्बुजपरिचरणं पादसेवनाख्यभक्तिः। 'नित्यम्' इत्यावश्यक कृत्यवदिति। तत्र प्रियादास्यस्यान्तःसंक्रान्तत्वादम्बुजोक्तावन्योऽपि भावः स्मर्यते। अहो! कथमेतौ कोमलौ प्रियासेवार्थं वने

रसकलश

वाणी-धर्म को बताते हैं—'तन्नाम सङ्कीर्तयन्' उनके नाम का संकीर्तन करते हुए। एक नाम के कीर्तन से यह सूचित किया है कि केवल वृन्दावन विहारी श्रीकृष्ण के नाम का ही संकीर्तन करना चाहिए। यों तो भिन्न-भिन्न लीलाओं को व्यक्त करनेवाले उनके हजारों नाम हैं, 'संकीतर्यन्' में 'सम्' उपसर्ग का आशय यह है कि नाम-कीर्तन सम्यक् रीति से होना चाहिए जैसा कि एक पूर्व पद्य (२५४) में प्रतिपादित है—अमृत-रस की वर्षा करने वाले 'श्याम-श्याम' अक्षरों को जपती हुई (श्रीराधा हमारी रक्षा करें)।' यह कीर्तन आनन्द से रोमांचित होकर तथा आँसू बहाते हुये होना चाहिए। 'हरि के जिन नामों को लेने से तथा 'लज्जा' छोड़ कर हरि के गोपनीय, मंगलकारी नामों तथा उनकी लीलाओं को स्मरण करता हुआ' इत्यादि वचनों में नाम की गोपनीयता के संबन्ध में जो कुछ कहा है, उसका ध्यान रखते हुए नाम-जप करना चाहिए। सम्यक् रीति से भजन करने का दूसरा मन्तव्य यह भी है कि नाम का स्वाद ले-लेकर, उसके माहात्म्य को ध्यान में रखते हुए आनन्दपूर्वक जपे। कहा भी है—

'हे भृगुवर! मधुर से भी मधुर, मंगलों का भी मंगलकारी, समस्त वेद रूप वल्लरियों का फल, चित्स्वरूप कृष्ण नाम को श्रद्धा या खेल-खेल में एक बार भी लेने से मनुष्यमात्र का उद्धार हो जाता है।'

अब शारीरिक धर्म के संबन्ध में कहते हैं—श्रीकृष्ण के चरणों की परिचर्या पाद-सेवन नामक भक्ति कहलाती है। आवश्यक कृत्य समझ कर इसे करना चाहिए। प्रियतम की चरण-संवाहन-सेवा में प्रियाजी का दास्य अनुस्यूत है, अतः प्रिय के चरणों की कमल से उपमा देने में एक-दूसरे भाव का भी स्मरण हो जाता है। वह यह कि—

विचरतः, कथं कथञ्च तत्सङ्गे लीलां कुरुत इत्यादि। अनेनोपलक्षणेनार्चन-वन्दनाद्यपि तत्सम्बन्धि सर्वं ज्ञेयम्।

एवं मनोवाक्कायैः पूर्णं तदाराधनमुक्तम्। 'तस्यैव मंत्रम्' इति जपस्य वाग्धर्मत्वेऽपि पुरश्चर्या द्योत्यते। तत्रापि वर्यत्वं प्रियानामसंवलितत्वम्। तत एवास्माकं वरणीयमिति। इत्यादिभिः कृष्णोपासने स्वस्य भेदाभाव-ज्ञापनमन्यताहानिशङ्कानिरसनञ्च लक्षितं, कृष्णमंत्रजपोपचारादेः श्रीराधा-दास्यप्राप्त्यर्थक विनियोगात्।

तत्रैवं साधनेन 'श्रीः' इति परमोत्कृष्टसौभाग्यश्रीयुता स्वामिनी—प्रियेणाप्येवमेव तत्र सङ्केतिता च—अभित इष्टं, न च पूर्वसाधने मनो-विश्रान्तिरिति। परमत्वं साधने कृते सिद्धेऽप्यसिद्धेऽपि तदेवाभीष्टमिति पर्यवसानत्वद्योतकम्। अर्थादन्येषामेतत्परमसाध्यमपि कुर्वन् वैष्णवत्वाव्यभि-

---

रसकलश

अहो! श्रीकृष्ण के ये कोमल चरण-प्रियाजी की सेवा के निमित्त किस प्रकार श्रीवृन्दावन में विचरण करते हैं, किस प्रकार उनके साथ लीलायें करते हैं—इत्यादि। चरण-सेवा में प्रिय संबन्धी अर्चन, आदि भक्ति के अन्य साधन भी अन्तर्भुक्त समझ लेने चाहिएँ।

इस प्रकार मन, वाणी और शरीर से पूर्ण आराधना का पद्य में वर्णन किया गया है। आगे कहते हैं—उन्हीं श्रीकृष्ण के मंत्र को जपता हुआ।' जप करना तो वाणी का धर्म है, किन्तु उससे जप की पूर्ववर्ती तदनुकूल अन्य क्रियाओं का भी बोध होता है। मंत्र भी साधारण नहीं, बल्कि श्रेष्ठ मंत्र। श्रीकृष्ण-संबन्धी मंत्र की श्रेष्ठता इसमें है कि वह राधा-नाम से किसी न किसी प्रकार संबद्ध हो। तभी हम उसे स्वीकार करेंगे। ध्यान, नाम-संकीर्तन, चरण-परिचर्या का उल्लेख कर श्रीहित प्रभु ने यह आशय व्यक्त किया है कि कृष्णोपासना के संबन्ध में उनकी भेद-बुद्धि नहीं है और न उससे अनन्यता की ही कोई क्षति होती है क्योंकि श्रीकृष्ण के मंत्र का जप, परिचर्या आदि निर्दिष्ट साधनों का विनियोग राधा-दास्य की प्राप्ति के लिए ही तो है।

इस प्रकार साधन करके 'श्रीराधा-दास्य को ही हृदय में धारण करता हुआ—'श्री' का अर्थ है—अत्यन्त उत्कृष्ट सौभाग्य-लक्ष्मी से संम्पन्न स्वामिनी। कई स्थलों पर प्रियतम ने श्रीराधा को 'श्री' के द्वारा संकेतित किया है। 'अभीष्ट' का अर्थ है: 'अभितः' (सब प्रकार से) इष्ट, अर्थात् साध्यरूप में स्वीकृत। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णरूप साधन को अपना कर ही मन विश्राम नहीं लेता। साध्य को 'परम' इस लिए कहा है कि साधन का प्रयोग करके प्रिया-दास्यरूप साध्य मिले या न मिले, अन्तिम प्राप्य रहेगा वहीं। अर्थात् सब साधनों का पर्यवसान वहीं होना चाहिए।

चरितोऽपि तादृशं साधनमेव मन्ये, इति । 'दास्यमेव' इत्येवकारेण तादृशानन्यव्यवच्छेदः । 'हृदा' इत्यनेन उपरितः सर्वं कुर्वन्नपि 'फलत्यन्ते मनोगतिः' इति न्यायेन सर्वं मद्वस्तुसाधकमेवेति ।

एवं स्वध्यानादिसाधनमद्धार्दप्रीतस्य तस्यानुग्रहेण परमोद्भूतोऽनुरागोत्सवः स्वाभीष्टे दास्ये यस्येत्यर्थः । यद्वा 'अनेन प्रीता मे' इति पूर्वोक्तरीत्या उक्ताचिन्त्यानन्यानन्तमहिमप्रेष्ठध्यानादिप्रीतायास्तस्या इति साध्यरूपसाधनेन स्वदास्येऽनुरागोत्सवो वर्द्धित इति । अर्थाद्दत्तन्तु तस्या हस्तेनैव गृहीष्ये, तदेकानुग्राह्यत्वकङ्कणेन अनुग्रहमपि च नान्यद् वाञ्छामीति निष्ठोद्भटत्वं सूचितम् । उद्भूतत्वं मेघगर्जनादेरिवोद्भिजवदङ्कुरितपल्लवित-

रसकलश

तात्पर्य यह है कि औरों के लिए श्रीकृष्ण-दास्य चरम साध्य है। उसका उपयोग मैं भी करता हूँ और इस दृष्टि से वैष्णव धर्म के सिद्धान्त के पालन से च्युत भी नहीं होता, किन्तु इस प्रकार का विचार मुझे अपने निर्धारित लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं कर सकता। कृष्णोपासना तो मेरे लिए साधनमात्र ही रहेगी। इस प्रकार मैं राधा-दास्य को ही हृदय में स्थान देता हूँ। 'एव' (ही) कह कर राधा-दास्य को उसी प्रकार के अन्य साधनों से पृथक् कर दिया है। 'हृदय से' कहने का तात्पर्य यह है कि ऊपर से भले ही कुछ करता रहूँ, परन्तु 'अन्त में मन की वृत्ति के अनुसार फल मिलता है' इस न्याय के अनुसार वह सब मेरे लक्ष्य के साधन मात्र हैं।

इस प्रकार जब श्रीकृष्ण देखते हैं कि मेरा आन्तरिक आशय उनके ध्यान आदि को साधन के रूप में प्रयुक्त करना है, तो इससे प्रसन्न होकर वे मुझ पर अनुग्रह करते हैं और तब अपने अभीष्ट प्रिया-दास्य के संबन्ध में, मेरे हृदय में निरतिशय अनुराग उमड़ आता है—यह अर्थ है। ('तदनुग्रहेण' में 'तस्य अनुग्रहेण' विग्रह करने से यह अर्थ निकलता है। यदि 'तस्याः अनुग्रहेण' (प्रियाजी के अनुग्रह से विग्रह किया जाय, तो जो अर्थ होगा, उसे बताते हैं—) अथवा 'मेरे इस कृत्य से प्रसन्न होकर श्रीराधा मुझे अपनी कैङ्कर्य-पदवी प्रदान करें,' (पद्य २५७) इस कथन के अनुसार अचिन्त्य, अनन्त-महिमाशाली अपने प्रियतम के ध्यान से प्रसन्न हुई साध्य-रूपा श्रीराधा के अनुग्रहरूपी साधन से अपने दास्य के प्रति मेरा अनुराग बन गया। अर्थात् यदि दास्य दिया जाता है, तो उन्हीं के हाथ से लूँगा। मैं प्रियाजी के ही अनुग्रह का ही मात्र बनूँगा—इस प्रण का जो मैंने कँगना बाँध रक्खा है, उसके कारण दास्य भाव के अतिरिक्त अन्य कोई अनुग्रह भी मुझे नहीं चाहिये। इस प्रकार श्रीहिताचार्य ने प्रिया-दास्य के प्रति अपनी बलवती निष्ठा व्यक्त की है। 'उद्भूत' का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—फूट कर ऊपर निकला हुआ।) मेघ के गरजने पर जैसे बीज पृथ्वी को फोड़ कर अंकुर के रूप में ऊपर आ जाता है,

पुष्पितफलितत्वमुत्सवोक्तेः। यद्वा पूर्वस्थितोऽप्युद्वेलितः सिन्धुवत्। तादृशः कदा स्यामिति कैङ्कर्यसत्वेऽप्यनुरागाभिलाषः। साधकान् प्रति तु इष्टानुगतं सर्वं कुरुत, परन्तु स्वसाध्यान्मा व्यभिचरतेति शिक्षा च ॥२५८॥

अत्राष्टोत्तरशतनामानि एतत्पद्यैकरसमज्जनाभिलाषिभावुकस्वादातिशयोदयार्थं विस्तराभीत्या लिख्यन्ते—

श्रीकृष्णाष्टोत्तरशतनामावली

राधिकानागरो राधारसिको राधिकापतिः।
श्रीराधारमणो राधाप्राणसर्वस्व शेवधिः ॥१॥
राधैकपरमानन्दो राधैकपरमोत्सवः।
राधैकपरमप्रेमा राधैकपरमोदयः ॥२॥
राधैकपरमप्राणो राधिकापरमेप्सितः।
राधैककृतसम्मोहो राधैकव्याकुलीकृतः ॥३॥
राधैकरतितृष्णार्तो राधैकसुवशीकृतः।
राधाङ्गसङ्गजीवातुः श्रीराधान्यस्तजीवनः ॥४॥

रसकलश

और फिर कालान्तर में उसमें पत्ते, फूल और फल पैदा होते हैं' वैसे ही प्रियाजी के अनुग्रह की गन्ध से मुझ में बीज रूप में सुप्त अनुराग फूट पड़ेगा' और वही मेरे लिये उत्सव की भाँति प्रसन्नतादायक होगा। अथवा समुद्र के मूल स्थित जल में जैसे ज्वार आता है, वैसे ही कैङ्कर्य-वृत्ति के रहते हुए भी अनुराग की अभिलाषा मुझ में कब उमड़ेगी? साधकों को भी आचार्यपाद का यही उपदेश है कि, सब कुछ करो, परन्तु अपने साध्य के सम्बन्ध में बहको मत ॥२५८॥

प्रस्तुत पद्य के रस में अवगाहन करने की इच्छा रखने वाले भावुक जनों को अधिकाधिक आनन्द प्रदान करने के लिये, विस्तार का विचार किये बिना ही श्रीकृष्ण के १०८ नाम यहाँ दिये जाते हैं—

श्रीकृष्णाष्टोत्तरशतनाम

(१) राधिकानागर, (२) राधारसिक, (३) राधिकापति, (४) राधारमण, (५) राधा को ही अपना प्राण सर्वस्व कोष मानने वाले (६) एकमात्र श्रीराधा से आनन्दलाभ करने वाले, (७) राधा रूप परम उत्सव शाली, (८) राधा के ही परम अनुरागी, (९) राधा के कारण उन्नत, (१०) राधा को एक मात्र प्राण मानने वाले, (११) राधा के परम अभिलाषी, (१२) राधा के द्वारा ही संमोहित, (१३) राधा के द्वारा ही विह्वल बनाये गए, (१४) केवल राधा-सम्बन्धी रति की लालसा से

राधाकटाक्षनाराचगाढनिर्भिन्नमर्मकः ।
राधाभ्रूकालभुजगीविभ्रमोद्भ्रान्तचेतनः ॥५॥

बाह्यान्तश्चित्तविन्यस्तराधालग्नसमाधिकः ।
राधाविष्टतयाशेषप्रसुप्तव्यवहारकः ॥६॥

राधाध्यानमहावेशवशस्थूलवचोगतिः ।
राधाकामाग्निसन्तप्तो राधाविरहविह्वलः ॥७॥

राधिकासङ्गमोपायरचनैकविमर्शकः ।
प्रतिवर्त्म सदा राधापदाङ्कालोकतत्परः ॥८॥

राधापदाङ्कसुश्लाघ्यव्रजरेणुविभूषितः ।
राधावासदिगायातपवनस्पर्शनिर्वृतः ॥९॥

श्रीराधानुचरीवृन्दसम्मानरसदोद्यतः ।
श्रीराधादेशविन्यस्तप्रत्यध्वानर्घ्यवस्तुकः ॥१०॥

राधादासीषु बहुधा कृतदन्ततृणादिकः ।
राधासख्यर्पितस्वीयमुद्रिकाहारवेणुकः ॥११॥

रसकलश

व्याकुल, (१५) राधा के द्वारा ही वशीकृत, (१६) राधा के अंग-संग से जीवन लाभ करने वाले, (१७) राधा में ही जिनके प्राण अटके रहते हैं, (१८) राधा के वाण-सरीखे पैने कटाक्षों से जिनका मर्म जर्जर कर दिया गया है, (१९) कालसर्पिणी जैसी राधा की भ्रू-भंगिमाओं से लुप्त-चेतन, (२०) ऊपर से और अन्तर से राधा की ध्यान समाधि में लीन, (२१) राधा के आवेश के कारण समस्त लौकिक व्यवहारों का परित्याग करने वाले, (२२) राधा के ध्यानजन्य उत्कट आवेश में जिनकी वाणी की गति मन्द हो गई है, (२३) राधाविषयक काम-ज्वाला से व्याकुल, (२४) राधा के विरह में विह्वल, (२५) राधिका के साथ मिलन की योजना के सम्बन्ध में दत्तचित्त, (२६) प्रत्येक मार्ग में राधा के पद-चिन्हों को देखने में तत्पर, (२७) राधा के पद-चिन्हों से प्रशंसनीय व्रज-रेणु से विभूषित, (२८) राधा के निवास-स्थल से आने वाली वायु से सुखी, (२९) राधा की परिचारिकाओं का आदर करने तथा उन्हें आनन्दित करने में तत्पर, (३०) राधा के प्रदेश में प्रत्येक मार्ग पर अमूल्य वस्तुओं को रखने वाले, (३१) राधा-दासियों के बीच में प्रायः दाँत में तिनका दबाने वाले, (३२) राधा की सहेलियों को अपना हार, अंगूठी और वंशी भेंट करने वाले, (३३) राधा की

राधाभ्रूभङ्गिमोत्तुङ्गतरानङ्गशरार्दितः ।
राधाप्रेममहावेशमुग्धचेष्टाप्रलापकः ॥१२॥
राधापरीरम्भलोभभ्रमत्सर्वकलेवरः ।
राधानुरागवात्यैकविघूर्णद्बहिरन्तरः ॥१३॥
राधाकाममहाज्वालालग्नोच्चाटसदास्थिरः ।
राधासीमसुधासिन्धुगाहनैकसदोत्सुकः ॥१४॥
राधाकामाग्निसन्दग्धश्यामाङ्गरसवर्षणः ।
राधाधम्मिल्लसंवादिबर्हिबर्हाविचूडकः ॥१५॥
राधाङ्गरुचिकौशेय परिवीत कटिस्थलः ।
राधाप्रियारामपुष्परचितस्रग्विभूषणः ॥१६॥
राधिकागुणनामादिवादिवंशीमुखाम्बुजः ।
राधादृश्यस्पृश्यवृन्दावनमात्रैककेतनः ॥१७॥
राधिकापदविक्रीतस्वात्मा, राधारतोत्सुकः ।
सदन्ततृणकाकूक्तिकृतराधानुवर्तनः ॥१८॥
राधाभ्रूभङ्गिचकितो, राधाकर्णोत्पलाहतः ।
राधाकुचालकालंबी, राधालीपरिर्नाततः ॥१९॥

रसकलश

भ्रकुटि-भंगियों को देख कर कामदेव के तीव्र बाणों से बिद्ध, (३४) राधा-प्रेम के उत्कट आवेश से उन्मत्त-जैसी चेष्टा और प्रलाप करने वाले, (३५) राधा के आलिङ्गन के लोभ में जिनका समस्त शरीर घूम रहा है, (३६) राधाविषयक अनुराग के बवन्डर से जो भीतर और बाहर घुमेर खा रहे हैं, (३७) राधाविषयक काम की ज्वाला से उचाट खाये हुए और सदा अस्थिर, (३८) राधा के असीम प्रेमामृत-समुद्र में अवगाहन के लिए सदा उत्कंठित, (३९) राधा-विषयक काम की ज्वाला से जले श्याम अंगों पर रस बरसाने वाले, (४०) राधा के केशपाश से मेल खाने वाले मोर मुकुट को धारण किए, (४१) राधा के अंगों जैसी कान्ति वाले रेशमी पीताम्बर को कमर में लपेटने वाले, (४२) राधा को प्रिय लगने वाले बाग के फूलों से मालाओं के भूषण बनाने वाले, (४३) राधा के गुण और नाम को गाने वाली वंशी को मुखकमल पर धारण किये, (४४) केवल राधा के द्वारा देखे और छूए गए वृन्दावन में रहनें वाले, (४५) जिन्होंने राधा के चरणों के लिए अपने को बेच दिया है, (४६) राधा सें रमण करने के लिए उत्कंठित, (४७) दाँतों में तिनका दबा कर अनुनय विनय करते हुए

राधाहठपरिष्वङ्गी, हठाकुलितराधिकः ।
सगद्गदस्मितोदारराधाभर्त्सनतोषितः ॥२०॥
राधिकावदनाम्भोजमधुलुब्धमधुव्रतः ।
राधाभिन्नस्नेहपूर्णललिताद्यैकगोचरः ॥२१॥
राधाविलासकुञ्जान्तश्चित्रप्रसवतल्पकः ।
राधाविजयसद्वर्त्मास्तीर्णपर्णदलावलिः ॥२२॥
राधास्मेरास्यचन्द्रेक्षास्फीतापाररसाम्बुधिः ।
परार्धप्राणनीराज्यराधाङ्गच्छविलेशकः ॥२३॥
राधिकाचन्द्रिकोज्जृम्भिपूर्णानन्दाब्धिसंप्लुतः ।
राधोपालम्भनोद्धर्षलुप्तसर्वेतिकृत्यकः ॥२४॥
धृतपाणिसखीयत्नराधातल्पाप्तिनिर्वृतः ।
राधाश्लेषमुखाम्भोधिलीनस्वपरभेदधीः ॥२५॥
राधाप्रथमसङ्गोरुलज्जाभीभङ्गिजालकः ।
राधासखीश्लाध्यमानरतिवैदग्ध्यवैभवः ॥२६॥
कुञ्जरन्ध्रनिविष्टाक्षिराधालीहर्षवर्षणः ।
अतिगाढोपगूढाङ्गराधाखेदोक्तितोषितः ॥२७॥

रसकलश

राधा का अनुसरण करने वाले, (४८) राधा की भ्रकुटि-तरंगों से चकित। (४९) राधा के कर्णाभूषण कमल से प्रताडित, (५०) राधा के स्तन और केशपाश के आश्रित, (५१) राधा की सखियों द्वारा नचाये गए, (५२) दृढ़तापूर्वक राधा का आलिंगन करने वाले (५३) अपनी हठ से राधा को व्याकुल करने वाले (५४) गद्गद् होती तथा मुस्कराती राधा की फटकार से प्रसन्न, (५५) राधा के मुख कमल के लोभी भौंरा, (५६) राधा से अभिन्न और स्नेहमयी ललितादिक सखियां ही जिनका प्रत्यक्ष कर सकती हैं; (५७) राधा के विलास-कुंजों के अन्दर चित्र-विविध फूलों से शय्या सजाने वाले, (५८) राधा के विजय मार्ग में कोमल पत्ते बिछाने वाले, (५९) राधा के मुस्कराते मुख-कमल को देख कर जिनमें अपार-रस सागर उमड़ आता है, (६०) राधा की तनिक-सी अंग-शोभा पर कोटि-कोटि प्राण निछावर करने वाले, (६१) राधा रूपी चांदनी को देख कर जिनका आनन्द समुद्र भर कर उमड़ने लगता है, (६२) राधा के उलाहना तथा प्रतारणा के फल स्वरूप जो अपने सब काम-धाम भूल जाते हैं, (६३) सखी का हाथ पकड़ कर, बड़े प्रयत्न के बाद राधा की सेज पर पहुंचने के कारण सुखी, (६४) राधा का आलिंगन करते समय उनके मुख-समुद्र में

सगद्गदनिषेधार्थराधावागमृतप्रियः ।
सुवेणीमूलमालम्ब्य कृतराधास्यचुम्बनः ॥२८॥

मद्यन्माद्यन् मुहुः पीतराधाधरसुधारसः ।
वक्षः कपाटसंघृष्टराधाकुचघटीतटः ॥२९॥

महागाढाश्लेषखर्वीकृतराधाकुचद्वयः ।
प्रियाद्वयैकतोत्प्रेक्षिराधाभीविस्मयप्रदः ॥३०॥

महासुखचमत्कारसततोत्पुलक कृतिः ।
राधासुरतसंग्रामसंरम्भव्यग्रविग्रहः ॥३१॥

रदखण्डितकन्दर्परणोद्यत्राधिकाधरः ।
पीनस्तननखाघातक्षुब्धराधोन्मदस्मरः ॥३२॥

राधाशिथिलहस्ताब्ज रुद्धनीवीमिलत्करः ।
राधिकाकुचकुम्भावलम्बोत्ततीर्णस्मरार्णवः ॥३३॥

राधासखीजनास्वाद्य तदाश्चर्यरसाम्बुधिः ।
विचित्ररतिवीक्षातिचित्रराधाविमूर्छनः ॥३४॥

प्रतिक्षणानन्तगुणोर्द्धिराधारतिस्पृहः ।
राधाश्लेषरसावेशमहारोमाञ्चविघ्नधीः ॥३५॥

राधिकारतिसम्मर्दरसावेशसमुन्मदः ।
राधरतिरणश्रान्तिस्वेदाम्बुरचिताननः ॥३६॥

उरस्थलीनित्यभूषा रत्नमञ्जरिराधिकः ।
राधामुखार्पितस्वीयमुखताम्बूलवञ्चितः ॥३७॥

रसकलश

अपने-पराये की भेद-बुद्धि का लोप कर देने वाले, (६५) राधा के प्रथम संगम में उनकी लज्जा और भय के कारण जिन के मुख पर विविध भाव-भंगियाँ अंकित हैं, (६६) राधा की सखियों द्वारा जिनके रति चातुर्यरूपी वैभव की प्रशंसा की जाती है, (६७) कुञ्ज के छेदों में आंखें लगाई हुई राधा की सखियों पर हर्ष की वर्षा करने वाले, (६८) कस कर आलिंगन करने के कारण राधा की श्रान्ति-व्यंजक उक्तियों से परम सन्तुष्ट, (६९) अवरुद्ध कण्ठ से निषेध करती हुई राधा की वाणी जिन्हें बड़ी प्यारी है, (७०) वेणी को मूल भाग से पकड़ कर राधा के मुख का चुम्बन करने वाले, (७१) उन्मत्त होकर तथा बना कर राधा के अधरामृत रस का पान करने वाले, (७२) घड़े के समान राधा के स्तनों के अग्रभाग को अपने कपाट-जैसे विशाल वक्षः-स्थल से रगड़ने वाले, (७३) अत्यन्त प्रगाढ़ आलिंगन द्वारा राधा के दोनों स्तनों को

राधामुखाबुम्जाकृष्ट चर्वितास्वादसम्मदः ।
राधाक्रीडामृगशिशू, राधिकादासयंत्रकः ॥३८॥
प्रतिक्षणान्योन्यभूषाकृतराधाङ्गभूषणः ।
राधाकुचतटीपत्रक्रियाकम्पकराम्बुजः ॥३९॥
राधामुखशरच्चन्द्रचकोरायितलोचनः ।
राधाकुचस्वर्णपद्मकोशबद्धाक्षिषट्पदः ॥४०॥
राधातदालीसहितोच्छलितकेलिरसार्णवः ।
राधिकाभूषितस्वाङ्गशोभेक्षाहर्षफुल्लितः ॥४१॥

रसकलश

चूर्ण-चूर्ण कर देने वाले, (७४) प्रिय से मिलकर एक होने की सम्भावना करने वाली राधा को डरा कर चकित कर देने वाले, (७५) असीम आनन्द के चमत्कार के फलस्वरूप निरन्तर रोमांचित रहने वाले, (७६) राधा के साथ सुरत-संग्राम के उद्योग में जिनका शरीर व्याकुल रहता है, (७७) काम संग्राम में राधा के उठे हुए अधर को खंडित करनें वाले, (७८) पुष्ट स्तनों पर नखाघात कर राधा के उत्कट काम भाव को आन्दोलित करने वाले, (७९) राधा के ढीले हस्तकमल से पकड़ी गई नीवी पर जिनका हाथ मिलता है, (८०) राधा के स्तन-रूपी घड़ों का सहारा लेकर काम-समुद्र के पार जाने वाले, (८१) राधा की सखियों द्वारा आस्वाद्य, आश्चर्यजनक रस के समुद्र, (८२) विचित्र रतिकला का परिचय देकर राधा को आश्चर्यजनक मोह में डालने वाले, (८३) जिनमें राधा के साथ रमण की अभिलाषा प्रतिक्षण अनन्त गुणी होकर बढ़ती है, (८४) राधा के आलिंगन-रस के आवेश में रोमांचों को भी विघ्न मानने वाले, (८५) राधा के साथ रति-संघर्ष से उत्पन्न रस के आवेश में, उन्मत्त, (८६) राधा के साथ रतिजन्य परिश्रम से जिनके मुख पर पसीना झलकता है, (८७) जिनके वक्षःस्थल पर राधिका रत्न जटित भूषणों की किरण-मंजरी की तरह सुशोभित होती हैं, (८८) राधा के श्रीमुख में अपने मुख का पान देने के कारण जो पान से वञ्चित हो गये हैं, (८९) राधा के मुखकमल से खींच कर निकाले गए पान को चबा कर मस्त (९०) राधा के खेलने के लिए मृग के छौना, (९१) राधा के हाथों की कठपुतली, (९२) प्रतिक्षण एक-दूसरे को भूषण धारण कराने के प्रसंग में राधा को विभूषित करनें वाले, (९३) राधा के स्तनों पर पत्रावली की रचना करते समय जिनके कर कमल (सात्विक भाव के उदय होने के कारण) कांप उठते हैं, (९४) शारदीय चन्द्रमा के समान राधा के मुख के प्रति जिनके नेत्र चकोर बने रहते हैं, (९५) राधा के स्तनरूपी स्वर्ण कमल की कली में जिनकी आँखें भौंरे की तरह बंध जाती हैं, (९६) राधा और उनको सहित केलि-रस के समुद्र में ज्वार उठाने वालें, (९७) राधा के द्वारा सजाये

सुधाकोटिमुधाकारिराधानर्मोक्तिनिर्वृतः ।
प्रतिक्षणकृताम्रेडराधासुरतभिक्षुकः ॥४२॥

कुचतटीशायी, स्वोरःशायितराधिकः ।
उरःस्थलं विनाशय्याप्यधिरोपितराधकः ॥४३॥

राधामानकलाभीतो, राधानुनयकोविदः ।
राधामानग्राहकाले चाटुकारपरायणः ॥४४॥

सखीदृगिङ्गितस्तब्धो, राधामानातिखिन्नधीः ।
सहासराधिकाश्लेषसुखाम्बुधिविलीनधीः ॥४५॥

अहेतुराधाचकिततत्त्रपारोषणोत्सवः ।
वृन्दावनश्रीवीक्षार्थकृतराधासहभ्रमः ॥४६॥

वंशीरतिग्रहाद्यूतजितराधावरोधकः ।
राधानीवीसुसंस्पृष्टहृदयो राधिकामयः ॥४७॥

राधासम्बन्धशून्यानांप्राणानामप्युपेक्षकः ।
राधासम्बन्धगन्धैकतृणकेऽप्यात्मविक्रयी ॥४८॥

राधाकेलिकथानन्यधन्यैकसुवशीकृतः ।
राधारसदसद्धामवृन्दारण्याश्रितात्मदः ॥४९॥

इति श्रीप्रबोधानन्दकृत नामावली सम्पूर्णा ॥

रसकलश

गये अपने अंगों की शोभा को देख कर हर्ष से प्रफुल्लित, (९८) कोटि-कोटि अमृतों को तुच्छ कर देने वाली राधा के साथ हास-परिहास में सुखी, (९९) प्रतिक्षण विनयपूर्वक राधा की रति के भिक्षुक, (१००) राधा की कुचतटी का सहारा लेकर सोने वाले, तथा राधा को अपने वक्षःस्थल पर सुलाने वाले, (१०१) विना शय्या के वक्षःस्थल पर राधा को शयन कराने वाले, (१०२) राधा की मान-कला से डरने वाले, (१०३) राधा की चाटुकारी करने में पंडित, (१०४) राधा के मान करते समय अनुनय-विनय करने में प्रवीण, (१०५) सखियों आँख के इशारे पर ही जड़वत होने वाले, (१०६) राधा के मान करने पर दुखी, (१०७) हंसते हुए राधिका का आलिंगन करते समय सुख-समुद्र में विभोर होने वाले, (१०८) विना कारण के राधिका को चौंका देने पर उनकी लज्जा और रोष को उत्सव मानने वाले, (१०९) वृन्दावन की शोभा के निरीक्षणार्थ राधा के साथ विचरण करने वाले, (११०) राधिका की नीवी के द्वारा जिनका हृदय छू लिया गया है, (१११) राधिकामय, (११२) राधा के सम्बन्ध-विच्छेद की आशंका से प्राणों की भी उपेक्षा करने वाले, (११३) राधा के सम्बन्ध की तनिक-सी भी गन्ध पाते ही अपने को बेच देनें वाले, (११४) केवल राधा की केलि-

एवं श्लिष्टबहिरङ्गसाधने हृदयानन्यतामुक्त्वेदानीं केवलान्तरङ्गसाधनेऽप्याह। अन्यच्च निजकैङ्कर्येऽप्यनुरागोत्सवातिरेकोत्कर्षमुक्त्वा तदनुभविष्णुवेद्यान्तराभावरूपं रसह्लदमज्जनमाह—

श्रीराधे! रसिकेन्द्ररूपगुणवद्गीतानि संश्रावयन्
गुञ्जामञ्जुलहारबर्हमुकुटाद्यावेदयंश्चाग्रतः।
श्यामप्रेषितपूगमाल्यनवगन्धाद्यैश्च सम्प्रीणयं-
स्त्वत्पादाब्जनखच्छटारसह्रदे मग्नः कदा स्यामहम्
॥२५९॥

तावत् सामान्यतः कृष्णरूपमेवैतादृशं यत् 'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदम्' इति। ततोऽपि ब्रजे 'यद्गोद्विजद्रुमाः पुलकान्यविभ्रन्' इति, तत्र निकुञ्जे केवलश्रृङ्गारमयस्वरूपे तु कैमुत्यम्! रसिकत्वेऽपीन्द्रत्वात्,

रसकलश

कथा से अपने को धन्य मान कर उसके ही वशवर्ती, (११५) राधा-रस को देखने वाले वृन्दावन के सुन्दर धाम के आश्रित और उसी पर अपने को समर्पित करने वाले।

इस प्रकार मिलेजुले बहिरङ्ग-साधन के संबन्ध में हृदय कि अनन्यता का वर्णन कर अब केवल अन्तरङ्ग-साधन के संबन्ध में कहते हैं। दूसरी उत्थानिका यह भी हो सकती है कि निजकैङ्कर्य में भी अनुराग के उत्सव के आधिक्य की महत्ता का वर्णन करने के उपरान्त, उसका अनुभव करनेवाले सहृदयजन रस-सरोवर में डुबकियाँ लेते-लेते किस प्रकार आत्म-विस्मृत होकर बाह्य-प्रपञ्च से बेखबर हो जाते हैं, यह बताते हैं—

हे श्रीराधे! रसिकशेखर श्रीकृष्ण के रूप तथा गुणों से परिपूर्ण गीतों को सुना-सुना कर गान करता हुआ, और गुंजा के बने सुन्दर हार एवं मोरपंखी मुकुट आदि को भेंट करता हुआ, तथा श्यामसुन्दर द्वारा प्रेषित सुपारी, माला, नूतन सुगन्धि द्रव्य आदि के उपहारों द्वारा आपको प्रसन्न करता हुआ आपके कमल-जैसे चरणों की नख-कान्तिरूप रस-सरोवर में कब डुबकियां लगाऊँगा ॥२५९॥

प्रथम तो श्रीकृष्ण का रूप ही साधारणतया ऐसा है कि लोगों को आश्चर्य में डाल देता है और उनकी अपनी सौभाग्य-संपत्ति का चरम बिन्दु है।' उसमें भी तीनों लोकों में सुन्दर इस रूप को देख कर व्रज के 'गाय, पक्षी, वृक्ष और हरिणों को रोमांच हो जाता था। फिर निकुंज का तो कहना क्या जहां यह रूप केवल श्रृंगारमय होता हैं! क्योंकि वे केवल रासिक ही नहीं हैं, बल्कि रसिकशिरोमणी हैं और श्रीराधा

तादृशप्रेयस्येकप्रसादार्थकृततत्तच्छृङ्गारादिसौष्ठवादिति भावः । किञ्च 'रसघनमोहनमूर्तिम्' इत्युक्ते रसरूपत्वेऽपि शुद्धदैन्येन रसाभिलाषित्वं रसिकेन्द्रत्वमिति ।

गुणा असंख्याता अपि केचिच्चतुःषष्ठिमुख्या लोकप्रसिद्धे गृहीता, स्तेचान्येऽपि सहृदयगम्या रसामृतसिन्धौ विवृताः । रूपं चापि सामुद्रिक-रीत्या वर्णितम् । तदपि लोकसङ्गत्यर्थं शाखाचन्द्रन्यायवद्ध्येयम् । अत्र च रसिकेन्द्रत्वविशिष्टं प्रायशो वर्णितम् । यथा 'अहो ! रसिकशेखरः स्फुरति कोऽपि' इति, 'यस्यास्ते बत किङ्करीषु' इत्यादि । तादृशरूपगुणवन्ति गीतानि गेयच्छन्दांसि गानेन श्रावयन् । यावन्तो रूपगुणाः सन्ति तावन्तस्त्वत्प्रेमसौभाग्यानन्दवर्द्धका एव, त्वदीयास्तु किमुच्यन्ते ! इति ध्वन्यन्तरम् । 'श्रीराधे !' इति सम्बोधना-

रसकलश

जैसे प्रेयसी को प्रसन्न करने के उद्देश्य से ही विविध-श्रृंगार आदि करते हैं यह भाव है। फिर जैसे कि पूर्व पद्य (२००) में कह आये हैं—सघन रस की मोहनी मूर्ति होते हुए भी विशुद्ध रूप में दीनता धारण कर रस की अभिलाषा करते हैं। इसी अर्थ में श्रीकृष्ण रसिकेन्द्र हैं।

भगवान के गुण संख्यातीत हैं, किन्तु लोकप्रसिद्धि के आधार पर वे चौंसठ बताये गये हैं इनके अतिरिक्त भी और गुण हैं जिन्हें कि सहृदय जानते हैं। इन सब गुणों का विवरण श्रीरूपगोस्वामिकृत हरिभक्तरसामृतसिन्धु में दिया गया है। सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से भगवान् के रूप का भी वर्णन किया गया[1] है, किन्तु पेड़ की शाखों में दिखाये गये चन्द्रबिंब की भाँति लोक प्रसिद्धि के निर्वाह के लिये ही वैसा किया गया है। श्रीराधासुधानिधि में जगह-जगह उनके रसिकेन्द्रत्व से विशिष्ट रूप का वर्णन किया गया है। जैसे —'अहो! निकुञ्जस्थ नव-नागरी के किशोर कुचों से केलि करने वाले कोई रसिकशिरोमणि श्रीवृन्दावन में विराजमान हैं' पद्य (१११), तथा 'एकमात्र आपके किसी अनिर्वचनीय रसोत्सवरूप प्रसाद की अभिलाषा रख कर श्रीवृन्दावन के दिव्य मन्मथ आपकी दासियों से अनुनय-विनय करते रहते हैं' (पद्य ९३) इत्यादि। इस प्रकार के ,श्रीकृष्ण के रूप और गुणों की प्रशंसा करने वाले गीतों, अर्थात् छन्दोबद्ध पद्यों को गा-गा कर सुनाता हुआ (आपकी पद-नख-शोभा के सरोवर में कब मग्न रहूँगा ?, श्रीकृष्ण के जितने भी रूप और गुण हैं, वे सब आपके प्रेम और सौभाग्य के आनन्द को बढ़ाते ही हैं। आपके स्वंय के रूप-गुणों के संबन्ध में तो कहा ही क्या जाय ?—यह एक और ध्वनि है 'श्रीराधे !' यह संबोधन प्रियाजी को अपनी ओर उन्मुख करने के लिये किया है। इसके बाद 'त्वाम्'

[1] देखिये दक्षिण विभाग, प्रथम लहरी १६-३२

कर्षितस्त्वामित्यध्याहारः । 'सम्यक्' इति तानतरङ्गैर्भावोद्दीपनं कृपाद्रवश्च यथास्यात्तथेत्यर्थः । उक्तञ्च—'सा श्यामसुन्दरगुणैरनुगीयमानैः प्रीता' इति च । अत्र यथासम्भवं गीतानि कानिचिदास्वादार्थं लेख्यानि । यथा शतके—

(पञ्चमरागेणापि गीयते)

तत्किशोरचन्द्रमेकदिव्यरूपसौभगं
दिव्यहास्यदिव्यलास्यदिव्यनर्मकौशलम् ।
दिव्यलोचनत्रिभागदिव्यभङ्गिवीक्षकं
दिव्यमण्डनादिभूषिताङ्गभङ्गिलोभनम् ॥१५।५७

× × ×

भ्रू विलासमुग्धदिव्यकामराजकार्मुकं
दिव्यदृष्टिदिग्धमात्रविद्धयौवतम्,
उल्लसत्कुरङ्गभृङ्गमीनहीनताकरं
राधिकामुखेन्दुदृष्टिवर्द्धिलोभसागरम् ॥१५।५८

× × ×

रसकलश

का अध्याहार का अर्थ होगा—आपको सुनाता हुआ । 'संश्रावयन्' में 'सम्' उपसर्ग का अर्थ है—समुचित रीति से (सुनता हुआ)—इस तरह की तान की तरङ्गों से अनुराग उद्दीप्त हो और प्रियाजी कृपाभाव से द्रवित हो जायँ । कहा भी है—'मेरे द्वारा गाये गए श्रीश्यामसुन्दर के गान से प्रसन्न होकर श्रीवृषभानुनन्दिनी मेरा आलिंगन करें' (पद्य १८), तथा 'सुखमयी श्रीराधा मेरे इस कृत्य से प्रसन्न होकर अपनी कैङ्कर्य-पदवी प्रदान करें (२५७) । इस स्थल पर आस्वाद के लिए कुछ गीत भी लिखना जरूरी है—

अलौकिक रूप से सुन्दर, दिव्य, हास्य, दिव्य नृत्य एवं दिव्य परिहास-कौशल से युक्त, दिव्य नेत्रों के तीन भागों से दिव्य भंगिमापूर्वक देखने वाले तथा दिव्य अलंकार आदि से विभूषित अंग-भंगियों से लुभानेवाले उस किशोर-चन्द्र का मैं स्मरण करता हूँ । (प्रबोधानन्द शतक १५।५७)

× × × ×

अपने भ्रू-विलास से कामदेव के दिव्य धनुष को भी मोहित करने वाले, दिव्य दृष्टिरूप जहर-बुझे वाणों से मुग्धा युवतियों के यौवन को बींधने वाले, खेलते हुए हरिण, भौंरा, और मीन को हीन सिद्ध करने वाले एवं श्रीराधा के मुख-चन्द्र को देख कर जिनका लोभ-सगार उमड़ने लगता है । (—१५।५८)

---

१. करयोः कमलं तथा रथाङ्गं स्फुटरेखामयमात्मजस्य पश्य ।
पदपल्लवयोश्च वल्लवेन्द्र ! ध्वजवज्राङ्कुशमीनपङ्कजानि ॥

राधिकाकटाक्षवाणविद्धमर्मविह्वलं
राधिकाधरामृताशनैकतानमानसम् ।
खञ्जनातिगर्वभञ्जनातिचारुलोचनं
बिभ्रतं सुजातपद्मसद्मकान्तिमोचनम् ॥१५।५९

× × ×

पूर्णचन्द्रबिम्बकोटिचारुवक्त्रमण्डलं,
मन्दमन्दचारुहासनिन्द्यकुन्दकुड्मलम् ।
दिव्यकुंकुमागुरुप्रलेपलिप्तदोर्लतं,
दिव्यरत्नकङ्कणादिभूषणौघभूषितम् ॥१५।६०

× × ×

क्षिप्तदिव्यहारनिष्ककौस्तुभादिचन्द्रकं,
गन्धलिप्तवक्षआन्तराधिकाङ्घ्रिपल्लवम् ।
राधिकाविचित्रवेशभूषणादितत्परं
राधयाभिलिङ्गिगनोद्गताञ्चिरोमविग्रहम् ॥१५।६१

× × ×

रसकलश

श्रीराधिका के कटाक्ष-वाणों द्वारा मार्मस्थल में घायल किये जाने के कारण विह्वल, श्रीराधिका का अधरामृत पान करने के लिए एकान्त भाव से उत्सुक, सुन्दर नेत्रों से खंजन पक्षी के गर्व को खर्वित करने वाले, अपनी कान्ति से कमलालया लक्ष्मी के अभिमान को चूर्ण करने वाले - (१५/५९)

× × ×

जिनका सुन्दर मुख कोटि-कोटि पूर्ण चन्द्र-मंडलों से भी अतिशय मनोहर है, जो अपनी मन्द मुस्कान से कुन्द-कलियों को तिरस्कृत कर देते हैं, जिनकी लता के समान भुजायें दिव्य कुंकुम, अगुरु आदि के प्रलेप से सुशोभित हैं, जो दिव्य, रत्नखचित कंकण आदि भूषणों से विभूषित हैं—(१५/६०)

× × ×

दिव्य हार, स्वर्ण का कठला एवं कौस्तुभ मणि आदि की चन्द्रिकाओं को उच्छलित करने वाले, सुगन्धित द्रव्यों से चर्चित वक्षःस्थल पर श्रीराधा के पद-पल्लव को धारण करने वाले, श्रीराधा की विचित्र वेष-भूषा में व्यस्त, श्रीराधा के आलिंगन से उद्भूत रोमांचों से युक्त—(१५/६१)

× × ×

राधयातिरत्यगाधया स्मरोन्मदान्धया,
नव्यकामकेलिकल्पया कलाविदग्धया ।
तं विदग्धशेखरं महास्मरोत्सवे रतं
प्रेमविह्वलालिवृन्दसन्तताशिषाभृतम् ॥१५।६२

× × ×

स्वर्णवर्णकुंकुमाक्तचन्दनेन चर्चितं,
स्वर्णयूथिकादिदिव्यपुष्पमाल्यमण्डितम् ।
स्वर्णहारनुपुरादिदिव्यरत्नभूषणं
स्वर्णदिव्यनव्यसूक्ष्मचित्रभङ्गिवाससम् ॥१५।६३

× × ×

दिव्यरत्नराजिराजिताद्भुताङ्गुलीयकं,
स्वर्णसूत्रनद्धदिव्यनादिकिङ्कणीसितम् ।
स्वर्णवेणुरन्ध्रदत्तचारुपल्लवाधरं
स्वर्णपुष्पमञ्जरीसुमञ्जुकर्णपूरकम् ॥१५।६४

× × ×

रसकलश

अत्यन्त प्रणयशीला, उत्कट कामावेश से विह्वल, नूतन-नूतन काम-क्रीड़ाओं में प्रवीण, कला-कुशल, श्रीराधिका के साथ महाकामविलास में निरत, प्रेमविह्वल सखियों के आशीर्वादों सम्पन्न—(१५/६२)

× × ×

स्वर्ण वर्ण के कुंकुम-मिश्रित चन्दन से चर्चित, सोनजुही आदि दिव्य पुष्पों की मालाओं से सुशोभित, स्वर्णहार, नूपुर आदि भूपण तथा दिव्य रत्नों से विभूषित, स्वर्ण-वर्ण के दिव्य, नूतन एवं विचित्र महीन लहरियों वाले वस्त्रों को धारण किये हुए—(१५/६३)

× × ×

दिव्य रत्नों की पंक्तियों से जटित अंगूठी को पहिने, सोने के धागों में गुथी तथा दिव्य ध्वनि करने वाली किंकणियों से झलझलाते, सुवर्ण जैसे रंगवाली बाँसुरी के छेदों पर मनोहर अधर-पल्लव रक्खे, स्वर्ण-पुष्पों की मंजरियों के समूह से निर्मित कर्णाभूषण को धारण किये—(१५/६४)

× × ×

साम्बुनीलनीरदच्छविं तडित्प्रियारुचिं
सक्षणाप्तराधिकारतान्तराभिलाषिणम् ।
प्रेममादकातिमत्तमन्दवर्णभाषिणं
वार्षभानवीरतं सदा स्मराम्यहर्निशम् ॥१५।६६

इत्यादिनिर्देशेनान्यान्यपि ज्ञेयानि ।

पुनश्च गुञ्जानां मञ्जुला मनोहरा हाराः, बर्हाणां मुकुटम् । आदिशब्देन पुष्पाङ्गदमालास्तवककर्णिकारकुण्डलादीनि सम्यक् निर्माय 'पश्य प्रिये ! कीदृग्रचितानि !' इत्युक्तिभङ्गियुतनिवेदनम् । किञ्च पूर्वं प्रियाहार्दमप्येवम् । यथा 'मालाग्रन्थनशिक्षया' इत्यादि । चकारात्तवेत्यर्थः । 'अग्रतः आवेदयन्' निवेदयन्निति 'दृष्ट्वैवचन्द्रकमतीव चमत्कृताङ्गी' इत्यादिस्वाददर्शनार्थमिति ध्वन्यन्तरम् । तदनन्तरं सा तन्निवेदितं स्वचातुर्येण किञ्चित् समीकृत्य स्वयं प्रियं परिधापयतीत्यनुक्तमपि ज्ञेयम् ।

रशकलश

जल-भरे बादलों की कान्ति से सम्पन्न, प्रिया-रूपी बिजली की चमक से युक्त, प्रत्येक क्षण श्रीराधिका के साथ विविध सुरत के अभिलाषी, प्रेम-मदिरा से छके होने के कारण मन्द-मन्द बोलने वाले, एवं श्रीवृषभानुनन्दिनी में अनुरक्त श्यामसुन्दर का मैं दिन-रात स्मरण करता हूं—१५/६६

इसी प्रकार के अन्य वर्णन भी ज्ञातव्य हैं ।

और फिर गुंजाओं के मंजुल=मनोहर हार, मोरपंख के मुकुट आदि को निवेदन करता हुआ । आदि' शब्द से फूलों के बाजूबन्द, माला, गुच्छे, कनेर के कुंडल आदि को भलीभाँति बना कर यह कहते हुए निवेदन करना कि 'देखो प्रिये ! कैसे सुन्दर बनाये हैं । 'प्रियतम के लिये माला गूंथने की शिक्षा देकर' (पद्य २४२) प्रियाजी भी ऐसी ही भावना व्यक्त कर चुकी हैं । 'आवेदयन्' के बाद आये हुए चकार के प्रयोग से 'आपके' आगे निवेदन करता हुआ—यह अर्थ निकलता है । पूर्व पद्य (१८) में कहा गया है कि 'श्रीकृष्ण के मस्तक पर मोर-चान्द्रिका को देख कर प्रियाजी के सब अंग चमत्कृत हो गये' । इसी प्रकार प्रस्तुत में भी मनोहर हार, मोर-मुकुट आदि को देख कर प्रियाजी को जो आनन्द हुआ, उसके दर्शन का भी श्रीहिताचार्य आस्वाद लेना चाहते थे । यह भी एक दूसरी ध्वनि निकलती है । इसके बाद श्रीहिताचार्य द्वारा निवेदित आभूषणों को प्रियाजी ने अपने कौशल से सँवारा और उन्हें प्रियतम को धारण करा दिया । इस बात का यद्यपि पद्य में उल्लेख नहीं है, तथापि अनुमेय है ।

तदनन्तर श्यामसुन्दर ने मेरे द्वारा भेजे गये—अर्थात् आपके निमित्त प्रेषित किये गए सुपारी, मालायें, ताजा सुगन्धित-द्रव्य आदि से भलीभाँति प्रसन्न करते हुए ।

पुनश्च श्यामेन मद्धस्तेन प्रेषितास्त्वत्वदर्थमित्यर्थः । पूगोपलक्षणेन ताम्बूलद्रव्यं, माल्यनिर्विशेषण वैविध्यम् । नवः स्वचातुर्यरचितो विलक्षणोऽयातयामश्च गन्धः । आदिशब्देन सुधासवभूषादयः । तैः त्वां सम्यक् पारस्परिकवाग्विनोदैस्तर्पयन्, येन स्वाभिलाषगौरवं तत्प्रीत्यासक्तिञ्च पूर्णतया मन्येथास्तथेत्यर्थः ।

अत्र प्रेषणं स्नुषारसे तु घटत एव । तादृशकिञ्चिद्व्यवधानोऽपि परमौत्कण्ठ्यतारल्याद्रसमय एव । निकुञ्जेऽव्यवहिते च कुञ्जान्तरविहरण-कौतुके च ज्ञेयम् । तत्राप्यवधाने च श्रीवृन्दावनं सर्ववस्तुद्रव्यगुणरसमय-मस्त्येव । नचात्र काश्मीरकस्तूरीमलयजकर्पूरमुक्तारत्नविद्रुमधातुपशुपक्षि-मृगादीनि देशान्तरागमप्रवृत्यपेक्षाणीति यथेष्टपूरकदिव्यधामत्वात् । तत्र वनविहारे दृग्विषय एव किञ्चिदग्रेसरः प्रियो यथेष्टनवीनाश्चर्यवस्तुदर्शन-

रसकलश

सुपारी का नाम लेने से ताम्बूल का भी ग्रहण हो जाता है और माला का सामान्य रूप से उल्लेख करने से अनेक प्रकार के पुष्पों से रचित मालाएँ भी समझ लेनी चाहिए गन्ध नवीन इस अर्थ में है कि श्रीहितसखी ने अपने कौशल से जो सुगन्धित द्रव्य तैयार किया था, वह विलक्षण होने के साथ-साथ एकदम ताजा भी था। 'गन्धादि' में लगे 'आदि' शब्द के अन्तर्गत अमृत तुल्य पेय द्रव्य, आसव, भूषण भी आ जाते हैं। इन द्रव्यों से आपको भली भाँति प्रसन्न करता हुआ। प्रसन्न करते समय दोनों तरफ से कुछ विनोदपूर्ण बातें भी हुई थीं। 'सम्यक्' (समुचित रीति) से तात्पर्य यह है कि इस प्रकार प्रियाजी को प्रसन्न करता हुआ कि वे अपनी अभिलाषा की महत्ता तथा प्रियतम की आसक्ति को जान जायँ—यह अर्थ है।

(ब्रजलीला, पक्ष में) यदि उक्त उपहार श्यामसुन्दर ने गोकुल से बरसाना भेजे हों, तो अर्थ-संगति ठीक बैठ ही जाती है। इन दोनों गांवों के बीच का व्यवधान भी उत्कंठाजन्य हृदय की द्रवता को देखते हुए रस की ही सृष्टि करता है, किन्तु प्रिया-प्रियतम यदि निकुंज में ही बिहार कर रहे हों, तो इस स्थिति में यह समझना चाहिए, कि दोनों में से कोई एक विशुद्ध कौतुक से प्रेरित होकर किसी दूसरी कुंज में विहार-संभावना का अनुसंधान करने के लिए चला गया। यदि यह शंका हो कि किसी दूसरी कुंज में चले जाने पर भी इतना व्यवधान संभव नहीं है कि श्रीहितसखी द्वारा उपहार भेजने की स्थिति पैदा हो जाय, तो यह समझ लेना होगा कि श्रीवृन्दावन तो हर प्रकार की वस्तुओं, द्रव्यों और गुण एवं रसों से समृद्ध है ही। यह तो सोचा ही नहीं जा सकता कि वहाँ केसर, कस्तूरी, चन्दन, कपूर, मोती, रत्न, मूंगा, धातु, पशु, पक्षी, हरिण आदि

प्राप्तिहर्षतो हितालीहस्तेन प्रियां प्रति तत्तत्प्रेषयतीति । तत्र तर्पणं दूराद्वस्तु सम्प्रेष्य, 'प्रिये ! पश्य, कीदृक्कुंकुमकेसराणि नवमृदुपूगाश्च, नागवल्ली-दलानि रम्भाद्रवञ्च कर्पूरं कस्तूरी च, स्वतो भूषणाकृतीनि माल्यानि, मकरन्दासवः, पुष्पस्नेहरसादीनि त्वं गृहाण' इत्याक्रुश्य हृष्टं प्रति साधु साध्विति हृष्टा सखीहस्तेन गृह्णातीति निर्देशेनाव्यवधानात्मक प्रेषणमयं ज्ञेयम् ।

यद्वा 'श्यामम्' इति पाठे प्रेषणं प्रियाकृतमिति । एवं स्वतः प्रवृत्या प्रियकृतप्रवृत्या च केवलप्रियसम्बन्धिकार्यंकरण आपतितेऽपि मद्धृदयनिष्ठा-रुजं शृणु—रूपगुणगानगोष्ठीसाहाय्यवस्तुदानादानादिभिः सेविते, सेव्ये सेवमाने च तादृशमोहने किशोरे मन्मनोरसत्वे न पर्यवस्यतीत्याह—

रसकलश

का आयात बाहर से होता होगा। वह तो ऐसा धाम है जहाँ सब प्रकार की इच्छा-पूर्ति के साधन-द्रव्य सदैव उपलब्ध रहते हैं। वहाँ बन-विहार के प्रसंग में जब प्रिया-प्रियतम एक-दूसरे की दृष्टि की परिधि में ही थे, प्रियतम कुछ आगे बढ़ गए। उन्होंने देखा कि यहां तो बड़ी-बड़ी नई और आश्चर्य जनक वस्तुएँ हैं, तो अत्यन्त प्रसन्न होकर लगे उनका संग्रह करने और तदुपरान्त उन्हें श्रीहितसखी के हाथों प्रियाजी के पास भेजा। प्रियतम ने दूर से इन वस्तुओं को प्रेषित करते हुए जोर-जोर से यह कहा—'प्रिये ! देखिये तो, कैसे सुन्दर हैं यह नवीन कुंकुम और केसर, नई हरी सुपारियाँ, पान के पत्ते, केला से निकला कपूर, कस्तूरी, स्वयं भूषण बनी ये मालायें पुष्प-मधु की मदिरा, फूलों से खींचे गये इत्र आदि ! इन्हें आप स्वीकार करिये। प्रियतम को प्रसन्न देख कर प्रियाजी ने भी प्रसन्न होकर 'वाह ! खूब !' कहते हुए उनकी सराहना की और तब सखी के हाथों से उन्होंने ले लिया। इस रीति से बीच के व्यवधान को मिटा कर ये वस्तुएं प्रियाजी की प्रसन्नता का कारण बनीं।

यदि 'श्यामं प्रेषित · ' पाठ माना जाय, तो उसके अनुसार यह अर्थ होगा कि प्रियाजीने श्यामसुन्दर के पास उक्त वस्तुएं भेजीं। अपनी ओर से इन वस्तुओं को भेजने की बात प्रियाजी के मन में स्वतः पैदा हुई या प्रियतम के कारण उनकी इधर प्रवृत्ति हुई— जो कुछ भी हो, मेरे ऊपर केवल प्रियतम-सम्बन्धी कार्य करने का जो कर्तव्य आ पड़ा तो उसके कारण मेरे हृदय पर जो बीती उसे सुनिये—रसिक शिरोमणि के रूप और गुणों की गाथा से परिपूर्ण गीत गाकर, निभृत गोष्ठी के निमित्त वस्तुओं को इधर लेकर और उधर देकर मैं प्रियतम की सेवा करती हूं—जानती हूं कि उनकी सेवा करना मेरा धर्म है, और इससे भी बेखबर नहीं हूं कि उनमें कैसी मोहनी है, किस प्रकार वे नव किशोर हैं, तथापि, सच बात तो यह है कि, मेरे मन में तो इस सबसे रस

त्वत्पादाब्जयोरपि नखानि तेषामपि छविच्छटा, इत्यनेन दास्यजदैन्या-प्रमादौ ध्वनितौ । ता एव रसह्लद इति । ममत्वत्रैव रस उदेतीत्यर्थः, ममत्वातिशयास्पदस्वामिनीत्वात् । प्रियकौतुके तु भावानन्द इति । 'मग्नः कदास्याम्' इत्यनेन सदैवमेवाभिलाषेण स्थायिना तद्रससञ्चारित्वाभाव-व्यञ्जनम् नखच्छटासु रसत्वम्—अहो मत्प्राणेश्वरी कथं वने विहरति; कथञ्च नखच्छटावल्लीषु छुरिता दृश्यन्ते, कथञ्चेयं दिव्यस्थली छटाभिः प्रभूतशोभाप्रभावा दृश्यते, कीदृग्गमनं, चाञ्चल्यं हावभावविलासादि-साहित्यम् ! अहह ! प्रत्येकं क्रियासु कोटिप्राणा नीराज्यन्त एवेति प्रायश उक्त्वा प्रेमानन्दस्थगिता विगलितवेद्यान्तरा भवामीत्याद्यनुभावोक्त्या' तादृशप्रियकृतप्रेमगौरवप्रीणनसौभाग्योत्कर्षवनशोभाशृङ्गारादिसहकारिभा-

रसकलश

का उद्रेक होता ही नहीं । इसी आशय को लेकर कहती हैं—'त्वत्पादाब्जनखच्छटा···' इत्यादि ।

पहले तो आपके कमल सरीखे चरण, उनके भी नख, उनकी भी कान्ति-छटाएं—इस कथन के द्वारा अपनी दीनता और सावधानता व्यंजित की है—वे ही रस का सरोवर हैं । अर्थात् मेरे लिये रस का उद्रेक यहीं होता है, क्योंकि प्रियाजी के प्रति मेरी असीम ममता है और वे मेरी स्वामिनी हैं । प्रिय से सम्बन्धित कार्य तो मेरे लिये कुतूहल मात्र हैं, अतः उनसे प्राप्त होने वाला आनन्द भाव की स्थिति से आगे नहीं बढ़ता । इसीलिए कहती हैं—'कब मग्न रहूंगी?' इससे यह ध्वनित किया है कि प्रियाजी में इस प्रकार की स्थायी रति होने के कारण श्रीकृष्ण को लेकर मेरे हृदय में रस का संचार होता ही नहीं । नखों के सम्बन्ध में रसोदय यह सोच कर होता है कि 'अहो ! मेरी प्राणेश्वरी वन में किस प्रकार विचरण करती हैं, किस प्रकार उनकी नख-ज्योति लताओं पर छिटकती दिखाई देती है, किस प्रकार श्रीवृन्दावन की यह दिव्य भूमि इन नखों की छटा से प्रभावित प्रतीत होती है, कैसी मनोहर प्रियाजी की चाल है, किस प्रकार वह गति चंचलता तथा विलासपूर्ण चेष्टाओं से सम्पन्न है ! अहा ! उनकी एक-एक चेष्टा पर करोड़ों प्राण निछावर कर दिये जाते हैं—बार-बार ऐसी बातें कह कर प्रेमानन्द से जड़वत् हुई मैं अपनी सुध-बुध खो बैठती हूँ । तो (पद्य में किये गये वर्णन के अनुसार) गीत-गान आदि अनुभावों द्वारा, तथा प्रियतम ने, प्रेम के गौरव के अनुकूल प्रियाजी को प्रसन्न करने के लिए मुझे अपना माध्यम बनाया, इस सौभाग्य के बारे में सोच-सोच कर, तथा वन की शोभा एवं माल्य, नव गन्ध आदि शृंगार-सामग्रियों के उपहार से सम्बन्धित सहायक भावनाओं द्वारा मेरा दास्यानन्द उद्बुद्ध हो गया । नखछटा का यही सरस होना है । इस प्रकार की स्थिति होते हुए भी 'कदा' के द्वारा

वैरुज्जृम्भितदास्यानन्दमयम्। 'कदा' इति तादृशत्वेऽपि रुच्यतिशयव्यञ्जनम्। अन्यच्च श्रावयन्नित्यादित्रिके वर्तमानेन श्रावणादिसमकालिकैव पदरसमग्नतापि दृश्यते, तेन तदानीं स्मरणरसोदयमाह। सर्वे रूपगुणा रसिकेन्द्रत्वाभिमानभवास्तु एतन्नखसेवाप्रभावेणैव वर्तन्ते, अन्यथा त्वैश्वर्यमेव भुनक्ति, इति। गुञ्जाहारोऽपि तत्सेवालग्नो भविष्यत्ये। पूगाद्युपचारा अपि तत्पूजनार्था एवेति सर्वकर्मपर्यवसाने पदनखच्छटा एव शरणत्वेन रसहेतवो भविष्यन्ति, किमन्यत्र तत्र तत्र मग्ना स्यामिति ध्वन्यन्तरम्। सर्वत्र रसह्रदत्वेऽपि मम तरणमेव जातम्, मज्जनं त्वत्पदरस एवेति पश्य प्रभाव वैचित्र्यम्। इन्द्रत्वेन रूपगुणाद्यैश्वर्यं क्व। तत्रापि तद्गोष्ठीजनमुख्याप्यहं विच्छिद्य रूक्षा सती त्वन्नखच्छटामग्ना। पश्य, त्वदीयताप्रभावदुर्घटकार्यम्! इत्यपि ध्वन्यन्तरम्।

रसकलश

रुचि का आधिक्य व्यञ्जित किया गया है। 'श्रावयन्' (सुनाता हुआ), 'आवेदयन्' (निवेदित करता हुआ) और 'संप्रीणयन्' (प्रसन्न करता हुआ)—इन तीनों क्रियाओं में वर्तमान काल के प्रयोग का तात्पर्य यह है कि गीतों को सुनाते ही, मुकुट आदि को निवेदन करते ही और ताँबूल आदि द्वारा प्रसन्न करने के साथ ही साथ श्रीहिताचार्य पद-रस में मग्न हो जाते हैं। उस समय स्मरणजन्य रस का जो उद्रेक होता है, उसी का यहाँ वर्णन किया गया है। श्रीहितसखी प्रियतम से मानों कहती हैं—'आपको रसिकेन्द्र होने का गर्व है, परन्तु आपको यह मालूम होना चाहिए कि 'रसिकेन्द्र' कहने से आपके जिन रूप-गुणों का बोध होता है, वे सब प्रियाजी के पदनखों के प्रभाव के कारण ही आप में पैदा हुए हैं, नहीं तो, प्रकृति से ऐश्वर्यशाली होने के कारण, आप ऐश्वर्य का ही भोग कर सकते हैं। गुञ्जा के इस हार का विनियोग अन्त में नख-सेवा के लिए ही होगा, मोरपंखी यह मुकुट भी उन्हीं नखों की शोभा का परिशीलन करेगा। सुपारी आदि सामग्री भी उन्हीं की पूजा के लिए है। इस प्रकार सब कर्मों की समाप्ति जब वहीं जाकर होगी, आश्रयदात्री होने के कारण नख-छटा ही रसोद्रेक का कारण होगी। ऐसे में अन्यत्र, इधर-उधर मग्न होकर मैं क्या करूँगा ?'—यह ध्वनि है। नख का सरोवर तो आपके श्रीअंगों में सर्वत्र ही लहरा रहा है, किन्तु उन सब को तो तैर कर मैं पार कर गया, डूबा तो आखिर चरण-रस में ही। इनका यह प्रभाव देखिये तो सही। 'इन्द्र' शब्द से यह घोषित किया गया है कि श्रीकृष्ण रूप, गुण आदि ऐश्वर्यों के अधिष्ठाता हैं। जिस गोष्ठी में इनका उपभोग किया जाता है, वहां भी मेरा स्थान-महत्वपूर्ण होता है, किन्तु मुझे तो वह सब अत्यन्त शुष्क प्रतीत होता है। अतः वहां

एवं पद्यचतुष्टये प्रियं प्रितितु त्वदनन्यध्यानादिभजने मदीयतमोऽयमति कदापि व्यामोहं न प्राप्नुहीति कटाक्षः। प्रियां प्रति च त्वदीयः कुत्रापि कस्मिन्नपि रसे, प्रेम्णि भजने च निस्सरतु, त्वत्पददास्याभीष्टताप्रभावेण नैवासज्येत, यथा जले स्नेहचिक्कणघटस्तद्वत्। अतस्त्वमपि तत्कार्यदृष्टौ मा शंसयिष्ठा इति भावश्च। पूर्वमादौ' कोटिप्राणाभ्यधिकपरमश्रेष्ठपादाब्ज-लक्ष्मीः' इत्युपक्षिप्तम्। अत्रान्ते च 'पदनखच्छटा' इत्युक्तम्। तेन रसिकेन्द्रस्यापीयमेव साध्या। सैवास्माकमपीत्यनेन प्रियादास्यैकसाध्यत्वमत्र विवृतमित्यलं विस्तरेण ॥२५९॥

अथात्र प्रकरणसङ्गतिरेवम्। पूर्वं 'स्पृष्ट्वा' इति पद्ये विहारैकपर्यवसानं कृतम्। तदनन्तरं 'सदा गायम्' इत्येतदेव विषयवाक्यं ज्ञेयम्। तस्मिन् गानादिकर्मत्रयमुपक्षिप्तम्। तत्र 'श्याम श्याम' इति पद्यद्वये मधुरतरयशो-

---

रसकलश

से हट कर मैं अपने को आपके पद-रस में डुबो देती हूं। तो अब आप ही देख लें कि आपका प्रभाव किस प्रकार असंभव कार्यों को भी कर डालता है।

इस प्रकार चार पद्यों द्वारा प्रिया-प्रियतम से संबन्धित अनुराग-पूर्ण भावों की व्यंजना की गई है। प्रिय से कटाक्षरूप में कहा गया है कि यद्यपि अनन्य भाव से मैं आपका ध्यान, भजन आदि करता हूँ, पर इस सबसे इस धोखे में मत रहियेगा कि यह (श्रीहिताचार्य) सबसे ज्यादा मेरा है। और प्रियाजी से यह कहा गया है कि आपके श्यामसुन्दर कहीं भी, किसी भी रस में, प्रेम में या भजन में प्रवृत्त, रहे आवें, किन्तु आपके चरणों की दासता का अभीष्ट प्रभाव ऐसा है कि ये कहीं रम नहीं सकते। इन सब संभावित स्थितियों में वे जल में चिकने घड़े की तरह निर्लिप्त ही रहेंगे। आप भी उनके कार्यों को सन्देह की दृष्टि से न देखा करें - यह भाव भी है। इससे पूर्व के एक पद्य (२५६) में श्रीराधा के चरण कमल की शोभा को प्रिततम को, अपने कोटि-कोटि प्राणों से भी अधिक प्रिय बताया है। प्रस्तुत पद्य के अन्त में पदनख छटा का उल्लेख किया है जिसका कि तात्पर्य यह है कि रसिकेन्द्र का साध्य भी यही नख-छटा है, और हम सखियों की भी शरण वही है। साराँश यह है कि प्रियाजी के चरण कमल की दासता ही एकमात्र साध्य है। बस, इतना ही विस्तार पर्याप्त हैं ॥२५९॥

इस पद्य की प्रकरण-संगति इस प्रकार है— 'स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा'— यह पद्य (२५५) विहार में समाप्त हुआ। उसके बाद का पद है—'सदा गायं गायम्' (२५३) जिसमें तीन कर्मों—गान, स्थिति और ध्यान—का उल्लेख किया गया है। इसमें प्रस्तोतव्य विषय की पूर्व-सूचना दी गई है। एतदनुसार 'श्याम श्याम' (२५४) तथा 'कदाचिद्-गायन्ती'—इन दो पद्यों द्वारा अत्यन्त मधुर रस और रति-कथा का गान किया। इसके

रतिकथाश्च गीताः । ततश्चतुष्टये पदसुधाशब्देन दास्यरसमग्नता ध्याता । अतोऽवशिष्टां नवनिभृतराधावनस्थितिं वर्णयत्यष्टभिः । तत्र पद्यसङ्गतौ श्रीकृष्णसाधनसाध्यप्रियादास्यनिष्ठातिशयं बहिरनन्वितमिव दृष्टैवतन्मर्मानभिज्ञव्यामोहभिया अहह ! न चायं साधारणजीवगतिको, यथास्थितिरपि न साधारणगतिरिति नचाहमेव वच्मि, किन्तु वृन्दावनप्रभाव एवायं, अत एतद्वासादेव सर्वसन्देहो नङ्क्ष्यतीति बहिर्दशायामन्तरङ्गविरहोत्कण्ठचार्तिभरेण स्वदैन्यमाह ।

यद्वा कथमेतावानपि साहसो यत् परमसाध्यं कृष्णमपि साधनी कुरुषे तत्र न मे दोष, इति स्वप्रयोज्यत्वमाह—

क्वासौ राधा निगमपदवीदूरगा कुत्र चासौ
कृष्णस्तस्याः कुचमुकुलयो[1]रन्तरैकान्तवासः ।

रसकलश

बाद के चौथे पद्य (श्रीगोविन्दव्रजवरवधू...) में पद-सुधा (पादाब्जलक्ष्मी) की चर्चा पर दास्य-रस में अपने मग्न रहने का ध्यान किया। अब रह गई (पद्य २५३ के तृतीय चरण में उल्लिखित) राधा-वन में स्थिति। इसी का वर्णन अब आठ पद्यों (२५७ से २६४ तक) द्वारा किया जाता है। अब (पद्य २५६ से लेकर २५६ तक में) जो कुछ कहा गया है, उसका तालमेल यदि बाह्यपक्ष में बिठाया जाय, तो यह बात कुछ बेलगती सी प्रतीत होती है कि श्रीकृष्ण को साधन बनाकर प्रियाजी में चूड़ान्त दास्य-निष्ठा प्राप्त की जाय। श्रीहितसखी खूब समझती हैं कि जो लोग दास्य के मर्म को नहीं जानते उन्हें ऐसा भ्रम हो सकता है, किन्तु तथ्य यह है कि इस मर्म तक पहुँचना उन लोगों की सामर्थ्य के बाहर है जो साधारण कोटि में आते हैं। राधा-रहस्य में जिसकी स्थिति है, उसकी गति भी सामान्यतया अनन्य दास्य-निष्ठा में नहीं होती।[1] यह मेरे कहने की बात नहीं है, किन्तु श्रीवृन्दावन का प्रभाव ही ऐसा है कि उसमें निवास करने से ही सब सन्देहों का निराकरण हो जाता है। इसी को ध्यान में रखकर बाह्य-दशा में निकुंज की अन्तरंग-स्थिति से अपने को विमुक्त अनुभव कर, उत्कंठाजनित पीड़ा से विवश हो अपने दैन्य का वर्णन करते हैं।

अथवा यदि कोई कहे कि अरे ! इत्ना साहस कि सबके साध्य श्रीकृष्ण को भी साधन बना लिया ! तो मेरा निवेदन यह है कि इसमें मेरा क्या दोष है ? यही सोचकर अपने साध्य के संबन्ध में कहते हैं—

१. देखिए पद्य १४६—'रहस्ये तद्यस्य स्थितिरपि न साधारणगतिः।'

१. 'कुचकमलयोः' पाठ भी मिलता है।

क्वाहं तुच्छः परममधमः प्राण्यहो गर्ह्य कर्मा
यत्तन्नाम स्फुरति महिमा ह्येष वृन्दावनस्य ॥२६०॥

द्वौ क्वौ शब्दौ महदन्तरं सूचयत इति। 'असौ' इति । बुद्धिसन्निधानत्वेन सामीप्यव्यञ्जनम् । यथा 'यदङ्घ्य्रनुध्यानसमाधिधौतया धियानुपश्यन्ति हितत्वमात्मनः' इति रीत्या तादृशानां धीगोचरत्वमस्त्येव । 'असौ' इति यस्या, कैंकर्यरस उद्घोषितः सा राधा क्व ? च पुनरसौ कृष्णो यः साध्योऽपि मया साधनत्वेन वर्णितो रसमूर्तिरपि रसिको जातो, यस्य महिमानं वेदा अपि नेयत्तां कर्तुं शक्ता स्तादृशः कुत्रेति द्वयोरेककोटिरेव । अहं तुच्छत्वादिविशिष्टः क्व, इति द्वितीयकोटिः । अनयो र्नैरन्तर्यसम्बन्धोऽत्यसम्भाव्यतमस्तदा पूर्वपद्योक्तिर्दुर्घटैवेति चेत् तत्राह—'अहो' उक्तिः कुतस्तमां, तयो राधाकृष्णेति नाम यत् स्फुरति तदेष वृन्दावनस्य महिमा-

रसकलश

'कहाँ तो वैदिक विधि-विधान से दूर वह श्रीराधा, कहाँ उनकी कुच-कलियों के भीतर एकान्त वास करने वाले वे श्रीकृष्ण और कहाँ मैं नगण्य, परम अधम और निन्दनीय कर्म करने वाला साधारण जीव ! आश्चर्य है, फिर भी उनका नाम जो मेरे हृदय में प्रकाशित होता है, यह श्रीवृन्दावन की ही महिमा है ॥२६०॥

'क्व' (कहाँ) शब्द यदि दो बार उपात्त किया जाय तो, उससे विशाल अन्तर का बोध होता है। 'असौ'[1] (वह) के द्वारा यह सूचित किया है कि श्रीराधा का मानसिक प्रत्यक्ष हो रहा है और वह सामने ही विराजमान हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है—'जिसके चरणों में लगी ध्यान-समाधि के द्वारा शुद्ध बुद्धि वाले आत्म-तत्व (हित तत्व का प्रत्यक्ष कर लेते हैं।' श्रीहिताचार्य भी, परम तत्व को अपनी बुद्धि द्वारा साक्षात् करने वाले इन्हीं महानुभावों की कोटि में आते हैं। 'असौ' का अर्थ है वह राधा जिसके कैङ्कर्य रस की घोषणा की जा चुकी है। और कहाँ वह कृष्ण जिनका वर्णन मैंने, औरों के लिए साध्य होते हुए भी साधन रूप में किया है। ऐसे रस-मूर्ति श्रीकृष्ण भी जिनकी कृपा से रसिक बन गये वह जिनकी महिमा की सीमा निर्धारित करने में वेद भी असमर्थ रहे। तो कहाँ ऐसे कृष्ण ! ये दोनों—श्रीराधा और कृष्ण—अगम्यता की दृष्टि से एक वर्ग में आते हैं, और दूसरे वर्ग में आता हूँ तुच्छत्व आदि धर्मों से विशिष्ट मैं। इन दोनों वर्गों के बीच कोई अन्तर न रहे, यह तो एकदम असंभव है। ऐसी स्थिति में पूर्व पद्य (२५९) की उक्ति तो बहुत ही दूर की बात है। ऐसी शंका उत्पन्न होने पर

१. 'अदसस्तु सन्निकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ।'

चिन्त्यप्रभावो, ऽन्यथा नामापि दुर्लभं, नामिनौ तु कस्य गोचरौ स्यातामिति भावः ।

स्फुरणं यथा 'शुद्धात्मस्फुर्तिर्भगवत्कृपयैव स्वतो हृदि स्यात्' तथा वर्णमयत्वेन ख्यातमपि महादुर्लभम् । वासमात्रेऽप्येवं तदावासयाथार्थ्ये किं किं न साक्षात्क्रियते, इति किमपि न चित्रम् । अत्राहमेव प्रमाणम् । कैङ्कर्येऽपि निजत्वं, निजत्वेऽप्यनुरागोत्सव, स्तत्रापि रसमज्जनमिति सर्वं क्रमेण भाववासदाढर्यात् सेत्स्यति । यथात्रैवोक्तम्—'किं ब्रूमः' इतिपद्ये 'कसलमपि दद्दौ राधिकाकिङ्करीणाम्' इत्युक्तेर्वदान्यत्वम् ।

निगमानां पदवी मार्गो, यथा वेदस्तुत्यादौ 'सन्मार्गे'-त्यस्य ब्रह्मपरतेति श्रीधरैरुक्तम् । ततोऽपि दूरगेति । किञ्च 'ब्रह्मे ति परमात्मेति भगवानि'-ति तत्वैक्ये न कदाचित्भगवत्परताग्रहणेन कृष्णपरतापि स्यात्, परन्तु तत्प्रेमा-

रसकलश

कहते हैं—'अहो !'अरे! आप उक्ति के लिये डोलते हैं । मैं कहता हूँ कि राधा-कृष्ण का नाम जो हृदय में फुरता है, वह वृन्दावन की महिमा—अचिन्त्य प्रभाव है । नहीं तो नामी का साक्षात्कार तो दूर, नाम मात्र लेना भी दुर्लभ है । यह भाव है ।

नाम के स्फुरण का प्रकार ऐसा होना चाहिए कि 'भगवत्कृपा से हृदय में स्वतः आत्म-तत्व का उदय हो ।' यूँ कहने को तो नाम में इने-गिने वर्णों के सिवा होता ही क्या है, तथापि उसे महादुर्लभ बताया गया है । वृन्दावन में वास करने मात्र की जब ऐसी महिमा है, तो विधिपूर्वक आवास (आ=समन्तात् वास) हो, तो साक्षात्कार करने से क्या रह जायगा ? यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है । इसका प्रमाण तो मैं (श्रीहितसखी) ही हूँ । कैङ्कर्य में निजता, निजत्व में भी अनुराग का उत्सव, उसमें भी रस में अवगाहन—सब क्रम-क्रम से प्राप्त हो सकता है, परन्तु होनी चाहिए श्रीवृन्दावन वास की दृढ़ भावना । इसी स्तव के 'किं ब्रूमोऽन्यत्र' पद्य (१७५) में कहा है—'इस वृन्दावन-भूमि ने आस्वादन के उस रसिक-युगल को संपूर्ण रूप से श्रीराधा की किङ्करियों को दे दिया है ।' इससे वृन्दावन की दानशीलता स्पष्ट है ।

'निगमपदवीदूरगा' (वेदों के मार्ग से दूर)—निगमों—वेदों की पदवी=मार्ग वेदस्तुति आदि में उपात्त 'सन्मार्ग' शब्द को श्रीधरस्वामी ने ब्रह्मपरक बताया है । श्रीराधा उससे भी दूर हैं । दूसरी बात यह है कि 'ब्रह्म, परमात्मा, भगवान'[1] शब्द-वाच्य तत्व जब एक ही है, तो 'निगमपदवी' का अर्थ यदि भगवन्मार्ग लगाया जाय, तो कृष्ण परक भी लगाया जा सकता है, किन्तु उससे श्रीकृष्ण की प्रेमपात्र श्रीराधा

१. वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मे ति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।। श्रीमद्भागवत—१/२/११

स्पदहार्दं न स्पृशति। किञ्च स्वरूपलक्षणमपि दुरूहं, तदा हार्दरहस्यं क्व स्पृशति, पारमैश्वर्यात्, परतोऽस्या माधुर्यमयत्वात्। 'पदवी' इत्यनेन मार्गोऽपि प्राप्यग्रामाद्यवधिर्भवतीति। वेदानाञ्च कर्मैव मार्गः। ततोऽपि विच्छिद्य सत्वशुद्ध्यनन्तरं नैष्कर्म्यज्ञानं भवति। ततोऽपि विच्छिद्य केचिद्-भक्ता ज्ञानसाध्यंमोक्षमपि लघूकृत्येश्वरप्रेमरता भवन्ति। इयं प्रस्तुता ततोऽपि परतरा। यथा—'परेशभजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः' इत्युक्तेः। अत एव श्रीकृष्णोऽपि 'इभराडिव भिन्नसेतुः', इत्यत्र लुप्तवेद-मर्याद इत्येव रसिकैरुक्तः, मार्गं त्यक्त्वा तां प्राप्त इति। मार्गो मर्यादा-नियमरूपः। सचैश्वर्यमयः। प्रेमैकसीम्नो माधुर्यरूपायास्तस्याः प्राप्तेस्तत्त्यागः। स च माधुर्याग्रे गौणतया स्थितिलक्षणः। सर्वांशत्यागो न घटते, स्वरूप-शक्तित्वात्।

'मुकुलयोः' कुड्मलयोरित्यनेन कुचदाढर्यौन्नत्यसौष्ठवमुक्तम्। 'अन्तरे' मध्ये आधारे। तावुपश्लिष्येत्यर्थः। 'एकान्तः' अविच्छिन्नो रहो वासो

रसकलश

का आशय तो किसी प्रकार भी नहीं निकल सकता। इसके अतिरिक्त निगम जब श्रीराधा के स्वरूप का ही बोध नहीं करा सकते, तो उसके रहस्य के पास तो फटक ही नहीं सकेंगे, क्योंकि प्रियाजी तो ऐश्वर्य से परगामी तत्त्व हैं—माधुर्यस्वरूप हैं। 'पदवी' शब्द मार्गवाचक है। मार्ग भी गाँव तक पहुंचने-भर का होता है। वेदों द्वारा प्रतिपाद्य मार्ग कर्म मार्ग है। कर्म द्वारा आत्म-शुद्धि होने के बाद साधक कर्म का संन्यास कर नैष्कर्म्य की स्थिति में पहुच जाता है। कुछ भक्त उससे भी अपना दामन छुड़ा कर ज्ञान के लक्ष्य मोक्ष का भी निरादर कर ईश्वर-प्रेम में लीन हो जाते हैं। श्रीराधा तो उससे भी कहीं परे का तत्त्व हैं। इसी ग्रन्थ में कहा है—'श्रीशुक आदि यदि परमेश्वर के भजन में उन्मत्त हैं, तो क्या हुआ?' (८७)। इसीलिए रसिकों ने श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में इतना ही कहा है कि 'गजराज जिस प्रकार पुल को तोड़ देता है, उसी प्रकार उन्होंने वेद-मर्यादा को तोड़ दिया है—अर्थात् वेद-मार्ग को छोड़ कर श्रीराधा के पास पहुंचे हैं। मार्ग बँधा रहता है मर्यादा और नियमों से। वह ऐश्वर्यमय है। प्रेम की एकमात्र सीमा, माधुर्यस्वरूपा श्रीराधा की प्राप्ति के लिए मार्ग का त्याग करना होता है। माधुर्य की तुलना में उसकी स्थिति गौण है। ऐश्वर्य श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति है, अतः उनके लिए यह संभव नहीं है कि वे सर्वांश में ऐश्वर्य का परित्याग कर सकें (अतः ऐश्वर्य गौण होकर ही रहता है)।

श्रीकृष्ण श्रीराधा के कुच-मुकुलों के भीतर निवास करते हैं। कुच की कलियों में वास करने का निर्देश कर कुचों की कठोरता तथा ऊँचाई से पैदा होने वाले सुन्दर

यस्य। अथवा कुचमुकुलयोरप्यन्तरेहृदि निलीय स्थित इति। यथा कश्चिन्नृपः सर्वहर्म्यद्वारान्निरुध्य व्यवहारिजनविज्ञप्तिभिया स्वपिति, यथा निगममार्गे यदा तिष्ठेत्तदा सर्वविज्ञप्तिं श्रृणुयादेव। यदा मार्गमप्यतिक्रम्य तिष्ठेत्तदा कस्य गतिरिति। अत एव पदवीदूरगत्वम्। अत्र चोक्तम्—'दूरे सृष्टयादि-वार्ता न कलयति मनाङ्ः नारदादीन् स्वभक्तान्' इत्यत्र 'श्रीराधामेव जानन्' इति सर्वं तात्पर्यं ज्ञेयम्।

यद्वा 'दूरगा' इत्यत्र श्रुतयः स्तुत्वा केवलं श्यामसुन्दरमेव दृष्टवत्यः। ततो व्रजे भूत्वा गौरतेजो दृष्टम्। श्रुतिरूपत्वेन दर्शनाभावापेक्षया दूरत्व-मुक्तम्। आधिकारिण्यस्तु तद्रजोधारणादेवेति दूरत्वेऽपि गम् धातूक्तिः, नचागम्यत्वोक्तिः साधकसमाधानार्थम्। अत्राप्युक्तम्—'तथोपनिषदां हृद्येव विद्योतते', न तु बहिरिति, गुह्यतमत्वात्।

रसकलश

आकार-प्रकार की तरफ निर्देश किया गया है। 'अन्तर' का अर्थ है—मध्यस्थान या आधार। भावार्थ यह है कि उनका आलिंगन करते हुए निवास करते हैं। 'एकान्त' का अर्थ है—अविच्छिन्न निभृत स्थिति। अथवा कुच-कलिकाओं के भी नीचे—हृदय में छिप कर बैठे हैं। इस तरह समझिये, जैसे कोई राजा अपने महल के सब दरवाजों को बन्द कर सोता रहता है, ताकि कामकाजी लोग अपनी प्रार्थनायें लेकर उस तक न पहुंच पावें। इसी प्रकार श्रीकृष्ण यदि निगम-मार्ग पर रहते हैं, तो सर्वसाधारण की प्रार्थना उन्हें सुननी ही पड़ेगी। इसके विपरीत यदि वे उस मार्ग का उल्लंघन कर रहते हैं, तो वहां तक किसकी पहुंच हो सकती है? इसी ग्रन्थ में कहा है—'सृष्टि की बात तो दूर रही, अपने नारद आदि भक्तों का भी तनिक विचार नहीं करते। मधुपति श्रीराधा को ही जानते हुए दिन-रात कुँज-वीथी की उपासना में प्रवृत्त रहते हैं' (२३५)। यही एक मात्र तात्पर्य समझना चाहिए।

अथवा 'दूरगा' का यह भाव है कि श्रुतियों ने स्तुति द्वारा केवल श्यामसुन्दर का ही साक्षात्कार किया। उसके बाद व्रज में जन्म लेकर गौर तेज के दर्शन किये। तो श्रुतिरूप से दर्शन न पा सकने के कारण श्रीराधा को निगम-पदवी से दूर बताया है। श्रुतियों को दर्शन-लाभ तो हो गया, परन्तु सेवा का अधिकार उन्हें तभी मिला जब कि उन्होंने प्रियाजी की चरण-रेणु को अपने मस्तक पर धारण किया। 'दूरगा' (दूर+गम्) में प्राप्त्यर्थक गम् धातु से यह आश्वासन दिया गया है कि श्रीराधा दूर होने पर भी अगम्य नहीं है। इसी स्तव में अन्यत्र कहा है—'जो उपनिषदों के हृदय में ही चमकती हैं' (   ), अर्थात् बाहर नहीं, क्योंकि गोपनीय जो हैं।

मुकुलवासेन कृष्णस्यानन्यषद्पदत्वमुक्तम्, सजातीयैकवेद्यमंत्रार्थोऽपि निर्दिष्टः, असाधारणलक्षणेन स्वरूपान्तरव्यावृत्तिश्च कृता, स्वार्हवासेन दाम्पत्यानन्दो व्यञ्जितश्च। अतोऽयं श्रीमती मार्गो न कर्मज्ञानादिसाध्यो नेतरैस्तर्कयितव्य, इति सिद्धान्तव्यंग्यान्तरम्।

यद्वा तासां पदवी, स्वसुखपरता, 'गोप्यः कामात्' इत्युक्तेः। तेनात्र दूरत्वं तत्सुखात्मकमहाप्रेममयत्वात्। अतः सोऽपि कामकश्मलभियेव कुचमुकुलपञ्जरे स्थितो, यत्र तत्रात्मारामतोक्तेः अनुकूलनिर्देशेन दाक्षिण्यं परिहृतम्।

यद्वा पदवीत्यस्य प्रौढित्वार्थः। तदा रासे यदा सौभगमदो मानश्च कृतस्तदैव दूरगा जातेति। यदा च दास्येन प्रशमो जातस्तदा प्रसादेन प्राप्तेत्यपि ध्वनिः।

रसकलश

कली में निवास करने से यह बताया गया है कि श्रीकृष्ण श्रीराधारूपी कमल के अनन्य भ्रमर हैं। सजातीय लोग ही जिसे जानते हैं, ऐसे मंत्र का भी यहाँ निर्देश किया गया है। विशिष्ट लक्षण बता कर दूसरे स्वरूप का निराकरण भी किया गया है। कमल को श्रीकृष्ण का उचित निवास-स्थान कह कर दांपत्य आनन्द की भी व्यंजना की है। व्यंग्य द्वारा इस सिद्धान्त की भी स्थापना की है कि श्रीराधा मार्ग कर्म, ज्ञान आदि साधनों से प्राप्य नहीं है, अतः अन्य लोगों को इस विषय पर तर्क नहीं करना चाहिए।

अथवा 'निगम-पदवी' का अर्थ है—श्रुतिरूपा गोपियों की पदवी-अर्थात् अपने सुख का ध्यान। कहा भी है—'गोपियों ने काम-भाव से श्रीकृष्ण को भजा'।[1] इसीलिए यहाँ दूरी है, क्योंकि यहां तो तत्सुखात्मक प्रेम की मान्यता है--स्वार्थ-बुद्धि से दूर। इसीलिए मानों श्रीकृष्ण भी काम-विकार द्वारा ग्रस्त हो जाने के डर से प्रियाजी के कुच मुकुलरूपी पिंजरे में आकर बन्द हो गए हैं। यत्र तत्र उन्हें आतमाराम कहा भी गया है। (प्रस्तुत में 'आत्माराम' का अर्थ होगा—अपनी आत्मा श्रीराधा में रमण करने वाले।) कुचमुकुल में निवास करने से श्रीकृष्ण की प्रियानुकूलता लक्षित होती है और इस धारणा का निराकरण हो जाता है कि वे दक्षिण (विलासी) नायक हैं।

अथवा 'पदवी' का अर्थ है प्रौढता—वेदों का गांभीर्य। रास के प्रसंग में जब श्रीकृष्ण को मद हुआ, तो श्रीराधा उनसे छिटक कर दूर चली गईं। बाद में प्रियतम ने जब दास्य-भाव प्रदर्शित किया, तो उनका मान शिथिल हुआ और प्रसन्न होकर प्रिय से मिलीं—यह भी ध्वनि है।

१. गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो॥ श्रीमद्भागवत—७/१/३०

यद्वा निगमपदवी दूरं कृष्णं गच्छतीति सा । स च तद्धृदयवासीत्युभयो दूरत्वम् । नचात्र तावद्दूरगा सा च, ततोऽपि दूरगः स, इत्यर्थाभासो ज्ञेयः । दूरत्वे सत्यपि विशिष्योक्तिः । प्रथमोक्तिश्च श्रीकृष्णस्यैश्वर्यत्वख्यातेरस्या माधुर्यैकप्राधान्यात् केचिदनभिज्ञा प्रायो न जानीयुस्तेन महदन्तरवक्ष्यमाण-त्वाममतास्पदतया पूर्वप्रकरणाच्च ज्ञेया ।

अथ पूर्वोक्तिस्मृत्या बहिर्दृष्टचा च महदन्तरं सूचयति । लोकदृष्टि-माश्रित्य व्याख्यायते—

'तुच्छे'-त्यादिविशेषणचतुष्टयेन तावन्निगमात् प्रसिद्धादपि सम्बन्धानर्हत्वं विवक्षितम् । तदा तद्दूरगायास्तु कैमुत्यम् ? 'तुच्छो'-ऽकिञ्चित्कारो मन्दो वा—वेदपदवीज्ञानानर्ह इत्यर्थः । तत्रापि परमाधमो, विप्रत्वेऽपि सन्ध्योपासन-

रसकलश

अथवा—निगम-पदवी से सुदूर-स्थति श्रीकृष्ण का सेवन करने वाली श्रीराधा । श्रीकृष्ण राधा के हृदय में निवास करते हैं, अतः साधकों के लिए तो दोनों ही दूर हैं । यहाँ यह अर्थ लगाना भ्रमपूर्ण होगा कि श्रीराधा निगम-पदवी से जितनी दूर हैं, उससे कहीं दूर श्रीकृष्ण हैं। श्रीराधा तो दूर हैं ही, फिर भी इस बात का वर्णन यहाँ विशेषरूप से किया गया है । पद्य में श्रीराधा का नाम पहले इसलिए लिया गया है कि श्रीकृष्ण तो ऐश्वर्यशाली के रूप में प्रसिद्ध हैं, जबकि श्रीराधा में केवल माधुर्य की ही प्रधानता है। संभव है, अनभिज्ञ लोग इस बात को न जान पावें, अतः दोनों में आगे बताये जाने वाले अन्तर को ध्यान में रख कर, तथा इसलिए भी कि श्रीहितसखी की प्रियाजी में ममता है और प्रसंग भी यही चला आ रहा है, श्रीराधा का नाम-निर्देश पहले किया गया है ।

अब पद्य के प्रारम्भ में जो कुछ कह आये हैं उसका स्मरण कर तथा बाह्य दृष्टि से भी, अपने और युगल के बीच के महान् अन्तर का वर्णन करते हैं । असल में लोक दृष्टि के अनुसार ही यह अन्तर है, अतः उसी रूप में उसकी व्याख्या करते हैं—

तृतीय चरण में स्वनिन्दापरक चार विशेषण दिये हैं—तुच्छ हूं, परम अधम हूं, साधारण जीव हूं और निन्दनीय कर्म करने वाला हूं । इन चारों विशेषणों से अपना यह आशय व्यक्त करना चाहते हैं कि मैं इस योग्य नहीं हूं कि वेदों से मेरा कोई सम्बन्ध हो सके । फिर श्रीराधा तो उनसे भी दूर हैं । उनसे सम्बन्ध होना तो बहुत दूर की बात है । फिर तुच्छ हूं—आमुष्मिक कल्याण के लिए कुछ चेष्टा नहीं करता हूँ, अत एवमूर्ख हूं —वेदमार्ग के ज्ञान का पात्र नहीं हूं । उस पर भी अत्यन्त निकृष्ट हूं—इसलिए कि सन्ध्योपासन, देवसम्बन्धी तथा पितृ-सम्बन्धी अग्नि-होम, बलि-वैश्वदेव आदि ब्राह्मणो-चित कर्म न करने के कारण पतित हूं । इसके अतिरिक्त केवल प्राणी हूं—यथा-तथा

दैविकपैत्रिकाग्निहोत्रबलिवैश्वदेवादिब्रह्मकर्मभिः पतितः। किञ्च 'प्राणी', केवलं देहम्भरः; सोऽपि संस्कारेण सङ्गात् कर्मार्होऽपि भवेत्। तत्राहं गर्ह्यकर्मा। मेधतेर्हिंसार्थत्वेन निन्द्यत्वाद् गृहमेधित्वं सूचितम्। अतस्तत्तच्छुद्धेरभावात् कर्मिष्ठा अपि नाद्रियन्ते। तदा तत्परमोपजीव्यवेदपदव्या अपि परं वस्तु कथं प्राप्येतेति स्वदैन्यत्वे पर्यवसानम्।

अत्रैतदुक्तिर्बहिर्दशायां स्वरूपविरहार्त्या बुद्धिपूर्विकेवेति पूर्वमेव विवृतम्। उपरितनाशयत्वे तु तादृशविडम्बने स्वारस्याभाव एव स्यात्। किञ्च पुरातनानामपि 'कामं भव, स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्यात्' इति सनकादीनां, 'नैवोद्विजे परदुरत्ययवैतरण्याम्' इति प्रह्लादस्य, 'राज्ञां कुलं

रसकलश

उदरपूर्ति में ही प्रवृत्त रहता हूं। पूर्वजन्म के अर्जित संस्कार तथा विद्वानों की संगति के प्रभाव से मेरे-जैसे व्यक्ति भी विहित कर्म करने के योग्य हो जाते हैं, किन्तु मेरे तो कर्म भी निन्दनीय हैं। इससे यह व्यक्त किया है कि मैं गृहमेधी (गृहस्थ) हूं। मेध् धातु (जिससे गृहमेधी शब्द निष्पन्न होता है) हिंसार्थक है। गृहस्थजन की शुद्धि के लिए स्मृतियों में जिन पञ्च-यज्ञों का विधान है, मैं उन्हें भी नहीं करता हूं, अतः यज्ञादि कर्मकाण्ड में आस्था रखने वाले लोग मेरा आदर नहीं करते। ऐसी स्थिति में जो तत्व-कर्म-काण्ड का विधान करने वाले वेदों की पदवी से भी परे का है, वह मुझे कैसे मिल सकता है। इन सब दोषों का अन्त दीनता में ही होता है, (अर्थात् इन्हीं कारणों से मैं अत्यन्त दीन-हीन हूं)।

बाह्य दशा में प्रियाजी के स्वरूप के साक्षात्-दर्शन से वञ्चित होकर विरह की पीड़ा में उपर्युक्त बातें कही जा रही हैं, यह पहले कहा जा चुका है। ये उक्तियाँ बुद्धि की क्रीड़ा से प्रेरित ही समझनी चाहिए। ऊपरी बातें नहीं हैं ये, क्योंकि उस स्थिति में तो उनके कहने का कोई अर्थ नहीं होगा। प्राचीन साधक और ऋषिमुनि भी कभी-कभी इसी स्वर में बोलते दिखाई देते हैं। सनकादियों की उक्ति है—यदि हमारा मन भौंरे की तरह आप में रमता रहे, तो अपने पापों के फलस्वरूप भले ही हमारा नरक में वास हो, हमें स्वीकार है।" प्रह्लाद कहते हैं—'हे परात्पर! आपके पराक्रम के गाथारूप अमृत में दत्तचित्त मैं घोर वैतरिणी से भी नहीं घबड़ाता हूं।" परीक्षित कहते हैं—'ब्राह्मणों के पाद-प्रक्षालन से दूर हटा हुआ राजाओं का कुल निन्दनीय कृत्यों से युक्त होता है।' बुद्धि में ऊहापोह होने से ही परीक्षित की यह उक्ति संगत बैठती है, क्योंकि उन जैसे महानुभाव ने ऐसा कोई निन्दनीय कर्म नहीं किया था जिसके

१. श्रीमद्भागवत-३/१५/४९ २. श्रीमद्भागवत-७/९/४३

३. श्रीमद्भागवत-१/६/१३

ब्राह्मणपादशौचादाराद्विसृष्टं बतगर्ह्यं कर्मा' इति विष्णुरातस्य बुद्धिपूर्वकमेव शोभते। न च तेषां वृजिननिरयवैतरिणी गर्ह्यं कर्मापि दृश्यते। न च यथार्थोक्त्यभावः शङ्क्यः। यादृग्भगवत्पदसन्निहितानां क्षणस्वरूपविरहे दुःखं, ग्लानिः, शोकः कोटिनरकभानञ्च भवति, तावन्नदेहगृहाधिव्याधिपीडितानां, न च तपोनिर्द्धूतकल्मषानां, न च ज्ञानिनामिति। एतदार्तिस्वरूपं तैरेव ज्ञातं, नान्यैरिति। यथौत्कण्ठचञ्च श्रीवृत्रेणोक्तम्—'अजातपक्षाः इव' इति। अन्यच्च 'तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्यावभासते' इति न्यायेन, 'यथा यथात्मा परिमृज्यते' इत्यत्र 'तथायथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मम्' इति न्यायेन च वस्तु सान्निध्यक्रमेणार्तिक्रमो ज्ञेयः। नचात्र गुरुभावनिष्ठैर्दूषयितव्यम्। अनेन दैन्येन कर्मिज्ञानिभक्तिमत्सु वयं भवद्भ्य उत्तमोत्तमनैष्कर्म्य-

---

रसकलश

फलस्वरूप उन्हें नरक-यातना भोगनी पड़े या वैतरिणी पार करने का प्रश्न उपस्थित हो। यह शंका भी नहीं करनी चाहिए कि इन उक्तियों में मिथ्यात्व का आभास मिलता है। जो लोग सदा भगवान के चरणों के निकट रहते हैं, उनका यदि क्षणभर के लिये भगवान के साक्षात्-दर्शन से विरह हो जाय, तो उन्हें जैसा दुःख, ग्लानि, शोक और कोटि-कोटि नरकों की यातना होने लगती है, वैसा देह, घर आदि मानसिक और शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त मनुष्यों को नहीं होता, और न होता है ज्ञानियों को तथा उन लोगों को जिनके मायाजन्य विकार तपश्चर्या के कारण नष्ट हो गये हैं। पीड़ा के इस स्वरूप का अनुभव तो भगवद्भक्तों को ही होता है, औरों को नहीं। वृत्रासुर ने अपनी उत्कंठा व्यक्त करते हुए कहा है—'हे कमलनयन! पंख निकलने से पूर्व की अवस्था में जैसे पक्षी का बच्चा अपनी मा को ही देखते रहना चाहता है, वैसे ही मेरा मन आपके दर्शन के लिए उत्सुक है।'[1] चन्द्रमा अपने में स्थित अन्धकार (कलंक) को आच्छादित कर चमकता है—इस न्याय के अनुसार तथा जैसे-जैसे आत्मा शुद्ध होती है, वैसे ही वैसे साधक को सूक्ष्म तत्व का साक्षात्कार होता है,—इस उक्ति के आधार पर ध्येय-ज्ञेय पदार्थ जितना अपने निकट होता है, उसी अनुपात में (उससे वियुक्त होने पर) पीड़ा भी होती है। श्रीहिताचार्य में गुरु की निष्ठा रखने वालों को उनके स्वनिन्दापरक कथन में दोष नहीं देखना चाहिए। महाप्रभु का आशय यह है कि कर्मनिष्ठ, ज्ञानी एवं भक्तिमान् आप लोगों की उपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ नैष्कर्म्य मार्ग के पथिक हम लोग इस रहस्य को जानते हैं, आप नहीं। इस बात को स्पष्ट शब्दों द्वारा न कह कर अपनी गम्भीर उक्ति के द्वारा श्रीहिताचार्य ने शिष्टता की रक्षा की है;

---

१. श्रीमद्भागवत-६/११/२६

पदवीगातिनः । न च यूयं मद्रहस्यं जानीथ, इत्यादि प्रौढोक्तिरसभ्यता च परिहृता, सदा मधुरवाक्पटुत्वात् । स्वजातीयेष्वपि शिक्षेयम् । शुद्धं कर्मादिपतितत्वमेवोक्तम् । तदेव महतां शोभनम् । किञ्च तादृशानां तुच्छत्वाद्येवं यथाकिञ्चित्करत्वम् 'दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान्' इति ।

अधमत्वं यथा—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ।। इति ।

'प्राणी' तदेकार्थचेष्टादिमान् । यथा—'दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधाः' इत्यत्र यदि तेऽनुर्वातिनो भक्तास्तदा ते श्वसन्ति, अन्यथा दृतयइवेति वृथाश्वासाः, इति । यथा च 'यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते' इति । एतादृशा अपि व्रजे प्राणिनः सन्ति । यथा च—'यः

रसकलश

क्योंकि मीठी चुटकी लेने में वे सदा से सिद्धहस्त हैं। दूसरे, अपनी जैसी भावना वाले को यह शिक्षा भी दी है कि अपने को सदा दीन-हीन ही समझना चाहिये। श्रीहिताचार्य ने यहाँ अपने आप को शास्त्र-विहित कर्मों से, बिना किसी लाग-लगाव के, पतित ही माना है। महापुरुषों को यही कहना शोभा देता है। दूसरी बात यह है कि उन जैसे महापुरुषों के संबन्ध में तुच्छ होने का मतलब है—स्वयं में कर्तृत्व-अभिमान का अभाव। कहा भी है—'इच्छाओं की पूर्ति जब दैव के अधीन है, तो मनुष्य भी दैव के ही वश में है।' अपने को अधम मानने का प्रकार निम्नलिखित उक्ति के अनुसार है—

'अपने को तिनका से भी तुच्छ समझकर, वृक्ष की तरह सहनशील बन कर, अभिमान का त्याग कर और दूसरों के आदर के लिये उद्यत रह कर श्रीहरि का सदा कीर्तन करना चाहिये।'

'प्राणी' से तात्पर्य उन लोगों का है जो केवल जीवित रहने के लिये सब कर्म करते हैं। कहा भी है--प्राणधारी, यदि आपके अनुकूल आचरण करते हैं, तभी जीवित कहे जा सकते हैं, नहीं तो धौंकनी की तरह साँस मात्र ही लेते हैं[1]।' यह भाव है कि यदि भगवान् का अनुसरण करते हैं, तो सच्चे अर्थों में साँस लेते हैं, नहीं तो उन्हें धौंकनी ही समझा जाना चाहिये। अर्थात् केवल साँस लेना व्यर्थ है। और भी—'धाम, धन, मित्र, प्रिया, आत्मा, पुत्र, प्राण, अन्तरात्मा—सब आपके ही लिये हैं[2]।' व्रज में भी ऐसे देहभरी लोग रहते हैं 'जो आत्मा से युक्त होकर भी प्राणों को धारण करते

१. श्रीमद्भागवत-१०/८७/१७.
२. श्रीमद्भागवत-१०/१४/३५

प्राणवृत्या परितुष्ट आत्मवान्' इत्यादि गर्ह्यं कर्मत्वम् । यथा युधिष्ठिरेण—'मादृशो गृहमूढधीः' इत्येतादृशोऽर्थोऽपि ध्येय एव ।

प्रस्तुतमाह—एवं परमायोग्यत्वेऽपि यति चाश्रयं वस्तु स्वप्रभावं कुर्यात्तदा किं दुर्लभमित्याह । 'यत्' इति स्पष्ट एव । यद्वा यदिति यादृक्प्रभावं नाम तादृक्स्फुरणं, तन्महिमैव । वा यदित्यव्यम् । यादृशयोस्तदिति तादृशं नामेति, नामनामिनोरभेदात् । यथा सनत्कुमार संहितायाम्—

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतत्परमविग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ।।इति।।

अन्यथा नामापि बहुभिः प्रायश उद्घुष्यतेऽपि तादृश साहाय्यं विना न तदर्थशक्तिप्रकाशः, इति तन्महिमैव जीवसामर्थ्यम् । अत्रानायासेन न तन्नामैव स्फुरतीति किं वक्तव्यम् ! अतः श्रीवृन्दावन एव वस्तव्यम् । इदमेव सर्वं

रसकलश

रहने में ही अपने कर्तव्य की इति श्री समझते हैं ।' निन्दनीय कर्म का यही मतलब है । युधिष्ठिर ने कहा है—घर के धन्धों में लिप्त मुझ जैसा मूर्ख ।' यह अर्थ भी समझ लेना चाहिये ।

विषय पर आते हैं—इस प्रकार अत्यन्त अयोग्य होने पर भी यदि वह वस्तु, जिसका आश्रय लिया गया है, अपना प्रभाव दिखलावे, तो दुर्लभ क्या है ? 'यत्तन्नाम स्फुरति' में 'यत्' (जो) का अर्थ स्पष्ट है । अथवा 'यत्' का अर्थ यह है कि जैसा नाम का प्रभाव है उसकी महिमा है, उसी रूप में वह हृदय में फुरे । 'यत्' को अव्यय मान कर यह अर्थ भी सम्भव है—जैसे वे दोनों (श्रीराधाकृष्ण) हैं वैसा ही 'तत्'—अर्थात् नाम । इस व्याख्या के अनुसार यहाँ नाम और नामी का अभेद प्रतिपादित किया गया है । सनत्कुमार संहिता में कहा है—

'नाम ही चिन्तामणि, अर्थात् सब अभीष्ट का दाता है, वही चैतन्य-रसस्वरूप, पूर्ण, शुद्ध, नित्यमुक्त कृष्ण है, क्योंकि एक ही सच्चिदानन्दरसादिरूप तत्व दो स्वरूपों में प्रकट हुआ है ।'

यों तो प्रायः सभी लोग नाम के प्रभाव को घोषणा करते रहते हैं, किन्तु इष्ट की सहायता के बिना नाम की अर्थ-शक्ति का प्रकाश हृदय में नहीं होता । इस प्रकार उसकी महिमा ही जीव की सामर्थ्य है । यहाँ श्रीवृन्दावन में तो बिना प्रयास के श्रीराधा नाम हृदय में उद्भासित होता है, तो कहना ही क्या है ? निष्कर्ष यह है कि श्रीवृन्दावन में ही वास करना चाहिये । वही सब कुछ देगा—रस शिक्षा ध्वनि-रूप में निकलती है । इससे पूर्व के चार पद्यों में जिस कैङ्कर्य-अभिमान का वर्णन किया गया है, उसकी रक्षा तो करनी ही होगी, क्योंकि जो भी प्रियाजी की शरण में आए हैं, उनकी निष्ठा ही

दास्यतीति शिक्षाव्यञ्जनम् । पूर्वचतुष्टय्युक्तकैङ्कर्यदर्पस्तु स्वामिनीशरणानामित्थमेव निष्ठया रक्षणीयः । दैन्यञ्च तुच्छेत्यादिरीतिकं बुद्धिपूर्वकमेवेत्यपि शिक्षा च ।

आन्तरापेक्षायामेवम्—पूर्वं रसह्रदमज्जने वेद्यान्तराभावमूर्च्छायां सर्वं प्रत्यक्षलीलादि विस्मृतम् । तदानीं दम्पत्यपि रसावेशेन कुञ्जे प्रविष्टौ विलासं कृतवन्तौ । तदनन्तरं सचित्ता सखी पश्चात् तपति, इति तापोऽप्यानन्दरूप एवायं, निन्दास्तुतिरीत्या वक्ति—हा ! किं किं परोक्ष सुखं जातं, मया प्रमत्तया नष्टमिति, यथा—'सुचिरमनुशोचे निजदशाम्' इत्युक्तवत् ।

'निगमपदवी' अत्र बुद्धीन्द्रियमनः प्राणमयी । तस्या दूरगेत्यनेन अनिर्वचनीयेत्यर्थः, रहसि लग्नत्वात् । प्रियश्च तस्या उरसि लग्नः । सोऽपि दूरग एव । कमहं दुःखं वच्मीति भावः । ततोऽपि 'यथा शयानं सम्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः[२]' इतिवत् कुञ्जबाह्यादपि मन्निर्गमं श्रावयामि । एवं

रसकलश

ऐसी है। रही दैन्य भाव के संबन्ध में जिसकी कि व्यंजना अपने को तुच्छ और अधम कह कर की गई है, सो वह तो बुद्धि का व्यापार है, अपनी भावना की दृढ़ता के संबन्ध में तो उन्हें कोई संशय है ही नहीं। प्रकारान्तर से यह शिक्षा व्यक्त की गई है।

आन्तरिक पक्ष में अर्थ-संगति इस प्रकार है—इससे पूर्व (पद्य २५९) में यह कहा गया था कि रस-सरोवर में मग्न होकर श्रीहितसखी देहानुसन्धान खो बैठीं। व्यामोह की उस स्थिति में सब प्रत्यक्ष-लीलायें दिमाग से निकल गई। उस समय दंपती भी रसावेश के कारण कुंज में चले गए और वहाँ विलास में व्यस्त हो गये। बाद में सखी की सुध-बुध जब लौटी, तो लगीं वह पछताने। यह पछतावा भी आनन्दपूर्ण ही था। अब निन्दात्मक स्तुति के द्वारा उसी के संबन्ध में कहती हैं—'हाय ! परोक्ष में न जाने किस-किस सुख की सृष्टि हुई होगी। अपनी उन्मत्त दशा में मैं उस सब से हाथ धो बैठी।' श्रीहितसखी को इस समय वैसा ही अनुताप हो रहा था जैसा कि एक पूर्व पद्य (२१४) में वर्णन किया गया है—'हाय ! मैं अपनी दशा पर चिरकाल तक कब पश्चात्ताप करूँगी !'

'निगमपदवी' का यहाँ अर्थ है—बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणों की वृत्तियाँ[१]। उनसे भी दूर। अर्थात् अनिर्वचनीय—इस अर्थ में अनिर्वचनीय कि प्रियाजी इस समय एकान्त विलास में व्यस्त हैं और प्रियतम अपने को भूले बैठे हैं उनके वक्षःस्थल के

१. इस अर्थ में 'निगम' की व्युत्पत्ति यह होगी—निगम्यन्ते विषया यैस्ते निगमास्तेषां पदवी ।
२. श्रीमद्भागवत्-१०/८७/१३.

कुञ्जशय्यामधिसुप्तौ क्व ! 'अहम्' इति सखीत्वाहङ्कारः क्व ! किञ्च रसह्रदापेक्षयातितुच्छोऽत्यल्पः । यथा—

क्वाहं मन्दमति, क्वेदं मथनं क्षीरवारिधेः ।
किं तत्र परमाणुर्वै यत्र मज्जति मन्दरः ।।इति।।

यदत्र प्रियो रससिन्धुमन्थकोऽपि मज्जति, तत्रास्माकं का गतिरिति । किञ्च परमं अधमो, नीचगः, अगाधतले मग्नः । अतितुच्छस्त्रिसरेण्वादिरप्युच्चैराकाशे भ्रमति । अत्रास्माकं दासीत्वान्नीचैरेव गतिः, अत एव परमत्वम् । 'अहो !' इति विशादाश्चर्ये । चेष्टाकर्त्री सचित्ताजाता, कथमचेष्टितैव न तत्र मग्ना स्थिता ? अतो ममैव प्रेमरसन्यूनत्वम् । हा धिक् ! गर्ह्यं कर्म किं मया कृतम् । मत्प्रियापदरसाय लाञ्छनं दत्तं यदेवमहङ्काराविष्टा सखी प्रेमाभिमानवती कथं ह्रदान्निस्सृतवतीति । 'कर्मे'-त्यनेन दास्यकर्मैव मां सचित्तां कृतवदिति ।

रसकलश

आलिंगन में । अतः वे भी दूर ही हैं । भाव यह है कि ऐस में अपना दुखड़ा किससे कहूँ ? फिर भी 'जिस प्रकार आश्रित बन्दीजन प्रातःकाल आकर सोते हुए सम्राट् को उसके पराक्रम की गाथायें सुनाते हैं ? उसी प्रकार मैं भी कुंज के बहार से ही अपनी विज्ञप्ति सुनती हूं । तो इस प्रकार कहाँ तो कुंज-शय्या पर सोये हुए दम्पती और कहाँ मैं—अर्थात् सखी होने का मेरा अहंकार ! फिर रस-सरोवर की तुलना में तो मैं अत्यन्त तुच्छ अर्थात् अपदार्थ हूँ । कहा भी है—

'कहां तो मन्दबुद्धि मैं और कहाँ यह क्षीर-सागर का मन्थन ! जहाँ मन्दराचल डूब जाता है, वहां बेचारे परमाणु की क्या हस्ती है ?'

जहाँ रस सागर का मन्थन करने वाले प्रियतम भी डूब जाते है, वहाँ हम जैसों की क्या गति है ? दूसरे, मैं तो परम अधम हूं—नीचे की तरफ जाने वाला हूं और अगाध तले में पैठा हुआ हूं । अत्यन्त नगण्य त्रसरेणु आदि भी ऊपर आकाश में तैरते हैं, परन्तु दासियां होने के कारण हमारी गति निम्नमुख ही है। यही आशय है 'परम' का । 'अहो !' से खेद आश्चर्य प्रकट किये गये हैं । जिसे चेष्टा करनी चाहिए थी वही होश-हवाश में लौट आई! अच्छा तो यह होता कि निश्चेष्ट होकर वहीं सरोवर में डूबी पड़ी रहती । अतः अवश्य मुझ में प्रेम रस की कोई कमी है। धिक्कार है ! यह मैंने क्या निन्दनीय कृत्य कर डाला ? हाय ! मैंने प्रिया-चरण-रस को भी कलंकित कर दिया ! देखने वाले भी कहेंगे कि हितसखी को तो अपने सखी होने पर बड़ा नाज़ था; फिर यह रससरोवर में से बाहर क्यों निकल आई ? 'गर्ह्य कर्म' में कर्म शब्द की व्यंजना यह है कि दास्य-सम्बन्धी कर्तव्य ने ही मुझे सचेत कर दिया ।

यद्वाहङ्कारसम्बन्धान्ममत्वमप्याकृष्यते । तेन परस्मिन् कार्ये ममत्वं धमति-संधुक्षते, प्रकटयतीति यावत् । यदाहङ्कारः स्यात्तदा परस्मिन् ममत्व-मुत्पादयेदेव । अत्र परमकारणंतु मम प्रियापदनखच्छटारस एव यत्राहं मग्ना । परन्तु तत्कार्ये सखीत्वेऽहङ्कारो, दास्ये ममत्वम् । यदि च स एवा-हङ्कारस्तदपि मज्जने 'अहम्', 'रसः' इति न स्मृतिः । यथा 'सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषगुणाः' इति निर्देशवत् । अत्र मग्नोत्थानं दास्यग्रहणञ्च न्यूने न शङ्क्ये । इयन्तु विगलितवेद्यान्तरादपि सचेतनीभवनं हृदि प्रशस्योपादेयं मत्वोपरितो वक्रोक्त्या निन्दति, दास्यस्य मज्जनादपि सर्वो-त्कृष्टत्वात् । यथा—'भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी' इतिवत् । यथा च विहारिन-दासेन—'युगलरससहायाः कुञ्जहर्म्येऽप्रमत्ताः' इति । अतो वृन्दावनायैव

रसकशल

अथवा अहंकार के साथ ममता भी खिंची चली आती है। इससे होता यह है कि अहंकार दूसरे कार्य के सम्बन्ध में ममता को प्रज्वलित करता है (जैसे फूंक मारने से आग धधकती है)। इस स्थल पर यह ज्ञातव्य है कि 'परममधमः' का सीधा-सादा अर्थ है—अत्यन्त नीच। किन्तु श्लेष के बल पर दूसरा अर्थ निकालने के लिए टीकाकार ने उसके इस प्रकार के टुकड़े किये हैं—पर+मम+धमः, अर्थात् दूसरे कार्य के प्रति ममता को प्रेरित करने वाला। जब अहंकार होगा, तो दूसरे में ममता पैदा करेगा ही। यहाँ सबसे बड़ा कारण तो प्रियाजी की चरण-नख-छटा का रस ही है जिसमें कि मैं डूब गई थी। सखीत्व और दास्य उस कारण के कार्य हैं। सखीभाव में अहंकार है, दास्य में ममता है। यदि रस ही अहंकार है, तो भी डूब जाने के बाद अहेगत व्यष्टि और रस के रसत्व की स्मृति नहीं रहती। श्रीमद्भागवत् में भी ऐसा ही निर्देश किया है—'समुद्र में जैसे नदियाँ विलीन हो जाती हैं, इसी प्रकार सब के रस अपने विविध नाम और गुणों के सहित आपने माधुर्य में समा जाते है।[1]' यहाँ डूब कर बाहर निकलने तथा दास्य को स्वीकार करने में दोष नहीं देखना चाहिए। यथार्थता तो यह है कि श्रीहितसखी की दृष्टि में रसमग्नता से उत्पन्न आत्म विस्मृति की अपेक्षा सचेत अवस्था में रहना अधिक श्लाघनीय है। अतः मन में उसकी उपादेयता को समझते हुए भी वक्रोक्ति का आश्रय लेकर अपनी निन्दा करती हैं, क्योंकि रस में मग्न रहने की अपेक्षा दास्य की महिमा कहीं अधिक है। कहा भी है—'सिद्धि से भक्ति श्रेष्ठ है।' श्रीविहारिन दास भी कहते हैं—'सखियाँ सावधान रह कर ही युगल-रस में सहायक होतीहैं।' इसी-लिए श्रीहितसखी श्रीवृन्दावन को ही सारा श्रेय देती हैं। सावधान रहने की बात कह कर दम्पती पर कटाक्ष भी किया है कि 'अपना काम ही सबसे बड़ा काम है— इस न्याय

१. श्रीमद्भागवत-१०/८७/३१

यशो ददाति । दम्पती प्रत्यप्रमादाकरणे कटाक्षः । निजकार्यं महत्कार्यमिति न्यायेन कथं प्रभुत्वेन परवेदनां जानीथः । स्वरसे मग्नौ भूयास्ताम् । मम सचेतनत्वे वृन्दावनस्यैष महिमा यदेतादृशविस्मृतौ भवन्नाम्नोऽपि स्फुरणं कृतम् । क्वासौ राधा, कृष्णेति सुषुप्त्यनन्तरं स्ववस्तुनिश्चयीकरणनिरीक्षणादिवत् । किञ्च 'सकलमपि ददौ राधिकाकिङ्करीणाम्' इत्यस्यैव दातृत्वप्रसिद्धेः । 'सर्वस्व'मत्र रसमज्जनात् परं दास्यमिति सर्वागम्यम् । इदानीं हिताल्यस्मीत्यहङ्कारो लब्धस्तत उत्थितमात्रे नामस्मरणं यथा रङ्कविधिवत् । अतस्तु पुरतः सर्वं विहारावलोकनपरिचर्यादि भविष्यत्येव, न बिभेमीति भावः ॥२६०॥

नचेदं श्रीवनमेतावदेव शक्तम् । किञ्चान्यदपि वनीयस्त्वेन प्रार्थयितुं मां प्रेरयतीत्याह—

रसकलश

के अनुसार, आप तो प्रभु हैं, दूसरे की वेदना को भला क्यों जानने लगे ? आप दोनों तो रस में मग्न होकर मजे में रहे । यह श्रीवृन्दावन की ही महिमा है कि इस प्रकार आत्मानुसन्धान खो देने पर भी आपका नाम मेरे हृदय में प्रकट हुआ । गहरी नींद से उठने के बाद जैसे कोई आश्वस्त हो जाना चाहता है कि मेरी सब चीजें यथावत् विद्यमान हैं कि नहीं, वैसे ही रसमग्नता की अवस्था में से बाहर आकर मुझे भी पहली चिन्ता यही देखने की हुई कि 'कहां हैं श्रीराधा ? कहाँ है श्रीकृष्ण ? दूसरी बात यह है कि 'युगल में जो कुछ आस्वाद योग्य था, वह सब का सब वृन्दावन ने श्रीराधा की किङ्करियों को दे दिया ।' इस उक्ति के अनुसार वृन्दावन की दानशीलता प्रसिद्ध है । इस उद्धृत पद्य में 'सकलम्' (सर्वस्व) का तात्पर्य यह है कि वृन्दावन ने श्रीराधा की किङ्करियों को वह दास्य दे दिया जो रसावगाहन से भी श्रेष्ठ है तथा सबके लिए अगम्य है । अब यह असंभावात्मक ज्ञान हुआ कि मैं हितसखी हूं । और फिर रस सरोवर से निकलने के बाद ही नाम-स्मरण किया, मानों रंक को खजाना हाथ लग गया हो । यहां से आगे तो विहार के दर्शन का तथा दम्पति की परिचर्या आदि का लाभ मिलेगा ही, अतः मुझे किसी प्रकार डरने की आवश्यकता नहीं ॥२६०॥

यह नहीं समझना चाहिए कि श्रीवृन्दावन की इतनी ही ताकत है । मेरे वनवासी होने के कारण यह तो मुझे कुछ और भी मांगने को प्रेरित कर रहा है । उसी का विवरण देते हैं—

वृन्दारण्ये नवरसकलाकोमला प्रेममूर्तिः,
श्रीराधायाश्चरणकमलामोदमाधुर्यसीमा ।
राधां ध्यायन् रसिकतिलकेनात्तकेलीविलासां,
तामेवाहं कथमहि तनुं न्यस्य दासीभवेयम्।।२६१।।

अत्र वने श्रीराधायाः प्रेममूर्तिर्वर्तते, इत्यन्वयः । न चैश्वर्यव्यवहृत्यादिनियमव्यामिश्रत्वमिति । न चात्र मूर्तितद्वतोर्भेदः शङ्क्यः । एतत्तु वेदतन्त्रादिप्रतिपादितशक्तितत्ववाद्यपेक्षयोक्तम् । नेयं भवादृशज्ञेया । किञ्च प्रेमरसमय्येवेति पूर्वं दूरत्वमुक्तम् । तेन सजातीयान् समाधत्ते—अत्रैव वर्तते । 'प्रेम' इत्यनेनाबहुसाधनसाध्यत्वं, स्नेहवशत्वन्निर्दिष्टम् । तेन 'कोमले'-ति करुणार्द्रा, परमसुकुमारी स्वपरयो रूक्षकार्कश्यादि न सहते इति । पुनश्च नवरसकलाः शिल्पानि यस्याम् । परमास्वादमयलीलावती

रसकलश

"श्रीवृन्दावन में नवीन रस-शिल्प से विशिष्ट, कोमल (करुणा से द्रवित) तथा चरण-कमलों की सुगन्ध में माधुर्य की सीमा से युक्त श्रीराधा की प्रेममूर्ति-विराजमान हैं। रसिक-शेखर के साथ केलिविलासों को अंगीकार करने वाली उन श्रीराधा का ही ध्यान करता हुआ मैं इस शरीर को छोड़ कर दासी कब बनूंगा ?" ।।२६१।।

इस वन में प्रेम मूर्ति श्रीराधा हैं—यह अन्वय है। 'प्रेममूर्तिः' कह कर स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ के प्रेम में ऐश्वर्य-व्यवहार से संबंधित नियमों की कोई मिलावट नहीं है। यह शंका भी नहीं करनी चाहिए यहाँ मूर्ति और मूर्तिमान में भेद-निर्देश किया गया है। यह तो वेद, तंत्र आदि में प्रतिपादित शक्ति-सिद्धान्त को मानने वालों को ही दृष्टि में रख कर कहा गया है। इन लोगों से श्रीहिताचार्य का कहना है कि आप जैसे लोग श्रीराधा का मर्म नहीं पहिचान सकते। श्रीराधा तो प्रेम-रस-स्वरूप ही हैं, और जैसा कि पूर्व पद्य में बताया जा चुका है, वे तो निगम-पदवी से बहुत दूर हैं। अतः अपने ही पक्ष के साधकों को समझाने के लिए कहते हैं—श्रीराधा यहीं हैं। 'प्रेममूर्ति' में प्रेम शब्द से यह घोषित किया है कि श्रीराधा की सिद्धि के लिए बहुत साधनों की आवश्यकता नहीं। वे तो स्नेह के वश में हैं, अत एव कोमल हैं; उनका हृदय करुणा से भीगा हुआ है। वे तो परम सुकुमारी हैं और स्वभाव की इतनी कोमल कि अपना हो या पराया, किसी की नीरसता या कठोरता उन्हें सह्य नहीं है। फिर उनमें नव रस कलाएँ—शिल्प हैं—अर्थात् वे आस्वाद से परिपूर्ण लीलाओं से सम्पन्न हैं। ये वे

न केवलमाहात्म्यैश्वर्यप्रकाशककलावतीति रसं प्रेमाणञ्ज सैवानायासेन दास्यति ददाति चेति भावः । पुनश्चरणकमलयोरामोदे सौरभे माधुर्यस्यावधिर्यस्याः । तदान्यावयवेषु माधुर्यस्य किं वक्तव्यमिति । अत एव चरणविहृतिभूमावपि 'परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा' इत्युक्तिः 'राधापदांकविलसन्मधुरस्थलीके' इत्युक्तिश्च घटत एव । 'अवधि'-रिति 'कोटिप्राणाभ्यधिकपरमप्रेष्ठपादाब्जलक्ष्मीः' इत्युक्तत्वात् । अनेन वनविहारो ध्यातः स्वस्य च सौरभाघ्राणमपि व्यक्तम् । अत अहन्तु तादृशीं माधुर्यमयीमेव राधां परमसिद्धि ध्यायन् । कीदृशीम् ? रसिकतिलकेन सहात्तोऽङ्गीकृतस्तदानन्दार्थं केलीनां विलासो यया । यद्वा स्वयं बहिरननुकूलैवात्तोऽन्तर्भावितणिजर्थेन ग्राहित इति । तदा केलिविलासो यामिति । वा तेनात्तो विलासो यस्याः । रसन्तु रसिक एव गृह्णातीति । एषापि नवरसकलावती प्रेममूर्तिर्माधुर्यसीमा । अयमपि तिलकत्वेन शिरो-

रसकलश

कलायें नहीं हैं जो कि महात्म्य किं वा ऐश्वर्य को व्यक्त करती हैं, अतः वे ही, बिना किसी प्रयत्न के रस और प्रेम को देती हैं और देंगी—यह भाव है। इसके अतिरिक्त उनके चरण-कमलों के आमोद=सुगन्ध में माधुर्य की सीमा है। (विग्रह होगा—चरण-कमलों के आमोद में है माधुर्य की सीमा जिसके।) जब चरणों के माधुर्य का यह हाल है, तो अन्य अंगों के माधुर्य के सम्बन्ध में तो कहा ही क्या जाय ! इसीलिए जिस भूमि में उनके चरण विहार करते हैं उसके सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा है कि 'श्रीवृन्दावन परम रसमय सुधा-माधुरी का मूल स्रोत है (१७५), यह कि वह मधुर स्थली श्रीराधा के चरण-चिन्हों से सुशोभित हैं (१३)। श्रीराधा के चरण-कमल माधुर्य की सीमा=अवधि हैं, तभी तो 'उनकी शोभा श्रीगोविन्द को कोटि-कोटि प्राणों से भी अधिक प्रिय है (१५६)। इससे सूचित होता है कि प्रस्तुत वर्णन करते समय ग्रन्थकार के ध्यान में वन-विहार का दृश्य घूम रहा था और वे चरण-कमलों की सुगन्ध भी सूँघ रही थीं। श्रीहितसखी कहती हैं कि इन्हीं सब कारणों से मैं तो उस प्रकार की माधुर्यमयी और परम सिद्धिस्वरूपा श्रीराधा का ही ध्यान करती हूं। श्रीराधा के विशेषण देते हैं—रसिक-शिरोमणि के साथ, उन्हें आनन्द प्रदान करने के लिए केलि-विलास को स्वीकार करने वाली। अथवा 'आत्त' (स्वीकृत) शब्द में प्रेरणार्थ को निहित मान कर यह अर्थ भी किया जा सकता है—श्रीराधा ऊपर से वाम ही रहीं अतः प्रियतम ने ही अनुनय-विनय द्वारा उन्हें केलि-विलास के लिए तैयार किया। अथवा यह कि प्रियतम ने उनके केलि-विलास को अंगीकार किया, क्योंकि रस का भोग तो रसिक ही करता है। श्रीराधा नव रसकला से सम्पन्न हैं, प्रेम की मूर्ति और

मणिः परमास्वादी रसवेत्तात्यतृप्त इति। अनेन समानद्वन्द्वत्वमुक्तम्। तदात्रत्यानन्दस्य परमहितायाः किमुच्यते, इति ध्वनिः।

एवं प्रियेण सह सविलासां ध्यायन्निति चिन्तनमिति भाग्योत्कर्षप्रकारेण कुर्वाणसमय एव तनुं प्रसिद्धपुंस्त्वाभासभौतिकमयीं इहैव वने न्यस्य त्यक्त्वा 'कथ'-मिति भाग्योत्कर्षप्रकारेण 'दासी' तादृशोक्तरसप्रेममूर्तिपरिचरणार्हकिङ्करी भवेयमित्याशंसनम्। यद्वा 'कथ'-मिति दुर्लभप्राप्तौ सविस्मयं प्रश्नत्वव्यञ्जनं कदैवमपि स्यादिति।

अथवा वृन्दारण्ये वस्तुत्रयं वर्तते, इत्यन्वयः। 'नवरसशिल्पाम्' इति कार्यावस्थां प्राप्तो रस अत्रैवास्ते, बीजवटवत्। 'कोमला' इति देहलीदीपन्यायेन रसशिल्पमपि मृदु, प्रेममूर्तिरपि मृदुरिति। अनेन रसप्रेम्णोरैश्वर्यनियमादिकार्कश्यं परिहृतम्। यथा सविस्तरो रसस्तथैव प्रेम्णः सावयवत्व-

---

रसकलश

माधुर्य की सीमा हैं। उधर श्रीकृष्ण भी रसिक-धौरेय होने के कारण रसिक-शिरोमणि, हैं, आस्वाद के भोक्ता हैं, रसज्ञ हैं और अतृप्त हैं। इस प्रकार यह जोड़ी किसी बात में एक-दूसरे से कम नहीं है। ऐसे में यहाँ के आनन्द की औचिती के सम्बन्ध में क्या कहा जाय?—यह भाव है।

इस प्रकार प्रियतम के साथ श्रीराधा के विलासों का ध्यान करता हुआ— चिन्तन करता हुआ और ध्यान करते समय ही अपने भाग्य के उत्कर्ष को सराहता हुआ इस पाञ्चभौतिक शरीर को इस वन में ही छोड़ कर किस प्रकार, पूर्व-वर्णित रूप से, रस एवं प्रेम की मूर्ति श्रीराधा की चरण परिचर्या के योग्य किङ्करी बनूंगा। इस प्रकार 'कथम्' द्वारा हृदय की अभिलाषा व्यक्त की है। श्रीहिताचार्य के शरीर में तो कहने भर को पुरुषत्व का आभास मिलता है, अन्यथा जो किङ्करी बनने की आकाँक्षा रखता है उसका क्या तो पुल्लिग और क्या स्त्रीलिंग? 'कथम्' की दूसरी व्यंजना यह भी संभव है कि किङ्करी पद को प्राप्त करना दुर्लभ मान कर आश्चर्यपूर्वक अपने आप से प्रश्न कर रहे हैं कि क्या कभी यह भी संभव है कि मैं दासी बन जाऊँ।

अथवा श्रीवृन्दावन में तीनों वस्तुएं विद्यमान हैं— यह अन्वय है। (ये तीन वस्तुएं हैं— नव रस-शिल्प, प्रेम की मूर्ति और माधुर्य की सीमा।) रस को यहाँ सिद्धावस्थापन्न समझना चाहिए। (यह वह अवस्था है जब विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से निष्पन्न होते रहने की प्रक्रिया में वह सामाजिकों की चर्वणा का विषय बनाता है।) रति तो बीज रूप में पहले ही से अन्तरात्मा में सोई हुई रहती ही है। अनुकूल उपादान पाकर वह, बीज से वृक्ष की तरह, रसावस्था को प्राप्त कर अनुभूति-

कथनेन साङ्गोपाङ्गता। पुनश्च श्रीमत्यां पदमाधुर्यसीमाप्यत्रैवेति सीमोक्ते नित्यसमवायिवत् सम्बन्धो ध्वनितः। 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति' इति पदशब्देन स्मारितम्। अग्रे स्पष्टम्।

अथवा तनुशब्दसन्निधानेन यया तन्वा ध्यायंस्तामेवेत्यर्थः। कीदृशी दासीति तदर्हतया विशिनष्टि—नवरसरूपयोर्द्वयोरंशिनोरंशमयत्वात् कला, अर्थादहमपि रसमय्येव, रसमयलोके रसदेहसम्भवात्। यद्वा नवं नवं रसमुभयोः कलयति, गायति, वर्णयति, पश्यति, उद्दीपयतीति सा। कलुवलू धातू कामधेन्वर्थेन यथासहृदयवेद्यार्थकौ। यथा 'कैङ्कर्येणाद्भुतरसेनैव मां स्वीकरोतु' इत्युक्तेः। यद्वा गानवाद्यनाटचकाव्यादिचतुःषष्ठिकला अपि कौशलत्वाद्यस्यामिति च। 'स्वयं च सकलाकलासु कुशलीकृता नः कदा

रसकलश

गम्य बनती है। 'प्रेममूर्ति' के पूर्व प्रयुक्त 'कोमला' विशेषण देहली दीप न्याय से रस कला की भी विशेषता का बोध कराता है—अर्थात् रसकला भी कोमल है और प्रेममूर्ति भी। यह भी सूचित किया गया है कि रस और प्रेम दोनों ऐश्वर्य और नियम आदि के बन्धनों से मुक्त हैं, अतः उनमें किसी प्रकार की कठोरता नहीं है। जिस प्रकार यहाँ विस्तारपूर्ण है, वैसे ही प्रेम अपने सब अंगों से युक्त होकर सम्पूर्णता की स्थिति में रहता है। फिर श्रीमती के पदमाधुर्य की सीमा भी यहीं है। 'सीमा' शब्द द्वारा श्रीवृन्दावन और माधुर्य के बीच, समवाय संबंध की तरह, नित्य सम्बद्धता व्यक्त की है। 'चरण' शब्द का उपादान कर यह स्मरण दिलाया है कि 'भगवान् वृन्दावन से बाहर एक पैर भी नहीं रखते'। आगे का अर्थ स्पष्ट है।

अथवा 'तनु' शब्द के निकटवर्ती होने से यह अर्थ भी लग सकता है कि जिस शरीर से मैं ध्यान करता हूं उसी को छोड़कर। योग्यता की दृष्टि से अब 'दासी' का विशेषण देते हैं। (अब तक की व्याख्या नवरतिकला, कोमला, प्रेममूर्ति और माधुर्यसीमा को राधा का विशेषण मानकर की है। अब इन चारों को श्रीहितसखी का विशेषण मान कर अर्थ करते हैं।) नव-रसस्वरूप दोनों अंशियों का अंश होने के कारण मैं भी कला हूं—अर्थात् रसमयी हूं। रसमय लोक में रसमय शरीर ही उत्पन्न होता है। ('नवरसकला की सखीपरक दूसरी व्याख्या—) अथवा प्रिया-प्रियतम दोनों से सम्बन्धित नवीन रस का श्रीहितसखी मनन करती है, गान करती हैं, उसका वर्णन करती हैं, साक्षात्कार करती हैं उद्दीपन करती हैं। 'कलु और बलू इन दोनों धातुओं का अर्थ अभिलाषाओं की पूर्ति करना है, अतः 'कला' का अर्थ सहृदयों को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार लगा लेना चाहिए। इसी स्तव में कहा है—'अद्भुत तथा नवीन रसमय अपना कैङ्कर्य

सुरासमधुरोत्सवे किमपि वेशयेत् स्वामिनी' इत्युक्तेः । 'कोमला' इति 'दिव्यकोमलवपुः स्वीयं समालोकये' इति वक्ष्यत्येव । न केवलं वपुरेव, मनोवाक्कायाद्यन्तर्बहिः सर्वक्रियासु सलावण्यं परमसौकुमार्यं ध्येयम्, न च दास्यत्वेन कार्कश्यमात्रस्याप्याभास इति । किञ्च तादृशपरमसुकुमारी-सामीप्यार्हत्वात् ।

पुनश्च प्रेम्णो युगलसम्बन्धिनः स्नेहस्य हितस्येति मूर्तिः साङ्गो-पाङ्गयाथार्थ्यं यस्यामिति, दासीनामुभयसन्धित्वात् याथार्थ्यज्ञानं विना न तत्तदिङ्गिताद्यनुसरणं शक्यं स्यादिति । यद्वा 'प्रेमैकमूर्ति'-रिति प्रेमपत्तन साम्यात्, यथा भौतिके भौतिकमिति । अत्र ततोऽप्युभयसम्बन्धिप्रेमैव ग्राह्यः । अनेन स्वस्य हितमयसखीत्वं व्यञ्जितम् । मूर्तित्वेन घनत्वकथनात् सर्वाभ्योऽपि स्वस्यान्तरङ्गसाचिव्यं पूर्णप्रेमास्पदत्वञ्च व्यक्तम् । अत एव

रसकलश

प्रदान कर ही मुझे स्वीकार करें । (२५६) । अथवा गान, वाद्य, नाटच, काव्य-रचना आदि चौंसठ कलाओं में प्रवीण होने के कारण श्रीहितसखी 'नवरसकला' हैं । कहा भी है—'स्वयं समस्त कलाओं में निष्णात श्रीस्वामिनी क्या हम सखियों को कभी मधुर रस के उत्सव में प्रविष्ट करेंगी ?' (पद्य-११२ । 'कोमल' से वही तात्पर्य है जैसा कि एक अग्रिम पद्य में व्यक्त किया गया है—'तेजोमय भाव के अनुरूप अपने दिव्य, कोमल शरीर को कब देखूंगा ?' (२६६) । शरीर कीं ही कोमलता से तात्पर्य नहीं है यहाँ, बल्कि यह कि मन, वाणी, शरीर आदि के द्वारा दृश्य तथा अदृश्य रूप में किए गए सब कार्य लावण्य-संपन्न सुकुमारता को लिए हुए हों दासत्व के कारण किसी अंश में कठोरता का आभास तक नहीं होना चाहिए । वैसी सुकुमार स्वामिनी जब निकट हों, तब तो यही होना चाहिए ।

और फिर श्रीहितसखी प्रेम की, युगल-सम्बन्धी स्नेह को बराबर हित की मूर्ति हैं । 'मूर्ति' का भावार्थ यह है कि प्रेम के जितने भी अंग और उपांग हैं, उन सब की यथार्थ अभिव्यक्ति श्रीहितसखी में ही होती है । दासियाँ तो प्रिया-प्रियतम के बीच की कड़ी हैं, अतः जब तक उन्हें यथार्थ का ज्ञान न हो, तब तक उनके लिए दम्पति की विविध चेष्टाओं और हार्दिक आशय को समझ कर तदनुकूल आचरण करना कैसे संभव है ? अथवा वृन्दावन प्रेम-नगर है और श्रीहितसखी उसमें प्रतिष्ठित प्रेम की प्रतिमा हैं । भौतिक सत्ता का प्रतिनिधित्व तो भौतिक मूर्ति को ही करना चाहिए । इस अर्थ में भी श्रीहितसखीगत प्रेम को दम्पति-विषयक ही मानना होगा । इस कथन से यह ध्वनित होता है कि श्रीहितसखी अपने को हितस्वरूप मानती हैं । 'मूर्ति' शब्द

श्रीराधायाश्चरणकमलामोदमाधुर्यस्य सीमावधिभूताधिकरणम् । अर्थात-न्माधुर्यमय्येव वर्तते । श्रीमत्यापि प्रसन्नतमं दास्यामोदः सेवा च मय्येव धृतेति । तदनुसारेण बहिरपि तद्रूपगुणदास्योत्कर्षामोदं प्रवर्तयामि, अन्तस्तु वर्तत एवेति भावश्च । श्रीप्रबोधैरपि 'चरणकमलज्योतिरुद्भूतफेनस्तवक-मयतनूः' इत्युक्तेश्च । तच्चरणामोदत्वं सखीनां व्यक्तमेव । अतस्तादृशार्ह-सेवारूपलोभेन तदार्त्या तनुन्यासमिच्छतीति । यद्वा यया चैवं ध्यानभजना-नन्दोत्सवादि सिद्धं, अमुष्मिन् भावि चेति, तां तनुं कथं न्यस्य दासीभवेय-मिति किञ्चिद्विच्छेदशोकः, यथानुभूतपतिसौभाग्यानन्दवध्वाः श्वासुर्य-प्रस्थाने जन्मभूमिपितृगृहत्यागजशोकवत् ।

आन्तरापेक्षा चेदेवम्—उभयोर्विहारसमये बहिः स्थिता तदवलोकन सेवनोत्का प्राह—इह 'कुञ्जबहिर्द्वारे तनुं अवयवादिविस्तारमयी, सख्यरस-

---

रसकलश

द्वारा प्रेम की सघनता तथा अन्य सखियों की तुलना में अपना अन्तरङ्ग मन्त्रित्व तथा प्रियाजी का पूर्ण कृपापात्र होना व्यक्त किया है । इसीलिए वे श्रीराधा के चरण-कमल के सौरभ की माधुरी की सीमा का आधार हैं—अर्थात् तत्संबन्धी माधुरियों से विशिष्ट हैं । श्रीमती ने भी अत्यन्त प्रसन्न होकर दास्य—सम्बन्धि सुगन्ध (दास्य-जनित हर्ष) तथा सेवा-भाव की स्थापना मुझ में ही की है । तदनुसार मैं निकुंज के बाहर भी (आचार्य रूप में) प्रियाजी के रूप और गुणों के तथा अपनी दासता के वैभव की सुगन्ध को बाहर फैलाती हूं । निकुंज के अन्दर तो इस सौरभ की स्थिति पहले से ही है । यह भाव है । श्रीप्रबोधान्द ने भी सखियों के शरीर को 'श्रीराधा के चरण-कमल के ज्योति समुद्र के फेन-स्वरूप' कहा है । यह तो स्पष्ट ही है कि सखियाँ प्रियाजी के चरण-कमल की सुगन्ध-स्वरूपा हैं । अतः प्रियाजी की सेवा के योग्य शरीर-प्राप्ति के लोभ में श्रीहितसखी, उसके बिना पीड़ा का अनुभव करती हुई, वर्तमान शरीर को छोड़ देना चाहती हैं । अथवा जिसके द्वारा भजन और आनन्द के उत्सव सम्पन्न हुए और भविष्य में होंगे, उस शरीर को कैसे छोड़ कर दासी हो जाऊँ—इस प्रकार का शरीर छोड़ने का दुःख भी उन्हें सता रहा है—ठीक वैसा ही दुःख जैसा कि पति के संयोगानन्द का अनुभव करने के बाद भी सुसराल को बिदा होतो हुई किसो नवेली को अपनी जन्म-भूमि और नैहर छोड़ते वक्त होता है ।

अन्तरंग पक्ष में अर्थ इस प्रकार करना होगा—प्रिया-प्रियतम जब निकुंज में विहार-मग्न थे, तो बाहर बैठी श्रीहितसखी उनके दर्शन एवं सेवा के लिए उत्कंठित

विशिष्टां, हास्यादिसङ्कोचोत्पादिकां न्यस्य संस्थाप्य दासी तत्केलीसमयोपकरणसमसेवानार्हा, वा मानसिकमय्येव कदा भवेयमिति यथोभौ सङ्कोचे कुर्याताम् । यथा श्रीचतुरशीतौ—'बारि फेरि देत प्रान देह सौं दुरी'' इति । तादृशस्वप्राणदेहादेरपि प्रच्छन्ना सेवार्थं सूक्ष्मतां काङ्क्षतीति ज्ञेयम् । तेनैवाधिदैविकवत् सौक्ष्मत्वेन विशिनष्टि—नव रसैकमूर्तिः कोमला च । यत्र सौकुमार्यविहारे कोऽपि कार्कश्याभासो न ज्ञायेत । केवल प्रेमैकमूर्तिश्च । अर्थात्तयो रसे कलारूपेण चन्द्र इव मिलिता स्याम् । एवमेव प्रेममूर्तौ सौकुमार्याङ्गविहारे च मार्दवरूपेण, चरणकमले आमोदरूपेण चेति भावः ।

रसकलश

होकर कहती हैं—यहाँ कुंज के बाहर दरवाजे पर हाथ-पैर आदि अंगों के जमघट से युक्त, सख्य रस से विशिष्ट और हास-परिहास द्वारा युगल को संकोच पैदा करने वाले इस शरीर के पूरे लबाज़मा को कहीं रख कर इस योग्य हो जाऊँ कि विहार कालीन सामग्रियों की भाँति मैं भी दम्पति की सेवा के उपयोग में आ सकूं, किंवा लिङ्ग-शरीर मात्र रह जाऊँ, ताकि मेरे कारण युगल को कोई संकोच न हो। श्रीहितचातुरासी में कहा है—'चन्द्र, चाली आदि विविध भेदों से युक्त सुधंग नृत्य को देख कर अपने को छिपाये हुई सखियां दम्पति पर अपने प्राण निछावर कर रही हैं। श्रीहितसखी भी इसी रीति से प्राण और शरीर से भी अपने को गोपनीय रख सूक्ष्म शरीर धारण कर लेना चाहती हैं। इसी कारण देवताओं की भाँति सूक्ष्म, वायवीय रूप प्राप्त करने की इच्छा से विशेषणों द्वारा अपना आशय व्यक्त करती है—'नवरसकला कोमला प्रेममूर्तिः' केवल नव-रस-स्वरूपा और साथ में कोमल, ताकि विहार के सुकुमार (नाजुक) अवसर पर स्थूल शरीर द्वारा किसी प्रकार की कठोरता का आभास भी न हो पाये। इसके अतिरिक्त केवल प्रेममूर्ति हो जाना चाहती हूं—अर्थात् कला बन कर दोनों के केलि-रस में ऐसे धुलमिल जाऊं जैसे चन्द्रमा में उसकी किरणें। इसी प्रकार प्रिया-प्रियतम सुकुमार अंगों से जब विहार कर रहे हों, तो कोमलता बन कर उनमें समा जाऊँ और उनके चरण-कमलों से सुगन्ध की तरह एकाकार हो जाऊँ—यह भाव है।

श्री हितचतुरासी का पूरा पद नीचे दिया जाता है—

आज नागरी किशोर भावती विचित्र जोरि
कहा कहौं अंग-अंग परम माधुरी।
करत केलि कंठ मेलि बाहु-दंड गंड मंड
परम सरस रास लास मंडली जुरी।
श्यामसुन्दरी बिहार बांसुरी मृदंग तार
मधुर घोष नूपुरादि किंकिनी चुरी।
देखत हरिवंश आलि, निर्तनी सुधंग चाल
बारि फेरि देत प्रान देर सौं दुरी॥ (पद–१०)

तत्र तादृशमहारसेऽपि स्वनिष्ठामाह—चरणकमलामोदमाधुर्यस्य दास्य-रसास्वादस्यैव धारिका। अहो! कथं मत्स्वामिन्या आनन्दः सौभाग्योत्कर्षश्चेति प्रतिरोम हर्षरससिन्धूज्जृम्भ इति। 'सीमा' इत्यनेन तदानीं चरणशोभां पश्यन्ती तच्छोभामोदं हृदये निदधाति, संवाहनध्याने च तत्सौरभमाघ्राय तदानन्दञ्चेत्याधारत्वं व्यज्यते। एतद्रहोमाधुर्यस्याहमेवावधिः, मत्कथित-मन्ये प्राप्नुयुर्न मामतिक्रम्येति सीमवत्। अत्र रसिकतिलकसहकृत विलासे ध्यानमेवार्हणीयानन्दः, तेन 'ध्यायन्' इति उक्तम्। पुंस्त्वं तु तदानीं ध्यानस्य सर्वसखीजनसाधारण्यात्। अत इमौ तु मत्तौ, भीतौ तत इमां तनुमत्रैव न्यस्य रसप्रेममार्दवादौ प्रविष्टा तत्रैव दास्यं करोमीति। तत्र वेद्यान्तराभावशक्तावपि दास्योत्कर्षप्रभावाद्रसप्रेमामोदादिरूयाण्यन्तर्वर्तिनी-च्छारूपेण सचित्ता तत्तदनुभवामीति भावः ॥२६१॥

रसकलश

अब उस प्रकार के महारस के सम्बन्ध में भी अपनी निष्ठा को बताते हैं—'चरणकमलामोदमाधुर्यसीमा।' चरण-कमलों के सौरभ के माधुर्य को—अर्थात् दास्यानन्द को ही धारण करने वाली। अहा! मेरी स्वामिनी को कैसा आनन्द आ रहा है। उनके सौभाग्य का यह कैसा चरम उत्कर्ष है!—प्रतिक्षण यही सोचते हुए मुझ में, प्रसन्नता के कारण, रस-समुद्र उमड़ता रहे। 'सीमा' का आन्तरिक भाव यह है कि उस समय चरण-शोभा को निहारती हुई मैं उसे अपने हृदय में स्थान देती हूं और उन चरणों की सेवा तथा उनका ध्यान करती हुई उनकी सुगन्ध को सूँघ कर तज्जनित आनन्द को भी आत्मसात् करती हूं। इस प्रकार व्यंजना यह है कि श्रीहितसखी ने यहां चरणों के आमोद-माधुर्य का और संवाहन तथा ध्यान से होने वाले आनन्द का अपने को आधार माना है। इस एकान्त माधुर्य की अवधि मैं ही हूं। औरों के हाथ इस माधुर्य का उतना ही अंश पड़ता है, जितना कि मैं उन्हें बताती हूं। सीमा का जैसे उल्लंघन नहीं किया जाता है, वैसे ही माधुर्य और आनन्द के क्षेत्र में मुझ से आगे कोई नहीं बढ़ सकता। यहां रसिक शेखर के साथ घटित होने वाले विलास में ध्यानजन्य आनन्द ही सर्वोपरि है, इसीलिए 'ध्यायन्' कहा है। स्वयं सखी होते हुए भी 'ध्यायन्' का पुल्लिङ्ग प्रयोग इस आशय से किया है कि इस प्रकार का ध्यान, साधारणतया सब सखीजन कर सकते हैं। प्रिया-प्रियतम मेरी शारीरिक उपस्थिति में संकोच का अनुभव करते हैं, अतः इस भौतिक शरीर को यहीं छोड़कर रस, प्रेम कोमलता आदि के साथ भावात्मक रूप में एकाकार हो कर वहीं दासता करूंगी। आत्मविस्मृति उस अवस्था में भी होती है, पर दासत्व का प्रभाव उससे सबल बैठता है, अतः रस, प्रेम, आनन्द

ननु साधकदृश्यतनुत्यागं यदीच्छसि तदा वनयमुनाद्यप्यलौकिकदासीदेहं प्राप्य लोकान्तरस्थं भविष्यतीत्याशङ्कायामुभयदेहनिर्विशेषस्वानुभवेनैक्यमेव विविक्षुः परमविरहार्तिभरेण साश्रुगद्गदं सप्रणामं वदति—

हा कालिन्दि ! त्वयि मम निधिः प्रेयसा खेलितोऽभूद्
भो भो भो दिव्याद्भुततरुलतास्तत्करस्पर्शभाजः ।
हे राधाया रतिगृहशुकाः ! हे मृगा ! हे मयूराः !
भूयोभूयः प्रणतिभिरहं प्रार्थये वोऽनुकम्पाम् ।।२६२।।

रसकलश

(या सौरभ) का रूप धारण करके भी आन्तरिक इच्छा की प्रेरणा से सावधन रहती हुई, उन सब का भोग करती हूं (या करूंगी)—यह भाव है[1] ।।२६१।।

शंका होती है कि साधक के रूप में दृष्टिगोचर होने वाले शरीर को यदि छोड़ना चाहते हो, तो एक दुखद प्रसंग यह खड़ा हो सकता है कि (आपके उदाहरण का अनुसरण कर) वन, यमुना आदि भी अलौकिक दासी शरीर को पाकर दूसरे लोक को चले जायेंगे। इस आपत्ति का निराकरण करने के लिए, अपने अनुभव के बल पर स्थूल और सूक्ष्म शरीर की एकता प्रतिपादन करने की इच्छा से, उत्कट विरह-पीड़ा के दबाव के कारण आँसू-भरे गद्गद् स्वर में प्रणाम पूर्वक कहते हैं—

'हे यमुने ! तुम्हारे जल में मेरी निधिस्वरूपा स्वामिनी अपने प्रियतम के साथ खेली थीं। हे अलौकिक और आश्चर्यजनक वृक्ष और लताओं ! आपने उनके हाथ से स्पर्श किये जाने का आनन्द लूटा है। श्रीराधा के रति-गृह में रहने वाले हे शुको ! हे मृगो ! हे मयूरो ! मैं बार-बार प्रणाम करके आप सब की दया चाहता हूं ।। २६२ ।।

---

१. कई एक प्रतियों में पद्य के प्रथम चरण में 'नवरसकलाकोमलप्रेममूर्तेः' पाठ मिलता है और द्वितीय चरण में 'सीमा' तथा 'सीमाम्' दोनों। इन पाठ भेदों के कारण अर्थ में जो भेद हो जाता है, वह ज्ञातव्य हैं,

रसकुल्याकार द्वारा स्वीकृत पाठ में नवरसकला, कोमला और प्रेममूर्ति को पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पद माना है और तीनों को राधा अथवा श्रीहितसखी का विशेषण बताया है। अन्य महानुभावों ने 'नव' से लेकर 'मूर्तेः' तक को समासान्त पद मान कर अर्थ दिया है। रसकुल्यानुसारी अर्थ प्रारम्भ में दिया जा चुका है।

पाठान्तर के अनुसार अर्थ निम्नलिखित होगा—

(१) श्रीवृन्दावन मे रसिक शिरोमणि के साथ विलास करने वाली उन्हीं श्रीराधा का ध्यान करता हुआ मैं अपने इस शरीर को धरोहर के रूप में यहाँ रख कर नव-रस-कलाओं से कोमल

हाशब्दो सम्बोधने पद्यादौ स्वेष्टादर्शनमहार्तिसूचको, यथा हा मातरिति पोष्यपोषकसम्बन्धेन यस्या महानैकटयं, मात्रेव यत्पयसा पोषितोऽनवगणित-बीभत्सशङ्कया ययान्तर्बहिः स्वकरेणैव शोधितस्तेन तादृश नैरन्तर्यममत्वे-नार्तिश्रवणपात्रतां शक्तिमत्ताञ्च ज्ञात्वा विश्रम्भेण कालिन्दीं प्रति हाशब्दो दत्तः—कथं त्वमपि मामुपेक्षसे, इति । शक्तिमत्ता यथा—

पञ्चयोजनविस्तीर्णं वनं मे देहरूपकम् ।
कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृतवाहिनी ।।

रसकलश

पद्य के प्रारम्भ में, सम्बोधन से पूर्व उपात्त किये गये 'हा' शब्द से सूचित होता है कि अपनी आराध्या को न देख सकने के कारण वक्ता को घोर कष्ट हो रहा है। यहां श्रीयमुना की पुकार उसी वेदना से की गई है, जैसे कोई कहे कि —'हा माता !' वक्ता का श्रीयमुना से सम्बन्ध माता-जैसा ही है। माता की भांति यमुना भी पोषण करती हैं और अत्यन्त निकट रहती है। माता दूध के द्वारा पुत्र का पोषण करती है, तो यमुना अपने जल से। माता की तरह यमुना ने भी बिना घिनाये अपने तरङ्गरूपी हाथों से भीतर-बाहर का मैल धोया है। अपने प्रति यमुना की इस अविच्छिन्न ममता को ध्यान में रख कर, और यह जान कर कि पुत्र की व्यथा सुनने को वह सदैव उद्यत रहती है और उसमें इतनी शक्ति है कि उसके दुख को दूर कर सके, बड़े आत्म-विश्वास के साथ यमुना के संबंध में 'हा' शब्द का प्रयोग किया है, मानो यह कहना चाहते हों कि क्या तुम भी मेरी उपेक्षा करती हो ? श्रीयमुना के शक्तिशालिनी होने का प्रमाण नीचे दिया जाता है—

'पाँच योजन में फैला हुआ यह वृन्दावन मेरा (श्रीकृष्ण का) शरीर है और परम अमृतमय जल को लेकर प्रवाहित होने वाली सुषुम्णा नामक यह यमुना है।'[1]

प्रेममूर्तिस्वरूपा श्री राधा के चरण-कमल-संबन्धी आमोद की माधुरी की सीमा स्वरूपा दासी मैं किस प्रकार बनूंगा।

इस अर्थ में सीमात्व को विधेय माना गया है।

'सीमाम्' पाठ के अनुसार अर्थ होगा—

(२) रसिक शिरोमणि के साथ विहार करने वाली तथा चरण-कमलों के सौरभ के माधुर्य की सीमा श्रीराधा का ध्यान करता हुआ मैं नवरसकलाओं से कोमल प्रेम-विग्रहवती श्रीराधा की दासी किस प्रकार बनूंगा।

पूरा उद्धरण यहाँ दिया जाता है—

इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम् । अत्र मे पशवः पक्षिमृगाः कीटा नरामराः ।।
ये वसन्ति समाधिष्ठे मृता यान्ति ममालयम् । अत्र या गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये ।।
योगिन्यस्ता मया नित्यं मम सेवापरायणाः ।।

इत्युक्तेः सर्ववेदपुराणप्रख्यातमाहात्म्याधिदेवभूतात्मरूपादिष्वकुण्ठैश्वर्यत्वम् । 'त्वयी'-ति सख्यदास्यभावावन्तर्निधाय धृतामृतजलद्रवरूपायाम् । 'मम निधि'-रिति पूर्णममत्वेनासाधारणसुचिरन्तन सहजस्नेहः सम्बन्धश्च ध्वनितः । निधित्वन्तु मधुपतिसर्वस्वभूतत्वं विवृतमेव, परन्तु बाह्ये निजकथनापेक्षया परमजीवातुत्वं, रङ्कवत् प्राप्तिदौर्लभ्यं, अभावे च प्राणाद्यभावश्चेति व्यञ्जकम् । एवं संसिद्धिरूपा श्रीराधा मत्प्रेमास्पदा । 'प्रेयसा' इत्यनेन तव पूर्णश्रृङ्गारसेवानन्दाद्यनुभवोऽस्तीति सूचितः । भूतकालेन किमिदानीमेव समावृणोषीति भावः । लिखितं साक्षिणो भुक्तिरिति न्यायेन खेलनं तस्या स्तस्य च त्वयि मया भुक्तम् । इदानीञ्च न दर्शयस्यतो हा ! एतावदन्याय्यं नैष्ठुर्यञ्चेति गूढव्यंग्यम् । यद्वा हा-शब्दो

रसकलश

इस उद्धरण के अनुसार यमुना का माहात्म्य समस्त वेद-पुराणों में प्रसिद्ध है तथा देवता एवं प्राणधारियों में उसका प्रभाव अव्याहत है । 'त्वयि' का अर्थ है कि सख्य और दास्य भाव को अपने हृदय में रख कर तरल जल के रूप में अमृत को प्रवाहित करने वाली तुझ में । मेरो 'निधि' कह कर यह ध्वनित किया है कि यमुना के प्रति श्रीहितसखी की पूर्ण ममता है और उनके साथ बहुत पुराना सहज स्नेह-संबंध है । यह कहा जा चुका है कि मधुपति का सर्वस्व होने के कारण ही श्रीराधा निधि[1] हैं । परन्तु यहाँ बाह्यरूप में उन्हें 'अपनी' (मम) कह कर यह व्यक्त किया है कि वे श्रीहितसखी के प्राणों का आधार हैं, यह कि उनको प्राप्त करना उतना ही कठिन है जितना कि रंक को खजाने का मिलना और यह कि उनसे बिछुड़ने पर प्राण रह ही नहीं सकते । ऐसी हैं सिद्धिस्वरूपा और मेरे प्रेम का विषय श्रीराधा । 'प्रेयसा' (प्रियतम के साथ) से यह सूचित किया है कि तुम्हें (यमुना को) पूर्ण श्रृंगार-सेवा के आनन्द का अनुभव है । 'अभूत्' क्रिया के भूतकालिक प्रयोग द्वारा यह कहना चाहते हैं कि विगत काल में प्रियाजी प्रियतम के साथ तुम्हारे जल में खेली हैं, तो आज ही उन्हें छिपा कर क्यों रक्खा है ? लिखित प्रमाण होने पर साक्षी को जरूरत नहीं होती[2] । इस न्याय के

पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम् । कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृतवाहिनी ।।
अत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मरूपतः । सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित् ।
आविर्भावस्तिरोभावो भवेन्मेऽत्र युगे युगे । तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा ।।
(बृहद्गौतमीये)

१. देखिये श्रीराधासुधानिधिस्तव—पद्य २४४,

२. "विवादेऽन्विष्यते पत्रं तदभावे च साक्षिणः ।।
साक्ष्यभावात् ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ।।" पंचतत्रम्—धर्मबुद्धि कथा ।

लोकाननुभवात्र्योक्तः । त्वं यद्दम्पतिक्रीडास्पदाऽऽसीः सैव नान्यरूपान्तर-प्राप्ता, परन्तु लोकसवा न जानाति । कस्ते दोषः ? अहं निधिसम्बन्धं जानन्नेव वच्मीति भावः । अत्र किञ्चित्खेलनचिन्हसूचकसौगन्धादि वर्णञ्च दृष्ट्वा जलक्रीडोक्ता । तच्च 'वहन्ती'-त्यत्र वक्ष्यत्येव ।

जलापेक्षया स्थले दृष्टि कृत्वा 'भो' इति वक्ति । तरुलतासु भोशब्दो गौरवेण महानुभावेष्विवादरवाची । वाञ्छनीयानुग्रहतया किञ्चिच्छङ्का-स्पदत्वम् । अत्र दिव्या अलौकिकाः कल्पतरुं विजिगीषवोऽप्यद्भुता विचित्र-प्रभावा यत्तस्याः करस्पर्शं पुष्पल्लवावचयक्रीडाभवं भजन्ति ताः । क्वेदृग् जीवभाग्यं यद् भवत्साम्यमाचरेदिति भावः । अत्र नवपल्लवाद्युद्गमदर्शनेन रोमाञ्चं मत्वोक्तिः । अर्थाद्भवन्तोऽपि स्पर्शभजनसामयिकरूपा एव, नान्य-

रसकलश

अनुसार प्रिया-प्रियतम की क्रीड़ायें मैंने अपनी आँखों से देखी हैं। अब तुम उन्हें नहीं देखने देतीं—इसी दुख को व्यक्त करने के लिए 'हा !' कहा है। गूढ़ व्यंग्य यह है कि यह महान् अन्याय और निठुरता है। अथवा 'हा !' से यह सूचित किया है कि बड़े दुःख का विषय है कि साधारण जन-समुदाय को यमुना की महिमा के सम्बन्ध में कोई अनुभव नहीं है। वे यह नहीं जानते कि तुम्हारा यह वही रूप है जिसने दम्पति को अनेक क्रीड़ायें करने के साधन जुटाये थे। तुम तो बदली नहीं हो, परन्तु लोग तुम्हें नहीं पहिचानते। भला इसमें तुम्हारा क्या दोष है ? मुझे तो यह सब इसलिए मालूम है कि मेरा श्रीराधारूप निधि के साथ सम्बन्ध है। यहाँ खेलने के सूचक चिन्ह सुगन्ध केसर के रंग आदि को देखकर जल-क्रीड़ा की बात कही है। अग्रिम पद्य—'वहन्ती राधायाः' (२६३) में इसका विशेष उल्लेख करेंगे ही।

जल से दृष्टि हटा कर स्थलवर्ती तरु-लताओं को 'भोः' के द्वारा सम्बोधन करते हुए कहते हैं। वृक्षलताओं को 'भोः' शब्द के द्वारा सम्बोधित करके उनके प्रति आदर भाव व्यक्त किया है, मानों कि वे बड़े गौरवशाली महानुभाव हो। चूंकि श्रीहितसखी को उनका अनुग्रह प्राप्त करने की चाहना है, अतः मन में कुछ शंका भी है। जाने ये मुझ पर अनुग्रह करेंगे या नहीं। ये लतायें अलौकिक हैं और कल्पवृक्ष को जीतने की इच्छा रखते हुए भी अद्भुत हैं—अर्थात् इनका प्रभाव आश्चर्यजनक है, क्योंकि प्रियाजी फूल बीनने की लीला करती हैं, तो इन्हें अपने हाथ से छूती हैं। भला साधारण जीव का ऐसा भाग्य कहाँ? आप सब की समानता करें—यह भाव है। तरु-लताओं में से निकलते हुए नये कौंपलों को रोमांच मान कर श्रीहितसखी ने यह कहा है। अर्थात् आप सब उसी रूप में आज भी स्थित हैं जब कि प्रियाजी के कर-स्पर्श से आल्हादित होकर आप में रोमांच हो आये थे। आप के उस रूप में कोई अन्तर नहीं आया—इसलिए कि इस

रूपान्तरप्राप्ताः, नित्यविहारस्थलत्वात्। अहो! लोकदृष्टयाश्चर्यमायाति इमास्तु ता एव, लोकोऽन्यादृशः। अत एतत्प्रभावज्ञानमेतत्कृपयैव भवितव्यमिति।

एवं जलतर्वादिषु स्वसुखमग्नतां खेलनस्पर्शादिभवां प्रतिवाक्यानवसरज्ञापिकां मत्वान्यान् शब्दधर्मवतो दृष्ट्वाह। तत्रापि शुकानां स्वहृदयैकवेद्यकिञ्चिदनुकृतिपाठमिव श्रुत्वेति ज्ञेयम्। मृगमयूराणां हर्षोद्रेककृतक्रीडनेन स्वविरहदुःखानुभवतस्तेषां वस्तुप्राप्त्यन्यथानुपपत्तिं मत्वा वक्ति रतिगृहशुका मृगा मयूराः। अत्र हे शब्दो मैत्रीनिदर्शकः। भवन्तो यत्र तत्र सञ्चारिणो जङ्गमत्वात्, प्रतिवचनसमर्थाश्च। साधु, किञ्चिन्मादृशमपि वासैक्यमैत्र्यनिजदृष्टगोष्ठीं ब्रूवन्तु। सम्बोधनसाम्येऽपि प्रत्येककथनं पूर्वोक्तप्रतिदिन क्रीडानर्तनपठनस्मृत्यभिमुखीकरणार्थम्। यथा—'श्लोकान् प्रेष्ठयशोङ्कितान्

रसकलश

स्थली में तो नित्य-विहार चलता ही रहता है। अन्य लोगों की दृष्टि से देखा जाय, तो यह वास्तव में आश्चर्य का विषय है कि लोग बदल गये, पर ये वृक्ष-लतायें नहीं बदलीं। अतः इनके प्रभाव का ज्ञान इनकी कृपा से ही होगा।

इस प्रकार हिताली जी ने जब देखा कि जल, वृक्ष, लता आदि तो युगल की क्रीड़ा तथा उनके स्पर्शजन्य आनन्द में इतने मग्न हो रहे हैं कि इन्हें तो उत्तर देने की भी फुर्सत नहीं है, तो शुक, मृग, मयूर आदि को तरफ उन्मुख हुए—इस आशा से कि ये तो ध्वनि-विशेष के द्वारा अपना अभिप्राय व्यक्त कर सकते हैं। तोतों को सम्बोधित श्रीहितसखी ने मानो उन्हें प्रिया-प्रियतम के एकान्त वार्तालाप का अनुकरण करते हुए सुनकर ही किया। श्रीहितसखी का हृदय उनकी इस भाषा से भलीभाँति परिचित है ही। हरिण और मोरों से वे इसलिए कहती हैं कि इनकी आनन्दपूर्ण क्रीड़ा को देख कर श्रीहितसखी के हृदय में अपने विरहजन्य दुःख की अनुभूति प्रबल हो जाती है, क्योंकि वे सोचती हैं कि इन हरिणों तथा मोरों को अभीष्ट वस्तु अवश्य मिल गई है, नहीं तो ये इतने प्रसन्न नहीं हो सकते। गृहशुक, मृग और मयूरों के पूर्व 'हे' शब्द से श्रीहितसखी के उनके सौहार्द का पता लगता है। वे मानों इन सबसे कहती हैं—आप सब एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकते हैं, परिभ्रमण कर सकते हैं, अतः मेरी बात का उत्तर देने में समर्थ हैं। धन्य हैं आप लोग! पर हम सब इसी बन में एक साथ रहते हैं, तथा हम सब में मैत्री भाव है। यह सोच कर प्रिया-प्रियतम की जो प्रेमगोष्ठियाँ आपने देखी हैं, उनके सम्बन्ध में कुछ मुझे भी बताइये न। इन पशु-पक्षियों को एक ही प्रकार से ('हे'—द्वारा) सम्बोधित किया गया है, फिर भी प्रत्येक को पृथक्-पृथक् सम्बोधित करके उनकी प्रतिदिन की क्रीड़ा, नाचना, पद्यों को पढ़ना आदि की उन्हें

गृहशुकान्' इति, 'कदा मधुरसारिकाः' इति, 'क्वचन नर्तयेत् केकिनम्' इत्यादिप्रत्येकानन्दभोगस्मारणमनुक्तमपि ज्ञेयम् । मयूरा विचित्रसहृदयानुकूलचरित्राः , हरिणशशवानरशावादयो क्रीडनार्था ज्ञेयाः । एवं पूज्यत्वाभेदेऽपि सम्बोधनभेदः किञ्चित्सम्बन्धानन्देन हार्दोक्तिविशेषज्ञापकः । भूयो भूयः प्रणतिबाहुल्यकरणे स्ववस्तुप्राप्त्यौत्सुक्यातिशयं ज्ञापयति । 'रतिगृह' इत्यनेन शुकवत्सर्वेषां तत्सम्बन्धोऽनुक्तोऽपि ज्ञेयः, प्रकरणात् । पुनश्च 'मत्कण्ठे' इत्यत्र 'इत्थं कीरैरनुकृतवचः' इत्यादिरहस्यपात्रतां ज्ञापयति—न केवलं बहिः क्रीडनात्मका एवेति । रति शब्दात् तावत् सर्वमपि वनं रतिगृह रूपमेव, तथापि निकुञ्जेष्वेव पर्यवस्यतीति । रतिगृहः केलिकुञ्ज इति । यद्वा कालिन्द्यादिषु खेलनस्पर्शरतिगृहसम्बन्धोक्तिः, मृगमयूरेष्वनुक्तिः । सम्बन्धे दृश्यमानेऽप्यदृश्यमानेऽपि समयान्तरभेदो, न च सम्बन्धभेदः । अत्रत्याः, सर्वे विहारानुकूलाः साधकैरनुकम्पकत्वेनैव दृश्या, इति दर्शयति ।

रसकलश

याद दिलाकर अपनी बात सुनने के लिए उन्हें उन्मुख करती हैं । उदाहरणार्थ—'कभी तो प्रियतम के यश से परिपूर्ण श्लोकों को घर की शुकसरिकाओं को पढ़ाती हैं' (१८०) कभी मधुर स्वर से बोलने वाली सारिकाओं को अपने रसपूर्ण श्लोक को पढ़ाते हुए तथा अपने हाथों से तालियां बजा-बजा कर मोर को नचाते हुए (२२१) । इस रीति से प्रत्येक पक्षी के द्वारा भोगे गये आनन्द को स्मरण कराने की बात का प्रस्तुत पद्य में उल्लेख न होने पर भी स्वतः अनुमान कर लेना चाहिए । मोरों का स्वभाव बड़ा विचित्र होता है और भावुक व्यक्तियों की प्रकृति से बहुत-कुछ मेल खाता है । हरिण, खरगोश, बन्दर खेलने के उपयोग में आते हैं, अतः उनका नाम लिया है । इस प्रकार पूज्यत्व की दृष्टि से श्रीहितसखी के लिए ये सब एक हैं, तथापि इनके साथ सम्बन्ध होनें के कारण जो आनन्द मिलता है उससे प्रेरित होकर श्रीहितसखी अपने हृदय की कोई विशेष बात इनसे कहती हैं—यह बताया गया है । बार-बार के प्रणामों द्वारा अपनी वस्तु पा लेने के लिए हृदय की तीव्र उत्कंठा व्यक्त की गई है । तोतों को रति-गृह से सम्बन्धित जरूर बताया है, परन्तु बिना कहे यह समझ लेना चाहिए कि वृन्दावन के सभी पशु-पक्षियों का रति-गृह से सम्बन्ध है । प्रसंग भी रति विलास का चल रहा है । फिर 'मत्कण्ठे'=इस पद्य (१६३) में कहा है कि 'इस प्रकार प्रियतम के साथ समागम के प्रसंग में कहे गये वचनों को प्रातः काल, केलि-कुंज का मार्जन करते समय, तोतों के द्वारा अनुकरण किया गया कब सुनूंगी ?' इन उक्तियों से श्रीहितसखी यह सूचित करती हैं कि ये पशु-पक्षी रहस्य के पात्र हैं । इनका काम निकुंज के बाहर क्रीड़ा करना

तेनानुकम्पां प्रार्थयति—युष्मद्साहाय्याद् वाञ्छितं प्राप्स्ये, राजसचिव-साधनवत्, पूर्वोक्तदासीत्वाभिलाषं पूरयन्त्वित्यर्थः । अन्तर्बहिरङ्गयोरपि भवत्स्वेव स्थितिनैरन्तर्यं मनोऽभिलषते । कमन्यं प्रार्थये इति । परकम्पा-मनुकम्पते इति निरुक्त्या च मत्कम्पां प्रार्थनसामयिकां दृष्ट्वा यूयं सर्वे प्रेमपत्तनस्थाः कथन्न कम्पध्वं, न द्रुता भवितार इति । अतोऽन्ये लोका अत्रायान्तु वा यान्तु, तेषामागन्तुकानां भिन्नसिद्धान्तं वक्ष्यामो, न तेभ्यः प्रार्थना-प्रयोजनम् । अहो ! कालिन्दीतरुलता शुकमृगमयूराद्याः श्रीवृन्दा-वनीया दम्पतिदर्शनस्पर्शभाजो दिव्या नित्या एव रहोलीलाधिकारिणो, नचान्यादृशगमागमसंशयास्पदम् । अत एतेषु प्रार्थनम्-यूयमिवाहमपि स्यां पैतृकभूमिस्थवत् ।

रसकलश

ही नहीं है । 'रति' शब्द से यह तात्पर्य सूचित होता है कि यों तो समस्त वृन्दावन रति-स्वरूप ही है, तथापि रहस्य-लीलायें निकुंज में ही होती हैं । अतः रति-गृह का मतलब केलि-कुंज ही समझना चाहिए । अथवा यमुना का सम्बन्ध युगल की क्रीड़ा से बताया गया है, तरु-लताओं का प्रियाजी के स्पर्श से और तोतों का रति-गृह से, किन्तु मृग और मोरों के बारे में ऐसे किसी सम्बन्ध का निर्देश नहीं किया गया है । कभी-कभी समय के भेद से सम्बन्ध का भेद दिखाई देता है, कभी नहीं, किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि प्रिया-प्रियतम के सम्बन्ध इन पशु-पक्षियों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं । यहां की सब वस्तुएं विहार के लिए अपेक्षित साधन प्रस्तुत करती है । अतः साधक को इन्हें इस दृष्टि से देखना चाहिए कि इनके अनुग्रह की भी आवश्यकता है । इसीलिए श्रीहितसखी इनसे दया की भीख मांगती है कि आप सब की सहायता से मुझे अपने अभीष्ट की प्राप्ति उसी प्रकार हो जायगी जैसे कि मंत्री की सिफारिश से राजा तक पहुंच हो जाती है । अभिप्राय यह है कि आप सब मेरी पूर्व-वर्णित दासीत्व की अभिलाषा को पूर्ण करें । मेरा मन यही चाहता है कि, क्या तो निकुंज के बाहर, क्या भीतर, आप सब के बीच में ही हिलमिल कर रहूं । और किससे प्रार्थना करूं भला ? निर्वचन के अनुसार 'अनुकम्पा' का अर्थ है – अपने संबन्ध में दूसरे के हृदय का द्रवित होना । इसके अनुसार प्रार्थना करते समय की मेरी दीनता को देखकर प्रेम-नगर के निवासी आप सब क्यों न द्रवित होंगे ? अन्य लोग यहां आवें, जायें; उनका सिद्धान्त दूसरा है जिसका वर्णन आगे किया जाएगा । उनसे प्रार्थना करने का मेरा उद्देश्य नहीं है । हे यमुने ! तरु, लता, शुक, मृग, मयूरो ! आप सब वृन्दावनवासी हैं, दम्पती के दरस परस के आनन्द को भोगते हैं, दिव्य और नित्य होने के कारण आप ही एकान्त-विलास के समय उपस्थित रहने के अधिकारी हैं, न कि वे लोग जो आते है और चले जाते हैं । तथा जिनके मन में संशय बना ही रहता है । अतः आप से ही मेरी प्रार्थना हैं कि आप की तरह मैं भी इस वृन्दावन को पुश्तैनी मिलकियत समझ कर यहाँ रहूं ।

अत्र शिक्षापि ज्ञेया । अत्रत्य नदीतरुलताद्यास्तादृशबुद्धचै व सेवनीयाः, न प्राकृतबुध्येति । अत एव श्रीहरिदासस्वामिचरित्रे—'उत्तम भोग लगाइ मोरमर्कट तिमि पौषै', न स्वात्मानमिति । अर्थाद्यूयमेव नित्यविहारद्रष्टारो मनोवावक्कर्मभिः स्वादुवस्तुभिः सेवनीयाः, किमन्ये वयमागन्तुकाः, इत्यादि दैन्यनिदर्शनात् ।

अन्यच्च अत्र प्रतिसम्बोधनवाक्ये स्वामिन्येकसम्बन्धोक्तिरितरव्रज निकुञ्जसम्बन्धिदास्यवात्सल्यसख्यशृङ्गारादिव्यावर्तका । यस्यां मन्निधि क्रीडते सा कालिन्दी, ये तत्स्पर्शभाजस्ते वनतरुलताः, ये च श्रीराधाया रतिगृहशुकास्तस्या एव मृगा मयूरा, न च कृष्णगोपगोप्यादिक्रीडनकाः । अत एव 'राधायाः' इति व्यस्तं पदं मृगमयूरयोः प्रत्येकसम्बन्धबोधकम् । समस्ते तु मृगमयूरापेक्षया पुनर्नामानयिष्यत् श्रीकृष्णस्यापि सहार्थे तृतीया-त्वेन निधिसङ्गाद्ग्रहणं, न स्वातंत्र्येणेति ग्रन्थाशयः ।

रसकलश

यहां एक शिक्षा भी मिलती है । वह यह कि यहां के वृक्ष, लता आदि को रहस्य सेवी के ही रूप में देखना चाहिए । उन्हें जड़ प्रकृति का अंगमात्र ही नहीं समझना चाहिए । इसी आशय से स्वामी श्रीहरिदास के चरित्र में कहा गया है—'उत्तम भोग लगाएं मोर मर्कट तिमि पौषैं ।' भाव यह है कि श्रीहरिदासजी भोग लगा कर अपना पोषण नहीं करती थीं, बल्कि वृन्दावन के मोर-वन्दरों का पालन भी उनका लक्ष्य था, क्योंकि नित्य विहार का दर्शन वे ही करते हैं, अतः मन, वाणी, कर्म द्वारा तथा स्वादिष्ट वस्तुओं से उन्हीं का सेवन करना चाहिए । हम-जैसे आने-जाने वालों की यहाँ कोई गिनती नहीं है । इस प्रकार श्रीहितसखी ने यहाँ अपनी दैन्यवृत्ति की ओर संकेत किया है ।

दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि यहाँ प्रत्येक सम्बोधन-वाक्य का सम्बन्ध केवल श्रीराधा से ही निर्दिष्ट किया है, अतएव पद्य में श्रीराधा का अभिधान एक ही बार हुआ है । इसमें ब्रज की अन्य निकुंज से संबन्धित दास्य, वात्सल्य, सख्य, शृंगार आदि का निराकरण कर दिया गया है । यमुना वह जिसमें मेरी निधि-स्वरूपा स्वामिनी खेलती हैं, वन के वे ही वृक्ष—लता जिन्हें प्रियाजी के हाथ से स्पर्श का सौभाग्य प्राप्त है, तोते यदि श्रीराधा के रति गृह के हैं, तो मृग—मयूर भी वैसे ही हैं- न कि वे जिनके साथ व्रज के कृष्ण, गोप-गोपी आदि क्रीड़ा करते हैं । यही कारण है कि 'श्रीराधायाः' इस पद को समासान्त नहीं बनाया है । मृग, मयूर, प्रत्येक श्रीराधा से सम्बन्धित हैं । 'श्रीराधा' का समास मृग, मयूर के साथ कर दिया जाता, तो सम्बन्ध-षष्ठी के बल पर 'राधा' का सम्बन्ध अपने निकटवर्ती पद के साथ ही प्रधानरूप में उपस्थित होता । यदि यह अभीष्ट न था, तो बरवस प्रत्येक के साथ राधा-नाम जोड़ना पड़ता । 'प्रेयसा' में सह के योग में तृतीया विभक्ति होने के कारण 'निधि' के साथ ही श्रीकृष्ण का ग्रहण होता है, न कि स्वतन्त्र रूप से—यह है आशय ।

आन्तरापेक्षायामेवम्—रसमज्जनसचेतनानन्तरान्तर्वर्तित्वकाङ्क्षानन्तरं कथं पूर्ववन्मज्जनशङ्कास्पदे रसे प्रेम्णि च पुनर्जिगमिषामीति अहो ! साधु साधु स्मृतिमागतैका युक्तिः । जलतरुकुञ्जपक्ष्यादयोऽपि तु विहारे तिष्ठन्ति तादृशाहमपि जडतया किन्न स्यां यतो भिन्नैव लीलावलोकनमसङ्कोचेन करिष्ये—इत्याशयेन कालिन्द्यादीन् प्रार्थयते । अत्र किञ्चित् प्रेमवैचित्यमपि जातं दृश्यते । 'हा' इति अहह ! सुचिरं स्मृतिमागतमिति विस्मृतिविषाद-ज्ञापकम् । जलक्रीडायां न त्वं भिन्ना, न च तयोः सङ्कोचः । अतो निजवत्मामपि कुरुध्वमिति । वयन्तु सहृदयसखीत्वसङ्कोचविषयाः स्म इति धन्या यूयं जड़तां सफलीकुरुध्वं यद्गोप्येऽपि भवतामधिकारः । अधुनैव किञ्चित्पूर्वं क्रीडनं जातं दृश्यते । यदि च त्वं द्वितीयां सम्मातुं न मन्यसे तदा 'भो' इत्यादरेण तरुलताकुञ्जस्था वा भिन्नाः, यूयमपि पुष्पिता

रसकलश

अन्तरंग-पक्ष में व्याख्या इस प्रकार होगी—(पद्य २५६ में वर्णित) रस-सरोवर में डूब कर बाहर निकल आने के उपरान्त (पद्य २६१ में) श्रीहितसखी ने यह अभिलाषा प्रकट की थी कि इस भौतिक शरीर को छोड़कर मैं सूक्ष्म शरीर धारण कर अन्तरंग विलास के समय में सदा उपस्थित रहूं । अब वे मन में सोचती हैं—पहले की तरह रस-सरोवर में मग्न रह कर चेतना को खो देने से तो ठीक नहीं रहता, तो अब यदि पुनः प्रेम और रस का अनुभव करना चाहूं, तो बात कैसे बनेगी ? फिर कहती हैं—अहो ! ठीक है; याद आ गई एक युक्ति । जल, वृक्ष, लता आदि भी तो विहार के समय उपस्थित रहते हैं, तो मैं भी उन्हीं की तरह क्यों न जड़ बन जाऊँ, ताकि-अलग रह कर, बिना किसी संकोच के लीला के दर्शन किया करूं ? बस, इसी भावना से यमुना आदि से प्रार्थना करती हैं । ऐसा लगता है कि इस अवसर पर श्रीहितसखी प्रेम के आवेश में कुछ बे-भाव हो गई हैं । 'हा' का अर्थ है--अहह ! बड़ी देर के बाद याद आया ! इस प्रकार 'हा' द्वारा यह खेद प्रकट किया गया है कि देखो - मैं कैसी भूल गई ! (अब श्रीहितसखी यमुना से कहती हैं—) जल-क्रीड़ा में न तो तुम दम्पति से असंपृक्त रहती हो और न उन दोनों को ही तुम से कोई संकोच होता है, अतः मुझे भी अपनी जैसी बना लीजिए न ? सहृदय सखी होने के कारण प्रियाजी हमारी उपस्थिति से तो झिझकती हैं, पर आप-जैसे धन्य हैं जो अपनी जड़ता को भी सफल कर लेते हैं । गोपनीय स्थानों और विषयों में भी आपका अधिकार है । ऐसा लगता है कि अभी कुछ देर पहले जल-क्रीड़ा समाप्त होकर चुकी है । यदि आप अपने अतिरिक्त किसी दूसरे को नहीं निबाह सकती, तो 'भोः'—अर्थात् आदरणीय वृक्ष और लताओ ! चाहे आप कुंज के हों या उससे पृथक्, आप सब जो फूलों से खिले दिखाई दे रहे हो, सो

दृश्यमाना निश्चयेन तस्याः करस्पर्शं भजथः, इत्यनेन यूयमपि जडतां सफलीकुरुध्वम् । भवत्सु काचिल्लता स्याम्, तदा तादृशानन्दमहमपि प्राप्नुयामिति । यदि यूयमपि विजातीयां न सहध्वे, तदा अवक्त्री कथमहमुन्मुह्ये, यथादृष्टश्रुतगुणगायकपक्षीशुकादि भवामीति हे मित्राणि ! शुका राधारतिगृहस्थाः । पूर्वं भवतां बहुसङ्गिन्यहं, ततो मैत्र्यं सफलयध्वं, यत्सजातीयतामाप्नुयां, रति विहारे यथानुकृतिवचो गायामीति । यद्वा गृहस्थानां दायाद ईर्ष्यास्पदं भवति । तदा हे मृगाः ! यूयमप्ययाचितवृत्तिसन्तुष्टाः कान्तारे यदा सखीर्वञ्चयित्वा प्रविष्टौ दम्पती, तदा सखीवद्यूयं विहारदर्शनं मार्गयथ, मृगाह्वयं सफलयथ । अतो भवन्त इवाहमपि तदग्रे क्रीडामृगविशेषो भवामीति तयोर्दृष्टिं लोभयामि, तदाह्वानक्रीडनास्वादं भजामीति । यदि च परोत्कर्षन्न सहध्वं, तदा हे मयूराः ! केवलप्रेमासक्तख्याता, न च कामिनो, यत्पक्षेण प्रियोऽप्यासक्तकङ्कणबद्धोऽभिमनुते, तादृशे कान्तारे तौ

रसकलश

निश्चय ही प्रियाजी के कर-स्पर्श का सौभाग्य आपको मिल गया है। इस प्रकार आप अपनी जड़ता का पूरा-पूरा लाभ उठा रहे हैं। यदि विजातीय समझ कर आपके यहाँ भी मेरे लिए कोई स्थान न हो, तो गूंगी रह कर तो मैं अपनी चेतना खोने के लिए तैयार नहीं हूं। मैं तो यही चाहती हूं कि देखे-सुने अनुसार प्रियाजी का गुण-गान करने वाला तोता-जैसा कोई पक्षी बन जाऊं। अतः मेरे मित्र हे शुको ! आप लोग श्रीराधा के रति-गृह में ही रहते हो, मेरा आपका साथ बहुत पुराना है, अतः मित्रता को सफल करो, ताकि मैं आपका ही सजातीय हो जाऊं और आपकी ही भांति रति-विहार के प्रसंग में होने वाली बात-चीत का अनुकरण कर उन्हें गाया करूं। यदि यह बात है कि गृहस्थों को किसी की हिस्सेदारी पसन्द नहीं होती, तो हे हरिणो ! तुम लोग भी बिना माँगे जो कुछ मिल जाता है, उससे संतोष करने वाले हो। जब दम्पती अपनी सखियों से आँखें बचा कर विहार के लिए वन में प्रवेश कर जाते हैं, तो सखियों की तरह तुम भी इस खोज में रहते हो कि किसी प्रकार विहार के दर्शन मिल जायँ। इसी वृत्ति के कारण तुम्हारा 'मृग' नाम सार्थक है। अतः मैंने भी यही सोचा है कि तुम्हारी ही तरह मैं भी दम्पती के आगे क्रीड़ा-मृग बन कर खड़ी हो जाऊं और उनकी निगाहों को अपनी ओर लुभाऊं, और जब वे खेलने के लिए मुझे बुलावें, तो उस रस का आस्वादन करूं। यदि आप सब को भी दूसरे का उत्कर्ष सहन न हो, तो हे मयूरों! तुम इसके लिए प्रसिद्ध हो कि तुम्हारी आसक्ति निष्काम होती है। तुम्हारे ही पंख से बने कंकण को बाँध कर प्रियतम अपने को दास मानते हैं। अतः यह उचित ही है कि मैं भी आपकी ही बिरादरी में शामिल हो जाऊं। इस प्रकार वृन्दावन में स्थित

युष्मान्नर्तयतः, स्वकरेण भोजयत, अतः साधु, युष्मज्जातीयैव भवामीति तयोः स्वच्छन्दचरितं पश्यामीत्यादि । एवमेतेषु सर्वेष्वेव वृन्दावनीयेषु प्रार्थना—कोऽपि मत्कार्यं करोतु, भूयोभूयः प्रणमामि । मया कथमपि युष्मत्तः संकोचो न दृष्टः स्वदेहवत्, वनस्य देहरूपत्वात् । तेन प्रेमपत्तन-स्थानां जडत्वमपि चेतनत्वमेव यन्निरवरोधमुभयक्रीडनावलोकनमनुभवतीति भावः* ॥२६२॥

यदुक्तं खेलितोऽभूदिति तत्र तावतैवासन्तुष्टः क्रीडनध्यानप्रविष्टं मनो न निष्क्रामयितुं शक्तः कं पृथक् प्रार्थये, सर्ववनमृगपक्ष्यादिपरमजीवातुः श्रीयमुनैवेति तामेव पुनः समाधुर्यं वर्णयन् प्रार्थयते—

रसकलश

सबसे मेरी यही प्रार्थना है कि कोई मेरा काम कर दे । मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ । मुझे आप लोगों से उसी प्रकार कोई संकोच नहीं करना चाहिए, जैसे कि मैं अपने शरीर से नहीं करती हूँ । और यह वृन्दावन तो दम्पती का शरीर कहा गया है। इसीलिए इस प्रेम-नगर में रहने वाले यदि जड़ हों, तो भी वे चेतन ही हैं, क्योंकि वे सब बिना किसी रोक-टोक के युगल की क्रीड़ाओं के दर्शन का सुख भोगते हैं— यह भाव है ॥ २६२ ॥

पूर्व पद्य में कहा था कि मेरी निधि श्रीराधा तुम्हारे जल में खेली थीं, किन्तु इतना कहकर श्रीहितसखी को संतोष नहीं हुआ, बल्कि उल्टे उनका मन क्रीड़ा के ध्यान में ऐसा फँसा कि फँसा ही रह गया; बाहर निकल ही न सका । सोचने लगीं—किस-किस से प्रार्थना करूँ ? श्रीवृन्दावन के समस्त मृग, पक्षी आदि तो यमुना के जल पर ही जीवित रहते हैं । अतः श्रीयमुना का माधुर्य-सहित वर्णन करते हुए कहती हैं—

* इस पद्य के प्रथम चरण में तीन पाठ-भेद मिलते है—(१) प्रेयसा क्षालितोऽभूत्, (२) प्रेयसा खेलितोऽभूत्. और (३) 'प्रेयसा खेलितासीत्' श्री कृपालाल गोस्वामी तथा अन्य कई विद्वानों ने पहले पाठ को स्वीकार कर व्याख्या की है । तदनुसार अर्थ होगा—'हे यमुने ! तुम्हारे जल में मेरी निधिस्वरूपा स्वामिनी को प्रियतम ने स्नान कराया है ।' परन्तु प्रियतम द्वारा प्रियाजी को स्नान कराने के अर्थ में वैसा चमत्कार नहीं जैसा कि 'प्रेयसा को सह के योग में तृतीयान्त मानकर दोनों के साथ-साथ जल विहार करने में है । 'इसीलिए, सम्भवतः, रसकुल्याकार ने प्रथम पाठ को मान्यता नहीं दी ।

तृतीय पाठ में 'निधि' शब्द को भ्रम से स्त्रीलिंग मान कर 'खेलिता' पाठ कर दिया है और 'अभूत्' के स्थान पर 'आसीत्' कर दिया है । कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा केवल लिपिकारों के प्रतिभा-विकास के कारण ही हुआ है ।

वहन्ती राधायाः कुचकलशकाश्मीरजमहो !
जलक्रीडावेशाद्गलितमतुलप्रेमरसदम् ।
इयं सा कालिन्दी विकसितनवेन्दीवररुचि-
च्छटा मन्दीभूतं हृदयमिह सन्दीपयतु मे ।।२६३।।

'अहो' आश्चर्यं लोकभाग्यम् ! इयं नदी साधारण्येन दृश्यमानापि सा तादृशप्रभूतमाधुर्यप्रभावामृतजला कालिन्दीति इहलोकापेक्षया अमन्दमपि मन्दीभूतं मे हृदयं सन्दीपयत्विति सम्बन्धः ।

माधुर्यप्रभावं वर्णयन् विशिनष्टि—राधायाः कुचकलशकाश्मीरजं वहन्ती । कीदृशम् ? प्रेयसा सह जलक्रीडाया आवेशो जलच्छटादानतरण-मज्जननिलयनस्पर्शजयपराजयसंघर्षाद्याग्रहजवेद्यान्तराभावस्तेन दृढकञ्चु-

---

रसकलश

'अहा! जल-विहार के आवेश में धुल कर छूटी हुई, अनुपम प्रेम और रस देने-वाली, श्री प्रियाजी के कुच-कलशों पर लगी हुई केसर को धारण किये हुए खिले हुए, नूतन नील-कमल की शोभा से युक्त यह प्रसिद्ध श्रीयमुना इस वृन्दावन-धाम में मेरी कुण्ठित बुद्धि को भलीभाँति प्रकाशति करे ।।२६३।।

'अहो!' कह कर श्रीयमुना की महिमा से अनभिज्ञ सर्वसाधारण के भाग्य के संबन्ध में आश्चर्य प्रकट किया गया है (अथवा उन लोगों के भाग्य की सराहना की गई है जिन्हें श्रीयमुना का सान्निध्य प्राप्त है) । यह नदी देखने में तो साधारण है, किन्तु इसके माधुर्य का प्रभाव तो अपरिमित है और यह अमृत के समान जल को प्रवाहित करनेवाली है । यह है आशय 'इयम्' और 'सा' का । तो यह कालिन्दी इस संसार के दृष्टिकोण से अन्धकाराच्छन्न न होते हुए भी यथार्थ में प्रकाशशून्य (अथवा कुंठित) मेरे हृदय को प्रकाश प्रदान करे—यह अन्वय है ।

माधुर्य के प्रभाव की विशेषता बताते हुए कहते हैं—श्रीराधा के कलश जैसे कुचों पर लगी हुई केसर को (अपने जल में धारण करने वाली । कैसी केसर को ? प्रिय के साथ जल क्रीड़ा के आवेश के कारण धुलकर छूटी हुई । आवेश से तात्पर्य यहाँ सुधि-बुध खो देने का है । जल में क्रीड़ा करते समय प्रिया-प्रियतम एक-दूसरे को छींटे देते हैं, तैरते हैं, डुबकियाँ लगाकर छिप जाते हैं, परस्पर में अंगो का स्पर्श होता है और होड़ लगाने पर जीत-हार, संघर्ष आदि का आग्रह भी होता है । तो आवेश में जब यह सब चल रहा था, तो कस कर बाँधी गई चोली से आवृत भी केसर वहाँ से छूटकर अत्यन्त सूक्ष्म द्रवस्वरूप होने के कारण जल में घुल गया । तब जल को तो पीला हो ही जाना चाहिए । यह पीतिमा केसर की है, यह ज्ञान केसर की खुशबू से

वचादि निविष्टोऽपि गलितः, सूक्ष्मद्रवतया जलमिलितस्तेन पीतत्वमेव जलस्य भानं सुगन्धेन च तत्सूच्यते । तेन द्रष्ट्रीणामतुलौ हृदयानुन्मानौ प्रेमरसौ ददात्युत्पादयतीति । दानस्य तावदाश्रयो दाता काश्मीरजो, दानपात्राणि सख्यो विषयश्च, यासु दत्तोऽनन्तगुणो वर्द्धते । ततस्तासां तौ स्मृत्या स्वामिनीनिष्ठौ जातौ । तदा प्रेम्णः प्रियतोज्जृम्भस्य रसस्यचानन्दातिशयस्य सखीनामाश्रयत्वं, स्वामिन्या विषयत्वं । ततस्तज्जन्यानन्दभोगस्य ता एव विषया भवन्तीति । किञ्च प्रेमा तु दम्पतिविषये पूर्णतया स्थाय्यैव, किन्तु किञ्चित्पक्षोत्सवेन ममतातिशयास्पदे प्रेमातिशयोदयो भवतीत्यासामतिशयः स्फुटं प्रियायामस्ति ।

तत्कुङ्कुमदत्तस्मृतौ एतज्जलक्रीडने लावण्यरूपच्छविलीलाहासभावादिविशिष्टा मत्स्वामिनी कथं कथं क्रीडिता दर्शनीयैव । लोलद्धारनासाग्रमुक्ताकुण्डलशिरोभूषावेण्यग्रगुच्छादि कथमदीदिपत् कथञ्च जलप्लुतिजाता-

रसकलश

हुआ ।'[1] इस रीति से केसर, देखने वालों को, अनुपम तथा हृदय में न समा सकने वाले प्रेम और रस को देती है । दान-क्रिया का आशय है उसका दाता केसर, सखियाँ हैं उस दान का विषय जिन्हें प्रदत्त-रस अनन्तगुना होकर बढ़ता है । बाद में सखियों को याद आया कि यह केसर तो प्रियाजी के कुचकलशों से छूटकर बहा हुआ है, तो प्रेम और रस दोनों स्वामिनीपरक हो गए । (अर्थात् स्मृति के बल पर सखियों को यह पता लगा कि प्रेम और रस का सम्बन्ध केसर के साथ तो गौणरूप से है, असल में उसका मूल स्रोत तो स्वामिनी हैं ।) इस स्थिति में सखियां प्रेम अर्थात् प्रियता के उद्रेक का और उत्कट आनन्दस्वरूप रस का आश्रय हो जाती हैं और स्वामिनी हो जाती हैं विषय । इसके बाद प्रेम और रसजन्य भोग का विषय हो जाती हैं वही सखियाँ । यह भी ज्ञातव्य है कि सखियों का दम्पती विषयक प्रेमपूर्ण रूप से स्थायी ही है, किन्तु प्रियाजी के प्रति पक्षपात-जनित आनन्द के कारण, ममतापात्र प्रियाजी के सम्बन्ध में प्रेम का उद्रेक अधिक होता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सखियों का प्रेम स्वामिनी के प्रति ही अधिक है ।

यह कुंकुभ प्रियाजी का है, उन्होंने दिया है, यह स्मरण होते ही श्रीहितसखी सोचने लगीं—इस जल विहार में लावण्य, रूप, छवि, लीला, हास-परिहास तथा शृंगार भाव से विशिष्ट मेरी स्वामिनी में किस प्रकार क्रीड़ा की होगी, यह देखते हीं बनता है । उसके हिलते हुए हार, नाक की बुलाक का मोती, ललंतिका वेणी के सिरे का गुच्छा आदि

१. तुलना करिये—

यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति ।। (रघुवंश—इन्दुमती-स्वयंवर)

रुण्यविशालनेत्रयोः सचकितदर्शनं प्रिये च क्रीडाग्रहः । सूक्ष्मपटान्तर्दीप्ताङ्ग-प्रभाचाकचिक्यप्रतिबिम्बितजला कोटिचन्द्रसमष्टिरूपैवावतरितात्रजले किमिति साश्चर्यहृदयं सप्रियसखीनां कुर्वाणा कथं कथं प्रियतमप्राणकोटेरपि प्रेष्ठा लगतीत्यादि निदर्शनीयः प्रेमा ।

अथ रसश्च कुचकलशलेपनसमयस्मरणजः । स च सेवाशृङ्गारादिसदिङ्गितानुसरणप्रसादनेन सखीसहायेन च प्रार्थयितृप्रियाय दत्ताङ्गरागसेवाधिकारायाः । कुचकलशयोः काश्मीरजद्रवलेपने यद्यत्प्रियकृतलौल्यमर्दन-भूयस्त्वहासजननकम्पचमत्कारशीत्कारोत्पादनसात्विकादीनि प्रियायाः, प्रियस्य च तदङ्गस्पर्शजप्रत्यङ्गमनसिजमदोद्बोधवैवश्यं, तदेतत्सर्वं दम्पति-हृदयप्रवेशज्ञेयं रसं स्वदास्यपटे शोधयित्वा तदानन्दजन्यत्वेन गृहणीयानन्द-रूपः । अहह ! कथं मत्स्वामिन्याः परमानन्दः कौतुकं सौभाग्यञ्चेत्यादि

कैसे दमके और जल भर जाने के कारण अरुण हुए विशाल नेत्रों से उन्होंने कैसे-कैसे चौंक-चौंक कर देखा और प्रियमत ने क्रीड़ा करने का किस प्रकार बार-बार आग्रह किया। भीने वस्त्र के अन्दर झिलमिलाते हुए अंगों की कान्ति का चकाचौंध जब जल में प्रतिबिम्बत हुआ तब सखियों को आश्चर्यपूर्ण सन्देह हुआ होगा कि करोड़ों चन्द्रमा इकट्ठे होकर जो कहीं जल में नहीं उतर आए। उस समय प्रियतम को अपने कोटि-कोटि प्राणों से भी अधिक प्यारी लगीं। इस प्रकार चिन्तन और कल्पनाओं के द्वार श्रीहितसखी का प्रेम प्रकट हुआ।

श्रीहितसखी के हृदय में रस का उद्रेक उस समय का स्मरण कर हुआ जबकि प्रियाजी के कुच-कलशों पर केसर-मिश्रित कुंकुम का लेप किया जा रहा था। सेवा, शृंगार, आदि के द्वारा तथा उनके हृदगत भावों के अनुसार चलकर पहले प्रियतम ने प्रियाजी को प्रसन्न किया और उसके उपरान्त सखी को बीच में डालकर प्रर्थना की कि मुझे अंगराग लगाने की सेवा का अधिकार प्रदान किया जाय। प्रियाजी की स्वीकृति मिलने पर उनके कुच-कलशों पर केसर लगाते समय प्रियतम ने लोलुपतावश—जब बार-बार अंगराग को पौंछा और फिर लगाया और तब जो-जो हास-परिहास चले और प्रियाजी के कंप, चौंकना, सीत्कार आदि अनुभाव और सात्विक भाव प्रकट हुए, तथा प्रियाजी के अंगों को स्पर्श करने के कारण प्रियतम के अंग-अंग में जिस प्रकार कामवेश का उदय हुआ और वे विह्वल एवं विवश हो गए उस सब का अनुभव वे सखियाँ ही कर सकती हैं जो दंपती के हृदय में प्रवेश कर उनके भावों का जायजा लेती हैं। अपने दास्य-भाव के कपड़े में छानकर शुद्ध किया गया दंपति-रस का निचोड़ यह वह आनन्द है जोकि सखियों के लिए इसी रूप में ग्राह्य है। अहा! हमारी स्वामिनी का कैसा परम आनन्द, कौतुक और सौभाग्य है—यह सोच-सोच कर सखियाँ आत्म-विस्मृति में जो डूब जाती हैं, यही इस रस की साक्षात् अनुभूति का प्रमाण है। सहृदय

तदीयानां वेद्यान्तराभावनिदर्शनीयः । सहृदयवेद्यो न निर्वक्तुं शक्य इति । अत एवातुलपदेन यत्राविष्टं मनोनयनादि ग्रहाविष्टमिव सुचिरं नान्यद्वेदितुं शक्नोतीति भावः ।

काश्मीरजेति रूढत्वेऽपि जनिधातुनिदर्शमादयायातयामत्वं, तेन वर्णसुगन्धलावण्यगुणादिशक्तीनां बाहुल्यं नवीनत्वञ्च ज्ञेयम् । एवं प्रेमरसवदान्यं कुङ्कुमं वहन्ती धन्येयम् । तस्याप्याधारतया च महावदान्यत्वमस्याः अहोः ! एतदपि किमुच्यते ! प्रेमरसमयौ दम्पत्येव यज्जलक्रीडायां परमाविष्टौ भवत, अतस्तयोरप्यावेशवर्द्धिकेति, 'आवेशात्' इत्युक्तेः 'वहन्ती' इत्यनेन धारयन्त्येव । यद्वा प्रापणार्थेन सखीजनावधिप्रेमरसप्रापिका । न च देशाद्देशान्तरमिति शङ्क्यम् । अस्यास्तु वृन्दावनैकपरिखासीमत्वात्, आधिभौतिकरूपेण लौकिकगतिसम्भवात् ।

'कालिन्दी'-त्यत्र रूढित्वेऽपि कलिं=कलहादि द्यति=खण्डयतीति तादृशो नित्यानन्दोत्कृष्टशैलस्तज्जातेति । वा तद्दाने कुशला । वा नित्यानन्दं वेत्यनु-

---

रसकलश

ही इसे समझ सकते हैं, शब्दों द्वारा इस का वर्णन नहीं किया जा सकता 'अतुल' (अनुपम) शब्द से ही यही भाव व्यक्त किया गया है कि यह वही रस है जहां मन और नेत्र एक बार फँसे तो बाहर निकलने का नाम नहीं लेते । भूताविष्ट की तरह अन्य किसी पदार्थ-सत्ता को ग्रहण करने की मन की सामर्थ्य ही जाती रहती है ।

'काश्मीरज' का प्रचलित अर्थ केसर है, किन्तु उत्पन्न होने के अर्थवाली 'जनि' धातु से निष्पन्न होने के कारण केसर का ताजा होना प्रकट होता है, तथा यह भी कि सुगन्ध, लावण्य आदि गुणों से वह भरपूर एवं नवीन है । इस प्रकार प्रेम और रस को खुले हाथों लुटानेवाली केसर को अपने जल में धारण किये हुए यह यमुना धन्य है । यमुना उस कुंकुम का आधार है, अतएव और भी उदार है । अहो! इतना ही कहने से क्या होता है! प्रेम और रस के स्वरूप दंपती भी इसमें जल-विहार करते समय आवेश में भर जाते हैं । उनके आवेश को यह यमुना बढ़ाती है । 'क्रीडावेशात्' में 'आवेश' शब्द का यही भाव है । 'वहन्ती' का अर्थ है—धारणा करती हुई । अथवा 'वह्' धातु का अर्थ पहुँचाना (लेजाना) होने के कारण यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि यह प्रेम और रस को सखियों तक पहुँचाती है । इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि एक स्थान से दूसरे को पहुंचाती है, क्योंकि वृन्दावन की खाई उसकी सीमा है और वह वहीं समाप्त हो जाती है । हाँ, उसके पार्थिव रूप में अवश्य गति है ।

'कालिन्दी' का रूढ़िगत अर्थ तो श्रीयमुना है ही, पर व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है—कलि—अर्थात् कलह को नाश करने वाला तथा अनुपम और स्थायी आनन्द को

भवतीति यथासम्भवार्थेऽणन्ताद्‌डीष् यद्वा कलहखण्डनैकस्वार्थे प्रियं पराभूय, वा वञ्चयित्वा जले निमग्नां प्रियां कनककमलखण्डे स्तम्भितजलकुञ्जे च रक्षति । तां जित्वा निमग्नं तमिन्दीवरखण्डे चेति । ततो मिलनौत्कण्ठ्यातिशयवशविस्मृतान्योन्यसंघर्षो मार्गणकौतुकेनाकस्मिकमेलनानन्दात् कालिन्दीति ।

तादृशकुङ्कुमधारणादालिङ्गनसामयिकस्विन्नप्रियलिप्ताङ्गशोभास्मरणेन तन्निजवर्णं विशिनष्टि—विकसितनवेन्दीवरवत् रुचिच्छटाः कान्तिप्ररोहा यस्याः । अथवेन्दीवररुचिः प्रियस्तद्‌वच्छटा वर्णशोभाचमत्कारो यस्याम् । एवं कुङ्कुमेन्दीवरवर्णाभ्यां गौरश्यामसंयोग उक्तः । पुनश्च प्रेम्णः पीतवर्णः प्रसिद्धः, शृङ्गाररसस्य च श्याम, इति दम्पतिरूपावपि प्रेमरसावेव । तत

रसकलश

देनेवाला जो पर्वत (कलिन्द) उससे निकलनेवाली। अथवा—जो कलिन्द अर्थात् नित्य आनन्द को प्रदान करने में कुशल हो, अथवा उसे जो अनुभव करती हो —इनमें से कोई-सा-भी अर्थ यथासंभव लगाया जा सकता है । अण् प्रत्ययान्त कलिन्द शब्द से ङीष् प्रत्यय लगाने पर 'कालिन्दी' शब्द निष्पन्न होता है । अथवा किसी कलह (विवादग्रस्त विषय) को खत्म करने के एकमात्र उद्देश्य से प्रियतम को पराजित कर अथवा धोखा देकर प्रियाजी जब जल में डुबकी ले गई, तब स्वर्ण-कमलों के बीच में, या जल को रोक कर बनाई गई किसी कुंज में यमुना इन्हें छिपा लेती है । इसी प्रकार प्रियाजी को परास्त कर जब प्रियतम डुबकी ले गए, तो उन्हें नीले कमलों में छिपा लेती हैं । इसके बाद मिलन की उत्कंठा के अत्यन्त तीव्र होने पर जब प्रिया-प्रियतम आपसी झगड़े को भूलकर और एक-दूसरे को खोजने के कौतुक में प्रवृत्त हुए, तो अकस्मात् आपस में टकरा जाने से जो आनन्द हुआ, उसे देने वाली श्रीयमुना ही हैं । इसी आधार पर उनका नाम कालिन्दी पड़ा ।

यमुना के जल में बहते हुए कुंकुम को देख कर श्रीहितसखी को प्रियाजी की उस समय की शोभा का स्मरण हो आया जब कि सात्विक भावों के कारण पसीने से भीगे उनके शरीर से प्रियतम लिपट गये । इसीलिए यमुना के अपने रंग का वर्णन करते हुए विशेषण देते हैं—खिले हुए नये नीलकमल की भाँति यमुना में से छटा=कान्ति के अंकुर फूट रहे हैं । अथवा नीले कमल की तरह जिनकी छटा है, ऐसे प्रियतम की शरीर की कान्ति के समान यमुना की शोभा=चमत्कार है । इस प्रकार केसर और नील-कमल द्वारा गौर और श्याम तेज का मिलन यहाँ दिखाया गया है । इसके अतिरिक्त प्रेम का रंग पीला प्रसिद्ध है और शृंगार का श्याम । इसके अनुसार प्रेम और रस दम्पति के स्वरूप हैं । उन दोनों को देने के कारण यमुना गौर—श्याम तेज को प्रदान करती है—

एतदुभयदानाद् गौरश्यामदायित्वमस्या व्यक्तम् । कुङ्कमस्य दानित्वोक्ताप्याधाराधेयाभेदेनास्यामेव ज्ञेयं, आश्रयिगुणस्याश्रये सङ्क्रमणात् ।

एवं गौरश्यामरूपिणी तत्प्रेमरसाधारा परमवनीयसी सखीजीवातुदायिनी सैवेयं कालिन्दी, नत्वन्या । 'इह'-वृन्दावने । मन्दीभूतमित्यत्रासम्भावना विपरीतभावनादिभिः प्रभावविस्मृतिमयं मान्द्यं=कुण्ठितत्वञ्चेति दूरीकृत्य मलापकर्षणगुणाधानाभ्यां संस्करोतु, भवतामपि स्वरूपयाथार्थ्यं स्फोटयत्विति, येन प्रस्तुतदम्पत्यानन्दं पश्यामीति भावः । मान्द्याद्युक्तिः साधकानुग्राहिकैव ।

आन्तरापेक्षायां अमन्दं मन्दमभूयत वा भूयते इति मन्दीभूतम् । पूर्वममन्दं स्थूलं साक्षात्सेवाधिका रत्वेनसखीरूपम् । अधुना सूक्ष्मता जडतादिवाञ्छनेन मन्दीभूतं, लाघवताभिलाषिणं सन्दीपयतु, तादृशयथेष्टसूक्ष्मतादि

रसकलश

यह बताया गया है । इससे पूर्व यद्यपि यह कह आये है कि कुंकम ही प्रेम और रस का दाता है, तथापि कुंकुम को आधेय और यमुना को उसका आधार होने के कारण यमुना को भी प्रेम-रस देने वाली कह दिया है । आश्रयी के गुण आश्रय में उतर आते हैं ।

इस प्रकार, गौर-श्याम-स्वरूपा, दम्पति के प्रेम और रस का आधार, परम वनवासिनी और सखी को प्राण प्रदान करने वाली यह यमुना ही है, और कोई नहीं । ऐसी यमुना 'इह' अर्थात् इस वृन्दावन में मेरे मन्द हुए हृदय को प्रकाश प्रदान करें । हृदय मन्द तब हो जाता है जब कि प्रिया-प्रियतम से सम्बन्धित भावों के उद्रेक की सम्भावना कम हो जाय, या विपरीत भावनायें उठने के कारण रसात्मक भावनाओं का प्रभाव मस्तिष्क से निकल जाए । इस प्रकार की मन्दता=कुंठा को दूर कर मन का ऐसा संस्कार दे कि उसमें से दूषित भावनाय निकल जायें और उनके स्थान पर गुणों का समावेश हो जाय । अर्थात् आपके यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट कर दे, ताकि मैं दम्पति संबंधी आनन्द को देख सकूं—यह भाव है । साधकों को शिक्षा देकर उन्हें अनुगृहीत करने के लिए श्रीहितसखी ने अपने को मन्द कहा है ।

अन्तरंग-पक्ष में हृदय के मन्द होने का अर्थ होगा -जो पहले मन्द नहीं था, किन्तु बाद में मन्द हो गया या हो जाता हो—ऐसे हृदय को पहले हृदय इस अर्थ में मन्द नहीं था कि सखी-रूप से साक्षात्-सेवा का अधिकार होने के कारण उसे अपनी स्थूल वृत्तियों से ही काम पड़ता था । बाद में श्रीहितसखी ने यह इच्छा प्रकट की कि बिना किसी संकोच के रति-विलास का दर्शन करने के लिए मैं तरु-लताओं की तरह जड़ हो जाऊं या अणु की भांति सूक्ष्म बन जाऊं । इस प्रकार अपने अत्यन्त सूक्ष्म-स्वरूप की इच्छा के कारण हृदय मन्द हो गया । श्रीहितसखो अब यह प्रार्थना करती हैं कि इस प्रकार मन्द हुए मेरे हृदय को श्रीयमुना पुनः संवेदनशील बना दे—अर्थात् श्रीयमुना

प्रकाशयत् । यथा त्वमपि जलरूपत्वेन पीतश्यामधारणेन तत्तत्प्रेमरसमनुभवसि, उभयथा स्थूलसूक्ष्मरीत्यैव सुखं भुनक्षीति ते महासामर्थ्यम् । अतो मामपि लघिमानमणिमानं वा सिद्धिं देहि, येन निःशङ्कं त्वमिवाहमपि सुखमनुभवामीति त्वामेव प्रार्थये, इति भावः । अत्राणिमादिवाञ्छनं तादृशीनां न शङ्क्यम् । किञ्चेदं रुच्यतिशयस्वरूपमेव यत् साक्षात्कारेऽपि ताद्रूप्यातिशयं वाञ्छति । एवं प्रियस्य प्रियायाश्चाप्यभिलाषातिशयवर्द्धने कथनाधिक्यं सम्भवत्येवेति, अन्यथा 'श्रीराधाकिंकरीणां लुठति चरणयोरद्भुता सिद्धिकोटिः' इत्युक्तेर्विसंवादित्वं स्यात् ॥२६३॥

एवं पद्यद्वयेन यद्दम्पतिलीलासामयिकं श्रीवनयमुनाद्यभूत्तदेवाधुनापि तत्सूचकं मम दृश्यते, नचान्यादृगित्युक्तम् । इदानीं तद्वासिसिद्धान्ते कर्तव्ये ननु यमुनापि सैवास्तु, वनमपि तदेवास्तु, स्थाष्णुत्वात्, परन्तु लीला परि-

---

रसकलश

जैसे पीले और श्याम रंग को (गौर-श्याम तेज को) जल में आत्मसात् कर प्रेम और रस का अनुभव करती हैं और स्थूल रूप से भी गौर-श्याम शरीर की क्रीड़ाओं का आनन्द लेती है, वैसे ही दम्पति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप भी मेरे हृदय को स्पष्ट प्रतिभासित हो जाय । हे यमुने ! इस प्रकार आपकी सामर्थ्य अपार है । मुझे भी कृपा कर अणिमा और लघिमा की सिद्धियाँ दीजिए ताकि मैं भी बिना किसी संकोच के आपकी ही तरह सुख का उपभोग कर सकूँ । यह प्रार्थना मैं आपसे ही करती हूं—यह भाव है । यहाँ यह समझना भूल होगी कि श्रीहितसखी जैसी सखियाँ अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए आतुर हैं, बल्कि यह तो प्रेम-रस में अपनी निरतिशय रुचि व्यक्त करने के ही लिए ऐसा कहा है; क्योंकि उन्हें तो प्रिया-प्रियतम के साक्षात् — दर्शन का सौभाग्य प्राप्त है ही, फिर ऐसी इच्छा करने का अभिप्राय सिवा इसके और क्या हो सकता है ? प्रिया-प्रियतम की अभिलाषा को उद्दीप्त करने के लिए बात को इस तरह बढ़ा-चढ़ा कर कहा ही जाता है, नहीं तो 'श्रीराधा की दासियों के चरणों में करोड़ों अद्भुत सिद्धियाँ लोटती रहती हैं (पद्य १४३) इस कथन से संगति नहीं बैठेगी ॥२६३॥

पिछले दो पद्यों में बताया कि श्रीवृन्दावन और यमुना आदि दम्पति की लीला के समय जैसे थे, उसी रूप में आज भी मुझे दिखाई दे रहे हैं, यहां तक कि लीला के चिन्ह भी परिलक्षित हो रहे हैं । इनमें से कोई भी बदला नहीं है । यह सब तो ठीक है, परन्तु आज, जबकि यह प्रश्न उपस्थित है कि वृन्दावन में रहने वालों के सम्बन्ध में किस प्रकार की धारणा बना कर चला जाय, तो यह शंका उठना स्वाभाविक है कि माना कि श्रीवृन्दावन भी वही है और श्रीयमुना भी उसी रूप में उपस्थित है—क्योंकि

करास्त्वन्तर्हिता लोकैरदृश्या वर्तन्ते । बहिरङ्गेत्वत्र युगसम्बन्धिन आगन्तुकलोका दृश्यन्ते, तेषु कथं तादृग्भावः क्रियते ? तत्रापि सत्सुभाव-क्रियावत्सु तु स्थापयितुं शक्यत एव, परन्त्वसत्सु घोरकर्मसु सर्वथैव न शक्यते—इत्याशङ्कायां तत्रान्यानपि शिक्षयन् स्वानुभवैकदृष्टचा अमन्द-हृदयकामाह—

सद्योगीन्द्रसुदृश्यसान्द्ररसदानन्दैकसन्मूर्तयः
सर्वेऽप्यद्भुतसन्महिम्नि मधुरे वृन्दावने सङ्गताः ।
ये क्रूरा अपि पापिनोन च सतां संभाष्यदृश्याश्च ये
सर्वान् वस्तुतया निरीक्ष्य परमस्वाराध्यबुद्धिर्मम
॥२६४॥

रसकलश

दोनों तत्व नित्य हैं—परन्तु दम्पति का लीला परिकर—सखीसमाज अब नहीं दिखाई देता । चर्म-चक्षु से देखने पर तो नव-युग की कुण्ठाओं से प्रताड़ित आगन्तुक ही दिखाई देते हैं । उन्हें वैसी आदर-दृष्टि से देखना कैसे सम्भव है ? हां, उनमें जो व्यक्ति सज्जन हैं, जिनमें भाव-भक्ति है और जो तदनुसार आचरण करते हैं, उनमें तो किसी प्रकार पूज्य-बुद्धि स्थापित की भी जा सकती है, परन्तु आततायियों के सम्बन्ध में तो यह सम्भव नहीं है । इस प्रकार की शंका होने पर औरों को शिक्षा देने के उद्देश्य से केवल अपने अनुभव के आधार पर अपने उद्बुद्ध हृदय की भावना को बताते हैं—

'आश्चर्यजनक तथा सत्-स्वरूप नित्य महिमा से मंडित श्रीवृन्दावन में जो रहते हैं, उन सबको श्रेष्ठ योगीन्द्र ही भलीभांति देख सकते हैं । वे सघन रस को देने वाले आनन्द की एक मात्र श्रेष्ठ मूर्ति हैं । और जो निर्दय हैं, पापी हैं और सज्जनों के साथ संभाषण एवं दर्शन के योग्य भी नहीं हैं, उन सब को तात्विक दृष्टि से देख कर उनमें भी मेरी परम आराध्य-बुद्धि ही रहती हैं' ॥२६४॥

पद्य में वर्णित योगीन्द्र आदि विशेषणों से संपन्न जो लोग अद्भुत एवं महिमा-पन्न श्रीवृन्दावन में रहते हैं । उन सब को (मैं आराध्य-बुद्धि से ही देखना चाहता हूं)।

पं० श्री ओंकारदत्त शास्त्री ने इस पद्य का जो अर्थ किया है, वह भी द्रष्टव्य है—

'जो व्यक्ति अति क्रूर एवं पापी हैं और सज्जनों के साथ भाषण एवं देखने योग्य भी नहीं हैं, वे सभी अद्भुत महिमाशाली श्रीवृन्दावन के सभाग को लाभ करके श्रेष्ठ योगिन्द्रों के भी दर्शनीय, मधुर रसमय एवं आनन्द की एकमात्र श्रेष्ठमूर्ति हो जाते हैं, उन सबको वास्तविक रूप से देख (जान) कर मेरी (उनमें अपने) परम आराध्य की बुद्धि हो ।'

सद्योगीन्द्रेति अद्भुतादिविशिष्टे वृन्दावने ये सङ्गतास्ते सर्वेऽपि सद्योगीन्द्राणां सुष्ठु याथार्थ्येन दृश्याः सान्द्ररसदानन्दैकसन्मूर्तयो येषां तादृशाः सन्ति। ये च क्रूराः पापिनः च, पुनः सतां न सम्भाष्या न दृश्याः श्वपचाद्या, वा मद्यमांसाशिनो, हिंसका म्लेच्छाश्चेति, तान् सर्वान् वस्तुतया वास्तवेन तत्वदृष्टया निरीक्ष्य मम परमा, सुष्ठु, आराध्या बुद्धिरेवास्ति, न च दोषदृष्टिरिति भावः।

यद्वा पदत्रये जातित्रयम् आद्यास्तु परिकरा एव, द्वितीयाः सम्यक्तया भावेन, प्रेम्णा सेवनार्थं गताः प्राप्ता उपासका भक्ताः। तृतीयाः क्रूराद्या उपेक्ष्या हेयाश्च। तेष्वपि परमस्वाराध्यबुद्धिः क्रमेण पूर्वपूर्वोत्तमतया ज्ञेया। आद्येषु परमत्वविशिष्टा, ध्येयत्वात्। द्वितीयेषु सुष्टुत्वविशिष्टा, तनुमनोधनैरुपास्यत्वात्, सङ्गतिकरणीयत्वाच्च। तृतीयेष्वाराध्येति पूज्यमात्रैव, न च सेव्यगोष्ठीकरणीयत्वादिमयी।

रसकलश

उनमे एक वर्ग तो उन महानुभाओं का है जिनका सत्स्वरूप (सन्मूर्ति) उच्च कोटि के योगियों द्वारा ही यथार्थरूप में भली भांति प्रत्यक्ष किया जा सकता है। दूसरा वर्ग उनका है जो निर्दय हैं, पापी हैं तथा जिनसे सज्जन लोग न तो बातें करना पसन्द करते हैं और न आँख उठाकर देखते ही हैं। चाण्डाल, मांसभक्षी हिंसक और म्लेच्छ इसी कोटि में आते हैं। इन दोनों प्रकार के निवासियों को यथार्थ दृष्टि से देख कर उनके प्रति मेरी अत्यन्त पूज्य बुद्धि ही है, दोष-दृष्टि नहीं—यह भाव है।

अथवा यह समझना चाहिए कि पद्य के प्रथम तीन चरणों में तीन प्रकार के लोगों का उल्लेख किया गया है। पहले वर्ग में आता है परिकर, दूसरे में वे उपासक या भक्त जो श्रीवृन्दावन में भाव-भक्ति रख कर प्रेम से उसका सेवन करने के लिए वहाँ जा पहुंचे हैं। तीसरे प्रकार के लोग वे हैं जो क्रूर हैं, अत एव उपेक्षा करने के योग्य हैं, त्याज्य हैं। इनमें भी मेरी परम आराध्य-भावना है। हाँ, यह जरूर है कि इन तीनों में मैं पहली श्रेणी के लोगों को परम श्रेष्ठ मानता हूं, दूसरे वर्ग में आने वालों को उत्तम और तीसरे प्रकार के लोगों को उनसे उतरा हुआ। दूसरे शब्दों में, प्रथम प्रकार के लोग विशेष रूप से परम ध्येय हैं, दूसरे भली-भाँति (सम्यक् रूप से) तन, मन, धन से उपास्य हैं, क्योंकि उनकी संगति करनी चाहिए—और तीसरे पूज्यमात्र हैं। वे सेवन करने तथा विचार-विनिमय के पात्र नहीं हैं।

अथवा आराध्य-बुद्धि के उक्त क्रम को उलटा भी जा सकता है। इसके अनुसार मनोबल, भावना बल और स्थापना-बल के द्वारा आराध्य बुद्धि की जाएगी। प्रथम वर्ग

यद्वा व्युत्क्रमेण, मनोभावस्थापनबलकरणापत्तः। आद्येषु स्वत एव भावोत्पत्तेराराध्यता, द्वितीयेषु लौकिकभावदेहादिदर्शनाद्भावनाबलेन स्वाराध्यता, तृतीयेषु बहिः प्रयान्तमपि भावं बहुसिद्धान्तबलेन स्थापनात् परमस्वाराध्यतेति। किञ्च परमत्वेन कदाचित् स्वप्नेऽपि विकृतिं तदपेक्षया न प्राप्नुयादिति। अत्र दाढर्चं तात्पर्यम्, न च श्रीहितस्य भावन्यूनत्वं शङ्क्यम्। लोकानुग्राहकत्वेन बहुतरदाढर्चमुपदिशन् वक्तीति ज्ञेयम्। किञ्च क्रूरादिपर्यन्तं यदा दृढभावः क्रियते तदैव सत्स्वपि दृढं स्थास्यतीति।

अथ सद्योगीत्यादि प्रतिपदं साभिप्रायतामाह—(१) योगिनः, (२) इन्द्राः, (३) सद्योगीन्द्राश्चेति, (१) दृश्यमात्राः, (२) दृश्याः, (३) सुदृश्याश्चेति। (१) आनन्दैकसन्मूर्तयः, (२) रसदानन्देति, (३) सान्द्ररसदानन्देति। क्रमेणापि व्याख्यायते—योगोऽष्टाङ्गः, स्तत्रापि सबीजेश्वराराधनध्यानभक्ति-

---

रसकलश

अर्थात् लीला-परिकर के सम्बन्ध में तो आराध्य-भाव स्वतः ही मन में पैदा होंगे। दूसरे वर्ग—वे लोग जो प्रेमपूर्वक श्रीवृन्दावन का सेवन करने के लिए वहां रहते हैं—के संबंध में, उनके लौकिक भाव और शारीरिक चर्य्या को देख कर वे सम्यक् रूप से आराध्य माने जायेंगे। अब रहा तीसरा वर्ग क्रूर और पापियों का, सो उनके सम्बन्ध में परमस्वाराध्य-भाव को घेर-बटोर कर, सिद्धान्त के बल पर उसकी प्रतिष्ठा करनी होगी। (इस क्रम-विपर्यय में परिकर-वर्ग केवल आराध्य है, वृन्दावन के प्रेमी दूसरे वर्ग के स्वराध्य हैं, और क्रूर और पापी आराध्य, स्वराध्य से भी बढ़ कर परमस्वाराध्य है।) 'परम' शब्द का तात्पर्य यह है कि क्रूर और पापियों की करतूतों के बावजूद भी, उनके संबंध में, स्वप्न में भी, किसी दूषित भाव को मन में फटकने नहीं दिया जाएगा। श्रीहितसखी का तात्पर्य यह है कि उनके सम्बन्ध में अपनी आराध्य-भावना-को दृढ़ करके रखना होगा। इस स्थल पर यह शंका नहीं करनी चाहिए कि इन तथाकथित क्रूरों के संबंध में श्रीहितमहाप्रभु की भावना पहले ही से अच्छी नहीं है, अतः वे अपनी इस कमी को दूर करना चाहते हैं। ऐसी बात नहीं है। वे तो सर्वसाधारण को अनुगृहीत करने के लिए उन्हें सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा दे रहे हैं—यह ज्ञातव्य है। दूसरी बात यह है कि क्रूर व्यक्तियों के संबंध में आराध्य—भावना को जब पक्का किया जाएगा, तभी सज्जनों के प्रति वह जम कर बैठेगी।

'सद्योगीन्द्र' इत्यादि में प्रत्येक पद का प्रयोग किसी विशिष्ट अभिप्राय से किया गया है। उसी को बताते हैं—'सद्योगीन्द्र' से लेकर 'सान्द्रानन्द' तक तीन वर्ग हैं और इनमें से प्रत्येक वर्ग में तीन-तीन प्रकार के व्यक्तियों का उल्लेख है। जैसे (१) योगी, (२) योगीन्द्र और (३) सद्योगीन्द्र। इनकी विशेषतायें भी तीन प्रकार की हैं—(१) दृश्य-

निष्ठो ज्ञेयः । तद्वतां शुद्धसत्वदृष्टीनान्तु तावत् दृश्या आनन्दैकसन्मूर्तिः सती, सत्या, नित्या, ब्रह्मत्वावशेषात् । ब्रह्म चानन्दमयं, मूर्तित्वेऽपि निर्विशेषानन्द-रूपमवभासिते, यथा—सूर्याकृतिभ्यामर्वाक् तेजोमात्रदर्शनप्राथम्यम् । केवलानन्दोक्तौ सामान्ययोगिदुर्लभसत्यलोकावरणलोकाद्यानन्दोऽपि प्रसज्येत । स चान्ते ब्रह्माण्डादिलये नित्यसत्यत्वाभाववान् । अतः 'सत्'-पदं दत्तम् । तेन मूर्तित्वेऽपि साकृतिनाशो न शङ्क्यः । केवलसत्वे आनन्दतिरोभावाज्जड़तैव, प्रधानवत् । किञ्च अजापि नित्यैव वर्ण्यते, अतस्तदभावात् 'आनन्दे'-ति ।

रसकलश

मात्र, (२) दृश्य, और (३) सुदृश्य । एक दूसरे प्रकार की तीन विशेषतायें इनकी हैं · (१) आनन्दैकसन्मूर्ति, (२) रसदानन्द, और (३) सान्द्ररसदानन्द । इन सब की क्रमशः व्याख्या की जाती है—योग के आठ अंग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) बताये गए हैं । प्रस्तुत में परब्रह्म के आदि' कारण श्रीकृष्ण की ध्यान-भक्ति से विशिष्ट योग से ही यहां अभिप्राय है[२] । ऐसे भक्त-योगियों को, जिनकी दृष्टि शुद्ध सत्वप्रधान है, प्रत्यक्ष होने वाली केवल आनन्द की वे मूर्ति हैं । यह मूर्ति सत्य है, नित्य है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप है । और ब्रह्म है आनन्दमय । यह वह ब्रह्म है जो मूर्त होते हुए भी निर्विशेषानन्द रूप में प्रतिभासित होता है, जैसे सूर्य और उसकी मूर्ति को नीचे से देखने पर पहले उसका केवल तेज ही दृष्टिगोचर होता है (वैसे ही) । 'आनन्दैक' न कह कर यदि केवल आनन्द की ही मूर्ति कहा जाता तो सामान्य योगी के लिए दुष्प्राप्य सत्यलोक, आवरणलोक आदि के आनन्द में भी लक्षण-प्रसक्ति हो जाती । सत्यलोक आदि के आनन्द को नित्य, सत्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्माण्ड आदि का लय हो जाने पर उस आनन्द की नित्यता एवं सत्यता उन्हीं लोकों के साथ नष्ट हो जाती हैं । इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये 'सत्' पद का उपादान किया गया है । यही कारण है कि मूर्तिमान् होने पर भी आकृति के नाश का प्रश्न नहीं उठता । यदि 'आनन्द' का उपादान न कर मूर्ति को केवल सत् ही

---

१. श्रीकृष्ण के आदि कारण होने के कुछ प्रमाण यहाँ दिये जाते हैं—

(१) सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थिरः ।
तस्यापि भगवान् कृष्णः, किमतद्वस्तु रूप्यताम् ।। श्रीमद्भागवत–१०।१४।५७

अर्थ—भूत, इन्द्रिय, अन्तःकरण, देव, कर्म, काल, स्वभाव, माया आदि सब का परमार्थ ब्रह्म में स्थित होता है । भगवान् कृष्ण उस ब्रह्म का भी कारण हैं । अतः कृष्ण के अतिरिक्त और किस वस्तु का निरूपण किया जाय ?

(२) भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्व लोकमहेश्वरम् ।
सर्गोत्पत्त्यत्तकृद् ब्रह्मकारणं मोपयाति सः ।। श्रीमद्भागवत–१७।१८।४५

अर्थ—हे उद्धव ! अनपायिनी भक्ति के द्वारा सब लोकों के स्वामी, सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश करने वाले, ब्रह्म के कारण मुझे जीव प्राप्त कर लेता है ।

'न यत्र माया किमुतापरे' इति श्रीभागवतोक्तेः 'एक'-पदं दुःखासंभिन्नत्व-व्यञ्जकं, अवतारान्तरलोकेऽपि कादाचित्कतिरोभावसंशयनिरसनार्थम् । इति योगीन्द्रदृश्यत्वम् ।

अथ योगीन्द्रत्वम् । योगे च केवलध्यानैकानन्दमज्जनपर्यवसानत्वं, न तु चित्तवडिशो द्धारणेन निर्विषयाश्रयैकतात्पर्यम् । तत्रापि श्रीगोपालो-पासकत्वं, तद्वतां सविशेषमाधुर्यानन्दभानात् रसदानन्दमूर्तिर्दृश्या । पूर्वत्र दृश्यमात्रेति भेदः । कृष्णस्य रसमयत्वात् रसदत्वम् । अतः सविशेषा साक्षाद्दृश्या, आकृतिमत्तेजोवत् । अथ ततोऽपि श्रीआल्हादिनीसंयुक्तकृष्णो-

रसकलश

कहा जाता । तो आनन्द के अभाव में, सांख्य-सम्मत प्रकृति की तरह वह मूर्ति भी जड़ समझी जाती । फिर अजा[1]=माया भी तो नित्य ही है । जहाँ माया नहीं है, वहाँ तो आनन्द ही है । श्रीमद्भागवत में कहा है—'जहाँ माया की शक्ति का भी प्रभाव नहीं है, वहाँ औरों का तो कहना ही—क्या[2] ?' 'आनन्दैक' में 'एक' (केवल) पद की व्यंजना यह हैकि इस मूर्ति में दुःख का किंचित् भी संमिश्रण नहीं है और साथ ही इस सन्देह का भी निराकरण कर दिया है कि किसी अन्य अवतार से संबन्धित लोक में इस प्रकार का आनन्द प्राप्त हो सकता है । यह है 'योगिदृश्य' की व्याख्या ।

अब आते हैं 'योगीन्द्र' पर योग में ध्यान का पर्यवसान एकमात्र आनन्द में डुबकियाँ लगाने में होता है, यह नहीं कि चित्त-वृतियों का विरोध कर निर्गुण तत्व में लीन होना ही उसका उद्देश्य हो । (प्रस्तुत में इसी प्रकार के योग से तात्पर्य है ।) उसमें भी श्रीगोपाल का उपासक होना ! इसमें उपासना में सविशेष (सगुण) माधुर्यानन्द की अनुभूति होने के कारण रस प्रदान करने वाली आनन्द मूर्ति दृष्टिगोचर की जा सकती है इससे पूर्व मूर्ति को दृश्यमात्र कहा है, अब केवल दृश्य बताते हैं यह भेद है सामान्य योगी और योगीन्द्रों की दृष्टियों में (अर्थात् योगियों को तो मूर्ति की झलकमार कर ही रह जाता है, जबकि योगीन्द्र उसे स्पष्ट रूप में देखते हैं ।) रसमय होने के कारण श्रीकृष्ण परम रस के दाता हैं, अतः उन्हें अपने समस्त गुणों के साथ देखा जा सकता है, जैसे कि रूप-रेखा-समन्वित किसी तेज को । उसमें भी आल्हादिनी शक्ति से विशिष्ट श्रीकृष्ण के उपासक को अनुभूत होने वाया रस घना होगा ही । उससे होता यह है कि बाहर और भीतर, दंपती की चेष्टायें, उनकी लीला, इस-विनोद का अनुभव करते हुए सूर्य की तरह साक्षात्कार होता है । यही सद्योगीन्द्र की विशेषता है । अथवा योगी, योगीन्द्र और सद्योगीन्द्र का नामकरण क्रमशः, तप, ज्ञान और भक्ति के आधार पर किया जा सकता है । उनमें सद्योगीन्द्र वे हैं जो सघन रस को देने वाली आनन्द की

(१) 'अजामेकां लोहितकृष्णवर्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाम् ।'
(२) श्रीमद्भागवत—२।९।१०

पासकत्वात् सान्द्रत्वम् । रसस्य तेन बहिरन्तराकूतलीला हासविनोदाद्यनुभवकारकसूर्यसाक्षात्कारवद्दर्शनात् सद्योगीन्द्रत्वम् । यद्वा तपोज्ञानभक्त्यभिप्रायेण त्रित्वमिति । तेषान्तु सुतरां सुष्ठु वा सूक्ष्मभावज्ञानान्तं दृश्या सान्द्ररसदासन्मूर्तिरिति । नामभेदस्तु सहृदयगम्यः । तथापि योगिनो वशिष्ठाद्याः, तदिन्द्राः सनकाद्याः सद्योगीन्द्राः शिवोद्धवनारदादयः, सखीभावभजनादित्यपि ध्येयम् ।

एवं वनमपि त्रिविधम् । सन्महिमत्वं त्वस्त्येव, सत्यत्वान्नित्यत्वात्, भगवत्वत्सापहरणसमये ब्रह्मरूपत्वदर्शनात् । 'मदीयं महिमानं परब्रह्मेति शब्दितम्' इति । महिमा ब्रह्मैव । तत्र सत्वं सविशेषभगवत्तत्वमयत्वात्, यथा वैकुण्ठवत् । यथा द्वितीयस्कन्धे—'तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः सन्दर्शयामास परं न यत्परम्' इत्याद्युक्तेरिव वृन्दावनधाम्नः सन्महिमा ।

रसकलश

सन्मूर्ति का साक्षात्कार 'सु'=अविच्छिन्न रूप से अथवा भलीभाँति (सम्यक्) इस सीमा तक कर लेते हैं कि प्रिया-प्रियतम-संबन्धी अत्यन्त सूक्ष्म भावों को भी जान जायें। योगी, योगीन्द्र आदि नामों का भेद सहृदय समझ सकते हैं, तथापि योगियों में वसिष्ठ आदि की गणना होती है, योगीन्द्रों में सनक आदि की और सद्योगीन्द्रों में शिव, उद्धव, नारद आदि की । कारण यह है कि इनकी उपासना सखी भाव की है ।

इसी प्रकार वृन्दावन भी तीन प्रकार का है—(१) सन्महिम, (२) अद्भुत और (३) मधुर । सत्य और नित्य होने के कारण वह सत्.महिमा से तो युक्त है ही । बछड़ों के चुराने केप्रसंग में ब्रह्मा को उसके ब्रह्मस्वरूप का भी दर्शन हुआ था[1] । श्रीकृष्ण की उक्ति है—'परब्रह्म शब्द से मेरी महिमा का ही बोध होता है ।' यह महिमा ब्रह्म ही है । सगुण भगवनतत्त्व से युक्त होने के कारण वह महिमा 'सत्' है—उसी प्रकार जैसे कि वैकुण्ठ । श्रीमद्भागवत में कहा है—'भगवान् ने प्रसन्न होकर ब्रह्मा को वैकुण्ठ के दर्शन कराए' (२,९,९) इन उक्तियों के आधार पर वृन्दावन भी सत्-महिमा -संपन्न है । ब्रज-संबन्धी कृष्णरस का आनन्द देने के कारण वह अद्भुत है । उसमें भी श्रीराधा के संबन्ध से निकुँज—विलास के आनन्द से परिपूर्ण होने के कारण वह मधुर है । इस

१. श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध, अध्यांय तेरह में उस प्रसंग के वर्णन में ब्रह्मा ने गोप और बछड़ों को परब्रह्मस्वरूप देखा है—

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ।।
एवं सकृद्ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान् ।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ।।५५

तत्राद्भुतत्वं व्रजसम्बन्धिकृष्णरसानन्दत्वात् । ततोऽपि श्रीराधिकासम्बन्धेन कुञ्जविलासानन्दमयत्वात् मधुरत्वम् । एवमद्भुतसन्महिम्नि मधुरे वृन्दावने सङ्गतास्ते सर्वेऽपि सान्द्रानन्दमया एव, अर्थात् परिकरा एव दृश्याः ये च क्रूराद्यास्तेषां लोकदृष्टौ आराधनबुद्धेः परमत्वं कुतस्तमां, सौष्ठवमपि कुतस्तरां, आराध्यमात्रतापि कस्यचिन्न भासते । परन्तु मम तु 'परमे'-त्यनेन पूर्णतमाराध्यबुद्धिरेवास्ति, न च तारत्तम्यमिति । यद्वा सन्महिमत्वेऽप्यद्भुतत्वमयोग्येऽपि महारसदानात् । यथा—'यत्प्रेमामृतसिन्धुसाररसदं पापैकभाजामपि । इति वक्ष्यमाणात् । 'सङ्गताः' इत्युक्तेर्वसन्त इति, न चासङ्गतानां सामान्यधिया त्यक्त्वा गच्छतामिति । किञ्च गृहस्वामिन एवाज्ञया तत्र प्रवेशसम्भवात् । ततः 'सर्वे' इत्यनेन सदसतः 'स्थिरचरा इति वृन्दावनीया एव । अतः 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' इति न्यायेन अविद्योपाधिकदृष्टि दूरीकृत्य वास्तवेनैव द्रष्टव्यमिति भावः ।

रसकलश

प्रकार जो लोक अद्भुत और सत्-महिमा से संपन्न मधुर वृन्दावन में रहते हैं वे सब घने आनन्द से परिपूर्ण हैं—अर्थात् उन सब को सखी-परिकर की दृष्टि से ही देखना चाहिए । जो लोग दूर हैं, उनमें परम आराध्य-बुद्धि रखने की बात तो बहुत दूर की है, भली-भाँति (सु) रखने का भी कोई प्रश्न नहीं उठता । उनका आराध्य मात्र होना भी किसी को नहीं रुचेगा । जो कुछ भी हो, औरों की बात मैं नहीं कहता । मेरी तो उनमें परम=पूर्णतम आराध्य-बुद्धि ही है । मेरी इस भावना में कहीं अपेक्षाकृत न्यूनाधिक्य नहीं है । अथवा श्रेष्ठ महिमाशाली होने पर भी वृन्दावन इस दृष्टि से अद्भुत है कि वह अयोग्य व्यक्ति को भी महारस देता है । इसी स्तव में आगे (पद्य २६५) में कहेंगे—'जो पापियों को भी प्रेमामृत-सिंधु के सारभूत रस को देता है, 'उस आश्चर्यजनक श्रीवृन्दावन की दुर्गम महिमा मेरे हृदय में प्रवेश प्राप्त करे ।' 'सङ्गताः' का अर्थ है—रहनेवाले । जो वृन्दावन में रहते नहीं हैं, बल्कि साधारण-भाव से वहाँ आते-जाते हैं, उनमें मेरी आराध्य बुद्धि नहीं है । दूसरी बात यह कि गृहस्वामी की आज्ञा से ही वहाँ प्रवेश हो सकता हैं । अतः 'सर्वे' से अभिप्राय वृन्दावन में रहने वाले स्थावर-जंगम प्राणियों एवं पदार्थों से ही है । अतः 'जैसा है उसका समाधान करना चाहिये ।' इस न्याय के अनुसार अपनो अज्ञानावच्छिन्न दृष्टि को दूर कर इस भावना से ही देखना चाहिये कि श्रीवृन्दावन में रहने वाले लोग वास्तव में ही आराध्य हैं ।

शंका होती है—'रस को प्राप्त कर आनन्द से परिपूर्ण हो जाता हैं,' इस श्रुति के अनुसार रस का आनन्ददायी होना तो संगत है, न कि आनन्द का रस-प्रदाता

ननु रसं 'लब्ध्वानन्दीभवतीति' तदा रसस्यानन्ददत्वं घटते, न चानन्दस्य रसत्वमिति। तत्रैवम्—पूर्वं त्वेते रसप्राप्तिपूर्वकानन्दवतो जाताः। रसस्तेषामन्तःस्थितोऽमृतमयचन्द्रवत्, द्रष्टृणामानन्दैकप्राथम्यात् ज्योत्स्नावत्। तत आनन्दानुभूतौ रसद्रवाद्रसदत्वनिश्चय इति।

अथ सामान्यविशेषाभ्यां वास्तवत्वविवरणम्—तावत् 'किं भद्रं किमदं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्' इति वस्तुव्यतिरिक्तं सर्वं द्वैतमिति, 'सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षाम्' इति, 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति,'—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

रसकलश

होना। इस संबंध में ज्ञातव्य यह है कि पहले तो वृन्दावनवासी रस-लाभ कर आनन्द से युक्त हुए। रस उनके अंदर ही (निष्क्रिय रूप में) विद्यमान रहा, जैसे चंद्रमा में में अमृत रहता है। चन्द्रमा के देखने पर जिस प्रकार पहले-पहल उसकी किरणें चाँदनी) से ही चाक्षुष संपर्क होता है, उसी प्रकार पहले आनन्द का ही अनुभव हुआ। बाद में आनन्द की अनुभूति से जब रस झरने लगा, तो निश्चत हुआ कि वृन्दावन में रस भी है।

अब सामान्य और विशेषरूप से वास्तविकता (वस्तुतया) की व्याख्या करते हैं—पहले तो 'द्वैतके मध्य में क्या अच्छा, क्या बुरा है, अथवा अच्छे-बुरे की मात्रा कितनी-कितनी है, वह सब परिकल्पना व्यर्थ है, क्योंकि वाणी से जो कुछ कहा और नेत्रों से जो कुछ देखा, वह सब मिथ्या ही तो है, वस्तु (पर-तत्व) से भिन्न सब द्वैत है,' सर्वत्र सत्-चित् रूप में आत्मा को देखे, नियन्ता के रूप में ईश्वर को देखे[२],' ईश्वर ही जीव जीव रूप में सर्वत्र विद्यमान है,' जो सब जीवों में अपने भगवद्भाव को देखता है और भगवत्-स्वरूप आत्मा में प्रणियों को, वही सर्वश्रेष्ठ भागवत है।[३] इन प्रमाणों के अनुसार भक्त को साधारण-भाव से सब प्राणियों में भगवान् को ही देखना चाहिए। मायाजन्य पदार्थों में जैसे यथार्थ-बुद्धि शीघ्र हो जाती है, वैसे ही सब जीवों में भगवद्-बुद्धि भी संभव है। किन्तु यह वन तो स्वयं तत्व है, वहां के निवासी भी तत्व-स्वरूप हैं। यदि वे भिन्न रूप में दिखाई देते हैं, तो ऐसा तो भगवान् के द्वारा की गई मोह-लीलाओं की तरह समझना चाहिए। इस प्रकार की लीला का उदाहरण वह प्रसंग है जब महाभारत युद्ध में श्रीकृष्ण रथ का पहिया घुमाते हुए भीष्म को मारने के लिए दौड़े थे। शर-शय्या पर पड़े भीष्म युधिष्ठिर से इसका वर्णन करते हुए कहते हैं—'मैंने

---

१. श्रीमद्भागवत--११।२८।४,
२. वही—११।३।२५,
३. वही—११।२।४५।

इत्यादिषु सामान्यतः सर्वैर्भगवदीयैस्तत्वदृष्टिः कार्यैव, तदपि सा मायिकपदार्थवत् सुसाध्यते ।अत्रेदं वनन्तु तत्वरूपमेव, तद्वासिनोऽपि तत्वमया एव। यदि चान्यथा दृश्यन्ते तदपि भगवतो सुख्यातमोहलीलावत् । यथा—'शितविशिखहतो विशीर्णदंशः क्षतजपरिप्लुत' इति नित्यसच्चिदानन्देऽच्छेद्याभेद्ये परमासंभाव्यमेव । तेन पूर्वापरविरोधभिया तर्कवद्भिन्यथानुपपत्तिरेवावश्यमाद्रियते, तद्वदत्रापीति । तत्र स्वकृता, परकृता भगवत्कृता चेति त्रयी । आद्या सद्योगीन्द्रशास्त्रादिनिश्चिते वस्तुन्यथाभाने स्वाज्ञानसंवृतदृष्टित्वान्यथानुपपत्तिरेव । यथा भागवते—'यथा भ्रमरिका दृष्टचा भ्राम्यतीव महीयते' इति । द्वितीया च स्वस्वरूपदर्शनानधिकारित्वज्ञानपूर्वकं क्रूरत्वाद्यैः स्वरूपाच्छादनान्यथानुपपत्तिः । तृतीया कृष्णस्य स्वामिन्या वा वृन्दावनस्य वा अपरिपक्वकषाये जने सहसा दुर्लभफलदानसङ्कोचेन भावदार्ढ्यक्रम-

---

रसकलश

वाणों से घायल हुए, कवच जिनका छिन्न-भिन्न हो गया था, शरीर खून से लथपथ था, ऐसे भगवान् मुझ आततायी को अर्जुन के रोकते-रोकते भी मारने के लिए दौड़े'।' नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् को न तो कोई काट सकता है और न घायल ही कर सकता है, तब पूर्वापर का विरोध होने पर तार्किक लोग यही समाधान करते हैं कि यह तो भगवान् की लीला-मात्र थी । ऐसा मानने के सिवा और कोई गति नहीं है । ऐसा ही प्रस्तुत में भी समझ लेना चाहिए । यह भ्रान्त दृष्टि तीन प्रकार की है—अपने द्वारा की गई, दूसरे के द्वारा तथा भगवान् के द्वारा । 'स्वकृत' वह है जिसके द्वारा सद्योगीन्द्र और शास्त्रों ने जिसे तत्व कह कर प्रतिपादित किया है। उससे भिन्न प्रकार की (अतत्वात्मक) प्रतीति हो। ऐसा तभी होता है जब कि द्रष्टा की बुद्धि अज्ञान से आच्छादित हो। ऐसा मानने के सिवा और कोई चारा ही नहीं है । श्रीमद्-भागवत में कहा है—'जैसे चक्कर खाती हुई आँख को पृथ्वी घूमती दिखाई देती है' (१०/४६/४१)। दूसरे प्रकार की भ्रान्त बुद्धि वह है जबकि क्रूरता आदि विकारों के कारण अपने यथार्थ स्वरूप को देखने का अधिकार ही न रहे। बुद्धि के आज्ञानाच्छादित होने के कारण ऐसा हुआ, यह मानने के अतिरिक्त इसका और कोई समाधान ही नहीं है। तीसरी प्रकार की भ्रान्त-दृष्टि में भगवान् का हाथ होता है। जब श्रीकृष्ण, स्वामिनी या वृन्दावन देखते हैं कि तत्व-ज्ञान के संबन्ध में अमुक व्यक्ति की बुद्धि अभी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है, अधकचरी या किसी अंश में मलीनता लिए हुए हैं, तो उसे दुर्लभ फल देने में उन्हें संकोच होता है और वे उसकी परीक्षा लेते हैं कि इस व्यक्ति की भावना सीढ़ी-दर-सीढ़ी दृढ़ होती जा रही है कि नहीं। इसके अतिरिक्त

---

२. श्रीमद्भागवत—१।९।३८

परीक्षान्यथानुपपत्तिः। यदा विषमशीलेषु क्रूरपापादिषु युष्माकं भावदार्ढ्यं भावि, तदैव परिपक्वा, धामयाथार्थ्यदर्शनयोग्या भवितास्थेत्याशयमयी।

ननु सर्वत्र तत्वदृष्टौ वृन्दावने तत्वदृष्टौ च को भेदः? तत्रैवम्—सर्वत्र तु मायिकपदार्थेषु निषेधशेषत्वेनात्मनि चिदंशे साध्यते। अत्र विडम्बनमात्रं तत्वदृष्ट्या निषिध्य मूर्त्ताविव साध्यते, इति भेदः, 'आनन्दैकसन्मूर्तयः' इत्युक्तेः, 'सद्योगीन्द्रदृश्यो'—क्तेश्च मूर्तिनित्यत्वम्। क्रौर्यादिरपि नात्मधर्म, स्तामसस्वभाव एव। तत्र तामसाद्यभावः। यदा च केवलदेह एव स्यात्तदा प्रह्लादविभीषणदावतिव्याप्तिः। अतो नश्वरहेयमिथ्यात्वावरणोपाधिष्वतात्विकत्वात् सत्य एव पर्यवसन्ने तत्वदृष्टिः कर्तव्येति सर्वथाप्यविरोधः।

रसकलश

तत्व को न पहिचानने का और कोई कारण ही नहीं है। जब विरुद्ध आचरण करने वालों, क्रूरों एवं पापियों के संबंध में तुम्हारी आराध्य-भावना दृढ़ होगी, तभी तुम परिपक्व होकर वृन्दावन-धाम की यथार्थता को पहिचानने योग्य हो सकोगे। वास्तविकता का यही आशय है।

प्रश्न होता है कि सर्वत्र तत्व-दृष्टि रखने और वृन्दावन के संबंध में तत्व-दृष्टि रखने में क्या अन्तर है? इसका उत्तर यह है कि अन्य सब मायिक पदार्थों में तो परतत्व का निषेध करने के बाद जीव को भगवान् का भी चैतन्यांश सिद्ध कर सब वस्तुओं में भगवद्-भाव रखने को कहा जाता है। परन्तु यहाँ तो जीवात्मा और परमात्मा के पचड़े का निषेध कर वृन्दावन की मूर्ति में ही परतत्व की प्रतिष्ठा की जाती है। (अर्थात् यहाँ परमात्मा और जीवात्मा-जैसा कोई विभाजन नहीं है, यह कि यहाँ का परतत्व अमूर्त भी नहीं है, क्योंकि श्रीवृन्दावन और वहाँ के निवासी स्वयं सविशेष परतत्व हैं और दृष्टिगम्य हैं।) इसीलिए वृन्दावन के निवासियों को 'आनन्दैकमूर्तयः' कहा है और उन्हें सद्योगीन्द्रों द्वारा प्रत्यक्ष-योग्य बताकर मूर्ति की नित्यता प्रतिपादित की है। क्रूरता भी आत्मा का गुण नहीं है, बल्कि तमोगुण-प्रधान स्वभाव ही है। अतः वृन्दावन तत्व में तमोगुण का अभाव है। यदि क्रूरता को देह का धर्म माना जाएगा, तो प्रह्लाद, विभीषण आदि को भी देहधारी होने के कारण वे भी क्रूर मान लिए जायेंगे। अतः वृन्दावनवासियों के संबंध में नश्वरता, हेयता, मिथ्या-बुद्धि आदि तत्व को आच्छन्न करने वाली उपाधियां ही तत्व-दृष्टि से जब अमान्य हैं और अन्त में वृन्दावन परम सत्य के रूप में ही जब उपस्थित होता है, तो वहाँ के सब जीवों में तत्व-दृष्टि रखनी ही होगी। इस प्रकार प्रतीयमान विरोध का निराकरण हो जाता

१—श्रीमद्भागवत—१०।१३।५, २—वही २।६।४०, ३—विप्रलिप्सा=वञ्चनेच्छा, यथा शिष्ये स्वज्ञातोऽप्यर्थो न प्रकाश्यते, करणापाटवम्=इन्द्रियमान्द्यं येन दत्तमनसापि यथावत् वस्तु न परिकीयते। एते प्रमातृजीव दोषाः प्रमाणेषु सञ्चरन्ति। श्रीभागवत सन्दर्भ—टीका, पृष्ठ ६.

सद्योगीन्द्राणां यदा तत्वतया दृश्यास्तदेतरसर्वजीवानां भ्रमप्रमादविप्रलिप्सा-करणापाटवादिदोषपिहितदृष्टीनां तर्कः सर्वथैवानादरणीयः। यथा—'तत्त-त्सात्विकमेवेषां यद्यद्वृद्धाः प्रचक्षते'[1] इतिवत्। यथा च—

'ऋषे! विन्दन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः।
यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम्[2] ॥'

इति। 'अचिन्त्या खलु ये भावास्तान्न तर्केण योजयेत्' इति। अतो यदा येषु भावदेशैक्यं मिलितं, तदा तत्सङ्गतिर्गोष्ठी सेवा च तनु मनोधनाद्यैः कर्तव्यैव। यदा च तैः स्वरूपमाच्छादितं, तदपि पूज्यत्वे नमनीयत्वे तु ते सर्वथा न च्युताः। यथा च प्रबोधानन्दैः—

श्रीवृन्दावनधामानन्यैः कुर्वत्यपि महारौद्रमुपद्रवमनुक्षणम्।
भक्तिर्वृन्दाटवीसत्त्वे तत्वे ख्याता सदास्तु मे ॥

यथा चान्यशतके—

रसकलश

है। जब उनके सम्बन्ध में सद्योगीन्द्रों की तत्व-बुद्धि है, तो उनके अतिरिक्त लोगों के तर्क का आदर तो किसी प्रकार करना ही नहीं चाहिए। क्योंकि इस कोटि के सब लोगों की दृष्टियाँ भ्रम, अज्ञान, ठगने की इच्छा, इन्द्रियों की मन्दता आदि विकारों से ग्रस्त[1] हैं। कहा भी है—'शास्त्र, जल, सन्तान, देश, काल, वर्णाश्रम-विहित कर्म, जन्म देवता विषयक ध्यान, मंत्र, संस्कार—ये दस गुण तीनों गुणों की उत्पत्ति के कारण हैं। इनमें जिनकी विद्यावृद्ध प्रशंसा करते हैं वे सात्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं वे तामस हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं वे तामस हैं। और भी कहा है—

'हे नारद! उस परम तत्व को वे ही लोग पहिचानते हैं जिनकी आत्मा, इन्द्रिय और मन निर्मल हों। जब वही प्रकाशमान तत्व दुष्ट लोगों के तर्कों से आच्छादित हो जाता है, तो वह विलुप्त हो जाता है।[2]

यह भी कहा है—'जो भाव बुद्धि के परे हैं उन्हें तर्क से सिद्ध नहीं करना चाहिए। अतः जिनके भाव और देश अपने से मेल खाते हों उन्हीं की संगति, उन्हीं से संभाषण और उन्हीं की सेवा शरीर, मन और धन से करनी चाहिए। यदि उनके स्वरूप की यथार्थता किसी कारण से आवृत हो, तोभी ये पूज्य और नमस्करणीय तो हैं ही। श्रीप्रबोधानन्द ने कहा है—

अनन्य भाव से श्रीवृन्दावन की उपासना करने वाले वहां के निवासी प्रत्येक क्षण भले ही भयंकर उत्पात मचावें, किन्तु वृन्दावन के सत्स्वरूप तत्व में मेरी भक्ति सदा प्रसिद्ध बनी रहे। (प्रथम शतक)

× × ×

भूतं स्थावरजङ्गमात्मकमहो ! यत्र प्रविष्टं किम-
प्यानन्दैकघनाकृतिस्वमहसा नित्योत्सवं भासते ।
मायान्धीकृतदृष्टिभिस्तु कलितं नानाविरूपात्मना,
तद्वृन्दाविपिनं कदाधिवसतः स्यान्मे तनुश्चिन्मयी ॥१७।४२

× × ×

'यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुः सर्वः पदार्थोऽप्यबुधैरदृश्यः ।
स्वानन्दसच्चिद्घनतामुपैति तदेव वृन्दावनमाश्रयन्तु ॥१७।४३॥

× × ×

वृन्दावनस्थेष्वपि येऽत्र दोषानारोपयन्ति स्थिरजङ्गमेषु ।
आनन्दमूर्तिष्वपराधिनस्ते श्रीराधिकामाधवयोः कथं स्युः ॥१७।४४

× × ×

परस्वस्तेयैकव्यसनमपि नित्यं परवधू-
प्रसक्तं विश्वेषामहह ! बहुधा हिंसकमपि ।
दुराचारं लोकाद्यपहतमपि भ्रातररुणं
दिवान्धस्त्वं वृन्दावनगतजनं नावगणयेः ॥१७।४७

रसकलश

जहां प्रविष्ट हुए स्थावर-जंगम समस्त प्राणिमात्र कोई अनिर्वचनीय सघन आनन्दस्वरूप होकर तथा अपने तेज से नित्य-आनन्दात्मक हो विराजते हैं, किन्तु माया के अन्धे जिन्हें सन्देहात्मक दृष्टि से देखते हैं, उसी वृन्दावन में वास करते हुए मेरा मन कब चित्स्वरूत होगा ? १७/४२

× × ×

जिस धाम में प्रविष्ट हुए सब जीव, सब पदार्थ अज्ञानियों द्वारा अदृश्य स्वानन्द सच्चित् घन स्वरूप को उपलब्ध करते हैं, उसी श्रीवृन्दावन का आश्रय ग्रहण करो । १७/४३ ।

× × ×

जो व्यक्ति श्रीवृन्दावन के स्थावर-जंगम पदार्थों पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं, वे आनन्द के मूर्तिस्वरूप वृन्दावनवासियों के प्रति अपराधी होकर श्रीराधा-माधव के दास कैसे बन सकते हैं ? १७/४४

× × ×

श्रीवृन्दावनवासी भले ही पराये द्रव्य का अपहरण करें, पर-स्त्रियों में आसक्त रहें, सब प्रकार की हिंसाये करें, दुराचारी हों, लोभ आदि कुवृत्तियों में ग्रस्त हों, तो भी हे भ्रातः ! दिन का अन्धा उल्लू जैसे सूर्य की उपेक्षा करता है, वैसे तुम वृन्दावन में रहने वाले व्यक्ति का अपमान मत करना ॥ १७/४७

अत्र वृन्दावनप्रभावेण सर्वक्रौर्यपापाद्यप्यागन्तुकस्य नङ्क्षन्त्येव, तत्रत्यानान्तु सर्वथैव न संशय इति, 'स्वानन्दसच्चिद्घनतामुपैति' इत्युक्तेः। एते वस्तुतया वृन्दावनीयतया वस्तुभूता एव। यदा च सर्वथैव भिन्नशीलास्तदप्यत्र वासात् 'सङ्गताः' इत्युक्तेः शाकम्भरीसरः पतितस्य तन्मयत्ववद्रसवने पतिता रसमया एव भविष्यन्तीत्यसंशयमेव। तेन किञ्चित्कालविलम्बेऽपि भावित्वादबाधितमेव वस्तुत्वं। वस्तुशबदस्य वृन्दावनत्वं 'माधुरीधुरीण' तोक्तेः। सान्द्रघनरूपत्वमाधारत्वञ्च, आधाराधेययोर्यथार्हत्वात्। मम च वृन्दावनं ध्येयम्। अतस्तदीयं यत्किञ्चित् सर्वमेव परमाराध्यं क्रूराद्यपि न हेयम्। आराध्याद् वनादप्येते परमस्वाराध्याः। यथा 'मद्भक्तपूजाभ्याधिका' इति, 'ततः परतरं देवि! तदीयानां समर्चनम्' इत्याद्युक्तेर्भगवत्प्रसादनवत् वनप्रसादनं ज्ञेयम्।

रसकलश

श्रीवृन्दावन के प्रभाव से यहां आकर रहने वाले के क्रूरता, पाप आदि भी सब नष्ट हो जाते हैं, तो वहाँ के मूल निवासियों के बारे में सन्देह ही क्या हो सकता है? यही तो श्रीवृन्दावन-शतक में भी कहा है कि 'वहाँ के समस्त पदार्थ सत्-चित-सघन-आनन्द-स्वरूप हो जाते हैं।' ये तो वस्तुस्वरूप अर्थात् वृन्दावनमय होने के कारण परतत्व हैं। यदि कदाचित् उनके स्वभाव, आचरण एकदम ही भिन्न दिखाई दें, तो भी वहां रहने के कारण वे तद्रूप हो जाते हैं। 'सङ्गताः' का यही तात्पर्य है। सिंघाड़े के तालाब में गिरा हुआ व्यक्ति जैसे उसी का रूप हो जाता है, वैसे ही रस के वन में पहुंचे हुए व्यक्ति भी रसस्वरूप हो जायेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह बात दूसरी है कि कुछ देरी लग जाए, किन्तु अन्त में उनके पर तत्व हो जाने में कोई बाधा नहीं होगी। परतत्व वृन्दावन ही है, क्योंकि उसे सब 'माधुरियों में श्रेष्ठ' कहा गया है। वह सघन रस-स्वरूप है, क्योंकि रसमूर्ति प्रियाजी का आधार है। आधार और आधेय में समानता होती ही है। मेरा ध्येय तो श्रीवृन्दावन ही है, अतः उससे संबंधित यावन्मात्र पदार्थ मेरे लिए परम आराध्य हैं। क्रूर और पापी भी त्याज्य नहीं है, बल्कि कहना चाहिए कि आराध्य श्रीवृन्दावन से भी बढ़कर हैं—परम आराध्य हैं। भगवान् ने कहा है—'मेरे भक्त की पूजा मुझ से भी बढ़कर है, यह कि 'हे देवी! भगवान् से भी बढ़कर भगवद्-भक्तों की अर्चना है।' जैसा भगवान् को प्रसन्न करना है' वैसा ही वृन्दावन को भी समझना चाहिए।

'निरीक्ष्य' का मतलब यह है कि स्वामिनी की अतिशय कृपा से ही मुझे यह सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त हुई है जिससे देखकर मैं यह सब कह रहा हूं। इस प्रकार श्रीहितसखी ने अपना यह निजी अनुभव बताया है। इससे दूसरों को भी यह शिक्षा दी है कि तत्व

'निरीक्ष्य' इत्यनेन नितरां स्वामिनीकृपातिशयेनैव सूक्ष्मतया दृष्ट्वा वच्मीति स्वानुभव उक्तः। अन्येष्वपि शिक्षेयं, वस्तुदृष्टिं विना स्वभावतो विषयेषु दोषदृष्टिः, ततः सत्वक्षोभो ग्लानिश्च, ततोऽशान्तिर्न च भावना। अतः सुखाभावात् सर्वनाशः। अतः सर्वेभ्योऽपि विषमेष्वाराध्यबुद्धिकरणज-दैन्येन सत्वशुद्धौ, सान्द्रानन्दभावेन स्वरूपाविरोधजभावसिद्धौ च सर्वं सेत्स्यतीत्यादि सर्वं सहृदयगम्यम्।

आन्तरापेक्षयामेवम्—'हा कालिन्दि !' इत्यत्र प्रार्थनीयपञ्चकं पूर्व-मुपक्षिप्तम्। तत्र श्रीकालिन्द्यास्तु गौरश्यामप्रेमरसमयतोक्ता। इदानीं चतुर्णां वक्तव्ये रसानन्दतामाह। किञ्च मृगमयूरादीनां पशुत्वे क्रौर्यादिदर्श-नादानन्दरसेतरत्वशङ्का चेत् तत्रैतेषां तत्वमाह--सद्योगिनः, सख्यः योगिनोऽपि भगवन्निष्ठसमाधित्वादेव भवन्ति। तेषामिन्द्रत्वं सिद्धयादितिरस्कारेण

रसकलश

पदार्थ को देखने के लिए अपेक्षित दृष्टि यदि न हो, तो जो लोग साधारण जन-समुदाय से भिन्न हैं उनके संबंध में दोषपूर्ण भावना हो जाती है और अन्त में मन अशान्त रहने के कारण भावना-शून्य हो जाता है। भावना में ही सुख है। जब वही नहीं रहा, तो सर्वनाश ही समझिये। अतः समाज के तथाकथित हेय जीवों के प्रति अन्य लोगों की अपेक्षा आराध्य-बुद्धि बढ़ कर होगी, तो अपने में दैन्य-भाव जागृत होगा, और फल-स्वरूप मन के शुद्ध होने पर जब सघन आनन्द की तरंगे उठने लगेंगी, तब (सम-दृष्टि प्राप्त हो जाने के कारण) स्व-पर में भेद-बुद्धि शून्य भाव रखने की स्थिति प्राप्त हो जायगी और सब काम सिद्ध हो जायेंगे। यह सब सहृदयों के अनुभव करने का विषय है।

अन्तरंग-पक्ष में व्याख्या का यह रूप होगा—'हा कालिन्दी !' इस पद्य (२६२) में कह आये हैं कि किस प्रकार श्रीहितसखी ने श्रीयमुना, तरु-लता, रतिगृह शुक तथा मयूर—इन पाँचों से अनुकंपा करने की प्रार्थना की है। उस प्रसंग में यह प्रतिपादित किया है कि कालिन्दी गौर-श्याम-तत्व तथा प्रेम एवं रस की मूर्ति है। अब शेष चार पदार्थों के रसानन्दस्वरूप होने के संबंध में कहते हैं—यह शंका हो सकती है कि पशु होने के कारण मृग, मयूर आदि तो क्रूर होते ही हैं और इस स्थिति में उनमें आनन्द और रस के सिवा अन्य सब प्रकार के आवेगों की संभावना है, अतः उनकी रसानन्द-मयता के सम्बन्ध में कहते हैं—'सद्योगिनः।' अर्थ है—भिन्न-भाव को प्राप्त योगीजन। भगवान् में समाधि लगाने के कारण ही वे योगी कहलाये हैं। उन योगियों में भी इन्द्र= श्रेष्ठ वे हैं जिन्होंने सिद्धि आदि की उपेक्षा कर वह पदवी प्राप्त की है। इससे उनका अखंड ऐश्वर्य प्रकट होता है। शिव, ब्रह्मा, आदि इसी गणना में आते हैं। देह का साधन प्राप्त कर ये लोग अन्तःकरण से भगवान् के साथ ऐक्य भले ही प्राप्त कर लें, किन्तु इन्हें

तादृशमित्यव्याहृतस्मरणैश्वर्यत्वम् । ते सर्वे शिवब्रह्मादिपर्यन्तं साधनदेहवत्वात् समाधावन्तःकरणात्मैकव्यवहाराः, न च मूर्तिव्यवहारा । अथेमास्तु सच्चिदानन्दमूर्तय, साक्षाद्ध्येयं क्रीडयन्त्येवेत्यतः परं प्राप्याभावात् पूर्णतमसाध्ययोगात् सच्छब्दवाच्याः, बाह्याभ्यान्तरयोस्तदेकयोजनात् योगीन्द्राः, सेवायां क्रीडावलोकने च तद्व्यवहाराच्छ्रेष्ठतमाः सन्तः सख्य इति । यद्वा दम्पतियोजनात् तद्विरहक्षणस्याप्यसहनात् संयोगसिद्धान्तिन इति । यद्वा सत्तार्थेन वृन्दावनेशसेवने तदेकसद्भावादय सन्त इमा एवेति । योगीन्द्रौ महासंयोगिनौ, परमभोगिनौ 'विच्छेदाभासे'-ति पद्योक्तशीलौ दम्पतीचेति ।

'अद्भुतसन्महिम्नि' इति 'मधुरे' इति पूर्णतमैश्वर्यमाधुर्यमये वृन्दावने, सम्यगिति नित्यसिद्धतया साधनसिद्धतया च गताः प्राप्तास्तदुपादानकतया धृतरूपास्ते सर्वे तरुलता शुकमृगमयूराद्याः स्थिरचराः सद्योगीन्द्राणां सखीनां

रसकलश

मूर्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती। दूसरी ओर मृग, मयूर आदि तो सत्, चित्, आनन्द की मूर्तियाँ ही हैं, क्योंकि ये उपास्य प्रिया-प्रियतम को सबके देखते हुए खिलाते हैं। इससे अधिक प्राप्तव्य और कुछ तो है ही नहीं। अतः पूर्णतम साध्य=दम्पती से संबंधित होने के कारण इनका अभिधान 'सत्' शब्द से किया गया है, और शरीर और आत्मा द्वारा केवल उपास्य तत्व से सम्बन्धित होने के कारण 'योगीन्द्र' भी हैं, और सेवाकाल में तथा क्रीड़ा करते हुए दम्पति को देखने के समय योगीन्द्रों जैसा आचरण करने के कारण सत् अर्थात् मित्र भी हैं। अथवा दम्पती को क्रीड़ा में जुटाने के कारण उनके वियोग को क्षण-भर के लिए भी सहन नहीं कर सकते, अतः संयोग-सिद्धान्त को मानने वाले हैं। अथवा 'सत्' का अर्थ है – सत्ता। स्वामी और स्वामिनी की सेवा के प्रति भावना-बद्ध होने के कारण वृन्दावन में वास्तविक सत्ता इन्हीं की है। दम्पति को भी योगीन्द्र कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों परम संयोगी और महाविलासी हैं। उनके इस स्वभाव का उल्लेख 'विच्छेदाभासमानात्' – इन पद्य (१७३) में किया ही हैं।

'अद्भुतसन्महिम्नि' और 'मधुरे' की व्याख्या करते हैं—पूर्णतम ऐश्वर्य और माधुर्य से सम्पन्न वृन्दावन में। 'सङ्गताः (सम्+गताः) में 'सम्' उपसर्ग का अर्थ है सम्यक् रीति से—अर्थात् नित्यसिद्ध और साधनसिद्ध[1] रूप से 'गताः'=प्राप्त=यानी उसके उपादान जुटाने वाले बने हुए वे सब तरु, लता, शुक, मृग, मयूर आदि स्थावर-जंगम पदार्थ योगीन्द्रों अर्थात् सखियों और दम्पती को यथार्थ रूप में दृष्टिगोचर होते

१. संप्राप्तसिद्ध, नित्यसिद्ध, साधनसिद्ध और कृपासिद्ध भक्तों का विवरण टिप्पणी में दिया जा चुका है। विशे विवरण के लिए देखिये हरिभक्तरसाभृत सिन्धु दक्षिण विभाग, लहरी १, पद्य १०३ से १०८ तक।

दम्पत्योश्च सुतरां याथार्थ्येन दृश्याः सान्द्ररसदा गूढनत्तत्पाठक्रीडनादिभावेनेति परस्परहासादिकौतुकानन्ददानात् स्वत एव चानन्दैकसन्मूर्तयो येषां ते, इति। न नु मृगादिषु स्फुटं क्रोधं भासते ? तत्राह—चतुर्षु ये च क्रूरा वामा इत्यर्थः, तेषां स्वभावा एव सान्द्ररसस्य, तादृश्येव तेषु परिणतिरिति ग्रहणोद्यमे पलायन्त, उड्डीयन्त इति परस्परमानन्देन युध्यन्ते च। दम्पत्यपि कौतुकेन वृक्षान्तरेषु कुञ्जान्तरेषूपरि च समाकर्षयन्त्यलाभश्रमेण व्याकुलयन्तीत्यादि। तदपि परशोभनमेव। एभ्य एव वन-विहारे क्रीडालोलता लीलाविष्टयोः सिद्ध्यतीति। न चैते पापिनोऽन्यायिनः। पापशब्दोऽत्रान्यायवाची, लोकेऽप्यन्यायाचरणादेव तत्ख्यातेरिति। तादृशधाष्टर्च्यं विना विनोदासिद्धेर्नैषामपराधः प्रातिकूल्यञ्चेति न केवलं वामा एव, किञ्च सतां सखीनां वा दम्पत्योश्च—बहुत्वात् प्रकरणाच्च तयोरपि ग्रहणम्—संभाष्याः, पाठनीयाः, नर्तनीयाः, क्रीडनीयाः, दृश्याः, दर्शनीया स्तत्तत्पोषादिना। ततो नैतेषु रसानन्दाभावः शङ्क्यः। मम तु वस्तुतया रसानन्दैकोपदानदृष्टचा

हैं। विभिन्न प्रकार के पद्यों का पाठ, खेल-कूद, पारस्परिक, हास-परिहास और कौतुकों द्वारा आनन्द प्रदान करने के कारण ये स्वतः ही विशुद्ध आनन्द की मूर्तियां हैं। यदि कोई कहे कि मृग आदि तो स्वभाव से ही क्रूर होते हैं, तो इस पर कहते हैं—इन चारों में जो क्रूर अर्थात् प्रतिकूल आचरण करने वाले हैं, उनके स्वभाव में ही सघन रसवत्ता है और उसकी अभिव्यक्ति भी रसमयी होती है। उदाहरण के लिए, उन्हें पकड़ने चलो, तो उड़जाते हैं और बड़े प्रसन्न होकर आपस में कुश्तियाँ लड़ते हैं। अपने इन कौतुकों को दिखा कर वे दम्पती को वृक्षों के बीच में, कुंजों के अन्दर तथा ऊपर खींच लाते हैं और उन्हें व्यर्थ में परिश्रान्त कर व्याकुल कर देते हैं। यह सब बहुत ही भला लगता है। वन विहार में लीला के आवेश में भर कर यदि दम्पती क्रीड़ा में चंचल हो उटते हैं, तो इन्हीं के लिए। ये पापी अर्थात् अन्यायी नहीं है। पाप शब्द का अर्थ यहाँ अन्याय ही है। दुनिया में भी अन्याय करने वाले को पापी कहा जाता है। फिर ये मृग, शुक आदि यदि ऐसी हरकत न करें, तो विनोद की सृष्टि नहीं होती। अतः न तो ये अपराधी हैं और न प्रतिकूल आचरण के दोषी। अतः ये न केवल वाम ही हैं, बल्कि सखियों (सताम्) और दम्पती के द्वारा—'सताम्' के बहुवचन से तथा प्रसंग के बल पर दम्पती का भी समावेश हो जाता है—संभाषण करने, पढ़ाने, नचाने, क्रीड़ा कराने और देखने दिखाने के योग्य हैं, क्योंकि सखियां और दम्पती उनका लालल-पालन जो करते हैं। तत्व-दृष्टि से तथा रस और आनन्द के साधक होने के विचार से मैं तो इन्हें परम आराध्य करके मानता हूं। इनके वाम होने से मेरी आराध्य-बुद्धि मे कोई कमी नहीं

एषु परमस्वाराध्यबुद्धिरेव, न च वाम्येन न्यूनता, इति। अत एतद्रूपेणापि दम्पतिसेवने मम न क्षतिरिति, रसाविरोधादिति सखीत्वेऽपि रुच्याधिक्य-शीलमतृप्तत्वं व्यञ्जितम्। सर्वोऽप्यहमेव स्याम्। पश्यामि तत्र तत्र कियानानन्द इति रसस्वभाव एवेति ।।२६४।।

ननु सर्वेषु रसानन्दभावनायां कोऽपि न दुष्यति, क्रूरपपादिष्वेष्टवत् परमाराध्यत्वन्तु सर्वथैव दुर्घटमिति शङ्कायां यदुक्तमद्भुतसन्महिम्नोति तदेव महिमाद्भुतत्वं विवृणोति—

यद्राधापदकिंकरीकृतहृदा सम्यग्भवेद् गोचरं
ध्येयं नैव कदापि यद्धृदि विना तस्याः कृपास्पर्शतः।
यत्प्रेमामृतसिन्धुसाररसदं पापैकभाजामपि
तद्वृन्दावनदुष्प्रवेश्यमहिमाश्चर्यं हृदि स्फूर्जतु।।२६५।।

तद्वृन्दावनस्येति दुष्प्रवेश्यं मनःप्रवेशाशक्यं महत्वमैश्वर्यं, यथा

रसकशल

आती। अतः इस रूप में भी दम्पती की सेवा करने में मेरा कोई नुकसान नहीं, क्योंकि रस-निष्पत्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती। इससे यह ध्वनित किया गया है कि श्रीहितसखी की दम्पती सेवा के प्रति निरतिशय रुचि है—इतनी कि वे कभी तृप्त होती ही नहीं। वे चाहती हैं कि मैं ही शुक, मृग आदि बन जाऊं। फिर देखूंगी कि कितना आनन्द मिलता है! रस का यह स्वभाव ही है ।।२६४।।

वृन्दावन के स्थावर-जंगम सब पदार्थों के संबन्ध में यदि यह भावना रक्खी जाय कि वे सब के सब आनन्द और रस के देने वाले हैं, तो इसका मतलब तो यह हुआ कि न तो वहां का कोई मनुष्य ही दुष्ट है और न कोई वस्तु ही दूषित है। फिर क्रूर और पापियों को इष्ट की तरह परम आराध्य मानना तो एकदम असंभव है। इस प्रकार की शंका उपस्थित होने पर पूर्व पद्य में वृन्दावन को जो अद्भुत और श्रेष्ठ महिमा से युक्त बताया था, उसी का, दूसरे रूप में पुनः स्पष्टीकरण करते हैं—

'श्रीराधा के चरणों में किंकर बने हृदय से जो यथावत् प्रत्यक्ष होता है, जो उनकी कृपा के बिना हृदय में कभी ध्यान का विषय नहीं होता; एवं जो पापियों को भी प्रेमामृत सिन्धु के सारभूत रस को दान करने वाला है, श्रीवृन्दावन की दुर्गम महिमा का वह आश्चर्य मेरे हृदय में प्रकट हो ।।२६५।।

श्रीवृन्दावन का वह महत्व-ऐश्वर्य और उसमें भी असम्भव को भी सम्भव बना देने वाला उसका आश्चर्यमय स्वरूप जिसकी कि विशेषता प्रस्तुत पद्य के प्रथम तीन

'न वेदैर्ब्रह्माद्यैर्न खलु न च भक्तैर्न सुहृदा—
दिभिर्यद्वै राधामधुपतिरहस्यं सुविदितम् ।' इति
'दूरे सृष्टयादिवार्ता' इत्यादि ज्ञेयम् । तत्राप्याश्चर्यदुर्घटनं यदित्यादिविशिष्टं मे हृदि स्फूर्जतु, कृपया विद्युदिव प्रकाशतामिति, न च दीपवत् शास्त्रजज्ञानमिति । अनेक कृपैकसाध्यदिव्यविज्ञानमिष्टम् । न च क्षणस्थायित्वं शङ्क्यं 'तत्स्फुरतु' इत्यत्र, न च तीर्थत्वादिमाहात्म्यज्ञानजम् । तदेव वैशिष्टयमाह—तत्किम् ? यत् राधापदकिङ्करीकृतञ्च तत् हृदयं, यद्वा यस्येति बहुव्रीहिः । तेनैव सम्यग्याथार्थ्येन गोचरं प्रत्यक्षं दृश्यम् । अनेन केवलकृष्णकिङ्करेणागोचरं, यद्वा गोचरत्वेऽप्यसम्यक्त्वं दर्शितम् । न तादृशमहिम्नि मत्प्रयोजनमिति भावः । यदेव च महिमाश्चर्यं तस्याः कृपास्पर्शतो विना न हृदि ध्येयं,

रसकलश

चरणों में 'यत्' आदि के द्वारा बताई गई है, बिजली की तरह मेरे हृदय में कौंध जाय । इसी स्तव में कहा गया है—'राधा-माधव के जिस रहस्य को ब्रह्मा आदि देवों ने और न ही सम्यक् प्रकार से श्रीहरि व उनके मित्रों ने जाना है' (पद्य १४८) तथा 'सृष्टि आदि की वार्ता तो दूर रही'…'(२३५), शास्त्र-जनित ज्ञान का प्रकाश तो महज दीपक के प्रकाश की भांति है । मन्तव्य यह है कि इस महिमा को हृदयंगम करने के लिये दिव्य विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) की जरूरत है जो श्रीराधा की कृपा के बिना साध्य नहीं है । 'स्फुरतु' से यह न समझ लेना चाहिये, कि बिजली की चमक की तरह यह महिमा क्षणस्थायी है । तीर्थों के महात्म्य की जानकारी से भी इसमें कोई सहायता नहीं मिलती । अब उसी विशेषता का वर्णन करते हैं—वृन्दावन की वह महिमा ऐसी है कि श्रीराधा-चरण-कमल की दासी बने हुए हृदय से ही यथार्थ रूप में वह प्रत्यक्ष की जा सकती है । 'राधापदकिङ्करीकृतहृदा' में कर्मधारय समास करने से यह अर्थ निकलता है । चाहें तो बहुव्रीहि भी की जा सकती है । तब विग्रहानुसारी अर्थ होगा—जिसका हृदय राधा-पद की दासी बन गया है ऐसे व्यक्ति को ही यह महिमा दृष्टिगोचर होती है । इससे यह स्पष्ट कर दिया है कि जो व्यक्ति केवल श्रीराधा का ही दास है, उसे यह प्रत्यक्ष नहीं होगी । अथवा यदि प्रत्यक्ष हुई भी तो जिस रूप में यथावत् होनी चाहिये वैसी नहीं होगी । तात्पर्य यह है कि ऐसी महिमा से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है । जब उस आश्चर्य रूप महिमा का हृदय से ध्यान करना श्रीराधा की कृपा के स्पर्श बिना नहीं हो सकता, तब उसका साक्षात्कार होने अथवा सम्यक् प्रकार से साक्षात्कार न होने की बात तो बहुत

१. इन दोनों पद्यों का वर्ण्य-विषय श्रीराधाकृष्ण का रहस्य और श्रीकृष्ण की प्रियाजी-विषयक आसक्ति है । संभव है इन उद्धरणों से टीकाकार का यह अभिप्राय: हो कि वृन्दावन की महिमा भी उतनी हो अगम्य है जितना कि दम्पती सम्बन्धी रहस्य ।

तदा गोचरत्वमसम्यक्त्वञ्चापि कुत इति । तस्माद्ध्याने यस्य मनो लग्नं तेन कृपास्पर्श एव निश्चीयते । येषाञ्च प्रत्यक्षं दृढभावनया सचमत्कारं वनं दृश्येत, तदा किङ्करीत्वविशिष्टं हृदयं निश्चीयत इति । एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां दुरूहस्यापि सुगमत्वमाह ।

एवं सर्वापराधमेकं केवलं भजन्ति, न च किञ्चद्धर्मादिमिश्रत्वं, तादृशानामपि वासप्रभावेण कृपया प्रेमामृतसिन्धोरपि सारं रसं, निजप्रेमरहस्यं तत्सुखसेवनास्वादं ददाति । न च किञ्चित् पापित्वापेक्षया न्यूनतां रक्षतीति अत्युदारत्वं व्यञ्जितम्, अयोग्येऽपि महादानात्, अन्यथा योग्यदाने को विशेषः ? इति । कृपां विना तु योगीन्द्रा अपि स्वाभिमाने क्रोशन्तु, प्रसादोज्जृम्भे तु पापिनोऽपि तद्रसं प्राप्नुवन्तीत्याश्चर्यदर्शनेन स्वातंत्र्यं ध्वनितम् । न च कर्मयोगज्ञानाद्यधीनत्वमिति भावः । तस्मात् कैङ्कर्यकृपाभिलाषश्चेदत्र येन केनचित् प्रकारेण वृन्दावने सङ्गतैर्भाव्यम् । सङ्गतौ

रसकलश

दूर की है । अतः जिसका मन ध्यान में लग गया, उसे तो निश्चित रूप से यही समझ लेना चाहिए कि मुझ पर श्रीराधा की कृपा हो गई, और अपनी दृढ़ भावना से जिन्हें वन के दर्शन चमत्कार सहित हो गये, उन्हें यह निश्चय हो जाना चाहिये कि उनके हृदय में किंकरीत्व की भावना सुप्रतिष्ठित हो गई है । इस रीति से अन्वय-व्यतिरेक[1] द्वारा दुष्प्राप्य की भी सुलभता का निर्देश किया है ।

कुछ लोग निरे अपराधी होते हैं—यहां तक कि धर्म आदि से लेशमात्र भी उनका सम्पर्क नहीं होता । यह वृन्दावन, वास करने के आधार पर ही ऐसे व्यक्तियों को प्रेमामृत-समुद्र के भी सारभूत रस को—अर्थात् अपने प्रेम-रहस्य को प्रदान करता है और वे बड़े आनन्द के साथ उसके सेवन का आस्वाद लेते हैं । पापी होने के कारण वृन्दावन उन्हें रस देने में कोई कसर नहीं रखता, अन्यथा योग्य को तो सभी देते हैं, फिर विशेषता क्या रही ? कृपा के बिना योगीन्द्र भी अपने अभिमान में चीखते ही रह जाते हैं, जबकि पापियों पर यदि वृन्दावन प्रसन्न हो गया, तो उन्हें रस-प्राप्ति हो जाती है । यही आश्चर्य करने की बात है । इससे यह ध्वनित होता है कि वृन्दावन-तत्व कर्म, योग या ज्ञान के अधीन न होकर परम स्वतन्त्र है । निष्कर्ष यह है कि यदि किंकरीभाव की कृपा प्राप्त करने की अभिलाषा हो, तो जैसे बने वैसे ही वृन्दावन में आकर रहने पर वृन्दावन का प्रभाव पड़गा ही पड़ेगा । कहा भी है—'दंपती में जो कुछ

१. एक भाव या क्रिया के होने से दूसरी क्रिया का होना अन्वय है, एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव होना व्यतिरेक है । जहां धुआं है वहां वन्हि है—यह अन्वय-व्याप्ति है, जहाँ धुआं नहीं है, वहां वन्हि नहीं है—यह व्यतिरेक-व्याप्ति है ।

स्वप्रभावं करिष्यत्येव, यथा 'सकलमपि ददौ राधिकाकिङ्करीणाम्' इति हि ।

भूयोऽवशिष्टं विव्रियते । यथा भगवतो महिमब्रह्मसूर्यस्य तेजोवत् तथा महिमाप्रभाव एव दुष्प्रवेश्यस्तदा वनस्य कैमुत्यम् ! महिमेत्यनेनैव चरितार्थत्वा दाश्चर्यमिति विशेषोक्तिश्चमत्कारातिशयानन्दज्ञापिका येन क्षणे क्षणे आश्चर्यं कुर्वन् सरोमाञ्चं वनं पश्येयमिति सामान्यप्रभावज्ञानाद्-वैचित्र्यवैशिष्ठ्ये भिन्नं स्वादम् । एवमेव केवले महिम्नि पुराणादिनिर्दशिते सर्वविद्वन्मनः प्रवेशादसाधारण्यं स्वीयं किं भिन्नं स्थितमिति ? तेन यत्स्वरूपं प्रियाप्रसादान्यथानुपपन्नं तदेव दुष्प्रवेश्योक्तं, सर्वेभ्यो भिन्नं स्वादञ्चेत्युभयवैशिष्टचम् ।

महिम्नोऽभिलाषितं दुष्प्रवेश्यत्वं द्विविधम्—स्वकृतं परकृतञ्चेति । आद्यं रङ्कगृहे राजप्रवेशवत् । यथा केषुचित् स्वज्ञानयोगबलेन सार्वज्ञत्वपूरणार्थम-

रसकलश

आस्वादनीय है, वह सब वृन्दावन के श्रीराधा की किंकरियों को दे दिया । (श्रीराधा सु-१७५) ।

अब शेष अंश की व्याख्या करते हैं । भगवान् के महिमास्वरूप ब्रह्म-सूर्य के तेज की तरह वृन्दावन की महिमा में प्रवेश करना हर एक के लिए संभव नहीं है । जब महिमा का यह हाल है, तो वृन्दावन का तो कहना ही क्या ? महिमा कह देने से ही कार्य चल जाता, किन्तु उस महिमा के आश्चर्यस्वरूप होने की बात तो विशेष रूप से कही गई है, वह चमत्कार की अनुभूति से पैदा होने वाले निरतिशय आनन्द को सूचित करती है, ताकि उपासक प्रत्येक क्षण आश्चर्य करता हुआ रोमांचित होकर वन के वैभव को देखा करे । एक तो होता है सामान्य ज्ञान, दूसरा होता है विचित्रता की विशेषता लिए हुए । इसका स्वाद भिन्न ही होता है । वृन्दावन की सामान्य महिमा का ज्ञान तो पुराणों से ही हो जाता है और विद्वान लोग अपने बुद्धि बल से उसे ग्रहण भी कर लेते हैं। फिर वृन्दावन की, उससे भिन्न निजी विशेषता क्या रही ? इससे फलितार्थ यह निकलता है कि वृन्दावन की महिमा का जो स्वरूप प्रियाजी की कृपा के बिना अप्राप्य हो, उसी स्वरूप से यहाँ तात्पर्य है । और इसी दृष्टि से उसे 'दुष्प्रवेश्य कहा गया है । उसका स्वाद भी, इसी कारण, सामान्य महिमा के ज्ञान से भिन्न प्रकार का है । ये दो विशेषतायें यहाँ बताई गई हैं ।

महिमा की वाञ्छित अज्ञेयता दो प्रकार की है—स्वकृत और परकृत । पहले प्रकार की दुष्प्रवेश्यता ऐसी है जैसे रंक के घर में राजा की । कुछ साधकों में यह महिमा इसलिए प्रवेश नहीं करती कि वे अपने ज्ञान और योग के बल पर अपनी सर्वज्ञता

स्मिन् वनमहिम्नि ज्ञानभिमुखमानसेषु तद्ग्लान्या स न प्रविशति। यद्वा 'गोप्यः कामात्' इतिवत् केषुचित् स्वसुखाभावेषु नासासङ्कोचेन न प्रविशतीति ज्ञेयम्। अथ द्वितीयम्। तेऽनर्हत्वान्न प्रविष्टुं शक्नुवन्तीति किंस्वरूपं, किंप्रमाणं, किमानन्दोमहिम्न इति तज्ज्ञानाभावरूपम्। यद्वाऽऽश्चर्यमपि, अहो! कथमिदमनन्वितमिव लोके दृश्यते? महान्तो योगीन्द्रास्तु प्रविष्टुमप्यशक्ता स्तत्पापिनः प्राप्नुवन्तीति कथं शास्त्रमन्यद् वा, लोकोऽप्यन्यो वेति निश्चयाभावादाश्चर्यमेव पर्यवसीयते। तच्च मे हृदि संशयाभावेनाद्भुतरसतया स्फुरत्विति ज्ञेयम्।

तथा च पादत्रये उत्तममध्यमाधमा अधिकारिण उक्ताः, पूर्वपद्योक्तत्रिकस्याप्यनुवादः—सिद्धाः, साधका इतराश्चेति। वा सर्वोत्तमाः, सर्वाधमाः मध्यस्थाश्चेति रीत्या ज्ञेयाः। ननु सर्वाधमानां रसदाने सम्बन्धो नोक्तः? तत्रैवम्—वाससङ्गम एव तदाकर्षको ज्ञेयः यद्वा देशान्तरस्थस्य कस्यचि-

रसकलश

को पूर्ण करने के लिए ज्ञान को आगे रख कर चलते हैं। ऐसे ज्ञानियों से ग्लानि खाकर वह उनके मन में प्रवेश नहीं करती। अथवा गोपियों ने जिस प्रकार काम-भाव में श्रीकृष्ण की आराधना की, उसी प्रकार अपने सुख को लक्ष्य बनाकर प्रवृत्त होने वाले व्यक्तियों से वृन्दावन-महिमा नाक सिकोड़ कर दूर हट जाती है। दूसरे प्रकार की (परकृत) दुष्प्रवेश्यता उन लोगों की है जो अयोग्य होने के कारण प्रवेश नहीं पाते। वे इसी भ्रम में फँस कर रह जाते हैं कि इस महिमा का क्या स्वरूप है? क्या प्रमाण है? कैसा आनन्द है? अर्थात् ज्ञान न होने के कारण इनके लिए महिमा दुष्प्रवेश्य बनी रहती है। अथवा महिमा अन्तर्यामी तब प्रतीत होती है जब लोग सोचते हैं- अहो! यह कैसी असंगत बात है कि योगीन्द्र भी उस महिमा का पार नहीं पाते और पापियों की वहाँ गति हो जाती है। तो क्या शास्त्र झूठे हैं या दुनिया ही बदल गई है? श्रीहितसखी कहती हैं कि मुझे तो इस प्रकार का कोई सन्देह नहीं अतः महिमा मेरे हृदय में तो रस-स्वरूप में ही प्रस्फुटित होती है।

पद्य के प्रथम तीन चरणों में अधिकारी के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेदों का निर्देश किया है। पूर्व पद्य में वर्णित तीन वर्गों की, इस प्रकार, यहाँ पुनरावृत्ति की गई है। ये तीन हैं—सिद्ध, साधक तथा उससे भिन्न अन्य लोग। अथवा सर्वोत्तम, सर्व-अधम, और इन दोनों के बीच के। शंका होती है कि क्रूर, पापी आदि जो अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी के हैं, उनका तो रस-दान से कोई संबन्ध बताया ही नहीं? इस विषय में ज्ञातव्य यह है कि वास-जनित संपर्क ही रस को खींच लाता है। कभी-कभी दूसरे

दृश्यते । सच्चाद्भुतपूर्वसंस्कारत्वेऽपि निःसाधनफलात्मत्वज्ञापकोऽनुग्रह एव, यथा 'पोषणं तदनुग्रहः' इत्यव्यामिश्रं पोषणमेवेति ज्ञेयम् । तत्कारणञ्च तदीयैरेव ज्ञेयम् ।

ननु किङ्करीकृतत्वे किम्प्रयोजनम् ? यादृक् स्वरूपं वनस्य तादृक् सामान्यतो भजनेनैव कथन्न प्रकाशतामिति ? तत्रैवम्—यथा 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्' इत्यैश्वर्यार्हनेत्रदानेनैश्वर्यदर्शनसिद्धिस्तथैव रसस्वरूपं रसमयनेत्रेणैवेति । तत्र रसेष्वपि प्रस्तुतशृङ्गारमाधुर्यमयो वनमहिमा तु किङ्करीत्वदृश्य एव । यथा नारदेन 'समाधिनानुसर तद्विचेष्टितम्'[1] इत्युक्तावपि व्यासेन समाधिबलादपि कृपाद्रवं विना न तत्प्राप्तिभवनं दृष्टम् । अतएव 'भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहिते'[2] इति सप्रेमभक्तिभावितमनःप्रणिधानं कृत्वा पूर्णपुरुषोत्तमो दृष्ट इति प्रेम विना कृपाद्रवाभावः, साधकहृद्द्रवेण साध्यकृपाद्रवावश्यम्भावित्वात् ।

रसकलश

स्थान में रहने वाले व्यक्तियों में भी वृन्दावन के प्रति आकर्षण दिखाई देता है, किन्तु ऐसा तो उनके पूर्व जन्म के संस्कार के कारण होता है। फिर भी इस प्रकार बिना साधना के फल प्राप्त होने में प्रियाजी की कृपा को ही कारण मानना होगा। कहा भी है—'पोषण उनके अनुग्रह से ही होता है।' तो यह भी एक प्रकार का शुद्ध पोषण ही है। ऐसा क्यों होता है, इसका कारण श्रीराधा के उपासक ही जानें।

प्रश्न होता है, किंकरी बनने से ही क्या खास मतलब सिद्ध होता है ? उन का जैसा स्वरूप है, वैसा तो साधारणतया भजन से ही प्रकट हो जाता है। उत्तर यह है कि जैसा कि भगवान् ने गीता में कहा है—'तुझे दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ, मेरे ईश्वर संबन्धी-योग को देख,' ऐश्वर्य के योग्य दृष्टि देने से ही ऐश्वर्य को देखा जा सकता है। उसी प्रकार रस-स्वरूप वृन्दावन को रसमय नेत्रों से ही देखा जा सकता है। रस भी बहुत से हैं। उनमें श्रृंगार और माधुर्य से परिपूर्ण महिमा तो किंकरी-भाव से ही देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये, नारद ने व्यास जी को उपदेश दिया था कि 'समाधि लगा कर श्रीकृष्ण के चरित्रों का स्मरण करो।' किन्तु व्यास जी ने देखा कि समाधि से अधिक बल कृपा का है, अतः उसके बिना श्रीकृष्ण के चरित्रों का गान नहीं होता। इसलिये भक्तियोग की सहायता से मन को भली-भाँति समाहित कर उन्होंने पहले पुरुष को देखा और बाद में उसके आश्रित माया को।' इस प्रकार प्रेम और भक्ति-भावना से ध्यान लगा कर पूर्ण पुरुषोत्तम के दर्शन किये। तो प्रेम के बिना कृपा द्रवित

१. श्रीमद्भागवत १।५।१३
२. श्रीमद्भागवत, १।७।४

'पद' इत्यनेनान्तरङ्गित्वमिष्टम् । केवलकिंकरीत्वेन बहिरङ्गसेवाधिकारिणीनां तथा न भासते यथाङ्गसङ्गिनीनामिति । पदसेवनरतानां तन्मार्दवभावितान्तःकरणेन यादृग्वनमार्दवकार्कश्यपरीक्षणं, तादृग् नान्यासामिति, यथा पल्लवपुष्पास्तरणेऽपि मनोदृष्टयास्तरणम् । इत्यादिनिर्देशेन सर्वेन्द्रियेस्वपि कार्कश्यमार्दवभानं ज्ञेयम् । अत एव 'सम्यक्' पदं दत्तम् । 'गो'-शब्देनस र्वेन्द्रियाणां यथार्हत्वेन सेवास्वादेनानुभवनीयत्वञ्चेति । 'च्वि'-प्रत्ययेन साधकसमाश्वासः, अन्यथा 'किङ्करीहृदा' इत्येवावक्ष्यत् । पूर्वमकिङ्करीत्वे वासप्रभावेण, सङ्गसंस्कारादिना च 'किंकरीत्वे लब्धे तद्गोचरत्वम् । 'हृदा' इत्यनेन साधकस्य तु हृन्नेत्रेणैव तादृशदर्शनम् । उपरितननेत्रेण प्राकृत-

रसकलश

नहीं होती । साधक का हृदय यदि द्रवित होगा; तो इष्ट भी कृपा से अवश्य द्रवित हो जायेंगे ।

'पद' शब्द से यह सूचित किया गया है कि साधक को अन्तरंगा सखी का पद अवश्य प्राप्त करना चाहिए । जिन किंकरियों को केवल बाह्य-सेवा का अधिकार प्राप्त है, उन्हें वृन्दावन की महिमा उतने अंश में प्रत्यक्ष नहीं होती जितनी कि अंग-सेविकाओं को । प्रियाजी की चरण-सेविकाओं का अन्तःकरण प्रियाजी के चरणों की कोमलता की भावना से अनुप्राणित रहता है, अतः वन की कोमलता या कठोरता की जितनी परख उन्हें होती है, उतनी अन्य सखियों को नहीं । उदाहरण के लिए, यद्यपि वन में प्रियाजी के मार्ग में फूल और पत्ते बिछे रहते हैं, तथापि सखियां अपने मन और नेत्रों को भी वहाँ बिछा देती हैं । केवल आंखों को ही नहीं, सखियों की सब इन्द्रियों को कोमलता और कठोरता का ज्ञान रहता है । इसी आशय को व्यक्त करने के लिए यहाँ 'सम्यक्' शब्द का प्रयोग किया गया है । 'गोचरम्' में 'गो' का अर्थ है—इन्द्रियाँ, अभिप्राय यह है कि किंकरियों की सब इन्द्रियां अपनी-अपनी योग्यतानुसार सेवा का आस्वाद लेती हैं । 'किङ्करीकृत' शब्द अभूततद्भाव अर्थ में 'च्वि' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न हुआ है जिससे यह व्यंजित किया गया है कि साधकों को यह सोच कर निराश होने की जरूरत नहीं कि किंकरी हुए बिना वृन्दावन की महिमा-अप्राप्य ही रहेगी । यदि इस प्रकार का आश्वासन अभिप्रेत न होता, तो केवल 'किंकरीहृदा' ही न कहते । प्रारम्भ में साधक भले ही किंकरी-पद तक न पहुँच सके, किन्तु वृन्दावन-रस के प्रभाव, सन्तों की संगति और पूर्व-संस्कार आदि की सहायता से किंकरी-पद मिल जाने पर वृन्दावन की महिमा प्रत्यक्ष हो जाती है । निहित अर्थ यह है कि हृदय और नेत्र दोनों का उपयोग करने से ही साधक को अभिलषित दर्शन मिल सकता है । स्थूल दृष्टि से या लौकिक भावना लेकर महिमा के सम्न्वध में निश्चित बुद्धि नहीं बन सकती—ठीक वैसे ही जैसे रंगीन चश्मा लगाए या पीलिए से ग्रस्त कोई व्यक्ति किसी वस्तु को अपने यथार्थ रूप में नहीं

दृष्टया न निश्चेतुं शक्नोति, काचकामलादिदोषपिहितदृष्टिवदिति । अतः सिद्धकिंकरीत्वाहङ्कृतिभाववता हृदा, इत्यर्थः । अस्मिंस्तु पूर्णकृपास्थितिर्ज्ञेया । स्थित्यभावे तत्स्पर्शोऽपि वनमहिमध्यान साधको, न च तं विना तदिति ।

ननु स्पर्शोऽपि तादृशदुर्लभान्तःपुरस्थायाः पथिकवन्न घटते, अतः कश्चित् सम्बन्धोऽपेक्ष्यो, नचैनमुपलक्ष्यागतायाः स्पर्शमात्रसम्भवः, अत्युदारताहानात् । तत्रैवंकिङ्किरीकृतहृदयेषु कृपासान्निध्यात्तच्चरणवरणे लग्नानां तत्र स्थितायाः कृपायाः स्वत एवानुषङ्गिकताया स्पर्शः । तेनैव ध्याने बुद्धिप्रवेशः, अन्यथा च नेति । यथा—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्[1] ॥

रसकलश

देख सकता । अतः हृदय में यह अभिमान होना चाहिए कि मैं सिद्ध किंकरी हो गई हूँ । इस प्रकार के सिद्ध साधक पर प्रियाजी की पूर्ण कृपा समझनी चाहिए । यदि पूर्ण कृपा न भी हो, तो भी उसके स्पर्श मात्र से महिमा का ध्यान किया जा सकता है, किन्तु स्पर्श के बिना यह संभव नहीं है ।

शंका होती है कि प्रियाजी तो निकुंजों के अन्तःपुर में विराजती हैं जहाँ पहुँचने का कोई प्रश्न ही नहीं है । ऐसी स्थिति में यह कैसे संभव है कि एक रास्तागीर की तरह वृन्दावन में भ्रमण करते हुए उनकी कृपा का स्पर्श प्राप्त हो जाय ? फिर कृपाकांक्षी साधक और साध्य इष्ट के बीच में कोई सिलसिला भी होना चाहिए । यदि यह भी मान लिया जाय कि प्रियाजी किसी खास साधक को अनुगृहित करने के लिये उधर आ निकलती हैं, तो यह कैसे मान लिया जाय कि अपनी कृपा को छुआ कर ही लौट जायेंगी ? ऐसा मानने से तो उनकी उदार-वृत्ति के संबन्ध में एक भ्रामक धारणा पैदा हो सकती है । इस सब का समाधान यह है कि जब साधकों के हृदयों को किंकरी भाव प्राप्त हो गया, तो उनकी हार्दिक भावना और प्रियाजी की कृपा के बीच एक बे-मालूम सा व्यवधान रह जाता है । इस स्थिति में यदि साधकगण उनके चरणों को वरण करने के प्रयत्न में जुटे रहें, तो उन चरणों में ही निवास करने वाली कृपा का स्पर्श स्वतः ही—अनुषंगिक रूप से—हो जाता है । तभी ध्यान का बुद्धि से संयोग होता है, अन्यथा नहीं । कहा भी है—

'विषयाभिमान से रहित महापुरुषों की चरण-रज द्वारा अभिषिक्त होने की कामना जब तक न हो । तब तक शास्त्र ज्ञान से प्रभावित इनकी बुद्धि भावना के चरणों का स्पर्श नहीं करतो । इस स्पर्श का प्रयोजन ही सांसारिक दुर्भावनाओं को नष्ट करना है ।'

१. श्रीमद्भागवत—७।५।३२,

अत्र बुद्धिस्पर्शोध्यानं सान्निध्यम्। यथा श्रुतिस्तुतौ 'त उत भवत्पदाम्बुज हृदः' इतिवत्, 'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्'[2] इतिवत् सदा स्थितिरपि ध्येया।

प्रेमामृतसिन्धुः पूर्णसर्वप्रेमास्पदं कृष्णः। यथा—'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्'[3] इत्यादिना सर्वस्नेहनद्याधारत्वात्। तत्र च सारस्तदुन्मथनोद्धृतः, तत्प्रेमास्पदं श्रीराधारूपः, तत्प्रेमरसो निजदास्यानन्दास्वाद इति। तादृशोत्तमोत्तमरसस्य तादृशाधमाधमनीचेषु दानान्निरंकुशैश्वर्यं वनस्य विवृतम्।

आन्तरे च—एवं वास्तवं सर्वरसमयं निरूप्य श्रीवनस्य पूर्णमहिमाश्चर्यं दत्तहृदि स्फुरितम्। तेन पश्यद्भ्रान्त्याख्यक्रीडनन्यायेन शिरोधुन्वन्त्यत्यानन्देन तदेवाश्चर्यमभिलषन्ती वर्णयति—'यद्राधे'ति। अहो! नित्यं निरीक्ष-

रसकलश

यहाँ बुद्धि के स्पर्श से अभिप्राय भगवान् के ध्यान एवं सान्निध्य का है। वेद-स्तुति में कहा है—'आपके चरण-कमलों को हृदय में स्थापित करके जो अहंकार-रहित हो गए हैं, बल्कि यह कहना चाहिये कि जिनका चरणोदक स्वयं दूसरों के पापों को नष्ट करने में समर्थ है, ऐसे ऋषिगण भी प्रायः उन्हीं पवित्र तीर्थों में विचरण करते रहते हैं, उन्हीं स्थानों का सेवन करते हैं जहां महात्माओं का संग मिलता है। जिनका मन एक बार भी नित्य सुख रूप आप में लग गया, वे भी विवेक, धैर्य्य, क्षमा, शान्ति आदि का नाश करने वाले घर आदि में आसक्त नहीं होते।' वही सर्वश्रेष्ठ भक्त है जिसके हृदय को भगवान् नहीं छोड़ते'—इत्यादि उक्तियों के अनुसार यह ध्यान करना चाहिये कि श्रीराधा सदा मेरे हृदय में विराजमान रहती हैं।

श्रीकृष्ण प्रेमामृत के समुद्र हैं एवं सब के पूर्ण प्रेमास्पद हैं। कहा भी है—'श्रीकृष्ण को समस्त आत्माओं की आत्मा करके जानो।' इसके अनुसार श्रीकृष्ण स्नेह-रूपी सब नदियों का आधार हैं। उस समुद्र को मथ कर निकाला गया सार है उनकी प्रेम-पात्र श्रीराधा। अपने दास्य का आनन्द उनका प्रेम-रस है। ऐसे परम श्रेष्ठ रस को उस प्रकार के अत्यन्त अधम, नीच व्यक्तियों को देने का मतलब यह है कि वृन्दावन के ऐश्वर्य पर किसी का नियन्त्रण नहीं है।

अन्तरंग-पक्ष में—इस प्रकार तत्व-स्वरूप और सब रस से पूर्ण श्रीवृन्दावन को देखकर ध्यानमग्न श्रीहितसखी के हृदय में उसकी आश्चर्यस्वरूप पूर्ण महिमा प्रकट हो गई। उससे यह हुआ कि एक खास खेल में जैसे देखते हुए भी भ्रान्ति हो जाती है, वैसे

१. वही १०।८७।३५,
२. वही ११।२।४५,

माणानामपि विचित्रमेव लगतीदमिति । तेन स्वप्रौढि गूढाशयेन वक्ति । एतद्राधापददास्य एव (स्थिताः) साक्षात् पश्यन्ति, जानन्ति, नान्ये केवल-व्रजसम्बन्धिन इति । ननु तेऽपि वृन्दावनं कथन्न जानन्ति ? यदि च रहः कुञ्जानि न पश्यन्ति, परन्तु ध्यानादिना कथन्न प्रविशन्ति ? तत्र स्वर-सानुकूलं पश्यन्तु, न च सम्यक्तयेति, तत्प्राप्त्यनुचितत्वात् । यदि च ध्यायन्ति, तदा किञ्चिद्राधाकृपास्पर्शो जातः । किञ्च तद्धृदि कैङ्कर्याभिलाषो दृश्यते, अन्यथा सर्वथैव न ध्येयमिति । ननु राधापदाभावुकानपि व्रजस्थान् लीला-न्तराधिकारिणः कथमवगणयथ ? श्रीराधावनस्थवामशीलमृगवानरादिभ्यस्तु सर्वथैव श्रेष्ठाः । तत्रैवम्—वामा अपि श्रीमतीक्रीडनकत्वान्न सङ्कोचार्हाः, यादृशवनैकसम्पत्तेर्न विहारभावदूषकाः । तेन रसदम् । श्रीराधिकाभिमान-स्थायित्वात् तेषां वनविहारसमये प्रियादर्शनौत्सुक्यजधावनस्थगनकूर्दनक्रीडना-

रसकलश

ही आनन्दावेश में सिर हिलाती हुई, उसी आश्चर्य की अभिलाषा करती हुई कहती हैं—बड़े आश्चर्य की बात है कि यह वृन्दावन रोज देखने वालों को भी विचित्र लगता है । यही सोच कर अर्थ-गांभीर्य में अपना गूढ़ आशय छिपाकर कहती हैं । श्रीराधा के चरणों की दासता में स्थित व्यक्ति ही वृन्दावन की आश्चर्यस्वरूप महिमा को जानते हैं, देखते हैं, न कि केवल व्रज से संबंधित लोग । शंका होती है, व्रज से संबंधित जन क्यों नहीं जानते ! यह माना कि वे एकान्त कुंजों को नहीं देख पाते, पर ध्यान आदि के द्वारा तो उनका वहाँ प्रवेश हो ही सकता है । उत्तर यह है कि अपनी रस-विषयक भावना के अनुसार वे देखा करें, परन्तु ठीक प्रकार से नहीं देख पायेंगे । यदि वे ध्यान करते हैं तो समझ लेना चाहिए कि उनसे श्रीराधा की कृपा का थोड़ा-बहुत स्पर्श हो गया है । ध्यान से यह भी सूचित हो जाता है कि उनके हृदय में श्रीराधा की किंकरी बनने की इच्छा है, नहीं तो ध्यान की तरफ उनकी प्रवृत्ति किसी भाँति होती ही नहीं । फिर प्रश्न उठता है कि जिन लोगों की श्रीराधा के चरणों के प्रति भावना नहीं है, किन्तु रहते हैं व्रज में ही, उनकी उपेक्षा क्यों की जाती है ? श्रीराधा-वन में रहने वाले वामाचारी मृग, बन्दर आदि की तुलना में तो वे सब प्रकार से श्रेष्ठ हैं ही । इस संबंध में यह ज्ञातव्य है कि वाम होते हुए भी वे श्रीमती के खिलौने हैं, अतः उनसे कोई संकोच नहीं होता । वृन्दावन की एकमात्र सम्पत्ति प्रिया-प्रियतम के विहार वातावरण को वे दूषित नहीं करते । इसीलिए वृन्दावन उन्हें रस-दान करता है । राधा का अभिमान उनमें स्थायी रूप से रहता है, अतः वन-विहार के समय जब ये प्रियाजी के दर्शन के लिए उत्कंठित होकर दौड़ते हैं, ठहर जाते हैं, कूदते हैं और खेलते हैं, तब इनका प्रेम देखते ही बनता है । उसमें भी प्रियाजी का मनोविनोद करने के लिए प्रियतम उन्हें

दिप्रेमा दर्शनीय एव । तत्रापि तदानन्दार्थं ग्रहणाय प्रियधावनं, तदनु कौतुकेन प्रियागमनं, तत्रैकान्ते विलासादि ना तदसङ्कोचः स्फुट एव । तत्रास्माकमिव तेषामश्रुपुलकाद्यपि सहृदयत्वात् पश्यामः । तस्मादकथनीय-मेवेदमन्येषां दुष्प्रेवश्यमेव महिमाश्चर्यमिति । 'पापे-'त्यत्र वामत्वार्थ उक्त एव । 'एक-शब्देन तादृशैकजातिस्वभावो व्यक्तः, शंकितेषु कटाक्षोऽपि यदि सहृदया अपि न सन्तीत्युक्तिभङ्गिकः, तदपि तदीया एवात्र वासार्हाः, नचान्य-त्रत्या वहुश्रेष्ठाश्चतुरा अपीति, तत्सम्बन्धजौत्सुक्य प्रेमोदयाभावात् । तस्मात् साधकानां, सिद्धानां सम्बन्धमात्राणां चापीदमेव सर्वमनोरथातीतानन्दपूरक-मिति भावः ॥२६५॥

एवमद्भुतमहिमानमुक्त्वा पूर्वतरपद्योपक्षिप्तं माधुर्यं वर्णयन् न केवलं 'पापैकभाजा'—मित्यादिमाहात्म्येन वाससाधारण्यं कार्यम् । किञ्चिाप्राप्त-

रसकलश

पकड़ने को दौड़ते हैं, उसी समय प्रियाजी भी कुतूहल से वहाँ आ जाती हैं। उसी प्रसंग में कहीं एकान्त पाकर दोनों विहार करने लगते हैं, तो इसका स्पष्ट मतलब यही हुआ कि उन्हें इन पशु-पक्षियों से कोई संकोच है ही नहीं। तब सहृदय होने के कारण हम देख सकते हैं कि हमारी ही तरह किस प्रकार इन के भी आनन्दजनित आंसू उमड़ आते हैं और रोमांच आदि सात्विक भाव प्रकट हो जाते हैं। यह सब अकथनीय तो है ही, पर साथ में यह बात भी है कि इस प्रकार के दृश्य में औरों का प्रवेश नहीं है। इसीलिए वृन्दावन की महिमा आश्चर्यमय है। यह कहा जा चुका है कि 'पाप' से तात्पर्य यहाँ वामशीलों का है (न कि अन्यायियों का)। 'पापैक' में 'एक' शब्द द्वारा यह सूचित किया गया है कि उस प्रकार के पशु-पक्षियों का स्वभाव एक ही जैसा होता है। इसके अन्दर शंकालुओं के प्रति यह कटाक्ष भी निहित है कि भले ही वामशील लोग सहृदय न हों, किन्तु श्रीवृन्दावन और प्रिया प्रियतम के अपने होने के कारण उन्हें वास करने का यहाँ अधिकार है। और लोग भले ही चतुर और अपेक्षाकृत श्रेष्ठ हों, पर यदि वे अन्यत्र रहते हैं तो, वे वृन्दावन-वास के अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि श्रीराधा के सम्बन्ध से जो उत्कंठापूर्ण प्रेम हृदय में प्रकट होता है, वह उनमें नहीं होता। अतः क्या साधक, क्या सिद्ध और क्या केवल सम्बन्धित लोग, सबके मनोरथों के भी परे के आनन्द को पूर्ण करने वाला यह वृन्दावन है—यह भाव है ॥२६५॥

इस प्रकार श्रीवृन्दावन की अद्भुत महिमा को बता कर पूर्व से भी पूर्व के पद्य (२६४) में निर्दिष्ट माधुर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि केवल वृन्दावन के इस महत्व को जानकर कि वह 'पापियों को भी रस-दान देता है' साधारणतया वहाँ रहने से काम नहीं बनेगा। यह तो, जिनमें वास के भाव पैदा नहीं हुए हैं, उनमें दृढ़ता लाने

वासनाभावानामेतद्दाढर्च करणम् । भावुकानाञ्च नैतावतास्वादस्तस्माद्-वासेऽप्येवं वस्तव्यमिति रीतिमुपदिशंश्च निजकर्तव्यतयाह—

राधाकेलिकलासु साक्षिणि कदा वृन्दावने पावने
वत्स्यामि स्फुटमुज्ज्वलाद्भुतरसे प्रेमैकमत्ताकृतिः ।
तेजोरूपनिकुञ्ज एव कलयन्नेत्रादिपिण्डस्थितम्
तादृश्योचितदिव्यकोमलवपुः स्वीयं सभालोकये
।।२६६।।

वसन्नप्यहं वृन्दावने प्रेमैकमत्ताकृतिः कदा वत्स्यामीत्यन्वयः । यथा कैङ्कर्येऽपि 'परमोद्भूतानुरागोत्सा'—भिलाष उक्त इति । ततश्च नेत्रा-दीन्द्रिययुक्ते पिण्डे स्थितं शुद्धचैतन्यं स्वत्मानं दृष्टिद्वारा तेजोरूपे दिव्ये निकुञ्ज एव कलयन् प्रापयन्, न तु नेत्रादि क्रियाविषयेष्विति । किञ्च

रसकलश

के लिए कहा है । भावुकों को इतने मात्र से आनन्द नहीं आएगा, अतः वास करते हुए भी, इस प्रकार वास करना चाहिए—इस रीति की शिक्षा देते हुए, तथा अपना कर्तव्य समझ कर भी, कहते हैं—

'मैं श्रीराधा के कलापूर्ण केलि-विहार के साक्षी, प्रकट रूप से उज्ज्वल श्रृंगार तथा अद्भुत रसों से परिपूर्ण तथा साधकों को पवित्र करने वाले श्रीवृन्दावन में, एक-मात्र प्रेम में उन्मत्त होकर कब रहूंगा ? और (इस प्रकार रहते हुए) नेत्र आदि इन्द्रियों से युक्त शरीर में स्थित (शुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने आप को दृष्टि के द्वारा) तेजोरूप दिव्य निकुंज में ही पहुंचाता हुआ अपने तदनुरूप दिव्य, कोमल शरीर को कब देखूंगा ? (अथवा – शरीर-स्थित नेत्र आदि इन्द्रियों को तेजपूर्ण निकुंज में लगाता हुआ अपने तेजोमय भाव के अनुकूल दिव्य, कोमल शरीर को किंकरी रूप में कब देखूंगा ?) ।।२६६।।

रहता हुआ भी मैं एकमात्र प्रेम में मतवाला होकर कब रहूंगा—यह अन्वय है । किंकरी-वृत्ति में स्थित रहते हुए भी जैसे यह अभिलाषा व्यक्त की जा चुकी है कि 'श्रीराधा के अनुग्रह से परम अनुराग का उत्सव मुझ में कब प्रकट होगा ?' (पद्य २५८) वैसे ही प्रस्तुत में भी-प्रेमोन्मत्त होकर वास करने की बात कही गई है। उसके अन्तर नेत्र आदि इन्द्रियों से विशिष्ट शरीर में स्थित शुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने आप को दृष्टि के द्वारा तेजस्वरूप दिव्य निकुंज में ही पहुंचाता हुआ (अपने दिव्य कोमल शरीर को कब देखूंगा ?) अभिलाषा यह है कि मेरे शरीर में स्थित नेत्र आदि इन्द्रियाँ अपने विभिन्न विषयों—रूप, रस आदि को ग्रहण करने में ही व्यस्त न रह कर दिव्य कुंजों का ही

स्वयन्तु मत्ततया सर्वं विस्मृतमेव, दर्शनादिधर्मो निकुञ्जभावनायां स्थापितः। ततः स्वीयं भिन्नं किङ्करीत्वाभिमानास्पदं तादृश्योचितदिव्यकोमलवपुः कदा समालोकये। अहं वसमान एव प्रकृतपिण्डं विस्मृत्य सखीरूपं पश्यामीत्यर्थः। इयं भावनायामेवोक्ता पिण्डसद्भावे मानसिकसिद्धिरिति।

यद्वा पिण्डस्थितं नेत्रादि कलयन् भावयन्निति। आदिशब्देन श्रवणं कुञ्जगतकिञ्चिदव्यक्तध्वनिश्रवणे, रसनां तद्गाने, पदौ मार्जनादाविति। अन्यत् स्पष्टम्।

यद्वा 'विभ्रद्रूपं हिरण्मयम्'[1] इति ध्रुवगतिवत् 'स्वानन्दसच्चिद्घनतामुपैति' इत्यनेन स्वीयं वपुस्तदेव तादृश्योचितं दिव्यं कोमलं च सखीरूपं स्पर्शमणिकृतिवद् वा भृङ्गकीटन्यायेनेति, न तु लोकवत् प्राकृततनुत्यजनं दृष्टिमागच्छेदिति।

रसकलश

निरीक्षण करती रहें। दूसरी बात यह कि मत्त होने के कारण स्वयं को तो सब विस्मृत हो गया ही, अतः दर्शन आदि इन्द्रियों की क्रियाओं को निकुंज की भावना में ही लगा दिया। तब यह दूसरा शरीर हाड़-माँस के शरीर से एक प्रकार से भिन्न हो गया—इस अर्थ में कि इसे किंकरी होने का अभिमान है और दासी रूप से सेवा करने के लिए अलौकिक और कोमल है। वृन्दावन में रहता हुआ ही मैं अपने भौतिक शरीर की सत्ता को भूल कर सखीरूप को कब देखूँगा—यह अर्थ है। भौतिक पिण्ड के रहते हुए ही मानसिक सिद्धि की भावना यहाँ बताई गई है।

अथवा भौतिक देह में स्थित नेत्र आदि को कुंज-परिचर्या से भावित करता हुआ। 'आदि' शब्द से कर्णेन्द्रिय को कुंज में से आती हुई अस्पष्ट ध्वनि को सुनने में, जीभ को राधिका जी के यशो-गान में और पैरों को (घूम-घूम कर) कुंज का परिष्कार करने में, इत्यादि। शेष स्पष्ट है।

अथवा जैसा कि श्रीमद्भागवत में ध्रुव के स्वर्गारोहण प्रसंग में कहा है—'सुवर्णमय रूप धारण करते हुए ध्रुव ने विमान में बैठने की इच्छा प्रकट की।'[1] श्रीप्रबोधानन्द ने भी कहा है—'सच्चिदानन्दघन-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।' इन उक्तियों के अनुसार अपने उसी भौतिक शरीर को दिव्य और सखी-रूप में धारण करने की इच्छा है। यह उसी प्रकार संभव है जैसे पारस मणि के संयोग से लोहा सोना बन जाता है, अथवा भौंरा के द्वारा फंसा कर रक्खा गया कीड़ा तद्रूप हो जाता है। भौतिक शरीर को छोड़ देने से यहाँ तात्पर्य नहीं है, जैसे कि लोग दुनिया में छोड़ देते हैं।

१. श्रीमद्भागवत ४।१२।२९,

यद्वा तनुत्यागानन्तरतदवलोकनमिति, यथात्रैव 'तनुं न्यस्य दासी भवेयम्' इत्युक्तेः पिण्डस्य सद्भावे तद्भावेऽभावे चेति क्रमेण दिव्यवपुरवलोकनत्रयार्थः ।

अत्र वपुरवलोकनकर्तुर्भिन्नतत्वत्वं न शङ्कनीयम् । सच्चिदानन्दरूपाविमिश्रत्वात् केवलभोक्तृभोग्यमात्रमेवानन्दवैचित्र्यास्वदार्थं विशेषः । तेन चैतन्यमेव कृपया सहचरीरूपेण परिणतं भवतीति ज्ञेयम् ।

यद्वानन्दैकसन्मूर्तित्वोक्तेश्चैतन्यं भोक्तृसदानन्दमया तत्र मूर्तिरिति ज्ञेया ।

अथवा 'तेजः' इति भिन्नं पदं विशेष्यं 'चक्षू रूपोपलम्भनम्' इत्युक्तेस्तेज आध्यात्मं नेत्रादिपिण्डेनाधिभौतिकं गोलकम् । तत्रस्थं चक्षुः रूपमयकुञ्जे प्रवर्तयन् स्वं परमविषये रूपं गृह्णन्निति तादृश्योचितं भावनारब्धं महासुन्दररूपवद् वपुरिति ।

रसकलश

अथवा प्राकृत शरीर को वास्तव में ही छोड़ने के बाद अपने अलौकिक रूप को देखने की इच्छा व्यक्त की गई है, जैसा कि कहा है—'इस शरीर को यहीं छोड़ कर कब दासी बनूँगी' (श्रीराधा सु.—२६१) । इस प्रकार दिव्य शरीर को तीन प्रकार से देखना चाहा है—प्राकृत शरीर को कायम रख कर, उसे सखी-स्वरूप में परिणत कर, अथवा उसे छोड़ कर ।

यहां यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सखीरूप दिव्य, कोमल शरीर को देखने वाला कोई भिन्न तत्व है, क्योंकि वह अव्यक्त सच्चिदानन्द से असंपृक्त है । आनन्द की विलक्षणता का आस्वाद लेने के लिए दोनों शरीरों में से एक भोक्ता है. दूसरा भोग्य है । यह तो स्वामिनी की कृपा है कि चैतन्य ही सहचरी के रूप में बदल कर आ जाता है ।

अथवा, जैसा कि (पद्य २६३४ में) कहा जा चुका है—'आनन्द की सत्स्वरूप मूर्तियां ही हैं, भोक्ता की अनन्दमय मूर्ति ही चैतन्य है ।

अथवा 'तेजोरूपनिकुंजे' को एक समासान्त पद न मान कर 'तेज' को एक स्वतन्त्र विशेष्य-पद माना जाय । 'नेत्र-इन्द्रिय वस्तु के रूप को ग्रहण करती हैं, इस उक्ति के अनुसार भौतिक पुतली में स्थित आध्यात्मिक तेज को चक्षु कहते हैं । उस चक्षु को रूप संपन्न कुंज में प्रवृत्त करता हुआ—अर्थात् चक्षु द्वारा अपने परम अभीष्ट विषय=कुंज को ग्रहण करता हुआ, उस कुंज के रूप के अनुकूल, भावना से निर्मित अत्यन्त सुन्दर आकृति से सम्पन्न शरीर को कब देखूंगा ?

अथवा तेज का अर्थ है आत्मा । यह प्रसिद्ध है कि जागृत अवस्था में आत्मा चक्षु में रहता हैं, अतः चक्षु को अपने विषय में प्रवृत्त करने के कारण चक्षु का अर्थ

यद्वा तेजःशब्देनात्मेति, जाग्रदवस्थायामात्मनश्चक्षुः स्थानमिति प्रसिद्धेश्चक्षुषोऽपि प्रवर्तकत्वेन स एव ग्राह्यः। 'रूपे'-त्यनेन दिव्यकारणत्वनिर्देशो, न च तन्मात्रत्वं प्राकृतवच्छङ्क्यम्। यथा 'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रम्'[1] इत्युक्ते ब्र्ह्मणो नित्यत्वमेव। तेजः शब्देन ज्योतिरिति स्वाश्रयाश्रयम्। 'रूपे'-त्यत्र कुञ्जानां स्वतोऽपि प्रकाशबाहुल्यं सौन्दर्यम्। तत्रापि दम्पतिरूपस्य तत्र कुञ्जे प्रसृमरच्छविच्छटाभिरपि रूपमयत्वमिति। तादृशस्यभावस्तादृश्यम्। यादृक् सच्चिदान्दमयं तेजस्तादृशत्वं रूपमयत्वञ्चेति, यथा 'दुकूलं बिभ्राणाम्' इति। 'कोमलम्' मनोवाक्तनुमार्दवैः सेवासूक्ष्मकौशलदृष्टचर्हं, यथा 'नवरसकलाकोमला' इति पूर्वोक्तेश्च ज्ञेयम्। 'दिव्यम्' अप्राकृतं स्वच्छाद्भुतत्वञ्च।

एतादृशसखीरूपभवनकारणं विवृणोति—प्रेम्णा युगलप्रेमातिशयेन केलिकलोज्ज्वलाद्भुतरसदर्शनोग्रमाध्वीकपानेनैकाविच्छिन्ना घूर्णायमाना आकृति-

रसकलश

आत्मा ही समझना चाहिए। 'रूप' से अभिप्राय कुंज-आदि के दृश्यमान कारणभूत आध्यात्मिक रूप से है, न कि सांख्य शास्त्र-प्रतिपादित भौतिक रूप-मात्रा से। श्रीमद्-भागवत में कहा है—'अव्यक्त काल ने विष्णु की माया से संहृत तन्मात्रापन्न ब्रह्म के रूप में स्थित विश्व को पृथक्-पृथक् करके दिखा दिया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म नित्य है। 'तेज' से ज्योति का मतलब है जोकि अपने आश्रय का भी आश्रय है। 'रूप' से तात्पर्य कुंजों के सौन्दर्य का है जो कि स्वयं भी भरपूर प्रकाश से युक्त है। फिर दम्पती के रूप की छटायें वहाँ छिटकती रहती हैं, अतः कुंज रूपमय हैं। 'तादृश्यम्' का अर्थ है—उसी प्रकार का। जैसा सच्चिदानन्दमय तेज है वैसा ही, और साथ में वैसा रूपमय भी जैसा कि होना चाहिए। कहा भी है—'स्वामिनी द्वारा अपने हाथ से दिये गये प्रसादी दुकूल तथा वक्षःस्थल पर चोली को धारण करती हुई मैं अपने आप को सुकुमारी किशोरी कब समझूंगी?' (श्रीराधा सु० पद्य ५२)। 'कोमल' से अभिप्राय ऐसे शरीर से है जो मन, वाणी और अंगों की कोमलता के कारण एवं सेवा-संबंधी सूक्ष्म चातुर्य की दृष्टि से उपयुक्त हो। कहा भी है—'नव रस-कलाओं से कोमल, प्रेम विग्रहवती श्रीराधा की दासी मैं कब बनूँगी?' (श्रीरा० सु० २६१)। 'दिव्य' का अर्थ है अलौकिक तथा निर्मल और अद्भुत।

इस प्रकार के सखीरूप होने के कारण बताते हैं—'प्रेमैकमत्ताकृतिः।' युगल के प्रति अत्यन्त प्रेम होने के कारण केलि-कला के उज्ज्वल, अद्भुत रस को क्या देखा,

१. श्रीमद्भागवत, ३।१०।१२,

र्यस्य। बहिरुद्गमेन प्रेम्णः कार्यावस्थाप्राप्त्या पूर्णत्वं ध्वनितम्। तेनाश्रु-पुलककम्पप्रलपनहसनचकितादिमत्वं ज्ञेयम्। यथा—'अहो ! तेऽमी'-ति, 'इहैवाभूत्कुञ्जे' इति, 'सदा गायं गायम्' इति, 'हा ! कालिन्दि' इत्यादि। श्रीप्रबोधानन्दैरपि—

क्रन्दन्नार्तस्वरेण क्षितिषु परिलुठन् सन्नमन् प्राणबन्धुं
कुर्वन् दन्ते तृणान्यादधदनुकरुणादृष्टये काकुकोटीः।
तिष्ठन्नेकान्तवृन्दाविपिनतरुतलेष्वेव पाणौ कपोलं
न्यस्याश्रूण्येव मुञ्चन्नयति दिननिशां कोऽपि धन्योऽस्त्यनन्यः ।।२।५४
मुञ्चन् शोकाश्रुधाराः सततमरुचिमान् ग्रासमात्राग्रहेऽपि,
क्षिप्तो बद्धो हतो वा गिरिवदविचलः सर्वसङ्गैर्विमुक्तः।
नैष्किञ्चन्यैककाष्ठां गत उरुतरयोत्कण्ठया चिन्तयन् श्री—
राधाकृष्णाङ्घ्रिपङ्केरुहदलसुषमां कोऽपि वृन्दावनेऽस्ति ।।२।५५

रसकलश

मानो तेज मदिरा पी ली जिससे श्रीहिताचार्य की आकृति को घुमेर आने लगी। इससे यह सूचित किया गया है कि अन्दर का भावात्मक प्रेम कार्यावस्था को प्राप्त कर बाहर निकला तो संपूर्ण हो गया और उसके कारण आँसू, रोमांच, प्रलाप, हँसना, चकित होना—ये सब अनुभाव और सात्विक भाव प्रकट हो गये। प्रेम की अभिव्यक्ति के वर्णन के लिए इन पद्यों को देखिए—'अहो ! ये वे ही कुंज हैं, वही अनुपम रास-स्थली है' (२०९), 'इसी कुंज में मोहनांगी प्रिया का रति-विलास हुआ था, (२१०), 'सदैव श्रीराधा के प्रियतम के अत्यन्त मधुर यश को गा-गा कर,' (२५३) और 'हे यमुने ! तुम्हारे ही जल में मेरी निधि प्रियतम के साथ खेली थी' (२६२)।

श्रीप्रबोनन्द-कृत वर्णन देखिए—

'दयनीय स्वर से रोते हुए, पृथ्वी, पर लोट-पोट होते हुए, प्राणबन्धु को दण्डवत् प्रणाम करते हुए, दांतों में तिनका दबाकर कृपा-कटाक्ष के लिए कोटि-कोटि दीन वचन उच्चारण करते हुए तथा श्रीवृन्दावन के वृक्ष-वृक्ष के नीचे एकान्त में रहते हुए, हाथ पर कपोलों को रख कर आंसू बहाते हुए जो कोई दिन रात बिताता है, अति अनन्य वह धन्य है। (२-५४)

निरन्तर शोक के आंसू बहाता हुआ, एक ग्रास मात्र आहार में भी रुचि न रखने वाला, फेंक दिये जाने पर, बाँधे जाने पर या मार पीट करने पर भी जो अपनी निष्ठा में पर्वत की भाँति अडिग रहता है, किसी से मिलता-जुलता नहीं, अकिंचनता की सीमा पर पहुंचा हुआ है तथा अत्यन्त उत्कंठा-पूर्वक श्रीराधा-कृष्ण के चरणारविन्दों की शोभा का ध्यान करता है, ऐसा विरला ही भाग्यवान् वृन्दावन में रहता है ।।२/५५,

'स्फुटम्' प्रकटमिति, न लज्जां करोमीत्यर्थः। कीदृशे वृन्दावने? राधाकेलिविचित्रचरित्रेषु अक्षिभिः सह वर्तमाने। स्थास्नुतया वर्तमानेऽपि तत्सर्वलीलाद्रष्टरीत्यर्थः। इतरथा स्थावर एवावस्थित इति। तत एवाकस्मात् केषुचित् कुञ्जेषु सहृदयसखीवत् पुष्पाङ्कुरमकरन्दश्रावादि व्यपदेशेन यत् प्रेमवत्वं दर्शयति तत्सहृदयैरेव ज्ञायत इति। यद्वा सुतरां साक्षिणि तत्तत्केलिकलासूचके। यथा—'भो! भो! दिव्याद्भुततरुलतास्तत्करस्पर्शभाजः' इति। अन्यत्र शास्त्रादिना विदुषा च ज्ञायते, अत्र च साक्षात्करेण। सुतरामित्युक्त्या अर्थिप्रत्यर्थिविवादे यथा साक्षिकृतनिर्णयसिद्धे स्तथैवात्र युगलकेलिदिदृक्षूणां श्रीवनादेव सिद्धिर्नान्यथेतिध्वनितम्। एतत्कृपासूचनैकलभ्यं तद्दर्शनमिति भावः।

पुनश्च 'पावने।' पुनाति शरणागतान् स्वरूपेण रजसा वा। इत्यनेन कृपालुत्वं ध्वनितं अनधिकार्यागन्तुकाधिकारसम्पादकत्वञ्चेति, 'पापैकभाजा'-

रसकलश

'स्फुटम् का अर्थ है—प्रकट-रूप से, बिना लज्जा किये (रहूंगा)। वृन्दावन के विशेषण देते हैं—श्रीराधा की काम-केलि के जब विचित्र चरित्र होते हों, तब आँखें खोल कर स्थित रहने वाले (वृन्दावन में)। जड़ होने पर भी वृन्दावन विविध लीलाओं को देखता है; अन्य समय में वह स्थावर (अचल) रूप में रहता है। किसी कुंज में अकस्मात्, सहृदय सखी की भांति, फूलों में से पराग झरा कर जब वृन्दावन अपना प्रेम व्यक्त करता है तो उसका पता सहृदयों को ही लगता है। अथवा 'लतासु+साक्षिणी' यह पद-विच्छेद न कर, यदि 'लता+सुसाक्षिणि' किया जाय, तो अर्थ होगा—भलीभाँति साक्षी-रूप में स्थित—अर्थात् वृन्दावन में श्रीराधा-कृष्ण द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली काम-कलाओं की सूचना वृन्दावन से मिलती है। जैसे—'उन्हीं श्रीराधा के हाथों द्वारा स्पर्श किये गये हे दिव्य, अद्भुत वृक्ष और लताओ!' (श्रीरा०सु०२६२) 'साक्षिणि का गूढार्थ यह है कि अन्यत्र तो शास्त्रों में दिये गये वर्णनों और विद्वानों के प्रवचनों से इन क्रीड़ाओं का पता लगता है, पर यहाँ तो वृन्दावन स्वयं अपनी आँखों से इनका साक्षात्कार करता है। 'सुसक्षिणि' में 'सु' उपसर्ग की व्यंजना यह है कि वादी और प्रतिवादी के झगड़े में जैसे गवाह के द्वारा दी गई साक्षी के आधार पर निर्णय किया जाता है, वैसे ही यहां पर युगल-क्रीड़ा को देखने की इच्छा रखने वालों को वृन्दावन से ही सफलता मिलती है, इसका अन्य कोई उपाय नहीं। भाव यह है कि उस केलि का दर्शन श्री वृन्दावन की कृपा से ही संभव है।

'पावने' का अर्थ है—जो शरण में आए हुओं को अपने स्वरूप से अथवा अपनी रज से पवित्र करता हो। इससे श्री वृन्दावन की दयालुता प्रकट होती है, और यह भी

मित्युक्तमेवेति । यद्वा साक्षित्वादेव रसिकानां भावुकानां नित्यविहार-सिद्धान्तसन्महिममाधुर्यसत्यत्वदर्शनादिना साहाय्यकरणात् पावयतीति शुद्ध्यति प्रतिवादिभ्य, इति पावने ।

पुनश्च 'उज्ज्वलाद्भुतरसे' इति । स्वच्छाऽऽश्चर्यस्वादस्वरूपे । यद्वा श्रृङ्गाराद्भुतौ रसौ यत्र मुख्यतया स्त इति । अन्येऽपि रसाः श्रृङ्गारानुकूला यत्र सुखं तिष्ठन्तु, न च विरोधिनः, केवलयुगलैकविहारस्थलत्वात् ।

तेजोरूपाणि निकुञ्जानि यत्रेत्यपि वा वनविशेषणम् । 'एव' इत्यवधारणेन निःसंशयत्वद्योतनमिति । तादृशत्वोचितं प्रेममादनोचितमित्यपि ध्येयम् । किञ्च पूर्वं प्रेमापि सखीभावेनैव कृतं, तेन तदुचितम् । तासां सखीनामपि प्रेमैकरूपत्वात् प्रेममत्ततैव तत्प्राप्तिकारणमिति हि ।

रसकलश

कि बाहर से जो अनधिकारी व्यक्ति यहां आते हैं, उन्हें यह वृन्दावन सखी-भाव अपनाने या केलि-दर्शन का अधिकार देता है। कहा भी है –'जो पापियों को भी प्रेमामृत सिन्धु के सारभूत रस को देता है (श्रीरा० सु० २६५)। अथवा 'पावने' का यह अर्थ है कि साक्षी होने के कारण ही वृन्दावन भावुक रसिकों को नित्य बिहार के सिद्धान्त तथा अपनी श्रेष्ठ महिमा, माधुर्य और सत्स्वरूप के दर्शन करा कर उनकी सहायता करता है और प्रतिपक्षियों के खण्डनात्मक आक्रमणों से बचा कर उनकी पवित्रता की रक्षा करता है।

अब 'उज्ज्वलाद्भुतरसे' की व्याख्या करते हैं--वृन्दावन का स्वरूप निर्मल और आश्चर्यप्रद आस्वाद से बना है। अथवा श्रृङ्गार और अद्भुत रसों का यहां प्राधान्य है। इनके अतिरिक्त अन्य रस भी यहां सुखपूर्वक रहते हैं, पर श्रृङ्गार विरोधी बन कर नहीं, बल्कि उसके अनुवर्ती होकर। क्योंकि वृन्दावन तो केवल विहार की स्थली है न।

अथवा 'तेजोरूपनिकुञ्जे' को वृन्दाबन का विशेषण मान लिया जाय। तब अर्थ होगा— जहां तेजस्वरूप निकुंज हैं, ऐसे वृन्दावन में। 'एव' (ही) से निश्चय का बोध होता है। दूसरी व्यंजना यह भी है कि उस प्रकार के तेजोमय निकुंज के अनुसार ही शरीर होना चाहिए--ऐसा कि जो प्रेम में मतवाला हो सके। दूसरी बात यह कि प्रेम प्रस्तुत अभिलाषा से पूर्व प्रेम भी तो सखीभाव से ही किया था, अतः शरीर को उसके उचित ही कोमल और दिव्य होना चाहिये। सखियां प्रेमरूप ही हैं, अतः प्रेम में पागल होकर ही श्रीराधा-तत्व को प्राप्त किया जा सकता है।

'नेत्रस्थितिम्' पाठ भी मिलता है। उसके अनुसार अर्थ होगा—नेत्र आदि इन्द्रियों की समष्टि देह-पिण्ड की स्थिति को कुंज में विचरता हुआ—अर्थात् यह भावना करता हुआ कि मैं निकुंज में विविध प्रकार की सेवा में व्यस्त हूँ और इस रूप

'स्थितिम्' इति पाठे नेत्रादिपिण्डस्य स्थितिं तत्र विचारयन्निति। भावनायामहं तत्र कुञ्जे एवमेवालग्नोऽस्मीति द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, कर्ता, गन्ता, स्प्रष्टास्मीत्यादिस्मृत्यात्मस्थित्या प्रदेशान्तरस्थ पिण्डस्य नानुस्मृति, रतेन पिण्डस्थित्युक्तिः। साक्षादपि च तत्र मत्ताकृतिर्वसत्येव। तेन तादृशानां भावनासाक्षात्कारौ निर्विशेषावेव।

तेजोरूपोक्तिराधिदैविकत्वात्। किञ्च लोकानामन्येषाञ्च प्राकृतरीत्याधिभौतिकरूपस्यैव ग्रहणात्। तत्रैवम्—यथा गुरुषु, भगवदर्चाविग्रहेष्ववतारसमये वा पूर्णभावेनैव पूजनं विधीयते, तेन भावुकानां तच्चरणजलरेणुप्रसादोच्छिष्टाङ्गीकारेण यथार्हमुख्यफलप्राप्तिर्भवत्येव, तद्वल्लोके प्रादुर्भूतानां धाम्नामपि ज्ञात्वा न प्राकृतत्वभानं शङ्कनीयमिति तादृश्या स्थित्या उचितं भवितुमर्हं भविष्णुं वा दिव्यकोमलवपुरिति स्पष्टमेवेत्यपि ध्येयम्। वासेऽप्येवं यो वसति तद्धामफलमिति सजातीयशिक्षणम्।

रसकलश

में केलियों का दर्शक हूँ, अस्फुट ध्वनियों का श्रोता हूँ, कर्ता हूँ, इधर-उधर जाने वाला और लता, वृक्ष आदि को छूने वाला हूँ। इस रीति से चिन्तन और स्मरण करता हुआ मैं भावना के बल पर कुंज में अपनी स्थिति बना लेता हूं। तब मैं भले ही कुंज के अन्दर न रहकर कहीं अन्यत्र रहूं, पर मुझे यह सुधि ही नहीं रहती कि मेरा शरीर कहाँ है। 'पिण्ड-स्थिति' का यही आशय है। वैसे तो श्रीहितसखी प्रेम में मतवाली होकर कुंज में ही विराजमान रहती हैं, अतः उन जैसी अन्तरंगाओं के लिए चाक्षुष और भावनात्मक साक्षात्कारों में कोई अन्तर नहीं।

निकुंज के आधिदैविक होने के कारण उसे तेजोरूप कहा गया है। दूसरे लोगों को तो वृन्दावन का रूप भौतिक ही दिखाई देता है, किन्तु उस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि गुरुओं में, भगवान् की पूजा के लिये प्रतिष्ठापित मूर्तियों में और अवतार के समय गुरुत्व अथवा ईश्वरत्व की पूर्ण भावना रख कर पूजा की जाती है। उनका चरणामृत, रज, प्रसाद और जूठन स्वीकार करने से उपासकों को यथायोग्य पूरा फल मिलता ही है। संसार में प्रकट हुए धामों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही सोच कर उनमें लौकिक बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। उस भावनात्मक स्थिति के अनुसार शरीर को भी दिव्य और कोमल होना चाहिए, यह तो स्पष्ट ही है। श्रीहिताचार्य अपने जेसे भावुकों को यह शिक्षा देना चाहते हैं कि वृन्दावन में रहते हुए भी जो इस प्रकार रहता है, उसी को वास का फल मिलता है।

अन्तरंग-पक्ष में - (पद्य २५९ में वर्णित) आश्चर्यामन्द में अवगाहन करने के बाद कुंज के बाहर केलि-रस की मदिरा को पीकर उन्मत्त हुई श्रीहितसखी बैठी थीं। वहाँ

आन्तरे च—एवमाश्चर्यानन्दे निमज्य बहिः कुञ्जकेलिरसासवमत्ताकृत्या तिष्ठन्ती भावनया मनोवृत्तिमयदिव्यपरमसूक्ष्ममृदुलस्वरूपेण रहस्यानन्दमनुबुभूषति—राधाकेलीति। किञ्चाग्रे 'क्वासौ राधा' इति पद्ये रसमज्जनोद्धृतौ कौतुकानन्देन वृन्दावनमहिमा स्मृतः। तदनन्तरं स्वस्य भावनायां कोमलरसप्रेममय मूर्तिभवनमुपक्रम्य तदेवान्तेऽत्रोपसंहरति द्वाभ्यामित्यष्टकसङ्गतिः।

पावने मनःप्रसादकरे केलिसाक्षिणी नानालीलासूचकत्वात्। यद्वा जालरन्ध्ररूपलतान्तरैरक्षीण्येव कल्पयन्तीव वक्ति—एतदक्षिभ्य एवाहं पश्यामीति। अत एवोज्ज्वलाद्भुतरसरूपे अत्र कुञ्जबहिः प्रेममत्तयैव स्थेयम्, किञ्चान्तस्तु प्रमादानर्हत्वात्। ततो नेत्रादिपिण्डस्य सर्वेन्द्रियैक

रसकलश

बैठे ही बैठे वे यह अभिलाषा कर रही हैं कि मेरा शरीर यदि दिव्य, अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल हो जाय और उसमें मन अपना व्यापार यथावत् करता रहे, तो मैं केलि-रहस्य के आनन्द को इच्छानुसार भोग सकती हूँ - यह है प्रस्तुत पद्य की अन्तरंग-पक्ष में उत्थानिका। इस संबन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि रस में अवगाहन करके निकलने के बाद 'क्वासौ राधा'—इस पद्य (२५६) में किये गए वर्णन के अनुसार, कौतुकपूर्ण आनन्द के आवेश में श्रीहितसखी को वृन्दावन की महिमा का स्मरण हो आया। उसके अनन्तर (पद्य २६१ के अनुसार) उन्होंने यह अभिलाषा प्रकट की कि मेरा स्वरूप कोमल और प्रेममय हो जाय। अब अन्त में दो पद्यों (२६६ ६७) द्वारा अपनी उसी भावना का उपसंहार करती हैं। इस प्रकार आठ पद्यों (२६०-२६७) की संगति आदि समझनी चाहिए।

व्याख्या - वृन्दावन 'पावन'—अर्थात् मन को प्रसन्न करने वाला है और दम्पती की काम-क्रीड़ा का साक्षी है, क्योंकि उसे देखने से विदित होता है कि युगल ने यहाँ क्या-क्या क्रीड़ायें की हैं। 'साक्षी' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है--आँखों के सहित। इसके अनुसार श्रीहितसखी कल्पना करती हैं कि लता-पत्तों के समूह में बने हुए छिद्र ही मानों उनकी आँखें हैं जिनसे वे लीलाओं का साक्षात्कार करती हैं। वे कहतो हैं--मैं तो इन्हीं आँखों से देखती हूँ, इसीलिए कुंज का यह बाह्य-प्रदेश मेरे लिए अत्यन्त अद्भुत और रसस्वरूप है। यहीं मुझे प्रेम से उन्मत्त होकर रहना है, न कि अन्दर, क्योंकि वहाँ (प्रिया-प्रियतम के सान्निध्य में) यह मतवालापन नहीं चलेगा। वहां तो सावधान होकर हो रहना होगा। इस प्रकार रहते हुए नेत्रादि समस्त इन्द्रियां तन्मय होकर पिण्डीभूत हो जाती हैं—अर्थात् जहां की तहां ठहरकर अपने व्यापार से विरत हो जाती

तन्मयत्वेन पिण्डीभूततां प्राप्तस्य—स्थगितस्येत्यर्थः स्थितिं कलयामि, कथमन्तः सेवने लग्ना भवामीति ।

यद्वा पिण्डस्थं नेत्रादीति गौरश्यामतेजःप्रसृमरकिरणत्वात् तेजोरूप-कुञ्जे स्वतोऽपि दिव्ये, तद्विशेषगुणाधानात् । इदमपि बहिःस्थत्वं किञ्चित्-स्वादविशेषमयम्, मञ्जीरकाञ्चीरणितमणितादिश्रवणनवाङ्गरागपरिमलोद्-गाराघ्राणपरस्परविनोददर्शनादिसहृदयैकवेद्यानन्दकमिति । तथापि तादृश-त्वस्य तेजोवत्सूक्ष्मत्वस्योचितं दिव्यं द्युत्यात्मकं मोदमदस्तुत्यात्मकं वा, कोमलं, अदृश्यं, दम्पत्यसङ्कोचात्मकं वपुः स्वीयमहमेव तत्रत्यसेवनार्हमव-लोकये, मनसैव दृष्ट्वा तत्केलिस्तवं करोमि । एवं मोदमदादिभावं, विजिगीषां तादात्विकार्हां परस्परविषयिणीं भावयामि । अत्र भावात्मक-वपुर्ग्रहणं ज्ञेयम् । एवकारेण बहिरन्तरत्रैव स्थितिरिति, न च वनकौतु-

रसकलश

हैं । इस स्थिति की ही मैं भावना करती हूँ कि किस प्रकार मैं हृदय की भावना के द्वारा ही सेवा-कार्य में जुट जाऊँ ।

दूसरा अर्थ इस प्रकार काभी होसकता है—पिण्ड(भौतिक देह)में स्थित नेत्र आदि इन्द्रियों को तेजस्वरूप कुंज में (भावना द्वारा)लगाता हुआ। गौर-श्याम तेज की किरणों के छिटकते रहने के कारण ये कुंजें तेजोमय हैं । जिस युगल के फिर विशिष्ट गुणोंके संक्रान्त होने के कारण ये कुंजें स्वतः भी दिव्य हैं । और कुंज के बाहर इस प्रकार बैठे रहने में भी एक अनोखा स्वाद है । यहीं से मैं नूपुर और मेखला की धीमी-धीमी ध्वनियों एवं रतिकालीन कूजन को सुनती रहती हूँ, अंगराग से उठती हुई सुगन्ध को सूंघ सकती हूँ और युगल के पारस्परिक हास-परिहास को भी देखती रहती हूँ । इस आनन्द के अनुभव की अपूर्वता को सहृदय ही जान सकते । फिर भी मेरी यह अभिलाषा है कि उस प्रकार के सूक्ष्म तेज से संपन्न कुंज के योग्य अपने दिव्य शरीर को मैं देखूँ । 'दिव्' धातु से निष्पन्न होने के कारण 'दिव्य' से मतलब है कि मेरा शरीर कान्तियुक्त हो एवं हर्ष अभिमान, स्तुति आदि से युक्त हो, कोमल हो, अदृश्य हो ताकि उसकी उपस्थिति के कारण प्रिया-प्रियतम किसी प्रकार के संकोच का अनुभव न करें । निकुंज-स्थित दम्पती की सेवा के उपयुक्त इस प्रकार के अपने शरीर को मैं देखती रहती हूँ । मानसिक भावना से ही देखती हुई उनकी विहार-केलि को मैं सराहती रहती हूं । इतना ही नहीं, केलि के प्रसंग में दम्पतिनिष्ठ मोद और अभिमान के भावों को एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने की इच्छा को अपनी भावना से ही देख लेती हूं । यहां अभिलषित शरीर को भावात्मक ही समझना चाहिए । 'एव' (ही) से तात्पर्य यह है कि—बाहर हो या

कान्तरे । तत्र तेजस्येव नेत्रादिस्थापनात् तेज एव स्वं सारूप्यं दत्वा स्वपरमकारणानन्दं दर्शयतीति । यथा सूर्योपासकस्य नेत्रारोपणेन शुद्धोपासनया सिद्धस्य लोकस्थस्यैव सूर्यमण्डलान्तर्गतविशेषानन्ददर्शनम् । पश्चात् तन्मयतया स्वं कृपाकृततेजोरूपमपि मण्डलस्थं पश्यति तद्वत् । यथा च बहिस्था योगिनोऽपि दूरश्रवणदर्शनसिद्धास्तेजसि नेत्राद्यारोप्य यथाभिलषितं सर्वं बहिस्थं पश्यन्ति । अत्र तद्गतानन्दस्तत्कृपयैव दृश्यो भवतीति भेदः ॥२६६॥

ननु तदुचितदिव्यरूपप्राप्तिसम्भावना तु दूरेऽस्तु, प्रेममत्ताकृतिर्दूरतया, अपि च वासमात्रमपि महादुर्लभं, महाभाग्यवदेकदायत्वात् । यथाभिलषितनैयत्यं कुत्र कस्य भवति, कर्मणा दैवनेत्रेण वृन्दावनादन्यत्र नीयते । तत्र दुःखातिशयेन सुखातिशयेन च वासनिष्ठाव्याहतिश्चेत् किं कार्यम् । तत्रैवं शङ्कितेषु दैन्येन शिक्षयन् स्वनिष्ठापरमकाष्ठामाह—

रसकलश

भीतर, रहना चाहती हूं निकुंज के आस-पास ही, न कि वन के अन्य प्रदेशों में जहाँ कि कौतुक चलते रहते हैं । गौर-श्याम तेज के स्वरूपभूत कुंज में जब नेत्र आदि लग जाते हैं, तो तेज ही अपने समान रूप प्रदान कर अपने परमकारणभूत आनन्द को उपलब्ध कराता है । उदाहरण के लिए, सूर्य का उपासक सूर्य की ओर अनवरत रूप से टकटकी लगा कर जब सिद्ध हो जाता तो संसार में रहते हुए ही (भौतिक शरीर से) सूर्य मंडल के अन्तःस्थिति विशेष आनन्द को देखने में समर्थ हो जाता है। बाद में तन्मय होने के कारण इष्ट की कृपा से जब उसका निजी स्वरूप केवल तेज में परिणत हो जाता है, तो वह अपने आप को सूर्य- मण्डल में स्थित देखने लगता है। जिन योगियों को बाहर रह कर दूर की वस्तुओं को देखने-सुनने की सिद्धि प्राप्त हो जाती है, वे भी ज्योति-तत्व में अपने नेत्रों को लगाकर सब चीजों को एक स्थान पर बैठे ही बैठे देख लेते हैं । फलितार्थ यह है कि आराध्य से संबन्धित आनन्द का साक्षात्कार उसकी कृपा से ही होता है ॥२६६॥

शंका हो सकती है कि वृन्दावन के माहात्म्य को जानने योग्य दिव्य शरीर मिलने की संभावना तो दूर की बात है और उसके प्रेम में मतवाला होना तो और भी दूर है; वहाँ तो वास करना भी महादुर्लभ है, क्योंकि यह उत्तराधिकार तो बड़भागियों का ही है । भला ऐसा कौन है, कहाँ है जिसके भाग्य का विधान उसकी अपनी इच्छा के अनुसार हो ? कर्म के आँखें नहीं होती, भाग्य में क्रिया नहीं होती । भाग्य के इशारों पर कर्म जीव को वृन्दावन के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र ले जा कर पटक देता है । कहीं उसे सुख मिलता है, तो कहीं घोर कष्ट । ऐसी स्थिति में वृन्दावन-वास की निष्ठा भंग हो

यत्र यत्र मम जन्मकर्मभि-
र्नारकेऽथ परमे पदे मम ।
राधिकारतिनिकुञ्जमण्डली
तत्र तत्र हृदि मे विराजताम् ।।२६७।।

कर्मभिः सञ्चितप्रारब्धक्रियमाणादिभिरनियतसमयाक्रमणकारकैवार्देवु-ल्लङ्घनीयैर्बहुभिरपि यत्र यत्रेति मच्छुभपरमधर्मादिसङ्कोचमनपेक्ष्य तत्कृत धाष्ठर्चनेर्ष्यया मात्सर्येण च तदभिलषिते स्थाने मम परतन्त्रस्य जन्मास्तु, इति माध्यस्थम् । 'न नीचं निरयात्परम्' इति न्यायेन नारके तत्स्थाने, तद्योनौ च तदस्तु । न तत्र मे हानिबुद्धिरिति । यथैवेकतः परमोत्तमे परमे पदे बैकुण्ठे प्रादुर्भावोऽस्तु, न मे लाभबुद्धिरिति । एवं मध्यनीचोत्तमोक्ति-र्निःशेषत्वज्ञापिनी । तत्र स्वेष्टमाह—

रसकलश

जाय, तो क्या करना चाहिए ? इस प्रकार के सन्देहशील पाठकों को अपनी दैन्य-वृत्ति द्वारा शिक्षा देते हुए अपनी एकान्त निष्ठा का वर्णन करते हैं—

'मेरे कर्मों के अनुसार नरक में अथवा परम पद वैकुण्ठ में जहाँ-जहाँ मेरा जन्म हो, वहां-वहाँ, जिन निकुंजो के समूहों में श्रीराधिका रति-विहार करती हैं, वे मेरे हृदय में विराजमान रहें ।।२६७।।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं : संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण । जीव पर आक्रमण करने का इनका कोई निश्चित समय नहीं । देवता भी इनकी गति का उल्लंघन नहीं कर सकते । इन्हें इसका भी कोई विचार नहीं कि श्रीवृन्दावन-वास को मैं अपना सर्व-श्रेष्ठ धर्म मानता हूं और वहाँ के सिवा अन्यत्र जाने में मुझे आपत्ति है । किन्तु ये कर्म और भाग्य तो पक्के ढीठ हैं न । इन्हें तो मेरी इसी बात से ईर्ष्या हो सकती है कि मैं वृन्दावन में ही रहना चाहता हूं । तो इनकी मत्सरता के कारण मुझे परतंत्र के कर्म की इच्छानुसार जहाँ-जहाँ जन्म मिले—भले ही वह स्थान नरक ही हो, या कोई ऐसी योनि जिसमें जन्म लेने से नरक में रहना पड़ता है-किन्तु इसे मैं अपनी हानि नहीं समझूंगा । जन्म-स्थानों की तीन श्रेणियाँ होती हैं । इनमें नरक सबसे निकृष्ट है । कहा भी है— 'नरक से अधिक निम्न स्थान अन्य कोई नहीं है ।' 'यत्र-यत्र' (जहां-जहां) द्वारा ऐसे स्थानों का निर्देश किया गया है जो नरक और स्वर्ग के बीच में पड़ते है । सबसे उत्तम स्थान वैकुण्ठ माना जाता है जिसे 'परम पद' की संज्ञा दी गई है । वहाँ यदि मैं जन्म लेता हूं तो उसे मैं कोई लाभ नहीं मानता । इस प्रकार तीन स्थानों को गिनाने के बाद अन्य कोई जगह शेष नहीं रह जाती । अब अपनी अभिलाषा बताते हैं—

श्रीराधिकायाः प्रस्तुततममाधुर्यैश्वर्याया रतिसम्बन्धिकुञ्जानां मण्डली समूहः। मनसो भ्रामं भ्रामं तत्रैव स्थायित्वान्मण्डल्युक्तिः। तादृशं वृन्दावनमेव। तत्र तत्रोक्तनीचोत्तमतमेषु मे तादृशतत्रत्यप्राणभृतोऽपि अप्रच्युतानन्यत्वस्य हृदि विशेषेण राजतामिति नीचोत्तमयोरसङ्कोचेन निर्भयेन चेत्यर्थः, इत्याशंषनम् यथोक्तं श्रीभागवतशिरोमणिना श्रीशिवेन—

नारायणपरा देवि ! न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥ इति ॥

'तुल्ये'-त्यत्र स्वप्रयोजनस्वतुन उपादेयस्य तुल्यत्वादवैषम्यादव्यभिचारादिति यावत्। न च नरकापवर्गयोस्तुल्यत्वमिष्टम्। यथा चात्रैवोक्तम्—'वैकुण्ठे नरकेऽथवा मम गतिर्नान्यास्तु राधां विना' इति। एवं श्रीसनकादिभिरपि—'कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ताच्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयोः रमेत" इति। अत अबाधितेष्टं यदा प्राप्तं तदान्ये औपाधिकजन्मादयः

रसकलश

प्रसंगागत ऐश्वर्य और माधुर्य से सम्पन्न श्रीराधा की रति-संबंधी कुंजों की मंडली=समूह (मेरे हृदय में सुशोभित हो)। मन चारों तरफ घूम-घाम कर स्थायी रूप से वहीं जाकर टिकता है, अतः 'मण्डली' कहा है। कुंजों के ये समूह वृन्दावन में ही हैं, अतः 'निकुञ्ज-मण्डली' से तात्पर्य श्रीवृन्दावन-धाम का ही है। 'तत्र-तत्र' का अर्थ है—उन-उन स्थानों पर जो सबसे निकृष्ट और सबसे उत्कृष्ट हैं। वहां जन्म लेकर तदनुकूल जीवन-यापन करते हुए भी मेरे हृदय में वह निकुंजमंडली विशेष रूप से आविर्भूत होती रहे – इस प्रकार कि मेरी अनन्य भावना किंचित् भी टस से मस न हो, और इस विचार से कि अमुक स्थान निकृष्ट है, या अमुक सब से उत्तम है, मुझे निकुञ्ज-मंडली का ध्यान करने में न कोई हिचक हो और न किसी प्रकार का डर। यह है अभिलाषा का स्वरूप। परम भक्त श्रीशिव ने कहा है—

हे देवी ! नारायण में ध्यान लगाने वाले व्यक्ति कहीं भी नही डरते हैं। स्वर्ग, नरक और अपवर्ग में भी वे अपने लक्ष्य पर समान भाव से ध्यान रखते हैं।'

इस उद्धरण में 'तुल्य' शब्द का भावार्थ यह है कि जिस वस्तु से प्रयोजन है, जो उनके लिए उपयोगी है, उसके सम्बन्ध में उनकी दृष्टि सर्वत्र एक-सी रहती है। (स्थान-भेद के कारण दृष्टि-भेद नहीं होता)। इस नियम में कहीं विषमता नहीं आती और न इसका अतिक्रमण ही होता है। यहां नरक और अपवर्ग (मोक्ष) की समानता बताना अभीष्ट नहीं है। इसी स्तव में कहा है—'श्रीराधा के बिना वैकुण्ठ या नरक में मेरी गति न हो' (१६४)। सनकादिक ने भी भगवान् की स्तुति करते हुए कहा

१. श्रीमद्भागवत ३।१५।४६,

प्रातीतिका एव। नरके च दुःखातिशयेन न तद्विस्मृतिः, परमे पदे च न तदुधेयतेति तावत्पर्यन्तं निष्ठा रक्षणीयेति भावः। अङ्गीकारस्तु स्वामिनी-कृपयैव भावी, परन्तु स्थेयं तावत् स्वसनीनिष्ठयैवेति साधकावश्यककृत्यम्। कर्मपारवश्याज्जन्मादिपारवश्यमस्तु, न निष्ठापारवश्यं कार्यमिति भावश्च।

'ममे'-ति त्रयं वाक्यत्रयबोधकम्। 'अस्तु' इति द्विरध्याहार्यम्। 'ममे'-ति वीप्सा च स्वहृदयहस्तारोपानुभावेन 'नाहं बिभेमी'-ति निर्भयत्वज्ञापिका। एवमेव सजातीयैरपि न भेतव्यम्, न च निष्ठा जन्मान्तरकोटिष्वपि व्यभिचरितव्या। यथा—'किन्त्वाशाप्यस्तु वृन्दावनभुवि मधुरा कोटिजन्मा-न्तरेऽपि' इति। आशां भगवान्निरङ्कुशैश्वर्योऽपि न हातुं शक्तः। अत आशैव सर्वं यथेष्टं प्रापयिष्यतीति। आशैव परमंधनमिति। तस्मान्नाशा-व्याहतिः शङ्कनीयेत्यलं विस्तरेण।

रसकलश

है—'अपने पापों के कारण भले ही हमारा जन्म नरक में हो, किन्तु हमारा चित्त भौंरे की तरह आप में ही रमा करे।' अतः जब बिना विघ्न-बाधा के इष्ट मिल गया, तो कर्म आदि मायिक उपाधियों से होने वाले जन्म तो कहने-भर के हैं। नरक में तो घोर दुःख के कारण निकुंज-मंडली नहीं भूलेगी और परम पद वैकुण्ठ में आवश्यकता से अधिक सुख-भोग मिलने के कारण उसकी उपेक्षा नहीं होगी। भाव यह है कि नरक हो या स्वर्ग, अन्त तक अपनी निष्ठा की रक्षा करनी चाहिए। यही साधक के लिए आवश्यक कार्य है। कर्म करने में स्वतंत्र न होने के कारण जन्म लेना मनुष्य के हाथ में भले ही न हो, पर निष्ठा में परतंत्र नहीं होना चाहिए।

पद्य में तीन बार 'मम' शब्द का उपादान करने के कारण तीन वाक्य बनते हैं—(१) मम कर्मभिः यत्र यत्र जन्म अस्तु, (२) नारके अथवा परमे पदे मम जन्म अस्तु, और (३) तत्र-तत्र राधिकारतिनिकुञ्जमंडली में हृदि विराजताम्[1]। इसके अनुसार पूरा वाक्य बनाने के लिए 'अस्तु' (हो) का दो बार अध्याहार करना होगा। 'मम' का दो बार उपादान यह सूचित करने के लिए किया गया है कि मानों श्रीहिता-चार्य छाती पर हाथ रख कर कहते हैं कि मैं डरता नहीं हूं। इसी प्रकार मेरी जैसी निष्ठा रखने वालों को भी निडर रहना चाहिए; करोड़ों जन्मों में भी अपनी निष्ठा को जरा भी इधर से उधर नहीं होने देना चाहिए। कहा भी है—'किन्तु कोटि-कोटि जन्मों में भी वृन्दावन की भूमि में ही हमारी ऐसी मधुर आशा लगी रहे' (श्रीरा० सु० २१६)

१. अन्य प्रतियों में 'नारकेऽथ परमे पदेऽथवा' पाठ मिलता है।

एवमष्टभिर्वृन्दावनमहिमवर्णनसङ्गतिः यद्वा जन्मनरकपरमपदानामन्यदपि व्याख्यानम् ।

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म—
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्[१]......इति ।

× × ×

'नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादम्'[३] इत्यत्र, 'भवतः कथायां कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः'[३] इत्यादिना कथाश्रुतिसङ्गतिरेव परमं पदं तेषाम् ।

अथ नारकञ्च तद्व्यतिरिक्तम्, यथा 'श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः'[१] इति । 'नूनं दैवेन' इत्यत्र 'पुरीषमिव विड्भुजः'[२] इत्यादिना भजनाभावसङ्गतिरिति । 'जन्म' तत्र जनीप्रादुर्भावार्थिनः कर्मवशात् तत्र प्राप्तिरेव । तत्र

रसकलश

निरंकुश ऐश्वर्य से विशिष्ट भगवान् भी आशा को नहीं छोड़ते, अतः आशा से अभिलक्षित सब कुछ मिल जायगा । बस, इतना ही विस्तार बहुत है ।

इस प्रकार आठ पद्यों द्वारा वृन्दावन-महिमा के वर्णन की संगति ठीक बैठ जाती है । जन्म, नरक और परम पद की दूसरी व्याख्या भी सम्भव है ।

'जो सुख आपके चरणारविन्दों का ध्यान करने या आपके भक्तों की कथा सुनने से शरीर धारियों को होता है, वह अपने नित्यानन्द स्वरूप में अवस्थित ब्रह्म का ध्यान करने से कभी नहीं मिलता ।'

'हे भगवन् ! जो आपकी कृपा के रसज्ञ हैं, जिनका यश रमणीय और पावन होने के कारण कीर्तन योग्य है, वे आपके द्वारा दिये जाने वाले मोक्ष नामक आत्यन्तिक प्रसाद का भी आदर नहीं करते ।'

इत्यादि उक्तियों के अनुसार उनके लिये तो परम पद कथा-श्रवण और साधु-संगति ही है ।

नरक-पद इससे भिन्न है । 'भगवान् का नाम जिनके कानों में नहीं पड़ा, वे कुत्ता, ग्राम-शूकर, ऊँट और गधे के समान हैं । 'जो लोग अच्युत के कथा-रूप अमृत को छोड़ कर बुरी गाथाओं को सुनते हैं, वे निश्चय ही अभागे हैं और विष्टा खाने वाले जानवरों की तरह असत् का सेवन करते हैं ! इन वाक्यों में ऐसी संगति की तरफ

२. श्रीमद्भागवत—४।६।१०,

३. वही ३।१५।४८

१. श्रीमद्भागवत—२।३।१६ ।

२. वही ३।३२।१६,

क्षणप्राप्तिरपि स्ववस्तुसम्बन्धशून्यजनसङ्गाज्जन्मपराभव एव जात, इति ज्ञानाज्जन्मोक्तिरित्यपि ध्येयम् ।

आन्तरापेक्षायां तदेवं भावात्मककोमलसूक्ष्मवपुराशंसनमुक्तम् । अधुना बहिरभ्यन्तरं निर्विशेषमेवाभिलषन्तीत्युपसंहरति—यत्र यत्र बहिर्वाभ्यन्तरे वा जन्म । अत्र-आविर्भावस्तु संभव उत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनमिति यद्भावानां विचित्राणां हितरूपाणां क्षणश उदयाद्दम्पतिभावदर्शनात्तादृशमेव जन्म । यथा तृतीयस्कन्धे ब्रह्मणोऽपि भावत्यागो भावग्रहणमेवापि जन्मशब्देनोक्तम् ।

नराणां समूहो नारम् । तथैव नारीणां सखीनां समूहार्थेन नार इति स्वार्थे कः । तस्मिन् सखीसमूहे रहः कुञ्जाद्बाह्ये सखीसंघट्टे । अथ परमे पदे केवलमेकान्ते द्वयोर्विलासैकसमये च भावरूपेण प्राप्तिः साक्षात् प्राप्तिश्चेति उभयथा मे हृदि प्रियारतिरेव कुञ्जास्तेषां मण्डली । रतिवैचित्र्यात्

रसकलश

संकेत किया गया है जहाँ कोई भजन का नाम भी नहीं लेता। प्रादुर्भाव अर्थ वाली 'जन्' धातु से 'जन्म' शब्द निष्पन्न होता है । इससे यह भाव निकलता है कि कर्म के अधीन होकर स्वर्ग, नरक आदि में कहीं न कहीं पहुँचना होगा ही । वहाँ क्षण-भर के लिए भी जाने पर यदि ऐसे पुरुषों का साथ मिला जिनका कि अपने ध्येय पदार्थ से कोई संबन्ध नहीं, तो वह जन्म तो व्यर्थ हो गया । इस ज्ञान के कारण भी 'जन्म' शब्द उपात्त किया गया है ।

अन्तंरग-पक्ष में—पूर्व पद्य में यह आकांक्षा व्यक्त की थी कि भावात्मक, कोमल, सूक्ष्म शरीर मिल जाय । अब यह अभिलाषा करते है कि निकुंज के बाहर तथा भीतर एक प्रकार का शरीर रहे । जहाँ जहाँ—अन्दर निकुंज में या बाहर दरवाजे पर—मेरा जन्म हो । यहाँ जन्म का अर्थ है आविर्भाव, संभव, उत्पत्ति या द्रव्य का दिखाई देना । विहार-प्रसंग में दंपती में जो-जो विचित्र हितरूप भाव प्रत्येक क्षण उदय होते दिखाई दें, उन्हीं के अनुसार मेरा जन्म होता है (आशय यह है कि ये भाव मेरे हृदय में जब प्रतिबिम्बित होते हैं, तो अपूर्व अनुभूति प्रदान करने के कारण वे मुझे मानों नया जन्म दे जाते हैं । श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में 'ब्रह्मा के भाव-त्याग और भाव-ग्रहण से जन्म का ही अभिप्राय है,(अतः प्रस्तुत में भी जन्म से भाव का ही अर्थ लगाना होगा ।)

'नारके' का दूसरा अर्थ करते हैं—नरों के समूह को 'नार' कहते हैं । उसी प्रकार नारियों का समूह भी 'नार' है । अब 'नार' शब्द में स्वार्थ में 'क' प्रत्यय लगाने से 'नारक' शब्द निष्पन्न होगा । अर्थ हुआ —सखियों के जमघट में । मतलब उन सखियों से है जो निकंज के बाहर रहती हैं । 'परम पद' का अर्थ है—एकान्त में जब कि प्रिया

कुञ्जबहुत्वम्, भावरूपस्य तेष्वेव वासात्, तेषां तस्मिन् वासाच्चेति। 'विराजताम्' शोभताम्—अर्थादहमेवं प्रार्थये, संघट्टेऽपि तस्या विलासैकाशंसनं, रहस्यापि तदेवाशंसनं मद्धृदि रोचते, न च मानाद्युन्मनीभावो, भावान्तरो लीलान्तरश्चेति स्वस्य संयोगैकपरास्थितिर्दर्शिता। वर्णितन्तु यत्र यत्र सर्वमेव लीलान्तरं, परन्तु सञ्चारितयैवेति, स्थायिता तु विहार-एवेति सर्वग्रन्थार्थः। यथा चात्र परिभाषितम्—

वर्णितं सर्वमेवास्ति ह्यविरोधसमन्वयात्।
अपि यत्र मनो लग्नं तद्बहूक्तं हि दृश्यताम् ॥११६॥
वक्तृनिष्ठा स्थिता कुत्र सा ज्ञेयात्र विवेकिभिः।
सर्वलीलैकसाङ्कर्यान्न मुह्यत कदाचन ॥११७॥ इति।
सैव ज्ञेयः स्वसिद्धान्तो यत्परः सैवमूलकः।
अन्ये शाखाप्रशाखादिफलपल्लवशोभनाः ॥१२०॥

रसकलश

प्रियतम विहार में संलग्न हों। उस समय मैं भाव-रूप से वहाँ पहुंचूं या शरीर-सहित पहुंच जाऊं—दोनों प्रकार से प्रियाजी की रति-रूप कुंजों की मंडली ही मेरे हृदय में विराजमान रहे। इस विग्रह में (=रतिरूपा एवं कुञ्जास्तेषां मंडली) रति की विविधता की दृष्टि से भावरूप कुंजों को अनेक माना गया है, क्योंकि भाव कुंजों में रहते हैं और कुंज भाव में रहते हैं। 'विराजताम्=सुशोभित हों। अर्थात् मेरी प्रार्थना यह है कि प्रियाजी जब निकुंजों के बाहर सखियों के बीच हों। तब भी उनके विलास-दर्शन की ही एकमात्र भावना हो और उनके एकान्त में स्थित होने पर भी। मैं यह नहीं देखना चाहती हूं कि मान के कारण प्रियाजी का मन मैला हो गया है, या वे अन्य किसी भाव में डूबी हुई हैं, या विलास के अतिरिक्त अन्य किसी लीला में व्यस्त हैं। इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपनी संयोग-भावना की चरम सीमा दिखाई है। वर्णन तो सभी लीलाओं के मिलते हैं, पर संचारी रूप से ही। स्थायी रस की अभिव्यक्ति तो विहार ही में होती है। पूरे ग्रन्थ का यही मर्म है। परिभाषा प्रकरण में भी लिखा है—

'किन्तु श्रीराधासुधानिधि में संपूर्ण वर्णन विरोध-रहित समन्वय से किया गया है। हाँ, जहाँ मन विशेष रूप से मग्न रहता है, उसका विस्तार से वर्णन किया गया है ॥११६॥

'विवेकी रसिकों को यह जान लेना चाहिए कि इस स्तोत्र में वक्ता की निष्ठा किस लीला पर जाकर ज्यादा टिकती है। रसिक जनो! समस्त लीलाओं का यहां एक स्थान पर सांकर्य हो गया है, ऐसे भ्रम में आप कभी न पड़ें।' ॥११९॥

इत्यादि । एवमन्तरङ्गे हितैककोमलरूपेण स्थितिः, बहिः सखीरूपेण, लोकेचाचार्यरूपेणेति रूपत्रयार्थः सहृदयगम्यः ।

यत्र यत्रासम्पन्नखिजता दृश्यते तत्र तत्र लेखकैकव्यामोहो विचार्यो, न ग्रन्थस्य तत्कर्तुश्चेति सद्भिः कृपालुभिर्दत्तमनस्तया सर्वं संशोधनीयमिति लेखकप्रार्थना ।।२६७।।

एवं स्वनिष्ठापराकाष्ठामुक्त्वा स्वकृतस्तोत्रस्याश्चर्यं तत्वञ्चाह द्वाभ्यम्—

क्वाहं मूढमतिः क्व नाम परमानन्दैकसारं रसं
श्रीराधाचरणानुभावकथया स्पन्दायमानाः गिरः ।
लग्नाः कोमलकुञ्जपुञ्जविलसद्वृन्दाटवीमण्डले
क्रीडच्छ्रीवृषभानुजापदनखज्योतिश्छटाः प्रायशः
।।२६८।।

रसकलश

'वृन्दावन-निकुंजों की इस नित्य लीला को ही परम सिद्धान्त समझना चाहिए । अन्य लीलायें तो शाखा, प्रशाखा, अनुशाखायें हैं जो फलों और पत्तों से सुशोभित हैं' ।।१२०।।

इस प्रकार अन्तरंग में भी हिताचार्य हित के कोमल स्वरूप में स्थित रहते हैं, बाहर सखीरूप में और लोक में आचार्य-शरीर के रूप में । तीन रूपों का यह अर्थ सहृदयों को इसी प्रकार समझना चाहिए ।

इस टीका में जिन स्थलों में ठीक-ठीक प्रतिलिपि न होने के कारण, कहीं दोष दिखाई दें, तो उसे प्रतिलिपिकारों का ही प्रमाद समझना चाहिए, न कि ग्रन्थकार या टीकाकार का । श्रद्धालु महानुभाव कृपया ध्यान से उन स्थलों का संशोधन कर ले —यह लेखक की प्रार्थना है ।।२६७।।

इस प्रकार अपनी निष्ठा की चरम सीमा बताकर अपने द्वारा रचित स्तोत्र से संबन्धित आश्चर्य और तत्त्व के विषय में दो पद्यों द्वारा कहते हैं—

'कहाँ तो मन्दबुद्धि मैं और कहाँ श्रीराधा के चरण-प्रताप की गाथा से परमानन्द के एकमात्र सार रस को प्रवाहित करने वाली स्पन्दित होती हुई वाणी ! खेलती हुई श्रीवृषभानु-नन्दिनी के चरण-नखों की छटायें कोमल कुंजों के समूह से सुशोभित होते हुए वृन्दावन-मंडल से प्रायः संपृक्त रहती हैं ।' अथवा—

कहां मन्दबुद्धि मैं और कहाँ परमानन्द का एकमात्र सार रसरूप नाम ! श्रीराधा के चरण-प्रताप से स्पन्दित होती हुई मेरी वाणी कोमल कुंजों के समूह से

अहं क्व, रसं स्पन्दायमाना गिरः क्व—इति सम्बन्धः। पूर्वोक्ततत्तत्प्रिया-सम्बन्धोज्जृम्भितोत्कर्षोक्त्यानन्दं स्मारं स्मारं 'नामे'-ति सम्भावनेन भाग्योत्कर्षमाश्चर्यति। 'मूढमति-'रिति दैन्यं साधकशिक्षा च। मतिशब्देन बुद्धेर्गिरः प्रेरकत्वसम्भवान्मूढत्वेन च गिरारससम्बन्धानुपपत्ति, रतः क्वशब्दाभ्यां महदन्तरसूचनम्। मूढत्वमत्र, 'अहो! दुर्गममपि रसरहस्यं स्फुटं वच्मि' इति धाष्ट्यर्मेव। यथा—'राधापि साधारणीभूता कालगति-क्रमेण बलिना, हे दैव! तुभ्यं नमः' इति वद्रसप्रकटनार्हत्वेऽपि लोकदृष्ट्या सङ्कुचिततया स्वस्मिन्नेव मूढतारोपणम्—अहह! अनधिकारिणोऽपि केचिच्छ्रोष्यन्ति, हा! किं भावीति मन्मतेमौर्ढ्यमेवेति, परन्तु किं कुर्वे, वैचित्यप्रयोजकोऽन्य एवेति कथाश्रुतिर्वनवासश्च बलात् प्रेरयति'। वक्ष्य-

रसकलश

शोभायमान श्रीवृन्दावन में संलग्न है और प्राय: क्रीड़ा करती हुई श्रीवृषभानु-नन्दिनी के चरणों की नखों की ज्योति की छटा से समन्वित है ॥२६८॥

कहां तो मैं और कहां रस को स्पन्दित करने वाली वाणियाँ!—यह अन्वय है। इससे पूर्व प्रियाजी के संबन्ध से विविध प्रकार के तथा एक से एक उत्तम जो उद्गार निकले हैं उनका स्मरण कर 'नाम' कहा है। अर्थात् जिसकी कोई संभावना नहीं थी उस उपलब्धि को पाकर अपने महान् सौभाग्य पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। मूंढमतिः' कहकर अपनी दीनता प्रकट करने के साथ-साथ साधकों को शिक्षा भी देते हैं। 'मतिः' का अर्थ है बुद्धि। बुद्धि वाणी को प्रेरित करती है, किन्तु मध्य में 'मूढ' शब्द जो लगा है उससे यह व्यंजित किया है कि बुद्धि का संबन्ध यदि मूर्खता से है, तो उससे प्रेरित वाणी का रस से संबन्ध हो ही नहीं सकता; इसलिए शब्दां द्वारा महान् अन्तर का बोध कराया है। अपने को मूर्ख यह सोचकर कहा है कि, देखिए, इस रस का रहस्य कितना अगम्य है, फिर भी मैं इसे स्पष्ट रूप से बताने का साहस करता हूँ। इससे बढ़कर धृष्टता और क्या हो सकती है भला? इसी आशय से पहले (पद्य ७२) कह आये हैं—'ब्रह्मा, शिव आदि भी जिनके रज-कण को मस्तक पर धारण करने का अधिकार नहीं रखते वही श्रीराधा बलवान् काल की गति से सर्व-सुलभ हो गई हैं। हे दैव! तुझे नमस्कार है।' श्रीहिताचार्य राधा-रहस्य का प्रतिपादन करने में यद्यपि सक्षम हैं, परन्तु उद्धृत पद्य के कथनानुसार लोगों की दृष्टि संकुचित हो गई है। उन्हें दोष कैसे दिया जाय? इससे अच्छा तो यही है कि अपने को मूर्ख समझ लिया जाय। बुद्धि की मूर्खता इसमें भी है कि प्रस्तुत रस के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह अनधिकारी व्यक्तियों के कानों में भी पड़ेगा। तब क्या होगा? यह तो मेरी बुद्धि की मन्दता हो रही। परन्तु करूँ क्या? मेरी इस बे-भान स्थिति के लिए उत्तरदायी तो कोई और ही है। जैसा कि

त्येव । यद्वा मूढेति दैन्योक्तावपि तदीयत्व प्रौढिव्यामोहार्थेन गूढं पक्षपातिशीलं ध्वनितम् ।

कीदृशं रसम् ? परात्परतमः कृष्णानन्दस्तस्मादप्येकोऽनन्यो मुख्यः सारस्तत्प्रेमास्पदानन्दः सप्रियसख्यैकगम्यस्तादृशम् । यथा—'तयोर्दासीभूत्वा-तदुपचितकेलीरसम्' इति । सोऽपि श्रीराधाचरणप्रभावकथयैव स्रवति । किञ्च मद्वाणीधेन्वा ईदृगेवाग्रहिशीलं यत् तत्पक्षपातगोपालं विना न दुह्यते । यथोक्तम्—'राधादास्यमपास्य' इत्यत्र पूर्णचन्द्रादेव रससिन्धूज्जृम्भ इति । स्पन्दतेऽर्थद्वयम्, विवक्षोत्पत्तिः हृन्नेत्रद्रावणञ्चेति । आद्यं यदहमपि किञ्चिद् ब्रुवे इति । द्वितीयञ्च यथा 'सदा गायं गायम्' इत्यत्र 'विवशहृदि राधा-पदसुधाः' इत्यनेन स्वयं गायं गायं विह्वलो भवति, अन्यामपि विवशान् करोतीति । कथया रसस्रवणं यथा—

रसकलश

इसी पद्य के दूसरे और तीसरे चरणों में कहा गया है, कथा-श्रवण और श्रीवृन्दावन-वास—ये दोनों मुझे इस दिशा में प्रेरित करते हैं। अथवा अपने को मूर्ख कहने से दीनता तो प्रकट होती ही है, किन्तु इसके अन्दर यह गूढ़ भाव भी छिपा है कि श्रीराधा की निजी सहचरी होने के कारण कल्पना द्वारा उनके उत्कर्ष का गान करते-करते श्रीहितसखी अत्यन्त मोहासाक्त हो गई हैं, फलतः भीतर ही भीतर प्रियाजी के सम्बन्ध में उन्हें बड़ा भारी पक्षपात है।

'रस' का विशेषण देते हैं—'परमानन्दैकसारम्'। परम आनन्द का अर्थ है—परात्परतम कृष्णानन्द। उसका भी एकमात्र, अनन्य, मुख्य सार है श्रीकृष्ण की प्रेम पात्र श्रीराधा विषयक आनन्द जिसका कि ज्ञान उनकी प्यारी सखियों को ही है। ऐसे रस को स्पन्दित करनेवाली वाणियां कहाँ ! कहा भी है—'उन श्रीराधा और मधुपति की दासी बन कर रस से छलकते हुए उनके केलि-रस को देखने के लिए मेरी दुर्लभ आशायें लगी हुई हैं', (श्रीरा. सु. १४८)। वह केली-रस भी श्रीराधा के चरणों के प्रभाव का कीर्तन करने से ही प्रवाहित होता है। दूसरी बात यह है कि मेरी वाणी-रूप गाय का स्वभाव ही ऐसा हठीला है कि पक्षपात-रूपी ग्वाला के बिना वह दुहने में ही नहीं आती। कहा भी है—'जो गोबिन्द के मिलन की इच्छा से श्रीराधा-कैंकर्य की उपेक्षा करता है।' (७९)। इस पद्य का आशय यह है कि पूर्ण चन्द्र को देखकर ही रस-समुद्र उमड़ता है। 'स्पन्दन' के दो अर्थ हैं—कहने की इच्छा का पैदा होना तथा हृदय और नेत्रों का द्रवित होना। पहले के अनुसार यह इच्छा होती है कि मैं भी कुछ कहूँ। दूसरे अर्थ का विवरण पद्य (२५३) 'सदा गायं गायम्' में दिया है जिसमें कि यह इच्छा व्यक्त की है कि 'सदैव प्रेमावेश में श्रीराधा का चिन्तन करता हुआ मैं कब कृतार्थ हूँगा ? इससे यह स्पष्ट है कि श्रीहिताचार्य गुण-गान करते-करते स्वयं विह्वल हो जाते

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥

इति निर्देशेन कथाया द्रावकता स्फुटैवेत्यतः स्वहृदयसाक्षितया तादात्विकसजातीयद्रवाभिप्रायेण यथादृष्टं वक्ति । नचेयं प्रौढोक्तिः ।

अथ तादृशशीलं कथाप्रभावमपि प्रच्छाद्य स्वप्रौढिभिया विस्मृतस्मृत-कण्ठमणिन्यायेन कारणान्तरं वर्णयति 'प्रायशः' इत्युक्तेः । श्रीवृषभानुजेति महाराजकुमारीत्वेन लाडलात्वप्रभुत्ववैदग्ध्यरूपलावण्यच्छविसौकुमार्य सौभाग्यैश्वर्यं बोध्यते । अत एव तत्क्रीडनार्हत्वेन कुञ्जानां कोमलत्वं वक्तृहृदयसाक्षिकम् । 'पुञ्जे-'त्यनेन तादृशनानाक्रीडास्थलबाहुल्यात् तस्या विहाराविष्टत्वेन भोगास्पदता सूचिता । 'विलसत्' इत्यनेन शोभास्वादस्य तदानीं वक्तृहृदयावेशो ज्ञेयः, श्रीमत्या अपि विहारलोभो ध्वनितश्च ।

रसकलश

हैं तथा दूसरों को भी विविश बना देते हैं । कथा से रस के प्रवाहित होने का वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवत में कहा है—

'हा ! वह हृदय पत्थर का बना है जो औरों के द्वारा लिये गये हरि-नाम को सुन कर द्रवित न हो जाय । जब हृदय में ऐसी कोई प्रतिक्रिया होती है, तो आँखों में जल भर आता है और शरीर रोमांचित हो जाता है ।'

उक्त उद्धरण में दिये गये निर्देश के अनुसार यह स्पष्ट है कि कथा से हृदय द्रवित होता है, अतः अपने हृदय को साक्षो करके तथा अपने-जैसे भावुकों को द्रवित करने के उद्देश्य से श्रीहितसखी ने जैसा स्वयं देखा है, उसी रूप में कहती हैं । यह कवि-कल्पित उक्ति नहीं बल्कि स्वतः संभवी अर्थ है ।[1]

अब, इसे कोई कल्पना—प्रसूत वस्तु न समझे, इस डर से, इस प्रकार के प्रभाव के संबंध में ज्यादा कुछ न कह कर 'बगल में लड़का, शहर में ढिंढोरा' इस न्याय से एक अन्य कारण का निर्देश करते हैं । 'प्रायशः' कहने से यही सिद्ध होता है । 'श्रीवृष-भानुजा' शब्द से यह सूचित किया गया है कि श्रीराधा महाराज-कुमारी हैं, लाड़ली हैं, स्वामिनी हैं, चतुर हैं और रूप-लावण्य, छबि, सुकुमारता और ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं । इसीलिए विविध क्रीड़ाओं के लिए उपयुक्त होने के कारण कुंजों को भी कोमल कहा है जिसकी साक्षी वक्ता का हृदय है । 'पुञ्ज' (समूह) शब्द से यह सूचित किया गया है कि श्रीवृन्दावन में इस प्रकार के अनेक विहार-स्थल हैं और विहार के आवेश में भरी हुई प्रियाजी के लिए ये भोग के समुचित स्थान हैं । 'विलसत्' (सुशोभित होते हुए) की ध्वनि यह समझनी चाहिए कि प्रस्तुत वर्णन करते समय श्रीहिताचार्य को श्रीराधा के क्रीड़ाकालीन सौन्दर्य की आवेशपूर्ण अनुभूति हो रही थी । यह भी सूचित किया गया है कि श्रीमती को भी वहाँ विहार करने की ललक लग गई है ।

---

१. प्रोदोक्ति और स्वतःसंभवी के भेद के लिए देखिए काव्य प्रकाश सू० ५४,

क्रीडन्त्यास्तस्याः पदनखज्योतिश्छटा अत्र तादृशे बृन्दाटवीमण्डले प्रायशोबहुधा लग्ना इति, दृश्यन्त इत्यर्थः। अतः श्रीवृन्दावनप्रभाव एव। किञ्चात्रवासिनो मे क्रीडन्त्या दामिनीवद्गीर्षु छटास्पर्शसूचनम्, अन्यथा रसश्रवानुपपत्तिः। वृन्दावने छटाया नित्यसम्बन्धात् प्रायशः' इति पदस्य कथया वा गिरैव सम्बन्धो ज्ञेयः। 'चरणकथया' इत्यनेन दास्योत्कर्षमयत्वं कथायाः। तस्मादत्रापि रसश्रुतिहेतूक्तौ 'पदे'-त्युक्तिः।

ननु पदनखस्पर्शो जात, इत्येव किन्नोक्तम्? तत्रैवम्—सा श्रीमती कुञ्जेषु प्रविष्टा। तदा पदनखसम्बन्धो दूरे स्थितः, अतस्तन्नखानां प्रसृमर-किरणच्छटा लग्ना इति। अनेन साक्षात् सम्बन्ध इष्टः। रजसस्तादृश-प्रभावत्वेऽपि परम्परासम्बन्धेन। किञ्च विलम्बशङ्कापि स्यात्, तेन यथऽयोगोलकेऽग्नितेज आवेश तथा गीर्ष्विति ज्ञेयः। छटानां रसश्रवण-कारणत्वं रसमयत्वादेव, यथा 'त्वत्पादाब्जनखच्छटारसह्रदे' इति वाक्यात्

रसकलश

तो खेलती हुई उन श्रीराधा के चरण-नखों की ज्योति की छटा श्रीवृन्दावन में प्रायशः=बहुधा लग गई हैं—ऐसा देखा जाता है, यह अर्थ है। अतः यह श्रीवृन्दावन का प्रभाव ही है। दूसरी बात यह कि मैं तो यहीं रहती हूं और यहीं प्रियाजी क्रीड़ा करती हैं। उस क्रीड़ा के प्रसंग में उनकी चरण-नख-छटा का स्पर्श मेरी वाणी से हो गया, अन्यथा रस कैसे प्रवाहित होता? श्रीवृन्दावन का छटा के साथ नित्य सम्बन्ध है, अतः 'प्रायशः' का सम्बन्ध कथा या वाणी से ही लगाना चाहिए। 'चरण-कथा' से यह सूचित किया गया है कि कथा दास्य के उत्कर्ष से परिपूर्ण है, अतः यहां रस के प्रवाहित होने के दो मूल कारणों का निर्देश करने के लिए 'पद' शब्द का उपादान किया है।

शंका होती है कि इतना ही क्यों न कहा कि चरण-नखों का स्पर्श हुआ (और श्रीराधा का गुण-गान करने के लिए वाणी फूट पड़ी?)। उत्तर यह है कि श्रीमती खेलती-खेलती कुंजों में प्रविष्ट हो गई, तो चरण नखों के सम्बन्ध में स्थापित होना दूर की बात हो गई, परन्तु जब यह कहा जाता हैं कि नखों की छिटकती हुई किरणों की छटायें वहाँ आकर लग गईं, तो तात्पर्य होता है साक्षात् सम्बन्ध से। यों तो रज का भी वैसा प्रभाव है। पर द्वार-द्वारी भाव से, न कि सीधा। दूसरे, विलंब की भी शंका हो सकती है। जिस प्रकार लौह-पिण्ड में अग्नि का तेज तद्रूप होकर समाविष्ट रहता है, वैसे ही वाणी पद-नख-छटाओं से व्यापृत है। छटाओं से रस क्यों प्रवाहित होता है, इसका कारण यह है कि छटायें स्वयं रसस्वरूप हैं। 'आपके चरणकमलों के

रसमयपदयोरप्यग्रेण मुखेनेव छटाद्वारा रसदानसम्भवाच्छटोक्तिरित्यपि ध्येयम् ।

यद्वा—अहं क्व, परमानन्दैकसारं रसरूपं नाम राधेति क्व—इत्यन्वयः । कथं रसानन्दमयत्वं ज्ञातमिति चेत् तत्रोच्यते—नामनामिनोरभेदाद्रसरूपाया नामापि रसरूपमेवेति, 'राधानामसुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला' इत्युक्तेः । तत्र तस्या नामिन्याः श्रीराधायाश्चरणानुभावकथा यदारभ्यते तदा मद्धृदयसाक्षितया रसह्रदाधित्यकावत् प्रस्रवमाणता दृश्यते । अतो यस्याः कथायामपि नामिनामधर्मः कथन्न स्यात्, नामगुणकथयोरक्षरात्मतयैक्यात् । नन्वेवमपि निगमपदवीदूरगाया नामसम्बन्धः स्वस्यातिदूरग एवेति चेत् तत्रैवम्—अहो ! ज्ञात मन्यद्हेत्वन्तरम् । 'यत्तन्नाम स्फुरति महिमा ह्येष वृन्दावनस्य' इत्युक्तेस्तत्प्रभाव एव ज्ञायते । श्रीमत्या अत्र सान्निध्यम्; अत्रैव मद्वासः, अत्रैव च क्रीडन्त्यास्तन्नखच्छटाः कथासु लग्नाः । यथा नामिनो गुण नाम्नि तद्गुणे च संक्रामन्ति, तथा रसरूपाणां

रसकलश

नखों के कान्तिरूप सरोवर में कब निमग्न रहूंगा' (पद्य २६१)—इस उक्ति के अनुसार चरणों के रसमय होने पर रस का दान तो अग्रभाग से फूटती हुई छटाओं के द्वारा ही किया जायगा । इसी आशय को व्यक्त करने के लिए 'छटा' कहा है ।

दूसरी व्याख्या के अनुसार अन्वय इस प्रकार होगा—कहाँ तो मैं और कहां परमानन्द का एक मात्र सार रसस्वरूप श्रीराधा-नाम ! यदि पूछा जाय कि आपने यह कैसे जाना कि नाम रसानन्दमय है, तो उत्तर यह है कि नाम और नामी में अभेद होने के कारण रसस्वरूपा श्रीराधा का नाम भी रसरूप ही है । कहा भी है—'श्रीराधा नाम के अमृत-रस का आस्वाद लेने के लिए मेरी जीभ विह्वल रहे, (श्रीराधा सु० १४१) । नामिनी श्रीराधा के चरणों के प्रभाव की गाथा जब प्रारम्भ की जाती है, तब मेरा हृदय इस बात का साक्षी है मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पर्वत के ऊपरी प्रदेश से गिरने वाली नदी की भांति रस झर-झर कर के बह रहा है । तो श्रीराधा की कथा भी नाम और नामी के गुणों का संक्रमण क्यों नहीं होगा, क्योंकि नाम और गुण दोनों ही अक्षर-स्वरूप होने के कारण एक है । यदि कहा जाय कि वेद-शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित मार्ग से भी जो दूर का तत्व है उसके नाम के साथ सम्बन्ध होना तो और भी दूर की बात है, तो ठहरिये जरा । एक दूसरा कारण इस स्थल पर याद आ गया । यह सब वृन्दावन का ही प्रभाव है । यह श्रीराधा-नाम जो हृदय में प्रकट होता है, यह श्रीवृन्दावन की ही महिमा है (श्रीरा०सु० २६०) । यहीं तो पास में श्रीमती का होना और यहीं मेरा रहना । उनके यहाँ खेलते समय ही उनके नखों की छटाओं का उनकी

पदनखच्छटायां निजानुभावकथायां संक्रान्तिसंभाव्याल्लग्ना' इत्युक्तम् । यथा सन्निधानस्य नामिनो नाम्नामन्त्रणेन सद्य एव स्वरूपाविर्भावस्तथैवात्र चरणयोः स्वकथायां स्वरूपाविर्भावः । नामिन्या नामगुणगानयोर्नाधुनैव स्वप्रभावो न्यस्तः, किन्तु पूर्वत एव, तथापि देशकालपात्राणां यथार्हमिलनात् सद्यः फलनं, सिद्धपीठजप्तमंत्रेण तदैवाविर्भाववत् इति । तस्या अत्र क्रीडनं मम च तत्कथनं, तेन प्रसद्य छटा मद्गोचरीकृताः, कथनेनैव धृता एव । ततो ज्योतिरुष्णधर्मेणेव मद्गीर्घृतवद्द्रुता, तेन 'ज्योतिः' इति 'स्पन्दे'-त्युक्तिश्च । 'क्रीडत्' इति, स्पन्दायमाना' इत्यत्र वर्तमानत्वादुभयोः समकालत्वं व्यज्यते, अर्थात् पश्यन्नेव वच्मीति भावः । 'मण्डल' इत्यस्य 'क्रीडत्' इत्यनेनैव सम्बन्धात् क्व लग्ना इत्यपेक्षायां सम्बन्धादर्शनात् तात्पर्येण ज्ञायते यत्र

रसकलश

कथा से स्पर्श हो गया । नामी के गुण जैसे नाम में उतर आते हैं, उसी प्रकार रसस्वरूप पद-नखों की छटायें उनके प्रभाव की गाथा में आकर समाविष्ट हो गई । इसीलिए 'लग्नाः' कहा है । जिस प्रकार नाम लेकर नामी को बुलाने से शीघ्र ही वह साकार रूप में उपस्थित हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी चरणों का यशोगान करते समय नाम की अधिष्ठात्री का स्वरूप प्रकट हो जाता है । यह बात नहीं कि श्रीराधा ने इसी अवसर पर नाम और गुण-गान में अपना प्रभाव संक्रान्त किया हो । वह तो इससे पहले भी था । तथापि देश, काल और पात्र का जब उपयुक्त संगम होता है, तो फल उसी प्रकार शीघ्र मिल जाता है जैसे सिद्धपीठ पर मंत्र का जप करने से संबंधित देवता प्रकट हो जाता है । इधर तो श्रीराधा का खेलना हुआ, उधर मैंने उनका गुणगान किया, बस, श्रीमती ने प्रसन्न होकर अपनी चरण-नख-छटाओं का मुझे साक्षात्कार करा दिया । कथा करने से यह हुआ कि वे छटाएँ वहीं की वहीं पकड़ में आई । इसके अनन्तर यह हुआ कि ज्योति का गुण होता है उष्णता, अतः उसके सम्पर्क से मेरी वाणी घी की तरह पिघल गई । इसी आशय को व्यक्त करने के लिए 'ज्योति' और 'स्पन्दन' का प्रयोग किया गया है । 'क्रीडत्' और स्पन्दायमानाः' ये दोनों पूर्वकालिक कृदन्त क्रियायें वर्तमान काल में हैं, जिससे यह ध्वनि निकलती है कि दोनों क्रियायें—श्रीराधा का क्रीड़ा करना और मेरी वाणी में स्पन्दन होना—एक ही काल में हुई । भाव यह है कि देखता हुआ ही यह सब कह रहा हूं । 'मण्डल' का सम्बन्ध 'क्रीडत्' (खेलती हुई) से है, अतः यह प्रश्न उठने पर कि छटाओं का स्पर्श कहाँ हुआ, अन्य सम्बन्ध के न दिखाई देने पर अर्थापत्ति द्वारा फलितार्थ यही निकलेगा कि जहाँ खेल रही थीं, वहीं छटायें लग गईं—अर्थात् घूम-फिर कर वृन्दावन ही आयेगा । वृन्दावन की रज का संपर्क जब

क्रीडति तत्रैव लग्नता। इत्यनेन वृन्दाटव्येवायाति तेनाङ्गे रजःस्पर्शतो देहेन्द्रियैक्यात् गीर्षु छटासम्बन्धकल्पनम्।

द्वितीयेऽर्थे येन तृतीयान्तेन करणेन रसश्रुतिस्तत्रैव लग्नत्वं स्फुटं सम्भाव्यते, अतः कथायामेवेत्युक्तम् अयं भावः—अहमेवेमं स्तवं न वच्मि, तत्पदच्छटैव मत्तः कथयति। स्वरसः स्वामिन्यैव प्रकटीकृतो तद्द्वारेति सर्वग्रन्थतात्पर्यम्। यदर्थमाविर्भावितस्तत्कार्यं कृतमिति। अत्र शिक्षणञ्चः तत्पदच्छटाप्राप्त्यर्थिभिरत्र मत्साक्षितया तत्क्रीडनहर्म्याजिर एव वस्तव्यं, न तु कस्तूरीकर्पूरादिकं कन्दमूलिकागृजनादि विक्रीतरि प्राप्यते इति नान्यत्र रसप्राप्त्यपेक्षया सज्जनीयमिति ॥२६८॥

रसकलश

श्रीहिताचार्य से हुआ, तो देह और इन्द्रियों के एक होने के कारण वाणी में भी छटा के सम्बन्ध की कल्पना कर ली गई।

दूसरे अर्थ में तृतीया विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट जिस साधकतम करण—अर्थात् कथा के द्वारा रस प्रवाहित किया गया, वहीं पर छटाओं के लग जाने की स्पष्ट सम्भावना है, इसलिए कथा में हीं लगीं—यह कहा है। भाव यह है—मैं ही इस स्तोत्र को नहीं कहता हूं, श्रीराधा के चरणों की छटा ही मुझसे इसे कहलवाती है। पूरे पद्य का अभिप्राय यह है कि चरणों की छटा द्वारा स्वामिनी ने ही इस ग्रन्थ को प्रकट किया है। जिस उद्देश्य के लिए इसे प्रकट किया था, वह पूर्ण हुआ। यहां प्रसंगागत यह शिक्षा भी दी गई है कि जो लोग स्वामिनी के चरणों की छटा को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें मेरे उदाहरण का अनुसरण कर उनके क्रीड़ा-भवन के आँगन इस वृन्दावन में ही आकर रहना चाहिए, क्योंकि कस्तूरी, कपूर आदि सुगन्धित पदार्थ आलू, मूली, गाजर बेचने वालों के यहां नहीं मिलते, अतः यदि रस प्राप्त करने की इच्छा हो, तो अन्य किसी स्थान में आसक्ति नहीं बाँधनी चाहिए ॥२६८॥

१. इस पद्य के प्रथम चरण में प्रायः 'परमानन्दैकसारं रस,' ही पाठ मिलता है। इस स्थिति से पुंलिग 'रस' का समन्वय नपुंसकान्त 'नाम के साथ जोड़ने में कठिनाई उपस्थित होती है। प्रायः सभी टीकाकारों ने 'परमानन्दैकसारं रसः नाम'— यह अन्वतय करके अर्थ किया है—परमानन्द एकमात्र सार रसरूप नाम कहां ? इस व्याख्या में 'रसः' को रक्खा है संज्ञावाचक, पर उससे उपेक्षा की है विशेषण का अर्थ व्यक्त करने की। बम्बइया संस्करण में 'रसः' ही पाठ रक्खा है, परन्तु श्री कृपालाल जी गोस्वामी ने अर्थ किया है 'रसम्' के अनुसार।

पुनश्च —'ज्योतिश्छटाः' पद की व्याख्या भी दो प्रकार से की गई है। एक व्याख्या में उसे लता का कर्ता माना है, दूसरी में विशेषण। अर्थात्—एक अर्थ यह है कि ज्योति की छटाएँ वृन्दावन से संयुक्त हैं। दूसरा यह कि पद-नख-छटाओं से संयुक्त वाणी श्रीवृन्दावन में संलग्न हैं।

तदेवं श्रीवृषभानुनन्दिनी चरणकृपामात्रैकप्रादुर्भूतत्वमस्य व्यञ्जितम्। इदानीं तदेव वाच्येन स्फुटमनुवदन् दैन्यपूर्वकं स्वेष्टाय समर्पयति—

श्रीराधे ! श्रुतिभिर्बुधैर्भगवताप्यामृग्यसद्वैभवे
स्वस्तोत्रं स्वकृपात एव सहजायोग्योऽप्यहं कारितः।
पद्येनैव सदापराधिनि महन्मार्गे विरुध्या त्वदे—
काशे स्नेहजलाकुलाक्षि किमपि प्रीतिं प्रसादीकुरु
॥२६९॥

हे राधे ! त्वया स्वकृपात एव स्वस्तोत्रमहं कारितः, तस्मात् पद्येनैव किमपि प्रीतिं प्रसादीकुरु, इति सम्बन्धः। तावन्मुख्यनामानुभवेन पद्यादावुक्तिः 'श्रीराधे' इति सकलश्रुतिमौलिशेखरलतानम्नीत्युक्तेरर्थमपि विवृणोति; पुनः समहिम सम्बोधनमाह—बुधाः ब्रह्मादयः श्रुतिवक्तारस्तावदेषा-

रसकलश

इस प्रकार यह व्यंजित किया कि श्रीराधारससुधानिधिः नामक इस स्तोत्र का प्रादुर्भाव केवल श्रीवृषभानु-नन्दिनी की चरण-कृपा से ही हुआ। अब इसी बात को स्पष्ट शब्दों में पुनः कहते हुए अत्यन्त दैन्य-भावना सहित उसे अपने इष्ट को समर्पित करते हैं—

वेद, पण्डितगण तथा भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा भी उल्लेखनीय श्रेष्ठ वैभव-शालिनी हे श्रीराधे ! आपने अपनी कृपा के ही द्वारा, प्रकृति से ही अयोग्य मुझ से इस स्तोत्र की रचना करवाई है। स्नेह से भीगे नेत्रवाली ! महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित मार्गों का विरोध करने के कारण महाअपराधी मुझे, यह विचार करके ही कि इसने (मेरा यशोगान करने के लिए) पद्य-रचना की है। अपनी प्रीति को प्रसादी के रूप में दीजिए ॥२६९॥

हे श्रीराधे ! आपने अपनी कृपा के द्वारा ही मुझ से इस स्तोत्र का प्रणयन कराया है, अतः पद्य के द्वारा ही अपनी किंचिन्मात्र प्रीति को प्रसादी रूप में दीजिए— यह अन्वय है। श्रीहिताचार्य के निजी अनुभव के अनुसार श्रीराधा का नाम ही सब नामों में प्रधान है, अतः प्रस्तुत पद्य का आरम्भ उसी नाम से हुआ है। श्रीराधा का नाम है—श्रुतिमौलि-वेदान्त के शेखर=श्रीकृष्ण के मस्तक की लता=माला-रूपिणी।[1] इसी कथन की व्याख्या करते हैं और संबोधनात्मक विशेषण द्वारा उनकी महिमा का

१. श्रीराधासुधारसनिधि के पद्य ९७ के इस वाक्य की ओर संकेत है—'श्रीराधा श्रुतिमौलि शेखरलतानाम्नी मम प्रीयताम्।

मेव प्रामाण्यं तेऽपि श्रुतिपर्यवसितज्ञाना एव, वयं तु श्रुत्युक्तं वच्म इति । श्रुतयोऽपि भगवन्निश्वसितत्वं वदन्ति, न स्वतन्त्रा इति । तेन भगवत्पर्यन्त-कथनेन निःशेषमृग्यत्वमुक्तम् । अतो मार्गणमेव पुरुषार्थ इत्यपि व्यञ्जितम् । केचिदुपेक्षयाऽज्ञानेन च न मृग्यन्ते, ते बुधेतरा एवेति व्यंग्यान्तरम् । तत्रापि आसमन्तादत्यन्तमिति मनोवचःकर्मभिरिति सर्वांशेन दत्तमनस्तयेत्यर्थः । किञ्च यदेतन्न लब्धं तदा हा! कि कृतयमस्माभिरिति स्वस्याकिञ्चित्करत्व-ज्ञानादित्याङित्यस्यार्थः ।

श्रुतीनान्तु दास्यार्थमार्गणम् । किञ्च श्रीकृष्णे कामितेऽपि तत्प्रेमास्पदे दत्तदृष्टितया स्वग्लान्या तदेकमार्गणनिश्चयात् बुधैर्भगवद्रहस्यावगमकैर्दत्तम-नस्तया प्रेमास्पदमस्य स्वामिनः किमस्तीति तैर्ब्रह्माद्यैर्भावुकैरप्येतदेव मृग्यते। मार्गणपात्रत्वेन भावुकत्वमेषां, न केवलं बुधत्वमेव, अतः 'षष्टिवर्षसहस्राणि

रसकलश

उल्लेख करते हैं—वेदों का सृजन करने वाले ब्रह्मादिक ज्ञानी। साधारणतयाः सबसे पहले ये ही प्रमाण माने जाते हैं, किन्तु इनका ज्ञान भी वेदों तक ही सीमित है । ये तो इतना ही कहते हैं कि जो कुछ श्रुतियों में कहा गया है, हम तो उसी का प्रतिपादन करते हैं । श्रुतियां भी भगवान् की श्वास[२] हैं, अतः वे भी भगवान् के निश्वासों के निकले हुए तत्व को ही कहती हैं, वे स्वतन्त्र नहीं है। इसप्रकार वेदोंसे लेकर भगवान् तक की कह कर यह सूचित किया है कि श्रीराधा सब के अन्वेषण का बिषय है । अतः कल्याण इसी में है कि खोजे चले जाओ । व्यंजना यही है कि सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ यही है । जो लोग अज्ञानवश श्रीराधा को नहीं खोजते वे विद्वान् नहीं कहे जा सकते—यह दूसरा व्यंग्य है । श्रीराधा 'आमृग्य' हैं । यहाँ 'आङ्' उपसर्ग का अर्थ है—आत्यान्तिक रूप से=अर्थात् मन, वाणी और कर्म द्वारा तथा पूरी तरह मन को उसी विषय पर केन्द्रित करके । अपरंच यदि राधा-नाम की प्राप्ति नहीं हुई, तो यह अनुताप होना स्वाभाविक है कि हाय ! हमने तो कुछ किया ही नहीं । 'आङ्' उपसर्ग की यही व्यंजना है ।

वेदों का अन्वेषणीय विषय है—श्रीकृष्ण की दासता, किन्तु श्रीकृष्ण की कामना करने पर भी उनकी दृष्टि श्रीकृष्ण की प्रेमास्पद (श्रीराधा) पर ही लगी रहती है, और जब वे उन्हें नहीं मिलतीं, तो वे इन्हीं को खोजने का दृढ़ संकल्प करते है । भगवान् के रहस्य के ज्ञाता पडितजन भी एकाग्र चित्त से इसी चिन्ता में व्यस्त रहते हैं कि हमारे इस स्वामी का भी कोई प्रेमपात्र हो सकता है क्या ? और तब ब्रह्मा आदि रसिक होकर इसी राधा-तत्व को खोज में जुट जाते हैं । इस खोज के कारण ही वे भावुक हैं, न कि केवल ज्ञानी । अतएव कहा है—पूर्वकाल में ब्रह्मा ने साठ हजार वर्ष तक तप

२. 'यस्य निश्वसितं वेदाः ।'

धात्रा तप्तं तपः पुरा' इति वाक्यात् नारदेनापि मानसरसि सखीस्वरूपं गृहीतम् । शिवेनापि श्रीललितया निचोलं गृहीतमिति । भगवता वैकुण्ठनाथेनापीति । यथा नारदेन लक्ष्म्या च मृत्युञ्जयतन्त्रे पृष्टम्—'किं ध्यायसे?' इत्याद्यनन्तरं तेन श्रीवृन्दावनविलासिध्यानमुक्तम् । एवं तन्त्रेषु सनत्कुमार संहितायाञ्च स्फुटम् । तत एव तौ लक्ष्मीर्नारदश्च समयान्तरेण तत्कृपया वृन्दावनं प्राप्तावित्यत्र ग्रन्थान्तराख्या किञ्चिल्लेखनीयास्ति, परन्तु ग्रन्थविस्तरभिया न लिखितम् ।

अथवा स्वयं भगवता सकलाद्भुतकल्याणगुण निलयेन श्रीकृष्णेनेति । सकलवैभवावधिस्तु स्वमेव, परन्तु श्रीमत्याः सन्निति महामाधुर्यात्मको निजानन्दः स्ववेद्यात्मक एव, अन्यथानन्तब्रह्माण्डचतुर्व्यूहावतारैस्तावद्भिर्ब्रह्मादिभिरीडयत्वकार्यकर्तृत्वाद्यात्मकं केवलमैश्वर्यन्तु परदुःखकातरत्वमेवावाशिष्यते । अतः स्वैश्वर्यमधरीकृत्य कुञ्जवीथीसेवनं किञ्चिद्विलक्षणा-

रसकलश

किया' । नारद ने भी मानसरोवर पर सखी रूप धारण किया था । श्रीशिव ने ललिता सखी से प्रियाजी का दुपट्टा प्रसादी रूप में लिया था । वैकुण्ठनाथ भगवान् ने भी ऐसा ही किया । मृत्युञ्जय तंत्र में नारद और लक्ष्मी श्रीशिव से पूछते हैं—"आप किसका ध्यान किया करते हैं ?' उत्तर में उन्होंने यही कहा कि मैं वृन्दावन में विहार करने वाले का ध्यान करता हूँ । इसके अतिरिक्त अन्य तंत्रों तथा सनत्कुमार-संहिता में इस विषय को स्पष्ट करके लिखा गया है । श्रीराधा की कृपा से, समय आने पर, वे सब वृन्दावन में पहुँच गये । इस विषय पर अन्यान्य ग्रन्थों में उल्लिखित आख्यानों का भी यहाँ उल्लेख करना चाहिए था, पर ऐसा करने से ग्रन्थ बढ़ जायगा, इस डर से नहीं लिखा ।

अथवा भगवान् का अर्थ यहाँ वैकुण्ठाधिपति न लगा कर समस्त विचित्र कल्याणकारी गुणों के विधान श्रीकृष्ण भी लगाया जा सकता है । श्रीकृष्ण संपूर्ण ऐश्वर्यों की सीमा तो स्वयं हैं ही । किन्तु श्रीमती का 'सत्' अर्थात् महामाधुर्य-स्वरूप आनन्द तो स्वयं ही अनुभव करने का विषय है, नहीं तो (माधुर्य के निकाल देने पर) अनन्त ब्रह्माण्डों के स्रष्टा, चतुर्व्यूहावतार ब्रह्मा आदि जिसकी स्तुति करते हैं, जो सृष्टिरूप कार्य का कर्ता है, ऐसे ऐश्वर्य में सिवा इसके और सार क्या है कि वह दूसरों के दुःखों को देखकर कातर हो उठे । अतः श्रीकृष्ण अपने ऐश्वर्य को तुच्छ कर कुंज-वीथी को ही खोजते रहते हैं जोकि अनिर्वचनीयरूप से विचित्र हैं और सर्वसाधारण की पहुँच से परे है इस प्रकार सब देवता एवं ऋषिगण किसी ऐसी असाधारण वस्तु को ही खोजते हैं जो निश्चित रूप से सर्वत्र नहीं मिलती । वेद आदि उसे इसलिए खोजते हैं कि उनके लिए

साधारणमेव सर्वैर्मृग्यते, न सर्वत्र प्राप्यमिति हि निश्चितम् । श्रुत्यादीनामगम्यत्वेन तत्प्राप्त्यर्थमार्गणम् । श्रीकृष्णस्य तद्रूपलावण्यादिमाधुर्यागाधसमुद्रे मीनवद् भ्रमणान्न विलासास्वादपारपर्याप्तिः । किञ्चाधुनापि निमग्न एवेति । अत आ अत्यन्तार्थेन पाराभावपर्यवसानकं मार्गणमुक्तम् । अत एव निरस्तसाम्यातिशयत्वं स्वराधसो विवृतम् । अतः सर्वमृग्यत्वश्रीयुते परमसंसिद्धिनाम्नि । एवं दुर्गमत्वेन स्वस्य महदन्तरे ध्वनितेऽपि कृपापारावारत्वमाह--

स्वस्तोत्रं स्वकृपात एव, न च मध्ये किञ्चित्कारणान्तरम् । एवकारेण साधनफलात्मत्वं व्यक्तम् । 'सहजायोग्योऽपि' इति दैन्येन स्वायसतामिव व्यक्ति । अहो ! स्पर्शमणिना स्वर्णत्वं कथन्न स्यात्, अन्यथा मज्जनशोधैनैः सर्वथैवासम्भाव्यमित्ययोग्यत्वेऽपि सहजशब्दार्थममस्पर्शमणिदृष्टान्तोऽप्रस्तुतोऽपि व्याख्यातः ।

रसकलश

वह अगम्य है, और श्रीकृष्ण का तो यह हाल है कि उनके रूप-लावण्य आदि के माधुर्य के अतलस्पर्शी समुद्र में मछली की तरह विचरण करते रहते हैं, पर विलासजन्य आस्वाद का पार नहीं पाते । अब भी वे वहीं डूबे पड़े हैं । अतः अत्यन्तार्थक 'आङ्' उपसर्ग द्वारा उस खोज का निर्देश किया गया है जिसका पार नहीं । इसीलिए तो कहा है—'अतिशय साम्य (उपमा) को निरस्त करने वाले राधानामक तत्व के साथ अपने धाम वृन्दावन में रमण करने वाले को नमस्कार है ।' अतः सब के द्वारा मार्गणीय, माधुर्य के ऐश्वर्य से विशिष्ट, जिनका नाम ही परम सिद्धिरूप है, ऐसी श्रीराधा को संबोधन कर तथा उन्हें अगम्य बताकर यद्यपि ग्रन्थकार ने, व्यंजना द्वारा, अपने और उनके बीच बड़ा भारी अन्तर बताया है, तथापि वह यह भी जानता है कि प्रियाजी कृपा की अगाध सिन्धु हैं । अब इसी सम्बन्ध में कहते हैं—

अपने स्तोत्र को आपने अपनी कृपा से (प्रणीत कराया है) । कृपा के अतिरिक्त अन्य कोई कारण बीच में नहीं आता । 'एव' (ही) द्वारा यह ध्वनित किया है कि बिना साधन के ही मुझे यह फल मिल गया । अपने को स्वाभाविक रूप से इस कार्य के अयोग्य कहकर दैन्य भाव के द्वारा अपने को मानों लोहा बताते हैं । लोहा पारस-पत्थर से स्पर्श होने पर सोना क्यों नहीं बनेगा ? लोहे के रगड़ने और शुद्ध करने से वह सोना तो नहीं हो जायगा । इस प्रकार अयोग्य होते हुए भी 'सहज' शब्द के बल पर अप्रस्तुत पारसमणि के दृष्टान्त का निर्देश किया है ।

-अहम्' का यह अर्थ है कि हे श्रीराधे ! आपने मुझ प्रयोज्य से यह कार्य कराया है । 'गति बुद्धि···' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार अण्यन्त वाक्य का कर्ताण्यन्त में कर्म हो

'अहम्' इति प्रयोज्यकर्म' कारितस्त्वयेत्यर्थः । पूर्वं कर्ता स णौ कर्मेति वचनात् स्वस्य यन्त्रत्वं व्यक्तम् । अनेन स्वस्य कृपापात्रता सुनिश्चिता । दैन्येन करुणोद्दीपकसम्बोधनमाह—'सदे'-त्यादिविशिष्टे मयि हे स्नेहजलाकुलाक्षि ! यथा—'क्वाहं तुच्छो गर्ह्यकर्मा मूढः' इत्यादिवज्जीवनस्यानाद्यविद्यासंवृतत्वमनुसृत्य सदापराधोक्तिः । अत्र स्वस्य क्षणविरहोऽपि महापराधेन नित्यत्वज्ञापकः । यद्वा तादृशानां तथान्तरङ्गत्वेऽपि दैन्यं दुर्निवारमेव, दास्यधर्मत्वात् । यथा—हा हा ! अहमसमीक्ष्यकर्तास्मि यत्तदद्भुततमरूपं चन्द्रकमलघनबिम्बमृगखञ्जनकेशरिकदल्याद्युपमानविषयकमकरवम्, इत्यदिवदपराधमननमिति तत्कर्मफलादेव ।

'महतां मार्गे विरुद्ध्ये'-ति, यथा 'वृन्दानि सर्वमहतामपहाय दूरात्' इत्यादिना प्रथमतो महद्वृन्दत्यागमारभ्यैव वृन्दावनानुसरणारम्भः कृत इति

रसकलश

जाता है, क्योंकि उसका कर्तृत्व गौण होकर वह यन्त्र मात्र रह जाता है। प्रकृत में भी स्त्रोत के कर्तृत्व के प्रति ग्रन्थकार ने अपने आपको यंत्र का ही पद दिया है। इससे यह भी ध्वनित किया है कि मेरे कृपापात्र होने में अब कोई सन्देह नहीं है। इसके अनन्तर दीनभाव से, करुणाका उद्दीपन करने वाले संबोधन को देते हैं—'सदापराधिनी स्नेहजलाकुलाक्षि।' सदा के अपराधी मुझ पर स्नेहार्द्र दृष्टि रखने वाली ! जैसा कि एक पूर्व पद्य (२६०) में कह आये हैं -कहाँ मैं तुच्छ, निन्दनीय कर्म करने वाला मूर्ख। 'जीव तो अनादि माया से आच्छन्न है, अतः श्रीहितमहाप्रभु अपने को सदा का अपराधी मानते हैं। श्रीराधा के दर्शन से क्षणमात्र के लिए भी वंचित होना भी सदा-सदा के लिये महा अपराध है। अथवा अपराधी इसलिए कि अन्तरंग होने पर भी श्रीहिताचार्य-जैसों के लिए दैन्य तो अनिवार्य है ही, क्योंकि उसका धर्म ही दासता है। श्रीहिताचार्य उदाहरण के लिए, सोच सकते हैं कि हाय ! मैं कैसा अविवेकी हूँ कि मैंने प्रियाजी के अद्भुत रूप की तुलना, चन्द्रमा, मेघ, बिम्बफल, हरिण, सिंह, केला आदि पदार्थों से दी ! अपने अपराध को सोचने का कुछ ऐसा ही प्रकार समझना चाहिए। यह सब कर्मों का फल ही है।

'महतां मार्गे[1] विरुध्य'—महापुरुषों द्वारा स्थापित साधन-पद्धति के सम्बन्ध में विरोध प्रकट करके। 'सब महापुरुषों के समूहों को दूर से ही त्याग कर'—एतदर्थक पद्य (८) में व्यक्त आशय के अनुसार श्रीहिताचार्य ने पहले ही से विशिष्ट पुरुषों के त्याग से आरम्भ कर वृन्दावन का अनुसरण करना प्रारम्भ कर दिया। फिर द्वैत,

१. प्रायः सब प्रतियों में 'मार्गम्' पाठ मिलता है 'विरुध्य' का कर्म होने के कारण आपाततः यह स्वाभाविक सा प्रतीत होता है। किन्तु रसकुल्याकार ने मार्गे को विषयार्थक सप्तम्यन्त पद माना है।

द्वैताद्वैतविशिष्टाद्वैतशुद्धाद्वैतवेदतन्त्रमिश्रादिमतस्थितानां मार्गे=तदुक्तपद्धतौ विरुद्ध्य, ततो विच्छिद्य, यथा—'न जानीते लोकम्' इति, 'कर्माणि श्रुति-बोधितानि' इति, 'भगवद्धर्मेष्यहो निर्ममाः, शुकादयः किं ततः' इति, 'लिखन्ति भुजमूलतः' इति, 'लक्ष्मीर्यस्य न गोचरीभवति,' इत्याद्यविचार-विरोधाभासः। विचारे त्वेष एव सर्वमृग्यरहस्यानन्दः, इति गूढाशयः।

उत्तानार्थेत्वेवं विरुध्य त्वय्येवैकाशा यस्येत्यनेनैकाशामात्रेण हा ! महन्मार्गविरुद्धो बलवदभियुक्तोऽसमञ्जसोऽपि मदेकानिष्ठः कथमुपेक्ष्यः स्यादित्यनन्यगतिकं ज्ञात्वा सद्य एव करुणाकातरत्वप्रसादममत्वजस्नेहेन यज्जातं जलं तेनाकुले अक्षिणी यस्या इति। आकुलत्वं स्नेहाधिक्येन साङ्कर्येण च, एतत्स्वानुभवसाक्षिकमेव। यथोक्तम्—'कृपार्द्रदृष्टेः' इति, 'कारुण्या-

रसकलश

अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, वेद, तंत्र, मिश्र आदि के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का विरोध किया। फिर उनसे हट कर विभिन्न पद्यों द्वारा, बिना सोचे-समझे, ऐसे विचार व्यक्त किये जिनसे विरोध की प्रतीति होती है। इनमें से कुछ पद्य ये हैं—'जो राधा में स्थित रस का सेवन करता है, वह न तो इस लोक को जानता है और न श्रुतियों को' (१४६), 'गूढ़ रस में निमग्न रसिक जन श्रुति-प्रतिपादित कर्मों को करें या न करें' (८२), 'जो श्रीराधा का निरन्तर ध्यान करते हैं, वे भागवत-धर्मों में भी ममता नहीं रखते' (८०), 'शुक-सनकादिक यदि परमेश्वर के भजन में उन्मत्त हैं, तो रहा करें' (८३), 'जो भुजाओं पर शंख, चक्र आदि चिन्ह अंकित नहीं करते, वे महामति कौन हैं?' (८१) और 'एकान्त दास्य का जो अधिकार लक्ष्मी के भी गोचर नहीं है'(२३९)। यदि विचार करके न देखा जाय, तो सरसरी दृष्टि से ही इन उक्तियों से विरोध झाँकता हैं, पर गहरा विचार करने पर तो इसी निष्कर्ष पर आना पड़ेगा कि सबके द्वारा अन्वेषणीय रहस्य तो यही है। यह है गूढ़ आशय।

ऊपर से प्रतीयमान अर्थ तो यही है कि इस प्रकार विरोध कर मैंने आप (श्रीराधा) को ही आशा का केन्द्र बनाया है। इस एकमात्र आशा को देख कर प्रियाजी सोचती हैं—महापुरुषों के मार्ग का विरोध कर यह बलवानों से भिड़ गया है, किन्तु इसे मेरी आशा का सहारा है, अतः इसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है ? इस प्रकार मेरी कोई अन्य गति न जान कर प्रियाजी शीघ्र ही करुणा से कातर हो जाती हैं और कृपा और ममताजन्य स्नेह के उमड़ आने के कारण उनकी आँखें आँसुओं से भीग जाती हैं। श्रीहितप्रभु का हृदय इस बात को जानता है कि प्रियाजी की यह आकुलता स्नेह की अधिकता तथा कृपा, ममता आदि भावों के मिश्रण से ही पैदा हुई है। कहा भी है—'कृपा से जिनकी दृष्टि भीगी हुई है' तथा 'करुणा से जिनकी चितवनें सजल हैं।' स्नेह से द्रवित हो जाना प्रियाजी का स्वाभाविक धर्म है, किन्तु जब वे देखती हों कि

र्द्रकटाक्षे'-ति। साहजिकधर्मत्वेऽपि यदा सर्वान् विरुध्य शरणागतोऽनन्याहृतः स्वकीयो दृष्टस्तदा तादृशप्रेममूर्तिः स्नेहजलाकुलत्वे कैमुत्यमेव।

कर्तव्यमाह—आशापारवश्यजस्वकारितपद्येनैव। वृन्दत्वेऽप्येकत्वं दैन्येन लघुताकरणम्। पद्यमात्रेणेत्यर्थः। एवकारेणानन्यप्रसादकगुणत्वं स्वस्य व्यज्यते। तत्रापि किमपि=ईषदपि मन्मनः स्वस्यामेव ज्ञात्वा तादृशमपि प्रीतिमेव मत्वा प्रसादीकुरु। त्वं प्रेमामृतभोक्त्री, प्रीतिमात्रसाजात्येनापि कृपयाङ्गीकुरु, 'हव्यं देवानाम्' इति, 'रवेर्दीपमिवादृता' इतिवत्, येन पद्यात्मकप्रीतिः सफला स्यात्। तेन प्रसादेन त्वदीयोदासः स्वं निर्वहेदिति व्यंग्यान्तरम्।

ननु ग्रन्थमेव तुभ्यं समर्पये, इत्येव कथन्नोक्तम्? तत्रैवम्—स तु त्वयैव कारितः, अतस्तज्जाता किञ्चित्प्रीतिर्दृश्यते। सापि त्वत्कृपाजन्यै-

---

रसकलश

सब से बैर बाँध कर यह मेरी शरण में आया है, यह कि और कोई इसका आदर नहीं करता और यह मेरा अपना ही है, तो प्रियाजी-जैसी स्नेह की साकार प्रतिमा स्नेह से यदि अधीर हो जायँ, तो आश्चर्य ही क्या है?

अब कर्तव्य बताते हैं —'पद्येनैव किमपि प्रीतिं प्रसादीकुरु,' (पद्य के द्वारा ही मेरी प्रीति मान कर मुझ पर कृपा करिए) आशा के वश में होकर रचे गये पद्य के द्वारा ही (कृपा करिये)। बहुत-से पद्य होने पर भी एकवचन के प्रयोग में दीनता व्यक्त की है तथा अपने को छोटा बताया है। भाव यह है कि और कोई सेवा तो मुझसे बनी ही नहीं, कुछ पद्य अवश्य बना सका हूं, अतः मेरे मन को थोड़ा-सा भी अपने में लगा हुआ जान कर और उसे प्रीति ही मानकर प्रसादी करिए। 'एव' से अपनी यह विशेषता प्रकट की है कि मैं और किसी को प्रसन्न करने का प्रयत्न नहीं करता। आप तो प्रेमामृत की भोक्त्री हैं, अतः प्रीति के नाते ही कृपा कर अंगीकार करिये—ठीक उसी प्रकार जैसे देवता हवि से प्रसन्न होते हैं और सूर्य दीप दर्शन कराने से, ताकि पद्य के रूप में व्यक्त की गई मेरी प्रीति सफल हो और आपकी कृपा प्राप्त कर आपका दास अपना निर्वाह कर सके—यह दूसरा व्यंग्य है।

शंका होती है कि यही क्यों न कहा कि इस ग्रन्थ को आपकी भेंट करता हूं। इस सम्बन्ध में निवेदन यह है कि ग्रन्थ की रचना तो आपने ही करवाई है। इससे आपके प्रति मेरी प्रीति का कुछ हलका-सा भी आभास मिलता हो, तो वह भी आपकी ही कृपा का फल है। उस भेंट को भी आप ही स्वीकार करिये। जिस कृपा से स्तोत्र का प्रणयन कराया है, उसी कृपा-भाव से उसे स्वीकार करिए। यह मेरी वस्तु है भी

वेति। तद्वलिमपि त्वमेव गृहाणेति। यया स्तोत्रं कारितं तयैव कृपया गृहीतव्यम्, न मदीयं वस्तु इति, यथा 'स्वकृतेन तुष्येत्' इतिवत्।

अयं भावः—श्रुत्यादिमार्गेणे सत्यन्यस्य त्वत्प्रसादने सर्वथैव गतिरसम्भाव्या, तथापि कृपया किन्न भवेदिति। यथा—'क, खद्योतो वराकः शशिनि सति लसेत्तौ तु सूर्ये समानौ' इतिवत्। 'मयि' इति विशेष्यानुक्तिर्नात्र ममैव किञ्चिदाधिक्यम्। एवंभूतेऽनन्यशरणे यस्मिन् कस्मिन्नप्येवं तव स्नेहाकुलाक्षित्वं घटत एवेति ज्ञापिका।

यद्वा अत्युदारा उत्तमश्लोका किञ्चित्स्वयशश्छन्दोमात्रमपि श्रुत्वा याचकमनोरथं पूरयन्ति, तद्वत्त्वया कारितेन पद्येनैव यशस्विनि प्रीतिं=कृपां कुरु=देहीत्यर्थः। च्विप्रत्ययेन या पूर्वं कस्मैचिदपि वा मह्यमेव नार्पिता तामधुना लोका साधारणां प्रीतिं किञ्चद्देहीत्येव प्रार्थना। यथोक्तम्—'शिथिलयतु साधारणगतिम्' इति।

यद्वा स्तोत्रं तु पद्यसङ्घात्मकम्। तत्रैकेनैव प्रसद्याङ्गीकृतौ सर्वं प्रसादी-

---

रसकलश

नहीं। भाव यह कि वेदादि मार्ग में प्रवृत्त रहने वाले की तो आपकी प्रसन्नता प्राप्ति तक पहुँच कभी हो नहीं सकती। किन्तु आपकी कृपादृष्टि हो जाने पर भला क्या नहीं हो सकता। कहा भी है—'चन्द्रमा के विद्यमान रहते जुगनू बेचारे की क्या हस्ती है, और सूर्य के निकल आने पर तो वे दोनों समान हो जाते हैं।'

'प्रीति-दान करने की कृपा करिये,' यह तो कहा, पर यह नहीं कहा कि 'मुझ पर' कारण यह है कि श्रीहिताचार्य की भावना यह है कि मेरी प्रीति में औरों की अपेक्षा कोई अधिकता तो है ही नहीं। मेरी तरह यदि कोई और भी एकमात्र आपकी ही शरण में आकर पड़ जाय, तो आपके नेत्र उसके प्रति भी सहज स्नेह से भर आवेंगे। 'मयि' का उपादान न कर यही भाव व्यक्त किया गया है।

अथवा जो अत्यन्त उदार है और जिनका उत्तम यश सर्वत्र गाया जाता है, वे तो एक ही छन्दोबद्ध पद्य के द्वारा गाये गये अपने यश को सुनकर याचक का मनोरथ पूर्ण कर देते हैं। इसी प्रकार इस पद्य की रचना आपने ही कराई है, आपके ही यश का इसमें गान किया गया है, अतः आप अपनी कृपा का दान करिये—यह अर्थ है। 'प्रसादीकुरु' में अभूततद्भाव अर्थ में च्वि प्रत्यय की व्यंजना यह है कि जो प्रीति, इससे पूर्व, आपने मुझे या अन्य किसी को नहीं दी, अतएव लोक-दृष्टि से असाधारण कही जाने वाली उस प्रीति का कुछ अंश दीजिए—यही प्रार्थना है। पूर्व के पद्यों में भी इसी प्रकार की प्रार्थना की जा चुकी है। जैसे—'साधारण गति को शिथिल करिए' (१८७)।

अथवा—इस स्तोत्र में पद्य तो बहुत-से हैं, किन्तु उनमें से किसी एक को ही आपने प्रसन्न हो कर अंगीकार कर लिया, तो पूरा ग्रन्थ ही आपका प्रसादी समझ

भवेदिति साधु ! कस्मिंश्चिदपि युक्त्या प्रीत्या च प्रसन्ना चेदहं जाने सर्वमपि प्रसादीकृतमेवेति एकवचनस्य व्यंग्यान्तरम् ।

यद्वा 'पद्येनैव सदापराधिनि'—यत्सर्वमहत्सम्प्रदायिनां जीवातुराद्धान्त-साध्यं तन्मया प्रतिपद्यं साधनीकृत्य गीतम्, प्रायेणागम्यमेवेषामिति गीतञ्च । यथा—'दूरे सृष्टयादिवार्ता' इति, 'लक्ष्मीर्यस्य न गोचरीभवति', इति, यन्नापुः सखायः प्रभोः' इत्यादौ नारदब्रह्मशिवसनकलक्ष्म्यादीनामेव यद्यगम्य-मुच्यते, तदा तदेकशरणपद्धतिगतैः कथन्न दुष्येत, इत्यतस्तं विरुध्यागतस्य रक्षणे तवैव लज्जेति भावः । अतः किञ्चित् प्रीतिं देहि येन सर्वो विरुद्धमपि साधु साध्विति प्रशस्येत, इतरथा मार्गत्यागे जना उपहसेयुरिति । अतः प्रीतिमार्गोऽयं प्रीत्यैव श्लाघ्यो न कर्मज्ञानादिभिः, यथासक्तेवैवश्यासिद्धो लोके गीयते । अन्यथा मार्गगमनमेव श्रेयः इति ।

रसकलश

लिया जायगा । अर्थात् किसी पद्य में दी गई युक्ति से या उसमें अभिव्यक्त मेरी प्रीति से ही यदि आप प्रसन्न हो जायँ, तो मैं समझ लूंगा कि आपने कृपा करके समूचे ग्रन्थ को ही अपना लिया । 'पद्येमें' में प्रयुक्त एकवचन से यह दूसरी ध्वनि निकलती है ।

अथवा 'पद्येन' का सम्बन्ध 'सदापराधिनी' लगा कर यह अर्थ भी किया जा सकता है कि बड़े-बड़े संप्रदाचार्यों के सिद्धान्तों का साध्य और प्रणाधायक हैं उन्हीं श्रीकृष्ण का उपयोग मैंने, प्रत्येक पद्य में, साधन के रूप में किया है और इसी रूप में उनका गान भी किया है । यह कि मैंने स्थान-स्थान पर यह भी कहा है कि राधा-रहस्य इन सिद्धान्तियों की पहुंच के परे का तत्व है । 'सृष्टि की बात तो दूर रही' (२३५), 'जो लक्ष्मी के भी गोचर नहीं होता, जिसे सखागण भी प्राप्त न कर सके' (२३९)--इत्यादि पद्यों में जब नारद, ब्रह्मा, शिव, सनक आदि के लिए भी मैंने उस तत्व को अगम्य बताया है, तो एकमात्र उन्हीं की शरण में जाने वाले और उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करने वाले उनके उपासक मुझे भला दोषी क्यों न ठहरायेंगे ? अतः उन सब का विरोध कर आपकी शरण में आये हुए व्यक्ति की लाज तो आपके ही हाथ है—यह भाव है । अतः अपनी कुछ प्रीति मुझे दीजिए ताकि सब लोग मेरे विरोध की भी सराहना करें, नहीं तो प्राचीन मार्ग का त्याग करने के कारण लोग मेरी हंसी ही उड़ायेंगे । इसीि ए तो कहता हूं कि यह मार्ग तो प्रेम का है और प्रेम के आधार पर ही इसकी प्रशंसा करनी चाहिए, न कि कर्म और ज्ञान की दृष्टि से। संसार में बहुतेरे लोग अपनी आसक्ति और लाचारी के ही कारण अपने उद्देश्य में सफल हो जाते हैं और दूसरे लोग उनकी प्रशंसा भी करते हैं । इसी तरह मेरे संबंध में भी प्रीति की लाचारी ही समझ लेनी चाहिए । यदि श्रीराधा के चरणों में प्रीति नहीं है, तो प्राचीन मार्ग का अनुसरण करने में ही कल्याण है ।

यद्वा यद् ब्रह्मादिगोप्यं रहस्यं तत्प्रतिपद्यं वर्णितम् । अतो धाष्टर्येन 'अपराधिनि' इति । तदेष अपराधोऽपि प्रीत्यैव प्रच्छादयितुं शक्त, इतरथा केवलकवयो नायिकादिभेदज्ञापनद्वारा विषयिजनोद्दीपनादिष्टरहस्यकथासमञ्जसत्वादधोलोकं व्रजन्तीति । तत्र प्रीत्युक्तौ मन एव साक्षीत्यलं विस्तरेण ।

एवमत्र ग्रन्थोपक्रमे 'यस्याः कदापि' इति श्लोके 'मधुसूदनोऽपि कृतार्थमानी' इत्युक्तम् । उपसंहारे च 'भगवताप्यामृग्यसद्वैभवं' इत्युक्तम् । मध्येऽपि बहुशः सर्वत्र तदेकाभ्यासेन श्रीवृषभानुनन्दिन्युत्कर्ष एव सूचितः । अतो विवेकिभिरन्यैरपि तात्पर्यनिर्णायकैरपूर्वता फलार्थवादोपपत्याद्यैर्वाक्यैः पद्यैश्च स एवैको निश्चेतव्यः । यथा प्राचीनोक्तम्—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।।

इदमेव पद्यमादौ परिभाषायां धृतं दृश्यञ्चेति ।।२६६।।

रसकलश

अथवा मैं अपराधी इस दृष्टि से हूं कि जिस रहस्य को ब्रह्मा आदि से भी गुप्त रखना चाहिए था, उसका वर्णन मैंने प्रत्येक पद्य में कर डाला है । यह धृष्टता ही मेरा सबसे बड़ा अपराध है । इस पर प्रीति से ही पर्दा डाला जा सकता है । नहीं तो कवि तो और भी बहुतेरे हैं जो नायक-नायिका के भेदों की व्याख्या कर भोगियों की काम वासना को उद्दीप्त करते हैं । इष्ट के रहस्य का प्रतिपादन करने में उन्हें हिचक लगती है ? फल यह होता है कि वे नरकगामी होते हैं । प्रीति को इतना महत्व देने में मेरा हृदय ही साक्षी है । बस, इतना ही विस्तार बहुत है ।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'यस्याः कदापि' से प्रारम्भ होने वाले पद्य में कहा है—'जिसके अंचल की छोर की वायु का स्पर्श पाकर श्रीकृष्ण भी अपने को धन्य मानते हैं' । और ग्रन्थ का उपसंहार करते समय भी कहा है—'भगवान् भी श्रीराधा के वैभव को खोज में रहते हैं ।' ग्रन्थ के मध्य में भी, अपनी आदत के अनुसार, श्रीवृषभानु नन्दनी के ही उत्कर्ष का गान किया है, अतः तात्पर्य का निर्धारण करने वाले अन्य विचारशील भावुकों को भी, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति आदि वाक्यों और पद्यों से श्रीराधा के उत्कर्ष को ही इस ग्रन्थ का एकमात्र प्रतिपाद्य निश्चित करना चाहिए । प्राचीनों ने कहा है—

उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये किसी ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने में सहायक तत्व होते हैं ।[1]

---

१. 'उपक्रम' से तात्पर्य प्रारम्भ का है, 'उपसंहार' ग्रन्थ की समाप्ति पर होता है, किसी स्थापना को तर्क के द्वार सिद्ध करने के उपरान्त परिच्छेद के अन्त में उसे दुहराने को 'अभ्यास' कहते हैं ।

एवं श्रीप्रियादत्तस्तोत्रं सम्पूर्य तस्यै समर्प्येदानी तत्प्रसादामृतेन रसिक भावुकान् प्रोत्साह्यास्वादयितुमिच्छति—

अद्भुतानन्दलोभश्चेन्नाम्ना रससुधानिधिः ।
स्तवोऽयं कर्णकलशैर्गृहीत्वा पीयतां मुदा ।।२७०।।

यथा न चैको मिष्टमश्नीयादिति स्वेष्टार्पितोत्तमास्वाद्यभोजनरसादिरपि सजातीयाशयव्यतिरेकं नानन्दातिशयजनकः स्यादित्यधिकारिणः परीक्षां कुर्वन्नाह्वयति—हे बुधाः रसभावविवेचनावगन्तारः स्वनैपुण्याभिमानिनो भवतामद्भुतानन्दे लोभश्चेदिति यदि स्वस्वज्ञेयज्ञातरसे मग्ना अन्यव्याख्यास्वादानवकाशस्तदा स्वानन्दे मग्नास्तिष्ठन्तु । नाहं हठेनाकारये । किञ्च कश्चिद्भवतामप्यानन्दोऽस्ति । अथ यद्यानन्दस्याप्यद्भुतत्वे लोभश्चेत् ।

रसकलश

इस प्रकार प्रियाजी के दिये हुए स्तोत्र को पूरा कर और उन्हें भेंट कर उसके प्रसाद रूप अमृत से रसिक जनों को प्रोत्साहित कर उन्हें उस अमृत को पिलाना चाहते हैं—

'हे विद्वानों ! यदि आपके चित्त में अद्भुत आनन्द का लोभ है, तो (राधा) रससुधानिधि नामक इस स्तोत्र को अपने कर्ण-कलशों द्वारा ग्रहण कर पान कीजिए । ।।२७०।।

जैसा कि कहा है - 'अकेला मिठाई न खावे,' अपने इष्ट को अर्पित किये गये उत्तम, स्वादिष्ट भोजन में जब तक अपने बन्धुओं को शामिल न किया जाए, तब तक खाने का पूरा आनन्द नहीं आता । अतः अधिकारियों की परीक्षा कर उन्हें आमन्त्रित करते हैं—हे विद्वानो ! आप लोग रस और भाव की विवेचना करने में पटु हैं और आपको अपनी निपुणता का अभिमान भी है । यदि आपका विलक्षण आनन्द के प्रति उत्कट आकर्षण है (तो इस स्तोत्र के रस का पान करिये) । यदि आप अपने जाने हुए अथवा जानने योग्य रस में ही मग्न हैं, और यदि आपको इतना अवकाश नहीं कि अन्य व्यक्तियों द्वारा की गई रस की व्याख्या का भी आनन्द लें, तो आप अपने आनन्द में ही डूबे रहिये । आपको आमंत्रित करने का मुझे कोई हठ नहीं हैं । मैं तो इसलिए कहता हूं आपकी स्वार्थ-पूर्ति भी इस स्तोत्र के द्वारा किसी न किसी अंश में होगी ही, क्योंकि इसके अनुशीलन से आप को भी आनन्द मिलेगा । और यदि आप महानुभावों

(व्याख्याता व्याख्याता इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्ति द्योतयति), 'अपूर्वता' का अर्थ है विषय-प्रतिपादन की मौलिकता, 'फल' आध्यात्मिक या आधिभौतिक होता है, 'अर्थवाद' प्रशंसात्मक उक्ति को कहते हैं और तर्क पर प्रतिष्ठित निष्कर्ष का नाम है 'उपपत्ति ।'

सर्वशास्त्रवेदप्रसिद्धः परतमो ब्रह्मानन्दः सर्वपुच्छप्रतिष्ठत्वात्, तत्पर्यन्तं सर्वे पर्यवसन्नाः। ततोऽपि 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इति 'सुखस्यैकान्तिकस्य च इत्युक्तेः परावधिः श्रीकृष्णानन्दो विरलास्वाद्यः। तत्र श्रीव्रजेन्द्रनन्दनाद्र-सघनादपि कश्चिदद्भुताख्यः। यथा स्वायम्भुवागमे-

ब्रह्मानन्दरसादनन्तगुणितो रम्यो रसो वैष्णव-
स्तस्मात्कोटिगुणोज्ज्वलश्च मधुरः श्रीगोकुलेन्द्रो रसः।
तच्चानन्तचमत्कृति प्रतिमुहुर्वर्षद्रसानां परम्
श्रीराधापदमेव परमं सर्वस्वभूतं मम॥

इत्याद्युत्कर्षितः। तत्र लोभो नाम लाम्पट्यं, न च स्पृहैव। किञ्च सद्वस्तुनि कस्येच्छामात्रं न घटतेऽतः साधारणगतेर्नाधिकारोऽत्र। लोके यल्लाभावेशे पापादपि न बिभेति। यथा च—'यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक्' इत्यादि प्राणनिर्मञ्छनकारकत्वं यत्र तादृशौग्र्यविशिष्ठो-

रसकलश

को अद्भुत आनन्द की लालसा हो, (तब तो इस स्तोत्र-समुद्र में अवगाहन करना ही चाहिये)। समस्त शास्त्र और वेदों में यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्मानन्द से बढ़ कर अन्य कोई आनन्द नहीं, क्योंकि ब्रह्म को आनन्द का अधिष्ठान कहा गया है। सब सिद्धांत ब्रह्म में ही समाप्त होते हैं। इसके बाद श्रीकृष्ण के वचन हैं—'मैं ब्रह्म और ऐकान्तिक सुख का आश्रय हूं। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्णानन्द ही सर्वश्रेष्ठ आनन्द है तथा उसका आस्वाद विरले ही ले पाते हैं। श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के इस आनन्दघन रस से भी बढ़ कर एक आनन्द और है जिसे 'अद्भुत' की संज्ञा दी जाती है। स्वायंभुवागम इसका वर्णन निम्नलिखित रीति से किया गया है—

'ब्रह्मानन्द रस से भी अनन्त गुना रमणीय वैष्णव-रस है, इससे करोड़ों गुना उज्ज्वल और मधुर श्रीगोकुलेन्द्र (श्रीकृष्ण) का रस है। उससे भी बढ़ कर, अनन्त चमत्कारों से परिपूर्ण, प्रत्येक क्षण बरसता हुआ और रसों की चरम सीमा का स्वरूप श्रीराधा के चरण-कमल का रस है। वही मेरा परम सर्वस्व है।'

राधा-रस का उत्कर्ष इस प्रकार उक्त पद्य में प्रतिपादित किया गया। उसका यदि लोभ है। 'लोभ' से तात्पर्य यहाँ लंपटता का है, न कि हल्की-सी इच्छा मात्र। यों तो अच्छी वस्तु के लिए सब मन चलाते हैं, पर जिनकी पकड़ मोटी है उनका यहाँ अधिकार नहीं है। दुनिया की भाषा में लोभ उसे कहते हैं जिसमें लाभ के आवेश में पाप से भी नहीं डरा जाता। कहा भी है—'तस्कर, सेवक और बनिया जिसे अपने प्राण देकर भी खरीदते हैं।' तो यदि किसी को प्राण निछावर करने की उत्कंठा है और उस उत्कंठा में तीव्रता है, तलमली है— इस प्रकार का उत्कट लोभ है, तो वही रस-

त्कण्ठ्यं यदि चेदस्ति । अनेन शैथिल्यं निवार्य दौर्लभ्यचमत्कारेण प्रोत्साह्या-स्वादस्वादस्यापि दौर्लभ्यं वदति । यद्येवं लोभस्तदायं स्तवः श्रीस्वामिनी-कृपाविर्भूतो नाम्ना रससुधानिधिः । अथवा नाम्ना प्रसिद्धो संज्ञया स्तवोऽयं वर्तते । अस्ति च रससुधाया निधिः समुद्रो भवद्भिः कर्णकलशैर्गृहीत्वा, तद्रसं सम्भृत्य पीयताम् । 'बुधाः' इति यथा देवाः क्षीरोदमथने चैककलशेन तादृशमहादुरत्ययकष्टलब्धेनापि तत्सुधां किञ्चित् कथञ्चित् पिबमाना आसन् । अयन्तु सुधायाः समुद्र एव, निरवधिर्निरुपद्रवो ऽक्षयानन्दोऽप्यद्भुता-नन्दस्ततो यावज्जीवं यथारुचि बहवः पानं कुर्वन्तु । भवतामप्यद्भुता-नन्दप्राप्तिरस्त्वित्याशीः ।

'लोभश्चेत्' इत्यनेन लुब्धाश्चमत्कृतौत्कण्ठ्यतरला अत्यतृप्ता अधिका-रिण उक्ताः । रुचिशिथिला यावत्प्राप्तिसन्तुष्टाश्च व्यावृत्ता इति ।

एवमस्य ग्रन्थस्य श्रीराधैव प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धः, श्रीवृन्दा-वनवासतद्भजनमेवाभिधेयः, तादृस्यं प्रयोजनम्, अधिकारिणो गौरतेजपक्षपा-

रसकलश

सुधानिधि का पान करे । ऐसी बात कह कर श्रीहितप्रभु सजातीय साधक की शिथिलता (उदासीनता) को दूर कर उसे दुर्लभ चमत्कार की अनुभूति के प्रति प्रोत्साहित करना चाहते हैं और उसके बाद बताते हैं कि यह कितना दुर्लभ है । यदि किसी को इस प्रकार का लोभ है, तो उसके लिये स्वामिनी की कृपा से प्रकट हुआ रसामृत का यह समुद्र प्रस्तुत है । अथवा 'रससुधानिधि' नाम से प्रसिद्ध यह स्तोत्र है । इस रस-समुद्र को आप विज्ञ जन कर्ण-रूपी कलशों में भर-भर कर पियें । 'बुधाः' (पण्डित और देवगण) कहने का आशय यह है कि क्षीर-समुद्र के मन्थन से निकले और महान् कष्ट के बाद हस्तगत हुए एक ही कलश से देवों ने अपने-अपने भाग में आया हुआ अमृत पिया था । इसके विपरीत यह स्तोत्र तो रस का समुद्र ही है । इसकी कोई थाह नहीं, पार नहीं और न यहाँ किसी उपद्रव की ही आशंका है । इसका आनन्द कभी क्षीण न होने पर भी विलक्षण है । अतः जीवन-भर, रुचि के अनुसार, सब लोग इसे पियें । आप सबको भी अद्भुत आनन्द मिले—यही आशंसा है ।

'यदि लोभ हो'—यह कह कर व्यंजित किया है कि जिन्हें चमत्कार के प्रति उत्कंठा है, जो उसके कारण चंचल हो उठे हैं और अत्यन्त अतृप्त हैं, ऐसे भावुकजन ही इस स्तोत्र के रसास्वादन के अधिकारी हैं । जिनकी रुचि शिथिल है, अथवा जो थोड़ा-सा ही पाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं, उनके लिये यह स्तोत्र नहीं है ।

इस प्रकार इस प्रतिपादक ग्रन्थ का श्रीराधा ही प्रतिपाद्य हैं, श्रीवृन्दावन-वास और श्रीराधा का भजन ही अभिधेय है, राधा-दास्य ही प्रयोजन है और गौर-तेज की

तिनोऽद्भुतानन्दलोभिन इति । अन्यत्सर्वं ग्रन्थतात्पर्यं प्रथमत एव परिभाषा-यामुक्तं, तस्माद्धेयम् ।।२७०।।

अन्तेच—

नमः श्रीहरिवंशाय कृपाव्यक्तिमुपेयुषु ।
प्रादुर्भूतो यदास्येन्दो राधारससुधानिधिः ।।१।।
श्रीमत्किशोरीलालाख्य गुरवे हितरूपिणे ।
तदादेशसहायेन प्रवृत्तिर्मम तद्रसे ।।२।।
श्रीमद्राधासुधासिन्धुव्याख्येयं रसकुल्यका ।
निवेदितास्तु श्रीराधावल्लभाङ्घ्रिसरोरुहे ।।३।।
यादृशी तादृशी क्षम्या जाताधीनात् मन्मतेः ।
प्रायः प्रमादबहुलाह्यपि वाक्सफलीकृता ।।४।।
बालिशोक्तौ सारभाजां स्वरसे मग्नचेतसाम् ।
भूयो भूयो भावुकानां भूयाद्भावविभूतये ।।५।।
स्वमनोरञ्जनायेयं कृता न च सभासदाम् ।
कवीनां शास्त्रविदुषां शब्दार्थौचित्यहानितः ।।६।।

रसकलश

उपासना के प्रति अनन्य निष्ठा रखने वाले, अद्भुत आनन्द के लोभीजन ही इसके अधिकारी हैं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के तात्पर्य के संबन्ध में परिभाषा-प्रकरण में सब कुछ कह आए हैं, अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं ।।२७०।।

और अन्त में—

कृपावश आचार्य रूप में प्रकट होने वाले श्रीहितहरिवंश को नमस्कार है जिनके मुखचन्द्र से श्रीराधारूप रस-समुद्र प्रादुर्भूत हुआ ।।१।।

श्रीहिताचार्यस्वरूप गुरुदेव श्रीकिशोरीलाल को प्रणाम है। उनकी आज्ञा से ही मेरी प्रवृत्ति राधा-रस की तरफ हुई ।।२।।

'रसकुल्या' नामक श्रीराधासुधानिधि की यह व्याख्या श्रीराधावल्लभ के चरण-कमलों में भेंट है ।।३।।

यह व्याख्या जैसी कुछ भी है, क्षमा करने के योग्य है, क्योंकि अपनी बुद्धि के अधीन होकर मैंने इसे लिखा है। स्थान-स्थान पर इसमें त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होंगीं, तथापि (श्रीराधा-गुण-गान करने के कारण) मेरी वाणी सफल हो गई ।।४।।

प्राकृत जनों की उक्तियों से सार ग्रहण करने वाले, अपने रस में विभोर भावुक जनों की भाव-संपत्ति में इसका कुछ योगदान हो ।।५।।

अपने मनोरंजन के लिये ही मैंने यह व्याख्या की है, न कि सभासदों, कवियों और शास्त्र-निष्णात विद्वानों के लिये, क्योंकि इसमें शब्द और अर्थ का उचित निर्वाह नहीं हो पाया है ।।६।।

अप्रवृत्तिहराः सन्तो नमस्या नित्यशो मुदा।
यन्निर्बन्धेन जाता मे शफरीव मनोगतिः ॥७॥
तद्वर्जितो महाखिन्नो व्याख्याकृतिसमुत्सुकः।
महद्वाक्यं कभीतोऽस्मि स्फुटं कर्तुं न च क्षमः ॥८॥
अपि प्रत्यूहवृन्देभ्यो येन रक्षा कृता मम।
समाप्तेयं ततो व्याख्या तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥९॥

× × ×

परिभाषा प्रथमतो ज्ञाता रसिकसङ्गतः।
तत्र प्रतिज्ञा लिखिता पूरिताद्य प्रियेच्छया ॥१०॥

प्रतिज्ञा यथा—

ननु पूर्वैरपि प्राज्ञैर्व्याख्या नैव कृता कथम्?
प्रवृत्तैरपि वापूर्णा स्वामीच्छात्र निवारणे ॥११॥
करणेऽपि तदिच्छा स्यान्न प्रयोज्यो नियामकः।
यदिच्छातोऽप्रवृत्तिः स्यात् प्रवृत्तिश्च तदिच्छया ॥१२॥

रसकलश

अप्रवृत्ति को दूर करने वाले उन सन्तों को बार-बार नमस्कार है जिनके आग्रह के कारण इस व्याख्या को पूरा करने के लिए मेरा मन मीन की भाँति चंचल हो उठा ॥७॥

उन सन्तों की संगति से वंचित हो जाने के कारण मैं महादुःखी हुआ, किन्तु उधर व्याख्या को पूरा करने की भी उत्कंठा थी। इस स्तोत्र के वाक्यों का अर्थ मैंने डर-डर कर किया है, क्योंकि मुझे मालूम है कि मैं उनके हृद्य को स्पष्ट करने में असमर्थ रहा हूँ ॥८॥

उन श्रीगुरुदेव को नमस्कार है जिन्होंने विघ्नों के समूहों से मेरी रक्षा की और यह व्याख्या समाप्त हो गई ॥९॥

× × ×

रसिकों के सहवास से परिभाषा-प्रकरण में उल्लिखित निष्कर्षों का मुझे ज्ञान हो गया। उस प्रसंग में मैंने जो प्रतिज्ञा लिखी थी वह प्रियाजी की इच्छा से आज पूरी हुई ॥१०॥

प्रतिज्ञा का प्रकार यह था—

शंका होती है कि तुम से पूर्व के विद्वानों ने व्याख्या क्यों नहीं की और जिन महानुभावों ने वह प्रारंभ की वह पूर्ण क्यों नहीं हुई? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि उन्हें व्याख्या से हटानेवाली स्वामी की इच्छा ही है ॥११॥

व्याख्या करने में भी उनकी ही इच्छा कारण होती है और उसे रोकने में भी प्रयोज्य या दास को नियामक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिसकी इच्छा से अप्रवृत्ति या निवृत्ति होती है, उसी की इच्छा से प्रवृत्ति भी होती है ॥१२॥

प्रवृत्तीच्छा कथं ज्ञेया यदि व्याख्यैति पूर्णताम् ।
कुर्वाणचित्तं विघ्नेभ्यश्चाश्लथं तत्प्रमाणकम् ।।१३।।
अतः सन्तो न कर्तव्या मयिनिर्बन्धयुक्तयः ।
ज्ञेयमित्येष संलग्नो येन केन महद्रसे ।।१४।।
मनोवैयग्र्यतस्तावद्देशकालाद्यभावतः ।
प्रतिभाबलदानैश्च लिखितं ह्यसमीक्षया ।।१५।।
श्रुत्वा दृष्ट्वा विचार्यैव गुणदोषविवेचकाः ।
परीक्ष्य शिक्षका येषु शोधनायाभिवादये ।।१६।।
तान् परार्थैकविदुषो भूयो भूयो नमाम्यहम् ।
शब्दार्थभावसाद्गुण्यं भवद्दृष्टया भविष्यति ।।१७।।
स्वकृत्यभिमता ये च परकृत्यावधीरकाः ।
श्रुत्वा नाम्ना पलायन्ते तान् वितस्त्या नमाम्यहम् ।।१८।।
मन्नामग्लानिभीतश्चेदस्ति राधासुधानिधिः ।
यदि वो ममता शुद्धा नोपेक्ष्यः सर्वथैव हि ।।१९।।

रसकलश

यह कैसे जाना जाय कि उनकी इच्छा प्रवृत्त करने की है ? इसका उत्तर यह है कि यदि व्याख्या पूर्ण हो जाय, तो समझना चाहिये कि उनकी ऐसी ही इच्छा थी। व्याख्या करने वाले का हृदय भी प्रमाण होता है यदि विघ्न आने पर भी वह शिथिल नहीं होता ।।१३।।

अतः सत्पुरुषों को मुझ पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। यही जानना पर्याप्त है कि जिस किसी अदृष्ट प्रेरणा से ही मैं इस महाबुद्धियों के रस की व्याख्या में संलग्न हुआ है ।।१४।।

इस प्रकार के ऊहापोह में फँसे रहने तथा समय और स्थान के अभाव के कारण, तथा बुद्धि-बल के न होने से मैंने बिना सोचे-विचारे ही सब कुछ लिखा है ।।१५।।

सुन कर, देख कर, विचार कर ही गुण-दोषों के परीक्षक मेरी कृति की आलोचना करें और कृपया आवश्यक संशोधन कर लें ।।१६।।

परार्थ साधन करने वाले उन विद्वानों को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ। आप लोगों की दृष्टि से शब्द, अर्थ और भाव का समन्वय होना संभव होगा।।१७।।

जिन्हें अपनी रचनायें ही प्यारी हैं और जो दूसरों की रचनाओं का तिरस्कार करने के उद्देश्य से नाम सुन कर ही भागते हैं, उन्हें मेरी लंबी प्रणाम है ।।१८।।

यदि मेरे नाम से हो किसी को चिढ़ हो, तो श्रीराधासुधानिधि स्तोत्र तो है। यदि आप लोगों की ममता निर्दोष है, तो कम से कम उस (मूल) ग्रन्थ की उपेक्षा तो न करें ।।१९।।

वृन्दावनस्थावरजङ्गमेभ्यो नमो नमो दम्पतिगायकेभ्यः ।
एतद्रसाभिज्ञतदुन्मुखेभ्यस्तत्रेदमागत्य निवेदयेयम् ॥२०॥
क्व च राधासुधासिन्धुः क्व मे क्षारीतटे जनुः ।
लेखितो मत्करेणापि तं महिष्टं नमाम्यहम् ॥२१॥
श्रीराधे करुणासिन्धो ! देहि प्रीतिलवं मम ।
येन सद्दृष्टिलाभेन रसमास्वादये तव ॥२२॥
यत्र यत्र जनुर्मे स्यात्तत्र तत्र सदा त्वयि ।
प्रीतिर्निरर्गला भूयात् प्रार्थये भूरिभूरिशः ॥२३॥
श्रीमद्वृन्दावने वासं देहि देहि वनेश्वरि !
यदि नैतादृशं भाग्यं मा कुर्वाशाविनाशनम् ॥२४॥
आशानाशं सर्वनाशं आशैव परमं धनम् ।
नारकेऽपि जनुर्मेऽस्तु त्वद्वनाशा वसेद्धृदि ॥२५॥

रसकलश

युगल स्वरूप का यशोगान करने वाले श्रीवृन्दावन के स्थावर-जंगम पदार्थों को नमस्कार है। वे इस रस के मर्मज्ञ हैं और उसके प्रति उन्मुख हैं। वहीं जाकर इस कृति को उन्हें भेंट करूँगा ॥२०॥

कहाँ तो श्रीराधासुधानिधि और कहाँ खारे जल वाले प्रदेश में[1] मेरा जन्म। यद्यपि मैंने इसे अपने हाथ से लिखा है, तथापि मैं इसे अपने उन इष्ट को ही प्रणाम करता हूँ ।२१॥

करुणा की समुद्र हे श्रीराधे ! अपनी कणमात्र प्रीति मुझे प्रदान करिये ताकि मुझे सच्ची दृष्टि मिले और मैं आपके रस का आस्वादन करूँ ॥२२॥

जहाँ जहाँ मेरा जन्म हो वहाँ, वहाँ आप में मेरी अनवरत प्रीति हो, यही मेरी बार-बार प्रार्थना है ॥२३॥

हे श्रीवृन्दावनेश्वरि ! ऐसी कृपा करिये कि मैं सदा वृन्दावन में ही वास करूँ। यदि मेरा ऐसा भाग्य न हो, तो कम से कम मेरी इस आशा को तो नष्ट न करिएगा ॥२४॥

आशा टूटी तो सब कुछ नष्ट हो गया। आशा ही सर्वस्व है। यदि नरक में भी रहूँ, तो वहाँ भी आपके वन में वास करने की ही इच्छा बनी रहे ।२५॥

१. वास्तव में 'क्षारी तटे' का अर्थ खारी नदी के तट पर है। यह खारी नदी पुष्कर (अजमेर) के दक्षिण पूर्व में विजय नगर के पास से बहती है। लेखक ने स्वयं पुष्कर के पास 'पुष्करव्योपपकंतः' शब्द का प्रयोग कर यह स्पष्ट कर दिया है कि वे उसी खारी नदी के तट के वासी थे जो पुष्कर के निकट है।
—सम्पादक

नमः श्रीहरिवंशाय श्रीराधाबल्लभाय च ।
श्रीमत्किशोरीलालाख्यगुरवे हितरूपिणे ॥२६॥

श्रीमद्वृन्दावनेश्वरी चरणकृपामात्र विजृम्भितः श्रीराधारससुधानिधि-स्तवः श्रीहितहरिवंशगोस्वामी विरचितः समाप्तः । तस्येयं रसकुल्याख्य-व्याख्या सम्पूर्णा श्रीहितगुरुचरणरजः कृपयैवेति शुभं भूयात् ।

× × ×

संवदष्टादशशते पञ्चत्रिंशे स्मरोत्सवे ।
समारब्धात्रलिखिता पुष्करस्योपकण्ठतः ॥
श्रीमद्वृन्दावने बह्वी लिखिता पुनरत्र च ।
एकोनचत्वारिंशाख्ये सम्पूर्णा माघपूरणे ॥

रसकलश

श्रीहितहरिवंश महाप्रभु को नमस्कार और श्रीराधाबल्लभलाल को तथा हितस्वरूप गुरुदेव श्रीकिशोरीलाल को ।२६॥

इस प्रकार श्रीहितहरिवंश गोस्वामि रचित, श्रीवृन्दावनेश्वरी की चरणकृपा मात्र से प्रादुर्भूत श्रीराधासुधानिधि स्तोत्र समाप्त हुआ और श्रीहितचरणरज की कृपा से ही रसकुल्या नामक यह व्याख्या पूर्ण हुई । शुभमस्तु ।

× × ×

संवत् १८३५ पुष्कर के पास वसन्तोत्सव के अवसर पर इस व्याख्या को लिखने का कार्य प्रारंभ हुआ । बाद में उसका अधिकांश श्रीवृन्दावन में लिखा और फिर उसी पुष्कर में । संवत् १८३९ में माघ मास की पूर्णिमा को यह व्याख्या सम्पूर्ण हुई ।

भूल-सुधार

ग्रन्थ की पांडुलिप में श्लोकांक १८६ तथा उसकी रसकुल्या संस्कृत व्याख्या एवं हिन्दी टीका छूट गई है। रसकुल्या व्याख्या तो उपलब्ध नहीं हो सकी किन्तु श्लोक तथा उसका सरलार्थ एक दूसरी प्रति के आधार पर नीचे दिया जा रहा है। पाठक इस श्लोक को यथास्थान पढ़ने की कृपा करें—

—सम्पादक

ओष्ठप्रान्तोच्छलितदयितोद्गीर्णताम्बूलरागा
रागानुच्चैर्निजरचितया चित्रभंग्योन्नयन्ती ।
तीर्यग्ग्रीवा रुचिररुचिरोदञ्चदाकुञ्चितभ्रूः
प्रेयः पार्श्वे विपुलपुलकैर्मण्डिता भाति राधा
॥१८६॥

जिन्होंने प्रियतम को अपना चर्वित ताम्बूल देने के लिये उसे अधरों तक लाया है, जिससे ओष्ठ-प्रान्त में लालिमा उच्छलित हो रही है। जो विचित्र भङ्गिमाओं के सहित स्वरचित विभिन्न रागिनियों का उच्च स्वर में गान कर रही है, इस कारण ग्रीवा कुछ तिरछी सी हो रही है और युगल रुचिर भ्रू-लताएँ कुछ-कुछ कुञ्चित होकर ऊपर की ओर चढ़ सी रही हैं। गान-सिद्धि के आनन्द से विपुल-पुलकावलि-मण्डित वे श्रीराधा अपने प्रियतम के पार्श्व में शोभा पा रही हैं ॥१८६॥